রাহুল বাঙ্ময়

राहुल वाङ्मय

राहुल-वाङ्मय

परामर्श

डॉ. विद्यानिवास मिश्र

डॉ. नामवर सिंह

डॉ. निर्मला जैन

सम्पादन

कमला सांकृत्यायन

सम्पादन सहयोग

बसन्तकुमार कपूर

रामकुमार कृषक

संयोजन

जया पड़हाक

जेता सांकृत्यायन

राधाकृष्ण

राहुल वाङ्मय

खण्ड दो

जीवनी और संस्मरण

जिल्द 1

ISBN 81-7119-186-x

राहुल-वाङ्मय
खण्ड : दो—जीवनी और संस्मरण—जिल्द : 1

प्रथम संस्करण : 1994
पहली आवृत्ति : 1998

मूल्य
1500 रुपये
(जीवनी और संस्मरण : खण्ड दो—4 जिल्दें)

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/38, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

साज-सज्जा : प्रशान्त

लेज़र कम्पोज़िंग
कम्प्यूटेक सिस्टम
मानसरोवर पार्क, दिल्ली-110032

मुद्रक
हिन्दुस्तान ऑफसेट प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-110032

RĀHUL VĀNGMAYA
Part-2 : Jeevani aur Sansmaran : 4 Volumes
Rs. 1500.00

राहुल-वाङ्मय

एक महत्वपूर्ण प्रकाशन योजना

मूर्धन्य और अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान, अप्रतिम विभूति महापंडित राहुल सांकृत्यायन के हिंदी एवं संस्कृत लेखन का विषयवार ग्यारह खंडों–लगभग पचास जिल्दों–में क्रमशः प्रकाशन

खण्ड एक–चार जिल्द : **मेरी जीवन-यात्रा (आत्मकथा)**–भाग 1 से 5 (सन 1893 से 9 अप्रैल 1956 तक) राहुलजी द्वारा स्वयं लिखित जीवन-यात्रा और 10 अप्रैल '56 से 15 अप्रैल 1963 तक श्रीमती कमला सांकृत्यायन द्वारा प्रस्तुत तथ्यपरक संस्मरणात्मक जीवन-गाथा।

खण्ड दो–चार जिल्द : **जीवनी और संस्मरण**–सरदार पृथ्वीसिंह, वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली, घुमक्कड़ स्वामी, सिंहल घुमक्कड़ जयवर्द्धन, कप्तान लाल, जिनका मैं कृतज्ञ, कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्तालिन, माओ-चे-तुंग की महत्वपूर्ण जीवनियाँ तथा नये भारत के नये नेता, मेरे असहयोग के साथी, अतीत से वर्तमान, बचपन की स्मृतियाँ, सिंहल के वीर और विभिन्न व्यक्तियों पर अप्रकाशित-असंकलित लेख : संस्मरण।

खण्ड तीन–पाँच जिल्द : **धर्म, संस्कृति एवं दर्शन**–महामानव बुद्ध, बुद्धचर्या, धम्मपद, पाँच बौद्ध दार्शनिक, बौद्ध संस्कृति, तिब्बत में बौद्ध धर्म, मज्झिमनिकाय, विनयपिटक, दीघनिकाय, खट्टरनिकाय, दर्शन-दिग्दर्शन, वैज्ञानिक भौतिकवाद, इस्लाम धर्म की रूपरेखा, और विविध प्रकाशित-अप्रकाशित लेख-इतिहास पुराण, शैव धर्म का इतिहास, पंजाब : संस्कृति का संगम, भारतीय संस्कृति के दो रक्षा द्वीप, संन्यासी अखाड़ों की जनतन्त्रता आदि।

खण्ड चार–चार जिल्द : **यात्रा वृत्तांत, देश-विदेश दर्शन**–घुमक्कड़शास्त्र, यात्रा के पन्ने, किन्नर देश में, कुमाऊँ, गढ़वाल, जेतवन-श्रावस्ती, हिमाचल प्रदेश, जौनसार-देहरादून, लद्दाख-यात्रा, दार्जिलिंग परिचय, तिब्बत में सवा वर्ष, मेरी तिब्बत यात्रा, मेरी यूरोप यात्रा, सोवियत भूमि, सोवियत-मध्य एशिया, एशिया के दुर्गम खंडों में, चीन में क्या देखा, चीन में कम्यून, और विविध प्रकाशित एवं अप्रकाशित लेख–उत्तरी एवं पश्चिमी भारत के बौद्ध स्थल (मैं ल्हासा कैसे पहुँचा), ल्हासा में, त्रेनम की ओर, लौटते समय नेपाल में आदि लेख, नेपाल, लंका, जापान, ईरान आदि।

खण्ड पाँच–पाँच जिल्द : **ज्ञानकोश, शोध ग्रंथ**–शासन शब्दकोश, राष्ट्रभाषा कोश, विज्ञान शब्दावली-प्रत्यक्ष शरीर आदि, तिब्बती-हिंदी कोश भाग-1 एवं भाग-2, तिब्बती संस्कृत कोश, सरहपाद दोहाकोश (हिंदी छायानुवाद सहित)

खण्ड छह–चार जिल्द : **विज्ञान, समाज एवं राजनीति**–विश्व की रूपरेखा, मानव समाज, भारत में अंग्रेजी राज्य के संस्थापक (अनुवाद), आज की समस्याएँ, क्या करें, तुम्हारी क्षय, राहुल जी का

अपराध, दिमागी गुलामी, मानव की कहानी (जया, जेल को पत्र), संविधान का मसौदा (अनुवाद), बाईसवीं सदी, साम्यवाद ही क्यों, कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, कम्युनिस्ट क्या चाहते हैं, सोवियत न्याय, आज की राजनीति, भागो नहीं (दुनिया को) बदलो, रामराज्य और मार्क्सवाद।

खण्ड सात–चार जिल्द : **इतिहास एवं पुरातत्व**–अकवर, मध्य एशिया का इतिहास भाग-1, मध्य एशिया का इतिहास भाग-2, ऋग्वेदिक आर्य, पुरातत्व निबंधावली के लेख, आजमगढ़ की पुराकथा, तथा अन्य लेख–वैशाली का प्रजातंत्र, हमारा पुराना भूगोल, भारत में मानव-विकास, प्रागैतिहासिक युग में किन्नर, और गंगा पुरातत्वांक की भूमिका।

खण्ड आठ–सात जिल्द : **कथा साहित्य, नाटक एवं साहित्यालोचन**–जीने के लिए, सिंह सेनापति, जय यौधेय, राजस्थानी रनिवास, मधुर स्वप्न, सतमी के बच्चे, वोल्गा से गंगा, बहुरंगी मधुपुरी, कनैला की कथा, विस्मृत यात्री, दिवोदास (सप्त सिंधु), तीन नाटक (जर्मनियों के राछछ, देश रक्षक, जरमनवा की हार निश्चय), पाँच नाटक (ई हमार लड़ाई, दुनमुन नेता, नईकी दुनिया, जोंक, मेहरारून की दुरदसा), शैतान की आँख, विस्मृति के गर्भ में, जादू का मुल्क, सोने की ढाल, शादी, दाखुंदा, जो दास थे, अनाथ, अदीना, सूदखोर की मौत, पालि काव्य-धारा, पालि साहित्य का इतिहास, बौद्ध सिद्ध साहित्य, हिंदी काव्य-धारा (अपभ्रंश), दक्खिनी हिंदी काव्य-धारा, तुलसी रामायण, हिंदी (अपभ्रंश) के प्राचीनतम कवि और कविताएँ, हिंदी भाषा की प्राचीनता, नये युग में हिंदी, एशिया में हिंदी, अवधी की बेटी हिंदी ?, राष्ट्रभाषा की जननी कौरवी, हिंदी परिभाषाओं का निर्माण, अंग्रेजी के हिमायती, अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम क्यों हो ? आदि-आदि लेख तथा आदि हिंदी की कहानियाँ और गीतें, हिंदी-साहित्य का वृहद इतिहास भाग-16 से लेख एवं भूमिका।

खण्ड नौ–चार जिल्द : **संस्कृत, प्राकृत-अनुवाद एवं टीका**–संस्कृत पाठमाला (पाँच भाग), संस्कृत काव्य-धारा, अभिधर्म कोश : वसुबंधु-टीका : शांतरक्षित, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, प्रमाणवार्तिक-स्ववृति, हेतुबिंदु (धर्मकीर्त्ति), सम्बन्ध परीक्षा (धर्मकीर्ति), निदान सूत्र, महापरिनिर्वाण सूत्र, सूत्रकृतांग।

खण्ड दस–पाँच जिल्द : **संस्कृत तालपोथियाँ : सम्पादित**–वादन्याय (धर्मकीर्ति), प्रमाणवार्तिक (धर्मकीर्ति), अध्यर्द्ध शतक (मातृचेट), विग्रह व्यावर्तनी (नागार्जुन), प्रमाणवार्तिकभाष्य, प्रमाण-वार्तिकवृतिः, प्रमाणवार्तिक स्ववृति : टीका, विनयसूत्र (गुणप्रभ)।

खण्ड ग्यारह : **प्रकीर्णक**–तिब्वती शिक्षा : भाषा-पाठावली, व्याकरण : 'सेलेक्टेड एसेज' के लेख, पत्र एवं डायरी तथा परिशिष्ट : राहुल जी का संक्षिप्त जीवन-क्रम, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रकाशित पुस्तकों की सूची–पुस्तक का नाम, प्रथम प्रकाशन का वर्ष, पृष्ठ संख्या, प्रकाशक, राहुल जी द्वारा संग्रहीत अमूल्य ग्रंथलिपियों, तालपत्रीय पोथियों की सूची–ग्रंथ का नाम, भाषा, मूल/टीका, लेखक, पांडुलिपि : मूल/फोटो/नकल, संग्रहालय का नाम, अन्य संग्रहित सामग्री–चित्र, मूर्तियाँ, आदि–विवरण एवं संग्रहालय के नाम सहित, तथा अनुक्रमणिका।

सभी खण्डों, सभी जिल्दों का आकार 10"X7-1/2"–डवल क्राउन : 20X30 आठ पेजी होगा।

प्रबुद्ध पाठकों और हिंदी-सेवियों से निवेदन है कि इस महत्वपूर्ण प्रकाशन-योजना के लिए अपने सुझाव और यदि उनके पास अथवा उनकी जानकारी में राहुलजी से सम्बन्धित कोई और सामग्री या सूचना हो तो उसे भेजने की कृपा करें।

–प्रकाशक



महापण्डित राहुल सांकृत्यायन : मसूरीवाले घर 'हर्न क्लिफ' के अध्ययन कक्ष में–1954

प्रकाशकीय

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन हिन्दी के युगान्तरकारी लेखक हैं। उनके ऐसा क्रांतिचेता लेखक पहले नहीं हुआ और बाद में भी, अभी तक तो नहीं ही हुआ है। वे एक व्यक्ति ही नहीं, एक संस्था थे। उनका सम्पूर्ण जीवन और समग्र लेखन, अपने देश और देशवासियों के लिए था। उन्होंने सदैव भारत के हित में ही सोचा और लिखा। अपनी आत्मकथा–जीवन-यात्रा–में भी उन्होंने अपने बारे में कम, भारत और भारत के बाहर युग-परिवर्तन की ऐतिहासिक स्थितियों को निर्मित करनेवालों के सम्बन्ध में ही अधिक लिखा है।

अपने जीवनी और संस्मरण-साहित्य में भी इसी प्रकार उन्होंने जीवन के सामाजिक, राजनीतिक संघर्ष और आत्म-बलिदान प्रेरित घटनाओं का प्रामाणिक एवं विशद विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने भारत के उन देशभक्तों और क्रांतिकारियों की जीवनियाँ लिखीं, जिन्होंने देश की आजादी और उस के मूलगामी विकास के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर दिया।

ऐसे अप्रतिम लेखक राहुल सांकृत्यायन के रचना-लोक–'राहुल-वाङ्मय' के विभिन्न खण्डों–को विषयवार उनकी पुस्तकों के आधार पर नियोजित किया गया है।

'राहुल-वाङ्मय' के इस द्वितीय खण्ड की पहली जिल्द में हैं, उनके द्वारा लिखित बहुचर्चित पुस्तकें–'सरदार पृथ्वीसिंह', 'वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली', 'घुमक्कड़ स्वामी', 'सिंहल घुमक्कड़ जयवर्धन', 'कप्तान लाल' और 'जिनका मैं कृतज्ञ'; और इनके माध्यम से है मातृभूमि-प्रेम, औपनिवेशिक शासन के प्रति विरोध-भाव, साहस और त्याग की मार्मिक गाथा को रेखांकित करने का प्रयास।

प्रकाशन में रह गयी किसी भी त्रुटि के लिए हम क्षमा-प्रार्थी हैं।

विषयानुक्रम

राहुल का जीवनी-साहित्य
विश्वनाथ त्रिपाठी

महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखित जीवनी साहित्य उनकी जीवन-यात्रा का ही विस्तार है। आत्मविस्तार। इनमें से अधिकांश उनके अन्तरंग हैं। जो व्यक्तिगत तौर पर अन्तरंग या घनिष्ठ नहीं, वे विचारधारात्मक या आन्दोलनात्मक दृष्टि से अन्तरंग हैं। मार्क्स, लेनिन, माओ, स्तालिन तो उनके प्रेरणा-पुरुष ही थे। उनके द्वारा लिखित जीवनी-साहित्य को पढ़कर लगता है जैसे हम राहुल की ही जीवनी का कोई अंश पढ़ रहे हैं। राहुलजी ने जो आत्मकथा लिखी है और जो जीवनी-साहित्य लिखा है, उसे एक साथ पढ़ें तो लगेगा कि एक ही या एक ही प्रकार के व्यक्तियों के विषय में यह सम्पूर्ण साहित्य लिखा गया है।

इसका प्रमुख कारण यह है कि स्वयं लेखक परम संघर्षशील है। राहुलजी को छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति ने 'नये भारत के नये नेता' जैसी पुस्तक लिखी होती तो उसमें राहुल पर एक लेख अवश्य होता।

राहुल का जीवन महाकाव्यात्मक था। वह कर्मठता से भरपूर था। आजमगढ़ के एक अज्ञातनाम गाँव में पैदा होकर, किसी महाविद्यालयी या विश्वविद्यालयी शिक्षा के बिना वे 'महापंडित' कहलाए। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हुए। विश्व की अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। अपने समय के बौद्ध-दर्शन के श्रेष्ठ विद्वान श्चेर्वात्स्की ने कहा कि राहुल ने 'प्रमाणवार्तिकम्' की खोज करके ऐसा काम किया है, जिसके लिए सात जन्मों की साधना भी कम है। 1949 ई. के आसपास 'नवजीवन' (लखनऊ) का होली विशेषांक निकला था। उसमें हिन्दी के अनेक साहित्यकारों के व्यंग्य-चित्र (कार्टून) थे और नीचे कुछ पंक्तियाँ। राहुलजी के विषय में भी कुछ पंक्तियाँ थीं :

> रागी, संन्यासी लेखक, भिक्षुक, नेता चिन्तक
> एक छोर वोल्गा तक पहुँचा एक छोर गंगा तक,
> राजनीति साहित्य और इतिहास न कुछ भी छोड़ा
> केवल छोड़ा महाविजय को निज प्रतिभा का घोड़ा !

'प्रमाणवार्तिकम्' का मूल्यांकन करने की योग्यता मुझमें नहीं है। किंतु काव्य-धारा, सरहपा दोहाकोश, मध्यएसिया का इतिहास, बुद्धचर्या, वोल्गा से गंगा, भागो नहीं दुनिया को बदलो, मानव-समाज जैसे ग्रंथों से अभिभूत एवं प्रेरित मेरे-जैसे हजारों लोग हुए हैं। काव्य-धारा में अपभ्रंश कविताओं का अनुवाद मूल छंदों में ही हिन्दी में किया गया है। कमाल यह है कि मूल अपभ्रंश के ही हिन्दी में विकसित शब्दों में अनुवाद है। सरहपा अपभ्रंश के कवि थे। उनका अधिकांश काव्य तिब्वती अनुवाद में ही उपलब्ध था। दोहाकोश में राहुलजी ने तिब्वती पंक्तियों का अनुवाद अपभ्रंश-पद्यों में किया है। गोया प्रयास यह कि सरहपा ने मूल रूप (अपभ्रंश) में बहुत-कुछ ऐसा ही रचा होगा।

राहुलजी के लेखन के बारे में अनेक लोग संदेह भी करते हैं–कि वे बहुत जल्दी में लिखते थे। इस विषय

में मैंने 'पालि-साहित्य का इतिहास' के लेखक स्वर्गीय डॉ. भरतसिंह उपाध्याय से वात की तो उन्होंने कहा—राहुलजी जिस विषय पर कलम चलाते हैं उसमें अध्ययन की नयी सम्भावनाओं का संकेत करते हैं। तथ्यों से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण वह संकेत होता है।

वे बौद्धिक देव थे। लेकिन अपने महापांडित्य से अधिक चमत्कृत वे अपनी सहजता एवं आडम्बर-रहितता से करते थे। उनके जैसा निरहंकारी और विनयी व्यक्ति दुर्लभ है। अद्भुत शालीनता थी। मैंने उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 1955 में देखा था। पंडित रामअवध द्विवेदी के घर पर गोष्टी हुई। गोष्टी के उपरान्त वे उनके घर से करीब दो फर्लांग तक पैदल चलने के वाद वापस मुड़ गए। फिर रामअवध द्विवेदी के यहाँ पहुँचे। प्रणाम करना भूल गए थे, सो वापस आकर प्रणाम किया। फिर उसी रास्ते चले। इसी तरह पं. चन्द्रवली पाण्डेय से मिलने गए तो उनके निवास से एक फर्लांग की दूरी पर ही गाड़ी से उतर पड़े। लिखकर विज्ञापित किया कि पं. शांतिप्रिय द्विवेदी का उचित सम्मान किया जाना चाहिए। वे संकोची हैं। डॉ. भोलाशंकर व्यास की भी विद्वत्ता की सराहना की।

साधारणजन में छिपी असाधारणता को खोजने की क्षमता राहुल की विशेषता है। यही विशेषता जीवनी लेखक राहुल की भी है। साधारण में असाधारण की खोज वस्तुतः एक मानवीय नैतिक मानदंड भी है और सौन्दर्य-बोध भी। राहुल और गाँधी विचारधारात्मक दृष्टि से परस्पर विरोधी थे किंतु इस नैतिक एवं सौन्दर्यबोधात्मक स्तर पर समान थे।

नैतिकता और सौन्दर्य-बोध मानवीय चेतना के ही रूप हैं। वाल्टर पेटर ने सौन्दर्य का लक्षण वताते हुए कहा कि सौन्दर्य अतिरिक्त (सरप्लस) को छाँटता है। मार्क्स का अतिरिक्त (सरप्लस) सम्वन्धी सिद्धान्त इससे जुड़ा है। अपने यहाँ 'अपरिग्रह' का धर्म-लक्षण भी। जितना चाहिए उससे अधिक का संग्रह अनैतिक भी है, अमानवीय भी और असुन्दर भी। इसे अर्थ, आचरण—यहाँ तक कि भाषा-शैली पर भी लागू करके—सहजता, साधारणता का सौन्दर्य समझा जा सकता है। प्रेमचन्द और राहुल की भाषा-शैली गाँधी की भाषा-शैली से मिलती-जुलती है। यह आकस्मिक, अकारण नहीं। शैली व्यक्तित्व का सर्वाधिक विश्वसनीय परिचायक है।

राहुल ने जिन व्यक्तियों की जीवनी या संस्मरण लिखे हैं, वे सभी संघर्षशील और हर प्रकार के अतिरिक्त संचय से वचनेवाले लोग हैं। केवल अर्थ के ही अतिरिक्त संचय का लोभ नहीं, यश के भी लोभ से दूर रहने वाले लोग हैं। मार्क्स, लेनिन, स्तालिन, माओ या भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं को यश मिला तो वह यश के संचय के प्रयत्न का परिणाम नहीं; वह उनके संघर्ष का परिणाम है।

इस दृष्टि से 'नये भारत के नए नेता' नामक पुस्तक सर्वाधिक उल्लेखनीय है। इसमें कई लोगों का जीवन-परिचय है। जीवनी इसे नहीं कह सकते। ध्यान यही रखा गया है कि जो लोग नई समाजवादी व्यवस्था एवं संस्कृति को स्थापित करने की लड़ाई में अग्रगण्य हैं उनका जीवन-परिचय हिन्दी पाठकों को दिया जाए, जिससे कि हिन्दीभाषी जनता इनके विचारों और संघर्ष से प्रेरणा प्राप्त करके जाग्रत एवं सक्रिय हो।

ऊपर-ऊपर से देखने में 'नये भारत के नये नेता' विशेषतः वामपंथी राजनैतिक पार्टियों के नेताओं के जीवन-परिचय का संकलन-मात्र लगता है। किन्तु राहुल ने 'नेता' की अवधारणा को व्याप्ति दी है। उन्होंने डाँगे, नम्बूद्रीपाद, रणदिवे, पी. सी. जोशी को ही नेता नहीं नहीं माना है, निराला, सुमित्रानन्दन पन्त और सज्जाद ज़हीर को भी नये भारत का नया नेता माना है। बात देखने में चाहे जितनी मामूली लगे, दूरगामी प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अभी तक मेरे देखने में किसी भाषा की कोई और किताव नहीं आई है, जिसमें संस्कृतिकर्मियों को भी नेता माना गया हो।

बात संस्कृति और राजनीति के सम्वन्ध को समझने की है। आज दुर्भाग्यवश राजनीति वदनाम हो गई है। अवश्य इसके लिए राजनीतिकर्मी ही जिम्मेदार हैं, किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि राजनीति भी संस्कृति का ही एक रूप है। राजनीति भी अच्छी हो सकती है, बुरी हो सकती है, जैसे देशभक्ति की कविता और लोभ में लिखी गई चापलूसी की कविता। एक बात की कमी किताव में जरूर खटकती हैं। राजनीति के क्षेत्र के नेताओं की संख्या कवियों की तुलना में बहुत ज्यादा है। फिर रचनाकार सिर्फ साहित्यिक क्षेत्र के ही हैं, अभिनेता,

चित्रकार, नर्तक आदि नहीं: दूसरी कमी यह है कि साहित्यकार भी सिर्फ हिन्दी क्षेत्र के लिये गए हैं। अन्य भाषाओं के नहीं। पुस्तक बहुत बड़ी हो जाती–शायद यह भय रहा हो। फिर राहुल जी इस मामले में पुरस्कर्ता की भूमिका ज्यादा निभाते थे। वे सर्वविध निपुणता में विश्वास कम रखते थे।

किंतु ऐसी बात राजनीतिकर्मियों के चयन में नहीं। ऐसे अनेक नेताओं का जीवन-परिचय मिलेगा जिन्हें आज छुटभइयों की श्रेणी में रखा जाएगा। कारण यह कि अनेक अपवादों के बावजूद आज हम नेता उन्हीं को मानने-कहने के अभ्यस्त हो गए हैं जो मंत्री, सांसद, या विधायक होते हैं। इसीलिए स्वयं 'नेता' शब्द का अर्थापकर्ष हुआ है। राहुल जी ने नेता शब्द का प्रयोग स्वाधीनता आन्दोलनवाली दृष्टि एवं मानसिकता से किया है जिसमें कार्यकर्ता की सिद्धि नहीं, उसकी संघर्षशीलता देखी जाती थी। इसीलिए नए भारत के नए नेताओं में–कार्यानन्द शर्मा, गोपेन्द्र चक्रवर्ती, रुद्रदत्त भारद्वाज, बाबा सोहनसिंह भकना, सरदार सोहनसिंह 'जोश', वी. पी. एल. वेदी, संतसिंह यूसुफ बाटलीवाला, कल्पनादत्त जोशी आदि शामिल हैं जो आजीवन त्याग और प्रेरणा की ही मूर्ति रहे, जिनके लिए संघर्ष ही सफलता थी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह ग्रन्थ आज के भारत में पहले से कहीं अधिक संदर्भवान है। इन नेताओं ने अंग्रेजी हुकूमत और देशी सामंती ताकतों के विरुद्ध क्या-क्या अत्याचार नहीं सहे, कितनी दृढ़ता से हर तरह की कठिनाइयों को झेला। अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं की रत्ती-भर परवाह न की। केवल देश की अभावग्रस्त जनता के हित में सक्रिय रहे। सच कहा जाए तो इन्होंने ही भारतीय संस्कृति का माथा ऊँचा रखा। आज की विपरीत परिस्थिति में–जबकि हर चीज़ यहाँ तक कि भावना और विचारों का भी व्यापारीकरण हो गया है, अपने देश को शोषण-मुक्त करने की लड़ाई में लगनेवाले बहादुरों को यह पुस्तक प्रेरणा देगी।

आज की उपभोक्ता संस्कृति के पाठक जब देखेंगे कि गंगाधर अधिकारी जैसे प्रतिभाशाली वैज्ञानिक ने विदेश में लगी-लगाई ऊँची नौकरी को लात मारकर क्रान्तिकारी जीवन अपनाया, सज्जाद ज़हीर ने नव्वाबी जिन्दगी और बैरिस्टरी छोड़कर किसान-मजदूरों की जिन्दगी स्वीकार की तो उन्हें अपने कर्त्तव्य पहचानने में आसानी होगी।

राहुलजी की पुस्तक 'जिनका मैं कृतज्ञ' संस्मरणात्मक है।

राहुल विश्वविख्यात व्यक्ति थे। अपने देश और विदेश की महत्तम विभूतियों से उनका व्यक्तिगत परिचय था। पंडित जवाहरलाल नेहरू उन्हें व्यक्तिगत तौर पर जानते थे। किंतु राजनीतिज्ञों में उन्होंने जीवन-परिचय केवल वामपंथी नेताओं का दिया है और इस पुस्तक–'जिनका मैं कृतज्ञ'–में केवल आचार्य नरेन्द्रदेव का। सम्भवतः समाजवादी और बौद्ध दर्शन का विद्वान होने के कारण। पाठक इस पुस्तक में उन नामों को देखकर चकित हो जाएगा जिनके प्रति राहुलजी अपने को कृतज्ञ मानते हैं–अवश्य ही इस सूची में श्चेर्वात्स्की, सिलवाँ लेवी, काशीप्रसाद जायवाल, पं. रामावतार शर्मा तथा जापान, तिब्बत, श्रीलंका आदि देशों के अनेक ज्ञात-अज्ञात व्यक्ति हैं, किंतु अधिकांश नाम ऐसे हैं जिनका नाम भी पाठकों ने नहीं सुना होगा। वे प्रायः निम्न-मध्य, या निम्नवर्ग के व्यक्ति हैं। कई अल्पशिक्षित हैं। साधू-संतों, संस्कृत पाठशालाओं में पढ़नेवाले अनेक बटुक-साथियों के नाम हैं।

राहुलजी का जीवन महाकाव्यात्मक रहा है। उनका परिचय विविध स्थानों के विविध प्रकार के व्यक्तियों से रहा। देखने की बात यह है कि राहुलजी कृतज्ञता उन लोगों के प्रति व्यक्त करते हैं जिनसे भद्र लोग किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने में अरुचि प्रकट करेंगे, लिखित रूप में उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने की बात दूर है। बात सिर्फ कृतज्ञता प्रकट करने की नहीं, कृतज्ञ अनुभव करने की है। इन लोगों में से एक (पुस्तक में सर्वप्रथम) रामदीन मामा हैं जिन्होंने राहुल को दर्जा एक में उर्दू घसीट पढ़ना सिखाया था। रामदीन मामा पोस्टमैन थे। इसी प्रकार महादेव पंडित, यागेश, मौलवी गुलाग गौस जैसे उनके प्रारंभिक विद्यागुरु हैं। परमहंस बाबा, मुखराम पंडित, वरदराज, ब्रह्मचारी चक्रपाणि, महन्त लछमनदास, ब्रह्मचारी मँगनीराम, स्वामी हरिप्रपन्नाचारी, फक्कड़ बाबा, मौलवी महेशप्रसाद, सत्यनारायण कविरत्न, सैमुअल आइजक, भदन्त बोधानन्द, आचार्य इन्दिरारमण शास्त्री, धूपनाथसिंह, साक्या दगछेन, पं. गयाप्रसाद शुक्ल आदि के संस्मरण हैं। इनमें से अधिकांश वे हैं जो

किसी विद्यालय में उनके साथ पढ़ते थे, उन्हें पढ़ाते थे, या घुमक्कड़ी में उनके सहयात्री थे। सत्यनारायण कविरत्न उनके साथ आगरे में पढ़ते थे, मौलवी महेशप्रसाद से राहुलजी ने मुसाफिर विद्यालय आगरा में अरबी पढ़ी। मसूरी में रहते हुए राहुलजी पं. गयाप्रसाद शुक्ल के यहाँ आते-जाते थे। राहुल जी अपनी निर्मम आलोचना के लिए विख्यात हैं। उन्होंने प्राचीन धर्मग्रन्थों, शास्त्रों, कट्टरपंथियों पर तीव्र प्रहार किए हैं। किंतु अपने मित्रों, सहपाठियों, गुरुओं के व्यक्तिगत गुणों को पहचानने में भी वे अचूक हैं। सामान्य से सामान्य व्यक्ति में छिपे गुण को पहचान लेना और उसे बखानना कोई राहुलजी से सीखे। वे वैयक्तिक रूप से आलोचना किसी की नहीं करते। जिन लोगों की राहुलजी ने इतनी प्रशंसा की है, जिनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है, उनमें से अनेक राहुलजी के समवयस्क या उनसे उम्र में भी छोटे हैं। अपने समवयस्कों के गुण देख लेना और भी मुश्किल होता है। राहुलजी इस विषय में चूकते नहीं।

काशीप्रसाद जायसवाल से राहुल की शायद सर्वाधिक अन्तरंगता थी। श्चेर्वात्स्की, रामावतार शर्मा से राहुलजी घनिष्ठ थे। उनकी प्रतिभा के कायल थे, कृतज्ञ थे; किंतु जायसवाल से इस सबके अलावा घनघोर याराना भी रहा होगा।

जायसवाल का संस्मरण वे इन शब्दों में शुरू करते हैं : "अपनी दीर्घ जीवन-यात्रा में मेरे स्नेह के पात्र बहुत-से हुए पर जायसवाल जी तो बिल्कुल अभिन्न सहोदर-से थे। जब तक वह जीते रहे, उनके साहचर्य का आनन्द मुझे मिलता था। उनका घर मेरा अपना घर, उनका परिवार मेरा अपना परिवार था।" जायसवाल की मृत्यु पर राहुल ने अपनी डायरी में लिखा—"हा मित्र ! हा बंधु ! हा गुरो ! अब तुम मना करनेवाले नहीं हो, इसलिए हमें ऐसा सम्बोधन करने से कौन रोक सकता है ! हो सकता है, तुम कहते हमने भी तो आपसे सीखा है, किंतु तुम नहीं जानते कि, मैंने कितना तुमसे सीखा है। इतनी जल्दी प्रयाण ! अभी तो अवसर आया था, अभी तो तुम्हारी सेवाओं की इस अभागे देश को बहुत जरूरत थी। आह ! सभी आशाएँ खाक में मिल गईं ! जायसवाल ! ओ ! ऐसा ! दुनिया के लिए (कुछ) करना ही होगा, तुम्हारे बहुत-से स्नेह-भाजन थे, मैं भी उनमें एक था। समय दूसरों के दिल से वियोग के दुःख को क्षीण भले ही करता जाएगा, किंतु स्मृति उसे दिन-पर-दिन ताजा करती जायगी। तुम्हारा वह सांगोपांग भारत का इतिहास तैयार करने और साम्यवाद के लिए मैदान में कूदने का ख्याल ! हा वंचित श्रमिक वर्ग, सहृदय मानव ! निर्भीक अप्रतिम मनीषी, दुनिया ने तुम्हारी कदर न की।" (पृ. 469)

समूचे राहुल-वाङ्मय में ऐसे भावुक उद्गार और किसी के प्रति न मिलेंगे। राहुल की यह भावुकता सिर्फ जायसवाल के लिए है। यह मार्क्स-एंगेल्स की मित्रता की कोटि की मित्रता है। इसे पढ़कर तथागत के वे शब्द याद आते हैं जो उन्होंने मौद्गल्यायन की मृत्यु पर कहे थे—भिक्षुओ, मुझे आज यह परिषद् शून्य-सी लग रही है।

वीतराग का राग

राहुलजी ने अनेक व्यक्तियों की जीवनी लिखी है। इनमें चन्द्रसिंह गढ़वाली, पृथ्वीसिंह आजाद, घुमक्कड़ स्वामी, जयवर्धन की अधिक प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त मार्क्स, लेनिन, स्तालिन, माओ की जीवनी लिखी है। चन्द्रसिंह गढ़वाली और पृथ्वीसिंह आजाद ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष किया। चन्द्रसिंह गढ़वाली फौजी थे। अंग्रेज-सेना के सैनिक के रूप में वे कई देशों में लड़े। अनेक बार मरते-मरते बचे। पृथ्वीसिंह आजाद का जीवन तो किसी अतिमानवीय, देव का जीवन लगता है, इतने असाधारण कार्य-कलाप से भरपूर। ये दोनों हमारे स्वाधीनता-आन्दोलन के वीर-नायक हैं। चाहते तो आजाद भारत में अन्य की तरह मंत्री, सांसद बनकर मौज मारते। किंतु ये आजाद भारत में भी संघर्षरत रहे। वामपंथी रहे। सामान्य व्यक्ति का जीवन बिताया। राहुलजी का ही काम था इनके वीरनायकत्व को पहचानकर इन्हें जीवनी-नायक बनाना।

चन्द्रसिंह गढ़वाली और पृथ्वीसिंह आजाद का जीवन कितनी जोखिम-भरी रोमांचक घटनाओं से भरा है, इसे पाठक स्वयं पढ़कर देखेंगे। हमारा विचार है कि अगर इन वीरनायकों पर फिल्म बने तो वह अधिक वास्तविक

भी होगी और अनेक रहस्य-रोमांच भरी ओछी बम्बइया फिल्मों से अधिक रोमांचकारी भी। यहाँ इन दोनों की जीवनी से एक-एक घटना का वर्णन बानगी के तौर पर पेश है :

"छुट्टी का महीना घर में बिताकर वह (चन्द्रसिंह गढ़वाली) पड़ोस के गाँव में अपने एक दोस्त से मिलने गए। रास्ते में जंगल पड़ता था। मित्र से मिलकर वह लौट रहे थे तो घने जंगल के एक नाले में पहुँचने पर अचानक एक भालू ने हमला कर दिया। भालू उनके लिए बिल्कुल अपरिचित जानवर नहीं था, क्योंकि इन्हीं जंगलों में वह लड़कपन में गाय चराने आया करते थे। भालू, यद्यपि भयंकर जानवर है किंतु आदमी से सभी जानवर डरते हैं। भालू के बच्चे पास ही में थे। शायद उसको ख्याल आया कि यह आदमी मेरे बच्चों को पकड़ने आया है। हल्ला करके चन्द्रसिंह ने भगाने की बहुत कोशिश की लेकिन भालू ने उन्हें खड्ड में दे पटका और उसके बाद वह अपने बच्चों की ओर भागा। चन्द्रसिंह को इतना मौका नहीं मिला कि वह निकल भागते। बच्चों को कुछ दूर छोड़ भालू फिर आया और चन्द्रसिंह को लेकर उसने समतल जमीन पर पटक दिया। पहाड़ी लोग यह गुर जानते हैं कि भालू मुर्दे को नहीं छूता, इसलिए वह गुम-सुम आँखें बन्द करके पड़ रहे। भालू ने इधर-उधर उलट-पलटकर देखा। समझा आदमी मर चुका है। फिर डुबों-डुबों करके शोर मचाता, फुर्र-फुर्र करके सारे शरीर पर थूकता रहा। पहली झपट में चन्द्रसिंह का बायाँ हाथ भालू के मुँह में आ गया, भालू ने चबाकर उसकी हड्डी तोड़ दी। हथेली के दोनों ओर उसके दाँत घुस गए। एक उँगली तो बिल्कुल टूट गई। सारे शरीर को उसने नाखून से चीर दिया। कपड़े धज्जी-धज्जी हो खून से सन गए।"

यह वायलेंस (violence) का फिल्मी दृश्य नहीं, चन्द्रसिंह गढ़वाली की जीवनी की एक घटना है।

अब सरदार पृथ्वीसिंह के जीवन की एक घटना। घटना जुलाई 1921 की है। पृथ्वीसिंह को पुलिस के तीन जवान मद्रास से राजमहेन्द्री ले जा रहे थे :

"डाक (गाड़ी) बड़ी तेजी से दौड़ी जा रही थी। रात काफी बीत चुकी थी। पृथ्वीसिंह की नजर बार-बार सिपाहियों के चेहरे पर जाती थी। अभी भी वे सजग थे। वहाँ नींद का कोई निशान न था। रात का एक बज रहा था। ट्रेन अंगोल स्टेशन पर खड़ी थी। मूसलाधार वर्षा पड़ रही थी और डिब्बे से बाहर कुछ नहीं दिखाई पड़ता था। उन्होंने सिपाहियों की ओर देखा, वह झपकी ले रहे थे। साथी भी सो गए थे। पृथ्वीसिंह ने सोचा, फिर ऐसा समय नहीं आएगा। डाक छूटी, वेग बढ़ने लगा और जरा ही देर में वह बाहरी सिगनल से पार हो गई। जंगले से बाहर देखने पर कुछ नहीं दिखाई देता था। बिना इसका कुछ ख्याल किए कि वहाँ पत्थर, काँटा-लकड़ी, क्या है, उन्होंने डिब्बे में से छलाँग मार दी। जमीन पर जिस तरह कूदना चाहते थे उस तरह नहीं कूद सके। एक घुटने की हड्डी चटक गई। उठना चाहा तो दर्द के मारे फिर गिर पड़े। तब तक खतरे की जंजीर खींची जा चुकी थी और उन्होंने देखा—गाड़ी थोड़ी दूर जाकर खड़ी हो गई। दो-तीन बार उठने की कोशिश की, गिर पड़े। लेकिन अब उन्हें न दर्द की परवाह करनी थी न टूटे घुटने की। उन्होंने सारी ताकत लगाकर रेल की लाइन से दूर हटने की कोशिश की। आगे बढ़े तो देखा नागफनी के काँटे हैं। काँटे चुभने लगे लेकिन वह रुके नहीं"··· आदि।

मार्क्स, लेनिन, स्तालिन, माओ की जीवनियाँ राहुलजी ने वामपंथी विचारधारा और आन्दोलन के प्रचार-प्रसार के लिए लिखी हैं। मास्को या पेइचिंग से प्रकाशित जीवनियों की तुलना में राहुल द्वारा लिखित ये जीवनियाँ अधिक पठनीय हैं। राहुलजी ने इन नायकों को विचारधारात्मक साँचे-ढला प्रतीक-पुरुष नहीं, मानव के रूप में चित्रित किया है। माओ की जीवनी पढ़ें तो साथ में चीन की प्रकृति, भाषा, संस्कृति, इतिहास—सबके विषय में पर्याप्त जानकारी मिल जाएगी। इसी प्रकार अन्य नेताओं की जीवनियों से उनके प्रदेशों की। यह सारी विपुल-विस्तृत जानकारी इतनी सहजता से दी गई है कि वह अभिभूत करने के बजाय आत्मसात् हो जाती है अनायास।

यह आत्मीयता राहुलजी के लेखन की विशेषता है। जिस विषय पर, जिस प्रदेश, व्यक्ति या वस्तु पर वे कलम चलाते हैं, मानो उसके बारे में वे सब कुछ जानते हैं। सजीव और निर्जीव—दोनों का वे अन्तरंग पहचानते हैं। पाठक उनके लेखन के कथ्य पर सहज आत्मीयता से विश्वास करता है। यह राहुल की लेखन-शैली का

कमाल है। जिस निर्वैयक्तिकता की आलोचक इतनी प्रशंसा करते हैं, वह राहुल के लेखक-व्यक्तित्व की क्षमता थी। निर्वैयक्तिकता राहुल के लेखक-व्यक्तित्व का अलंकार है।

राहुल यथासम्भव भावुक नहीं होते। वे मानो तटस्थ भाव से जो कुछ देखते-जानते, विचारते हैं, टाँकते जाते हैं। किन्तु इस तटस्थता में गहरा मानव-प्रेम रचा-बसा होता है। इसलिए तटस्थ लगनेवाले लेखन को पढ़नेवाला पाठक तटस्थ नहीं रह पाता। उनकी भाषा पर उनकी माँ-बोली आजमगढ़ की बोली की गहरी छाप है। प्रकृति का वर्णन करते समय वे तटस्थता को अलग रख देते हैं, प्रकृति के सौन्दर्य में रम जाते हैं और भाषा में भाव की झंकार आ जाती है। यही भाव-झंकार या भावुकता काशीप्रसाद जायसवाल जैसे मित्र की स्मृति में भी आ जाती है। निर्ममता का आवरण ओढ़े राहुल का वास्तविक, मानवीय, संवेदनशील और करुणावान् व्यक्तित्व झलक उठता है; और यही वह व्यक्तित्व है, जिसमें बुद्ध और मार्क्स—दोनों एकमेक दिखाई देते हैं।

बी-5, एफ-2, दिलशाद गार्डन,
दिल्ली-110032

राहुल-वाङ्मय : जीवनी और संस्मरण

महापंडित राहुल सांकृत्यायन का जीवन विभिन्नताओं से भरा हुआ था। वे साधु थे, बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, यायावर थे, क्रांतिकारी देशभक्त थे, राजनीतिज्ञ थे, इतिहासकार और पुरातत्त्ववेत्ता थे, पर इस सबके साथ सबसे पहले थे सहज, सरल मनुष्य। इसी प्रकार उनके आसपास के, उनसे जुड़े लोगों में घुमक्कड़ थे, साहित्यकार थे, समाज-सुधारक थे; पुराविद, भाषाविद, भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत के पंडित, बौद्ध धर्म के विद्वान, राजनीतिज्ञ, राष्ट्रनायक भी थे, तो अत्यंत साधारण व्यक्ति भी। कलम के धनी राहुलजी ने जब आत्मकथा लिखी तो प्रसंगवश ये सब लोग उसमें आ गये, कुछ के संक्षिप्त जीवन-परिचय आये तो कुछ के मार्मिक संस्मरण। और जब जीवनियाँ और संस्मरण लिखे तो ऐसे व्यक्तियों पर ही यह लिखे गये जो किसी न किसी धरातल पर उनसे जुड़े हुए थे। राहुल जी की 'जीवन-यात्रा' तथा 'जीवनी और संस्मरण' एक बड़े कैनवस पर एक विस्तृत दृश्य-चित्र का फैलाव ही है।

राहुल जी ने जो जीवनियाँ लिखीं, उनमें से अधिकांश के चरित नायक उनके घनिष्ठ रहे हैं। इस नाते वे उन चरित नायकों के जीवन के क्रमिक विकास, उनके बचपन, शिक्षा, व्यक्तिगत विशेषताओं, सामाजिक-राजनीतिक सम्बन्धों आदि का तथ्यपरक विवेचन प्रस्तुत कर सके हैं। ऐसी जीवनियों में 'सरदार पृथ्वीसिंह', 'वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली', 'घुमक्कड़ स्वामी', 'कप्तान लाल' और 'सिंहल घुमक्कड़ : जयवर्धन' विशेष उल्लेखनीय हैं। दूसरी ओर ऐसे जननायकों की जीवनियाँ हैं, जिनके विचारों और चारित्रिक विशेषता से प्रभावित होकर, उनके विषय में विशेष रूप से पढ़-सुनकर उन्होंने उन्हें लिखा। इनमें एक ओर 'कार्ल मार्क्स', 'लेनिन', 'स्तालिन' और 'माओ-चे-तुंग' हैं, तो दूसरी ओर भारतीय संस्कृति, धर्म-दर्शन के महानायक बुद्ध की–'महामानव बुद्ध' और 'बुद्धचर्या' जैसी जीवनियाँ हैं।[1]

महापंडित राहुल द्वारा जीवनी नायकों से व्यक्तिगत सीधा सम्पर्क करके सामग्री एकत्र कर लिखी गयी संक्षिप्त जीवनियाँ 'नये भारत के नये नेता' एक अप्रतिम कृति है, जिसमें उन्होंने देश में समाजवाद लाने के लिए संघर्षरत व्यक्तियों के साथ-साथ साहित्यकारों का परिचय भी अपनी विशिष्ट शैली में प्रस्तुत किया है। काश: राहुलजी इसका दूसरा खण्ड, जिसमें साहित्यकारों, वैज्ञानिकों आदि की जीवनियाँ प्रमुख रूप से लिखी जानी थीं, पूरा कर पाये होते।

राहुल जी के जीवनीपरक साहित्य में रीतिबद्ध जीवनियों के साथ ही संस्मरणात्मक जीवनियाँ भी हैं। वैयक्तिक सम्पर्क में आये निकट सम्बन्धियों, मित्रों–एक ओर विशिष्ट व्यक्तियों तो दूसरी ओर सामान्य लोगों–को स्मरण करते हुए उनकी चारित्रिक विशेषताओं, घटनाओं, अविस्मरणीय क्षणों का रोचक एवं मार्मिक वर्णन किया है। उनके संस्मरण-साहित्य में 'जिनका मैं कृतज्ञ', 'मेरे असहयोग के साथी', 'बचपन की स्मृतियाँ' और

1. 'महामानव बुद्ध' और 'बुद्धचर्या' को राहुल-वाङ्मय के 'धर्म, संस्कृति और दर्शन' नामक खंड में रखा गया है।

'अतीत से वर्तमान' उल्लेखनीय हैं।

सरदार पृथ्वीसिंह से राहुल जी की बहुत घनिष्टता रही है। वे सरदार पृथ्वीसिंह के क्रांतिकारी रूप से बहुत प्रभावित थे। पृथ्वीसिंह का अमेरिका में गदर पार्टी से सम्बन्ध रहा था। वे बीस वर्ष के ही थे जब अमेरिका के सुखमय जीवन को लात मारकर भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेने के लिए भारत आ गये। उन्हें आजन्म कालापानी की सजा मिली। सरदार पृथ्वीसिंह का जीवन रोमांचकारी था। उनके लम्बे क्रांतिकारी जीवन में अदम्य साहस की अनेक घटनाएँ हैं। राहुल जी ने 1943 में सरदार पृथ्वीसिंह की जीवनी - लेखन का काम हाथ में लिया और तीन महीने में इसे पूरा करने का निश्चय कर इसमें जुट गये। लेकिन जब वे इसे लिख ही रहे थे तो आमंत्रण पाकर रूस जाने की तैयारी करने लगे और जीवनी-लेखन का काम 15 दिन में ही पूरा करके उन्होंने रूस के लिए प्रस्थान किया।

सरदार पृथ्वीसिंह में किन परिस्थितियों एवं घटनाओं से देश-प्रेम की भावना जाग्रत हुई, इसका सुन्दर चित्रण राहुलजी ने किया है। बर्मा में चौथी श्रेणी में पढ़ते हुए स्काट की एक कविता ने बालक पृथ्वीसिंह के हृदय में देश-प्रेम की भावना को जाग्रत कर दिया और भारत लौटने पर अल्पवयस में ही पृथ्वीसिंह ने कहा, "वह आदमी मृतात्मा-सा साँस ले रहा है, जिसने कभी अपने से नहीं कहा कि यह मेरी मातृभूमि है।" इस विद्यार्थी में राष्ट्रीय भावना और प्रबल हो उठी और 'जापान' पर एक निबन्ध में उसने लिखा, "अगर जापान-जैसा छोटा-सा देश रूस को हरा सकता है तो हिन्दुस्तान-जैसे बड़े मुल्क का इंग्लैण्ड जैसे छोटे-से मुल्क को हराना बिल्कुल छोटी-सी बात है।"

'सरदार पृथ्वीसिंह' निरन्तर संघर्षशील जीवन तथा क्रांतिकारी देशभक्त की उमंगों एवं निर्भीकता की दास्तान है, इसकी सभी घटनाएँ यथार्थ तो हैं ही, अत्यंत रोचक भी हैं। देश की स्वतंत्रता के लिए हर तरह के त्याग, बलिदान और अदम्य साहस का यह एक उदाहरण है।

वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली एक अदम्य साहसी चरित नायक की सम्पूर्ण जीवन कथा है। यह चन्द्रसिंह जी के सम्पूर्ण जीवन और क्रांतिकारी व्यक्तित्व का विवरण है। नायक का बाल्यकाल, तरुणाई, फौज में सिपाही, फ्रांस की युद्धभूमि, मेसोपोतामिया की युद्धभूमि में जाना, स्वदेश लौटना, असहयोग आंदोलन आदि से जुड़े गतिशील जीवन की छोटी-बड़ी घटनाओं का बहुत ही मार्मिक वर्णन इसमें किया गया है।

पेशावर का विद्रोह, जिसे इतिहास में 'पेशावर काण्ड' कहा जाता है, देश की स्वतंत्रता हेतु भारतीयों के विद्रोह की एक कड़ी है और वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली इसी पेशावर विद्रोह के अग्रणी थे। सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज ने जो काम किया था, उसका आरम्भ मानो वीर चन्द्रसिंह ने वर्षों पहले कर दिया था। उन्होंने भारतीयों और पठानों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया और गढ़वाली सेना में भी विद्रोह की भावना प्रज्ज्वलित कर दी। उस काण्ड के समय उनका मार्मिक और ओजपूर्ण सम्बोधन था, "भाइयो ! कल आप लोगों ने पेशावर में जो कुछ किया, बहुत अच्छा किया। हमने गढ़वाल की लाज रख ली। लेकिन, आज फिर आपको पेशावर शहर में ले जाया जा रहा है। सुनने में आ रहा है कि खान अब्दुल गफ्फार खाँ और रियासत की ओर से शहर की मदद के लिए आदमी आ रहे हैं। आज शहर में उनके ऊपर गोली चलाने के लिए आप लोगों से कहा जायेगा। मुझे आशा है, गढ़वाल के माथे पर कलंक का टीका नहीं लगने देंगे।..."

प्रस्तुत जीवनी में चरित नायक की प्रेरक देशभक्ति, शूरवीरता, साहस, स्वाभिमान आदि गुणों के परिचय के साथ-साथ स्वाधीनता-आंदोलन का जीवंत विवरण–असहयोग आंदोलन, नमक सत्याग्रह आदि के साथ ही स्वाधीनता-पूर्व भारतीय राजनीतिक चेतना का स्पष्ट वर्णन तो है ही, इसमें स्वातंत्र्योत्तर भारत के राजनीतिक वातावरण की झाँकी भी मिलती है।

घुमक्कड़ स्वामी राहुल जी के मित्र स्वामी हरिशरणानन्द जी का जीवन चरित है। यह अमृतसर के 'पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी' के संस्थापक थे, जिन्हें राहुल जी अत्यंत आदर और स्नेह से भैया और भाई साहब कहते थे।

'घुमक्कड़ स्वामी' के नायक स्वामी हरिशरणानन्द जी का व्यक्तित्व भी राहुलजी की तरह ही गतिशील

है। स्वामी जी के भी कई नाम बदले–हरिश्चन्द्र से हरिदास, फिर हरिशरण और अन्त में स्वामी हरिशरणानन्द। स्वामी जी का जीवन भी परिवर्तनशील रहा। जीवन की आधी शताब्दी तक वे साधु जीवन व्यतीत करते हुए देश का भ्रमण करते रहे। फिर ईश्वर से उनका विश्वास उठ गया और नास्तिक बन गये। राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम में भी उन्होंने भाग लिया और जीवन के विकास के साथ-साथ उनका झुकाव साम्यवाद की ओर हो गया।

वह साहसी व्यक्ति थे, उन्होंने यात्राएँ कीं और खूब कीं। राहुलजी स्वामी जी के यायावरी रूप से विशेष प्रभावित थे। प्रस्तुत जीवनी में एक घुमक्कड़ के साहसपूर्ण कार्यों का रोचक वर्णन है। इसमें भारतीय समाज और धर्म के अनेक चित्र हैं। रामनवमी के अवसर पर अयोध्या का वर्णन, साधुओं के ढोंग तथा पाखण्डों का उल्लेख, सखी सम्प्रदाय और धार्मिक ढोंग पर व्यंग्यपूर्ण प्रहार, तथा भारतीय समाज की धार्मिक स्थिति के विवेचन के साथ-साथ समसामयिक सामाजिक, राजनीतिक आंदोलनों का चित्रांकन बहुत ही प्रभावशाली ढंग से हुआ है। जलियाँवाला बाग की घटना का मार्मिक और ज्वलंत चित्रण भी इसमें है।

'घुमक्कड़ स्वामी' के चरित नायक के जन्म-स्थान कानपुर नाम की व्युत्पत्ति और उसके वर्णन के साथ ही जीवनी में प्रसगवश आये विभिन्न नगरों और गाँवों का भौगोलिक एवं ऐतिहासिक परिचय दिया गया है। यह परिचय राहुल जी के गहन इतिहास-बोध एवं पुरातात्विक ज्ञान के साथ ही इन यात्रा-प्रदेशों की यात्रा के उनके अपने अनुभव को भी दिग्दर्शित कराता है।

सिंहल घुमक्कड़ : जयवर्धन एक विस्मृत साहसी यात्री की जीवनी है। जयवर्धन जी, जिनका बौद्ध नाम इन्द सुमन है, जन्मजात घुमक्कड़ थे। राहुल जी की उनसे तिब्बत में भेंट हुई। घुमक्कड़ी में जयवर्धन जी को विशेष आनन्द आता था। वे तिब्बत और नेपाल के कोने-कोने के गाँवों, जनपदों में पैदल ही घूमे थे। उनका स्वभाव भी बड़ा विचित्र था। रुपया-पैसा जोड़ा नहीं, उनके श्रद्धालु भक्त हर जगह मौजूद थे, जो उनकी सेवा करना अपना अहोभाग्य समझते थे। बौद्ध भिक्षु होने के नाते उनकी अन्य किसी प्रकार की अभिलाषाएँ भी नहीं थीं।

अनेक वर्ष बीतने के बाद, जयवर्धन और राहुल जी की भेंट जब 1961 के आरम्भ में दार्जिलिंग में पुनः हुई तो ऐसे विलक्षण यायावर की जीवनी लिखने का राहुल जी ने निश्चय किया। उन्हें अपने घर रखा और उनसे पूछ-पूछकर 'नोट्स' लेकर यह जीवनी लिखी। राहुल जी इसे और विस्तृत रूप देना चाहते थे; परन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण, अपनी इच्छा के अनुरूप नहीं लिख पाये।

जयवर्धन जी के स्वभाव का आकलन राहुलजी ने इन शब्दों में किया है, "उनका हृदय बहुत साफ है, लेकिन कड़ुवा सत्य बोले बिना बात नहीं करते। किसी जगह ज्यादा टिकने पर उनके शत्रुओं की संख्या बढ़ जाती है, विशेषकर ऐसे शत्रुओं की जो उनके द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं।"

'सिंहल घुमक्कड़' में तिब्बत की पृष्ठभूमि का विशद चित्रण किया गया है। इसमें उस तिब्बत की झाँकी देखने को मिलती है, जो अब दुर्लभ है। तिब्बत के अतिरिक्त लंका और नेपाल का भी इसमें अच्छा परिचय मिलता है। चरित नायक के जीवन के अनुभव और घुमक्कड़ी की पृष्ठभूमि में आये लोगों से उनके सम्पर्क के माध्यम से उस स्थान विशेष के समाज एवं संस्कृति का यथार्थ चित्रण भी इसमें है।

कप्तान लाल राहुल जी के लेखकीय जीवन की अन्तिम कृति है। इसे उन्होंने 1961 में दार्जिलिंग में रहते समय लिखा था। यह उनके पड़ोसी कुँवर जसवंतचन्द्र लाल, जिन्हें सब लोग 'लाल साहब' कहते थे, की जीवनी है। इस पुस्तक के सम्बन्ध में एक रोचक संस्मरण याद आता है, जिससे पता चलता है कि राहुल जी के लेखन के सम्बन्ध में साहित्यकारों में भी कितनी गलतफहमी रही है। एक प्रतिष्ठित साहित्यकार ने राहुल-साहित्य पर शोध करनेवाले एक युवक को बतलाया था कि राहुल जी अपनी कृतियों की संख्या बढ़ाने के लिए उतावले रहते थे, इसलिए उन्होंने एक अंग्रेजी उपन्यास का यह अनुवाद किया है। यह कोई मौलिक कृति नहीं है। शोधार्थी ने जब यह प्रसंग बतलाया तो मुझे बहुत हँसी आयी!

'कप्तान लाल' किसी अंग्रेजी उपन्यास का अनुवाद नहीं है। यह एक फौजी अफसर की जीवन-कथा है,

जो द्वितीय महायुद्ध में इम्फाल और बर्मा में और उससे पहले पेशावर की तरफ ब्रिटिश फौज में कप्तान रहा था। राहुल जी की यह विशेषता है कि वे चरित नायक की जीवन-कथा और उसकी साहसिक गतिविधि का उल्लेख करने के साथ-साथ मानों उसके साथ चलते हैं—उसकी आँखों से उस स्थान विशेष के प्राकृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिवेश का अवलोकन करते हैं। कप्तान लाल जहाँ-जहाँ रहे, उस भू-भाग का भौगोलिक परिचय देते हुए, वहाँ के लोगों एवं उनके रीति-रिवाजों का उल्लेख करते हैं।

प्रस्तुत जीवनी में नागाओं और नागा प्रदेश का बहुत सजीव चित्रण है। इसके साथ ही इम्फाल और वर्मा की पहाड़ियों में हुई लड़ाइयों के आकर्षक और मनोरंजक चित्रण के कारण यह केवल जीवनी न रहकर एक रोचक उपन्यास लगने लगता है।

कार्ल मार्क्स सैद्धान्तिक साम्यवाद के प्रणेता की जीवनी है। मानव-समाज को इतना प्रभावशाली राजनीतिक दर्शन देनेवाला चिंतक अपने निजी जीवन में किस प्रकार रहा, किस प्रकार जिया, कैसे सोचता-विचारता रहा—इन सब जिज्ञासाओं की पूर्ति इस पुस्तक से होती है। वस्तुतः अंग्रेजी में कार्ल मार्क्स पर अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं, पर कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त (थ्योरी) इतनी जटिल अंग्रेजी में लिखे होते हैं कि आम पाठक से परे की वस्तु हैं। इन सिद्धान्तों को अपनी सरल भाषा में ही समझाने का प्रयत्न राहुल जी ने अपनी पुस्तक के माध्यम से किया है।

यह एक ऐसा ग्रंथ है, जिससे पाठकों को न केवल मार्क्स के जीवन तथा कार्यों की झाँकी मिलती है, बल्कि वह मार्क्स के क्रांतिकारी सामाजिक चिंतन तथा राजनीति-दर्शन को भी समझ सकता है।

कार्ल मार्क्स के जीवन के साथ-साथ उस समय की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक घटनाओं; यूरोप के विभिन्न देशों—फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन में हुए विप्लवों, उनके कारणों और परिणामों का विवेचन भी इस कृति में मिलता है। कार्ल मार्क्स की प्रख्यात कृति 'दास कपिटाल' (कैपिटल) के विचार भी बहुत कुछ सामने आते हैं।

कार्ल मार्क्स के प्रति राहुलजी के मन में अपार श्रद्धा थी। इसलिए उन्होंने कार्ल मार्क्स सम्बन्धी समस्त साहित्य का अध्ययन-मनन कर बड़े ही परिश्रम से इस जीवनी की रचना की। मार्क्स के साथ ही इसमें लुडविग, जेनी तथा एंगेल्स के जीवन का भी सजीव चित्रण है। रूस में जारशाही और बोल्शेविकों के संघर्षों का विशद वर्णन है। पुस्तक में इतनी विपुल सामग्री है कि मार्क्सवाद का अर्थ समझने में कहीं कोई कठिनाई नहीं होती।

लेनिन उस व्यक्ति की जीवनी है जिसने अपनी प्रतिभा, कर्मठता एवं पैनी सूझबूझ से रूस के जारशाही शासन को खत्म कर दिया। वे बोल्शेविक पार्टी के अगुआ और मजदूर वर्ग के नेता थे। लेनिन की इस जीवनी को लिखने से पहले भी राहुल जी ने अपनी पुस्तक 'सोवियत भूमि' में लेनिन पर एक सुन्दर और लगभग सम्पूर्ण जीवनी लिखी थी; परन्तु उससे उन्हें संतोष नहीं हुआ। चरित नायक के जीवन के साथ-साथ उस महान व्यक्ति के सिद्धान्तों, सपनों और कर्मयोगी-रूप का गहन परिचय देने के लिए उन्होंने इस विस्तृत जीवनी की रचना की।

लेनिन अपने क्रांतिकारी जीवन में अत्यंत प्रभावशाली एवं साहसी थे। बोल्शेविक आन्दोलन में वे किसी भी खतरे में सीधे कूदने से डरते नहीं थे। उन्होंने तूफानी जीवन जिया था। गजब की दूरदर्शिता, होनेवाली घटनाओं के आंतरिक मर्म को अति शीघ्र समझ लेने की योग्यता और उससे लाभ उठाने की क्षमता, लेनिन के विशेष चारित्रिक गुण थे और इसने ही लेनिन को महान बनाया था।

महान व्यक्ति की वाणी और क्रिया में अटूट सम्बन्ध होता है। उसके वक्तव्य उसके व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसकी कार्यनिष्ठा का परिचय देते हैं। लेनिन का कथन यहाँ उल्लेखनीय है—"मजदूर वर्ग नष्ट नहीं होगा। वह बढ़ रहा है। एकताबद्ध, समझदार और संघर्षों में फौलादी बन रहा है।... मजदूर आन्दोलन और उसके उद्देश्यों के प्रति हम आशावादी हैं। इस समय जिस इमारत की नींव हम रख रहे हैं, हमारे लड़के इसे पूरा करेंगे।" एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं, "हमारा कर्तव्य है कि अपनी पार्टी की दृढ़ता, एकमनस्कता और शुद्धता को सुरक्षित रखें। हमें पार्टी सदस्य की उपाधि को और भी ऊँचे स्तर पर उठाने का प्रयत्न करना चाहिए।"

लेनिन क्रांति के लिए पैदा हुए थे। सचमुच ही वे एक क्रांतिकारी योद्धा थे। लेनिन उन लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते थे जो कि हल्के दिल से, जनता को नीची निगाह से देखते हैं और उन्हें किताबों से सिखलाना चाहते हैं। लेनिन बराबर कहते थे कि हमें जनता से सीखना चाहिए, उसकी कार्य-पद्धति को समझना चाहिए और जन-संघर्षों की क्रियाशीलता का ध्यान से अध्ययन करना चाहिए।

दुनिया के श्रमजीवियों, गरीबों की दशा में सुखद परिवर्तन चाहनेवाले महामानव की जीवन-कथा और उसके विचार तथा सिद्धान्तों को इस कृति में बहुत सशक्त शैली में प्रस्तुत किया गया है।

स्तालिन साम्यवादी व्यवस्था को आर्थिक रूप से मजबूत करने और उसे फासिस्तवाद के घातक संकट से पार कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवाले व्यक्ति की जीवन-कथा है। स्तालिन का जीवन पुराने युग के विनाश और नये युग के विकास की कहानी है। यह पूँजीवादी शोषण, साम्राज्यवादी गुलामी और युद्ध के विरुद्ध मेहनतकश इंसानों के सफल संघर्ष की कहानी है। यह समाज के निर्माण, राष्ट्रों की आजादी और विश्व-शांति के विशाल संघर्ष की गाथा है।

सर्वहारा के दृढ़ वर्ग-संघर्ष, सर्वहारा की वर्गीय पार्टी—कम्युनिस्ट पार्टी—के गठन, पार्टी के नेतृत्व में सर्वहारा वर्ग, किसानों तथा अन्य मेहनतकश जनता की एकता, रूस में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के अन्त, खेती के सामूहिकीकरण आदि—स्तालिन के जीवन के महत्त्वपूर्ण कार्यों के साथ ही रूस की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का सजीव अंकन राहुल जी ने इस कृति में किया है।

कलम के धनी राहुल जी बड़े ही अध्ययनशील और खोजी लेखक थे। उन्हें कहानी कहने का ढंग भी खूब आता था। वैसे तो उन्होंने 1938 में ही 'सोवियत भूमि' पुस्तक में स्तालिन की एक सुन्दर जीवनी लिखी थी; परन्तु लगता है इतने वर्षों बाद यह उन्हें अधूरी लगी, इसलिए उन्होंने नये ढंग से स्तालिन की जीवन-गाथा को लिखा। उन्होंने स्तालिन के निजी जीवन, खासकर उनके बचपन के बारे में रूसी पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों के माध्यम से बड़ी खोजपूर्ण सामग्री दी है। इतना ही नहीं, उन्होंने स्तालिन के बचपन के मित्रों से भी स्मृतियाँ इकट्ठी कर ऐसी-ऐसी बातें बतलायी हैं, जो भारत की और भाषाओं में तो क्या, अंग्रेजी में भी स्तालिन की किसी जीवनी में नहीं मिलतीं।

राहुलजी, स्तालिन के समय दो वर्ष रूस में रह चुके थे और वहाँ की प्रगति को उन्होंने अपनी आँखों देखा था। उन्हें वहाँ की एक-एक बात प्रेरणादायी लगती थी; पर स्तालिन की व्यक्तिपूजा उनको खटकी। वे मानते थे कि इसे अधिक दिनों तक चलाया नहीं जा सकता, क्योंकि व्यक्ति-पूजा साम्यवाद के विरुद्ध है।

यह कृति स्तालिन जैसे साम्यवादी नेता के जीवन एवं कृत्यों—जारशाही एवं साम्यवादियों के संघर्ष के विशद चित्रण के साथ ही रूसी जन-जीवन का सजीव आकलन है।

माओ चे-तुंग चीन के राष्ट्रनायक, जनवादी चीनी गणतंत्र के संस्थापक एवं जननेता की जीवनी है। माओ ने 'लांग मार्च' करके, अनेक कष्ट सहन करके अंत में चीन को निरंकुश शासक के अत्याचारों से मुक्त कराया। इस चरित-नायक के देश-प्रेम, क्रांतिकारी जीवन-दर्शन, त्याग एवं बलिदान को राहुल जी ने घटनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

माओ चे-तुंग के जन्म, उनके बचपन, तरुणाई में ही राजनीतिक सक्रियता, चीन की क्रांतिकारी सेना में प्रवेश, मंचू राजवंश के विरुद्ध विद्रोह, कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना का अत्यंत सटीक वर्णन इस पुस्तक में हुआ है। माओ मानते थे कि चीन में क्रांति, विदेशी कम्युनिस्ट पार्टी के अनुरूप औद्योगिक नगरों के मजदूरों द्वारा न होकर, जमीन पर, खेतों में काम करनेवालों द्वारा ही होगी, इसलिए उन्होंने हुनान प्रदेश में कितने ही कृषक सैनिक संगठन गठित किये और राष्ट्रवादियों को साथ लेकर मंचू राजवंश को पदच्युत किया। दो लाख किसान सैनिकों को साथ लेकर किये गये 'लांग मार्च', जो चीनी इतिहास में 'दीर्घ अभियान' के रूप में प्रसिद्ध है, आदि का विस्तृत वर्णन इस कृति में उपलब्ध है, और है माओ की लाल सेना द्वारा नानकिङ् पर अन्तिम विजय की महागाथा और फिर जनवादी चीनी गणराज्य की स्थापना का विवरण।

चीन में औद्योगीकरण को बढ़ावा देने के लिए उठाये गये 'अग्रगामी कदम', सांस्कृतिक क्रांति, चीनी लोगों

के विचार एवं जीवन को प्रेरणा तथा नेतृत्व देनेवाली 'लाल किताव' का राहुल जी ने अपनी विशिष्ट शैली में विस्तृत वर्णन किया है।

प्रस्तुत जीवनी में चरित नायक माओ के साथ ही उनके माता-पिता, चीन के सेनापति चू-तेह और अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का भी यत्र-तत्र चरित्रांकन है। चीन की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का भी यथार्थ चित्रण है।

नये भारत के नये नेता कृति इसका एक अच्छा उदाहरण है कि महापण्डित राहुलजी अपने देश और देशवासियों से कितना प्यार करते थे। इस पुस्तक के पहले संस्करण में राहुल जी ने 42 लोगों का जीवन-परिचय दिया है, जिन्हें उन्होंने नया नेता माना। मुख्य रूप से इसमें राजनीति से जुड़े लोग ही हैं। परन्तु इसके साथ ही दो साहित्यसेवियों–निराला और पंत का जीवन-परिचय देकर उन्होंने यह जताया है कि साहित्य से जुड़े लोग भी नये भारत के नये नेता हैं। राहुल जी ने पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि इन 42 जीवनियों से ही यह पुस्तक पूरी नहीं होती। जीवन के विभिन्न पक्षों से जुड़े, विभिन्न क्षेत्रों के संघर्षशील अग्रगण्य लोगों का जीवन-परिचय लिखकर शीघ्र ही वे इसे पूरा करेंगे। विदेश-प्रवास और कई नयी योजनाओं–अन्य पुस्तकों का काम आगे आ जाने से यह विचार साकार नहीं हो सका।

'नये भारत के नये नेता' के पहले खण्ड को ही इसके दूसरे संस्करण के छपने के समय दो खण्डों में वाँट दिया गया। प्रथम खण्ड में 19 जीवनियाँ ही दी गयीं, शेष को दूसरे खण्ड में देने की योजना थी, परन्तु यह पूरी नहीं हुई।

राहुल जी ने इन जीवनी नायकों को देश की तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखा है। ये जीवनियाँ भारत की तत्कालीन (1942-43) विविध समस्याओं एवं संघर्षों को साकार रूप में चित्रित करती हैं। इस पुस्तक की यह विशेषता है कि लेखक ने प्रत्येक जीवनी-नायक से सम्पर्क करके सामग्री एकत्र की है। राहुल जी ने प्राक्कथन में लिखा है, "सुनी-सुनाई वातों के भरोसे इन जीवनियों में से एक भी नहीं लिखी गई है। यहाँ लिखी जीवनियों की सामग्री मैंने नायकों के मुख से संचित की है।" इस तरह यह भारत के एक कालखण्ड के इतिहास का सच्चा दस्तावेज़ है। लेखक की साधना एवं कर्तव्य के प्रति निष्ठा का भी यह सशक्त प्रमाण है।

जिनका मैं कृतज्ञ के सम्बन्ध में स्वयं राहुल जी का यह मानना है कि इसे लिखकर मैं उस ऋण से उऋण हो जाना चाहता हूँ, जो इन बुजुर्गों, वन्धुओं और मित्रों का मेरे ऊपर है। इनमें सिर्फ वही नहीं हैं, जिनसे मैंने मार्गदर्शन पाया था; वल्कि ऐसे भी पुरुष हैं जिनका सम्पर्क मेरे मानसिक सम्वल के रूप में जीवन-यात्रा में सहायक हुआ। कितनों से विना उनकी जानकारी, उनके व्यवहार और वर्ताव से मैंने वहुत कुछ सीखा।...

ऐसे ही लोगों के प्रति राहुल जी कृतज्ञ हैं और उनको लगता है कि 'कृतज्ञ' और 'कृतवेदी' मनुष्य को सदा रहना चाहिए। इसी परम्परा को मानते हुए उन्होंने अपने उन मधुर स्मरणीय पुरुषों के वारे में लिखा है–अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की है। ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में उन्होंने पूरी ईमानदारी से लिखा है। अपने संस्मरण-नायकों से राहुल जी का घनिष्ठ सम्वन्ध रहा है, इस नाते उनके चरित्र से सम्वन्धित, वर्णित घटनाओं, स्थितियों एवं मनोदशाओं के अंकन में वे पूर्ण-न्याय कर सके हैं।

राहुल जी के इन संस्मरणों में उनकी अपनी मान्यताएँ और रुचियाँ भी व्यक्ति विशेष के सन्दर्भ में यत्र-तत्र प्रकट हुई हैं। मौलवी गुलाम गौस के संस्मरण में इतिहास एवं पुरातत्त्व का ज्ञान झलकता है। मौलवी महेशप्रसाद के संस्मरण में नास्तिकता, वेद एवं ईश्वर सम्बन्धी विचार व्यक्त हुए हैं। भगवती प्रसाद और पण्डित संतराम के सन्दर्भ में छुआछूत विरोधी भावना प्रकट हुई है। वरदराज के संस्मरण में सखी सम्प्रदाय पर प्रहार है। आचार्य नरेन्द्र देव और भदन्त वोधानन्द सम्बन्धी संस्मरणों में वौद्ध धर्म में आस्था एवं साम्यवादी विचारधारा प्रकट हुई है। ब्रह्मचारी मँगनीराम के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति के उपादानों के प्रति मोह प्रदर्शित हुआ है।

वास्तव में इस पुस्तक में देश-विदेश के विभिन्न क्षेत्रों के विशिष्ट व्यक्तियों के संस्मरण–संक्षिप्त जीवन चरित प्रस्तुत किये गये हैं और राहुल जी को इनमें से अधिकांश प्रतिभाओं–अनर्घ रत्नों के गुमनामी में विलीन हो जाने का दुख भी है।

मेरे असहयोग के साथी ऐसे अज्ञात व्यक्तियों की संस्मरणात्मक जीवनियाँ हैं, जिन्होंने राजनीतिक आन्दोलन–असहयोग आन्दोलन–में किसी न किसी रूप में भाग लिया। महात्मा गाँधी के आह्वान पर सन 1921 में नवयुवकों ने अपनी पढ़ाई-लिखाई और काम छोड़कर राजनीति के सिपाही बनने का रास्ता अपनाया। ऐसे असंख्य लोग थे, जिनका कोई उल्लेख किसी लेख, किसी पुस्तक में नहीं आया। राहुल जी ने अपनी पैनी दृष्टि से इन व्यक्तियों की प्रतिभा एवं महत्त्व को देखा है और प्रभावपूर्ण ढंग से उसे अंकित किया है।

शायद मनुष्य का स्वभाव है कि वह बड़े-बड़े नामों और बड़े-बड़े व्यक्तियों के बलिदान की कहानी को तो याद रखता है; पर छोटे-सामान्य व्यक्तियों के देश के प्रति किये महान त्याग, समर्पण और बलिदान को भूल जाता है। राहुल जी को मानव-स्वभाव का यह पक्ष विक्षुब्ध कर देता था, इसलिए उन्होंने समाज द्वारा, देश द्वारा विस्मृत प्रतिभाओं–वीरों, शहीदों को स्मरणीय बनाये रखने के लिए योजना बनाई और इसी के फलस्वरूप यह कृति सामने आयी।

यह कृति देश की तत्कालीन परिस्थिति तथा परिवेश का सजीव चित्रण है। भारतीय ग्रामीण जीवन की आर्थिक स्थिति, अंग्रेजों की दमन-नीति, स्वतंत्रता के लिए जनता की प्रखर भावना, भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष का परिवेश, 'मेरे असहयोग के साथी' के प्रत्येक पृष्ठ पर देखा जा सकता है। कुछ संस्मरण तो इतने मार्मिक हैं कि इनके चरित-नायकों की निर्धनता के प्रति, लेखक का हृदय करुणार्द्र हो उठता है। बाबू मधुसूदन सिंह तथा रामबहादुर लाल के संस्मरण इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। कहीं-कहीं लेखक का आक्रोश और विक्षोभ भी व्यक्त हुआ है, पण्डित ऋषिदेव ओझा और बाबू रामानन्द सिंह में यह विशेष रूप से परिलक्षित है।

अतीत से वर्तमान के लेख तीन खण्डों–प्रथम : चरित, द्वितीय : कला, इतिहास और धर्म तथा तृतीय : देश-दर्शन–के अन्तर्गत संयोजित हैं। पुस्तक के प्रथम खण्ड में उन जीवन-चरितों को रखा गया है, जो 'अतीत से वर्तमान' के विस्तृत कालखण्ड से जुड़े हुए हैं। इन जीवन-चरितों में ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने देश-विदेश में घुमक्कड़ी की, बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार किया। इनमें से कुछ इतिहासज्ञ हैं, तो कुछ समाजसेवी एवं साहित्य सेवी विद्वान हैं। भदन्त बोधानन्द महास्थविर हैं, जिन्होंने राहुल जी के मन में बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग पैदा कर दिया था। मौलवी महेशप्रसाद जी, राहुलजी के गुरु हैं, जिन्होंने आगरा के आर्यसमाज में उन्हें अरबी भाषा की शिक्षा दी थी। रूसी विद्वान डॉ. बरान्निकोव, जिन्होंने 'रामचरितमानस' का रूसी भाषा में अनुवाद किया, की विद्वत्ता से राहुल जी बहुत प्रभावित थे। नेपाली महाकवि देवकोटा की असाधारण प्रतिभा से राहुल जी आश्चर्यचकित थे, उन्हें इस महाकवि में एक साथ प्रसाद, पंत, निराला के दर्शन हुए थे। पण्डित किशोरीदास वाजपेयी को वे हिन्दी व्याकरण का पाणिनि स्वीकारते थे। राहुल जी व्यक्ति के विशिष्ट गुणों का सर्वदा आदर करते थे। इस पुस्तक में उन्होंने अतीत और वर्तमान के स्मरणीय व्यक्तियों के चरित को रेखांकित किया है।

पुस्तक के द्वितीय खण्ड में 'बुद्ध का दर्शन' है तो 'जय लुम्बिनी' है। 'सांस्कृतिक निधियों' की हो रही उपेक्षा पर राहुल जी की पीड़ा स्पष्ट परिलक्षित होती है। और देश-दर्शन के अन्तर्गत 'पहाड़ी दीवाली', 'प्रथम हिमपात', 'गढ़वाल प्रदेश', 'मसूरी' आदि अच्छे संस्मरण हैं।

बचपन की स्मृतियाँ राहुल जी की आत्मकथा शैली में लिखे संस्मरणों की पुस्तक है। इस पुस्तक की रचना से भी एक संस्मरण सम्बन्धित है–उत्तर प्रदेश शासन ने राहुल जी के जिले आजमगढ़ का गजेटियर तैयार करने के सिलसिले में उन्हें उस जिले की पुरातात्विक यात्रा करने का निमंत्रण दिया। पण्डित जी 1957 की फरवरी में एक सप्ताह के लिए आजमगढ़ गये थे। उस समय वे आजमगढ़ के साप्ताहिक 'कर्मयोगी' के सम्पादक श्री ज्योति स्वरूप सिंह के घर पर ठहरे। उन्होंने 'कर्मयोगी' के सम्पादक से पत्रिका के सम्बन्ध में पूछा तो पता चला कि 'कर्मयोगी' की बिक्री सीमित होने के कारण इसको चलाना कठिन हो रहा है। सम्पादक श्री सिंह ने राहुल जी से आग्रह किया कि यदि उनका कोई लेख-संस्मरण पत्रिका में छपता रहे, तो पत्रिका की बिक्री अवश्य बढ़ेगी। लोग पत्रिका खरीदने लगेंगे। पण्डितजी इस आग्रह को मान गये और मसूरी लौटकर 'जन्मभूमि मम परम सोहावन' शीर्षक से कोई तीन दर्जन लेख लिखकर 'कर्मयोगी' के सम्पादक के पास भेज दिये।

ये लेख राहुल जी ने अपने बचपन की स्मृतियों के आधार पर लिखे थे। ये 'कर्मयोगी' में धारावाहिक

छपे और फिर बाद में इन्हीं लेखों का संग्रह 'बचपन की स्मृतियाँ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

प्रथम लेख 'इतिहास' में वे अपनी जन्मभूमि कनैला का स्मरण करते हुए कहते हैं, "जन्म भूमि सबको प्यारी होती है। मनुष्य बचपन में जिन-जिन वस्तुओं के घनिष्ट सम्पर्क में आता है, वे उसके लिए सहज प्रिय हो जाती हैं।"

इस पुस्तक में उन्होंने कनैला में बीते बचपन की मधुर स्मृतियों को खासतौर से लिपिबद्ध किया है। जन्मभूमि ननिहाल पन्दहा, पितृग्राम कनैला, बचपन के दोस्त, विद्यालय के सहपाठी, शिक्षक, खेल का मैदान, कनैला के वन-सरोवर-उद्यान, बचपन के प्रिय खाद्य, पेय, रोमांचकारी-विस्मयकारी घटनाएँ, चुहलबाजी आदि के बहुत मधुर एवं आकर्षक शैली में संस्मरण रेखांकित किये गये हैं।

इसके साथ ही राहुल जी ने अपनी प्यारी जन्मभूमि, कनैला-पन्दहा के इतिहास, संस्कृति, जनजीवन, भाषा, धर्म एवं समाज और आस-पास के लोगों की सामाजिक स्थिति का भी चित्रण किया है।

सिंहल के वीर में श्रीलंका के चरित नायकों का परिचय है। इनमें प्रमुख हैं—सिंहल के प्रथम वीर विजय, प्रथम बौद्ध धर्म प्रचारक महेन्द्र, अजेय वीर दुष्ट ग्रामणी, सिंहल के त्रणकर्ता विजय बाहु, पोर्तुगीज दलनकर्ता टिकरी मण्डार। इस-पुस्तक में सात महापुरुषों का जीवन-परिचय रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

अम्बेडकर नेपाल में दिये गये बाबा साहेब से सम्बन्धित व्याख्यानों से सम्बन्धित पुस्तिका है।

'राहुल निबन्धावली', 'पुरातात्विक निबन्धावली', 'विविध प्रसंग' में संकलित जीवनीपरक लेख एवं संस्मरणों तथा अप्रकाशित एवं असंकलित लेखों को भी इस खण्ड में रखा गया है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के जन्मशती-वर्ष (1993-94) के अवसर पर उनके समग्र रचना-लोक—'राहुल-वाङ्मय' को संग्रहित-संयोजित करने और तीन वर्ष में इसे पूर्णरूपेण प्रकाशित करने की योजना पर विचार किया गया। विषय-विभाजन की दृष्टि से इसे ग्यारह खण्डों—लगभग पचास जिल्दों—में प्रकाशित करने की रूपरेखा बनाई गयी; और इस महती योजना को पूरा करने का दायित्व उठाया राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली ने। इस संदर्भ में दृष्टि यह रखी गयी कि राहुल जी की विविध प्रकार की रचनाओं—पुस्तकों—को विषयवार रखा जाये और रचनाओं की पुनरावृत्ति न होने पाये। हमारी पूरी कोशिश रही है कि राहुल जी के बहुआयामी और विषद रचना-लोक व 'राहुल-वाङ्मय' को जैसा उन्होंने रचा है, वैसा ही प्रस्तुत किया जाये, ताकि उनके लेखन के सम्बन्ध में जो भ्रांतियाँ फैलायी जा रही हैं, वे दूर हो सकें।

इस प्रकाशनायोजन से जुड़े समस्त लोगों ने इस ऐतिहासिक कार्य में असाधारण योगदान दिया है, और वे सहज ही धन्यवाद के अधिकारी हैं।

26 जनवरी, 1994
राहुल निवास,
21, कचहरी रोड, दार्जिलिंग

—कमला सांकृत्यायन



महापण्डित राहुल सांकृत्यायन अपने अनन्य मित्र भदन्त आनन्द कौसल्यायन और
डॉ. महादेव साहा के साथ : इडेन हास्पिटल, दार्जिलिंग–1962

सरदार पृथ्वीसिंह

1
बचपन

सत्रहवीं सदी का मध्य या अंत था। जैसलमेर (राजपूताना) से दस-बारह भट्टी राजपूत सवार अकाल के मारे निकल पड़े। कितने ही दिनों तक मारे-मारे फिरते वे लालड़ू गाँव से गुजर रहे थे। देखा गेहूँ की फसल लहलहा रही है। मुँह में पानी भर आया। उन्होंने कुछ ख्याल करके किसानों से पूछा। जवाब मिला—ये हमारे खेत हैं। जवाब शायद नर्मी के साथ दिया गया था। सवारों की हिम्मत बढ़ी। उन्होंने किसानों को डाँटकर कहा—जब तक हम लौटकर न आएँ, तव तक फसल को न काटना। कुछ दिन आसपास घूमकर जब वे लौटे, तो देखा कि फसल वैसी ही खड़ी है। भट्टी सवार फसल और गाँव के मालिक बन गये। तबसे लालड़ू भट्टी राजपूतों का गाँव हो गया। किस-किसके शासन में से होते हुए पटियाला के भट्टी वंश के राज्य में आ जाने से लालड़ू के भट्टियों की अवस्था कुछ विशेष उन्नत हुई, इसका तो पता नहीं लगता लेकिन गाँव के हर्ता-कर्ता बराबर वही रहे। उन्नीसवीं सदी के अन्त में लालड़ू 4000 की अच्छी-खासी बस्ती थी, जो दुकानें, थाना, पुलिस आदि के कारण छोटा-मोटा कस्बा-सा दीख पड़ता था। लेकिन राजपूतों की जीविका एकमात्र खेती थी। गाँव का फाड़िया 80 घर राजपूतों में सम्माननीय समझा जाता था, काठ-कोड़ा यहीं रहता था, जहाँ गाँव में पकड़े गये चोर को काठ मारा जाता या कोड़े से पीटा जाता। उस वक्त फाड़िया परिवार में 13-14 व्यक्ति और उसके पास 80 एकड़ खेत थे।

लालड़ू अम्बाला से कालिका जानेवाली रेल पर तीसरा स्टेशन है।

जन्म

15 सितम्बर, 1892 ई. को चौधरी शादीराम और उनकी पत्नी को—जो टाबर के चौहानों की लड़की थी—सबसे बड़ा पुत्र पैदा हुआ, नाम रक्खा गया—पृथ्वीसिंह। भट्टियों के रिवाज के मुताबिक उसे भी खंगा की घुट्टी दी गयी। लेकिन इस चरणामृत की लाज को इतनी बहादुरी से बहुत कम ही ने निबाहा होगा।

फाड़िया परिवार खुशहाल था, लेकिन तभी तक जब तक कि आसमान उस पर मेहरबानी करता। उसके खेतों को सींचने के लिए वहाँ न नहर थी, न कुआँ। मेंह बरस गया, तो फसल हो गयी और परिवार के 15 व्यक्तियों की दाल-रोटी और कपड़े का इन्तिजाम हो जाता। साल के वाद कुछ बचा लेना घर के लिए मुश्किल था।

पृथ्वीसिंह उस वक्त पाँच साल से कुछ ऊपर के थे, लेकिन उनका छोटा भाई डिप्टी अभी दूध पीनेवाला बच्चा ही था। इसी वक्त सं. '55 (1898 ई.) का महाकाल आया। फसल नहीं हुई। लोग दाने-दाने के लिए तड़पने लगे। पृथ्वीसिंह को अभी भी वह दिन याद है, जबकि उनके चचेरे दादा (निहाल सिंह) जहाँ-तहाँ से जुगाड़ करके घर में गाजर लाते, कुछ आटा डालकर उसे उबाला जाता और भूखे ही सो गये लड़कों को उठाकर

उनकी जीवन-रक्षा के लिए लेई दी जाती।

चौधरी शादीराम ज्यादा दिन घर नहीं रह सके। घर के एक भाई वर्मा में पुलिस की नौकरी करते थे। चौधरी शादीराम भी घर छोड़ बर्मा का रास्ता पकड़ने के लिए मजबूर हो गये। चौधरी शादीराम छै फुट के खूब लम्बे, चौड़े, स्वस्थ, बलिष्ठ जवान थे। लेकिन उन्होंने पुलिस की नौकरी का ख्याल छोड़कर दूध बेचने का रोजगार पसन्द किया।

पृथ्वीसिंह और उनके भाई को उनके मामा अपने गाँव ले गये। वहाँ खाने-पीने की तकलीफ न थी। गाँव में पाठशाला न थी, इसलिए पढ़ने का कोई इन्तिजाम न हो सकता था। हाँ, गोरू चराना, लड़कों के साथ खेलना-कूदना–यही काम था। मामा, चार भाई, अच्छे शिकारी थे। अक्सर रात-रात वन्दूक लिये सूअरों का शिकार करने निकल पड़ते। पृथ्वीसिंह वरावर उनके साथ रहते और कितनी ही वार तो उन्हें मामा की वगल में भाला लिये खड़ा रहना पड़ता। मामा के साथ की इन शिकार-यात्राओं ने पृथ्वीसिंह के दिल से भूत और जंगली जानवरों का भय खतम कर दिया।

पृथ्वीसिंह अपनी बाल-सेना के निर्भीक सेनापति थे। पड़ोसी गाँववाले चरवाहों से जब कभी भिड़न्त हो जाती, तो वे उनके भीतर घुसकर लाठियाँ छीन लाते। कभी-कभी प्रतिद्वन्द्वियों की संख्या अधिक होती और पिटना भी पड़ता। पेड़ों पर चढ़ने के खेल में कितनी ही वार गिरते और शरीर में जहाँ-तहाँ घाव हो जाते। पृथ्वीसिंह को बचपन से ही स्कूल में नहीं बैठने दिया गया, लेकिन वे उससे भी वड़े स्कूल में बैठे थे, जहाँ उन्होंने निर्भयता, नेतृत्व और बहादुरी का पाठ पढ़ा, साथ ही उनका शरीर भी मजबूत बना।

वर्मा में पिता का दूध का रोजगार चल पड़ा था और कुछ ही दिनों में उन्होंने सारा कर्ज अदा कर दिया। पिता के लिखने के अनुसार पृथ्वीसिंह को अव अपने गाँव (लालड़ू) के स्कूल में दाखिल कर दिया गया। उनके दर्जे के लड़के छोटे-छोटे थे, इसलिए पृथ्वीसिंह को उनके साथ बैठने में शरम आती। लेकिन उन्हें वहुत दिनों तक वहाँ रहने का मौका न मिला।

वर्मा में (1901-7)

ताया शादी करने के लिए घर आये थे। वह अपने साथ ही दोनों भतीजों को भी वर्मा लेते गये। चौधरी शादीराम रंगून से बहुत दूर अपर बर्मा में मोन्येवा में रहते थे। डरावती में नाव के द्वारा उन्हें जाना पड़ा था।

चंद दिनों बाद पृथ्वीसिंह स्थानीय मिशन स्कूल में दाखिल कर दिये गये। यहाँ भी उन्हें अपने से वहुत कम उमर के सहपाठियों के साथ बैठना पड़ता। पृथ्वीसिंह के साथी विद्यार्थी अधिकतर वर्मा के और वस्ती के निवासी भी बरमी ही थे, इसीलिए उन्होंने बहुत जल्दी बरमी भाषा सीख ली।

पृथ्वीसिंह छै साल तक वर्मा में रहे। पिता स्वयं पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन उन्हें लड़कों के पढ़ाने की बड़ी इच्छा थी। पिता इतने धनी नहीं थे कि खाना पकाने के लिए नौकर रखते। दूसरे कामों को देखने के बाद वह खुद ही खाना बनाते, जिसमें पृथ्वीसिंह भी सहायता करते। उनके लिए घर का काम इतना ज्यादा होता, कि स्कूल के बाद किताब में हाथ लगाने का मौका नहीं मिलता। पिता धार्मिक श्रद्धालु व्यक्ति थे। वे अक्सर बौद्ध भिक्षुओं के सत्संग में जाते। पृथ्वीसिंह भी कितनी ही बार पिता के साथ होते और उन्हें भिक्षुओं का जीवन आकर्षक मालूम होता। एक बार वह स्वयं जंगल में तपस्या करने के लिए भाग निकले। लेकिन वहाँ कोई परिचित लकड़हारा मिल गया, जिसने बतलाया कि इस जंगल में डाकू छिपे हैं और तुम्हारे चचा नारायण सिंह दूसरे सिपाही को लेकर उनके पीछे पड़े हैं। पृथ्वीसिंह को चचा का क्रोधपूर्ण मुँह याद आया। तप का ख्याल छूटा, वापिस चल पड़े। इधर लड़के को लापता देखकर पिता अलग चिंता में पड़े थे। कितने ही लड़के-लड़कियों की टोली उन्हें ढूँढ़ने निकली थी। चार लड़कियों ने पृथ्वीसिंह को पहाड़ से भागते देखा। उन्होंने घेर लिया और घसीटते पिता के पास ले गयीं। पृथ्वीसिंह डर रहे थे कि पिताजी जरूर उन पर गुस्सा उतारेंगे, लेकिन चौधरी शादीराम ने एक शब्द भी नहीं कहा।

1906 में पृथ्वीसिंह 15 साल के हो गये थे। उस वक्त प्रदेश में राजनीतिक आन्दोलन जारी था। पंजाब-केसरी

लाला लाजपत राय को देश से लाकर माँडले किले में वन्द कर दिया गया था। लेकिन पृथ्वीसिंह अखवार तो पढ़ते नहीं थे कि उन्हें कुछ मालूम होता। इसी वक्त उनको स्कॉट की एक कविता पढ़ने को मिली—

"वह आदमी मृतात्मा-सा साँस ले रहा है, जिसने कभी अपने तईं नहीं कहा—यह मेरी अपनी, मेरी मातृभूमि है।"

चौथे स्टैंडर्ड को पास कर लेने के वाद पृथ्वीसिंह को देश से दूर रहना मुश्किल हो गया। पहिले पिता ने समझाया, लेकिन फिर कहने पर घर जाने की इजाजत दे दी।

फिर भारत के स्कूल में

पृथ्वीसिंह अव अम्वाला शहर के एक स्कूल में दाखिल हो गये। उनके वरमी भाषा के ज्ञान का यहाँ कोई मूल्य न था और वह कोई हिन्दी या उर्दू जानते न थे। यद्यपि उनके पास पाँचवें दर्जे का सर्टीफिकेट था, लेकिन भाषा की दिक्कत से मजवूर होकर चौथे दर्जे से पढ़ाई शुरू की। अंग्रेजी अच्छी थी और यहाँ गाय, भैंस देखने या खाना पकाने की झंझट भी नहीं थी; उन्होंने खूव मन लगाया और एक ही साल में चौथे, पाँचवें, छठे, तीनों दर्जों को पास कर डाला। सातवें दर्जे में जाने के वाद उन्होंने आठवें दर्जे की पढ़ाई खतम करनी चाही। लेकिन अध्यापक चाहते थे कि एक वर्ष और पढ़ने के वाद वह मिडिल में अपनी सफलता से स्कूल का नाम करेंगे। पृथ्वीसिंह इससे असन्तुष्ट थे। उसी समय अध्यापक ने जापान और रूस के वारे में लड़कों को एक निवन्ध लिखने को कहा। पृथ्वीसिंह ने अपने निवन्ध में और वातों के साथ यह भी लिखा कि अगर जापान जैसा छोटा-सा मुल्क रूस को हरा सकता है, तो हिन्दुस्तान-ऐसे वड़े मुल्क का इंग्लैण्ड जैसे मुल्क को हराना विल्कुल छोटी वात है। पृथ्वीसिंह अक्सर अपने निवन्धों के लिए अच्छे नम्वर पाया करते थे, लेकिन उस दिन अध्यापक ने कहा—तुमने वड़ा वुरा निवन्ध लिखा है, तुम्हें इसके लिए सजा मिलेगी। उन्होंने कापी उठा के देखा, तो वहाँ कोई हिज्जे या वाक्य-रचना की गलती न थी। ऊपर के दर्जे के लड़के ने लाल पेंसिल लगी हुई पाँतियों को देखकर वतलाया कि पृथ्वीसिंह ने क्या गलती की। वह राजनीति से विलकुल कोरे थे, लेकिन विदेशी शासन के प्रति घृणा उन्होंने अपने राजपूती खून में पायी थी।

पृथ्वीसिंह का मन अव वहाँ से उचट गया। उनके गाँव के कुछ लड़के राजपुर स्कूल में पढ़ते थे। मालूम हुआ, उस स्कूल में जाकर वह एक ही साल में दोनों दर्जों को पास कर सकते हैं। बहुत दौड़-धूप करने के वाद ट्रांसफर (तवादले) का सर्टीफिकेट मिला और तीन ही महीने वाद सातवें दर्जे से आठवें में जाकर उन्होंने मिडिल पास किया।

फिर वर्मा में

1909 आया। पृथ्वीसिंह 17 साल के खूव लम्वे डील-डौल वाले मजबूत नवयुवक थे। उनके मन में बड़ी-वड़ी उमंगें थीं। उसी समय राजपुर में प्लेग आया, ऊपर से पिता ने 3 महीने से पैसा क्या, चिट्ठियों का जवाव तक नहीं भेजा था। उन्हें बहुत चिंता हुई। यद्यपि विरादरी के कुछ लोग सहायता करना चाहते थे, लेकिन उन्होंने पिता के पास जाना ही पसंद किया। एक दिन वह पिता के पास पहुँच गये। देखा कि महामारी में सारी गायें, भेड़ें मर चुकी हैं और पिताजी चारपाई पर पड़े हैं।

चौधरी शादीराम को पढ़ाई छोड़कर चला आना पसंद न आया। उन्होंने कहा—क्यों नहीं खेत पर रुपया लेकर अपनी पढ़ाई जारी रक्खी। अव वीती वात पर सोच करने से काम नहीं चल सकता था, रुपया था नहीं कि वे कोई रोजगार—वात देखते। इष्टमित्रों ने सलाह दी कि पुलिस की इन्सपेक्टरी के लिए ट्रेनिंग स्कूल में दाखिल हो जाओ। अर्जी भी भेज दी गयी, लेकिन यह सब हुआ था पिता से विना पूछे ही। जव उन्हें मालूम हुआ तो उन्होंने एकदम मना कर दिया। और किसी काम के लिए उन्हें एतराज नहीं था। पिता पुत्र की इच्छा में वैसे कभी वाधा नहीं उपस्थित करते थे। पृथ्वीसिंह ने अव डाकखाने की नौकरी कर ली, यद्यपि वह इससे

सन्तुष्ट न थे। इसी समय चौधरी साहब के सम्बन्धी लड़के का ब्याह कर देने पर जोर दे रहे थे, लेकिन वह अभी से लड़के को फंदे में डाल देने की बात को पसंद नहीं करते थे।

पृथ्वीसिंह के बड़े-बड़े मन्सूबे थे, और वह देख रहे थे अपने को डाकखाने की एक छोटी नौकरी में। कहाँ जाना था और कहाँ जा रहे हैं, यह सोचकर उनके कलेजे में सुई-सी चुभती थी। पिता तैयार थे कि पृथ्वीसिंह उनके काम में लग जायें तो वह हाथ खर्च के लिए 30 रु. मासिक देंगे। मगर पृथ्वीसिंह को वहाँ कोई भविष्य नहीं दिख रहा था। लड़का अपनी धुन का है, यह वह अच्छी तरह जानते थे और साथ ही यह भी कि वर्मा ऐसे स्वतन्त्र सामाजिक देश में रहकर भी तरुणाई के बहुत-से दोषों से उसने अपने को बचा रक्खा है।

पृथ्वीसिंह की मानसिक विकलता इतनी बढ़ गयी थी कि उनके लिए एक दिन काटना मुश्किल था। उनके पिता के एक दोस्त मेम्यो के रमणीक शहर में रहते थे। किसी तरह पृथ्वीसिंह के बारे में उन्हें मालूम हुआ। उन्होंने चिट्ठी लिखी। पिता ने समझा, मेम्यो में जाने पर सुन-समझकर शायद लड़के की तबियत बदल जाए, लेकिन पृथ्वीसिंह जानते थे, कि मेरी समस्या का हल मेम्यो में नहीं हो सकता।

2
अमेरिका के रास्ते पर

घर का पैसा-कौड़ी पृथ्वीसिंह के पास ही रहता था। उन्होंने सौ रुपये जेब में रक्खे और मेम्यो जाने के लिए पिता से विदाई ली। वह कहाँ जाएँगे, इसका उन्हें पता नहीं था; हाँ, वह मेम्यो जाने के लिए तैयार नहीं थे। यद्यपि मान्येवा से उन्होंने मेम्यो का टिकट लिया था, लेकिन रास्ते में ही रंगून की गाड़ी पकड़ ली। पृथ्वीसिंह को नाच-तमाशे, ऐशो-इशरत का शौक नहीं था, इसलिए रंगून में भी वह शहर की ओर नहीं गये। कितने ही पंजाबी मुसाफिर अपना सामान सर पर लादे किसी ओर जा रहे थे। 17 साल के पृथ्वीसिंह भी उनके साथ हो लिये। वहाँ उनकी दो पंजाबी नौजवानों से भेंट हुई, जो नौकरी की खोज में देश से निकले थे और तारबाबू की परीक्षा दे रहे थे। उन्होंने पृथ्वीसिंह को भी समझाया। स्टेशन मास्टरी बड़ी आमदनी की नौकरी थी, इसमें शक नहीं, लेकिन हमारे तरुण को रुपये का आकर्षण हो तब न।

पंजाबी किसानों के लड़के चीन तक नौकरी की तलाश में जाया करते थे। एकाएक पृथ्वीसिंह के मन में आया, क्यों न चीन चला जाऊँ। पृथ्वीसिंह ने पिनांग [मलाया] का टिकट कटाया। पिनांग में उन्हें दूसरे मुसाफिरों के साथ 15 दिन कोरंटीन में बंद रहना पड़ा। रसद-पानी स्टीमर कंपनी देती, खाना लोग आप बना लेते। कोरंटीन का समय समाप्त होने के बाद वह शहर में गये। छोटी-मोटी नौकरियाँ थीं, लेकिन वह उन्हें पसंद न थीं, और न उन्हें अभी नौकरी करने की मजबूरी थी। सिंगापुर में भी उनका रास्ता रोकनेवाली कोई चीज नहीं मिली।

जून (1909) का महीना था। जहाज 1500 चीनियों और 100 हिन्दुस्तानियों को लेकर हाँगकाँग के लिए रवाना हुआ। मुसाफिर भेड़-बकरियों की तरह जहाज में ठूँसे हुए थे। इतना दम घुट रहा था कि कमजोर आदमियों का बैठना मुश्किल था। आमतौर से जहाज छै दिनों में हाँगकाँग पहुँच जाता है; मगर वह ऐसे तूफान में पड़ गया, कि बड़ी-बड़ी विपत्तियों के बाद 15वें दिन हाँगकाँग पहुँच सका। जहाज इतना हिल रहा था कि सिवाय चिर अभ्यस्त नाविकों के कोई खड़ा नहीं रह सकता था। डेक पर मुसाफिर रस्सियों को पकड़े खड़े रहते, रस्सी छूटी कि साथ ही अथाह समुद्र में। इस प्रकार कइयों ने अपनी जान खोई। कप्तान भी इतना निराश हो गया था कि उसने लोगों से कह दिया—अब हमारे हाथ में कुछ नहीं है। तरुण पृथ्वीसिंह का उत्साह कुछ ढीला पड़ने लगा, खासकर जबकि पाँच दिन बाद उपवास करने की नौबत आयी। भूख के मारे लोग इतने निर्बल हो गये

थे कि रस्सी को भी कड़ाई के साथ न पकड़ पाते और तूफान उन्हें पानी में ढकेल देता। पृथ्वीसिंह का भी बिस्तरा-उस्तरा समुद्र में चला गया, सिर्फ एक छोटा-सा ट्रंक बचा था, जिसमें कुछ कपड़े रह गये थे। आठ दिन के उपवास के बाद शरीर बिल्कुल दुर्बल हो गया था, तभी जहाज हाँगकाँग बंदर में लगा।

हाँगकाँग में

हाँगकाँग में पृथ्वीसिंह का किसी से परिचय नहीं था। उसके पास यद्यपि 65 रु. बच रहे थे, लेकिन वह कम से कम खर्च में रहना चाहते थे, इसीलिए दूसरे मुसाफिरों के साथ वह भी सिक्ख गुरुद्वारा में चले गये। सभी लोग गुरुद्वारा के बड़े हाल में अपना लटा-पटा रखकर रात को बाहर खुले आसमान के नीचे सोया करते। पृथ्वीसिंह को अभी चोरों का तजरबा था नहीं, उन्होंने रुपयों को ट्रंक में रखकर हाल के भीतर छोड़ दिया। सवेरे उठकर देखते हैं, तो रुपया गायब। अब एक पैसा भी उनके पास न था। वह पथ के भिखारी थे। किसी तरह गुरुद्वारावालों को मालूम हुआ। वह खाने के लिए बुला भेजा करते। यहीं उनकी मुलाकात दो पंजाबी नौजवानों से हुई। दोनों ही सुशिक्षित थे और साथ ही उनमें देशभक्ति की पक्की लगन थी। उनके सत्संग से पृथ्वीसिंह के सामने एक नयी दुनिया दिखलायी देने लगी, और उन्हें मालूम होने लगा कि वैयक्तिक सुख और आराम से ऊपर देश की आजादी भी कोई चीज है। प्यारेलाल का रुपया कुछ ही दिनों में आ गया और वह अमेरिका के लिए रवाना हो गये; लेकिन बलवन्त सिंह को अभी रुकना था।

गुरुद्वारा के ग्रन्थी (पुजारी) सरदार भगवानसिंह के हृदय में भी बड़ी तीव्र राष्ट्रीय भावना थी। उनकी वाणी में भी बहुत शक्ति थी और सिक्ख उन्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उनके भी भाषण ने पृथ्वीसिंह की राष्ट्रीय भावना को जगाने में बहुत काम किया। उसी समय कनाडा के सिक्खों का एक डेप्युटेशन अपनी तकलीफों को सुनाने के लिए वायसराय के पास हिन्दुस्तान जा रहा था। सरदार भागसिंह और सरदार बलवन्त सिंह दोनों प्रतिनिधि गुरुद्वारा में ठहरे थे। उनकी बातचीत ने आग में घी का काम किया।

पृथ्वीसिंह 18 साल के नवयुवक होने पर भी अब वही पृथ्वीसिंह नहीं थे, जो मेम्यो के लिए रवाना हुए थे। उन्होंने अपने दोस्त बलवन्त सिंह से कहा कि मैं भारत जाकर अपने जीवन को देशसेवा में लगाना चाहता हूँ। बलवन्त सिंह ने सलाह दी, किसी तरह अमेरिका पहुँचकर भारतीय क्रान्तिकारियों से मिलो, वे तरुणों को क्रान्ति के लिए तैयार कर रहे हैं। पृथ्वीसिंह ने भी अब अमेरिका जाने का निश्चय कर लिया। यह निश्चय वह उस वक्त कर रहे थे जबकि उनके पास एक कौड़ी भी नहीं थी।

इधर-उधर करने के बाद उन्हें एक सोडावाटर फैक्टरी में 15 रु. की दरबानी मिली। मुखिया दरबान की मेहरबानी से वह रोज आठ आने का खाने का सामान दूकान से ले सकते थे। बलवन्त सिंह के पास भी एक पैसा नहीं था। उसी सामान में दोनों एक शाम खाते थे। यह नौकरी भी ज्यादा दिन नहीं चली। मुखिया दरबान को डर लगने लगा कि कहीं इस चुस्त नौजवान को ही उसकी जगह न दे दी जाए, इसलिए 15 दिन बीतते-बीतते ही उसने पृथ्वीसिंह को वहाँ से निकलवा दिया।

गुरुद्वारे में छावनी से कितने ही हिन्दू और सिक्ख सिपाही आया करते थे। कुछ राजपूत सिपाहियों को इस तरुण राजपूत का पता लगा। वह अपने साथ पृथ्वीसिंह को छावनी ले गये, कितने ही राजपूत सैनिकों से परिचय कराया। उनके आग्रह पर पृथ्वीसिंह रोज खाने के लिए छावनी जाने लगे, नाव का किराया भी वे ही दे दिया करते थे। पृथ्वीसिंह खाना खाकर कुछ रोटियाँ बलवन्त सिंह के लिए लाते थे।

हाँगकाँग का चौरस्ता

एक साल बीत गया। सन् 1911 का कोई महीना था। पृथ्वीसिंह ने बड़े आश्चर्य से देखा कि हाँगकाँग के चौरस्तों पर जगह-जगह लम्बी-लम्बी चोटियों का ढेर लगा है। चीनी पुरुष अपनी लम्बी चोटियों को मंचू राजवंशियों की गुलामी का चिन्ह समझते थे। यह चीनी क्रांति की प्रथम सूचना थी। चीनियों की इस क्रान्ति का क्या उद्देश्य है, पृथ्वीसिंह को यह मालूम नहीं था। लेकिन, उन्होंने देखा कि एकाएक चीनियों के भाव में भारी परिवर्तन

आ गया। जहाँ हाँगकाँग में जरा-सी वात पर कान्स्टेविल चार-चार, पाँच-पाँच चीनी कुलियों की चोटी पकड़ थाने में घसीट लाता, वहाँ अब हवा ही वदल गयी है। चीनी कुली जरा-सी भी "तूँ-तँ" करने पर हिन्दुस्तानी कान्स्टेविल पर झपट पड़ते और कान्स्टेबिल को पिट-पिटाकर पगड़ी सँभाले भागना पड़ता। चंद घण्टों के भीतर निरीह चीनियों के भीतर ही इस उग्र आत्मसम्मान का भाव पैदा हो जाना, एक आश्चर्य की वात थी। वह सोच रहे थे, क्या हिन्दुस्तानी भी इसी तरह किसी दिन अपनी सदियों की गुलामी का तौक उतार फेंकेंगे ?

फिलीपाइन में (1911-12)

उस वक्त अमेरिका का द्वार हिन्दुस्तानियों के लिए वंद था। सिवाय विद्यार्थियों और यात्रियों के कोई भारतीय उस भूमि पर उतर नहीं सकता था। पृथ्वीसिंह को पता लगा कि मनीला से अव भी अमेरिका पहुँचा जा सकता है। लेकिन उसके लिए 400 रु. की ज़रूरत है। भाई रतनसिंह चीन की किसी जगह से आकर गुरुद्वारा में ठहरे थे। वह मनीला के रास्ते अमेरिका जानेवाले थे। पृथ्वीसिंह को एक देशभक्त मनस्वी तरुण के तौर पर सभी गुरुद्वारावाले जानते थे और उनकी कदर करते थे। भाई रतनसिंह को भी यह वात मालूम हुई। उन्होंने पृथ्वीसिंह से कहा—हम तुम्हें मनीला पहुँचा देंगे, यदि पैसा हाथ में आए तो लौटा देना।

1911 के अंत में पृथ्वीसिंह भाई रतनसिंह के साथ मनीला पहुँचे। मनीला में हिन्दुस्तानी ज्यादा न थे। 100 के करीब दरवान थे, और कुछ सिन्धी रेशम के दूकानदार शहर में रहते थे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी हिन्दुस्तानी थे, जो सारे टापू में घूमकर फेरी किया करते। हिन्दुस्तानी दरबानों की अच्छी कदर थी और उन्हें वेतन भी अच्छा, 80 रु. मासिक मिलता था।

भाई रतनसिंह और पृथ्वीसिंह ने दरबानी न पसंद कर फेरी शुरू की। सरदार लालसिंह एक दूसरे भारतीय ने सौदा मोल लेने में रुपये-पैसे की मदद की। कुछ ही महीनों में पृथ्वीसिंह ने इतना रुपया कमा लिया कि भाई रतनसिंह का रुपया लौटा दिया और वह पहिले ही जहाज से अमेरिका के लिए रवाना हो गये।

पृथ्वीसिंह अब उस देश से परिचित हो गये थे। अब उनका सारा ध्यान रुपया कमाने में लगा हुआ था; जिससे कि वह अमेरिका के लिए रवाना हो सकें।

पृथ्वीसिंह दो-एक और हिन्दुस्तानी फेरीवालों के साथ अपने व्यवसाय में जाते थे। जैसा देश वैसा भेस न होने से मुश्किल होती ही है। बड़ी-बड़ी पगड़ी और लम्वी-लम्बी दाढ़ी देखकर लड़कों को शरारत सूझती। एक दिन उन्होंने पत्थर मारना तथा गाली देना शुरू किया। पुलिस के सिपाही से कहने पर वह भी लड़कों के साथ शामिल हो गया। चन्द ही मिनटों वाद दो-तीन और कान्स्टेविल आये और वे भी उन्हीं के साथ मिलकर गाली-गलौज करने लगे। साथी ठंडे पड़ गये। उन्होंने जमाना देखा था और आत्मसम्मान की गहरी नहीं छानी थी। लेकिन पृथ्वीसिंह अपने को काबू में नहीं रख सके। उन्होंने भी दो की चार सुनानी शुरू की। कान्स्टेविल इसे क्यों बर्दाश्त करने लगे, वे मार पर उतर आये। लेकिन पृथ्वीसिंह 20 साल के पंजावी पट्ठे थे, उनके सामने उनकी कोई पेश न आयी। और मार-पीट में दो को चोट आयी। थाने में खबर पहुँचने पर पुलिस की टोली पहुँच गयी और पृथ्वीसिंह को पकड़कर हवालात में बंद कर दिया गया। पुलिसवाले पहले तो जोश में थे, लेकिन अब समझने लगे कि गलती उनकी ओर से हुई है। चोट भी ज्यादा नहीं थी। कस्बे के प्रेसीडेंट का लड़का मनीला के किसी कालेज का विद्यार्थी था, उसने वीच-बचाव करना चाहा, और पृथ्वीसिंह को सलाह दी कि माफी माँग लो, लेकिन वे इसके लिए तैयार न थे। गिरफ्तारी की खबर जब मनीला के राजपूत भाई चौधरी बरकत अली को मिली तो वे शहर के एक वकील को लेकर वहाँ पहुँचे। पुलिसवाले घवड़ा गये। उन्होंने माफी माँगी और पृथ्वीसिंह हवालात से बाहर चले आये।

3

अमेरिका में (1912-14 ई.)

सरदार लालसिंह फेरी के सौदे के लिए पृथ्वीसिंह की मदद किया करते थे। ईमानदार साहसी के सभी जगह दोस्त पैदा हो जाते हैं। उनका तरुण पर बहुत विश्वास था। उन्होंने देखा कि पृथ्वीसिंह को यात्रा के लिए पर्याप्त रुपया जमा करने में बहुत देर लगेगी। उन्होंने टिकट के लिए 150 डालर (500 रुपये) दिये। एक दूसरे दोस्त ने अच्छी पोशाक प्रदान की और तीसरे दोस्त ने भी 50 डालर दिये, जिन्हें अमेरिका में उतरने पर अधिकारियों को दिखाना पड़ता।

अमेरिका को (1912)

35000 टन का एक बड़ा जहाज अमेरिका जा रहा था। इसी पर पृथ्वीसिंह और उनके 50 हिन्दुस्तानी (ज्यादातर पंजाबी) साथी सवार हुए। कपड़े-लत्ते रोब-दाब में पृथ्वीसिंह ज्यादा भद्र मालूम पड़ते थे। लोगों ने इन्हीं को अपना मुखिया चुना। जहाज 40 दिन में प्रशान्त महासागर को चीरकर सियेटल (ओरगन रियासत) के बंदर पर लगा। जाड़ों का दिन था, जहाज की यात्रा अच्छी तरह कटी। सबके स्वास्थ्य में उन्नति हुई। बंदरगाह में पहुँचने पर अधिकारियों ने पृथ्वीसिंह को भारतीय मुसाफिरों के लिए दुभाषिया बनाया। उनके सभी साथी सीधे-सादे किसान थे। उन्हें यह भी नहीं मालूम था कि अधिकारियों के सवाल का क्या जवाब दिया जाय। पृथ्वीसिंह अमेरिकन के सवाल का अनुवाद करके बतलाते, तो वे सब पृथ्वीसिंह से कह उठते–"मैनू की पता, तू ही दस दे" (अर्थात् मुझको क्या मालूम, तू ही बतला दे)। सभी को उतरने की इजाजत मिल गयी।

अब पृथ्वीसिंह की बारी आयी। अफसर ने पूछा–"तुम किसलिए आये हो ?" पृथ्वीसिंह ने जरा भी रुके बिना साफ शब्दों में कह डाला–"मैं आया हूँ तुमसे यह सीखने कि कैसे हम अपने देश को आजाद कर सकते हैं ?" अफसर पृथ्वीसिंह के मुँह की ओर ताकता रहा। पूरे 5 मिनट तक न वह एक शब्द बोला न उसने एक अक्षर कागज पर लिखा। पृथ्वीसिंह ने समझा कि सर्वनाश हो गया। इसी वक्त अफसर कुर्सी से खड़ा हो गया और मुस्कराते हुए हाथ मिलाया और पीठ ठोंकते हुए बोला–"जाओ।"

अमेरिका में मजदूर

अमेरिका की स्वतन्त्र भूमि में पहली बार पैर रखने पर दिल में क्या-क्या भाव पैदा हो रहे थे। हाँगकाँग में आज का दिन आना असम्भव मालूम देता था ! छदामों के लिए मोहताज तरुण के दिल में एक दृढ़ संकल्प ही ऐसा था कि जिसने उसे यहाँ तक पहुँचाया। पृथ्वीसिंह, और उनके साथियों ने पहले होटल में जा खूब पेट भरकर भोजन किया, और घूम-घूमकर नयी दुनिया के नये शहर को आँख भर के देखा। हाँगकाँग और फिलीपाइन तक अभी एशियाई चेहरे ही ज्यादा दिखायी पड़े थे, और यहाँ सभी गोरे ही गोरे। उनके कौतूहल में सारी रात शहर की सैर में ही बिता दी।

साथियों के कितने ही सम्बन्धी और मित्र अमेरिका के इस पश्चिम तट पर पहले से मौजूद थे। दूसरे लोगों के साथ पृथ्वीसिंह भी केलीफोर्निया में स्टाक्टन के लिए रवाना हो गये। हिंदुस्तानी मजदूर ज्यादातर वहाँ खेतों में काम करते थे। इस वक्त आलू की फसल तैयार थी। आठ घण्टे के काम के लिए दो डालर (प्रायः सात रुपया) रोजाना मजदूरी बड़ी चीज थी। पृथ्वीसिंह का शरीर खूब मजबूत और स्वस्थ था। मगर यहाँ खेत में लगातार फावड़ा चलाने और लादने का काम था। दिनों तक तो पंजाब और बर्मा याद आते रहे, मगर अभ्यास आदमी को सब कुछ बना देता है। परिश्रम न करने पर सोने-सी दीखने वाली काया भी वस्तुतः मिट्टी है। एक पखवाड़े के बाद अब शरीर मेहनत के बिल्कुल अनुकूल हो गया, और दूसरे साथियों के साथ वह भी अपने

काम में प्रसन्नतापूर्वक लग गये। शायद सात आने की मजदूरी होती तो उसमें कभी मन न लगता, मगर सात रुपये की मजदूरी थी। जानते थे कि आठ घण्टे के बाद उनके पास सात रुपये और उनके उपभोग के लिए अपना समय रहेगा। दूसरे हिन्दुस्तानी मजदूर हट्टे-कट्टे सिक्ख थे। पृथ्वीसिंह का समय अच्छी तरह कटने लगा। कुछ ही समय में उन्होंने कर्ज का रुपया फिलीपाइन भेज दिया, और छै सौ रुपये पिता के पास भेजने में भी सफल हुए।

हिन्दुस्तानी समाज और पश्चिमी समाज में कितनी ही बातों का अन्तर है। हिन्दुस्तान का समाज जिन सैकड़ों रूढ़ियों से बँधा हुआ है, पश्चिमी समाज में उनमें से बहुतों का अभाव है। बँधा हुआ प्राणी जैसे खुलते ही बेतहाशा दौड़ने में आनन्द अनुभव करता है, वही हालत महीने की कमाई एक दिन में कमानेवाले हिन्दुस्तानी मजदूर की होती ! ऊपर से परिश्रमी ! बाजारों में ठगों, लुच्चे-लफंगों की कमी नहीं है ! पृथ्वीसिंह ने अपने साथियों की गत बनते देखी थी। वह अपने को उस अवस्था में नहीं जाने देना चाहते थे, आत्मसम्मान के साथ-साथ उनमें राष्ट्रीय भावना भी पैदा हो गयी थी। उन्होंने अपने लिए तीन नियम बनाये–

(1) शहर जाते वक्त फैशनवाली पोशाक न पहिनूँगा और न खरीदूँगा;

(2) खास अवस्थाओं को छोड़कर सदा मजदूरों की पोशाक में रहूँगा;

(3) शराब के सैलून, थियेटर, बाइस्कोप या नाच-घर में न जाऊँगा।

पृथ्वीसिंह इन नियमों का कड़ाई से पालन करने लगे। लेकिन उनके सभी साथी तो उनके ऐसे नियमों को नहीं मानते थे। छै दिन काम करने के बाद छुट्टी का दिन–इतवार–आता और साथ ही मजदूरी के चालीस-पचास रुपये। बेकाम का इतवार बिताना आसान काम न था, खासकर जबकि शहर में बहुत-से प्रलोभन थे। वे शहर जाते और सैलून में जाने से अपने को रोक नहीं पाते। जेब में डालर होने पर एक-दो ग्लास से संतोष कहाँ होता। वह खूब डटकर पीते, और नशे में लड़खड़ाते जब बाहर निकलते, तो शरीर ठग, और पुलिसवाले झपट पड़ते ! पृथ्वीसिंह और उनके एक-दो आदर्शवादी साथी जब उन्हें खींचकर घर लाने की कोशिश करते तो शराबियों के थप्पड़ों और मुक्कों को सहना पड़ता। जब उन साथियों को होश आता, तो वे पृथ्वीसिंह की कदर करते।

गदर पार्टी में

अमेरिका जाने पर उन्हें बाबा सोहनसिंह और बाबा ज्वालासिंह का पता लग गया था, लेकिन पृथ्वीसिंह की टोली दूसरी जगह काम कर रही थी। हाँगकाँग के मित्र बलवन्त सिंह भी अमेरिका पहुँच चुके थे। ओरगन में उनसे मुलाकात हुई फिर राजनीतिक चर्चा चली। 'गदर' अखबार निकलने लगा था। पृथ्वीसिंह उसे नियमपूर्वक पढ़ने ही नहीं लगे, बल्कि वह हिन्दुस्तानी मजदूरों में आजादी के ख्याल को फैलाने लगे।

आखिरी समय, पृथ्वीसिंह और उनकी टोली चुकन्दर के खेतों में काम कर रही थी। यह जगह शहर से दूर थी, इसलिए मजदूर हर रविवार को शहर न जा सकते थे। लेकिन जब जाते तो फिर वही बात। एक दिन आधी रात का वक्त था, जबकि कुछ गुंडों ने एक नौजवान हिन्दुस्तानी से छेड़-छाड़ शुरू की। पृथ्वीसिंह और बलवन्त सिंह इसको बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उन्होंने मना किया, लेकिन बेकार। अमेरिका में पिस्तौल रखने की कोई रुकावट नहीं है। दोनों साथी बराबर जेब में पिस्तौल रक्खा करते थे। उन्होंने भरी पिस्तौलों को निकालकर बदमाशों की ओर किया, देखते ही गुण्डे ठंडे पड़ गये। अब पृथ्वीसिंह को इस जीवनचर्या से घृणा हो गयी। हरनामसिंह और वह दोनों इस ख्याल से लॉस ऐंजेल्स चले गये कि वहाँ छोटे-छोटे किसानों के यहाँ मजदूरी करेंगे।

हिन्दुस्तानी मजदूर अमेरिका गये थे सिर्फ मजदूरी के लिए। पंजाबी मजूर कलकत्ते से रंगून में ज्यादा मजूरी सुनकर वहाँ के लिए चल पड़ते। जब उन्हें पता लगता कि पिनांग और सिंगापुर में मजदूरी और भी ज्यादा है, तो वे वहाँ पहुँच जाते। वह अच्छी मजूरी की तलाश में हाँगकाँग और शंघाई और अन्त में अमेरिका

पहुँचे। अमेरिका में मजूरी भी अच्छी मिलती, खाते-पीते भी अच्छी तरह, और घर भी हजारों रुपया भेजते। यह देख दूसरे मजदूर भी खेत वेच, कर्ज ले सारी रुकावटों को पार करते अमेरिका पहुँचने लगे। अमेरिका के स्वतंत्र वायुमंडल में रहते-रहते कुछ ही समय में उन्हें मालूम होने लगता कि हम गुलाम हैं। हमें पैसा मिलता है, मगर किसी से सम्मान नहीं मिलता। इन वातों का अब उन पर असर पड़ने लगा। बाबा सोहनसिंह अधिक संस्कृत तथा शिक्षित थे, उन्होंने अपने घर में काफी सुखी जीवन बिताया था। बाबा ज्वालासिंह और बाबा विशाखासिंह मजूरी से पैसे बचाकर अपनी खेती खड़ी कर चुके थे। उन्हें भी "सवसे अधिक जाति अपमाना" अखरने लगा। इस तरह ये लोग थे, जिन्होंने पहले-पहल देश की परतंत्रता को अनुभव किया। लेकिन दूसरे हिन्दुस्तानी मजूर भी अछूते नहीं रह सकते थे। यद्यपि केलिफोर्निया में वे अलग-अलग से रहते थे, तो भी उन्हें खेतों या कारखानों में काम करते वक्त अमेरिकन मजदूरों के सम्पर्क में आने का मौका मिलता। वे देखते थे कि सफेद मजूरों से वे किसी बात में कम नहीं हैं, फिर उन्हें क्यों नीची निगाह से देखा जाता है। यह जानने में उन्हें देरी नहीं लगी कि यह हिन्दुस्तान की गुलामी है, जिसकी छाया अमेरिका तक उनका पीछा नहीं छोड़ती। फिर वे सोचते—"क्यों मुट्ठी-भर गोरों ने हमारे मुल्क को गुलाम कर रक्खा है, हम किस वात में उनसे कम हैं ? हमारे लिए यह लज्जा की बात है।" फिर वे स्वतंत्र भारत का स्वप्न देखने लगते और सोचते—"सात रुपये रोज की मजूरी से बढ़ कर कोई और चीज भी है, वह है देश का आत्मसम्मान ! उसे तभी पाया जा सकता है जवकि हम अपने देश को स्वतंत्र करने में सफल हों।"

बाबा ज्वालासिंह ने केलिफोर्निया के मजदूरों में राष्ट्रीय जागृति पैदा करने में बहुत काम किया। जात-पाँत और धर्म का बिना ख्याल किये उन्होंने वहुत-से हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों को इस मतलव से बुलाया कि उनमें क्रांतिकारी भावना पैदा करने का अवसर मिले। वह अपनी सारी कमाई हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों और मजदूरों में जागृति पैदा करने में खर्च करने में लगे। जिस वक्त कनाडा में भारतीय मजदूर अपने प्रति होते बर्ताव को देखकर असन्तोष प्रकट करने लगे थे, जिस वक्त संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका में नयी जागृति फैल रही थी, उसी समय वहाँ लाला हरदयाल पहुँचे। तुर्की, ईरान और चीन में एक नयी जागृति दिखलायी पड़ रही थी। हिन्दुस्तान को पीछे नहीं रहना है, यह बात लाला हरदयाल जैसे भारतीय क्रांतिकारी समझने लगे थे। अब प्रारम्भिक कार्य उस अवस्था में पहुँच चुका था, जबकि एक संगठन की जरूरत थी। प्रमुख भारतीयों ने एक सम्मेलन बुलाया जिसमें बाबा ज्वालासिंह, बाबा सोहनसिंह, ऊधमसिंह, तरुणों का लाड़ला तरुण कर्तारसिंह, पंडित जगतराम आदि सम्मिलित हुए। यहीं पर हिन्दुस्तानी क्रांतिकारी संगठन—गदर पार्टी—की नींव पड़ी। भारत में और भारत के बाहर के भारतीयों के अन्दर क्रांतिकारी विचारों का प्रचार करने के लिए 'गदर' पत्र को निकालना भी तै हुआ। सम्मेलन की खबर पाते ही लोगों ने दिल खोलकर रुपया देना शुरू किया और आत्मसम्मान और देशाभिमान का भाव और तेजी से बढ़ने लगा। कनाडा या अमेरिका में इससे पहले यदि कोई गोरा आदमी कह उठता—"ओह ! कलकत्ता, वम्बई, कराँची, मद्रास, दिल्ली" तो हिन्दुस्तानी फूले न समाते और कहते—"ओह ! ये तो साडा साहेब है" (यह तो हमारा साहेब है) और वह उससे हाथ मिलाये सैलून में शराब की दावत देने चले जाते। लेकिन 'गदर' पत्र के प्रचार के साथ ही हिन्दुस्तानियों के भाव बदल गये। अब यदि कोई गोरा "कलकत्ता, बम्बई" कहता तो हट्टे-कट्टे पंजाबी उसे सैलून में ले जाते, जरा-सी पिलाकर झगड़े का बहाना ढूँढ़ लेते, फिर सब पीटते। चन्द ही हफ्तों बाद शहर की सड़कों पर "कलकत्ता, बम्बई" कहनेवाले गोरों का कहीं पता न रहा।

'गदर' के छापने के लिए सेनफ्रांसिस्को में एक प्रेस कायम किया गया। एक दर्जन उत्साही और स्वार्थ-त्यागी तरुणों ने उसके लिए अपना जीवन दिया। लाला हरदयाल पत्र के मुखिया थे। 'गदर' की गूँज स्कॉटलैण्ड यार्ड (अंग्रेजी खुफिया विभाग) और अमेरिका के ब्रिटिश दूतावास तक पहुँची। वह इसे बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। ब्रिटिश प्रभुओं के शह देने पर लाला हरदयाल पकड़ लिये गये और बड़ी मुश्किल से जमानत पर छुड़ाकर उन्हें यूरोप भेज दिया गया। 'गदर' के लिए यह बड़ा धक्का था, लेकिन तरुणों ने उसे सँभाला। गदर पार्टी के प्रेसीडेन्ट बाबा सोहनसिंह प्रचार के लिए एक बार पृथ्वीसिंह के इलाके में भी आये। पृथ्वीसिंह ने इस

प्रकार की यह पहली बड़ी सभा देखी।

लाला हरदयाल की गिरफ्तारी के साथ ही यह भी मालूम हुआ कि शायद सभी पकड़ लिये जाएँ, इसलिए दूसरों को भी उनका स्थान लेने के लिए तैयार रहना चाहिए। पृथ्वीसिंह खबर पाते ही तैयार हो गये और दूसरे दिन वह लॉस ऐंजेल्स से सैनफ्रांसिस्को के लिए रवाना हो गये। उन्होंने प्रेस घुमाने का काम सीख लिया। उन्हें बड़ी खुशी हुई, जब देखा कि मनीला में सहायता करनेवाले उनके दोस्त, भाई रतनसिंह वहीं प्रेस में काम कर रहे हैं। गदर पार्टी का विचार पहिले-पहिले हिन्दुस्तानी मजदूरों–विशेषकर सिक्खों में आया था. उन्होंने ही अपने दिल का खून देकर इस पौधे को सींचा। वे देशभक्ति और उत्साह में लासानी थे। लेकिन उन्हें अभी तजर्बा बहुत कम था। राजनीतिक शिक्षा के अभाव के कारण वे अपने शत्रुओं के दाँवपेंच को अच्छी तरह समझ न पाते थे। इन कारणों से स्काटलैण्ड यार्ड (अंग्रेजी खुफिया विभाग) अपने एजेन्टों को उनके संगठन के भीतर भेजने में सफल हुआ। रामचन्द्र उन्हीं में से एक था। मजूर उसकी लम्बी-लम्बी बातों को सुनकर समझने लगे कि यह क्रान्ति का अवतार है।

यदि गदर पार्टी के पास अपने अनुभवी क्रान्तिकारी होते, तो अवस्था दूसरी होती। उन्हें यह भी पता नहीं था कि हिन्दुस्तान के रंगमंच पर क्या-क्या चालें चली जा रही हैं। पृथ्वीसिंह जैसे कितनों ही ने सन् '57 के 'भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध' (सावरकर की पुस्तक) को पढ़ा था। उसने पढ़नेवालों के दिल में जोश भर दिया। कुछ लेख या कविता भी लिख सकते थे, लेकिन राजनीतिक शिक्षा की कमी के कारण वे यह सोच-समझ नहीं पाते थे कि इतने संगठित और शक्तिशाली राज्य के विरुद्ध किस तरह से सफलतापूर्वक मुकाबला किया जा सकता है। पृथ्वीसिंह ने गदर के वीरों के आत्म-त्याग के बारे में पढ़ा था। उन्होंने हाँगकाँग में राजपूत सिपाहियों को नजदीक से देखा था। वे सोचते थे कि एक वार हिन्दुस्तान पहुँच जाना चाहिए, फिर तो जहाँ राजपूत सिपाहियों से मैंने कहा, "भाइयो ! मातृभूमि के नाम पर एक राजपूत तुमसे प्रार्थना करता है, उठ खड़े हो, ब्रिटिश शासन को चकनाचूर करो और उसकी जगह अपनी हुकूमत कायम करो।" बस इतने ही से वारा-न्यारा हो जाएगा। उनके दूसरे साथी भी इसी तरह विचारते थे।

'गदर' में बहुत जोशीले लेख-कविताएँ छपती थीं। अमेरिका के भारतीय मजूरों ने उससे बहुत कुछ सीखा-समझा। लेकिन, पत्र ने उनकी राजनीतिक शिक्षा या संघटन करने की ओर ध्यान नहीं दिया, वे यह तो जरूर समझते थे कि हम अपने शक्तिशाली शत्रु का शक्तिशाली हथियारों द्वारा ही मुकाबला कर सकते हैं इसलिए उन्होंने आधुनिक युद्ध के हथियारों की शिक्षा की ओर ध्यान दिया। कर्तारसिंह ने विमान-संचालन में दक्षता प्राप्त की। दूसरे कितनों ही ने सैनिक विद्या सीखी। पृथ्वीसिंह का ध्यान ऐसी शिक्षा की ओर नहीं था। उन्होंने सोचा कि हिन्दुस्तान में सीखे-सिखाये सैनिक तो पहले ही से बहुत हैं।

सम्भव है गदर पार्टी को दो वर्ष नहीं, और कितने ही वर्षों का तजर्बा होता, तो वह अपनी गलतियों से बहुत कुछ सीखती। मगर इसी बीच में 'कोमागातामारू' की घटना घटी और 1914-15 का महायुद्ध छिड़ गया। दुधमुँही गदर पार्टी को सर्वस्व की बाजी लगाकर मैदान में कूदना पड़ा।

कोमागातामारू की घटना (सन् 1914)

मजूरी की तलाश में युक्तप्रान्त और बिहार के लाखों स्त्री-पुरुष अफ्रीका, फीजी, मारीसस, ट्रिनिडाड और गयाना तक पहुँचे, मगर स्वतंत्र मजूर के तौर पर नहीं। वे शर्त-बन्द कुली या अर्द्ध-दास थे और उन्हें बहुत बुरी परिस्थितियों से गुजरना पड़ा। लेकिन 1910 ई. से पहले ही हजारों पंजाबी, जो कनाडा में बस गये थे, वे कुली बनकर नहीं गये थे। वे थे खेतों, जंगलों, कारखानों और खानों में काम करनेवाले स्वतंत्र मजदूर। कनाडावालों को हिन्दुस्तानी मजूरों की बाढ़ से भय लगने लगा; कम मजूरी पर काम करने के लिए तैयार हो जाने के कारण दूसरे मजूर भी उनसे घृणा करने लगे। कनाडा की सरकार ने ऐसा कानून बनाना चाहा, जिसमें कि पहिले से बस गये हिन्दुस्तानियों को भी कनाडा से निकाल दिया जाए। कनाडा, अमेरिका और हिन्दुस्तान में जबरदस्त

आन्दोलन हुआ, जिससे वह कानून नहीं वन सका।

कनाडा में वस गये हिन्दुस्तानी अपने परिवारों को पास बुलाना चाहते थे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार और भारतीय सरकार के पास डेपुटेशन भेजे। कनाडा की सरकार ने प्रार्थना नहीं सुनी। वहाना यह किया कि हिन्दुस्तान से कनाडा के लिए कोई सीधा जहाज नहीं आता। यदि आता तो हम परिवार को ही नहीं, नये मजूरों को भी आने देते।

कनाडियन सरकार ने समझा था कि "न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।" लेकिन बाबा गुरुदत्तसिंह ने शर्त को पूरा करके दिखाना चाहा। उस समय वे सिंगापुर में एक अच्छे ठेकेदार थे। उन्होंने 'कोमागातामारू' नामक जापानी जहाज को ठेके पर लिया। कलकत्ता में चार सौ पंजाबी वंकोवर जाने के लिए चढ़े। आखिर एक दिन 'कोमागातामारू' कनाडा के तट पर पहुँचा। कनाडियन सरकार ने मुँह से चाहे कुछ भी कहा हो, पर इस दिन के लिए वह तैयार न थी। उसने साम-दाम-दण्ड-भेद सभी हथियार प्रयोग किये और चाहा कि 'कोमागातामारू' लौट जाए। लेकिन, बाबा गुरुदत्तसिंह और उनके साथी कच्ची मिट्टी के पुतले नहीं थे, वे समझते थे कि यह देश की आन और सम्मान का प्रश्न है। कनाडियन सरकार ने जहाज का सम्पर्क तुड़वा दिया—न बाहर का कोई आदमी उस पर जाने पाता न उसका कोई आदमी बाहर। धीरे-धीरे जहाज की खाद्य-सामग्री और मीठा पानी भी खतम हो चुका। पुलिस ने नेताओं को गिरफ्तार करने की कोशिश की, लेकिन वहाँ चार सौ आदमी जान देने पर तुले हुए थे। कनाडियन सरकार ने युद्धपोत के बल पर 'कोमागातामारू' को जबरदस्ती निकालना चाहा। जब इसकी खबर कनाडा के भारतीयों को हुई तो यह उनके लिए बर्दाश्त करने की बात नहीं थी। कनाडियन मजदूरों ने भी हिन्दुस्तानियों की वीरता की एक झलक देखी, वे भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। हजारों गोरे मजदूर हिन्दुस्तानियों के साथ मिल गये। सवने मिलकर कनाडियन सरकार के पास चेतावनी भेजी—यदि जहाज के विरुद्ध हथियार इस्तेमाल किये गये तो हम सारे वंकोवर शहर में आग लगा देंगे। पाँच हजार हिन्दुस्तानी मजदूरों ने देश की इज्जत बचाने के लिए प्राण देने की ठान ली।

सरकार ने हथियार तो नहीं इस्तेमाल किये लेकिन 'कोमागातामारू' के आदमियों को कनाडा में उतरने नहीं दिया। 'कोमागातामारू' को आखिर हिन्दुस्तान लौटना पड़ा।

इस घटना का प्रभाव बहुत दूर तक पड़ा। जब अमेरिका के हिन्दुस्तानियों को पता लगा, तो उनकी आँखों में खून उतर आया। 'गदर' के विशेषांक में जब खबर छप रही थी, तो उसे पढ़कर पृथ्वीसिंह को मशीन पर काम करना मुश्किल हो गया। क्रोध के मारे उनका सारा शरीर काँप रहा था। मुश्किल से उन्होंने काम खतम किया। उनके मित्र, जगतराम और दूसरे पृथ्वीसिंह को इस अवस्था में देखकर बहुत घबड़ाए और समझाने लगे लेकिन पृथ्वीसिंह ने साफ-साफ कह दिया, अब मैं अमेरिका में नहीं रह सकता ! उन्होंने यह भी कहा कि मैं अपने कुछ विश्वसनीय साथियों के साथ हिन्दुस्तान जाना चाहता हूँ, और वहाँ अपने देश की आन बचाने के लिए जो कुछ भी हो सकेगा, करूँगा। दोस्तों ने बहुत तरह से समझाने की कोशिश की, लेकिन सब फिजूल। पार्टी ने एक कान्फ्रेंस करने का निश्चय किया और पृथ्वीसिंह हिन्दुस्तानी मजूरों में घूम-घूमकर देश के अपमान का बदला लेने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करने लगे। भरे पिस्तौल को जेब में रक्खे वे गदर पार्टी का संदेश लोगों तक पहुँचाने में सफल हुए। कितने ही मजूरों ने रुपये-पैसे से सहायता की, और कितने ही युद्ध-क्षेत्र में चलने के लिए तैयार हो गये। उन्हें यह ख्याल भी नहीं आया कि आठ-नौ रुपये रोज की मजूरी छोड़कर वे कहाँ जा रहे हैं। अन्त में सेकरामेण्टो में कान्फ्रेंस हुई। बाबा केशरसिंह जिन छब्बीस नौजवानों के साथ शामिल हुए इनमें सभी छै फुटे थे, और सभी शहादत के लिए उतावले थे। हजारों लोग इस कान्फ्रेंस में सम्मिलित हुए और उन्होंने खुल्लम-खुल्ला इंग्लैण्ड के राजा और भारत के सम्राट के खिलाफ युद्ध घोषित किया। इस कान्फ्रेंस में हजारों अमेरिकन मजदूर भी आये थे, जिनमें कितने ही भारत की आजादी के प्रति सहानुभूति रखते थे और कुछ सिर्फ तमाशा देखने आये थे। अंग्रेजी चर एक-एक बात को नोट कर रहे थे। उन्हें मालूम हो गया कि कौन-कौन राज से लड़ने के लिए हिन्दुस्तान जा रहे हैं। कान्फ्रेंस के लोगों में बहुत जोश था, और उतना ही ज्यादा आत्मविश्वास। खूब गरम-गरम व्याख्यान हुए और हिन्दुस्तान की जनता से अपील की गयी

कि वह राजा-सम्राट के शासन को उलट दे। जिस शासन में हमें इतना अपमान सहना पड़े, उसे रहने देना पाप है।

4
असफल संग्राम

भारत के रास्ते में

कान्फ्रेंस में एक हजार आदमियों ने स्वतंत्रता का सैनिक बनाने के लिए अपने को पेश किया। एक सौ आदमी हिन्दुस्तान जाने के लिए तैयार हुए। सबके पास अच्छी-अच्छी पिस्तौल, रिवाल्वर और काफी गोली-बारूद थी। इन सौ आदमियों ने महाबली अंग्रेज सरकार के साथ लड़ने का बीड़ा उठाया था। अब वे युद्ध-क्षेत्र के लिए रवाना हुए। इसे खुदकशी कहा जा सकता था। शायद ही ऐसे पागलपन के कार्य के लिए लोगों ने इतिहास में कभी कोशिश की हो। उन्हें यह भी मालूम नहीं था कि उनके साथ कितने ही सरकारी भेदिये चल रहे हैं। 5 अगस्त, 1914 को लोग जहाज पर चढ़े। लोगों ने वहाँ अपनी युद्ध-समिति चुनी। समिति ने जवाबदेह आदमियों को काम करने के तरीके और भिन्न-भिन्न इलाकों पर नियंत्रण रखने की शिक्षा देनी शुरू की। पृथ्वीसिंह को भी कितनी ही बार व्याख्यान देना पड़ता था। उन्होंने एक बार कहा :

"हम स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने हिन्दुस्तान जा रहे हैं। मैं नहीं कह सकता कि स्वतंत्रता हमें मिलेगी या नहीं, लेकिन एक बात निश्चित है, कि हम भारतीय जनता को स्वतंत्रता का पाठ पढ़ायेंगे और दिखलायेंगे कि कैसे देश की आजादी के लिए प्राण दिए जाते हैं।"

सेनफ्रांसिस्को से ही सारी दुनिया में खबर फैल गयी कि हिन्दुस्तानी क्रान्तिकारियों का एक जत्था ब्रिटिश सरकार से लड़ने हिन्दुस्तान के लिए रवाना हो गया है। जहाज जब होनोलूलू (हवाई) पहुँचा, तो सैकड़ों आदमी आश्चर्य-भरी दृष्टि से इन मतवालों का तमाशा देखने आये थे। इस वक्त तक महायुद्ध पूरे जोर से शुरू हो गया था। एक शिक्षित अमेरिकन किसी को समाचारपत्र पढ़ते हुए देखकर उसकी ओर लपका और अखबार छीनकर बोला, "अखबारों के पढ़ने का कोई काम नहीं। हिन्दुस्तान जाओ, क्रान्ति करो, अंग्रेजों को निकाल बाहर करो, उनका चिन्ह तक वहाँ न रहने दो, हम जल्दी ही हिन्दुस्तान से ऐसी खबर सुनने के लिए उत्सुक हैं। जब ऐसी खबर दुनिया के अखबारों में छपेगी तो हम उसे पढ़ेंगे और कहेंगे, शाबाश, बच्चो, खूब किया।"

पृथ्वीसिंह के साथियों ने समझा कि वह कोई शराबी या पागल है, लेकिन पीछे उन्हें मालूम हुआ कि वह एक प्रसिद्ध पुरुष तथा द्वीप के शासन का अध्यक्ष है।

दस दिन और चलने के बाद जहाज योकोहामा (जापान) पहुँचा। स्वतंत्रता के सैनिक इसके लिए बहुत उत्सुक थे कि वहाँ हिन्दुस्तानियों में मिलकर उन्हें विद्रोह का संदेश दें। यहीं पर झाँसीवाले पंडित परमानन्द मिले। उन्हें जब सब बातों का पता लगा, तो वह भी अमेरिका जाने का ख्याल छोड़ इसी टोली में मिल गये। वे अच्छे वक्ता और गायक थे, अपने व्याख्यानों और गानों से लोगों में उत्साह का संचार करते थे। कोबे और नागासाकी होते जहाज अब हाँगकाँग के पास पहुँच रहा था। समुद्र की लम्बी यात्रा और ठण्डी हवा ने दिमाग को ठण्डा करने में सहायता की थी। अब वह समझने लगे थे कि हम मुट्ठी-भर आदमी अंग्रेजों के दुर्ग हाँगकाँग में जा रहे हैं। अमेरिकन जहाज यहीं तक के लिए किया गया था, यहाँ से अब दूसरे जहाज को लेना था। पृथ्वीसिंह के साथियों ने आपस में विचार किया। हथियार लेकर उतरते ही वे जरूर गिरफ्तार कर लिये जाते; फिर हिन्दुस्तान में नहीं, यहीं रहना पड़ता; इसलिए तै हुआ कि हथियारों को समुद्र में फेंक देना चाहिए। फेंकते वक्त कितनों ही की आँखों में आँसू थे। सभी कड़े अनुशासन को माननेवाले थे, इसलिए

हथियार फेंकने में देर नहीं हुई।

आगे उन्होंने हाँगकाँग की हिन्दुस्तानी फौज से भी बातचीत की और वह भी उनका साथ देने के लिए तैयार थी। उस समय जिस तरह सारी सेना खींचकर फ्रांस के मैदान में जमा की जा रही थी, उससे बहुत कुछ सम्भव था कि वह हाँगकाँग को एक बार अपने अधिकार में कर लेते। लेकिन, उन्हें अंग्रेजी जंगी जहाजों और दूसरे हथियारों का ज्ञान था और वे यह भी जानते थे कि यहाँ की चीनी जनता को उनसे कुछ भी लेना-देना नहीं है। जो कुछ भी हो, हाँगकाँग में युद्ध करने का ख्याल छोड़ दिया गया।

उस वक्त जर्मन युद्ध-पोत एम्डेन इधर के समुद्र में तहलका मचाये हुए था। बहुत कम जहाज बन्दरगाह में आते थे। जहाज को देखने के लिए बहुत से लोग किनारे पर पहुँचे थे। मुसाफिरों को शहर जाने की इजाजत हो गयी, मगर पृथ्वीसिंह के साथियों को नहीं। कोई अँगरेज अफसर उन्हें देखने के लिए भी नहीं आया। उनके बर्ताव से मालूम होता था कि इन यात्रियों के बारे में वे कुछ भी जानना नहीं चाहते थे। आखिर जानने की बातें तो वे पहले ही से जानते थे। लोगों के दिल में तरह-तरह के संदेह उठने लगे। शायद पकड़कर जेल में डाले जाएँगे अथवा फौजी अदालत में फैसला करके गोली मार दी जायेगी। लेकिन किसी के दिल में जरा भी डर नहीं समाया। सभी मृत्यु के आलिंगन के लिए तैयार थे। शायद उनका रंग-ढंग मालूम हो गया और ब्रिटिश अधिकारियों ने उन्हें शहर में जाने की इजाजत दी। वे उधर दस-दस पाँच-पाँच टोली में जाते। उनका मुख्य काम था—पार्टी का संदेश सभी जगह पहुँचाना। हिन्दुस्तानी सैनिक और पुलिस उनके साथ सहानुभूति रखती थी। लेकिन उन्होंने उसे प्रयोग में लाना नहीं चाहा। कुछ दिनों तक इन्तिजार करने के बाद जापानी जहाज 'तोशा मारू' मिला। एम्डेन का खतरा हर वक्त सर पर था। हाँगकाँग से निकलने के बाद किसी वक्त भी उसके आ धमकने का डर था। जहाज के दूसरे मुसाफिर भगवान से त्राहि-त्राहि मना रहे थे। लेकिन जहाज सुरक्षित तौर से सिंगापुर पहुँच गया। यहाँ पर भी उनके सामने सिंगापुर के सिपाहियों की सहानुभूति का प्रलोभन था, मगर उन्होंने हिन्दुस्तान से पहले कुछ भी न करने का निश्चय कर लिया। सिंगापुर के उत्साही सैनिकों को उन्होंने वही संदेश दिया कि तैयार रहो। रास्ते में जहाज से अण्डमान दिखलायी पड़ा, उस वक्त उनके हृदय में सम्मान की भावना उमड़ आयी, ज़बकि ख्याल आया कि कितने ही देशभक्त वीर बेड़ियों में जकड़े यहाँ बन्द हैं। उन्होंने खड़े-खड़े अभिवादन करते शपथ ली—"या तो इन वीरों की बेड़ियों को तोड़ेंगे, या खुद बेड़ियाँ पहिने उनके पास आवेंगे।" साल-भर के भीतर ही उनमें से कितने ही अण्डमान में पहुँच गये।

जहाज रंगून पहुँचा। उस वक्त बरमा ब्रिटिश भारत का एक अंग था। यहाँ भी वे बैरकों में गये। सिपाहियों से मिलकर उनका हौसला इतना बढ़ गया कि शहर की सड़कों पर भी विद्रोह की बातें करने लगे। रंगून में पहिले-पहिल उन्हें पता लगा, कि 'कोमागातामारू' के यात्रियों पर क्या-क्या गजब ढाये गये। बजबज में जहाज से उतरने के बाद वे अपनी दुःखगाथा को जत्था बाँधकर देश के भाइयों को सुनाने जा रहे थे, उसी समय बिना सूचना दिये उन पर गोलियाँ बरसने लगीं; बीसियों की जानें गयीं और बहुतों को गिरफ्तार किया गया; कितने निकल भागे और जंगलों में जाकर छिप गये। पृथ्वीसिंह और उनके साथियों ने जब इस तरह की खबरें सुनीं तो उनके हृदय को भारी आघात लगा। उन्होंने बदला लेने की प्रतिज्ञा ली, लेकिन बुद्धि उन्हें बतला रही थी कि उनके भाग्य में भी वही बदा है।

जहाज कलकत्ता के बन्दरगाह पर पहुँचा। पुलिस डाक्टर का भेष बनाकर जाँच करने के बहाने जहाज पर सवार हो गयी। एक-एक चीज की खूब अच्छी तरह तलाशी ली गयी। कोई हथियार नहीं मिला। पुलिस ने जिन्हें खूब मजबूत साफ-सुथरे कपड़ों में देखा और जो खतरनाक-से मालूम हुए, उन्हें स्पेशल ट्रेन में पहुँचाया गया। ट्रेन में पंजाब की सी. आई. डी. काफी संख्या में विराजमान थी। गुरखा सिपाही गारद बनकर चल रहे थे। सी. आई. डी. वाले जानने की बहुत कोशिश करते रहे लेकिन वहाँ कौन बतलाने के लिए तैयार था।

पंडित जगतराम जहाज से उतरते ही पुलिस के हाथ से गायब हो गये थे। वे मुगलसराय में आकर अपने साथियों की स्पेशल ट्रेन से मिले। मुँड़े सिर और फटे चीथड़ों में वे बिल्कुल दूसरे ही मालूम होते थे। सभी उन्हें देखकर हँसने लगे। उन्हें यह देखकर संतोष हुआ, कि उनमें से एक बाहर पर जनता के भीतर है। गदर

पार्टी के मजदूर क्रांतिकारी वस्तुतः आतंकवाद पर नहीं, वल्कि भारतीय सेना की मदद पर विश्वास रखते थे, जिसे कि अपना खून-मांस समझ वे अपने में मिलाने की आशा रखते थे।

पुलिस की हिरासत से लापता

पंजाब की सी. आई. डी. को सेनफ्रांसिस्को ही से वहुत-सी वातों की सूचना मिल चुकी थी। उसके पास पूरा नाम और पता मौजूद था। लेकिन कितने ही क्रान्तिकारियों ने अपने नाम और पते दूसरे ही लिखाये, और वे उन स्टेशनों से निकल गये। पृथ्वीसिंह ने भी अपना नाम और पता वदला था। लेकिन उनका वाईस वर्ष का पुष्ट और स्वस्थ शरीर और ऊपर से साफ-सुथरा वेष ऐसा था कि पुलिस ने उन्हें वाहर नहीं जाने दिया। लेकिन उनके खिलाफ कोई इल्जाम नहीं था। गाड़ी रावलपिंडी स्टेशन पर पहुँची। कम्पार्टमेंट के सारे आदमी एक-एक कर चले गये। लेकिन उनको इजाजत नहीं मिली। सी. आई. डी. के अफसर वर्षा से बचने के लिए छाता लगाये खड़े थे। खिड़की खुली थी। पृथ्वीसिंह के शरीर और दिमाग दोनों में ही फुर्ती थी। एक मिनट में ही उन्होंने अपने कर्तव्य का निश्चय कर लिया। वे तेजी से निकलकर प्लेटफार्म की भीड़ में मिल गये और इधर-उधर करते सी. आई. डी. की पहुँच के वाहर हो गये। शायद सी. आई. डी. ने किसी दूसरे को पकड़कर अपनी गिनती पूरी कर ली। दूर खड़े-खड़े उन्होंने देखा कि ट्रेन स्टेशन से रवाना हो गयी। शहर में जाकर दूसरे कपड़ों को खरीद पहिले उन्होंने अपना भेष बदला, फिर स्टेशन पहुँच उन साथियों से मिल गये, जिन्हें ट्रेन से जाने की इजाजत मिली थी।

पृथ्वीसिंह उनके साथ लाहौर आये जहाँ सबने भविष्य का प्रोग्राम तै किया। पृथ्वीसिंह राजपूत लोगों में विद्रोह का संदेश पहुँचाने के लिए उतावले थे। जाति के बड़े-बूढ़े इस कोमल तरुण की वातों की क्या कदर करते। उस वक्त पृथ्वीसिंह को अंफसोस होता कि आज यदि मेरे भी दाढ़ी-मूँछ होती ! वह अकल की बात करते लेकिन दूसरे ध्यान नहीं देते थे, क्योंकि अभी वह कच्चे छोकरे थे।

सवा महीने तक इस तरह छिपे रहकर वह अपना काम करते रहे। अपनी जाति के कुछ लोगों को खींचने में सफलता जरूर मिली, उससे भी ज्यादा आसानी से सफलता मिली अपने पुराने स्कूल के सहपाठियों को समझाने में। वे उनके पीछे चलने के लिए तैयार थे। पुलिस बड़ी तत्परता से पीछा कर रही थी, किन्तु विद्यार्थियों की चौकसी और सहायता के कारण वह पकड़ न सकी। अम्बाला स्टेशन और लालडू स्टेशन की ओर जानेवाली सड़क पर सभी जगह पुलिस की जबर्दस्त निगरानी थी, मगर पृथ्वीसिंह को आँख बचाकर निकल जाने में कभी दिक्कत नहीं हुई।

एक रात सभी साथी अम्बाला शहर के पास एक खेत में जमा हुए। सबने अपने काम की रिपोर्ट दी और उनके ज़िम्मे नया काम दिया गया। तीन घंटे की बैठक के बाद लोग अपनी-अपनी जगह लौट गये।

दूसरी बैठक एक छोटे-से स्टेशन पर की गयी। जान पड़ता था पंजाबी गँवार कहीं जाने के लिए गाड़ी का इन्तिजार कर रहे हैं। सभी लोग पैसे के अभाव की शिकायत कर रहे थे। कुछ लोगों ने महाजनों या सरकारी खजानों के लूटने का प्रस्ताव किया। सरकारी खजाने के लूटने के लिए उनके पास न साधन थे, न शक्ति। लेकिन महाजनों के लूटने के बारे में काफी लोग सहमत थे। लेकिन सभी जवाबदेह नेता, खासकर बाबा निधानसिंह इसका सख्त विरोध करते रहे। बाबा निधानसिंह ने इस तरह के प्रस्ताव को मुँह पर लाने के लिए भी लोगों को खूब फटकारा। आखिर में प्रस्ताव त्याग दिया गया। बाबा निधानसिंह साठ वर्ष की उमर में क्रान्तिकारी सेना में शामिल हुए थे। वह बहुत ही हिम्मतवाले और पाक दिल आदमी थे। सभी उन्हें बड़ी सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

एक दिन अखबार पढ़ा कि पंडित जगतराम पेशावर में गिरफ्तार हो गये। वह सीमाप्रान्त में काम करने के लिए भेजे गए थे। उनके-ऐसे योग्य साथी की गिरफ्तारी बड़ी हानि की बात थी। इसके कुछ दिन बाद की बात है, कुछ क्रान्तिकारी ताँगों पर बैठ देहात में एक बैठक करने जा रहे थे। रास्ते में पुलिस की एक

टोली ने उन्हें रोककर उतारना चाहा; इस पर झगड़ा हो उठा। यद्यपि सरकारी अफसरों पर भी गोली चलाने की सख्त मनाही थी, मगर आत्म-रक्षा के लिए पार्टी ने पूरी स्वतंत्रता दे रक्खी थी। सभी के पास हथियार थे। लड़ाई में पुलिस का एक आदमी गोली खाकर वहीं मर गया। दूसरे और सहायता लाने के लिए भाग निकले। पृथ्वीसिंह के साथियों के लिए दूर निकल भागने का रास्ता न था। उन्होंने झाड़ियों में प्रतीक्षा करते हुए पुलिस से मुकावला करने की ठानी। पुलिस के आने पर उठकर लड़े और अंत में सभी पकड़ लिये गये।

इतनी अधिक संख्या में साथियों का पकड़ा जाना, खासकर के पार्टी के तीन विशेष व्यक्तियों का अभाव, कार्यकर्ताओं के दिमाग पर बुरा असर करने लगा। उनका उत्साह ढीला पड़ गया और वे पृथ्वीसिंह को भी सलाह देने लगे, कि अव कोशिश करना वेकार है। लेकिन, पृथ्वीसिंह मैदान छोड़ने का ख्याल दिमाग में भी लाने के लिए तैयार नहीं थे। चाहे जो कुछ भी हो, वह अपने पथ से विचलित नहीं होंगे।

गिरफ्तारी

पार्टी की तीसरी वैठक होनेवाली थी। पुलिस जरा-जरा से संदेह पर लोगों की गिरफ्तारी कर रही थी। अम्बाला शहर पृथ्वीसिंह के कार्य का केन्द्र था। सूचना पाने के वाद में उन्होंने अपना भेष बदला और बैठक की जगह जाने के लिए तैयार हुए थे। पुलिस जानती थी कि पृथ्वीसिंह राजपूत हैं और कोई राजपूत उन्हें धोखा देने के लिए तैयार नहीं था। आखिर में अम्वाला के पुलिस सुपरिन्टेण्डेन्ट ने सरदार लहनासिंह (एक्जीक्यूटिव इन्जीनियर) को इस पाप के लिए तैयार किया। सरदार लहनासिंह विद्यार्थीकाल से पृथ्वीसिंह को जानते थे। पृथ्वीसिंह अपने काम के लिए जाति के बहुत-से मुखियों से मिलते रहते थे, लेकिन लहनासिंह पर उनका कभी भी विश्वास न था। उस दिन पृथ्वीसिंह राजपूत बोर्डिंग हाउस में थे, किसी लड़के ने बच्चों के उत्साह में लहनासिंह से कह दिया। लहनासिंह पृथ्वीसिंह के कमरे में चले आये। मीठी-मीठी बातें करने लगे और कुछ दिनों के लिए अपने गाँव में ले जाने के लिए बहुत आग्रह करने लगे। पृथ्वीसिंह ने असमर्थता प्रकट की। लहनासिंह चले गये।

यद्यपि पृथ्वीसिंह कभी आशा नहीं रखते थे कि लहनासिंह उनके उद्देश्य से सहानुभूति दिखलाएँगे; लेकिन उन्हें यह आशंका न थी कि एक उच्च उद्देश्य में लगे तरुण के साथ वह विश्वासघात करेगा। लहनासिंह सीधे पुलिस सुपरिन्टेण्डेन्ट के पास गये। लड़के सभी स्कूल चले गये थे। बोर्डिंग में उनके सिवा कोई नहीं था। वह बाहर जाने के लिए कोट पहिनना ही चाहते थे कि किसी ने द्वार पर दस्तक दी। दरवाजा खोला। देखा नागरिक भेष में एक सिक्ख सज्जन खड़े हैं। आगन्तुक ने घबड़ाये हुए स्वर में पूछा–"क्या यह सिक्ख बोर्डिंग हाउस है ?"

"नहीं, यह राजपूत बोर्डिंग है।"

"आहे, अफसोस, क्या आप कृपा करके सिक्ख बोर्डिंग हाउस ढूँढ़ने में मेरी मदद कर देंगे ?"

"हाँ, जरूर मदद करूँगा। आइये बैठिये, मैं तैयार हो जाता हूँ।" आगन्तुक अब भी घबड़ाया हुआ था और उसके तौर-तरीके को देखकर अचरज होता था। लेकिन एक ही क्षण में पृथ्वीसिंह ने उसका कुछ और ही रूप देखा, उसने अपनी जेब से रिवाल्वर निकालकर जोर से कहा, "मेरे साथ आओ, नहीं तो मैं गोली मार दूँगा।" वहाँ सोचने के लिए एक मिनट का भी समय नहीं था। पृथ्वीसिंह तुरन्त रिवाल्वर की ओर झपटे और उसकी नली को पकड़ लिया। आगन्तुक घोड़े पर अँगुली रख चलाने की अनुकूल स्थिति ढूँढ़ रहा था और पृथ्वीसिंह उसकी पीठ पर जाकर उसे जमीन पर दबा देना चाहते थे। अँधेरे कोने में यह सब कुछ हो रहा था। पृथ्वीसिंह तै नहीं कर पाये थे कि यह पुलिसमैन है या कोई गुण्डा। यह पुलिस का आदमी है तो अकेले क्यों, और सादी पोशाक में क्यों ? यदि यह बदमाश है, तो किसने खबर दी कि पृथ्वीसिंह के पास रुपये हैं। पृथ्वीसिंह मदद के लिए किसी को पुकार नहीं सकते थे और आगन्तुक भी चुपचाप हाथा-पाई कर रहा था। उन्होंने समझा, यह जरूर कोई बदमाश है। उन्होंने निश्चय किया कि उसे दबाकर रिवाल्वर छीन लें, फिर कोठरी में बन्द कर रफू-चक्कर हो जाएँ।

यह जिन्दगी और मौत का सवाल था। आगन्तुक भी नौजवान और खूब मजबूत आदमी था। काफी संघर्ष के बाद कुछ मिनटों में वह पिस्तौल छीनने में सफल हुए। उन्होंने उसे दूर फेंक दिया। इसी समय नौजवान ने अपनी जेब से छुरा निकाला और पृथ्वीसिंह के ऊपर कई चोटें की। उस उत्तेजना में पीड़ा का कोई ख्याल न था। पृथ्वीसिंह ने कूदकर छुरे की धार को पकड़ लिया। धार हथेली में काफी धँस गयी, मगर उन्होंने उसे छोड़ा नहीं। घायल शेर की तरह पृथ्वीसिंह खूँख्वार हो उठे थे, मगर उन्होंने अपने ऊपर संयम रखा और छुरे को अलग फेंक दिया। उन्होंने उस आदमी को कई मर्तबे उठा-उठाकर दीवाल से रगड़ा। थोड़ी देर में वह मुर्दा-सा बन गया और उन्होंने उसे छोड़ दिया। उधर वह उठक-पटक के कारण बेहोश हो गया था और इधर अधिक लहू के बहने से पृथ्वीसिंह बेहोश हो गये।

5

मौत का इंतिजार

पृथ्वीसिंह ने जब आँख खोली तो देखा, वह खाट पर पड़े हैं और नंगी तलवार लिये चार पुलिस के सिपाही पहरा दे रहे हैं। थोड़ी दूर पर दो आदमी बैठे थे, जिनमें एक था पुलिस का सुपरिन्टेण्डेन्ट और दूसरा शहर का मजिस्ट्रेट। आँख खुली देखकर दोनों उनके पास आये और बयान लिखाने के लिए कहा। पृथ्वीसिंह पूरे होश में आ गये थे, लेकिन घाव में दर्द नहीं मालूम होता था। उन्होंने पिछली घटना पर विचार करना शुरू किया। थोड़ी देर में उन्हें सारी बातें साफ मालूम देने लगीं। अब वह अतीत नहीं, भविष्य के बारे में विचारने लगे। मजिस्ट्रेट ने अपराध और इलजाम को कह सुनाया। पृथ्वीसिंह ने पूछा कि रिवाल्वर लेकर हमला करनेवाला वह सिक्ख कहाँ है ? जवाब मिला, "मृत्यु-शय्या पर।" पृथ्वीसिंह को अच्छी तरह स्मरण था कि वे उस आदमी को मारना नहीं चाहते थे, न उन्होंने छुरे या रिवाल्वर का इस्तेमाल किया था। उन्होंने दूसरा सवाल पूछा, "वह मृत्यु-शय्या पर कैसे है ?" उन्हें इसका उत्तर नहीं मिला। लेकिन, पीछे पता लग गया कि वह आदमी भला-चंगा एक आराम कुर्सी पर बैठा है। मजिस्ट्रेट और सुपरिन्टेण्डेन्ट मृत्यु-शय्या की बात कहकर डराना चाहते थे, जिससे पृथ्वीसिंह कुछ बातें बतलाने को तैयार हो जाएँ। फिर सवाल-जवाब शुरू हुआ। पृथ्वीसिंह बुरी तरह से घायल थे, लेकिन वह दबनेवाले नहीं थे। अफसरों ने लिख-पढ़कर उन्हें छुट्टी दे दी।

नयी चालें

अब खून की कमी और दर्द का असर होने लगा। उस वक्त वहाँ कोई उनकी सुधि लेनेवाला नहीं था। पहरेवाले सिपाहियों के रूखे चेहरे को देखकर उन्होंने बात करना भी पसंद नहीं किया। उसी समय एकाएक स्कूल के दिनों के परिचित चेहरेवाला एक तरुण उनके पास आया। उनका ध्यान इधर नहीं गया कि कैसे पुलिस के पहरे के भीतर वह आ सका। उसने बड़ी सहानुभूति दिखलायी और कुछ नारंगियाँ दीं। जाते वक्त उसने सिपाहियों से विनती करते हुए कहा, "मैं अपने मित्र से मिला हूँ, सुपरिन्टेण्डेन्ट को यह खबर न होने पाये।"

शहर में तरह-तरह की अफवाहें उड़ रही थीं। कोई बड़ा क्रांतिकारी पकड़ा गया है और पुलिस पर जबरदस्त हमला होनेवाला है। पुलिस की जरूरत से ज्यादा मुस्तैदी ने लोगों में घबराहट पैदा कर दी थी, और उस दिन समय से पहिले ही शहर की सारी दूकानें बन्द हो गयीं।

पृथ्वीसिंह को जबरदस्त बुखार था और वह जिन्दगी और मौत के बीच लटक रहे थे।

वे 8 अक्तूबर को पकड़े गये थे। लेकिन पुलिस इतनी घबड़ायी हुई थी कि उन्हें चार दिन भी अस्पताल में रखना मुश्किल मालूम हो रहा था। 12 तारीख को रात के सन्नाटे में वह अम्बाला के सेन्ट्रल जेल में पहुँचा दिये गये।

कैदी अफवाहें सुनकर कह रहे थे कि क्रांतिकारियों ने शहर पर आक्रमण कर दिया है। घमासान लड़ाई हो रही है और किसी समय भी जेल पर हमला हो सकता है। पृथ्वीसिंह अपनी कालकोठरी में अकेले पड़े थे। वह भीषण पीड़ा से कराह रहे थे, मगर उनकी सुधि लेनेवाला कोई नहीं था। कैदी आशा लगाये हुए थे कि क्रांतिकारी अब जेल का फाटक तोड़ने ही वाले हैं, उन्हें मुक्ति मिल जाएगी। उन्हें यह पता न था कि इन सारी अफवाहों का कारण वह क्रांतिकारी मरणासन्न होकर यहीं पड़ा हैं।

सवेरे जब सेल का दरवाजा खुला तो छै फुट लम्बा कोयले से भी काली डरावनी सूरत का एक भंगी भीतर आया। पृथ्वीसिंह को जेल के बारे में सुनी बचपन की कथाएँ सच्ची मालूम होने लगीं। पृथ्वीसिंह को खाने की तो बात ही क्या, पीने के लिए पानी तक नहीं दिया गया था। जेल के अधिकारी उस आदमी को देखना चाहते थे जिसकी वजह से सारे शहर में खलबली मची हुई है। इनका बर्ताव अच्छा था। जेल के सुपरिन्टेण्डेन्ट ने, जिसे सिविल सर्जन के तौर पर अस्पताल में पृथ्वीसिंह ने क्रूरता का अवतार समझा था, उसने भी पहिली धारणा को गलत साबित किया, वह वस्तुतः वैसा क्रूर न था। असिस्टेन्ट सर्जन भी अधिक मृदुल स्वभाव का था। उसने घाव के वर्णन पढ़ने के बाद कहा, "वच्चे, तुम बड़े खुशकिस्मत हो, तुम्हारी गर्दन के दोनों ओर की नसों में जैसा गहरा घाव है, उससे बच निकलना आश्चर्य की बात है।"

पृथ्वीसिंह अभी विचाराधीन कैदी थे। उन्हें अपने या अपने सम्बन्धियों के द्वारा भेजे भोजन को खाने का हक था। लेकिन वहाँ हक को कौन पूछता था। कोई सम्बन्धी भी उसके पास नहीं पहुँच सकता था। शायद अधिकारियों ने इस तरह के बर्ताव से हिम्मत तोड़नी चाही थी, लेकिन परिणाम उलटा हुआ। चंद दिनों के वाद पुलिस ने आत्माराम नामक एक आदमी को लाकर पास की सेल में बन्द कर दिया। रोज पुलिस उसे पीटने का अभिनय करती, और पृथ्वीसिंह उसके चिल्लाने को सुनते रहते। अभिनय से पहिले पुलिस सुपरिन्टेण्डेन्ट उस आदमी को जेल के द्वार पर खड़ा होकर बुरी-बुरी गालियाँ देता और धमकाकर कहता, "साले, यदि सभी बातें सच-सच नहीं बतायीं, तो गोली से मार दिये जाओगे। सोच लो, फिर मुझे बुलाकर सारी बातें कह दो; नहीं तो पृथ्वीसिंह की तरह किस्मत का फैसला सुनने के लिए तैयार रहो।"

जाड़ों के दिन थे। सेल के भीतर और भी ज्यादा सर्दी थी। जेलर ने मेहरबानी करके पृथ्वीसिंह को चंद मिनट धूप में बैठने की इजाजत दी। गाली-मार सुनकर उनकी सहानुभूति नवागन्तुक के साथ हो गयी थी। उन्हें आश्चर्य हुआ जबकि देखा कि वह आदमी वही आत्माराम है। उस आदमी के पास न गरम पोशाक थी, न बदन ढकने के लिए कोई कम्बल। वह जाड़े के मारे काँप रहा था। भगवान और धर्म की दोहाई देकर वह सिपाहियों के सामने गिड़गिड़ा रहा था। लेकिन, वे उसे धूप में जाने नहीं देते थे।

कितने ही दिनों तक पुलिस सुपरिन्टेण्डेन्ट उसी तरह आकर गंदी गालियाँ देता, और पिटाई का अभिनय होता। धीरे-धीरे सिपाहियों ने दया दिखलाते हुए आत्माराम को धूप में बैठने के लिए इजाजत दी, फिर एक ही दुःख के दुःखी दोनों की आपस में वातचीत होने लगी। तीसरे दिन आत्माराम ने क्रान्तिकारियों की बातें करनी शुरू कीं। उसकी बातें और बढ़ती गयीं। उसने कहा, यदि आप किसी तरह एक रिवाल्वर का प्रबन्ध कर दें, तो मैं सुपरिन्टेण्डेन्ट से बदला ले लूँ। आत्माराम ने बड़े-बड़े क्रान्तिकारियों से अपने सम्बन्ध की बातें शुरू कीं। एक दिन वह कह बैठा—"पंडित जगतराम ने मुझे क्रान्ति के पथ पर आरूढ़ किया। उन्होंने मुझसे प्रार्थना की कि तुम भारतीय क्रांति के मुखिया बनो।" पृथ्वीसिंह ने पूछ दिया—"कब तुमने पंडित जगतराम को देखा ?"

"यही कोई चार महीने हुए।"

जान पड़ता है आत्माराम को अच्छी तरह पढ़ाया नहीं गया था। उसे यह भी मालूम नहीं था कि चार महीने पहिले तो जगतराम अमेरिका में थे। अभी तो उन्हें हिन्दुस्तान आये दो महीने भी नहीं बीते। पृथ्वीसिंह ने रँगे-गीदड़ को पहचान लिया। मन में आया तो कि लगाएँ दो-चार थप्पड़। लेकिन उन्होंने अपने को रोक लिया। पाँचवें दिन उसने बम बनाने का नुस्खा बतलाने के लिए प्रार्थना शुरू की। पृथ्वीसिंह ने कहा, "कागज-पेन्सिल ले आओ, नुस्खा लिखे देता हूँ।" कागज-पेन्सिल भी आ गयी। पृथ्वीसिंह ने कहा, "तुम मैट्रिक पास

हो, गंधक जैसी भड़कनेवाली चीजों को तो जानते ही हो ?"

"जानता तो हूँ, मगर मिलेगी कैसे ?"

"इसके बारे में मैं नहीं जानता, तुम यदि सुपरिन्टेण्डेन्ट को मारना चाहते हो, तो उन्हें जमा करना होगा।"

"अच्छा, मैं तदबीर करूँगा।"

पृथ्वीसिंह ने कहा, "इन सभी चीजों को इकट्ठा करके एकान्त कोठरी में जाओ, ऐसी कोठरी में जहाँ तुम्हें कोई देखने नहीं पाये। एक अच्छा स्टोव और एक वड़ी कड़ाही भी ले जाना। दरवाजे को खूब वन्द कर देना और भीतर से ताला लगा देना। स्टोव को जलाकर टीक करना। तव कड़ाही को उस पर रख देना। सभी सामग्री को खूब मिला देना। जब कड़ाही लाल हो जाए, तो सामग्री को उसमें डाल देना। एक वढ़िया वम तैयार हो जाएगा। उसी से सुपरिन्टेण्डेन्ट को मार देना।"

"आप तो मजाक कर रहे हैं, इस तरह तो मैं भी मर जाऊँगा।"

"दोस्त, मैं मजाक नहीं करता, मजाक तुम कर रहे हो। विना अपने को खतरे में डाले तुम दूसरे को कैसे मार सकते हो ?"

दिल में गुस्सा तो बहुत आ रहा था, लेकिन और कुछ नहीं कहा। दूसरे दिन आत्माराम वहाँ से लापता हो गया था। उसी दिन काहनसिंह नाम का एक राजपूत तरुण वगल की सेल में डाल दिया गया। पृथ्वीसिंह के समय वह भी उसी स्कूल में पढ़ता था, दोनों में दोस्ती थी। गिरफ्तारी के दिन काहनसिंह भी मौजूद था। उसे भी पृथ्वीसिंह का साथी समझकर पकड़ा था। काहनसिंह को क्या पता था कि यह दोस्ती इतनी महँगी पड़ेगी। एक इज्जतदार धनी परिवार का लड़का और अव वागियों के साथ सेल में वन्द। पृथ्वीसिंह ने उसे समझाना शुरू किया और एक ही दो दिन में उसकी हिम्मत मजवूत हो गयी।

न्याय का ढोंग

दो हफ्ते तक पृथ्वीसिंह खुलकर हिल-डुल तक नहीं सके। जब घाव कुछ भर गया तो मुकदमा शुरू हुआ। एक फर्स्ट-क्लास हिन्दुस्तानी मजिस्ट्रेट जेल में भीतर ही मुकदमा करने आया। उस वक्त मालूम हुआ कि सब-इन्स्पेक्टर सिक्ख सिर्फ नजर रखने के लिए भेजा गया था जिसमें कि पुलिस की भारी टोली लेकर आने से पहिले मुलजिम भाग न जाए। लेकिन सब-इन्स्पेक्टर घबड़ा गया। पृथ्वीसिंह के ऊपर इलजाम था हत्या करने के प्रयत्न का और काहनसिंह पर डकैती का। कहा गया था कि जिस वक्त गुत्थम-गुत्था हो रही थी, उसी वक्त काहनसिंह बाहर से आया और सब-इन्स्पेक्टर की जेब से मनी-बेग लेकर चम्पत हो गया। एक प्रतिष्ठित धनी खानदान के लड़के पर यह इलजाम और अदालत ने इसे मान लिया। एक शिक्षित मजदूर तरुण राजपूत जिन्दगी और मौत की लड़ाई लड़ते अपने दोस्त की मदद करने नहीं, वल्कि कुछ रुपल्लियों को छीनने के लिए आया ! और गवाह ? वही अकेला सब-इन्स्पेक्टर और जज ? एक अंग्रेज। 1914 में भारत की राजनीतिक और अदालती अवस्था क्या थी, इसे यह घटना अच्छी तरह बतलाती है। सब-इन्स्पेक्टर ने अपने इजहार में पृथ्वीसिंह के बारे में कहा कि इसने मेरा रिवाल्वर छीन लिया और मुझ पर गोली चलाना चाहता था, मगर घोड़े के नीचे एक छोटा-सा टुकड़ा टीन का मैंने रख दिया था जिससे वह मार नहीं सका। सव-इन्स्पेक्टर ने कान का एक टुकड़ा पेश करके बतलाया कि मुलिजम ने छुरे से हमला किया लेकिन सब-इन्स्पेक्टर बाल-बाल बच गया। पृथ्वीसिंह को न्याय की आशा क्या हो सकती थी, जबकि हर जगह उन्हें पुलिस का हाथ दिखलायी पड़ता था।

चौधरी शादीराम को जब बेटे की गिरफ्तारी की खबर बर्मा में मिली, तब वे दौड़े-दौड़े अम्बाला पहुँचे। मजिस्ट्रेट की इजाजत से कोर्ट ही में मुलाकात हुई। मुलाकात के वक्त कागज–पेन्सिल लिए हुए सी. आई. डी. का आदमी टपक पड़ा। इस पर बाप-बेटे बरमी भाषा में बात करने लगे। पृथ्वीसिंह को यह देखकर संतोष हुआ कि पिता के चेहरे पर न दीनता थी और न आँखों में आँसू, यद्यपि उनका कलेजा भीतर से फटा जा रहा था। पैर छूने के बाद उन्होंने पिता के शब्दों को सुना, "अच्छा हुआ होता यदि तुम बर्मा में मेरे ही पास

रहे होते, लेकिन भगवान की इच्छा दूसरी ही थी। अच्छा, जो उसकी मर्जी।"

पुलिस ने ज्यादा बातें मालूम करने के लिए न जाने कितने निरपराध आदमियों को बड़ी-बड़ी तकलीफें दीं। कितने ही राजपूत विद्यार्थियों को गिरफ्तार कर जेल में तरह-तरह की साँसत दी गयी। स्कूल के अधिकारियों को मजबूर किया गया कि वह इन लड़कों की हाजरी लिखते जाएँ जिससे पुलिस के खिलाफ कोई इल्जाम न लगाया जा सके। कितने ही सम्भ्रांत राजपूत मुखिया भी पकड़े गये और कई दिनों तक उन पर जुल्म होता रहा, लेकिन उन्हें मालूम ही क्या था जो बतलाते। चौधरी हंसराज के ऊपर जुल्म की हद कर दी गयी थी। लगातार कई दिनों तक उन्हें सोने नहीं दिया गया। लेकिन एक बहादुर राजपूत की तरह उन्होंने साफ-साफ कह दिया, "साँसत करते-करते चाहे मार डालो, मगर मैं झूठा बयान नहीं दूँगा।"

जिन विद्यार्थियों ने डर के मारे पुलिस की सिखायी कुछ बातें कह भी दी थीं, उन्होंने भी जज के सामने पुलिस का भण्डा फोड़ दिया।

सेशन जज के तीन असेसरों में दो बनिये थे और एक मुसलमान राजपूत। असेसरों से राय पूछी गयी, तो वे बाहर जाकर आपस में राय करके एक चिट लिखकर लाये, "मुल्जिम निरपराध है, इन्हें छोड़ देना चाहिए।" योरोपियन जज आग-बबूला हो गया। उसने कहा, "तुम्हें अलग-अलग अपनी राय का कारण लिखना पड़ेगा।" पहिले असेसर से कहा गया तो वह मुँह से बिना एक अक्षर निकाले खड़ा होकर काँपने लगा। दूसरा भी चुपचाप खड़ा रहा। जज ने पुलिस को कमरे से बाहर जाने के लिए कह दिया। जज ने फिर असेसरों के सामने अपनी बात दोहराई। दो असेसर फिर बाघ के सामने बछिया बनकर चुप खड़े रहे। जज ने तीसरे असेसर से पूछा, तो उसका चेहरा सुर्ख हो आया, वह अपने साथियों के बर्ताव से बहुत क्षुब्ध था। उसने खड़े होकर साफ-साफ कहा, "इल्जाम सिद्ध नहीं हुआ, मेरी राय में मुल्जिम निरपराध है। अदालत को छोड़ देना चाहिए।"

जज ने और सवाल नहीं किये। दूसरे असेसरों को भी कुछ हिम्मत हुई। उनमें से एक ने कहा, "साहब हम दो आगों के बीच में हैं, एक तरफ नर्क की आग है, दूसरी तरफ पुलिस की। अगर हम निरपराध मुल्जिमों के खिलाफ कहते हैं, तो मरने के बाद नर्क की यातना सहनी होगी और यदि पुलिस के खिलाफ जाने का साहस करते हैं, तो हमारी पीठ पर पुलिस का डंडा होगा। हम पुलिस के डंडे ही को सहना पसंद करते हैं।"

दूसरे असेसर ने भी इसी बात की पुष्टि की। जज ने उस दिन फैसला नहीं दिया। सरकारी वकील समझता था कि मुकदमा कमजोर है। उसने जज का ध्यान खींचते हुए कहा, "चाहे अपराध न भी प्रमाणित हुआ हो, किन्तु पृथ्वीसिंह रिहा होने के काबिल नहीं है।"

जज तीन दिन तक पशोपेश में रहा। बराबर उस पर दबाव डाला जाता रहा। आखिर मालिकों की मर्जी के सामने उसे झुकना पड़ा। जज ने पृथ्वीसिंह को 10 साल और काहनसिंह को 15 माह की सजा दी। जनता के पास इसकी कोई खबर नहीं पहुँचने पायी। किसकी मजाल थी कि अखबारों में इसका हाल छापता ? यह 1914 का भारत था।

कैदी जीवन का पहिला अनुभव

पृथ्वीसिंह ने पहिले ही देख लिया था कि कैदियों को कैसे 20-20 सेर गेहूँ पीसना पड़ता है और न पीस सकने पर उन पर मार पड़ती है। उनके हाथ नरम थे। उन्होंने दरवाजे की छड़ों में रगड़-रगड़कर 20 दिन में अपने हाथों को खूब कड़ा कर लिया। सजा सुनकर जब वह दोपहर को लौटे तो देखा कि 20 सेर अनाज सेल के बाहर उनकी प्रतीक्षा कर रहा है, जिसके साथ जेल के कपड़े भी हैं–पुराने बिना धुले कपड़े, जिन्हें आज ही सबेरे छूटे कैदी ने अपने बदन से उतारा था। कपड़ों में जूएँ भरी हुई थीं। जब पृथ्वीसिंह ने कुछ कहा, तो जवाब मिला, "बाबू नखरा छोड़ो।" जूएँवाले कपड़े पहिनने के लिए वे तैयार नहीं थे। उन्होंने लँगोट को उठा लिया। उसमें से जितने जूएँ निकाल सके, निकाले और धोकर पहिन लिया। बाकी कपड़े वैसे ही पड़े रहे। फिर चक्की पर पिल पड़े और समय से पहिले ही पीसकर रख दिया। लेकिन वह बुरी तरह थक गये थे। जहाँ तक चक्की पीसने का काम था, पृथ्वीसिंह उसे पूरा करते रहे। सुपरिन्टेण्डेन्ट को यह पसंद नहीं आया।

सरकार का दुश्मन इस तरह बचकर निकलता जायं, यह उसे क्यों पसंद आने लगा ! पृथ्वीसिंह ने एक दिन देखा कि खड़े होकर पीसी जानेवाली चक्की की जगह बैठकर पीसने की चक्की आ गयी है। दूसरे दिन जब सुपरिन्टेण्डेन्ट से उन्होंने कहा तो उसने उत्तर दिया, "मुश्किल है ? यही मैं चाहता हूँ।"

पृथ्वीसिंह ने कहा—"अच्छी बात, तो तुम कभी अब इसकी शिकायत न सुनोगे !"

अमेरिका में पृथ्वीसिंह को जब देश-प्रेम और आजादी का ख्याल आया, तब वह गदर पार्टी में शामिल हुए। उनके दिल में विदेशी शासन के प्रति घृणा थी, लेकिन सरकारी अफसरों के प्रति नहीं। 1914–22 8 साल के बन्दी जीवन में उनके साथ, जो पशुवत बर्ताव किया गया, उसने उन्हें सारी नौकरशाही व्यवस्था का घोर शत्रु बना दिया।

पृथ्वीसिंह को फाँसीवाले कैदियों के साथ एक ही सेल-पाँती में रखा गया। वहाँ किसी दूसरे कैदी को जाने की इजाजत नहीं थी। वह सिर्फ वार्डर और भंगी के चेहरे को देख पाते थे। नहाना-धोना छोड़कर सेल की कोठरी से बाहर नहीं निकाला जाता था। खाना-पानी सीखचों के भीतर से दिया जाता था।

क्रांति का गर्भ-स्राव

जिस वक्त पृथ्वीसिंह अम्बाला जेल के भीतर बैठे-बैठे चक्की पीस रहे थे, उस वक्त उनके साथी बाहर चुप नहीं बैठे थे। पहिली टोली के बाद और बहुत-से हिन्दुस्तानी बहुत-से रास्तों से हिन्दुस्तान लौटे थे और अपने काम से लग गये थे। विदेश से लौटे हुए सभी क्रांतिकारी गाँवों के किसान थे। उनमें से कोई ऐसा न था, जिसके गाँव या दूर-नजदीक के सम्बन्ध का कोई आदमी सरकारी सेना में न हो। इस तरह हिन्दुस्तानी फौज के साथ सम्बन्ध जोड़ना आसान था। सैनिकों के सम्पर्क में आने पर उन्हें मालूम हुआ कि वह क्रांतिकारियों के साथ हाथ मिलाने को तैयार हैं। महायुद्ध उग्र रूप धारे हुए था। सिपाही बराबर हिन्दुस्तान की सीमा पार कर किसी अज्ञात दिशा की ओर भेजे जा रहे थे। देशभक्ति का भाव उनमें भरा नहीं गया था और वह विदेशी सरकार को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। जब उनसे कहा गया कि मरना ही है तो क्रांति के झंडे ही के नीचे क्यों न मरो, विदेशी झंडे के नीचे पराए देश में मरने से क्या फायदा, तो उन पर बड़ा असर पड़ा। बहुत से सिपाही क्रान्तिकारियों के साथ सहमत हो चले। 1914 में भारत में अंग्रेज सिपाहियों की संख्या 10,000 से ज्यादा नहीं थी और यह संख्या हिन्दुस्तानी फौज, मध्यम-वर्ग और किसानों के सामने बहुत ज्यादा न थी। उस समय कारखानों के मजदूरों की संख्या कम थी और उनमें राजनीतिक चेतना भी न थी। क्रान्तिकारियों को संगठित मजदूर-वर्ग का महत्त्व मालूम नहीं था, इसलिए उन्होंने क्रान्ति की सफलता के लिए मजदूरों के संगठन की ओर ध्यान नहीं दिया। जिन क्रान्तिकारियों ने हिन्दुस्तानी फौज को अपनी तरफ खींचने में सफलता पायी थी, उसमें कर्तारसिंह और पिंगले की चतुराई और बहादुरी अद्वितीय थी। उस वक्त भी सिपाहियों की बैरकों में बाहरी आदमियों का जाना आसान कार्य नहीं था, लेकिन कर्तारसिंह और पिंगले सिपाहियों में मिल जाने में बड़े सिद्धहस्त थे। उन्होंने बहुत-सी छावनियों में मिलकर समझाया। सिपाहियों की भारी संख्या साथ देने के लिए तैयार थी। विद्रोह शुरू करने का दिन भी निश्चित हो चुका था, लेकिन अंग्रेज सरकार भी सोयी नहीं थी। वह यह भी जानती थी कि 10,000 अंग्रेज सिपाहियों का किसी ऐसे तूफान से मुकाबला करना आसान काम नहीं है। सरकार ने इसके लिए खुफिया-विभाग के विश्वासपात्र नौकरों पर भरोसा किया। खुफिया-विभाग जानता था कि क्रांति करने के उद्देश्य से सैकड़ों आदमी विदेशों से आये हैं। लेकिन उनका पता लगाना आसान काम नहीं था। उन्होंने भेद जानने के लिए अपने बहुत-से गोइन्दे छोड़े, मगर सफलता नहीं मिली। अन्त में वह क्रान्तिकारियों में से एक को खरीदने में सफल हुए। कृपालसिंह अमेरिका में रह चुका था। वह क्रान्तिकारी आन्दोलन में काम करनेवाले कर्मियों के दोषों को जानता था। खुफिया विभाग ने उसे अपना बनाया। पहले के सम्बन्ध के कारण वह बड़ी जल्दी ही क्रान्तिकारी नेताओं का विश्वासपात्र बन गया। क्रांति आरम्भ करने की सारी योजना बन गई और संदेशवाहक भिन्न-भिन्न केन्द्रों के लिए छूटनेवाले थे कि कृपालसिंह को इसका पता लग गया। वह तुरन्त अपने मालिकों के पास दौड़ गया। सरकार को 24 घंटे पहले खबर लग गयी और

उसके लिए इतना समय काफी था। सरकारी सारी मशीन फौरन चालू हो गयी। जितने भी कर्मठ क्रांतिकारी थे, वे सब पकड़ जेल में डाल दिये गये। क्रांति की लहर उठने से पहिले ही दबा दी गयी। कितने ही सिपाही तैयारी करते पकड़े गये और उन्हें गोली का शिकार होना पड़ा, लेकिन किसी ने उन्हें कभी याद नहीं किया और न उनके लिए कभी आँसू की एक बूँद ही गिरायी।

सुपरिन्टेण्डेन्ट-पुलिस को जैसे ही खबर मिली, वह बहुत तड़के ही पृथ्वीसिंह की सेल में पहुँचा। उसने कहा, "पृथ्वीसिंह, अब तुम्हारे लिए कोई आशा नहीं। जिन साथियों पर तुम आशा बाँधे थे उन सबको हम हथिया चुके। अगर तुम अपनी जान बचाना चाहते हो, अब भी समय है।"

लेकिन पृथ्वीसिंह ऐसे कच्चे आदमी थोड़े ही थे। सुपरिन्टेण्डेन्ट कितने ही दिनों तक पीछे पड़ा रहा। कभी कहता, "देखो, हम तुम्हारे ही फायदे के लिए कहते हैं। हम एक नौजवान की जिन्दगी बरबाद नहीं करना चाहते। आज रात सोचो और किसी निश्चय पर पहुँचना और कल सबेरे हम फिर आएँगे।" दूसरे दिन फिर वह पहुँचा और कहने लगा, "तुम एक बहुत बड़े साहसी नौजवान हो। तुम राजपूत हो, तुम्हारे खानदान में सैनिक भाव चला आया है। हम सेना में तुमको एक अच्छा दर्जा देने का वचन देते हैं। तुम क्यों नहीं तैयार होते !"

पृथ्वीसिंह ने बड़ी शान्ति के साथ कहा, "मैं तैयार हूँ, युद्ध-क्षेत्र में अपनी राजपूती बहादुरी दिखलाने के लिए बहुत उत्सुक हूँ। मैं एक तेज निशानेबाज हूँ और उसमें अपनी दक्षता दिखला सकता हूँ। मैं तैयार हूँ, आप मुझे मोर्चे पर भेज दीजिए।"

अफसर बहुत चिड़चिड़ा गया। उसने जाते हुए कहा, "अच्छा, तो तुम इसका फल जिन्दगी-भर भोगोगे।"

लाहौर षड्यंत्र जेल में

लाहौर में पुलिस को जिस षड्यंत्र का पता चला था, उसमें 85 आदमियों का नाम था, लेकिन गिरफ्तार सिर्फ 65 हो सके थे। इन 65 में से 9 सरकारी गवाह बन गये थे और उन्होंने अमेरिका में पृथ्वीसिंह क्या-क्या करते थे, यह सब बतला दिया था। बंगाल की सी. आई. डी. के सुपरिन्टेण्डेन्ट और भारत सरकार के भेदिया-विभाग के सर्वोच्च अफसर सारी बातों के लिए पृथ्वीसिंह के पास पहुँचे। जेलर ने दोनों अफसरों से परिचय कराया ! पृथ्वीसिंह को अभी यह पता नहीं था कि गिरफ्तारियों की इतनी अधिक संख्या है और इतने आदमियों ने पुलिस को सारा भेद बतला दिया। अफसर बहुत मीठी-मीठी बातें कर रहे थे। उन्होंने तरह-तरह के प्रलोभन दिये। पृथ्वीसिंह को तल-विचल न देखकर उन्होंने कहा, "अच्छा, अगर तुम बेकसूर हो, तो अपनी सारी कहानी सुनाओ। क्यों अमेरिका गये और कैसे गये ? तुम वहाँ क्या करते रहे और वहाँ तुम्हारे कौन-कौन सहकारी थे ?" इत्यादि-इत्यादि। पृथ्वीसिंह को अभी यह न मालूम था कि सरकारी गवाह उनके खिलाफ अपना बयान दे चुके हैं। उन्होंने अपनी कहानी लिखानी शुरू की। सी. आई. डी. अफसर 2 घंटा नोट लेते रहे। अंत में जाते वक्त उन्होंने कहा, "तुमने अच्छी कुत्ते-बिल्ली की कहानी सुनायी। हम तुम्हारे बारे में सब कुछ जानते हैं। अब अपने बारे में तुम खुद फैसला करो।" दूसरे दिन वह फिर पहुँचे। उन्होंने सवालों की झड़ी लगा दी। दोनों ही सिद्धहस्त अफसर थे और हजारों क्रान्तिकारियों का उन्हें तजर्बा था। पृथ्वीसिंह ने सोचा, सवालों के जवाब देने में शायद वह अपने मतलब की कोई बात निकाल लें। पृथ्वीसिंह ने एक 'नहीं' को अपनी ढाल बनाया। उनका ज़वाब होता-"मैं नहीं जानता, महाशय, मुझे नहीं याद है महाशय ! मैंने कभी नहीं देखा महाशय !" अफसर चुपचाप चले गये। पृथ्वीसिंह ने संतोष की साँस ली।

20 सेर आटा पीस डालना उस खराब चक्की में भी मुश्किल नहीं था। जेल की दूसरी यातनाएँ भी सह्य थीं, लेकिन पृथ्वीसिंह उन काइयाँ अफसरों के सवालों को सुनने के लिए तैयार नहीं थे। वह मना रहे थे कि वह फिर न आयें लेकिन देखा, दूसरे दिन सबेरे उसी समय फिर दोनों हाजिर थे। उन्होंने कहा, "हम यह तुम्हें आखिरी मौका देने आये हैं। कहो जो कुछ कहना हो। अगर तुम हमारी बात मानोगे, तो हम तुम्हें अभी छुड़वा देंगे, नहीं तो जिन्दगी-भर चक्की पीसनी होगी। हो सकता है, फाँसी के तख्ते पर झूलना पड़े।"

पृथ्वीसिंह पहले से ही जवाब के लिए तैयार थे। उन्होंने कहा, "बहुत अच्छा महाशय, लेकिन मैं भाग्य में विश्वास करता हूँ। जो भाग्य में लिखा है, उसे कोई नहीं मिटा सकता। जिन्दगी-भर चक्की चलाना बदा हो, कोई बात नहीं। अच्छी बात है, अगर किस्मत में फाँसी बदी हो, तो उसके लिए भी मेरे पास काफी हिम्मत है। आपकी मेहरबानी के लिए मैं बहुत कृतज्ञ हूँ ! अब मेरी यही प्रार्थना है कि आप मुझे मेरे भाग्य पर छोड़ दें।" अफसरों ने अब उनका पिण्ड छोड़ दिया।

लाहौर जेल में

जिस वक्त पृथ्वीसिंह अम्बाला जेल में अग्नि परीक्षा दे रहे थे, उसी समय लाहौर में एक भीषण नाटक की तैयारी हो रही थी। भिन्न-भिन्न जेलों में बन्द क्रांतिकारी लाहौर लाये गये। 1915 के मार्च का महीना था। पृथ्वीसिंह भी अम्बाला से लाहौर पहुँचाये गये। जिस वक्त वह ट्रेन से लाये जा रहे थे, संयोग से उसी ट्रेन से उनके पिता उन्हीं के मुकदमें की अपील के लिए लाहौर जा रहे थे। 60 ही दिन पहले चौधरी शादीराम के सिर का एक भी बाल सफेद नहीं था, यद्यपि उनकी उम्र 50 से ऊपर थी। लेकिन अब पृथ्वीसिंह ने उन्हें एक दूसरी शक्ल में देखा। उनके सारे बाल सफेद हो गये थे और कमर झुक गयी थी। यद्यपि अपने 23 साल के पहलौते पुत्र के पैरों में उन्हें भारी बेड़ियाँ दिखीं, लेकिन उन्होंने अपने को सँभाला। उन्होंने राष्ट्रीयता की बातें नहीं सुनी थीं और न शिक्षा पाने ही का अवसर पाया था, लेकिन उन्हें अपनी राजपूती का अभिमान था। पृथ्वीसिंह को इससे बहुत संतोष था।

लाहौर सेन्ट्रल जेल के 14 नम्बर वार्ड में उन्हें रक्खा गया। जेलवाले उनके बारे में ज्यादा नहीं जानते थे, इसलिए यहाँ उन्हें अमेरिका से लौटे हुए कितने ही दूसरे साथियों से मिलने का मौका मिला। दूसरे दिन जब वह अपने काम को पूरा करके हिसाब देने गये तो देखा कि बाबा सोहनसिंह (भकना) अपना बिस्तर लिये सेलों की तरफ से आ रहे हैं। पृथ्वीसिंह ने समझ लिया कि महायज्ञ की समिधाएँ इकट्ठा की जा रही हैं। बाबा सोहनसिंह को जहाज पर ही पकड़ लिया गया था। पृथ्वीसिंह पर उनका बहुत स्नेह था। उन्हें दुःख हुआ जब सुना कि पृथ्वीसिंह को हर रोज 20 सेर आटा पीसना पड़ता है। कितनी ही बार वह छिपकर पृथ्वीसिंह के पास पहुँचते और उनकी हिम्मत को दूनी करते। चन्द ही दिनों में सारी सेलें भर गयीं। नम्बर 14 वार्ड में सबसे खतरनाक कैदियों को ही रक्खा जाता था। लोग समझ रहे थे कि कैसा नाटक खेला जानेवाला है। लेकिन 'हम आजादी के लिए जान दे रहे हैं, इससे बढ़कर जिन्दगी की कीमत नहीं मिल सकती' यह सोचकर सभी बड़े प्रसन्न थे। पृथ्वीसिंह की तरह ही पंडित जगतराम को सजा हो चुकी थी, वह भी लाहौर लाये गये। जल्दी ही इन दोनों के कैदीवाले कपड़े ले लिये गये, आटा पीसना बन्द हो गया। अब वह प्रथम लाहौर षड्यंत्र केस के अभियुक्त थे।

पृथ्वीसिंह के वकील लाला दुनीचन्द (अम्बाला) ने चौधरी शादीराम को बतला दिया कि पृथ्वीसिंह को लाहौर षड्यंत्र केस में शामिल कर लिया गया है। वह फिर एक बार अपने पुत्र से मिलने लाहौर जेल में गये। पृथ्वीसिंह को पिता के धैर्य को देखकर संतोष हुआ। उन्होंने समझाया, "मेरे ऊपर जैसे संगीन जुर्म लगाये गये हैं, उनसे अब आप यही समझिए कि आपका बेटा मर चुका। मैं आपकी कोई सेवा नहीं कर पाया, इसके लिए आप मुझे क्षमा करेंगे और अब आपके यहाँ रहने में कोई फायदा नहीं, आप बर्मा चले जाइए।"

अदालत और अभियुक्त

1857 के बाद वह अपने ढंग का पहिला मुकदमा था, जिसमें इतने अधिक आदमी गदर के जुर्म में फँसे थे। जेल की एक बड़ी बैरक को एक बहुत ही बड़ा हाल बना दिया गया था, एक ओर ऊँचा चौतरा या प्लेटफार्म तैयार किया गया था, जिस पर विशेष अदालत (स्पेशल ट्रिब्यूनल) के तीनों जजों के बैठने की जगह थी। दाहिनी ओर सरकारी अफसरों के बैठने की जगह थी और बायीं ओर कैदियों का कटघरा था। तीनों जजों में दो अंग्रेज और एक हिन्दुस्तानी (शिवनारायण शर्मा) थे। तीनों की सहायता के लिए सी. आई. डी. के बड़े-बड़े होशियार

अफसर और सरकारी वकील तथा फौजदारी के प्रसिद्ध बैरिस्टर मिस्टर पेटनम् थे। 65 हिन्दुस्तानी अभियुक्तों के मुकदमे के लिए 7 वकील रखे गये थे, जिनमें एक को छोड़कर बाकी सभी ने अभी काला चोगा पहिना था। कुछ तो शायद यहीं पहिली बार अदालत के सामने आये थे। मार्च में एक दिन सबेरे सभी अभियुक्तों को उनकी सेलों से निकालकर हाथों में हथकड़ियाँ लगा दी गयीं और फिर सिपाही उन्हें अदालत की बैरक की ओर ले चले। सभी बड़े प्रसन्न थे, क्योंकि सब एक ही साथ आखिरी घड़ी मौत का मुकाबला करेंगे। उनके खिलाफ अभियोग था कि उन्होंने इंग्लैंड के राजा और भारत के सम्राट के खिलाफ युद्ध करने के लिए षड्यंत्र किया। अभियोग गलत था, क्योंकि उन्होंने छिपकर कोई षड्यंत्र नहीं किया; उन्होंने डंके की चोट से घोषित किया था कि हम ऐसे शासन को कभी नहीं बर्दाश्त कर सकते जिसमें हमारे देशवासियों के साथ 'कोमागातामारू' वाला बर्ताव किया जा सके।

65 अभियुक्तों में मुश्किल-से एक दर्जन ऐसे थे जो अंग्रेजी काफी समझ सकते थे। सिर्फ वे ही कचहरी की कार्रवाई को समझ सकते थे। बाबा सोहनसिंह, पं. जगतराम, कर्तारसिंह, पिंगले, केदारनाथ सहगल, भाई परमानन्द और थोड़े से और लोग ही अदालत में क्या बातचीत हो रही है और उनके भाग्य के साथ क्या खेल खेला जा रहा है, समझ सकते थे। सभी की उसमें कोई दिलचस्पी न थी। अभियुक्त इतने उदासीन थे कि ट्रिब्यूनल के प्रेसिडेण्ट को घंटी बजाकर उनके ध्यान को आकर्षित करना पड़ता। कितनी ही बार घंटी बजाने पर भी वे ध्यान न देते थे। फिर जज गुस्सा हो उठते, जिस पर सभी ठहाका लगाने लगते। नौ सरकारी गवाह उनके खिलाफ गवाही देने के लिए खड़े थे, जिसमें से नौवाँ दो महीने तक उनके साथ रहने के बाद सरकारी गवाह बना था। इन 65 आदमियों में कई ऐसे थे जिनका क्रान्तिकारी कामों से कोई सम्बन्ध नहीं रहा था, मगर जोश में आकर बह गये थे। कितने ऐसे थे जिनकी सहानुभूति-भर रही थी और इससे आगे उन्होंने कुछ नहीं किया था। सारे कटघरे में सिर्फ 3 ही ऐसे थे जो कि गदर पार्टी के आजन्म सदस्य थे और जिनका सारा समय उसी के लिए अर्पित था। 15 सदस्य पुलिस के हाथ नहीं आये थे। वे बहुत जवाबदेह मेम्बर थे।

1914 में अभी असहयोग की हवा नहीं बही थी, इसलिए अदालत की सारी कार्रवाई के पूर्णतया बायकाट का सवाल नहीं था। वे मुकदमे की कार्रवाई में जो कुछ भी भाग लेते थे वह सिर्फ इसी ख्याल से कि अंग्रेज सरकार उनके अपराध को सिद्ध नहीं कर सकती। मौत की उनको परवाह नहीं थी, उनको अगर परवाह थी तो यही कि हिन्दुस्तान की शान रहे। उन्होंने सोचा कि मरना तो है ही, फिर क्रान्ति के उद्देश्य और सन्देश को अपने सीने में छिपाये क्यों मरा जाए। अन्त में यह तै हुआ कि पार्टी के 6 सदस्य खुले तौर से सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लें। पृथ्वीसिंह, यद्यपि उमर में बहुत छोटे (23 साल के) थे, किन्तु उन्हें गर्व हुआ कि सात नामों में उनका नाम भी है। उन्हें क्या बयान देना चाहिए, यह भी तै कर लिया गया। 'कोमागातामारू' के हिन्दुस्तानियों पर जो जुल्म ढाये गये, जिससे हिन्दुस्तानियों के दिल में आग लग गयी, किस तरह हिन्दुस्तानी मजदूरों को क्रान्तिकारी संगठन के लिए मजबूर होना पड़ा और किस तरह खुल्लमखुल्ला विद्रोह का झंडा उठाया गया आदि बातें अपने बयान में उन्हें देनी थीं। वह जानते थे कि उनका बयान जेल की बैरक के बाहर नहीं जाने दिया जाएगा, मगर प्रभुताशाली ब्रिटिश सरकार को अपनी बातें वह सुना देना चाहते थे। पत्रों में वही खबर जाने पाती थी, जिसे सरकारी वकील पास करता था। अभियुक्तों के वकीलों को भी वहाँ की कोई बात बाहर कहने की इजाजत नहीं थी। जनता का कोई आदमी अदालत में नहीं आ सकता था। अभियुक्तों के सगे-सम्बन्धियों को भी भीतर आने की इजाजत नहीं दी गई। अभियुक्तों ने लिखकर बयान अदालत में पेश किये। उनमें से एक शब्द भी पत्रों तक नहीं पहुँच सका। किस वीरता के साथ वे अंग्रेजी अदालत का सामना कर रहे हैं, इसकी सराहना करनेवाला कोई नहीं था। पृथ्वीसिंह ने यह जानना चाहा कि सात शहीदों में उन्हें क्यों चुना गया, तो उन्हें इसके सिवा और कोई कारण नहीं मालूम हुआ कि वह एक निर्भय तरुण हैं। उन्होंने इसे अपना भारी सम्मान समझा।

सभी अभियुक्त एक अजब तरह का आनन्द अनुभव कर रहे थे, उनके दिलों में भय का नाम नहीं था। पृथ्वीसिंह बहुत खुश ही नहीं थे, बल्कि कोई भी मौका मिलने पर अपने विरोधियों को चिढ़ाये बिना नहीं रहते

थे। जब वह अदालत के सामने अपना बयान दे रहे थे तो एक जगह उन्होंने कहा, "लाहौर की सड़क पर पंडित जगतराम मिल गये और हम दोनों खूब हँसे," यह कहते वक्त वह खुद हँस रहे थे और पंडित जगतराम भी उसमें शामिल थे। जज ऐसी ढिठाई को देख झुँझलाकर बोला, "तुम क्यों हँस रहे हो ?"

"अमेरिका में हमारे साथी हमें समझाते थे कि तुम्हें हिन्दुस्तानी सी. आई. डी. से हमेशा सावधान रहना होगा, वह बहुत काइयाँ होती है और एक नजर देखकर ही तुम्हारी सारी बातों को जान सकती है।" फिर जगतराम की ओर मुँह करते कहा, "पंडितजी, देखो—यह लोग कितने होशियार हैं। बेचारे सीधे-सादे किसानों को पकड़कर बंद कर दिया और हम लोग मौज से काम करते रहे।"

पृथ्वीसिंह की मजाकिया बातों का आनन्द उनके सभी साथी लेते और किसी-किसी वक्त ठटाकर हँसते हुए ताली पीटते। जज बौखला उठता और शोर बन्द करने के लिए देर तक घण्टी बजाता रहता।

पृथ्वीसिंह और जगतराम जैसे आदमी गदर आश्रम में बराबर काम करते रहे थे और हिन्दुस्तान लौटने पर वे और तत्परता से अपने कामों में लग गये थे। भारी खर्च पर रक्खी गयी जासूसी पुलिस को इनकी हवा तक न लग सकी, अम्बाला में पृथ्वीसिंह और पेशावर में जगतराम के साथ विश्वासघात करनेवाले दूसरे लोग थे। पुलिस इस तरह असफल हो बड़ों के सामने मुँह कैसे दिखलाती, इसलिए कितने ही सीधे-सादे लोगों को पकड़कर उन्हें ही खतरनाक क्रांतिकारी बना दिया। स्वयं पृथ्वीसिंह भी बाद के अपने जीवन में 16 साल तक फरार रहकर काम करते रहे, मगर सी. आई. डी. खाली बगलें झाँकती रही।

एक दिन खुफिया के इंस्पेक्टर जनरल पृथ्वीसिंह के पास आकर बोले, "खूब, एक ही रात में तुम क्रांतिकारी कैसे बने ? अम्बाला में तो सभी बातों से तुम अपने को अन्जान बताते थे।"

"जरूर बतलाता था, क्योंकि वहाँ तुम मुझसे भेद लेना चाहते थे, डरा-धमका और प्रलोभन देकर। वहाँ कुछ भी कहना कायरता और विश्वासघात होता, यहाँ हम भय या प्रलोभन से कुछ नहीं कह रहे हैं। हम खुलकर घोषित करते हैं जिसमें कि हमारे देश-भाई समझें कि हमें अपने देश की स्वतंत्रता प्रिय थी और हमने अपनी जान देकर उसे आजाद करने की कोशिश की।"

यद्यपि अभियुक्तों में बिशनसिंह पहलवान जैसे बड़े तगड़े आदमी थे, जिनके डील-डौल और बल को देखकर विरोधी काँप उठते। उन पर हत्या और डकैती का इलजाम था, लेकिन वह इतने खतरनाक नहीं समझे जाते थे जितने कि पृथ्वीसिंह। इतने दिनों जेल में रहते हुए उन्होंने कोई कसूर नहीं किया और न अपना पूरा काम करने से जी चुराया, तो भी उन्हें सबसे ज्यादा खतरनाक कैदी समझा जाता था। उनके लिए पहले ही से सेल चुन रक्खी गयी थी और हर रात उनकी सेल बदल दी जाती थी। हर रोज लोहे की छड़ों को ठोंक-ठोंककर परीक्षा होती। पहिचान के लिए सफेद रंग से भरी एक हंडिया सेल के सामने रक्खी रहती थी। इतना ही काफी नहीं समझा जाता था और हर दो-दो घंटे पर सिपाही आकर उन्हें खड़ा करता। फिर जोर से चिल्लाकर खबर देता, "ऑल इज वेल" (सब ठीक है) जो सुनने में "ऑल इज हेल्" (सब नरक है) मालूम होता।

गिरफ्तारी के वक्त पृथ्वीसिंह का वजन 160 पौण्ड था, लेकिन पिछली कड़ी मेहनत और यातनाओं से वह 130 पौण्ड रह गया। लाहौर में साथियों के साथ हो जाने पर उनका वजन तेजी से बढ़ने लगा और एक महीने में वह 145 पौण्ड हो गये। फाँसी की सजा सुनते वह 150 पौण्ड तक पहुँच गये।

कितने ही महीनों तक साखी-गवाही और जिरह-बहस चलती रही। 65-65 आदमियों का मुकदमा देखना जजों के लिए खेल नहीं था। अब अपना फैसला लिखने के लिए उन्होंने किसी ठंडे पहाड़ का रास्ता लिया और अभियुक्त जिन्दगी और मौत के बीच में लटकते दो महीने तक अलग-अलग सेलों में बन्द कर दिये गये। ऊपर से जुलाई और अगस्त की लाहौर की गर्मी थी, सेलों में हवा का पता तक न था। अदालत के लिए यह छुट्टी के दिन हो सकते थे, मगर अभियुक्तों के लिए नरक-यातना के दिन थे। फैसला फाँसी का हो सकता था या आजन्म कारावास का। फाँसी की आशा रखनेवाले सबसे ज्यादा खुश थे। पृथ्वीसिंह को भी यह समझने का कोई कारण नहीं मालूम होता था कि उनका नाम फाँसी की सूची से अलग होगा। वह उसी नाव में बैठना चाहते थे, खासकर पंडित जगतराम और कर्तारसिंह से वह अपने भाग्य को अलग नहीं रखना चाहते थे। कर्तारसिंह

की भी वही उम्र थी और पृथ्वीसिंह के लिए वह एक आदर्श पुरुष थे, वह उन्हें पूर्ण पुरुष मालूम होते थे। हिम्मत तो उनमें कूट-कूटकर भरी थी। सातों आदमी शपथपूर्वक अपना बयान दे रहे थे, कर्तारसिंह मौत से दबनेवाले नहीं थे। क्रान्तिकारियों को एक बार पैसे की कमी थीं, पार्टी की नीति के विरुद्ध कुछ को इसके लिए डकैती करनी पड़ी जिसमें एक खून हुआ। कर्तारसिंह ने कहा कि उस डकैती का नेता मैं था और उस खून की जिम्मेदारी सिर्फ मेरे ऊपर है। उन्होंने यह भी कहा कि मैंने अपने एक निरपराध देश-भाई की हत्या की और उसके दंड से बचना नहीं चाहता। जज कर्तारसिंह के चेहरे, हिम्मत और सच्चाई से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। उन्होंने कहा कि कर्तारसिंह ऐसा बयान न दें, मगर कर्तारसिंह तुले हुए थे; उन्होंने फिर उसे ही दोहराया। जजों ने बड़ी हिचकिचाहट के साथ उनके बयान को लिखा।

15 सितम्बर (1915) को पैंसठों अभियुक्तों को सेलों से निकाला गया और अदालत ने फैसला सुनाया। पृथ्वीसिंह और उनके 24 साथियों को फाँसी की सजा सुनायी; 25 को आजन्म काला पानी, बाकी को भिन्न-भिन्न अवधि की सजा दी गयी, 5 को छोड़ दिया गया; मगर जेल के दरवाजे तक पहुँचते-पहुँचते दूसरे अपराध में गिरफ्तार कर लिया गया। फाँसी की सजा पानेवाले सबसे ज्यादा खुश थे। पंडित जगतराम ने इस खुशी को जाहिर करते एक कविता लिखी।

1915 का पंजाब ओडायर-शाही के नीचे पिसता पंजाब था। किसी की हिम्मत नहीं थी कि इस सजा के विरुद्ध कुछ लिखता या बोलता। पीछे पता लगा कि सरदार सुन्दरसिंह मजीठिया ने सिक्खों की सभा की और उसमें सिक्खों से बड़ी जोरदार अपील की कि आप लोग सरकार से प्रार्थना करें कि इन दुष्टों को फाँसी चढ़ाने में जरा भी देर न की जाये, क्योंकि इन्होंने सिक्खों के नाम को बट्टा लगाया। इस तरह की खबरें (अफवाहें) अकसर उठा करती थीं, लेकिन उसमें कितना सच है, कितना झूठ है, यह कौन कह सकता था। जिन 25 आदमियों को फाँसी की सजा हुई थी, उनमें 3 ही ऐसे थे जो एक खून में शामिल थे, 15 तो सीधे जहाज पर ही पकड़ लिये गये थे और सरकार ने उन्हें जेलों में बन्द रक्खा था। उनका अपराध यही था कि अमेरिका के स्वतन्त्र वातावरण में उन्होंने निश्चय किया था कि देश के कंधे से विदेशी जुए को हमें निकाल फेंकना है।

6
कालापानी

ट्रिब्यूनल के फैसले की अपील नहीं हो सकती थी। दूसरे ही दिन सभी फाँसी पर चढ़नेवाले थे। आखिर देर का कोई कारण नहीं मालूम होता था। जेल की खबरों से मालूम होता था कि एक-एक बार पाँच-पाँच आदमी तख्ते पर लटकाये जायेंगे। पृथ्वीसिंह के पास के पाँच साथी बड़ी गम्भीरता से बहस कर रहे थे कि देखें, वे कौन पाँच भाग्यवान हैं जो पहले तख्ते पर पैर रखेंगे। सभी अपने पक्ष में कारण दे रहे थे। लेकिन मृत्यु का नेता कौन बनेगा, इसका निश्चय उनके हाथों में नहीं था। सबेरे चार बजे हर सेल के दरवाजे पर पानी की बालटी रक्खी गयी। इसका अर्थ था, तैयार हो जाओ। सबने छड़ों के भीतर से हाथ डाला। छोटे बर्तनों में पानी ले के स्नान किया। फिर फर्श को धोया और आखिरी पूजा-प्रार्थना में लग गये। पूजा के बाद वे सिपाहियों के आने का इंतिजार करने लगे। लेकिन वहाँ किसी का पता नहीं था। घंटे बीतते गये, लेकिन कोई खबर नहीं। कोई कहता, शायद सरकार ने फाँसी देने का ख्याल छोड़ दिया। अब वह पचीसों आदमियों को लाहौर के किसी चौक पर ले जायेगी और लोगों के सामने रस्सी से लटका देगी। शाम तक इसी तरह इंतिजार में बीता, कोई खबर नहीं मिली।

दूसरे दिन सबेरे जेल का अंग्रेज सुपरिन्टेण्डेन्ट फाँसीवालों के पास आया। लोग समझ रहे थे कि वह

फाँसी का समय बताने आया है; लेकिन लोगों को आश्चर्य और क्षोभ हुआ, जब उनसे कहा कि तुम वायसराय के पास क्षमा-प्रार्थना कर सकते हो। क्षमा-प्रार्थना, प्राणों की भीख ! अपने क्रान्तिकारी जीवन की संध्या में शहीदों का यह काम ! पृथ्वीसिंह और उनके साथियों ने घृणापूर्वक इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। सुपरिन्टेण्डेन्ट बहुत तरह से समझाने लगा, लेकिन कोई इसके लिए तैयार नहीं हुआ। जिनसे लड़ना, उन्हीं से क्षमा माँगना ! सब तरह असफल हो उसने अभियुक्तों के वकीलों से क्षमा-प्रार्थना के लिए लिखने को कहा। उन्होंने तरह-तरह से समझाया और जीवन में दुबारा अवसर की बात कही। उधर उड़ती खबर मिली कि बाहर से क्रान्तिकारी जेल पर हमला करके उन्हें छुड़ाने की बड़ी तैयारी कर रहे हैं। आखिर सब लोगों ने आखिरी अपील पर दस्तखत कर दिये। कर्तारसिंह ने किये या नहीं, यह मालूम नहीं। अभियुक्तों को न एक दूसरे से सलाह लेने का मौका दिया गया, न खुद अपनी अपील आप लिखने का। पृथ्वीसिंह ने इस शर्त पर अपील भेजना कबूल किया कि मैं खुद उसे लिखूँगा और उसमें एक भी शब्द घटाना-बढ़ाना नहीं होगा। अपील कुछ इस प्रकार की थी–

"मैंने जो कुछ भी किया, उसके परिणाम को खूब सोच-समझकर ही वैसा किया। मैं यह भी समझता हूँ कि मैंने जो कुछ भी किया, वह सभ्य समाज के खिलाफ कोई ऐसा अपराध न था, जिसके लिए मुझे फाँसी दी जा रही है। मैंने अपने देश की आजादी से प्रेम किया और मैं उसे विदेशी गुलामी से मुक्त कराना चाहता था। अगर अपने देश से प्रेम करना ऐसा कसूर है जिसके लिए आदमी को फाँसी पर चढ़ाया जाय, तो मेरी यही प्रार्थना है कि बिना देर किये तुरन्त उसकी आज्ञा दी जाय।"

पृथ्वीसिंह यह नहीं चाहते थे कि कोई दूसरा उनकी तरफ से अपने मन की अपील लिखे और फिर अंग्रेज सरकार दुनिया में घोषित करती फिरे कि हिन्दुस्तानी क्रान्तिकारी फाँसी से डरते हैं और क्षमा के लिए गिड़गिड़ाते हैं।

सुपरिन्टेण्डेन्ट ने जब अपील देखी तो वह पृथ्वीसिंह के पास आया–"पृथ्वीसिंह, यह तुम्हारी अपील है ? इसे तुम अपील कहते हो ?" मुस्कराते हुए पृथ्वीसिंह ने नम्रतापूर्वक जवाब दिया, "हाँ साहब, यदि आपको पसन्द नहीं है तो न भेजिये। अगर आप मेरे दस्तखत से भेजना चाहते हैं, तो उसमें एक शब्द को घटना-बढ़ाना नहीं होगा।"

सुपरिन्टेण्डेन्ट बड़ा नर्म दिल आदमी था। एक संस्कृत नवयुवक को इस भोली उमर में फाँसी पर भेजे जाते देखकर उसका हृदय विचलित हो गया। नहीं मालूम वह अपील भेजी गयी या नहीं।

आज-कल करते हफ्ता बीत गया, लेकिन कोई खबर नहीं। उनके लिए दिन शताब्दियाँ बन रहे थे। मौत का डर पहिले ही दिल से निकल चुका था। अब तो दिन काटने की बेकरारी थी। आगे के लिए उन्हें सोचने के लिए भी ज़रूरत नहीं थी, क्योंकि उनका बही-खाता तो बन्द हो चुका था। पढ़ने के लिए कोई वैसी पुस्तक भी नहीं थी। सभी आवागमन के माननेवाले थे, इसलिए समझते थे कि अब सोचना दूसरे जन्म में होगा, जब यहाँ फिर जन्मभूमि का उद्धार करने के लिए आयेंगे।

वह मरना चाहते थे, लेकिन मौत अभी रास्ते में है कहाँ, इसका पता नहीं था।

आखिर में 21 मई (1915) के दिन सुपरिन्टेण्डेन्ट उनके सेल के द्वार पर आकर खड़ा हुआ। उसके हाथ में एक कागज का टुकड़ा था। उसने एक-एक का नाम पुकारा, बारी-बारी से उन्हें सेल से बाहर निकाला गया, बेड़ियाँ काट दी गयीं और जेल के दूसरे वार्ड में ले जाया गया। पृथ्वीसिंह और उनके साथियों को सुपरिन्टेण्डेन्ट ने जीवित रहने का अधिकार पाने के लिए बधाई दी। उन्हें यह नहीं मालूम कि कौन पीछे छूट गये। नयी सेलों में अब वे जीने के लिए बन्द किये गये थे, इसलिए उनकी खुशी का ठिकाना न था। धीरे-धीरे उन्होंने जानने की कोशिश की कि कौन पीछे छूट गये। जब उन्हें मालूम हुआ कि अट्ठारह आदमी यहाँ लाये गये, तो सात आदमियों के पीछे छूट जाने से उनकी सारी खुशी गायब हो गयी। उनका दिल फटने लगा, जब एक-एक करके नाम मालूम हुआ : (1) कर्तारसिंह सराभा (आयु बीस साल); (2) बी. जी. पिंगले; (3) जगतसिंह मुरसिंग; (4) हरनामसिंह; (5) सरणसिंह (अमृतसर); (6) बख्शीसिंह और (7) पंडित काशीराम। कर्तारसिंह पृथ्वीसिंह के

समवयस्क थे, गदर आश्रम में दोनों साथ रहे थे, साथ काम किया था। उनके दिल में कर्तारसिंह को शहादत का जाम पीते देख ईर्ष्या हुई और अपने लिए अफसोस ! पिंगले एक सुन्दर महाराष्ट्री तरुण था। उसकी बुद्धि बहुत तीखी थी, लेकिन उसमें बनावट का नाम न था। कर्तारसिंह फाँसी पर चढ़ेगा, यह सुनकर सारे जेल पर शोक छा गया। उसके साथी ही नहीं, जेल के साधारण कैदी तक उसकी ओर आकृष्ट हुए थे। यदि कर्तार-सिंह के छुड़ाने की कोई भी सुगबुगाहट होती, तो जेल के साधारण कैदी तक उसमें शामिल हो जाते। पंडित जगतराम ने उस वक्त एक कविता लिखी थी, जिसकी कुछ पंक्तियाँ थीं–

> "सन उन्नीस सौ बहत्तर माह मगहर दूसरी;
> गदर की पलटन का दस्ता मुक्ति को जाता है आज;
> है जगाया हिन्द को कर्तार तेरी मौत ने;
> कसम हर हिन्दी तेरे ही खून की खाता है आज !"

सात शहीदों के खून के साथ पहला नाटक खत्म हुआ।

अंडमान की राह में

कुछ दिनों बाद पृथ्वीसिंह और उनके कितने ही साथियों के पैरों में फिर भारी बेड़ी डाल चौदह नम्बर में भेज दिया गया। उनमें से दो-दो के एक-एक हाथ में हथकड़ी थी। सूर्यास्त के बाद उन्हें फौजी लारी में बन्द किया गया और अंग्रेज सैनिकों के पहरे में मुगलपुरा स्टेशन पर एक अलग खड़े डिब्बे में डाल दिया गया। डिब्बा डाकगाड़ी से जोड़ दिया गया और वह एक अज्ञात दिशा की ओर चल पड़े। पूरे 60 घंटे उन्हें बैठे ही बिताने पड़े। पाखाना जाते वक्त भी हथकड़ियाँ वैसे ही पड़ी रहती थीं। लेकिन जो फाँसी और मौत से जरा भी विचलित नहीं हुए थे, वे हृदय अब भी वैसे ही निर्भय थे। स्टेशन पर जब गाड़ी खड़ी होती तो अठारहों जने कोई क्रान्तिकारी गीत गाने लगते। लोग उसे सुनने के लिए खड़े हो जाते। बन्दूक देखकर किसी को पास आने की हिम्मत नहीं होती, लेकिन वे एक दूसरे से इनके बारे में पूछते और तरह-तरह का कयास दौड़ाते।

शाम को गाड़ी हावड़ा स्टेशन पर पहुँची। पुलिस के कड़े पहरे में घोड़ागाड़ियों में बैठाकर उन्हें अलीपुर सेन्ट्रल जेल में पहुँचाया गया और अलग-अलग सेलों में बन्द कर दिया गया। शायद दूसरा दिन था, सुपरिन्टेण्डेन्ट आनेवाला था। कैदी जमादार और सिपाही ने आकर उन्हें सिखलाया कि किस तरह सुपरिन्टेण्डेन्ट के आते वक्त जमादार "सरकार, सलाम !" बोलेगा, फिर सब लोगों को दोनों हथेलियों को दिखाते कंधे से मिलाते हाथ को खड़ा रखना होगा, मुँह से जीभ निकालनी होगी। जेल के बड़े जमादार ने भी सभी बातें सिखायीं–पढ़ायीं।

"सरकार !" की आवाज सुनायी दी। कैदी ने पृथ्वीसिंह को खड़ा कर दिया। सिपाही ने आकर देखा कि पृथ्वीसिंह सीधे-सादे खड़े हैं। उसने गुस्से में आकर कहा, "ऐसे नहीं, ऐसे" और ढंग बतलाते हुए खड़ा हो गया। लेकिन फिर वही बात। बड़े जमादार ने देखा, वह बहुत गुस्सा हुआ और बोला, "हूँ, तुम नहीं जानता, ऐसा खड़ा है !" पृथ्वीसिंह ने हँसते हुए कहा, "बहुत अच्छा।" अब जेलर के साथ सुपरिन्टेण्डेन्ट पहुँचा। पृथ्वीसिंह सीधे तौर से खड़े थे और उनकी आँखें सुपरिन्टेण्डेन्ट के चेहरे पर गड़ी थीं। उसने भाँप लिया और बिना कुछ कहे अपना रास्ता लिया। पीछे पृथ्वीसिंह को मालूम हुआ कि उनके सभी साथियों ने वैसा ही किया था। दूसरे दिन उन्हें बेंत मारने की धमकी दी गयी, लेकिन कोई वैसे अपमानजनक रूप में खड़ा होने के लिए तैयार नहीं था। जेलवाले उतावले हो रहे थे कि किसी तरह यह बला टले, लेकिन अंडमान ले जानेवाला 'महाराजा' जहाज के आने में देर थी।

आखिर जहाज आया, अठारहों आदमियों को जहाज पर पहुँचाया गया। उन्हें कोठरियों या दड़बों में बन्द कर दिया गया, जिनके गोल-गोल छेदों से वे कलकत्ते को देख रहे थे। मन उदास था, क्योंकि क्या आशा थी कि वे जीते जी फिर अपनी मातृभूमि को देख सकेंगे। अब वे भविष्य के बारे में सोचने लगे। फाँसी की अपेक्षा यह कहीं मुश्किल था। फाँसी की तो कुछ मिनटों की बात थी, लेकिन अब था 20 साल अंडमान में

रहना। कैसे यह साल कटेंगे ? जहाज में कुछ मामूली कैदी भी थे, जिसमें कुछ अंडमान देख चुके थे। उन्होंने वहाँ की भयंकर यातना की कहानी सुनायी। मालूम हुआ, अंडमान धरती पर नरक है। लेकिन पृथ्वीसिंह अटारह आदमी थे, सभी निर्भय, सभी बहादुर, सभी एक राय, सभी एक आदर्शवाले; इसलिए उन्हें अपने पर पूर्ण विश्वास था। यदि अंडमान नरक है तो हम भी उस यातना को वर्दाश्त करनेवाले नहीं हैं। चौथे दिन पोर्टब्लेयर और उसकी सुन्दर हरियाली आँखों के सामने आयी। जहाज किनारे लगा। अठारहों जने जेल के फाटक पर पहुँचे। फाटक के भीतर घुसते ही जेलर बारी ने ठठाकर हँसते हुए उनका स्वागत किया; फिर उसने जोर से कहा, "राज लेनेवाला लोग राज माँगता, राज। राज नई कोलू डेगा।" पृथ्वीसिंह और उनके साथियों को ताज्जुब नहीं हुआ, क्योंकि वे पहिले ही बहुत-सी बातें सुन चके थे। अठारहों जनों ने भी अव जवरदस्त टहाका लगाया। बारी का मुँह गुस्से से लाल हो गया। वह अंडमान का सुल्तान था। सारा द्वीप उससे थर-थर काँपता था। उसके सामने ये नवागन्तुक कैदी ऐसी शेखी दिखलायें। जेल में सात ब्लाक और सात सौ चालीस सेल की कोठरियाँ थीं। अठारहों आदमियों को दो-दो तीन-तीन की टोलियों में वाँटा दिया गया। पुराने कपड़ों को लेकर उनको नये कपड़े दिये गये। यह कष्ट की बात थी, क्योंकि वे नंगे पैर चलने के आदी न थे और आँगन की कंकड़ियाँ चुभती थीं। पृथ्वीसिंह को दो नम्बर के ब्लाक में रखा गया! जब वह वहाँ पहुँचे तो शाम के भोजन का वक्त था। 100 के करीब कैदी दो पंक्तियों में बैठे थे। एक पाँति में थे हिन्दू, दूसरी में थे मुसलमान और बरमी परोसनेवाले बिजली की चाल से चल रहे थे। चावल, दो चपाती, भाजी और दाल फेंकते जाते थे। यदि आदमी सावधान न रहता तो खाना बर्तन में नहीं, जमीन में पड़ता, फिर चाहे वह जमीन से वटोरकर खाता, चाहे भूखा रहता।

पृथ्वीसिंह को खाना शुरू किए दो-चार ही मिनट हुए थे, कि खड़े होने का हुक्म हुआ। उन्हें जल्दी खाने की आदत नहीं थी। पंजाब में खाना अपनी सेल में मिलता था और वह इत्मीनान से धीरे-धीरे खाते थे। उन्हें भूखे उठना पड़ा। दो बर्तनों में से एक में पानी भरकर सेल में ले जाने का हुक्म हुआ और दूसरे को दरवाजे से बाहर रख देना पड़ा। कड़कती हुई आवाज में हुक्म हुआ, "जोड़ी-जोड़ी बैठ जाओ।" बोलने-चालने की सख्त मनाही थी। राजनीतिक बन्दी दूसरे कैदियों के साथ बैठने के आदी न थे। फिर दूसरा हुक्म हुआ, "कपड़ा निकालो।"

कैदियों के पास दो ही कपड़े थे–एक अधबहियाँ कुर्ता और एक जाँघिया। कैदी वार्डर ने दोनों को खूब टटोल-टटोलकर देखा। फिर हुक्म हुआ, "कपड़ा उठाओ, बैठ जाओ।"

पृथ्वीसिंह की सेल कोठे पर थी। ज्यादा खतरनाक कैदियों को ऐसी सेलों में रक्खा जाता था, लेकिन पृथ्वीसिंह इससे खुश थे। छड़ों के भीतर से वे हरे पहाड़ों को देख सकते थे। नीले आसमान का कितना ही भाग और चमकते सितारे भी उनके सामने झिलमिलाते थे। सेल के भीतर एक कम्बल था, जिसे चाहे ओढ़ो चाहे बिछाओ। पेशाब-पाखाने के लिए पास में एक मिट्टी का बर्तन था जो बहुत छोटा था।

सबेरे सेल से निकलते ही फिर जोड़ी-जोड़ी बैठने का हुक्म होता और चन्द ही मिनटों बाद भात मिला मांड (काँजी) आ जाता। यदि वे पाखाने जाना या मुँह-हाथ धोना चाहते तो काँजी से महरूम रहना पड़ता। काँजी लेते ही सीधे काम की ओर दौड़ना पड़ता। काँजी लेते ही पृथ्वीसिंह को नीचेवाली सेल में जाना पड़ा। वहाँ नारियल के कुछ खोल, एक मोटा डंडा और लकड़ी का टुकड़ा पड़ा था। डंडे से पीट-पीटकर खोल से रेशे को अलग करना था। उन्होंने समझा, बहुत आसान काम है। सूखे खोल का कूटना आसान काम नहीं था और कितनी ही बार लकड़ी उछलकर सिर पर आती थी। 20 सेर आटा पीस डालना आसान था लेकिन यहाँ दोपहर के खाने के वक्त तक वह कूटते रहे, लेकिन अभी बहुत सा काम पड़ा ही हुआ था। सेल में बाहर से ताला बन्द था, इसलिए वह किसी से काम सिखाने के लिए नहीं कह सकते थे। चार बजे शाम तक नौ छटाँक साफ रेशे को खूब अच्छी तरह लपेटकर देना था। वह सारी ताकत लगा रहे थे, अँगुलियाँ और कलाई फूल गयीं, लेकिन काम पूरा करने की कोई उम्मीद नहीं थी। जब दरवाजा दोपहर खाने के लिए खुला तो बाहर बरामदे में कूटते कैदियों से उन्होंने अपनी दिक्कत बतायी। कैदियों ने दिखलाया कि कैसे खोल को पानी

में पहिले भिगो लेने से कूटना आसान हो जाता है। खाने के बाद फिर अपने काम में लगे, लेकिन हाथ जवाब दे रहा था। यद्यपि रेशा परिमाण में कम नहीं था लेकिन वह सूखा, अच्छी तरह झाड़ा तथा सिलसिले से लगाकर बाँधा नहीं था।

अंडमान में उस वक्त अम्बाला जिले का एक मशहूर कैदी चौधरी रहमत अली खाँ भी कैद काट रहा था। वह राजपूत था। जब उसे मालूम हुआ कि मेरे भी जिले का एक दूसरा राजपूत कैदी आया है, तो उसकी सहानुभूति पृथ्वीसिंह के साथ हो गयी। रहमत अली ने आकर पृथ्वीसिंह के मुट्ठे को देखा, समझ लिया कि परिणाम क्या होगा। फिर खूब साफ अच्छी तरह से बँधा नौ छटाँक मुट्ठा उनके हाथों में दे दिया गया। वह उसे लेकर उस जगह गये, जहाँ तौल-तौलकर डिप्टी जेलर कैदी के टिकट पर लिखता था। पृथ्वीसिंह का रेशा-मुट्ठा ठीक और साफ उतरा, डिप्टी जेलर ने मुस्करा दिया। लेकिन अठारह में सभी इतने खुशकिस्मत न थे, पाँच का काम ठीक नहीं समझा गया। उन्हें जेलर बारी के सामने पेश किया गया। शायद बारी के पास उस वक्त समय नहीं था, इसलिए उन्हें चेतावनी देकर छोड़ दिया गया।

संघर्ष का आरम्भ

दूसरे दिन सिर्फ पंडित परमानन्द (झाँसी) की पेशी हुई। बारी आराम से अपनी कुर्सी पर बैठा था। परमानन्द अपने स्वाभाविक, हँसमुख चेहरे के साथ उसके सामने गये। कैदी के चेहरे पर मुस्कराहट ! बारी इसे कैसे बर्दाश्त कर सकता था। बारी आग-बबूला हो गंदी-गंदी गालियाँ देने लगा। लेकिन जीवन की बाजी लगानेवाले कब किसी से डरते हैं। परमानन्द ने भी उसका जवाब दिया। जेलर कड़ककर खड़ा हो गया। चर्बी और मांस से भरा उसका दानव-सा शरीर और परमानन्द उसके सामने बिल्कुल छोटे-से बच्चे ! लेकिन उनके दिमाग ने बतला दिया कि बारी क्या करना चाहता है। बारी का हाथ अभी परमानन्द तक पहुँचे ही पहुँचे कि उन्होंने जरा-सा पीछे हटकर उसकी निकली हुई तोंद पर ऐसे जोर का मुक्का मारा कि बारी धड़ाम से गिरा। पहिला वार जो करना था, वह हो चुका, फिर इसके कहने की जरूरत नहीं कि लाठियों से मार-मारकर परमानन्द को जमीन पर गिरा दिया गया।

यह ख़बर सारे जेल में तेजी से फैल गयी। "बारी को पीटा, साले को पीटा, शाबास बंबवाला !" कहकर लोग परमानन्द के साहस की सराहना करते थे। परमानन्द को पीटकर सेल में डाल दिया गया।

दूसरे दिन सबेरे सुपरिन्टेण्डेन्ट मेजर मरे हर रोज की तरह देखभाल के लिए आया। वह परमानन्द की सेल में गया, लेकिन शरीर की अवस्था के बारे में कुछ भी पूछे बिना बोल उठा, "कुट्टा का माफक क्या पड़ा है ?" "कुत्ता तुम, कुत्ता तुम्हारा बाप !" कहकर परमानन्द ने जवाब दिया। मरे कुछ भी बोले बिना वहाँ से निकल भागा। दूसरे दिन जब सभी साथी तालों में बन्द नारियल कूटने में लगे थे, उस वक्त परमानन्द को निचली गोमटी में ले गये और हाथ-पैर बाँधकर बीस बेंत मारे गये। परमानन्द से कोई बात नहीं पूछी गयी, डाक्टर से उनकी परीक्षा करायी गयी।

पृथ्वीसिंह और उनके साथियों के लिए वह चुपचाप बर्दाश्त करने की चीज नहीं थी। वे अपमान सहने के लिए नहीं जिन्दा थे। भाई परमानन्द और सावरकर जैसे क्रान्तिकारी भले ही इसे बर्दाश्त कर लें, लेकिन पृथ्वीसिंह के साथियों को कुछ करना था। तुरन्त पोर्टब्लेयर के साथियों के चीफ कमिश्नर को इसकी सूचना दी गयी। वह तुरन्त आया। लोगों ने समझा था कि सी. सी. (चीफ कमिश्नर) में शिक्षा और संस्कृति का कुछ प्रभाव होगा लेकिन उन्होंने देखा कि वह कुछ भी सुनना नहीं चाहता। लोग काम छोड़ बैठे थे और सी. सी. सबसे सिर्फ यही कह रहा था, "काम करो, नहीं तो बेट लगेगा।" जब वह पृथ्वीसिंह की सेल के पास आया, तो जेलर ने कह दिया कि यह थोड़ा अंग्रेजी जानता है। सी. सी. ने कहा "चाल ठीक करो, नहीं तो बेट खाओगे।"

पृथ्वीसिंह ने तुरन्त जवाब दिया—"करो, जो तुम कर सकते हो।"

दूसरे दिन सुपरिन्टेण्डेन्ट पृथ्वीसिंह के और साथियों के पास गया। हर एक के टिकट पर लिख दिया, "छै महीना एकान्तवास, छै महीना डंडा-बेड़ी, बीमार का भोजन, सजावाला भोजन, सात दिन खड़ी हथकड़ी।"

लेकिन ऐसी सजाओं को वे खेल-सा समझते थे। सभी शरीर से बहुत लम्बे-चौड़े और मजबूत थे। एक-दो को छोड़कर बाकी सभी तीन-तीन चार-चार का मुकाबला कर सकते थे। वे ईंट का जवाब पत्थर से देने के लिए तैयार थे। जेलवालों को यह भी पता लगा कि पचीस और क्रान्तिकारी आ रहे हैं। उनकी घबराहट और बढ़ी।

अब पृथ्वीसिंह और उनके साथी सजा के तौर पर सेलों में बन्द थे। दिन में कोई कम्बल या बिछौना नहीं रख सकते थे, पेशाब के लिए कोई बर्तन नहीं था और उन्हें पेशाब-पाखाना रोके रहना पड़ता। यह कैदियों के टिकट पर लिखी हुई सजाओं से भी ज्यादा बुरी थी।

पृथ्वीसिंह के ब्लाक में उनके दो और साथी थे, मगर वे एक दूसरे से मिल नहीं सकते थे और न दूसरा कैदी ही उनके पास जा सकता था। दिन में सेल का ताला सिर्फ तीन बार खुलता था, सवेरे 20 मिनट के लिए पाखाने जाने, हाथ-मुँह धोने आदि के लिए, दोपहर को जल्दी-जल्दी खाना खा सकने के लिए चन्द मिनटों के वास्ते और इसी तरह शाम को भी। उन्हें सबेरे की काँजी नहीं मिलती थी, बाकी वक्त खाना खाने के लिए नहीं, बल्कि जीने के लिए मिलता, जिसमें कि जेलवाले उन पर और अत्याचार कर सकें। दोपहर के वक्त मुट्ठी-भर भात, दाल के नाम पर पीला पानी, और थोड़ी उबली हुई घास, जिसे जेलवाले साग कहते थे। शाम को दो चपातियाँ—आधी कच्ची, आधी जली। और, यह खाना कैसे लोगों को मिल रहा था, जिनमें दो- तीन को छोड़कर सभी पौने छः फुट लम्बे थे, वजन भी 150 पौंड से ज्यादा। प्रायः सभी मिलों, फैक्ट्रियों, खेतों में काम करनेवाले कमकर थे। इस खुराक ने उनके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर डाला और कितने ही जिन्दगी-भर के लिए लुंज हो गये, कितनों का तो हाजमा बिगड़ गया।

आजन्म कालेपानी की सजा पाये 25 और पंजाबी साथी अंडमान पहुँच गये, वे भी आते ही काम न करने की हड़ताल में शामिल हो गये। लेकिन जेल के मालिक जेल के जीवन को नरम करने के लिए तैयार न थे, यह उनके लिए अपमान की बात थी। अंडमान जेल में वैसे ही वार्डरों और जमादारों की कमी नहीं थी, लेकिन नये क्रान्तिकारियों के आने पर वह संख्या काफी नहीं समझी गयी। टापू के बेतार स्टेशन आदि की रक्षा के लिए कुछ अंग्रेज सिपाही वहाँ तैनात थे। उनमें से कद्दावर एक दर्जन जवानों को जेल में लाया गया। बिना अंग्रेज सिपाही के किसी का दरवाजा नहीं खुलता था। पेशाब-पाखाने के रोकने की यातना, बीमारी में दवा-दारू न देने की यातना, प्यासे को पानी से महरूम रखना आदि-आदि तरह-तरह की पीड़ाएँ उन्हें दी जाने लगीं। मरणासन्न व्यक्तियों तक की कोई खोज-खबर न लेता था।

एक दिन पृथ्वीसिंह सख्त बीमार पड़े। रात का वक्त था। उनके पेट में असह्य शूल उठने लगा। ड्यूटी पर के आदमी ने खबर दी, मगर कौन पूछता है। दो घंटे बाद कै-दस्त शुरू हुए। वह अपने को रोक नहीं सकते थे। सबेरे तक सारी सेल मैले की दुर्गन्ध से भर गयी। कोई पहरेवाला पास भी नहीं आ सकता था, फिर बीमारी की खबर दी गयी, पर फिर वही उपेक्षा। उन्होंने बाहर जाकर स्नान किया, किसी कैदी की बतलायी एक जड़ी को खाया, जिससे कुछ फायदा भी हुआ।

जब बारी के पास पूरी रिपोर्ट पहुँची तो उसने कहा, "साला मरा नहीं।" कैदी जमादार को उसने चढ़ा रक्खा था, चाहे जितना तंग करे। नहा लेने के बाद उसने पृथ्वीसिंह को उसी गन्दी सेल में बन्द करने की बात कही, तो बात पृथ्वीसिंह के बर्दाश्त से बाहर की हो गयी, यद्यपि वह कै-दस्त से कमजोर हो गये थे लेकिन उन्होंने अपने सारे बल को समेटकर कहा, "आओ, जिसको मरना है। जो मुझे सेल में ढकेलने आएगा, वह बच नहीं सकता।" पहरेवालों की हिम्मत नहीं हुई। अंग्रेज सिपाही तमाशा देख रहा था और मुस्करा रहा था।

कुछ इसी तरह की बात सरदार बिशनसिंह (पहलवान) के साथ हुई। सरदार बिशनसिंह को एक मैली सेल में जाने के लिए कहा गया, आज बुढ़ापे में भी उनके हाथी जैसे बदन, बड़े पंजे को देखकर आदमी अनुमान कर सकता है कि सरदार अगर बाहर जिन्दगी बिताने पाए होते तो छोटे-मोटे नहीं, पंजाब के बड़े-बड़े पहलवानों में होते। उन्होंने गन्दी सेल में जाने से इन्कार कर दिया। छै फुट लम्बे, 220 पौंड के इस भीम को जबरदस्ती

भीतर ढकेलने के लिए दस आदमी आये। सरदार के शांत चेहरे पर क्रोध झलकने लगा। सरदार ने गरजते हुए कहा, "केड़ा मौत मँगदा ए' (कौन मौत चाहता है), यदि किसी ने आगे पैर बढ़ाया, तो चीरकर दो कर दूँगा।" बिशनसिंह सेल के बाहर खड़े थे, बारी सौ गज के भीतर जाने की हिम्मत नहीं रखता था। कोई आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं था। वे लाठी को भी इस्तेमाल नहीं कर सकते थे क्योंकि जानते थे कि एक लाठी से उसका कुछ होनेवाला नहीं और जहाँ उसने लाठी छीनी कि सबकी मौत है। सब पैर दबाकर भागे। बिशनसिंह ने अपने मन की सेल चुनी, इस तरह की कितनी ही घटनाएँ हुईं। इनकी बहादुरी को देखकर जेल के कैदी सराहना ही नहीं करने लगे, बल्कि वे उनके पक्ष में हो गये। बेचारे बारी की हालत बुरी थी, उसका सारा रोब मिट्टी में मिल रहा था। जब वह जान लेता कि सब लोग ताले के भीतर बन्द हो गये हैं, तो पन्द्रह-बीस आदमियों को लेकर आता और सेल के बाहर खड़ा होकर हिन्दी में खूब गन्दी-गन्दी गालियाँ देता, जिसमें कि दूसरे कैदी सुनकर समझें कि बारी और उसका रोब अब भी जिन्दा है, लेकिन पंजाबी बहादुर एक की दो सुनाते और दूनी आवाज में। दो-तीन दिन बाद वह अकेले चुपके से आता और नर्मी के साथ कहता, "देखो, मैं बाजे वक्त आपे से बाहर हो जाता हूँ, तुम्हें गाली देने लगता हूँ लेकिन तुम्हें कैदियों के सामने मुझे हिन्दुस्तानी में गाली नहीं देना चाहिए और 'कुत्ते का बच्चा' नहीं कहना चाहिए।"

बारी और सुपरिन्टेण्डेन्ट ने पंजाबियों के बारे में जो रिपोर्ट भारत सरकार के पास भेजी थी, उसी को लेकर भारत सरकार ने आत्मसम्मान के लिए मर मिटनेवाले इन क्रांतिकारियों को 'भेड़ियों का झुंड' कहा था।

छै महीने का समय बीत गया, बेड़ियाँ उतार ली गयीं, लोगों ने फिर काम करना शुरू किया लेकिन अब भी उन्हें सेल में अकेले बन्द रखा जाता, पढ़ने के लिए किताबें नहीं दी जातीं। बारी, सुपरिन्टेण्डेन्ट मरे और सी. सी. के जुल्मों की अंडमान में हद न थी, इसीलिए बाबा बिसाखा सिंह जैसे शान्त सन्त पुरुष को भी गाना पड़ा :

"अंडमन् विच सी डाकू तिन्न बड़के।
सी. सी. मरे ते बारी पछाण तिन्नों
रहे खून निचोड़ सी कैदियाँ दा,
एक दूसरे तों बेइमान तिन्नों।।
जो चाँवदे जुलम सीं करे जाँदे,
बेरहम बेतुख्म शैतान तिन्नों।
अक्खी वेख्या, सच 'बसाख' लिखदा,
जाण कैदियाँ दी उत्थे खाण तिन्नों।

यह जुल्म लोगों को सिर्फ शारीरिक और मानसिक कष्ट देने तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि इसमें आठ बहादुरों ने अपने प्राण दिये, जिनके नाम हैं–

(1) केहरसिंह मराण; (2) नन्दनसिंह (बुर्ज); (3) नत्थासिंह (लोरियाँ); (4) बुड्ढासिंह (गुजरात); (5) माङ्सिंह (सनैते); (6) रुलियासिंह सरम; (7) रामरक्खा (जेहसम) और (8) रोडासिंह (लंडे)।

बारी और मरे ने सारे कैदियों की नाक में दम कर रक्खा था। जब उन्होंने देखा कि मौत से खेलकर भी बारी-मरे की नाक में दम करनेवाले आ गये हैं, तो सबकी श्रद्धा उनकी ओर हो गयी। जब कोई अपना छिलका पूरा नहीं कूट पाता, तो दूसरे उसे पूरा कर देते। जेल के कानून के मुताबिक भी इतवार को छुट्टी होनी चाहिए, लेकिन बारी-मरे का अपना कानून था। वे इतवार को भी वार्ड के हातों को साफ करने के लिए कहते। पहरेवाले उनसे बोलते, "बाबू, जाओ उस कोने में घास पर बैठो, यदि कोई आया, तो हम कह देंगे कि घास चुन रहे हैं।" एक कैदी जमादार बारी का विशेष फरमाबरदार था। उसने एक दिन पृथ्वीसिंह के सात साथियों को इतवार के दिन भी पूरा काम करने के लिए कहा। उन्होंने इनकार किया। उन्हें बारी के पास

ले जाया गया; उसने उन्हें मेजर के सामने पेश किया कि ये काम नहीं करते और गुस्ताखी करते हैं। मेजर मरे ने उनके टिकटों पर लिख दिया, "छै महीने का एकान्तवास, बीमारों का खाना, हथकड़ी" आदि।

पृथ्वीसिंह को बहुत बुरा लगा। जब मरे उधर से गुजरा तो उन्होंने सलाम करके कहा, "साहब, हमारे साथियों के साथ अन्याय हो रहा है, उनके मामले आप फिर से देखें।" मरे को कहाँ सुनने की फुर्सत थी। उसने ताना देते हुए कहा, "अन्याय ?" और अर्दली को हुक्म दिया कि इसका टिकट ले लो। शाम को पृथ्वीसिंह ने देखा, तो उनके टिकट पर लिखा हुआ था–"जेल के जवाबदेह अफसरों के खिलाफ बुरी नियत से निराधार इल्जाम लगाना चाहता था।" दूसरे दिन मरे के सामने पेशी हुई और उसने डंडा-बेड़ी और एकान्तवास की सजा दी। एक साल के बाद औरों को सेल से बाहर आने का मौका मिलने लगा, लेकिन पृथ्वीसिंह बीस महीने तक एकान्त कोठरी में ही बन्द रहे। लेकिन उसी के अनुसार जेल के सारे कैदी उनका सम्मान भी करते। हर एक उनकी सहायता करने के लिए तैयार था। कभी-कभी किताबें पढ़ने को मिल जातीं।

बहुत सालों तक पंजाब सरकार अंडमान में कैदी भेजती रही, यद्यपि उनकी संख्या चार-पाँच से ज्यादा कभी नहीं होती थी। सिक्खों के बाल की सफाई, साबुन, मीठे पानी और तेल आदि का कभी ख्याल नहीं किया गया। अब वहाँ चालीस सिक्ख थे। उन्होंने इसके लिए अधिकारियों से प्रार्थना की, मगर वहाँ कौन सुनने के लिए तैयार था। यदि कहीं से एक टुकड़ा पैदा करके कोई साबुन और मीठे पानी से सर धोते देखा जाता, तो उसे सजा होती। तजर्बा से मालूम हुआ कि नारियल की खली से बालों को धोया जा सकता है। उसके लिए मीठे पानी की जरूरत नहीं, समुन्दर का खारा पानी ही काफी है। उन्होंने उसे इस्तेमाल करना शुरू किया, जिस पर उन्हें हथकड़ी-बेड़ी, एकान्त सेल, टाट पहनना, भूखा रहना आदि-आदि सजाएँ भुगतनी पड़ीं। पृथ्वीसिंह स्वयं सिक्ख नहीं थे, उन्होंने कभी केश नहीं रखे थे, लेकिन सिक्खों की लड़ाई से अलग नहीं रहना चाहते थे। दाढ़ी-बाल कुछ बढ़ ही चुके थे। उन्होंने जेलर से कहा, मैं भी सिक्ख हूँ, मैं टोपी नहीं रक्खूँगा, मुझे भी सिर ढकने के लिए कपड़े का टुकड़ा मिलना चाहिए। उन्होंने टोपी पहिनना छोड़ दिया और कुछ दिनों बाद कपड़े के टुकड़े का भी जुगाड़ हो गया।

और कड़ा संघर्ष

बारी क्यों शान्ति से रहने देने लगा ? वह बराबर कोई न कोई छेड़छाड़ करता ही रहता। बंगाल के एक क्रांतिकारी ग्रेजुएट आशुतोष लाहिड़ी जब स्वस्थ थे तो पन्द्रह सेर तेल पेर दिया करते थे, लेकिन अब उनका स्वास्थ्य वैसा न था, इसलिए छिलके को पूरी मात्रा में कूटकर नहीं दे सकते थे। छोटी-मोटी सजाओं के बाद उन्हें बेंत की सजा दी गयी। सारे जेल में सनसनी फैल गयी। इसके बाद बाबा ज्वालासिंह और अमरसिंह को, जो एक ही ब्लाक में रहते थे, एक जगह खड़े देखकर बारी ने मरे के सामने पेशी कर दी। मरे ने उन्हें सजा दे दी। सावरकर, भाई परमानन्द, वीरेन्द्र जैसे राजबन्दी अपने जीवन को शान्तिपूर्वक बिता देना चाहते थे। वे बेंत और अपमान को कड़वे घूँट की तरह पी जाने के लिए तैयार थे; मगर पृथ्वीसिंह और उनके साथी एक दूसरी ही धातु के बने थे। वे बीस-बीस साल तक बारी-मरे के सारे अपमानों को सहने के लिए जेल में नहीं आये थे। लाहिड़ी के बेंत मारे जाने पर जब राजबन्दियों ने कोई कड़ा कदम नहीं उठाया, तो बारी का साहस और बढ़ गया और उससे फिर छेड़-खानी शुरू कर दी। बारी अब ब्लाकों में आने लगा। वह बातें शुरू करता और फिर गालियों पर उतर आता। एक दिन वह पृथ्वीसिंह की सेल के सामने आया और बात करने लगा। पृथ्वीसिंह ने हँसते हुए जवाब दिया। इस पर बारी बोला, "तुम पक्का आदमी है, मुँह पर हँसी रहती है, मगर दिल तुम्हारा साँप जैसा है।"

"हो सकता है जनाब, मेरे हृदय में साँप का हृदय देखते हों, क्योंकि मेरे पास उसे ढाँकने के लिए चर्बी नहीं है। लेकिन तुम्हारे हृदय में क्या है, यह देखना मेरे लिए बहुत मुश्किल है क्योंकि उस पर चर्बी की एक बहुत मोटी तह जमी हुई है और वह भी जिन्दा चर्बी नहीं, मुर्दा की चर्बी।" बारी चुपचाप चला गया।

बाबा भानसिंह साठ साल के बूढ़े क्रांतिकारी थे। एक दिन बारी उधर से गुजरा और अपने स्वभाव के

अनुसार बोल उठा, "देखा, साला राज लेने आया है।" बाबा भानसिंह बड़े शान्त प्रकृति के आदमी थे, लेकिन वे क्रान्तिकारी थे; इस अपमान को चुपचाप बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उन्होंने बारी को मुँहतोड़ जवाब दिया। उस हाते में उनके साथियों में से कोई नहीं था। बारी ने हुक्म दिया। पहरेवाले आठ कैदी बाबा भानसिंह की सेल में घुसे और उन्हें मारते-मारते बेहोश कर दिया। दो दिन बाद वह मर गये।

अभी तक लोग यह नहीं समझते थे कि बारी इतनी दूर तक चला जायगा। शाम को जब सेल बन्द कर दी गयी, तो एक पहरेवाले ने सारी बात पृथ्वीसिंह को कह सुनायी। बाबा भानसिंह ने कहलवाया था, "मार बेहद पड़ी है, मैं और बहुत दिन नहीं जी सकता।" पृथ्वीसिंह रात-भर सोचते रहे और भानसिंह की मृत्यु के बाद उन्हें साफ मालूम होने लगा कि अब बारी ने दूसरा हथियार उठाया है। वह जिसे चाहेगा उसे एक-एक करके इसी तरह मारेगा। पृथ्वीसिंह का बाबा भानसिंह से और भी घनिष्ट सम्बन्ध था। अमेरिका से चलते वक्त वह बाबा से विदाई लेते वक्त बोले थे–"बाबा, देश के काम के लिए मैं भारत जा रहा हूँ, तुमसे जो सहायता हो करना।" वह चुपचाप सुनते रहे। फिर उन्होंने हृदय के अन्तस्तल से कहा–"तुम दुधमुँहे बच्चे देश के लिए जान दो और मैं बुड्ढा जिन्दगी से चिपटा रहूँ ! यह बड़े शर्म की बात है।"

बाबा भानसिंह अमेरिका में खेतों में काम करते थे और पचहत्तर डालर (ढाई सौ रुपया) महीना कमाते थे। उन्होंने अपने सुखी जीवन की परवाह न की और न बुढ़ापे ही की। चन्द मिनट में उन्होंने अपना बिस्तरा बाँध लिया और पृथ्वीसिंह ने देखा कि बाबा उनके साथ चल रहे हैं। पृथ्वीसिंह के लिए बाबा भानसिंह की मृत्यु भुलाने की चीज न थी। वह कोई बड़ा कदम उठाना चाहते थे। आँखों से बहती आँसुओं की धारा दिल की आग को बुझा नहीं सकती। बारी और मरे अंडमान के सर्वशक्तिमान भगवान थे। लेकिन पंजाबी क्रान्तिकारियों ने अपनी वीरता से सारे कैदियों के दिल में घर कर लिया था। यदि कितने ही डकैत और गुण्डे बारी का हुक्म मानकर सब कुछ करने के लिए तैयार थे तो उनसे भी अधिक खतरनाक, बहादुर कैदी तथा पहरेवाले पंजाबी क्रान्तिकारियों का साथ देने के लिए तैयार थे। यदि बारी के जासूस क्रान्तिकारियों की एक-एक बात को वहाँ पहुँचाते थे, तो क्रान्तिकारियों के पास भी बारी की हर बात पहुँचती थी, उनके मेज की दराजों में क्या-क्या बन्द है, यह भी उनसे छिपा नहीं था। पृथ्वीसिंह जेल के सबसे निर्भय और खतरनाक कैदियों के स्नेह और सम्मान के भाजन थे। जेल में एक खूनी बलवा उठा देना आसान काम था, सिर्फ उन्हीं के बल पर नहीं, बल्कि चालीस पंजाबी क्रान्तिकारी भी शरीर में देव और हिम्मत में फौलाद जैसे थे। उनमें से कोई भी एक थप्पड़ में बारी या मरे को खत्म कर सकता था। लेकिन वे जानते थे कि बारी या मरे शतरंज के मोहरे हैं। इनसे नहीं, बल्कि निपटना है अंडमान के अमानुषिक शासन से और उसका संचालन करनेवाली विदेशी सरकार से।

अब संघर्ष करना जरूरी था। अब की बार मामूली संघर्ष नहीं था। अब या तो अंडमान की व्यवस्था को बदलना होगा या मरना होगा। उनके सामने साधारण हड़ताल की कठिनाइयाँ भी स्पष्ट थीं। उनको 'टाइम्स' और 'स्टेट्समैन' अखबार पढ़ने को मिलते थे, जिससे मालूम था कि लड़ाई कितनी घनघोर हो रही है। कितनी ही बार देशी समाचारपत्र भी छिपकर चले आते थे। वे जानते थे कि हम प्राणों की बाजी लगाने जा रहे हैं और इसकी कोई भी खबर बाहर नहीं जाने पाएगी।

पृथ्वीसिंह के ब्लॉक में रात को बाहर पहरेवाले रहते थे। सभी सहानुभूति से रहते थे। वह अपने दूसरे साथियों के पास जबानी या लिखकर संदेश भेज सकते थे। दोपहर के वक्त उन्हें पता चला कि पचासी राजबन्दियों में पैंतालीस काम छोड़ने की हड़ताल को तैयार हैं। उनमें से कुछ बीमार थे, जिन्हें हड़ताल में भाग न लेने के लिए कहा गया। बंगाली राजबन्दियों में तीन ने हड़ताल में भाग लिया। भाई परमानन्द यद्यपि पृथ्वीसिंह के साथ के राजबन्दी थे, मगर वह हड़ताल के लिए तैयार न थे। इसके लिए दूसरों को खास शिकायत न हो सकती थी, वह किसी राजनीतिक कार्य में साथ नहीं थे और न उनके विचार ही उनसे मिलते थे। पुलिस ने पकड़कर उन्हें भी शहीदों की टोली में मिला दिया था। कोई चारा नहीं था, इसलिए वह वहाँ थे। यदि सावरकर, भाई परमानन्द, वीरेन्द्र कुमार घोष और उनके साथी हड़ताल में शामिल हुए होते, तो इसमें शक

नहीं कि उसका वजन बढ़ जाता, लेकिन भाई परमानन्द को छोड़कर बाकी सभी के साथ खास रियायत थी। उनको पहिनने के लिए अच्छा कपड़ा मिलता, खाना भी वह अपने आप बनाते थे। ऊपर से महीने में बारह आने पैसे भी मिल जाते थे। लेकिन तब भी पृथ्वीसिंह और उनके साथी अपनी लड़ाई लड़ने के लिए तैयार थे।

मध्याह्न भोजन के वक्त मालूम हुआ कि बाबा सोहनसिंह ने भूख-हड़ताल शुरू कर दी। बाबा सोहनसिंह गदर पार्टी के संस्थापक और प्रेसीडेन्ट थे। पृथ्वीसिंह को अपने नेता के प्रति अपार भक्ति थी। खबर सुनने के बाद वह अपने को रोक नहीं सकते थे। उनकी भूख-हड़ताल का मतलब था, मौत को निमंत्रण देना। फिर देर करने की जरूरत क्या ? पृथ्वीसिंह ने पानी लेना भी छोड़ दिया। भूख-हड़ताल का यह पहला तजर्बा था। पेट की अँतड़ियाँ अलग तिलमिला रही थीं और प्यास के मारे कंठ में काँटे चुभ रहे थे। शाम को लोहार आया और उसने डंडा-बेड़ी पहिना दी। उन्हें कोठे से उतारकर नीचे की सेल में बिठा दिया गया। आसपास की सभी सेलें खाली करवा दी गयीं। तीसरे दिन उन्होंने सेल से बाहर जाना छोड़ दिया। चौथे दिन भूख खतम हो गयी। लेकिन प्यास के मारे और बुरी हालत थी। रोज पहरेवाला एक बर्तन में खाने की चीजें और दूसरे में पानी लेकर सेल में रख देता, जिससे कि खाने-पीने के लिए मन ललचाये। चौथे दिन प्यास बहुत तंग करने लगी। वह उठ खड़े हुए और पानी के बर्तन को ओठों से लगाना चाहते थे। उस वक्त उनके मन ने कोसना शुरू किया–'जिन्दगी के पीछे चिपके रहना चाहते हो ?' उन्होंने पानी वहीं रख दिया। दो-तीन बार उनके पैर पानी की तरफ बढ़े। उन्होंने मन को जवाब दिया, 'मैं जीने के लिए नहीं, मरने के लिए तैयार हूँ !' और फिर पानी के बर्तन को पटक दिया।

जाड़े का महीना था, नहीं तो अब तक शायद काम खतम हो चुका होता। सातवीं रात को दो बज रहे थे, उस वक्त उन्होंने महसूस किया कि उनके हाथ-पैर टंडे हो गये, लेकिन मौत कहीं आसपास दिखलायी नहीं देती थी। नवें दिन मेजर मरे आया। उसने सेल के दरवाजे को खुलवाया और पृथ्वीसिंह की नब्ज देखी। वह एक शब्द भी न बोला। एक घण्टे बाद उन्हें एक कम्बल में लपेटकर लोग उठा ले चले। उनको यह नहीं मालूम कि कहाँ ले जा रहे हैं। उनके साथियों ने जब कम्बल में लपेटे उनके शरीर को जाते देखा, तो समझ लिया कि वह मर गया। अस्पताल में ले जाकर उन्हें रक्खा गया। डाक्टर और कम्पाउंडर ने खाना खाने के लिए समझाया, लेकिन वहाँ उसके लिए कौन तैयार था। फिर उन्हें उठाकर सेल में पहुँचा दिया गया। शायद अस्पताल में ले जाकर लौटाने का मतलब यही होगा कि उन्हें नवें दिन जबरदस्ती भोजन कराया गया, जिसमें मेजर मरे और उनके सहकारियों को आगे अपनी सफ़ाई देने में आसानी हो।

दसवें दिन फिर उसी तरह अस्पताल पहुँचाया गया। अब की बार नाक के रास्ते जबरदस्ती खाना डालने की कोशिश की गयी, लेकिन पृथ्वीसिंह ने सारी ताकत लगाकर बाधा डाली। नाक के रास्ते रबर की नली डालते वक्त घाव हो गया और नाक से खून गिरने लगा। दसवें दिन के बाद रोज यही कायदा था। सवेरे चार बर्मी कैदी आते और कम्बल में लपेटकर कंधे या सिर पर उठाये पृथ्वीसिंह को अस्पताल ले जाते और वही नाक के रास्ते नली से दूध डाला जाता। दो-तीन दिन बाद अब वह दिन में दो बार दूध डालने लगे। नये-नये कैदियों को इसीलिए इस काम में लगाया जाता था कि भाषा न जानने के कारण दूसरों के पास बात न पहुँचने पाये। पृथ्वीसिंह बर्मी भाषा जानते थे। वह उनकी गालियों का आनन्द लेते थे। बाबा सोहनसिंह तीसरे नम्बर के ब्लॉक में थे। उन्होंने पानी नहीं छोड़ा था। पृथ्वीसिंह को भी उसी ब्लॉक में, यह ख्याल करके भेजा गया कि उन पर भी कुछ प्रभाव पड़ेगा। उनके साथी बराबर जवाब देने के लिए तंग किया करते थे। पहरेवाला रात को घण्टों बातें करता, लेकिन इसका जवाब देने के लिए पृथ्वीसिंह के मुँह में ताकत नहीं थी। जबान सूखकर काँटा हो गयी थी। पृथ्वीसिंह ने अब बोलना छोड़ दिया। बारी ने अब बोलवाने की टानी। वह अपने किसी कृपापात्र पहरेवाले को भेजता, जो पृथ्वीसिंह को गंदी से गंदी गालियाँ देता। लेकिन पृथ्वीसिंह थे, "बुन्द अघात सहहिं गिरि जैसे"। कुछ दिनों बाद उन्हें अस्पताल ले गये, यह देखने के लिए कि कहीं दिमाग तो नहीं खराब हो गया। पृथ्वीसिंह ने डाक्टर और कम्पाउंडर से कह दिया कि मेरी जिह्वा सूख जाती है, इसीलिए मैं नहीं बोलना चाहता। एक दिन चीफ कमिश्नर भी आया और कहा कि, "प्राणों को इस तरह से मत फेंको।" लेकिन उसने

इसके बारे में एक बार भी न पूछा कि तुमने क्यों भूख-हड़ताल की। दो महीने इसी तरह बीत गये। मौत का अब भी पता नहीं था और जिसके लिए उन्होंने भूख-हड़ताल की थी, उसके बारे में भी कोई फल नहीं दिखायी दिया। जेलवाले कुछ ढीले जरूरत पड़े। हाँ, सबसे बड़ा परिणाम यह हुआ था कि बारी अपनी जीभ पर अंकुश रखने लगा।

जेल के बाहर से खबर मिली कि भूख-हड़ताल का पता हिन्दुस्तान में लग चुका है। जनता और अखबारों में भारी आन्दोलन है। इस खबर में कितनी सत्यता थी, इसके बारे में तो कुछ नहीं कहा जा सकता था, लेकिन जेल के अधिकारी घुमा-फिराकर कहने लगे थे कि हड़ताल छोड़ो, हम तुम्हारे साथ बेहतर बर्ताव करने की कोशिश करेंगे। लेकिन यह कोई पक्का वादा न था। बाबा भानसिंह को मारनेवालों के लिए भी कुछ नहीं किया गया था। बाबा सोहनसिंह ने समझा कि जिस काम के लिए हमने भूख-हड़ताल की थी, वह जेल के अधिकारियों के वादे से पूरी हो जाती है। उन्होंने भूख-हड़ताल तोड़ दी। लेकिन पृथ्वीसिंह उससे संतुष्ट नहीं थे, यद्यपि बाबा सोहनसिंह का अनुसरण न करने के लिए उनके दिल में अफसोस था। मित्र और चिन्तित हुए। उन्होंने हर तरह से समझाने की कोशिश की, लेकिन पृथ्वीसिंह का उस वक्त भगवान पर विश्वास था। वह समझते थे कि जो दाता की मर्जी। एक रात सोचते-सोचते उनके दिमाग ने कहा, जब तुमने जीवन की आशा छोड़ दी है तो जाड़े से बचने के लिए कपड़े-कम्बल की क्या जरूरत है। दूसरे दिन सबेरे उन्होंने कम्बल ही नहीं लिया, बल्कि बदन के सारे कपड़े भी फेंक दिये और वह अब दिगम्बर थे। हाँ, डंडा-बेड़ी निकाल फेंकना उनकी शक्ति से बाहर की बात थी। सीमेन्ट का फर्श बहुत ठंडा था, उस पर वह लेट नहीं सकते थे। चौबीसों घंटे पल्थी मारकर फर्श पर बैठे रहते और डंडा-बेड़ी शरीर को अवलम्ब देने के लिए कुबड़ी का काम देती। उनका वजन 160 पौंड से घटकर 98 पौंड रह गया। शरीर सूखकर काँटा और जीवन-शक्ति बहुत ही क्षीण हो गयी थी। नंगे होने की बात से सारे जेल में तहलका मच गया। उनके साथी समझने लगे, अब मौत बहुत दूर नहीं है। धीरे-धीरे बैठे ही बैठे उन्हें सोने की आदत हो गयी। 155 दिन तक पृथ्वीसिंह भूख-हड़ताल करते रहे। उन्होंने खाना, पीना, कपड़ा और बोलना तक छोड़ दिया था और साध ली सिर्फ एक मरने की। लेकिन मौत मालूम होता था, उन्हें भूल गयी। अब उन्हें समझ में आने लगा कि बाबा सोहनसिंह का ही निश्चय ठीक था। एक हद तक हम अधिकारियों को दबा चुके, अब आगे की लड़ाई के लिए मरना नहीं, जिन्दा रहना अच्छा है। लेकिन यह बात समझने में उन्हें काफी देर लगी। उनके साथी चिन्तित थे और कोशिश करते थे कि पृथ्वीसिंह भूख-हड़ताल तोड़ दें जिसमें दूसरे भी हड़ताल तोड़ सकें। बाबा शेरसिंह का पृथ्वीसिंह पर खास स्नेह था। उन्होंने तै किया कि चलकर उस हठीले नौजवान को समझाएँ। लेकिन 120 पौंड के स्वस्थ शरीर को अस्पताल कौन जाने देता ? कोई रास्ता न देखकर उन्होंने कोई जहरीली चीज उठाकर पी ली। खून के दस्त आने शुरू हो गये। डाक्टर ने उनकी यह हालत देखकर उन्हें एक रात के लिए अस्पताल भेज दिया। बाबा शेरसिंह ने भूख-हड़तालियों के कष्ट की गाथा सुनायी और कहा कि तुम भूख-हड़ताल छोड़ दो, तो सबके सब इस कष्ट से त्राण पायेंगे। पृथ्वीसिंह अब भी कुछ तय न कर पाये थे। फिर उन्हें पंडित जगतराम की चिट्‌ठी मिली, जिसे उन्होंने अपने खून से लिखा था और दलील देकर समझाने की कोशिश की थी कि अब भूख-हड़ताल जारी रखना अच्छा नहीं।

155वें दिन जब डाक्टर नाक से दूध पिलाने के लिए आया तो पृथ्वीसिंह ने उसे हाथ से उठाकर पी लिया। लम्बी हड़ताल खतम हुई।

विजय

अब मेजर मरे के बर्ताव में भारी अन्तर था। वह दो साल की छुट्‌टी पर चला गया और उसे फिर अंडमान का मुख नहीं देखना था, लेकिन बेचारे के भाग्य में न छुट्टी बदी थी न पेन्शन ! वह अंडमान के अपने सारे पापों के लिए इस दुनिया से चल बसा। बारी की जगह उसका बहनोई जेलर बनकर आया। वह बड़ा भला मानुष आदमी था। उसके आने पर लोग नहीं समझते थे कि हम कैद में हैं और वह जेलर है। क्रांतिकारी

भी उसे किसी तरह हैरान करने के लिए तैयार नहीं थे। इसके बाद किसी बेइन्साफी के लिए बाबा सोहनसिंह को भूख-हड़ताल करनी पड़ी। पृथ्वीसिंह को जब पता लगा तो बाबा सोहनसिंह के बार-बार मना करने पर भी वह शामिल हो गये और ग्यारह दिन तक बिना पानी के भूख-हड़ताल किये रहे।

अंडमान के कैदियों में छुआछूत बहुत थी। मुसलमान के हाथ की रोटी खा लेने से ही हिन्दू अपने को मुसलमान समझने लगता था। पृथ्वीसिंह को यह छुआछूत बहुत बुरी लगती थी। वह मुसलमानों के हाथ से रोटी छीन-छीनकर खाने लगे और थोड़े ही दिनों में लोगों का पुराना ख्याल चला गया।

चलते-चलते

मेजर मरे भी कुछ दिनों में हिन्दुस्तान भेज दिया गया। उनकी जगह पर मेजर बारकर सुपरिन्टेण्डेन्ट बनकर आया। नये जेलर की तरह यह भी सज्जन था। कसूर करने पर भी किसी कैदी को भरसक सजा नहीं देना चाहता था। डाक्टर एक फौजी आदमी था और जहाँ तक कैदियों के स्वास्थ्य का सवाल था, वह जेलर और सुपरिन्टेण्डेन्ट की परवाह नहीं करता था। हर तरह से ध्यान रखता था। पुराना अंडमान अब स्वप्न होता जा रहा था। खबर उड़ने लगी थीं कि कैदी अब हिन्दुस्तान भेज दिये जायेंगे और अंडमान का जेल बंद कर दिया जायेगा।

7
भारत की जेलों में (1921-22 ई.)

अक्टूबर 1915 से अगस्त 1921 तक 6 साल अंडमान में रहने के बाद पृथ्वीसिंह के मन में फिर आशा अंकुरित होने लगी कि हमें मातृभूमि के दर्शनों का मौका मिलेगा।

वे दिन असहयोग के थे। सारे हिन्दुस्तान में गाँधी जी की जय-जयकार हो रही थी। ये खबरें छन-छनकर अंडमान टापू और उसके जेल की दीवारों के भीतर भी पहुँचने लगीं। इसलिए पृथ्वीसिंह और उनके साथियों को भारत लौटने की और भी ज्यादा उत्सुकता होने लगी। मगर अभी एक बार और संघर्ष करना था। मेजर बारकर ने जेल के खर्चे में कमी करने के लिए पहिले कैदियों के तेल पर हाथ उठाया और उसे बारह ड्राम की जगह आठ ड्राम कर दिया। लोगों को बुरा तो लगा लेकिन अब वे भारत चलने के लिए उतावले हो रहे थे, इसलिए नहीं चाहते थे कि फिर कोई झगड़ा मोल लिया जाय। लेकिन पृथ्वीसिंह इसे अपनी शान के खिलाफ समझते थे। युद्ध-क्षेत्र को सामने देखकर पीछे हट जाना यह उनसे नहीं हो सकता था। सब लोग संघर्ष के लिए तैयार नहीं हुए, लेकिन शंघाई में गदर पार्टी के स्तम्भ, 70 साल के बूढ़े बाबा निधानसिंह, उनके साथ थे। गदर पार्टी के महाकवि बाबा हरनाम सिंह—जो अपने दाहिने हाथ को भी क्रान्ति की बलि चढ़ा चुके थे, जिससे उन्हें 'टुन्डी लाट' कहा जाता था—भी साथ-साथ चलने के लिए तैयार थे। अब भी जो पंजाब की जेलों में वर्षों से सड़ रहे हैं, क्रान्ति के वह महान योद्धा, बाबा गुरुमुख सिंह भी पृथ्वीसिंह के साथ थे। चारों ने अधिकारियों को समझाया कि तेल की मात्रा को पहले ही के जितना कर देना चाहिए, लेकिन कुछ नहीं हुआ। जेलर की सहानुभूति सबको मालूम थी, उसने इन लोगों को समझाने की कोशिश की लेकिन ये चारों जने चुप रहने के लिए तैयार नहीं थे। चारों ने काम न करने की हड़ताल शुरू कर दी।

मेजर बारकर की जगह एक छै फुट लम्बा असुर सुपरिन्टेण्डेन्ट बनकर आया। जेल का चक्कर लगाते हुए वह पृथ्वीसिंह की सेल के दरवाजे पर आया। पृथ्वीसिंह वैसे ही बैठे रहे। सुपरिन्टेण्डेन्ट दरवाजा खुलवाकर चुपचाप पृथ्वीसिंह के पास आ गया। पृथ्वीसिंह एक शब्द भी न बोले। उसने पृथ्वीसिंह की दाढ़ी पकड़ी और कैसे खड़ा होना चाहिए, वैसे खड़ा करके चलता बना। सेल छोड़ते वक्त उसके मुख पर विजय की हँसी थी।

गाँधी जी के असहयोग और अहिंसा की कितनी ही बातें पृथ्वीसिंह पढ़ चुके थे और उन्हें पालन भी करना चाहते थे। वह हर तरह की सजा और बेंत खाने के लिए खुशी से तैयार थे। लेकिन सुपरिन्टेण्डेन्ट के इस बर्ताव को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने इस बात की सूचना अपने साथियों और जेलर को भी भेज दी। जेलर सुपरिन्टेण्डेन्ट को अभी तक बतला नहीं सका था कि इसी बीच सुपरिन्टेण्डेन्ट फिर पृथ्वीसिंह की सेल की ओर गया। दरवाजा खुलवाकर भीतर आ उसने फिर दाढ़ी पकड़कर उन्हें खड़ा किया। पृथ्वीसिंह ने उसके बायें गाल पर जोर से एक चपत जड़ दी। लाठियाँ पड़ीं और वह बेहोश होकर फर्श पर गिर पड़े। सुपरिन्टेण्डेन्ट ने तुरन्त सिपाहियों को रोक दिया। सुपरिन्टेण्डेन्ट ने राजनीतिक व्यक्तियों को समझाना चाहा कि मैंने दाढ़ी पकड़कर उठाया नहीं, बल्कि सिर्फ ठुड्डी छुई थी। पृथ्वीसिंह एक सेल में डाल दिये गये, जहाँ बिना दवा-दारू के वे कुछ दिनों में अच्छे हो गये। अब उन्होंने किसी से न बोलने का निश्चय कर लिया। जेल के अफसर आते, बात करना चाहते, मगर वह आँख मूँदकर पल्थी मारे बैठे रहते। कुछ दिनों बाद उन्हें अस्पताल भेज दिया गया और बाबा सोहनसिंह उनकी देखभाल करने के लिए भेजे गये। मित्रों ने समझा कि अब जरूर दिमाग में कोई फितूर हुआ है। पृथ्वीसिंह ने बाबा को विश्वास दिला दिया, कि उनका दिमाग दुरुस्त है। तब भी आँख-मुँह मूँदे उन्होंने अपनी तपस्या जारी रक्खी। सुपरिन्टेण्डेन्ट आता, कभी आँखों को, कभी मुख को खोलकर देखता और कभी सारे शरीर की परीक्षा करता। पृथ्वीसिंह को चन्द ही दिनों में मालूम हो गया कि समाधि तो क्या लगेगी, यह तो और आफत मोल लेनी है। उस दिन जब सुपरिन्टेण्डेन्ट सेल के भीतर आने लगा तो वह बोल उठे, "देखो, मेरे बदन को हाथ न लगाओ, सजा जो देना हो दो।" उसे विश्वास हो गया कि यह आदमी पागल नहीं है।

तेल को फिर बारह ड्राम कर दिया गया। हड़ताल खतम हो गयी।

अंडमान से प्रस्थान (अगस्त 1921)

पृथ्वीसिंह अब अपने को पक्का असहयोगी समझते थे और गाँधी जी का पक्का चेला बनने की धुन में थे। सड़ी नौकरशाही से किसी तरह का सहयोग करना उनके लिए महापाप था। 'महाराजा' जहाज उन्हें अंडमान से निकालकर भारत लाने के लिए आया। सब लोग खुशी-खुशी आने को तैयार थे। जब स्वास्थ्य देखने के लिए वजन करने की बारी आयी तो सबने वजन करा लिया, लेकिन पृथ्वीसिंह कैसे अपनी खुशी से जाकर वजन कराते, यह तो सहयोग होता ! सत्रह आदमियों के बाद अठारहवें पृथ्वीसिंह को न आते देख पहरेवालों ने अहिंसक, असहयोगी, उन्तीस साल के पृथ्वीसिंह को उठाकर तराजू पर रक्खा। सुपरिन्टेण्डेन्ट ने टिकट पर लिखा :

"Poses as a martyr, is a humbug, absolutely incorrigible, needs careful handling."

(शहीद बनने का दम भरता है; मूढ़, सुधारने के अयोग्य है, सावधानी से व्यवहार करना चाहिए।)

पंजाबी क्रांतिकारियों को अपने यहाँ रखने के लिए किसी सूबे की सरकार तैयार न थी। आखिर मद्रास ने स्वीकार किया। बेड़ी पहनाये वे जेल से जहाज पर लाये गये। तोशामारू पर से क्रान्तिकारियों ने जो प्रतिज्ञा की थी, वह पूरी हुई। बेड़ियों के साथ वह अंडमान पहुँचे, भीषण संघर्ष और मौत का सामना करके उन्होंने राजबंदियों के लिए अंडमान के जेल को बन्द कराया और छै वर्ष बाद जुलाई या अगस्त 1921 को अब उन्होंने वहाँ से प्रस्थान किया। उन्हें अफसोस यही था कि उन आठों शहीदों को फिर नहीं देख सकेंगे, जिन्होंने अंडमान के नरक को बन्द करने के लिए आखिरी कुर्बानी दी थी; साथ ही बर्मा षड्यंत्र के राजबंदी भी तेरह-चौदह साल तक वहीं सड़ने के लिए छोड़ दिये गये थे, इसका भी उन्हें अफसोस था !

मद्रास जेल में उन्हें एक बैरक में रक्खा गया। अब उनकी जाँच-पड़ताल करके उन्हें प्रान्त के भिन्न-भिन्न सेन्ट्रल जेलों में बाँटना था। जेलर और सुपरिन्टेण्डेन्ट कैदियों को देखने आये। सब लोग खड़े थे, लेकिन असहयोगी पृथ्वीसिंह आसन मारे पड़े थे। सुपरिन्टेण्डेन्ट ने दूर से देखा। उसने चिल्लाकर कहा, "खड़े हो जाओ।" लेकिन कौन सुनता है ! दूसरी बार भी चिल्लाया, लेकिन लोमश ऋषि पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। सुपरिन्टेण्डेन्ट

ने आकर उनके टिकट को देखा। अंडमान के आखिरी नोट को पढ़कर वह ठंडा पड़ गया। एक दिन की बात थी, उसने सोचा काहे को बखेड़ा मोल लें।

भाग निकलने का पहला प्रयास (जुलाई, 1921)

दूसरे दिन तीन-तीन चार-चार की टोली में लोगों को भिन्न-भिन्न जेलों के लिए रवाना कर दिया गया। दो और के साथ सरदार पृथ्वीसिंह तीन कान्स्टेबुलों के साथ राजमहेन्द्री भेजे गये। शाम के वक्त कलकत्ता मेल पर चढ़े। पृथ्वीसिंह ने देखा कि पुलिस के तीनों जवान एक पंजाबी के लिए काफी नहीं हैं। पृथ्वीसिंह ने अपने साथियों से कहा, "यह बड़े शर्म की बात होगी, यदि ये लोग हमें राजमहेन्द्री जेल तक ले जा सकें।" साथी चुप रहे, जिसका मतलब था, वे सहमत नहीं हैं। मगर पृथ्वीसिंह इससे निराश नहीं हुए। उन्होंने अपना रास्ता सोच लिया, वह अब और अपने जीवन को सड़ाने के लिए तैयार नहीं थे।

डाक बड़ी तेजी से दौड़ी जा रही थी। रात काफी बीत चुकी थी। पृथ्वीसिंह की नजर बार-बार सिपाहियों के चेहरे पर जाती थी। अभी भी वह सजग थे। वहाँ नींद का कोई निशान न था। रात का एक बज रहा था। ट्रेन अंगोल स्टेशन पर खड़ी थी। मूसलाधार वर्षा पड़ रही थी और डिब्बे से बाहर कुछ नहीं दिखायी पड़ता था। उन्होंने सिपाहियों की ओर देखा, वह झपकी ले रहे थे। साथी भी सो गये थे। पृथ्वीसिंह ने सोचा, फिर ऐसा समय नहीं आयेगा। डाक छूटी, वेग बढ़ने लगा और जरा ही देर में वह बाहरी सिगनल से पार हो गयी। जंगले से बाहर देखने पर कुछ नहीं दिखाई देता था। बिना इसका कुछ ख्याल किये कि वहाँ पत्थर, काँटा-लकड़ी क्या है, उन्होंने डिब्बे में से छलाँग मार दी। जंगले के पास केहरसिंह सोये थे। पृथ्वीसिंह का शरीर उनसे छू गया। उन्होंने पैर पकड़ लिया। पृथ्वीसिंह ने झटका दिया। पैर तो छूट गया, मगर जमीन पर जिस तरह कूदना चाहते थे, उस तरह नहीं कूद सके। उनके एक घुटने की हड्डी चटक गयी। उठना चाहा तो दर्द के मारे फिर गिर पड़े। तब तक खतरे की जंजीर खींची जा चुकी थी और उन्होंने देखा, गाड़ी थोड़ी दूर जाकर खड़ी हो गयी। दो-तीन बार उठने की कोशिश में वह गिरे। लेकिन अब उन्हें न दर्द की परवाह करनी थी न टूटे घुटने की। उन्होंने सारी ताकत लगाकर रेल की लाइन से दूर हटने की कोशिश की। आगे बढ़े तो देखा, नागफनी के काँटे हैं। काँटे चुभते गये, लेकिन वह रुके नहीं। बीस गज जाने पर एक नागफनी की बाड़, लेकिन वहाँ पीछे लौटने का कोई सवाल नहीं। सिपाही अब भी आवाज लगा रहे थे। सारे बदन में न जाने कितने सौ नागफनी के काँटे चुभे थे। उनकी आँख बच गयी। वर्षा के पानी से धान के खेत लबालब भरे थे। कहीं-कहीं पानी ज्यादा था और घायल पैर से चलने की जगह तैरना अच्छा मालूम होता था। कितनी ही देर बाद वह एक दीवार से जाकर टकराये! वर्षा अब भी बन्द नहीं हुई थी। उन्हें कुछ नहीं दिखलायी पड़ता था। बड़े कष्ट और सावधानी से दीवार के ऊपर चढ़कर वह दूसरे तरफ उतरे। ट्रेन अब भी खड़ी थी, लेकिन उस अँधेरे में भागे कैदी को ढूँढ़ना वैसे ही आसान न था और वहाँ तो उन्हें दो और कैदियों को भी सँभालना था। पृथ्वीसिंह अपने शरीर को इसी तरह घसीटते-घसीटते चलते गये! अब दूर उन्हें एक रोशनी दिखायी दी। बदन में सब जगह से खून बह रहा था और दर्द तो रोम-रोम में था। हिम्मत बाँधकर उन्होंने उस रोशनी तक पहुँचने की कोशिश की।

वह एक छोटा-सा गाँव था। कुछ बड़े घरों में चिराग जल रहे थे। वह एक बड़े घर में जाना चाहते थे, उसी वक्त उनकी नजर एक छोटी झोंपड़ी पर पड़ी, जिसके भीतर एक छोटा-सा दिया टिमटिमा रहा था। पृथ्वीसिंह आसानी से समझ सकते थे कि झोंपड़ी का मालिक कोई गरीब है। बड़ों के कड़वे तजुर्बे उन्हें अनेक हो चुके थे, इसलिए उन्होंने झोंपड़ी का रास्ता लिया। वहाँ एक मिट्टी के तेल की डिबिया जल रही थी। दो गरीब औरत-मर्द लकड़ी के तख्तों पर अलग-अलग सोये थे और एक कोने में एक छोटा-सा बछड़ा बँधा हुआ था। झोंपड़ी इतनी छोटी थी कि उसमें और जगह नहीं रह गयी थी। पृथ्वीसिंह कुछ देर तक एकटक देखते रहे। मुँह से शब्द निकालने की हिम्मत नहीं होती थी। घायल पैर को आराम देने के लिए जब उनका पैर जरा हिला, तो बेड़ी ने झन्न किया। औरत ने आँख खोल दी। इस रात में भूत जैसे एक आदमी को सामने

खड़ा देख वह घबड़ा उठी और वह चिल्लाना ही चाहती थी, कि पृथ्वीसिंह ने एक अँगुली को ओटों पर रक्खा। स्त्री चुप रही और उसने अपने हाथ को फैलाकर पति को जगाया। खड़े होकर उसने काली-काली दाढ़ी और बड़े-बड़े बालोंवाले पृथ्वीसिंह के चेहरे को एक बार देखा तो उसके होश गुम हो गये। छाती पर की बंडी और नीचे के जाँघिया ने और कसर पूरी कर दी और इसके बाद भी जो कमी थी, वह पूरी कर दी हाथ और खून से लथपथ कपड़ों ने। पृथ्वीसिंह ने उसे भी इशारे से चुप रहने के लिए कहा। अभी तक उनकी नजर बेड़ी पर नहीं पहुँची थी। पृथ्वीसिंह ने अपनी बेड़ी को हिलाया। शायद अब उनकी कुछ समझ में आया। वे कुछ बोले, मगर पृथ्वीसिंह को तेलुगु का एक भी शब्द मालूम न था। झट से उनके दिमाग में कोई ख्याल आया और वह बोल उठे, "कांग्रेस, स्वराज्य, महात्मा गाँधी।"

मालूम हुआ कि ये शब्द नहीं, जादू के मंतर हैं। उनकी आँखें और मुँह की आकृति बतला रही थी कि वे सहायता करने को तैयार हैं। वे दोनों तख्तों के बीच फर्श पर बैठ गये और इशारे से बताया कि इन बेड़ियों को हटाना है। पास में एक लोहे का टुकड़ा, शायद हल का फाल पड़ा था। उन्होंने उसकी तरफ इशारा किया। आदमी ने उस लोहे से बेड़ी को खोलना चाहा, मगर वह ज्यादा मजबूत थी। पृथ्वीसिंह ने लोहे को खुद अपने हाथ में ले लिया। उस वक्त न जाने कहाँ से गजब की ताकत आ गयी थी और कड़ों के मुँह को उन्होंने खोल दिया। बेड़ी पैरों से निकल गयी। बंडी और जाँघिये को भी उतार दिया और इशारे से बताया कि इन्हें खोदकर जमीन में गाड़ दो। अब उनके बदन पर केवल एक लंगोट था। उन्होंने इशारे से एक लुंगी माँगी, मगर गरीब के पास कोई कपड़ा न था। एक छोटे-से चीथड़े से अपने घायल घुटने को बाँधा। चलने के लिए ताकत तो नहीं रह गयी थी, मगर भिन्सार हो रहा था और किसी सुरक्षित जगह की तलाश की जरूरत थी। पृथ्वीसिंह ने समझा, अब बड़े घर में जाने से कोई हर्ज नहीं। जब वह उधर बढ़ने लगे, तो गरीब ने हाथ पकड़कर कुछ कहा। पृथ्वीसिंह ने समझा कि नहीं जाना चाहिए, यहाँ खतरा है। आदमी ने उन्हें गाँव के बाहर लाकर छोड़ दिया। किधर जाना चाहिए, इसका कोई पता नहीं।

वर्षा अब भी बन्द होना नहीं चाहती थी, लेकिन पृथ्वीसिंह को आगे जाना ही था। तैरते, लँगड़ाते वह आगे बढ़ते गये। बहुत-सा खून निकलने से कमजोरी अलग थी, उस पर से भूख, फिर यह चलना; लेकिन वह स्वतंत्रता को दोनों हाथों से पकड़े हुए थे और उसे किसी कीमत पर भी छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे।

चलते-चलते वह रेलवे लाइन पर पहुँचे। दोनों तरफ पानी था और लाइन छोड़कर जाने का कोई रास्ता न था। स्वस्थ शरीर और लम्बी दाढ़ी से वह एक साधु समझे जाते, लेकिन शरीर में जो घाव और काँटे चुभे हुए थे। अब वर्षा बन्द हो गयी और सूरज भी बादलों को फाड़कर निकल आया। वह लाइन के पास बैठ गये और खेत के पानी से घाव को धोने लगे। काँटों को भी जो निकाल सके, निकाला। थकावट के मारे वहीं भीगी जमीन पर पड़ गये। सूर्य की कोमल किरणों ने थपकी दी और नींद ने आकर सारे दुःख-सुख भुला दिये। जाती हुई ट्रेन के इंजन ने सीटी दी, तब कहीं जा के नींद खुली। सारा बदन जकड़ गया था। हिम्मत करके एक झाड़ी से उन्होंने एक बड़ी लकड़ी तोड़ी और उसका सहारा लेकर चलने लगे। आसपास खेतों में छाती-भर पानी था, इसलिए रेलवे लाइन को छोड़कर चलना सम्भव नहीं था। वह तेनाली की तरफ जा रहे थे और अब बचने की आशा बहुत कम रह गयी थी।

गिरफ्तार

एक स्टेशन पर पहुँचे थे, उसी वक्त सामने से एक पुलिस का सिपाही आता दिखायी पड़ा। अंगोल जिला का सदर है। वहाँ से पुलिस की टोलियाँ पृथ्वीसिंह को ढूँढ़ने के लिए भेजी गयी थीं। कान्स्टेबुल ने समझ लिया, लेकिन पृथ्वीसिंह की शारीरिक अवस्था को देखकर उसका दिल द्रवित हो गया। अपनी जगह पर ले जाकर उसने उन्हें खाने के लिए कुछ भात दिया, फिर वह अफसर को खबर देने गया। चन्द मिनटों में अब पृथ्वीसिंह पूरी तरह पुलिस की टोली के हाथ में थे। उनका मनोबल बिखर गया और शरीर शिथिल था। उस वक्त जो पड़े, तो आठ दिन तक वह न उठ सके।

जिस जगह वह गाड़ी से कूदे थे, गिरफ्तारी की जगह वहाँ से 16 मील थी। घायल, अंग-अंग में काँटे छिदे, वह कैसे उतनी दूर पहुँच सके, यह बड़े आश्चर्य की बात थी। पुलिस अंगोल लेकर गयी। 1921 के असहयोग की आँच से गुजरी जनता अब वह सात साल पहले की जनता न थी। बहादुर राजबन्दी के भागने की खबर को चारों ओर फैलाने में पुलिस की सरगर्मी खास हाथ रखती थी। चारों तरफ से लोग इस वीर के दर्शनों के लिए आने लगे। काउंसिल के एक ईसाई सज्जन इस साहसी को देखने का लोभ संवरण नहीं कर सकते थे। उन्होंने पृथ्वीसिंह की अवस्था देखी और एक जोड़ा कपड़ा देने की इच्छा प्रकट की। पृथ्वीसिंह ने लेना स्वीकार किया। चार घंटे बाद उक्त सज्जन ने दो कमीज, एक जोड़ा धोती और दूसरे कपड़े भेजे। पृथ्वीसिंह ने उन्हें लेकर एक कोने में रख दिया, विदेशी कपड़ों को वह कैसे पहन सकते थे। जब लोगों को कारण मालूम हुआ, तो उन्होंने खद्दर की कमीज और धोती देनी चाही, लेकिन उसके लेने की आज्ञा न थी।

जब चलने-फिरने लायक हो गये, तो पृथ्वीसिंह को अस्पताल भेजा गया। उन्होंने डाक्टर से काँटों को निकालने के लिए कहा, लेकिन दो-दो तीन-तीन सौ काँटे निकालने की फुर्सत कहाँ ! वह धीरे-धीरे अपने ही निकालने के लिए छोड़ दिये गये। एक छोटी-सी कंकड़ी दाहिनी जाँघ में नीचे घुस गयी थी कि वह आज (1944 में) भी निकलने का नाम नहीं लेती !

अस्पताल से उन्हें मजिस्ट्रेट की कचहरी में ले जा रहे थे। उनके बदन पर सिर्फ एक लंगोटी थी। पुलिस वाले जिस समय उन्हें अंगोल की सड़कों से ले जा रहे थे, जगह-जगह इतनी भीड़ जमा हो जाती कि पुलिस के लिए आगे बढ़ना मुश्किल हो जाता था। लोग जगह-जगह पृथ्वीसिंह को बोलने के लिए मजबूर करते। कितने ही अच्छे-अच्छे वकील मुकदमे की पैरवी करने के लिए तैयार थे, मगर पृथ्वीसिंह अंग्रेजी अदालत और उसके न्याय को मानें, तब न। वह तो अपने पैर से चलकर अदालत के भीतर जाने के लिए भी तैयार न थे। जज ने दो दिन तक मुकदमा करने के बाद एक साल की सजा देते हुए लिखा, "सारे शरीर में इतने जख्मों को देखते हुए अभियुक्त 16 मील कैसे जा सका, यह समझना बहुत मुश्किल है; लेकिन गाड़ी से कूदने की जगह से 16 मील पर वह पकड़ा गया, यह निर्विवाद है।"

राजमहेन्द्री जेल में

फैसले के दिन ही पृथ्वीसिंह को राजमहेन्द्री जेल में भेज दिया गया। अंगोल सब-जेल के सुपरिन्टेण्डेन्ट ने विदाई देते वक्त कहा था, "पृथ्वीसिंह, यह तुम्हारा जीवन तुम्हारे हाथ में देश की थाती है, इसे फेंक देने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। तुमने चलती ट्रेन से कूदकर अपने जीवन के साथ जैसा बर्ताव किया, वह केवल पागलपन था। यह निरा संयोग था, जो तुम मौत से बच गये। निराश मत होओ, जेल से निकलकर राष्ट्र की सेवा करने का फिर तुम्हें मौका मिलेगा।" दो सिपाही पृथ्वीसिंह को लेकर रवाना हुए। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा, "हम आपको कोई कष्ट नहीं देना चाहते। आप कौन हैं, यह हम अच्छी तरह जानते हैं। हमारे पास जीविका का कोई साधन नहीं है और हमारे ऊपर परिवार का बोझ है। ऐसा करें जिसमें हमारा सत्यानाश न होने पाये।" पृथ्वीसिंह के दिल में करुणा उमड़ आयी, उन्होंने इतना ही कहा, "तुम घबराओ नहीं, बस मेरे पीछे-पीछे जेल के फाटक पर चले आओ।"

रात की उसी ट्रेन से वह राजमहेन्द्री के लिए रवाना हुए थे। सैकड़ों नौजवान विदाई देने के लिए स्टेशन पर उनका इंतिजार कर रहे थे। उधर राजमहेन्द्री में भी खबर पहुँच चुकी थी, लोग पहले ही स्टेशन पर पहुँच गये। पुलिसवाले चुप थे। लोग उन्हें गोदावरी की ओर ले गये। पवित्र धारा में उन्होंने स्नान किया, फिर तीनों जनों को सुन्दर भोजन करा, घोड़ा-गाड़ी पर चढ़ाकर सेन्ट्रल जेल के फाटक पर पहुँचा दिया गया।

जेलर को पता लगा और वह अपने बँगले से देखने के लिए आया। पृथ्वीसिंह वैसे ही बैठे रहे। जेलर ने, जो एंग्लो इण्डियन था, इसे अपने रोब के खिलाफ समझा। वह दूर ही से चिल्लाने लगा और नजदीक आकर जबरदस्ती उठाने की धमकी देने लगा। पृथ्वीसिंह ने कहा, "पहले मेरे टिकट पर क्या लिखा है, पढ़ लो।" पढ़कर वह कुछ ठंडा हो गया।

पैर के घाव में पीप भर गयी थी, जिससे कोई कैदी उस बैरक में रहना नहीं चाहता था। सुपरिन्टेण्डेन्ट आया; उसने भी पृथ्वीसिंह को बैठा देखकर गाली देनी शुरू की। गाली का उसे जवाब मिला। उसने पृथ्वीसिंह को फाँसी घर की सेल में भेजवा दिया। सुपरिन्टेण्डेन्ट एंग्लो-इण्डियन था और डाक्टर एक अंग्रेज। तीनों ही अपने सामने किसी को कुछ न समझते थे। पृथ्वीसिंह चार बजे सवेरे ही उठते, और 10 बजे दिन तक पूरे छै घंटे आँख मूँदे आसन मारे बैठे रहते। बोलना भी शायद ही कभी होता। जेल के सिपाही और पहरेवाले कैदी समझते कि यह कोई जोगी महात्मा है। महात्मा को खुश रखने की सभी कोशिश करते और खाने-पीने की जो चीज स्वीकार कर सकते, वह उनके पास पहुँचती रहती। लेकिन एंग्लो-इण्डियन जेलर ऐसे मिथ्या विश्वासों को माननेवाला न था। एक दिन सबेरे पृथ्वीसिंह को न उठते देख उसने सिपाहियों को जबरदस्ती उठाने के लिए कहा। सिपाहियों ने साफ इन्कार कर दिया, "हुजूर, यह कोई जोगी पुरुष हैं, हम इन्हें रात-दिन भजन में देखते हैं। हम इनके शरीर में हाथ नहीं लगा सकते।" जेलर उस दिन चला गया। दूसरे दिन वह हुक्म-बरदार कैदी पहरेवालों को लेकर पहुँचा। सेल का दरवाजा खुलवाकर उसने चिल्लाकर कहा, "पकड़ो साले को।" गाली बर्दाश्त करना पृथ्वीसिंह के बूते के बाहर की बात थी। उन्होंने भी गाली देकर ललकारा कि यदि हिम्मत है तो नजदीक आओ। जेलर ने उछलकर एक डंडा पृथ्वीसिंह के सर पर मारा। उन्होंने झपटकर जेलर की गर्दन पकड़ ली और एक-दो घुटने लगाये। चालीसों आदमी पृथ्वीसिंह पर टूट पड़े और जेलर जान लेकर वहाँ से भागा। पृथ्वीसिंह चार घंटे बेहोश रहे और फिर उन्हें अपने भाग्य पर छोड़ दिया गया। कुछ दिनों में वे अच्छे हो गये। जेलर फिर कभी उनकी सेल के भीतर नहीं आया।

अब हजारीबाग से कुछ और राजबन्दी आ गये थे; पंडित जगतराम भी राजमहेन्द्री भेज दिये गये। उन्हें अपना पंजाबी खाना अलग बनाने की इजाजत थी। पृथ्वीसिंह को अब खाने की कोई तकलीफ न थी।

जेल की त्रिमूर्ति सजा देकर हार गयी, रह गया था सिर्फ फाँसी चढ़ाना और बेंत मारना। फाँसी चढ़ाना उनके हाथ में न था और बेंत मारने पर बाहर हल्ला होने का डर था। आखिर में उन्होंने निश्चय किया कि इसे पागल करके पागलखाने में भेज दिया जाय ! मित्रों को जब मालूम हुआ तब घबड़ाये और उन्होंने पृथ्वीसिंह को समझाने की कोशिश की। लेकिन पृथ्वीसिंह को पागलखाना कोई डरावनी चीज नहीं मालूम होती थी। इसी वक्त सिक्ख कैदियों के साथ बुरे बर्ताव की खबरें पंजाब में पहुँची थीं और उसके लिए वहाँ बहुत आन्दोलन हो रहा था। भिन्न-भिन्न जेलों में सिक्ख राजबंदियों को देखने के लिए डेपुटेशन भेजा गया। सरदार तेजसिंह चूडकाना दो और सज्जनों के साथ राजमहेन्द्री जेल देखने आये। सरदार तेजसिंह मार्शल लॉ के कैदी बन अंडमान में रह चुके थे और वह पृथ्वीसिंह को अच्छी तरह जानते थे। राजबंदियों से मिलवाकर जेलर सुपरिन्टेण्डेन्ट और डाक्टर उन्हें पृथ्वीसिंह के पास ले आये। उन्होंने सारा किस्सा सुना और देश के नाम पर कहा कि इस जिद को छोड़ो। सुपरिन्टेण्डेन्ट ने दो घण्टे का समय दिया। पृथ्वीसिंह ने चूडकाना की बात स्वीकार कर ली। दूसरे दिन डाक्टर ने परीक्षा की और कहा कि छै दिन के भीतर अपने लिए कोई काम चुन लो। पृथ्वीसिंह ने अपने लिए दो काम चुने–(1) दो सौ से ऊपर असहयोगी राजबंदियों को हिन्दी सिखाना और (2) बीमारों की सेवा करना। अधिकारियों ने मंजूर किया, यद्यपि यह कड़वी गोली थी।

आज आंध्र में हिंदी का काफी प्रचार है, लेकिन 1922 में इसके आरम्भ करनेवालों में पृथ्वीसिंह का नाम पहले आता है। एक महीने से ज्यादा वह हिंदी नहीं पढ़ा सके। मद्रास सरकार नहीं पसंद कर सकी कि उन जैसा क्रांतिकारी आंध्र के तरुणों के सम्पर्क में आये। हाँ, अस्पताल में उनका काम जारी रहा। राजमहेन्द्री जेल में आंध्र प्रदेश के डाक्टर सुब्रह्मण्यम्, बुलसू साम्बमूर्ति जैसे बड़े-बड़े नेताओं से उनकी मित्रता हुई। साम्बमूर्ति अब भी उन दिनों को बड़े स्नेह से याद करते हैं, जब वह तरुण थे।

राजमहेन्द्री से पहिले-पहिले उन्होंने एक पत्र अपने पिता के पास लिखा, जिससे मालूम हो कि उनका पुत्र अब भी जीवित है।

सभी पंजाबी राजबंदी उत्तरी भारत के किसी जेल में भेज देने के लिए अर्जी दे-देकर थक गये, मगर किसी ने न सुना। लेकिन इसी समय ऐसी स्थिति पैदा हुई कि सरकार को स्वयं उन्हें दूसरे जेल में भेजने के

लिए मजबूर होना पड़ा। उस वक्त आंध्र के कितने ही जिलों में रम्या-पिनूरी (रम्या के गदर) का बड़ा जोर था।

सीताराम राजू नामक एक बहादुर तरुण ने अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी थी। राजू का दल धीरे-धीरे बहुत मजबूत हो गया और सरकार के नाकों दम था। तीन साल तक उसने सरकार की नींद हराम कर दी। आंध्र के जंगलों और पहाड़ों में उसके छिपने की जगहें थीं, जहाँ से कभी किसी थाने पर और कभी किसी कचहरी पर वह टूट पड़ता। वह पहले से सरकार को खबर देकर हमला करता, लेकिन राजू की मशीन के सामने सरकारी मशीन बहुत सुस्त थी और वह हाथ नहीं आता। राजू के पास भी किसी ने पृथ्वीसिंह की बहादुरी की बातें पहुँचाईं। राजू ने पृथ्वीसिंह को राजमहेन्द्री जेल से निकालने का संकल्प किया। राजमहेन्द्री में अफवाह उड़ रही थी कि राजू जेल पर हल्ला बोलनेवाला है। जेल में भी बहुत आतंक छा गया था और उसकी हिफाजत के लिए अतिरिक्त पुलिस बुलायी गयी। राजमहेन्द्री के पास के एक स्टेशन पर राजू ने सफलतापूर्वक आक्रमण भी किया।

अब पृथ्वीसिंह जैसे क्रान्तिकारियों को राजमहेन्द्री में रखना सरकार ने खतरे की बात समझी। उस वक्त पंडित जगतराम, सरदार धीरसिंह, सरदार करतारसिंह और सरदार पृथ्वीसिंह, चार उत्तर भारतीय राजबंदी राजमहेन्द्री में अंग्रेजी भाषा जाननेवाले थे। तै हुआ था कि पंडित जगतराम को जबलपुर भेजा जाय और बाकी तीन आदमियों को नागपुर सेन्ट्रल जेल।

दूसरी छलाँग (29 नवम्बर, 1922)

मित्रों से मिलकर चारों जने सिपाहियों के साथ ट्रेन पर चढ़े। स्टेशन पर कितने ही लोग मिलने आये। अंग्रेज सारजंट भीड़ को देखकर घबड़ा गया, यद्यपि उसके पास सात कान्स्टेबुल थे। पृथ्वीसिंह और उनके साथियों के हाथों में न हथकड़ी थी और न पैरों में बेड़ी। उनके शरीर पर कैदियों के नहीं, साधारण कपड़े थे। सैकड़ों की भीड़ में उनका निकल जाना बहुत आसान था, किन्तु उनके दिल में इसका जरा भी ख्याल नहीं था। ट्रेन बैजवाड़ा पहुँची। यहाँ से उन्हें दूसरी ट्रेन पकड़नी थी, लेकिन अभी भी उन्हें हैदराबाद और भुसावल में गाड़ी बदलनी थी। इन जगहों पर भी पृथ्वीसिंह दो सिपाहियों के साथ खाने की चीजें लेने गये थे। उनके लिए दो सिपाही कुछ नहीं थे और अपने सादे कपड़ों में वह आसानी से निकल सकते थे; लेकिन उनके दिल में भागने का कोई ख्याल नहीं था। भुसावल में वह नागपुर की गाड़ी में बैठे, गाड़ी तेजी से चलने लगी। भागते नजारे में नागफनी की बाड़ सामने आयी, पंडित जगतराम ने पूछ दिया–"ट्रेन से कूदकर क्या तुम इन काँटों को पार कर सकते हो ?" पृथ्वीसिंह ने मुस्करा दिया, उनके दिल में ऐसा कोई विचार नहीं था। जगतराम उसी वक्त सामने की बेंच पर जाकर बैठ गये। पृथ्वीसिंह जंगले के पास बैठे थे। सारजंट को कुछ चिन्ता तो हुई, मगर बोलने की हिम्मत न हुई। उसने जगतराम से कहा कि इन्हें कह दो कि जंगले से अलग हो जाएँ। पृथ्वीसिंह को अभी तक कोई ख्याल नहीं आया था। वह दूसरी ही दूसरी बातों के सोचने में गर्क थे। जब जगतराम ने सारजंट की बात कही तो पृथ्वीसिंह को बुरा लगा और उन्होंने जंगला छोड़ने से इंकार कर दिया। सारजंट ने दो कान्स्टेबुलों को इनके पास बैठने का हुक्म दिया। पृथ्वीसिंह ने इसे भारी अपमान समझा और उनका दिमाग तेजी से सोचने लगा, शायद यह अपनी होशियारी के बल पर मुझे दूसरी जेल तक पहुँचाने का गर्व करता है। क्या मैं सिखलाऊँ इसे कुछ ? लेकिन उन्होंने अपने मन को समझाया और खिड़की छोड़ बीच की बेंच पर कम्बल बिछाकर लेट गये। सारजंट भी पास ही में था। चन्द ही घंटे चलने के बाद वह गम्भीर निद्रा में चले गये। उन्होंने स्वप्न में देखा, कोई कह रहा है, "क्यों सोये हो, उठो, यही समय है।" उनकी नींद खुल गई। देखा बाकी सभी सो गये हैं, सिर्फ तीन सिपाही ताश खेल रहे हैं। सीटी देकर गाड़ी स्टेशन छोड़नेवाली थी। अभी भी उनके दिमाग में भागने का कोई ख्याल नहीं था। वह पाखाना खोलकर पेशाब करने गये। ट्रेन की गति कुछ तेज होने लगी थी। पेशाब करते-करते दिमाग में ख्याल आया, "नहीं, सचमुच यही समय है।" वह सोच रहे थे कि बाहर जाकर जंगले से निकलें, लेकिन देखा कि पाखाने की खिड़की के शीशे को नीचे

गिराया जा सकता है। खिड़की बहुत छोटी थी, तो भी उसके भीतर से उन्होंने अपने को बाहर किया। फिर कलैय्या मार के पैरों के बल जमीन पर गिरे। रेल सिगनल से बाहर हो चुकी थी और गति भी बहुत तीव्र थी। सिपाही अभी कितनी ही देर तक ताश खेलते रहेंगे ! पृथ्वीसिंह अब कैदी नहीं, स्वतंत्र व्यक्ति थे और लम्बे अर्से के लिए। वह 29 नवम्बर, 1922 की रात थी। चारों ओर दूध की तरह चाँदनी छिटकी हुई थी।

8
अज्ञातवास

जाड़े के दिन, चाँदनी रात, लेकिन उस ऊँची-नीची पहाड़ी जमीन में जब वह तेजी से चल रहे थे, तो प्यास का जोर होना स्वाभाविक था। पहली बार में साहस के वक्त पानी की अधिकता ने पृथ्वीसिंह को मुश्किल में डाला था और अब एक-दो मील दौड़ने के बाद कड़ी प्यास लगी हुई थी। वहाँ पानी का बिल्कुल पता न था। चाँदनी रात में वह आसपास काफी दूर तक देख सकते थे, लेकिन स्थान विल्कुल सुनसान, बियाबान था। रेल की लाइन को वह पहले ही दूर छोड़ चुके थे और अब रास्ते का पता लगाना मुश्किल था। उन्होंने अन्दाज से एक दिशा में चलना शुरू किया। दो बार सड़कों की चौमुहानी मिली। आगे एक कुआँ मिला। वह बहुत गहरा था। पानी निकालने का कोई साधन न था। कुएँ के पास एक गड़हा था, जो चाँदनी में पंक ही पंक से भरा मालूम होता था। लेकिन हाथ से छूने पर मालूम हुआ कि अँगुल-आध अँगुल पानी है। उन्होंने चारों हाथों-पैरों के बल जीभ से चाटकर प्यास बुझाने की कोशिश की और फिर चल पड़े।

अबकी बार भेष खतरे का नहीं था। उनके शरीर पर पाजामा, कुर्ता और पगड़ी थी, जिसके साथ काली लम्बी दाढ़ी भद्र वेष को प्रकट करती थी और कोई सन्देह करने का वहाँ चिन्ह न था। सबेरे 4 बजे तक वह चलते गये, तब उन्हें एक पक्की सड़क मिली। आध घंटा और जाने पर उन्हें मील का पत्थर मिला, जिस पर लिखा था, अमरावती दो मील। अभी भी उनको सन्देह था, लेकिन आगे "अमरावती एक मील" मिला। अब अमरावती भी नजदीक थी और सूर्योदय भी। सबसे ज्यादा चिन्ता हुई, किसके पास जायें। उसी तरह चलते-चलते वह शहर के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच गये। एक बड़े हाल के दरवाजे पर एक साइन बोर्ड टँगा हुआ था। एक कमरे में रोशनी दिखाई पड़ रही थी, उसके भीतर एक विद्यार्थी था। पृथ्वीसिंह सीधे उसके पास गये और कहा कि मैं तुम्हारी सहायता चाहता हूँ। उसने एक भी सवाल नहीं पूछा और जरा-सा इंतिजार करने के लिए कहा। जरा-सी प्रतीक्षा के बाद तरुण कपड़ा पहनकर बाहर निकलकर बोला, "मैं क्या मदद कर सकता हूँ ?" पृथ्वीसिंह ने कहा, "मेहरबानी करके मुझे शहर के सबसे सच्चे देशभक्त के पास ले चलो; मैं बहुत जरूरी काम से आया हूँ।"

उसने फिर कोई सवाल नहीं किया और पृथ्वीसिंह को साथ लेकर चल दिया। दोनों एक बड़े मकान पर गये, लेकिन मालूम हुआ कि मकान मालिक बाहर गया हुआ है। पृथ्वीसिंह ने कहा, "तो दूसरे सच्चे देशभक्त के पास ले चलो।" वहाँ भी वही बात हुई। तीसरी जगह मकान मालिक को अनुपस्थित देखकर पृथ्वीसिंह को कुछ निराशा-सी हुई। उन्होंने फिर तरुण से कहा, "अच्छा, क्या इन तीनों के अतिरिक्त और भी कोई है ?" उसने जरा देर सोचकर कहा, "हाँ, डाक्टर वरहाडपांडे।" गृहपति घर पर थे। किवाड़ पर दस्तक लगाते ही वह बाहर चले आये। पृथ्वीसिंह ने कहा, "क्या आप ही का नाम डाक्टर पांडे है।" उत्तर मिला, "हाँ।" पृथ्वीसिंह ने तरुण को धन्यवाद दे विदा किया। तरुण दो घंटे तक पृथ्वीसिंह के साथ घूमता रहा था। उसे यह भी नहीं मालूम कि यह दाढ़ीवाला अजनबी आदमी किसलिए यह सब कुछ कर रहा है। तब भी उसने कोई सवाल नहीं पूछा। डाक्टर को इतने सबेरे एक अजनबी आदमी को देखकर कौतूहल होना जरूरी था। उन्होंने बैठने के लिए कहा और पृथ्वीसिंह के चेहरे की ओर देखने लगे। तब भी उन्होंने कोई सवाल नहीं किया। पृथ्वीसिंह

ने बिना पूछे अपनी सारी कथा कह सुनायी। वह चुपचाप सब सुनते रहे और अन्त में बोले—"अच्छा, मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ ?" पृथ्वीसिंह ने कहा, "एक कैंची और अच्छा-सा अस्तुरा लाइये।" वह दोनों चीज ले आये। फिर कहा, "अब हज्जाम बन जाइये।" दाढ़ी और केश सफाचट कर दिये गये। डाक्टर ने फिर पूछा, "अब क्या ?" "एक जोड़ा कपड़ा लाइये।" वह भी आ गया। पृथ्वीसिंह खद्दर के उस धोती-कुर्ते में असहयोगी बन गये। डाक्टर ने फिर पूछा, "अब क्या ?" "इन सारे कपड़ों को जला दीजिए, हो तो एक जोड़ा चप्पल दीजिए।" चप्पलें भी आ गयीं। एक घंटे के भीतर ही पृथ्वीसिंह बिल्कुल दूसरे बन गये। जिस वक्त यह नेपथ्य परिवर्तन हो रहा था, उस वक्त डाक्टर ने कोई और बात न की। अब उन्होंने पूछा—"तुम्हें जाना कहाँ है और कैसे जाने का प्रबन्ध करोगे ?" यह सवाल मुश्किल था। घर की चीजों को देखकर पृथ्वीसिंह जान सकते थे कि डाक्टर गरीब है। संकोच करते हुए भी उन्हें कहना पड़ा कि मुझे बम्बई का टिकट चाहिए। डाक्टर के पास एक भी रुपया न था। डाक्टर ने कहा, "मेरे पास रुपया नहीं है, लेकिन अपने दोस्त से माँगने जा रहा हूँ।"

शायद तड़के ही रुपये की क्या जरूरत है, यह सवाल दोस्त ने किया हो अथवा डाक्टर ने अपने दोस्तों को काफी विश्वासपात्र समझा हो, उन्होंने साहसी तरुण की सारी कथा कह सुनायी। मित्र डॉक्टर की बात पर विश्वास करने को तैयार न था। उसने कहा, "यह बिल्कुल असम्भव है। सी. आई. डी. का जाल है। वह जरूर तुम्हें किसी राजनीतिक मुकदमे में फँसाना चाहता है।" डाक्टर ने कोई तर्क-वितर्क नहीं किया। उन्होंने कहा, "मैं नवागन्तुक पर पूरा विश्वास करता हूँ। उस आदमी की आँखें ही बतलाती हैं कि वह सत्य बोल रहा है। तुम उसे एक बार अपनी आँखों से देखो तो।" डाक्टर पृथ्वीसिंह को उनके पास ले गये। उनके मित्र ने बातचीत नहीं की, सिर्फ दूर से देखा। बम्बई जाने के लिए रुपया मिल गया। डाक्टर उन्हें ट्रेन पर बैठा आये। ट्रेन पर लोगों को कहते सुना कि पुलिस किसी भगोड़े कैदी की तलाश में है। पृथ्वीसिंह का चेहरा बदल चुका था।

बम्बई में

बम्बई जाते वक्त ट्रेन भुसावल से गुजरी। पुलिसवाले हर कम्पार्टमेन्ट में झाँक-झाँककर देख रहे थे। पृथ्वीसिंह ने देखा कि राजमहेन्द्री का एक हवलदार भी ढूँढ़ने में लगा हुआ है, लेकिन यहाँ वह पृथ्वीसिंह था कहाँ !

बम्बई में उनका कोई परिचित नहीं था और न उन्होंने डाक्टर पांडे से किसी के लिए परिचय-पत्र लिया था। उन्होंने अंडमान में सुने एक सज्जन के पास जाने का निश्चय किया लेकिन बम्बई जैसे शहर में बिना पते के सिर्फ नाम से ढूँढ़ निकालना मुश्किल था। संयोग कहिए, उन्होंने जिस आदमी से उक्त सज्जन का घर पूछा, वह उन्हें उनके आफिस पर छोड़ आया। आफिस से घर जाने में कोई दिक्कत न हुई। अच्छा सुन्दर मकान था। देखने से ही मालूम होता था कि यहाँ लक्ष्मी का निवास है। पृथ्वीसिंह ड्राइंगरूम में बैठा दिये गये। चन्द मिनटों के बाद उक्त सज्जन दूसरे कमरे से उनके पास पहुँचे।

पृथ्वीसिंह के वस्त्र बिल्कुल मामूली थे, जिसका उस घर की सजावट से बिल्कुल विरोध था। उक्त सज्जन, इन्हें भी डाक्टर कह लीजिए, के सोने का वक्त था। रात बहुत बीत चुकी थी। डाक्टर आकर सोफे पर बैठ गये। पृथ्वीसिंह को चन्द मिनटों तक कुछ समझ में नहीं आ रहा था, कि कैसे बात शुरू करें। डाक्टर ने ही पहिले शुरू कर दी और पूछा, "इतनी रात को किस काम से मेरे पास आये ?" पृथ्वीसिंह को कुछ हिम्मत हो आयी। उन्होंने कहा, "क्या मैं आपके नजदीक आकर बैठ सकता हूँ ?" एक क्षण के लिए भी बिना रुके, मुस्कराते हुए डाक्टर ने कहा, "हाँ जरूर आइये, यहाँ बैठिए !"

पृथ्वीसिंह ने शुरू किया, "मेरा नाम पृथ्वीसिंह है। मैं अंडमान में था। 29 नवम्बर को चलती गाड़ी से भागा हूँ। किसी तरह कपड़े बदलकर यहाँ तक पहुँचा हूँ। अब आपकी मदद चाहता हूँ। हम दोनों एक दूसरे से अपरिचित हैं। मैंने आपका नाम सुना था और किसी तरह ढूँढ़ते-ढूँढ़ते यहाँ पहुँच गया हूँ।" डाक्टर बड़े ध्यान से पृथ्वीसिंह की कथा सुन रहे थे। कथा समाप्त होते ही उन्होंने बड़े अकृत्रिम भाव से कहा, "आपका

स्वागत है।"

पृथ्वीसिंह के भागने की खबर अखबारों में पहले ही छप चुकी थी।

खाने का समय खतम हो चुका था। डाक्टर ने नौकर को भेजकर कुछ मिठाई मँगवायी और यह कहकर डाक्टर वहाँ से वाहर चले गये कि आप इतमीनान से खाइये।

डाक्टर के बाहर चले जाने से पृथ्वीसिंह के मन में कुछ खटका जरूर होने लगा, मगर उन्होंने अपने मन की लानत-मलामत की।

घंटा-भर बीत जाने के बाद डाक्टर लौटकर आये। उनके साथ एक सुन्दर तरुण था। उन्होंने तरुण से परिचय कराया। एक क्रान्तिकारी की सहायता करना तरुण अपने सौभाग्य की वात समझता था। डाक्टर का स्थान सुरक्षित न था, इसलिए तरुण उन्हें एक सुरक्षित स्थान में ले गया। ऐसे पक्के और तजर्बेकार क्रान्तिकारी को पाकर तरुण अपने हृदय के भावों को रोक न सका। उसने देश के लिए मरने-जीने की सारी उमंगों को उनके सामने रख दिया। यह जगह गिरगाँव थाने के पास थी। पृथ्वीसिंह सवेरे-शाम कान्स्टेबिलों को अपनी ड्यूटी पर जाते देखते थे। दो और स्थान वदले गये। वह जिस तीसरे तरुण के स्थान पर गये, उसका चचा सी. आई. डी. में काम करता था। वह भी खतरे की जगह थी।

डाक्टर ने बम्बई को सुरक्षित नहीं समझा। अब उन्हें बेलगाँव भेजने का निश्चय हुआ। पूना होते हुए वह बेलगाँव पहुँचे। पता उनको मालूम था। सीधे वह वहाँ पहुँच गये। यह एक लम्वे-चौड़े हाते के भीतर बड़ा-सा वँगला था, जिसे देखने से ही मालूम हो जाता था कि यह एक सुरुचि रखनेवाले किसी धनी का मकान है। पृथ्वीसिंह के पास कोई परिचय-पत्र नहीं था, लेकिन गृहपति को उनके आने की खबर मिल चुकी थी और उन्होंने स्टेशन पर एक आदमी को भेज दिया था। आदमी ने समझा होगा कि चकित आँखों को देखकर वह आनेवाले आदमी को पहचान लेगा, लेकिन चकित आँखें ही तो पुलिस को भेद बतलाती हैं। पृथ्वीसिंह ऐसे आये जैसे बेलगाँव के ही पुराने वासी हों।

देर होते देख गृहपति को कुछ चिन्ता होने लगी थी। इसी वक्त पृथ्वीसिंह कपड़ों की गठरी लिये बँगले के भीतर दाखिल हुए। गृहपति को बहुत सन्तोष हुआ और यह जानकर पृथ्वीसिंह को उनसे भी अधिक सन्तोष हुआ, कि गृहपति बहुत कुशल हैं। रात ही को दोनों ने भविष्य के प्रोग्राम पर विचार किया। यद्यपि गृहपति के ऊपर पुलिस को सन्देह नहीं था, तो भी जगह खतरे की थी और अन्त में यही तै हुआ कि यहाँ रहना अच्छा नहीं है।

भावनगर में (1923-30)

पृथ्वीसिंह को फिर बम्बई आना पड़ा। पहिले के परिचित क्रान्तिकारी तरुण और दूसरों से बहुत सलाह-मशविरा हुआ। अन्त में यही तै हुआ कि पृथ्वीसिंह का भावनगर में ही रहना ठीक होगा। हाँ, अब वहाँ उन्हें क्रान्तिकारी के तौर पर नहीं, एक साधारण आदमी की तरह परिचय देना होगा।

आखिर एक शाम पृथ्वीसिंह भावनगर पहुँच गये। काम था लड़कों को अखाड़ा, कुश्ती, शारीरिक व्यायाम सिखलाना। पृथ्वीसिंह अब तीस साल के थे। उनका शरीर खूब स्वस्थ और बलिष्ठ था। वहाँ रहते हुए उन्होंने देखा कि एक बगीचे में लाल सिन्दूर से रँगी हनुमान की मूर्ति के पास बैठकर लड़के शाम को स्तुति करते थे। पृथ्वीसिंह ने न अपने शैशव में, न बर्मा में ही इसे देखा था। उनको लड़कों की हनुमान-भक्ति बहुत पसन्द आयी और कुछ ही समय बाद पृथ्वीसिंह ने लड़कों के लिए हनुमान का एक छोटा-सा मन्दिर खड़ा कर दिया।

पृथ्वीसिंह का स्वभाव बहुत ही मधुर है। कभी-कभी वह क्रोध में पागल भी देखे गये, मगर वहीं जहाँ कि आत्म-सम्मान खतरे में पड़ता दिखलायी पड़ता। भावनगर के हजारों नर-नारी, बच्चे-बूढ़े उनके सम्पर्क में आये और सभी को उनके मधुर स्वभाव ने अपने स्नेह में बाँध लिया। उनका काम बच्चों की शिक्षा-दीक्षा था। बच्चों को बहुत नजदीक से देखकर उन्होंने समझा कि यह भोला-भाला स्वभाव कितना अच्छा है। भावनगर में भी उन्हें एक घनिष्ट मित्र मिला। कुछ ही समय के परिचय के बाद मित्र ने सोचा कि ऐसे आदमी को

भावनगर से जाने नहीं देना चाहिए। पृथ्वीसिंह का जीवन बहुत सीधा-सादा था। उनकी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। मित्र ने अपने दोस्तों से किसी काम के ढूँढ़ निकालने को कहा। किसी ने पूछा, "आप अपने दोस्त के लिए क्या काम चाहते हैं।" मित्र ने जवाब दिया, "चपरासी से लेकर हाकिम तक।"

9
काठियावाड़ में व्यायाम-शिक्षक

पृथ्वीसिंह के दोस्त वैशम्पायन की एक समाज-सेवक के तौर पर भावनगर में बड़ी प्रसिद्धि थी। नगर के प्रमुख व्यक्ति उनका सम्मान करते थे। श्रीयुत गोपाल जी भाई टक्कर ने एक दिन उनसे कहा कि हमारे 'सनातन धर्म हाई स्कूल' के लिए एक व्यायाम शिक्षक ढूँढ़ दीजिए। मित्र ने पृथ्वीसिंह से कहा। दूसरे दिन उन्हें हेडमास्टर के पास जाना था। ठक्कर ने पृथ्वीसिंह के मित्र से तनख्वाह के बारे में जब पूछा, तो उन्होंने जवाब दिया, "आप उनकी योग्यता के अनुसार नहीं दे सकते, आप अपनी योग्यता के अनुसार दे दीजियेगा।"

यू. पी. वालों को गुजरात और महाराष्ट्र के लोग भइया कहते हैं। भइया लोग मेहनत-मजूरी का काम करते हैं, इसलिए उनकी नजर में 'भइया' का अर्थ है, छोटा आदमी। बाजार में भइया की कीमत बहुत कम होती है। इसलिए स्कूलवालों ने यू. पी. के इस भइया को 15 रुपये मासिक देना बहुत काफी समझा। खद्दर की धोती और कुर्ता पहिने पृथ्वीसिंह भी छगनलाल दवे हेडमास्टर के पास पहुँचे और बड़ी नम्रता से सलाम किया। घण्टी बजी और उनसे कहा गया कि एक अध्यापक आ रहे हैं, उनके साथ जाना। हेडमास्टर के कमरे में बहुत-सी खाली कुर्सियाँ पड़ी थीं, लेकिन भइया को कुर्सी की क्या जरूरत ! अध्यापक के आने तक भइया को उसी तरह खड़ा रहना पड़ा।

अध्यापक उन्हें व्यायाम-गृह में ले गये। भइया ने कई तरह की कसरत दिखलायी। अध्यापक सन्तोष राम भट्ट बम्बई विश्वविद्यालय के बी. एस-सी. थे और उनको स्काउटिंग में बहुत दिलचस्पी थी। वह अपनी टूटी-फूटी भइया-बोली–हिन्दी में विस्तार के साथ व्यायाम के बाबत उन्हें बतलाने लगे। हिन्दी बोलने में उन्हें दिक्कत होने लगी। पृथ्वीसिंह गुजराती जानते नहीं थे, इसलिए उन्होंने अध्यापक को अंग्रेजी में समझाया। पहला वाक्य जैसे ही खतम हुआ, भट्ट आश्चर्य से उनकी ओर देखते हुए बोले, "चलिए हेडमास्टर के आफिस में चलें।" पृथ्वीसिंह को इसका कारण नहीं मालूम हुआ कि क्यों बात को खतम किये बिना चलने को कह रहे हैं। पृथ्वीसिंह का हाथ पकड़कर वह हेडमास्टर के कमरे में ले चले और बोले, "यह तो कोई ग्रेजुएट मालूम होते हैं।" हेडमास्टर तुरन्त कुर्सी छोड़कर उठ खड़े हुए और हाथ मिलाते हुए उनसे बैठने के लिए कहा। बहुत अफसोस प्रकट करते हुए हेडमास्टर दवे बोले, "हमने समझा था कि आप एक मामूली भइया हैं, इसीलिए हमने पन्द्रह रुपये महीना देने का निश्चय किया था। कृपया कल आइए।"

पृथ्वीसिंह रास्ते-भर सोचते आ रहे थे। वह अनुभव करने लगे कि उन्होंने अंग्रेजी बोलकर अच्छा नहीं किया; और तो और, अब शायद काम भी नहीं मिलेगा।

दूसरे दिन जब पृथ्वीसिंह हेडमास्टर के पास पहुँचे तो उनके दिल में आशा बहुत कम रह गयी थी; लेकिन हेडमास्टर ने बड़ी नर्मी के साथ कहा–"हमारी संस्था धनी नहीं है, इसलिए हम आपकी योग्यता के अनुसार वेतन नहीं दे सकते। आप समाज-सेवक मालूम पड़ते हैं, इसलिए आशा है कि आप हमारे 30 रुपये मासिक को स्वीकार करेंगे और अपराह्न में बालकों को एक घण्टा व्यायाम की शिक्षा देंगे।"

पृथ्वीसिंह को बहुत प्रसन्नता हुई। दूसरे दिन से उन्होंने अपना काम शुरू कर दिया।

पृथ्वीसिंह का शरीर देखने से ही मालूम होता था कि वह पहलवान हैं, लेकिन सिवाय दंड-बैठक के वह और कोई व्यायाम नहीं जानते थे और यहाँ बने थे व्यायाम-शिक्षक। वह अपने दिल में अपनी कमजोरी को

खूब महसूस करते थे। स्वस्थ शरीर, सुन्दर मुख और सौम्य स्वभाव उन्हें प्रकृति की ओर से मिला था; मगर यही तीन गुण व्यायाम-शिक्षक के लिए काफी नहीं हैं। अब उन्होंने पुस्तकों को अपना गुरु बनाया और शारीरिक व्यायाम, शारीरिक स्वास्थ्य, शरीरशास्त्र के बारे में ज्ञान प्राप्त करना शुरू किया। कभी-कभी वह परेड के मैदान में चले जाते और सिपाहियों की कसरत को अच्छी तरह देखते। भूख-हड़ताल छोड़ बाकी समय अंडमान में वह रोज दंड-बैठक किया करते थे, जिससे उनकी छाती का खूब विकास हुआ था। रग-पट्ठे भी खूब उभड़े हुए थे। जाँघिया में उनके शरीर को देखकर भला कौन कह सकता था कि वह अच्छे व्यायाम-शिक्षक नहीं हैं ? जब तक उन्हें और व्यायाम-क्रियाओं के बारे में मालूम नहीं था, तब तक वह अपनी छाती, बाजू, जाँघ, पिंडली और रग-पट्ठे को दिखलाकर अपनी जानी हुई कसरतों को बतलाते और जब उनका ज्ञान और बढ़ा तो शिक्षा में भी नयी बातें शामिल कीं।

काठियावाड़ में शारीरिक व्यायाम का बहुत कम रिवाज है। पृथ्वीसिंह ने बहुत जल्दी तरुणों में व्यायाम के प्रति आकर्षण पैदा किया। उन्होंने आवाज उठायी कि तरुणों का स्वास्थ्य सबसे बड़ा धन है। व्यायाम के बिना काठियावाड़ इस धन को बड़ी तेजी से खो रहा है। उनके पुराने मित्रों ने भावनगर के प्रभावशाली आदमियों को व्यायाम-शिक्षा को सहायता देने के लिए प्रेरित किया। स्कूल में जो वह समय देते थे, उसके बाद का समय वह दूसरे तरुणों की व्यायाम-शिक्षा में लगाते थे। चन्द महीने बीतते-बीतते व्यायाम के आन्दोलन के लिए सुन्दर वातावरण पैदा हो गया।

तरुण व्यायाम की बहुत-सी बातें जानना चाहते थे, लेकिन पृथ्वीसिंह की पूँजी बहुत थोड़ी थी।

हाँ, यहाँ एक बात कहना भूल गये, जब महीने की तनख्वाह लेने के बाद चपरासी ने पृथ्वीसिंह को रजिस्टर पर दस्तखत करने के लिए कहा तो उनके सामने नाम का सवाल आया। उन्होंने कलम उठाकर स्वामीराव लिख दिया। उन्हें यह ख्याल नहीं आया कि यू. पी. के भइयों में 'स्वामी' नाम शायद ही कहीं मिले, मगर 'राव' तो वहाँ छप्पन जन्म ढूँढ़ने पर भी न मिलेगा। खैर ! गुजरात काठियावाड़ के लिए तो पृथ्वीसिंह अब स्वामीराव ही बन गये, जिसे उनकी साधु ब्रह्मचारी-वृत्ति को देखकर लोगों ने 'स्वामी' बना दिया।

स्वामीराव के मित्र नासिक के प्रसिद्ध व्यायाम-आचार्य, के. बी. महाबल से घनिष्ट परिचय रखते थे। उनके साथ बातचीत करके इंतिजाम किया गया कि वह व्यायाम के बड़े विद्यार्थियों को कुछ व्यायाम सिखाएँ। महाबल अपने पुत्र और दो शिष्यों के साथ भावनगर आये। स्वामीराव ने लाज-संकोच छोड़ा और खुद भी विद्यार्थियों में शामिल हो गये। उन्होंने कोशिश की कि इस कला को अधिक से अधिक सीखें। लेकिन जेल के संघर्षपूर्ण जीवन ने उनके शरीर को उतना लचीला नहीं रहने दिया, इसलिए वह उतने सफल नहीं हो सकते थे जितने कि उनके दूसरे तरुण शिष्य। महाबल की व्यायाम-विधि और उनकी शिक्षा से भावनगर के शिक्षित तरुणों में व्यायाम के लिए काफी रुचि पैदा हो गयी। छैल-चिकनियाँ तरुण, जो शारीरिक व्यायाम को नीची निगाह से देखते थे, वे भी अखाड़े की तरफ आकृष्ट हुए। इस सफलता से स्वामीराव का उत्साह इतना बढ़ा कि वह काठियावाड़ के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानों पर महाबल को ले गये।

मालिश की कला में निपुणता

गर्मी के दिनों में बम्बई प्रान्त के स्कूलों और कालेजों में 40 दिन की छुट्टी होती है। पुस्तकों को पढ़ने और महाबल जैसे विशेषज्ञों के सम्पर्क में आने से स्वामीराव को व्यायाम-कला की बहुत-सी बातों को जानने का मौका मिला। स्वामीराव ने छुट्टियों को इसी काम में लगाना चाहा। महाबल जी ने उन्हें बड़ौदा के व्यायाम-कलाचार्य माणिकराव जी के पास जाने को कहा और खुद वहाँ चिट्ठी भी भेज दी। स्वामीराव बड़ौदा पहुँचे और जुम्मादादा व्यायाम-मन्दिर के छात्रावास में एक महीने के लिए भर्ती हो गये। माणिकराव जी ने उन्हें अपने एक निपुण बलिष्ठ शागिर्द के जिम्मे लगाया, जो कुश्ती की कला में बहुत निपुण था। तरुण में खूब बल था और साथ ही दाँव का ज्ञान भी, स्वामीराव के शरीर में बल तो था, मगर कुश्ती की कला नहीं थी। तरुण स्वामीराव को एक बच्चे की तरह जैसे चाहता वैसे उलटा-पुलटा देता, लेकिन स्वामीराव हताश नहीं हुए। उन्होंने तै कर

लिया था कि इस कला को सीखना है। पहिली यात्रा में वह बहुत तो नहीं सीख सके, मगर उन्हें इस कला का महत्त्व मालूम हो गया, साथ ही माणिकराव से परिचय प्राप्त करने तथा उनका शिष्य बनने का गौरव मिला। अब काठियावाड़ में वे स्वामीराव ही नहीं, माणिकराव के शागिर्द भी थे।

स्वयंसेवक संगठन का अनुभव

थ्योसोफिकल सोसायटी का भावनगर में कोई सम्मेलन होनेवाला था, जिसके साथ प्रदर्शनी भी होनेवाली थी। सनातन धर्म स्कूल के हेडमास्टर ने विद्यार्थियों को स्वयंसेवक बनने के लिए कहा, लेकिन सफलता नहीं हुई। सम्मेलन के प्रबंधक इसके लिए पुलिस की मदद लेने की बात सोच रहे थे। स्वामीराव को यह पसंद नहीं आया। उन्होंने हेडमास्टर से कहा कि जरा मुझे हर क्लास में जाकर स्वयंसेवक बनाने की इजाजत दीजिए। हेडमास्टर निराश थे, लेकिन उन्होंने स्वामीराव को जाने की इजाजत दे दी। वह पहिले छठे दर्जे के लड़कों में गये। वहाँ उन्हें जो सफलता हुई, उससे उत्साहित हो वे सातवें दर्जे में गये। वहाँ कोई सज्जन फिलासफी और ब्रह्म-विद्या को घोलकर पिलाने में लगे हुए थे। स्वामीराव ने एक शब्द में स्वयंसेवक बनने के लिए कहा, लेकिन कोई विद्यार्थी तैयार नहीं हुआ। वह हताश नहीं हुए। उन्होंने व्याख्याता से चन्द मिनट बोलने की इजाजत माँगी। फिर कहा, "खद्दर पहिनने और गाँधी-टोपी लगाने का क्या फायदा है, यदि तुम उस संस्था की सामाजिक सेवा करना नहीं चाहते, जहाँ बैठकर तुम विद्यारस का आस्वादन कर रहे हो ?" व्याख्याता गुस्से में बोल उठे, "इसे गाँधी टोपी मत कहो। यह सफेद टोपी है।" "इसे विद्यार्थियों पर छोड़ दीजिए।" पूछने पर लड़कों ने एक स्वर से कहा, "गाँधी टोपी"। वालंटियर बनने के लिए कहने पर, कई लड़कों ने अपना नाम दिया।

स्वामीराव ने वालंटियरों को एक निश्चित समय पर निश्चित पोशाक और लाठी के साथ बुलाया। दूसरे दिन वर्दीधारी तरुण लाठियाँ सँभाले पहुँच गये। भावनगर की जनता ने कभी सम्भ्रान्त परिवार के तरुण बच्चों को इस तरह वर्दी पहने, लाठी लिये, परेड करते नहीं देखा था। कुछ प्रमुख नागरिक यह कह आलोचना करते थे, "आ माणस शा माटे नाना छोकराओंना हाथ माँ बाँसड़ा आपे छे ?" (यह आदमी छोटे बच्चों के हाथ में क्यों बाँस दे रहा है ?) लड़के भी पहिले कुछ शर्माते-से मालूम होते थे। खासकर लाठी की जरूरत को तो न हेडमास्टर ही समझते थे और न गोपाल जी भाई ही। सम्मेलन के बाद शाम को प्रदर्शनी में जाने के लिए बड़ी भीड़ थी। कुछ शरारती फाटक पर जमा हो गये थे और वह गड़बड़ी मचाने के लिए तैयार थे। कुछ फौजी सिपाही भी उनके साथ हो बिना टिकट ही प्रदर्शनी के भीतर घुसना चाहते थे। टिकट सिर्फ चार आना था।

स्वामीराव लड़कों को फाटक पर तैनात कर खाना खाने गये थे। उनके पास खबर पहुँची। वह दौड़े आये। प्रबंधकों से पूछने पर उन्होंने कहा, "जैसे हो वैसे प्रदर्शनी की रक्षा करनी चाहिए।" स्वामीराव ने अपने अखाड़ेवाले नौजवानों को लाठी लेकर आने के लिए कहा। सारे के सारे वहाँ पहुँच गये। अखाड़िया तरुणों को लाठी ले खड़े देखकर शरारती वहाँ से रफूचक्कर हो गये।

स्वामीराव भावनगर के तरुणों और उनकी वजह से वृद्धों में भी बहुत प्रिय होते जा रहे थे, क्योंकि व्यायाम की रुचि फैलाकर उन्होंने सचमुच तरुणों के स्वास्थ्य में भारी परिवर्तन किया था। साथ ही उनके रहन-सहन और सादे जीवन ने बहुतों के दिल में श्रद्धा पैदा कर दी। वह व्यायाम ही नहीं, खद्दर के भी बड़े भक्त थे। उन्होंने देखा, स्कूल के अध्यापकों और विद्यार्थियों में खद्दर पहिननेवाले बहुत कम हैं। हेडमास्टर से कहने पर उन्होंने उन्हें सबकी सभा में बोलने की इजाजत दी। खड़े तो हुए सिर्फ खद्दर का गुण गाने को, किन्तु उसमें भारत माता की गरीबी, परतन्त्रता आदि कितनी ही बातें बड़े करुण ढंग से कह डालीं। बोल जाने के बाद स्वामीराव को अपनी गलती मालूम हुई। श्रोताओं में बहुत-से उन्हें और श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे, "देखो इस आदमी को, जिसने देश के लिए अपने सुख और आराम को ठुकरा दिया।" कोई-कोई कह रहे थे, "क्या बात है, जो इतना शिक्षित और संस्कृत व्यक्ति 30 रुपल्ली की नौकरी करता है ? जरूर इसमें कोई रहस्य है।" कुछ राजनीतिक-कर्मी तो समझने लगे कि यह जरूर कोई सरकार का खुफिया है।

एक शपथ

स्वामीराव ने भावनगर में वच्चों के क्रीड़ा-मण्डल से अपना काम शुरू किया था। क्रीड़ा-मण्डल था कुश्ती और कसरत के लिए। अखाड़े को जिस रूप से उन्होंने पाया था, वह था सौ फुट लम्बा, सौ फुट चौड़ा एक खुला स्थान, जो एक बाग के भीतर स्थित था। अखाड़े के एक ओर कुआँ था और एक कोने पर सिन्दूर से रँगी हनुमान की मूर्त्ति। यहीं बारह फुट लम्बी, बारह फुट चौड़ी जगह को खोदकर कुश्ती की जगह बना ली गयी थी। अखाड़े में कुछ लाठियाँ, कुछ मुग्दर थे, जिसे माली के जिम्मे छोड़ आते थे।

एक शाम को स्वामीराव अखाड़े की ओर गये, दूर से ही देखा, कुछ लड़के झाड़ू लेकर अखाड़े को साफ कर रहे हैं और दूसरे तमाशा देख रहे हैं। स्वामीराव को यह ख्याल आसानी से आ सकता था कि हाथ का काम सभी को करना चाहिए, मगर इस वक्त उन्हें यह भी ख्याल आया, इस जगह को कुछ और बेहतर रूप देना चाहिए, ताकि लड़के जिस काम के लिए आते हैं, उस काम में उनका समय ज्यादा लगे। उन्होंने निश्चय किया कि क्रीड़ा-मण्डल या अखाड़े को एक सुन्दर रूप देना होगा।

दूध और चीनी स्वामीराव का प्रिय भोजन था। उन्होंने तै किया, कि जब तक क्रीड़ा-मण्डल को सुन्दर रूप न दे लेंगे, तब तक दूध-चीनी हराम है। यह प्रतिज्ञा स्वामीराव ने बच्चों के सामने ली थी। इसकी सूचना उनके माता-पिताओं के पास भी पहुँची, लेकिन कोई सहायता नहीं कर सका। छै महीना बीते, स्वामीराव अठारह पौण्ड घट गये, लेकिन अभी भी कोई रास्ता नहीं निकला। इसी समय नये महाराज कृष्णकुमार सिंह की गद्दी हो रही थी। उत्सव बड़ी शान-शौकत से मनाया जानेवाला था। उस वक्त शिक्षा विभाग के अध्यक्ष ने स्वामीराव को भी व्यायाम-प्रदर्शन करने के लिए कहा। प्रदर्शन में महाराजा और उनके दीवान, सर प्रभाशंकर पट्टानी भी आये। स्वामीराव के क्रीड़ा-मण्डल के प्रदर्शन को देखकर वह इतने प्रसन्न हुए कि सर प्रभाशंकर ने वहीं हुकुम पास किया कि अखाड़े के लिए स्वामीराव को एक सुन्दर जगह दी जाय। क्रीड़ा-मण्डल को मोती बाग में एक जगह दी गयी। माली को हुकुम हुआ कि बड़े वृक्षों की जड़ों के पास फूलवाले पौधे लगाए जाएँ, जिससे अखाड़ेवाले तरुण सुगंधित हवा में साँस लें। अखाड़े के ऊपर छत भी पड़ गयी, कसरत के सामान भी काफी खरीद लिये गये। माणिकराव जी से प्रार्थना की और उन्होंने अपने एक तरुण शागिर्द बहाउद्दीन उस्मान शेख को स्वामीराव का सहायक बनने के लिए भेज दिया। क्रीड़ा-मण्डल सचमुच ही अब भावनगर की एक उपयोगी ही नहीं, सुन्दर और प्रसिद्ध संस्था बन गयी। क्रीड़ा-मण्डल के प्रारम्भ करनेवाले थे स्वामीराव के मित्र, गणेश रघुनाथ वैशम्पायन, अब स्वामीराव ने उसका नाम रख दिया गणेश क्रीड़ा-मण्डल।

स्वामीराव लड़कों में जितने प्रिय थे, उतने ही अध्यापकों में अप्रिय। कारण था, उन्हें वह अपनी ही तरह चुस्त देखने के लिए उनकी नुक्ताचीनी करते थे। एक दिन उनकी असिस्टेन्ट हेडमास्टर से व्यायाम के सिलसिले में बहस छिड़ गयी। अध्यापक कह रहे थे कि सर प्रभाशंकर पट्टानी जिन्दगी के लिए व्यायाम की कोई जरूरत नहीं समझते। स्वामीराव ने जवाब दिया, "सर प्रभाशंकर जैसा आदमी कभी ऐसा कह नहीं सकता, यदि कहे भी तो मेरे लिए उसका कोई मूल्य नहीं। वह एक चतुर शासक हो सकते हैं, लेकिन व्यायाम के विशेषज्ञ और डाक्टर नहीं हैं।"

अध्यापक गुस्से में आकर बोला, "तो तुम सर प्रभाशंकर से भी अपने को ज्यादा होशियार समझते हो ?"

"हाँ, जहाँ तक कि व्यायाम का सम्बन्ध है।"

अध्यापक ने इस पर गाली निकाली। स्वामीराव उठ खड़े हुए और उनके लाल चेहरे को देखकर अध्यापक भाग गया। कुछ दूर पीछा किया, मगर फिर अपने को सँभाला। हेडमास्टर को इसकी कोई सूचना नहीं दी और स्कूल छोड़कर चले आये। गोपाल जी भाई ने बहुत कोशिश की, लेकिन स्वामीराव फिर लौटकर नहीं गये।

स्वामीराव जब भावनगर पहुँचे, तभी दक्षिणामूर्ति विद्याभवन के कामों को सुनकर उसकी ओर आकृष्ट

हुए। स्कूल छोड़ने के बाद भवन के नजदीक सम्पर्क में आने का उन्हें मौका मिला और वह भवन में व्यायाम की शिक्षा देने लगे। पीछे इतिहास और भूगोल भी पढ़ाने लगे। वह हिन्दी नहीं समझ सकते थे, इसलिए स्वामीराव गुजराती में बोलने की कोशिश करते; जिसमें काफी गलतियाँ होतीं और विद्यार्थियों का मनोरंजन होता। दक्षिणामूर्ति विद्यार्थी-भवन में कितने ही उच्च आदर्श के अध्यापक कार्य करते थे। स्वामीराव का सम्बन्ध उनसे और घनिष्ट होता गया। पीछे हाथों में घाव हो जाने से अस्पताल जाना जरूरी हुआ और इस तरह भवन से सम्बन्ध छूट गया।

स्वामीराव ने अपने को छिपाने की पूरी कोशिश की थी, लेकिन वह एक सजीव पुरुष थे, इसलिए चौबीसों घण्टे आत्म-गोपन करना मुश्किल था। किसी न किसी वक्त उनकी प्रतिभा झलक जाती और उनके बर्ताव से लोगों को यह भी मालूम होता कि इतना योग्य आदमी क्यों इस तरह इतना मामूली जीवन बिता रहा है। उस वक्त वह अपने एक सहकारी अध्यापक के साथ एक मकान में रहते थे। रात को वह बेधड़क सोये हुए थे। अध्यापक ने आकर उन्हें जगाया और कठोर शब्दों में कहा, "तुम सरकारी जासूस हो। मेरे जैसे देश-प्रेमी के घर में बहुत नहीं रह सकते।" स्वामीराव कैसे अपनी सफाई देते ? लेकिन वह ऐसी बातों के लिए तैयार थे। उन्होंने अपना बिस्तरा समेटा और मुस्कराते हुए उसी रात उस घर को छोड़ दिया।

एक दिन विद्यार्थियों के साथ (स्वामीराव) टहलने जा रहे थे। रास्ते में सामने से पाँच साधु आ रहे थे। वे बहुत हट्टे-कट्टे उत्तरी भारत के रहनेवाले थे। खादी का कपड़ा और गाँधी-टोपी पहिने गुजरातियों को देखकर उन्होंने महात्मा गाँधी को गाली देना शुरू किया। गाली को भी शायद किसी साधु ने दोहा में जोड़ रक्खा था। काठियावाड़ी विद्यार्थियों ने तो नहीं समझा, लेकिन स्वामीराव समझ रहे थे। स्वामीराव ने उनसे पूछा, 'बाबा आप क्या गाना गा रहे हैं ?"

"जो भी हमारी मर्जी।"

"मैं भी आपके गाने को सुनना चाहता हूँ।" उन्होंने महात्मा जी के प्रति गंदी गालियों से भरे एक दोहे को सुनाया। स्वामीराव इसे बर्दाश्त नहीं कर सके। उन्होंने जोर से कहा, "आपने गाँधीजी को गाली दी। अब मैं कहता हूँ कि तीन बार 'महात्मा गाँधी की जय' बोलो।" साधु भला क्यों मानने लगे। उन्होंने मजाक उड़ाया। स्वामीराव का डंडा उनके एक विद्यार्थी बालजी पटेल के पास रहता था। उन्होंने बालजी को डंडा लाने को कहा। मुसटंडे साधुओं ने हँसते हुए कहा, "हम तुम्हारे डंडा दिखलाने से डर जायेंगे ?" स्वामीराव ने कहा, "अच्छी बात, मैं डंडा नहीं दिखलाऊँगा। अब तुम सजग हो जाओ।" उन्होंने सबसे तगड़े साधू को जाकर गर्दन से पकड़ा, और कहा, "अब मैं तुम्हें जमीन पर पटकने जा रहा हूँ। तुमसे जो बने करो। हाथ के पकड़ने ही से साधू को पता चल गया कि आदमी में कितना बल है। उसने जरा भी देर किये बिना चिल्ला दिया, "महात्मा गाँधी की जय।" उसके साथियों ने भी अनुकरण किया। स्वामीराव के साथ-साथ सौ विद्यार्थी चल रहे थे, उनके लिए यह अच्छा मनोरंजन रहा।

स्वामीराव को रहने के लिए एक मकान की तलाश थी, लेकिन वह किराया नहीं दे सकते थे। किसी दोस्त ने कहा कि शहर से बाहर किन्तु दक्षिणामूर्ति भवन के नजदीक ही एक अच्छा बँगला खाली पड़ा है। यह बँगला किसी भक्त ने एक जैनी साधु के लिए बनवाया था। साधु बहुत दिन नहीं रह सका और उसी बँगले में उसकी मृत्यु हो गयी। शहर में मशहूर हो गया कि उस बँगले में भूत रहता है। कोई उस बँगले में रहने के लिए तैयार नहीं होता। स्वामीराव को कभी भूत पर विश्वास नहीं था। बँगला देखने पर उन्हें पसन्द आया। उन्होंने मालिक से रहने की इजाजत माँगी और उसने बड़ी खुशी से इजाजत दे दी। दोस्तों को जब मालूम हुआ तो उन्होंने स्वामीराव को बहुत समझाया और अपने घरों में रखना चाहा, लेकिन स्वामीराव भूतों का तमाशा देखने के लिए तुले हुए थे।

स्वामीराव अपना बिस्तरा, चारपाई और एक लालटेन ले भूतोंवाले बँगले में पहुँचे। गर्मियों के दिन थे,

उन्होंने अपनी चारपाई बाहर आसमान के नीचे बिछाई। खूब गहरी नींद में सोये थे। एकाएक उनके कानों में आवाज आयी, "कोन छे।" स्वामीराव ने इधर-उधर देखा, मगर कोई नजर न पड़ा। चन्द मिनटों बाद फिर वही आवाज आयी। जिस तरफ से आवाज आ रही थी, उधर नजर डालने पर कोई खड़ा दिखलाई पड़ा। स्वामीराव ने भी "कोन छे" कहकर पुकारा, जिस पर उसने उसी शब्द को दोहराया। स्वामीराव उसकी ओर दौड़ पड़े। भूत वहाँ से भाग निकला और वहाँ फिर कभी दिखलाई न पड़ा। वस्तुतः वह भूतों का बँगला नहीं, बदमाशों का अड्डा था। स्वामीराव के छोड़ने के बाद बँगले में रहनेवाले आने लगे।

वर्मा की यात्रा

1924 आया। स्वामीराव को भावनगर में रहते दो साल हो गये थे। अगर सरकारी मेहरबानी पर रहे होते तो उन्हें 1951 में छूटना था, लेकिन अपनी मर्जी से वह अब स्वतन्त्र थे। वह पिता को मिलने के लिए काठियावाड़ बुला नहीं सकते थे और साथ ही वृद्ध पिता को मरने से पहिले देखने के लिए भी उनका दिल बेकरार था। किसी मित्र ने 200 रुपये दिये और वह चन्द दिनों में वर्मा पहुँच गये। निराश पिता को एकाएक इस तरह पृथ्वीसिंह को सामने देखकर पहिले आश्चर्य, फिर अपार आनन्द हुआ। पृथ्वीसिंह ने उन्हें सारी बात बतलाकर आशीर्वाद माँगा, "मैंने अपना सारा जीवन देश-सेवा के लिए अर्पित किया है। आप खुशी से मुझे आज्ञा और आशीर्वाद दें।" पिता का आशीर्वाद ले विदा होते वक्त पृथ्वीसिंह ने कहा—"यदि देश के दुश्मनों से लड़ते-लड़ते मैं मारा जाऊँगा, तो बड़े-बड़े अक्षरों में उसकी खबर सब जगह छप जायेगी और आपको मालूम हो जायेगा। यदि मैं बीमार होकर चारपाई पर मरा, तो मेरे मित्र किसी न किसी तरह आप को खबर देंगे। हाँ, यदि देश-सेवा करते मैं जिंदा रहा, तो आप कोई खबर नहीं पा सकते।"

दो साल भारत में अज्ञातवास करने के बाद पृथ्वीसिंह की इच्छा हुई कि अंग्रेजों के चंगुल से बचकर किसी दूसरे देश को चले चलें। बर्मा की सीमा पर स्याम का मुल्क है। रास्ते के खतरे के बारे में वह सुन चुके थे, तो भी उन्होंने स्याम में छलाँग मारने का निश्चय किया। रंगून में उन्होंने एक खिलौना-पिस्तौल खरीदी, जिससे काफी आवाज निकलती थी। कुछ आतिशबाजी के पटाखे भी लिये, जिनसे जंगली जानवरों को डराया जा सकता था। कुछ दवाइयाँ और एक अच्छा छुरा पास में रक्खा।

मोल्मिन छोड़ने के बाद उन्हें नाव से एक नदी पार करनी पड़ी। अब घना जंगल था, जिसमें खूँख्वार जानवर थे। तीन दिन तक उस जंगल में चलते रहे। जानवर उनका कुछ नहीं बिगाड़ सके, लेकिन मच्छरों ने उन्हें परास्त कर दिया। एक शाम को उन्होंने देखा कि 104 डिगरी का बुखार चढ़ा हुआ है। अब आगे चलना सम्भव नहीं था। इधर-उधर ढूँढ़ने पर एक तारवाले आदमी का घर मिला। वह नौजवान हिन्दू था। पृथ्वीसिंह की बात पर उसने विश्वास किया, "मैं रंगून के एक व्यापारी के लिए बहुत-सी गायें खरीदने आया था, यहाँ जंगल में आकर बीमार पड़ गया। रात को मुझे अपने पास रहने की जगह दीजिए।"

पृथ्वीसिंह मुसलमानों जैसा कपड़ा पहने था, इसलिए नाम भी मुसलमानों जैसा बतलाया। हिन्दू तरुण ने जितना भी हो सकता था, उन्हें अच्छी तरह रखने का इंतिजाम किया। वह बिस्तरे पर पड़े थे। बुखार के जोर में अक-बक करने लगे। उन्होंने तरुण को कागज-पेन्सिल लाने को कहा और लाने के बाद यह भी, "जो मैं कहता हूँ, उसे लिखते जाओ।"

दूसरे दिन बुखार उतर गया। तरुण ने पृथ्वीसिंह से कहा, "आप तो कहते थे कि मैं अपने मालिक के लिए गायें खरीदने के लिए आया हूँ मगर रात को आप क्या बोल गये, जरा उसे भी तो देखें।" यद्यपि पृथ्वीसिंह ने अपने जीवन का कोई रहस्य नहीं खोला था, लेकिन उन्होंने देश की आजादी और मरने-मारने पर गरमा-गरम लेक्चर जरूर झाड़ा था। तरुण ने शायद बात समझ ली, लेकिन उसने और जानने के लिए कोई सवाल नहीं किया। तीन दिन तक वह उस हिन्दू तरुण के साथ रहे। मुसलमान जानते हुए भी तरुण ने उन्हें अपने भाई की तरह रक्खा। जब पृथ्वीसिंह कुछ अच्छे हुए और उन्होंने आगे जाने की बात कही, तो तरुण ने सारे खतरों को बतलाकर आगे न जाने की सलाह दी। वह फिर मोल्मिन लौट आये। बुखार ने दुहरा दिया। उस दिन

वह एक मुसलमान सराय में गये। उन्हें रहने के लिए कोठरी मिली। भीतर जाकर उन्होंने ताला बन्द कर लिया, जिसमें फिर कोई उनके अक-बक को न सुन ले।

रंगून आकर उन्होंने कलकत्ता के लिए जहाज पकड़ना चाहा। जेटी पर पहुँचते-पहुँचते फिर बुखार आ धमका। दो-तीन बार कलकत्तावाले जहाज के छूटने के बारे में किसी आदमी से पूछा। वह खुफिया का आदमी था, उसे संदेह हो गया। उसने तरह-तरह के सवाल करने शुरू किये। जवाब सन्तोषजनक नहीं थे, इसलिए उसका संदेह और बढ़ा। उसने पृथ्वीसिंह को थाने पर चलने के लिए कहा। जब दोनों में जवाब-सवाल हो रहा था, उसी वक्त एक खुफिया का अफसर उधर से जा रहा था। वह किसी बड़े काम पर जा रहा था, इसलिए उसने उसी आदमी को ले जाने के लिए कह दिया। पृथ्वीसिंह ने आदमी से एक धनी व्यापारी के यहाँ से होकर चलने के लिए कहा। आदमी मान गया।

पृथ्वीसिंह उसे एक सुनसान-से रास्ते पर ले गये। उन्होंने आदमी के हाथ पर 58 रु. रख उसके कंधे को छूते हुए कहा, "अगर तुम अपनी भलाई चाहते हो तो मुझसे छेड़छाड़ न करो।" आदमी बिना एक शब्द बोले वहाँ से चलता बना।

आदमी के विदा होते ही उधर से एक टैक्सी निकली, पृथ्वीसिंह उस पर बैठ गये और ड्राइवर से खूब तेज चलने के लिए कहा। आध घंटे की दौड़ के बाद वह एक छोटे-से स्टेशन पर पहुँचे और टैक्सी से उतर मांडलेवाले स्टेशन की ओर गये। वहाँ पास की नदी में स्टीमर चलते थे। पृथ्वीसिंह किन्दत जाने वाले स्टीमर पर बैठ गये। चिन्दविन नदी में स्टीमर का यह आखिरी स्टेशन है। उत्तर बर्मा का रास्ता लेते वक्त पृथ्वीसिंह ने सोच लिया था कि अब मुझे मनीपुर के पहाड़ों में से होकर हिन्दुस्तान जाना होगा। स्टीमर से उतरकर वह धर्मशाला में गये। धर्मशाला में तीन मनीपुरी भी ठहरे हुए थे, जो दूसरे ही दिन अपने घर की ओर प्रस्थान करनेवाले थे। पृथ्वीसिंह ने जब साथ चलने की बात कही तो उन्होंने कहा, "हाँ, आप चल सकते हैं।" लेकिन सरहद के अफसर के पास जाना अपने को खतरे में डालना था। तीनों मनीपुरी सीधे-सादे आदमी थे। उन्होंने कहा, "भाई, मैं कांग्रेसी हूँ, अंग्रेज अफसर के सामने मेरा जाना अच्छा नहीं है। क्या तुम कोई ऐसे पहाड़ी रास्ते से नहीं चल सकते, जिसमें आज्ञा-पत्र की जरूरत न हो ?"

उन्होंने बताया, "रास्ता तो है, लेकिन उससे जाने पर तीन दिन और लग जाएँगे।"

"मनीपुर तक तीनों आदमियों का जो खर्च होगा, मैं दूँगा। चलो ऐसे ही रास्ते जिसमें राहदारी की जरूरत न हो।" उन्होंने स्वीकार किया। पृथ्वीसिंह ने यह भी कहा कि मनीपुर पहुँचकर मैं इस बड़े छुरे को भी तुम्हें दे दूँगा।

दूसरे दिन उन्होंने पगडण्डी पकड़ी। जंगली पहाड़ी रास्ते से वे परिचित थे, लेकिन पृथ्वीसिंह तो मलेरिया से और भी कमजोर हो गये थे। ऊपर से पानी बरस गया था, इसलिए रास्ते में बिछली बहुत थी। लेकिन पृथ्वीसिंह को अपनी सारी शक्ति लगाकर इस संकट से पार होना था। कई जगह गिरे और उठे, कितनी ही दूर जाने के बाद उनके साथियों ने गंध सूँघकर कहा कि यहाँ आसपास कहीं बाघ है। यह कहते हुए उनके चेहरों पर मृत्यु की छाया दौड़ गयी थी। कुछ ही देर में पृथ्वीसिंह को भी वह गंध मालूम हुई। वह मृत्यु से लड़ने के लिए तैयार थे। मृत्यु शायद चारों आदमियों की गंध पाकर दूर हट गयी। काफी देर बाद उनके साथियों की जान में जान आयी और पीला पड़ गया चेहरा अपने स्वाभाविक रंग में आया।

शाम को वह एक छोटे-से गाँव के बाहर एक धर्मशाला में ठहरे। अपना सामान बीच में रखकर चारों जने सो गये। आधी रात के बाद डाकू आये। उन्होंने पत्थर फेंकना शुरू किया। पृथ्वीसिंह और उनके साथी अपने डंडे सँभालकर जोर से चिल्लाने लगे। कुछ देर बाद हल्ला सुनकर गाँव के भी कुछ लोग चले आये और डाकू उन्हें छोड़कर भाग गये। जंगल से ढँका पहाड़ी दृश्य बहुत ही सुन्दर था, लेकिन पृथ्वीसिंह प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लूटने नहीं गये थे। वह किसी तरह हिन्दुस्तान पहुँचना चाहते थे। पथ भयानक था, इसमें संदेह नहीं था। दूसरे दिन शाम को एक नदी के किनारे पहुँचे। नदी की धार बहुत तेज थी। पानी बहुत गहरा नहीं था। ज्यादा से ज्यादा 4 फुट रहा होगा; लेकिन उस तेज धार में 100 गज पार करने थे। नदी के तट पर

खड़े होकर चारों जने कुछ देर तक घाट की ओर देखते रहे। शाम हो रही थी, हाथी आदि हिंसक पशुओं का डर था, इसलिए देर करना खतरे की बात थी; साथ ही घाट को पार करना भी कम खतरे की बात नहीं थी। उनके सामने नौ पहाड़ियों ने घाट पार करने की कोशिश की, लेकिन पैर उखड़ गये और फिर उनका पता नहीं लगा। सूर्य नीचे उतरता जा रहा था और उसी के साथ-साथ उनकी आशा भी छूटती जा रही थी। लेकिन चुपचाप खड़ा रहना असह्य हो रहा था। पृथ्वीसिंह के तीनों साथी खूब हट्टे-कट्टे जवान थे। उन्होंने एक जगह देखी, जहाँ पत्थर कम लुढ़क रहे थे। उन्होंने पृथ्वीसिंह के कपड़े-लत्ते को ले लिया और घाट में चल पड़े और उस पार पहुँचने में सफल हुए। पृथ्वीसिंह भी पीछे नहीं रह सकते थे। उन्होंने भी लंगर को तोड़ दिया। प्रवाह के जोर का उतना डट करके मुकावला नहीं कर पाये, तो भी किसी तरह हिलते-डोलते साथियों के पास पहुँचने के स्थान से आध मील नीचे जाकर, धार से बाहर निकले। अपने को जीवित देखकर उन्हें खुशी हुई। पार पहुँचते ही जोर की वर्षा होने लगी। सारे कपड़े भीग गये। न वहाँ आग जलाने के लिए सूखी लकड़ी थी, न भीगी दियासलाई ही जल रही थी। बुखार से उठने के बाद यह कठिन यात्रा, ऊपर से वर्षा में भीगना, आधी रात के बाद उन्हें सख्त बुखार आया और सारा शरीर काँपने लगा। लेटने के लिए भीगी जमीन और भीगे कपड़े रह गये थे। दूसरे दिन सवेरे बुखार उतर गया। कमजोर थे, लेकिन उस निर्जन जंगल में पीछे रह जाने के लिए तैयार न थे। रास्ते में कई जगह कै हुई। चलना मुश्किल था, लेकिन मन पर जोर देकर वह दौड़ने लगे। आध मील दौड़ने के बाद शरीर से पसीना चूने लगा। फिर साथियों के लिए वैठ गये। वह सारा दिन इसी तरह दौड़ते-बैठते बीता और रात को अपने गंतव्य स्थान पर पहुँच गये। दूसरे दिन कोशिश करके दस रुपया रोज पर टाँघन किराये पर किया। घोड़ेवाला मजबूरी को जानता था, खैरियत यही हुई कि उसने अधिक नहीं माँगा। उस दिन शाम को जिस गाँव में पहुँचे वहाँ पहाड़ियों के कई जान-पहचानवाले थे, पृथ्वीसिंह की आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं हुई। उन्होंने दोस्तों से ठहरने के लिए कहा। वे भी भले मानुष थे और उन्होंने रहना स्वीकार किया। अब मनीपुर चालीस मील रह गया था। उन्होंने पाँच रुपये पर एक घोड़ा किया और दूसरे दिन वहाँ पहुँच गए। साथियों ने अपने घर में बड़े आराम से रक्खा। चारों तरफ हरे-हरे पहाड़ों से घिरी इस सुन्दर नगरी और उसके आसपास के छोटे-छोटे गाँव तथा खेत बड़े मनमोहक थे। आठ दिन तक उन्होंने इम्फाल में आराम किया। पूछने पर मालूम हुआ कि बिना अंग्रेज रेंजिडेन्ट से राहदारी लिये कोई आदमी सरहद पार कर आसाम के भीतर नहीं जा सकता। पृथ्वीसिंह राहदारी लेने की हिम्मत नहीं कर सकते थे। मनीपुर की सड़कों पर घूमते-घूमते उनका एक सरकसवाले से परिचय हो गया। सरकस आसाम जानेवाला था। पृथ्वीसिंह ने किसी तरह उसका विश्वास प्राप्त किया। ले चलने के लिए प्रार्थना करने पर उसने उत्तर दिया, "परवाह मत करो, मैं तुम्हें अपने सरकस का खिलाड़ी बनाकर ले चलूँगा।" मनीपुर से मनीपुर रोड स्टेशन 30 मील है। उन्हें दस रुपये मोटर का किराया देना पड़ा। रास्ते में बहुत-से खुफियावाले यात्रियों की देखभाल के लिए तैनात थे। लेकिन पृथ्वीसिंह तो सरकस के खिलाड़ी थे। अब वह रेल के स्टेशन पर थे, जो रेलवे लाईन उनके सामने थी वह एक दूसरे से जुड़ी भावनगर तक चली गयी थी।

राज की नौकरी

स्वामीराव अब फिर भावनगर में थे। शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर विट्ठल राय मेहता के सभापतित्व में शिक्षित सम्भ्रान्त व्यक्तियों की एक सभा हुई, जिसमें स्वामीराव व्यायाम की आवश्यकता पर बोले। उन्होंने बताया कि किस तरह गुजराती तरुणों का शरीर और स्वास्थ्य गिरता जा रहा है और क्यों इसकी उपेक्षा करना आत्महत्या है। मेहता इस व्याख्यान से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अब स्वामीराव को, राज्य के शिक्षा-विभाग में ले लिया। उनके जिम्मे काम था, रियासत के स्कूलों में व्यायाम का प्रचार।

भावनगर में जाने के बाद ही से स्वामीराव राजपूत विद्यार्थियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश कर रहे थे, मगर उन्हें सफलता नहीं हुई प्राप्त थी। अब उन्होंने राजपूत लड़कों को व्यायाम सिखाने के लिए अवैतनिक तौर से अपनी सेवाएँ पेश कीं। यद्यपि राजपूत मुखिया उन्हें बनिया समझकर बड़ी नीची निगाह से

देखते थे, लेकिन थोड़े ही दिनों में विद्यार्थियों के साथ वह बिल्कुल घुल-मिल गये। राजपूत बोर्डिंग हाउस के सुपिरन्टेण्डेन्ट मकनजी मास्टर बहुत बूढ़े थे और बोर्डिंग का इंतिजाम करना उनके लिए आसान काम नहीं था। स्वामीराव को प्रबन्ध के सम्बन्ध में भी कुछ काम करना पड़ता था, क्योंकि राजपूत नेता भी अब उनसे प्रभावित थे। बुढ़ापे और तरुणाई की खटपट शुरू हुई। अधिकारियों ने धन्यवादपूर्वक मास्टर साहब की सेवाओं का आभार स्वीकार करते हुए कुछ रुपये पेश किये। बूढ़े सुपरिन्टेण्डेन्ट ने बोर्डिंग से विदाई ली और अब स्वामीराव नये सुपरिन्टेण्डेन्ट नियुक्त हुए। राजपूत नौजवानों को सँभालना आसान काम नहीं था, लेकिन स्वामीराव हमेशा तरुणों को आसानी से अपने प्रभाव में ला सकते थे, क्योंकि वह ऊपर से हुक्म चलाना अपना फर्ज नहीं समझते थे, बल्कि समझते थे कि वह भी उनमें से एक हैं। राजपूत बोर्डिंग हाउस के लड़के शहर में सबसे अधिक शरारती समझे जाते थे, लेकिन स्वामीराव ने शरारत में खर्च होनेवाली शक्ति को व्यायाम, मनोरंजन तथा दूसरे साहसपूर्ण कार्यों में लगा दिया। अब वे लड़के अनुशासन-पसन्द पक्के सैनिक बन गये। स्वामीराव ने उनकी एक स्वयंसेवक सेना संगठित की, जो सभाओं और जलसों के अवसर पर बड़ी तत्परता से काम करती थी। लाठी और कटार लिये हुए मेला हो या सभा, सब जगह राजपूत तरुण स्वामीराव के साथ-साथ मौजूद रहते। एक बनिया का प्रभाव इतना बढ़ते देख कुछ राजपूत नेताओं को नयी ईर्ष्या होने लगी और थोड़े ही समय बाद उन्होंने बोर्डिंग छोड़ दिया, यद्यपि बहुत अफसोस के साथ।

सर प्रभाशंकर पट्टानी को, जब वह मोतीबागवाली सभा में सभापति बने थे, स्वामीराव ने व्यायाम के गुण बताये थे। स्वामीराव से पूछा था कि क्या मेरे बूढ़े शरीर के लिए भी कुछ हो सकता है। स्वामीराव ने जहाँ तक हो सकता है, सहायता करना स्वीकार किया। हर रोज दीवान साहब की मोटर स्वामीराव को लेने के लिए आती और स्वामीराव वहाँ जाकर मालिश द्वारा व्यायाम कराते। सर प्रभाशंकर को इस तरुण को नजदीक से देखने का मौका मिला और मालिश करते वक्त उनकी किसी न किसी विषय पर बराबर बात चलती रहती। राजनीति, धर्म, इतिहास, अर्थशास्त्र या शासन-कला जिस किसी विषय पर सर प्रभाशंकर बात करते, वह देखते कि तरुण समझने की शक्ति रखता है। इससे वह स्वामीराव का और भी सम्मान करने लगे। विशेषकर यह देखकर कि स्वामीराव उनसे किसी वैयक्तिक लाभ की आशा या चाह नहीं रखता। वायसराय काठियावाड़ की रियासतों में घूमने आये थे। सर प्रभाशंकर अपने खास सैलून में उनसे मिलने राजकोट और जामनगर गये। उस वक्त स्वामीराव भी उनके साथ थे और रियासतों के शरीर-रक्षक सर प्रभाशंकर को सैलूट देते तो स्वामीराव भी उनके भागी होते।

मालिश से सर प्रभाशंकर को फायदा होता दिखायी पड़ा। उन्होंने स्वामीराव को आधुनिक मालिश कला को सीखने के लिए कहा और गायकवाड़ के मालिशवेत्ता मिस्टर वोलोश के पास और फिर प्राचीन भारतीय मालिश कला को सीखने के लिए मलाबार तक भेजा। अब स्वामीराव आधुनिक तथा पुरानी मालिश कला के पंडित थे और साथ ही राज्य के दीवान के बड़े ही कृपा-पात्र।

काठियावाड़ नौजवान सम्मेलन

1928 के आसपास राजकोट में काठियावाड़ नौजवान सम्मेलन हुआ। पंडित जवाहरलाल सभापति थे। काठियावाड़ के तरुणों की भारी संख्या वहाँ जमा होनेवाली थी। अपने कांग्रेसी मित्र गोपालराव कुलकर्णी, बलवन्तराय मेहता, आदि को पहुँचाने स्वामीराव भी स्टेशन तक गये। स्वामीराव समझते थे कि सम्मेलन में उनका जाना अच्छा नहीं है। स्टेशन पर उनके दोस्तों ने पूछ लिया, "क्या आप हमारे साथ सम्मेलन में नहीं चलेंगे ? आप नवयुवकों के इतने प्रशंसक और प्रिय पथ-प्रदर्शक हैं और आप ही उनके सम्मेलन में न जाएँ, क्या यह अच्छी बात है ?" पृथ्वीसिंह ने वहीं निश्चय कर लिया कि जरूर सम्मेलन में जायेंगे, लेकिन ट्रेन से जाकर खुफिया पुलिस के भेड़ियों के मुँह नहीं पड़ेंगे। स्वामीराव को मालूम था कि भावनगर से राजकोट तक मोटर की अच्छी-खासी सड़क है। उन्होंने किसी दोस्त से एक अच्छी साइकिल ली और सबेरे ट्रेन के पहुँचने तक खुद भी पहुँच जाने का निश्चय किया। अधबँहिया कमीज और हाफ पैन्ट पहने, डण्डा हाथ में लिये वह साइकिल पर चल पड़े।

कितनी ही देर बाद वह सोनागढ़ पहुँचे। वहाँ गुरुकुल के परिचित मित्रों ने खाना खिलाया और रात को न जाने के लिए कहा। रात थी अँधेरी और उनके पास न लैम्प था न टार्च। उन्हें रात के बारे में कुछ भी नहीं मालूम था। पानी या विश्राम-स्थान के बारे में किसी से कुछ पूछा भी नहीं।

10 बजे रात को जब वह साइकिल दौड़ाये जा रहे थे, तो सड़क की दाहिनी ओर से एक जंगली सुअर आ निकला। हिलती चीज को देखकर वह डर गया और इधर-उधर भागने की जगह साइकिल के साथ-साथ दौड़ने लगा। जंगली सुअर कितना खतरनाक होता है, यह स्वामीराव अपने बचपन के दिनों ही से जानते थे। उन्होंने शोर मचाकर उसे भगाना चाहा, मगर वह पहिले ही होश-हवास खो चुका था। सुअर अपनी जान के लिए दौड़ रहा था और पृथ्वीसिंह अपनी जान के लिए। उन्होंने सारी ताकत लगाकर साइकिल को तेज किया और कितनी ही देर की कोशिश के बाद सुअर को पीछे छोड़ आगे निकलने में सफल हुए।

अब सुअर बहुत पीछे रह गया था। लेकिन वह इतने थक गये थे कि एक मिनट भी साइकिल पर थमना सम्भव नहीं था। साइकिल से उतरकर सड़क के किनारे वह लम्बे पड़ रहे। अब साँस की गति ठीक थी और घबराहट भी दूर हो गयी थी; मगर प्यास के मारे गले में सुइयाँ-सी चुभ रही थीं। पानी कहाँ मिलेगा इसका कोई पता नहीं था। अँधेरी रात में आँखें फाड़-फाड़कर देखने पर भी कहीं बस्ती का चिन्ह नहीं था। आधा घण्टा और चलने के बाद वह एक गाँव में पहुँचे। एक बड़े मकान के दरवाजे को जाकर खटखटाया। भीतर से घरवाले ने खटखटाने का कारण पूछा। स्वामीराव ने नरम स्वर में प्यासा मुसाफिर कह पानी माँगा। घरवाले ने कड़कते स्वर में कहा, "हमसे चाल न चलो, इतनी रात को पानी नहीं मिला करता। हम एक अजनबी के लिए इस वक्त दरवाजा नहीं खोल सकते।" स्वामीराव ने बार-बार विनती की। मालिक का उत्तर था, "यदि तुम प्यासे हो तो यहीं बैठे रहो, सबेरे हम तुम्हें पानी देंगे।"

निराश हो स्वामीराव गाँव से चल पड़े, लेकिन सौभाग्य से एक ही मील आगे एक साधु की कुटिया मिली। साधु बाहर सोया था। स्वामीराव ने उसे जगाया और साधु ने पानी और बिस्तरा दोनों दिया। पानी पीकर वह एक घण्टा के लिए सो गये और फिर साइकिल पर चढ़ आगे के लिए रवाना हो गये। यद्यपि रास्ते में कई जगह ऊँची-नीची जमीन के कारण वह गिरे भी, मगर ज्यादा चोट नहीं आयी। साइकिल कहीं नहीं बिगड़ी, नहीं तो निश्चित समय पर वह राजकोट नहीं पहुँच सकते।

सबेरे तड़के ही बहुत-सी लारियाँ राजकोट जाती दीख पड़ीं। स्वामीराव को लोभ तो आया, मगर वह लारी पर नहीं चढ़े। आखिरी 10 मील की यात्रा उनके लिए सबसे कठिन थी। स्वामीराव जिस वक्त स्टेशन पर पहुँचे, उसी वक्त उनके दोस्त प्लेटफार्म से बाहर आ रहे थे। वह भी जुलूस में शामिल हो गये। सम्मेलन में उनसे व्यायाम की उपयोगिता और उसके प्रचार तथा संगठन के बारे में बोलने के लिए कहा गया। स्वामीराव जवाहरलाल के सामने अपना व्याख्यान दे रहे थे, पर जवाहरलाल को क्या मालूम था कि व्यायाम पर भाषण देनेवाला यह वक्ता जेल फरार चिड़िया है।

सोनागढ़ गुरुकुल के मित्रों ने ताना देते हुए कहा था, "हम देखेंगे कैसे रात ही रात राजकोट पहुँच जाते हो!" दोपहर बाद फिर वह साइकिल पर सवार हो राजकोट से रवाना हुए। 30 मील चलने के बाद साइकिल पंचर हो गयी। साइकिल हाथ में पकड़े 4 मील और पैदल चले, फिर एक पुलिस का थाना आया, वह थाने के भीतर गये। सिपाहियों ने पंचर को ठीक करने में मदद की, खाने के लिए भोजन और सोने के लिए चारपाई दी। सूर्योदय से पहिले ही फिर रवाना हो गये और रास्ते में दोस्तों से मिलते अपराह्न में भावनगर पहुँच गये।

शिवाजी-महोत्सव

शिवाजी का महोत्सव मनाया जानेवाला था। स्वामीराव ने भी उसमें भाग लेना चाहा। उन्होंने गणेश क्रीड़ा-मण्डल और राजपूत बोर्डिंग हाउस के 200 लड़कों में से खूब मजबूत और तन्दुरुस्त 50 तरुणों को चुना। अपने कैम्प के लिए उन्होंने विक्टोरिया बाग के पास की एक टेकरी को चुना, जिसका नाम पीछे शिवाजी हिल पड़ गया। स्वामीराव ने अपने लड़कों से कहा कि तड़के ही पहाड़ को छोड़ दो और ज्यादा से ज्यादा गाँवों को घूमकर

सूर्यास्त के बाद लौटो। खाने के लिए उन्हें दो-दो छटाँक गुड़ और 14 छटाँग भुना चना मिला था। विद्यार्थी चार-चार की टोली में निकले और 30 से 45 मील का चक्कर लगाकर शाम को लौट आये। उनके लौटने की खुशी में पहाड़ पर आग जलायी गयी और उसका नाम शिवाजी हिल रक्खा गया। तरुणों को अपनी इस सफलता के लिए बड़ा अभिमान और आनन्द हुआ। स्वामीराव ने उन्हें प्रोत्साहन देने के लिए एक छोटा-सा व्याख्यान दिया। अगले साल के शिवाजी-महोत्सव में स्वामीराव ने लड़कों से शिवाजी का मुगल सेना के भीतर से निकल जाने का अभिनय कराया। शिवाजी बननेवाले लड़के ने 'मुगल सेना' के सभी प्रयत्नों को निष्फल करके भाग निकलने में सफलता दिखायी।

पोरबन्दर में देशी राज प्रजा की कान्फ्रेंस होनेवाली थी। महात्मा जी उसके सभापति मनोनीत हुए थे। कान्फ्रेंस के प्रबन्धकों ने स्वामीराव से उनके सुशिक्षित वालन्टियर माँगे। स्वामीराव वहाँ पहुँचे। उन्होंने जहाँ अपने स्वयंसेवकों द्वारा कान्फ्रेंस की व्यवस्था में हाथ बटाया वहाँ साथ ही व्यायाम सम्बन्धी अपने भाषणों द्वारा काठियावाड़ के कितने ही नेताओं से परिचय प्राप्त किया।

सत्याग्रह में

1928 में काका कालेलकर की अध्यक्षता में काठियावाड़ के विद्यार्थियों का एक सम्मेलन हुआ था। स्वामीराव ने यहाँ पर भी व्यायाम और स्वास्थ्य सुधार पर व्याख्यान दिया। चोरवाड़ के उदारमना धनी हरखचन्द शाह को उनके विचार बहुत पसन्द आये और गर्मियों में एक व्यायाम क्लास खोलने के लिए उन्होंने हर तरह से सहायता करने का वचन दिया।

1930 की मई को चोरवाड़ में स्वामीराव ने व्यायाम क्लास खोली। चोरवाड़ काठियावाड़ में एक बहुत ही स्वास्थ्यवर्धक जगह है और गर्मियों में यहाँ की आवोहवा गर्म नहीं होती। 100 से भी अधिक विद्यार्थी क्लास में शामिल हुए। भाई हरखचन्द शाह ने क्लास की सभी आवश्यकताओं को बड़े स्नेह के साथ पूर्ण किया। कैम्प बहुत कामयाब रहा।

इसी वक्त स्वामीराव ने नमक-सत्याग्रह में गाँधीजी की गिरफ्तारी की खबर सुनी। कैम्प में इसके विरुद्ध सभा हुई, जिसमें स्वामीराव ने भारत की परतंत्रता और आजादी की कोशिश के बारे में बहुत जोशीला भाषण किया। तरुणों के लिए स्वामीराव के जीवन का यह एक नया पहलू था। स्वामीराव को रामपुर से तार मिला कि वह सत्याग्रह-आन्दोलन में स्वयंसेवकों की भर्ती के लिए सहयोग दें। स्वामीराव सीधे चोरवाड़ से रामपुर चले गये और अमृतराव सेठ और उनके साथियों के साथ काम करने लगे। वह जोश में इतने बह गये थे कि सोच नहीं सके। रामपुर जाने पर उनका जोश उन्हें और एक कदम आगे खींच ले गया और बुद्धि-विवेक का रास्ता छोड़ केवल भावुकता में पड़कर उन्होंने सत्याग्रह में भाग लेने का निश्चय किया। उनके पढ़ाये-सिखाये विद्यार्थी दक्षिणामूर्ति भवन और क्रीड़ा-मंडल के तरुण सत्याग्रह में पूरे जोश से भाग ले रहे थे। यह कैसे हो सकता था कि उनके गुरु स्वामीराव चुपचाप बैठे रहते। सत्याग्रही तरुणों के ऊपर पुलिस की ओर से जो जुल्म हो रहे थे, उन्हें देखते उनका चुप रहना तरुणों में सन्देह पैदा करता, इसमें सन्देह नहीं। वह अच्छी तरह जानते थे कि जिधर वह कदम बढ़ा रहे हैं, वह बड़े जोखिम की चीज है। जब स्वामीराव के साथियों को मालूम हुआ कि वह राजनीतिक कार्यों में भाग लेने जा रहे हैं, तो भावनगर में एक सभा की। स्वामीराव ने अपने भाषण में कहा था, "मैं नहीं कह सकता कि सत्य और अहिंसा पर मेरा विश्वास है। मेरा लक्ष्य है, स्वराज और उसके लिए मैं कुछ भी उठा न रक्खूँगा।" भावनगर की जनता और सरकारी अफसरों ने पहिली मर्तबा देखा कि स्वामीराव के पीछे एक दूसरा आदमी छिपा था। विदा के लिए नागरिकों और तरुणों की सभा को देखकर वह भली प्रकार जानते थे कि अब मेरा आठ वर्ष का अज्ञातवास समाप्त हो रहा है और फिर मुझे इनके भीतर काम करने का मौका न मिलेगा। एक बार जहाँ कानून के चंगुल में फँसे तो स्वामीराव जिन्दा फिर बाहर नहीं आ सकते। अखाड़े के एक दर्जन तरुण स्वामीराव के साथ चले। रामपुर में मित्रों ने बड़े तपाक से स्वागत किया। कैम्प के कमाण्डर ने सत्य और अहिंसा की प्रतिज्ञा पर दस्तखत करने को कहा। स्वामीराव ने इनकार

करते हुए कहा, "अगर आप बिना प्रतिज्ञा के ही मुझे रहने देना चाहें और तरुणों को सहायता देने का मौका दें, तो मैं धन्यवादपूर्वक रहने के लिए तैयार हूँ; नहीं तो मैं चला जाऊँगा।"

उन्होंने रहने की इजाजत दी और तरुणों में सचमुच ही ज्यादा जोश देखा जाने लगा। कैम्प के कमाण्डर, स्वामीराव का प्रभाव तरुणों पर क्या है, इसे जानते थे। वहाँ तैनात पुलिसवाले भी, तरुणों पर जादू फेरनेवाला यह स्वामीराव कौन है, इसे जानने के लिए पूरी कोशिश करने लगे और जितनी ही उन्हें इसे जानने में असफलता हो रही थी, उतनी ही उनकी तत्परता भी बढ़ रही थी।

10
फिर लापता

दस दिन रहने के बाद धंधू काका सब-इन्स्पेक्टर स्वामीराव को पकड़ने आया। स्वामीराव ने कैम्प के नेता भाई जगजीवन दास मेहता से गिरफ्तारी के लिए छुट्टी ली। नौजवानों को आश्चर्य हुआ, क्योंकि उन्होंने स्वामीराव का गिरफ्तारी के लायक कोई काम नहीं देखा था। तरुणों से दो-चार सीधे-सादे शब्द कहकर स्वामीराव ने विदाई ली।

क्या वह सारे जीवन-भर जेल में रहने के लिए तैयार थे ? जब वह सब-इन्स्पेक्टर के साथ-साथ जा रहे थे, तो उनके दिमाग में यह ख्याल आया। सब-इन्स्पेक्टर के पास पिस्तौल थी। वह 40 वर्ष का एक मजबूत और स्वस्थ आदमी था, लेकिन स्वामीराव के सामने वह कुछ नहीं था। स्वामीराव ने सोच लिया था कि सब-इन्स्पेक्टर को दस सेकण्ड सोचने और पॉकेट से पिस्तौल निकालकर निशाना लगाने में लगेंगे, वे ही उनके लिए काफी हैं। वह एक मोड़ पर पहुँच रहे थे। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने कहा, "सलाम साहब, मैं जाता हूँ।" सब-इन्स्पेक्टर हक्का-बक्का रह गया। स्वामीराव दो ही छलाँग में मुड़कर आँखों से ओझल हो गये। भागने के दस ही मिनट बाद एक भारी आँधी आयी और धूल के मारे कुछ भी देखना मुश्किल हो गया। फिर वर्षा ने सहायता की। पुलिस के लिए काम आसान नहीं रह गया।

पुलिस सड़कों पर मोटरों में दौड़ रही थी, वह घुटने-भर कीचड़ और पानी भरे खेतों में नहीं जा सकती थी। स्वामीराव ने अपने सब कपड़े फेंक दिये थे और लंगोट बाँधे खेतों में से चल रहे थे। अँधेरी रात में वह एक गाँव से गुजर रहे थे। एक आदमी ने पहचान लिया और बोला, "स्वामी जी, यह क्या है ? किसी को छकाने की तो नहीं सोच रहे हैं ?" स्वामीराव ने कहा, "नहीं भाई, पागलपन मत करो, मुझे किसी सुरक्षित जगह पर ले चलो।" वह उन्हें एक गोशाला में ले गया, जहाँ उसके सिवा कोई नहीं जा सकता था। लम्बी दौड़ के कारण वह बहुत थक गये थे। मित्र ने गर्मा-गर्म दूध पीने के लिए दिया। पीकर 3 घंटे उन्होंने पूरा विश्राम किया। पृथ्वीसिंह ने अपनी सारी कथा कह सुनायी और फिर वहाँ से छुट्टी माँगी। लेकिन उनका राजपूत मित्र इतने ही से अपने कर्तव्य की पूर्ति नहीं समझता था। गाँव से बाहर दो अच्छे घोड़े तैयार थे। उन पर चढ़कर दोनों खेतों-खेतों एक अज्ञात दिशा की ओर चल पड़े। पैसे के लिए बिके आदमी खतरे का उतना सामना नहीं कर सकते, जितना कि स्वतन्त्रता के प्रेमी स्वामीराव कर सकते थे। सूर्योदय के वक्त उन्होंने घोड़ों को छोड़ दिया और एक बैलगाड़ी किराये पर की। कुछ दूर तक बैलगाड़ी से जाकर फिर मीलों भावनगर खाड़ी के छाती-भर पानी में दोनों जने चलते रहे। इस प्रकार पुलिस के हाथ से भागने के 24 घंटे बाद स्वामीराव फिर भावनगर पहुँचे। उन्होंने अपने साथी को नगर में दोस्तों को सूचना देने के लिए भेजा और स्वयं एक आँख और आधे मुख को ढँके मुरैठे के साथ, एक गाड़ी में सवार होकर शाम को शहर में आ गये।

पृथ्वीसिंह आसानी से रामपुर से दूसरी ओर भाग सकते थे। मगर भावनगर में अपने मित्रों को असली बात बताना जरूरी समझा, जिसमें वह यह न समझें कि स्वामीराव अन्त में कायर निकला। स्वामीराव के मुँह से आत्मकथा सुनकर उनके मित्रों का सम्मान-भाव और भी बढ़ गया। आधी रात को एक दूर के गाँव के

लिए टैक्सी की गयी। वहाँ से उन्हें भेष बदलकर ट्रेन में बैठना था। उनका साथी पहिले सामान और टिकट के साथ स्टेशन पर प्रतीक्षा कर रहा था। स्वामीराव योरोपियन पोशाक में ट्रेन पर जाकर बैठ गये।

स्वामीराव के भागने के बारे में कई तरह की कथाएँ काठियावाड़ में प्रसिद्ध हुईं। सब-इन्स्पेक्टर ने बयान दिया कि वह मुझे जोर का धक्का मार जमीन पर गिराकर रफूचक्कर हो गया। इसमें सच्चाई का लेशमात्र भी न था। दूसरी कथा प्रचलित थी कि कोई खुफिया का आदमी उनके पीछे पड़ा हुआ था। यह आदमी नागर खानदान का था और उसने स्वामीराव के कितने ही नागर शिष्यों को प्रलोभन देकर फोड़ने की कोशिश की। एक समय वह आदमी स्वामीराव को पकड़ने में सफल हो रहा था। किन्तु उसी समय स्वामीराव ने उसके सिर पर ऐसी ठोकर जड़ी कि वह हमेशा के लिए पागल हो गया। यह ठीक है कि एक ऐसा आदमी खुफिया की ओर से तैनात किया गया था और वह पागल होकर मरा, लेकिन स्वामीराव ने कभी उसको कोई थप्पड़ नहीं लगाया था। जेल से मुक्त होने के बाद पीछे जब वह एक बार भावनगर गये तो वहाँ के नागर तरुणों ने उनका स्वागत किया। उस वक्त यह सुनकर पृथ्वीसिंह को आश्चर्य हुआ कि कोई-कोई तरुण उन्हें सचमुच उक्त सज्जन की मृत्यु का कारण मानते हैं।

कैम्प के कमाण्डर और उनके सहायक ने स्वामीराव के भागने की निन्दा करते हुए वक्तव्य निकाला था। सत्याग्रही का भागना सचमुच ही बड़े शर्म की बात समझी जाती थी। लेकिन उन्हें क्या मालूम था कि स्वामीराव के न भागने का क्या परिणाम होता।

पुलिस ने स्वामीराव के पूर्व-इतिहास का पता लगाने के लिए छान-बीन शुरू की। राजकोट का सर्वोच्च पुलिस अफसर भावनगर में जाँच करने के लिए आया। स्कूलों के रजिस्टरों से मालूम हुआ कि इस आदमी का नाम है, स्वामीराव दयाराम और घर का पता है—कमालपुर; जिला हलालपुर; मध्य प्रदेश। सी. आई. डी. के पल्ले कुछ न पड़ा।

पृथ्वीसिंह सेवा समिति स्काउट-मंडल में काम करने के लिए प्रयाग गये थे, लेकिन देखा कि वहाँ पुलिस से बचना बहुत मुश्किल है। पं. श्रीराम बाजपेयी ने व्यायाम-शिक्षक के तौर पर राजपूताना में किसी अपने दोस्त के लिए परिचय-पत्र लिख दिया। उक्त सज्जन दिल खोलकर मिले। प्रेमराज, अब यही उनका नाम था, ने अध्यापकों और विद्यार्थियों के सामने व्यायाम पर व्याख्यान दिया। उक्त सज्जन को उन पर संदेह होने लगा और उन्होंने अपनी सफाई देने की कोशिश की। वह समझते थे कि कोई खुफिया का आदमी भेद लेने आया है। पहिले ही दिन 4 घंटा काम करने के लिए 45 रुपये महीना और मुफ्त के घर का इन्तिजाम कर दिया गया। वहाँ की परिस्थिति को देखकर प्रेमराज ने तीसरे ही दिन वहाँ से चलने की इच्छा प्रकट की। सज्जन ने जब रुकने के लिए जोर देना शुरू किया तो प्रेमराज ने उनके संदेह का जिक्र करके कहा कि अब मैं यहाँ नहीं रह सकता। असर न होते देख इन सज्जन ने प्रधान-अध्यापक को बुलाया और दोनों ने रहने के लिए उन पर बहुत जोर डाला, मगर जब प्रेमराज अपने निश्चय से विचलित नहीं हुए तो आँखों में आँसू भरकर विदाई दी।

चंद्रशेखर आजाद से भेंट

1922 में जब पृथ्वीसिंह घायल हुए थे, तभी से पुलिस ही की तरह क्रान्तिकारी भी पृथ्वीसिंह को ढूँढ़ने में लगे थे। अमरीका के उनके मित्र भी उनका पता लगाने के लिए बहुत चिन्तित थे। अन्त में एक दिन सबेरे किसी ने उनसे एक तरुण क्रान्तिकारी का परिचय कराया। एक ही नजर में पृथ्वीसिंह को विश्वास हो गया कि यह तरुण विश्वासपात्र है। दोनों ने एक-दूसरे के सामने दिल खोल दिया। तरुण का प्रस्ताव था कि तुम सोवियत रूस जाकर क्रान्तिकारी संस्थाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करो। अँधेरा होने पर एक और तरुण आया, उसके चेहरे, उसकी एक-एक भाव-भंगी से वीरता और निर्भयता टपक रही थी। यह तरुण था चन्द्रशेखर आजाद, जो कि पीछे इलाहाबाद के अलफ्रेड पार्क में पुलिस की गोलियों का जवाब देते-देते शहीद हुआ।

आजाद क्रांति का आजाद बहादुर सिपाही था। पृथ्वीसिंह से उसकी दो बार मुलाकात हुई और उसने उनके ऊपर अपनी अमिट छाप छोड़ी। भगतसिंह और उनके साथी आतंकवाद के पूरे तजुर्बे के बाद इस परिणाम

पर पहुँचे थे कि इक्के-दुक्के सरकारी अफसरों की हत्या करने से हमारी क्रांति सफल नहीं हो सकती। रास्ता एक ही है, वह है विशाल शोषित जनता का सहयोग लेकर अर्थात मार्क्सवादी पद्धति के आधार पर आगे बढ़ना। मरने से पहले भगतसिंह ने अपने साथियों को यह समझाने की पूरी कोशिश की थी। चन्द्रशेखर आजाद भी अब इसी बात को मानते थे। पृथ्वीसिंह और आजाद दोनों इस बात से सहमत थे। आजाद ने पृथ्वीसिंह पर बहुत जोर दिया कि वह विदेश में जाकर मार्क्सवाद का अच्छा अध्ययन करें और क्रांति के दाँव-पेंच सीखकर देश में आयें और उसके लिए काम करें।

आजाद कोई पंडित नहीं थे और न उन्हें मार्क्सवाद का अध्ययन करने का मौका ही मिला। लेकिन उनके तजुर्बे ने उन्हें मार्क्सवादी सच्चाई की झलक दिखला दी थी। चन्द्रशेखर में नेताओं के स्वाभाविक गुण थे।

अक्तूबर 1930 में जिस दिन भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी की सजा सुनायी गयी, उसी दिन यू. पी., महाराष्ट्र, बम्बई और पंजाब के क्रांतिकारियों ने फैसले के खिलाफ अपना विरोध प्रकट करने के लिए बम्बई (लेमिंग्टन रोड) में गोलीकांड किया। पुलिस ने बहुत-से आदमियों को पकड़ा और उन्हें हवालात में रखकर 60,000 रु. खर्च करके 8 महीने तक मुकदमा चलाया। सबूत कोई था नहीं। जूरी ने अभियुक्तों को निरपराध कह के छोड़ देने के लिए कहा और अदालत ने भी इसे मंजूर किया। पुलिस ने हाईकोर्ट में अपील करनी चाही, लेकिन सरकारी एडवोकेट ने मुकदमे को बहुत कमजोर देखकर ऐसा करने की इजाजत न दी। लेमिंग्टन रोड के गोलीकांड में पुलिस ने स्वामीराव का भी नाम दिया और पकड़ने के लिए 1000 रु. का इनाम घोषित करके सारे बम्बई प्रान्त में उनके फोटो चिपकाये।

पृथ्वीसिंह रेल में जा रहे थे। बलसाड़ में खुफियावालों को उनके ऊपर शक हो गया। उस कम्पार्टमेन्ट के सभी आदमी उतार दिये गये और पुलिस के तीन आदमी सादे कपड़ों में उसमें बैठ गये। वे उन्हें अगले स्टेशन पर काफी सिपाहियों की मदद से गिरफ्तार करना चाहते थे। पृथ्वीसिंह खतरे को अच्छी तरह समझने लगे। अगले स्टेशन पर सिगनल न होने से गाड़ी पहिले ही खड़ी हो गयी। पृथ्वीसिंह ने कोट के पॉकेट में हाथ डालकर अपने पिस्तौल को बाहर निकाला और वहाँ से नो दौ ग्यारह हुए। तीनों पुलिसवाले टुक-टुक देखते रह गये। रात के अँधेरे ने उन्हें सहायता पहुँचायी। वह नवसारी शहर से होते हुए बाहर निकलकर एक जंगल में सो गये। शहर में उन्होंने कपड़ा ले लिया था। किसानों जैसी धोती और कुर्ता पहनकर दूसरे कपड़ों की उन्होंने पोटली बना ली। सुबह वे गुरुकुल गये, खाना भी खाया, लेकिन किसी परिचित ने उन्हें पहचाना नहीं। फिर पैदल ही 20 मील चलकर वे सूरत पहुँचे। सूरत से रेल द्वारा बड़ौदा गये। बड़ौदा में उनके एक परिचित मित्र ने सारे खतरों को जानते हुए भी अपने पास रखा और रहने के लिए आग्रह किया।

करॉंची कांग्रेस (मार्च 1931)

पृथ्वीसिंह को साफ मालूम होने लगा कि देश में रहकर अब वह कोई काम नहीं कर सकते। उस साल कराँची में कान्फ्रेंस होनेवाली थी। सोचा वहाँ उनके पुराने दोस्तों में से कोई जरूर मिलेंगे। इसलिए उन्होंने उधर ही का रास्ता लिया। वह दूसरी बार भावनगर पहुँचे। वहाँ से कई स्टेशनों को पार करके एक जगह उतर गये और सिर मुड़ाकर भगवा कपड़ा धारण किया; नाम रक्खा स्वामी सदानन्द। सदानन्द गुरु-शिखर की ओर चल पड़े। सूर्यास्त के समय वहाँ पहुँचे। साधु भोजन करने जा रहे थे। भोजन के बाद लोकधुनि के किनारे बैठे। यह स्थान एक बड़ी गुफा में था जिसमें एक ही दरवाजा था। एक बड़ी गाँजे की चिलम भरी गयी। दम लगाने के बाद लोगों का तीसरा नेत्र खुला, फिर ब्रह्मज्ञान की चर्चा छिड़ गयी।

गुफा का महन्त एक नौजवान आदमी था। स्वामी सदानन्द ने गाँजा छोड़ने के लिए लेक्चर दिया, लेकिन इसके सिवा कुछ असर नहीं हुआ कि महन्त उनको ज्यादा सम्मान की दृष्टि से देखने लगा। महन्त ने बड़ी कोशिश की कि वह वहीं रहें।

लेकिन सदानन्द तीन ही दिन के बाद वहाँ से चल पड़े और अम्बा जी के स्थान पर पहुँचे। अम्बाजी का मन्दिर भी बहुत ही रमणीक स्थान पर है। महन्त ने शक्ल-सूरत से स्वामी सदानन्द को एक शिक्षित संन्यासी

समझकर मठ के ऊपरवाले कमरे में ठहरने की जगह दी और रोज उनके लिए अपने हाथ से अच्छा-अच्छा भोजन लाता। स्वामी को निस्पृह और सुवक्ता देखकर महन्त ने खूब गौरव प्रकट किया। एक दिन एक गृहस्थ ने महन्त से कहा कि मैं आप जैसे एक महापुरुष को भोजन कराकर पुण्य का भागी बनना चाहता हूँ। महन्त ने जवाब दिया, "यदि आप सचमुच ही किसी महापुरुष का आशीर्वाद चाहते हैं तो जाइये ऊपर, वहाँ एक महात्मा ध्यान में मग्न हैं।" गृहस्थ सज्जन ने स्वामी सदानन्द के पास जाकर भोजन स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की। निश्चित समय पर स्वामी सदानन्द उस भद्र पुरुष के मकान पर पहुँचे। वह अपने सारे परिवार के साथ तीर्थ-यात्रा के लिए आया था। स्वामी की बहुत आवभगत हुई। पूछने पर भद्र पुरुष ने बताया कि मैं सरकारी नौकर, पुलिस इन्स्पेक्टर हूँ। सदानन्द चेहरे का भाव छिपाने के लिए जोर से हँसे। भद्र पुरुष के पूछने पर कहा, "आहे, तुम अपने पापों का मार्जन कराने आये हो ? तुम एक सीधे-सादे संन्यासी से आशीर्वाद ले पहिले का पाप धोकर फिर उसी रास्ते जाना चाहते हो !" बात मजाक में थी और मजाक में ही उड़ गयी। लेकिन मजाक करते हुए भी स्वामी सदानन्द अच्छी तरह जानते थे कि कौन जाने इस इन्स्पेक्टर की जेब में मेरे पकड़ने का वारण्ट पड़ा हो।

भोजन के बाद स्वामी ने इन्स्पेक्टर को आशीर्वाद दिया। इन्स्पेक्टर ने डेढ़ रु. दक्षिणा देनी चाही, लेकिन स्वामी ने अपनी निरपेक्षता दिखलाते हुए लेने से इन्कार किया।

अम्बाजी माता में गुजराती तीर्थयात्री बहुत आया करते हैं। सदानन्द का वहाँ और रहना खतरे की बात मालूम होने लगी।

अब उनकी इच्छा हुई महाराणा प्रताप के कुरुक्षेत्र की हल्दी घाटी देखने की। जिससे भी वह हल्दी घाटी के बारे में पूछते, वह अपने को अन्जान बताता। जिन गाँवों में वह पूछताछ कर रहे थे, वे हल्दी घाटी से 50 मील से भीतर ही थे और उनके पूर्वजों ने जरूर हल्दी घाटी की लड़ाई में प्रताप के साथ भाग लिया होगा। वह राजपूतों को इसके लिए फटकारते थे। रास्ते में ऐसे वीर-भक्त संन्यासी की आवभगत करने में सभी जगह ठाकुर लोग हाथ बाँधे खड़े रहते। हर जगह अगले गाँव के लिए पथ-प्रदर्शक और किसी प्रमुख व्यक्ति के लिए परिचय-पत्र मिलता।

जब स्वामी सदानन्द केलवा पहुँचे तो वहाँ के ठाकुर ने इस शिक्षित संन्यासी का बहुत सम्मान किया और उनके आग्रह के मारे वह 20 दिन वहीं रह गये। ठाकुर साहब एक झील के किनारे एक कुटिया बनवाना चाहते थे, मगर सदानन्द तो रमता राम थे। चलते वक्त ठाकुर साहब ने उन्हें एक बाघम्बर और 20 रु. भेंट किये, लेकिन संन्यासी ने रुपया लेने से इन्कार कर दिया। ठाकुर को क्या मालूम था कि यह आदमी कपड़ों के नीचे 200 रु. के नोट और भरी हुई पिस्तौल लिये चल रहा है। रास्ते में और जगहों को देखते वह उदयपुर पहुँचे और जब धीरे-धीरे वहाँ संन्यासी के गुणों के बारे में लोग ज्यादा जानने और जिज्ञासा करने लगे तो उन्होंने साँड़नी की सवारी करके हल्दी घाटी का रास्ता लिया।

एक गाँव के पास कुछ साधु डेरा डाले पड़े थे। संन्यासी को देखकर उन्होंने बैठने के लिए कहा। स्वामी सदानन्द की बगल में एक सुन्दर बाघम्बर था। साधुओं ने देखने के लिए माँगा। नया सुन्दर बाघम्बर देखकर उनके मुँह में पानी भर आया। उन्होंने आसन बिछाकर अपने गुरु को बैठने के लिए कहा। थोड़ी देर तक धर्म-चर्चा चली। स्वामी सदानन्द उम्मीद किये बैठे थे कि अब बाघम्बर को लौटा देंगे। देर होते देख जब उन्होंने जाने की इजाजत माँगी, तो साधुओं ने कहा, "हाँ, पधारिये।" सदानन्द पाँच मिनट तक बाघम्बर के पाने का इन्तज़ार करते रहे, लेकिन गुरुजी उठने का नाम नहीं लेते थे। ऊपर से साधु कह रहे थे, "जाइये, नहीं तो अँधेरा हो जायगा।" सदानन्द ने एक मिनट की देर किये बिना कहा, "कृपा करके मेरे बाघम्बर को दे दीजिये।"

"कौन-सा बाघम्बर ?"

"यही, जिस पर तुम्हारे गुरु बैठे हैं !"

"हमारे गुरुजी अपने बाघम्बर पर बैठे हैं। तुम्हारा इतना दीदा कि गुरुजी का अपमान करो !"

इस पर स्वामी ने कहा, "छोड़ दो नहीं तो तुम्हारे हक में बहुत बुरा होगा !"

स्वामी के हाथ में एक अच्छा मोटा-सा डंडा था। यद्यपि साधुओं की संख्या .15 या उससे अधिक थी, लेकिन वह समझ गये कि इस आदमी के हाथ में डंडा यमराज का डंडा बन जायगा। स्वामी ने और स्पष्ट शब्दों में कहा, "इधर सुनो ! मैं अब डंडा उठाने जा रहा हूँ। जब तक इसके दो टुकड़े नहीं हो जाते तब तक इससे तुम्हारे कपार और हड्डियों को चूर करता जाऊँगा !" दो मिनट के भीतर ही गुरुजी खड़े हो गये और बाघम्बर स्वामी जी के हाथ में वापिस आ गया।

स्वामी सदानन्द रात को अगले गाँव में ठहरकर दूसरे दिन हल्दी घाटी पहुँचे।

एक तीर्थ-यात्री के तौर पर स्वामी सदानन्द हल्दी घाटी का दर्शन करने गये थे। वहाँ के पत्थरों, ऊँची-नीची जगहों, नालों और खड्डों को उन्होंने बहुत भक्तिपूर्वक देखा। वहाँ की पीली भूमि उन्हें राजपूतों के केसरिया बाना की याद दिलाती थी। वहाँ उन्होंने राणा प्रताप के वहादुर घोड़े चेतक की समाधि देखी। इस ऐतिहासिक स्थान की उपेक्षा देखकर स्वामी सदानन्द का हृदय बहुत क्षुब्ध हुआ। प्रताप के वंशज आज भी उदयपुर के शासक हैं। उदयपुर शहर में वाइसरायों और दूसरों के कितने ही स्मारक तथा मूर्तियाँ लाखों रुपये खर्च करके खड़ी की गयीं, लेकिन हल्दी घाटी में सिवा चेतक के स्मारक के कोई उसकी ऐतिहासिकता को बतानेवाला चिन्ह नहीं खड़ा किया गया और चेतक का स्मारक भी स्वयं प्रताप ने खड़ा किया था।

स्वामी सदानन्द ने अब पश्चिम का रुख लिया। मारवाड़ के रेगिस्तान में होकर पहिले पैदल, फिर रेल से एक दिन वह कराँची स्टेशन पर पहुँच गये। वह अधिवेशन से कुछ दिन पहिले ही पहुँच गये। कांग्रेस नगर अभी बन रहा था। उन्हें शहर के एक छोर से दूसरे छोर पर जाना था। इसी समय टैक्सीवाला पीछे से आकर गाड़ी खड़ी करके बोला, "आप को कहाँ जाना है।" स्वामीजी ने कांग्रेस नगर के पास के एक बड़े मन्दिर का नाम लिया। टैक्सीवाले ने भीतर बैठने के लिए कहा, इस पर स्वामी ने कहा, "मेरे पास पैसे नहीं हैं।"

"आपका आशीर्वाद मेरे लिए काफी है। आप बैठें, मैं आप के जाने की जगह पर उतार दूँगा।" शायद स्वामी के स्वस्थ और सुन्दर गौर चेहरे पर टैक्सीवाले को ब्रह्मचर्य का तेज झलकता दिखायी पड़ा, इसलिए वह आशीर्वाद लेने के लिए उतावला हो गया। चन्द मिनटों में स्वामी अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये।

दो-तीन दिन इधर-उधर तलाश करने के बाद बाबा गुरुमुखसिंह, बावा प्यारासिंह, बाबा सादेवसिंह आदि गदर पार्टी के साथियों से उनकी भेंट हुई। उन्हीं की तरह बाबा गुरुमुखसिंह भी जेल से भागे हुए थे और कम्युनिस्ट ही नहीं हो गये थे, बल्कि कम्युनिस्ट देश (सोवियत) में वर्षों रहकर आये थे। पृथ्वीसिंह को अब तक अपने पुराने साथियों से मिलने का मौका नहीं मिला था। अब उन्हें अपने साथियों से क्रान्ति और राजनीति के बारे में खुलकर बात करने का मौका मिला।

उन्होंने समझाया कि क्रान्ति करना सिर्फ चन्द बहादुर तरुणों के वश का काम नहीं है। उसमें सारी जनता; मजदूरों-किसानों की बड़ी ताकत को शामिल करना होगा और मजदूर-किसान क्रांति के महत्त्व को समझकर तभी उसमें शामिल हो सकते हैं, जबकि उनके रोज-बरोज के कष्टों और कष्ट-प्रतिकार की लड़ाइयों को क्रान्ति की लड़ाई के साथ जोड़ा जा सके। दो-तीन दिन की बातचीत के बाद पृथ्वीसिंह को नया मार्ग साफ दिखाई देने लगा। साथियों ने तै किया, अब पृथ्वीसिंह को देश में रहकर जोखिम उठाने की जरूरत नहीं। उन्हें पहिले रूस जाकर मार्क्सवाद और क्रांतिकारी कार्य-प्रणाली का अध्ययन कर आना चाहिए।

11

सोवियत रूस में (1931-35 ई.)

अब पृथ्वीसिंह को सोवियत के लिए रवाना होना था। पृथ्वीसिंह को पठानों के स्वतन्त्र इलाके और अफगानिस्तान के रास्ते से जाना था। वहाँ से वह पठान बनकर ही जा सकते थे। 15 दिन हजामत न बनाने से कराँची

में ही दाढ़ी-मूँछ बढ़ गयी थी। वहाँ पर वह करीम खाँ के नाम से पठानों की पोशाक पहनकर खुदाई खिदमतगार बने थे। कांग्रेस के बाद खुदाई खिदमतगारों के साथ वह भी पेशावर के लिए रवाना हो गये। लाहौर में एक सी.आई.डी. का आदमी उनके डिब्बे में आया, लेकिन पठानों ने मजाक करके इतना तंग किया कि उसे भागना पड़ा। पेशावर से वह फिटन में उतमाज़ई गये, वहाँ आगे का इंतिजाम करने के लिए 10-15 दिन रहना पड़ा।

बड़े-बड़े नेता करीम खाँ की कदर करते थे और उनकी सहायता करने के लिए तैयार थे। उनके शरीर पर अब एक गरीब पठान का मैला-कुचैला कुर्ता-सलवार और फटी पगड़ी थी। उन्होंने किसी पठान को सिर पर चप्पल रखकर चलते देखा तो उसकी भी नकल की। एक दिन पथ-प्रदर्शक के द्वारा उन्हें सीमा की ओर भेज दिया गया। इधर-उधर गाँव में चक्कर लगाते दोपहर के चले रात को 7 बजे वह शवक़दर के आसपास के सीमान्त पर एक गाँव में जा पहुँचे। उनमें आत्मविश्वास पूरा था और अपने पार्ट को वह पूरे तौर से निभाने के लिए तैयार थे। भोजन में भी एकाध दिन हिचकिचाहट हुई, लेकिन अब पूरे इतमीनान के साथ एक थाल पर बैठकर वह बिसमिल्ला कर सकते थे और हर पठानी खाने को जीभ चटकार-चटकारकर खा सकते थे। शकल-सूरत और पोशाक से भी उन्हें कोई पहचान नहीं सकता था, लेकिन यदि कोई सवाल कर बैठता तो ? हाँ, भाषा न जानने के ख्याल से कभी-कभी करीम खाँ का दिल धड़क उठता।

मई 1931 का आरम्भ था। वह एक छोटे-से गाँव में किसी एक दोस्त के यहाँ ठहरे थे। गाँव में अंग्रेजी गुप्तचरों की भरमार थी। रात के वक्त तारों से भरे खुले आसमान के नीचे लेटे हुए वह सोच रहे थे कि कल या तो सूरज एक स्वतन्त्र भूमि में उगेगा या बेड़ियों से जकड़े जेलखाने में। चिन्ता के मारे वह सारी रात सो न सके। गाँव में गैर इलाके का एक काफिला ठहरा हुआ था, उसी के साथ सबेरे करीम खाँ को भी सरहद पार करना था। सुबह 4 बजे ख़रसेदार सिपाही काफिले के आदमियों को देख गया। उनमें न जाने कितने करीम खाँ जैसे थे। झुटपुटे में ही 100 आदमियों का काफिला सीमा पार हुआ। लेकिन करीम खाँ की तब तक जान में जान न आयी, जब तक कि वह बन्दूक की मार से बाहर न हो गये। रात को उस पहाड़ी, ऊँची-नीची कंकरीली-पथरीली जमीन में चलना आसान काम न था, कहीं-कहीं जूता फिसलता।

काफिला शाम तक चलता गया। मई की गर्मी थी, सबसे ज्यादा तकलीफ पानी की रही। अब वह स्वतन्त्र पठानों के इलाके में होते जा रहे थे। दूसरे दिन दोपहर को मोहमन्द इलाके में होते तुरंगज़ई पहुँचे। करीम खाँ के पास मुल्ला तुरंगज़ई के लड़के बादशाह गुल के लिए चिट्ठी थी, मगर बादशाह गुल उस वक्त घर पर नहीं थे। मुल्ला ने खातिर की। बादशाह गुल भी आ गये। वह एक शिक्षित, समझदार और संस्कृत आदमी जान पड़े। करीम खाँ को मोहाज़िर के तौर पर परिचय देना पड़ा। बादशाह गुल ने जलालाबाद के गर्वनर के नाम चिट्ठी लिख दी और एक पथप्रदर्शक दिया। रात को उस दिन वह बादशाह गुल के दोस्त के घर पर ठहरे। जगह खतरे की थी। हर जगह डाकुओं का भय था, लेकिन रास्ता बतानेवाला आदमी साथ में था, इसलिए वह जानते थे कि आगे क्या आनेवाला है। अफगानिस्तान की सीमा पार कर वह डाक्का पहुँचे। रात को होटल में सो गये। सबेरे लारी में चढ़ जलालाबाद पहुँचे। गवर्नर को इंतिजाम करने के लिए कहा; लेकिन पुलिस अफसर ने मोहम्मद अली (अब यही नाम था) को हिरासत में ले लिया और उनसे बयान माँगने लगा। मुहम्मद अली ने कहा, "मैं हिन्दी मोहाज़िर हूँ। अंग्रेजों के राज से भागकर इस्लाम के मुल्क में आया हूँ।" इससे ज्यादा उन्होंने पुलिस अफसर से कुछ कहने से इन्कार कर दिया और कहा कि मुझे गवर्नर के पास ले चलो। गवर्नर के पास गये और उससे कहा कि एक हिन्दी मोहाज़िर मुसलमान इस्लामी मुल्क से ज्यादा आशा रखता है। गवर्नर ने पुलिस अफसरों को उन्हें तुरन्त काबुल भेज देने का हुक्म दिया। अफसर ने अब भी पूछा कि क्या हिरासत में ? गवर्नर ने कहा, "नहीं, मामूली तौर से।"

पुलिस अफसर ने लारीवालों से उनको ले जाने के लिए कहा। लारीवाला समझ रहा था कि सरकारी बेगार होगी। वह गाड़ी में जगह न होने का बहाना करने लगा। मुहम्मद अली ने उसके कान में कहा, "मैं और पैसा दूँगा।" उसने चमड़े के गट्ठरों के ऊपर बैठने के लिए कह दिया। रास्ते में हिन्दू ड्राइवर से मुहम्मद अली की बातचीत हुई। वह काँगड़े का राजपूत था। यात्री को क्रांति और देशभक्ति की बातें करते देखकर

उसकी श्रद्धा वढ़ गयी। उसने उन्हें खाना खिलाया। कावुल के भीतर दाखिल होते वक्त पुलिस ने पासपोर्ट माँगा लेकिन ड्राइवर ने कह दिया, यह मोहाज़िर है और गप्पें लगाता हुआ उन्हें साफ निकाल ले गया।

कावुल में मुहम्मद अली को डेढ़ माह रहना पड़ा। वहाँ कितने ही और हिन्दी मोहाज़िर थे, किन्तु उनकी राजनीतिक चिन्तना वहुत निर्बल थी। मुहम्मद अली के लिए दिन काटने मुश्किल हो गये। उनके साथी उन्हें किसी अच्छे विश्वासपात्र पथ-प्रदर्शक के साथ भेजना चाहते थे, लेकिन ऐसा कोई व्यक्ति मिल नहीं रहा था। मुहम्मद अली को बराबर छिपकर ही रहना पड़ता। उधर उनके दोस्त पथ-प्रदर्शक खोजने की कोशिश कर रहे थे, इधर मुहम्मद अली भी चुपचाप न बैठै थे। संयोग से उनका परिचय घर के तरुण पठान से हो गया। महीने-भर उसके घर में रहना पड़ा। दोनों में राजनीतिक, सामाजिक बातें हुआ करतीं। तरुण एक देशभक्त अफगान था। उसने मुहम्मद अली के दिल में जलती स्वतन्त्रता की आग का जब परिचय पाया, तो वह अनुरक्त वन गया। महीना बीतते दोनों घनिष्ट मित्र हो गये। मुहम्मद अली ने उससे अपने उद्देश्य को बताया और वह अच्छा पथ-प्रदर्शक बनने के लिए तैयार हो गया। जब मुहम्मद अली ने अपने साथियों से पथ-प्रदर्शक मिल जाने की बात कही तो उन्होंने बहुत समझाया। जब इस पर भी मुहम्मद अली जिद करने लगे तो साथियों ने कहा, "तुम बड़े मूर्ख हो। यदि तुम इस तरह से गये तो 10 दिन के भीतर ही बेड़ियों में बँधे काबुल लौट आओगे।" मुहम्मद अली ने भी जवाव दिया, "तुम चिर प्रवास-भर हो, तुम्हें क्रांतिकारियों का तजुर्बा क्या है ?" आखिर में उन्होंने जाने की इजाजत दे दी।

हिरात को

मुहम्मद अली की पठानी पोशाक में दाढ़ी थोड़ी और बढ़ गयी थी। उन्होंने हिरात जानेवाली एक लारी पर जाना ठीक किया। उनकी दोनों जेबों में अफगानी सिक्के भरे हुए थे और साथ ही काफी अमेरिकन नोट भी। लारी चली। चार घंटा चलने के बाद वह एक फौजी चौकी पर खड़ी हुई। सिपाही यात्रियों को देखने आये और उनमें से सिर्फ मुहम्मद अली के पथ-प्रदर्शक को ही सन्देहजनक समझा। तरुण सीधे अफसरों के पास गया, उनसे बात की और फिर आकर मोटर पर बैठ गया।

लारी गज़नी पहुँची। उस वक्त उनके दिमाग में कभी पृथ्वीराज की कैद का ख्याल आता और 'अब न चूक चौहान' कानों में सुनायी देता और खच्चरों पर लदे हीरा, मोती, सोने, चाँदी के विजय-पुरस्कार याद आते। गज़नी से लारी कन्धार पहुँची। यहाँ मालूम हुआ कि वही लारी हिरात नहीं जा सकती। दूसरी लारी के लिए उन्हें पाँच दिन तक इंतिजार करना पड़ा। कन्धार के सस्ते मेवे और शहर के बाहर के सुन्दर बाग उनके मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकते थे, क्योंकि उनके मन की धुन किसी दूसरी ओर थी।

आखिर खुदा-खुदा करके एक लारी मिली और वह हिरात के लिए रवाना हो गये। कन्धार से कुछ मील चलने के बाद उन्हें एक नदी मिली, जिस पर कोई पुल न था। लारी का इंजन धार के बीच में जाकर बन्द हो गया। मुसाफिरों को उतरकर अपना-अपना सामान सिर पर लादकर पार होना पड़ा। अब सवाल था लारी को उसके माल के साथ खींचकर बाहर लाने का। मुहम्मद अली ने सबसे पहिले अपने को पेश किश। कहने-सुनने पर 3 या 4 आदमी और तैयार हो गये। मुहम्मद अली ने लारी निकालने में जितनी मेहनत की थी, उससे ड्राइवर और सभी मुसाफिर उन्हें विशेष सम्मान की दृष्टि से देखने लगे। रात को भूखे ही लोगों को वहीं पड़ा रहना पड़ा। एक दिन की यात्रा के बाद फिर लारी खड़ी हो गयी और घोर बियाबान में, जहाँ कोई मदद नहीं मिल सकती थी, ड्राइवर 4 दिन तक मत्था पटकता रहा। आखिर उसे सफलता मिली। यात्रियों ने चलने के लिए जोर देना शुरू किया। ड्राइवर रात को चलने के लिए तैयार नहीं था। चार घंटा चलने के बाद बन्दूक की आवाज सुनाई दी। यात्रियों ने समझा, डाकू आ पहुँचे। लारी रोक दी गयी और लोग डाकुओं के आने की प्रतीक्षा करने लगे। यात्रियों में 4 धनी आदमी थे और वह हज करके लौट रहे थे। वह तुरन्त लारी से उतर पड़े और घुटनों के बल हो अल्लाह से रहम की भीख माँगने लगे। दो यात्रियों के पास बन्दूकें थीं, लेकिन हिम्मत नहीं थी। हाजियों को प्रार्थना करते देख मुहम्मद अली पेशाब के बहाने कुछ दूर चले गये और जमीन

खोदकर सारे नोट और पैसों को उसमें रखकर लौट आये। उन्होंने एक बन्दूकवाले से पूछा कि क्या तुम बन्दूक अच्छी तरह चला सकते हो। दुविधा में देखकर उन्होंने उससे बन्दूक माँग ली। यह शिकारी दुनाली थी। मुहम्मद अली बन्दूक में गोली भर लारी के पीछे झुककर निशाना लेने की मुद्रा में बैठ गये। 5 मिनट बाद फिर दुबारा गोली दगने की आवाज सुनायी दी। इस बार सभी यात्री घुटने टेककर प्रार्थना करने लगे। मुहम्मद अली भी घुटना टेके हुए थे, मगर बन्दूक का निशाना लेने के लिए। 2 घण्टे तक वह उसी तरह से इंतिजार करते रहे फिर एक गोली की आवाज आयी। आखिर लोगों को पता लगा, यह डाकू नहीं हैं, किसान जंगली जानवरों को खेतों से भगाने के लिए खाली फैर कर रहे हैं। लारी फिर चली।

हिरात में

यद्यपि काबुल से हिरात 4 दिन में पहुँचा जा सकता है, लेकिन मुहम्मद अली को 20 दिन लगे। लारी जब हिरात के दरवाजे पर आयी तो देखा, एक पहरेवाला काबुल से आनेवाले मुसाफिरों को बहुत ध्यान से देख रहा है। हिरात का गवर्नर अमानुल्लाह के समय ही से चला आ रहा था। अब हुकूमत थी नादिर खान की।

इसीलिए गवर्नर को हमेशा काबुल से खुफिया के आने का डर रहता था। मुहम्मद अली ने दो बार अपनी बहादुरी दिखलायी थी, इसलिए सभी यात्री अपने को उनका कृतज्ञ समझते थे। सभी उन्हें हिन्दुस्तानी समझते थे और ख्याल करते थे कि यह कोई रहस्यपूर्ण काम के लिए हिरात जा रहा है। यात्रियों ने जानते हुए भी मुहम्मद अली के बारे में कुछ नहीं बताया और वह बिना कठिनाई के हिरात पहुँच गये।

तरुण पथ-प्रदर्शक सोवियत सीमा तक साथ चलने के बारे में कोई निश्चय नहीं कर पाता था। सीमा पार पकड़े जाने पर बोल्शेविक बुरी तरह सताते हैं आदि-आदि कितनी ही कथाएँ लोगों में प्रचलित थीं। मुहम्मद अली उसे और 70 मील ले जाने के लिए जोर नहीं देना चाहते थे। तरुण विश्वासपात्र पथ-प्रदर्शक ढूँढ़ निकालने के लिए कोशिश करने लगा। मुहम्मद अली दो दिन के लिए 100 रु. देने को तैयार थे। 20 दिन बीत गये, इतने में पुलिस को पता लग गया। दोनों थाने में बुलाये गये और पूछा गया कि क्यों गवर्नर की आज्ञा बिना तुम शहर में रह रहे हो ? मुहम्मद अली दो दिन तक अपना बयान लिखवाते रहे और पुलिस दुभाषिये की मदद से उस बनावटी कहानी को लिखने में लगी हुई थी। तरुण को झूठी कहानी लिखाने की जरूरत नहीं थी, उसके पिता के कई घनिष्ट मित्र हिरात में रहते थे।

चौथे दिन दोनों को गवर्नर के सामने पेश होना था। गवर्नर बहुत कड़ा आदमी है, वह खुद अपने हाथों से पीटता है—इस तरह की बहुत-सी बातें मशहूर थीं। मुहम्मद अली का तरुण साथी घबड़ा गया। उसने क्लर्क से प्रार्थना की कि आज हमें मत पेश करो और उस दिन दोनों पेशी से बच गये। इसी बीच तरुण के पिता के मित्रों को खबर लगी। उन्होंने पुलिस अफसर से मिलकर उसे जमानत पर छोड़ने के लिए प्रार्थना की। एक आदमी छोड़ने का परवाना लेकर थाने पर आया और बोला, "यह लो, जमानत पर छोड़ने का परवाना आ गया।" सिपाही पढ़ा-लिखा नहीं था। उसने दोनों को छोड़ दिया। मुहम्मद अली बाहर निकल आये और वह जानते थे कि एक ही दो घंटे में गलती मालूम हो जायेगी।

अब एक मिनट भी खोना भारी बेवकूफी थी। उन्होंने अपने तरुण पथ-प्रदर्शक को 100 रु. देकर बिदाई ली और पाँच ही मिनट बाद सोवियत सीमा की ओर जानेवाले रास्ते पर चल रहे थे। लेकिन बड़े रास्ते पर चलना खतरे की चीज थी। इसलिए शहर से बाहर निकलते ही उन्होंने खेतों का रास्ता पकड़ा। वह जान छोड़कर दौड़ रहे थे, क्योंकि किसी वक्त भी पुलिस के सवारों के आ धमकने का डर था। जून की गर्मी थी। वह पूरे 4 घंटे तक दौड़ते चले गये। एक पहाड़ पर पहुँचकर वह कुछ देर तक विश्राम लेने और सोचने के लिए बैठ गये। सड़क पकड़कर चलना खतरे से खाली न था। यद्यपि वह जानते थे सीमा उत्तर दिशा में है, लेकिन नाक की सीध में वह जा नहीं सकते थे, इसलिए उन्होंने तार के खम्भों के साथ-साथ चलने का निश्चय किया।

सूर्यास्त हो रहा था। देखा, दो सवार दौड़े आ रहे हैं। उनका दिल काँपने लगा। तो भी वह छिपने के लिए पहाड़ के पीछे दौड़ गये। कुछ देर तक चट्टान पर वह लेटे रहे। प्यास अलग सता रही थी और सवारों

के आ पहुँचने का भय अलग।

चाँद निकल आया। ठंडी हवा के झोंके ने प्यास को कुछ दबाया। डाकुओं का जहाँ हर वक्त खतरा हो, वहाँ रात को कौन सफर करने की हिम्मत कर सकता है, लेकिन मुहम्मद अली तो जान को हथेली पर लेकर चल रहे थे। वह रात-भर चलते रहे। सूर्योदय के बक्त किसी खड्ड में छिपकर विश्राम लेने लगे। थकावट और भूख के मारे वह इस तरह दिन काट नहीं सकते थे। उनके पास रुपये थे, लेकिन, चाँदी-सोना तो नहीं खाया जा सकता। कुछ दूर जाने पर कुछ भिखमंगे आते दिखलायी पड़े। अपने फटे कपड़ों में वह भी भिखमंगे से दीखते थे। उन्होंने उनसे कुछ खाने के लिए माँगा। भिखमंगों ने रोटी के कुछ सूखे टुकड़े अपने चीथड़ों में से निकालकर दिये। मुहम्मद अली ने ख़ाने की कोशिश की लेकिन वह पत्थर की तरह कड़े थे। आगे एक जलाशय मिला जिसमें टुकड़ों को पहले भिगो दिया, फिर खाने लगे। इन टुकड़ों का स्वाद इतना मधुर था, जितना कि उन्हें किसी खाने में नहीं आया था। आखिर भूख भी तो गजब की थी ! रात को वह सड़क के साथ-साथ भले ही चल लेते, लेकिन दिन को उनके कदम तार के खम्भों के साथ-साथ चलते थे। एक जगह तार और सड़क साथ-साथ जा रहे थे। मुहम्मद अली ने खेतों का रास्ता लिया। पहाड़ के किनारे कुछ खानाबदोश डेरा डाले पड़े थे। मुहम्मद अली ने बच्चों में कुछ पैसे बाँटे, जिस पर घरवालों ने मक्खन, पनीर, रोटी और दूध दिया। मुहम्मद अली ने लड़कों को पैसा प्रेम-प्रदर्शन करने के लिए दिया था, दाम देने के लिए नहीं। लेकिन वह डेरेवालों की मित्रता प्राप्त करने के लिए काफी था।

खानाबदोशों ने उनसे इस तरह पहाड़ों में घूमने का कारण पूछा। मुहम्मद अली ने कहा, "मेरा प्यारा भाई कुश्क में एक दूकानदार के यहाँ नौकर है। वह बीमार है। आखिर वक्त में भाई को देख लेना चाहता हूँ। मेरे पास इतने पैसे नहीं थे कि हिरात से लारी पर चढ़ के जाता।"

उन सीधे-सादे लोगों ने मुहम्मद अली की बात पर विश्वास किया और कुछ की तो आँखें भी गीली हो आयीं, जब उन्होंने देखा कि भाई के प्यार में मजनूँ इस आदमी के पाँव में कितने छाले पड़ गये हैं; एक आदमी ने कुश्क के पास तक के लिए अपना घोड़ा देना चाहा, जिस पर मुहम्मद अली अपनी टूटी-फूटी फारसी में बोलने लगे, "ओह बिरादर ! अल्लाह का हुक्म है कि मैं इन सब तकलीफों को बर्दाश्त करूँ। मैं उसके हुक्म से भागना नहीं चाहता। अल्लाह तुम्हारी भलाई करे।" जब मुहम्मद अली ने घोड़ा लेने से इनकार कर दिया तो उनकी करुणा और बढ़ गयी और उनमें से एक ने उन्हें रास्ते के बारे में पूरे विवरण के साथ बताया। सूर्यास्त होने लगा था, तभी मुहम्मद अली ने खानाबदोशों के डेरे को छोड़ दिया। मील-डेढ़ मील ज़ाने के बाद वह रात के अँधेरे की प्रतीक्षा में एक जगह पड़ रहे। यद्यपि रात उजाली थी, मगर उस वक्त सड़क से चलने की हिम्मत करनेवाले मुश्किल ही से मिलेंगे, यह मुहम्मद अली को मालूम था। अब उन्होंने सड़क पकड़ी। अगले 20 मील उन्हें रात-रात में पूरे करने थे और रास्ते में 3 सरकारी चौकियों से बचते हुए। वह तेजी से आगे बढ़ते जा रहे थे। एक जगह भेड़वालों के बड़े-बड़े कुत्तों ने आ घेरा। मुहम्मद अली के पास उन्हें मारने के लिए डंडा भी न था। यदि डंडा होता तो भी क्या वह कुत्तों को मारकर भगा सकते ? उसी वक्त उन्हें रूमाल में बँधी रोटी की याद आयी। उन्होंने एक टुकड़ा कुत्तों के सामने दूर फेंका। कुत्ते उधर दौड़े और इसी बीच में वह जितना भाग सकते थे, भागे। कुत्ते रोटी खतम कर फिर पीछा करते और वह फिर एक टुकड़ा फेंकते। इस तरह वह कुत्तों के डेरे से दूर निकल आये। अब उन्होंने पीछा करना छोड़ दिया, मगर थकावट के मारे उनका शरीर चूर-चूर हो रहा था। कुछ देर फिर वह जमीन पर पड़े रहे, लेकिन दिन निकलने से पहले अफगानिस्तान की सीमा न पार कर लेना खतरे की बात होगी, यह वह अच्छी तरह जानते थे। फिर उठकर चलने लगे। कुछ देर बाद पीछे से उन्हें घंटी की आवाज टन-टन सुनायी दी। देखा, एक लदा ऊँट बेतहाशा दौड़ा आ रहा है और पीछे से उसका मालिक पकड़ने की कोशिश कर रहा है। मुहम्मद अली यद्यपि आदमियों से बचकर चल रहे थे, लेकिन, उस वक्त मदद करना उन्होंने हानिकारक नहीं समझा। ऊँट के पास आते ही उन्होंने कूदकर उसकी नकेल पकड़ ली और थोड़ी-सी दिक्कत के बाद ऊँट को खड़ा करने में सफल हुए। ऊँटवाला बहुत-बहुत धन्यवाद देने लगा। उसने ऊँट को बैठाया और साथ बैठने के लिए कहा, लेकिन मुहम्मद अली ने धन्यवाद

के साथ बड़े नरम शब्दों में न चढ़ने की बात कही। दोनों कितनी ही दूर तक पैदल ही चले। इस वक्त कुश्क और सोवियत सीमा के बारे में उसने उन्हें कई ज्ञातव्य बातें बतायीं। उसने खास तौर से सजग किया कि नदी के किनारे मत चलना। नदी उनके दाहिने से बह रही थी। नदी अफगानिस्तान और सोवियत की सीमा पर है और उसे पार करने की कोशिश करते में गोली खाने का खतरा है। सवेरा होने को आ रहा था। मुहम्मद अली ने नमाज के बहाने हाथ-मुँह धोने के लिए ऊँटवाले से छुट्टी ली।

सोवियत की भूमि पर

पूर्व दिशा में सूर्य की लाली फैल रही थी। मुहम्मद अली झाड़ियों के बीच से होते हुए नदी के किनारे पहुँचे। नदी में पानी ज्यादा गहरा नहीं था, लेकिन धार चौड़ी थी। वह आखिरी छलाँग मारने से पहिले जरा देर ठहर कर कुछ सोचने लगे। उन्होंने दौड़ते हुए ही धार को पार करने का निश्चय किया, जिसमें कि सीमा-रक्षक सिपाहियों को निशाना ठीक करने का मौका न मिले। आखिर खतरे के वे चन्द मिनट भी बीत गये और गोलियों की वर्षा नहीं हुई। इस प्रकार 28 जुलाई, 1931 को पृथ्वीसिंह समाजवाद की भूमि पर पहुँच गये।

पिछले दो दिनों की दौड़-धूप ने उन्हें इतना अधिक थका दिया था कि उनका सारा शरीर अकड़ गया। वह कितनी ही देर तक एक जगह लेटे रहे। यह भी ख्याल में आया कि कोई आकर पकड़ेगा और किसी अधिकारी के पास ले जायेगा। जब किसी को आते नहीं देखा तो खुद वहाँ से उठे और एक मजदूर के पास जाकर बोले कि मुझे किसी जवाबदेह पुरुष के पास ले चलो। मजदूर उन्हें एक अफसर के पास ले गया।

अफसर का पहला सवाल था, "तुम क्यों यहाँ आये हो ?" पृथ्वीसिंह ने बड़ी नर्मी के साथ फारसी जबान में कहा, "मैं एक भारतीय क्रांतिकारी हूँ। मुझे किसी जवाबदेह अफसर के पास ले चलें, तो मैं वहाँ सब बातें बताऊँ।" उसके चेहरे से मालूम हुआ कि वह बातों को तो अच्छी तरह समझ नहीं पाया, लेकिन उनकी गम्भीरता को जान गया। वह पृथ्वीसिंह को एक अफसर के पास ले गया। अफसर एक अजनबी को आफिस में देखकर एक-दो मिनट तक कुछ सोचता रहा, फिर मुस्कराते हुए रूसी भाषा में बोला। पृथ्वीसिंह ने अंग्रेजी में बात करनी चाही। इस पर अफसर ने कहा, "इंगलिश नेत्।" पृथ्वीसिंह ने समझा कि वह अंग्रेजी नहीं जानता। पृथ्वीसिंह ने फारसी में बोलना शुरू किया, अफसर ने एक दुभाषिये को बुला लिया। पृथ्वीसिंह ने कहा कि पहिले तो एक बाल्टी गर्म पानी मँगा दीजिये। पानी आया, पृथ्वीसिंह ने बूट पहने ही दोनों पैरों को बाल्टी में डाल दिया और बातचीत आधा घंटे तक होती रही। फिर सावधानी के साथ हल्के हाथ से बूट को उतार दिया। कितनी ही जगह चमड़ा निकल गया था। दवा लगाकर पट्टी बाँध दी गयी। पृथ्वीसिंह को कुछ भोजन कराकर, बगल के कमरे में सोने के लिए छोड़ दिया गया। दोपहर बाद कार में उन्हें एक दूसरे शहर में पहुँचाया गया। वहाँ उनसे कितने ही सवाल पूछे गये और एक सप्ताह तक वहीं रखा गया।

अब विशेष जाँच के लिए उन्हें ताशकंद भेजा गया। दुभाषिये की मदद से अफसर ने उनका बयान लिया। पृथ्वीसिंह को उसके सामने किसी चीज को छिपाने की जरूरत न थी। उन्होंने अमरीका जाने से लेकर आज तक की सारी कथा कह सुनायी।

लेकिन यदि ऐसी कथाओं को सुन करके ही अफसर मान लिया करते, तो सोवियत सीमा की रक्षा हो चुकती। दुनिया की सभी पूँजीवादी सरकारें, किसान-मजदूरों के इस राज से भयभीत थीं; उनको पूरा डर था कि खरबूजे को देखकर खरबूजा रंग पकड़ेगा और दुनिया की 90 फीसदी जनता जो कि गरीब किसान मजदूरों की जनता है—अब और अधिक दिनों तक शासन को धनिकों के हाथ में रहने देकर खुद नरक की जिन्दगी बिताने के लिए तैयार न होगी। वह खुद इन जोकों को सिंहासन से हटाकर शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेगी। हंगरी, जर्मनी और योरोप के दूसरे मुल्कों में उन्होंने जनता को ऐसे प्रयत्न करते देखा था। इसलिए पूँजीवादी सरकारें अपने गुप्तचरों को बराबर किसी न किसी तरह सोवियत के भीतर भेजने की कोशिश करती थीं। इसलिए अफसर ने तब तक पृथ्वीसिंह के ऊपर रोक-थाम रखना जरूरी समझा, जब तक कि मास्को में रहनेवाले गदर पार्टी के नेताओं से पूछकर पृथ्वीसिंह के बयान की तसदीक न कर ली जाय।

ताशकंद में उन्हें एक महीने तक इसी तरह रहना पड़ा। वह एक राजवन्दी का जीवन विता रहे थे।

मास्को में

एक दिन सबेरे पृथ्वीसिंह ताशकंद के सवसे अच्छे होटल में थे। अधिकारियों को पृथ्वीसिंह की बात की सच्चाई का प्रमाण मिल गया। अब सभी उन्हें स्नेह और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने ताशकंद के कितने ही भागों को घूमकर देखा और यह भी देखा कि किस तरह वहाँ के लोग एक दूसरी ही दुनिया में वसे हुए हैं, जहाँ मनुष्य, मनुष्य के भीतर वह भेद-भाव नहीं है, जिसे कि उन्होंने अव तक की देखी दुनिया में देखा था।

अव उन्हें मास्को जाना था और अकेले ही इतने दिनों में उन्होंने पचीस-पचास रूसी शब्द सीख लिये थे। यद्यपि रेल में भीड़ थी, लेकिन पृथ्वीसिंह को अपनी चार दिन की यात्रा के लिए एक आरामदेह सीट दी गयी थी। पृथ्वीसिंह को यह ख्याल करके बहुत आनन्द हो रहा था कि वह दुनिया की पहली मजूर-सरकार की समाजवादी राजधानी में जा रहे हैं। मास्को, जिसकी ओर सारी दुनिया की जाँगर चलानेवाली जनता बड़े ही सम्मान के साथ देखती है, अब उसी मास्को में वह क्रांतिकारी मार्क्सवाद का पाठ पढ़ने जा रहे हैं। अब वह उस आखिरी मंजिल पर पहुँच रहे हैं, जिसके लिए उन्होंने इतने जोखिम और कष्ट उठाये। सितम्बर का अन्त था, वर्षा हो रही थी, जबकि उन्होंने गाड़ी पकड़ी।

रेल के सभी यात्री पृथ्वीसिंह को हर तरह से खुश रखने की कोशिश करते। वह भारत और भारत से बाहर गोरे लोगों के सम्पर्क में आये थे, लेकिन उनके अभिमान और अपमान भरे बर्ताव ने पृथ्वीसिंह के दिल में गोरे रंग के प्रति जबरदस्त घृणा पैदा कर दी थी। लेकिन यहाँ गाड़ी में मास्को यात्रियों की अधिक संख्या गोरे रूसियों की थी। यहाँ इस चार दिन की यात्रा में उन्हें पता लग गया कि गोरे रंग का कोई दोष नहीं है। दोष है धनी-गरीब के वर्ग-भेद में, धनिकों की शासन-व्यवस्था में। महात्मा और सिंहासनवाले स्वयं जात-पाँत, रंग-रूप लेकर आदमी-आदमी में घृणा पैदा करते हैं। यहाँ उन्हें मालूम हुआ कि मनुष्य वस्तुतः भाई-भाई हैं। सिर्फ अपने ही प्रति लोगों का भाव उन्होंने मधुर नहीं देखा, बल्कि मध्य एशिया के 'काले' लोग भी गोरे रूसियों में सगे भाई-से जान पड़ते थे। जो बातें वह अपनी आँखों के सामने देख रहे थे और जिनके कारण उनके सारे जीवन में जबरदस्त परिवर्तन हो रहा था, उन्हें वह सुनी-सुनायी बातों से नहीं समझ सकते थे। पृथ्वीसिंह का मधुर स्वभाव हमेशा ही छोटे-छोटे बच्चों को आकृष्ट करता रहा है। ट्रेन में चलनेवाले लड़के उन्हें बराबर घेरे रहते और हर एक उन्हें अपनी भाषा सिखलाने की कोशिश करते। नौजवान आकर उनके पास बैठते, उनके व्यायाम-पुष्ट हाथों और पेशियों को दबाकर भीतर के बल का अनुभव करते, फिर खुश होकर बोल उठते, "खोची", "खोची" (मजूर)। मजूर शब्द रूस में वही अर्थ नहीं रखता जो कि दुनिया के दूसरे मुल्कों में। मजूर वह है जो अन्न-धन पैदा करता है, लेकिन गँवार-उजड्ड कहकर अपमानित किया जाता है, क्योंकि उसने शासन की बागडोर दूसरे के हाथ में दे रखी है। लेकिन रूस में मजूर अन्न-धन पैदा करता है, साथ ही शासन की बागडोर भी उसके हाथ में है। इसलिए वह सबसे ज्यादा सम्मान का पात्र है और 'मजूर' शब्द एक बड़े उच्च सम्मान का शब्द है। तरुण पृथ्वीसिंह के मजबूत हाथों को देखकर समझ लेते थे कि यह जोंकों के वर्ग का नहीं, बल्कि हमारे अपने ही वर्ग का आदमी है। तरुण सुन्दरियाँ और वयस्क लड़कियाँ उनकी आँखों की ओर देखकर मुस्कराते हुए कहतीं, "ओ, काक खरोशया चोर्नी ग्लज" (ओह, कितनी सुन्दर काली आँखें हैं !)।

पृथ्वीसिंह के वह चार दिन इतनी जल्दी बीत गये कि उन्हें इसका अफसोस हुआ। पाँचवें दिन वह मास्को की सड़कों पर थे।

मार्क्सवाद के विद्यार्थी (1931-33)

स्टेशन से कोमिन्टर्न तक पहुँचने में दिक्कत नहीं थी। उनके पास परिचय-पत्र था, जिसे उन्होंने कामरेड मेयर को दिखलाया और वह उसी दिन पूर्वी विश्वविद्यालय में पहुँचा दिये गये। उनके सभी प्रोफेसर रूसी थे। हिन्दुस्तानी

विद्यार्थियों में कामरेड वासुदेवसिंह भी थे। जो आठ साल तक पंजाब की जेलों में राजवन्दी रहकर अभी हाल ही में छोड़े गये हैं और पंजाब के किसानों में जान पैदा कर रहे हैं।

पृथ्वीसिंह ने यद्यपि अम्बाला में स्कूल छोड़ने के बाद फिर किसी स्कूल या कालेज का मुँह नहीं देखा, लेकिन उनकी ज्ञान-पिपासा हमेशा ही तेज रही। अंडमान और राजमहेन्द्री की जेलों में हिन्दी-उर्दू की जो भी काम की पुस्तकें उन्हें मिलतीं, वह उन्हें चाटे विना न रहते। भावनगर में वह काफी समय किताबों के पढ़ने में लगाते। पूर्वी विश्वविद्यालय में पढ़ने का जो कोर्स था, वह उन्हें वहुत कम मालूम हुआ। वह था भी प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए। वह नहीं चाहते थे कि उनके दो साल का एक दिन भी बेकार जाये। उन्होंने पढ़ाई के कम होने की शिकायत की। उन्हें पता लगा कि लेनिन स्कूल की पढ़ाई ऊँची है, वह उसमें जाने के लिए जोर देने लगे।

नवम्बर आया। 7 तारीख को महान् क्रांति का दिवस मनाया जा रहा था। शहर के हर एक भाग से लोग जुलूस बना-बनाकर क्रेमलिन के पास लाल मैदान की ओर जा रहे थे। पृथ्वीसिंह भी अपने विश्वविद्यालय के छात्रों के जुलूस में शामिल थे। सोवियत के बड़े-बड़े नेता लेनिन की समाधि की छत पर खड़े थे और सामने से बड़े-बड़े जुलूस निकल रहे थे। भारी टैंक पाँती से गड़गड़ाते आगे बढ़ रहे थे, फिर फौजी लारियों पर सवार आधुनिक हथियारों से लैस सेना चल रही थी, फिर हल्के टैंकों की कतारें। कहीं चुस्त सवार अपने दृढ़ घोड़ों पर चढ़े मार्च कर रहे थे और पीछे-पीछे पैदल सैनिक आ रहे थे। फिर मजदूरों की फौजी गारद आ रही थी और अन्त में मजदूरों का वृहद जुलूस। बरफ पड़ चुकी थी और अभ्यास न होने से पृथ्वीसिंह एक-दो जगह बिछलकर गिरे भी। लाल मैदान के आसमान में सैकड़ों सैनिक विमान घन-घना रहे थे। समाजवादी जनता के इस अपार उत्साह को देखकर पृथ्वीसिंह ने अपने जन्म को सफल समझा। कामरेड स्तालिन, कलिनिन, वोरोशिलोफ आदि जननायकों के साथ, चालीस-पचास गज पर ही वह जुलूस गुजर रहा था। उन्होंने नेताओं के चेहरों को बड़े गौर से देखा।

पृथ्वीसिंह लेनिन स्कूल में जाने के लिए जोर दे रहे थे। लेनिन स्कूल में कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर ही लिये जाते थे। पृथ्वीसिंह अभी पार्टी-मेम्बर नहीं थे। कठिनाई को उन्हें पार्टी में भर्ती करके दूर कर दिया गया।

लेनिन स्कूल में 500 के करीब विद्यार्थी थे, जिनमें 100 स्त्रियाँ थीं। अंग्रेज, फ्रांसीसी, जर्मन, अमेरिकन के अतिरिक्त चीन, जापान, मलाया, सुमात्रा आदि एशियाई मुल्कों के भी कम्युनिस्ट छात्र वहाँ मौजूद थे। पृथ्वीसिंह अंग्रेजी माध्यमवाली क्लास में शामिल हुए।

पढ़ाई के विषय थे—मजदूर वर्ग का इतिहास, क्रान्तिकारियों का इतिहास, अर्थशास्त्र, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद। पृथ्वीसिंह अब अपनी पढ़ाई में पिल पड़े और छः महीने बीतते-बीतते अध्यापकों ने उनकी पढ़ाई की दाद देनी शुरू की।

1932 की जनवरी या फरवरी में, उन्हें बुखार हो आया। पूरी तरह से स्वस्थ होने के लिए मास्को के पास ही उन्हें एक स्वास्थ्य-भवन में भेजा गया। लेकिन वह वहाँ दस-बारह दिन से ज्यादा नहीं ठहर सके। वजन ठीक होते ही पढ़ाई में पीछे रह जाने का डर मालूम हुआ। यहाँ उनका नाम था पॉल रिचार्ड मॉर्को ! मेक्सिको-निवासी मॉर्को मास्को में कम्युनिज्म सीखने आये हैं। लेकिन पढ़ाई में सैनिक शिक्षा भी शामिल थी और हफ्ते में कुछ दिन कवायद-परेड, रिवाल्वर, रायफल, हैन्डग्रेनेड, मशीनगन चलाना, सड़कों पर लड़ना आदि की शिक्षा पहले ही साल उन्हें समाप्त करनी पड़ी।

राजमहेन्द्री जेल में रहते वक्त असहयोग काल में पृथ्वीसिंह भी राजनीतिक समस्याओं पर खास तौर से सोचने लगे थे और उसमें धर्म, राजनीति और रूढ़ियों की एक अजब-सी खिचड़ी पका रहे थे। वह समझते थे—सतयुग में ब्राह्मणों का राज था, फिर क्षत्रियों का, अब वैश्यों का है और आगे पूर्ण पुरुष का राज होनेवाला है। हाथ से काम करनेवालों के लिए उन्होंने यह नया शब्द गढ़ा था। यहाँ उन्हें समाज के विकास पर लेक्चर सुनने पड़े और उन्हें मालूम हुआ कि कैसे आरम्भ में शिकार और फल-संचय के जीवन में लोगों का सब कुछ साझे में था। वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं थी, लेकिन पशु-पालन और उससे भी ज्यादा कृषि और ताँबे-लोहे के इस्तेमाल

के साथ धनी-गरीब का भेद उग्र रूप लेने लगा। जिन थोड़े-से लोगों के पास पशु या अन्न के रूप में ज्यादा सम्पत्ति आ गयी, वे दूसरों को मजूरी पर रखकर उनसे अपने लिए और धन कमवा सकते थे; उनकी सम्पत्ति की ओर कोई आँख न फेरे, इसके लिए वह भाड़े पर लड़ाके रख सकते थे। पृथ्वीसिंह भावनगर के सारे जीवन में समझते थे कि 'भारतीय तरुण' एक जादू भरा शब्द है, बस एक बार तरुणों को कसरत, अनुशासन, संगठन और कष्ट-सहिष्णुता का अच्छा पाठ दिया जाय, फिर बेड़ा पार। उन्हें यह कहावत याद नहीं आती थी कि वही दूध साँप के पेट में विष बन जाता है। तरुणों में भी अपने वर्ग के आर्थिक स्वार्थ से बँधे तरुण कभी क्रान्ति के सच्चे सिपाही नहीं हो सकते। मास्को में पृथ्वीसिंह ने वर्ग-भेद और वर्ग-संघर्ष के बारे में पढ़ा तो उन्हें खुद अपने काठियावाड़ी तरुणों के उदाहरण याद आने लगे और मॉर्को को यह बिल्कुल नयी बात मालूम हुई।

स्कूल में उन्हें और कामों के अतिरिक्त भारत के हिन्दी-उर्दू पत्रों से अंग्रेजी में अनुवाद करना पड़ता था। यह प्रथम पंच वार्षिक योजना के कठिन दिन थे, जबकि सोवियत राष्ट्र ने जल्दी से जल्दी सैनिक और औद्योगिक साधनों के सम्बन्ध में दूसरे मुल्कों से आजाद होने के लिए पक्का निश्चय कर लिया था और उसी योजना के अनुसार लकड़ी तेल, और रोटी भी बेचकर बाहरी मुल्कों से यान्त्रिक सामान मँगाये जा रहे थे। अभी तक भगवान के भरोसे खेती होती थी; ट्रैक्टर, पानी की नहरों और बिजली के पम्पों का सहारा नहीं मिला था; इसलिए उस साल खाने की चीजें कम रहीं। सभी खाने की चीजों पर कंट्रोल या राशनिंग थी, तो भी लेनिन स्कूल के विद्यार्थियों–जिनमें बाहर से आये तरुणों की संख्या अधिक थी–के खाने-पीने का सबसे अच्छा इंतिजाम था।

मई (1932) का महीना आया। सात महीने की कड़ी पढ़ाई के बाद शरीर को स्वस्थ और दिमाग को ताजा करने के लिए कुछ विश्राम करने की जरूरत थी। मॉर्को को कोहकाफ भेजा गया। उन्होंने मनीपुर और आसाम को देखा था, हिमालय को भी दूर से देखा था; हिमालय के देवदारों और बरफ बिछी घाटियों में घूमने का यदि मौका मिला होता, तो मॉर्को एकतरफा फैसला न दे पाते, कि दुनिया का यही सबसे सुन्दर दृश्य है। वस्तुतः हिमालय और कोहकाफ सहोदर हैं। वह किस्लोव्स्की की सुन्दर उपत्यका में ठहरे थे। किस्लोव्स्की अपने धातु मिश्रित स्वास्थ्यकर जल के लिए मशहूर है और उसके पास की चोटी कोहकाफ के सुन्दर दृश्यों की झाँकी के लिए भी प्रसिद्ध है। मॉर्को का मन उस चोटी पर चढ़ने के लिए बहुत ललचाने लगा। एक दिन वह बड़े आनन्द के साथ चोटी की ओर चढ़े जा रहे थे। दिया जलते वक्त चोटी पर पहुँचे। चारों तरफ अद्भुत दृश्य था। एक बार वह सौन्दर्यपान में आत्म-विस्मृत हो गये। लेकिन एकाएक उनके कलेजे में हूक उठ खड़ी हुई। उनका मन कहने लगा, "ओ गुलाम, क्या अधिकार है तुझे इस प्राकृतिक सुषमा के पान करने का ? इसके अधिकारी वही हैं, जिन्होंने अपने बल से स्वतन्त्रता की प्राप्ति की है।"

मॉर्को जल्दी-जल्दी चोटी से उतरते दिखाई दिये। उन्होंने जल्दी से जल्दी तैयारी करके अपनी मातृभूमि को लौट जाने का निश्चय किया।

महीने-भर बाद वह मास्को लौट आये। एक महीने बाद अब वोल्गा की यात्रा का प्रबन्ध हुआ; लेकिन यह सिर्फ यात्रा नहीं थी, विशाल वोल्गा के वक्ष पर तैरते जलपोत में 300 विद्यार्थियों का एक स्कूल चल रहा था। मास्को से कजान तक रेल में गये, वहाँ से जहाज पर सवार हुए। जहाज दिन में चलता, शाम को ठहर जाता। प्रथम पंचवार्षिक योजना समय से पहले ही समाप्त हो रही थी। नगरों और सामूहिक खेतों में, सभी जगह लोगों में अपार उत्साह था। लेनिन स्कूल के विद्यार्थियों को कभी कहीं कारखाना देखने को जाना पड़ता, कभी सामूहिक खेतों को। छै महीने बीतते ही बीतते मॉर्को रूसी समझने लगे थे। वोल्गा की विशाल, शान्त, गहरी धारा को देखकर उन्हें प्यारी गंगा और सिंधु की याद आती। वह ख्याल करते, क्या हिन्दुस्तान में भी एक दिन तरुणों के चलते-फिरते स्कूल अपनी सुन्दर नदियों पर विचरण करते हुए ज्ञान-वृद्धि के साथ-साथ प्रकृति की शोभा का आनन्द लेंगे ? वोल्गा का पानी कहीं हल्का नीला दिखलायी पड़ता और कहीं कुछ हरा-सा। उसके किनारे के कगार बिना जंगल के कहीं दृष्टि को दूर तक फैलने की इजाजत देते और कहीं अपने

पास ही रोक लेते। वोल्गा की मछली खाने में वहुत स्वादिष्ट मालूम देती और कपूर-सी चाँदनी जिस वक्त वोल्गा की धारा पर छायी रहती और दूर वृक्षों की काली पंक्ति और नजदीक की बस्तियों के सौध देखने में अद्भुत-से मालूम होते। तरबूज और दूध की इस यात्रा में खूब भरमार रही। जहाज पर मॉर्को के सिवा और कोई दूसरा भारतीय नहीं था। शारीरिक व्यायाम में जो अभ्यास उन्हें करना पड़ा, उसमें था तैरना, कूदना, भार उठाना, फर्स्ट-एड आदि।

अस्त्रखान जाकर उन्होंने रेल पकड़ी और रोस्तोफ, खारकोफ देखते हुए महीना-भर वीतते-वीतते मास्को लौट आये।

मॉर्को का अब तक का 39 वर्ष का जीवन एक दूसरे साँचे में ढला था। वाज वक्त विल्कुल अस्वाभाविक-सा लगता। परन्तु अब वह बदल चुके थे। आदर्श के लिए सर्व-त्याग की भावना मॉर्को में कई गुना वढ़ चुकी थी। पहले जहाँ उनके सारे त्याग और तपस्या में श्रद्धा का वल ज्यादा था, वहाँ अव बुद्धि भी सोलहों आना सहयोग देने के लिए तैयार थी।

मॉर्को स्कूल के बहुत ही परिश्रमी विद्यार्थी थे, इसलिए भी उनका अधिक सम्मान होता था। अगले साल के क्रांति-महोत्सव (नवम्बर) में जब वह जुलूस और सैनिक प्रदर्शन देखने लाल मैदान में गये, तो वहाँ और भी नये-नये हथियार देखे। 700 सैनिक विमानों से आसमान ढँक गया था। पिछली वार बहुत-से सैनिक हथियारों का वह नाम तक नहीं जानते थे, लेकिन अब उनका परिचय वहुत बढ़ गया था, इसलिए सोवियत वल के इस जबरदस्त प्रदर्शन से वह बहुत संतोष और आनन्द लाभ करते थे।

जाड़ों में अब वह सारी ताकत लगाकर पढ़ाई में जुटे हुए थे। भारतीय समस्याओं के अध्ययन के लिए उन्हें अकसर पूर्वी विश्वविद्यालय में जाना पड़ता। वह सब काम मन लगाकर किन्तु जल्दी-जल्दी कर रहे थे, क्योंकि अगले साल (1933) के वसंत में उन्हें भारत लौटना था।

भारत के लिए प्रस्थान (अप्रेल 1933)

इस वक्त तक बाबा गुरुमुख सिंह मास्को पहुँच गये थे। भारत में चलकर क्या करना है, इसके बारे में उनसे बातचीत होती थी। अप्रेल में बाबा गुरुमुखसिंह के साथ वह रेल से ताशकंद होते हुए स्तालिनाबाद आये। अब वह पामीर में थे, जिसकी सीमा एक ओर काश्मीर से मिलती है और दूसरी ओर अफगानिस्तान से। अफगानिस्तान और फिर से स्वतंत्र कबीलों के इलाके (दागिस्तान) के रास्ते उन्हें भारत लौटना था।

रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा था। अभी बरफ पूरे तौर से पिघली नहीं थी। एक पथ-प्रदर्शक के साथ 4 दिन चलने के बाद वह आमू दरिया के किनारे पहुँचे। दरिया का पानी बहुत ठंडा था, धार भी तेज थी। अफगानिस्तान के सैनिकों से आँख बचाकर इसी पानी में होकर एक जगह पार होना था। रात को पृथ्वीसिंह मशक पर छाति रखकर हाथ के सहारे जिस वक्त नदी पार कर रहे थे, उस वक्त ठंडक के मारे शरीर शून्य-सा होता जा रहा था। गुरुमुख सिंह घोड़े की पूँछ पकड़कर पार हो रहे थे। पूँछ टूट गयी और धार ने उनको बेकाबू कर दिया। इसी समय पथ-प्रदर्शक सहायता के लिए न पहुँच गया होता तो वह खतरे में पड़ गये थे।

पार होकर वे रात ही रात चल पड़े। केश और दाढ़ी, भेष छिपाने में बाज वक्त बहुत खतरे की चीज होती है; लेकिन बाबा गुरुमुखसिंह ने अपने साथी सिक्ख को केश काटने के लिए नहीं कहा। वह उस पहाड़ी और जंगल के रास्ते से 20 मील तक गये। एक पुलिस पार्टी जा रही थी, उसको शक हुआ और उसने तीनों को पकड़ लिया। पूछने पर तीनों ने अपने को हिन्दुस्तानी व्यापारी कहा और बताया कि हम व्यापार करने सोवियत के भीतर गये थे, लेकिन बोल्शेविक अफसरों ने हमें पकड़ लिया और बड़ी मुश्किल से हम उनके पंजे से निकल भागे हैं। अफगान पुलिसवालों ने उनकी वात पर विश्वास किया और एक आदमी साथ करके फैजाबाद भेज दिया। फैजाबाद में 10-15 दिन पड़े रहे। वहाँ उन्हें ताजिकिस्तान (सोवियत) से घर-फसल जलाकर भागे कितने ही धनी किसान मिले; जो सभी सोवियत-शासन के सख्त विरोधी थे, क्योंकि अब वह गरीबों का खून नहीं चूस सकते थे। इन सोवियत-शत्रुओं में कितने ही रूसी और यहूदी भी थे। पहिले उन्होंने अपने कपड़ों

और दूसरे सामान को बेच-बाचकर खाया और फिर वे दूकानों पर भीख माँगते फिरते थे। जब तक भगोड़ों की संख्या कम थी, तब तक तो अफगानिस्तानवाले उन्हें भीख माँगने के लिए भी छोड़ देते। मगर अब संख्या बढ़ती देख उन्होंने एक दूसरा ढंग अख्तियार किया था। अफगान सिपाही भगोड़ों को घेरकर पामीर के ऐसे इलाके में छोड़ आते, जो अफगानिस्तान, काश्मीर और ताजिकिस्तान के वीच में पड़ता है; और जिस निर्जन भूमि का कोई मालिक नहीं। वहाँ उन पर क्या-क्या बीतती, वह वे ही जानें। नारायनदास (पृथ्वीसिंह) ने एक दिन देखा कि सिपाही काफिले को पामीर के लिए तैयार कर रहे हैं। दो ही चार घंटे पहले एक रूसी लड़की के बच्चा पैदा हुआ था और अब उसे चलने का हुक्म हुआ था। गन्दी सराय से अपना बच्चा गोद में दबाये लड़की, उसके कपड़ों में से अब भी खून जा रहा था। नारायनदास को यह देखकर आश्चर्य और खेद हुआ। मनुष्य वैयक्तिक स्वार्थ के लिए कितना पतित हो सकता है और कितने कष्टों तक के सहने को तैयार हो जाता है, इसका यह एक अच्छा उदाहरण था। जरा भी देर करने पर अफगान सिपाही कोड़े मार रहे थे।

फैजाबाद से नारायनदास, बाबा गुरुमुखसिंह और हुकुमसिंह खानाबाद भेजे गये। वहाँ हुकुमसिंह के एक परिचित आदमी ने जमानत दी और तीनों छोड़ दिये गये। पुलिस ने इस शर्त के साथ छोड़ा था कि वह बीस दिन के भीतर काबुल में गवर्नर के सामने हाजिर हो जायेंगे। हुकुमसिंह ताजिकिस्तान का रहनेवाला था। वह उधर लौट गया। बाकी दोनों जने एक घोड़ा और एक खच्चर लिये तेजी से काबुल की ओर चले। काबुल एक दिन दूर रह जाने पर उन्होंने अपने घोड़े और खच्चर को बेच दिया।

जुलाई या अगस्त का महीना था। दोनों जने काबुल पहुँच गये। 20 दिन बाद हाजिर न होने पर पुलिस फिर उनके पीछे पड़ती, इसलिए वह एक पथ-प्रदर्शक लेकर अफगानिस्तान की ओर चल पड़े। दूसरे दिन जब वह पहाड़ के किनारे नदी के साथ-साथ चल रहे थे, तो फौजी चौकीवालों को शक हुआ और उन्होंने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। वहाँ से भी किसी तरह निकलने में सफल हुए। लेकिन सीधे रास्ते में खतरा ज्यादा था। पथ-प्रदर्शक को ज्यादा रुपया दिया ओर उसने एक पहाड़ को पार कर बे-रास्ते ले जाना चाहा। लेकिन वहाँ कोई निकलने का रास्ता नहीं मालूम हुआ। ऊपर से सूखे पहाड़ की गर्मी और प्यास ने इतना सताया कि उन्हें लौट आना पड़ा। दिन-भर झाड़ी में पड़े रहे, रात को जलालाबाद की सड़क पर जा निकले। एक चौकी पार कर उन्होंने ताँगा कर लिया। यदि पैदल ही चले होते, तो पुलिस को शक न होता। पुलिस ने उन्हें पकड़ लिया और एक-एक चीज की तलाशी ली। हजार रुपये का सोना और जो कुछ भी पैसा-कौड़ी उनके पास मिला, उसे पुलिसवालों ने अपना लिया और आवारागर्दी का अपराध लगाकर उन्हें पुलिस के हवाले कर दिया।

12

काबुल जेल की नरक-यातना

काबुल जेल का सुपरिन्टेण्डेन्ट और पुलिस का बड़ा अफसर गुरुमुखसिंह से पहले ही से अदावत रखता था। अब उसे अच्छा मौका मिला। पृथ्वीसिंह को क्या-क्या यातनाएँ सहनी पड़ीं, उनके बारे में उन्होंने 'बॉम्बे सेन्टिनल' (14, 15 जून 1938) में जो लिखा है, उससे पता चलेगा। उनके शब्द हैं :

"साहसी तरुण सिर्फ बहादुरी और उत्तेजना के आनन्द के लिए अपने को जोखिम में डालना पसन्द करते हैं। लेकिन हम दोनों पृथ्वीसिंह और गुरुमुखसिंह न तरुण थे और न तरुणाई का नशा हमारे ऊपर सवार था। हम लोगों ने परिस्थितियों से मजबूर होकर अफगानिस्तान के पहाड़ी जंगलों में अपने को डाल दिया। जून 1933 की किसी तारीख को जब हमने इस खतरे के रास्ते पर पैर रखा, तो हमारे दिल में सिर्फ एक ही हविस थी कि भारत चलकर वहाँ की कमकर जनता की आजादी के लिए जो लोग सर्वस्व लगाये हुए हैं, उनके सामने अपने अनुभव और सेवाओं को भी पेश करें।

" ... भारत आने के सभी रास्ते हमारे लिए बन्द थे। इसलिए हमें हिंदुकुश की बर्फानी चोटियों का चक्कर काटकर भारत का रास्ता निकालने के लिए मजबूर होना पड़ा।

" डक्का में गिरफ्तारी के 40 दिन बाद प्रधानमन्त्री के खास हुक्म के अनुसार हमें 16 हथियारबन्द सैनिकों के साथ मामांखेल (काबुल) की जेल में भेजा गया। हम दोनों जिस लॉरी पर लाये गये थे उसी पर 16 सिपाही भी थे। लॉरी काबुल के बाहरी दरवाजे पर समय से कुछ पहले पहुँची, इसलिए उसे आगे जाने की इजाजत नहीं मिली। सूर्यास्त के समय सिपाहियों को लॉरी से उतरने का हुक्म हुआ और वे भरी बन्दूकें लिये हमसे 50 गज पर खड़े होकर आपस में सलाह करने लगे। हम गोली खाने की आशा में थे लेकिन हमें निराश होना पड़ा। छः सिपाहियों को लॉरी पर चढ़ने का हुक्म हुआ। वे रायफल को नीचे रखकर लॉरी के फर्श पर लेट गये। लॉरी रवाना हुई और थोड़ी ही देर बाद हम काबुल सेन्ट्रल जेल के भीतर थे।

" जेल के भीतर घुसते ही कामरेड गुरुमुखसिंह बोल उठे "जिन्दादागोर" अर्थात् जिन्दा ही दफन कर दिये गये। जेल में हमारे साथ जो बदला लेने का बर्ताव होने लगा, उससे हमें निश्चय हो गया कि अब हम फिर जीवित बाहर न जा सकेंगे। जेल सुपरिन्टेण्डेन्ट जो शहर कोतवाल भी था, हमारा इंतिजार कर रहा था और जैसे ही हम आये, उसने जेल के दूसरे अफसरों और सिपाहियों से कहा–'अगर कोई दूसरा कैदी या सिपाही अफगानिस्तान के इन दुश्मनों के पास जाता पाया गया, तो उस पर बड़ी बेरहमी से कोड़े पड़ेंगे और यदि ये किसी के पास जाते दीख पड़े, तो इन पर खूब मार पड़ेगी।' हमको अपनी सेल में पहुँचाया गया, जिसमें एक ही द्वार था और वह भी जेलर के ऑफिस में खुलता था। जेलर का ऑफिस ही उसके रहने का घर था।

" काबुल आये हम लोगों को चार ही दिन हुए थे कि एक अफगान तरुण ने काबुल के ब्रिटिश दूतावास पर गोली चलायी। अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने जरा भी देर किये बिना, इस घटना को हम लोगों के साथ जोड़ दिया और अफगान सरकार पर दबाव डाला। लेकिन अफगान सरकार ने हमें अंग्रेजों के हाथ में देने से इनकार किया, यद्यपि वह इस बात के लिए तैयार थी कि अंग्रेज जिस तरह बतायें वह हमारे साथ उसी तरह का बर्ताव करें।

" अफगान सरकार अपनी बात की पक्की उतरी और उसने साफ साबित कर दिया कि अफगानिस्तान की सरकार से भारतीय क्रांतिकारियों को किसी भी तरह की दया की आशा नहीं रखनी चाहिए। न डाक्टर की सहायता हमारे लिए थी, न अफगानिस्तान या हिन्दुस्तान में अपने मित्रों को पत्र लिखने का अधिकार था; न हम अफगान बादशाह या मंत्री अथवा जेल के सुपरिन्टेण्डेन्ट से कोई अपील कर सकते थे। जेल के सुपरिन्टेण्डेन्ट ने अपने ऊपरी अधिकारियों और अंग्रेजों को विश्वास दिलाया था कि जहाँ ये लोग बन्द हैं, वहाँ पंछी भी पर नहीं मार सकता...।

" सामन्तशाही मुल्क में मामूली से मामूली कसूर पर भी आदमी को गिरफ्तार किया जा सकता है। पहिले उस पर खूब मार पड़ती है, जो तभी बन्द होती है जबकि वह अभागा आदमी अपना सारा रुपया-पैसा या उसके पास जो भी माल-मताब हो उसके अधिकांश भाग को उन्हें दे दे। वह अपनी धन-सम्पत्ति को पकड़नेवालों की आँखों से छिपा नहीं सकता।

" शान्ति और व्यवस्था के ठेकेदार जानते हैं कि उसे कैसे मालूम किया जा सकता है। कैदियों को न खाना दिया जाता है और न कपड़ा। फिर जब सम्बन्धी जेल के दरवाजे पर कैदी की सुधि लेने आते हैं, तो खाने की किस्म, बिस्तर और सम्बन्धी की शक्ल-सूरत देखकर वे भाँप लेते हैं कि कैदी धनी है या नहीं। फिर तो जब तक जेलवालों की भेंट-पूजा होती रहती है, तभी तक कैदी को खाना-कपड़ा भी मिलता है।

" गिरफ्तारी के बाद ही तुरन्त पाँच-सात सेर की बेड़ी कैदी के पैरों में डाल दी जाती है। मुकदमा स्थानीय काजी (जज) के पास जाता है और फैसला तो कितने ही महीनों या वर्षों तक में होता रहता है। फैसले में जल्दी या देर होना भी गिरफ्तार आदमी की थैली पर निर्भर करता है।

" सजा हो जाने पर कैदी को किसी छोटी या बड़ी जेल में भेज दिया जाता है। सवारी का कोई इंतिजाम नहीं, इसलिए कैदी को बेड़ी पहिने यह सारी यात्रा पैदल ही तै करनी पड़ती है। यदि कैदी पैसेवाला है तो उसे साथ चलनेवाले सिपाहियों को भी खिलाना पड़ेगा, नहीं तो खुद भूखा रहना पड़ेगा। अगर कैदी के पास

कुछ नहीं है, तो हर पड़ाव पर उसे सड़कों पर भीख माँगने के लिए घुमाया जायगा। छोटी या बड़ी जेल में पहुँचने पर कैदी को बराबर जेलर और सिपाहियों की भेंट-पूजा करते रहना पड़ेगा, नहीं तो जेल से जिन्दा निकलने की आशा छोड़ देनी होगी।

" पैरों की बेड़ी को वहाँ दण्ड में नहीं गिना जाता। सबसे क्रूर दण्ड है वह शारीरिक दण्ड, जिसमें चार तगड़े आदमी कैदी के हाथ-पैरों को पकड़कर फैलाये हुए उसे हवा में उठा लेते हैं। फिर दो मजबूत आदमी हाथ में बेंत और कोड़ा लेकर आते हैं। यदि और कुछ नहीं मिला तो पठानों के मोटे चप्पल ले लेते हैं। मार की कोई गिनती नहीं है, वह तब तक जारी रहती है जब तक कि कैदी का चिल्लाना बन्द नहीं हो जाता। या जब तक उसकी सुगबुगाहट खतम नहीं हो जाती। फिर उसी मूर्छित अवस्था में उसे या तो पानी में डाल दिया जाता है, या उसी जगह बिना दवाई-दर्पन के अपने भाग्य पर छोड़ दिया जाता है।

" शारीरिक दण्ड के बारे में कहीं कागज पर कुछ लिखा नहीं जाता। कैसे अपराधी को शारीरिक दण्ड देना चाहिए कैसे को नहीं, इसका कोई नियम नहीं बना है। यह सब वहाँ मौजूद अफसर की इच्छा पर निर्भर करता है। सिपाही किसी कैदी को कोड़े मार सकता है, हवलदार किसी सिपाही को कोड़े मार सकता है और हमने कप्तान जैसे अफसर को मेजर के हाथों बेंत खाते अपनी आँखों से देखा है, ऐसी भी अफवाहें सुनी हैं कि प्राइम मिनिस्टर अपने अन्य साथी मिनिस्टरों पर भी वेंत चला देता है। यदि यह बात सच हो तो हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

" ...यदि किसी कैदी की कोई मदद करनेवाला नहीं है, तो उसे अपने मामले को लिखकर अफसर के पास देना होगा। अगर अफसर दयालु हुआ, तो वह कैदी को एक अधपकी पठानी रोटी सबेरे और एक शाम को दे देगा। दाल-भाजी का कोई सवाल ही नहीं है। रोटी का वजन छै छटाँक बताया जाता है, मगर वह कभी उतनी नहीं उतरती। पकाना भी नाम के लिए ही होता है; आटे को गूँथ और दबाकर बाटी के शकल में भी दिया जा सकता है। अगर गरीब कैदी को रोटी देने की कृपा जेलर ने नहीं की तो उसके लिए आहार का एक ही रास्ता है कि वह धनी कैदियों की खिदमत करे और उनके जूठन पर जीवन-निर्वाह करे।

" काबुल शहर के चारों तरफ बहनेवाले नालों से ही कैदी को पानी मिल सकता है। इन खुले गन्दे नालों में जो पानी बहता है, उसी को नहाने, कपड़ा धोने और पीने के लिए इस्तेमाल करना होता है। पास के एक गाँव से होता हुआ ऐसा ही एक नाला जेल के हाते से गुजरता है। नाला दो फुट चौड़ा और डेढ़ फुट गहरा है। अगर कोई बहुत ध्यान से देखे तभी पानी बहता मालूम देगा। उसमें सारे गाँव की गन्दगी होती है। फिर उसी में हजार के करीब कैदियों का नहाना-धोना होता है। उसके बाद नाले का पानी मनुष्य के पीने लायक नहीं रह जाता...यदि एक प्याला पानी लेकर देखें तो उसमें चार-पाँच जूँ तो जरूर मिलेंगी।

" काम वैसे ही लिया जाता है जैसे हिन्दुस्तानी जेलों में; हाँ, उसमें कोई नियम नहीं है...।

" कैदियों को जेल के भीतर अपने साधारण कपड़ों को पहिनना पड़ता है। अपने जीर्ण-शीर्ण शरीर को, सिले लत्तों से ढाँके कंगालों को देखकर दिल फटने लगता है। जाड़े के दिनों में गरीब कैदियों के लिए कपड़ों का इंतिजाम करने के लिए परेड होती है।

" इस परेड के लिए बहुत थोड़े आदमी चुने जाते हैं और उसमें भी सिर्फ वे ही आदमी लिये जाते हैं जिनके बारे में यह निश्चित समझा जाता है कि ठीक कपड़ा-लत्ता न होने से वे ज्यादा दिन जिंदा नहीं रह सकेंगे। जब इन अभागों में से कोई मर जाता है, तो उसके कपड़ों को बिना धोये ही दूसरे कृपापात्र कैदी को दे दिया जाता है।

" हेडक्लर्क, जेलर और असिस्टेन्ट जेलर ने कपड़े की जरूरतवाले कैदियों में हम दोनों का भी नाम लिख दिया, यह सिर्फ दया से प्रेरित होकर। लेकिन जब सुपरिन्टेण्डेन्ट ने हमारा नाम पढ़ा तो लिखनेवाले को खूब गालियाँ देने लगा। एक पखवारे बाद दूसरी सूची तैयारी की जा रही थी, हेडक्लर्क ने फिर हमारा नाम दे दिया। इस बार बेचारे पर खूब मार पड़ी।

" अत्यन्त खतरनाक राजनीतिक बन्दियों को छोड़कर सभी कैदी ठूँस-ठूँसकर एक ही बैरक में बन्द कर

दिये जाते हैं। मैंने सिर्फ एक सेल में दस कैदियों को ठूँसे देखा था। उनका अपराध यह था कि वह सोवियत भूमि से अफगानिस्तान भाग आये थे। यह सेल 10 फुट चौड़ी, 12 फुट लम्बी और 14 फुट ऊँची थी। चौवीसों घंटे उन्हें इसी सेल में रहना पड़ता, दरवाजा उसका सदा बन्द रहता और सिर्फ एक छोटी-सी खिड़की खुली रहती···।

"समय पर छूटना उन्हीं का हो सकता है, जो किसी तरह प्रभाव डलवा सकते हैं। नहीं तो सजा की मियाद पूरी होने के महीनों बाद तक कैदी को छोड़ने का ख्याल नहीं किया जाता।

"हम दोनों के साथ जेल में वहुत ही क्रूर वर्ताव होता था, जिससे हमारा स्वास्थ्य खतम हो चला। हम प्रयत्न कर रहे थे कि जव तक अफगानिस्तान के वाहर की राजनीतिक संस्थाओं से सम्वन्ध नहीं हो जाता, तब तक किसी न किसी तरह अपने को जिन्दा रक्खें। लेकिन जेलवालों के अमानुषिक अत्याचार को बर्दाश्त से बाहर देखकर हमें भूख हड़ताल के लिए मजबूर होना पड़ा।

"लेकिन इसका जेल के अधिकारियों पर जरा भी प्रभाव न पड़ा···। न कोई डाक्टर आया और न सरकारी मुलाकाती ही हमारी सेल में आये। लेकिन धीरे-धीरे वावा गुरुमुखसिंह का वुढ़ापा और हम लोगों का दुस्सह कष्ट हमारे सिपाहियों के दिल को हिला देने में सफल हुआ···।

"एक दिन हमने देखा कि जेलवाले अफसर सारे सिपाहियों के साथ किसी काम में वड़ी तत्परता दिखा रहे हैं।··· तीन लट्ठों को फाँसी के चौखटे के तौर पर खड़ा किया गया। ऊपर से एक रस्सी लटक रही थी। सभी कैदी समझ रहे थे कि अब दो हिन्दुओं का खात्मा होनेवाला है।··· लेकिन तैयारी हमारे लिए नहीं हो रही थी।

"जब जेल का बड़ा फाटक खुला, तो हमने देखा—अच्छे कपड़े-लत्ते पहिने पाँच भद्र लोग आ रहे हैं। उनके चेहरों पर आत्माभिमान और रईसी की छाप थी। उनको यह नहीं मालूम था कि उन्हें कहाँ ले जाया जा रहा है। एकाएक बाईं ओर मुड़ने पर उन्होंने फाँसी की टिकठी को देखा। ··· वड़े शांत और गम्भीर भाव से उन्होंने पानी माँगा, फिर हाथ-पैर धोकर आखिरी नमाज पढ़ने लगे।

"जल्दी ही हमें मालूम हो गया कि यह पाँचों अमानुल्लाह के प्रगतिशील शासन में अफगानिस्तान के बड़े-बड़े वजीर थे। वे सभी जल्दी से जल्दी छुट्टी पा लेने के लिए आगे बढ़ने की कोशिश कर रहे थे, लेकिन उन्हें अपनी आयु और दर्जे के अनुसार टिकठी पर जाना पड़ा। 60 वर्ष से ज्यादा उम्र के भूतपूर्व वजीर-आजम को पहले झूलना पड़ा। पहली पारी के तीन आदमियों में से एक की गर्दन में फन्दा ठीक से नहीं लगा। बीस मिनट तक तड़पने के बाद उसकी जान निकली। जिस जगह यह हृदय-द्रावक नाटक खेला जा रहा था, वह जगह हमारी सेल से मुश्किल से 25 गज दूर होगी। इसलिए यह सारा दृश्य हमारे स्मृतिपटल पर अच्छी तरह अंकित हो गया।··वजीर-आजम की लाश सारे दिन उसी तरह लटकती रही, क्योंकि उसकी एक ही बुढ़िया बीवी बच रही थी और दूसरे सम्बन्धी या तो फाँसी पर लटक चुके थे या कैद थे।

"नादिर खाँ ने इस तरह अपने रास्ते के सभी काँटों को दूर करके समझा कि अब उनका तख्त सुरक्षित है। लेकिन ज्यादा दिन नहीं बीतने पाये कि एक गोली ने उनके भी काम को खतम कर दिया। जिस तरुण ने यह काम किया था, उसको सामन्तशाही की सारी यातनाओं का शिकार होना पड़ा और अन्त में खुले आम फाँसी पर चढ़ा दिया गया। जिस जगह इस तरुण को कतल किया गया, उसे हम अपनी खिड़की से देख सकते थे। सिर काटने के पहले उस असहाय तरुण के साथ राज्य के प्रमुख वजीर बड़ी क्रूरता से पेश आये। चाकू से उसके नाक और कान काट लिये गये···।

"जाड़े के दिन थे, थर्मामीटर हिमरेखा से 20-25 डिग्री नीचे जा रहा था। खिड़की और दरवाजे की चौखटों, दरारों से बरफानी हवा आकर हमारे शरीर को छेद रही थी। चीथड़ों, रस्सियों, ऊन और कपास से हम इन दरारों को मूँदना चाहते थे, लेकिन हमें उसमें सफलता नहीं मिली। अन्त में हमने फर्श की मिट्टी को खुरचकर उसे पानी में भिंगोया और उससे दरारें बन्द कीं। इस तरह हम हड्डियों तक को छेदनेवाली बर्फानी हवा से अपने को बचा सके।

"अफगान सरकार हमें फाँसी पर न चढ़ा, ठंडी मौत के घाट उतारना चाहती थी। उसने पूरा इंतिजाम किया था कि बाहरी दुनिया से हमारा कोई सम्बन्ध न हो सके। सर्व साधन-सम्पन्न और संगठित सरकार एक ओर थी और दूसरी ओर थे दो असहाय बेड़ियों में जकड़े, कड़े पहरे में बन्द, कैदी। हमने अफगान सरकार को नीचा दिखाने का निश्चय किया था।"

नरक-यातना से मुक्ति

पृथ्वीसिंह और गुरुमुखसिंह की नारकीय यातनाओं से उनके पहरेवाले सिपाहियों का भी दिल द्रवित होने लगा था। उनकी सेल का दरवाजा जेल के आफिस में खुलता था। जेलर का एक तरुण सम्बन्धी जो जेलर की बीवी का प्रेमी भी था, अक्सर वहाँ आता था। धीरे-धीरे वह तरुण दोनों हिन्दी कैदियों के प्रभाव में आया। वह भी समझता था कि दोनों हिन्दू खूब मंत्र-तंत्र जानते हैं। उसने अपनी मुराद पूरी होने के लिए पृथ्वीसिंह से ताबीज माँगी। पृथ्वीसिंह ने सोवियत के राज्य-चिन्ह लाल सितारे को लिखकर दे दिया। इसी तरह एक दिन दोनों के दुःखों की करुण कहानी सोवियत दूतावास में पहुँच गयी और फिर कोमिन्टर्न से होते-होते दुनियाँ के कोने-कोने में पहुँच गयी। सारी दुनियाँ में जबरदस्त आन्दोलन होने लगा और अफगान सरकार के पास तार पर तार आने लगे। अमेरिका के एक बैरिस्टर ने उनके मुकदमे की पैरवी के लिए काबुल आने के लिए लिखा।

अफगान सरकार सब जगह बदनाम होने लगी। जेल के सुपरिन्टेण्डेन्ट ने अफसरों और पहरेदार सिपाहियों से पूछा कि कैसे हिन्दुस्तानियों की लिखी चिट्ठी हिन्दुस्तान और लंदन पहुँची। कुछ अफसरों ने जवाब दिया—"साहब, यह काफिर भारी जादूगर है।"

4 जुलाई, 1934 को तड़के ही जेल का दरवाजा खुला और उन्हें सोते से जगाया गया। काबुल के हवाई स्टेशन पर सोवियत हवाई जहाज उनका इंतिजार कर रहा था। वह उस पर चढ़कर फिर सोवियत-भूमि में पहुँच गये। पहिले अफगान सरकार चाहती थी कि पामीर के किसी निर्जन स्थान में उन्हें छोड़ दिया जाय, जहाँ विदेशी सरकार के गुण्डे उनका काम खतम कर दें। अंग्रेज जोर भी लगा रहे थे कि उन्हें उनके हाथ में दे दिया जाय। अमेरिका की गदर पार्टी ने जोर लगाया कि चूँकि वह किसी सरकार की प्रजा नहीं हैं, इसलिए सोवियत सरकार उनका जिम्मा ले। सोवियत सरकार ने जिम्मा लिया भी।

13
सोवियत भूमि से फिर भारत में

सोवियत हवाई जहाज उसी दिन उन्हें ताशकंद ले गया, जहाँ से दो दिन बाद वे मास्को के लिए रवाना हो गये। दोनों बहुत ही कमजोर थे, मौत के मुँह से बाल-बाल बचे थे। उन्हें साइबेरिया के एक सेनिटोरियम में 10 या 12 दिन रक्खा गया। फिर एक मास के लिए क्राइमिया के स्वास्थ्यवर्धक नगर याल्ता में लाया गया। उन्होंने 1934 की नवम्बर क्रांति के महोत्सव को फिर मास्को के लाल मैदान में देखा। अब की बार पृथ्वीसिंह एक सम्माननीय मेहमान के तौर पर बैठकर लाल सेना के प्रदर्शन को देख रहे थे। पिछले 3 सालों के भीतर-भीतर लाल सेना कहाँ से कहाँ पहुँच गयी, यह उन्हें अच्छी तरह मालूम हुआ।

भारत के लिए रवाना

अब पृथ्वीसिंह ने भारत जाने का निश्चय किया। अबकी बार यात्रा और भी मुश्किल थी। अफगानिस्तान में गिरफ्तार होने से पहले अंग्रेजी खुफिया विभाग नहीं जानता था कि पृथ्वीसिंह कहाँ हैं। काबुल जेल में अंग्रेजी

सरकार की शह से उनका फोटो लिया गया और शरीर के हर एक चिन्ह को नोट किया गया।

हिन्दुस्तान में हर जगह उनके स्वागत के लिए खुफियावाले तैयार थे। लेकिन पृथ्वीसिंह को भारत जरूर जाना था। उन्होंने पासपोर्ट तैयार कराया, जो देखने में असली-सा मालूम होता था, लेकिन था जाली। सबसे बड़ी गलती उसमें यह हुई कि उमर 43 की जगह 27 लिखी थी। रही सही कमी को विदेशी जहाज के अफसर ने पूरा कर दिया। उसने पासपोर्ट पर लिख दिया "रूस के ओदेसा बन्दरगाह से रवाना।"

ऐसे पासपोर्ट को लेकर पृथ्वीसिंह अंग्रेजी हिन्दुस्तान में कहीं भी सुरक्षित रूप में नहीं उतर सकते थे। पृथ्वीसिंह दिसम्बर में एक इतालियन जहाज से मार्साई (फ्रान्स) के लिए रवाना हुए। नेपल्स में फासिस्ट पुलिस ने टोका और कहा कि कोई कम्युनिस्ट मालूम होता है; लेकिन कप्तान ने यह कहकर छुड़वा दिया कि नहीं, कोई भलेमानुष हैं। अब जहाज से जाना उन्होंने अच्छा नहीं समझा। नेपल्स से रोम और जेनेवा होते हुए वह रेल द्वारा पेरिस पहुँचे। ओदेसा का नाम उन्होंने काट दिया। पेरिस सारी दुनिया के गुप्तचरों का अड्डा है। पृथ्वीसिंह ने सिर्फ रात को घूम-घूमकर फ्रांस की राजधानी देखी।

अब पांडिचेरी में उतरने को ही उन्होंने एकमात्र सुरक्षित रास्ता समझा। जनवरी 1935 में एक फ्रांसीसी जहाज पकड़कर वह भारत के लिए रवाना हुए। जहाज बम्बई और कोलम्बो में भी लगा, मगर उन्होंने किनारे की ओर झाँका तक नहीं। अन्त में 24 जनवरी, 1935 को वह पांडिचेरी में उतरे।

भारत-भूमि पर

किनारे पर उतरते ही फ्रांसीसी खुफिया पुलिस पीछे पड़ी। पृथ्वीसिंह होटल में गये। दो गुप्तचरों की ड्यूटी लग गयी थी। उनके पास हिन्दुस्तानी रुपया नहीं था। उन्होंने खुफियावालों से बदलने के लिए कहा। इस पर उन्होंने कहा कि हम चार बजे आकर बदल देंगे। उन्होंने समझा, इसके पास पैसा तो है नहीं इसलिए जायेगा कहाँ ? पृथ्वीसिंह कितने ही समय तक इंतिजार करते रहे, फिर बाजार गये, पैसे बदले, धोती खरीदी और अँधेरा होते ही शहर से निकल पड़े। खेतों में जाकर झाड़ के नीचे धोती बदल ली।

जिस वक्त वह कडलूर की सीमा से बाहर हो रहे थे, उसी समय एक सादे कपड़ेवाले आदमी ने उन्हें रोकना चाहा, लेकिन वह क्यों रुकने लगे। उन्होंने समझाने-बुझाने की कोशिश की। लेकिन वह आदमी उन्हें थाने में जाने के लिए जोर दे रहा था। जब समझाना और प्रलोभन बेकार हुआ, तो उनके लिए दूसरा तरीका अख्तियार करना जरूरी हो गया। पृथ्वीसिंह ने उसे कुछ और पास आने दिया और फिर एकाएक उस पर टूट पड़े। उसे जमीन से उठाकर खूब जोर से पटका। आदमी मजबूत और जवान था, वह उठकर भागने लगा। लेकिन इस तरह आसानी से निकल जाने देना भी तो ठीक नहीं था। उन्होंने दौड़कर फिर उसे पकड़ लिया। अबकी बार पीटने की जगह उन्होंने उसकी धोती खोली और बाँधकर उसके मुँह में कपड़ा ठूँस देना चाहा। जिस वक्त वह उसके मुँह में कपड़ा डाल रहे थे, उस वक्त उस आदमी ने उनकी अँगुली काट खानी चाही। उन्होंने दो-चार घूँसे, कोहनी और घुटनों की मार लगायी। अँगुली तो मुँह से निकल आयी, मगर चमड़ा और नसें कट चुकी थीं। इस बीच में आदमी धोती छोड़ नंगे ही निकल भागा। पृथ्वीसिंह ने भी खेतों का रास्ता लिया और दौड़कर घने जंगलों से घिरे एक पहाड़ में घुस गये। लेकिन वह जानते थे कि पुलिस उनके पीछे होगी, इसलिए यहाँ से निकलना ही अच्छा है। वह सारी रात चलते रहे। दिन को झाड़ी में सो जाते और रात को सफर करते। वह अंग्रेजी भारत में थे, लेकिन तो भी स्टेशन पर जाकर टिकट कटाने की हिम्मत नहीं होती थी।

पृथ्वीसिंह के पैरों में नया बूट था, जिसे उन्होंने पेरिस में खरीदा था। 100 मील की यात्रा को खेतों, पहाड़ों और जंगलों में से होते हुए जल्दी से जल्दी पार करना था। कई सालों से नंगे पैर न घूमने की वजह से बूट को निकालकर चलने में कंकड़ियाँ चुभती थीं, इसलिए उन्हें बूट पहने ही दौड़ना पड़ा।

चलते और दौड़ते हुए आखिर वह मद्रास पहुँचने में सफल हुए। वहाँ उन्हें अपने एक परिचित गुजराती

सज्जन का पता लगा। लेकिन परिचय सिर्फ एक दूसरे के नाम से था। नौकर पृथ्वीसिंह को मालिक के पास ले गया। मालिक ने एक ऐसे दरिद्र-से आदमी को सामने आया देख, आश्चर्य जरूर किया होगा, मगर उन्होंने पृथ्वीसिंह से बैठने का इशारा किया। पृथ्वीसिंह ने खड़े ही खड़े कहा–"मुझे एक ग्लास पानी मँगा दीजिए।" उन्हें प्यास भी बहुत लगी थी, साथ ही यह भी नहीं चाहते थे कि नौकर के सामने कोई बात कहें। नौकर पानी लेने गया। उन्होंने धीमे स्वर में कहा–"मैं स्वामीराव हूँ, यह जानना आपके लिए काफी होगा। बड़ी मुश्किल से मैं यहाँ तक पहुँचा हूँ। अब आगे जाने के लिए मेरे पास ताकत नहीं रह गयी है। अगर आप मेरी सहायता करने के लिए तैयार हों तो मैं बैठूँगा, नहीं तो मैं किसी दूसरे भाई की सहायता लूँगा।" थोड़ी देर तक वह चुपचाप कुछ विचार में डूब गये, लेकिन 1-2 मिनट के बाद ही उनके होंठों पर मुस्कराहट थी। उन्होंने पृथ्वीसिंह से कुर्सी पर बैठने के लिए कहा।

नौकर पानी ले आया। मालिक ने उसे अपने प्राइवेट सेक्रेटरी को बुला लाने के लिए भेजा। सेक्रेटरी के आने पर मालिक ने कहा, "यह श्री स्वामीराव हैं। इनकी बातें सुनो और जो कहें उन्हें पूरा करो।"

सेक्रेटरी स्वामीराव के नाम से परिचित था। वह उन्हें रसोईघर में ले गया। उन्होंने जूता पहने खाना खाने की इजाजत माँगी। एक हिन्दू घर में जूता पहनकर खाना जरूर आश्चर्य की बात थी। मगर पृथ्वीसिंह ने पाँच दिन से अपने कपड़े नहीं बदले थे। उनका दाहिना हाथ खून सने गन्दे चीथड़े से बँधा हुआ था। नौकरों और स्त्रियों ने समझा होगा कि कोई पागल भिखमंगा है। भोजन करने के बाद अब उनमें चलने की ताकत नहीं रह गयी। दूसरों के सहारे वह एक घोड़ा-गाड़ी में बैठे। कुछ दूर जाने पर घोड़ा-गाड़ी से टैक्सी में और फिर पनाह लेने के स्थान पर पहुँच गये।

पृथ्वीसिंह ने अपने दोस्त से कहा, "पहले तो मुझे बदलने के लिए कपड़ा दीजिये और हजामत बनवाइये, फिर चाकू-कैंची ले आइये।" फूले पैरों से बूट निकालना सम्भव नहीं था। उन्होंने जूते को काट-काट ही नहीं निकाला बल्कि उन्हें उसके साथ मांस और चमड़ी को भी कहीं-कहीं काटना पड़ा। वह उस अवस्था में किसी डाक्टर की सहायता को खतरे की बात समझते थे। इसलिए सब कुछ उन्होंने अपने हाथ ही से किया, फिर दवा लगाकर पट्टी बाँध दी। दर्द तो बहुत हो रहा था, लेकिन वह कई दिन-रात के थके और नींद के मारे थे, इसलिए इस अवस्था में भी सो गये। पूरे छै दिन तक वह जमीन पर पैर नहीं रख सकते थे, सातवें दिन वह जमीन पर खड़े हुए। पृथ्वीसिंह के मित्र के लिए यह खतरे की बात थी लेकिन उन्होंने उसकी परवाह न की। अब वह उस जगह और अधिक नहीं रहना चाहते थे।

श्री जोशी से भेंट

डाक्टर सुब्रह्मण्यम् और साम्बमूर्ति पृथ्वीसिंह के राजमहेन्द्री जेल के ही परिचित थे। उन्होंने इस अवस्था में पृथ्वीसिंह की बड़ी सहायता की। भले-चंगे होकर मार्च (1935) के महीने में पृथ्वीसिंह बम्बई आये। वहाँ मिरकर, पाटकर, इकबाल आदि कम्युनिस्ट साथियों से मुलाकात की। पृथ्वीसिंह भारतीय पार्टी के सेक्रेटरी कॉमरेड पूरनचन्द्र जोशी से मिलकर कुछ बातें करना चाहते थे। साथियों ने स्थान और समय बताकर कहा कि वहाँ एक जिम्मेदार आदमी आयेगा और वह तुम्हें जोशी के पास ले जायेगा। किसी वजह से जोशी खुद वहाँ पहुँच गये। जोशी के पास ले चलने की बात कहने पर जब उत्तर मिला कि मैं ही जोशी हूँ तो पृथ्वीसिंह को सन्देह हो गया। उन्होंने साफ कह दिया, "मुझे अंफसोस है कि मैं तुमसे बात नहीं कर सकता।" जोशी के कितना ही कहने पर भी पृथ्वीसिंह टस से मस नहीं हुए और घरवालों से यह कहकर चले गये कि घंटे-भर से पहले इन्हें जाने न देना। जोशी बहुत मुश्किल में पड़े, क्योंकि उनके विरुद्ध खुद वारंट था और इनाम की भी घोषणा थी।

साथियों ने सलाह दी कि पृथ्वीसिंह को ज्यादा घूमना-फिरना न चाहिए। सात-आठ महीने तक वह इसी तरह छिपे रहते और पार्टी के पत्र-व्यवहार की सुरक्षा में सहायता करते।

उस समय पृथ्वीसिंह के एक दोस्त उन्हें 25 रु. मासिक की सहायता देते थे। अपने दो क्रान्तिकारी साथियों के साथ बम्बई के एक गरीब मोहल्ले में वह रहा करते। 25 रु. में से 8 रु. मकान किराये में चला जाता

था, 2 रु. का अखबार मँगाते थे। बाकी 15 रु. में तीनों आदमियों का खाना, कपड़ा धोना और मिट्टी का तेल आता था। ऐसी असह्य दरिद्रता में वह छै महीने तक रहे। ऐसा जीवन वह और उनके साथी तब बिता रहे थे, जब विरोधी बदनाम कर रहे थे कि कम्युनिस्टों के पास तो मास्को से ढेर का ढेर सोना आता है। मास्को अपने यहाँ आये हुए किसी भी क्रान्तिकारी की दिल खोलकर सहायता कर सकता है; लेकिन वह जानता है कि जनता की क्रांति बाहर के सोने के बल पर नहीं हो सकती। जनता को क्रांति के लिए तैयार करने पर जनता खुद सारे खर्च का बोझ अपने ऊपर उठा लेगी।

चपरासी, दरवान और मैनेजर

1935 के अन्त में पृथ्वीसिंह ने बाहर आने का निश्चय किया। कुछ दिनों एक समाचारपत्र के आफिस में चपरासी और दरबान रहे, फिर उन्होंने एलिमोनियम आदि की एजेन्सी ले ली। पार्टी की आर्थिक अवस्था ऐसी थी कि आर्थिक आय का कोई रास्ता निकालना वैसे भी जरूरी था, मगर यहाँ तो एक गैर-कानूनी पार्टी को देश-विदेश के साथ सम्बन्ध रखना भी जरूरी था। पृथ्वीसिंह ने इस काम में बेहद मदद की। यद्यपि अब उन्हें रात को नहीं दिन के उजाले में लोगों के सामने आना पड़ता था, लेकिन वह अपनी प्रत्युत्पन्न मति पर पूरा भरोसा रखते थे। बम्बई शहर के सबसे बड़े व्यवसाय केन्द्र में वह रहते थे, जहाँ से हजारों उनके परिचित चेहरे गुजरते रहते थे। यह जोखिम की बात जरूर थी, लेकिन पृथ्वीसिंह को विश्वास था कि उनके परिचित उच्च और मध्यमवर्ग के व्यक्ति हैं; वे निम्न श्रेणी के चेहरों में अपने परिचितों को नहीं ढूँढ़ सकते। लेकिन चेहरा देखने से कोई भी पूर्व परिचित व्यक्ति उनको आसानी से पहचान सकता था। वह खुद हजारों परिचितों को अपने सामने गुजरते देखते थे। लेकिन जब बड़े आदमियों को उनका सलाम लेने तक की फुर्सत न मिलती थी, तो उनके चेहरे को पहचानने का क्या सवाल था।

सफरी एजेण्टी

पृथ्वीसिंह एक कारखाने के टाइमकीपर मुकर्रर हुए। मैनेजर ने उनके चेहरे और बातचीत को देखकर समझा कि यह आदमी अच्छा ट्रेवलिंग (सफरी) एजेंट हो सकता है। पृथ्वीसिंह ने उनकी बात स्वीकार की। अब पृथ्वीसिंह भिन्न-भिन्न तरह की चीजों का नमूना तथा आर्डर की किताब लेकर एक जगह से दूसरी जगह घूमने लगे। अपने 40 दिन के पहले सफर में वह कम्पनी के लिए बहुत-से आर्डर लाने में सफल हुए। मैनेजर को उनकी सफलता से बहुत खुशी हुई।

एक बार वह बंगलोर के एक गुजराती होटल में भोजन कर रहे थे। उनके सामने दो तरुण बैठे थे। आधा घंटा तक वह मेज पर बैठे रहे। एक तरुण पृथ्वीसिंह को ध्यान से देख रहा था। पृथ्वीसिंह को सन्देह होने लगा किन्तु तरुण ने कुछ नहीं पूछा। इसके बाद ऐसा संयोग हुआ कि दोनों कितने ही दिनों तक एक ही दिशा में चक्कर लगाते रहे। तरुण उनके प्रति ज्यादा स्नेह दिखाने लगा था, लेकिन तब भी अपने पुराने परिचय के बारे में एक शब्द मुँह से बाहर नहीं निकाला। पृथ्वीसिंह का भी उस तरुण की ओर ज्यादा झुकाव हुआ, क्योंकि वह कोरा व्यापारी एजेंट ही नहीं था, बल्कि उसमें दूसरी तरह की सुरुचि थी। छै महीने तक दोनों एक दूसरे के सामने कभी दिल नहीं खोलते। तरुण उन्हें अपना गुरु मानता और पृथ्वीसिंह उसमें भविष्य के एक अच्छे क्रांतिकारी होने की आशा रखते। एक दिन संयोग से एक दूसरे साथी से मुलाकात हुई और फिर पता लगा कि जिस तरुण को वह धीरे-धीरे करके पार्टी में ले जाने का ख्याल रखते थे, वह पहले ही से पार्टी में है। पृथ्वीसिंह अबकी बार किसी दूसरे व्यापार केन्द्र में अपने काम के लिए गये थे। एक खूबसूरत-से तरुण ने बड़ी श्रद्धा के साथ उन्हें प्रणाम किया। लेकिन पृथ्वीसिंह ने उसे उस अर्थ में स्वीकार नहीं किया। तरुण मुश्किल से 20 साल का था। उनके काठियावाड़ छोड़ने के वक्त वह 10 साल से ज्यादा का न होगा। कोशिश करने पर भी वह तरुण के बारे में कुछ स्मरण नहीं कर सके। खाने के बाद रात को सभी एजेंट ताश खेलने लगे। पृथ्वीसिंह भी उसमें शरीक हुए। तरुण उनके प्रति बहुत सम्मान प्रदर्शित कर रहा था और

जब-तब गुरुजी कहकर सम्बोधित करता। पृथ्वीसिंह ने कहा—"भाई, यह अच्छा नौजवान है, मुझे तो इसने गुरु भी वना दिया और बाकी लोगों को काका।" तरुण जरा-सा मुस्कराया और फिर वैसे ही खेलने में लग गया। आधी रात बाद जब खेल बन्द हो गया तो पृथ्वीसिंह ने जाकर उस तरुण से उसके विचित्र बर्ताव के बारे में पूछा। तरुण ने कहा, "स्वामी जी, तुम अपने उन विद्यार्थियों को धोखे में नहीं रख सकते, जो तुम्हारी गोद में खेले हैं।"

एक दिन पृथ्वीसिंह अपने दो नये दोस्तों के साथ दूकान में कपड़ा खरीदने गये। उन्होंने कपड़ा बेचनेवाले तरुण से कुछ कपड़े दिखलाने के लिए कहा। तरुण उनके चेहरे की ओर देखने लगा। पृथ्वीसिंह के भीतर कुछ घबराहट हुई। तरुण ने मुस्कराते हुए कहा—"आप भावनगर के स्वामीराव तो नहीं हैं ?" पृथ्वीसिंह ने ठहाका लगाते हुए अपने दोनों दोस्तों की ओर मुड़कर कहा, "आप लोग बता सकते हैं, मेरे चेहरे में क्या खास बात है कि एक आदमी तो मुझे शान्ति भाई कह के पीछे दौड़ने लगा। खैर, उसे तो मैंने पागल समझा, लेकिन यहाँ देखिए यह मुझे स्वामीराव कह रहे हैं।" तीनों दोस्त हँसने लगे। तरुण ने झेंपकर नम्रतापूर्वक कहा, "माफ कीजिए, मैंने गलती से आपको भावनगर के अपने स्वामीरावजी समझा।"

"कौन हैं यह स्वामी जी और कहाँ है भावनगर ?"

"भावनगर काठियावाड़ में है। वहाँ एक आदमी थे, जिन्हें हम प्यार से स्वामी कहा करते थे। उनका नाम था स्वामीराव।"

एक दिन पृथ्वीसिंह अपने दोस्त के साथ 'तुकाराम' फिल्म देखने गये। जब वह सड़क पर आये तो सामने रेस्तराँ में कुछ खाते-पीते एक तरुण की नजर अपने ऊपर पड़ते देखी। तरुण पैसे और प्याली को वहीं छोड़ छलाँग मारकर पृथ्वीसिंह के सामने आकर खड़ा हो गया। वह खूब हट्टा-कट्टा मजबूत जवान था और अच्छी तरह एक हाथ मिला सकता था। एक मिनट से ज्यादा वह उसी तरह मुस्कराता अविचल दृष्टि से पृथ्वीसिंह के चेहरे को देखता रहा। पृथ्वीसिंह को याद नहीं आ रहा था तो भी उनके मन में घबराहट नहीं पैदा हुई; क्योंकि वह तरुण की आँखों में स्नेह और सम्मान को झलकता हुआ देख रहे थे। फिर तरुण ने कहा, "कितना आश्चर्य है ? कितनी जल्दी आप मुझे भूल गये ? मैं अमुक का छोटा भाई हूँ।" पृथ्वीसिंह को अब याद आ गया। उन्होंने भी प्रेम प्रदर्शित किया। तरुण घर चलने के लिए आग्रह करने लगा। अपने दूसरे दोस्त के सामने पृथ्वीसिंह किसी बात को खोल नहीं सकते थे। पृथ्वीसिंह ने अपने पैरों से तरुण के अँगूठे को जोर से दबाया। उसने बात समझ ली और फिर आग्रह नहीं किया।

उस समय पृथ्वीसिंह एक बहुत बड़े शहर में एक नकली एजेंट बनकर रह रहे थे। उन्होंने बहुत तरह की चीजों के नमूनों को इस तरह के सिलसिले से लगा रक्खा था कि मालूम होता था कि दरअसल बहुत-सी कम्पनियों की एजेन्सी इनके हाथ में है। एक दिन पाँच बजे शाम को सादे कपड़े में दो खुफियावालों ने उनका पीछा करना शुरू किया। उनको यह नहीं मालूम था कि वे एक बड़े क्रान्तिकारी का पीछा कर रहे हैं। वह समझ रहे थे, शायद कोकीन, अफीम बेचनेवाला कोई आदमी हो। पृथ्वीसिंह ने पीछा छुड़ाने की बहुत कोशिश की, मगर वह पीछा नहीं छोड़ते थे। अन्त में एक हड्डी बैठानेवाले के कमरे में गये। उससे कहा कि मुझे समय-समय पर छुट्टियों में गठिया का दर्द होता है। आदमी ने एक घंटे तक खूब मालिश की। पृथ्वीसिंह ने दर्द बढ़ जाने की मुद्रा दिखलाते हुए टैक्सी बुला देने के लिए कहा। टैक्सी ले वह वहाँ से जोर से निकल गये और खुफियावाले मुँह ही ताकते रह गये।

पृथ्वीसिंह ने अपनी कम्पनी के काम को ट्रेवलिंग एजेंट के तौर पर खूब अच्छी तरह निबाहा था। कम्पनी के मालिक अब उन पर बहुत विश्वास रखते थे। एक बार मालिक, जो कम्पनी के मैनेजर भी थे, किसी काम के लिए 20 दिन की छुट्टी गये। उनकी अनुपस्थिति में पृथ्वीसिंह को मैनेजर का काम दिया गया। उन्हें सब

काम की देख-भाल करना और कागजों पर सही भी करना पड़ता था। कितनी ही बार उन्हें अपने हस्ताक्षर के कागज पुलिस के पास भी भेजने पड़ते। दो बार अंग्रेज सारजंट उनके आफिस में कुछ पूछताछ करने आया। इसी समय एक पंजाबी छुट्टी पर घर जा रहा था, वह देखने में खूब चुस्त और चालाक मालूम होता था। खुफियावाले ने क्रांतिकारी समझ उसे गिरफ्तार कर लिया। नौजवान ने अपना पता-ठिकाना दिया और सी. आई. डी. वाले मैनेजर से उसके बारे में कुछ पूछ-ताछ करने आये। पृथ्वीसिंह ने मैनेजर के तौर पर उन्हें समझाया कि नौजवान भला आदमी है, उसे खामख्वाह हैरान न करो। उन्होंने उसके लिए सिफारिश की और नौजवान उसी वक्त छोड़ दिया गया।

उस वक्त बम्बई में वह जिस मालिक के पास काम कर रहे थे, उसने प्रदर्शनी में अपने कारखाने की सबसे अच्छी-अच्छी चीजें दिखाने और बेचने को रक्खी थीं। मालिक ने समझा कि पृथ्वीसिंह जैसा रोबीला और अच्छा बोलनेवाला आदमी यदि वहाँ रहेगा तो उसे बड़ी सफलता होगी। लेकिन जहाँ हजारों आदमी देखने के लिए आते हों, वहाँ पृथ्वीसिंह कैसे खड़े हो सकते थे। वहाँ उन्हें बोलना पड़ता, बहस करनी होती और हँसते-मुस्कराते खरीदारों को खरीदने के लिए तैयार करना पड़ता। ऐसी स्थिति में अपने को छिपाना उनके लिए बहुत मुश्किल होता। विशेषतया जब कि प्रदर्शनी भी एक महीने तक चलनेवाली थी। पृथ्वीसिंह ने मालिक को बहुत समझाया-बुझाया, लेकिन वह फिर भी जाने के लिए आग्रह करता रहा। आखिर में पृथ्वीसिंह को नौकरी से इस्तीफा दे देना पड़ा।

14
आत्मसमर्पण, और जेल में

सन् 1937 में भारत के प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल शासन करने लगे थे। बम्बई के कांग्रेसी मंत्रियों के कितने ही दोस्त पृथ्वीसिंह के भी मित्र थे। उस वक्त किसी न किसी से भेंट हो जाती थी। अब उनके सामने सवाल था या तो इसी तरह गुमनाम अपना समय बितायें और जनता के साथ खुलकर सम्बन्ध स्थापित करने से वंचित रहें; अथवा ऐसा कोई रास्ता निकालें, जिससे उन्हें फिर जनता के भीतर खुलकर काम करने का मौका मिले। उन्होंने पार्टी के अपने साथियों से सलाह ली। गाँधीजी बंगाल के क्रांतिकारियों को छुड़ाने की कोशिश कर रहे थे। साथियों ने कहा—"महात्माजी से मिलिए। यदि वह आपको छुड़ाने की कोशिश करने का वचन दें, तो आत्मसमर्पण कर देना अच्छा होगा। इस प्रकार कुछ दिनों बाद आपके लिए खुलकर काम करना सम्भव हो जायगा।"

महात्माजी से भेंट

1938 का मई का महीना था। महात्माजी कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक में बम्बई आये थे और जुहू में बिड़ला भवन में ठहरे थे। महात्माजी स्वयं भी भावनगर के स्वामीराव को जानते थे। पट्टाभि सीतारमय्या तथा स्वामीराव के कितने ही गुजराती दोस्तों ने उनके बारे में महात्माजी को सूचित किया और बताया कि वह अब आपके साथ काम करना चाहते हैं। महात्माजी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने पृथ्वीसिंह को भेजने के लिए कहा। नियत समय पर पृथ्वीसिंह बिड़ला भवन गये। महादेव भाई देसाई ने कहा कि "महात्माजी थके हुए हैं, अभी वह किसी से मिल नहीं सकते।"

पृथ्वीसिंह ने कहा—"आप जरा महात्माजी से कहिए कि वह आदमी आ गया है, जिसे आपने इस वक्त बुलाया था।"

महात्माजी ने खबर पाते ही पृथ्वीसिंह को बुला लिया। पृथ्वीसिंह की महात्माजी से कितनी ही देर तक बात होती रही। उन्होंने कहा—"मेरा अब आतंकवाद पर बिल्कुल विश्वास नहीं रहा। मैं जनता के बल पर विश्वास करता हूँ और समझता हूँ कि आपने जन-बल को जाग्रत करने में बहुत बड़ा काम किया है।" महात्माजी ने आत्मसमर्पण के बारे में बातचीत होते वक्त कहा—"यह बड़े खतरे की बात है। कौन जानता है सारी जिन्दगी तुम्हें जेल में ही रहना पड़े।"

"कोई परवाह नहीं। लेकिन यदि आप मेरे छुड़ाने की कोशिश करने की जिम्मेदारी लेते हैं, तो अपने मित्रों से पूछकर आत्मसमर्पण के लिए तैयार हूँ।"

पृथ्वीसिंह बातचीत करके लौट आये। उस वक्त कम्युनिस्ट पार्टी गैर-कानूनी थी और उसके सभी प्रमुख व्यक्ति पुलिस के पंजे से बचने के लिए अंतर्ध्यान रहा करते थे। जिस साथी से उन्हें अंतिम सम्मति लेनी थी, वह किसी कारणवश नहीं मिल सका। वह महात्माजी को वचन दे आये थे। इधर साथी मिला नहीं। अकेले निर्णय कर लेने के वह खिलाफ थे, मगर अब कोई चारा नहीं था। गाँधीजी ने उन्हें अपने बारे में संक्षिप्त तौर से कुछ लिखने के लिए कहा था। वह रात-भर लिखते रहे।

आत्मसमर्पण (20 मई 1938)

20 मई को सबेरे 10 बजे पृथ्वीसिंह गाँधीजी के पास पहुँचे और उन्हें अपना लिखा वक्तव्य दिया। वक्तव्य में लिखा था—"राष्ट्र के प्रतिनिधि के सामने मैं विना किसी शर्त के आत्मसमर्पण करता हूँ।"

पहले तै हुआ था कि पृथ्वीसिंह को वर्धा ले जाकर सरकार के हाथ में दिया जाय। लेकिन उसी दिन उनके एक दोस्त को पार्टी के किसी साथी से इस बात का पता लग गया और उन्होंने जूहू में जाकर महादेव भाई से कहा—"मैं सरदार पृथ्वीसिंह से मिलने आया हूँ।"

सारी बात गुप्त रक्खी थी, इस तरह अचानक एक आदमी को पृथ्वीसिंह के बारे में पूछते देख उन्हें सन्देह हो गया कि यह जरूर पुलिस का आदमी है। उसी वक्त महात्माजी ने महादेव भाई के हाथ से बम्बई के कलक्टर के पास पत्र लिखवाया और शाम से पहिले ही वह थाणा जेल में पहुँचा दिये गए।

थाणा जेल (20 मई 1938)

सरदार पृथ्वीसिंह को पौने दो महीने तक थाणा जेल में रहना पड़ा। वहाँ और कोई दूसरा राजनीतिक कैदी नहीं था और मामूली कैदियों को उनके पास नहीं आने दिया जाता था। अब उनका समय सिर्फ पठन और चिंतन में लगता था।

सारे हिन्दुस्तान के पत्रों में सरदार पृथ्वीसिंह के आत्मसमर्पण की खबरें मोटे-मोटे अक्षरों में छपीं। उनके भाई को भी पता लगा और वह भाई से मुलाकात करने बम्बई चले आये। 19 जून को जेल के फाटक पर भाई से मिलने के लिए वह बुलाये गये। एक युग के बाद दोनों मिले। उन्होंने साथ में दो और नौजवानों को देखा। संदेह हुआ कि वह शायद खुफिया के आदमी हों। जेलर से पूछने पर उसने बताया कि यह भी आपके ही भाई हैं। उससे पहिले वह समझते थे कि दुनिया में उनका सगा-सम्बन्धी अब कोई नहीं रहा ! लेकिन अब उन्होंने डिप्टीसिंह, वर्मासिंह और रामसिंह अपने तीन-तीन भाइयों को देखा। जब पृथ्वीसिंह ने पिता के बारे में पूछा तो तीनों भाई अपने आँसुओं को न रोक सके थे। दूसरे दिन फिर उनके भाई दो घण्टे के लिए मिलने आये। उन्होंने चलते वक्त भाइयों से कहा—"तुम्हें अपने ऐसे भाई का अभिमान होना चाहिए जिसने अपने देश के लिए अपना जीवन दे दिया। भाई के तौर पर मुझसे और किसी बात की आशा नहीं रखना। मुझे अपने जीवन के आदर्श के पीछे चलने को छोड़ दो।"

थाणा में रहते-रहते सरदार ने अपने आरम्भिक जीवन के बारे में कुछ संक्षेप से लिखा। महात्माजी ने ऐसे बहादुर की जीवनी को देश के लिए उपयोगी समझकर लिखने के लिए आग्रह किया था।

रावलपिण्डी जेल में

9 जुलाई 1938 को सुपरिन्टेण्डेन्ट ने सूचित किया कि आपको पंजाब की किसी जेल में जाना होगा। पृथ्वीसिंह के जितने परिचित बम्बई और उसके आसपास में थे, उतने पंजाब में नहीं थे, लेकिन सरकार की आज्ञा को कौन टालता। पंजाब का नाम सुनते ही उन्होंने यह भी समझ लिया कि अब हम ऐसी गवर्नमेंट के हाथ में जा रहे हैं, जिस पर गाँधीजी और सार्वजनिक राय का सबसे कम प्रभाव पड़ सकता है और उसकी आड़ में अंग्रेज सरकार अपने सारे मलाल को निकालना चाहेगी। आखिर 1966 तक के लिए तो उनकी पुरानी सजाएँ मौजूद थीं।

पंजाब सरकार ने एक सब-इन्स्पेक्टर और दो कान्स्टेबिल लाने के लिए भेजे थे। जब सुपरिन्टेण्डेन्ट ने सब-इन्स्पेक्टर के हाथ में पृथ्वीसिंह का चार्ज देना चाहा तो सब-इन्स्पेक्टर ने लेने से इन्कार कर दिया। उसने कहा–"इतने खतरनाक कैदी को हम तीन आदमी नहीं ले जा सकते।" आखिर में बम्बई सरकार को पाँच कान्स्टेबिल और एक जमादार और देना पड़ा। हो सकता है सब-इन्स्पेक्टर को उसके मालिकों का ऐसा ही आदेश रहा हो। उनको यह ध्यान में लाने की जरूरत नहीं थी कि क्रांतिकारी, जिसने स्वयं अपनी खुशी से अंग्रेजी सरकार के हाथों में अपने आपको दे दिया और जिसे कलेक्टर अपनी प्राइवेट कार में बिना एक भी कान्स्टेबिल के लाकर थाणा जेल में रख गया, उसे एक जेल से दूसरे जेल में ले जाने के लिए इतने आदमियों की क्या जरूरत है ! पंजाब सरकार ने शरीर से बहुत मजबूत एक सिक्ख सब-इन्स्पेक्टर को इसीलिए भेजा था, कि अपनी इच्छा से आत्मसमर्पण करनेवाले सरदार पृथ्वीसिंह को हाथ से निकलने का मौका न मिल सके। सब-इन्स्पेक्टर और उसके साथियों को उनके ऊपर के अफसरों ने तरह-तरह की कहानियाँ सुनाकर यह समझाने की कोशिश की थी कि तुम एक जंगली परिन्दे को पकड़ने जा रहे हो। थोड़ी देर की बातचीत के बाद सब-इन्स्पेक्टर को मालूम हो गया, कि उसे किसी खूँख्वार परिन्दे से पाला नहीं पड़ा है, बल्कि एक सुशिक्षित, सुसंस्कृत मनुष्य के साथ चलने का मौका मिला है। पंजाब सरकार ने सब सोच-समझकर पृथ्वीसिंह के लिए रावलपिण्डी जेल को ही क्यों चुना ? क्योंकि वह अपनी कड़ाई के लिए मशहूर थी; वहाँ एक भी राजनीतिक बन्दी न था; वहाँ का डिप्टी-सुपरिन्टेण्डेन्ट राजनीतिक बन्दियों के साथ कठोर बर्ताव करने के लिए मशहूर था, अतएव सरकार का बहुत खैरख्वाह था।

पोर्टब्लेयर के जेल में सुपरिन्टेण्डेन्ट रह चुका आदमी ही अब पंजाब के जेलों का इन्स्पेक्टर-जनरल था। उसकी कोशिश थी कि पृथ्वीसिंह दूसरे राजबन्दियों से न मिलने पाये। पुराने रिकार्ड को पढ़कर ऊपर के अधिकारियों ने खूब कड़ा रहने का आदेश दिया था, लेकिन डिप्टी-सुपरिन्टेण्डेन्ट ने सरदार पृथ्वीसिंह को जिस रूप में सामने देखा, उससे उसने उनके प्रति विश्वास करना ही अच्छा समझा।

जहाँ तक जेल के कायदे-कानून का विरोध नहीं पड़ता था, जेल के अफसर उनके साथ सहृदयता का बर्ताव करते थे। जेल सुपरिन्टेण्डेन्ट कैप्टन हैदर बहुत ही साफ दिल के आदमी थे। कई बार ऊपर से कड़े बर्ताव का हुक्म आया, लेकिन सुपरिन्टेण्डेन्ट ने उसकी परवाह न कर अपना ही तरीका इस्तेमाल करना पसन्द किया। बम्बई सरकार ने सरदार पृथ्वीसिंह को 'ए' श्रेणी का कैदी बना करके भेजा था; लेकिन पंजाब सरकार इसे क्यों पसन्द करने लगी। आई. जी. ने 'ए' वर्ग छीन लेने का हुक्म भेजा। कैप्टन हैदर ने दो महीने तक उसके लिए लिखा-पढ़ी की और अन्त में मजबूर होकर उन्हें वैसा करना पड़ा। सरदार पृथ्वीसिंह ने अपने को खुशकिस्मत समझा कि 'ए' वर्ग के साथ उनकी किताबें नहीं छीन ली गयीं। हाँ, सरकार ने उनके पास कागज-कलम और स्याही नहीं रहने दी। गाँधीजी से उनका पत्र-व्यवहार बराबर होता रहा। गाँधीजी ने अपने एक पत्र में लिखवाया था, "हमको तो उनसे यही कहना है कि शान्ति से रहें, छूटने की आशा न रक्खें। जब निकलेंगे, उनके लिए काम मौजूद है। किन्तु जितना समय जेल में बितायेंगे, उनकी शान्ति उतनी ही बढ़ेगी इसमें मुझे शंका नहीं है। मैं खुशामद करूँ, इससे उन्हें मुक्ति नहीं मिलेगी। मुक्ति प्रतिष्ठापूर्वक आन्दोलन करने से ही मिल सकेगी।"

प्यारेलाल से मुलाकात

पंजाब सरकार ने भेंट-मुलाकात के लिए बहुत-सी रुकावटें खड़ी कर रक्खी थीं। सरदार को आश्चर्य हुआ जब उन्होंने महात्मा गाँधी के प्राइवेट सेक्रेटरी प्यारेलाल को एक दिन सवेरे अपने वार्ड (हाते) में देखा। उन्होंने प्यारेलाल को कभी नहीं देखा था और उनकी पतली-दुबली शकल को देखकर समझे कि वह पंजाब के नहीं, बल्कि दक्षिण भारत के किसी जगह के हैं।

प्यारेलाल सीमाप्रान्त से लौट रहे थे। गाँधीजी ने इसलिए उन्हें सरदार के पास भेजा था कि जिसमें वह उन्हें बतला दें कि गाँधीजी अपनी जवाबदेही को खूब याद रक्खे हुए हैं। सरदार ने प्यारेलालजी द्वारा महात्माजी के पास कहला भेजा कि मैं वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए जेल से बाहर नहीं आना चाहता।

प्यारेलालजी के जाने के कुछ दिनों बाद लाला दुनीचन्द (अम्बाला) उनसे मिलने आये। लाला दुनीचन्द ने 1914 में, जबकि किसी क्रांतिकारी के मुकदमे की पैरवी करने के लिए कोई वकील तैयार नहीं होता था, सरदार पृथ्वीसिंह के मुकदमे की पैरवी की थी। लाला दुनीचन्द ने सरदार के साहसपूर्ण जीवन के लिए अनेक साधुवाद दिये।

पंजाब, गुजरात और दूसरे प्रान्तों से बहुत-से मित्रों और सम्बन्धियों ने मुलाकात करने की दरख्वास्त दी थी, मगर पंजाब सरकार ऐसी दया दिखाने के लिए तैयार न थी। रावलपिण्डी के 14 महीने के कारावास में सिर्फ 5 मुलाकातें होने पायीं।

प्यारेलाल की मुलाकात के बाद पंजाब के खुफिया विभाग में एक जबरदस्त तूफान खड़ा हो गया था। किसी अखबारवाले ने लिख दिया कि महात्माजी ने प्यारेलाल के द्वारा सरदार पृथ्वीसिंह के पास एक संदेश भेजा है। उन दिनों एपी का मुल्ला और पठान कबीले सीमाप्रान्त में कुछ गड़बड़ी पैदा कर रहे थे, इसलिए खुफिया विभाग गुप्त सन्देश को जानने के लिए बहुत उत्सुक था। अंग्रेज सुपरिन्टेण्डेन्ट ने लिख दिया कि मुलाकात जेलर के सामने हुई थी और कोई गुप्त संदेश नहीं दिया गया था।

आई. जी. से बातचीत

कर्नल बारकर उस समय सुपरिन्टेण्डेन्ट थे, जब सरदार अंडमान के जेल में बन्द थे। अब वह पंजाब के जेलों के आई. जी. (इन्स्पेक्टर-जनरल) थे। वह सरदार को अच्छी तरह जानते थे, क्योंकि जेल की दुःसह यातना के प्रतिकार के लिए जितने संघर्ष हुए थे, पृथ्वीसिंह उन सब में आगे-आगे थे। कर्नल बारकर रावलपिण्डी जेल का मुआइना करने आये थे। वह सरदार के पास से भी गुजरे लेकिन सरदार को कुछ भी कहना नहीं था। वार्ड से जाते समय कर्नल बारकर ने सरदार के पास आकर पूछा—"तुम्हें कुछ कहना है, तो कहो।"

सरदार ने कहा—"मुझे कुछ कहना, माँगना या शिकायत करना नहीं है। महात्माजी के द्वारा सरकार को समर्पण करते वक्त मैंने अपनी सारी इच्छाएँ और आवश्यकताएँ समर्पित कर दीं।"

कर्नल बारकर खुश थे। वह हाते में बैडमिन्टन खेलने का इंतिजाम करने के लिए जेलवालों को आदेश देते गये। उन्होंने लाहौर जाकर व्यायाम करने को कुछ सामान भी भेज दिया।

राजकोट सत्याग्रह

राजकोट में महात्माजी के उपवास करने की बात सुनकर उन अफसरों को बड़ी चिन्ता हुई, जो सरदार को मुक्त देखना चाहते थे। कैप्टन हैदर इसके लिए बहुत उत्सुक थे। वह रोज उपवास और समझौते की बातचीत सुनने जाया करते थे। जब भूख-हड़ताल छोड़ देने की खबर रेडियो पर आयी तो उसी वक्त खुशखबरी सुनाने के लिए वह सरदार के पास आये। यह बहुत ही सुखद समाचार था इसमें सन्देह नहीं, मगर उन्होंने राजकोट के सारे काण्ड पर एक दृष्टि डाली। अपने विश्लेषण को उन्होंने एक पत्र में गाँधीजी के पास लिख भेजा। "... दो भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियाँ विजय प्राप्ति के लिए अखाड़े में डटी थीं। रियासत के मालिक राज्य

के सारे बल पर पूरा भरोसा रखते थे और वे उसके सारे साधनों को पक्के दाँव-पेंच के साथ इस्तेमाल करना चाहते थे। न्याय-अन्याय का कुछ भी ख्याल किये विना वह चाहे जिन तरीकों का इस्तेमाल कर सकते थे। दूसरा पक्ष था शोषित और पीड़ित लोगों का, जिसका नेतृत्व कर रहा था एक ऐसा नेता जो कि जान-बूझकर न्याय को न्याय-साधनों द्वारा ही प्राप्त करने की कोशिश करता था।"

मुलाकातों का ताँता

यद्यपि सरदार को मित्रों और सम्बन्धियों से मिलने की इजाजत नहीं थी, तब भी उनके नाम ने खास आकर्षण पैदा किया था और सरकारी अफसर और दूसरे भी, जो जेल के भीतर जा सकते थे, सरदार से मिलने की कोशिश करते थे। यह सभी अंग्रेज और हिन्दुस्तानी मुलाकाती उनके बारे में तरह-तरह के पँवाड़े सुन और पढ़ चुके थे।

एक बार रावलपिण्डी का डिप्टी कमिश्नर जेल में आया। उसने सरदार के पास आकर पूछा—"तुम क्यों यहाँ जेल में बन्द हो ?"

"क्योंकि तुम यहाँ थे।"

डिप्टी कमिश्नर ने पूछा—"तुम्हारा क्या मतलब है ?"

"क्या मैं बतलाऊँ, मेरा क्या मतलब है ? अच्छा सुनो, अपने साथियों के साथ मिलकर हमने सम्राट के खिलाफ युद्ध छेड़ने के लिए षड्यंत्र किया और भारत भूमि से गोरे लोगों को निकाल बाहर करने के लिए अपने देशवासियों की सेनाओं को संगठित किया। तुम्हारी खुशकिस्मती और हमारी बदकिस्मती समझो, हम अपने प्रयत्न में असफल रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि तुम आज भी हमारे भाग्य पर शासन कर रहे हो और मैं कब्र की ओर जानेवाले कदमों को गिन रहा हूँ।"

एक दिन कमिश्नर जेल में आया। उसने सरदार से पूछा—"तुम कब छूटने जा रहे हो ?"

"1966 में।"

"क्या यह सम्भव है कि तुम 1966 तक जिओगे ?"

"हो सकेगा तो मैं जीऊँगा, लेकिन ब्रिटिश साम्राज्य 1966 तक जिन्दा नहीं रह सकता।"

"ऐसा कहने के लिए तुम्हारे पास क्या कारण हैं ?"

"हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय चेतना की यह जागृति और अन्तर्राष्ट्रीय अखाड़े में सभी शक्तियों का जो पारस्परिक सम्बन्ध दीख रहा है, उसी के आधार पर मैं यह कह रहा हूँ।"

"ब्रिटिश साम्राज्य के लिए ऐसा कहना क्या अकृतज्ञता नहीं है, जबकि सरकार ने जेल में तुम्हारे जीवन के सुख के लिए इतने साधन प्रदान किये हैं।"

"मैं भारत पर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह इसलिए नहीं करता हूँ कि मैं व्यक्तिगत आराम चाहता हूँ बल्कि मैं चाहता हूँ, अपने देश की स्वतन्त्रता, देश के स्वतन्त्र नागरिक के तौर पर सुखी जीवन बिताने की स्वतन्त्रता। तुम्हारी सरकार ने मुझे 1966 तक के लिए दंडित किया है, सिर्फ इसलिए कि विदेशी जुआ उतार फेंकने के लिए मैंने एक योजना बनायी थी।"

पंजाब सरकार के गृह-सचिव लाला मनोहर लाल, जिनके हाथ में जेल विभाग था, रावलपिण्डी जेल में खास तौर से इसलिए आये कि पृथ्वीसिंह के बारे में साक्षात् कुछ जान सकें। राजनीतिक समस्याओं पर दोनों में देर तक बात होती रही। पृथ्वीसिंह के छोड़ने की बात चलने पर लाला मनोहर लाल ने कहा—"आप को छोड़ने के बारे में हम पूरी कोशिश कर रहे हैं, मगर सब कुछ भारत सरकार के ऊपर निर्भर करता है।"

दूसरी जगहों की तरह पंजाब के किसान भी टैक्सों के बोझ के मारे पिसे जा रहे हैं। वर्तमान मंत्रिमंडल ने जबसे हुकूमत की बागडोर सँभाली, तब से तो और भी टैक्स बढ़ा दिये गये हैं। किसान सभा ने सरकार से बोझ हल्का करने के लिए बहुत प्रार्थना की, लेकिन उनकी माँगों को ठुकरा दिया गया। अन्त में कोई चारा न रहने से सत्याग्रह छेड़ना पड़ा। हजारों किसानों ने उसमें भाग लिया। पंजाब के जेल किसान कैदियों से भर गये। भिन्न-भिन्न जिलों से 200 किसान कैदी रावलपिण्डी जेल में रक्खे गये। सत्याग्रही कैदियों में से कितने ही सरदार पृथ्वीसिंह के पुराने साथी थे।

जेल में इन वन्दियों के साथ जैसा बर्ताव हो रहा था, उससे किसी वक्त भी संघर्ष छिड़ सकता था। पृथ्वीसिंह उनसे मिलना चाहते थे और वे भी देर से बिछुड़े हुए साथी से मिलने को उत्सुक थे। अधिकारियों ने सोचा कि पृथ्वीसिंह से मिलने से शायद किसान वन्दियों पर असर पड़े। उन्हें मिलने का मौका मिला। अधिकारियों ने स्लेट, नोट-बुक, ब्लैकबोर्ड आदि लिखने-पढ़ने की चीजें दीं। किसान कैदियों में आधे अनपढ़ थे। तय हुआ कि उनको पढ़ाया जाय। पढ़ाने के साथ-साथ पृथ्वीसिंह रोज दो घंटा भिन्न-भिन्न समस्याओं पर बोलते थे। सवेरे दो घंटे कसरत, कवायद-परेड कराते। तीन महीने इसी तरह बहुत अच्छी तरह बीत गये।

महादेव देसाई से भेंट

सीमा प्रान्त से लौटते वक्त गाँधीजी के सेक्रेटरी महादेव भाई देसाई जेल में सरदार से मिलने आये। दोनों पहिले ही से एक दूसरे से परिचित थे। महादेव भाई अपने साथ गाँधीजी का सन्देशा लाये थे, जिसे पहिले उद्धृत किया जा चुका है। सरदार को यह जानकर सन्तोष हुआ कि गाँधीजी उन्हें भूले नहीं हैं।

जेल से मुक्ति

सितम्बर (1939) महीने के पहिले हफ्ते में जेल सुपरिन्टेण्डेन्ट कैप्टन हैदर ने दूसरे अफसरों के साथ आकर बहुत ही खुशी से सरदार को यह खबर सुनाई–"पंजाब सरकार ने कुछ शर्तों के साथ आपको छोड़ने का हुक्म दिया है।"

उन्हें आफिस में ले जाया गया। वहाँ सरकारी हुक्म को सरदार ने पढ़ा। शर्त यह थी कि सरदार पंजाब सरकार की आज्ञा लिये बिना पंजाब में नहीं दाखिल होंगे। सरदार को उज्र नहीं था। उन्होंने कागज पर हस्ताक्षर कर दिये।

जेल-अधिकारियों ने यह भी कहा कि अभी आप अपनी रिहाई की खबर किसी से न कहें।

20 सितम्बर 1939 को सुपरिन्टेण्डेन्ट ने कहा कि पंजाब सरकार का आखिरी हुक्म आ गया; अब पुलिस आपको वर्धा जेल ले जायगी और वहीं से आप छोड़े जायेंगे। सरदार अपने किसान साथियों से जाकर गले मिले। सभी को अपार खुशी थी, यद्यपि यह बात चुभती जरूर थी कि सरदार पृथ्वीसिंह अपने जन्म-प्रान्त में नहीं आ सकेंगे।

21 सितम्बर को उन्होंने रावलपिण्डी जेल छोड़ा। अब पुलिस की इतनी बड़ी पलटन साथ नहीं जा रही थी। एक सब-इन्स्पेक्टर उन्हें ताँगे से स्टेशन ले गया। लाहौर जाने पर जरूर चार पुलिसवाले साथ हो लिये। वर्धा स्टेशन पर उन्हें मध्य-प्रान्त का सब-इन्स्पेक्टर मिला और उसने उन्हें वर्धा जेल में पहुँचा दिया। पहिले जेल में आने के कागज-पत्र ठीक किये गये। दो घंटा जेल में रहने के बाद 23 सितम्बर 1939 को सरदार पृथ्वीसिंह को जेल से मुक्त कर दिया गया। सब-इन्स्पेक्टर और जेल के डाक्टर सेवाग्राम तक उनके साथ गये। महात्मा गाँधी और आश्रम के दूसरे लोग उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

15
गाँधीजी के संसर्ग में

25 वर्षों बाद सरदार पृथ्वीसिंह ने भारत के स्वतंत्र वायुमंडल में साँस ली। दो ही दिन बाद (25 सितम्बर को) गाँधीजी वायसराय से मिलने दिल्ली जा रहे थे। उस दिन की प्रार्थना में गाँधीजी ने मजाक के तौर पर पृथ्वीसिंह का परिचय देते हुए आश्रमवासियों से कहा–"होशियार रहना, एक बड़ा डाकू आश्रम में आ गया है।"

जब गाँधीजी को पता लगा कि पृथ्वीसिंह मालिश-विद्या में सिद्धहस्त हैं, तो उन्होंने गउओं की भी मालिश करने की सलाह दी। पृथ्वीसिंह अब तक जो कुछ सीख-पढ़ चुके और जहाँ तक विकास कर चुके थे, उससे पीछे नहीं हटे थे। मगर अभी तक उन्हें गाँधीजी के सिद्धांतों को नजदीक से समझने का मौका नहीं मिला था। इसलिए वह बड़ी ईमानदारी से उसे समझना चाहते थे। गाँधीजी जानते थे कि सरदार मास्को में रहे हैं, और कम्युनिज्म को माननेवाले हैं। साथ ही वह यह भी जानते थे कि उनका दिमाग खुला हुआ है, वह सत्य तथा अहिंसा को समझने के लिए बहुत उत्सुक हैं। प्रार्थना की बात चलने पर पृथ्वीसिंह ने कहा–"प्रार्थना पर मेरी श्रद्धा नहीं, लेकिन आश्रमवासियों की एकता के लिए मैं शामिल जरूर होऊँगा।"

पृथ्वीसिंह के आश्रम में आने के बारे में महादेव भाई ने समाचारपत्रों में एक वक्तव्य निकाला था, जिसमें कहा गया था कि अब वह आश्रम से नहीं जा सकते। सरदार को यह बात खटकी जरूर, मगर उन्होंने उसकी ओर ज्यादा ध्यान नहीं दिया। भारत और बर्मा के सभी अखबारों में प्रसिद्ध क्रान्तिकारी पृथ्वीसिंह के जेल से छूटने की खबरें छपीं और यह भी कि अब वह सेवाग्राम के सन्त की बछिया बन गया है। उनके पास ढेर के ढेर चिट्ठियाँ आने लगीं और बाज वक्त उनकी संख्या गाँधीजी की चिट्ठियों से भी ज्यादा होती।

बर्मा के भाइयों की चिट्ठी आने लगी। वे उनसे मिलने के लिए बहुत उत्सुक थे। पृथ्वीसिंह भी अपने भाइयों के परिवार को देखना चाहते थे। उन्होंने महात्माजी से कई बार बर्मा जाने की इजाजत माँगी, लेकिन वह न मिली। इधर-उधर की बातचीत से भी सरदार को मालूम हुआ कि महात्माजी चाहते हैं कि पृथ्वीसिंह कहीं जाने-आने का नाम न लें। वह आश्रम में रहकर सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त को अच्छी तरह समझें। दो-ढाई महीना रहते-रहते पृथ्वीसिंह का आश्रम और आश्रमवासियों से काफी परिचय हो चुका था। वह नहीं समझते थे कि आश्रम में रहकर ही वह सत्य और अहिंसा सीख सकते हैं बल्कि उस वायुमंडल में जब वह यह देखते कि गाँधीजी और दो-एक व्यक्तियों को छोड़कर बाकी सभी आत्म-वंचना और पर-वंचना में एक दूसरे का कान काटते हैं तो उनका दम-सा घुटता मालूम होता था। एक दिन उन्होंने मीरा बहिन से कहा–

"महात्माजी यदि एक जेल से छूटने के बाद यहाँ मुझे दूसरे जेल में बन्द रखना चाहते हैं, तो मुझे यह मंजूर नहीं है; मैं इस जेल की जगह उसी जेल में जाना ज्यादा पसन्द करूँगा।"

बर्मा की यात्रा

गाँधीजी को जब यह बात मालूम हुई, तो उन्होंने कहा–"मैं तुमसे बड़ी आशा रखता था। कोई बात नहीं। मैं तुम्हें बाँधकर नहीं रखना चाहता। तुम जहाँ चाहो, जा सकते हो।"

दिसम्बर (1939) में पृथ्वीसिंह भाइयों से मिलने बर्मा गये। सात दिन अपने परिवार में रहे और पन्द्रह दिन संस्थाओं में व्याख्यान और भेंट-मुलाकात करके, जनवरी (1940) में वह फिर सेवाग्राम लौट आये।

गाँधीजी सत्य और अहिंसा को स्थूल अर्थों में ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक अर्थों में भी लेते हैं। पृथ्वीसिंह के लिए यह समझना मुश्किल था। गाँधीजी सत्य, अहिंसा की प्राप्ति के लिए उपनिषद के ऋषियों की तरह आध्यात्मिक साधना की आवश्यकता समझते थे और इसलिए वह आश्रम-वास और अविचल श्रद्धा के साथ गुरु की आज्ञाकारिता को बहुत जरूरी समझते थे। लेकिन पृथ्वीसिंह ने अपने जीवन को सत्य और अहिंसा

के आध्यात्मिक अर्थ को समझने के लिए नहीं अर्पण किया था।

उन्होंने अपने जीवन को अर्पण किया था, देश की स्वतंत्रता के लिए। यदि देश की स्वतंत्रता में सत्य और अहिंसा सहायक हो सकते हैं, तो उसे समझने और स्वीकार करने के लिए वह तैयार थे। महात्माजी ने अपने प्रति सरदार पृथ्वीसिंह की सच्ची श्रद्धा का अर्थ समझा था कि उन्होंने आत्मिक, शारीरिक और मानसिक तौर से आत्मसमर्पण कर दिया है, लेकिन अब वह उनकी स्वतंत्रता की भावना को देखते थे। उन्होंने एक बार सरदार से कहा भी, "तुममें आत्मविश्वास ज्यादा है।" सरदार आत्मविश्वास को दूषण नहीं भूषण समझते थे। जहाँ तक गाँधीजी के प्रति श्रद्धा का सवाल है, वह उनकी कभी भी कम नहीं हुई; क्योंकि उनकी श्रद्धा अंध श्रद्धा नहीं थी, लेकिन वह किसी तरह की आत्मिक उन्नति की—गाँधीजी के अर्थों में—सेवाग्राम से आशा नहीं रख सकते थे।

मानसिक संघर्ष

सरदार ने देखा कि उनकी शक्ति का पूरा उपयोग सेवाग्राम में नहीं हो सकता, इसलिए उन्होंने बाहर जाकर काम करने का निश्चय किया। नौजवानों की प्रकृति से उनका अच्छा परिचय था। उनकी शारीरिक, मानसिक दृढ़ता और संगठन को वह अपना ध्येय बनाना चाहते थे। गाँधीजी से पूछने पर उन्होंने स्वीकृति दे दी।

काठियावाड़ में समुद्र-तट पर घोघा एक सुन्दर स्थान है। सरदार ने व्यायाम और कवायद-परेड के साथ मानसिक शिक्षा के लिए वहाँ एक क्लास खोला, जिसमें 400 तरुण-तरुणियाँ गुजरात के भिन्न-भिन्न भागों से आकर शामिल हुए।

दस साल पहिले के तरुणों के उस कैम्प की उन्हें याद आयी, जिसके बाद वह सत्याग्रह में शामिल हुए और फिर पुलिस के हाथ से भाग निकले थे। इस वर्ष के बाद अब जिन तरुण-तरुणियों को उन्होंने अपने सामने देखा, उससे उन्हें इस काम में बहुत उत्साह प्राप्त हुआ। सरदार ने इस तरह की शिक्षा की एक पूरी योजना बनाई। वल्लभ भाई ने उसे पसन्द किया और गाँधीजी ने देखकर कहा कि "अपने काम में लग जाओ, पैसों की परवाह न करो। बारडोली को अपना केन्द्र बनाओ।"

पूना में कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई और वहाँ जो प्रस्ताव पास हुआ वह महात्माजी को पसन्द नहीं आया। वल्लभ भाई भी प्रस्ताव में महात्माजी के विरुद्ध थे और अंग्रेजों से समझौता करने के लिए भारत को युद्ध में शामिल करने के पक्ष में थे। महात्माजी शंकित हो उठे कि देश उनकी अहिंसा को छोड़ हिंसा का रास्ता लेना चाहता है। अब सरदार की व्यायाम-योजना को भी वह सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। उन्होंने सरदार से कहा—"तुमने जो व्यायाम में भाला, तलवार, छुरा आदि रक्खा है, यह ठीक नहीं है। इन चीजों को हाथ में लेने से हिंसा की भावना उठती है। इसलिए इन्हें नहीं रखना चाहिए।" सरदार ने कहा—"मैंने इन हथियारों को सीखा है। मगर मेरे दिल में तो हिंसा की भावना कभी नहीं आती। हथियार ही क्यों, एक थप्पड़ ही से आदमी को मारा जा सकता है। तब तो हाथ में बल होना भी हिंसा की भावना को जगायेगा। फिर व्यायाम करना भी हिंसा है, क्योंकि उससे सारे अंगों में बल आता है।" गाँधीजी ने कहा—"हाँ, यह भी नहीं होना चाहिए।"

पृथ्वीसिंह को यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ और उन्होंने कह दिया कि "मैं आपकी ऐसी योजना में शामिल नहीं हो सकता।"

1940 के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते सरदार ने समझ लिया कि 'सेवाग्राम' में वही रह सकता है, जिसके लिए दुनिया में कहीं ठाँव नहीं या जिसके भीतर महात्माजी के प्रति अंधश्रद्धा हो। यद्यपि अपनी सेवा के कारण वह आश्रम में सर्वप्रिय थे, किन्तु अपनी शक्ति को वरबाद जाते देख उन्हें बहुत असन्तोष होता। उन्होंने सोचा, महात्माजी की इच्छा के अनुसार मैं अपने को मिटा नहीं सकता और न अपनी इच्छा के अनुसार यहाँ काम करने का क्षेत्र ही पा सकता हूँ।

उनका मन अब वहाँ बिल्कुल नहीं लगता था, यह बात दूसरों को भी मालूम हो गयी। कॉमर्शियल कालेज

(वर्धा) के प्रिन्सिपल चाहते थे कि वह होस्टल का इंतिजाम अपने हाथ में लें। जमुनालाल बजाज सारी मदद देने के लिए तैयार थे और कहते थे कि व्यायाम-शिक्षा का केंद्र बनाने के लिए किसी स्थान को पसन्द करो। यद्यपि सरदार पृथ्वीसिंह का जेल से बाहर अज्ञातवास का समय अधिकतर गुजरात के उच्च और मध्यम वर्ग में बीता था और उनके मित्रों में भी उन्हीं की संख्या अधिक थी, तो भी सेवाग्राम में यह देखकर उन्हें दुख होता कि जहाँ साधारण आदमियों के आने पर कह दिया जाता कि महात्माजी को छुट्टी नहीं, वहाँ बिड़ला, बजाज, साराभाई के पहुँच जाने पर उनका दरवाजा सदा खुला रहता था। पृथ्वीसिंह जानते थे कि इसमें महात्माजी का दोष नहीं है, दोष है द्वारपालों का जिनकी दृष्टि में गरीब अकिंचन हैं और धनी भगवान के कृपा-पात्र।

महात्माजी के नाम पत्र

सरदार बहुत दिनों तक अपने को रोके रक्खे थे और अपने मन की बातों को खोलकर कहने में हिचकिचाते थे। अब उन्हें सेवाग्राम के भरोसे बैठा न रहकर खुद अपना रास्ता निकालना था। उन्होंने 18 जनवरी 1941 को गाँधीजी के पास अपने भावों को प्रकट करते हुए यह पत्र लिखा—

सेवाग्राम

"पूज्य बापूजी, *18-1-41*

आपके आदर्श जीवन ने ही मेरे जीवन में एक जबरदस्त क्रांति पैदा की है। उसी मकसद के लिए जेल गया। वर्षों के दिली-मित्रों को छोड़ा। जो मुझे पूजते थे, उनके मुँह से गालियाँ और ताने सहे। यह सब इसलिए हुआ कि आपने मेरे अपने लिए एक जबरदस्त प्रेम पैदा किया। ··· उसी प्रेम ने मुझे आज तक आपके साथ बाँध रक्खा है। लेकिन जो प्रेम मेरे दिल में देश के लिए है और जो तमन्ना देश के लिए मर मिटने की मेरे दिल में है, उसकी किसी के लिए कल्पना करना भी कठिन है। आपका प्रेम मुझे आपकी तरफ खींचता है और देश का प्रेम मुझे मजबूर करता है कि मैं उसकी हालत सुधारने के लिए अपनी इच्छा और शक्ति के साथ काम करूँ। मैं आपका प्रेमी बनना चाहता हूँ (और), दिल और जान से आपको चाहता हूँ; लेकिन मैं अपने देश का सच्चा आशिक हूँ, देश की आजादी की वेदी पर मर मिटने की तमन्ना रखनेवाला एक परवाना हूँ। मैं अपने देश की आजादी के लिए कुछ न कुछ करना चाहता हूँ।··· मैंने बार-बार सेवाग्राम में रहने की कोशिश की लेकिन मैं रह न सका और ऐसा मालूम होता है कि मैं सेवाग्राम और वर्धा में नहीं रह सकता। मुझे आज तक यहाँ किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ और न होने की आशा है।··· डर क्या चीज है मैं नहीं जानता। आज तक मैंने किसी प्राणी का, मनुष्य का, सत्ताधारियों का, हवा-पानी या आग का डर नहीं माना, लेकिन आपसे मुझे डर लगता है। मैं हिम्मत नहीं कर सकता कि मेरी तरफ से आपको किसी तरह का दुःख पहुँचे।···आज मेरा दिल बहुत बेचैन है। अपने आँसुओं से यह पत्र लिख रहा हूँ। मेरे सब्र की आज हद हो गयी। जेल से छूटने के बाद 1 वर्ष और 4 महीने मैंने गुजार दिये और देश के लिए कुछ भी न किया और न ही आपकी नजरों में कुछ करने लायक बन सका। आज मैंने इन दोनों बातों पर खूब सोचा है। सोचते-सोचते मेरा दिल टूट गया। अगर मेरी हालत ऐसी ही रही तो मालूम नहीं इसका मेरे मन और शरीर पर क्या असर होगा। आप मेरी हालत पर दया करके मुझे देश में जाकर कुछ करने की आज्ञा दीजिए।··· मुझे हर एक काम को सफलतापूर्वक करने के लिए आपकी सहायता की जरूरत रहेगी। यदि किसी खास कारण से आप सहायता न देना चाहें तो न सही; लेकिन मुझे आपका प्रेम और आशीर्वाद तो जरूर चाहिए।"

महात्माजी का उत्तर

गाँधीजी ने उसी दिन उन्हें उत्तर दिया—

"भाई पृथ्वीसिंह,

तुम्हारा खत वहुत ध्यान से पढ़ गया हूँ, मेरे साथ वात करने में डर क्या ?

मैं तुमको यहाँ खींचकर रखना नहीं चाहता हूँ, पूर्ण शांति से और मन से रह सकते हो, तो ही तुम्हारे रहने से मुझे आनन्द हो सकता है, लेकिन मैं समझता हूँ कि जव तक आश्रम-जीवन के साथ ओत-प्रोत नहीं हो सकते, तुम्हारा यहाँ रहना निरर्थक है। मैं यह भी समझ सकता हूँ कि जिसने सव डर को छोड़ा है वह आश्रम से क्या लेगा, इसलिए तुमको जहाँ जाना है वहाँ जाने का और जो करना है वह करने का सम्पूर्ण अधिकार है। तुमको मेरा आशीर्वाद तो है ही, मैं जानता हूँ जहाँ जाओगे, जो कुछ करोगे उसमें अहिंसा और सत्य होगा। मुझे लिखा करो, ठिकाना दिया करो और हो सकता है तो वताया करो क्या करते हो। जव इस तरफ आने का दिल हो, अवश्य आ जाओ। मेरे साथ इस वारे में वात करना है तो अवश्य करो। शुभ-वृत्ति से जुदा होने में भी दुःख क्यों ? धर्म पालन में सुख ही है।

वापू के आशीर्वाद।"

मलाड कैम्प

जनवरी में सरदार ने वर्धा छोड़ा। वैसे पहिले भी वह वर्धा में लगातार नहीं रहते थे। वह सीधे बम्बई आये। अपने व्यायाम की योजना मित्रों के सामने रखी। उन्होंने उसे बहुत पसन्द किया। तय हुआ कि व्यायाम सिखलाने के लिए एक अच्छा कैम्प खोला जाय और बम्बई के पास मलाड में कैम्प शुरू हो गया। कैम्प में 696 लड़के थे जिनमें 103 लड़कियाँ थीं। नौकर-चाकर मिलाकर 1000 आदमी थे। मलाड में आमों के एक विशाल बाग में इसके लिए चटाई की झोंपड़ियाँ बनायी गयीं। 1000 और नौजवानों ने आवेदन-पत्र भेजा था, मगर जगह की कमी के कारण अस्वीकार करना पड़ा।

बम्वई के राष्ट्रीय पत्रों ने व्यायाम-शिविर की प्रशंसा में बहुत लेख लिखे। हर इतवार को हजारों आदमी व्यायाम देखने के लिए बम्बई से मलाड जाते थे, जिनमें 400-500 मोटरें होतीं। उस समय बगीचे में खूब आम फले हुए थे। कुछ लोगों ने सन्देह प्रकट करते हुए कहा–"बन्दरों से एक भी आम बचने नहीं पायेगा।" सरदार ने कहा–"यदि हम अपने बच्चों पर विश्वास रक्खेंगे तो आम जरूर रहेंगे।" लड़कों में दस-दस वर्ष के बच्चे तक थे; लेकिन सब अपना फर्ज समझते थे कि कोई आम न तोड़े। पके आम जो जमीन पर गिर पड़ते, उन्हें लड़के आफिस में लाकर हाजिर करते। माली हैरान रहते थे।

काम करने में मध्यम वर्ग के ये शिक्षित लड़के-लड़कियाँ, गन्दे से गन्दे काम में जुट जाने के लिए तैयार रहते। कोई गन्दी पाखाने से भरी जगह थी। सरदार ने 100 नौजवानों को माँगा और एक मिनट में ही उन्हें लेकर सारी जगह साफ कर डाली।

अनुशासन की जबरदस्त पाबन्दी थी। उसकी कड़ी परीक्षा के लिए एक दिन रात को सीटी दी। लड़के भाला लेकर सोया करते थे। सीटी बजते ही बिना वर्दी पहने भाला लिये कुछ ही सेकेन्डों के भीतर सारे इकट्ठे हो गये।

लोग सरदार के इस काम में सहायता देने के लिए कितने तैयार थे, यहाँ इसी से मालूम होगा कि रुपये के लिए अपील करने पर रुपया इतना आ गया कि कुछ ही मिनटों के बाद उन्हें चन्दे की सूची बन्द करनी पड़ी।

मलाड शिविर बहुत ही सफल रहा और पत्रों में उसका प्रचार तो और भी जोर का हुआ। इस सफलता की खबर वर्धा भी पहुँची। महात्माजी ने भी इस सफलता के लिए खुशी प्रकट की और उन्होंने पृथ्वीसिंह के इस कार्य में सहयोग देने के लिए कहा।

पृथ्वीसिंह ने व्यायाम-संघ की एक पाँच साल की योजना बनायी, जिसके अनुसार हर साल 100 नौजवान लिये जायँ, एक साल तक उन्हें व्यायाम आदि की शिक्षा दी जाये, फिर दो-तीन महीने महात्माजी के केन्द्रों में खादी और हरिजन-उद्धार की शिक्षा दी जाय, फिर देश में अलग-अलग केन्द्र बनाकर काम पर लगा दिया जाय। सब काम राष्ट्रीय कांग्रेस के मातहत हों। रुपये के लिए कहने पर कुछ दिन में ही साल-भर के खर्च

के लिए 30,000 रुपये आ गये। ऐसे देश सेवकों में खास शारीरिक और मानसिक योग्यता होनी चाहिए। सरदार नौजवानों की खोज में युक्तप्रान्त, महाराष्ट्र, गुजरात, काठियावाड़ और विहार में घूमे। लेकिन जैसे नौजवानों को वह चाहते थे, वैसे उन्हें बहुत कम मिले। उनका उत्साह कुछ ढीला जरूर हुआ। लेकिन जब तक एक राजनीतिक आदर्श, एक सामाजिक ध्येय को लेकर कोई काम न हो, उस वक्त तक गंगा-जमुनी तरुणों को इकट्ठा करना मेंढकों की तौल है। सरदार को पैंतीस नौजवान मिले, जिनमें से पाँच को अलग करना पड़ता।

संघ का नाम यद्यपि गाँधीजी के सुझाव के अनुसार 'अहिंसक व्यायाम संघ' रक्खा गया था, मगर दो-एक को छोड़कर अहिंसा में किसी की श्रद्धा न थी। यह कैम्प भी मलाड के रामबाग में किया गया था। नौजवानों की शिक्षा खूब हुई। उनकी डिसीप्लिन (अनुशासन) को देखकर जनता भी बहुत खुश थी।

रात को कोई आदमी एक लड़की को मोटर पर भगाये लिये जा रहा था। बाग के पास लड़की मोटर से कूदकर चिल्ला उठी। लड़कों ने सीटी बजायी। मोटर ड्राइवर 300 गज भाग सका था कि वहाँ कैम्प के फाटक पर नौजवान उसे धरने के लिए तैयार थे। उन्होंने मोटरवाले को पकड़कर पुलिस के हवाले किया। जिस वक्त यह घटना घटी, उस दिन सरदार कैम्प में नहीं थे।

महात्माजी से विदा

जर्मनी ने जब सोवियत पर हमला किया तो सरदार ने गाँधीजी को लिखा, "अब हमारे चुप रहने का समय नहीं है। यह जनता के जीवन-मरण का प्रश्न है। आपने एक बार कहा था कि जिस दिन वेस्टमिनिस्टर पर बम गिरेगा, उस दिन मेरी आँखों से आँसू आयेंगे। आज रूस के मजूदरों-किसानों के घरों पर बम पड़ रहे हैं, तो आप एक अक्षर भी क्यों नहीं बोलते।"

महात्माजी ने इसका उत्तर (20-9-41) देते हुए लिखा था, "अब रूस की बात हम कुछ नहीं कर सकते हैं। तीनों में मैं बहुत फर्क नहीं मानता हूँ। यह ठीक है कि रूस में लोगों के लिए काफी काम हुआ है।" सरदार ने महात्माजी का ध्यान देवली कैम्प में अनशन करनेवाले राजबंदियों की ओर भी दिलाया और इनके बारे में कुछ कहने के लिए कहा। देवली में जान की बाजी लगानेवाले कैदियों में बहुत-से सरदार के गहरे मित्र थे और बाबा सोहनसिंह, बाबा रूरसिंह जैसे कितने ही फाँसी के तख्ते का इंतिजार करनेवाले पुराने साथी भी थे।

1942 का शायद मार्च का महीना था, बम्बई में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक थी। सरदार ने पंडित जवाहरलाल को मलाड में बुलाया। व्याख्यान को सुनने के लिए 10,000 आदमी जमा हुए थे। सरदार के शागिर्दों ने इतना अच्छा इंतिजाम किया था कि एक भद्र पुरुष ने कहा, "हमारी कल्पना में भी जो सभा-प्रबन्ध नहीं आ सकता था, वह आज हमने प्रत्यक्ष देखा।"

सरदार जब महात्मा के प्रभाव में थे तब भी राजनीतिक बातों पर उनसे ज्यादा चर्चा नहीं करते थे। हाँ, कभी-कभी उन्होंने यह जरूर कहा, "महात्माजी, जो आपको समझते हैं, वे आपके मार्ग पर नहीं चलते और जो आप पर श्रद्धा रखते हैं वे आपको समझते नहीं।"

गाँधीजी के दर्शन के पंडित श्री किशोरलाल मशरूवाला ने एक बार सरदार से कहा था, "बड़ी मुश्किल है, तुम समझते हो कि मैं गाँधीजी का सहकारी हूँ और गाँधीजी समझते हैं कि तुम उनके शिष्य हो।"

1942 की जनवरी का महीना था। भावनगर में खेल और व्यायाम प्रतियोगिता के लिए एक बड़ा वार्षिक सम्मेलन हो रहा था। सरदार ने कहा कि ऐसे सम्मेलनों में जैसे हम कांग्रेस नेताओं का सम्मान करते हैं, वैसे ही तरुण नेताओं को भी बुलाकर उनका सम्मान करना चाहिए, उन्हें फूल-हार देना चाहिए, उनका जुलूस निकालना चाहिए।" भूतपूर्व कांग्रेस मंत्री मोरारजी देसाई को यह बात बुरी लगी। उन्होंने कहा—"क्या हम फूलों के हार के लिए हैं ?" सरदार ने यह भी कहा था, "जमाना बदल रहा है, नेताओं को भी बदलना होगा। यदि बदलेंगे नहीं, तो वह प्रतिगामी बनकर रहेंगे।" कुछ पुराने विचार के नेताओं को यह बात बुरी लगी। गाँधीजी के पास सभी लोग इसे नहीं पसन्द कर सकते थे। उन्होंने महात्माजी के पास शिकायत की। महात्माजी को पृथ्वीसिंह

ने भी एक चिट्ठी लिखी और उन्होंने उनके विचारों के साथ अपनी सहमति प्रकट की।

क्रिप्स के आने के समय गाँधीजी दिल्ली गये हुए थे। एक दिन मोटर छोड़ वह सरदार पृथ्वीसिंह के साथ पैदल ही चल पड़े। उस वक्त महात्माजी ने उनसे कहा कि मैं जानता हूँ कुछ लोग मेरे पास तुम्हारी शिकायत इसलिए करते हैं कि मेरा मन तुमसे फिर जाये, मगर मैं उनके कहने की परवाह नहीं करता। सरदार ने उस वक्त कहा था, "दुर्भाग्य से कितने ही नेता समझते हैं कि मैं कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से जासूस बनाकर आपके पास भेजा गया हूँ। वह कम्युनिस्ट पार्टी का नाम लेकर चाहते हैं कि इस तरह आसानी से कितने ही दूसरे आदमियों को मेरे खिलाफ कर सकेंगे। लेकिन मैं कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से नहीं भेजा गया, मेरे विचार कम्युनिज्म के भले ही हों।"

मई 1942 में महात्माजी एंड्रूज स्मारक के लिए बम्बई आये थे और बिड़ला हाउस में ठहरे थे। सरदार पृथ्वीसिंह भी उनसे मिलने गये। गाँधीजी ने बात करते हुए कहा कि बहुत कड़ा वक्त आया है, मेरे ही साथ रहो। यह मेरे आखिरी दिन और अन्तिम युद्ध है।

महात्माजी ने यह भी कहा, "अहिंसक व्यायाम संघ तोड़ दो और मेरे साथ चलो।" पृथ्वीसिंह संघ को तोड़ने के लिए सहमत नहीं हुए। लेकिन उसे वर्धा ले जाने के बारे में नाथजी और कुलकर्णी से सलाह ली। उन्होंने भी महात्माजी के साथ जाने की सलाह दी। सरदार फिर गाँधीजी से मिले और संघ के नौजवानों और उनकी शिक्षा के बारे में बताया। गाँधीजी ने बड़े आश्चर्य से कहा, "मुझे तो मालूम नहीं।"

सरदार को बहुत दुःख हुआ, क्योंकि दस ही दिन पहिले गाँधीजी ने बिड़ला को संघ के खर्च का भार उठाने को कहा था ! बिड़ला से कहने के बाद मालूम होता है वह बात महात्माजी के दिमाग से निकल गयी थी। परं सरदार को इससे बहुत अनुताप हुआ और चोट पहुँची।

सरदार इससे पहिले ही गाँधीजी को संघ के कैम्प को देखने के लिए मलाड आने का निमंत्रण दे चुके थे और गाँधीजी ने कई लोगों के काफी विरोध के बाद भी आना स्वीकार कर लिया था। उन लोगों ने महात्माजी से कहा था कि अब और संस्थाएँ भी आपको निमंत्रण देंगी। गाँधीजी ने जवाब दिया, "मैं मलाड तो जाऊँगा, किन्तु और जगह नहीं।"

लेकिन गाँधीजी की उपर्युक्त बात से सरदार को इतना दुःख हुआ था कि फिर उन्होंने महात्माजी से वहाँ जाने का अनुरोध नहीं किया। वह अकेले ही लौटकर मलाड गये। कार्यकर्ताओं को बुलाकर कहा, "यह है आपका अहिंसक व्यायाम संघ, यह हैं लड़के और यह संघ के रुपये। आप लोग सब सँभालिए, अब मेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं।"

कार्यकर्ता दंग रह गये। दूसरे ही दिन गाँधीजी वहाँ आनेवाले थे। रात ही को संघ के सभापति श्री केदारनाथजी को टेलीफोन करके बुलाया गया। नाथजी ने बहुत समझाया, लेकिन सरदार ने कहा, "मेरा निश्चय हो चुका है।" नाथजी ने गाँधीजी को टेलीफोन करके पूछा, "आपको सबेरे आना है न ?" जवाब में "हाँ" मिला।

दूसरे दिन गाँधीजी मलाड आये। उनके साथ बिड़ला, वल्लभभाई और महादेव भाई भी थे। कैम्प के प्रबन्ध और शिक्षा को देखकर सभी ने प्रसन्नता प्रकट की। फिर नाथजी ने महात्माजी को सरदार का निश्चय सुनाया। गाँधीजी बहुत चकित हुए और सरदार को बुलाने के लिए कहा। नाथजी ने जब उन्हें गाँधीजी के पास जाने के लिए कहा तो सरदार ने कहा–

"इस सम्बन्ध में अब मेरे भीतर वह पूज्यभाव नहीं रह गया है, इसलिए जाना फिजूल है।" तो भी वह गये। गाँधीजी ने हँसते हुए कहा, 'क्या हो गया।" सरदार कितनी ही देर तक सुनते रहे और फिर कहा, "मैंने आपसे बारडोली ही में कह दिया था कि मैं हिंसा और अहिंसा नहीं जानता। जब तक आप पर मेरा विश्वास रहेगा तब तक साथ रहूँगा, नहीं तो अलग हो जाऊँगा। आपकी बात से मैं समझ गया हूँ कि आप मेरे जीवन का पूरा उपयोग नहीं कर सकते। अब मेरा विश्वास नहीं रह गया।"

"मेरे पर नहीं, पर अहिंसा पर तो विश्वास कर सकते हो।"

"अहिंसा को तो मैं कभी समझ नहीं पाया, फिर विश्वास कहाँ से करता। मैंने मार्क्सवाद की दृष्टि से

अहिंसा को समझना चाहा था। राज्य (शासन-यंत्र) फौज और पुलिस जैसी हिंसक शक्तियों पर अवलम्बित है। जब समाज में धनी-गरीब, शोषक-शोषित नहीं रह जायेंगे तो यह हिंसा पर अवलम्बित शासन-यंत्र मुरझा और मर जायेगा। उस वक्त समाज में पूर्णरूपेण अहिंसा विराजमान होगी। उसी अहिंसा के अनुसार मैं भी आपको समझने की कोशिश करता रहा।"

महात्माजी ने बहुत समझाने की कोशिश की, फिर वर्धा में आकर बातचीत करने के लिए कहा, मगर सरदार तैयार नहीं हुए।

किशोर भाई मशरूवाला और दूसरे मित्रों ने भी वर्धा आने के लिए कई पत्र भेजे, लेकिन सरदार फिर अपने को वहाँ जाने के लिए राजी नहीं कर सके।

16

पार्टी में काम, और जेल में

रूसी क्रान्ति ने सरदार पृथ्वीसिंह के दिल पर पहिले ही बहुत प्रभाव डाला था। कराँची कांग्रेस में अपने पुराने साथियों से मिलकर सोवियत और कम्युनिज्म की ओर उनका मन और भी आकृष्ट हुआ। सोवियत के निवास और अध्ययन-काल में वह पूर्ण रूप से कायल हो गये थे कि भारत में क्रान्ति का यही एक रास्ता है। जितना उनका दिल क्रांति के आदर्श के लिए सब कुछ त्याग देने के लिए था, अब उनका मस्तिष्क भी उसी उत्साह के साथ उनको सहयोग देने लगा। वह जीवित कम्युनिज्म और सक्रिय कम्युनिस्टों के सम्पर्क में आये थे और वह अपने दिल और दिमाग से पक्के कम्युनिस्ट बने थे। आत्मसमर्पण के समय तक भारत में वह एक कम्युनिस्ट की तरह काम करते रहे। बाद के चार सालों में यद्यपि उनके विचारों से कम्युनिज्म का प्रभाव दूर नहीं हुआ, फिर भी वह ईमानदारी के साथ गाँधीजी और उनकी कार्य-प्रणाली को समझना चाहते थे। वह समझते थे कि तरुणों के शरीर और मस्तिष्क को मजबूत बनाना साम्यवाद के लिए उतना ही जरूरी है, जितना गाँधीवाद के लिए।

वह चाहते थे कि भारत से गुलामी और गरीबी दोनों दूर हों। वह गाँधीजी को भी समझाने की कोशिश करते थे क्योंकि वह जानते थे कि गाँधीजी भी देश की गरीबी को मिटाना चाहते हैं; किन्तु जैसा कि हम पहिले लिख चुके हैं, आश्रम का वातावरण उनके अनुकूल नहीं था। वह आश्रम छोड़ आये।

पार्टी अब भी गैर-कानूनी थी। डाक्टर अधिकारी उस वक्त बम्बई में ही अन्तर्ध्यान थे। सरदार ने उनके पास उसी दिन सूचना भेज दी और दूसरे दिन काम माँगने के लिए पार्टी के पास आ गये। पूँजीपतियों के दासों ने अखबारों में तरह-तरह की अफवाहें फैलायीं और कहा कि गाँधीजी ने ठीक न समझकर मलाड आश्रम को बन्द कर दिया। सरदार ने गाँधीजी को लिखा कि आप खुद अपना बयान दीजिए। महात्माजी ने अपना बयान दिया और सरदार ने भी वक्तव्य दिया। दोनों वक्तव्य जून 1942 के 'हरिजन' के किसी अंक में पहिले पृष्ठ पर छपे।

जब से जर्मनी ने सोवियत पर आक्रमण किया, तब से सरदार पृथ्वीसिंह ने हिन्दुस्तान के मजदूर और किसानों के भाग्य को सोवियत तथा तमाम दुनिया की फासिस्ट-विरोधी जनता के भाग्य से नत्थी हुआ समझ लिया। उन्होंने कहा कि दुनिया की शोषित गरीब जनता का भविष्य फासिस्टों की पराजय पर ही निर्भर करता है। इसलिए जर्मन-जापानी फासिस्टों के नाश करने में जो भी शक्तियाँ लगी हुई हैं, उनके काम में बाधा पहुँचाने को सरदार ने बुरा समझा। क्रिप्स के जाने के बाद जब संघर्ष और आन्दोलन की बात चलती तो वह समझाते कि राष्ट्रीय आन्दोलन और आजादी का रास्ता यह नहीं है। हमें राष्ट्रीय एकता करके राष्ट्रीय रक्षा के भार को अपने हाथ में लेना चाहिए। हमारी स्वतंत्रता का यही मार्ग है। 1942 में वह सूरत, बड़ौदा, नड़ियाद,

अहमदाबाद, भावनगर, राजकोट, गुजरात और काठियावाड़ आदि के बहुत-से शहरों में गये और शिक्षित जनता को इसी तरह समझाया।

अगस्त के पहिले सप्ताह में आल इन्डिया कांग्रेस के वक्त वह बम्बई जाना चाहते थे, लेकिन रास्ते में वर्षा के कारण रेल की लाइन टूट गयी जिससे उन्हें अहमदाबाद ही में रह जाना पड़ा।

9 अगस्त को जब वह बम्बई आये, तब गाँधीजी गिरफ्तार हो चुके थे।

14 अगस्त को प्रसिद्ध कम्युनिस्ट और कांग्रेसी नेता डाक्टर अशरफ के साथ सरदार भी इन्दौर की फासिस्ट-विरोधी कान्फ्रेंस में शामिल हुए।

उसके बाद गोरिल्ला ट्रेनिंग-कैम्प चलाने के लिए सरदार भावनगर गये। उनके मित्र और साथी इस काम में काफी उत्साह दिलाते थे; किन्तु नौजवान क्रोध से पागल हो रहे थे। सरदार ने काफी समझाया लेकिन उन नौजवानों का जवाब था—एक नोटिस। इस नोटिस का शीर्षक था, 'हृदय की मूर्ति का खंडन।'

सरदार के भावनगर पहुँचने के तीन-चार दिन बाद ही वहाँ के राष्ट्रीय नेता पकड़ लिये गये। विद्यार्थियों ने प्रदर्शन किया, पुलिस ने लाठी चलाई और तीन सौ के करीब व्यक्तियों को गिरफ्तार किया। सरदार अपने भावनगर में यह सब देखकर चुप नहीं रह सकते थे। वह पुलिस सुपरिन्टेण्डेन्ट के पास गये और उनसे कहा कि गिरफ्तारी और लाठी-प्रहार लोगों को और अधिक उत्तेजित करेगा। आप नौजवानों को छोड़ दें, उनकी जिम्मेवारी मैं लेता हूँ। सुपरिन्टेण्डेन्ट पुलिस यह खूब जानता था कि नौजवानों पर सरदार का कितना असर है। उसने नौजवानों को छोड़ दिया। सरदार ने दूसरे दिन नागरिकों की सभा की और नेताओं को भी समझाया।

उन्होंने नागरिकों को समझाया था कि आप लोग नेताओं की रिहाई के लिए सरकार पर दबाव डालें, जिससे अपने यहाँ शांति कायम हो। मैं जेल के नेताओं को समझाऊँगा और आप लोग दीवान को समझायें। निश्चय हुआ कि सरदार भी नागरिकों के साथ दीवान के पास जाकर जेल में नेताओं को समझाने के लिए उनसे आज्ञा माँगें। लोग दीवान के पास गये। दीवान ने कहा, "आप लोग जा सकते हैं, लेकिन मैं स्वामीराव को इजाजत नहीं दूँगा।" नागरिकों ने कहा, "यदि स्वामीराव साथ नहीं जाते तो हमारा जाना व्यर्थ है।" दीवान को झक मारकर सरदार को भी जाने की इजाजत देनी पड़ी। वह नेताओं से मिले और सारी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को समझाते हुए कहा कि आप लोग महात्माजी के रास्ते को छोड़ रहे हैं। किन्तु दुर्भाग्य से वे न माने और रियासत से समझौता नहीं हो सका।

गिरफ्तारी और नजरबन्दी

सरदार भावनगर में एक बड़ी व्यायामशाला स्थापित करने की योजना में लगे थे। लेकिन 10 अक्टूबर की रात को दो बजे अंग्रेजी एजेन्सी और रियासत के पुलिस के 100 सिपाहियों और पाँच इन्स्पेक्टरों ने उनके निवास स्थान को घेर लिया और भारत रक्षा कानून के अनुसार गिरफ्तार कर एक मोटर पर बैठाकर ले गये। एक मोटर आगे चली और एक पीछे। सरदार को एजेन्सी के थाने सोनागढ़ में ले गये। थाने से उन्हें राजकोट जेल भेजा गया। कांग्रेसी नेताओं से न मिलने देने के लिए नेताओं को जेल से निकालकर बाहर के एक बँगले में बन्द किया गया और सरदार को जेल में डाल दिया गया।

पहिली जनवरी 1943 को सरदार को रियासती जेल से निकालकर यरवडा (पूना) जेल भेज दिया गया। कॉमरेड डांगे भी इस वक्त वहीं नजरबन्द थे, इसलिए 20-25 दिन तक दोनों साथ रहे। सरदार के पकड़े जाने की बात सुनकर सबको आश्चर्य हुआ, लेकिन सरकार निरंकुश ही नहीं, निश्चेतन भी है और उसके यहाँ 'अँधेर नगरी नाटक' कहीं भी खेला जा सकता है।

सरदार की अब फिर जेलवाली जीवन-चर्या शुरू हो गयी। सबेरे सात बजे उठकर स्नान और व्यायाम, जलपान के बाद पढ़ना, साढ़े बारह बजे खाना और थोड़ा विश्राम, फिर पढ़ना या कोई खेल। शाम को साढ़े छै बजे खाना और आठ बजे ताले के भीतर बन्द।

17

शादी और मुक्ति

सरदार के तीन भाई बर्मा में रहते थे, यह हम बतला चुके हैं। जब जापानियों ने बर्मा पर हमला किया और मोन्येवा पर बम बरसाये, तब लोग जान लेकर इधर-उधर भागने लगे। सरदार के भाई बरमासिंह अपनी पत्नी को लेकर मोन्येवा से भाग निकले और जापानी सैनिकों से लुटते, मनीपुर पहुँचे। वहाँ से पटना आये, वहाँ आकर बीमार पड़ गये। सरदार को मालूम हुआ तो उन्होंने उन्हें भावनगर बुला लिया। अभी भी वह निर्बल ही थे कि सरदार जेल भेज दिये गये। सितम्बर में बरमासिंह की बीमारी ने भयंकर रूप धारण किया, चारों ओर से दबाव पड़ा। इसलिए 27 अक्टूबर 1943 को सरदार एक महीने के लिए पैरोल पर छोड़ दिये गये। अस्पताल के डाक्टरों ने बड़ी मेहनत की और बरमासिंह बच गये।

शादी

सरदार पृथ्वीसिंह बहुत सुन्दर और तरुण जवान थे। परदे से मुक्त बर्मा की सुन्दरियों ने उन्हें अपने प्रेम-पाश में बाँधना चाहा, मगर उस वक्त वह इसलिए बच गये कि उनके मन में राजपूती का बहुत बड़ा अभिमान था। उसके बाद देश-भक्ति ने उनके मन के ऊपर अपना जादू फेंका। फिर शादी करने की फुर्सत किसे थी। शादी के लिए जितना दबाव पड़ता था, जो प्रलोभन और आकर्षण सामने रक्खे गये थे—उनके बारे में कुछ लिखना पाठकों के लिए अवश्य ही मनोरंजन की चीज हो सकती है और साथ ही सरदार के दृढ़ मनोबल का उससे भी पता लग सकेगा; किन्तु उन घटनाओं को लिखकर हम इस पुस्तक का विस्तार नहीं करना चाहते। हाँ, सरदार के सामने जिस तरह के प्रलोभन और आकर्षण आये थे और जिस तरह वह उनसे बचते रहे, उसी तरह की एक पुरानी कथा हम यहाँ कहते हैं।

पुराने जमाने में एक राजा था। वह अपनी प्रजा से बहुत प्रेम करता था और प्रजा भी उस पर प्रेम रखती थी। इस प्रजा-वत्सल राजा के ऊपर एक दूसरे जालिम राजा ने आक्रमण किया। राजा मारा गया, रानी सती हो गयी। जालिम राजा प्रजा की छाती पर कोदों दलने लगा। प्रजा कराहने लगी। प्रजा-वत्सल राजा का एक छोटा-सा पुत्र था। परिचारिकाओं ने जान बचाने के लिए उसे दूर देश में भेज दिया था। कुमार धीरे-धीरे बढ़कर सयाना हुआ। उसे अपने पिता के मारे जाने के बारे में मालूम हुआ। देशवासियों को जालिम राजा के नीचे कराहने की बात मालूम हुई। देश में भी उसकी जवानी और सौन्दर्य को देखकर कितनी ही सुन्दरियाँ मुग्ध थीं, लेकिन कुमार ने प्रतिज्ञा की थी—मुझे अपनी जन्मभूमि को मुक्त कराना है और जो प्रेम-बन्धन मेरे कार्य में बाधक हो सकता है, उसे मैं स्वीकार नहीं कर सकता।

जन्मभूमि को मुक्त कराने के लिए वह जगह-जगह भटकता रहा। और उसी प्रयास में एक दिन भेष बदलकर अपने देश में पहुँच गया। वहाँ जंगल में च्यवन ऋषि का आश्रम था। वृद्ध ऋषि दया और करुणा की मूर्ति थे। किसी को भी दुखी देख उनका दिल द्रवित हो जाता था। वह अजातशत्रु थे, कोई उनसे दुश्मनी नहीं करता था। च्यवन ऋषि को यह देखकर बहुत दुःख होता था कि जालिम राजा के दुःशासन के कारण प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही है। कुमार उनके आश्रम में भेष बदलकर आया था, किन्तु ऋषि को असली बात मालूम हो गयी। ऋषि का अस्त्र-शस्त्र पर विश्वास नहीं था, तो भी कुमार को वह इसलिए स्नेह की दृष्टि से देखते थे कि वह अपने देश का उद्धार करना चाहता है। च्यवन ऋषि के आश्रम में आत्मिक शान्ति की खोज के लिए दूर-दूर से लोग आते थे। हिरण्यकश्यप के वंश में भी प्रह्लाद पैदा हो सकते हैं, इसी तरह जालिम राजा के घर में एक कन्या पैदा हुई जिसका स्वभाव पिता से बिल्कुल उल्टा था, जो मानव सन्तानों का तो क्या, पशु-पक्षी का भी दुःख नहीं देख सकती थी। बच्चों को भूखे, लोगों को नंगे, गाँवों को उजड़े देखकर

उसका हृदय विह्वल हो जाता था। जव इन सब का कारण उसका पिता मालूम हुआ तो कुमारी का चित्त और भी खिन्न हो गया। क्रूर होने पर भी पिता अपनी इकलौती पुत्री पर बहुत स्नेह रखता था। कुमारी ने पिता को समझाने की बहुत कोशिश की लेकिन उसका कोई असर नहीं हुआ, वह बराबर उदास रहने लगी। किसी दिन च्यवन ऋषि की ख्याति अन्तःपुर तक पहुँची। कुमारी के रूप और गुण को देखकर कितने ही राजकुमार उसे अपनी पटरानी बनाना चाहते थे, मगर कुमारी इस अन्यायपूर्ण दुनिया से ऊब गयी थी और उसने आजन्म कुमारी रहने की प्रतिज्ञा की। च्यवन ऋषि के बारे में जानकर वह एक दिन महल छोड़कर आश्रम में चली गयी। यहाँ उसे आत्मिक शान्ति मिली, यद्यपि जब-तब लोगों के कष्ट को सुनकर उसका चित्त विह्वल हो जाता।

गोधूलि की बेला थी। गायें जंगल की ओर से गाँव को लौट रही थीं। उस दिन संयोग से कुमारी के साथ कुमार भी टहलने गया हुआ था। कुमारी आगे-आगे और कुमार पीछे-पीछे। एक बड़ी सींगोंवाला वृषभ आगे से दौड़ा आ रहा था। कुमार को शंका हुई और उसके स्वाभाविक दाक्षिण्य ने जोश मारा, पलक मारते ही उसने कुमारी को पीछे खींचकर अपने को आगे कर दिया और बैल की सींग पकड़ दूसरी ओर ढकेल दिया। कुमारी थोड़ी देर तक गम्भीर चिन्तन में पड़ गयी, फिर उसने कहा, "कुमार, स्त्री होते हुए भी मैंने आज तक कभी किसी पुरुष से रक्षित होने की इच्छा नहीं की और न यही पसन्द किया कि पुरुष मुझे कमजोर समझे और मदद करने के लिए अपनी बाँहों को मेरी ओर फैलाये। आज तुमने यह क्या किया ?" कुमार यह कैसे बतलाता कि उसके दाक्षिण्य ने उसे बिना सोचे ऐसा करने के लिए मजबूर किया। उस दिन से कुमारी का कुमार के प्रति स्नेह बहुत बढ़ गया, लेकिन वह स्नेह था भाई-बहिन का स्नेह। वह उसे "मेरे प्यारे कुमार" कहकर सम्बोधित करती और कुमार भी "मेरी प्यारी बहिन" कहकर। कुमारी को बराबर च्यवन आश्रम में रहना पड़ता, लेकिन कुमार तो जन्म-भूमि को मुक्त करने के लिए फाँड बाँधे हुए था। कुमारी उसे बराबर पत्र भेजा करती, जिसमें कभी 'तुम्हारी' और कभी 'सप्रेम तुम्हारी' लिखती। कुमार भी उसी तरह से अपना भाई का प्रेम प्रकट करता। कुमारी का वह साधारण स्नेह धीरे-धीरे उसी तरह प्रेम के रूप में परिणत हो गया कि वह उसे जान भी न पाई। वह कुमार को अपने समीप से समीपतम बनाना चाहती थी और इसी प्रयत्न ने उसे कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया। कुमारी किस तरह देर तक दूर रहने पर अधीर हो जाती, किस तरह वह चिट्ठियों की प्रतीक्षा करती, इसे यदि आधुनिक चिट्ठी-पत्री के ढंग पर लिखा जाय तो वह कुछ इस प्रकार से आयेगा—

"मेरे प्यारे भाई,

सप्ताह पूरा हो गया और तुम्हारे आने की जगह सिर्फ एक पत्र आया··· मैं इससे अधिक और नहीं कहूँगी—कि बहुत देर तक बाहर न रहो। मेरी कुटिया आधी से अधिक तैयार हो गयी, वहाँ तुम्हारे लिए एक कोना रहेगा। मैं इसका जिम्मा लेती हूँ कि जब तुम शान्ति चाहोगे तो कोई तुम्हें बाधा नहीं डालेगा···"

"मेरे प्यारे भाई,

मुझे तुम्हारे पत्र से यह जानकर अत्यन्त खुशी हुई कि तुमने महर्षि के चरणों में बैठने का निश्चय किया है। भगवान अवश्य ही इसके लिए तुम्हें आशीर्वाद देंगे और यदि एक बहिन की प्रार्थना का उपयोग हो सकता है तो वह भी हाजिर है···"

अब कुमारी के स्नेह ने नया रूप धारण किया। तब उसने लिखना शुरू किया—

"प्रियतम कुमार,

··· भगवान ने इतने वर्षों के अस्पष्ट दर्द को एक जलती ज्वाला में परिणत कर दिया, लेकिन सबसे भारी अन्तर यह है कि अब मैं यह जानती हूँ कि क्यों यह दर्द और क्यों यह ज्वाला।

आखिर मैंने तुम्हें पा लिया। यह जानकर अब मैं कमर बाँधकर खड़ी हो सकती हूँ और अपने सारे हृदय और आत्मा से काम में जुट सकती हूँ, जिसमें कि मैं उस आदर्श और उस आदर्श-सेवक के अधिक योग्य बन सकूँ।

अपने हृदय की उदारता से मेरी निर्बलताओं और दुर्विचारों के लिए क्षमा करना। मैं उन्हें हटाने के लिए पूरी कोशिश करूँगी। मेरी यही प्रार्थना है कि भगवान की कृपा से मैं कभी वाधक न होऊँ और किस तरह तुम्हारे आदर्श की सेवा हो, इसे जान सकूँ। भगवान तुम्हें प्रसन्न रक्खे। अव, और सदा तुम्हारी।"

"प्रियतम कुमार,

··· भगवान मुझे बल और समझ दे रहा है और मेरे दर्द को आनन्द–गम्भीर आनन्द–में परिणत कर रहा है...

··· सो हम यहाँ हैं ! इस बोझ से घवड़ाओ नहीं ! मुझे अपने आदर्श की प्राप्ति के साधनों में से एक समझो।

··मेरी कार्यक्षमता का जितना उपयोग हो सकता था, उसे कभी पूरा प्रयोग में नहीं लाया गया, क्योंकि वह क्षमता तब तक मूर्छित थी, जब तक कि तुमने आकर जगाया नहीं।

सदा तुम्हारी··"

"मेरे प्यारे कुमार, अत्यन्त प्यारे भाई,

तुम्हारा अनमोल पत्र आया। पाते ही मैं तुरन्त सीधे महर्षि के चरणों में गयी। वह अकेले थे। मैंने उसे उन्हें दे दिया। उन्होंने उसे सब पढ़ा, फिर मेरी ओर देखते बोले, 'यह बहुत ही अच्छा पत्र है।'

मुझे यह आशा करने का भी साहस नहीं होता कि तुम जवाब दोगे–वल्कि मुझे यह डर रहा है कि मैंने तुम्हें नाखुश किया है··· आज ही सबेरे जब मैं अकेले पहाड़ पर विचर रही थी, तो मेरे हृदय की वेदना ने मेरी आँखों में आँसू भर दिये। लेकिन अव तुम्हारा पत्र मेरे पास है और मैं समझती हूँ कि मेरा भाई मुझसे छीना नहीं जायेगा, बल्कि सदा मेरी बगल में रहेगा।···

महर्षि सब जानते हैं और वह हमें रास्ता दिखलायेंगे। कल मैं अकेली उनके साथ टहल रही थी और तुम्हारे बारे में उनसे बात कर रही थी। महर्षि के आशीर्वाद से दिन पर दिन सच्चा मार्ग हम लोगों के सामने खुलता जायेगा।··"

"अत्यन्त प्यारे भाई,

यह जानकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि तुम जल्दी आ रहे हो।

अब मैं अपनी कुटिया में हूँ, कुछ दिन के ही लिए। मैंने महर्षि से कह दिया है कि कुटिया उनकी–मेरे भाई की है और जब मैं काम करने बाहर जाऊँगी तो वह इसे ले लेंगे···"

सदा तुम्हारी प्यारी बहिन···।

"अत्यन्त प्यारे भाई,

··क्यों मैं इस भू-भाग को ज्यादा पसन्द करती थी, इसे तब जाना जबकि मैंने तुम्हारे भीतर अपना जीवन पाया।

··सप्रेम सदा तुम्हारी··"

"मेरे प्यारे भाई कुमार,

··मत कहो कि मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया। मेरे साथ अन्याय की कोई बात नहीं, किन्तु तुम्हें अपने साथ अन्याय नहीं करना चाहिए, वह मुझे बहुत पीड़ा देगा। भगवान ने तुम्हें शुद्धतम सोने में ढाला है और मेरे लिए असह्य होगा यदि कोई चीज उसे धूमिल कर दे। अपने लिए सच्चे बनो और मुझ पर अपने ही अस्तित्व के एक अंश के तौर पर विश्वास करो। मैं कभी यह सुनना नहीं चाहूँगी कि तुम अपनी आत्मा को हानि पहुँचाना चाहते हो–मैं जानती हूँ कि तुम इन सभी कठोर अभिलाषाओं से बिल्कुल अपरिचित थे। तुम अच्छा ही अच्छा

समझ रहे थे—और सो ही मैं भी समझ रही थी—लेकिन किसी फेर से सभी वातें उलटी हो गयीं और मैंने उसे अपने हृदय और रक्त को देकर पूरा सहा···"

"प्रियतम साथी,

··· जब तुम पिछले महीने यहाँ से गये तो मैं कई दिनों तक सोचती रही, उसके बाद मुझे अपना रास्ता इस तरह साफ दिखलाई दिया—मुझे अव तपस्या के सारे वाह्य चिन्हों को छोड़ देना चाहिए और अपनी सारी शक्ति के साथ जन-सेवा के लिए प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन यदि मैं इसमें सफल होना चाहती हूँ तो मुझे अपने स्वभाव के अनुसार काम करने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए। सालों पहिले जब मैं महर्षि के चरणों में आयी तो मैंने अपने को उनके हाथों में सौंप दिया और उन्होंने अपने पूर्ण वात्सल्य के साथ मुझ पर पूरे तौर से अधिकार कर लिया, सिर्फ मेरे कामों पर नहीं वल्कि मेरे विचारों और चिन्तनों के ऊपर भी। यह जबरदस्त अनुशासन और शिक्षण, जिससे मैंने बहुत पाया, लेकिन इसने मेरे आत्मविश्वास और स्वरूपप्रकाश को खत्म भी कर दिया। मैं किसी काम को स्वतंत्र और निरंतर करने लायक नहीं रह गयी। महर्षि के पास आने से पहिले मुझमें आत्मविश्वास था. उद्योगशीलता थी और स्वतंत्र शक्ति थी। मैं उन सवको खो बैठी। सिर्फ इस वक्त जबकि तुम मेरे जीवन में आये, मेरी स्वाभाविक शक्ति जाग उठी।

··· एक ही तरह की प्रेरणा ने हम दोनों को घर से निकालकर अज्ञात दिशा की ओर फेंक दिया—जन्मभूमि की स्वतंत्रता का वही एक आदर्श आज हमारे हृदयों में भरा हुआ है। हमारे विचारों में सिर्फ यही एक अन्तर है, कि मैं अपने सम्पूर्ण हृदय और आत्मा से विश्वास करती हूँ कि हम दोनों के एक हो जाने ही में हमारी शक्तियों का पूर्ण तौर से उपयोग हो सकता है और तुम इससे भिन्न सोचते हो। जब तक तुम इस तरह समझते हो, मैं बिना बहस के तुम्हारी इच्छा को स्वीकार करूँगी।

तुम्हारी सदा···

कुमार को मालूम हो गया था कि यह उसी जालिम राजा की पुत्री है, जिसके दुःशासन से लोगों को मुक्त करने का उसने बीड़ा उठाया है। वह जानता था कि कुमारी साधारण स्त्री नहीं है, उसका हृदय परम शुद्ध है और वह चाहती है उनके काम में दिल से सहायता करना। लेकिन कुमार को यह भी विश्वास था कि जिस काम को वह करने जा रहा है, वह च्यवन-आश्रम से पूरा नहीं हो सकता है और कुमारी के लिए च्यवन-आश्रम ही सब कुछ रह गया था।

कुमारी जितनी ही आशा लगाये कुमार के नजदीक आती थी, कुमार उसे उतना ही दूर दिखलायी पड़ता। जब उसके इष्ट-मित्र समझाना चाहते, तो वह कहती—मैं जन्म-जन्मान्तर से उनकी रही हूँ। इस बार भेंट तो हुई, मेरे हृदय ने अपने प्रियतम को पहिचान लिया, लेकिन प्रियतम मुझे भूल गये हैं। मेरा पुराना पाप या कोई श्राप है। इसके लिए मुझे प्रायश्चित करना होगा। एक बार कुमारी ने प्राण देने को ठान लिया। ऋषि और आश्रमवासी सभी चिन्तित हो गये। कुमार को वुलाया गया—ऋषि ने अपना फर्ज समझा कि कुमारी की प्राण-रक्षा के लिए कुमार पर जोर दिया जाय। कुमार आये, लेकिन उनका एक ही जवाब था; मैं सिर्फ बहिन ही के तौर पर उसे ग्रहण कर सकता हूँ। कुमारी ने आत्महत्या को प्रियतम के लिए कष्टप्रद समझा। उसका ख्याल छोड़ दिया, लेकिन वह भूले प्रियतम की स्मृति जगाने के लिए अपनी साधना में लगी रही।

कुमार से किसी ने कहा कि कुमारी उनके वियोग में सूखकर काँटा हो गयी है तो इसका उन्हें बहुत अफसोस हुआ। च्यवन ऋषि ने कुमार को समझाया, "कुमारी के वारे में दुःख मानने की आवश्यकता नहीं है। वह तो मानती है कि पूर्वजन्म में तुम्हारे साथ वही सम्बन्ध था और भविष्य में भी वह रहेगा। इस जन्म में तुमको विस्मृति हुई है, इसका उसे दुख है और सुख भी। इसे भी कुमारी ने आध्यात्मिक वस्तु बना रखा है और तपस्या करती है, पुराण पढ़ती है।···"

कुमार ने एक बार कुमारी को समझाने की चेष्टा करते हुए लिखा—

"मेरी प्यारी बहिन,

… इन तूफानी दिनों में हर एक जन्मभूमि से प्यार करनेवाले व्यक्ति का फर्ज है कि सब ओर से मन खींचकर सिर्फ देश की स्वतन्त्रता के लिए काम करे। जिस जीवन-भर के स्वप्न के लिए मैं जिया और भीषण कष्ट उठाता रहा, उस स्वप्न को पूरा करने के सिवाय और किसी ख्याल को मैं अपने दिमाग में नहीं आने देना चाहता। देश की नाजुक अवस्था को क्या तुम नहीं देख रही हो ? अपनी जनता की सेवा को छोड़कर कैसे कोई दूसरा विचार तुम्हारे मन में आया और उसने तुम्हें पागल बनाया। कुमारी, प्रभु ने बहुत-से गुण दिये हैं। स्वार्थी न बनो।"

इसी पुरानी कथा की तरह के प्रलोभन सरदार के जीवन में भी आये थे।

सरदार पैरोल के दिनों यरवदा से सीधे भावनगर चले गये। इधर वह कितने ही दिनों से सोच रहे थे कि अब समय आ गया है, जबकि हमारे काम के लिए विवाह बाधक नहीं साधक बनेगा। वह समझते थे कि अब वह जिस राजनीति में नंगे बदन होकर पड़ रहे हैं, उसमें उनके वर्ग-शत्रु उनके विरुद्ध कोई भी हथियार उठा न रक्खेंगे। जब जेल जाने से पहिले वह भावनगर गये थे तब उनके एक मित्र परिवार की लड़की कुमारी प्रभावती चन्द्रशंकर दुबे अपने देश-सेवा के काम के लिए सरदार से सलाह पूछने आयी। सरदार का प्रिय विषय था व्यायाम। उन्होंने कहा–

"तुम्हें स्त्रियों में व्यायाम का प्रचार करना चाहिए।" लेकिन प्रभावती को अब तक साहित्य का शौक ज्यादा था। दो घण्टे की बातचीत के बाद उन्होंने व्यायाम के उपयोग को समझा। वह कर्वे महिला विद्यालय की बी. ए. थीं। भावनगर राज्य ने ऐसी योग्य लड़की के लिए छात्रवृत्ति देना मंजूर किया और वह बम्बई के पास काँदेवली के सरकारी शिक्षणालय में दाखिल हो गयी। जेल में भी प्रभावती के पत्र सरदार के पास आते थे। उनसे स्नेह टपकता था। सरदार भी दोनों की समानधर्मिता को समझते थे। पैरोल पर जाते वक्त वह काँदेवली होते हुए भावनगर गये थे, उसी वक्त विद्यार्थी द्वारा संदेश भेज दिया था। भावनगर में प्रभावती ने आने के लिए पत्र भेजा। सरदार ने तार दे दिया। प्रभावती आ गयी। सरदार न साधारण तरह की शादी करना चाहते थे और न प्रेम के लिए लम्बे-चौड़े ताने-बाने की जरूरत समझते थे। उन्होंने सीधे सवाल किया–"तुम्हारे पत्रों में प्रेम की गन्ध आ रही थी, क्या यह सच है ?" "गन्ध पढ़ने में रही होगी"–कहकर प्रभावती चुप रही। सरदार ने कहा कि शादी करने के लिए मैं तै कर चुका हूँ किन्तु तभी जब मेरे साथी आज्ञा दें। तुम भी अपने सम्बन्धियों से पूछ लो।

दुबे ब्राह्मण क्यों ऐसे विवाह के लिए सहमत होने लगे। सरदार बम्बई आये। पूरनचन्द्र जोशी ने शादी कर लेने की सम्मति दी। 27 नवम्बर 1943 को जेल से लौटने की तारीख थी, उस दिन ब्याह की रजिस्ट्री करने का दिन निश्चित किया गया और साथ ही सरकार को पैरोल बढ़ाने के लिए लिखा गया। पैरोल एक महीने का और बढ़ गया। पंजाब सरकार ने भी जन्मभूमि देखने के लिए 15 दिन की इजाजत दी और एक युग के बाद वह अपनी पत्नी के साथ लालडू गये। सरकार ने फिर दो महीने पैरोल के बढ़ाये और अन्त में फरवरी 1944 को उन्हें छोड़ दिया।

आज सरदार पृथ्वीसिंह फिर उसी तरह तत्परता से देश के लिए काम कर रहे हैं। कभी आंध्र के किसान उस मूर्ति को साक्षात् देखते और उसके भाषणों को सुनते हैं, जिसके बारे में सैकड़ों कथाएँ आंध्र में मशहूर हैं। कभी वह गुजरात के अपने पुराने दोस्तों में आते हैं और बंगाल की सहायता के लिए उन्हें दिल खोलकर रुपया देने के लिए कहते हैं। आज भी उनका शरीर उतना ही स्वस्थ और बलिष्ठ है, आज भी उनकी हिम्मत उतनी ही दृढ़ है और आज उनके बहुत-से वे साथी और मित्र जो अगस्त 1942 के दिनों में उनकी बात तक सुनने से इनकार करते थे, उनकी बात को समझने लगे हैं।

परिशिष्ट

1945 में गाँधीजी और दूसरे कांग्रेसी नेता जेल से छूटे थे। गाँधीजी बम्बई में विड़ला भवन में ठहरे थे। सरोजनी देवी पहरे पर थीं। सरदार महात्माजी से मिलने गये। सरोजनीजी ने कहा—आपके लिए पहरा थोड़े ही है। मीरा बहिन, कन्नू भाई और दूसरे भक्त भी वहाँ मौजूद थे। उन्होंने सरदार से कहा—स्वार्थियों ने बापू को घेर रक्खा है। आश्रमवासी बापू के आदर्श से बहुत पतित हो चुके हैं। जो आश्रम कभी सारे भारत का हृदय-केन्द्र बनकर सबका संचालन कर रहा था, अब वह विगड़ चुका है। यदि आप आकर उसे सँभाल लें तो उसके सुधरने की आशा है। महात्माजी के सामने फिर इसकी चर्चा हुई। उन्होंने कहा—"हाँ, आश्रम में आ जाओ, यह बड़ी अच्छी बात होगी।" उनके जोर देने पर सरदार ने कहा—"आश्रम में आने में मुझे वड़ी खुशी होगी, पर अब तो मैं अपने मन से नहीं आ सकता, मुझे (कम्युनिस्ट) पार्टी से आज्ञा लेनी होगी और उसके ही अनुशासन में रहना होगा। मैं आपके प्रति अपार सम्मान रखते हुए भी आपका शिष्य या भगत नहीं हूँ।" गाँधीजी ने कहा—"सो कैसे हो सकता है, पहिले ही जैसे भावों के साथ आश्रम में आ जाओ।" सरदार उसके लिए तैयार नहीं हो सकते थे।

अभी तक जिस नीति के अपनाने के कारण कांग्रेसी देशभक्त गालियाँ देते थे, उसी नीति को अब गाँधीजी ने अपनाया था, इसलिए अपनी और अपनी पार्टी की स्थिति को साफ करने के लिए सरदार ने गाँधीजी को 1945 में निम्न पत्र लिखा—

महात्माजी,

प्रणाम

काफी अरसा वीत चुका है, मैंने आपकी सेवा में कोई पत्र नहीं लिखा और न ही अव आपके साथ मुलाकात करने की कोशिश की है। लेकिन आज कई नाजुक हालतों ने मुझे मजबूर किया है, इसलिए पत्र लिख रहा हूँ। अगर आप नजदीक होते तो शायद मिलने की कोशिश भी करता।

आपके दिमाग पर हमेशा एक प्रकार का वोझा है, इसे मैं जानता हूँ। इस समय कई जटिल समस्याएँ आपके सामने खड़ी हैं। आपकी शारीरिक हालत भी अब पहिले जैसी नहीं रही। इन सब वातों को जानते हुए भी मैं यह पत्र लिख रहा हूँ, क्योंकि मेरा मन काफी आकुल है। मैं इस पत्र को लिखकर अपने मन की आकुलता को दूर करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। आशा है, आप मुझे क्षमा करेंगे। यदि समय हो तो इस पत्र को पढ़ियेगा और उचित लगे तो जवाब दीजियेगा।

देश में एक अजव प्रकार की वेचैनी फैली हुई है। राजकीय दृष्टि से जाग्रत जनता अनेक हिस्सों में विभक्त हो पड़ी है। चारों ओर अविश्वास का वातावरण फैला है। हर एक पक्ष (दल) यह समझने लगा है कि दूसरा पक्ष हमें हड़पने के लिए तैयार खड़ा है। सभी पारस्परिक विश्वास को खो वैठा है। यह सत्य हकीकत सवको साफ नजर आ रही है कि इसकी तरफ आँखें बन्द करके बैठा नहीं जा सकता। जिस कांग्रेस को सबल और लोकप्रिय

वनाने में लाखों ने अनेक प्रकार के वलिदान दिये, उसी कांग्रेस का विश्वास आज दूसरी सवल और लोकप्रिय संस्थाओं पर क्यों नहीं रहा ? और उनका भी विश्वास कांग्रेस पर नहीं रहा, इस हकीकत से इन्कार करना अकलमन्दी नहीं है।

कांग्रेस में ऐसे जोशीले और जवावदेह कार्यकर्ता कम नहीं हैं, जो यह मानते हैं और तोड़फोड़ में हिस्सा लेनेवालों की संख्या और चुनावों के आँकड़ों को पेश करके सिद्ध करना चाहते हैं कि कांग्रेस पहिले की निस्वत ज्यादा वलवान बनी है। लेकिन यह हकीकत नहीं है। क्या आज कांग्रेस का मजदूरों पर वैसा ही कावू है जैसा कि कभी था ? साफ देखने में आ सकता है जो मजदूर व्यवस्थित रीति से संघटित हैं, उनकी वड़ी भारी शक्ति आज कांग्रेस के हाथ में नहीं है। किसानों का भी यही हाल है। विद्यार्थी-जगत भी आज दो हिस्सों में वँट गया है। हिन्दुओं का वहुत-सा हिस्सा आज हिन्दू सभा की तरफ अपना झुकाव दिखला रहा है। लीग का मुसलमानों में क्या स्थान है, इसे तो एक वाहोश आदमी जो रोजे रोशनी की तरह देख सकता है। इन सव वातों के वारे में कांग्रेस के खास-खास नेताओं ने जो रवैया अख्तियार किया है, वह वहुत-सी उलझनें पैदा करके रहेगा।

सैकड़ों देश-प्रेमी वर्षों से वड़ी जाँफिशानी (त्याग) के साथ मजदूरों को संगठित करने में अपना समस्त जीवन लगाते आ रहे हैं, जिसके कारण उन्होंने मजदूर समाज में आदर और मान प्राप्त किया है। उनकी इस मेहनत द्वारा जो मजदूर सचेत और संगठित वने हैं, उन पर कांग्रेस नेता अपना कावू जमाना चाहते हैं—उनके माननीय नेताओं के द्वारा नहीं, केवल अपनी युक्तियों और प्रति-युक्तियों के वल से। यही वात किसानों और विद्यार्थियों, अछूतों और मुसलमानों के वारे में है।

इन सव संघटित जमातों के वल का उपयोग उनके नेताओं का हार्दिक सहकार लेकर ही किया जा सकता है। लेकिन, प्रयास इससे उलटा हो रहा है जिसका परिणाम देश के लिए घातक होगा, क्योंकि इससे एक संघटित और सचेत शक्ति को वरवाद करने के सिवा और कोई फल नहीं होगा।

कांग्रेस एक पक्ष या वल नहीं है। पर, आज उसे यह रूप दिया जा रहा है। सव दलों और पक्षों को मिटाकर उसे वलवान बनाने का जवरदस्त प्रयास हो रहा है। इसका परिणाम यही होगा कि कांग्रेस की समस्त शक्ति अनेक पक्षों और दलों की शक्ति को तोड़ने में वरवाद होगी।

कुछ कांग्रेसी नेताओं में हिटलर (या रूस) की नकल करने की वू समायी है। वे उसकी कार्य-पद्धति को अंगीकार करना चाहते हैं। लेकिन यह वात भूल जाते हैं कि दोनों के काम का ढंग जुदा-जुदा हालतों में जुदा-जुदा रहा है। एक ने अपनी योजना के अनुसार उच्च और मध्यमवर्ग की अल्प लेकिन संगठित शक्ति के बल से सारे देश की शक्ति पर कावू जमाकर दुनिया-भर में छा जाने का जवर्दस्त प्रयास किया, दूसरे ने समस्त देश की मेहनतकश जनता का उनके नेताओं द्वारा सहकार लेकर एक योजना वनायी और उसके वल का उपयोग अपने देश को सुरक्षित करके आगे बढ़ाने में किया। जुदा-जुदा रीति से जो प्रयास किया गया, उसका परिणाम देख रहे हैं।

देश को प्रगति की तरफ ले जाने के लिए हमारे सामने एक ही मार्ग है। देश-भर की समस्त जाग्रत और संघटित शक्ति को सवके सहकार के वल से संघटित करने का प्रयास ही एक सुन्दर प्रयास होगा। इस प्रकार का प्रयास हमें सफलता के मार्ग पर ले जा सकेगा। जुदा-जुदा संघटित शक्तियों को तोड़कर एक महान संघटन पैदा करने का प्रयास घातक सावित होगा।

कांग्रेस का कार्य आज तक किसी योजना के आधार पर नहीं चलाया गया। लेकिन आज कांग्रेस के अनेक नेता अपनी-अपनी योजना पेश कर रहे हैं। वह इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि योजना के विना कार्य-सिद्धि न होगी। जेल की चहारदीवारी के भीतर वहुतों को निश्चित समय मिला, वहुतों ने इसका काफी लाभ उठाया। वहुत-से दिमागों ने योजनाएँ गढ़ीं। आज वह योजनाएँ देश के सामने पेश हो रही हैं। इन योजनाओं के द्वारा वह देश की समस्त शक्ति पर कावू कर आगे वढ़ना चाहते हैं। इस वात को नजर-अन्दाज किया जाता है कि राष्ट्र के निर्माण करने की योजना का गढ़ना एक आदमी का काम नहीं, चाहे उसका दिमाग कितना उर्वर क्यों न हो। राष्ट्र के निर्माण करने की योजना राष्ट्र के उन हजारों कार्यकर्ताओं की सहायता से ही वननी चाहिए, जिन्होंने अपना समस्त जीवन राष्ट्र का निर्माण करने में लगाया है। रूसी जनता के नेताओं ने अपने राष्ट्र का निर्माण करने के लिए जव योजना

तैयार की तो राष्ट्र के समस्त कार्यकर्ताओं की सहायता से उसे तैयार करने में पाँच साल लगे।

पिछले 25 सालों में देश-भर में आपने एक प्रचण्ड शक्ति को जाग्रत किया है, लेकिन अब जब आपने परीक्षा ली, (तो) उसका क्या परिणाम पाया ? 1922 में आपको मालूम हो गया कि जिस शक्ति को जगाया गया है, उसे अपने काबू में रखकर उससे काम लेना आसान नहीं है। हजारों कार्यकर्ताओं को जेल जाना पड़ा, उन्हें अपनी शक्ति का परिचय देना पड़ा। अंग्रेजों को साफ मालूम हो गया कि इनमें वह ताकत नहीं है, जो कि क्रांतिकारियों में होनी चाहिए। 1931 से 1933 तक जो आन्दोलन आपने चलाया, उससे भी आपको मालूम हो गया कि जाग्रत जनता में किस-किस प्रकार की कमजोरियाँ होती हैं।

1937 में जबकि 1935 के विधान को अमल में लाने का निश्चय किया, तो आपको साफ मालूम हो गया कि जिन देशभक्तों में जेलों में जाने और फाँसी के रस्सों पर लटकने के सिवा और कोई मोह नहीं था, सत्ता हाथ में आते ही वह भी मोह वश हो गये और उन्होंने अपनी मनोदशा का कैसा परिचय दिया है।

1941 में आपने व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन शुरू किया। उस समय भी आपने अच्छी तरह देखा कि चन्द व्यक्तियों को छोड़ सत्याग्रहियों में कैसे अनमोल रत्न भरे पड़े हैं।

1942 में जो महा आन्दोलन आपने चलाया और देश की जनता के सामने एक महान प्रोग्राम रक्खा, उस समय सारे जगत के सामने बड़ी भद्दी रीति से इस बात का प्रदर्शन हुआ कि देश की जनता के सामने कोई योजना नहीं और न ही योजना को अमल में लाने के लिए पूर्व तैयारी या अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि है।

1942 में हुकूमत के सामने आपने जंग छेड़ी, पर योजना नहीं, पूर्व तैयारी नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि नहीं, दूसरे आजाद और गुलाम देशों को प्रजा क्या कर रही है, इसका जरा भी ख्याल नहीं। हिन्दू-मुस्लिम एकता की तरफ से आप निराश और दुखी होते हैं, आप यह निश्चय नहीं कर पाते कि वस्तुतः इस समस्या का समाधान क्या है।

1944 में आप जेल के बाहर आते हैं। देसाई-लियाकत के मसौदे को आपका आशीर्वाद मिलता है। आपके सहयोगी मित्र भी जेल से बाहर आते हैं।

1945 में, जबकि जर्मनी हार चुका है और जापान दुम दबाकर भाग रहा है, उस शिमला शैल पर से उसी विदेशी राष्ट्र के साथ मित्रता का रिश्ता जोड़ते हैं, जिसे उखाड़ फेंकना आपके जीवन का आखिरी मकसद था। तीन साल के अरसे में कितना जबर्दस्त हेर-फेर, दुश्मन-दोस्त के रूप में नजर आता है। उसके साथ मेल हो ही नहीं सकता, यह आपका निश्चित मत था, पर उसी के साथ फिर से मेल करने की तदबीरें आप सोचने लगते हैं और कोशिश करके मिलते हैं। जिनकी शक्ति को आप और आपके मित्र कोई महत्त्व नहीं देते थे, उनकी हस्ती मिटाने के लिए आप के सहयोगी मित्र अपनी तमाम शक्ति को उपयोग में ला रहे हैं।

मैंने आपको बहुत नजदीक और बारीकी से देखने की कोशिश की है। दो महान सद्गुण मैंने आप में देखे हैं—आप में दूसरों की शक्ति और गुणों को अच्छी तरह आसानी के साथ देख लेने की शक्ति है और अपनी कमजोरियों और भूलों को भी।

1945 के आपके रवैये से साफ मालूम पड़ता है, कि 1942 में जो भूलें आपने की हैं, अब उनको आपने समझ लिया है। आप के कार्य में लोगों को पता चल गया है कि आपने अपनी भूलों को सुधारा है। लेकिन आपके शब्दों द्वारा अभी तक लोगों को यह मालूम नहीं हुआ। वह अभी तक अचम्भे में पड़े, कुछ समझ नहीं पाते। अभी तक लोगों के सामने यही कहा जाता है कि 8 अगस्त 1942 के प्रस्ताव ब्रह्मा के हाथों से लिखे अक्षर के समान हैं। उनमें से एक मात्रा नहीं हटायी जा सकती। प्रस्ताव का उपयोग तो यही होता है कि जो भाव उसमें प्रदर्शित किये गये हैं, उन्हें अमली जामा पहनाया जाय। इस पर यह स्वाभाविक सवाल उठता है—क्या 8 अगस्त 1942 को प्रस्ताव के अमली जामा पहिनाने के लिए आप और आपके सहयोगी मित्र 25 जुलाई 1945 को शिमला शैल पर जमा हुए थे ? देश की जाग्रत जनता इसके बारे में साफ तौर पर जानना चाहती है।

मैं तो यह साफ बात समझता हूँ कि आपने अपनी भूलों को समझ लिया है। आप जो कुछ कर रहे हैं, उसे करने में आपने जबर्दस्त नैतिक हिम्मत दिखलायी है, किसी बात का ख्याल किये बिना आपने देश को गिरी

हुई हालत से उठाने के लिए एक महान प्रयास किया है। इसके लिए आप धन्यवाद के पात्र हैं।

1942 के आंदोलन के कारण जो अवस्था देश में पैदा हुई, अव मैं उसकी तरफ आपका ध्यान खींचने की कोशिश करता हूँ। देश की भूखी और पीड़ित जनता आज वड़ी तंगहाली से गुजर रही है। पाँच साल तक वह अपनी रगों का खून वहाकर जीवित रही। अव ऐसी हालत पैदा हो गयी कि यह तभी तक जीवित रह सकती है, जब तक कि उसकी रगों का खून विल्कुल सूख नहीं जाता, ऐसी अवस्था में यह शोचनीय वात दीख रही है कि जनता के बहुत-से माननीय तारनहार अपनी नीच मनोदशा का प्रदर्शन कर रहे हैं, उनकी तंगदिली, स्वार्थपरता और राजनीतिक भूलों के कारण देश में अविश्वास का वातावरण छा गया है। कांग्रेस के नेता सव दलों और पक्षों की सारी शक्ति को तोड़कर सारे देश पर छा जाना चाहते हैं। इस पर छोटे-मोटे सभी दल और पक्ष अपनी रक्षा के लिए अपनी शक्ति को काम में ला रहे हैं। हो सकता है, कांग्रेस के नेता अपने मनोरथ में कामयाव हो जायें। इसका दूसरा नतीजा चाहे कुछ क्यों न हो, पर एक तो यह जरूर ही होगा कि सव दलों और पक्षों की शक्ति के जुट जाने के साथ ही कांग्रेस की शक्ति भी टूट जायेगी।

अव मैं आपका ध्यान कम्युनिस्ट पार्टी की तरफ खींचना चाहता हूँ। 1942 में कांग्रेस के नेताओं और पार्टी के नेताओं में राजनीतिक दृष्टि से एक वड़ा भारी मतभेद खड़ा हो गया। उसी के कारण 8 अगस्त के प्रस्ताव के उस हिस्से का उन्होंने सख्त विरोध किया, जो कि सामूहिक सविनय आज्ञा भंग की हिदायत करता था। देश के नेताओं के पकड़े जाने के वाद किसी महान कार्य को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए तो खास प्रकार की शक्ति और योजना की जरूरत होती है, न करने के लिए किसी चीज की जरूरत नहीं होती। समझ में नहीं आता कि 1942 का आन्दोलन कुछ करने के लिए था या न करने के लिए। राष्ट्र के नेताओं को पकड़कर सरमायादारी अंग्रेजी हुकूमत ने लोकशाही जगत के सामने यह प्रकट करने की कोशिश की कि हिन्द के राजनीतिक नेता फासिस्टपक्षी हैं। आप लोगों के जेल चले जाने का दुष्परिणाम क्या हुआ ? कांग्रेस पक्षी जनता ही मुसलमानों को, खासकर मुस्लिम लीगियों को अंग्रेजों का हिमायती और देश का दुश्मन समझने लगी। हिन्दू जनता जिसे हिन्दुत्व प्रिय है, वह कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों को अपना दुश्मन समझने लगी ! उसके नेताओं ने लड़ाई में शरीक होने के लिए इसलिए आकांक्षा प्रकट की ताकि वह अस्त्र-शस्त्र की कला में प्रवीण होकर मुसलमानों के साथ अच्छी तरह से मुकाविला कर सकें।

कम्युनिस्ट पार्टी ने जगत-भर की क्रान्तिकारी संस्थाओं के द्वारा यह समझाने की कोशिश की कि हिन्द के नेता फासिस्ट विरोधी हैं, उन्हें कैद में रखने का अव केवल एक ही नतीजा होगा कि लोकशाही विजय को सख्त धक्का पहुँचाया जाये। हिन्द के सरमायादारों, जागीरदारों और उनके अनुचरों ने, जापानी प्रोपेगंडा से उकसाये नौजवानों ने इस पार्टी को हद से ज्यादा वदनाम करने की कोशिश की—"कम्युनिस्ट लोग विदेशी हुकूमत के एजेंट हैं, अंग्रेजी हुकूमत के जर-खरीद गुलाम हैं, देश और धर्म के दुश्मन हैं।"

1942 के आन्दोलन ने देश के राजनीतिक वातावरण को दूषित वना दिया। आप के आन्दोलन का देश-भर में यह असर होगा, क्या आप अन्दाजा लगा सके थे ? वह वातावरण कुछ करने के अनुकूल हुआ या न करने के, इसका अन्दाजा आप ही लगायें। उस आन्दोलन का जो भयंकर असर देश की समस्त जनता के ऊपर पड़ा, परिणामस्वरूप देश-भर को जो सदमा पहुँचा है, उसका अन्दाजा लगाना मुश्किल है। हालत दिन पर दिन बिगड़ती जा रही है, उसे सुधारने का प्रयास नहीं होता।

कम्युनिस्टों का अपराध

रूस के युद्ध में शामिल होने के कारण इस युद्ध को लोक-युद्ध का नाम देकर लोगों को गुमराह करने की कोशिश की गयी। जिस पक्ष की हिमायत में अंग्रेजी हुकूमत खड़ी थी, उस पक्ष को जीत मिले, इसके लिए उन्होंने जवर्दस्त प्रयास किया। जो सैनिक इस पक्ष को जिताने में अपनी जानों को कुर्वान कर रहे थे, उनका हृदय दृढ़ रहे, उन्हें अन्न और वस्त्र वरावर मिलता रहे, देश की जनता को भी अन्न-वस्त्र मिले, इसके लिए उत्पादन वढ़ाने के लिए उन्होंने मजदूरों और किसानों को प्रेरित किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता के विना आजादी नहीं मिल सकती, इस बात

को समझाया, कालावाजार के काले और गोरे चोरों के खिलाफ एक वड़ी मुहिम खड़ा कर भूखों और नंगों को अन्न-वस्त्र दिलाने की कोशिश की। राष्ट्र के नेता फासिस्ट-विरोधी हैं, इस भाव को जगत-भर में फैलाया। हिन्द में अगर राष्ट्रीय सरकार नहीं स्थापित होती, तो लोकशाही की जीत होनी मुश्किल है, इस ख्याल का प्रचार किया। अपने माननीय नेताओं को जेल से छुड़ाने के लिए अपनी शक्ति का उपयोग किया।

ये हैं हमारे अपराध, जिनके कारण हमें उस संस्था से धक्के मारकर निकाला जा रहा है, जिसे सवल बनाने के लिए हमने उसे अपने खून से सींचा। हमारे यही अपराध हैं न या और भी ? नीचता के साथ और नीच भावों से प्रेरित हम पर और भी इल्जाम लगाये गये हैं, जिनका जिकर मैं आगे चलकर करूँगा।

हमने इसे लोकयुद्ध कहा, यह हमारा अपराध है। आपने इसे 1942 में शाही (साम्राज्यवादी) जंग कहा था। इसमें किसी रूप में शरीक नहीं होना चाहिए, यह आपका फरमान था। 1945 जवकि जर्मनी हार चुका था, उस समय देसाई-लियाकत समझौता के परिणामस्वरूप जव आपके सहकारी मित्र जेलों से छूटकर वाहर आये और सैनिक वाइसराय के साथ वातचीत करके लड़ाई में शामिल होने के इरादे का इजहार करते हुए कहा, जव तक जापान हार नहीं जाता, तव तक अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ किसी प्रकार का आन्दोलन हमें नहीं खड़ा करना है। यह कवूल करते आपने फरमान निकाला, फिर क्या तव यह जंग शाही (साम्राज्यवादी) नहीं रही ? जिस हुकूमत को उखाड़ फेंकने के लिए आपने फरमान निकाला था, क्या उसी की जीत के लिए आपने जंग में शरीक होने की सलाह नहीं दी ? क्या आप जेल की यातनाओं से घवड़ा गये थे, या किसी और प्रलोभन में फँस गये ? ऐसा नहीं हो सकता। मेरी तो मान्यता है कि आपको अपनी भूल मालूम पड़ी। आपको अच्छी तरह से जम गया, कि जिस पक्ष में खड़े होकर अंग्रेज लड़ रहे हैं, उसी पक्ष की जीत में भारत का कल्याण है, इसीलिए आपको लगा कि जापान को हराना जरूरी है। नौजवानों में 1942 से हमने अपनी समस्त शक्ति को इसी कार्य की सिद्धि में लगाये रक्खा। लोगों की मार, गालियाँ और ताने सहते रहे। क्या वह हमारा अपराध था ? 1942 में अंग्रेजों के दुश्मन वनकर शान्ति से जेल जाकर आप वैठ जाते हैं तो आप लोगों के पूजनीय वनते हैं। 1945 में जव उसी सरकार के दोस्त वनते हैं तो भी लोग आपके चरणों में झुकते हैं।

तोड़-फोड़ के कार्य की आपने निन्दा की और उसकी तरफ से लोगों को रोका। जो गुप्त रहकर तोड़-फोड़ का कार्य कर रहे थे, उन्हें प्रकट होने की हिदायत दी। इसे आपकी वुद्धिमत्ता कहा जाता और जव हम उन्हें उस तरह से रोकने का प्रयास कर रहे थे, तो वह हमारे लिए अपराध था।

जव कालेवाजार के काले चोरों को दण्डित करने के लिए हम जनता को प्रेरित करते थे, तो कहा जाता था कि हम अंग्रेजों के गुलाम हैं, इसलिए उनके जुल्मों को छिपाने के लिए यह हमारा प्रयास है और हमारी यह कोशिश भी अपराध में गिनी जाती है, लेकिन जव पंडित जवाहरलाल नेहरू वाहर आकर कालेवाजार के काले चोरों को फाँसी पर लटकाने की वात करते हैं, तो इसे तालियों से स्वीकार किया जाता है। कुछ रोज पहिले मौलाना अवुलकलाम आजाद ने अपने एक भाषण में फर्माया कि इस युद्ध में लोकशाही की जीत हुई है और इस जीत के लिए हमें खुशी है। जव यह लोकशाही की जीत है तो उस जीत को हासिल करने के लिए कम्युनिस्टों ने जो कुछ किया, क्या वह उनका अपराध था ? इस जीत को प्राप्त करने के लिए हिन्दुस्तान की डेढ़ करोड़ जनता ने वड़े जोर के साथ काम किया तो क्या यह उसका अपराध था ? हिन्द के वहादुर सिपाहियों ने जर्मनी और जापान को मार भगाने में जो वीरता, जंग में सफलतापूर्वक लड़ने का कौशल दिखलाया, क्या वह उसके लिए प्रशंसा के पात्र नहीं हैं ? जिन किसानों ने ज्यादा अन्न पैदा कर और जिन मजदूरों ने कारखानों की उपज वढ़ाकर लोकशाही विजय को प्राप्त किया, क्या वह अपराधी हैं ?

हम पर इल्जाम लगाया जाता है, कि 1942 में हमने कांग्रेस के अनुशासन को भंग किया। हमने प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया, उस पर अमल नहीं किया और उससे उलटे चलने के लिए देश को सलाह दी। मान लीजिये कि हमने अनुशासन भंग किया। उसके लिए हमें सजा मिलनी चाहिए, लेकिन कभी ऐसा नहीं हुआ कि सेना की किसी ऐसी टुकड़ी को सजा दी जाये जो सेनापति के आदेश को तोड़कर किसी ऐसे मोर्चे पर डट गयी हो जहाँ पर विजय प्राप्त करने के लिए सारी सेना को आकर जुट जाने की जरूरत है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी

की वैठक नहीं वुलायी गयी। पहिले के प्रस्ताव को वापिस नहीं लिया गया। वह तो प्रहका का अक्षर ही रहा, लेकिन कार्यकारिणी ने युद्ध में शामिल होने का इरादा प्रकट किया और यह भी कि जव तक जापान को न हरा दिया जाय, तव तक सामूहिक आन्दोलन वन्द रखा जाय, इसका क्या यह मतलव नहीं हुआ कि कानून वनानेवालों को कानून तोड़ने का हक है–'समरथ को नहिं दोष गुसाईं।'

पकड़े जाने से पहिले आपने देशवासियों के लिए अनेक हिदायतें दी थीं। आप अच्छी तरह जानते हैं कि उन पर देशभक्तों ने अमल नहीं किया। कांग्रेस की कार्यसमिति की ओर से कई फरमान निकाले गये। गुप्त संगठन किये गये, तोड़-फोड़ करके जापान के आने के रास्ते को सुगम वनाने की कोशिश की गई। अभी भी ऐसे देशभक्त हैं, जिन्होंने आपके आदेश के अनुसार अपने को प्रकट नहीं किया है। क्या यह अनुशासन भंग नहीं है ? आदमियों ने केवल अनुशासन भंग ही नहीं किया वल्कि देश को उल्टे मार्ग पर ले जाने का प्रयास किया। आप उनके मार्ग पर नहीं गये। आपने हमारा ही मार्ग स्वीकार किया है, फिर उनके ऊपर अनुशासन- भंग का मुकदमा क्यों नहीं चलाया जाता ? वहुत-से कांग्रेसी देशभक्त व्यापारियों ने युद्ध को सफल वनाने के लिए युद्ध-सामग्री दी और करोड़ों रुपये कमाये। क्या यह अनुशासन-भंग नहीं है ? क्या उन पर मुकदमा चलाया गया ? वह तो आज भी देशभक्त हैं, कांग्रेस के आधार-स्तम्भ हैं। जिन्होंने अनुशासन भंग कर तोड़-फोड़ करके जापान के मार्ग को सुगम वनाने का प्रयत्न किया, उन पर अनुशासन-भंग का मुकदमा नहीं चलाया जाता। उनको तो वीर का पद मिला है और आज वह कांग्रेस के सूत्रधार वने हैं। यह कैसा तमाशा है ? कुछ समझ में नहीं आता। आपके अनुयायियों ने, उच्च कोटि के देशभक्तों ने हम (कम्युनिस्टों) पर अनेक प्रकार के इल्जाम लगाये। इल्जाम लगानेवालों से क्या आपने सवूत माँगे ? क्या उन्होंने सवूत पेश किये ? क्या उन सवूतों को आपने मान्य किया। क्या उन सवूतों को आप जनता के सामने पेश कर सकते हैं ? आपके जगत् विख्यात दानवीर मित्र विड़ला पर लोगों ने इल्जाम लगाये कि वह कालेवाजार के काले व्यापारी हैं। आपने माँग पेश की कि सवूत पेश करो ? वैसे सवूत नहीं पेश हो सके, इसलिए दानवीर विड़ला दानवीर रहे और आप उनके द्वार के याचक। दानवीर ने कालावाजार में काला कहर मचाया कि नहीं, इसके लिए तो सवूतों की जरूरत थी लेकिन क्या आप इससे इन्कार करेंगे कि उन्होंने करोड़ों रुपये कमाने के लिए युद्ध-सामग्री पैदा करके दी ? क्या यह कार्य कांग्रेस की नीति के अनुसार था ?

हमारे ऊपर तो इल्जाम लगाना ही काफी है, इतने ही से हमें अपराधी ठहराया जा सकता है।

कम्युनिस्टों पर किस प्रकार के इल्जाम लगाये जाते हैं, उनके सवूत में क्या-क्या दलीलें पेश की जाती हैं और फिर किस तरह से और किस प्रकार इन्साफ किया जाता है, इसका एक नमूना मैं आपके सामने पेश करता हूँ। बम्वई प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी चार सदस्यों को कमेटी से निकालने का विचार करती है। पाटिल साहव की तरफ से फरमान मिलता है कि अनुशासन (शारती) भंग का मुकदमा तुम पर क्यों चलाया जाय ? इसके लिए तुम सवूत पेश करो। कम्युनिस्ट वक्त पर हाजिर होते हैं, वह माँग पेश करते हैं कि हम पर क्या-क्या इल्जाम लगाये गये हैं। इसके वारे में उनको कोई लिखित कागज नहीं दिया जाता। वह कहते हैं कृपा कर आप लिखकर दीजिये कि हम पर क्या-क्या इल्जाम हैं और साथ ही विचार करने के लिए कुछ समय दीजिये, जिससे हम उसका जवाव दें। वहुत हास्यजनक परिस्थिति पैदा हो जाती है। कमेटी के मेम्वर अपराधियों को सोचने का समय नहीं देते, न ही इल्जाम लिखकर देते हैं। वे खुद विचार करने के लिए समय लेते हैं। कम्युनिस्ट अपराधियों को कुछ मिनटों के लिए वाहर भेजा जाता है, फिर वापस वुलाकर उनसे कहा जाता है कि "कुछ लिखकर नहीं दिया जायेगा, सोचने के लिए भी समय नहीं दिया जायेगा। इन-इन कारणों से तुम्हें वाहर किया जाता है। कवूल करो कि तुम कम्युनिस्ट नहीं हो, नहीं तो तुम्हारे खिलाफ कोई कार्रवाई करने की जरूरत नहीं।" सत्ता के दुरुपयोग का क्या इससे वढ़कर और कोई दूसरा उदाहरण पेश किया जा सकता है ? यह है आपकी सत्य और अहिंसा की तालीम का फल।

कम्युनिस्टों के अपराध क्या हैं, यह मैं पहिले कह चुका हूँ। उनके अतिरिक्त अनेक निर्मूल इल्जाम लगाकर कांग्रेस के वड़े-वड़े जवावदेह कार्यकर्ताओं ने हमें जनता के सामने जलील करने की कोशिश की। "वह मांस खाते हैं, व्राह्मणों के लड़के-लड़कियों को मांस खिलाते हैं, हिंसा का प्रचार करते हैं, ईश्वर को नहीं मानते। आपको रसपुटिन कहते हैं।" समाचार-पत्रों में खूव नमक-मिर्च लगाकर लेख लिख जनता को कम्युनिस्टों के विरुद्ध करने की कोशिश

की जाती है। सभा में उनके खिलाफ लोगों को भड़काया जाता है। कैसे भड़काया जाता है–पाटिल साहव कमाठीपुरा के मजदूरों की एक सभा में फरमाते हैं–"कम्युनिस्तांचे वर्तमान पत्र लोकयुद्ध खपतें। कारण तरुण-तरुणियाँ पोरी लोकयुद्ध विकणूया साठी जातात।" इत्यादि-इत्यादि। कितना वड़ा जवाव- देह व्यक्ति और यह है उसका हमारी वेटियों और भाइयों के लिए उद्‌गार।

अगर आप इसके वारे में न कुछ कहें, न कुछ करें तो मजदूर जगत में अभी तक आपकी जो प्रतिष्ठा है, उसको भारी धक्का लगेगा, क्योंकि यह सव कुछ आपके नाम से हो रहा है। पाटिल इस प्रकार की वातें करके हमारे राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन को दूषित बनायें, क्या यह भयंकर अपराध नहीं है ? कमाठीपुरा की मजदूर जनता को हम इसकी गवाही के लिए पेश करने को तैयार हैं। अगर आपकी नजरों में यह अपराधी हैं, तो क्या अपराधी को दण्ड देने के लिए तैयार हैं ? मैं नहीं मानता कि आप इस वात की तरफ से आँख, कान और जवान वन्द करके वैठे रहेंगे। हमारी बात पर आपको विश्वास न हो, तो कमाठीपुरा के मजदूरों से आप पूछें। अगर पाटिल की जवान से आपको संतोष हो जाये, फिर तो खुदा ही खैर करे। लेकिन मैं उसे खुदा पर छोड़ना नहीं चाहता, अगर ऐसा होता तो आपको लिखने की जरूरत नहीं थी। स्त्री जाति का अपमान और उनको वीच में लाकर उन भाइयों का अपमान, जो कि 'लोकयुद्ध' खरीदते हैं, यह आपसे सहन नहीं होगा।

लालवाग की सभा के वारे में आपने सव कुछ जान लिया होगा, मुझे लिखने की जरूरत नहीं है। मैं तो केवल आपको इतना ही विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि कम्युनिस्ट और उनके पक्ष के मजदूर सभा में लाठी- पत्थर लेकर नहीं गये, जव झगड़ा हुआ, तो उन्होंने उन लाठियों को इस्तेमाल किया, जो उनको मारने के लिए लायी गई थीं और अच्छी तरह से इस्तेमाल किया। वाहर से कम्युनिस्ट और उनके साथी मजदूरों पर निशानावाज लोगों के हाथों से पत्थर फिंकवाये गये। कम्युनिस्ट लाठी-पत्थर लेकर नहीं गये। मेरे सामने उनको सख्त हिदायत दी गयी थी कि वह किसी प्रकार से भी हमला न करें, लेकिन किसी के हमले का शिकार भी न वनें। अगर आपको मेरी सफाई पर विश्वास नहीं है, तो मैं मजवूर हूँ।

श्री शंकरराव देव आपके पक्के अनुयायी माने जाते हैं और सत्य-अहिंसा के पुजारी भी। उन्होंने लालवाग की सभा के वारे में एक वक्तव्य दिया है। मैं शंकरराव देव को लालबाग के मजदूरों के सामने खड़ा करके पूछना चाहता हूँ, क्या उनके सामने खड़ा होकर वह यह कहने का साहस करेंगे कि कम्युनिस्ट उस सभा में गुण्डागिरी करने के लिए लाठी और पत्थर लेकर गये थे ? शंकरराव देव के सरासर झूठे वक्तव्य ने समाचार- पत्रों के सम्पादकों पर भारी असर डाला और उन्होंने खूव खुलकर इसके वारे में लिखा। सभा के एक रोज वाद रविवार के रोज 'लोकयुद्ध' बेचनेवालों पर व्यवस्थित रूप से वुजदिलाना हमले हुए और हुए भी ऐसे स्थानों पर जहाँ गुण्डों के अड्डे हैं। लोग खड़े हो तमाशा देखते रहे। जवान लड़कियों के सामने भद्दे इशारे किये जाते हैं, गालियाँ दी जाती हैं और लोग खड़े-खड़े हँसते हैं। नौजवान लड़कों और लड़कियों का अपराध यही है कि वह 'लोकयुद्ध' वेचते हैं। कहा जाता है लोग अपने आप भड़क उठे, यह सरासर झूठ है। अगर देश-प्रेमी जनता भड़क उठी होती, तो वह लोकयुद्धवालों का नामोनिशान मिटा देती, पी. सी. आफिस और सेंटर के आफिस पर धावा करके कम्युनिस्ट नेताओं का खात्मा कर देती, अगर क्रुद्ध जनता का हमला होता तो लड़कों का खात्मा हो गया होता। क्रोधित होकर जनता ने हमला किया कि नहीं, इसे वताने के लिए मैं उदाहरण देता हूँ। रविवार की सुवह को कुछ गुण्डों ने फनसवाड़ी के नाके पर लड़कों से 'लोकयुद्ध' की कापियाँ छीन लीं, उनमें से एक लड़का भागकर सेंटर आफिस में खवर देने गया। छुट्टी का दिन होने के कारण वहाँ इकबाल सिंह के सिवा और कोई नहीं था। वह घटना-स्थल पर पहुँचे। वहाँ लोग जमा थे। उन्होंने लड़कों के बारे में पूछा। इस पर उनके ऊपर कुछ आदमियों ने हमला किया। इकवाल सिंह कम्युनिस्ट पार्टी के सेंट्रल कमेटी के मेम्बर हैं, अमेरिका में इंजीनियर थे। उन्होंने मुकाविला किया। एक गाड़ीवाले के चाबुक से उन पर हमला किया गया। उसी चावुक को छीनकर उन्होंने हमला करनेवालों को पीटा। उस स्थान पर दो हजार आदमी जमा थे, एक आदमी को पिटते देखकर वह तमाशा देखते रहे। जवान दो हजार आदमियों के सामने खाली हाथों–हाथ और लात से गुण्डों की मरम्मत करते अपने वल का परिचय दे रहा था। इससे आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि जनता का इसमें कहाँ तक हाथ हो सकता है।

एक लड़की से 'लोकयुद्ध' की कापियाँ छीनने के लिए एक गुण्डा हमला करता है, लड़की कापियाँ नहीं छोड़ती, जव वह चाकू निकालकर हमला करने चलता है, तो रास्ते चलता एक आदमी चाकू के वार को अपने हाथ से रोककर लड़की को बचाता है। हमला करनेवाला भागने लगता है, लोग उसे पकड़कर पुलिस के हवाले करते हैं। क्या इसे आप क्रुद्ध जनता का हमला कह सकते हैं ? 'लोकयुद्ध' की कापियाँ संख्या में पहिले से भी अच्छी तरह विकती हैं।

कम्युनिस्टों पर राजद्रोही होने का आरोप लगाया जाता है। वह नैतिक दृष्टि से पतित हैं, इस तरह खुल्लम-खुल्ला प्रचार किया जाता है। सभा में लोगों को भड़काया जाता है। समाचार-पत्रों में झूठे वयान देकर जनता को गुमराह किया जाता है, लाठियों और पत्थरों से हमले किये जाते हैं, गलियों में लड़के और लड़कियों पर गुण्डों से हमले करवाये जाते हैं, ताकि वह लोग 'लोकयुद्ध' की कापियाँ वेचने के लिए गलियों में न निकला करें। कम्युनिस्ट पार्टी के कतिपय कार्यकर्ताओं और नेताओं को लोग अच्छी तरह जानते हैं, वह समय-समय पर गली-कूचों में अकेले निकलते हैं, पर किसी पर हमला नहीं हुआ। मैं भी अकेले ही फिरता रहता हूँ, कभी किसी ने मुझ पर हमला नहीं किया। इससे साफ मालूम होता है, यहाँ जनता के भड़कने का सवाल नहीं था, सवाल है लोकयुद्ध की विक्री वन्द करने का, इसलिए गुण्डों का इस्तेमाल किया गया। मदनपुरा के पाँच मुसलमान लड़के 'कौमीजंग' वेचने के लिए निकले, गुण्डों ने उन पर सख्त हमला किया। पाँचों को सख्त चोट आयी। जव इस वात की खवर मदनपुरा की मुसलमान मजदूर जनता को मिली, तो उनके भीतर आग भड़क उठी। अगर समय पर पूरी शक्ति से काम न लेते, तो यह मारपीट हिन्दू-मुसलमान झगड़े का रूप ले लेती। नतीजा क्या होता, यह आप स्वयं समझते हैं। कांग्रेसियों के खिलाफ मुसलमानों में पहिले ही से किस तरह की भावना है, इसे आप अच्छी तरह जानते हैं।

मैंने इतना लम्वा-चौड़ा कच्चा-चिट्ठा लिखकर इस आशा से भेजा है कि आप देश की नाजुक हालत पर खूव गौर करें। हुकूमत ने हमारे ऊपर काफी मुसीवतें लाद रक्खी हैं, वोझ के मारे दम घुटा जाता है। इस पर भी अगर हम और मुसीवत मोल लेते जायें तो यह हमारी अक्ल का दीवाला ही है, सव कुछ देख-सुनकर मेरे दिल में दर्द पैदा हुआ और दुःखी मन को खोलकर आपको दिखाने की कोशिश की। मैंने अपना फर्ज अदा किया। जो वन पड़ता है, करता रहता हूँ। आप देश के नेता हैं। कांग्रेस के कार्यकर्ताओं में कैसी शक्ति है, कैसे साधनों से सम्पन्न हैं, किस प्रकार के व्यक्तियों के समूह के वल से कांग्रेस की शक्ति संगठित हुई है, मुझे इसका पूरा ज्ञान है।

कम्युनिस्टों की संख्या वहुत कम है। उनके पास ऐसी शक्ति नहीं है, कि लोगों को अपनी ओर झुका सकें। पर कम्युनिस्ट पार्टी अपनी तरह की एक निराली शक्ति है। उसके वजन का पता लगाना आसान काम नहीं है। जो उसे कुचलने पर तुले हुए हैं, समझ लें कि वह तवाही की राह पर हैं। झूठे इल्जामों को लगाकर कम्युनिस्टों को वदनाम करना, पत्थर और लाठियों से हमले कर भयभीत कर रोकने की कोशिश करना खतरे से खाली नहीं है। इससे राष्ट्र की मुक्ति का आन्दोलन आगे नहीं वढ़ सकता। इसके कारण वर्षों की अनथक मेहनत से जिस शक्ति को आपने पैदा किया है, वह वरवाद हो जायेगी। वहुत ही कटु सत्य मैंने आपके सामने वड़ी कठोरता से रक्खा। मुझे क्षमा करें, मुझे भूल से बचायें। मेरा यह प्रयास सिर्फ भूल से वचने और वचाने के लिए है। मेरे इस पत्र का जवाव आप दें या न दें, मेरे लिए इतना जानना ही काफी होगा कि मेरा पत्र आपको मिला और आपने इसके भाव को समझ लिया। प्रणाम।

—पृथ्वीसिंह''

1946 में सरदार अब भी अम्बाला में ही रहते थे, पर सौराष्ट्र और बम्बई का सम्बन्ध बिल्कुल छूटा नहीं था। इसी समय (30 अक्तूबर 1946 ई.) गाँधीजी को उन्होंने अपना दूसरा पत्र भेजा था—

''वीसवीं सदी में भारतमाता ने ऐसे अनेक पुत्र पैदा किये जिन्हें उनकी कुर्वानियों के कारण देश अभिमान के साथ याद करता है, लेकिन यह सौभाग्य आपका ही है कि जीते-जी आप अपनी आँखों से अपने प्रयास का फल देख रहे हैं। आपने अपनी जीवन-शक्ति से देश-प्रेम का पौधा लगाया, वह फूला-फला और फल लाया। जो फल आपकी मेहनत के कारण आया है, वह कितना रसभरा और जीवनदायक सावित हो गया, खासकर मेहनतकश

जनता के जीवन में आपकी मेहनत का क्या परिणाम होगा, इसके वारे में चर्चा करने की इस स्थान पर जरूरत नहीं है। फल जरूर आया है और यही एक वड़ा कारण है कि देशवासियों के दिल आपके कदमों में झुक जाते हैं।

आपका जीवन आपकी अपनी नजरों में एक सफल जीवन सावित हुआ है। यही एक कारण है कि अपने जीवन को और ज्यादा सफल और उपयोगी वनाने के लिए आपके मन में यह लालसा लगी है कि मैं सवा सौ वरस तक जीऊँ। इसी वजह से देश के नर-नारी हर साल प्रार्थना करते हैं कि हम आपकी छत्रछाया में आगे से आगे बढ़ते जायें।

सरसरी नजरों से देखने पर सभी को यही नजर आयेगा, जिसका जिक्र मैंने ऊपर किया। इतना लिखने के वाद मैं अपने भावों को आपके सामने पेश करना चाहता हूँ। आपने जीवन के सर्व प्रकार के भोगों को भीगा, सब रसों को चखा, वड़े से वड़े मान के आप पात्र वने और अनेक वार अपमान को भी सहन किया। इन सव वातों पर ध्यान रखते हुए मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ। क्या आप अपने जीवन को सफल जीवन समझते हैं ? वह क्या चीज है जिसके लिए हमारे देशवासी हर साल प्रार्थना करते हैं कि आप सदा जीवित रहें ? किस मनोकामना की पूर्ति के लिए आप सवा सौ वर्ष तक जीवित रहना चाहते हैं ?

आपने अंग्रेजी सरकार को वदी का अवतार समझा था। आपकी पवित्र आत्मा ने उस वदी के अवतार के साथ सहकार करने से इनकार किया था। क्या आज उसकी वदी में कमी आयी है या आपकी पवित्रता में या आपके पैमाने में कुछ फर्क पड़ा है ?

आप एक सच्चे साधक वने थे, सत्य और अहिंसा को आपने साधना चाहा था। इतना ही नहीं, आपकी तो यह भी अभिलाषा थी कि आप जन-साधारण को इस लायक वनायेंगे कि वे सत्य और अहिंसा को साध सकें। क्या आपकी यह मनोकामना पूरी हुई ? जो लक्ष्मी-पुत्र आपके कदमों पर लाखों और करोड़ों की थैलियाँ न्यौछावर करते हैं, क्या वही लाखों और करोड़ों नर-नारियों को अपने पैरों तले नहीं कुचलते ? चुनावों के समय आपकी वफादारी का दम भरनेवाले किस प्रकार के इखलाक (चरित्रवल) का सबूत देते हैं, अपने हरीफों (प्रतिद्वन्द्वियों) को पछाड़ने के लिए किस प्रकार की नीच चालवाजियों से काम लेते हैं, क्या किसी ने आज तक आपका ध्यान इस तरफ खींचा ? जो आज किसी अधिकार-पद पर पहुँचे हैं, या जो जीवन-पोषक और जीवनोपयोगी पदार्थों के मालिक वनकर खड़े हैं, उनमें कितने हैं जिन्होंने आपके सत्य और अहिंसा के मन्त्र का जाप करके उसे जीवन में अपनाया ? क्या आपका ध्यान कभी इस तरफ नहीं गया ? क्या यह हालत सन्तोषजनक है ? क्या आपके मन में यह ख्याल अभी तक कायम है कि जन-साधारण सरमायादारी (पूँजीवाद) दुनिया में सत्य और अहिंसा को अपना सकते हैं ? 27 वर्षों में आपने वह कौन-सी चीज देखी, जिसके कारण आप उस उम्मीद पर कायम हैं।

1942 की जंगे-आजादी (स्वतन्त्रता-युद्ध) की लहर के समय क्या आपके भक्त-जनों ने आपके और कांग्रेस के नाम का जप करते-करते वमों को नहीं वनाया ? क्या पुलिस के खिलाफ शक्ति का उपयोग नहीं किया ? जिन-जिन उपायों को काम में लाया गया, क्या आपने उनके खिलाफ समय पर आवाज उठायी ? कलकत्ता, बम्वई और आज जो बंगाल में हो रहा है और हुआ है, उसे किस नाम से पुकारा जाये ? यह तो एक ऐसी वहशत (जंगलीपन) है, जिसकी मिसाल इतिहास में नहीं मिलती। क्या यह सव कुछ इसी हिन्द में नहीं हुआ, जिसमें 27 वर्षों से आप प्रेम-भाव और अहिंसा का प्रचार कर रहे हैं ? जो वहशत पिछली लड़ाई में हमने यूरोप के मैदान में देखी है, वह तो इसके मुकावले में तुच्छ मालूम पड़ती है, क्योंकि वहाँ वह सव संहार मशीनों द्वारा किया गया। कौन मर रहा है, कैसी मौत मर रहा है, इसे मशीन चलानेवाला नहीं देख पाता, लेकिन यहाँ पर तो शिकारी अपने शिकार को सामने आँखों से देखता है, ज्यादा से ज्यादा साँसत देनेवाले उपायों को इस्तेमाल कर अपने हरीफ (शत्रु) की जान लेता है। खूवी यह है कि उसे मारनेवाला हरीफ समझ लेता है, उसकी मासूमियत और वेगुनाही का उसे जरा भी ख्याल नहीं आता। जिस देश के लोग अपने मासूम और वेगुनाह देशवासियों पर इस प्रकार के अत्याचार कर सकते हैं, क्या कभी ऐसे मनुष्यों से आशा की जा सकती है कि वे आपके मंत्र—सत्य और अहिंसा—को अंगीकार कर सकेंगे ? आप सत्य के साधक हैं, इस मार्ग से आप कभी हट नहीं सकते। मैं तो आपके सामने असली हकीकत

को रखकर आपसे पूछना चाहता हूँ कि 27 साल में आपको किस प्रकार की कामयावी हुई ? मैं इसी वात को दूसरे रुख से देखने की कोशिश करता हूँ। हिन्दू-मुसलमानों के दंगों में जो एक-दूसरे का गला काटने में लगे हैं, हो सकता है उनमें से एक भी ऐसा न हो, जिसने कभी भी आपके भक्त होने का दम भरा हो, इसलिए वह ऐसी वहशत कर सकते हैं। सज्जनता की उनसे आशा नहीं की जा सकती, लेकिन जो आज तक आपके भक्त होने का दम भरते रहे और आज भी वड़े फख के साथ भक्त होने का दावा करते हैं, जव ऐसे भक्तजन सत्ताधारी वने और परदेशी हुकूमत की भारी मशीन जव उनके हाथ में आयी, तो उन्होंने क्या कर दिखाया ? जव एक सत्ताधारी शान्त चित्त से सोचकर किसी को गोली का निशाना वनाने का हुक्म देता है, चावुक से चमड़ी उखाड़ने और लाठियों से सिर फोड़ने का फरमान जारी करता है तो इस किस्म की हिंसा को किस नाम से पुकारा जायेगा ? तैश (क्रोध) में आकर जव एक आदमी हिंसा करता है, तो वह वेवकूफ और पागल की हिंसा होती है और योजनापूर्वक जो हिंसा की जाती है वह जालिम की हिंसा होती है। पागल और अक्लमंद दोनों हिंसा के मार्ग से जा रहे हैं। आपके भक्त सत्ताधीशों ने वम्वई और मद्रास के प्रांतों में योजनापूर्वक गोली चलाने का हुक्म नहीं दिया ? क्या आप इस प्रकार की हिंसा को एक जालिम की हिंसा न कहेंगे ? पर सत्ताधीशों की वहशत के खिलाफ आपने न एक हरफ लिखा और न एक शव्द कहा। क्या हम इससे यह नतीजा निकालें कि जो हिंसा आपके भक्त-जनों की तरफ से की जाती है, उसे हिंसा नहीं कहा जा सकता ? इन सव वातों का उल्लेख करने से मेरा यही मतलव है कि 27 वर्ष में लोगों ने सत्य और अहिंसा को लेशमात्र भी नहीं अपनाया। यदि लोगों ने अपनाया है, तो किस माने में ? क्या आपको इससे सन्तोष है ?

हिन्दू-मुस्लिम एकता

इसकी सिद्धि के लिए आपने सिर की वाजी लगा दी, पर क्या परिणाम हुआ ? आज हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे को जितना जानी दुश्मन समझते हैं, उतना पहिले कभी नहीं समझते थे। उनका एक दूसरे के साथ न मेल-जोल था, खाना-पीना भी एक साथ न था, आपस में रिश्ता न था, पर इससे ज्यादा कुछ फर्क नहीं था। आज एक हिन्दू एक मुसलमान वच्चे के जिन्दा रहने में अपनी मौत समझता है और वैसे ही मुसलमान भी। क्या इतने सालों की आपकी मेहनत का यही फल है ? मुल्क और आजादी का दुश्मन, गुलामी की वेड़ियों में जकड़नेवाला, आज हिन्दू-मुस्लिम दोनों को भड़काकर दोनों की आड़ लेकर उनके पीछे खड़ा हो तमाशा देख रहा है। दोनों को एक दूसरे के सिवाय और कुछ नजर नहीं आता। दोनों ने अंग्रेजों को अपना सहारा और रक्षक मान लिया है। आपसी अविश्वास के कारण जिस परिमाण में दुश्मनी वढ़ती है, उसी परिमाण में अंग्रेजों की जड़ें हिन्द में मजवूत होती जाती हैं।

इस सच्चाई को मानने से कोई इन्कार नहीं करेगा कि अंग्रेज (आज) पहिले से बढ़-चढ़कर शैतानी कर रहे हैं और कुछ स्वार्थी मुस्लिम लीडर उनके हाथ की कठपुतली वने हुए हैं। यह वात मानते हुए मैं आपसे सवाल करना चाहता हूँ--क्या हिन्दू-मुस्लिम सवाल को हल करते समय आपने या आपके सहकारी मित्रों ने कोई ऐसी गलती नहीं की जिसका यह नतीजा हुआ ? यदि गलती की, तो क्या उसे कभी स्वीकार किया या उस गलती को सुधारने का प्रयत्न किया ? क्या यह सच्चाई नहीं है कि आप इस सवाल का कोई हल नहीं निकाल सके ? आप अपनी कोशिश में नाकामयाव रहे, क्योंकि यहाँ पर अंग्रेज मौजूद हैं या आपको इसका हल सूझा ही नहीं ? अगर इसका कोई हल नहीं सूझता तो क्या हम गुलामी के फन्दे से निकल सकते हैं ?

कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने अंग्रेजों की छत्र-छाया में जो हुकूमत की वागडोर सँभाली है, क्या इसी का नाम आजादी है ? 27 वर्षों से आप सत्य और अहिंसा के प्रचार में लगे रहे। हिन्दू-मुस्लिम को आपने भाई-भाई के नाते जोड़ना चाहा, पर आज न लोगों में सत्य रहा, न अहिंसा और न ही परस्पर प्रेम--इन तीनों का अभाव है। इसका क्या कारण है ? आप 27 वर्ष से हकीम वनकर खड़े हैं और वीमार वीमारी के मारे तड़प-तड़पकर प्राण छोड़ रहा है। आपने अपने इलाज में आज तक कहीं गलती नहीं देखी, क्या यह हकीकत नहीं है ? अब भी आप वीमार की नाड़ी पकड़े खड़े हैं सो किस उम्मीद पर ? क्या समय नहीं आ गया है कि आप उसे खुदा

के या किसी दूसरे के रहम पर छोड़ दें ? हकीम की वह दवा किस काम की, जिसे न वीमार खाना चाहता हो और न खाकर हजम कर सकता हो ?

अछूतों का सवाल

इस सवाल को हल करने के लिए आपने अपनी काया तक को निचोड़ डाला। लेकिन फल क्या हुआ ? इसमें कोई शक नहीं, करोड़ों अछूत अपने सिर हृदय से आपके कदमों में झुकाते हैं। इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि करोड़ों अछूत आपके दुश्मन वन गये हैं। आपसे उन्हें कोई आशा नहीं है। अछूत इस प्रकार दो हिस्सों में कैसे वँटे ? क्या उनकी माँगें और दुःख एक प्रकार के नहीं हैं ? आपका आदेश था कि सदियों से सताये जाते इन मजलूमों को प्रेम भरी निगाह से उठाकर, भाई समझकर छाती से लगा लो। इस आदेश का कैसा पालन हुआ ? पिछले चुनाव में कितने जालिमाना तरीके से एक अछूत पीटा गया, क्या आपका ध्यान किसी ने इस तरफ खींचा ? 27 वर्ष से आप इस सवाल के हल में लगे हैं लेकिन अभी तक इसका हल नहीं मिला। क्या इससे आपको सन्तोष है ? क्या इस सवाल का यही हल था, जो आपको सूझा ? इस सवाल का हल ढूँढ़ने में आपके विचार में क्या कोई फेर-फार नहीं आया ? क्या इसके हल की कोशिश आप उसी तरह करते रहेंगे, जैसे कि आज तक करते आ रहे हैं ?

चरखा और खद्दर

गुलामी के कारण देश का शोषण वढ़ा, देश गरीव वना, हर प्रकार की उत्पादक शक्ति घटी। मनुष्य और पशु दोनों की शक्ति में कमी आयी। इसका असर यहाँ तक पड़ा कि धरती माता की भी शक्ति क्षीण हो गयी। देश की इस प्रकार की दर्दनाक हालत देखकर आपने एक ही इलाज वताया। चरखा कातो, खद्दर पहिनो। हजारों ने आपकी इस आवाज को सुना, माना। जिन्होंने कभी एक तिनके के दो नहीं किये, जो रेशम तथा मखमल में लोटते रहे, वह भी चरखा कातकर खद्दर पहिनने लगे। देश-भर के लीडरों ने आपकी आवाज मान ली। लाखों भावुक लोगों ने चरखे खरीदे, क्योंकि आपने देश को यकीन दिलाया था—'चरखे और खद्दर के जोर से हम एक वर्ष के अन्दर ही स्वराज ले लेंगे' आपकी इस वात ने लोगों पर जादू का-सा असर किया। वड़े-वड़े माननीय स्त्री-पुरुषों ने अपने कन्धों पर खद्दर की गठरियाँ लादकर राष्ट्रीय सप्ताह और आपके जन्म दिन पर वेचने के लिए फेरी निकाली। तरह-तरह की युक्तियों से खरीददारों के मन को लुभाकर हर साल लाखों का खद्दर वेचा। जो खद्दर पहिनें और दूसरों को पहिनने के लिए प्रेरित करें, उन्हें आप देश-प्रेमी समझते हैं। यह वड़ी कुरवानी समझी जाती है।

आर्थिक दृष्टि से जव आप इस तरफ ध्यान देंगे और उसी दृष्टि से तौलेंगे, तो आपको ज्ञात होगा कि इतने बड़े प्रयास का फल क्या मिला ? 1942 से पहिले चरखा संघ के द्वारा हर साल एक करोड़ से ज्यादा मूल्य की खादी फरोख्त नहीं हुई। यह है वीस वरस की मेहनत का नतीजा। चरखे और खद्दर की आपने एक फिलासफी रची। उसके प्रचार से आपका केवल यही मतलव था कि देशवासियों के समय का सुन्दर उपयोग हो। आप तो इसके द्वारा समाज का सारा ढाँचा वदल देना चाहते हैं। इस कार्य की सिद्धि के लिए आपने अपनी पूरी शक्ति लगायी। पर परिणाम क्या हुआ ? क्या हिन्द के पढ़े-लिखे समाज ने इसे अपनाया ? आपकी जय वोलनेवाले मजदूरों, दूकानदारों, स्कूलों और कालेजों के लड़कों ने क्या इसे स्वीकार किया ? जिन लक्ष्मी-पुत्रों ने चरखे के प्रचार के लिए लाखों की थैलियाँ आपके कदमों में चढ़ाईं क्या उन्होंने कपड़े के कारखानों को जोर से चलाने के लिए लाखों नर-नारियों की सहायता और करोड़ों रुपयों के वल से मिलों को चलाने की कोशिश नहीं की ? कामयावी ने किसका साथ दिया ? जिस तरफ लाखों कुशल, चतुर व्यापारी असंख्य दलालों के साथ काम में लगे हों और जिनके लाखों लक्ष्मी-पुत्र सहायक हों, उसने उनका साथ दिया। भावना के वशीभूत हो कुछ भावुक स्त्री-पुरुषों की मदद से हजारों और लाखों रुपयों के वल से जो सफलता प्राप्त करना चाहते हों और जिनके पोषक वह हों जिन्हें सूखी रोटी का टुकड़ा भी नहीं मिलता, उन्हें कामयावी नहीं मिली।

अंग्रेजी हुकूमत ने चालबाजियों से और अनेक प्रकार के फरेबों से हिन्द में कपड़े के कारखानों के बढ़ने का काम बड़ी कठोरता से रोका, फिर भी नतीजा क्या हुआ ? क्या कारखाने पहिले से ज्यादा नहीं हुए ? क्या उनकी पैदावार पहिले से ज्यादा नहीं बढ़ी ? क्या चरखे और खद्दर में इसी तरह की वृद्धि हुई ?

आप के भक्त-जन सत्ताधीश बने हैं, वह हुकूमत के बल को इस तरह लगाकर चरखे और खद्दर का प्रचार बढ़ा सकते हैं और बढ़ायेंगे भी, इसमें शक नहीं, लेकिन वह तो हुकूमतों के बल के उपयोग का नतीजा होगा। हुकूमत के फरमान के सामने सिर झुकाकर लोग घर-घर चरखा चलाने लगें, इसका अर्थ तो यह हर्गिज नहीं होगा कि लोगों ने चरखे और खद्दर की आपकी फिलासफी स्वीकार कर ली। मद्रास प्रान्त में आप के एक भक्त ने हुकूमत के बल से मिल उद्योग को रोककर चरखे और खद्दर को बढ़ाने की कोशिश की। यह अपने मनोरथ में कामयाब होगा या नहीं, यह तो समय बतलायेगा। एक बात तो जरूर होगी—मद्रास प्रान्त में जितने भी कपड़े के कारखाने हैं वह जरूर ज्यादा से ज्यादा नफा कमायेंगे, अपने कारखानों की पैदावार को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाकर बाजार पर कब्जा जमायेंगे, पर देश की भूखी-नंगी जनता, जिन्दा रहने के लिए हाथ-पैर जरूर मारेगी। ऐसी हालत में जिस किसी के हाथ चरखा लगा, वह उसे कभी नहीं छोड़ेगा। हिन्द के लाखों नर-नारी जो आज चरखा कातने में और जुलाहे कपड़ा बुनने में लगे हैं, उन्हें अगर कोई यह उम्मेद दिला दे कि तुम्हें अच्छी हालत में इससे अच्छा और ज्यादा मजदूरी दिलानेवाला काम मिल सकता है, तो क्या वे चरखों और खड्डियों को लेकर बैठे रहेंगे ?

खद्दर पहिनना आज लक्ष्मी-पुत्रों के लिए एक फैशन और हुकूमत की वफादारी की वर्दी बन गया है। क्या आपने बम्बई शहर के खद्दर-भंडारों को कभी देखा ? कैसी सुन्दर रीति से रंग-बिरंगा बनाकर खद्दर को सजा कर रक्खा जाता है। और खद्दर बेचनेवाले सुशील और चतुर स्त्री-पुरुषों को कितने पर रखा गया है ? चरखा कातने और कपड़ा बुनने का कार्य करनेवालों को मुश्किल से एक रुपया रोज मिलता है और 5-6 घंटे बेचनेवालों को कम से कम 4-5 रुपये रोज दिया जाता है। देख-रेख करनेवालों को 300 रुपया मासिक तनख्वाह और हिसाब की पड़ताल करनेवालों को 500 रुपये महीना मिलता है। किस प्रकार के लोग उन खद्दर- भंडारों में आकर उसे खरीदते हैं, सूत कहाँ से लाते हैं, इसका पता लगाने पर मालूम होगा कि खद्दर का प्रचार किन में और कैसे हो रहा है।

क्या 27 वर्षों में आप यह नहीं देख पाये कि आप के चरखे और खद्दर की फिलासफी को हिन्द की जनता ने नहीं अपनाया ? क्या इसमें लोगों का कसूर है ? क्या आप अपने उसी हठ पर कायम हैं कि चरखे और खद्दर के अपनाने के सिवाय हिन्द का कल्याण नहीं है ? क्या आप अब तक यही मानते हैं कि जो लक्ष्मी-पुत्र आप को चरखे और खद्दर के प्रचार के लिए लाखों की सहायता करते हैं, वह इसलिए कि चरखे और खद्दर का प्रचार चाहते हैं, इसमें क्या उनका और कोई उद्देश्य नहीं है ? अगर वह कांग्रेस की हुकूमत के बल पर चरखे और खद्दर का प्रचार करना चाहें, तो क्या आप उसे पसन्द करेंगे ? अगर बेकार और नंगे लोग चरखा कातने और खद्दर को पहिनने के लिए मजबूर हों, जिससे चरखों की संख्या और खद्दर की पैदावर बढ़ जाये, तो इसका यह अर्थ नहीं कि लोगों ने आपकी फिलासफी मान ली।

गाय को माता समझने व कहनेवाले हिन्दुओं ने ज्यादा दाम के लोभ में लाखों गायों और बछड़ों को अंग्रेजों के कसाईखानों में बेचा है, अंग्रेजी हुकूमत ने किसी के गाय-बैल को कोई जबर्दस्ती नहीं छीना। अगर बैलों की जगह मशीनों ने न ली, तो जमीन की पैदावार पर इसका कितना भयंकर असर पड़ेगा ? क्या आपने कभी इस बात पर ध्यान दिया ? जनता का खून चूसनेवाली हुकूमत देश में शान्ति के साथ राज करती रहे, तो क्या आप चरखे और खद्दर के प्रचार से लोगों को गरीबी से बचा सकेंगे ?

(1) बदी के अवतार अंग्रेजी सरकार से सहयोग नहीं करना, (2) सत्य और अहिंसा के बल से दुनिया से बदी की जड़ मिटा देना, हाकिम और महकूम (शासित) का भेद मिटाकर मानवता का पाठ पढ़ाना, (3) धर्म और जाति के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच जो वैर-जहर भर कर एक दूसरे का दुश्मन बनाया जाता है—उसकी जगह प्रेम-भाव पैदा कर मानवता के नाते एक दूसरे को भाई-भाई के रूप में मिला देना, (4) सदियों से जो अछूत अनेक प्रकार के सामाजिक जुल्म का शिकार बन रहे हैं, उन्हें प्रेम भरी निगाह से उठाकर छाती से लगा

लेना, (5) चरखा-खद्दर के प्रचार के वल से अपने समाज के सारे ढाँचे को वदल देना—इन सव वातों में वह कौन-सी वात है, जिसमें आपको कामयावी हुई ?

देशवासियों ने आपको 'महात्मा' की पदवी दे वड़े भक्ति-भाव से पूजा की, लाखों-करोड़ों ने आपके चरणों की रज लेकर अपने सिर पर चढ़ाया, आपकी मूर्ति वनाकर खड़ी की, लेकिन आज हिन्द की चालीस करोड़ जनता में से कितने निकलेंगे, जिन्होंने अपने जीवन को आपके आदेशानुसार ढालने की कोशिश की ? हर साल करोड़ों नर-नारी प्रार्थना करते हैं कि आप सदा जीवित रहें, इसमें उनका क्या स्वार्थ है ? क्या वे इसलिए प्रार्थना करते हैं कि आप एक भले आदमी हैं या उनकी केवल यही इच्छा है कि आप जैसे एक सन्त की पूजा करनी चाहिए ? क्या वे हर साल आपके वताए मार्ग पर चलने का इरादा जाहिर करते हैं ? क्या हिन्द की भोली-भाली जनता से आपने कभी पूछा कि तुम किस वात के लिए प्रार्थना करते हो कि मैं सदा जीवित रहूँ ? क्या इसलिए कि जिस हुकूमत को आप वदी का अवतार समझकर देश से वाहर निकालना चाहते हैं, आपकी इच्छानुसार कार्य न करके उसके साथ सहकार करने के लिए आपको मजवूर किया जाये ? जो मार्ग आज तक आप दिखाते आये, उनमें से किसी पर भी लोगों ने चलना नहीं चाहा, लेकिन फिर भी वह चाहते हैं कि आप सदा उनके बीच रहें। तो जो मान वह आप के लिए दिखलाते हैं, उस मान को सरल भाव से स्वीकार कर क्या आप अपने आप को धोखा नहीं देते ? ऐसा करने से आप और उनका क्या लाभ है ?

क्या आपका वतलाया मार्ग कठिन है ? क्या लोग उस पर चलना नहीं चाहते या चल नहीं सकते ? क्रोध नहीं करना, अपने ऊपर अंकुश रखना, प्रेम-भाव से रहना—आप इस प्रकार की तपस्या में लगभग चालीस साल से लगे हैं। स्वयं आपने इसके वारे में कितनी सफलता प्राप्त की ? आप फरमाते हैं कि 2 अक्तूवर 1946 के दिन आपने अपने ऊपर से कावू खोया, क्योंकि एक ऐसी चीज आपके सामने आयी जिसे आप पसन्द नहीं कर सके। आप का 24 घंटे का जीवन एक खास प्रकार का नियमवद्ध जीवन रहता है। कभी-कभी ही ऐसा होता है, जब आपको ऐसी चीज देखनी पड़ती है जिसे आप देखना-सुनना नहीं चाहते और जव कभी वह आ जाती है, तो आप कावू खो वैठते हैं। तव उन वेचारों का क्या हाल होगा, जिनकी आँखों के सामने ऐसी हजारों चीजें आती रहती हैं और अप्रिय वातें सुननी पड़ती हैं ? अपनी इस प्रकार की जिन्दगी का उनके ज्ञान-तन्तुओं पर क्या असर पड़ता होगा ? आप किस आधार पर उनसे यह आशा रखते हैं कि वह सत्य और अहिंसा के नियमों का पालन कर सकेंगे ? 2 अक्तूवर 1946 के रोज आपने अपने ऊपर से कावू खोकर लोगों को भला-वुरा कहा। आप महात्मा हैं, आपकी सव वातों को पी गये, क्रोध एक प्रकार की वीमारी है जो आपको लग चुकी थी। वह वावू राजेन्द्र प्रसाद को नहीं लगी, अगर लग जाती और वह भी वेकावू हो जाते, तो नतीजा क्या होता ? लेकिन राजेन्द्र वावू सव पी गये और किस्सा वहीं खत्म हो गया। पर साधारण समाज आप जैसे महात्मा और राजेन्द्र वावू जैसे भक्तों से नहीं वना है। समाज में तो लोग गुस्से का जवाव गुस्से से देते हैं, जिसके भयंकर परिणामों को उन्हें भुगतना पड़ता है।

देश की राजनीतिक अवस्था

आपके वताये मार्ग पर चलकर देश न आगे वढ़ा और न दूसरे मार्ग पर आपने लोगों को चलने दिया, लेकिन देश आगे वढ़ा जरूर है, देश को कुछ मिला है। वह किसके वल से ? हमने अपने वल से तो कुछ नहीं लिया, यह वात साफ है। तो क्या अंग्रेजों ने सद्भावना से या स्वार्थवश होकर कुछ दिया ? उन्होंने अपनी जड़ को उखाड़ने या मजवूत करने के लिए दिया ? पंडित नेहरू ने अपने एक भाषण में फरमाया है कि हिन्द में अंग्रेजों ने जो राज-विधान वनाया है, वह जनता का पोषण नहीं, वल्कि शोषण करने के लिए ही। अंग्रेजी हुकूमत ने अपने राज-विधान के अधीन रखकर आपको राज-विधान का एक खोखला ढाँचा दिया। उसी ढाँचे के अन्दर अपने को रखकर आजकल आप देश का भावी निर्माण करना चाहते हैं, क्या इसमें आप को कामयावी होगी ?

प्रान्तों और केंद्र में भिन्न-भिन्न दलों के साथ मुकावला करके, चुनाव में जीत हासिल करके जो लोग आये हैं, उनके वारे में आपको यह तो शायद मालूम होगा ही कि किस प्रकार की नीच चालों को काम में लाकर उन्होंने

चुनाव में कामयाबी हासिल की और कितना धन खर्च किया। अनेक कपट भरी चालों से और हजारों रुपयों के बल पर उन्होंने चुनाव जीते। इस प्रकार उन आदमियों का चुनाव हुआ है, जिन्हें हिन्द का विधान बनाना है। जिन्होंने जनता का खून चूसकर जमा किये धन को चुनाव जीतने में खर्च किया, जिनके दिलों में मेहनतकश जनता के लिए कुछ भी दर्द नहीं, क्या ऐसे आदमियों से आप यह आशा कर सकते हैं कि वे ऐसे कायदे-कानून बनायेंगे, जिनसे पीड़ित जनता को लाभ होगा ?

दुनिया की तमाम सरमायादारी (पूँजीवादी) ताकतें रूस को मिटाना चाहती थीं, पर वह मिटा न सकीं। अब वह फिर जोरों से उसी कोशिश में लगी हैं। हिन्द के राजा-महाराजा, जागीरदार-जमींदार-सरमायादार हुकूमतों का साथ देने पर तुले हैं, देश के माननीय लीडर भी उसी कोशिश में लगे हैं। खुशी तो यह है कि पट्टाभि जैसे आपके भक्त-जन भी प्रखरता के साथ उसमें शामिल हैं।···

··· वह चाहते हैं कि अंग्रेजों की पूरी फौजी ताकत हिन्द में उनके भले के लिए बनी रहे। अंग्रेज अपनी फौजों को ज्यादा से ज्यादा मजबूत बनाना चाहते हैं। अगर अंग्रेजों की फौजी ताकत बढ़ती और मजबूत होती गयी, तो क्या इससे हमारी गुलामी की बेड़ियाँ और मजबूत बनेंगी, या टूटेंगी ? हिन्द की रक्षा के लिए रूस के मुकाबले में देशवासियों को कौन-सा मार्ग अपनाना होगा, हिंसा का या अहिंसा का ? और उसमें आपका क्या स्थान होगा ?

आपके भक्त देश के लीडरों पर जो इल्जाम अंग्रेज अफसर लगाया करते थे और जिस तरह उन्हें सजाएँ दिया करते थे, क्या आज सत्ताधारी कांग्रेस लीडर उसी किस्म के इल्जाम लगाकर कम्युनिस्टों को जेलों में नहीं भेजते हैं ? जालिम (अंग्रेज) हुकूमत के सामने जनता के मुजाहिरे (प्रदर्शन) करके गोली का शिकार बनाया करते थे, आज क्या किसानों और मजदूरों के मुजाहिरों को सख्त अपराधी कहकर गोली का निशाना नहीं बना रहे हैं ? क्या यह सब कुछ आपके जीते-जी आपकी आँखों के सामने नहीं हो रहा है ? आपके भक्त-जनों के हुक्म से जब हिन्द के नंगों को गोली का निशाना बनाया जाता है, तब आपका मन क्या कहता है ? क्या आपने इसके खिलाफ कभी अपनी आवाज बुलन्द की ?

पट्टाभि सीतारमैया ने अपने एक बयान में फरमाया है कि अंग्रेज तो हमारे कहने से हिन्द को छोड़कर चले जानेवाले हैं। अब अगर हमें किसी से लड़ना है, तो वह हिन्द के कम्युनिस्टों और उनकी हुकूमत से। इसके लिए हर हिन्दी को सिपाही और हर घर को किला बनाना पड़ेगा। क्या आपका भी यही मत है ? पट्टाभि बड़े देश-भक्तों में गिने जाते हैं, बड़े बुद्धिमान और तजुर्बेकार हैं, आप हमेशा उनको सलाह-मशविरा के लिए बुलाया करते हैं। अगर आपका मत उनसे नहीं मिलता तो आपने क्यों कभी मुनासिब नहीं समझा कि इस किस्म के बयानों के बारे में कुछ अपनी राय प्रकट करते ? क्या हिन्द भी उसी मार्ग से जायेगा, जिससे चीन जा रहा है ? क्या आप जैसे महान योग्य पुरुष उसे उस मार्ग पर जाने से रोक नहीं सकेंगे ?

आज तक आप देशवासियों को ऐसा मार्ग बतलाते आये हैं, जिस पर वे न जा सके, न जाना चाहें और न ही जाने की शक्ति रखते हैं। इतने लम्बे ऐसे तजुर्बे के बाद भी आपने अपना ढंग नहीं बदला। आप बंगाल की पीड़ित बहिनों को राय देते हैं कि विष खा लो। अगर हमारे देश के भाई-बहिनों में यह शक्ति होती कि वह अपनी जान बचाने के लिए विष खा लें, तो वह गुलाम ही क्यों होते ? क्या आपने अपने जीवन के लम्बे तजुर्बे में इस बात को नहीं देखा कि जीवित रहने का मोह बहुत भारी मोह है, हर एक व्यक्ति किसी न किसी लालसा की पूर्ति के लिए जीवित रहना चाहता है।

महात्माजी, आप बुरा न मानें, जो कुछ मैंने लिखा, उसमें मैंने आपके जीवन का पहलू आपके सामने रखा है, जिसे आप शायद न देख सकते हों। मैं आपका भक्त नहीं हूँ, पर मेरे मन में आपके लिए भारी मान है। अगर ऐसा न होता, तो इतना कागज-काला करके आपके सामने आपकी सेवा में पेश न करता।

मैं अपने ढंग से देश की सेवा में लगा हूँ। मजदूरों और गरीब किसानों के जीवन को सुखी बनाना मैंने जिन्दगी का लक्ष्य बनाया है। आज तक मेरे दिल में यह ख्याल रहा करता था कि शायद सेवा करते-करते मुझे अंग्रेजी हुकूमत की गोली का निशाना बनना पड़े या उनके जेलों में पड़े रहकर जीवन बिताना पड़े। आज ढंग

वदला है, मुझे वही गोली और जेल नजर आता है लेकिन उनके हाथों में जिन्हें मैं किसी समय अपना साथी समझता था, जिनकी तरफ सम्मान के भाव से देखा करता था और जीवन में उच्च दिशा प्राप्त क़रने के लिए प्रेरणा लिया करता था।

खैर, जमाना रंग वदलता है और लोग उसके साथ ही अपना रंग भी वदल लेते हैं। मैं अपने ऊपर आज तक कावू जमाकर वैठा हूँ। मैं हिन्द के मजदूरों का हामी और समर्थक वनकर खड़ा रहूँगा। जालिम की चमड़ी का रंग और उसका नाम वदल जाने के साथ मेरी जिन्दगी का लक्ष्य नहीं वदल सकता। यहाँ जो कुछ मैंने आप को लिखा है, उसका मतलव केवल यही है कि आपकी जैसी महान शक्ति का देश के लिए पूरा-पूरा उपयोग हो सके। मैं तो देश का एक नाचीज (तुच्छ) छोटा-सा सिपाही हूँ। छोटा होकर भी यह इच्छा तो है कि भूल का शिकार वनकर मैं कहीं देश का वुरा तो नहीं कर रहा हूँ। यदि यह मालूम हो जाये तो क्या ही अच्छा !

–पृथ्वीसिंह
30-10-46

महात्मा गाँधी द्वारा वावाजी के पत्र का उत्तर

पूना–17-11-46

भाई पृथ्वीसिंह,

आपका पत्र अथ से इति तक पढ़ गया हूँ। दस्तखत तो आपके हैं, लेकिन भाषा आप की नहीं है, न अक्षर आप के हैं। मैंने जोशी जी को तो लिख ही भेजा है। मैं हकीकत जान नहीं सकता हूँ। ईश्वर जो मुझे वतायेगा, सो मैं करूँगा।

आपका
–मो. क. गाँधी

आप लिखते हैं कि नाथ जी को पत्र वतलाया है। अगर वे सव हकीकत के साक्षी हैं तो किशोरलाल जी को भी लिखें, वो शायद तहकीकात करें, अगर नाथ जी माँगेंगे, तो करेंगे। ऐसी मेरी मान्यता है।

–मो. क. गाँधी

वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली

भूमिका

चन्द्रसिंह गढ़वाली की जीवनी कितनी महत्त्वपूर्ण और ज्ञानवर्द्धक है, इसे इस पुस्तक के पाठकों से कहने की आवश्यकता नहीं। सन् 1857 ई. में हमारे सैनिकों ने अपने देश की आजादी के लिए विदेशियों के खिलाफ बगावत का झंडा उठाया था। इसके बाद यही पहली घटना थी, जबकि भारतीय (गढ़वाली) सैनिकों ने अपने देश के खिलाफ अपनी बन्दूकों के इस्तेमाल करने से इन्कार कर दिया। उस वक्त सारा देश अंग्रेजों के खिलाफ था, लेकिन सशस्त्र क्रान्ति के लिए नहीं। यदि उसकी सम्भावना होती, तो इसमें शक नहीं वीर गढ़वाली सैनिक एक-एक कर कटके मर जाते, तभी उनके हाथों से बन्दूकें छूटतीं। पेशावर के इस विद्रोह से प्रेरित होकर नेताजी द्वारा संगठित आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित होने में गढ़वाली सबसे पहिले रहे। आजादी की जो प्रेरणा उस वक्त मिली, उसने द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते ही भारतीय नौसेना में विद्रोह को कराकर अंग्रेजों को दिखला दिया, कि अब तुम्हारे द्वारा प्रशिक्षित भारतीय सैनिक तुम्हारे लिए नहीं बल्कि देश की आजादी के लिए अपने हथियार उठायेंगे। देश में हुई जन-जागृति और भारतीय सैनिकों के इस रुख ने बतला दिया कि अंग्रेज अब फिर भारत को गुलाम नहीं रख सकते। इस तरह पेशावर का विद्रोह, विद्रोहों की एक शृंखला पैदा करता है, जिसका भारत के आजाद करने में भारी हाथ है। वीर चन्द्रसिंह इसी पेशावर-विद्रोह के नेता और जनक थे।

चन्द्रसिंह के रूप में हमारे देश को एक अद्‌भुत जननायक मिला, अफसोस है कि देश की परिस्थिति ने उसे अपनी शक्तियों के विकास और उपयोग का अवसर नहीं दिया। स्वतन्त्रता-संग्राम के सेनानियों की हमारा देश कदर कर रहा है। सन् 1857 ई. के नायकों के स्मारक बनने जा रहे हैं और महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जो महान आन्दोलन छिड़ा, उसके नेताओं का भी पूरा सम्मान करते कोशिश की जा रही है, कि मालूम हो, देश की आजादी का श्रेय केवल उन्हीं को है। खुदीराम बोस, भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद और उनके साथियों की कुर्बानियों पर पर्दा डालने की कोशिश की जा रही है, लेकिन इतिहास उन्हें भुला नहीं सकता, यह निश्चित है। यहाँ हम गढ़वाल के सांस्कृतिक और बौद्धिक नेता श्री मुकुन्दीलाल बैरिस्टर ने मुकदमे के फैसले के 23 वर्ष बाद गढ़वाल के साप्ताहिक 'देवभूमि' (15 नवम्बर 1953) में 'भारतवर्ष की स्वतन्त्रता में गढ़वाली सैनिकों की देन' के नाम से जो लेख लिखा था, उसका एक अंश दे रहे हैं, जिससे मालूम होगा कि पेशावर-काण्ड में गढ़वाली वीरों ने जो असाधारण वीरता दिखलाई थी, उसका प्रभाव पीछे भी कितना पड़ा, और उसमें बड़े भाई का कितना हाथ था :

"अब तक गढ़वाली सिपाही बतौर सिपाहियों के विदेशी शासनकर्ताओं के अधीन अपने लड़ाकेपन का सबूत देते रहे। सन् 1930 में महात्मा गाँधी के असहयोग-अहिंसा शस्त्र की भनक उनके कान तक पहुँची। हवलदार चन्द्रसिंह 'गढ़वाली' आर्यसमाजी था। वह पेशावर की छावनी से शहर में आता-जाता था और जनता के भाव मालूम करके छावनी में पहुँचाता। जो कुछ असहयोग-आन्दोलन के कारण शहर में हो रहा था, उसकी सूचना हवलदार चन्द्रसिंह सिपाहियों को बताते रहते थे। चन्द्रसिंह 'गढ़वाली' के कहने पर सेकेंड रॉयल गढ़वाल रायफल्स के 60 सिपाही व छोटे अफसरों ने इस्तीफे लिख दिये कि हम पेशावर शहर में असहयोग आन्दोलन

को दमन करने जाने के वजाय इस्तीफा दाखिल करते हैं। इस्तीफे का कागज अभी कमांडिंग अफसर के पास पेश नहीं हो पाया था। मामला विचाराधीन था।

" किन्तु जब 22 अप्रैल '30 को सेकेंड बटालियन फालिन की गई, और उनको छावनी से पेशावर शहर में जाने का हुक्म दिया गया, तो सिपाही सशस्त्र खड़े रहे, टस से मस नहीं हुए। गढ़वाली अफसर बगलें झाँकते रहे। जब बड़े अंग्रेज अफसरों को स्थिति का पता लगा, तब खलबली मची। ब्रिगेडियर पहुँचे। सेकेंड रॉयल गढ़वाल रायफल्स की दो प्लाटूनों के साठ सिपाहियों को लारियों पर बैठाकर शहर के लिए रवाना होने का हुकुम हुआ। हवलदार चन्द्रसिंह ने 17 सिपाहियों के इस्तीफे का कागज पेश कर दिया। बाकी सैनिकों के दस्तखत वाला कागज पेश नहीं होने पाया।

" ब्रिगेडियर समझ गया, गढ़वाली सिपाही अब हमारे लिए नहीं लड़ेंगे। उनको हथियार छोड़ने को कहा गया। उन्होंने पहिले इन्कार किया, पीछे विवश होकर क्वार्टर गार्ड में रख दिया। कुछ सिपाहियों ने तो ब्रिगेडियर की ओर संगीन भी कर दी थी, किन्तु गोली नहीं छोड़ी। इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि 60 गढ़वालियों पर म्यूटिनी (विद्रोह, बगावत) का अभियोग लगाया गया। सारी सेकेंड बटालियन काकुल (एबटाबाद) में नजरबन्द कर दी गई। कोर्ट-मार्शल पहले केवल 19 सिपाहियों व अफसरों का हुआ। इन्हीं की जवाबदेही पर सब गढ़वाली पल्टनों का—खासकर सेकेंड बटालियन का—भविष्य निर्भर था। मैं लैन्सडौन से उनकी पैरवी के लिए एबटाबाद कोर्ट-मार्शल के सामने बुलाया गया था। मेरा ध्येय था कि किसी तरह अपने 19 मुवक्किलों की जानें बचाऊँ और रॉयल गढ़वाल रायफल्स की अन्य बटालियनों को हानि न पहुँचने दूँ। स्थिति को देखकर मैंने वही किया, जो एक वकील को अपने मुवक्किल के लिए करना चाहिए। मैंने सारा इल्जाम सरकारी गवाह जयसिंह सूबेदार पर डाला कि उसी ने इनको बहकाया था। इसलिए उन्होंने पेशावर शहर में अशस्त्र लोगों पर गोली चलाये जाने से इन्कार किया और इस्तीफा दिया। इस दलील के कारण विद्रोह का अभियोग ढीला पड़ा, और कोर्ट-मार्शल ने वह सजा नहीं दी, जो म्यूटिनी के लिए उपयुक्त होती, 17 में से केवल 9 छोटे ओहदेदारों को सजा दी गई, बाकी सिपाही छोड़ दिये गये और 60 में से बाकी 43 सैनिकों के खिलाफ मुकदमा नहीं चलाया गया, बटालियन का बाल बाँका नहीं हुआ। रॉयल गढ़वाल रायफल्स की अन्य बटालियन पर भी इस अभियोग का कुछ असर नहीं पड़ा। यह नितान्त गलत है, कि गढ़वाल सैनिकों ने माफी माँगी या झूठ कहा। मैं कानूनी चाल चला। मैंने अपने मुवक्किल सिपाहियों से कहा, कि आप लोग केवल जुर्म से इन्कार कर कहें कि हम कसूरवार नहीं। हमने कोई जुर्म नहीं किया। अपने गढ़ (गढ़वाली) पलटनों को कायम रखने की गरज से मैंने उनकी कार्रवाई को सही बताने का प्रयत्न किया। मैंने अपने मुवक्किलों व गढ़वाली पलटनों के लिए वही किया, जो एक गढ़वाली वकील को करना चाहिए था। मुझे इस बात का गौरव है कि उन्होंने मुझे लैन्सडौन से पेशी के लिए बुलवाया।

" यहाँ पर मैं यह भी कह देना चाहता हूँ, कि मेरी दलील, बहस व वकीली चाल का कोई असर न होता परन्तु ब्रिटिश आफिसर और कमांडर-इन-चीफ खुद चाहते थे, कि संसार को यह पता न लगे कि भारतीय सेना अंग्रेजों के खिलाफ हो गई है। इसीलिए उन्होंने मेरी दलील व बहस पर गौर करके हवलदार चंद्रसिंह 'गढ़वाली' को आजन्म कैद की सजा दी, औरों को आठ वर्ष से दो वर्ष तक के कारावास का दंड दिया। परन्तु सबके सब पूरी सजा भुगतने से पहले ही छोड़ दिये गये।

" श्री चन्द्रसिंह 'गढ़वाली' की हम गढ़वाली यथोचित कदर नहीं करते। वह एक बड़ा महान पुरुष है। आजाद हिन्द फौज का बीज बोनेवाला वही है। पेशावरकांड का नतीजा यह हुआ, कि अंग्रेज समझ गये कि भारतीय सेना में यह विचार गढ़वाली सिपाहियों ने ही पहिले-पहिल पैदा किया कि विदेशियों के लिए अपने खिलाफ नहीं लड़ना चाहिए।

" यह बीज जो हवलदार चन्द्रसिंह ने 1930 में पेशावर में बोया था, उसका परिणाम सन् 1942 में सिंगापुर में हुआ। 3,000 गढ़वाली सिपाही और अच्छे-अच्छे गढ़वाली अफसरों ने देशभक्त सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज में भर्ती होने का निश्चय किया और विदेशी शासकों की सेना के खिलाफ लड़ने और

हिन्दुस्तान को आजाद करने के इरादे से वे मनीपुर के समीप आ गये थे। यह एक मामूली बात नहीं है कि 20,000 भारतीय सिपाही, जो जापानियों के कैदी बने थे, उनमें से 300 गढ़वाली सिपाही थे, जिन्होंने हिन्दुस्तान को आजाद करने का वीड़ा उठाया था।"

इस जीवनी के लिखने में प्रायः सारी सामग्री हमें गढ़वालीजी से मिली। 1936 में बरेली जेल में पहुँचने तक अपनी जीवनी को वड़े भाई ने स्वयं लिखकर भदन्त आनन्द कौसल्यायन को दिया था, जिन्होंने उसे बहुत कुछ सुधार दिया था। पीछे के भी कितने ही वर्षों की जीवनी उन्होंने लिखी थी, लेकिन वह लेखक को मिल नहीं सकी, और बड़े भाई को वारह दिन लेखक के पास रहकर सारी बातें वतानी पड़ीं। 65 वर्ष के हो जाने पर स्मरण-शक्ति का कमजोर हो जाना स्वाभाविक है, लेकिन बड़े भाई की वह उतनी कमजोर नहीं हुई है, और अपने भीतर डुबकी लगाने पर वह कितनी ही घटनाओं को जल्दी ढूँढ़ लाते रहे। प्रकृति की तरफ से उन्हें बहुत अच्छा स्वास्थ्य मिला है, लेकिन जिन चिन्ताओं में उनके यह अन्तिम वर्ष बीत रहे हैं, और मलेरिया और पेचिश से सदा पीड़ित रहनेवाले जिस भावर को उन्होंने अपना अन्तिम निवास वनाया है, उसने स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डाला है।

साथी रमेश सिन्हा और दूसरे साथियों ने पुस्तक के लिखने में सहायता और प्रेरणा दी, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। श्री मंगलदेव परियार ने जिस तत्परता से प्रेस-कॉपी टाइप करके तैयार की, उसके लिए लेखक और पाठक दोनों कृतज्ञ हैं।

—राहुल सांकृत्यायन

मसूरी,
८-10-55

1
बाल्य (1891-1904 ई.)

"हम नहीं आयेंगे, चाहे तोप से हमें उड़ा दो।"

"हम बूढ़ों-बच्चों को मारने के लिए तैयार नहीं।"

ये वाक्य थे उन वीरों के मुँह के ऊपर, जिन्होंने 1930 के अप्रैल में पेशावर में अपने भाई पठानों के ऊपर अंग्रेजों के हुकुम पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया था। एक नहीं, पूरी कम्पनी के भीतर इस तरह के भाव भरनेवाला कौन था ? चन्द्रसिंह।

आज 25 वर्ष बाद सालों अंग्रेजी जेलों में सड़ने के अनन्तर बूढ़े वीर चन्द्रसिंह को उत्तर प्रदेश सरकार ने 14 रुपया मासिक वृत्ति देनी चाही। कितनी विडम्बना ? आइये, उस वीर गढ़वाली के जीवन को पढ़िये, वह एक पुण्य श्लोक का जीवन है, और साथ ही वह किसी भी सुन्दर कथा या उत्तम यात्रा से कम दिलचस्प नहीं है।

अपने जन्म के बारे में चन्द्रसिंह ने स्वयं लिखा है—"मेरा जन्म एक साधारण स्थिति के किसान-परिवार में पौष शुक्ल 15 संवत् 1948 (1891 ई.) को हुआ था। पैतृक वंशावली के विषय में दंतकथाएँ बताती हैं, कि हमारे पूर्व-पुरुषों का निवास सम्भल-मुरादाबाद था। वे चौहान थे। किसी संघर्ष के परिणामस्वरूप हमारे एक पूर्वज गढ़वाल की चाँदपुर गढ़ी में आकर बस गये। हमारा परिवार चौदह पुश्तों से गढ़वाल ही में रह रहा है। लेकिन, हमें अपने से पहले छह पुश्तों का ही ज्ञान है—

दास चौहान (1750 ई. ?)
गल्लू चौहान (1780 ई. ?)
बनचिया चौहान (1810 ई. ?)
कमली चौहान (1830 ई. ?)
जाथलीसिंह (1850 ई. ?)

जाथलीसिंह मेरे पिता हैं। मेरे अतिरिक्त उनके दो पुत्र और एक पुत्री और हैं।"

चन्द्रसिंह का जन्म हिमालय के नयनाभिराम प्राचीन केदारखण्ड और आजकल के गढ़वाल के एक बहुत ही सुन्दर स्थान में हुआ था। गाँव के ऊपर दोनों ओर हरियाली से ढँके ऊँचे पहाड़ हैं, जिनमें और समय भी प्रकृति-सौंदर्य का आनन्द लिया जा सकता है; हर वर्षा में उसकी एक अंगुल भूमि, मखमली हरे कालीन से ढँक जाती है, वसन्त में रंग-बिरंगे फूल सज जाते हैं। बुराँस (रोड्रेनड्रन्) अपने अतिरिक्त फूलों से आमूल ढँक जाता है, जिनको देखकर अप्सराओं को भी एक फूल निकालकर अपने केशों में डालने का लोभ हो जाता है। यदि कालिदास हिमालय के अभिन्न अंग होते, तो वह वसन्त के फूले बुराँस पर ही एक पूरा महाकाव्य लिख सकते थे। बुराँस के पेड़ के अतिरिक्त काफल भी इस भूमि की एक बड़ी सम्पत्ति है। तरुण-तरुणी 'काफल

पाक्यो' कहकर नाच उठते हैं। इसका स्वाद खानेवालों को कम मधुर नहीं मालूम होता। पांगर (चेस्टनट) भी वहाँ के जंगली पेड़ों में है, जो यूरोप जैसी सर्द भूमि में ही पाई जाती है। इससे मालूम है, कि उस गाँव में जिसे हम गर्मी कहते हैं, उसका कभी प्रवेश नहीं होता। सैलू, पयाँर, आँयार, किलमोड़ा, उतिस जैसे वृक्ष-वनस्पति वहाँ देखे जा सकते हैं। सैलू, आँयार, पदम के पेड़ों के वीच में किलमोड़े के पीले फूल वसन्त के अपने रंग को प्रकट करना चाहते हैं।

दो ओर से तीन पहाड़ी नदियाँ आकर मिलती हैं, यहीं त्रोंवेणी (त्रिवेणी) की वस्ती है जिसके नीचे एक काफी बड़ा मैदान है जिसके बीचोवीच तीनों नदियाँ एक होकर अपेक्षाकृत वड़ी नदी का रूप लेती हैं। इस समतल भूमि को तलैया कहते हैं। पहाड़ में सीढ़ी जैसे वनाये कम चौड़े खेत ही अधिक देखने में आते हैं, लेकिन तलैया के लोग वड़े-वड़े चौड़े-चौड़े खेत वना सकते हैं। नदी की धार से छोटी कुलिया निकालकर लोगों ने पंचक्कियाँ लगा दीं। शताब्दियों से पहाड़ की महिलाएँ हाथ से चक्की घुमाकर आटा पीसने से मुक्त हैं। मैदान में अब भी बहुत जगहों में हाथ की चक्कियाँ ही चल रही हैं, जिनसे एक वड़ा लाभ है कि चक्की पर गाये जानेवाले सुन्दर लोक-गीत अब भी वहाँ सुने जा सकते हैं।

रौणूसेरा गाँव यहीं पर पहाड़ की ढलान में बसा है, जिसके पास दो-तीन और गाँव दिखाई पड़ते हैं। इन हरे-भरे जंगलों में बहुत प्रकार के फल-फूल, कन्द-मूल होते हैं। इसीलिए घरों में साग-सब्जी वोने की जरूरत नहीं होती।

ऐसी सुन्दर प्रकृति ने बचपन से ही चन्द्र की आँखों में बसकर क्या प्रभाव डाला होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है।

जाथलीसिंह चन्द्रसिंह के पिता 1936 तक जीवित थे, जिस समय उनकी उमर 90 साल की थी।

अपने पूर्वजों में नाम के भ्रम से दास के बारे में चन्द्रसिंह को खयाल आता है, कि वह दास थे। उनका कहना है, "दासता के चिन्हों को मेरे पिता ने निःशेष किया।" इसमें शक नहीं कि दास चौहान के समय 18वीं सदी के मध्य में दास-प्रथा गढ़वाल में और देश में भी मौजूद थी। 1814 ई. में गोरखा-शासन का यहाँ अन्त हुआ था। अपने शासनकाल में गोरखों ने धन लूटने के साथ-साथ गढ़वाली नर-नारियों को दास के रूप में बेचकर भी पैसा जमा किया। हरद्वार के पास हर की पौड़ी के पास ही गोरखा-सीमा के भीतर दास-दासियों की हाट लगती थी। 1808 ई. में यात्रा करते एक अंग्रेज ने इसका उल्लेख किया है। 1814 ई. में अंग्रेजी सेना के साथ घूमे जे.बी. फ्रेजर ने लिखा है, "गोरखालियों ने लोह-दण्ड से गढ़वाल का शासन किया, जिससे यह देश बहुत शोचनीय स्थिति में पहुँच गया। यहाँ के गाँव जन-शून्य हो गये, कृषि नष्ट हो गई और जनसंख्या अप्रत्याशित रूप से कम हो गई। कहा जाता है, दो लाख गढ़वाली दास-रूप में बेच दिये गये।* –फ्रेजर के उल्लेख अनुसार दो लाख गढ़वालियों को दास बनाकर गोरखों ने अपने 15 साल के शासन में गढ़वाल के बाहर बिकवाया था; और गढ़वाल के भीतर जो बेचे-खरीदे गये वह इनसे अलग थे। पहाड़ में यह दास-प्रथा कितनी दुस्सह रूप में विद्यमान होगी, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। प्रत्यक्षदर्शी अंग्रेज रेपर ने भी 1808 ई. में लिखा था–"हर की पौड़ी की ओर जानेवाले घाट की जड़ में गोरखा-चौकी है, जहाँ पर पहाड़ से दासों को लाकर बेचने के लिए प्रदर्शित किया जाता है। तीन से तीस वर्ष के ये बेचारे अभागे स्त्री-पुरुष सैकड़ों की संख्या में प्रतिवर्ष बाजार में बेच दिये जाते हैं। ये दास पहाड़ के भीतरी सभी भागों से लाकर हरद्वार में दस से डेढ़ सौ रुपये की दर से बेचे जाते हैं।"

जो दास नहीं थे, वह भी अपने मालिकों–सामन्तों या राजाओं के सामने बहुत नीच स्थिति रखते थे, और उनका जीवन अर्ध-दास (सर्फ) जैसा ही था।

दास के पिता की मृत्यु उनके बचपन में हो गई। उनकी विधवा माँ अपने बड़े और छोटे लड़के को लेकर पास की पट्टी ढाइजोली के गाँव पैठानी में चली गई। वहाँ एक ममगाई ब्राह्मण-परिवार में सेवा करते

---

*The Himal.

जीवन बिताने लगी। जवान होने पर दास डाकिया का काम करने लगे। डाकखाने का डाकिया नहीं, अभी तो उसके श्रीगणेश में सौ वर्ष की देरी थी; निजी या राजकीय डाक उस समय भी चलती थी। दास अपनी माँ और भाई को भी पालने लगे। भाई पीछे सलोल गाँव में बस गया, पर उसका वंश आगे नहीं चला।

गढ़वाल पुराने समय से पट्टियों में बँटा था। हरेक पट्टी में कितने ही गाँव होते हैं। कई पट्टियाँ मिलकर एक पर्गना बनाती हैं। गढ़वाल जिले में 12 पर्गने और 89 पट्टियाँ हैं, टेहरी जिले में पट्टियों की संख्या 11 है। ढाइजोली पट्टी चाँदपुर पर्गने में एक अच्छी-खासी पट्टी है। उस समय यह एक भण्डारी राजपूत की जागीर थी। पामा भण्डारी काफी बड़ा जागीरदार था। उसके पास इस पट्टी के अतिरिक्त चोपड़ाकोट–(देवलगढ़ पर्गना), चौथाना (देवलगढ़) और ढौंडियालस्यूँ (मल्ला सलाण) की पट्टियाँ भी थीं। पामा भण्डारी स्वयं ढाइजोली पट्टी के तरपाली ग्राम में रहता था। कुछ समय बाद दास ने हरकारा का काम छोड़कर पामा भण्डारी की नौकरी कर ली।

जागीरदार पामा भण्डारी के रौणू और झाँकरू दो लड़के थे। बड़े होने पर झाँकरू ढौंडियालस्यूँ पट्टी के मेलदार गाँव में जाकर रहने लगा, और रौणू भण्डारी चौथान पट्टी के माँसो-रौणूसेरा में बस गया। दास ने अपने जीवन-भर भण्डारियों की नौकरी बजाई। जब बूढ़े हो गये, तो पामा ने उन्हें रौणू के साथ रौणूसेरा में भेज दिया। पामा की मृत्यु के समय दास ने अपना सिर भद्र कराया था। लेकिन, सिर भद्र कराना दासता का चिह्न नहीं है। जागीरदार के नीचे काम करनेवाले, विशेषकर उनके अर्ध-दास भी ऐसा किया करते थे।

दास के पुत्र गल्लू ने खेती के साथ-साथ पेरने का काम भी शुरू कर दिया। पहाड़ में बहुत-सी वह जातियाँ नहीं मिलतीं, जो देश में मिलती हैं। उदाहरणार्थ यहाँ धोबी नहीं होते, तेली भी नहीं होते। कितने ही और पेशे इच्छा होने पर कोई भी कर सकता है। यद्यपि तेल पेरने की वजह से गल्लू और उनकी सन्तानों को तेली भण्डारी कहा जाने लगा, पर इससे मैदान के तेली जाति का अर्थ नहीं लेना चाहिए। तेल पेरने का काम इस परिवार में चन्द्रसिंह के दादा कमली के समय तक चलता रहा। भण्डारियों के अनुचर होने के कारण इस वंश को भण्डारी कहा जाने लगा। राजस्थान में भी सामन्तों के लग्गू-भग्गू अपने मालिक के कुल का नाम अपने साथ जोड़ते हैं।

चन्द्रसिंह का परिवार पिछली शताब्दी तक अपने को भण्डारियों का अनुचर मानता रहा है।–किसी भण्डारी के मरने पर इनके परिवार के पुरुष भी भद्र होते, भण्डारियों के लिए तेल पेरते··· कहीं जाने पर सेवक के साथ इन्हें जाना पड़ता और··· भण्डारी की तरुण बहू के छूने से परहेज करते।

जाथलीसिंह–चन्द्रसिंह के पिता–बिलकुल निरक्षर थे, पर वह रौणूसेरा गाँव के एक प्रतिष्ठित पुरुष थे। वहाँ के पंचों में उनकी गिनती थी। तेली का काम उन्होंने छोड़ दिया था, और खेती-बारी से ही जीविका चलाते थे। पर अनपढ़ होते हुए भी सुन-सुनकर उनको कितनी ही दवाइयाँ मालूम थीं, और वैद्य के तौर पर आसपास उनकी पूछ थी। जाथलीसिंह का ब्याह लगभग 25 साल की उमर में हुआ था। अपनी माँ के बारे में चन्द्रसिंह ने लिखा है–"मेरी माँ अपढ़ होते हुए भी सुशील, उदार एवं अतिथि-सत्कार परायण थी। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि वीरता के अतिरिक्त मेरे अन्दर जो भी गुण हैं, वह मेरी माता की ही देन है।" जाथलीसिंह बड़े दृढ़ स्वभाव के थे। वह ऐसे आदमी थे, जिनके भीतर कोमलता रहते भी बाहर कठोरता दीख पड़ती है। अनुशासन की अवहेलना वह पसन्द नहीं करते थे, यह हम देखेंगे।

बचपन में चन्द्रसिंह बहुत नटखट और चंचल थे। उनके पितामह कमली गाँव से कुछ हटकर एकान्त स्थान में जाकर बस गये थे, क्योंकि गाँव में रहने की जगह अपने खेतों के पास रहना उन्हें अधिक पसन्द था। पास में जंगल था जिससे गायों-भैसों के लिए भी बड़ा सुभीता था। निर्जन स्थान में पैदा हुए बालक को साथ खेलने के लिए लड़के कहाँ से मिलते लेकिन बालक को तो खेल चाहिए ही। चन्द्र अकेले ही खेला करता था। उसके मनोविनोद का एक रूप यह भी था, कि उधर से आते-जाते आदमी पर पत्थर फेंकता। लोग इससे

बहुत परेशान थे और उसे बुरा-भला कहते।

चन्द्रसिंह को बड़ी प्रसन्नता हुई, जब कुछ दिनों बाद पिता जाथलीसिंह अपने बाप के निर्जन निवास-स्थान से असंतुष्ट हो गाँव में चले आये। गाँव वहाँ से पाँच सौ गज से अधिक दूर नहीं था। चन्द्रसिंह बहुत स्वस्थ बालक था, अपनी उमर के लड़कों में सबसे अधिक ताकतवाला भी था। वह किसी से पिटने-पिटाने के लिए तैयार हो जाता, और अपनी उमर के आसपासवाले को तो पटककर खूब मारता। लोगों ने इस लड़के को "भड़" (भट्ट, वीर) का नाम दे दिया था जो चन्द्रसिंह के आगे के जीवन में बिलकुल यथार्थ सिद्ध हुआ।

गाँव में चन्द्रसिंह की उमर के छोटे-बड़े 12 से अधिक लड़के-लड़कियाँ थे। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि गाँव के भड़ के सामने सिर झुकाने के सिवा उनके लिए कोई चारा नहीं था। यद्यपि वह सबके साथ खेला करता, लेकिन उसके सबसे घनिष्ठ दोस्त थे एक लड़का और एक लड़की। लड़की से विशेष दोस्ती थी। लड़के तरह-तरह के खेल किया करते थे। वह बड़ों को जो करता देखते, उसकी नकल उतारना उन्हें सबसे प्रिय था। यह भी अपनी बारात निकालते, गाना गाते, नाचते। ऐसी ही एक 'बारात' में चन्द्रसिंह और एक लड़की—कलुली की शादी भी हो गई। घरवाले ऐसी शादी को कब मान सकते थे ? पर, खेल के दूल्हा-दुल्हन को एक-दूसरे के घरों में जाने पर भोजन कराते। दोनों की माताओं को यह जोड़ी अच्छी लगती थी, इसलिए वह बड़े प्यार के साथ उन्हें एक साथ खाना खिलातीं। गुड़, खाजे, चिटुनियल, कोनियल जैसे अपने यहाँ के सुन्दर व्यंजन उन्हें प्राप्त होते। एक दिन लड़की के घर में धान रोपने के समय का भोजन—सेरासवार्ड—था। धान रोपने का काम बड़ी जल्दी करना पड़ता है। जैसे ही खेत में पानी भरता है, तुरन्त तैयार पौधों को रोप देना पड़ता है। इसके लिए किसान एक दूसरे की सहायता करते हैं। उस दिन कलुली के पिता के यहाँ 20-25 आदमी धान रोपने के लिए आए थे, जिनको अच्छा भोजन देना किसान अपना कर्तव्य समझते हैं। एक बड़े हंडे में भात पकाया गया था, दाल, सब्जी भी तैयार थी। सब चीज तैयार करके घरवाले किवाड़ में साँकल लगाकर निश्चिन्त थे। "लोग रोपनी करके आयेंगे, और खूब प्रसन्न होकर दाल, भात, साग, चटनी का स्वाद लेंगे।" उन्हें क्या मालूम था कि यहाँ भड़ मौजूद है।

भड़ ने भाँप लिया। उसने अपने लड़के-लड़कियों की पलटन जमा की। किवाड़ की साँकल खोली। फिर सारी पलटन भीतर घुस गई। एक बरतन में दाल-भात-साग सब रख लिया, और सभी वहाँ बैठकर बड़े आनन्द से खाने लगे। जानते थे कि रोपनिहार इतनी जल्दी आनेवाले नहीं हैं। अगर उसी समय वह आ गये होते, तो इसमें शक नहीं कि भड़ और उनकी पलटन को भोज की कुछ दक्षिणा भी मिली होती।

रोपकर लोग घर आये। साँकल उसी तरह लगी थी। दरवाजा खोलकर भीतर झाँका, तो वहाँ बरतन में अब भी कुछ चीजें बची हुई थीं, और इधर-उधर कन्हैयाजी के बालगोपालों की जूठन पड़ी हुई थी। सारा भोजन जूठा हो गया था। लोगों के पेटों में चूहे कूद रहे थे। उनका दिमाग गरम होना ही चाहिए था, जो योग्य ही था। जब मालूम हुआ कि भड़ की बारात का यह भोज था तो सब लोग हँसने लगे। फिर से दाल, भात और तरकारी तैयार की गई, और घण्टे-दो घण्टे बाद उन्होंने भोजन किया। भड़ और उसकी पलटन को अपनी सफलता पर बड़ी प्रसन्नता होनी ही चाहिए थी, खासकर जबकि वे यह सब करके निर्लेप बच गये।

पहाड़ के बच्चों के जितने भी खेल थे, भड़ बड़ी प्रसन्नता से उनको खेलता था। घिनगोड़ी का खेल उसे बड़ा पसन्द था। ढलान में फिसलते हुए पानी में कूदने में आनन्द आता था। आपस में एक-दूसरे के ऊपर गोबर फेंकना उनके लिए केवल होली के लिए नहीं था। गालियाँ भी वह खूब देते, और रोते भी उसी तरह। सभी बातों में, सभी खेलों में भड़ अपने नाम को यथार्थ करते मीर रहता।

20वीं शताब्दी के आरम्भ होने से नौ वर्ष पहले भड़ का जन्म हुआ था। अब वह 20वीं सदी में पैर रख चुका था। उस समय अंग्रेजी सरकार ने नाम करने ही के लिए शिक्षा की ओर ध्यान दिया था। पर, गढ़वाल अपनी पुरानी प्रथा के कारण इसमें अधिक सौभाग्यशाली था। वह उस समय के युक्तप्रदेश (उत्तर प्रदेश) के जिलों में शिक्षा में सबसे बढ़े हुए जिलों में से था। स्कूल कम थे, पर साक्षरों की संख्या काफी थी। प्रत्येक

पिता या बड़ा भाई अध्यापक का काम करता था। सबेरे-शाम को थोड़ी देर के लिए अपने पुत्र या छोटे भाई को बैठाकर कुछ पढ़ाता था। चन्द्र इस वात में भाग्यवान नहीं था, क्योंकि उसके पिता जाथलीसिंह वैद्य होते भी काले अक्षर को भैंस बरावर समझते थे। यदि साक्षर भी होते, तब भी लड़के के पढ़ाने की फुरसत उनको मुश्किल से ही मिलती। घर के काम के अतिरिक्त उन्हें रोगियों के देखने के लिए अक्सर बाहर जाते रहना पड़ता था। पिता अपने बेटे की शिक्षा के लिए बिलकुल चिन्ता नहीं करते थे, लेकिन लड़के में और खेलों की तरह पढ़ाई के खेल का भी विशेष आकर्षण था। गाँव के सबसे बड़े जमींदार जवाहरसिंह थे। वह रोज प्रातः-सायं अपने लड़कों को पढ़ाया करते थे। चन्द्रसिंह ने यह नियम बना लिया कि पढ़ाते समय वहाँ जाकर सुनता-देखता रहे। जवाहरसिंह के लड़के दुद्धी (कमेड़ा) से पटरी पर जो कुछ लिखते, उसको चन्द्र बैठा-बैठा देखता और स्मृति तेज होने के कारण जल्दी याद कर लेता। जवाहरसिंह के घर से लौटने पर वह कोयले या पत्थर से जमीन पर उन अक्षरों को लिखकर स्वयं पढ़ता। जवाहरसिंह भण्डारी–चन्द्रसिंह के खानदानी स्वामी भण्डारी–अपने बच्चों से जव पढ़ाया पाठ पूछते, तो वह उत्तर नहीं दे सकते थे, पर चन्द्र उत्तर दे बैठता। जवाहरसिंह भड़ का उदाहरण देकर अपने लड़कों को वहुत लज्जित करते। एक दिन जाथलीसिंह किसी कार्यवश जवाहरसिंह के घर पर गये। वह अपने बच्चों को पढ़ा रहे थे, और चन्द्र वहाँ बैठा-बैठा सुन रहा था। जवाहरसिंह ने होनहार बच्चे का खयाल करके उसके पिता से कहा–"देखो जाथलीसिंह, तुम्हारा लड़का वड़ा होशियार है, तुम इसे पढ़ने के लिए भेज दो।"

जाथलीसिंह ने इस पर कहा–"आप ही इसे पढ़ा दीजिये।"

जवाहरसिंह बड़े उदार विचारों के थे। उनमें ईर्ष्या-द्वेष विलकुल नहीं था। छोटे वच्चों से वह बड़े प्रेम के साथ बातें करते। सोमवार का दिन था, इसी दिन चन्द्रसिंह पैदा हुआ था, जवाहरसिंह ने अपने लड़के की कलम और पटरी लेकर चन्द्रसिंह के हाथ में दे दी, और उसे अ-आ पढ़ाना शुरू किया। इस समय चन्द्र की आयु दस-बारह साल की रही होगी। तव से एक साल तक जब तक कि जवाहरसिंह जीवित रहे–चन्द्र को उनके शिष्य बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

खिलवाड़ और लड़न्त-भिड़न्त के शौकीन भड़ के स्वभाव में एक यह भी विचित्रता थी कि उसे पढ़ने की बड़ी इच्छा थी। अफसोस है कि उसके लिए वचपन में अवसर नहीं मिला, और आगे भी दूसरे कामों ने समय नहीं दिया। बीच-बीच में जो समय निकल सकता था, उसे चन्द्रसिंह ने इस्तेमाल किया, जिससे उनका ज्ञान काफी विशाल हो गया। सहृदय ठाकुर जवाहरसिंह के मरने के बाद उसे बड़ी निराशा हुई। अब पढ़ने का रास्ता बन्द हो गया। उसी समय उसे पता लगा कि घमतपा में मूसा पादरी लड़कों को पढ़ाया करता है। घमतपा ईसाइयों का गाँव था। 1814 ई. में कुमाऊँ के शासक जब अंग्रेज हुए तो इन ठण्डे-ठण्डे पहाड़ों को देखकर एक ओर उनका खयाल यहाँ गोरा-उपनिवेश बनाने का हुआ, जिसकी थोड़ी-बहुत कोशिश उन्होंने 1857 ई. के स्वतन्त्रता-युद्ध के समय तक की। वह चाहते थे, यहाँ अपने स्वतन्त्र व्यवसाय पर जीविका करनेवाले अंग्रेज उसी तरह बस जाएँ, जैसे दक्षिण अफ्रीका में, जैसे न्यूजीलैंड में। इसी स्वतन्त्र जीविका को कायम करने के लिए उन्होंने इन पहाड़ों में चाय के वगीचे, सेव और दूसरे फलों के उद्यान लगवाये, और नैनीताल के पास कालाढुँगी में लाखों रुपये की पूँजी से लोहे का कारखाना खोला। 1857 ई. में उनकी यह लालसा सदा के लिए विदा हो गई, जवकि उन्होंने देखा, कि हमारे लोगों को खतरे से खाली गोरा-उपनिवेश बसाने की यहाँ सम्भावना नहीं है। दूसरी आकांक्षा कुमाऊँ के अंग्रेज शासकों की यह थी, कि काफिर हिन्दुओं को ईसा का भक्त बनाया जाए। इसके लिए उन्होंने ईसाई-धर्म के प्रचार के वास्ते हर तरह का प्रोत्साहन और सहायता दी। कई दशाब्दियों तक कुमाऊँ के बेताज राजा रामजी–रेमजे–साहब ने ईसाईयत के प्रचार के लिए विशेष ध्यान दिया था। इसी का परिणाम था, जो घमतपा जैसे ईसाइयों के कुछ गाँव भी यहाँ मौजूद थे।

घमतपा के पादरी मूसा के पास आसपास के लड़के पढ़ने जाया करते थे। जवाहरसिंह ने भी अपने लड़कों को पीछे उसी के पास पढ़ने के लिए भेज दिया था। चन्द्र ने अपने बाप से बड़ी प्रार्थना की, लेकिन जाथलीसिंह तो मानते थे–"ओनामासीधम, बाप पढ़े न हम।" वह कब इजाजत देने लगे ? लेकिन, चन्द्र इतने से हिम्मत

हारनेवाला नहीं था। एक दिन बाप की नाराजी की कुछ भी पर्वा न करके वह मूसा के स्कूल में जा पहुँचा। उसके साथियों ने जब सब बातें बतलायीं, तो मूसा ने बिना नाम लिखे, अर्थात बिना फीस लिये, ही चन्द्र को भी अपने विद्यार्थियों में शामिल कर लिया। दिन तो चन्द्र का स्कूल में कटा। शाम को सब लड़के अपने-अपने घर लौटे, लेकिन चन्द्र को जाथलीसिंह की लाल-लाल आँखें याद आने लगीं, और वह घर जाने की जगह पास के एक गाँव में रह गया। रात को माता-पिता ने बहुत खोज की, पर उसका पता नहीं लगा। अगले दिन सबेरे लड़कों को स्कूल की ओर जाते देख वह भी पीछे-पीछे हो गया। गढ़वाल में बड़ी जातवालों में भी कच्ची-पक्की की छुआछूत की मर्यादा देश से कुछ भिन्न है। तिब्बत के लोगों के साथ लड़ाई में महीपत शाह (1615 ई.) ने यह व्यवस्था दे दी थी कि रोटी को शुचि-शुद्ध माना जाय, और उसे बिना कपड़ा उतारे तीनों वर्णों के हाथ से खाया जाय। इस राज-व्यवस्था का लाभ गढ़वालियों ने तब से बराबर उठाया। मूसा के स्कूल में पढ़नेवाले विद्यार्थी दोपहर को खाने के लिए घर से कपड़ों में बाँधकर रोटी लाते थे। वह रास्ते के एक पेड़ पर उसे टाँगकर स्कूल में चले जाते और छुट्टी के समय उतारकर खा लेते। भड़ ने कल दिन-भर नहीं खाया था, रात को उसे भूखे ही सो जाना पड़ा था। रोटियों को पेड़ पर टँगी देखकर उसकी भूख आपे से बाहर हो गई। लड़के वहाँ से जैसे ही आँख से ओझल हुए, भड़ पेड़ पर चढ़ गया और रोटियाँ निकालकर भूख शान्त करके वह भी स्कूल चला गया। रोटियों की तलाश अभी दोपहर को होती, लेकिन जैसे ही भड़ स्कूल में पहुँचा, उसके पिता वहाँ पहुँच गए। गाँव के ठाकुर के लड़के पढ़ने आया ही करते थे। उनसे उन्हें मालूम हो गया था। गुस्सा आने पर जाथलीसिंह का हाथ भी खूब चलता था। भड़ डर के मारे मास्टर के पास दुबककर बैठ गया। अब जाथलीसिंह मास्टर के पास से घसीटकर लड़के को मार कैसे सकते थे ? मास्टर लड़के की तीव्र बुद्धि के बारे में जान चुके थे। उन्होंने जाथलीसिंह से कहा—"तुम्हारा लड़का बड़ा ही होशियार है, इसे मेरे पास पढ़ने दो।" इसका यह असर हुआ कि जाथलीसिंह मान गये। चन्द्र चौथे दर्जे में पढ़ने लगा।

भड़ कुछ महीने तक ही मूसा मास्टर के पास पढ़ सका। रौगूसेरा गाँव में भी एक ब्राह्मण लड़कों को पढ़ाया करता था। उसके पास ब्राह्मण लड़के ही पुण्याहवाचन आदि पुरोहिती की बातें सुबह-शाम सीखा करते थे। मूसा मास्टर के यहाँ जाने की जगह चन्द्र ने अब गाँव के पण्डित के पास बैठना शुरू किया और और लड़कों की तरह बालबोध आदि अनावश्यक पुस्तकें रटता रहा।

जाथलीसिंह को अपने लड़के का पढ़ाई में लगना बिलकुल बेकार मालूम होता था। पढ़ के उसे क्या लेना है ? घर की गाय-भैंसें कौन चराने जाएगा ? आखिर मजबूर होकर भड़ को गाय-भैंस के पीछे पड़ना पड़ा। अब भी उसकी लालसा मरी नहीं। गाय-भैंसों को चरने के लिए छोड़कर वह जहाँ और खेल खेलता, तहाँ कोयले से मिट्टी या पत्थर पर पढ़ी हुई बातों को लिखता रहता। उसकी पढ़ाई आगे तो नहीं बढ़ी, पर इसके कारण वह पढ़ी हुई बातों को भूल नहीं सका।

2

तरुणाई की उषा (1904 ई.)

14 वर्ष की उमर में पहुँच जाने पर माँ-बाप लड़के को कुँवारा कैसे रख सकते थे ? औरों की तरह उन्हें भी जल्दी नाती-पोते देखने की इच्छा थी। चन्द्र के लिए भी उमर में अपने से एक साल बड़ी कलुली* पसन्द की गई। इस उमर में लड़कियाँ लड़के से अधिक तगड़ी दीख पड़ती हैं। साँवली होने के कारण उसे यह नाम मिला था। डील-डौल में अपने से बड़ी देखकर भड़ पहिले भयभीत होने लगा। सचमुच ही उसे देखकर उसका

* 'कलुली' नामक बाल सखी नहीं, एक अन्य लड़की।—संपा.

शरीर सूखने और पीला पड़ने लगा। पिता की दवा ने जब कोई काम नहीं किया, तो वह दूसरे वैद्य के पास गये। उसने दूध-पाक बनाकर खिलाने के लिए कहा। बीसों रुपये खर्च हुए, जब जाकर चन्द्र का शरीर सँभला।

इस समय की बहुत-सी कटु स्मृतियाँ चन्द्र को याद हैं, जिनमें कितनी ही उसी की नहीं, बल्कि गढ़वाल-कुमाऊँ की जनता को भोगनी पड़तीं। कुमाऊँ में उस समय तीन और अब चार जिले थे—अल्मोड़ा, नैनीताल, गढ़वाल (और टेहरी)। 1814 ई. तक पहिले अपना और पीछे नेपाल का शासन इस भूभाग पर रहा। 1814 ई. में अंग्रेजों ने इसे हाथ में लिया और लोगों की हालत को बेहतर बनाने की कोशिश नहीं की। पहाड़ में बदरीनाथ-केदारनाथ के रास्तों को छोड़कर और जगह दुकानें भी कम थीं, और मंडियाँ तो सौ-सौ मील पर पड़ती थीं। लोग दो-दो, तीन-तीन हफ्ते की मंजिल मारकर वहाँ से नमक-गुड़ और दूसरी चीजें लाया करते थे। ऐसी यात्रा को गढ़वाल में ढाँकर कहा जाता है। नदी-नालों को पार करते छुरे की धार जैसी पगडंडियों से चलना पड़ता था, जिसके कारण कितने ही जाकर फिर नहीं लौटते थे। इसलिए लोग अपने बाल-बच्चों से अलग होते आँसू बहाकर घर से निकलते थे, और देवी-देवताओं की मनौती मानते थे।

साधारण जनता का जीवन बहुत कष्टमय था। अंग्रेजों ने शासन की बागडोर सँभाली, पर पुरानी दुस्सह प्रथाओं को जारी रक्खा। राजाओं के समय के जागीरदार, थोकदार, नेगी, भण्डारी, जोशी जिस तरह मनमानी करते थे, वह नये रूप में अब भी वर्तमान थी। सबसे बढ़कर तीन प्रथाएँ गढ़वाली जनसाधारण के लिए अत्यन्त दुस्सह थीं—(1) बारदास्त, (2) कुली या उतार, (3) दस्तूर।

1. बारदास्त या ब्रदास—जब कोई बड़ा राजकर्मचारी या उसका चपरासी भी किसी गाँव में आता, तो गाँव के लोगों का यह कर्तव्य था कि उनकी बारदास्त करें, अर्थात जिउनार के लिए दही, दूध, घी, नमक, मसाला, गुड़, लकड़ी, पानी, बरतन ही नहीं, बकरे—शिकार—अण्डे, मुर्गी उनके खाने के लिए तथा उनके घोड़ों के लिए घास-दाना मुफ्त जमा करके दे। यही नहीं, डेरा डालने के लिए उन्हें घास-फूस काटकर छप्पर तैयार करना पड़ता था। फिर उनके कपड़े धोना, जूठे बरतनों को साफ करना सारी सेवाएँ बिना किसी हिला-हुज्जत या मजूरी के करनी पड़ती थीं।

2. कुली या उतार—अपने यहाँ आए अफसरों और उनके आदमियों के बोझों को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचा देना अर्थात बेगार को कुली या उतार कहा जाता था। आदमी चाहे बड़ी जात का (बीट) हो या छोटी जात का (डोम), वह अफसरों के जूठे बरतन, मुर्गी-अंडे, यहाँ तक कि पाखाने के गमले को भी उठाकर ले चलने से इन्कार नहीं कर सकता था। 12-14 मील पर दूसरा पड़ाव होता था, जहाँ पहुँचा आना अनिवार्य कर्तव्य था। बाहरी अफसरों के ही नहीं, बल्कि गाँव के प्रधान, पट्टी के पटवारियों, जंगलात के फारेस्ट गार्डों, अफसरों के चपरासियों, अमीनों, एक जगह से दूसरी जगह भेजे जानेवाले कैदियों के भी असबाब को लेकर उन्हें 10-15 मील ही नहीं, अल्मोड़ा, पौड़ी, नैनीताल तक जाना पड़ता था। चाहे इसके लिए उन्हें एक महीना घर से बाहर रहना पड़े, लेकिन उसकी कोई मजूरी नहीं मिलती थी, खाने के लिए भी घर से ले जाना पड़ता था।

3. दस्तूरी—बहुत-से कानून में अलिखित कर देने पड़ते थे, जिन्हें दस्तूरी कहा जाता था। ये कर थे—

1. सोणिया सेर घी—श्रावण में प्रतिवर्ष सेर-भर घी गाँव के थोकदार या हिस्सेदार (जमींदार) को देना पड़ता था।
2. नमकसर—मार्गशीर्ष में ढाँकर से लौटकर थोकदार को नमक देना पड़ता।
3. बेटमासा—बेटी की शादी पर एक रुपया…।
4. देवी-देवता की पूजा के लिए बकरा मारने पर एक रान थोकदार को देनी पड़ती थी।
5. साग, तरकारी आदि हरेक नई चीज में से मालिक को कुछ देना।
6. दूध मुफ्त देना।
7. टीका पीढ़ा—हरेक त्योहार और श्राद्ध के समय मालिक को कुछ देना।

8. बेगार—मालिक के खेती या घर बनाते समय मुफ्त जाकर काम करना पड़ता।

9. घोड़आना—सयाना या थोकदार के नया घोड़ा खरीदने पर एक आना प्रति रुपया मालगुजारी पर देना।

10. मुंडन—मालिक के मरने पर हर एक पुरुष को सिर मुड़ाना पड़ता।

इसमें शक नहीं कि ये प्रथाएँ तालुकदारों और विहार के जमीदारों की जमींदारियों में भी पाई जाती थीं, पर वे उतनी कठोर नहीं थीं। अंग्रेज यह सब जानते थे, लेकिन वह उनको हटाना नहीं चाहते थे। बारदास्त और कुली-उतार से तो बड़े-बड़े अफसर भी लाभ उठाने के लिए तैयार थे। कोई इन नाजायज माँगों को पूरा करने से इन्कार कैसे कर सकता ? यदि किसी ने ऐसी हिम्मत की, तो उसके खिलाफ कड़ी रिपोर्ट कर दी जाती। फिर गरीब किसान को जुर्माना, तलवाना आदि दण्ड भोगने के लिए तैयार होना पड़ता। कोई बहाना लेकर जो बेचारों पर मार-पीट पड़ती, उसकी तो गिनती ही नहीं।

आप बीती बारदास्त सुनिए। चन्द्र उस समय 13 साल से अधिक का नहीं था। गढ़वाल का डिप्टी-कमिश्नर अपनी मेम के साथ देडोविनसर के जंगलों में शिकार खेलने के लिए आया। सारा गाँव उसकी बारदास्त में लग गया। पूरी आवभगत की गई। पास के डाकवँगला में वह ठहरा था। साहव शिकार के लिए जंगल चला गया, मेम बँगले में रह गई। यह किसी को मालूम नहीं था। गाँव का एक बेवकूफ नंगा कूदते हुए वँगले के सामने से गुजरा। मेम ने उसे देख लिया, और इसे अपना अपमान समझा। साहव के आने पर उसने इसकी शिकायत की। जिले के सबसे बड़े अफसर डिप्टी-कमिश्नर और सो भी अंग्रेज के सामने यह गुस्ताखी सचमुच अक्षम्य थी। गाँव के सभी आदमियों को सामने खड़ा किया गया। मेम उस आदमी को पहचान न सकी। गाँव-भर को पौड़ी में डिप्टी-कमिश्नर की अदालत में हाजिर होने का हुकुम हुआ। पौड़ी में जाने पर उन्हें वहाँ से 20-22 पड़ाव दूर जोशीमठ से भी आगे तिब्बत के सीमान्त पर नीती जाने का हुकुम हुआ। खाने की चीजें पीठ पर लादे सारा गाँव नीती गया। साहब उनके मुकदमे का जल्दी फैसला नहीं करना चाहता था। वह चाहता था, इनकी खूब साँसत कर दी जाय। नीती जाने पर हुकुम हुआ कि इसका फैसला पौड़ी में मेम साहब करेंगी। साथ का खर्च खतम हो गया था। घरवालों की चिट्ठी आई, कि खाने-पीने की चीजें, पैसा-कौड़ी लेकर पौड़ी आओ। लोग पीठ पर सामान लादे पौड़ी की ओर दौड़े। सबका दिल काँप रहा था : मेम न जाने क्या दण्ड दे। रौणूसेरा गाँव का गौरीदत्त ब्राह्मण अपने जादू-टोने के लिए कुछ ख्याति रखता था। उसने चूल्हे की मिट्टी, ओखल की मिट्टी, चक्की की मिट्टी, अँगोछे का गरदा सब जमा करके कागज में एक पुड़िया बाँधी, मन्तर पढ़कर उसे ठीक कर लिया। फिर कहा, "यदि यह पुड़िया अदालत में बैठे साहब के ऊपर फेंक दी जाय, तो उसकी मत बदल जाएगी, और लोग दण्ड से बच जाएँगे।" लेकिन, डिप्टी-कमिश्नर के ऊपर भरे इजलास में पुड़िया की मिट्टी फेंकना शेर के मुँह में हाथ डालने से कम नहीं था। सबने ना कर दिया। 13 वर्ष के भड़ को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने सोचा—'मैं भड़ काहे का यदि अपने लोगों के लिए इतना भी न कर सकूँ।' उसने न आव देखा न ताव, वह गौरीदत्त से कह बैठा—"लाओ, पुड़िया मुझे दो। मैं साहब के ऊपर फेंक दूँगा।"

लोग रसद-पानी लेकर पौड़ी पहुँचे। साहव अपने बँगले पर ही मुकदमा देखना चाहता था, क्योंकि मेम साहब को भी उसमें सहायता देनी थी। लोग बाहर इंतिजार कर रहे थे। एक मेज के किनारे दो कुर्सियों पर डिप्टी-कमिश्नर और उनकी मेम बैठी थी। अपराधियों की पुकार हुई, वह साहब के सामने आने लगे। काफी भीड़ थी। भड़ ने इसी बीच में पास पहुँचकर साहब और मेम के ऊपर वह पुड़िया झाड़ दी। उनको क्या आशा हो सकती थी, कि पहाड़ी भी इस तरह का साहस कर सकते हैं। चपरासी हाथ बाँधे साहब और मेम की खिदमत में खड़े थे, पर उनका भी ध्यान नहीं गया, कि छोकरा आकर यहाँ क्या कर रहा है।

सचमुच ही गौरीदत्त की जादू की पुड़िया सच्ची साबित हुई। साहब ने फैसला सुनाते हुए कहा—"तुमने बड़ा कसूर किया है। मेम साहब तुम लोगों पर मेहरबानी करती हैं। प्रत्येक आदमी को पाँच रुपया तलवाना का दण्ड दिया जाता है, और गाँव के दोनों मालगुजारों—जमींदारों—की बन्दूकों का लाइसेन्स जब्त किया

जाता है। तुम्हारे ऊपर बड़ी रियायत की जा रही है। यदि फिर ऐसा कसूर किया, तो बहुत सख्त सजा दी जाएगी।"

लोगों को इतने सस्ते छूटने की आशा नहीं थी। फाँसी की सम्भावना न भी हो, तो भी कालेपानी या लम्बी कैद का उन्हें डर था। तलवाना भरा, सब घर की ओर चले। लोगों ने सस्ता छूटने का कारण गौरीदत्त की जादू की पुड़िया को समझा। लेकिन, पुड़िया भी धरी रह जाती, यदि भड़ ने जान पर खेलकर साहस न दिखलाया होता। सबने जादूगर और भड़ को कन्धे पर उठा उन्हें छाती से लगाया। सबके मुँह से दोनों के लिए सराहना के शब्द निकल रहे थे। हँसते-खेलते घर लौटे। जाथलीसिंह अपने बेटे की बहादुरी की प्रशंसा सुनकर फूले नहीं समाते थे। सारा रौणूसेरा भड़ की बड़ाई कर रहा था, उसकी कीर्ति गाँव तक ही सीमित नहीं रही। वह चौथान पट्टी से बढ़कर चाँदपुर पर्गने में छा गई। डिप्टी-कमिश्नर के ऊपर जादू की पुड़िया फेंकना, कितना साहस का काम था। लेकिन, यह सब बारदास्त-प्रथा का प्रताप था।

एक और घटना है। भड़ एकाध साल और बड़ा हो गया था।

चौथान पट्टी में बुंगीधार एक बड़ा ही सुन्दर स्थान है, जहाँ पर साहबों और ऊँचे अफसरों का पड़ाव अक्सर पड़ा करता था। एक बार वहाँ सड़कों के एक इंजीनियर साहब आए। दो दिन तक लोगों ने बुंगीधार में उनकी बारदास्त या षोड़सोपचार पूजा की। तीसरे दिन सुनाया गया—साहब यहाँ से थैलीसैणा जाएँगे, इसलिए मासों के सात गाँवों के जितने भी कुली हैं, चूल्हे के पीछे एक के हिसाब से डाकबँगले के सामने हाजिर हो जाएँ। 4 बजे का समय था, अर्थात अभी पौ नहीं फटी थी। पटवारी, गौकेदार गाँव में चिल्ला उठे—उठो, उठो, चलो, चलो। बँगले के पास 80 आदमी हाजिर हो गये। उन्होंने बँगले के भीतर के सारे बोझों को बाहर किया। केवल इंजीनियर साहब ही का सामान ढोना नहीं था, बल्कि उनके अमलों और चपरासियों की भी सेवा करनी थी। सब सामान अलग-अलग बोझों में बाँध लिये, और उन्हें ढोने के लिए आये कुलियों में बाँट दिया गया। भड़ का दुर्भाग्य समझिये या सौभाग्य, उन्हें 12-16 मुर्गियों का एक टोकरा मिला। बोझा हल्का देखकर चन्द्र को प्रसन्नता हुई। मुर्गियों का टोकरा उठाकर चला। चपरासी डंडा लिये पीछे-पीछे था। पहाड़ में बोझ सिर पर नहीं, पीठ पर उठाया जाता है। यह अधिक वैज्ञानिक भी है, क्योंकि इससे भार शरीर के अधिक अंगों में बँट जाता है, लेकिन मुर्गियों का टोकरा सिर्फ सिर पर ही ले जाया जा सकता था। टोकरे में छेद थे। मुर्गियों का कुड़कुड़ाना कोई कर्ण-मधुर नहीं था। उनकी बीट छेद-से निकलकर चन्द्र के सिर और देह पर गिर रही थी, बदबू भी बहुत थी। मुर्गियाँ सजीव थीं। वह ढोनेवाले की सुविधा के अनुसार बैठ नहीं सकती थीं। कभी एक ओर खिसकतीं तो टोकरा उधर को नै जाता। उधर सँभालते-सँभालते वह दूसरी तरफ चली जातीं, और फड़फड़ाने लगतीं। कुछ ही दूर जाते-जाते चन्द्र की नाक में दम आ गया और सँभालते-सँभालते भी टोकरा जमीन पर गिर पड़ा। चन्द्र ने जल्दी-जल्दी उठाया, लेकिन चपरासी की नजर पड़ चुकी थी। चपरासी का डंडा पीठ पर पड़ने लगा, अनेक गालियों की बौछार हुई। चन्द्र को सबसे ज्यादा डर था, कोई मुर्गी मर गई तो दंड भुगतना पड़ेगा। सौभाग्य से कोई मरी नहीं। टोकरे को सिर पर उठा देने का सवाल था। चपरासी था पहाड़ी ही, लेकिन ब्राह्मण था। वह भला मुर्गियों के टोकरे में कैसे हाथ लगाता ? यदि आज वह गाँव में रहता तो कुली बनकर जाता, सारा ब्राह्मणत्व रहते भी उसे सिर पर मुर्गियों का टोकरा उठाकर चन्द्र की तरह ही ले जाना पड़ता। गाँववाले उसे बड़े आदर के साथ चपरासीजी कहते थे। साथ के कुली सब आगे चले गए थे। थोड़ी देर वहाँ रुकना पड़ा, जब दूसरा मुसाफिर आया तो चपरासीजी ने हुकुम दिया—इस टोकरे को कुली के सिर पर उठा दो। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पड़ाव पर पहुँचने तक चन्द्र ने बड़ी सावधानी बरती, चपरासीजी को हाथ और जीभ हिलाने का मौका नहीं दिया। पड़ाव पर दस पैसे मिले, और शाम को थक के चूर-चूर होकर चन्द्रसिंह घर आया। माँ ने रोटी बनाकर खाने के लिए बहुत जगाया, लेकिन उस थकावट में उसकी नींद कहाँ खुल सकती थी ?

अल्हड़ जवानी के कुछ पहले एक और बात घटी। कोई अंग्रेज शिकार करने के लिए इन जंगलों में आया। अंग्रेज चाहे सरकारी नौकर हो या दूसरा, हिन्दुस्तानियों के लिए सभी सम्राट के अंशावतार थे, और

उनकी सेवा के लिए गाँववालों को तरह-तरह की मुसीबतें उठानी पड़ती थीं। अंग्रेज ने बाघ मारा था। पड़ाव में आकर उसने खिंची हुई खाल को धूप में सूखने के लिए रखवा दिया। शौकीन शिकारी ने बड़ी सावधानी से बाघ की मूँछों और नाखूनों को बचाकर खाल में रक्खा था। भड़ के जोड़ीदार धर्मदत्त ब्राह्मण लड़के ने कहा—"चन्द्र, जिस आदमी के पास शेर के नाखून और मूँछें रहें, उसके पास भूत-जिन् फटक नहीं सकते।" भड़ वैसे तो बड़ा निर्भीक था, लेकिन वह जानता था, कि मेरी निर्भीकता आदमियों पर ही चल सकती है। भूत-पिशाच से उसे बहुत भय लगता था। रात-बिरात एकान्त में जाना ही पड़ता, जहाँ किसी भूत के मिल जाने की सम्भावना थी। उसने सोचा, यदि नाखून और मूँछें मिल जायँ, तो काम बन जाय, और मेरा हर तरह का भय जाता रहे। जिसने डिप्टी-कमिश्नर के ऊपर जादू की पुड़िया डाली, उसके लिए बँगले के किसी छोर पर सुखाये जाते बाघ-छाल के नाखून और मूँछें उड़ाने में कितनी देर लगती ? भड़ ने तेज चाकू से चार नाखून काट लिये और मूँछें भी। आधा धर्मदत्त को दिया, आधा अपने पास रख लिया। लेकिन, साहब की चोरी कहीं पच सकती है ? साहब ने गाँव के सभी लोगों को बुलवाकर गिनती ली। जिन्होंने कुछ नहीं किया था, उनको क्या डर था ? भड़ और धर्मदत्त को तो 'चोर की दाढ़ी में तिनका' था। लोगों ने बतलाया, चन्द्रसिंह और धर्मदत्त नहीं हैं। चपरासी इन दोनों के पीछे दौड़ा। गाँव के मालगुजार-जमींदार के घर पर दोनों को बुलवाया, और हाथों में हथकड़ी डालकर पूछा—"तुम दोनों ने शेर के नाखून और मूँछें उखाड़ लिया। क्यों, है न ?"

डर के मारे दोनों ने हाँ कर दिया। फिर चपरासी ने कहा—"तो लाओ, वह कहाँ हैं।" भूत-पिशाच से बढ़ करके कोई दानव उनके सिर पर था, इसलिए नाखून-मूँछें लाके दे दीं। पर, इतने से छुटकारा कहाँ मिलनेवाला था ? चपरासी दोनों को पीटते हुए साहब के पास ले चला। दोनों के परिवार के लोग रोने-पीटने लगे। भड़ की माँ ने समझा, अब बेटे का प्राण नहीं बचेगा। वह बेटे के प्रति बाप के रुख को पसन्द नहीं करती थी। समझती थी, उसके हृदय में पुत्र का स्नेह नहीं। इस आफत से रुपये ही बचा सकते थे। बेचारी ने अपने सारे जेवरों को पति के सामने रखकर गिड़गिड़ाते हुए कहा—"अगर तुम्हारे पास रुपये नहीं हैं, तो लो इन जेवरों को बेचकर मेरे लड़के को छुड़ा लाओ।" बाप बेचारा तंग आ गया था। उसने जल-भुनकर कहा—"जाने दो इसको जेल में। अगर यह मर जाता, तो अच्छा है। इसने हमारे नाम पर धब्बा लगाया।"

चपरासी भड़ और उसके साथी को साहब के सामने ले गया। नाखून और मूँछ मिल तो गए, लेकिन क्या वह फिर खाल में लग सकते थे ? वह अपने ड्राइंगरूम में रखने के लिए इस खाल को तैयार कर रहा था, और लड़कों ने उसको नकटी स्त्री का सौन्दर्य बना दिया। गुस्सा बहुत था, दोनों को खूब पिटवाया। शायद गरीबी पर तरस आया और आठ-आठ आना जुर्माना करके छोड़ दिया। भड़ को बड़ी लज्जा उस दिन मालूम हुई, जमीन में गड़ा जा रहा था। लेकिन उसने चोरी करने की नियत से यह काम नहीं किया था। भूत-पिशाच का डर तो रहता ही था, साथ ही जन्मजात साहस ने उसके हृदय में लहर मारी और वह इसे कर बैठा।

गढ़वाल की भूमि अपने प्राकृतिक सौन्दर्य में अद्वितीय है। वहाँ गर्मियों में ठण्डे रहनेवाले स्थान भी हैं, और बड़े शिकारों की बहुतायत भी है। इसलिए वायसराय तक बड़े-बड़े अंग्रेज शिकार के लिए आया करते थे। जब सड़कों के इंजीनियर के लिए 80-80 कुलियों की जरूरत पड़ती थी, तो बड़े साहबों की शिकार-यात्राओं में लोगों को क्या-क्या भुगतना पड़ता होगा, इसे आसानी से समझा जा सकता है।

प्रथम उड़ान

भड़ कुछ अधिक सयाना हो गया। नौकरी-चाकरी के लिए पहाड़ी लोग इधर-उधर जाया ही करते हैं। वह शरीर से हृष्ट-पुष्ट था। पिता उसकी कोई इच्छा पूरी होने नहीं देते थे। घर के काम में उसका मन नहीं लगता था। कभी सोचता—"सब छोड़-छाड़ के साधु हो जाऊँ।" कोई साधु आता, तो उसके पास जाकर बड़ी लालसा-भरी आँखों से वह पूजा-पाठ को देखता। लेकिन किसी साधु ने उससे नहीं कहा—"आओ बच्चा, हम तुझे चेला बनाते हैं।" और कोई रास्ता न देखकर भड़ एक दिन घर से भाग निकला। उसके साथ एक दूसरा

लड़का भी हो गया। दोनों की इच्छा थी, मसूरी पहाड़ पर नौकरी-चाकरी ढूँढ़ने की। पौड़ी पहुँचने पर साथी की हिम्मत आगे बढ़ने की नहीं हुई, और वह न जाने कहाँ गया, उसका फिर कभी पता नहीं लगा। पौड़ी से भड़ हरद्वार पहुँचा। ऋषिकेश में जाने पर हैजे ने धर दवाया। कै और दस्त होते-होते वह बेहोश होकर गंगा के किनारे एक साधु की कुटिया के सामने पड़ गया। साधु ने शायद हैजे की यही चिकित्सा समझी : चन्द्रसिंह को आधा शरीर पानी में और आधा वाहर करके गंगा में फेंक दिया। थोड़ी अफीम और प्याज का पानी मिला-मिलाकर देता रहा, घंटे-घंटे भर पर चन्द्र के पैरों को देखता था। कै-दस्त वन्द हो गये। तीसरे-चौथे दिन उसने अपने को मौत के पंजे से वाहर निकला देखा। लेकिन अभी उसमें चलने-फिरने की ताकत नहीं थी।

खाने-पीने का कोई इंतिजाम करना जरूरी था। चन्द्र के हाथ में पाँच रुपये का एक चाँदी का कड़ा था, उसे दो रुपये में वेच डाला। किसी तरह दो-तीन दिन उससे गुजारा हुआ। वह वदरी-केदार की यात्रा का समय था। अगर उसने कोशिश की होती, तो ऋषिकेश में भी कोई काम मिल जाता, लेकिन पहाड़ी बुद्धू को अभी आदमी बनने में देर थी। वह माँगता-खाता किसी तरह श्रीनगर पहुँचा। हैजा सिर्फ चन्द्र ही के लिए नहीं आया। उस समय इन पहाड़ों में इसका बड़ा प्रकोप था। इसके कारण पण्डों को गुमाश्ते और यात्रियों को कुली नहीं मिल रहे थे। केदारनाथ के एक पण्डे से चन्द्र की मुलाकात हो गई। उसने लड़के को समझदार देखा और 60 रुपये पर ठेका करके अपने 90 यात्रियों की एक मण्डली का पथ-प्रदर्शक वना दिया। चन्द्र का काम था यात्रियों को भटककर दूसरी जगह जाने न दे। हर एक पण्डा चाहता है कि सभी यात्री मेरे हो जायँ। सवाल दक्षिणा का होता है। पण्डों ने भारत-भर में अपने यजमानों को जिलों और गाँवों के अनुसार बाँट रक्खा है, लेकिन पैसे के लोभ में वह दूसरे का अधिकार भी छीनने के लिए तैयार हो जाते हैं। हर एक यात्री को यह पता नहीं रहता, कि हम किसी पण्डे की वही में यजमान के तौर पर दर्ज हो चुके हैं। इस छीना-झपटी से बचने के लिए पण्डे अपना कोई गुमाश्ता यजमान यात्री के साथ कर देते हैं। यात्रियों को भी इससे काफी लाभ रहता है, क्योंकि गुमाश्ता हरएक चट्टी पर यजमानों के खाने-पीने-टिकने का इंतिजाम कर हर बात को बतलाता चलता है।

चन्द्र जिन 90 यात्रियों की मण्डली को लिए केदारनाथ की ओर वढ़ रहा था, वह किसी विधवा रानी की थी। हर पड़ाव पर मण्डली आने से कुछ पहिले ही पहुँचकर वह वहाँ टिकने का सारा प्रबन्ध करता, यह ध्यान रखता, कि उनको और विशेषकर रानी साहिवा को कोई कष्ट न हो। श्रीनगर से चलकर कई दिनों में वह 11000 फीट के ऊपर वसे केदारनाथ धाम में पहुँचे। यद्यपि चन्द्र प्राचीन केदारमण्डल और आधुनिक गढ़वाल में पैदा हुआ था, लेकिन इन बर्फानी जगहों को देखने का उसे कभी मौका नहीं मिला था। उसकी कल्पना भी इस सौन्दर्य के वारे में कुछ नहीं बतला सकी। उसे क्या मालूम था, कि यहाँ की अद्भुत प्राकृतिक छटा जितना महत्त्व रखती है, उससे कम महत्व इस मन्दिर का नहीं है, जो आज से आठ-दस शताब्दियों पहिले बना था। उसने भी दूसरे यात्रियों की तरह भक्तिभाव से केदारनाथ की पूजा की। सर्दी बहुत थी, इसलिए कोई यात्री केदारनाथ में ज्यादा ठहरना नहीं चाहता था। मण्डली फिर वहाँ से रवाना हुई। वह उषीमठ आई–जहाँ केदारनाथ के रावल-महन्त गर्मियों में रहते हैं। नीचे देश से आये हुए यात्रियों की जिज्ञासाएँ इस पुण्य-भूमि के सम्बन्ध में अनेक हुआ करती थीं, जिनकी तृप्ति करना पंडा या गुमाश्ता का काम है। चन्द्र अकेले ही ऐसा गुमाश्ता नहीं था। दूसरे गुमाश्तों से उसने भी कितनी ही बातें सुन ली थीं, जिन्हें वह अपने यात्रियों को बतलाया करता। इस तजर्बे का उसे अधिक लाभ होता, यदि आगे भी वह गुमाश्तगीरी करता रहता। लेकिन, तब चन्द्र वह काम कैसे कर सकता था, जिसे उसे अपने जीवन में करना था।

उषीमठ से चल चन्द्र की मण्डली चमोली आकर हरद्वार से आनेवाले मुख्य रास्ते पर पहुँच गई। फिर जोशीमठ होते हुए वह वदरीनाथ पहुँचे। बदरीनाथ से कुछ मील आगे वसुधारा का सुन्दर जल-प्रपात है, जहाँ बहुत लोग थकावट के मारे जाना नहीं चाहते। लेकिन, इस मण्डली ने वहाँ तक जाने का साहस किया। चन्द्र ने भी उस नयनाभिराम दृश्य को अपनी आँखों से देखा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस यात्रा से

चन्द्र को बहुत लाभ हुआ। अब हिमालय का कोई भी भव्य रूप उसके लिए अनदेखा नहीं था। बदरीनाथ से मण्डली के साथ वह कर्णप्रयाग लौटा। यहाँ से देश जाने का दूसरा रास्ता है, इसलिए श्रीनगर-ऋषिकेश का रास्ता छोड़ यात्री मेहलचोरी होते खंडसर पहुँचे। गढ़वाल छोड़कर अल्मोड़ा जिला में दाखिल यात्रियों को अब चन्द्र की उतनी जरूरत नहीं थी, और वह भी छुट्टी लेना चाहता था। उसकी सेवाओं से रानी इतनी प्रसन्न हुईं, कि उन्होंने 60 की जगह 130 रुपये दिये। यह कमाई कम नहीं थी।

रुपयों को लेकर चन्द्र घर चला गया। माँ-बाप लड़के के भागने से निराश हो गये थे और अब उन्होंने खोये लड़के के साथ इतने रुपये को भी हाथ में आये देखा। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। चन्द्र अब अपने को बदरीनाथ धाम से लौटा एक यात्री समझता था। देश में होता, तो चारों में सबसे कठिन धाम की यात्रा समाप्त करके आने के लिए लोग उसे उतनी ही सम्मान की दृष्टि से देखते, जैसे हज कर आये आदमी को मुसलमान समझते हैं। पहाड़ में भी बदरीधाम की महिमा कम नहीं मानी जाती। गाँव के लोग बार-बार उससे इन पुण्य तीर्थों के बारे में पूछते और वह उसके वर्णन करने में न थकता।

चन्द्र का ब्याह अपने से एक वर्ष बड़ी लड़की से चौदह साल की उमर में ही हो चुका था, यह हम बतला चुके हैं। अब चन्द्र 1909-10 सन् में 18-19 वर्ष का था और कलुली 19-20 वर्ष की। कलुली अपने पति से कम हृष्ट-पुष्ट नहीं थी। चन्द्र की साढ़े साती थोड़े ही दिनों तक रही और वैद्यराज के दूध-पाक से वह फिर स्वस्थ हो गया। जंगल में दादा का बनवाया हुआ मकान अब भी था। माँ-बाप ने पुत्र और वधू को गायों-भैंसों के साथ वहीं भेज दिया। गर्मियों में वहाँ ढोरों के लिए गोशाला बना दी जाती। तरुण-दम्पती वहीं रहते गो-सेवा करने लगे। पशुओं को चराने के लिए दूर जंगल ले जाते। जब और कोई न रहता, तो तरुण-तरुणी तरह-तरह से मनोविनोद करते, खूब कुश्ती करते। एक दिन वह ऐसे स्थान में थे, जहाँ ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की छाया, और थोड़ी-सी समतल जमीन थी। वर्षा होने लगी, पानी उस समतल-सी जमीन में समा गया, वहाँ कीचड़ हो गयी। दोनों कुश्ती लड़ने लगे, कीचड़ उछल-उछलकर उनके ऊपर पड़ रही थी। उन्होंने तब तक पर्वाह न की, जब तक कि पूरे थक नहीं गये। हार-जीत के लिए उन्हें उतनी चिन्ता नहीं थी। खेल से उन्हें बड़ी प्रसन्नता थी। उतारे कपड़ों को उन्होंने पहन लिया।

पहिले कलुली को देखकर चन्द्र को भय लगता था, वह उससे विरक्त-सा था, लेकिन अब दोनों में बड़ा प्रेम था। वह साथ मिलकर एक छोटी-सी गृहस्थी चला रहे थे। गोपालों का जीवन उन्हें बहुत मधुर मालूम होता था। उनका समय अपने काम और प्रेम में बड़ी अच्छी तरह बीत रहा था। बाद में चन्द्र के जीवन में कुँवरी, गौरी और भागीरथी—तीन और स्त्रियाँ भी आईं। कलुली जवानी में ही सिधार गई, जिससे उसका प्रेम चन्द्र के हृदय में और भी जम गया।

3

फौज में (1914 ई.)

20वीं शताब्दी के एक दर्जन वर्षों के बीतने के बाद प्रथम महायुद्ध की छाया पड़ने लगी। गढ़वाली लोग अपनी वीरता के लिए गोरखों जैसी ही ख्याति रखते थे। अंग्रेज उनमें से अधिक से अधिक को अपनी फौज में खींचना चाहते थे। तरुणों के हृदयों को आकृष्ट करने के लिए इसी समय चौखुटिया, गनाई आदि स्थानों में पलटनों का प्रदर्शन किया गया; जिनको देखकर कितने ही तरुणों के मन में फौज में भरती होने की आकांक्षा पैदा हो सकती थी, पर उससे बेगार में जो लोगों की तबाही हो रही थी, इसको कौन जानता था। जब कोई गढ़वाली सैनिक किसी गढ़वाली परिवार में आता, तो बारदास्त-प्रथा के अनुसार उसका बहुत स्वागत किया जाता। जब अपने ही जिले के तरुण सैनिकों को अच्छे कपड़े पहनकर बैण्ड के साथ घूमते देखता, तो कौन

तरुण था, जिसके मुँह में पानी न आ जाता। चन्द्रसिंह के हृदय में भी उसी समय फौज के प्रति आकर्षण पैदा हो गया।

यूरोप के पूँजीवादी राष्ट्र दुनिया की मंडियों को बाँट चुके थे। जर्मनी बाँट के समय पीछे रह अब आधुनिक ढंग के उद्योग-धन्धों में यूरोप के किसी देश से भी पीछे न रहते अपने को मंडियों से वंचित देख रहा था। उसको अपने सैन्य-वल और विद्याबल का भी अभिमान था। वह क्यों बर्दाश्त करने लगा, कि दूसरे यूरोपीय पूँजीवादी देश दुनिया की सारी मंडियां को अपने हाथ में रक्खें और मेरे लिए सब जगह 'प्रवेश निषिद्ध' की तख्ती लटकी मिले। मंडियों पर अधिकार अब तलवार के बल पर ही हो सकता था। 20वीं शताब्दी के दोनों महायुद्धों की लड़ाइयों का असली कारण यही था। चन्द्र ने प्रथम महायुद्ध की लड़ाई के कारण के बारे में यह भी सुन रक्खा था–"हंगरी के कुछ शाहजादे आस्ट्रिया गये। वहाँ के किसी वदमाश ने उन शाहजादों को मार डाला। इस पर हंगरी सरकार ने आस्ट्रिया सरकार के सामने दो माँगें पेश कीं : 'या तो हंगरी की पुलिस को आस्ट्रिया में मारे गये अपने शाहजादों की हत्या के तहकीकात के लिए जाने दो, या अपने आला अहलकारों को हमारे यहाँ मुकदमे के लिए भेज दो। अगर यह नहीं किया, तो लड़ाई के लिए तैयार हो जाओ।' ऊपर की दोनों शर्तें आस्ट्रिया को मंजूर नहीं थीं, इसलिए दोनों मुल्कों में लड़ाई छिड़ गई। जर्मनी ने हंगरी की मदद के बहाने आस्ट्रिया पर धावा बोल दिया। पर वीच में पहाड़ों के होने के कारण रास्ता नहीं मिला। इस पर जर्मनी ने बेल्जियम और फ्रांस से रास्ता माँगा। वेल्जियम ने रास्ता नहीं दिया, तो उसे कुचलकर जर्मनी ने फ्रांस में दाखिल होना चाहा।"

आस्ट्रिया के युवराज और युवराज्ञी की सराजीवा में हत्या हुई थी। उसने पहले ही से तैयार बारूद की मेगजीन में चिनगारी का काम किया। फिर सराजीवावालों पर आस्ट्रिया के चढ़ दौड़ने को उसका सहायक रूस चुपचाप देख नहीं सकता था। आस्ट्रिया अकेले रूस का मुकाबला नहीं कर सकता था। उसकी पीठ पर जर्मनी हुआ और पहिले से ताना-बाना तैयार था, इसलिए रूस के साथ फ्रांस और इंग्लैण्ड भी शामिल हो गये। इस प्रकार इस युद्ध ने विश्व-युद्ध का रूप धारण किया। इन्हीं वातों को ऊपर के शब्दों में कहा गया है।

जर्मनी बड़ी तेजी के साथ बढ़ा। उसके पास अपार जनवल था, इसी के कारण अपार सेना भी थी। इंग्लैण्ड के सैनिक अब भी अपने मित्रों की तरह बड़ी तेजी से कट रहे थे। हिन्दुस्तानी सेनाएँ मैदान में भेजी जाने लगीं और उन्हें बढ़ाने के लिए बड़े जोर-शोर से रंगरूट भरती किए जाने लगे।

चन्द्रसिंह के गाँव के भी दो-तीन आदमी सेना में थे। आने पर वह टेढ़ी टोपी लगाकर छैल-छबीले बन गाँव में घूमते। चन्द्रसिंह उन्हें ईर्ष्या से देखने लगे। सिपाहियों ने कहा, "चलो तुम भी पल्टन में भरती हो जाओ। यहाँ क्या इस कीचड़ में फँसे हो ! वहाँ अच्छा खाने को, अच्छा पहिनने को, और देश-विदेश की मुफ्त-सैर करोगे।" चन्द्रसिंह को सैर करने का चस्का लग चुका था। वह पहाड़ के भीतर ही कुछ ऐसी चीजों को देख चुका था, जो उसे अपने यहाँ नहीं मिलती थीं। देश-विदेश तो और भी अधिक आकर्षक होंगे।

1 सितम्बर 1914 की सुबह का समय था। मस्तुसिंह हवलदार–पीछे सूबेदार–रंगरूटों को नापने के वास्ते हाथ में लम्बी लाठी लिये रौणूसेरा में आया। चन्द्रसिंह का घर गाँव में पहिले ही पड़ता था। हवलदारजी दरवाजे पर आये, माता-पिता सत्कार में जुट गये। जलपान कराया गया, फिर भोजन के बारे में पूछा गया। हवलदार ने चावल स्वयं पकाकर खाने की बात कही। बाप ने हुकुम दिया–"चन्द्रसिंह, तुम हवलदारजी के लिए चौका-बरतन तैयार करो, खाने की चीजें रख दो।" चन्द्रसिंह ने चूल्हा-चौका ठीक कर दिया। चौके में दाल-चावल रख दिये, बरतन-पानी का जुगाड़ कर दिया। हवलदारजी अपनी रसोई बनाने लगे और चन्द्रसिंह वहाँ हाथ बाँधे सेवा के लिए बैठ गये। चन्द्रसिंह ने सोचा–शायद हलवदारजी मुझे भी भरती कर लें। उसने बड़ी नम्रता से पूछा–

"हवलदारजी, क्या आप सिपाहियों की भरती करते हैं ?"

"हाँ, हम इसीलिए यह लाठी लेकर घूम रहे हैं।"

"क्या मुझे भी भरती कर लेंगे ?"

"भरती तो कर सकता हूँ, लेकिन क्या तुम्हारे पिता मेरे साथ तुम्हें जाने के लिए राजी होंगे ?"

चन्द्रसिंह की बाँछें खिल गईं और उसने बड़े उत्साह के साथ कहा–

"हवलदारजी, आप माँ-बाप की बातें छोड़ दीजिए। सिर्फ यह बतलाएँ, कि मुझे भरती कर लेंगे न। मैं किसी तरह से आपके पास आ जाऊँगा।"

"हाँ, भरती करने का जिम्मा मैं लेता हूँ। तुम मेरे पास पहुँच-भर जाओ।"

"आप मुझे अपना रास्ता-भर बतला दें, और यह कि मैं कहाँ आपसे मिलूँ ?"

"मैं यहाँ से ढाइजोली पट्टी होते पौड़ी जाऊँगा, फिर पौड़ी से सीधे कालोडाँडा (लैन्सडौन)–स्थान पर रहूँगा।"

चन्द्रसिंह हवलदारजी से मिलने के लिए अधीर हो उठा। वह लैन्सडौन तक की प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। उसने कहा–"मैं ढाइजोली में आकर आपसे मिलूँगा।"

हवलदारजी भोजन करके चले गये, और चन्द्रसिंह अपने भागने की तजवीज सोचने लगा। उसे अगले दिन अवसर नहीं मिला, लेकिन 3 सितम्बर 1914 को बड़े तड़के ही वह घर से निकल पड़ा। उस दिन वह ढाइजोली पट्टी नहीं पहुँच सका, और चोपड़ाकोट के कनियार गाँव में रात के लिए ठहर गया। अगले दिन चलकर शाम के वक्त ढाइजोली पट्टी के नवगाँव नामक गाँव में हलवदार मस्तुसिंह से उसकी मुलाकात हुई। वहाँ 48 रंगरूट और भी भरती होकर हवलदारजी के साथ थे, जो सभी लोड़ब, खंडसर और ढाइजोली पट्टी के वाशिन्दे थे। चन्द्रसिंह को बहुत प्रसन्नता हुई इतने रंगरूटों को देखकर और साथ ही यह जानकर कि हवलदारजी मुझे लेने के लिए तैयार हैं।

उसको सबसे बड़ा डर था कि कहीं बाप पीछे-पीछे न चला आए। लेकिन, सौभाग्य से प्रकति ने उसकी बड़ी सहायता की। 3 सितम्बर की शाम को ही मूसलाधार वर्षा शुरू हुई, तो लगातार पाँच दिनों तक रही। ऐसे समय में पहाड़ी नदी-नालों को पार करना बिलकुल असम्भव है। पुल टूट गए थे, पहाड़ के ऊपर से चट्टानें गिर रही थीं। जाथलीसिंह भला ऐसे समय बेटे की खोज में निकलने की कैसे हिम्मत कर सकते थे ? जब वर्षा बन्द हुई, तब तक हवलदारजी अपने रंगरूटों को लिये पौड़ी के रास्ते 11 सितम्बर के सबेरे लैन्सडौन छावनी पहुँच चुके थे। उसी दिन हवलदार ने रंगरूटों को 2-39 गढ़वाली पलटन के दफ्तर के सामने एक लाइन में साहब के सामने खड़ा कर दिया। उसने एक-एक को देखा, और कुछ को छोड़कर सभी को पास कर दिया। अगले दिन अस्पताल में रंगरूटों की डाक्टरी हुई। इसमें भी सिर्फ दो छाँटे गये। उसी दिन कमांडिंग आफिसर के सामने पेश हुए, और रंगरूटों को अलग-अलग कम्पनियों में बाँट दिया गया। चन्द्रसिंह को 2-39 गढ़वाली राइफल की छठी कम्पनी के 12वें सेक्शन में रख दिया। उनके साथ उनके जीवन-भर के परममित्र ढाइजोली पट्टी के ही निवासी गुमानसिंह पँवार को भी रक्खा गया। चन्द्रसिंह का रेजीमेन्टल नम्बर 1900 था और गुमानसिंह का 1901। चन्द्रसिंह ने अपने मित्र के बारे में लिखा है–"गुमानसिंह सच्चा और सज्जन आदमी है। हम सात साल एक साथ रहे। इसमें शंक नहीं, कि हम एक माँ-बाप के बेटे नहीं थे, लेकिन प्रेम में सगे भाइयों से कम नहीं थे। हर प्रकार से हम एक दूसरे की मदद करते थे। मार्च 1920 में घर का कारबार सँभालने के लिए गुमानसिंह को रिजर्व में नाम लिखाकर घर चला आना पड़ा।"

लैन्सडौन छावनी गढ़वाल में एक ऊँची पहाड़ी रीढ़–कालोडाँडा–के ऊपर बसी है। यहाँ उस समय गोरखों की दो और गढ़वालियों की दो पलटनें रहा करती थीं। 1815 ई. में गोरखा-अंग्रेज-युद्ध की समाप्ति के बाद सतलुज से काली तक का हिमालय का भूप्रदेश अंग्रेजों के हाथ में आया। युद्ध में गोरखों ने जिस बहादुरी से अंग्रेजों का मुकाबला किया, उसके कारण अंग्रेजों ने उनकी सैनिक उपयोगिता को समझ लिया। उसके बाद उन्होंने अल्मोड़ा जिले में प्रथम गोरखा राइफल पलटन को संगठित किया। यही पहिली गोरखा बटालियन थी। पीछे तो एक समय 108 गोरखा बटालियनें अंग्रेजों की सेना में थीं। जब गोरखा राइफल संगठित हुई, तो उसी में गढ़वालियों को भी भरती किया जाने लगा। गढ़वाली सैनिकों का महत्त्व अंग्रेज गोरखों से कम नहीं मानते थे। तब से प्रायः 80 वर्ष तक गढ़वाली गोरखा पलटनों में ही भरती हुआ करते थे। पिछली शताब्दी के अन्त में गढ़वालियों की अलग पलटन खड़ी की गई, और 1897 ई. में गढ़वालियों को गोरखा पलटनों से निकालकर अपनी पलटन में शामिल करके कालोडाँडा–लैन्सडौन–में रख दिया गया। पहिली गढ़वाली

पलटन का नाम था 1-39 गढ़वाल राइफल।* पीछे लैन्सडौन में सात सक्रिय (एक्टिव) और एक रंगरूटी बटालियन रहने लगी।

15 सितम्बर 1914 को चन्द्रसिंह को घर से भागे सिर्फ बारह ही दिन हुए थे। उसी दिन उनका घर का कपड़ा उतार दिया गया, और पहनने के लिए जाँघिया, खाकी कमीज और चमड़े का फीता लगी गोरखों की काली टोपी-वर्दी मिली। उन्हें निम्न चीजें भी दी गईं–3 कम्बल, 1 दरी, 2 जोड़ा बूट, 2 जोड़ा तस्मा, 2 कमीज, 2 खाकी जाँघिया। इन्हें फ्री क्लोदिंग (मुफ्त पोशाक) कहते हैं। इनके अतिरिक्त 1 चारपाई और 1 सन्दूक भी मिली, जिनके दाम के तौर पर 15 रुपया तनखा से काट लिया गया। वर्दी के अतिरिक्त 1 काला कोट, 2 सफेद जाँघिया, 2 सफेद कमीज और 1 काली टोपी निजी पोशाक के तौर पर मिली, जिसका मूल्य 18 रुपया भी तनखा से कटनेवाला था।

16 तारीख को सुवह दस रंगरूटों के साथ चन्द्रसिंह को सिपाही फतेहसिंह के सुपुर्द किया गया। उसने नंगे पैर रंगरूटों से परेड करानी शुरू की। एक महीने में परेड में रगड़-रगड़कर उन्हें फालिन–पाँती से खड़ा–होना, ड्रेस करना, नम्बर बोलना, दाहिने-बाएँ घूमना, मार्च टाइम करना–(खड़े होकर निश्चित समय के अनुसार पैर चलाना), आदि सिखा दिया गया। दूसरे महीने की शिक्षा में उन्हें बूट-पट्टी पहनाकर राइफल की जगह डंडा पकड़ाकर कवायद कराई गई। नौ महीने तक उनकी शिक्षा हुई। अव वह राइफल का अच्छी तरह इस्तेमाल कर सकते थे, उसके पुर्जों को जानते थे और सफाई कर सकते थे, निशान लगाना, लक्ष्य की दूरी नापना, गोली चलाना आदि जान गये। स्काउट ड्रिल, राइफल की कवायद के साथ चानमारी प्लाटून रिले, कम्पनी ड्रिल, बटालियन ड्रिल, विशेष अवसरों (सेरेमोनियल) की कवायद जान गये।

इन्हीं नौ महीनों में उन्हें सैनिक इंजीनियरिंग–तार लगाना, कैम्प लगाना, झंडी की पहचान करना, पहाड़ी और मैदानी लड़ाई, मशीनगन, बम और संगीन की शिक्षा, शारीरिक व्यायाम सिखलाए गए। उन्होंने लेफ्टिनेन्ट, कप्तान, मेजर, लेफ्टिनेन्ट कर्नल, कर्नल, कई तरह के जेनरल और फील्ड मार्शल तक के दर्जों और उनके कामों का ज्ञान प्राप्त किया। इसमें शक नहीं, नौ महीनों में जितनी वातें वहाँ सिखलाई गईं, उन सबको हरेक रंगरूट पूरी तौर से नहीं जानता, लेकिन चन्द्रसिंह समझदार और तेज स्मृतिवाले तरुण थे। उन्होंने हरेक बात को अच्छी तरह सीखा और हृदयस्थ कर लिया।

शिक्षा समाप्त हो गई। रंगरूटी जीवन समाप्त करते हुए अव उन्हें पूरे सिपाही के तौर पर काम करना था। इसके लिए उन्हें शपथ की रस्म अदा करनी थी। लैन्सडौन के परेड-मैदान में अंग्रेजों का युनियन जैक था, जिसके सामने बटालियन की सारी कम्पनियाँ चौकोर पंक्तियों (स्क्वायर फार्मेशन) में खड़ी थीं। अफसर अपने-अपने प्लाटूनों और कम्पनियों के सामने क्रिच निकालकर खड़े थे। कमांडिंग अफसर के आते ही पलटन एटेंशन (सावधान) हो गई। द्वितीय कमांडिंग आफिसर–मेजर–ने अपने मुखिया कर्नल को रिपोर्ट दी–इतने रंगरूट तथा इतने दूसरे सैनिक यहाँ मौजूद हैं। फिर शाही सलाम (रॉयल सैल्यूट), प्रेजेंट आर्म (हथियार की सलामी)

---

* रॉयल गढ़वाल राइफल के इतिहास की विशेष तिथियाँ हैं–

1914.	अक्तूवर	गढ़वाल व्रिगेट फ्रांस गया।
1915.	मई 9	औवर पहाड़ी की लड़ाई।
1915.	सितम्वर 25	लूज की लड़ाई, जिसमें अंग्रेजों ने पहिली वार गैस का इस्तेमाल किया।
1915.	नवम्वर	गढ़वाली पलटन भारत के लिए।
1916.	फरवरी	स्वेज में ठहरकर मोर्चे वनाती रही।
1916.	अगस्त 20	तीसरी वटालियन का संगठन।
1917.	मार्च	द्वितीय बटालियन मेसापोतामिया में।
1917.	सितम्वर 27-29	रमादी की लड़ाई।
1918.	मार्च 25-26	कानवगदाद की लड़ाई।
1920.	नवम्वर	द्वितीय वटालियन भारत लौटी।

का हुकुम दिया गया। सभी सैनिकों ने सलामी दी। युनियन जैक फहराया गया, और बैण्डवाले शाही सलाम (रॉयल सैल्यूट) बजाने लगे।

कर्नल ने अड्जुटेंट-जमादार को रंगरूटों को कसम खिलाने के लिए हुकुम दिया। जमादार एक-एक रंगरूट से निम्न शब्दों को दोहरवाने लगा–

–"मैं··· रंगरूट, बेटा··· का परमेश्वर भगवान् को जान-मान के धर्म के रास्ते से प्रतिज्ञा करता हूँ, मैं हमेशा अपने मालिक मुअज़्ज़म कैसरहिन्द और उनके जानशीनों (उत्तराधिकारियों) का नमकहलाल नौकर बना रहूँगा, और जहाँ जाने का हुकुम होगा, वहाँ जाऊँगा, चाहे उसमें जान का भी डर हो। मेरे ऊपर जो ओहदेदार (नान्कमिशंड आफिसर) मुकर्रर किया गया है या होगा, उसके सारे हुकुमों को मानूँगा, चाहे उसमें जान का भी खतरा हो।" इस शपथ के ले लेने पर यह हुकुम सुनाया गया–"तुम लोग चार साल तक पलटन से अपना नाम नहीं कटा सकते। अगर सरकार को जरूरत न हो, तो चार साल के बाद रिजर्व (संरक्षित) में जा सकते हो।" बटालियन के कमाण्डर ने हुकुम दिया–"टोली को बैरक में ले जाओ।"

टोली के इन्सट्रक्टर ने अपनी टोली को चार पाँतियों में मार्च कराते लाइन (बैरक) में ले जाकर डिसमिस कर (छोड़) दिया।

दो हफ्ते और रंगरूटों को गारद चढ़ने का काम सिखाया गया। अब वह दूसरे सिपाहियों की तरह थे, और उन्हीं की तरह उन्हें ड्यूटी पर जाना पड़ता था। कसम खाने के दिन पूरे सिपाही बनने की खुशी में रंगरूटों ने मिठाइयाँ बाँटीं, सड़क पर मार्च किये।

1914 ई. में सिपाही को 11 रुपया मासिक तनखा मिलती। अतिरिक्त राशन (खुराक) के लिए 4 रुपये दिये जाते थे, अर्थात उस समय सैनिकों को मुफ्त राशन नहीं मिलता था। 15 रुपये में उन्हें अपना सारा काम चलाना पड़ता था, आवश्यक कपड़े-लत्ते खरीदना, खाने के अतिरिक्त चन्दे और मिठाइयों में भी इसी में से पैसे देने पड़ते थे। 10 रुपये तो बनिये के पास राशन में जरूर ही चले जाते थे। कवायद-परेड में काफी शारीरिक परिश्रम होता है, जिसके कारण जवानों को भूख लग जाती, और खाने के लिए वह हलवाई के पास दूध-जलेबी लेने चले जाते। इस प्रकार 15 रुपयों में से उनके पास कुछ भी नहीं बच सकता था।

पिता को अब मालूम हो गया था, कि बेटा पलटन में भरती हो गया, अब उसे किसी तरह से घर ले आना सम्भव नहीं। बाप को बेटे के देखने की इच्छा हुई। छावनी के भीतर मिलने के लिए माँ-बाप को भी जाने की इजाजत नहीं थी। सैनिकों को बाहरी हवा से बचाने की जबर्दस्त कोशिश की जाती थी। अगर किसी सिपाही का कोई सम्बन्धी आये, तो उसे ठहराने के लिए लैन्सडौन के कालेश्वर महादेव के मन्दिर के पास दो धर्मशालाएँ बनी थीं। घरवाले आकर धर्मशाला में ठहर जाते। जाथलीसिंह भी आकर वहीं ठहर गये। धर्मशाले में पलटन का एक सिपाही तैनात रहता था, जिसका एक काम लाइन के भीतर किसी बाहरी आदमी को जाने से रोकना था, दूसरा काम सिपाही को उसके सम्बन्धी के आने की खबर भी देना था।

पिता के आने की खबर सुनकर चन्द्रसिंह को बड़ी प्रसन्नता हुई। लेकिन, वह अपनी इच्छा के अनुसार मिल थोड़े ही सकते थे ? इसके लिए सेक्शन के कमाण्डर और टोली के कमाण्डर की खुशामद करनी पड़ी, बड़ी मुश्किल से सिर्फ एक घंटे के लिए छुट्टी मिली, क्योंकि उसी के बाद हाजिरी (रोल कॉल) होनेवाली थी।

पिता 40 मील की पहाड़ी यात्रा करके कितनी चढ़ाई-उतराई पार करते धर्मशाला में पहुँचे थे। थकावट के मारे वह सो गये थे। चन्द्रसिंह उनके उठने तक की प्रतीक्षा नहीं कर सकते थे। उन्हें उठाकर कुशल-मंगल पूछा। बाप ने बतलाया–यहाँ आये मुझे आधा दिन बीत गया। चन्द्रसिंह को परेड से लौटने के बाद 6 बजे खबर मिली थी, वह 7 बजे बाप के पास पहुँचे थे। उनके मन में खयाल आ रहा था–मैं तो लाइन में पलंग और बिस्तर पर सोता हूँ, और मेरा बाप धर्मशाले की नंगी जमीन पर सो रहा है। लेकिन यह सब सोचने से क्या बननेवाला था। पहिले पिता को खिलाना-पिलाना जरूरी था। वह दौड़े बनिये के पास, वहाँ से मिठाई-पूड़ी उधार लाये। सर्दी के दिन थे। 5000 फीट के ऊपर होने की वजह से लैन्सडौन में और भी अधिक सर्दी पड़ती है। वह दौड़कर दो कम्बल और अपना बिस्तर ले गये। पिताजी के रहने का जल्दी-जल्दी ठीक-ठाक करके

रोल कॉल के लिए वह बैरक में दौड़ गये।

रात को नींद कहाँ ? सबसे बढ़कर उनको अफसोस इस बात का था कि फौज की नौकरी करते सात महीने हो गए, लेकिन मेरे हाथ में सिर्फ पाँच रुपये हैं। इनमें से माँ और भाइयों के लिए क्या भेजूँ ? लड़ाई का समय था, मालूम नहीं कौन-सी बटालियन कब यहाँ से चली जाय, इसलिए कोई बनिया अधिक कर्ज देने के लिए भी तैयार नहीं था। इसी उधेड़बुन में रात बीती।

सबेरे बहुत सकुचाते-शरमाते उन्हीं पाँच रुपयों को लेकर चन्द्रसिंह बाप के पास पहुँचे। बाप के हाथ में रुपये रख दिए। बाप ने हँसते हुए कहा–"बस, यही सात महीने की कमाई ?"

चन्द्रसिंह की आँखों से आँसू गिरने लगे, मुँह से कोई बात नहीं निकली।

पिता ने कहा–"तुम्हारे रुपयों के लिए मैं नहीं आया हूँ, मैं सिर्फ तुमको देखना चाहता था। आने के एक महीने बाद तुम्हारे एक लड़की पैदा हुई। राजी-खुशी है। अब वह 6 महीने की हो गई है। लाओ, तुम्हारी कमाई में से उसी के लिए कुछ साथ ले जाता हूँ।"

यह कहकर बाप ने उनमें से एक रुपया ले लिया, और बाकी को लौटाते हुए कहा–"खर्च पूरा नहीं पड़ता हो, तो मैं घर से कुछ भेज दूँ ?"

बेटा इसके लिए कैसे कह सकता था ? बाप घर का चार सेर घी और माँ के हाथ की बनी मिठाइयाँ ले आये थे। उन्हें ले रोते हुए बाप को विदाई दे चन्द्रसिंह बैरक में आये। उन्हें तुरन्त ही परेड में हाजिर होना था।

1 जून 1915 को चन्द्रसिंह की टोली को शपथ दी गई थी। 13 जून को उन्हें अपने दूसरे 75 आदमियों के साथ 15 दिन की छुट्टी मिली। पलटन को युद्धक्षेत्र में जाना था, जहाँ से लौटकर आने की सबकी सम्भावना नहीं हो सकती थी। इस छुट्टी में उन्हें अपने माँ-बाप, भाई-बहन, सगे-सम्बन्धियों से भेंट-मुलाकात करनी थी।

13 जून को छुट्टी पाकर 12 बजे रात को चन्द्रसिंह रवाना हुए। अँधेरी रात थी। उनके साथ लोहबा, खंडसर के दूसरे भी 28-29 जवान थे, जिनमें उनका दोस्त चेतसिंह भी था। उस समय सारे देश में फ्रांस की लड़ाई का शोर मचा हुआ था। कितने ही सिपाहियों के मरने की खबर उनके घरों में आ चुकी थी और कितने ही स्वयं अंग-भंग होकर वहाँ पहुँच चुके थे। गाँव-गाँव में लड़ाई की ही चर्चा थी, लोग पूछते–"चन्द्रसिंह, क्या तुम भी लड़ाई में जाओगे ?" "हाँ", कहने पर वह अफसोस करने लगते। बहुत कम ऐसे थे, जो बहादुरी की बातें कहकर हिम्मत बढ़ाते।

"दिवस जात नहिं लागत बारा।" चन्द्रसिंह के साथी चले गये। प्रस्थान करने से एक दिन पहिले चन्द्रसिंह ने अपनी पत्नी कलुली से कहा–"मैं कल सुबह चला जाऊँगा, मेरे लिए तैयारी कर दो।"

तरुण पत्नी विह्वल हो गई, लेकिन उसे अभी लड़ाई की बातें मालूम नहीं थीं। उसने अपनी सास के पास जाकर पूछा–"जी, देवमती के पिता, क्या कल चले जाएँगे ?"

सास ने कहा–"हाँ बेटी, अब तो वह पराया हो चुका है। बलि का बकरा है। उस पर हमारा और तुम्हारा क्या बस ?"

दोनों रोने लगीं। पिता चबूतरे से उनकी बातें सुन रहे थे। दुःख उनको नहीं हो रहा था, यह बात नहीं थी; पर, वह रोना पसन्द नहीं करते थे। उन्होंने झल्लाकर कहा–"चुप रहो, तुम्हारे रोने से वह रुक नहीं सकता। रो-रोकर तुम उसके दिल को दुःखी न बनाओ। जाने दो, अगर हमारा सच्चा पुत्र है, तो कोई उसका बाल बाँका नहीं कर सकेगा।"

पिता की बातों से चन्द्रसिंह के हृदय में साहस का संचार हुआ। वह सोचने लगे–माँ और बाप में कितना अन्तर होता है ? दिल में तो ये भी रोते होंगे, लेकिन परिवार को अधीर न होने देने के लिए कैसी बातें कर रहे हैं !

28 जून 1915 का सबेरा आया। माँ ने अपने हाथों से जेठ बेटे को खाना खिलाया। उसके झोले में रास्ते के लिए आवश्यक कुछ चीजें रख दीं। पिता ने आशीर्वाद देते हुए कहा–"बेटा, तुम खुशी से जाओ।

मेरे सच्चे पुत्र होंगे, तो जरूर लौटकर आओगे। तुम मेरे वीर पुत्र हो। वीरों का काम रण में मरना ही होता है। योगी का सुरधाम और सिपाही का एक लाम। बेटा, अपने देश और राजा के लिए मरना सबसे बड़ा धर्म है। दुनिया में जन्म लेने का फल यही है कि मनुष्य सुरगति पावे।"

इसी बीच लोग जमा होने लगे। पिता ने कहा—"चलो, अब देर न करो, कोई छींक देगा।" माँ-बाप भाई-बन्द तीन मील तक पहुँचाने आए। तब चन्द्रसिंह ने माँ से कहा—"माँ, मेरी मंजिल तो बहुत लम्बी है, अब मुझे आशीर्वाद देकर घर चली जाओ।" माँ-बाप ने बेटे के सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। चन्द्रसिंह सोच रहे थे—'अपने माँ-बाप के सच्चे बेटे न मालूम कितने होंगे, लेकिन उनमें से कितने लौटकर आते हैं ?'

4

फ्रांस को (1915 ई.)

लड़ाई का वक्त था, रंगरूटों को जल्दी-जल्दी थोड़ी-बहुत युद्ध की शिक्षा देकर मैदान में भेज दिया जाता। उनको पक्का बनाने के लिए फुरसत कहाँ ? प्रशिक्षण समाप्त होते ही लाम (लड़ाई) पर हमें जाना है, यह चन्द्रसिंह और उनके साथियों को मालूम था। मालूम नहीं, कैसे लाम शब्द का प्रचार हुआ है ? 6 जुलाई 1915 की सुबह बम्बई के लिए दो अंग्रेज अफसरों के साथ 75 जवान लैन्सडौन से रवाना हुए। वह सैनिक जा रहे थे लड़ाई के मैदान में; लेकिन उनके पास न राइफल थी, न गोली-गट्ठा। उन्हें साथ ले जाने की जरूरत भी नहीं थी क्योंकि बहुत-से हथियार तो इंग्लैण्ड से बनकर भारत में आते थे। वह यूरोप में जाने पर मिल जाते। जर्मनी चाहे रूस और फ्रांस के भीतर कितना ही घुस आया हो, लेकिन भूमध्यसागर अभी भी अंग्रेजों की झील थी, जहाँ उनके जहाज बेखटके आ-जा सकते थे। चन्द्रसिंह और उनके साथियों के पास पानी का एक टामलोट और खाकी पोशाक पूरी थी। चलने के दिन अपने सामान को लेकर जवान लैन्सडौन के परेड खेत में पाँती से खड़े हुए। डिपो-कमाण्डर ने उनका निरीक्षण किया। रास्ते में जो दिक्कतें पेश आयेंगी, उनको समझाया। फिर आँसू बहाते हुए भगवान से प्रार्थना करते बोला—"जवानो, तुम लोग अपने बादशाह और अपने देश के लिए लड़ाई पर भेजे जा रहे हो। अपने माँ-बाप और गढ़वाल की इज्जत का खयाल करके खूब बहादुरी से लड़ना। भगवान तुमको जिन्दा और खुशहाल अपने बाल-बच्चों में लायेगा। सलाम !"

जवानों ने भी एक साथ सलाम किया। गढ़वाल का कौमी नारा, 'बदरीनाथ की जय' बोलते हुए वह रवाना हुए। सड़क के दोनों तरफ गढ़वाली जनता खड़ी थी। गढ़माता के पुत्रों को युद्ध में बलि चढ़ने के लिए जाते देखकर सभी आँसू बहा रहे थे, और लपक-लपककर गले में फूलों के हार पहना रहे थे। लोगों की जय-ध्वनि से आकाश गूँज रहा था। चन्द्रसिंह मन को कह रहे थे—अब गढ़वाल आने की आशा छोड़ो। देश-विदेश देखने की बड़ी साध थी, सो पूरी होने जा रही है।

लैन्सडौन से कोटद्वार पैदल 14 मील है। रास्ते में दोगड्डा चार मील पर पड़ता है। अभी फौजों में मोटरों और लारियों का प्रचार नहीं हुआ था, न उनकी बहुतायत थी। लड़ाई के बाद ही हमारे देश में मोटर-युग आरम्भ हुआ। स्टेशन तक उन्हें पैदल ही चलना था। चलते-चलते सिपाहियों के पैरों को जूतों ने काट लिया। प्यास बड़ी लगती। जुलाई का महीना, वर्षा का समय है। वर्षा हुई तो पानी से और न हुई तो पसीने से भीगना। हर तरह से भीगना ही होता था। प्यास के मारे वह रास्ते में बार-बार पानी पीते, लेकिन वह बुझती ही नहीं थी। कई जवान तो कै करने लगे। कोटद्वार पहुँचते-पहुँचते लोग समझने लगे, हैजे ने पकड़ लिया। सभी घबराने लगे। युद्धदेवी के बदले हैजामाई तो बलि ले लेना नहीं चाहती ? खैर, किसी तरह टोली स्टेशन पर पहुँची, और उसी 6 जुलाई को ही 9 बजे रात को उनकी ट्रेन रवाना हो गई। बीच में बदलने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि उस समय सैनिक ट्रेनें छूटा करती थीं। सहारनपुर स्टेशन पहुँचने पर फौजी डाक्टर ने जवानों को नीचे

उतारकर उनकी परीक्षा की। फतवा दिया कि कालरा (हैजा) हो गया है। उनका डब्बा काटकर अम्बाला की ट्रेन में जोड़ दिया गया। हैजा की रोक-थाम करने के बाद ही उन्हें लाम पर भेजा जा सकता था। कालका से पहाड़ी रेलवे के ऊपर बैठे ठंडी-ठंडी हवा के झोंके लगने लगे, और सोलन पहुँचकर उन्हें बड़ी प्रसन्न्ता हुई, मानो सबके शरीर में नया प्राण आ गया। कहाँ देश में आग की भट्टी में जलना पड़ रहा था, और यहाँ हिमालय की यह शीतल-मन्द बयार। कुछ लोग इसके लिए भी परेशान थे, कि न जाने कितने दिनों तक वहाँ रुका रहना पड़े, कहीं तब तक लड़ाई न खतम हो जाय। फिर लोग हम पर हँसेंगे। जिन लोगों ने कै की थी, उनको सब गाली दे रहे थे, इन्होंने रास्ता काट दिया। सोलन पहुँचने पर देखा, वहाँ वर्षा हो रही है। कै करनेवालों को एक अलग छोलदारी में रक्खा गया। 21 दिन कोरिन्टीन का समय बिताना पड़ा, फिर वह वहाँ से छोटी लाइन पर बैठे, और कालका में 29 जुलाई को बम्बई की ट्रेन पर चढ़ गये। वही 75 जवान फिर साथ थे। कालका से बम्बई तक देश को एक छोर से दूसरी छोर पार करना था। इसमें वही दृश्य उनके सामने नहीं आये, जो कि गढ़वाल में देखे थे। दिल्ली और कितने ही और बड़े-बड़े शहर रास्ते में पड़े, पर चन्द्रसिंह और उनके साथियों को प्लेटफार्म या दौड़ती इमारतें ही दिखाई पड़ीं। गर्मी से परेशानी बराबर रही।

ट्रेन बम्बई पहुँची। विक्टोरिया गोदी में जाकर उन्होंने एक रात विश्राम किया। उनके लिए 'कोकनाडा' जहाज इंतिजार कर रहा था। अगले दिन 2 बजे दिन को उन्हें जहाज पर बैठाया गया। 300 लैन्सडौन से पहुँच गये थे, और दूसरी जगहों से भी कितने ही सिपाही आ गये। सब मिलाकर 700 जवान फ्रांस की लड़ाई में जा रहे थे।

1 अगस्त 1915 को 'कोकनाडा' ने भारत की भूमि छोड़ी। चन्द्रसिंह को बम्बई देखने की बड़ी इच्छा थी, लेकिन फौजी नौकरी सैर-सपट्टे के लिए थोड़े ही होती है ? सैनिक और कैदी के जीवन में थोड़ा ही अन्तर होता है। जहाज भोंपू दे धीरे-धीरे खिसकने लगा। बम्बई नगर की अट्टालिकाएँ छोटी और छोटी होती गईं, फिर एक धुआँ की-सी चीज क्षितिज पर कुछ समय तक दीखती रही।

समुद्र की यात्रा हरेक अंजनबी के लिए कुछ विचित्र-सी मालूम होती है। अगर समुद्र शान्त रहा, तो वह विचित्र-भर रह जाती, लेकिन, उस समय अरब सागर शान्त रहने के लिए तैयार नहीं था। वह पालने झुलाने लगा, जिसकी गति धीरे-धीरे बढ़ चली। जवान इस पालने को पसन्द नहीं करते थे, वह लेट गये। लेकिन, लेटने से क्या होता ? हवा तेज थी, वह लहरों को और ऊँची उठाने लगी। लेटने में भी खैरियत नहीं थी। जवानों को कै आने लगी, वह सर टेककर उलटी करने लगे। घण्टे-दो घण्टे या एक पहर-दो पहर की बात नहीं थी, पूरे तीन दिन तक समुद्र ने जवानों को तंग करके रख दिया। उस समय कोई कर ही क्या सकता था ? अंग्रेजों को अपने काले सिपाहियों की उतनी ही पर्वा थी, जितनी कि कसाई को हाँककर ले जाते वक्त अपने बकरों की। वह कोई खट्टी-नमकीन चीज तो दे सकते थे, पर किसी ने कोई खयाल नहीं किया। तीन दिन बाद उनकी पुछार हुई। सबको लेटे रहने की इजाजत नहीं दी गई। सुबह 7 बजे जहाज के डेक पर परेड लगवाई गई। इसके लिए बार-बार जहाज में अलार्म बजने लगा। जहाज को धोया गया, लोगों ने कै करके उसको बहुत गंदा कर रक्खा था। परेड लगाने के बाद फिर छोड़ दिया गया। लेकिन किसी भी समय शत्रु के जहाज का आक्रमण हो सकता था, या जहाज ही किसी समय तूफान में पड़ जाता, इसलिए समय-समय पर खतरे का भोंपू बजता, फिर जीवन-रक्षक पेटियाँ लोगों को पहनायी जातीं, बतलाया जाता, कि जरूरत पड़ने पर किस तरह इन पेटियों को पहनकर तैयार रहना चाहिए, और किन जवानों को जहाज के साथ चलनेवाली कौन-सी नाव पर जाना चाहिए।

तूफान खतरनाक नहीं था, एक तरह जवानों को वह जहाजी-यात्रा की शिक्षा देने आया था। मौसम ठीक होने पर अब वह जहाज पर चल-फिर सकते थे। खाना पकाने के लिए अभी तक कोई जरूरत नहीं थी, क्योंकि उलटी के सामने किसको खाने की हिम्मत होती ? अब उनके खाने-पीने का इंतिजाम किया गया। चपातियों के पकाने में बहुत तरद्दुद है। चाहे बड़ा भी हो, लेकिन एक-एक फुलका अलग-अलग सेंकना पड़ता। भात में बहुत सुभीता है। मन-मन, आधा मन को देग में डालकर एक घंटे में एक से अधिक खेप तैयार किया

जा सकता है। गढ़वाली रोटी-चावल दोनों खा सकते हैं, इसलिए जहाज के पके भात से उनको कोई शिकायत नहीं हो सकती थी।

चन्द्रसिंह को तो अभी गाँव छोड़े एक साल भी नहीं हुआ था। खाने-पीने में पहाड़वालों को थोड़ी-सी सुविधा है, वह रोटी को पूड़ी के बराबर ही शुद्ध मानते हैं। लेकिन, उनके यहाँ ब्राह्मण-राजपूत दो ही जाति हैं, जिसके हाथ का वह खा सकते हैं। बाकी सभी जातियाँ डोम-अछूत हैं, चाहे वह चमड़े का काम करती हों, लोहे का या सिलाई का। ब्राह्मण-क्षत्री के अलावा सभी जातियों को वहाँ डोम कहा जाता है। लैन्सडौन में आकर उन्होंने देश से आये पाखाना साफ करनेवाले लोगों को देखा। वह समझने लगे, पाखाना उठाना भंगी का काम है, और वह हिन्दुओं में सबसे नीचा समझा जाता है। एक दिन यों ही चन्द्रसिंह ने भात पकानेवाले भाई से पूछ दिया—"भाईजी, आप कौन ठाकुर हैं ?"

"हम सब जहाजी भंगी हैं।"

चन्द्रसिंह का हृदय सन्न-सा हो गया।...ओह, धर्म भी गया ! लेकिन तब उन्हें खयाल आया : मेरे अकेले का धर्म नहीं गया। सात सौ जवान धर्म को कुर्बान कर रहे हैं। किसी समय मन होता, अपने और साथियों को भी यह बात बतला दूँ, लेकिन फिर हिम्मत नहीं हुई। सोचा, बिना जाने ही यात्रा पूरी कर लें, यही सबके लिए अच्छा है।

रास्ते में जहाज अदन में जरा देर के लिए ठहरा, फिर चला। 24 वर्ष के पहाड़ी तरुण ने किताबें भी तो नहीं पढ़ी थीं, कि रास्ते की जगहों का उसे थोड़ा भी ज्ञान होता। तो भी उन्होंने देखा, अरब का विशाल समुद्र जब तक रहा, तब तक उन्हें कहीं भी पानी छोड़कर और कुछ न दिखाई पड़ता था। जब लालसागर में पहुँचे तो उन्हें बराबर दाहिने-बायें भूमि दिखाई पड़ती रही; हाँ, नंगी और बहुत जगहों पर पथरीली भूमि, जिसमें वृक्ष-वनस्पति का पता नहीं था। गर्मी भी बहुत तेज थी। फिर वह स्वेज की नहर में घुसे। यह छोटी नदी-सी मालूम होती थी, जिसके पार करने में बहुत समय नहीं लगा। पोर्त सईद में कुछ ही समय के लिए रुके, और फिर 'कोकनाडा' भूमध्यसागर को चीरता बम्बई से चलकर 14 दिन बाद 14 अगस्त को फ्रांस के मारसेई बन्दर पर पहुँच गया।

जहाज घाट पर उतरते ही उन्हें बन्दूक-राइफल, पेटी, गोली-गट्टे, गरम कपड़े मिल गये। अब जवानों को वहाँ से कैम्प में जाना था। आगे-आगे बैण्ड बज रहा था। 700 जवान मारसेई की सड़कों से निकले। शायद यह पहिले भारतीय नहीं थे, लेकिन जिस तरह कालों के देश में आकर गोरे तमाशा बन जाते हैं, वैसे ही गोरों के देश में आकर मुट्ठी-भर काले भी तमाशा बनाए जाते हैं। बैण्ड बजा और लोगों ने कानोंकान सुना कि इंडियन सैनिक सड़क से जा रहे हैं। सभी नर-नारी देखने के लिए टूट पड़े। पुलिस का बाकायदा इंतिजाम था, कोई जवानों के पास न पहुँचे। पर जनता पाँती तोड़ने के लिए तैयार थी। भारतीय जवानों को रोक दिया गया। उनके चारों तरफ फ्रेंच पुलिस ने घेरा डाल दिया। अपनी भाषा में फ्रेंच नर-नारी उनका स्वागत कर रहे थे। किसी लाल बुझक्कड़ ने बतला दिया—'बेनशू मदाम, बेनशू मदाम' और सबने समझ लिया कि वह हमारा इसी शब्द से स्वागत कर रहे हैं। हो सकता है, किसी ने महिला से मिलने पर 'बोन-जू मदाम' (शुभ दिवस देवी) कहके सलाम करने को बतलाया हो, और हमारे जवानों ने समझा हो, कि ये हमारे लिए ही कहा जा रहा है। उनको क्या मालूम था, कि मदाम (देवी) और मेशियो (महाशय) में क्या अन्तर है। बन्दरगाह से तीन मील चले गये थे, जबकि जवानों को रुकना पड़ा। उस समय एक भारतीय हवलदार ने अपने अफसर से पूछा—"हुजूर, क्या बात है, जो सारे शहर के लोग हम लोगों को देखने आ रहे हैं, पुलिसवालों ने उन्हें रोक दिया और उन पर लाठियाँ चलाईं।"

साहब ने हँसकर हवलदार से कहा—"अभी हाल ही में फ्रांस में हमारी सरकार ने एक नया कानून बनाया कि कोई भी फ्रांसीसी किसी हिन्दुस्तानी के साथ न मिले, और न उसके साथ भाईचारे का बर्ताव करे, क्योंकि हिन्दुस्तानी गुलाम हैं।"

किसी अंग्रेज अफसर ने मुँह से यह क्यों कहा होगा, लेकिन हिन्दुस्तानी जवान जानते ही थे कि अंग्रेजों

के लिए हम गुलाम से बढ़कर नहीं हैं, इसलिए उन्होंने स्वयं उस दिन की स्थिति की इस तरह व्याख्या कर दी होगी।

जवानों को एक बहुत बड़े कैम्प में जाना था, जिसे मैनोवरी कैम्प कहा जाता था। कैम्प में एक लाख आदमी थे। सबके लिए छोलदारियाँ टँगी हुई थीं। सड़कों पर पानी का छिड़काव था। पम्प और दूसरी तरह की आरामदेह चीजों के साथ-साथ वहाँ झाड़ियाँ थीं। कुछ देवदार जाति के वृक्ष भी थे, और तरह-तरह के फूल लगाये गये थे। देवदार और चीड़ के पेड़ पाँती से बहुत दूर तक चले गये थे। भारत में देवदार सात-आठ हजार फीट से अधिक ऊँचे पहाड़ों में ही देखा जा सकता है। लेकिन, यहाँ धरती पर ही वह मौजूद थे। जगह-जगह पर वहाँ ठहरी हरेक पलटन का नाम हरी घास के अक्षरों में लिखा हुआ था। जवानों के स्वागतार्थ गारद प्रेजेन्ट आर्म (शस्त्र-अर्पण) के लिए तैयार खड़ी थी। यह इतना बड़ा कैम्प था, जिसे देखने का मौका किसी जवान को उससे पहिले नहीं मिला था। चन्द्रसिंह और उनके साथियों को सबसे अचरज की बात यह थी–जहाँ भारत में महासमुद्र में दस-पाँच बूँदों की तरह गोरे दिखाई पड़ते थे, वहाँ इस भूमि में गोरों के महासमुद्र में वह कुछ बूँदों की तरह हैं। वह जिसे अपने देश में गोरा रंग समझते थे, वह यहाँ उनकी नजर में भी काला दिखलाई पड़ता था।

कैम्प में पहुँचने पर पहिले से ही मौजूद गढ़वाली सिपाहियों ने 'जय-जय' कहते नवागन्तुकों का स्वागत किया। उन्हें भी छोलदारियों में बाँटकर उनका जलपान से सत्कार किया गया। पुराने सिपाहियों ने भारत और गढ़वाल के बारे में पूछा, और नयों ने लड़ाई के बारे में। पास-पड़ोस में रहनेवाले सिपाहियों से भी मेल-मिलाप बढ़ा।

लैन्सडौन से चलते वक्त जिस दुर्भाग्य ने पीछा किया था, उसने हैजा भेजकर ही छुट्टी नहीं ले ली, बल्कि यहाँ एक आदमी को दादरा (छोटी चेचक) की बीमारी में फँसा दिया। छूत की बीमारी थी, सारे कैम्प में फैलती तो जर्मनों का भला होता, इसलिए 75 जवानों को अलग कैम्प में रख दिया गया। दूसरे तीन सौ आदमी जो बम्बई में आकर मिले थे, वह 17 अगस्त को फाइरिंग लाइन (युद्ध-पंक्ति) में भेज दिये गये। चन्द्रसिंह की टोली में इसके लिए बड़ा असंतोष था। वह दादरेवाले आदमी को बुरा-भला कहने लगे–"इसी ने हमसे भी पीछे रंगरूट हुओं को आगे भिजवा हमें पीछे रख दिया।" चन्द्रसिंह को यह इतना बुरा लगा कि वह अपने साहब के पास पहुँचे–"हुजूर, मुझे दादरा की बीमारी हो चुकी है, अब दुबारा होनेवाली नहीं है, इसलिए मुझे इसी टोली के साथ भेज दीजिए।" साहब ने प्रार्थना नामंजूर करते हुए कहा–"एक ड्राफ्ट (निश्चित टोली) का आदमी दूसरे में नहीं जा सकता।"

लेकिन, यदि चन्द्रसिंह चले गये होते, तो फिर आगे की जीवनी वहीं खतम हो जाती, क्योंकि इस पलटन के ऊपर जर्मनों ने जबरदस्त हमला किया था, जिसमें शायद अंग्रेजों ने भी गैस का प्रयोग किया था। हवा का रुख प्रतिकूल हो गया, इसलिए गैस इधर को ही लौट आई, और आधे से ज्यादा आदमी काम आए। इसीलिए किसी ने कहा–"खाने में पीछे नहीं रहना, और कटक में आगे नहीं जाना !" यह कटक भी तो ऐसी थी, जिसमें भारतीयों का कोई स्वार्थ नहीं था। उन्हें उसी अंग्रेजी साम्राज्य की रक्षा के लिए प्राण देना था, जिसने भारत को गुलामी के शिकंजे में बाँध रक्खा था।

5
फाइरिंग लाइन में

दस दिन रहने के बाद 27 अगस्त को चन्द्रसिंह का ड्राफ्ट भी फाइरिंग लाइन को रवाना हुआ। स्टेशन पर पहुँचने पर देखा, कि वहाँ मालगाड़ियों के सिवा और कोई डब्बा नहीं है। 28 तारीख को फाइरिंग लाइन के

सैनिकों को छुट्टी देकर उनकी जगह लेनी थी, इसलिए पैसेंजर-डब्बों की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती थी। मोर्चे के पास डब्बे, मोटरें और दूसरे यातायात के साधन काफी संख्या में जमा करके रखना पड़ता था, जिसमें जरूरत पड़ने पर सेना को जल्दी से पीछे हटाया जा सके।

माल के डब्बों में जवान बैठा दिये गये। इसी में उनको अपना झोला और राशन-पानी सब रखना पड़ा। पहिले इन डब्बों में घोड़े ले जाये गये थे, जिनकी लीद वहाँ भरी पड़ी थी। मारे बदबू के नाक फट रही थी। माल के डब्बों में रोशनी की क्या जरूरत ? रात के वक्त वहाँ अँधेरा-घुप था। कोई खिड़की भी नहीं थी, जिससे रोशनी भीतर आ सके। सिर्फ एक दरवाजा था, जिसका निचला आधा भाग बन्द था। ऊपरवाले आधे भाग से ही हवा और कुछ रोशनी आ सकती थी।

सबसे बड़ी दिक्कत पेशाब-पाखाने की थी। वे लोग घोड़े नहीं थे कि बैठने की जगह को ही गन्दी करते। जवानों के पास तीन दिन के लिए पूड़ी और सकरपारे थे। भूख लगती, खाना खा लेते, पर टट्टी कहाँ जायँ ? उसके बिना भी इतने आदमी वहाँ ठूँसे हुए थे कि उनके अधोवायु से बुरा हाल हो रहा था। टट्टी-पेशाब की समस्या तो हल करनी ही थी। उन्होंने दरवाजे के निचले भाग को भी गिरा दिया। जब कोई टट्टी करने जाता, तो दो आदमी उसके हाथों को पकड़कर थामे रहते, जिसमें बाहर की ओर पाखाना करने के समय वह कहीं लुढ़ककर गिर न जाय, पानी छूने का सवाल ही नहीं था। गाड़ी बहुत तेज चल रही थी।

यात्रा भी कुछ घंटों की नहीं थी। 27 तारीख को चल वह 29 के बारह बजे के बाद भी अपनी मंजिल पर नहीं पहुँचे। अब ट्रेन एक-एक स्टेशन पर घंटों रुकने लगी, और सो भी प्लेटफार्म से दूर। फाइरिंग लाइन से घायल और गैस से अन्धे सैनिक ट्रेनों में भर-भरकर आ रहे थे। जवानों के पास सिर्फ तीन दिन की खुराक थी। रुक-रुक चलने का नतीजा यह हुआ, कि पाँचवें दिन वह दो दिन के भूखे हो गये। वहाँ के स्टेशनों पर उन्हें पूड़ी-हलवा कहाँ मिल सकता था, पर चाय, कॉफी, बिस्कुट और कितने ही फल दिखाई देते थे। यदि उनकी ट्रेन स्टेशन पर उतरती, तो कुछ खरीद पाते, हालाँकि भाषा की बड़ी दिक्कत थी। फ्रेंच क्या उनमें से कोई अंग्रेजी भी नहीं जानता था। प्लेटफार्म से दूर कोई अपनी चीज बेचने के लिए क्यों आने लगा। पाँचवें दिन दोपहर को इंजन खराब हो गया, और ट्रेन एक गाँव के सामने जाके खड़ी हुई। खेतों में शलजम दिखाई पड़े। सिपाही भूखे भेड़िये थे। उन्होंने इंजन का खराब होना काली-माई का वरदान समझा। सभी अपने डब्बों से कूदकर खेतों में फैल गये। अंग्रेज अफसर (साहब) ने बहुत सीटी बजाई, लेकिन दो दिन से उनका पेट सीटी बजा रहा था। उन्होंने पेट की सीटी सुनी। शलजम के खेतों से होकर वह गाँव में घुसे। यह महीना सेब, नासपाती आदि फलों का था। जवानों ने हनुमानजी की पलटन का रूप लिया, और पेड़ों पर कोई फल नहीं छोड़ा। जिसको कुछ नहीं हाथ आया, वह शलजम ही साथ लाया। साहब जवानों को लौटाने के लिए पीछे-पीछे गये। गाँव की एक बुढ़िया ने लाठी लेकर पीछा किया, तो उसे साहब ही हाथ आया और बुढ़िया उसके ऊपर ताबड़-तोड़ लाठियाँ पटकती बड़बड़ाने लगी। बड़ी मुश्किल से साहब भागकर अपने डब्बे में आया। अफसरों के लिए इसी ट्रेन में अच्छा डब्बा लगा हुआ था, उनको खाने की कोई कठिनाई नहीं थी। भूखे रहकर जान देने के लिए तो यही जवान थे।

लोग अपने-अपने डब्बे में आकर चढ़ गये। गिनती की गई, तो सभी हाजिर मिले। देर नहीं लगी। कुछ घंटों बाद इंजन भी ठीक हो गया, और ट्रेन फिर रवाना हुई।

अब वह अपनी मंजिल लिली शहर में पहुँच गये। डाक्टर-जेनरल ने जवानों की परीक्षा की। उन्हें एक खाली मैदान में ठहराया गया। रात को बिस्कुट और गुड़ खाने को मिला। बिस्कुट तो दाँत तोड़ डालने की धमकी दे रहे थे और एक छटाँक गुड़ से होने ही वाला क्या था। लेकिन, जवानों ने हनुमानजी की सेना का रूप लेकर आज की समस्या हल कर दी थी। उसी मैदान में रात बीती। सबेरे 14 मील चलकर विले शहर में पहुँच वह अपनी पलटन से जा मिले। पलटन उस वक्त फाइरिंग लाइन से पीछे हटकर बिलेत (विश्राम) के लिए आ रही थी।

1 सितम्बर 1915 के 3 बजे 75 जवानों की टुकड़ी विले शहर में बटालियन में मिली थी। यह स्थान

लड़ाई की खन्दकों से 14 मील पीछे था। नई टुकड़ी के स्वागत के लिए हर कम्पनी के कुछ आदमी तथा हर बटालियन के कुछ अफसर पेटी बाँधे खड़े थे। कमांडिंग अफसर ने नवागन्तुकों की टुकड़ी का निरीक्षण किया। फिर उन्हें अलग-अलग कम्पनियों में बाँट दिया गया। चन्द्रसिंह 2-31 गढ़वाल राइफल के कम्पनी नम्बर 6 के 12वें सेक्शन में रक्खे गये। इस सेक्शन में उनके गाँव के समीप के रहनेवाले सिपाही भी थे, और दो तो उनके अपने ही गाँव के थे। कम्पनी में पहुँचने पर वहाँ के भाई आ मिले। बहुत दिनों से उन्हें अपने गढ़वाल और देश का कोई हाल नहीं मिला था। इनमें पढ़े-लिखे लोग थे ही नहीं, होते भी तो उनके पढ़ने के लिए अखबार सुलभ नहीं था। दोनों तरफ से पूछताछ हुई। इसी समय रोटी आ गई।

'शतं विहाय भोक्तव्यं' की कहावत का मानना सबसे पहिले जरूरी था। उस दिन की रोटी को चन्द्रसिंह और उनके साथी जवान कभी नहीं भूल सकते। भूख सूखी लकड़ी को भी मीठी बना देती है, यह कहकर साथियों ने जिज्ञासा को पूरा कर दिया। अभी रोटी खाये देर नहीं हुई थी, इसी वक्त अचानक सीटी बजी। सभी जवान राइफलें हाथ में लेकर अपने-अपने मकानों के सामने खड़े हो गये। इसी समय कम्पनी के कमाण्डर कम्पनी में आये। आध घंटे तक उन्होंने सामान का निरीक्षण किया, फिर राइफल का अभ्यास कराया। इसके बाद हर वक्त तैयार रहने का हुकुम देकर वह चले गये।

पलटन लड़ाई की खन्दकों में बैठकर जब लड़ती रहती है, तो वहाँ की स्थिति के कारण कुछ ही दिनों में सिपाहियों का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। दिन-रात किसी समय भी वह अपने बूट और पट्टी को उतार नहीं सकते। वह कपड़े हफ्तों शरीर पर रहते हैं। न उन्हें एक क्षण के लिए हटाया जा सकता है, न नहाने के लिए पानी मिलता है। कितने ही कमाण्डर खेत आते हैं, जिनके कारण खाने-पीने के प्रबन्ध में भी शिथिलता हो जाती है, और जवानों को ठीक से पर्याप्त भोजन नहीं मिलता। इसीलिए कम-से-कम हर महीने 15 दिन के लिए आगे की खन्दकोंवाले सैनिकों को पीछे हटाकर किसी गाँव में भेज दिया जाता है, इसी को बिलेत (विश्रान्त) कहते हैं। बिलेत के लिए हटाई पलटनें किसी गाँव में चली जाती हैं। फ्रांस में वह गाँववालों से जगह माँगते थे। मकान-मालिक जानते थे कि इन्हीं के कारण हमारा गाँव-घर जर्मनों के हाथ में जाने से बचा है, इसलिए वह सारा मकान छोड़कर किसी एक कमरे में चले जाते। वहाँ के अधिकांश मकान दुमंजिला थे, और इतने कमरे होते थे, कि एक मकान में एक कम्पनी आसानी से ठहर सकती थी।

युद्ध की खन्दकों में

7 सितम्बर को अचानक उस बटालियन को फाइरिंग लाइन में जाने का हुकुम हुआ, जिसमें चन्द्रसिंह थे। एक दिन का राशन पकाने के वास्ते फिर दो घंटे का समय दिया गया। 1 बजे दिन को बटालियन फालिन की गई और 15 मिनट बाद वह युद्ध की खन्दकों के लिए रवाना हुई। 14 मील जाना था, जिसे पाँच घंटे में तै करने का हुकुम दिया गया था। लेकिन युद्धक्षेत्र में पूरी चाल से चलना अपने हाथ में नहीं है। जहाँ दुश्मन के तोप के गोले गिर सकते हों और जहाँ की हरएक चीज को दुश्मन दूरबीन से देख रहा हो, वहाँ बहुत सावधानी से अपने को बचाकर आगे बढ़ना पड़ता है। पहिले दो मील उन्होंने दो घंटे में तै कर लिये, लेकिन बाकी सात मील को पूरा करने में पाँच घंटे लग गये। सड़क के दोनों किनारे झाड़ियाँ और पेड़ खड़े थे, जिनकी आड़ में छिपते वह खन्दक से तीन मील पर पहुँच गये। अब छिपने के लिए न पेड़ था, न झाड़ी। गोले-गोलियों की मार से बचने के लिए संचार–कम्युनिकेशन–नालियाँ खुदी हुई थीं, जिनकी आड़ में निहुरकर असली खन्दक तक पहुँचना था। जैसे ही ये लोग संचार-नालियों के सिरे पर पहुँचे, कि चों-चों फट्-फट्-फट्-फट् करती हुई जर्मनों की गोलियाँ सिर पर से गुजरने लगीं। उनसे सिर्फ एक आदमी और दो खच्चर मारे गये। जब गोलियाँ चलने लगीं, तो जवान सड़क के दोनों किनारे से जाती नहरों में कूद पड़े। इनमें पानी कम था, लेकिन कीचड़ कमर-भर थी। गोलियों की बौछार बन्द हुई। लोग फिर संचार-नाली में घुस पड़े। नाली 4 फीट चौड़ी और 4 फीट गहरी थी, अर्थात आदमी सिर झुकाये ही इसके भीतर छिप के चल सकता था। संचार-नालियाँ सिंचाई की नहरों की तरह नाक की सीध नहीं खोदी जातीं, बल्कि साँप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी चलती हैं, जिससे भीतर

चलनेवाले सैनिकों को और अधिक आड़ मिलती है। मोर्चे पर गोरा बटालियन लड़ रही थी। बड़ी सावधानी से उनके बाएँ पहुँचकर भारतीय जवानों ने उनका स्थान लिया और वैसी ही सावधानी के साथ हटनेवाले सैनिक एक दूसरी संचार-नाली से बिलेत के लिए वापस लौट गये।

चार्ज लेने के बाद पहिला काम यह करना था कि हर एक सेक्शन और उसके सिपाही को अपनी-अपनी जगह मालूम करना, फिर आगे दुश्मन के मोर्चे को देखना, उसके फासले का अन्दाजा लगाना और अपने दाएँ-बाएँ की जगहों की जानकारी प्राप्त करना। यह सब बातें–तड़ाक-फड़ाक बता दी गईं। नये जवानों ने टूटी-फूटी खन्दकों की मरम्मत कर ली। हर सिपाही को उसकी ड्यूटी बताई गई और दूसरी आवश्यक बातें भी। हरएक खन्दक के सामने एक-एक आदमी ड्यूटी पर खड़ा किया गया, बाकी लोग खन्दकों में जाकर बैठ गये।

चन्द्रसिंह और उनके साथी दुश्मन के सामने थे। प्रतिदिन सवेरे और शाम आध घंटे सैनिकों को तैयार (स्टेण्ड टु) रहना पड़ता, क्योंकि इसी समय दुश्मन एक-दूसरे पर अक्सर हमला किया करते हैं। इस समय पाखाने-पेशाब के लिए सिपाहियों को खिसकना पड़ता है। ऐसे मौके से दुश्मन लाभ उठाना चाहता है। रात के समय फौजें पेट के बल धीरे-धीरे सरककर दुश्मन की खाइयों के नजदीक पहुँचना चाहती हैं। सफल होने पर सबेरा होते ही वह उनके ऊपर धावा बोल देती हैं। इसीलिए शाम-सवेरे आधा घंटा फौजें पूरी तरह सावधान होकर खड़ी हो जाती हैं, जिससे दुश्मन गफलत से लाभ न उठा सके। चन्द्रसिंह की पलटन ने जब-जब शत्रु पर हमला किया तो इसी समय।

खाइयों में चन्द्रसिंह का यह पहिला दिन था। एक बहुत हल्की पिस्तौल दागी गई। आसमान में जाकर गोली फूटकर लाल रोशनी बन गई। फिर फैलकर गिरने लगी। गिरते वक्त अब रोशनी सफेद थी। इस गोली का और रोशनी का काम है आसपास की चीजों को दिन की तरह दिखला देना, जिसमें दुश्मन का पता लग सके। सभी सिपाही मुस्तैद खड़े थे। राइफलें और तोपें दगने लगीं। गड़गड़ाहट से जमीन-आसमान एक हो गये। धरती सचमुच काँपने लगी। आकाश में गोले-गोलियाँ इधर से उधर, उधर से इधर सनसनाती जा रही थीं। नये आये सैनिकों के दिमाग चकरा गये। मृत्यु के वाहक इन गोले-गोलियों के बीच किसको जीवन की आशा हो सकती थी ? न जाने गोली किसके लिए यमराज का संदेशा लाये। लेकिन, सैनिक चार फीट गहरी खाइयों में थे। खून के प्यासे गोले-गोलियाँ ऊपर आकाश में फिर रहे थे। चन्द्रसिंह को यह सब देखकर जान पड़ता था, कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ।

आध घंटे बाद दोनों ओर की राइफलें और बन्दूकें नीरव हो गईं। सूर्योदय हुआ। सामने की जमीन पर रुंड-मुंड पेड़ और जर्मनों का मोर्चा दिखाई पड़ रहा था। कुछ को पहरे पर रखकर बाकी जवानों को डिसमिस–मुक्त–कर दिया गया। सब अपने नित्य कर्म में लगे।

चन्द्रसिंह के सेक्शन का कमाण्डर–संचालक–गोपालसिंह हवलदार था। सेक्शन के सभी आदमी अपने कमाण्डर से बहुत प्रसन्न थे। वह हमेशा खुश रहता और दूसरों को खुश रखने की कोशिश करता। किसी के ऊपर अन्याय न करता, न होने देता। सभी सिपाही उसके लिए सगे भाई जैसे थे। किसी को भला-बुरा कहना उसे आता ही नहीं था। इन गुणों के कारण सभी जवान अपने हवलदार का हुकुम मानने और उसके लिए जान की बाजी लगाने के लिए तैयार थे। चन्द्रसिंह के बारे में तो वह और भी अधिक लिहाज रखता था। उसने अपने सेक्शन के सभी पुराने सिपाहियों को कह दिया था कि चन्द्रसिंह नया सिपाही है। आजकल नये रंगरूट ज्यादा मर रहे हैं, क्योंकि वह नहीं जानते कि खन्दकों में किस तरह चलना चाहिए। सचमुच चन्द्रसिंह भी यह गलती कर रहे थे। खन्दकें चार-साढ़े चार फीट की थीं, जबकि चन्द्रसिंह साढ़े पाँच फीट लम्बे थे और खन्दक से ऊपर उनके सिर का निशाना दुश्मन आसानी से ले सकता था। गोपालसिंह और सेक्शन के पुराने सिपाहियों ने इसके लिए चन्द्रसिंह को बहुत सावधान किया।

सिपाहियों में से एक का काम था पेरिस्कोप से आगे की जमीन को देखना और दूसरे का काम था राइफल को तैयार रख दुश्मन के दिखाई देते ही उस पर गोली चलाना। पेरिस्कोप एक लकड़ी के बक्स की तरह का था, जिसके ऊपर और नीचे शीशे लगे हुए थे। ऊपर का शीशा इस तरह लगा था, जिससे सामने की जमीन

का दृश्य तिरछे लगे हुए एक दर्पण पर पड़े और वह दर्पण अपने प्रतिबिम्ब को एक दूसरे शीशा पर उतारता, जिसे नीचे बैठा आदमी देख सकता था। इस प्रकार पेरिस्कोप की मदद से खन्दकों से सिर निकाले बिना आगे के दृश्य को देखा जा सकता था। पेरिस्कोप देखनेवाले को गोली लगने का खतरा नहीं था, क्योंकि वह खन्दक के नीचे बैठा रहता था। ज्यादा हुआ, तो पेरिस्कोप गोली से उड़ सकता था। लेकिन, दुश्मन की खन्दकों की देखभाल करते जो सिपाही राइफल लिये वहाँ खड़ा रहता, उसके मरने का हर वक्त खतरा था। पुराने सिपाही इस ड्यूटी को पूरा करते हुए भी अपने को बचाना जानते थे।

सेक्शन के हरएक आदमी को तीन-तीन घंटे ड्यूटी देनी पड़ती थी। ड्यूटी से मुक्त आदमी डग-औट (भुइँधरे) में सोते रहते। शाम को अलार्म का समय आता, या कहीं से खतरे का संकेत करते तोप का लाल गोला गिरता, तो सभी जवान अपनी-अपनी खंदकों में तैयार हो जाते। उस दिन अलार्म हुआ। आकाश में गोले-गोलियाँ सनसनाने लगीं, और चारों ओर धुआँ ही धुआँ दिखाई देने लगा। इस गोलेबारी में चन्द्रसिंह की पलटन का अंग्रेज अफसर, जो बी. कम्पनी का कमाण्डर था—मारा गया, उसका नाम शायद मेजर बाटन था। यद्यपि गोलियाँ खन्दक के ऊपर से सीधी निकल जाती थीं, पर गोले अर्धवृत्त में चलकर कभी उसी जगह गिरते, जहाँ लोग खन्दकों में बैठे रहते। बाटन की मृत्यु गोले से हुई थी।

पहिले दिन चन्द्रसिंह की ड्यूटी पीने के लिए पानी भरकर लाने की थी। एक कम्पनी में प्राय 24 जवान होते हैं। हरेक जवान के पास पानी के लिए एक-एक टामलोट होता है। चन्द्रसिंह और उनके सेक्शन का एक और आदमी बारह-बारह टामलोट (बोटल, पानी का कुप्पा) लेकर पानी भरने गये। उनके साथ एक हवलदार भी था। नहर पर जाकर उन्होंने अपने-अपने टामलोट भरे। पानी लेकर लौटे। चन्द्रसिंह पीछे रह गये। हल्की-हल्की वर्षा हो रही थी, जमीन कीचड़ से भरी थी। पैर फिसल गिया। संचार-नाली में पानी भर न जाय, इसके लिए जगह-जगह पानी जमा करने के गड्ढे खुदे हुए थे। उन्हीं में से एक में चन्द्रसिंह फिसलकर जा पड़े। सिर उनका गड्ढे की एक ओर पड़ा और पैर दूसरी तरफ अटक गया। वहाँ से निकलना मुश्किल था। बदन में बारह-बारह पानी के भरे कुप्पे उलझे हुए थे। उनके वजन ने और दबा दिया था। उनके फीते कन्धों से जकड़ गये थे। उठने की बहुत कोशिश की, लेकिन सब बेकार। खैरियत थी, जो उनका सिर पानी में नहीं घुसा था, नहीं तो जर्मनों की नहीं, वरुण देवता की वह बलि हुए होते। साथी अपने सेक्शन में पहुँच गये। चन्द्रसिंह के सेक्शन ने रिपोर्ट दी कि हमारा पानीवाला चन्द्रसिंह नहीं आया। लेकिन रिपोर्ट पर तुरन्त काम करना खन्दकवालों के लिए आसान थोड़े ही था।

चन्द्रसिंह वहीं बारह टामलोटों को लिये कुछ देर पड़े रहे। उसी रास्ते कुछ गोरे सिपाही गुजरे। वह चन्द्रसिंह से थोड़ा ही पीछे पानी भरने गये थे। वह उसे लेकर लौट रहे थे। उन्होंने दूसरे आदमी को नाली में पड़ा देखा, तो उसे बाहर निकाला। पर, मुश्किल यह थी कि न गोरे हिन्दी जानते थे, न चन्द्रसिंह अंग्रेजी का एक अक्षर। कम्पनी कमाण्डर के पास उन्होंने पेश किया। वह भी हिन्दी नहीं जानता था। लेकिन हरेक सिपाही के गले में एक टिकट लटकता रहता है, जिसमें पलटन का नम्बर और सिपाही का नाम खुदा रहता है। अफसर ने टिकट को पढ़कर अपने दो गोरे सैनिकों को चन्द्रसिंह की पलटन के आफिस में भेज दिया। हेड-क्वार्टर ने कम्पनी में भेज दिया। चन्द्रसिंह की लथपथ हालत देखकर साथी खूब हँसे।

जिस समय वह अपनी कम्पनी में पहुँचे, उस समय रात का 1 बज चुका था, जवान ड्यूटी से छूटकर रोटी की प्रतीक्षा कर रहे थे। सभी भूख के मारे बेचैन थे। रिमझिम वर्षा अब भी चल रही थी। रोटी आई, सबने खाया। फिर चन्द्रसिंह और कुछ आदमियों को संचार-नाली खोदने के लिए भेज दिया गया। राइफल और गोली-गट्ठे से लदे खन्ती से खोदने का काम आसान नहीं था, लेकिन वह तो ड्यूटी थी। इस तरह चन्द्रसिंह का खन्दकों में पहिला दिन बीता।

दूसरे दिन सुबह का अलार्म हुआ। धुआँधार गोलियाँ चलने लगीं, फिर पहिले ही दिन की तरह यंत्रवत् काम शुरू हुआ। सैनिकों के लिए रात-दिन एक जैसा था। इसी में बासी-कुसी रोटी खाकर वह आराम कर लेते।

शाम को 4 बजे चन्द्रसिंह को ड्यूटी मिली थी, पेरिस्कोपवाले के पास राइफल लेकर खड़ा हो दुश्मन

की गतिविधि देखना और आसमान में उड़ते हुए विमानों की खबर देते स्वयं गोली चला देना। इसी महायुद्ध में पहिले-पहिल युद्ध के लिए हवाई जहाजों का प्रयोग हुआ था। शाम आई। फिर अलार्म हुआ, फिर इन्द्रवाण चलने लगे। 36 घंटे ही में चन्द्रसिंह अब बहुत बातें सीख गये थे। सचमुच मौत से बढ़कर कोई शिक्षक नहीं हो सकता।

उस दिन शाम को कुछ और जवानों के साथ वह सेक्शन के अपने बारह आदमियों के लिए रोटी लाने गये। अँधेरा हो गया था, जबकि संचार-नाली होते चार मील दूर की दुनिया में एक सड़क पर पहुँचे। यहीं उन्हें रोटी के आने की प्रतीक्षा करनी थी। जेनरल हेड-क्वार्टर रोटियाँ बाँटता था। वहाँ से जब आदमी रोटी लाता, तब वह इन्हें मिलतीं। जेनरल हेड-क्वार्टर के मुख्य अफसर ब्रिग्रेडियर-जेनरल खन्दकों से 15-16 मील पीछे रहते हैं। उन्हीं के साथ ब्रिगेड के रसोइये, भिश्ती, नाई, धोवी, क्लर्क आदि रहते हैं। फाइरिंग लाइन से दूर सुरक्षित स्थान में रहकर ये सारा प्रबन्ध करते हैं। जेनरल हेड-क्वार्टर वहाँ तक रसद-पानी भेजने का जिम्मेवार था, जहाँ पर कि चन्द्रसिंह बैठे रोटी का इंतिजार कर रहे थे।

अन्त में क्वार्टर-मास्टर सब सामान लिवाये आया। उसने रोटी को सेक्शन कमाण्डर हवलदार के हाथ में दे दिया, जिसने सामान लेकर बाँट दिया और सब लोग खाकर अपनी-अपनी ड्यूटी पर चले गये। आज रणदेवी ने उनके पास के लोगों में किसी की बलि नहीं ली।

तीसरा दिन आया। चन्द्रसिंह और एक और सिपाही को एक लैंस-नायक के साथ चटनी गारद के काम पर लगाया गया। इस गारद का काम चटनी की तरह चटपटा नहीं होता, बल्कि इसके ऊपर मौत का वारंट रहता है। चटनी गारद का काम है अपनी खन्दकों से निकलकर दुश्मन के मोर्चे के निकट तक जा यह पता लगाना कि कहीं छिपकर दुश्मन हमारी तरफ बढ़ तो नहीं रहा है। चटनी गारद अपनी और परायी दोनों सेनाओं के बीच चटनी बनने के लिए रहता है, क्योंकि दोनों तरफ की छोड़ी गोलियाँ अपने-पराये का बिलकुल खयाल नहीं रखतीं।

तीनों आदमी अलग-अलग सेक्शनों के थे। चन्द्रसिंह को उनके हवलदार ने अच्छी तरह खतरे को समझा दिया, और अपना बचाव कैसे करना चाहिए, इसके लिए भी हिदायत कर दी थी। चन्द्रसिंह सारा सामान लेकर तैयार हो सब साथियों से हाथ मिलाकर अन्तिम विदाई समझते हुए उस जगह गये, जहाँ से उन्हें आगे बढ़ना था। कमाण्डर ने, पूरा सामान है कि नहीं, उसे अच्छी तरह देखा। फिर उस दिन के लिए हेड-कवार्टर ने जो संकेत-शब्द बतलाये थे, उसे बतलाया। वह आज 'दिल्ली' था। दूसरी भी जो आवश्यक बातें थीं, उन्हें भी बतला दिया गया। अपनी और दुश्मन की खाइयों के बीच में खड़े होकर मार्च करते भला कैसे जाया जा सकता है ? वहाँ जाने के लिए जवान को पेट के बल पड़ जाना पड़ता, फिर धीरे-धीरे साँप की तरह खिसकते आगे बढ़ना था। दुश्मन का मोर्चा उनकी खन्दकों से करीब सौ गज पर था। 60 गज आगे जाने पर तोप का गड़हा मिला, इसी में चटनी गारदवाले बैठ गये। वह 11 बजे अपनी खन्दकों से चले थे, उन्हें 4 बजे लौटकर आना था। इसमें एक घंटा आने और एक घंटा जाने का रक्खा गया था। हाँ, इतनी मंद गति से सरकना पड़ता है, सौ गज के चलने में एक घंटा लग जाता है। सरकते-सरकते बीच में रुक भी जाना, पड़कर चारों तरफ नजर दौड़ाना, कहीं गड़हा मिला, तो उसमें बैठकर आराम नहीं, नजर दौड़ाना है। उन्होंने 3 बजे तक अच्छी तरह देखभाल करने के बाद अपनी खन्दकों की ओर मुँह किया। फ्रांस और यूरोप हमारे देश से अधिक दूर उत्तरी-अक्षांश में हैं, इसलिए जब वहाँ दिन छोटा होने लगता है, तो हमारे यहाँ से कहीं अधिक छोटा हो जाता है, और बड़ा होने लगता है, तो कहीं अधिक बड़ा। यह बढ़ाव-घटाव कितना होता है, इसका अंदाज इसी से लग सकता है कि रूस की पुरानी राजधानी लेनिनग्राद में कुछ महीनों तक रात होती ही नहीं, और सन्ध्या और उषा एक दूसरे को समालिंगन करने लगती हैं। फ्रांस के इस स्थान में दिन उतना तो छोटा नहीं था, लेकिन 3 बजे के बाद जब चन्द्रसिंह और उसके साथी लौटने लगे, तो रात आ गई थी। सितारे आसमान में छिटक गये थे। तारों के स्थान-परिवर्तन और जहाँ-तहाँ मिलनेवाले चिन्हों को देखकर उन्हें अपने स्थान पर पहुँचना था, लेकिन वह उनका ठीक से पता न पा दिशा भूल गये। उनको यह नहीं मालूम हुआ, कि हम जर्मन

पंक्तियों की तरफ जा रहे हैं। पास पहुँचने पर जर्मन सन्तरी ने 'हाल्ट (ठहरो)' पुकारा। चन्द्रसिंह और उनके साथियों को उसकी बात समझ में नहीं आई। चन्द्रसिंह के नायक ने समझा, हमारी ओर का कोई सन्तरी बोल रहा है, इसलिए उसने 'दिल्ली-दिल्ली' कह दिया। सन्तरी ने रोशनी देनेवाली गोली चलाई। सब चीजें साफ दिखाई देने लगीं। रोशनी से अपने को छिपाने की चन्द्रसिंह के साथियों ने कोशिश की। चन्द्रसिंह एकाएक चौंक पड़े, और छिपने की जगह वह पीछे की ओर बेतहाशा दौड़े। बीस कदम दौड़ने पर एक गड़हा मिला, जिसके भीतर वह दुबक गये। जर्मनों ने गोलियाँ दागनी शुरू कीं। उनके दोनों साथी वहीं ढेर हो गये। उस रात और अगले सारे दिन चन्द्रसिंह उसी गड़हे में छिपे रहे। दूसरी रात आई। शाम का अलार्म और उसके बाद की गोलाबारी खतम हो गई। फिर वह लौटकर अपने मोर्चे में आये, लेकिन मोर्चे में घुसना इतना आसान हो, तो दुश्मन का आदमी भी घुस सकता। सिपाही सन्तरी ने हाल्ट कहा, जिसके जवाब में चन्द्रसिंह ने अपने सांकेतिक शब्द 'दिल्ली' को दोहराया। हेड-क्वार्टर का संकेत हर रोज बदलता रहता है, क्योंकि वैसा न करने से दुश्मन को उसका पता लग सकता है। जब 'दिल्ली' से काम नहीं बना, तब उन्होंने 'मैं चन्द्रसिंह हूँ, मैं चन्द्रसिंह हूँ' कहना शुरू किया। लेकिन, सन्तरी बिना असली संकेत के किसी को मोर्चे के भीतर कैसे आने दे सकता था ? चन्द्रसिंह ने न आव देखा न ताव, अपनी खाइयों के भीतर जबर्दस्ती कूद पड़े। सिपाही गोली चला सकता था, लेकिन वह भी सन्देह में पड़ गया था। चन्द्रसिंह को कम्पनी-कमाण्डर के सामने पेश किया गया, उन्होंने अपनी सारी कहानी सुनाई, और साथियों के मारे जाने की सूचना दी। इसी रात को दो और आदमियों के साथ चन्द्रसिंह फिर चटनी गारद बनकर गये, पर मरे या जीते, उनके साथी नहीं मिले।

पाँचवें दिन चन्द्रसिंह की ड्यूटी खन्दक पर रही। दो-दो बार वह चटनी गारद हो आये थे, इसलिए इस दिन को अमन-चैन से गुजरते देखकर उन्हें बड़ा संतोष हुआ। शाम के अलार्म में उनकी कम्पनी का एक आदमी मारा गया। रात को भी उन्हें मोर्चे की ड्यूटी करनी पड़ी।

छठे दिन को चन्द्रसिंह आसानी से भुला नहीं सकते। खन्दक पर उनकी ड्यूटी 12 बजे से 2 बजे दिन तक थी। वह अकेले अपनी पोस्ट (जगह) पर थे। किसी-किसी पोस्ट पर दो जवान होते हैं, और किसी-किसी पर एक। चन्द्रसिंह पोस्ट पर अकेले थे। उनके गाँव के सिपाही ने पूछा—"चन्द्रसिंह, तुम्हारे पास इंडिया का सिगरेट है ?"

"है, लेकिन भुइँधरे में है, ड्यूटी से छूटने पर ला दूँगा।"

वहाँ अधिकतर फ्रांस की सिगरेटें मिलती थीं, जो कड़ी होती थीं, इसलिए सिपाही इंडिया की नरम सिगरेट ज्यादा पसन्द करते थे। फ्रांस में भी अच्छी सिगरेटें क्या होती नहीं, लेकिन भारतीय सिपाहियों को सबसे घटिया और कड़ी सिगरेटें ही दी जाती थीं।

साथी पास में बैठकर उँगलियों से ढूँढ़-ढूँढ़कर अपनी कमीज की जूएँ मारने लगा। जूएँ सिपाहियों के लिए बड़ी आफत थीं। झटपट अपनी कमीज को पहनकर उसने चन्द्रसिंह से कहा—"जाओ, सिगरेट ले आओ। तब तक मैं तुम्हारी जगह खड़ा रहूँगा।" चन्द्रसिंह ने अपनी राइफल साथी के हाथ में पकड़ा दी, और सिगरेट लेने के लिए भुइँधरे की ओर चल पड़े। सिगरेट लेकर साथी जंगीसिंह तीसरी खन्दक में सिगरेट जलाने गया। जैसे ही दियासलाई जलाई, वैसे ही एक गोला आकर उस जगह गिरा, जहाँ जंगीसिंह खड़ा था। सारी खन्दक काँप उठी। गोले की उछाली मिट्टी आकर चन्द्रसिंह के ऊपर गिरी। होश का क्या ठिकाना रह सकता था ? लोग दौड़कर आये। पूछा—"तुमको चोट तो नहीं आई ?" लेकिन, साथी के पास गये तो देखा, जंगीसिंह का शरीर चिथड़े-चिथड़े हो चुका है, सिर चूर-चूर हो गया है, हाथ-पैर कुचले गये हैं, राइफल टूटी पड़ी है। पास के जिस भुइँधरे में साथी सोये थे, उसका मुँह मिट्टी से बन्द हो गया था। दम घुटकर मरने में क्या देर थी ? झटपट द्वार को खोलकर उन्हें बाहर निकाला गया। सब घबराये हुए थे। बेचारा जंगीसिंह इंडिया सिगरेट भी नहीं पी सका। जगह-जगह बिखरे उसके अंगों को बोरी में भरकर दफनाने के लिए भेज दिया गया।

सातवें दिन चन्द्रसिंह की विशेष ड्यूटी नहीं थी, लेकिन वह दिन बिना घटना का नहीं रहा। फ्रांस के मोर्चे पर सिपाहियों की वर्दियाँ ऊनी कपड़े की थीं। उनसे पानी का भी बचाव होता था और सर्दी का भी।

नहाने-धोने का कोई इंतिजाम खन्दकों में कैसे हो सकता था ? हफ्तों बूटों के भीतर पड़ी पैरों की अँगुलियाँ सड़ने लगतीं, लेकिन वह उन्हें निकाल नहीं सकते थे, वर्दी को भी शरीर से हटा नहीं सकते थे। जमीन भीगी थी, जिसमें वह अपनी वर्दियाँ पहने पड़े रहते। सारे शरीर में जूएँ पड़ जाती थीं। कुछ सिपाहियों को बुखार भी आने लगा था। जूओं की बीमारी लाखों सैनिकों को लगी थी। इससे बचने के लिए एक मटमैले रंग का चूर्ण छोटे-छोटे डब्बों में भरकर आया। हर एक सेक्शन में एक-एक डब्बा भेज दिया गया। हिन्दुस्तानी सिपाहियों को मालूम नहीं था, कि यह क्या चीज है। लेवल अंग्रेजी में था, अंग्रेजी अक्षर उनके लिए भैंस बराबर थे। चन्द्रसिंह की प्रत्युत्पन्न मति ने साथ दिया। उन्होंने डब्बे को खोला। देखा, गरम मसाला जैसा था। उसकी सुगन्ध भी कुछ वैसी ही मालूम हुई। उन्होंने अपनी राय दी, और दूसरों से भी पूछा, लोगों ने कहा—"हमारे लिए देश से गरम मसाला आया है।" चन्द्रसिंह को उस दिन कोई खास ड्यूटी नहीं थी। सिपाहियों को उबले आलू की तरकारी मिलती थी, जो कल से वासी उनके पास पड़ी हुई थी। चन्द्रसिंह ने सोचा, आज मसालेदार आलू की तरकारी खिलानी चाहिए। भुइँधरे के वाहर उन्होंने आग जलाई, और 'गरम मसाला' डालकर उसे खूब पका दिया।

खाकर सभी सिपाही वाह-वाह करने लगे। दूसरे सिपाही भी सुनकर अपनी-अपनी रोटी लिये पास आये और गरम मसालेवाली तरकारी माँगकर खाने लगे। आधे से अधिक सिपाहियों ने उसे खाया। चन्द्रसिंह बाँटते ही रह गये, उनको इस बात का अफसोस हुआ, कि मेरे लिए कुछ नहीं रह गया। स्वाद विलकुल गरम मसाले जैसा था, इसलिए किसी को पता नहीं लगा। लेकिन जल्दी ही खानेवाले उल्टी करने लगे। उनके मुँह से झाग निकलने लगी। डाक्टर के पास तुरन्त खबर भेजी गई। कम्पनी-कमाण्डर अंग्रेज था। उसने पूछा, तो चन्द्रसिंह ने डब्बा दिखा दिया। वह झल्लाकर कहने लगा—"बेवकूफ, यह जूएँ मारने की दवा है। किसने तुम्हें बताया कि यह गरम मसाला है ?" डाक्टर ने भी बहुत डाँटा-फटकारा। खैर, दवा दी गई और लोगों ने कै करने की साँसत जरूर भरी, कोई मरा नहीं। चन्द्रसिंह को बहुत अफसोस और लज्जा लगी। जब लोगों को पता चल गया कि यह जूओं को मारने की दवा है, तो वह डब्बे में से चुटकी भरकर अपनी पीठ, छाती और दूसरी जगहों में डाल लेते। थोड़ी-सी जलन मालूम होती। इसके बाद जूएँ अपने-आप जमीन पर गिरने लगतीं। लोग पट्टी खोलकर पतलून झाड़ते, तो एक-एक तोले-भर जूएँ नीचे झड़ पड़तीं।

कुछ दिन और बिना किसी घटना के बीते। बारहवें दिन सुबह के अलार्म के खतम हो जाने के बाद चन्द्रसिंह कुछ और जवानों के साथ रोटी लाने के लिए गये। नाली से निकलकर सड़क पर रोटीवालों के आने का इंतिजार कर रहे थे। वह सदा ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे तक जरूर आ जाते थे। उस दिन एक बजे तक कोई नहीं आया। देर होते देख फाइरिंग लाइन से पता लगाने दूसरी पार्टी आई। वह भी बैठकर वहाँ रोटी का इंतिजार करने लगी। तीन बजे तक भी कहीं रोटी का पता नहीं था। बिना रोटी लिये वह खाली हाथों लौटते कैसे ?

फ्रांस में सड़कों का ताँता बिछा हुआ है। गाड़ियाँ, घोड़ेगाड़ियाँ और दूसरी सवारियाँ हर गाँव में पहुँचती है। सड़कों के जाल में रोटीवाले रास्ता भूल रात-भर भटकते रहे। सवेरा होने पर वह लौट के हेड-क्वार्टर चले गये। खन्दक की बटालियन को टेलीफोन किया गया, रोटीवाले रास्ता भूल गये थे। रात-दिन भूखे रहने के बाद तीसरे दिन 12 बजे रात को रोटी मिली। मोर्चे पर हर बार दो वक्त की रोटी और आधा ड्राम शराब भी सिपाहियों को दी जाती। गोरे सिपाहियों का राशन कालों से बहुत अच्छा था, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

विलेत पर

पन्द्रह दिन खन्दकों में रहने के बाद अब चन्द्रसिंह की बटालियन को विश्राम मिला और उनकी जगह लेने के लिए एक पंजाबी बटालियन आ गई। भुइँधरों में यद्यपि वह पन्द्रह ही दिन रहे, लेकिन जान पड़ता था, पन्द्रह युग बीत गये। वहाँ खुलकर साँस लेना भी उनके लिए सम्भव नहीं था। खन्दकों से निकलकर चौदह मील

चलने के बाद उन्हें एक गाँव मिला, जहाँ चार मकान लेकर हरएक में एक-एक कम्पनी ठहर गई।

इसी समय वहाँ बम बनानेवाली पार्टी संगठित की गई। वह बम तैयार करके फाइरिंग लाइन में पहुँचाती थी। चन्द्रसिंह को उसके ग्रिंडिंग–पीसने–सेक्शन में भेज दिया गया। यह विश्राम सात ही दिन तक रहा। इसके बाद फिर उन्हें फाइरिंग लाइन में भेज दिया गया, लेकिन अबकी वार वह उसी जगह नहीं भेजे गये। यह दूसरी जगह थी, जो बिलेत के स्थान से 28 मील पर थी। रास्ता बहुत ऊबड़-खाबड़ था, जगह-जगह मकान गिरे पड़े थे। अँधेरा हो गया था, जब कि लोग संचार-नाली के पास पहुँचे। उन्हें एक गोरा-बटालियन की बगल में रक्खा गया। बल्कि कहना चाहिए उनको एक तरफ करके मोर्चे के आधे हिस्से में उन्हें रख दिया गया। उनकी पलटन की शेष तीन कम्पनियाँ कुमक के रूप में पीछे रक्खी गईं। चन्द्रसिंह की खन्दक फाइरिंग लाइन के मोर्चों से 25 गज आगे थी। यहाँ साँप की तरह बनी खन्दक में एक मशीनगन रक्खी हुई थी। स्थान आसपास से कुछ ऊँचा था। चन्द्रसिंह के साथ 23 और भारतीय थे और उन्हीं के साथ चार-पाँच गोरे थे, जिनके जिम्मे बम थे। चन्द्रसिंह की बटालियन को सिर्फ दस दिन के लिए फाइरिंग लाइन में भेजा गया था। जर्मनों का मोर्चा वहाँ से नजदीक था। वह अंग्रेजी फौज को बहुत नुकसान पहुँचा रहे थे। जर्मनों को कुछ जगह से हटाना आवश्यक था। अंग्रेज सेनापतियों ने यह चाल चली, दाहिने मोर्चे पर सरगर्मी दिखाई जाय, जिससे जर्मन समझने लगें, कि हमला इधर से होगा। जर्मन फौज के नीचे एक सुरंग भी खोदी गई, जिसका पता जर्मनों को नहीं था। अगले दिन उस स्थान पर काफी फौजें जुटा ली गईं। उन्होंने जब धोखे में आकर उस जगह सारा जोर लगाया, तो अंग्रेजी फौजों ने दूसरी ओर से होकर उन पर हमला करके उस महत्वपूर्ण स्थान पर कब्जा कर लिया।

उस दिन फाइरिंग लाइन में दोहरे आदमी लगाये गये थे, जिन्होंने जर्मनों को सर उठाने नहीं दिया, बराबर उन्हें भयभीत करके रक्खा। पुराने सिपाही बतला रहे थे, आज की तरह की बमवर्षा कभी नहीं देखी थी। उस दिन सारा आकाश गोले-गोलियों के धुएँ से भर गया, अँधेरा छाया हुआ था। जमीन थर्रा रही थी। गैस का धुआँ भी बहुत छोड़ा गया था, जिससे बचने के लिए सब सिपाहियों के मुँह पर गैस-मुखारे थे। चन्द्रसिंह ने गैस-मुखारा लगाकर पहिले-पहिल यहाँ लड़ाई लड़ी। दोनों ओर से बहुत-से सिपाही हताहत हुए।

सिपाही जिन्हें अपनी आँखों से देखते थे, वे घटनाएँ कम सनसनी-भरी नहीं होती थीं, पर उनसे भी अधिक विचित्र घटनाएँ वह एक-दूसरे के मुँह से सुनते थे। चन्द्रसिंह ने तरह-तरह की अफवाहें सुनीं। एक में कहा गया था–25 दिसम्बर 1914 को बड़ा दिन आया। जर्मन खन्दकों से सफेद झंडियाँ हिलने लगीं, वहाँ से आवाज आने लगी, 'इंडिया नो फायर' (भारतीयो, फायर मत करो)। इस पर भारतीयों ने भी अपनी रूमालें हिलाईं। जर्मन अपनी खन्दकों से बाहर निकल आये, भारतीय भी बाहर चले आये। फिर दोनों ओर के सिपाही अपने भेद-भाव को छोड़कर एक दूसरे से भाई की तरह गले लगे, हाथ मिलाया। करीब एक घंटे तक यह मेल-मिलाप जारी रहा। फिर दोनों ओर से सीटियों के बजने पर लोग अपनी-अपनी खन्दकों में चले गये। जर्मनों ने कहा–"इंडिया, नो फायर, यु हाई फायर।"–(भारतीयो, गोली न दागो, तुम ऊपर दागो)। भारतीयों ने भी वही बात दोहराई। परिणाम यह हुआ, कि एक हफ्ते तक दोनों ओर से ऊँचा फायर होता रहा, किसी तरफ का कोई आदमी हताहत नहीं हुआ। पीछे जब अंग्रेज अफसरों को इसका पता लगा, तो उन्होंने भारतीयों को दूसरी जगह हटा दिया। यह अफवाह बेबुनियाद हो सकती है, पर इसके भीतर भारतीयों की यह भावना काम कर रही थी, जिसके कारण वह यह समझते थे, कि हम अंग्रेजों के लिए नाहक की लड़ाई लड़ रहे हैं। जर्मन हमारे शत्रु नहीं हैं और न जर्मन किसान-मजूर सन्तानों के हम दुश्मन हैं।

इस तरह की एक और भी अफवाह चन्द्रसिंह ने सुनी : 28 नवम्बर 1914 की लड़ाई में गढ़वाली पलटन का जर्मन पलटन से मुकाबला हुआ। कई गढ़वाली सैनिक मारे गये। इस पर गढ़वालियों को बहुत क्रोध आया और उन्होंने जर्मनों पर जबर्दस्त हमला कर दिया। जर्मन सिपाही खन्दकों से बाहर निकल भागे। गढ़वालियों ने उनका पीछा किया। उनके सारे अंग्रेज़ अफसर पीछे रह गये। अफसरों के न रहने पर भी गढ़वाली सिपाहियों ने बड़ी बहादुरी से दुश्मन को पीछे ढकेल दिया। अंग्रेज अफसरों ने पहुँचकर उन्हें हाल्ट (ठहरो) का हुकुम दिया। लेकिन सिपाही गुस्से में इतने पागल हो गये थे कि वह जर्मनों को भगाते ही चले गये। बड़ी मुश्किल से बिगुल

द्वारा पीछे लौटने का हुकुम दिया गया, तव वह लौटे।

दूसरी बार की लड़ाई के वाद चन्द्रसिंह की पलटन विलेत के लिए वापस आ गई। एक गाँव में आकर फिर कवायद-परेड शुरू हुई, रात-दिन का एक-सा जीवन आरम्भ हुआ। यहाँ अब खवर उड़ने लगी, कि हमारी पलटन को हिन्दुस्तान भेजा जायेगा। लेकिन, इसकी सत्यता का पता 18 अक्तूवर को लगा, जवकि 9 वजे शाम को चन्द्रसिंह की पलटन मारसेई के लिए रवाना हुई।

चन्द्रसिंह सिर्फ दो महीना आठ दिन फ्रांस में रहे, जो उनके लिए यह दो वर्ष से कम नहीं मालूम होते थे। इतने दिनों में वह फ्रांस को क्या देख पाये ? उनका अधिकांश समय रेलों और भुइँधरों में वीता। बिलेत में किसी गाँव में रहना पड़ता था, वहाँ पर भी वह एक सीमा के भीतर वन्दी थे। लेकिन तव भी कुछ फ्रांसीसी लोगों से उनका साबका पड़ा था। वह देखते थे कि अतिथि-सत्कार करना फ्रांसीसियों का एक खास गुण है। वह जब किसी फ्रांसीसी के घर जाते, तो स्त्री या पुरुष वड़ी नम्रता और सहृदयता का व्यवहार करते। मेहमान को फल, दूध, मक्खन या किसी प्रकार की मिठाई का उपहार दे जलपान कराते। यदि सिपाहियों के हाथों कोई नुकसान भी हो जाता, तो उसके लिए कुछ बोलते नहीं थे। यह सिपाहियों की संगीनों के डर के मारे नहीं, वह भी कम धीर और वीर नहीं थे।

चन्द्रसिंह अब तक अपने गढ़वाली गाँवों से ही परिचित थे। उन्होंने भारत के दूसरे गाँवों को नहीं देखा था। गढ़वाल की स्त्रियाँ खेती-बारी के काम में पुरुषों से भी आगे वढ़ी हुई हैं। एक तरह कहा जा सकता है कि उनके सामने पहाड़ के पुरुष निकम्मे हैं। खेती करने में सिर्फ हल के लिए वहाँ पुरुषों की आवश्यकता होती है; बाकी सारा काम स्त्रियाँ कर लेती हैं। पर, तव भी उन्हें पुरुषों का अवलम्ब तो लेना ही पड़ता है। वहाँ फ्रांस में वह देख रहे थे कि सारे पुरुष वन्दूकें लेकर चले गये हैं और घरों में केवल स्त्रियाँ तथा नन्हे-नन्हे बच्चे रह गये थे। पर फ्रांस की स्त्रियों में किसी तरह की बेवसी या भय नहीं दिखाई पड़ता था। वह सारे काम को ठीक से चला रही थीं। बच्चों की ही देखभाल नहीं करती थीं, वल्कि हल जोतती थीं, गाड़ी हाँकती थीं। मकानों के ऊपर जर्मन बमवर्षक मँडराते थे, गोले गिराते, दूर तक की मार करनेवाली तोपों के गोलों से मकानों के आसपास गिर पड़ते थे। उनकी स्त्रियाँ वह पर्वा नहीं करती थीं। कितनों ही के घर तोप के गोलों से टूट गये थे, पर उसी के बचे हुए हिस्से में वह निर्भय रहा करती थीं।

फ्रांस के गाँव उन्हें बहुत साफ मालूम हुए। जिन्दों के घर ही नहीं, मुर्दों की कब्रें भी बहुत साफ थीं। दीवालों को अच्छी तरह सजाकर रक्खा गया था। यह देखकर आश्चर्य मालूम होता था कि कुत्ते छोटी-छोटी गाड़ियाँ खींचते थे, जिनमें नन्हे-नन्हे बच्चे बैठते। बिल्लियाँ मशीन पर बैठकर दूध की लस्सी मथ रही हैं। वहाँ के बाजारों में उन्होंने यह भी देखा कि एक दुकान पर एक ही चीज विका करती थी।

6

देश में (1915 ई.)

मारसेई से उन्हें अक्तूबर में देश के लिए जहाज मिला। गढ़वाली पलटन के उनके साथी बहुत दिनों तक फ्रांस में नहीं रहे थे, पर उन्हें देश लौटने में प्रसन्नता थी, साथ ही अपने मारे गये साथियों के लिए हरेक के हृदय में बहुत खेद था। पर सबको गर्व था, कि दो गढ़वाली वीरों–गोबरसिंह और दरबानसिंह–को वीरता का सबसे ऊँचा तमगा विक्टोरिया क्रास मिला।

मारसेई से चलकर वह स्वेज–पोर्त सईद–पर उतरे, सभी जवान बहुत भूखे थे। लड़ाई के कारण प्रबन्ध में शिथिलता हो सकती है, पर वस्तुतः अंग्रेज अपने भारतीय सैनिकों को जानवरों से थोड़ा ही बेहतर समझते थे। स्वेज नहर पर उतरकर फरवरी 1916 में उन्हें खाइयाँ खोदनी पड़ीं, फिर उनके लिए एक दूसरा जहाज

खाली करके दिया गया। एक दिन भूखे सिपाहियों ने जानना चाहा, कि जहाज में कोई खाने की चीज है ? देखा, वहाँ कितनी ही बोरियाँ हैं। एक बोरी को उठाकर पटका, वह फट गई, और उसमें से जौ निकल पड़े। यद्यपि वह घोड़ों के लिए थे, पर आदिम मानव ने जब जौ खाना शुरू किया तो उसने आग और चक्की का सहारा नहीं लिया। भूख सभी चीजों को मीठी बना देती है। सिपाही पड़े हुए जौ को उठाकर चबाने लगे। कोई भी ऐसा नहीं रहा, जिसने उसे उठाकर न खाया हो। चन्द्रसिंह ने आधा सेर जौ फाँक डाला। रोटी शाम को मिली। यदि अकस्मात यह जौ न मिले होते, तो कितनी मुसीबत होती। यात्रा में भोजन तो दुर्लभ था ही, साथ ही पानी को भी दूध समझकर दिया जाता था। स्वेज में रहते एक दिन चन्द्रसिंह को 6 दूसरे सिपाहियों के साथ तरकारी आदि लेने के लिए भेजा गया। छहों में वही सबसे सीनियर–जेठे–थे, इसलिए वही कमाण्डर बने। खच्चर लेकर वह रसद के स्थान पर गये। गोरों ने उन्हें आलू, शलजम आदि दिये। फिर वह उन्हें एक छोलदारी में ले गये। बेचारे चाहते थे कि सिपाहियों को घास-पात से कुछ बढ़िया चीज दी जाय। छोलदारी में खाल छीलकर एक पूरा बैल रक्खा था। पास ही में एक बड़ा छुरा पड़ा हुआ था। गोरों ने इशारे से बतलाया–"देर क्यों करते हो, काटो, और ले जाओ।" बैल को देखते ही चन्द्रसिंह भागकर बाहर निकल आये। एक गोरे ने न जाने क्या समझकर दौड़कर चन्द्रसिंह का हाथ पकड़ लिया, और हाथापाई हो गई। चन्द्रसिंह ने राइफल की बेंट उस पर चलाई। मदद के लिए दूसरे गोरे आये, तो चन्द्रसिंह के साथी भी जुट पड़े। कुछ देर बाद अंग्रेज अफसर आया, उसने उन्हें समझाकर छुड़ाया।

बम्बई में जहाज से उतरने के बाद चन्द्रसिंह और उनके साथी सीधे आगरा आये। दो गढ़वालियों ने विक्टोरिया क्रास पाया था। इसकी देश में धूम मची हुई थी। राजा-महाराजा अंग्रेजों के बल पर ही भारत में जिन्दा थे, इसलिए वह हर तरह से अपनी राजभक्ति दिखलाने के लिए लालायित रहते थे। आगरे में गढ़वाली वीरों के स्वागत के लिए उनकी ओर से खास तैयारी हुई। राजाओं के गारद ने सलामी दी, बैण्ड बजाये। गढ़वाली सिपाहियों को कुर्सी पर बैठाकर चाय पिलाई गई। फलों और मिठाइयों का ढेर सामने रक्खा था। उनके शरीर पर केवड़ा और गुलाब के अतर लगाये गये, मानपत्र दिया गया और सभी ने उनकी बहादुरी की सराहना की।

आगरे से चलकर चन्द्रसिंह और उनके साथी लैन्सडौन पहुँचे, यहाँ भी उनका स्वागत हुआ, फूलमाला दी गई। लेकिन, लैन्सडौन से पहिले कोटद्वार में एक बड़ी दुःखदायक घटना हुई। रूपसिंह सिपाही फ्रांस के मोर्चे पर पहरा दे रहा था। रात-दिन वहाँ जगा रहना पड़ता था, इसके कारण रूपसिंह को नींद लग गई। यह भारी अपराध था, उसे गोली मार देने की सजा हुई। लेकिन, गढ़वाली अपनी अद्भुत वीरता का परिचय दे चुके थे, इसलिए रूपसिंह को गोली नहीं, बेंत मारे गये। अब तक किसी गढ़वाली सैनिक को ऐसी सजा नहीं हुई थी। रूपसिंह के मन पर इस अपमान का भारी आघात पड़ा। बेंत खाकर वह गढ़वाल में किस मुँह से जाय। कोटद्वार पहुँचने पर अपनी ही गोली से अपने जीवन का अन्त कर दिया। मरते समय उसने अपनी चिट्ठी में यह सब बातें लिखी थीं।

लैन्सडौन में आने के बाद लाम पर से आये सिपाहियों को अपने-अपने घरों में जाकर सगे-सम्बन्धियों से मिल आने की छुट्टी मिली। 1 अप्रैल 1916 को चन्द्रसिंह की बटालियन के दक्षिण पक्ष को दो महीने की छुट्टी मिली। वाम पक्ष को वार्षिक चाँदमारी के अभ्यास को पूरा करते रेजिमेण्ट की ड्यूटी, कवायद-परेड करते रहना पड़ा। कम्पनी के कुछ आदमी शिमला में वायसराय की सेवा में भेजे गये। दक्षिण पक्ष की दो कम्पनियाँ जब छुट्टी पर गई थीं, उसी समय वाम पक्ष की कम्पनियों के कुछ चुने हुए सिपाहियों की पढ़ाई-लिखाई की परीक्षा ली गई, जिनमें चन्द्रसिंह भी थे। वह जवारहसिंह, मूसा पादरी और गाँव के पण्डित के पास क्या पढ़ पाए थे, इसका हमें पता है। लेकिन, परीक्षा कोई कठिन नहीं थी। भूगोल था, जिसका काफी व्यावहारिक ज्ञान अपनी फ्रांस तक की यात्रा के कारण उन्हें मिल चुका था। इसके अतिरिक्त लिखना-पढ़ना, थोड़ा-सा इतिहास और कुछ मामूली गणित था। चन्द्रसिंह परीक्षा में पास हुए।

दक्षिण पक्ष के लौट आने पर वाम पक्ष को दो महीने की छुट्टी मिली। छुट्टी के समय हरेक सिपाही को

लड़ाई के दिनों की सारी तनखा और 90 रुपया अग्रिम मिला था। चन्द्रसिंह अब छुट्टी में जा रहे थे। उन्होंने इन रुपयों में से अपने और घर के लिए कुछ कपड़े बनाये, 40 रुपया नकद ले कितने ही मित्रों के साथ घर का रास्ता पकड़ा।

इतने दिनों बाद और मृत्यु के मुँह से लौटकर आये बेटे को देखकर माँ-बाप क्यों न निहाल हो जाते ? गाँव के लोग भी बड़े प्रसन्न हुए। सबने लड़ाई की बातें पूछीं। चन्द्रसिंह ने जो देखा था, उसे बतलाया।

छुट्टी का एक महीना घर में बिताकर वह पड़ोस के गाँव में अपने एक दोस्त से मिलने गये। रास्ते में जंगल पड़ता था। मित्र से मिलकर जब वह लौट रहे थे, तो घने जंगल के एक नाले में पहुँचने पर अचानक एक भालू ने हमला कर दिया। भालू उनके लिए बिलकुल अपरिचित जानवर नहीं था, क्योंकि इन्हीं जंगलों में वह लड़कपन में गाय चराने आया करते थे। भालू, यद्यपि भयंकर जानवर है, पर आदमी से सभी जानवर डरते हैं। भालू के बच्चे पास ही में थे। शायद उसको खयाल आया कि यह आदमी मेरे बच्चों को पकड़ने आया है। हल्ला करके चन्द्रसिंह ने भगाने की बहुत कोशिश की, लेकिन भालू ने उन्हें खड्ड में दे पटका और उसके बाद वह अपने बच्चों की ओर भागा। चन्द्रसिंह को इतना मौका नहीं मिला कि वह निकल भागते। बच्चों को कुछ दूर छोड़ भालू फिर आया, और चन्द्रसिंह को लेकर उसने समतल जमीन पर पटक दिया। पहाड़ी लोग यह गुर जानते हैं कि भालू मुर्दे को नहीं छूता, इसलिए वह गुमसुम आँखें बन्द करके पड़ रहे। भालू ने इधर-उधर उलट-पलटकर देखा, समझा आदमी मर चुका है। फिर डुवों-डुवों करके शोर मचाता, फुर्र-फुर्र करके सारे शरीर पर थूकता रहा। पहिली झपट में चन्द्रसिंह का बायाँ हाथ भालू के मुँह में आ गया, भालू ने मुँह में चबाकर उसकी हड्डी तोड़ दी। हथेली के दोनों ओर उसके दाँत घुस गये। एक उँगली तो बिल्कुल टूट गई। सारे शरीर को उसने अपने नाखून से चीर दिया, कपड़े धज्जी-धज्जी हो खून से सन गये।

चन्द्रसिंह देर तक वहीं पड़े रहे। जब जाना कि भालू आसपास नहीं है, तो साहस करके उठ खड़े हुए, और लँगड़ाते किसी तरह घर पहुँचे। घर के लोग देखकर घबड़ा उठे। माँ और बीवी रोने लगीं। चन्द्रसिंह ने उन्हें धीरज धराया। उनके मामा-ससुर ने दवाई की। सात दिन में घाव भर गया, लेकिन हाथ की हथेली खराब हो गई थी। मुट्ठी खुलती ही नहीं थी। छुट्टी से दस दिन पहिले ही वह लैन्सडौन के अस्पताल में जाकर भरती हो गये, लेकिन वहाँ भी हथेली ठीक नहीं हो सकी। अब वह पलटन के काम के नहीं थे, इसलिए उनका नाम काट दिया गया। जीवन में उनके लिए यह सबसे बड़ी निराशा थी।

फ्रांस में एक अंग्रेज अफसर कीचड़ में फँस गया था, वह वहाँ से निकल नहीं सकता था। संयोग से उस समय चन्द्रसिंह वहाँ पहुँच गये। उन्होंने उसे कीचड़ से बाहर निकाला। यह एक तरह से नया जीवन देना था। अंग्रेज बड़ा कृतज्ञ था। उसने अपने त्राणकर्ता का फोटो अपने मेम के पास भेजा। मेम जब-तब चन्द्रसिंह के पास सिगरेट के डब्बे भेजा करती थी। अफसर उस समय द्वितीय लेफ्टिनेंट था। उसने इस समय अपने उपकारक की सहायता करना कर्तव्य समझा। उसकी लिखा-पढ़ी पर हाथ का आपरेशन हुआ, और हथेली ठीक हो गई। चन्द्रसिंह का नाम फिर से पलटन में लिख लिया गया।

30 जुलाई से अगस्त के आखिर तक लैन्सडौन में चन्द्रसिंह ड्यूटी बजाते रहे। उनकी बटालियन को स्काउटिंग के लिए तैयार किया गया था। बटालियन के अच्छे प्रमाण पत्रवाले तथा चुस्त 90 नौजवानों को खुफिया–सी. आई. डी.–के लिए चुना गया, जिनमें चन्द्रसिंह भी थे। उनका काम था सभी तरह की खबरों को जमा करके पलटन के पास भेजना, जर्मनी का नक्शा बनाना, झण्डी और सिगनेलिंग का काम सीखना, जर्मनों की अवस्था के बारे में पता, रास्तों और दुश्मनों के बाबत रिपोर्ट देना इत्यादि काम उन्हें सिखाये जाने लगे। मनसा यही मालूम होती थी, कि उन्हें फिर जर्मनों के मुकाबले में जाना पड़े।

यहाँ की सिखलाई खतम कर लेने पर एडवान्स (अग्रिम) गारद के साथ उन्हें दिल्ली भेजा गया। 1916 ई. की दिल्ली आज की दिल्ली नहीं थी। नई दिल्ली तो तब बिल्कुल वीरान सुनसान-सी थी, लेकिन आजकल की कुछ सड़कें उस वक्त भी मौजूद थीं। राजपथ के नाम से मशहूर आज की सड़क उस वक्त किंग्सवे कही जाती थी। इसी के ऊपर पलटन का कैम्प पड़ा था। इसी में चन्द्रसिंह का गारद आकर रहने लगा। जब वायसराय

शिमला से दिल्ली चले आये, तो वायसराय-भवन में उन्हें ड्यूटी देनी पड़ती। यह ड्यूटी देते हुए भी उनकी बटालियन ने महरौली–कुतुव मीनार–में ब्रिगेड की ट्रेनिंग ली। वहाँ चन्द्रसिंह ने स्केटिंग का काम सीखा। वह उसमें इतने चुस्त थे कि अंग्रेज अफसर उनसे बहुत खुश हुए। उन्होंने अच्छी सिफारिश की। नवम्वर 1916 से मार्च 1917 तक पाँच महीने चन्द्रसिंह को रेजिमेण्ट की ड्यूटियों से मुक्ति मिली। इस समय चन्द्रसिंह और उनके 89 साथी एक अंग्रेज अफसर से रोमन लिखना-पढ़ना सीखते रहे। वह किंग्सवे कैम्प से दूर-दूर सड़कों पर जाकर स्केच बनाते। शाम को आकर अपने अफसर को रिपोर्ट दिया करते। सारी 90 आदमियों की टुकड़ी में चन्द्रसिंह अपने काम में अब्वल समझे गये।

7

मेसोपोतामिया युद्ध-क्षेत्र (1917 ई.)

अपने कामों में चुस्त और दक्ष होने के कारण अव चन्द्रसिंह को लैन्सनायक बना दिया गया, और वह 12वीं प्लाटून के चौथे सेक्शन के कमाण्डर थे। कमाण्डर इसलिए हो गये थे कि उस सेक्शन का पहिला कमाण्डर बीमार होकर अस्पताल चला गया था। सेक्शन में 28 के करीब जवान थे, जो सभी चन्द्रसिंह से सीनियर थे। उन्हें यह क्यों पसन्द आने लगा, कि कल का छोकरा हमारा कमाण्डर बन जाय। छोकरा होने पर भी उनके स्वभाव में गम्भीरता, सोचने की ताकत थी, और नम्रता तो मानो जन्म के साथ उन्होंने पाई थी। वह अपने को कमाण्डर नहीं, बल्कि सिपाही के तौर पर रखकर उनकी इज्जत करते थे। थोड़े दिनों में सभी लोग उनसे बहुत खुश हो गये।

1917 के आरम्भ होते फिर अफवाह उड़ने लगी, कि गढ़वाली पलटन को कहीं बाहर जाना है। यह अफवाह झूठी नहीं निकली। 19 मार्च 1917 को रेल में बैठकर दिल्ली से कराची के लिए रवाना हो 21 मार्च को वह कराची के बन्दर पर पहुँच गये। बसरा के लिए जहाज भी मिलने में देर नहीं हुई। यह जहाज भी अरब समुद्र से ही गया, लेकिन इसे स्थल से बहुत दूर हटके जाना नहीं था। मौसम भी उतना प्रतिकूल सावित नहीं हुआ। अब वह समुद्र-यात्रा के कुछ अभ्यासी भी हो चुके थे। 3 अप्रैल को उनका जहाज बसरा पहुँच गया। सभी जवान मेसोपोतामिया की धरती पर उतर गये। महीने-भर कैम्प डालकर पलटन अपने मामूली कवायद-परेड में लगी रही। गर्मी का महीना था, और बसरा की गर्मी मामूली गर्मी नहीं थी। भारत में भी लू चलती है, लेकिन वहाँ रेगिस्तान की बालू हवा में उड़कर सिपाहियों को तंग कर रही थी। गर्मी के मारे शरीर पर फुन्सियाँ छा गईं। डाक्टरों ने सलाह दी, सबको हर रोज एक दिन नदी में नहाना चाहिए, जिसके लिए हरेक कम्पनी अपने सरदार के साथ जाती थी।

एक दिन चन्द्रसिंह की कम्पनी फालिन होकर लेफ्ट-राइट करते दजला–टाइग्रिस–नदी में नहाने के लिए गई। जवान धड़ाधड़ नदी में कूदे, और तैरते एक-दूसरे के ऊपर छींटे उछालने लगे। चन्द्रसिंह की तरह जो तैर नहीं सकते थे, वह किनारे ही पर हाथ-पैर पटककर नहाने लगे। चन्द्रसिंह को किनारा नहीं छोड़ना चाहिए था, पर नहाते समय वह थोड़ा-थोड़ा खिसकते कमर-भर पानी में चले गये। समझा था, जब तक पानी नाक से ऊपर नहीं जाता, तब तक खतरा क्या ? लेकिन मेसोपोतामिया का यह विशाल दरिया लहरें मारता समुद्र में मिलने जा रहा था। एक बार वह नदी के हिलोरे में पड़ गये। बहुत बचने की कोशिश की, लेकिन दरिया खींचकर भीतर ले गया। ऊब-चूब करते पानी पीने लगे। इसी समय औरों की निगाह पड़ी और उन्हें बाहर निकाला गया। उसी दिन से सैनिकों को हुकुम हुआ, कि जो तैरना नहीं जानता, वह पानी के भीतर न जावे।

मई के महीने में गर्मी और बढ़ गई। इसी समय उनकी कम्पनी को कत-अम्वारा भेजा गया। ड्यूटी बिलकुल मामूली थी, लेकिन गर्मी हद दर्जे की थी। 10 बजे सवेरे से 10 वजे रात तक छोलदारी से बाहर निकलना

असम्भव था। हवा बड़ी तेज चलती, जिसमें बालू और छोटे-छोटे कंकड़ उड़ते रहते। रसोई में भी रेत भर जाती, कइयों को पेचिश होने लगी। लोग गर्मी के मारे दरिया के पानी के किनारे पड़े रहते। दूसरे लोग भीतर घुसकर नहाते, पर चन्द्रसिंह को घुसने में डर लगता। फिर सोचा न जाने किस समय जरूरत पड़ जाय, मुझे भी तैरना सीखना चाहिए। डूबने का भय था। वहाँ नदी के किनारे खजूरों के बहुत-से पेड़ थे। एक में उन्होंने रस्सी बाँध दी, और उसे अपनी कमर में लगाकर पानी में घुस पड़े। हाथ-पैर मारने लगे। थोड़े ही दिनों में वह पानी के ऊपर अपने शरीर को सँभालने में सफल हो गये, तैरना खूब सीख गये।

कैम्प में एक दिन तीन सिपाही पहरे पर थे। इनमें चन्द्रसिंह भी थे। रात के वक्त किसी सिपाही ने सपने में 'हुआ हुआ' करना शुरू किया। बगल के सिपाही चौंक पड़े। उन्होंने भी उस सिपाही का साथ दिया। थोड़ी देर में सारी बटालियन चौंक पड़ी। सभी जगह हो-हल्ला मच गया। । बजे रात का समय था। कहा जाने लगा, कि तुर्क नजदीक आ गये हैं। उस अँधेरी रात में सारी बटालियन नहीं, बल्कि सारा ब्रिगेड जाग पड़ा। अलार्म बजने लगा। सब लोग मुस्तैद होकर खड़े हो गये। घंटे-भर यह तमाशा रहा। फिर कहीं कुछ न देखकर मुश्किल से लोग चुप कराये जा सके।

यहाँ से अब चन्द्रसिंह की पलटन और ऊपर की ओर बगदाद शरीफ पहुँची। बगदाद में चन्द्रसिंह को अर्दली-हवलदार का काम मिला, जो बड़ी जिम्मेवारी का काम था। एड्जुटेण्ट और क्वार्टर-मास्टर जो भी हुकुम निकालते उन सबको हरेक कम्पनी को सुनाना, कम्पनी के सभी जवान को नम्बर के अनुसार ड्यूटी पर लगाना, कम्पनी की गिनती का हिसाब रखना, ठीक समय पर कम्पनी को फालिन कराना इत्यादि काम अर्दली-हवलदार के जिम्मे थे।

बगदाद से पलटन ने फिर कूच किया। पैदल चार-पाँच पड़ाव चलने के बाद 27 सितम्बर को वह एक गाँव में पहुँची, जो सीरिया लाइन–युद्ध पंक्ति–में था। चन्द्रसिंह को इस पैदल-यात्रा में जितना कष्ट उठाना पड़ा, वैसा सारे सैनिक जीवन में नहीं मिला। जमीन रेतीली थी, कोई सड़क नहीं थी। आगे बढ़ने की कोशिश करते तो बालू पैर को पीछे खिसका लाती। सुबह से शाम तक के लिए सिर्फ एक डब्बा (टामलोट)-भर पानी मिलता, और वहाँ प्यास से हर वक्त मुँह सूखा रहता। रोटी हमेशा बासी खानी पड़ती, और वह भी पेट-भर नहीं। प्रतिदिन 18 से 24 मील का फासला तै करना पड़ रहा था। चलते-चलते बूट से घिस-घिस करके पैरों में छाले पड़ गये। लाम पर सिपाही को अपना सारा सामान पीठ पर लादके चलना पड़ता है। इसके कारण कूल्हे की हड्डियों पर रगड़ लगकर घाव हो गया। कन्धा टूटा जा रहा था। नहाने का सवाल ही क्या था, जब पानी के बिना प्यास से जबान फटी जा रही थी। सबके ऊपर पैर मिलाकर फौजी मार्च करते सारे अनुशासनों को पालन करना पड़ता था। सामान के अतिरिक्त अपनी राइफल, संगीन, 100 कारतूस, 2 बम, 1 भुजाली, चमड़े का कुछ सामान, पेटीपोछ, राशन का टीन, ओवरकोट, झोला, टामलोट, जुराब का जोड़ा, सुई-पट्टा, गिलास आदि कितने सामान उनके ऊपर लदे हुए थे। जब इन सारी मुसीबतों को बर्दाश्त करते थके-माँदे सिपाही पड़ाव पर पहुँचते, तो उसी वक्त उन्हें डेरा लगाना पड़ता, कमर-कमर तक गहरी खाई खोदनी पड़ती। फिर सारी रात बारी-बारी से पहरा देना पड़ता। टट्टी-पेशाब के लिए गड्ढा खोदना, चौका-बरतन करना, अंग्रेज अफसरों के सामान को सँभालना, और ऊपर से रात-भर ड्यूटी करना–पहरा देना पड़ता था।

2 बजे शाम का समय था, सारा ब्रिगेड सीरिया लाइन में पहुँचा। इस ब्रिगेड में चन्द्रसिंह की गढ़वाली बटालियन, एक गोरा रेजिमेण्ट, छह गोरखा और दो देशी बटालियनें सब मिलाकर छह पलटनें (बटालियनें) थीं। पड़ाव में पहुँचकर उस दिन कैम्प नहीं लगाया गया। हुकुम मिला–"दो घंटे में खाना बनाकर तैयार कर लो। पलटन 6 बजे शाम को आगे के लिए कूच करेगी।" चन्द्रसिंह की बटालियन उस रात एडवान्स (अग्रिम) गारद थी, इसलिए ब्रिगेड के आगे-आगे उसको चलना था।

खाना पकाने का हुकुम तो हो गया, लेकिन पकावें क्या ? चन्द्रसिंह की डबल कम्पनी में उस दिन सिर्फ दो मन आटा था। ढाई सौ आदमियों का इतने से क्या बनता ? लेकिन, इस पर बहस करने का वहाँ मौका कहाँ था। पूरियाँ पकाई गईं, आदमी पीछे दो-दो पड़ीं। सिपाही भूखे थे। पूड़ी खाकर आगे बढ़े, उन्हें एक गाँव

मिला। गाँव के सब लोग भाग गये थे, पर उनकी भेड़-बकरियाँ वहाँ मौजूद थीं। घरों में अनाज भी था। सिपाहियों में किसी ने बकरा उठाया, किसी ने दुम्बा और किसी ने अनाज को ही उठा लिया। उन्होंने गेहूँ भून-भूनकर चबाया। पेट की ज्वाला कुछ शान्त हुई। दो पूड़ियों से क्या बननेवाला था ?

फिर कूच का बिगुल बजा। बटालियन फालिन हो गई। अँधेरा होते ही उसने कूच किया। रात को चलते-चलते एक बजे के करीब वह दुश्मन की पाँती के नजदीक पहुँची। यहाँ तुर्को से लड़ाई हो रही थी। अँधेरी रात थी, कहीं कुछ दिखाई नहीं देता था। किसी तरह हाथ पकड़-पकड़कर सिपाहियों ने अपनी पाँती बनाई। वह सबेरे तक इस तरह नहीं रह सकते थे, क्योंकि उजाला होते ही तुर्क उनको देख लेते, और फिर गोले-गोलियों के वह सीधे निशाना बनते। उसी अँधेरे में उन्होंने खन्दक खोदनी शुरू की, और सुबह 6 बजे तक वह तैयार भी हो गई। पौ फटते ही दोनों ओर से तोपें दगने लगीं। बड़ी मुश्किल थी। नींद के मारे उनकी पलकें मन-मन भर की हो गई थीं, लेकिन भूख-प्यास उन्हें हल्का करने में सहायक थीं।

रमादी युद्ध (27-29 सितम्बर 1917)

तोपखानों और मशीनगनों ने धुआँधार गोले-गोलियों की वर्षा करनी शुरू की। इसी वक्त हुकुम हुआ—"गढ़वाली, आगे बढ़ो।" रात-भर मेहनत करके उन्होंने जो खाइयाँ खोदी थीं, उसे पीछे छोड़कर वह आगे बढ़े। गढ़वाली पलटन के पीछे गोरखा पलटन, उसके पीछे देशी पलटन, और सबके पीछे गोरा रेजिमेन्ट आगे बढ़ रही थी। सम्भव है, ऐसा ही हो रहा हो; पर भारतीय सैनिकों की यह आम धारणा थी कि अंग्रेज हमें आगे झोंककर हमेशा पीछे-पीछे चला करते हैं। एक देशी पलटन उसी खन्दक में बैठ गई, जिसे गढ़वाली बटालियन ने रात को खोदा था। वह दुश्मन के बाएँ पक्ष पर हमला करना चाहते थे। दिन-भर चक्कर मारकर सूर्यास्त होने से कुछ पहिले वह रमादी के करीब पहुँचे, शहर पर तीनों तरफ से घेरा डाल दिया। यहाँ जमीन बिलकुल समतल, पर बालूवाली और पथरीली थी। तुर्कों की पाँती और गढ़वाली पलटन की पाँती के बीच बहुत अन्तर नहीं था, लेकिन बीच में कुछ उभरी हुई जमीन थी। इस उभार के कारण तुर्को की गोलियाँ गढ़वाली सैनिकों को न लग सिर के ऊपर से निकल जाती थीं। लेकिन, तोपों के गोले धनुषाकार ऊपर उठकर नीचे गिरते हैं। इनके कारण आदमियों का भारी संहार हो रहा था। इन्हीं गोलों से गढ़वाली बटालियन के सूबेदार-मेजर संग्रामसिंह नेगी और कई सिपाही मारे गये। संग्रामसिंह के मरने का सारी बटालियन को बड़ा अफसोस हुआ। वह हमेशा अपने सिपाहियों की भलाई के लिए तैयार रहता, जिसके कारण कितने ही अंग्रेज अफसर उससे कुढ़ते भी थे।

सूर्यास्त हुआ। गढ़वाली सैनिक आमने-सामने होकर दुश्मन के ऊपर गोली चलाने लगे। तुर्कों की गोलियों से कई मारे गये, कई जख्मी होकर तड़पने लगे। चारों ओर हल्ला मचा हुआ था। तुर्को का मोर्चा पक्का था। उन्हें यह भी पता था, कि हमारे दुश्मन कितनी दूर पर हैं। वह निशाना लगाकर गोलियाँ चला रहे थे। भारतीय सैनिक बिलकुल खुले मैदान में थे। वह किसी की ओट नहीं ले सकते थे। गोलियों की बौछार में उस रात के अँधेरे ने कुछ सहायता की। गढ़वालियों ने खाइयाँ खोदनी शुरू कीं। हरेक काम पर जोड़े-जोड़े आदमी लगाये गये थे। सामने दुश्मन अपने मोर्चे से ऊपर उठाकर गोली न चलावे, इसलिए सिर के जरा-सा ऊपर निकलते ही गोली चला देते। दूसरा आदमी उसकी आड़ लेकर खाई खोदने में लगा रहता था। एक घंटे में मोर्चा बिलकुल तैयार हो गया। अब अँधेरा भी काफी हो चला था।

मौत को बरसानेवाले इन गोले-गोलियों की बात सुनकर कितने ही पाठकों को बहुत डर लगता होगा, लेकिन सिपाही उनकी उतनी पर्वा नहीं करते, क्योंकि वह जानते हैं, हम मौत से खेल करने के लिए ही यहाँ आये हैं। इसीलिए न डरते थे, न उनमें कोई घबराहट थी। रमादी की इस लड़ाई में उन्हें यदि किसी बात का दुख था, तो वह था पानी। 26 मील चलकर आने पर लोगों को खाइयाँ खोदनी पड़ीं। बहुत गर्मी थी। चारों तरफ 'पानी-पानी' की आवाज सुनाई दे रही थी। बटालियन के अंग्रेज अफसर ने अपने डाक्टर और क्वार्टर-मास्टर को पानी भेजने के लिए लिखा। लेकिन 30 मील के अन्दर वहाँ पानी कहाँ था ? पानी नजदीक

था भी, तो वह तुर्कों के इलाके में था। फुरात नदी शहर के पास से बह रही थी। पता लगाने पर मालूम हुआ कि हमारी भूमि में वर्षा के पानी जमा करने के लिए एक तालाव है। शहर के सारे जानवर इसी में पानी पीते, और इसी में लीद-गोबर करते। कौवे-चील भी उसी को पीते गन्दा करते। उसी के भीतर मरे कुत्ते, गीदड़ सड़ रहे थे, जिनकी ठठरियाँ दिखाई पड़ रही थीं। वदवू के मारे उसके पास वैठना भी मुश्किल था। यही पानी हाथ में था। डाक्टर ने उसमें पोटाशियम प्रेंग्मनाइट की लाल दवाई सारे तालाव में नहीं, वल्कि कान्वेस की बनी पानी भरने की टंकियों में डाल दी। मुमकिन है, उसके कीटाणु मर गये हों, परन्तु वदवू उससे कहाँ जानेवाली थी ? उसी पानी को दो पखालों में भरकर चन्द्रसिंह की कम्पनी में भेजा गया। उन्हें सीनियर सूबेदार के पास रख दिया गया। चन्द्रसिंह के प्लाटून के सूबेदार ने टामलोट देकर वड़े सूबेदार के पास पानी माँगने के लिए भेजा। चन्द्रसिंह ने जाकर कहा—"साहव, हमारे प्लाटून के सूबेदार साहव ने पानी माँगा है।" सूबेदार बड़ा तुनुकमिजाज था। गुस्से में आकर गाली देने लगा। लोगों के ऊपर दनादन गोलियाँ चल रही थीं और दूसरी ओर प्यास उन्हें मार रही थी। ऐसे समय गाली वर्दाश्त करना आसान नहीं था। चन्द्रसिंह खून का घूँट पी गये। उनके देह में राइफल लटक रही थी। कारतूस भी, दो वम भी थे, भुजाली भी एक ओर लटक रही थी। जब मरने के लिए आये थे, तो डर किस वात का ? सूबेदार ने गाली देकर गुस्सा वहुत भड़का दिया था।

चन्द्रसिंह ने सोचा, इस मूजी की गाली तो सुन ही चुका, अव खाली हाथ जाना, सवसे बड़ा अपमान होगा। वह टामलोट का मुँह खोलकर पानी के पखाल की ओर झपटे, जो कि सूबेदार के सामने खन्दक के पास रक्खी थी। पखाल का मुँह खोलकर वह टामटोल जल्दी-जल्दी भरने लगे। पखाल हाथ से छूटकर खन्दक में गिर गई। मुँह खुला था, पानी भभककर गिरने लगा। पखाल को सीधा करने की बहुत कोशिश की, लेकिन वह सीधी नहीं हो सकी, सारे पानी को जमीन सोख गई। सूबेदार ने आग-ववूला होकर कहना शुरू किया—"कल तुम्हारा कोर्ट मार्शल होगा। तुमने कम्पनी को पानी विना मार डाला।" चन्द्रसिंह और कुछ सुनने के लिए तैयार नहीं थे। वह दूसरी पखाल पर झपट पड़े और टामलोट भरकर अपने सूबेदार के पास ले गये। सारी बातें बतलाने पर सूबेदार ने कहा—"खैर, कल जिन्दा रहे तो देखा जायगा।"

चन्द्रसिंह ने एक टामलोट सूबेदार के पास रखा, दूसरे भरे टामलोट के पानी को अपने सेक्शन के सिपाहियों में बाँट दिया। उस दिन उनके सेक्शन में 30 से ऊपर सिपाही थे। पानी गला भिगोने-भर के ही लिए मिला। वह बिलकुल कुनैन मालूम होता था जिसके भी मुँह में पानी पड़ा, वह आँख बन्द कर चुपचाप पी गया। बदबू इतनी थी, कि पानी की घूँट गले के नीचे उतरती ही नहीं थी। उतरते ही वह दिमाग पर चढ़ गई। किसी सिपाही ने पीकर दूसरे से कुछ भी नहीं कहा। लोग प्यास के मारे तड़प रहे थे। कहने से फायदा क्या था ? शायद डाक्टर ने कुनैन जैसी कोई दवाई डालकर भेजा हो। फिर यह भी खयाल था, सभी को नकटे पंथ में शामिल होने देना चाहिए।

पानी पीते ही चन्द्रसिंह के सेक्शन के छह आदमियों को जुलाव लग गया। उन दिनों पलटन में पेचिश की बमारी फैली हुई थी। चाहे कुछ भी हो, खन्दक के भीतर रहना छोड़ और कहीं जाया नहीं जा सकता था। वहीं खन्दकों में लोग टट्टी करने लगे, जिसे वेलचे से उठाकर बाहर फेंक दिया जाता था।

कुछ आगे और बाएँ किनारे पर एक उभड़ी-सी जमीन थी। रात को 11 बजे से 4 वजे तक चन्द्रसिंह को यह पता लगाना था कि दुश्मन बाईं ओर से हमारे ऊपर हमला तो नहीं कर रहा है। इसके लिए चन्द्रसिंह को अपने सेक्शन के साथ आगे भेजा गया। लौटते समय तक उनके सेक्शन के दो आदमी खतम हो चुके थे। चन्द्रसिंह उनकी लाशों को उठा भी नहीं सकते थे, क्योंकि यह सैनिक-नियम के विरुद्ध था। उन्हें वहीं छोड़कर वह अपनी खन्दकों में लौट आये।

अपने दोनों साथियों के मारे जाने का सेक्शन को बहुत दुख था। लेकिन कौन कह सकता है, कल हमारे ऊपर यही नहीं बीतेगा। पौ फटने का समय आया। सुबह के अलार्म के इंतिजार में लोग अपनी-अपनी खन्दकों में तैयार खड़े थे। दोनों ओर से दनादन गोली और बमबारी शुरू हुई, जो धूप निकल आने तक जारी रही।

चन्द्रसिंह का सेक्शन लड़ाई की पंक्ति के बाएँ छोर पर था, उनके बाद बाईं ओर दूसरी कोई लड़नेवाली फौज नहीं थी। जरा ही देर में एक रिसाले की ट्रूप (सेना) आगे बढ़ने लगी। आकाश में हवाई जहाज उड़ते दिखाई पड़े।

29 सितम्बर 1917 की तारीख थी। सूरज की सुनहली किरणें तेज होती जा रही थीं। इसी समय किसी ने एक भयंकर कर्कश स्वर में कहा–"गढ़वाली वीरो, एडवांस।" गढ़वाली वीर जान हथेली पर लेकर अपने नारे 'बोल बदरीविशाल की जय' को लगाते खन्दकों से निकलकर दुश्मन के सामने खुले मैदान की ओर दौड़े। तुर्कों ने गोली बरसाना शुरू किया। गढ़वालियों की गोलियाँ उनके ऊपर नहीं पहुँच सकती थीं, क्योंकि वह आड़ में बैठे थे, और इधर धड़ाधड़ जवान धरती पर गिरने लगे। उनके शरीर से खून के फौवारे छूट रहे थे। कंकरीली-पथरीली जमीन पर पड़े घायल तड़प रहे थे–'हाय रे, मर गया' की करुण ध्वनि चारों ओर से आ रही थी। जैसे-जैसे वह आगे बढ़ रहे थे, वैसे ही वैसे जमीन पर गिरनेवालों की संख्या बढ़ रही थी। तुर्कों की गोलियाँ इनके ऊपर पड़ ही रही थीं, इसी समय तोपों के गोले भी इनके ही ऊपर गिरकर फूट रहे थे। जान पड़ता है, तोपखाने को गढ़वाली वीरों के एडवांस की खबर नहीं दी गई थी।

सब होते भी जो बचे थे, वह बराबर आगे बढ़ते रहे। चन्द्रसिंह इस जीती कतार के बीच में थे। एक गोला आकर उनके दाहिने थोड़ी दूर पर गिरा। जमीन पथरीली थी, इसलिए गोला उसके भीतर नहीं घुस सका। वह वहाँ से उछलकर गढ़वालियों की कतार की ओर बढ़ा। उसके फूटने से बिजली जैसी चमक के साथ आग निकली। आग की लपट में उनके दाहिने के दस सिपाही पड़ गये। सिपाहियों के कपड़े, बूट, पट्टी, राइफल, मलहम-पट्टी का सामान सब जल गया। चमड़ा भी भस्म हो, रंग कोयले जैसा काला पड़ गया। इनमें भूरासिंह और कालूसिंह दो जवान चन्द्रसिंह के साथी थे। वह वहीं जलकर मर गये। उनको इस तरह अपने सामने मरते देख चन्द्रसिंह को असह्य वेदना हुई।

कोई मरे या जिये, पलटन का एडवांस रुक नहीं सकता था। कुछ दूर आगे जाने पर हवलदार पदमसिंह नेगी की जाँघ में गोली लगी। वह जमीन पर गिर पड़ा। पदमसिंह चन्द्रसिंह के गाँव के पास का रहनेवाला था। उसको गिरते देखकर उन्होंने पूछा–"क्या तुम मर गये ?" जवाब मिला–"अभी तो नहीं मरा, लेकिन अब मरूँगा ही। अगर तुम मुझे बचाना चाहते हो, तो मेरी पीठ का बेलचा निकाल दो, ताकि मैं उसकी आड़ में हो और गोलियाँ खाने से बच जाऊँ।" चन्द्रसिंह लौट पड़े। वह बेलचा निकालकर अपने साथी को थमा रहे थे, इसी समय एक अंग्रेज पिस्तौल निकालकर चन्द्रसिंह के ऊपर गोली चलाने के लिए तैयार हो गया। वह भी पाँती के साथ गोलियों की बौछार में आगे बढ़ रहा था। वह झल्लाकर बोला–"टुम क्या करटा है ?" चन्द्रसिंह ने भी अपनी राइफल की नली उसकी तरफ तानकर कहा–"खबरदार।" अफसर घबड़ा गया, और यह कहता हुआ आगे बढ़ा–"कल टुमको मालूम होगा जब कोर्ट मार्शल होगा।"

लड़ाई होते समय कोई योद्धा अपने आहत सिपाही को मदद नहीं दे सकता, और न अपनी पाँती छोड़कर पीछे लौट सकता है। अगर कोई ऐसा करता देखा जाय, तो कोई भी अफसर उसे तत्काल गोली से मार देने का अधिकार रखता है।

चन्द्रसिंह दौड़कर अपने सेक्शन की पाँती में शामिल हो तुर्कों की खन्दकों के पास पहुँच गये। अब गोली चलाने का अवसर नहीं था। तुर्क सिपाही अपनी खन्दकों से निकलकर संगीनों से शत्रुओं पर हमला करने लगे। उनमें से कुछ पीछे की ओर भाग चले। गढ़वाली भी अपनी तेज भुजालियों को निकालकर जवाब देने लगे। खून की पिचकारियाँ एक-दूसरे के ऊपर छूट रही थीं। बारूदी-युग से पहिले ऐसी पिचकारियाँ ही युद्धों में अधिक चला करती थीं, लेकिन अब तो कभी ही कभी संगीनों की लड़ाई में ही ऐसा होता है। जमीन पर खून की कीचड़ उछल रही थी, खून से लथपथ लोथें उसी कीचड़ में गिर रही थीं। वह मजबूत हाथों से भुजाली चला रहे थे। चन्द्रसिंह की भुजाली ने 40 आदमियों का प्राण लिया होगा। हरेक गिरती लाश को देखकर उनकी हिम्मत और बढ़ती थी। यह संयोग ही समझियें, जो उनके शरीर से खून की पिचकारी नहीं निकली। द्वंद्वयुद्ध में योद्धाओं को अपनी पाँती का खयाल कैसे हो सकता था ? न किसी को अपने सेक्शन का खयाल था, न

कम्पनी और न कमाण्डर का। वह दुश्मन के पीछे-पीछे किसी भी तरफ दौड़ पड़े। जब वह मनमाना दौड़े जा रहे थे, उसी समय उनकी बी. कम्पनी के दो सिपाही मिल गये। अब तीन गढ़वाली एक साथ थे। तब तक तुर्क सिपाहियों में भगदड़ मच चुकी थी। अपना पीछा करनेवालों पर तुर्क सिपाही खजूर के पेड़ों, तोपों की नष्ट-भ्रष्ट खन्दकों की आड़ लेकर गोलियाँ चला रहे थे। चन्द्रसिंह ने देखा, कि करीब दो सौ गज पर स्थित एक टूटे हुए मकान के पीछे से तुर्क की तोप चल रही है। चन्द्रसिंह की पलटन का नायक लूथीसिंह रावत लुइस-गन से उसके ऊपर फायर कर रहा था, लेकिन उसकी सारी गोलियाँ आगे बढ़कर जमीन पर गिर रही थीं, वहाँ से धूल उड़ रही थी। इतने ही में लैंसनायक जगतसिंह ने लुइस-गन को लूथीसिंह से छीनकर तुर्क तोप-खाने पर गोली बरसाना शुरू किया। तोप चलनी बन्द हो गई, जिससे अन्दाज होने लगा, कि तोपची मर गया। पास पहुँचे तो तोप फिर चलने लगी। चन्द्रसिंह और उनके साथियों ने पीछे से जाकर तोपची को घेर लिया। उन्होंने देखा, एक तुर्क नौजवान तोप दाग रहा है और एक अरब तरुणी उठा-उठाकर उसे गोला दे रही है। जगतसिंह ने अपने बेलचे से तरुण तुर्क और अरब तरुणी के सिर पर जोर से प्रहार किया। दोनों वहीं ढेर हो गये। औरत को इस तरह मारना सिपाहियों को पसन्द नहीं आया। उन्होंने जगतसिंह को बहुत धिक्कारा। लूथीसिंह को इस बहादुरी के उपलक्ष्य में आई. एम. डी. का तमगा मिला और पीछे वह सूबेदार हो गये।

वहाँ से आगे बढ़कर चन्द्रसिंह और उनके साथी एक नाले में घुसे। इसी नाले में तुर्कों का बावरचीखाना था। ताँबे के बड़े-बड़े देगों में चावल पके रक्खे थे, चक्की के आटे की डबलरोटियों का ढेर लगा था, पिण्ड-खजूरों की बोरियाँ पड़ी थीं, लकड़ी के बक्सों में मिसरी के कूजे थे। सब छोड़कर तुर्क भाग गये थे। गढ़वाली सिपाही भूख-प्यास से बेचैन थे। मुसलमान के हाथ की रोटी और भात का परहेज कौन करता ? सभी उस पर झपट पड़े। चन्द्रसिंह ने पहिले पखाल उठाई और पानी पीने के बाद रोटी उठाकर मुँह में डाली, फिर खजूर और मिसरी खाकर पेट भर लिया। इतना कर लेने के बाद उनकी नजर अपने शरीर पर पड़ी। उनका सारा कपड़ा खून से लथपथ था।

जिस वक्त लोग रोटी और पिण्ड-खजूर से भिड़े हुए थे, उसी समय दाहिने और बाएँ के योद्धा आगे बढ़ चुके थे। अपने दोनों साथियों को लेकर चन्द्रसिंह भी आगे की ओर दौड़े। कुछ ही दूर पर तुर्कों का जेनरल हेड-क्वार्टर मिला। यहीं पर जेनरल स्टाफ, अस्पताल, भोजनालय थे और उनकी रक्षा के लिए एक तुर्क कम्पनी बैठी हुई थी। तीनों आदमी वहाँ पहुँचे। तुर्कों ने पकड़कर राइफल-सामान छीन के इन्हें कैद कर लिया। वह समझने लगे 'अब हमें छुटकारा नहीं मिलेगा। हो सकता है, यह लोग हमें मार डालें। न भी मारें, तो बुरा बर्ताव तो जरूर करेंगे।' दस ही पन्द्रह मिनट हुए थे कि दाहिनी ओर से बड़ा रिसाला दौड़ता आया। बाईं तरफ से अंग्रेजी सेना ने घेर लिया। चारों तरफ से भाग-भागकर तुर्क सिपाही अपने हेड-क्वार्टर में जमा होने लगे। चन्द्रसिंह को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि इस समय भी तुर्क जेनरल कुर्सियों पर बैठे मेज पर खाना खा रहे थे, तुर्की बैण्ड बज रहा था। सबने पेटियाँ और राइफलें उतार रक्खी थीं, मानो शान्ति के समय अपनी छावनी में बैठे हों। वहीं नर्सों की तरह सफेद कपड़ा पहने चार औरतें भी दिखाई पड़ीं। वह क्या काम कर रही होंगी, नर्स तो वह नहीं थीं।

चन्द्रसिंह ने कैद होते वक्त देखा कि वहाँ 11 और हिन्दुस्तानी सिपाही बन्दी बने हुए हैं। एक पलटन के तीस आदमियों की छापामार टुकड़ी पकड़ी गई थी, जिसमें 19 हिन्दू और 11 मुसलमान थे। तुर्कों ने हिन्दुओं को जान से मार डाला, और मुसलमानों को हथियार छीनकर कैद कर लिया था। इन 11 आदमियों में लैंसनायक गुलाम मुहम्मद भी था। उसने तीनों गढ़वालियों को साथी कहकर पुकारा। चन्द्रसिंह ने उन्हें इशारे से पास आने के लिए कहा। सब पास चले आये। फिर एक दूसरे ने अपना-अपना परिचय दिया। अब वहाँ 14 हिन्दुस्तानी थे, पर किसी के पास कोई हथियार नहीं था। तीन तरफ से अंग्रेजी सेना ने घेर लिया था। डर लग रहा था, कि अपनी ही गोलियों से कहीं चौदहों को मरना न पड़े। जो भी चीज हाथ लगी उससे उन्होंने आड़ बना ली। तुर्कों को अपने हथियारों और सामान की कोई पर्वा नहीं थी। राइफलें पास में पड़ी हुई थीं। हिन्दुस्तानियों में से सबने एक-एक उठा ली, लेकिन वह चलाना नहीं जानते थे। गुलाम मुहम्मद जानता था। उसने अपने

साथियों को जल्दी ही चलाने का ढंग सिखला दिया।

तुर्क अफसरों ने देखा कि वह चारों तरफ से घिर गये हैं। उन्होंने एक लम्बी सीटी बजाई। इस पर सब तुर्क सैनिक अपना सामान उठाने लगे। चन्द्रसिंह के साथी निकल भागने की फिकर में थे। घोड़े पर चढ़ते हुए तुर्क अफसर ने अपने हिन्दुस्तानी वन्दियों पर पिस्तौल दागी, लेकिन वह अपने लिए आड़ बना चुके थे, और उन्हें जल्दी ही मदद मिलने की आशा थी। चन्द्रसिंह ने उस तुर्क अफसर पर गोली चलाई। जैसे ही वह अफसर घोड़े से नीचे गिरा, दूसरे अफसर ने सीटी वजाकर अपनी सेना को हथियार डालने का हुकुम दे दिया। तुर्कों ने अपनी राइफलें और सामान जमीन पर पटक दिये, और दोनों हाथ ऊपर उठाकर खड़े हो गये। जो तुर्क सिपाही भाग निकलना चाहते थे, उनके ऊपर अंग्रेज अफसरों ने गोली चलाई। कितने ही मारे गये, कितने ही फुरात नदी में कूद पड़े, जिनमें कुछ मरे और कुछ पार चले गये। अंग्रेजी सेना ने तुर्कों के ऊपर गोली चलानी छोड़ दी। सभी सिपाही आज्ञा की प्रतीक्षा में अपनी-अपनी जगह खड़े हो गये।

उस दिन 1800 तुर्क पकड़े गये। उनकी गिनती करके गढ़वाली सेना के कप्तान पाल ने 40 गढ़वाली सिपाहियों के घेरे में उन्हें रख दिया। पलटन के जवान अनुशासन के साथ अपना काम करने के लिए तैयार तभी होते हैं, जबकि कोई अफसर उनके साथ हो। अंग्रेजी अफसरों को वह अफसर कहा करते थे, अर्थात लेफ्टिनेंट से ले करके कप्तान, मेजर, कर्नल आदि सब अफसर कहे जाते थे। उस समय ये दर्जे सिर्फ अंग्रेजों को ही मिलते थे। हिन्दुस्तानी सूबेदार-मेजर तक हो सकते थे। इन्हें अफसर नहीं, सरदार या ओहदेदार कहते थे। कप्तान पाल ने 40 गढ़वालियों को कैदी सुपुर्द करते हुए पूछा—"तुममें कौन सरदार या ओहदेदार है ?"

उस समय वहाँ कोई ओहदेदार नहीं था। 40 सिपाहियों में एक लैंस-नायक चन्द्रसिंह थे। पाल ने कहा—"तुम इन तुर्क कैदियों को अपने जवानों के साथ घेरे उसी रास्ते से आओ, जिस रास्ते से हम आये थे। आगे तुम्हें ब्रिगेड का क्वार्टर मिलेगा, वहाँ एस. एस. ओ.—(स्टेशन स्टाफ ऑफिसर) मिलेगा, उसे मेरी यह चिट्ठी दे देना।" चन्द्रसिंह ने कप्तान से पूछा—"अगर यह लोग रास्ते में चलने से इन्कार करें तो ?" कप्तान ने चिढ़कर कहा—"जो इन्कार करे, उसे मार डालना।"

कैदियों में तीन बड़े अफसर और दो तरुणियाँ भी थीं। पाल ने उन्हें पीछे-पीछे जाने के लिए कहा। तुर्क अफसर के हुकुम देने पर सभी चल पड़े। ये बन्दी गढ़वाली सैनिकों के लिए घास-मूली थे। कोई भी कैदी थककर बैठता या दाहिने-बाएँ होता, गढ़वाली सैनिक उस पर गोली दाग देते। चन्द्रसिंह ने स्वयं दो-तीन को मारा। बिना इस तरह के आतंक के 40 आदमी 1800 को कैसे हाँक सकते थे ?

वह 10 मील गये होंगे, इसी समय बड़े तुर्क अफसर ने चन्द्रसिंह के पास प्यास लगने की बात कही। उन्होंने सबको हाल्ट हो जाने का हुकुम दिया। यूनियन जैक वहाँ से कुछ दूर पर फहराता दिखाई दे रहा था। चन्द्रसिंह ने रोमन में चिट्ठी लिखकर अपने दो सिपाहियों को भेजा। वहाँ के अंग्रेज अफसर ने चिट्ठी पढ़ते ही एक खच्चर गाड़ी पानी भरकर भेज दी। चन्द्रसिंह ने वह गाड़ी तुर्क अफसर के हवाले कर दी। पानी पाकर उसे बहुत खुशी हुई। इतने ही में एस. एस. ओ. मोटर लारियाँ लेकर वहाँ पहुँच गया। उसने तुर्क अफसर से हाथ मिलाकर बातचीत की, और उसे एक मोटर में बैठाने लगा। चन्द्रसिंह ने अफसर को मोटर में बैठने से रोका। एस. एस. ओ. ने कहा—"क्यों रोकते हो ?"

चन्द्रसिंह ने कहा—"ये कैदी हैं। मैं नहीं जानता, आप कौन हैं। पहिले आप अपना परिचय दीजिये, तब कैदी मिलेंगे।"

जवाब मिला—"मैं 12 नम्बर ब्रिगेड का स्टेशन स्टाफ अफसर हूँ।"

चन्द्रसिंह ने पूछा—"आप हमारी पलटन के बारे में क्या जानते हैं ?"

"आपकी पलटन का अफसर कर्नल फाक्स है, और सूबेदार-मेजर संग्रामसिंह।"

चन्द्रसिंह ने सलाम करते हुए कहा—"क्षमा कीजिए, यह चिट्ठी लीजिए। 1800 कैदी हैं। इनमें से कुछ मारे गये हैं, क्योंकि वे चलना नहीं चाहते, या भागने की कोशिश कर रहे थे।"

जिस समय चन्द्रसिंह ने तुर्क अफसर को लाकर पानी दिया, उस समय वह अपनी सोने की घड़ी निकालकर

देने लगा। चन्द्रसिंह ने लेने से इन्कार कर दिया। तुर्क अफसर ने एस. एस. ओ. से चन्द्रसिंह की बड़ी तारीफ की और कहा–"अगर मेरे पास थोड़े से भी ऐसे ओहदेदार होते, तो आज हम लोग इस तरह न पकड़े जाते।"

एस. एस. ओ. ने तुर्क अफसर की बात चन्द्रसिंह को बतलाई और उनका नाम अपनी बुक में लिखते हुए कहा–"मैं तुम्हारे बारे में ऊपर लिखूँगा।"

तुर्क 16वीं से 18वीं सदी तक एक अजेय शक्ति माने जाते थे। उनका बहुत बड़ा साम्राज्य था और उनका सुल्तान इस्लामी जगत के खलीफा के तौर पर बहुत सम्मानित समझा जाता था। उस समय एशिया नहीं, पूर्वी यूरोप का भी कितना ही भाग तुर्कों के हाथ में था। कालासागर उनकी झील थी, और भूमध्यसागर का पूर्वी भाग रूम सागर के नाम से मशहूर था। कुस्तुन्तुनिया पुराने रोम साम्राज्य की बहुत समय तक राजधानी रही। जब तुर्कों ने उसे जीतकर अपनी राजधानी बनाया, तो लोग उनके देश को रूम देश और उनके सुल्तान को रूम सुल्तान कहा करते थे। इसीलिए इस समुद्र का नाम भी रूम सागर था। रूमानिया, बुल्गारिया, युगोस्लाविया, ग्रीस के नाम से जो देश आजकल मशहूर हैं, वह और उनके पास के कितने ही और भूभाग रूम की सल्तनत में थे। मिस्र उनका था। अरब, इसराइल, सीरिया, जॉर्डन, लेबनान, इराक के आजकल के राज्यों की सारी भूमि तुर्कों के अधीन थी। धीरे-धीरे यूरोप की शक्ति बढ़ने लगी। रूस शक्तिशाली बना। तुर्कों को छिन्न-भिन्न करके अपने राज्य में मिलाने लगे। कालासागर तुर्कों की झील नहीं रह गई, क्रिमिया उनके हाथ से निकल गया, काकेशस भी जाता रहा। पूर्वी यूरोप की जातियाँ स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने लगीं। यूरोप की दूसरी शक्तियों ने उनका समर्थन किया। प्रथम महायुद्ध से थोड़े ही पहिले (1912 ई.) बाल्कन की लड़ाई हुई, जिसमें पूर्वी यूरोप के कई देश तुर्कों के जूए को फेंककर स्वतन्त्र हो गये। मिस्र इससे पहिले ही तुर्कों के हाथ से बहुत कुछ चला गया था। जो लड़ाई इस समय हो रही थी, उसने तुर्की का सत्यानाश कर छोड़ा। तुर्क-भिन्न जातियाँ ही उनके हाथ से नहीं छीन ली गईं, बल्कि खुद तुर्की की भूमि में बन्दरबाँट शुरू हो गई। यदि इस समय कमाल अतातुर्क जैसा नेता उन्हें न मिला होता, तो कौन जानता है, तुर्कों को कैसे दिनों के मुँह देखने पड़ते। 1800 तुर्कों का कैदी बनना तुर्की के चरम पतन का श्रीगणेश था।

चन्द्रसिंह अपने गारद को लेकर अपने पलटन के कैम्प में चले गये। जिस समय वह कैम्प की ओर जा रहे थे, उसी समय दो सौ और आदमी उनके साथ हो लिये। शायद वे कहीं भटक गये, या डरकर छिपे हुए थे। कैम्प में पहुँचने के वक्त खूब अँधेरा हो गया था। जीत की खुशी थी, लेकिन भारी मुशक्कत का सामना करना पड़ा था। पसीने से उनकी सारी कमीज-जाँघिया भीग गई थी। कैम्प में न कोई छोलदारी थी, न ओढ़ने-बिछाने के लिए कोई कपड़ा। वह नदी के किनारे पड़ा हुआ था, जहाँ ठंडी-ठंडी हवा आ रही थी। लकड़ी भी नहीं थी, और होती भी तो रात के वक्त उसे जलाने की मनाही थी। तीन दिन की पकी पूरियाँ और साग सेक्शन के सामने ढेर की ढेर पड़ी थीं। उसी को खाकर लोगों ने पेट भरा। सबेरे चन्द्रसिंह के सेक्शन में तीस से अधिक आदमी थे, और अब छह देखने में आ रहे थे। मालूम नहीं कितने उनमें मारे गये और कितने घायल होकर अस्पताल गये। सेक्शन उनका अपना परिवार था। आज उनमें से इतने आदमियों को न देखकर उनका दिल फूट-फूटकर रोने लगा। सारी रात उन्हीं के शोक में मग्न रहे। पिछले पहर जाड़ा भी लगने लगा। आखिर रात बीती, सबेरे की लाली पूर्व की तरफ–उसी तरफ, जिधर उनकी जन्मभूमि थी, दिखाई पड़ने लगी।

30 सितम्बर को अब अपने मुर्दों को दफनाने का बड़ा काम था। 16 लैंसनायक और एक जमादार इसके लिए चुने गये। हरेक लैंसनायक के नीचे दस-दस सिपाही थे। यह सारी टोली रमादी-लड़ाई में मरे आदमियों और पशुओं को दफनाने के लिए चली। लैंसनायकों को हुकुम दिया गया था–

1. मुर्दे चाहे तुर्क हों या अंग्रेजों के सैनिक, सबको अपने इलाके में दफन किया जाय।

2. मुर्दों की पाकिट-बुकों और गले में लटकते टिकटों को लेकर जमा कर लें–टिकटों पर सिपाही की पलटन, सिपाही का नाम और नम्बर खुदा रहता है।

3. मुर्दे के पास जो रुपया-पैसा मिले, उसे मुर्दे की पाकिट-बुक में रखकर दफ्तर में दे दो।

4. तुर्क-अंग्रेजी सैनिकों का अलग-अलग हिसाब पलटन के असिस्टेंट को दे दो।

5. मुर्दों के पास जो हथियार मिले, उसे पलटन के गोदाम में जमा कर दो।

टोली लड़ाई के मैदान की ओर रवाना हुई, जहाँ पहुँचने में आधा घंटा लगा। जमादार ने हरेक लैन्सनायक की टोली को अलग-अलग हिस्सा बाँट दिया। चन्द्रसिंह को वही हिस्सा मिला, जहाँ पर उनकी कम्पनी और सेक्शन ने कितने ही दिनों लड़ाई लड़ी थी। यह भूभाग एक सौ गज से ज्यादा चौड़ा अंग्रेजी पाँती के बाएँ छोर पर था, इसके कारण यहाँ कम आदमी मरे थे। चन्द्रसिंह ने बाएँ किनारे पर खड़े होकर रणभूमि पर नजर डाली। मैदान लाशों से भरा पड़ा था, गीदड़, कुत्ते, कौवे और चील जिन्हें नोंच रहे थे। कोई उनकी आँखें निकाल रहा था, कोई मुँह से निकली जबान को खींच रहा था। अंग-अंग की बोटी करके वह निगल रहे थे। कल यही लाशें हृष्ट-पुष्ट जवान थीं। उनके हृदयों में क्या-क्या उमंगें थीं ? आज उनकी यह गति ! मक्खियाँ भिन-भिना रही थीं। इतने ही घंटों के बाद इनसे इतनी बदबू निकल रही थी, कि नाक देना मुश्किल था। जितने जानवर उनको नोच रहे थे, उतने ही गिद्ध ऊपर आसमान में मँडरा रहे थे। एक लाश को देखकर भी आदमी भयभीत हो जाता है, और यहाँ हजारों थीं। चन्द्रसिंह सोच रहे थे–आखिर यह सब रुपया कमाने की लालच से ही हमारी तरह जान देने आये। इन्होंने अपनी माता, अपनी स्त्री, अपने बच्चों की मुहब्बत पर लात मारकर आज इस दिन को देखा। इन्हें इस लड़ाई से क्या लाभ था ? चन्द्रसिंह ही को इस लड़ाई से क्या फायदा था ? अंग्रेज अपने मुल्क के लिए लड़ रहे थे, पर हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तान के लिए थोड़े ही लड़ रहे थे। चन्द्रसिंह इस नजारे को देखकर स्तम्भित हो गये थे। शोक का वेग इतना ऊँचा हो गया था कि उनकी आँखों से आँसू निकल रहे थे। दम-भर में ये सारे खयाल उनके दिमाग में आये, लेकिन वह वहाँ शोक-प्रकाशन के लिए नहीं भेजे गये थे।

एक-एक लाश को उठाकर उन्हीं खोदी हुई खन्दकों में डाल दिया गया, जिनको सिपाहियों ने अपने बचाव के लिए दो दिन पहिले खोदा था। वह मुर्दों के बारे में यह खयाल नहीं कर सकते थे, कि वह हिन्दू है, मुसलमान है या ईसाई, वह तुर्क है, या अंग्रेज है, या हिन्दुस्तानी मुसलमान, हिन्दू, ब्राह्मण, ठाकुर, चमार या क्या ? सभी को एक साथ उन्हीं खन्दकों में डालते और ऊपर से मिट्टी गिराते जा रहे थे।

जिस सूबेदार ने पानी की जगह पर गाली दी थी, और जिस अंग्रेज ने पिस्तौल उठाई थी, उन दोनों की लाशें यहीं पड़ी थीं। वह भी इन्हीं खाइयों में सबके साथ सोये थे।

रमादी की लड़ाई में छठी गोरखा पलटन की बड़ी हानि हुई थी। लाइन की लाइन गोरखों की लाशें बिछी हुई थीं। तोप के गोलों ने कितने ही के हाथों को कहीं, पैरों को कहीं टुकड़े-टुकड़े करके फेंक दिया था। एक-एक टुकड़े को बीन-बीनकर दफनाना पड़ा। अँधेरा होने लगा, जब वह लाशों को दफना पाये। उन्होंने लौटकर अपने साथ लाई पाकिट-बुकों, नम्बर के टिकटों, रुपये-पैसे, राइफल तथा दूसरे सामान को ऑफिस में हिसाब के साथ दे दिया। चन्द्रसिंह ने 75 अंग्रेजी और 35 तुर्क मुर्दे दफनाये थे।

रमादी की लड़ाई खतम हो गई। रमादी शहर अब अंग्रेजों के हाथ में था। दुश्मन के शहर पर अधिकार करके उसकी तलाशी लेना पलटन के लिए आवश्यक है, नहीं तो वहाँ छिपे हुए दुश्मन या हथियार उनके खिलाफ इस्तेमाल हो सकते हैं। तलाशी के लिए हर कम्पनी को अलग-अलग मोहल्ले बाँट दिये गये। एक-एक कम्पनी की कमाण्डर के नीचे सूबेदार और जमादार की अधीनता में सिपाहियों की अलग-अलग टोलियाँ बनाई गईं। उनको सख्त हिदायत दी गई थी–

1. राइफल, पिस्तौल, तलवार, बम और दूसरे इस तरह के हथियारों को लेकर दफ्तर में जमा कर दो।

2. रुपया, नोट, सोना-चाँदी, जेवर-गहने, कीमती बरतन आदि जो खजाना मिले, उसे भी ऑफिस में जमा कर दो।

3. जहाँ सन्देह हो, जमीन खोदकर हथियार, रुपये-पैसे या दूसरी चीजें निकाल सकते हो।

4. अगर किसी मकान से तुम्हारे ऊपर गोली चलाई जाय, तो घुसकर आक्रमणकारी को पकड़ या मार सकते हो।

5. कोई सैनिक अगर किसी चीज को छिपाने की कोशिश करेगा, तो उसको सख्त सजा दी जायगी।

चन्द्रसिंह और उनके साथी अपनी राइफलों में गोली भर संगीन चढ़ाकर अव शहर में जा मुहल्ले के मकानों में घुस पड़े। मकान का दरवाजा बन्द देखते, तो उसे वह तोड़ डालते। जो चीज हाथ आती, उसे कम्पनी-कमाण्डर के पास जमा कर देते। यदि मकान के भीतर आदमी होते, तो उन्हें–स्त्री हो या पुरुष–मकान से वाहर निकालकर तलाशी लेते।

पलटन ने तलाशी खतम कर दी। खतरे की चीजों को वहाँ से ले लिया। फिर हफ्ते-भर तक असैनिक महकमे ने वहाँ तलाशी जारी रक्खी। जो लोग शहर से भागकर वाहर चले गये थे, वह धीरे-धीरे अपने मकानों में लौटने लगे। दूकानें भी थोड़ी-थोड़ी आवाद होने लगीं। कितने ही तुर्कों के विरोधी थे। यह इलाका अरबीभाषी था, धर्म में एक होने पर भी शासकों का तुर्कों के प्रति विशेष पक्षपात था, जिससे कुछ अरवों को जलन होती थी, और जो मौकापरस्त थे, वह समझने लगे कि जिधर सूरज उग रहा हो, उधर सिर नवाने में ही भलाई है। अंग्रेजों ने ऐसे लोगों से फायदा उठाया, और उनके जिम्मे शासन का कुछ काम भी सौंप दिया। वही अब अन्न जमा कर-करके अंग्रेजों को देने लगे, जिसे वह भूखों में वाँटकर यश लूटने लगे। शहर में जगह-जगह पुलिस बैठा दी गई थी, थाने कायम कर दिये गये थे, और अदालतें मुकर्रर हो गई थीं। कुछ ही समय में शहर फिर आबाद हो गया। जो विश्वासपात्र नहीं समझे गये, उनको पकड़कर अंग्रेजों ने जेल में डाल दिया। तलाशी और लूट के माल का क्या हुआ, इसे चन्द्रसिंह और उनके साथी क्या जान सकते थे ?

यही मेसोपोतामिया देश आजकल इराक राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ के वाशिन्दे अरव हैं। चन्द्रसिंह ने वहाँ के तीन बड़े शहरों को देखा था–बसरा, बगदाद और रमादी। तीनों एक जैसे मालूम हुए। सभी के मकान एक-से थे। रमादी घमासान लड़ाई में पड़ा था। उसकी मस्जिदों के बड़े-बड़े गुम्बद तोपों ने चूर-चूर कर दिये थे, आलीशान इमारतों की खिड़कियाँ, झरोखे बिलकुल टूटे पड़े थे। शहर के वीचों-बीच पानी की नहर बह रही थी। नगर चारों तरफ प्राकार से घिरा था, जिसमें बड़े-बड़े दरवाजे लगे हुए थे, जिन्हें सुन्दर कला से अलंकृत किया गया था।

यद्यपि लड़ाई के खतम होने के अगले ही दिन सिपाही लाशों को खन्दकों में दबा आये थे, लेकिन कुत्ते और गीदड़ उन्हें वहाँ चुप कैसे रहने दे सकते थे ? वह खोद-खोदकर उन्हें घसीटते, और नहीं तो हड्डियाँ मुँह में दबाकर इधर-उधर दौड़ते, आपस में छीना-झपटी करते थे। मुर्दे इतने सड़ गये थे, कि उनकी दुर्गंध चारों ओर फैल रही थी, जिसके कारण रमादी में रहना कठिन हो गया और बीमारी के फैलने का डर था। इसका दुष्परिणाम अंग्रेजों की सेना को भुगतना पड़ता। गड़े हुए मुर्दों को न उखाड़ने के लिए गीदड़ों और कुत्तों को मारने की जहरीली दवाइयाँ डाली गईं। मुर्दों के ऊपर भी ये दवाइयाँ छिड़क दी गईं। बाहर निकली लाशों को फिर से दफना दिया गया।

रमादी की लड़ाई जीती जा चुकी थी, लेकिन तुर्कों ने अभी हथियार नहीं डाले थे। उनके आक्रमण का डर बना हुआ था। पलटन ने रहने के लिए कैम्प तैयार किया, बचाव के लिए खन्दकें खोदीं। सिपाहियों को ड्यूटी थोड़ी ही देनी पड़ती थी। पर, भोजन की चीजें अच्छी नहीं मिलती थीं, मिलती भी थीं, तो बहुत कम। वस्तुतः वही चीजें उन्हें खाने को मिल रही थीं, जो तुर्कों से हाथ लगी थीं। ईंधन की भी बड़ी तंगी थी।

रमादी में उज्ज्वलसिंह की ओहदेदारी छीन ली गई थी, जिससे दुःखी हो उसने अपने को गोली मार ली।

सुना, तुर्क हमला करनेवाले हैं, उन्होंने रमादी शहर से दो मील पर खन्दकें खोदनी शुरू कर दी हैं। इधर भी अब तैयारी होने लगी। खन्दकों पर ड्यूटी देने के साथ-साथ सिपाहियों को चाँदमारी करनी पड़ती। चाँदमारी की जगह पिकेट (पहरे) लाइन से कुछ आगे थी। मेजर फाक्स चन्द्रसिंह को कमाण्डर रख कम्पनी को चाँदमारी के लिए ले गये थे। पाँच आदमी वहाँ बीमार पड़ गये। मेजर ने चन्द्रसिंह को टेलीफोन किया कि बीमारों की जगह पाँच और जवान भेजो। चन्द्रसिंह ने पाँच आदमियों को चुनकर उन्हें वहाँ जाने का हुकुम दिया। पाँचों ने अपनी राइफलें भरीं। संयोग से इसी वक्त कंचनसिंह की गोली छूटकर खेमसिंह की कनपटी में जा लगी। वह वहीं गिर पड़ा। चन्द्रसिंह ने तुरन्त पट्टी बाँधकर खून को बन्द कर दिया और ब्रिगेड के अस्पताल में गोली लगने की खबर भेज दी। डाक्टर और कम्पनी के कमाण्डर तुरन्त पहुँच गये। खेमसिंह को अस्पताल भेजकर

कंचनसिंह को कैद कर लिया गया। अगले दिन चन्द्रसिंह-कंचनसिंह की पेशी कमांडिंग आफिसर के सामने हुई और उनकी लैन्सनायकी छीन ली गई।

खेमसिंह को गोली कनपटी के पास से छूती बाहर चली गई थी। उसे अच्छे होते ज्यादा दिन नहीं लगे। कोर्ट-मार्शल बैठाई गई, जिसने चन्द्रसिंह को बेकसूर बतलाया। खेमसिंह ने यह भी कहा—"मेरी कंचनसिंह से कोई दुश्मनी नहीं है। गोली संयोगवश छूटी थी।" चन्द्रसिंह ने भी अपनी लेन्सनायकी की डायरी पेश की। इसमें हर रोज प्रत्येक सिपाही के बारे में लिखा जाता है। उस डायरी से भी यह पता लगा कि उन दोनों की आपस में कोई दुश्मनी नहीं है। कंचनसिंह भी बेकसूर समझकर छोड़ दिया गया। चन्द्रसिंह ने अदालत के सामने अपने लेन्सनायक की फीते के निकाले जाने की शिकायत की।

कंचनसिंह को और कसूर से तो माफ कर दिया था, पर असावधानी के लिए उसे 28 दिन की सजा दी गई। उसने सजा सुनने के बाद अनशन कर दिया। चन्द्रसिंह बहुत समझाते रहे, लेकिन वह कह रहा था—"मैंने एक भाई को गोली मारी और दूसरे की लेन्सनायकी छिनवा दी। मैं अपने को क्षमा नहीं कर सकता।" वह उसी तरह अनशन करके मर गया।

कान वगदाद (ऐना) की लड़ाई (25-26 मार्च 1918)

रमादी में बैठी अंग्रेजी पलटन कितने दिनों तक इंतिजार करती ? आखिर उसे ऐना शहर की ओर चलने का हुकुम हुआ। पहिला पड़ाव 14 मील का था। कैम्प के लिए बरसाती छोलदारियाँ लगाई गईं, चारों तरफ खन्दकें खोदी गईं। रात के 10 बज रहे थे, जबकि तुर्क सैनिक विमान आसमान से बम बरसाने लगे। सब लोग खन्दकों में कूद पड़े, लेकिन बम सामने से थोड़े ही आते थे, कि खन्दकों से बचाव होता। वह तो सीधे सिर पर पड़ रहे थे। ब्रिगेड को कितना नुकसान हुआ, यह मालूम नहीं। लाइन के कुछ खच्चर मारे गये, और दो-एक आदमी जख्मी हुए थे। सिर पर विमान की घनघनाहट सुनकर हरेक आदमी यही समझता था कि मेरे ही ऊपर बम गिरनेवाला है। अंग्रेजी विमान भी उड़े, और उन्होंने शत्रु के विमानों को मार भगाया। यहाँ एक दिन चन्द्रसिंह को पुलिस की ड्यूटी पर लगाया गया। दो पहाड़ियाँ थीं, जिनके बीच में पलटन का रसोईखाना था। चन्द्रसिंह को हुकुम था कि इस रास्ते से किसी मोटर या घोड़े को न जाने दो। खाने पर धूल पड़ने का डर था, इसीलिए यह सावधानी बरती गई थी। संयोग से उसी रास्ते अपने घोड़ों पर चढ़े डिवीजन का जेनरल, ब्रिगेड का जेनरल अपने स्टाफ-कर्मियों के साथ जाने लगा। चन्द्रसिंह ने तुरन्त रोककर कहा—"हुजूर, आज इस रास्ते घोड़े पर नहीं जा सकते।"

जेनरल ने पूछा—"क्यों, हमारे लिए यह हुकुम किसने दिया ?"

—"हुजूर, हुकुम सबके लिए एक होता है। मुझे लेन्सनायक ने ऐसा हुकुम दे रक्खा है। मैं नहीं जानता उसको किसने हुकुम दिया।"

जेनरल—"तुम्हारा कमांडिंग ऑफिसर कहाँ है ?"

"ऑफिस में।"

जेनरल लोग घोड़े से उतरकर ऑफिस में गये और पाँच मिनट के बाद कमांडिंग ऑफिसर के साथ बाहर निकले। कमांडिंग ऑफिसर ने चन्द्रसिंह को कहा—"तुम नहीं देखते, ये कौन हैं ? जेनरल साहब को क्यों रोका ?"

चन्द्रसिंह ने कहा—"हुजूर, मैं एक सिपाही हूँ, हुकुम मानना मेरा फर्ज है। अगर मैं इतने घोड़ों को इधर से जाने देता तो सारा भोजन खराब हो जाता। लेन्सनायक मुझे आपके सामने पेश करता और आप मुझे जरूर सजा देते। लेन्सनायक के हाथों सजा भुगतने की जगह अच्छा है, मुझे इतने बड़े अफसर के हाथ से सजा मिले।"

जेनरल ने हँसकर कहा—"शाबाश, जवान, सिपाही का फर्ज यही है। तुमने ठीक किया। तुम्हें सजा नहीं मिलेगी।"

दूसरे दिन चन्द्रसिंह को ब्रिगेड के दौड़ाहे (रनर) की ड्यूटी पर भेजा गया। उनका काम था, आई हुई

चिट्ठियों और तारों को हर एक पलटन में पहुँचाना। सारा ब्रिगेड ऐना शहर की लड़ाई पर चला गया था और चन्द्रसिंह ऑफिस में छोड़ दिये गये। एक हफ्ता तक ब्रिगेड वहाँ लड़ता रहा। तुर्की मोर्चे पर उसने कब्जा करके वहाँ से बहुत-से तुर्क कैदी पीछे की ओर भेजे। अब चन्द्रसिंह की ड्यूटी इन कैदियों पर लगाई गई। इन कैदियों में तुर्क सैना का एक जर्मन अफसर भी था। उसने चन्द्रसिंह से कहा—"आओ जवान, हम तुम अपनी टोपी बदल लें।" चन्द्रसिंह ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। इस पर जर्मन अफसर ने कहा—"तुम बड़े अभागे हो।" फिर उसने टोपी उतारकर सौ रुपयेवाले कई नोट दिखलाते हुए कहा—"ये रुपये ले लो, मुझे छोड़ दो। मैं अपने बाल-बच्चों में चला जाऊँगा। मेरी यहाँ न कोई गिनती हुई है, न नाम लिखा गया है।"

चन्द्रसिंह ने इन्कार कर दिया। ये कैदी पीछे वर्मा भेज दिये गये। शायद वह जर्मन अफसर भी उनके साथ वहीं गया।

अब चन्द्रसिंह की पलटन सीरिया लाइन (युद्ध-पंक्ति) पर भेजी गई। उस समय अंग्रेजों ने भारतीय जेलों से उन कैदियों को छोड़कर यहाँ काम पर भेज दिया था। ये कैदी वहाँ दरिया के ऊपर बाँध बना रहे थे। कुछ समय तक गढ़वालियों की ड्यूटी इन कैदियों की देखभाल करने की थी।

रमादी की लड़ाई में तुर्कों ने 11 मुसलमान सैनिकों को कैद करके अपने हेड-क्वार्टर में रक्खा था, जिनमें गुलाम मुहम्मद भी था। उसने चन्द्रसिंह की उस समय मदद की थी। चन्द्रसिंह ने अपनी पलटन के कर्नल फाक्स से उसी समय गुलाम मुहम्मद की तारीफ की थी, और बतलाया था कि मेरे हुकुम से इन लोगों ने तुर्कों पर फायर किया था। कर्नल लोग चाहे हिन्दुस्तानियों के साथ कितने ही सालों रहें, वह उनके भाषा सीखने की कोशिश नहीं करते। कर्नल ने चन्द्रसिंह की बात को उलटा समझ लिया, अर्थात तुर्कों की सहायता करने के लिए इन्होंने हमारे सिपाहियों के ऊपर गोली चलाई। कोर्ट-मार्शल में गुलाम मुहम्मद ने चन्द्रसिंह को गवाह बतलाया। चन्द्रसिंह ने कोर्ट के सामने कहा—"इसी गुलाम मुहम्मद ने मुझे जर्मन राइफल चलाने की बात बतलाई, और मेरे हुक्म पर तुर्कों के ऊपर गोली चलाई।" कोर्ट के न्यायाधीश खुशी से ताली पीटने लगे। पलटन में भी बड़ी खुशी मनाई गई। लोगों में यह खयाल फैला हुआ था, कि तुर्कों ने तीस आदमियों के पिकेट को गिरफ्तार किया था, जिनमें से 19 हिन्दुओं को उन्होंने मार डाला, और 11 मुसलमानों को अपने धर्म का समझकर छोड़ दिया। यह धार्मिक पक्षपात था और गढ़वाली हिन्दू समझते थे कि क्या जाने उन हिन्दुओं की हत्या के लिए प्रेरणा इन मुसलमान सिपाहियों ने दी हो। चन्द्रसिंह ऐसे पक्षपात से सदा बरी रहे।

8

फिर देश में (1917-19 ई.)

सीरिया-लाइन से बटालियन से उनकी बी. कम्पनी को निकालकर देश भेज दिया गया। बसरा में आकर वह जहाज पर बैठे और सात दिन में कराँची पहुँच गये। कराँची से वह सीधे देहरादून आये। देहरादून में 4-39 रॉयल गढ़वाली राइफल का संगठन किया जा चुका था। लड़ाई में गढ़वालियों ने वीरता दिखाई थी, उनके दो वीरों को विक्टोरिया क्रास मिला था, इसके सम्मान में अंग्रेजों ने गढ़वाल राइफल को रॉयल गढ़वाल राइफल बना दिया था। इस नई सेना को संगठित करने के लिए प्रत्येक गढ़वाली पलटन की बी. कम्पनियों को भेज दिया गया था।

देहरादून में वह कितने ही समय तक रहे। फिर मई के महीने में छाँटकर 18 ओहदेदारों की एक टोली को लैन्सडौन छावनी में भेज दिया गया। वहाँ रंगरूटों की शिक्षा के लिए अनुभवी मास्टरों की जरूरत थी, इसलिए डिपो (छावनी) कमाण्डर ने ड्रिल मास्टर माँगे थे। इन्हीं 18 आदमियों में चन्द्रसिंह भी थे। लैन्सडौन में आते ही उनकी ड्रिल की परीक्षा हुई, फिर नये रंगरूटों की एक टोली उनके जिम्मे की गई। संयोग से टोली के सभी रंगरूट अच्छे निकले, और चन्द्रसिंह की शिक्षा-दीक्षा में रह वह दूसरी टोलियों से अच्छा काम करने

लगे, जिसके कारण अंग्रेज अफसर चन्द्रसिंह की कदर करते, दूसरी टोलियों के सामने, उनकी टोली का नमूना पेश करते। खाई खोदना, छोलदारी•लगाना, सड़क पर चलते कवायद करना, राइफल चलाना आदि-आदि सभी कामों में चन्द्रसिंह की टोली अव्वल रही।

जुलाई 1917 ई. में उन्हें फिर लैन्सनायक बना दिया गया और 28 दिन बीतते-बीतते उन्हें नायक का पद मिल गया। डिपो के ड्रिल-मास्टर सभी चन्द्रसिंह से सीनियर (जेठे) थे। इस तरह तरक्की करते देख वह जल-भुन गये। इनमें गुमानसिंह नाम का एक ड्रिल-नायक था। उसने 12 बजे दिन को लालटेन जलाकर ऑफिस में कर्नल साहब के सामने रख दिया। कर्नल ने पूछा—"गुमानसिंह, दिन में लालटेन जलाकर क्यों लाये ?"

गुमानसिंह ने जवाब दिया—"हुजूर, आप देखते नहीं, इसलिए। आप देख रहे हैं हम लोग यहाँ डिपो में कितने दिनों से काम कर रहे हैं, फिर भी आपने डिपो के 90 नायकों को पीछे छोड़कर जो आदमी अभी कल आया है, उसे लैन्सनायक बना दिया, और अब पक्का नायक भी कर दिया। क्या यह इन्साफ है ?"

कर्नल ने जवाब दिया—"गुमानसिंह, तुम नहीं जानते कि इसकी सेवाएँ कितनी हैं। बताओ, इसके सामने तुम्हारा लड़ाई का क्या तजर्बा है ? क्या तुमने फ्रांस की लड़ाई में भाग लिया ? क्या बसरा देखा ? चन्द्रसिंह रंगरूटों को जो सिखा सकता है, वह तुम नहीं सिखा सकते। अगर तुम अच्छे इन्स्ट्रक्टर (शिक्षक) होते, तो हम इसको लड़ाई से क्यों बुलाते ?" नायक चन्द्रसिंह कई महीनों लैन्सडौन में रहे। अक्तूबर का महीना आया। अब उन्हें मस्केटरी कोर्स (बंदूकी पाठ्य) पास करने के लिए पंचमढ़ी (मध्य प्रदेश) भेजा गया। ए. क्लास पास करने के लिए भेजा जा रहा है, यह जानकर उन्हें बड़ी खुशी हुई। लेकिन जिस कोर्स के लिए जा रहे थे, उसके लिए उन्हें कुछ अच्छे कपड़े की जरूरत थी, और उनके पास पैसा नहीं था। वह इसी फिकर में बैठे हुए थे, इसी समय उनका परिचित मित्र चन्द्रसिंह रावत आ गया। रावत ने चिन्तित देखकर पूछा—"नामाराशि, तुम क्यों इतने उदास हो ?"

"भाई, कल मुझे ट्रेनिंग के लिए जाना है, लेकिन जाना मुश्किल पड़ रहा है, क्योंकि मेरे पास कपड़े नहीं।"

—"तो क्या पैसे की जरूरत है ?" यह कहकर चन्द्रसिंह चला गया और थोड़ी देर में अपना बक्स खोलकर एक थैली ले आया। उसने थैली चन्द्रसिंह के सामने रखकर कहा—"इसमें से जितनी इच्छा हो उतने रुपये ले लो।" उसमें एक हजार रुपये थे। चन्द्रसिंह ने कहा—"मुझे सौ रुपया अपने हाथ से दे दो।" रावत ने उन्हीं को अपने हाथ से लेने के लिए मजबूर किया और एक सौ रुपये ले लिये। उससे अपने लिए सूट-बूट तैयार किये और सबेरे बिस्तरा बाँधकर वह पंचमढ़ी की ओर चल पड़े। कोटद्वार में रेल पकड़ी। दिल्ली और इटारसी होते पिपरिया स्टेशन पर उतर गये। यहाँ से 32 मील की पहाड़ी चढ़ाई चढ़कर मोटर द्वारा वह पंचमढ़ी पहुँच गये।

पंचमढ़ी में उस दिन भिन्न-भिन्न पलटनों से 300 सरदार, ओहदेदार शिक्षा पाने के लिए जमा हुए थे। सबकी अलग-अलग टोलियाँ बनाई गईं। चन्द्रसिंह को गोरखा मानसिंह हवलदार की टोली में रक्खा गया। अगले दिन से सभी टोलियाँ अपने-अपने शिक्षकों के नीचे मस्केटरी कोर्स सीखने लगे। 18 दिन तक उन्हें परेड कराते निशाना बाँधना, दागना आदि की शिक्षा देकर परीक्षा ली गई। फिर एकाएक हुकुम हुआ कि सभी ओहदेदारों को जल्दी-जल्दी अपना कोर्स खतम करके वापस जाना होगा।

ओहदेदारों को पंचमढ़ी से पिपरिया पहुँचाया गया, जहाँ से चन्द्रसिंह कोटद्वार चले गये। स्टेशन पर देखा कि तीन सौ आदमियों का एक ड्राफ्ट (यूथ) एक अंग्रेज अफसर की अधीनता में रेलगाड़ी में किसी जगह कुमक के तौर पर जाने के लिए ट्रेन में बैठ रहा है। उसमें चन्द्रसिंह के भी कई जान-पहचान के आदमी थे। पूछने पर मालूम हुआ कि वह पेशावर के पास जमरूद जा रहे हैं। अफगान सेनापति नादिर खान ने इसी समय सीमा पर हमला कर दिया था, जिससे 3-18 आर. सी. आर. पलटन का बहुत नुकसान हुआ था। इसीलिए यह लोग भेजे जा रहे थे। चन्द्रसिंह ने अंग्रेज अफसर से कहा—"हुजूर, मुझे भी इसी ड्राफ्ट में ले चलिए।"

लेकिन, ड्राफ्ट भरती करना उस अफसर के हाथ में नहीं था। चन्द्रसिंह को लैन्सडौन चला आना पड़ा।

इसी समय उन्हें घर से एक दुःखद चिट्ठी मिली। पिता ने लिखा था—"बेटा चन्द्रसिंह, तुम वीर हो।

वीरों का काम घबराना नहीं है। यहाँ घर के सारे आदमी फ्लूत (इन्फ्लुइंजा) के बुखार से पीड़ित हैं। तुम्हारी धर्मपत्नी का स्वर्गवास हो गया। अब मकान पर ताला लग जायगा। इस समय तुम घर न आना। चिन्ता की कोई बात नहीं।"

भला चिन्ता के लिए बात क्यों नहीं थी ? अपनी पत्नी की मृत्यु से उनको बहुत अफसोस था। जिस कलुली के साथ लड़कपन में वह कुश्ती लड़ते थे, हँसी-खेल करते थे और कितने प्रेम से रहते थे, उसे अब वह फिर नहीं देख सकेंगे। यह खयाल आते ही उनके हृदय में ठंडी हवा का झोंका लगता। उन्होंने अपने अफसर से एक महीने की छुट्‌टी माँगी। अफसर ने कहा—"इस समय इतनी छुट्टी नहीं मिल सकती, यदि चाहो तो तीन दिन में जाकर हरद्वार में अपनी स्त्री का क्रिया-कर्म करके लौट आओ।" तीन दिन में कुछ नहीं हो सकता था, इसलिए चन्द्रसिंह ने छुट्टी नहीं ली।

उसके साल-भर बाद छुट्टी पर गये, तो माता-पिता ने शादी का इंतिजाम चोपराकोट के रनगाँव के श्री रूपसिंह की लड़की कुँवरी से ठीक कर दिया, जो उस समय 16 वर्ष की थी। विवाह कर छुट्टी के बाद चन्द्रसिंह पलटन में लैन्सडौन पहुँचे। ब्याह के साल-भर के भीतर ही कुँवरी का देहान्त हो गया। पलटन कुछ दिन रुरकी धनोरी कैम्प में प्रशिक्षण के लिए गई थी, जहाँ से वह लैन्सडौन लौट आई। 15 दिन की छुट्टी पर चन्द्रसिंह फिर घर गए। माता-पिता ने कुँवरी की छोटी बहिन से शादी तै कर डाली। लड़की का नाम भूरी था, जो अब भागीरथी देवी के नाम से पुकारी जाती हैं। चन्द्रसिंह की इच्छा नहीं थी, क्योंकि लड़की 13 वर्ष की होने पर भी बहुत छोटी मालूम होती थी, लेकिन दोनों समधी अपने रिश्ते को कायम रखना चाहते थे। उनकी इच्छा न होने पर भी पिता ने विवाह कर ही दिया। छुट्टी के बाद बड़े भाई फिर पलटन में चले गए।

साल-भर बाद फिर छुट्टी पर आए और अपने एक मित्र पेंशनर हवलदार झगड़सिंह के घर मिलने गये। हवलदार की लड़की जवान थी। वह अपने माँ-बाप के साथ उसी पलटन में रह चुकी थी, जिसमें चन्द्रसिंह काम करते थे। हवलदार ने मजाक में, "चन्द्रसिंह, तुम्हारी स्त्री मर गई, इसका मुझे बड़ा दुःख है। इसी को ले जाओ, यह तुम्हारी साली है," कहते अपनी लड़की की ओर इशारा किया। बात मजाक ही में टल भी जाती, लेकिन चन्द्रसिंह छोटी लड़की के साथ जबर्दस्ती किए गए व्यवहार को पसन्द नहीं करते थे। हवलदार को भी होनहार तरुण को देखकर खयाल आया कि यह शादी अच्छी रहेगी। अन्त में बातचीत तै हो गई। चन्द्रसिंह ने घर आकर चुपके-चुपके सारी तैयारी कर ली। जब दरवाजे पर बाजा बजने को था, तब उन्होंने पिता से राय लेनी चाही। पिता सुनते ही आग-बबूला हो गये, और उन्होंने शादी में जाने से बिलकुल इन्कार कर दिया। चन्द्रसिंह अपने और साथियों के साथ जाकर शादी कर लाये। जिस दिन शादी हो रही थी, उसी दिन पलटन का बुलौवा आया। रात को उन्होंने शादी कराई और सबेरे छावनी के लिए रवाना हो गये। वहाँ से उन्होंने हवलदार ससुर को चिट्‌ठी लिखी, कि मेरी बीवी को जितनी जल्दी हो छावनी में भेज दें।

छावनी में आने पर सी. कम्पनी ने उनका स्वागत किया, और डी. कम्पनी में उन्हें अपने काम पर जाना पड़ा। वहाँ भी भोज दिया। सिपाही से अब ओहदेदार बने थे, इसकी खुशी थी, ऊपर से मन के माफिक शादी हो गई थी।

राजनीति की प्रथम झलक

इसके बाद उन्हें सहारनपुर स्टेशन पर तीन दिन के लिए ड्यूटी पर लगाया गया था। वहाँ जो गारद का काम कर रहा था, उसका हवलदार छुट्टी पर चला गया था। चन्द्रसिंह को उसी के स्थान पर हवलदार बनाकर भेजा गया। गारद की निगरानी में दो बूढ़े राजनीतिक कैदी थे। सख्त हिदायत थी कि कोई सैनिक उनके साथ बातचीत न करे। सिर्फ उनकी मोटी-मोटी आवश्यकताओं में सहायता दे। चन्द्रसिंह ने एक दिन तो उस हिदायत का पालन किया, लेकिन फिर उनका मन मानने के लिए तैयार नहीं हुआ—'ये भी तो हमारे ही देश के आदमी हैं। इनसे बातचीत करने में क्या बुराई है ?' दूसरे दिन उन्होंने पास जाकर पूछा—"बूढ़े बाबा, इस बुढ़ाई में

आप क्यों कैद किये गये ? क्यों सरकार-बहादुर के खिलाफ हुए ?" चन्द्रसिंह ने इतनी भनक पा ली थी कि ये दोनों आदमी अंग्रेजों के खिलाफ हैं। अंग्रेजी राज्य के खिलाफ कोई क्यों हो, यह उनके लिए बड़े आश्चर्य की बात थी। उन्होंने बूढ़े बाबा को समझाते हुए कहा–"अंग्रेजी राज्य में कितना अमन-चैन है। किसी के पास कितना भी रुपया हो, कोई छीन नहीं सकता। अंग्रेजों ने हमें रेल, तार, डाक, अस्पताल का कितना सुभीता दे रक्खा है। न्याय के लिए कितनी बड़ी-बड़ी अदालतें कायम कर दी हैं !"

बूढ़े बाबा ने शान्त भाव से जवाब दिया–"देखो बेटा, मेरा लड़का भी फौज में है। हो सकता था वह तुम्हारे बूढ़े बाप को इसी तरह कैद में रक्खे हो। क्या यह सुनकर तुम्हें अच्छा लगता ? यह विदेशी सरकार है। अंग्रेज आपस में लड़ाकर हमें अपनी मुट्ठी में रक्खे हुए हैं। तुम जानते हो, दुनिया में सभी जगह अंग्रेजों का राज नहीं है। जापान, चीन, तुर्की, फ्रांस, रूस आदि बड़े-बड़े देश हैं, जो अंग्रेजों के हाथ में नहीं हैं और जिनकी अपनी-अपनी सरकारें हैं। वहाँ भी तो रेल, तार, डाक, अस्पताल आदि हैं। यदि यहाँ अंग्रेजों का राज्य न होता, तो हम लोग इन सभी चीजों को बना लेते। जब जैसा जमाना आता है, तब आदमी उसके अनुसार नई-नई चीजें तैयार करता है। अंग्रेज जो भी मेहरबानी दिखलाते हैं, वह अपना स्वार्थ साधने के लिए ही। देश का धन दुहकर वह अपने देश में ले जाते हैं, हमारे बच्चों को अपनी लड़ाई की आग में झोंकते हैं। अस्पताल क्या है, अंग्रेजी दवा बेचने की एजेंसी है।"

दोनों बूढ़ों ने फिर चन्द्रसिंह को लार्ड सिन्हा के एक बड़े पद से इस्तीफा देने की बात बतलाई। अंग्रेजों के परम विश्वासपात्र और खुशामदी वही एकमात्र हिन्दुस्तानी थे, जिन्हें लार्ड बनाया गया था। लेकिन भारतीयों के साथ जो दुर्व्यवहार और विश्वासघात किया गया था, वह उन्हें इतना असह्य हुआ कि लार्ड सत्येन्द्र प्रसन्न सिन्हा ने अपने (भारत) उपमंत्री पद से इस्तीफा दे दिया। इस समय तक जलियाँवाला बाग-कांड भी हो चुका था और गाँधीजी ने असहयोग-आन्दोलन छेड़ दिया था। बूढ़ों ने यह सब बातें बतलाईं।

उनकी बातों को चन्द्रसिंह तीन दिन तक सुनते रहे, जिससे उनके दिमाग में बड़ी उथल-पुथल मच गई। मानो, अँधेरी कोठरी को फाड़कर एक दूसरी दुनिया की रोशनी आ गई। यद्यपि सभी बातों को वह अभी समझ नहीं पाते थे, लेकिन उन्हें यह पता लगा कि और भी कितनी ही चीजें हैं, जिन्हें अंग्रेजों ने हमसे छिपा रक्खा है, और जिसकी ओर भी ध्यान देना हमारा काम है। सहारनपुर में ड्यूटी देकर कोटद्वार के रास्ते वह फिर लैन्सडौन चले आये। रेल में टिकट लेने की कोई जरूरत नहीं थी, क्योंकि सभी जगह फौज का राज्य था। कोई टिकट-कलेक्टर टिकट दिखाने के लिए कह नहीं सकता था।

लैन्सडौन में ज्यादा दिन ठहरना नहीं पड़ा। उन्हें फिर मस्केटरी कोर्स पूरा करने के लिए भेजा गया। दिल्ली पहुँचे तो देखा, किसी ने उनका ओवरकोट उड़ा लिया। बहुत परेशान थे। इतने ही में उन्हें एक गोरखा हवलदार मिला। चन्द्रसिंह ने पूछा–"हवलदार, आप कहाँ जा रहे हैं ?" जब उसने बतलाया कि वह भी पंचमढ़ी जा रहा है, तो चन्द्रसिंह ने कहा–"भाई, मैं भी वहीं जा रहा हूँ। मेरा कोट खो गया है। अगर आप मेरा सामान देखें, तो मैं पुलिस में खबर दे आऊँ।"

पुलिस में इत्तिला देकर जब चन्द्रसिंह स्टेशन पहुँचे तो वहाँ ट्रेन का पता नहीं था। हवलदार के साथ उनका सामान भी चला गया था। स्टेशन-मास्टर को बतलाने पर उसने तार दिया और हवलदार को मथुरा जंक्शन पर रोक लिया गया। दूसरी ट्रेन से मथुरा पहुँचकर उन्होंने गोरखा हवलदार से तकलीफ देने के लिए क्षमा-प्रार्थना की और दोनों की बड़ी दोस्ती हो गई।

दोनों साथ-साथ पंचमढ़ी गये। वहाँ चन्द्रसिंह को एक सिक्ख शिक्षक के नीचे रक्खा गया। सरदार बहुत अच्छा आदमी था। उसकी यही कोशिश थी कि जो भी विद्यार्थी उसकी क्लास में आये, वह प्रथम श्रेणी में पास हो। किसी को कटु शब्द कहना या पास करने, सिखाने में रिश्वत लेना उसे बिलकुल पसन्द नहीं था। चन्द्रसिंह को दो महीने तक शिक्षा दी गई, जिसमें निशाना बाँधना, बन्दूक दागना, संगीन चलाना, बम फेंकना, चाँदमारी करना, बन्दूक के सिद्धान्त, पुराने जमाने की राइफलों और लड़ाइयों की बातें, आक्रमण करने का ढंग आदि-आदि बातें थीं। इसके बाद सभी ओहदेदारों को अपनी-अपनी पलटनों में भेज दिया गया।

लैंसडौन छावनी में पहुँचने पर अड्जुटेंट ने पूछा—"हमें उम्मीद है चन्द्रसिंह, अच्छी तरह पास करके आया होगा।"

चन्द्रसिंह ने नम्रतापूर्वक जवाब दिया—"हुजूर, जो कुछ सीखा है, वह आपके सामने आ जायगा।"

सात दिन बाद चन्द्रसिंह भण्डारी का प्रमाणपत्र आया, जिसमें पंचमढ़ी सैनिक स्कूल में डी. जी.—डिस्टिंक्ट गुड (बहुत अच्छा) लिखा हुआ था। इस प्रमाणपत्र को देखकर मुख्य कमांडिंग ऑफिसर बहुत खुश हुए। उसी दिन उन्होंने हुकुम सुनाया कि चन्द्रसिंह को फिर पंचमढ़ी सैनिक स्कूल में शिक्षक के तौर पर भेजा जायगा। दो महीने तक वह अपनी छावनी के शिक्षकों (इन्स्ट्रक्टरों) को शिक्षा देते रहे। इसके बाद उन्हें हवलदार बनाकर पंचमढ़ी भेज दिया गया।

अब वह खुद शिक्षक थे। सिखाने के लिए उन्हें सिक्खों की पंजाबी टोली दी गई थी। उन्होंने बड़ी तत्परता से अपने शिष्यों को सभी बातें सिखलाईं। परीक्षा लेने पर सारी टोली द्वितीय श्रेणी में पास हो गई, और सिपाही अपनी-अपनी पलटनों में चले गये। अब दूसरी टोलियाँ सीखने के लिए आईं। चन्द्रसिंह के काम से उनके अफसर बहुत खुश थे। यह देखकर उनका मुखिया जमादार उनसे नाराज था। एक बार इन्स्ट्रक्टर-जेनरल देखने के लिए आया। चीफ-जमादार ने गलत बात बताकर चन्द्रसिंह से कहा कि तुम इसे जेनरल साहब के सामने दिखलाना। चन्द्रसिंह को क्या पता था कि छल किया जा रहा है। उन्होंने वैसा ही दिखला दिया। जेनरल बहुत नाराज होकर चला गया, तब चन्द्रसिंह को अपनी गलती मालूम हुई। उन्होंने अपने कर्नल से कहा कि हमारे जमादार ने यही दिखलाने के लिए कहा था। दोनों को बुलाया गया। जमादार की चाल सिद्ध हुई। जहानखाँ पठान ने गवाही दी कि जमादार ने ही यह बात सिखलाई थी। जमादार को इस कसूर के लिए निकालकर उसकी पलटन में भेज दिया गया। अबकी बार चन्द्रसिंह की टोली के तीन आदमी फेल हो गये। इसका बड़ा दुःख हुआ, और उन्हें पंचमढ़ी में रहना बुरा लगने लगा। उन्होंने अपनी पलटन में जाने के लिए प्रार्थना की। कर्नल ने बहुत समझाया, लेकिन वह नहीं माने। तब कर्नल ने कहा—"अच्छा, तुम एक मास की छुट्टी लेकर घर हो आओ।"

बाप-दादों की तरह हिन्दू-धर्म के देवी-देवताओं पर चन्द्रसिंह का पूरा विश्वास था। वह उत्तराखण्ड के वासी थे, जहाँ के केदारनाथ और बदरीनाथ को सारे देश के हिन्दू सिर झुकाते, और बहुत कष्ट सहकर दर्शन के लिए पहुँचते हैं। पंचमढ़ी में उन्होंने देखा कि वहाँ पूजा-प्रार्थना के लिए मुसलमानों के मस्जिद और सिक्खों के धर्मशाला हैं, जहाँ जाकर लोग सत्संग करते हैं, सलाह-मशविरा करते हैं। लेकिन, हिन्दुओं के लिए कोई ऐसा स्थान नहीं है। चन्द्रसिंह को खयाल आया कि हिन्दुओं का भी कोई मन्दिर बनना चाहिए। देश के भिन्न-भिन्न स्थानों से बहुत-से ओहदेदार वहाँ शिक्षा के लिए आया करते थे। चन्द्रसिंह चन्दा जमा करने के लिए तैयार हो गये। लोग बड़ी खुशी से उन्हें देने भी लगे। फिर चन्द्रसिंह ने अपने स्कूल के कमाण्डर के पास प्रार्थना की—"हुजूर, पंचमढ़ी में सिक्खों और मुसलमानों के अपने-अपने पूजा-स्थान हैं, लेकिन हम हिन्दुओं का कुछ नहीं है। हमें अपने मन्दिर के लिए जमीन दी जाय।"

कमांडिंग अफसर ने खुशी से दरख्वास्त पर सिफारिश करके जमीन देने के लिए कमिश्नर के पास भेज दिया। मंजूरी आ गई। जमीन की सीमाबन्दी भी होने लगी। चन्दा इकट्ठा करने के बाद ही उन्हें घर जाने की छुट्टी मिल गई। वह इस प्रसन्नता के साथ घर चले, क्योंकि उनके काम का भार उठानेवाले वहाँ दूसरे मौजूद थे।

घर आते वक्त इटारसी में किसी ने उनकी जेब से 90 रुपये निकाल लिये। वही जमा पूँजी थी। दिल्ली तक किसी तरह भूखे-प्यासे पहुँच गये। वहाँ अपने एक मित्र हवलदार से मिलने गये। उसे यह बात मालूम हो गई। खाना खिलाकर मित्र उनकी जेब में बीस रुपये डालकर चला गया। सिपाही अशिक्षित और असंस्कृत समझे जाते हैं, लेकिन यदि शिक्षा और संस्कृति से सौजन्य का अटूट सम्बन्ध है, तो उसकी उनमें कमी नहीं होती। इसके अनेक उदाहरण चन्द्रसिंह को अपने जीवन में मिले, और उन्होंने भी दूसरों के प्रति प्रदर्शित किया। परिवार में आने पर उन्हें और घरवालों को बड़ी प्रसन्नता हुई। छुट्टी पूरी करके वह अपनी छावनी में चले

गयें, और वहाँ सिपाहियों को मस्केटरी (राइफल चलाने) कोर्स सिखलाते रहे।

चन्द्रसिंह की पलटन बसरा में तुर्कों से लड़ी। यह बतला चुके हैं कि कई गढ़वाली पलटनों से एक-एक कम्पनी लेकर चतुर्थ रॉयल गढ़वाली राइफल नाम की सेना तैयार की गई, जिसमें चन्द्रसिंह भी थे। लड़ाई बन्द होते-होते तुर्की उद्धारक कमालपाशा ऊपर आ गया। उसने पददलित तुर्क जाति को फिर से उठाना शुरू किया। अंग्रेज यह क्यों पसन्द करने लगे ? उन्होंने जिन पलटनों को कमालपाशा को दबाने के लिए भेजा था, उनमें चन्द्रसिंह की पहलेवाली गढ़वाली पलटन भी थी। इस पलटन ने इस्ताम्बुल की लड़ाई में भाग लिया था। दो साल बाद 1920 ई. में वह अपनी छावनी लैन्सडौन में आ गई।

लड़ाई 1918 ई. में ही खतम हुई। हवलदारों, ओहदेदारों को कहा गया कि अगर रहना चाहते हो, तो साधारण सिपाही की तरह रह सकते हो। घर में बेकार रहने की जगह सिपाही रहना भी उन्होंने पसन्द किया। चार साल तक के भरती हुए सिपाहियों को चार महीने की तनखाह देकर विदा कर दिया गया। 15 साल या अधिक की नौकरीवालों को पेन्शन मिली। फौजें जब तोड़ी जाने लगीं और ओहदेदारों के ओहदे छीने जाने लगे, तो सारी पलटन में खलबली मच गई। अंग्रेजों के इस बर्ताव से सभी जल-भुन गये, और सचमुच ही अगर जरा भी प्रेरणा मिली होती, तो आग भड़क जाती। लोग कह रहे थे–"अगली बार जब बेटा, हाथ पसारेंगे तब हम मजा चखा देंगे।" कुछ लोग कह रहे थे–"सरकार ने हमारी यह भी प्रार्थना नहीं मानी कि कारखाने खोलकर उनमें हमें भरती कर दिया जाय।" लड़ाई लड़कर आने के बाद लैन्सडौन में 1800 गढ़वाली सिपाही थे, जो अब घटाकर 900 कर दिये गये। वह क्यों न कहते–"अंग्रेज बड़े मतलब-परस्त हैं। जब इनको गरज थी, तो 50 रुपया आदमी पीछे इनाम देकर फुसला-फुसलाकर भरती करते रहे। अब जब उनका मतलब पूरा हो गया, तो सिपाहियों को बेकार हो मरने के लिए भेंज दिया गया।"

28 मार्च से 1 अप्रैल तक छावनी की जिन बैरकों में खूब चहल-पहल दिखाई पड़ती थी, अब सिपाहियों के चले जाने से वहाँ बिलकुल सन्नाटा छा गया था। न कोई आदमी था, न आदमी का पूत। एक विचित्र उदासी देखने में आती थी।

9

असहयोग का जमाना (1921 ई.)

सिपाहियों की शिक्षा-दीक्षा पहिले से कोई रहती नहीं। पलटन में भरती होने पर अंग्रेजों की यही कोशिश थी कि वह आँख मूँदकर हमारी ताबेदारी करना सीखें। इससे आगे उन्हें किसी चीज के जानने की जरूरत नहीं। राजनीति से तो वह उन्हें बिलकुल कोरा रखना चाहते थे। चन्द्रसिंह ने यद्यपि जानने-सुनने के हरेक अवसर से लाभ उठाया, पर विदेशी अंग्रेजों की ताबेदारी से बढ़कर देश की सेवा भी कोई चीज है, इसका उन्हें पता नहीं था। गढ़वाल-कुमाऊँ में बेगार के खिलाफ हुए आन्दोलन की हलकी-सी स्मृति उनके दिमाग पर रही। सन् 1916 ई. में पंडित गोविन्द वल्लभ पंत, पं. हरगोविंद पंत, पं. बदरीदत्त पांडे और दूसरे लोगों ने कुमाऊँ-परिषद् के नाम से एक राजनीतिक संस्था बनाई। परिषद् ने बेगार-प्रथा के उन्मूलन के लिए जबरदस्त आन्दोलन शुरू किया। लोगों के हृदय में सदियों से इसके खिलाफ मवाद जमा होता आया था। जव रास्ता बतलानेवाले और वाणी देनेवाले नेता खड़े हो गये, तो सभी जगह लोगों में जागृति आ गई। परिषद् ने सरकार को नोटिस दे दी कि दो साल के भीतर यदि कुली-बेगार प्रथा तथा जंगलात महकमे से जो कष्ट लोगों को मिल रहे हैं, नहीं हटाये गये, तो हम कानून की अवज्ञा करेंगे। 1921 ई. में काशीपुर (नैनीताल) में एक सभा हुई, जिसने आन्दोलन के पथ-प्रदशन के लिए गाँधीजी को लाने के वास्ते 25 आदमियों का डेपुटेशन भेजा। यह लोग गाँधीजी के पास नागपुर-कांग्रेस में गये। वह स्वयं तो नहीं आ सके, लेकिन उन्होंने अपना आशीर्वाद भेजकर कहा कि तुम

अपने आन्दोलन को जारी रक्खो। इस सन्देश को लेकर पं. हरगोविन्द पंत, लाला चिरंजीलाल, पं. बद्रीदत्त पांडे लौटे। बागेश्वर अल्मोड़ा जिले में एक बहुत पुराना तीर्थ है। उस समय 13 जनवरी (1921) को माघ संक्रान्ति उत्तरायण का बड़ा मेला था। वहाँ कुमाऊँ-कमिश्नरी की भिन्न-भिन्न जगहों से बहुत-से देशभक्त जमा हुए। बारह शंखों को बजाकर उस दिन एक बड़ा जुलूस निकाला गया। लाल ध्वजा के ऊपर सफेद अक्षरों में लिखा हुआ था—'कुली बेगार मत दो।' वहीं गंगाजल लेकर 5000 कुमाऊँनियों ने प्रतिज्ञा की कि हम कुली-प्रथा के कलंक को नहीं बर्दाश्त करेंगे। इसका अफसरों को पता था। उनको दबाने-डराने के लिए 21 अंग्रेज अफसर, 40 पुलिसवाले और बहुत-से दूसरे राजकर्मचारी गोली-गट्ठे से तैयार होकर गए थे। लेकिन, गोलियों का चलाना उतना आसान नहीं था। जलियाँवाला गोलीकांड करके अंग्रेजों ने देख लिया था कि उसने देश में आग लगाने में कितना जबर्दस्त काम किया। सरकारी अफसर तमाशा देखते रहे, और लोग 'महात्मा गाँधी की जय' के नारे लगाते अपनी सभा करते रहे। बद्रीदत्त पांडे ने उस दिन बड़ा साहस दिखलाया। गोलियाँ चलाने की इतनी तैयारी थी, उस समय वह छाती तानकर जुलूस के आगे-आगे चल रहे थे। तब से लोग उन्हें कुमाऊँ-केसरी कहने लगे।

सहारनपुर में दो बूढ़े देशभक्तों पर चन्द्रसिंह को तैनात किया गया था, उस समय उन्हें कुछ राजनीति की बातें सुनने को मिली थीं। उसी समय बूढ़ों ने यह भी बतलाया कि अमेरिका और कहाँ-कहाँ से भारतीय अपने देश को अंग्रेजों के हाथ से मुक्त कराने के लिए आये थे। उन्होंने कुछ पलटनों को भी अपनी ओर खींचने में सफलता पाई थी, पर समय से पहिले भेद खुल गया। बहुत लोग पकड़े गये, सौ के करीब देशभक्त हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर झूल गये।

1919 से 1921 ई. तक भारत में अब षड्यन्त्र नहीं, बल्कि अंग्रेजों के हाथ से स्वतंत्र होने का खुल्लमखुल्ला प्रचार हो रहा था। जलियाँवाला काण्ड 1919 ई. में हो चुका था। 1921 ई. में चौरीचौरा-काण्ड से डरकर गाँधीजी ने सत्याग्रह को स्थगित कर दिया था। इन्हीं सालों में अंग्रेजों के तुर्की को खंड-खंड करके अपाहिज करने तथा सुलतान को खलीफा-पद पर फिर स्थापित करने के वास्ते मुसलमानों में खिलाफत का आन्दोलन था, अंग्रेजी-राज्य के अत्याचारों के प्रति अपना क्षोभ दिखलाने के लिए हिजरत (देशत्याग) आन्दोलन भी चल रहा था। बहुत-से लोग देश (अंग्रेजी-राज्य) छोड़कर काबुल की तरफ चले गये थे। यह आन्दोलन देश में जैसे व्यापक रूप से फैला हुआ था, उस तरह की कोई बात हिन्दुस्तानी पलटनों की छावनियों में नहीं देखी जाती थी। सैनिकों को ऐसी बातों से अछूता रखने के लिए अंग्रेजों ने काफी इंतिजाम कर रक्खा था।

1920 में जिस समय पलटनें धड़ाधड़ तोड़ी जा रही थीं, और सिपाही घरों में भेजे जा रहे थे, उसी समय गढ़वाल में भीषण अकाल पड़ा। लोग अपनी जमीनें बेचकर खा गये। कितने ही अपने दुधमुँहे बच्चों को भी छोड़कर जहाँ-तहाँ भागने के लिए मजबूर हुए। इस समय अकाल-पीड़ितों की सेवा के लिए आर्य-समाज ने बड़ी सेवा की थी। इन पंक्तियों के लेखक के दो मित्र श्री बलदेव चौबे और श्री कनकदंडी सोमयाजुलू अकाल में सेवा करने के लिए लाहौर से गढ़वाल पहुँचे थे। यह दोनों तरुण उस समय लाहौर के डी.ए.वी. कॉलेज के छात्र थे। श्री बलदेव चौबे आजीवन देश की सेवा करते रहे, और स्वामी सत्यानन्द के नाम से अभी पिछले ही साल उनका देहान्त हुआ। सोमयाजुलू स्वामी प्रणवानन्द के नाम से विख्यात कैलाश मानसरोवर के पर्यटक हैं। सेवा के लिए देश जग गया था, लेकिन जितनी बड़ी संख्या में लोग भूखों मर रहे थे, उन सबको कहाँ से इतनी सहायता पहुँचाई जा सकती थी। गढ़वाल तो साधारण सालों में भी अपने खाने-भर के लिए अनाज नहीं पैदा कर पाता और बदरी-केदार के यात्रियों के लिए बहुत भारी परिमाण में अनाज नीचे से मँगाता है। गढ़वाल आज स्वतन्त्रता के बाद भी एक दरिद्र भूभाग है। आबाद होने लायक सारी जमीन को छोटे-छोटे कोलों में परिणत कर दिया गया। किसी सड़क से चले जाइये, नीचे से ऊपर तक पहाड़ खेतों की सीढ़ियों से ढँका मिलेगा। खेतों को बनाने के लिए लोगों ने जंगलों का संहार कर दिया, लेकिन तो भी वह खाने-भर के लिए अनाज नहीं पैदा कर सके। कभी अतिवृष्टि होती है, और खेतों को लिये-दिये पहाड़ नीचे खिसक जाते हैं; कभी सूखा पड़ जाता है, जिसके कारण खेतों से एक छटाँक भी अनाज नहीं मिलता। कभी करोड़ों की तादाद

में टिड्डियाँ आकर हरे खेतों को सफाचट कर जाती हैं। सुभिक्ष हो तब भी गढ़वाल दरिद्रता से मुक्त नहीं होता, यदि उसे सिर्फ खेती पर निर्भर रहना है लेकिन, गढ़वाल प्रकृति की तरफ से इतना दरिद्र नहीं है। यहाँ ताँबे आदि की खानें हैं, तरह-तरह की जड़ी-बूटियाँ हैं। अच्छे किसिम के फल बड़े भारी परिमाण में उपजाये जा सकते हैं, और यहाँ की हरेक नदी लाखों किलोवाट बिजली दे सकती है।

जिस साल भीषण अकाल हुआ था, उसी साल हैजा, प्लेग, मलेरिया ने भी फैलकर भीषण नर-संहार किया था। पलटनों से निकाले जाकर थोड़े-से रुपये, एक जोड़ा जाँघिया, एक जोड़ा बूट, कुछ और कपड़े लेकर सिपाही घर पहुँचे थे। कितनों ने हाथ में रुपये आने पर सोचा, चलो बीवी के लिए दो तोले का कोई जेवर ही बना लें, सोना किसी वक्त काम आयेगा। उस समय सोना 28 रुपया तोला था। लड़ाई में नोट बहुत चले थे, लेकिन सिपाही उन्हें शंका की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने अपने नोटों को 12 आना-14 आने की दर से चाँदी के रुपयों में भुना लिया था। घर पर आते ही वह अपने साथ लाये हुए रुपयों को निश्चिंत होकर खा भी तो नहीं सकते थे। पुरोहितों को दान-दक्षिणा देना जरूरी था। थोकदार टीका-भेंट माँग रहे थे। पटवारी और देहात के दूसरे सरकारी नौकर, और नहीं तो सिपाही के बूट पर ही नजर गड़ाये हुए थे। उस समय गाँवों में पटवारियों, जंगल के गारदों, गाँवों के प्रधानों के पैरों में फौजी बूट देखे जा सकते थे। इनके अलावा छोटी जातवाले भी ठाकुर से कुछ चीथड़े ही पाने की आशा लगाये हुए थे। इन सब चौथों से बचना मुश्किल था। अगर कुछ पैसे बच गये, तो रुपये का सेर-भर चावल, दो सेर चना मिलता था, जिसे भी 30-30 मील चलकर दुगड्डा और रामनगर से लाना पड़ता था। सिपाही की वर्दी और रुपयों के हवा होते देर नहीं लगी। सोने के नत्थ को भी आधे दाम पर बेचकर खा जाना पड़ा। लोगों ने लड़ाई में मिले अपने तमगों को एक-एक रुपये में बेच दिया। जब कोई अवलम्ब नहीं रहा, तो सिपाही अपने देखे हुए स्थानों को भाग गये। कोई क्वेटा गया, कोई कराची, और कोई और किसी जगह।

प्रथम विश्व-युद्ध में फ्रांस के युद्ध में 13000 गढ़वाली बलि चढ़े थे, जिसका पारितोषिक उन्हें दो विक्टोरिया क्रासों और फरवरी 1921 में गढ़वाली राइफल को रॉयल गढ़वाली राइफल बना देने के रूप में मिला था। गढ़वाल में यातायात अभी भी पुराने ढंग के थे। पगडंडियाँ जो सतयुग में काम देती थीं, वही अब भी चल रही थीं। सिर्फ बदरी-केदार के यात्रियों के लिए खच्चरों के चलने लायक सड़क और पुल या लोहे के झूले बना दिये गए थे। लोगों ने सड़कों के बनाने के लिए सरकार से प्रार्थना की। कुछ जगह उनके लिए नापी भी गई। सड़कों का बनना वैसे ही खटाई में पड़ा रहा, पर सरकार ने उसके बहाने मालगुजारी में एक रुपये पर पाँच आना बढ़ा दिया।

अधिकांश गढ़वाली सिपाहियों को तो भुखमरी की बलि होने के लिए पलटन से निकाल दिया गया था, लेकिन ओहदेदारों को सिपाही बनाकर रखने की इच्छा अंग्रेजों ने प्रकट की थी। ओहदा पाने के लिए सिपाहियों को कितनी मेहनत करनी पड़ी थी। चन्द्रसिंह ऐसे ही हवलदार नहीं बन गये थे। रात-दिन फौजी किताबें पढ़ते, हर तरह की शिक्षा लेकर इम्तहान देते, कई सौ रंगरूटों को कवायद-परेड सिखाकर लड़ाई में भेजते रहे। यह सब करने के बाद जिस दिन हुकुम आया कि अब तुम हवलदार नहीं सिपाही हो गये, तो चन्द्रसिंह भी दूसरे ओहदेदारों की तरह बदहवास हो गये। अपनी वर्दी से हवलदारी के बिल्लों को निकालकर उनमें से एक को वह कमांडिंग अफसर के दफ्तर के दरवाजे पर काँटी से ठोंक आये, दूसरे को सूबेदार-मेजर के दरवाजे पर उनके सामने ही गाड़ दिया, तीसरे बिल्ले को अँगीठी में जला दिया। कवायद-परेड करने से बिलकुल इन्कार कर दिया। चन्द्रसिंह के साथ और हवलदार भी थे। उनके साथ भी यही बीती थी, लेकिन वह ऐसी मनोवृत्ति दिखाने के लिए तैयार नहीं थे। चन्द्रसिंह ने हाजिरी के समय अपना नाम काटने के लिए आग्रह किया। अभी तो नाम कटा नहीं था, इसलिए फौजी कायदे-कानून के खिलाफ कैसे जा सकते थे ? उन्हें कम्पनी-कमाण्डर के सामने पेश किया गया। कमाण्डर ने बहुत तरह से समझाने की कोशिश की, लेकिन चन्द्रसिंह कुछ भी सुनने के लिए तैयार नहीं थे। उसने इन्हें कमांडिंग अफसर के सामने पेश किया। कमांडिंग अफसर ने भी बहुत समझाने-बुझाने की कोशिश की, लेकिन चन्द्रसिंह को कोई बात पसन्द नहीं आई। इस पर उसने कम्पनी कमाण्डर

को हुकुम दिया कि चन्द्रसिंह का दिमाग खराब हो गया है, इसे एक महीने की छुट्टी दे दी जाय। चन्द्रसिंह का दिमाग खराब नहीं हुआ था। वह अन्त में यही माँग रहे थे कि देहरादून में जो फौजी मोटर कम्पनी खुली है, उसी में मुझे भी भेज दिया जाय। वह छुट्टी जाने के लिए तैयार नहीं थे। सबके समझाने-बुझाने से बढ़कर मेजर फाक्स के इस वादे को उन्होंने मान लिया कि थोड़े दिनों बाद वह उसी नम्बर पर चन्द्रसिंह को हवलदार बना देंगे। छुट्टी पर जाना उन्होंने मंजूर कर लिया।

इसी समय चन्द्रसिंह ने सुना, महात्मा गाँधी देहरादून आ रहे हैं। उन्होंने सोचा–'चलो छुट्टी तो मिल ही गई है, क्यों न महात्माजी का दर्शन भी कर लूँ।' दर्शन करने के पीछे उनका अपना भी एक स्वार्थ काम कर रहा था। उन्होंने सुन रक्खा था कि अंग्रेजों के खिलाफ महात्माजी लड़ाई छेड़ रहे हैं, उनके पास बड़ी फौज है। सोचा, मतलबपरस्त अंग्रेजों की फौज में तो इतने दिनों तक रहकर देख लिया, चलें गाँधीजी की फौज में भरती हो जायँ। लैंसडौन से छुट्टी मिली थी घर जाने के लिए, लेकिन वह चल पड़े देहरादून की ओर। रुड़की में पता लगा कि गाँधीजी तो दिल्ली में हैं। दिल्ली में मालूम हुआ, वह वहाँ से चले गये। फिर पता लगा, जगाधरी (अम्बाला) में एक बहुत बड़ा जलसा हो रहा है, जिसमें देश के बड़े-बड़े लीडर आ रहे हैं। उन्होंने दिल्ली से जगाधरी का टिकट कटाया। जिस दिन वह वहाँ पहुँचे, उसी दिन जलसा होनेवाला था। चन्द्रसिंह को गाँधीजी की पलटन में भरती होना था। यदि गाँधीजी वहाँ नहीं हैं, तो और उनके बड़े-बड़े जेनरल होंगे, यह सोचकर उन्होंने एक दरखास्त लिखी और एक खद्दर पहने हुए भद्र पुरुष को उसे देकर कहा कि इसे सबसे बड़े नेता के पास पहुँचा दें। खद्दरधारी पुरुष ने पूछा–"तुम उनसे मिलकर क्या करोगे ?"

"मैं गाँधीजी की पलटन में भरती होना चाहता हूँ।"

सज्जन वहाँ बैठने के लिए कहकर दरखास्त लेकर चले गये।

चन्द्रसिंह समझ रहे थे कि मैंने अंग्रेजों की पलटन में लड़ाई की कितनी ही बातें सीखी हैं। फ्रांस और मेसोपोतामिया की लड़ाइयों में भाग ले चुका हूँ। ऐसे तजर्बेकार सैनिक की गाँधीजी की पलटन के लिए भी जरूरत हो सकती है। जिस सफलता के साथ मैंने अपनी हरेक जिम्मेवारी को निबाहा है, उससे मुझे भरती करने में कोई उजुर नहीं हो सकता।

जगाधरी के उस जलसे में बाहर से तीन बड़े-बड़े नेता आये थे, जिनमें एक पं. मोतीलाल नेहरू भी थे। उस समय उन्हें नहीं मालूम हो सका कि वह नेता कौन थे, पर पीछे तसवीर देखने से वह समझ गये कि यह पं. मोतीलालजी थे। मोतीलालजी ने चन्द्रसिंह को बुलाकर बातें पूछीं। गाँधीजी की पलटन में भरती होने का अर्थ तो यही लगाया जाता था कि अब वह देशसेवा करने का व्रत ले रहा है। सब कुछ सुनकर मोतीलालजी ने कहा–"पहिले तुम अपनी पलटन से नाम कटा आओ, फिर कांग्रेस में भरती कर लिया जायगा। यदि इस समय तुम भरती होगे, तो सरकार तुम्हें सख्त सजा देगी।"

चन्द्रसिंह को बड़ी निराशा हुई, लेकिन पं. मोतीलालजी की बात बिलकुल बेकार नहीं थी। वह जगाधरी से घर चले आये। एक महीने से कुछ अधिक गुजरे थे कि पलटन से हुकुम आया, कि जल्दी छावनी में हाजिर हो जाओ। तुम्हें ड्रिल (कवायद) नायक बना सी. कम्पनी से बी. कम्पनी में बदल दिया गया है।

सितम्बर 1920 में 10/18 रॉयल गढ़वाली राइफल खड़ी की गई। इसमें शामिल होने के लिए वह सभी रंगरूट चले गये, जिनके चन्द्रसिंह ड्रिल-नायक बनाये गये थे। उनकी नायकी खतम हो गई, लेकिन सभी अफसर उनकी योग्यता की कदर करते थे। इसलिए अगले महीने उन्हें पक्का नायक बना दिया। इसी समय सैनिकों की एक टुकड़ी सीमान्त प्रदेश के वजीरिस्तान इलाके में जानेवाली थी। उसके लिए ओहदेदारों की सूची बन रही थी। अंग्रेज अफसरों का ध्यान सबसे पहिले चन्द्रसिंह की ओर गया। इस पर सूबेदार-मेजर ने कहा–"चन्द्रसिंह का परिवार यहाँ आ गया है, वह वजीरिस्तान तभी जा सकता है, जबकि अपने बाल-बच्चों को घर भेज दे।" कमांडिंग अफसर ने 15 दिन की छुट्टी दी, और चन्द्रसिंह अपनी पत्नी–हवलदार की लड़की–नवीना (गौरी) को लेकर घर चले गये।

वर्षा के दिन थे। छोटे-छोटे पहाड़ी नाले भी भयंकर नदी का रूप धारण किये हुए थे। नवीना के पैर

भारी थे। रास्ता बिल्कुल टूटा-फूटा था। बीस मील चलकर वह संगलकोट में पहुँचे। गाँव के नीचे के नाले पर का पुल टूट गया था। लोगों ने आर-पार होने के लिए रस्सी का पुल बना दिया था, जिसके नीचे भीमाकार नदी बह रही थी। काली-काली मिट्टी से रँगा पानी बड़ा भयंकर मालूम होता था। दोनों पति-पत्नी झूले के पास पहुँचे। देखा, झूला ठीक से खड़ा भी नहीं है, वह एक तरफ टेढ़ा हो गया है। झूले पर पैर रखकर आगे बढ़ना बहुत खतरे की बात थी। लेकिन, दूसरा चारा क्या था ? क्या बीस मील पीछे लौटकर वह फिर छावनी जाते ? उन्हें वजीरिस्तान की लड़ाई में जाना था। नवीना को छावनी में रखकर वह कैसे लाम पर जा सकते थे ?

सब सोचकर आखिर उनके पहाड़ीपन ने जोश मारा। झोला-कपड़ा-लत्ता पीठ में बाँधे वह झूले पर हिलते-डोलते उस पार चले गये। सामान रखकर वह फिर लौट आये। नवीना ऐसे झूले पर चलने की हिम्मत नहीं रखती थी। चन्द्रसिंह ने उसे अपनी पीठ पर बैठाकर धोती से खूब बाँध लिया। फिर झूले पर चढ़कर आगे बढ़े। बीचो-बीच पहुँचने पर झूला दाहिनी ओर टेढ़ा हो गया और उनका हाथ रस्सी से खिसकने लगा। इस भयंकर स्थिति को देखकर नवीना चिल्लाने लगी–"मुझे छोड़ दो, तुम अपनी जान बचाओ।" चन्द्रसिंह में सोचने-समझने की अब ताकत नहीं थी। उन्होंने आँखें बन्द कर लीं और झूले में मढ़ी एक लकड़ी के ऊपर चिड़िया की तरह बैठ गये। दिमागी परेशानी ही नहीं, बल्कि शरीर से भी वह बेदम हो गए थे। थोड़ी देर सुस्ताने के बाद उन्होंने फिर आगे चलने का साहस किया। नवीना बराबर रोकती रही, लेकिन नदी के बीचो-बीच हिलते हुए रस्सी के झूले पर वह कितनी देर तक खड़े रहते। जितना ही पीछे आने में खतरा था, उतना ही आगे बढ़ने में था। रस्सियों को हाथ से पकड़े चिपके हुए वह किसी तरह परले पार चले गए। धोती खोलकर नवीना को धरती पर उतारा और अब दोनों ही बेहोश होकर वहाँ पड़े रहे। मौत के मुँह में वह सीधे चले गये थे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

उस रात दोनों ने जुनीसेरा में मुकाम किया। चन्द्रसिंह नवीना को अपने घर नहीं ले जाना चाहते थे, क्योंकि बाप इस ब्याह से सख्त नाराज थे। लेकिन, नवीना ने हठ ठान दी कि रौणूसेरा ही चलूँगी। चन्द्रसिंह ने बहुत ना-ना किया, लेकिन आखिर में पत्नी की बात माननी पड़ी। दोनों मौसो पहुँचे। जाथलीसिंह ओसारे में बैठे हुक्का पी रहे थे। बेटे ने जाकर चरण छूआ। पिता ने आशीर्वाद दिया। नवीना ने जब पैर छुए, तो उन्होंने कहा–"हटो, तुम कौन हो ?" और वह वहाँ से उठकर गाँव के दूसरे घर में चले गये। रात को कई बार बुलाया, लेकिन वह घर नहीं आये। बोले–"जब तक चन्द्रसिंह की स्त्री घर पर है, तब तक मैं उस घर का अन्न-जल नहीं ग्रहण करूँगा। वह हमारी बहू नहीं है। चन्द्रसिंह ने अपनी खुशी से उसे घर में ला रक्खा है। हम इसके लिए बिलकुल राजी नहीं हैं।"

लेकिन, माँ का हृदय माँ का ही हृदय होता है। उसने अपने बेटे और बहू को बड़े प्रेम से आशीर्वाद दिया। नवीना के घर आने की बड़ी खुशी मनाई। बाप के इस असहयोग को देखकर चन्द्रसिंह ने वहाँ ठहरना अच्छा नहीं समझा। अगले दिन वह पत्नी को ससुराल पहुँचाने के लिए चले। माँ ने बहुत आग्रह किया कि खाना खाकर जाओ, बाप की बात का खयाल न करो, लेकिन चन्द्रसिंह ने माँ के पैर छुए, और वह पत्नी को लेकर चल दिया। नवीना अब भी कह रही थी–"माँ की बात मान जाओ, खाना खाकर चलेंगे।" चन्द्रसिंह ने रुखाई से जवाब दिया–"तुम खाना खाते रहना, मैं तो चला।"

रास्ते-भर नव-दम्पती की आपस में कहा-सुनी होती रही। नवीना कहती रही–"जो अपनी माँ की बात नहीं मानता, वह दूसरे की क्या सुनेगा ?" चन्द्रसिंह नवीना को उसके मायके में छोड़कर अपने घर लौट आये। पिता सब कुछ भूल गये थे, और उन्होंने पलटन में जाने के लिए चन्द्रसिंह को बहुत खुशी से विदाई दी।

नवम्बर 1920 की किसी तारीख को दो सरदार, एक सिपाही, और 15 हवलदारों की एक एडवान्स टोली लैंसडौन से वजीरिस्तान के लिए रवाना हुई। यह लोग लाहौर होते कालाबाग के रास्ते लघा कैम्प में पहुँच गये, वहाँ वह 23वीं राजपूत बटालियन के राशन और अनुशासन में सम्मिलित हो गये।

10

पश्चिमोत्तर सीमान्त में (दिसम्बर 1921-1923 ई.)

अभी चन्द्रसिंह की अपनी बटालियन नहीं आई थी, इसलिए वह राजपूत बटालियन में शामिल थे। उनकी बटालियन इसी पलटन के बदले में आनेवाली थी। यह एक नया क्षेत्र था, यहाँ के काम भी नये थे। ओहदेदारों को पहिले आकर सब बातों को सीखना था, कैसे कान्वाय (फौजी रसद का काफिला), डे-पिकेट (दिन का पहरा), परमानेन्ट पिकेट (स्थायी पहरा) आदि की ड्यूटी करनी होती है। देख-सीखकर चन्द्रसिंह सब बातों को नोट करते रहे। वजीरिस्तान सीमान्त का एक ऐसा इलाका था, जहाँ मालूम नहीं पड़ता था कि कब शान्ति और कब युद्ध। सैनिकों को वहाँ बराबर तैयार रहना पड़ता था। यहाँ के लिए जो कान्वाय आदि तरीके अख्तियार किये जाते थे, उनका विवरण यहाँ देना अनावश्यक नहीं होगा।

कान्वाय–फौजी ढंग का काफिला, अर्थात पड़ाव से पलटन के आने-जाने, रसद, गोला-बारूद, खजाने आदि को मोटरों या ऊँट पर एक कैम्प से दूसरे कैम्प भेजे जाते थे, इसी को कान्वाय कहते हैं। यदि बिना तैयारी के कान्वाय भेजी जाती, तो रास्ते में पठान उसे लूट लेते। इसीलिए रास्ते के दोनों तरफ सैनिकों का पहरा लगाना पड़ता। चन्द्रसिंह के लधा कैम्प में पहुँचने से कुछ ही दिन पहिले लधा और जवार किले के बीच मसूदों ने 300 ऊँटों और उनके सामान को लूट लिया था, मोटर के कुछ ड्राइवरों को जान से मारकर कितनों को पकड़ ले गये थे। पठान किसी को मारते, तो उसके कपड़े-लत्ते छीन ले जाते। यह यात्रा सवेरे के वक्त पहाड़ों के ऊपर होती। पहाड़ पर सुरक्षित पहुँचने की सूचना ओ. के. (सब ठीक) की झण्डी से दी जाती है। इस तरह सारा कान्वाय एक इलाके से दूसरे इलाके में जाता। दिन में जो पहरेदारी होती है, इसलिए इसे डे-पिकेट कहते। जब सारे रास्ते में पहिली कान्वाय सुरक्षित कैम्प में पहुँच जाती है, तब दूसरी कान्वाय कूच करती। कान्वाय के निकल जाने पर डे-पिकेट के जवान दौड़ते हुए अपनी चौकी पर पहुँच जाते हैं। इन जवानों को दिन-भर का राशन और पानी लेकर जाना पड़ता है। शाम को ही रोटी पकाकर सिपाहियों को बाँट दी जाती, उसी को वह अगले दिन कान्वाय के साथ ड्यूटी बजाते वक्त खाते।

परमानेन्ट पिकेट (स्थायी गुल्म)–कान्वाय चलने की सड़क के दाहिने-बाएँ की पहाड़ियों के ऊपर पत्थरों को जोड़कर अस्थायी मोर्चे (संगड़) बनाये जाते। संगड़ के भीतर सिपाहियों के रहने के लिए एक छोलदारी होती। छोलदारी को बाहर से घेरे चार-साढ़े चार फीट ऊँची पत्थरों की दीवाल रहती। आवश्यकता पड़ने पर दीवाल के पीछे छिपकर सिपाही दुश्मन पर गोली चलाते। छोलदारी के अन्दर 24 घंटे तक लड़ने के लिए पिस्तौल, गोली-बारूद, बम, राशन-पानी और एक रसोईघर रहता। वहीं किनारे पर पाखाने के लिए भी जगह बनी रहती। टेलीफोन भी खबर देने के लिए रहता, दिन में शीशे और रात को लालटेन से सूचना भेजी जाती। वहाँ सिगनल देने के लिए जो सिपाही रहता, उसका काम था हर आध घंटे पर कैम्प को ओ. के. की सूचना देते रहना। हरेक संगड़वाले अपने आसपास के पिकेटों को भी सूचना भेजते रहते। संगड़ के बाहर चारों ओर काँटेदार तार लगे रहते। यह स्थायी प्रबन्ध था, इसीलिए ऐसे पिकेट को परमानेन्ट पिकेट कहते। परमानेन्ट पिकेट में 12 से 30 तक सैनिक रहते, जो एक महीने तक वहाँ ड्यूटी देकर बदल जाते। बदली करानेवाले नये जवान डे-पिकेट के साथ वहाँ पहुँचते। ये भी अपने साथ एक महीने का राशन लेकर आते। पीने का पानी रोज खच्चरों पर भेजा जाता। खच्चर लानेवाले स्थानीय पठान होते, जो पलटन के नौकर-से थे और उन्हें इसके लिए 30-30 रुपया माहवार तनखाह मिलती। इनके आपस में ही सूबेदार, जमादार, हवलदार भी होते।

चन्द्रसिंह और उनके साथियों ने पहिले जाकर वहाँ की सारी बातें जान-सुन लीं। इसके अतिरिक्त वहाँ का नक्शा देखा था–पहाड़-गाँव-नाले कौन कहाँ हैं।

21 फरवरी 1922 को चन्द्रसिंह की बटालियन डेरा इस्माइलखाँ के रास्ते 23वीं राजपूत पलटन को बदलने के लिए लधा कैम्प में पहुँची। पलटन के आते ही पहिले से आये ओहदेदारों ने अपनी-अपनी कम्पनियों की

सारी ड्यूटी बतलाई, वहाँ के कायदे-कानून समझाये। ओहदेदारों ने अपने अफसरों को वहाँ के नक्शे और जमीन की बाबत सारी सूचना दी।

चन्द्रसिंह ने आठ महीने लघा कैम्प में बिताये। जून, 1922 को वह ढाई महीने की छुट्टी लेकर घर आये। कोटद्वार पहुँचने पर उन्हें 104 डिग्री का बुखार आ गया। जैसे-तैसे लैन्सडौन छावनी में पहुँच पन्द्रह दिन तक वहाँ अस्पताल में पड़े रहे। फिर घर गये। परिवार से मिलकर उनको बड़ा आनन्द आया।

छुट्टियाँ खतम करके वह फिर लघा कैम्प में पहुँच गये और यहीं लैंन्स-हवलदारी का इम्तेहान पास किया। उनकी योग्यता से प्रसन्न होकर अफसरों ने 28 नायकों को पीछे छोड़ उन्हें नवम्बर 1922 में लेन्स-हवलदार बना दिया।

जनवरी 1923 में वह उसी कैम्प से सम्बन्ध रखनेवाले बासबोन के परमानेन्ट पिकेट पर ड्यूटी दे रहे थे। उनके नीचे एक लैंसनायक, एक सिगनेलर, 12 सिपाही—कुल 18 जवान थे। एक दिन दिन के 10 बजे उनके पास टेलीफोन आया, कि जिस वक्त गोली से लाल रोशनी छूटती दीखे, तुम सब लोग पास के किसी स्थान पर निशाना लगाकर बन्दूक दागने लगना। जब हरी रोशनी दिखाई जाय, तो दागना बन्द कर देना। कान्वाय नीचे या ऊपर अपने-अपने कैम्पों में चली गई। दो या ढाई बजे का समय था, उसी समय सामने की पहाड़ी की चोटी पर से परमानेन्ट पिकेट ने गोली दागकर लाल रोशनी दिखलाई। चन्द्रसिंह के साथी पहिले से तैयार थे। डे-पिकेट भी अपनी-अपनी जगह पर तैयार थे। लाल रोशनी के दगते ही सबने अपनी-अपनी जगह से बन्दूक दागना शुरू कर दिया। इसी समय पियाजा-कैम्प से दो मोटरें नीचे की सड़क से गुजरीं। उनके ऊपर हरे झण्डे फहरा रहे थे। बंदूक की गोलियाँ चल रही थीं। उनका साथ मशीनगनों ने भी दिया। जब मोटर लघा कैम्प में पहुँच गई, तो ऊँची पहाड़ी पर से गोलियों ने हरे रंग का संकेत दिया। सबने गोलाबारी बन्द कर दी। उसी रात दुबारा फिर फैर कराई गई।

ऐसा क्यों किया गया, इसका पता चन्द्रसिंह को नहीं था। दूसरे दिन सबेरे कम्पनी कमाण्डर कप्तान पाल पिकेटों का निरीक्षण करने के लिए आया। चन्द्रसिंह ने कप्तान के लिए चाय-पानी का बन्दोबस्त किया। बात-बात में उन्होंने पूछ दिया—"हुजूर, कल जो हम लोगों से फायर कराये गये, सो किसलिए ?"

कप्तान ने हँसकर कहा—"सुनो, आजकल हिन्दुस्तान में एक कांग्रेस पार्टी है, जो सरकार-बहादुर से बगावत करती रहती है। उस पार्टी में हिन्दुस्तान के बड़े-वड़े पेटवाले लोग हैं। वह सरकार से लड़कर अपना पेट भरना चाहते हैं। इन लोगों को शिमला में वायसराय की कौंसिल में बैठने की जगह दी गई है। वह लोग अपनी बातें वहाँ सरकार के सामने कह सकते हैं। उन्होंने हल्ला मचाना शुरू किया कि इतनी पलटन की जरूरत नहीं है, पलटन पर बहुत खर्च आता है। सिपाहियों को नाम काटकर उंन्हें घर भेज देना चाहिए। वजीरिस्तान में पलटनों पर इतना अधिक रुपया बेकार खर्च हो रहा है। फ्रान्टियर में सिपाही को इतना राशन-भत्ता जो दिया जाता है, उसे बन्द कर देना चाहिए। हमारी सरकार कहती है कि अगर फ्रान्टियर से पलटनें हटा ली जायँ, तो पठान लोग हिन्दुस्तान पर हमला कर देंगे, देश को लूट लेंगे।"

कप्तान पाल ने आगे फिर कहा—"ये मोटे पेटवाले बड़े-बड़े बनिये हैं, जो वायसराय की कौंसिल में जाकर नाहक हल्ला मचाते हैं। उन्हें क्या मालूम है कि पठानों के मुल्क में सिपाहियों को कितनी तकलीफें उठानी पड़ती हैं, कितना खतरे का सामना करना पड़ता है। इसी को दिखलाने के लिए सरकार ने कुछ मोटे पेटवालों को यहाँ भेजा, और कहा कि तुम जाकर स्वयं देख सकते हो, कि वहाँ हमारी फौजों को कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है। कल जो हरे झण्डेवाली मोटर यहाँ से निकली थी, उसमें वायसराय की एसेम्बली के वही चिल्लानेवाले दो मेम्बर थे। लेकिन, वह हमसे भी चालाक निकले।"

चन्द्रसिंह ने पूछा—"उन्होंने क्या चालाकी की ?"

"जेनरल साहब ने उन्हें यह दिखलाना चाहा था कि फ्रान्टियर में हमेशा पठानों से लड़ाई होती रहती है, और हर वक्त हमारी फौज को चौकन्ना रहकर उनका मुकाबला करना पड़ता है। इसीलिए इतनी देर तक गोलियों की वर्षा की जाती रही। रात-भर हमारे बड़े-बड़े अफसरों से वह यहाँ की हालत पर बात करते कहते

रहे, कि सचमुच यहाँ पलटन को बहुत तकलीफ उठाकर अपनी ड्यूटी पूरी करनी पड़ती है। आज सुवह ऑफिस में आकर उन्होंने जेनरल साहब से पूछा—'क्या सचमुच यहाँ रोज ही दिन में दो बार फौजों और पठानों में मुठभेड़ हुआ करती है ?'

" जेनरल साहब ने कहा—'क्या करें, करना ही पड़ता है। हम लोग बहुत परेशान हैं। फौजी नौकरी में हमेशा जान खतरे में रहती है। मगर मजबूर हैं।'

" इस पर मेम्बरों ने कहा—'यह बताइये, कि कल की दो दफे की लड़ाई में कुल कितनी गोलियाँ खर्च हुईं ?'

" जेनरल ने उसी समय हिसाव मँगाकर गोली, वम, रोशनी की गोली आदि का हिसाव बतला दिया और यह भी कि सारा सामान कितने हजार रुपयों का था।

" इसे नोट करके दोनों मेम्बरों ने जेनरल साहव से पूछा—'जनाव, आप हमें यह बतला सकते हैं, कि कल की लड़ाई में हमारे कितने सिपाही और कितने पठान मारे गये ? सव मिलाकर कितने हताहत हुए ?'

" भला जेनरल साहब इसका कहाँ से हिसाब लाते, यहाँ न कोई मरा था न और कोई घायल हुआ था। सिर्फ खच्चर लाइन में संयोग से दो खच्चर घायल हो गये थे।"

कप्तान पाल ने अपनी बात समाप्त करते हुए कहा—"देखा हवलदार, ये कितने होशियार हैं। हमको चकमा देकर चले गये।"

पलटन के सिपाहियों को हटा देना या रसद-पानी में कमी करना चन्द्रसिंह और उनके दूसरे देशभाई सिपाही पसन्द नहीं कर सकते थे। अंग्रेज कप्तान अपनी इन बातों से उनके मन में कांग्रेसियों के खिलाफ बैर-भाव पैदा करना चाहता था।

चन्द्रसिंह को पीछे यह भी मालूम हुआ कि जो दोनों मेम्वर उस दिन आये थे, वह विट्ठलभाई पटेल और मोतीलाल नेहरू थे।

बेसबोन पिकेट में चन्द्रसिंह को रहते दो हफ्ते हो गये थे। इसी समय हुकुम आया कि फौज को झण्डोला कैम्प से नीचे हटाया जाय। अगर 1 मार्च के बाद फौजें वहाँ रहीं तो उसका सारा खर्च वहाँ के अफसरों को देना पड़ेगा। फ्रान्टियर की सभी फौजों का मैदानी राशन, कपड़ा, भत्ता बन्द कर दिया गया। उन्हें उसी तरह खर्च-वर्च देने का निश्चय किया गया, जैसा कि पंजाब की छावनियों में आम तौर से रहनेवाली पलटनों को दिया जाता था। फरवरी 1923 को लधा कैम्प के ब्रिगेड को वहाँ से पियाजा कैम्प में हटा दिया गया। लघा कैम्प के चारों तरफ लगे काँटेदार तार काट दिये गये। कुछ सामान साथ नहीं ले जाया जा सकता था। रसद का ढेर लगा हुआ था, सबमें आग लगा दी गई। चारों ओर खोदी हुई खन्दकें पाटकर बराबर कर दी गईं। बेचारे कैम्प के दूकानदारों को उस दिन बहुत घाटा उठाना पड़ा। 24 घंटे के भीतर कैम्प टूट गया, और दुकानदार अपने सौदों के बेचने या हटाने का कोई प्रबन्ध नहीं कर सके। बेसबोन पिकेट में भी चन्द्रसिंह के पास 24 घंटे के अन्दर स्थान छोड़ने के लिए तैयार रहने का हुकुम आया था। 19 फरवरी को 7 बजे सबेरे वह हटने के लिए तैयार थे। हुकुम था कि 'जिस समय ब्रिगेड का पिछला (रियर) गारद तुम्हारे नीचे 600 गज पर से गुजरे और तुम्हें आर. टी. आर. का संकेत दिया जाय, तुरन्त डबल मार्च करते पिछले गारद के साथ मिल जाओ। तुम्हें आड़ देने के लिए गोरी पलटन वहाँ मौजूद रहेगी।' यह भी हुकुम था कि 'गोला-बारूद के जितने बक्स, बम, या दूसरे हथियार वहाँ हैं, सबको अपने विस्तरों में बाँध लो और खच्चरों के पहुँचते ही उन्हें उनके ऊपर लाद दो। छोलदारी, फालतू राशन और दूसरे सामान को आग लगाकर जला दो। संगड़ के चारों तरफ खड़ी की गई दीवाल को बराबर कर दो, और किनारे के काँटेदार तारों को काट दो। अपने लिए एक दिन की रोटियाँ पकाकर झोलों में रख लो और एक वक्त खा भी लो।'

सर्दी के दिन थे। रात-भर वर्षा हो रही थी, फिर जबर्दस्त कुहरा छा गया। इसी में चन्द्रसिंह और उनके साथी तार काटते, संगड़ गिराते, दो वक्त का खाना पकाते और गोला-बारूद की गठरी बाँधते रहे। सारी रात काम करना पड़ा। सबेरा होते ही अग्रिम गारद डे-पिकेट के तौर पर काम करती दौड़ती हुई आई। उसके पीछे-पीछे

थे ऊँट, खच्चर, मोटर, लारी, अस्पताल, बीमार, दुकानदारों का सामान, भेड़-बकरियाँ। सब लघा से पियाजा कैम्प की ओर जा रहे थे। रसद के पीछे फौज का मुख्य अंग कूच कर रहा था। सबके पीछे रियर गारद ने कैम्प को देख-भालकर प्रस्थान किया था।

पिकेट के पीछे पठानों का एक गाँव था। लघा कैम्प में आग का धुआँ उठते देख पठानों को मालूम हुआ कि दाल में कुछ काला है, और वह भी तैयार हो गये। कैम्प के खाली होते ही पठानों ने धावा बोल दिया, और जो कुछ वहाँ बचा-खुचा था उसे उठाने लगे। उनमें से कुछ रियर गारद के पीछे भी दौड़े और उनकी गोलियों से 5-6 गोरे मारे गये। प्याजा कैम्प में पहुँचने तक और भी कितने ही जख्मी हुए।

जैसे ही ब्रिगेड पियाजा में पहुँचा, वैसे ही अंग्रेजों ने उस गाँव (मकीना) पर जंगी विमानों को भेज दिया। यह गाँव अमानुल्ला के एक जेनरल मूसाखाँ का था। अंग्रेज अमानुल्ला से जले-कटे थे, इसलिए उनके जेनरल के गाँव को बरबाद करने के लिए यह हवाई जहाज भेजे गये थे। पठानों की गोली से एक विमान नीचे गिर गया और उसके चालक दो अंग्रेज बन्दी बना लिए गये। अब और भी खुल खेलने का बहाना मिला, और 21 फरवरी 1923 को गाँव के ऊपर ब्रिगेड ने चढ़ाई कर दी। दोनों ओर से गोलियाँ चलती रहीं। तीन दिन तक लड़ाई रही। इस लड़ाई में गोरी पलटन का काफी नुकसान हुआ, और गढ़वाली पलटन के एक प्लाटून को भी बहुत नुकसान उठाना पड़ा।

21 फरवरी को पियाजा और रजानी दोनों कैम्पों से एक-एक ब्रिगेड मकीना गाँव की ओर बढ़े। चन्द्रसिंह की बटालियन पियाजा कैम्प में थी। कैम्प में एक रेजिमेण्ट गोरों की, एक गोरखों की और दो पंजाबी पलटनें, ब्रिगेड के साथ सैफर, रिसालों की एक कम्पनी का ट्रूप, यातायात का एक ट्रूप, सिगनेलिंग की एक कम्पनी, खस्सादारों का स्क्वार्डन, सैनिक विमानों का एक सेक्शन (जिसमें 12 विमान थे), एक तोपखाना, एक खच्चरों का तोपखाना आदि थे। रजानी कैम्प के ब्रिगेड में भी इसी तरह की सेनाएँ थीं। मकीना अकेला गाँव पहाड़ की ढलान में जंगलों के बीच बसा था। गाँव में सौ से अधिक घर नहीं रहे होंगे। लेकिन जब एक पठान गाँव पर मुसीबत पड़े, तो दूसरे चुप नहीं रह सकते थे। पठान दुश्मनी होने पर आपस में खूनी लड़ाइयाँ लड़ा करते हैं, लेकिन जब कोई बाहरी शत्रु आ जाता है, तो अपने सारे बैर-भाव को टोडा-टोगा करके भूल जाते हैं। टोडा-टोगा एक तरह की अस्थायी शान्ति है। कोई बिचवई बनकर दोनों लड़ाकू दलों के बीच एक काला पत्थर (टोडा-टोगा) रख देता है, जो अस्थायी शान्ति का सूचक है। आसपास के हजारों पठान मकीनावालों की मदद के लिए उस दिन जमा हुए थे।

21 फरवरी की रात की बिग्रेड ने पियाजा और मकीना गाँवों के बीच के एक नाले में पड़ाव डाला। रात-भर हल्ला होता रहा। सबेरे ब्रिगेड मकीना गाँव की ओर बढ़ा। उस दिन अग्रिम (एडवान्स) गारद का काम गढ़वाली बटालियन को दिया गया था। चन्द्रसिंह की कम्पनी भी इसी बटालियन में थी। 10 बजे दिन को कम्पनी का पठानों से मुकाबला हुआ। चन्द्रसिंह 15वें प्लाटून के कमाण्डर थे। प्लाटून के कमाण्डर सूबेदार को डिवीजन-जेनरल के मेस (भोजनालय) का चार्ज दिया गया था, इसलिए उनकी जगह चन्द्रसिंह को पूरी करनी पड़ी। उनके प्लाटून में 36 आदमी थे। आगेवाले 13वें प्लाटून से पठानों की पहिले मुठभेड़ हुई। कम्पनी-कमाण्डर ने चन्द्रसिंह को अपना प्लाटून ले उक्त प्लाटून की मदद करने का हुकुम दिया। प्लाटून के एक-एक सेक्शन को बारी-बारी से चन्द्रसिंह उस पहाड़ी पर ले गये, जहाँ पहुँचने का हुकुम मिला था।

पहाड़ी के पीछे एक नाला था, जिसमें बहुत-से पठान इकट्ठा हो रहे थे। वह शायद उसी पहाड़ी पर अधिकार करना चाहते थे। चन्द्रसिंह ने राइफलों और मशीनगनों को पठानों पर दागने के लिए हुकुम दिया। इस गोलाबारी से मरते-जीते पठान भाग निकले। कम्पनी-कमाण्डर भी तब तक संगड़ पर पहुँच गया। उसने चन्द्रसिंह को बड़ी शाबाशी दी। यदि इस पहाड़ी पर पठानों का कब्जा हो गया होता, तो सारी कम्पनी मारी जाती, क्योंकि वह बिलकुल अरक्षित स्थान में थी, ब्रिगेड का भी भारी नुकसान होता।

शाम होने को आई। ब्रिगेड ने मकीना के नीचे एक मैदान में कैम्प लगाया। चन्द्रसिंह की कम्पनी ने ब्रिगेड का बचाव करते पहाड़ी पर अपने लिए संगड़ तैयार कर लिया। फिर गोरा कम्पनी संगड़ में आ गई,

और चन्द्रसिंह की कम्पनी कैम्प में चली गई। उक्त संगड़ में रात को 40 गोरे लड़ने के लिए रह गये थे। पठान चालीसों को खतम करके उनके नाक-कान के साथ राइफल, बूट, कपड़े उतार ले गये।

रात को कोई मदद नहीं की जा सकी, लेकिन सबेरे जब ब्रिगेड ने गाँव पर अधिकार कर लिया, तो देखा, कि पहाड़ी पर सारे गोरे मरे पड़े हैं। उस दिन ब्रिगेड ने उसी पहाड़ी पर से गाँव पर हमला किया। चन्द्रसिंह की कम्पनी पहाड़ी पर थी, और ब्रिगेड नीचे गाँव का घेरा डालने की कोशिश कर रहा था। जगह जंगलों से भरी और जमीन बहुत ही ऊबड़-खावड़ थी, जिसके कारण पलटन आगे नहीं बढ़ सकी। दोनों ओर से गोलाबारी होती रही, जिसमें बहुत-से सिपाही मारे गये। चन्द्रसिंह की कम्पनी पहाड़ी पर से सारे दृश्य को देखती रही। सूर्यास्त हो रहा था। ब्रिगेड अब कैम्प की ओर लौटने लगा, तो पहाड़ी पर से कम्पनी ने उसे रक्षा दी। इस दिन चन्द्रसिंह की कम्पनी का एक सिपाही मारा गया था। शाम के वक्त गोरखा बटालियन ने आकर बदली की, और हवलदार चन्द्रसिंह अपनी कम्पनी को साथ लिये कैम्प में लौट गये।

कम्पनी जैसे ही कैम्प में पहुँची, अड्जुटेंट ने हुकुम दिया—"15वीं प्लाटून लुइस-गन ले हवलदार चन्द्रसिंह की मातहत जाकर जंगल में रात को पहरा दे, क्योंकि इस जंगल में पठानों के जमा होने का भय है, और वहाँ से वह कैम्प पर फायर करेंगे।

चन्द्रसिंह अपने प्लाटून को लिये रात को एक सूखा नाला पार कर एक फर्लांग पर स्थित जंगल में चले गये। वहाँ उन्होंने अपने प्लाटून के पिकेट (गुल्म) के लिए स्थान चुना, पत्थरों को चुनकर संगड़ बनाया, जंगल से लकड़ी तोड़कर आग जलाई। लोग दिन-भर के थके-माँदे थे, खाने-पीने के लिए जो कुछ था, उसे भी कैम्प में छोड़ आये थे। पास में सिर्फ ओवर कोट ओढ़ने के लिए था। भूख के मारे तड़फड़ाते सिपाही कहने लगे—"हवलदार, हम लोग भूखे मरे जा रहे हैं, कोई उपाय बताइये।" हवलदार भला उस जंगल में क्या उपाय बताते ? इसी वक्त हवलदार की नजर नाले की एक टूटी-फूटी जगह पर पड़ी, जहाँ पर कूड़ा था। कूड़े पर किसी ने मरी भेड़ फेंक रक्खी थी। पलटन में मुर्दा जानवर को नहीं खाया जाता, जो भेड़-बकरी मर जाती, उन्हें फेंक दिया जाता है, और भंगी लोग कैम्प के पाखाने को जलाते वक्त उसे भी जला देते। चन्द्रसिंह मांस नहीं खाते थे। उन्होंने मजाक करते हुए कहा—"जाओ, नाले में किसी ने मरी भेड़ फेंक रक्खी है। उसी को भूनकर खा लो।" सिपाही सचमुच तैयार हो गये। आखिर 'भूख न जाने जूठा भात' की कहावत झूठी थोड़े ही हो सकती है ? एक ने कहा—"चलो," दूसरे ने कहा—"हाँ, चलो।' वह भेड़ भूनकर खा गये।

सबेरे टेलीफोन आया—"चन्द्रसिंह, आज तुम्हारा प्लाटून दिन-भर कैम्प में रहेगा। तुम आकर क्वार्टर-मास्टर को सूचना दो।"

आज चन्द्रसिंह के प्लाटून को लड़ाई में शामिल होना नहीं था। उन्होंने कैम्प में आकर क्वार्टर-मास्टर को सूचना दी, जिसने उन्हें दिन-भर छोलदारियों को ड्रेस (ठीक-ठाक) करने पर लगा दिया। खाने-पीने का कोई इंतिजाम नहीं था। ब्रिगेड की पठानों के साथ जोर से लड़ाई होती रही। गाँववाले अपने ढोरों, भेड़-बकरियों और बच्चों को लेकर जंगल में चले गये थे, सिर्फ लड़नेवाले पुरुष वहाँ रह गये थे। उन्होंने अंग्रेजी पलटन का जबर्दस्त मुकाबिला किया। लेकिन, आधुनिक ढंग के पलटन के सामने वह कैसे टिक सकते थे ? ब्रिगेड ने गाँव के भीतर दाखिल हो सभी मकानों को धराशायी कर दिया। पुश्तों के बने बड़े-बड़े बुर्जों का निशान तक नहीं रहने दिया। मकान में जो चीज अपने काम की नहीं मिली, उसे आग लगाकर जला दिया, खेती-बारी के हथियारों को फूँक दिया। अँगूर की बेलें, सेब और खूबानी के पेड़ सारे काट दिये। कल का समृद्ध मकीना गाँव आज अपना चिन्ह भी खो चुका था। मुसलमानों के इस गाँव को बरबाद करने में दो मुसलमान बटालियनें भी हाथ बटा रही थीं।

अगले दिन बटालियन की ए. कम्पनी के प्रथम प्लाटून को मकीनावालों के चावल के खेतों को बरबाद करने के लिए भेजा गया। उन्होंने गैती और बेलचों से सभी खेतों के पुश्तों को बरबाद कर दिया, पानी की नहर को बराबर कर दिया। दूर जंगल में बैठे पठान यह सब देखते रहे। सूर्यास्त के समय ब्रिगेड अपने कैम्प की ओर वापस होने लगी, उसी समय पठानों ने नम्बर 1 प्लाटून के ऊपर हमला कर दिया। पहिले प्लाटून

के सूबेदार को पकड़कर हलाल किया, फिर सारे सिपाहियों को पकड़कर मार दिया। जिस समय पठान 'अल्ला हो अकबर' का नारा लगाते गढ़वालियों की गर्दनें काट रहे थे, उसी समय दूसरे पठानों ने गालियों की बौछार करते ब्रिगेड का पीछा किया। अँधेरा होनेवाला था। सारे ब्रिगेड में तहलका मच गया। लोग अपनी जान बचाकर कैम्प की ओर भागे। ऐसी भगदड़ में प्लाटून की रक्षा कौन करता ? उन्हें मारकर उनकी राइफलें, कपड़े, बूट-पट्टी सब पठान ले गये। दूसरे दिन जब लोग लाश उठाने के लिए गये, तो उनको पहचाना नहीं जा सकता था। उसी भूमि में सारे मृत गढ़वालियों को दफना दिया गया।

अगले दिन भी ब्रिगेड गाँव में गया, और शाम को कैम्प की ओर लौटने लगा। फिर पठानों ने हमला किया। चन्द्रसिंह का प्लाटून आगे-आगे था। उसे जल्दी-जल्दी पीछे लौटने का हुकुम मिला। हवलदार ने हुकम दिया कि सब सिपाही पीछे की और दौड़ें। एक मोटे-ताजे सिपाही के कन्धे में स्ट्रेचर था, वह आते वक्त गिर पड़ा। चन्द्रसिंह ने स्ट्रेचर लेकर उसे उठाना चाहा, लेकिन वह नहीं उठा। जब दुश्मन पीछा कर रहा हो, उस वक्त ऐसा करना खतरे की बात है। चन्द्रसिंह ने उसे एक लात मारी, सिपाही जोर से चिल्लाने लगा। कर्नल और अड्जुटेंट पीछे-पीछे आ रहे थे। चिल्लाहट सुनकर उन्होंने पूछा–"क्यों मारता है ?" चन्द्रसिंह ने कहा–"यह उठता नहीं है।" फिर उसे टाँग से पकड़कर आड़ की जगह में रख दिया, जहाँ से पीछे उसे उठा ले गये। पूछने पर सिपाही ने बतलाया–"चार दिनों से मैं भूखा था।" शायद हिन्दुस्तानियों की जानें बहुत सस्ती होने के कारण उनकी भूख की चिन्ता अंग्रेज नहीं करते थे।

रात को गोरी और गढ़वाली कम्पनियाँ पास-पास पड़ी थीं। दोनों ही भूखे मर रहे थे। गोरों ने गढ़वाली जवानों से कहा–"जानी, चपाती नो।" चन्द्रसिंह ने कहा–"नो।" फिर भूख से बचने की क्या तजवीज की जाय। अन्त में दो गोरे और दो गढ़वाली लेकर चन्द्रसिंह कुछ दूर पर पड़ी बनिये की छोलदारी (दुकान) में घुसकर रेवड़ी और दूसरे खाने की चीजों के बक्स उठा लाये, उसे दोनों कम्पनियों के सिपाहियों में बाँट दिया गया। खाने से जो बच गया, उसे जमीन में गाड़ दिया गया। बनिये ने शिकायत की, लेकिन उस वक्त ऐसी शिकायत कौन सुनता ?

लड़ाई में जो हवलदार मारा गया, उसकी जगह पर चन्द्रसिंह को स्थायी हवलदार बना दिया गया। मकीना की लड़ाई समाप्त करके अप्रैल 1923 को गढ़वाली बटालियन पियाजा कैम्प से आकाखेल चली गई, जहाँ से चन्द्रसिंह को घर जाने के लिए दो महीने की छुट्टी मिली।

11
नई चेतना (1922-29 ई.)

लड़ाई लड़कर मौत के पंजे से बचकर घर आये सिपाही का आनन्द दुगुना हो जाता है, और परिवारवालों की खुशी का तो ठिकाना नहीं रहता। चन्द्रसिंह के दो महीने घर पर बहुत अच्छी तरह बीते। छुट्टी बिताकर वह फिर आकाखेल पहुँच गये। आकाखेल से उनकी पलटन बन्नू गई, जहाँ से पश्चिमोत्तर सीमान्त से इसे लैन्सडौन छावनी में भेज दिया गया। अब चन्द्रसिंह को उनकी कम्पनी का क्वार्टर-मास्टर वना दिया गया। इन्हीं दिनों उन्होंने फौजी स्कूल के दूसरे दर्जे का इम्तहान भी पास कर लिया।

ज्ञान के साथ उनके विचारों में भी परिवर्द्धन-परिवर्तन होने लगा। पहिले वह पुराने ढंग के हिन्दू थे। पंचमढ़ी में हिन्दू मन्दिर बनाने के लिए उन्होंने जो काम किया था, उसके बारे में हम बतला आये हैं। महाशय टेकचंद वर्मा की संगत से उन्हें आर्यसमाज की हवा लगी। वह पंडे-पुजारियों को लुटेरा समझने लगे। पत्थरों की पूजा, उनके सामने बकरे-भैंस की बलि, श्राद्ध का अन्न खाकर ब्राह्मणों की स्वर्ग ले जाने की ठेकेदारी, फलित ज्योतिष, जन्मपत्री, ऊँच-नीच जाति का भेदभाव, बाल-विवाह, कन्या बेचकर रुपया लेना आदि-आदि

रिवाजों को वह बहुत बुरा समझने लगे। उनकी पलटन में सूबेदार गौरसिंह रावत तमलाग और लैन्सनायक सुन्दरसिंह चौधरी पहिले से आर्यसमाजी बन चुके थे। उन्हीं के मुँह से वह आर्यसमाज की बातें सुनते रहे। इन लोगों के साथ वह आर्यसमाज मन्दिर में भी गये। प्रशंसा करने पर 'सत्यार्थप्रकाश' को भी उन्होंने पढ़ा, फिर वह पूरे आर्यसमाजी हो गये। प्रथम विश्वयुद्ध के कुछ सालों बाद तक आर्यसमाज ने समाज-सुधार, विद्या-प्रचार आदि के बारे में बड़ा काम किया था। उत्तरी भारत के उदार विचारवाले शिक्षित-अर्ध-शिक्षित तरुण इस तरफ बहुत झुके थे। इसमें शक नहीं, आर्यसमाज के विचारों ने देश को आगे बढ़ने में बड़ी मदद दी थी। आर्यसमाजी कोरी खंडन-मंडन की बातें ही नहीं करते थे, बल्कि उन्होंने सामाजिक सेवा का भाव लोगों में भरा था। पैसा जमा करके वह अकाल-पीड़ितों की सेवा करते थे। गढ़वाल के अकाल की बात हम बतला चुके हैं। उससे पहिले के अकालों में भी उन्होंने बड़ी सेवा की थी। आर्यसमाज के लाला लाजपतराय, महात्मा हंसराज जैसे बड़े-बड़े नेता साधारण स्वयं-सेवक की तरह सेवा करते थे। प्लेग जिस समय देश में व्यापक रूप से हर साल जाड़ों में फैल जाता था, उस समय वह अपने प्राणों की पर्वा न करके रोगियों की सेवा करते थे। आर्यसमाज की प्रेरणा लोगों में कितनी आत्मत्याग का भाव भरने में सफल हुई थी, इसके उदाहरण रेलवे में एक साधारण प्वाइंटमैन रलाराम थे। उन्हें सात-आठ रुपये मिलते थे। उसी में रूखी-सूखी खाकर वह सेवा भी करते थे। एक समय प्लेग से पीड़ित किसी रोगी की गिल्टी चीरना उन्हें आवश्यक जान पड़ा। उनका चाकू काम नहीं कर रहा था। कहते हैं, उन्होंने अपने दाँत से घाव को फोड़कर भीतर के खून को चूसकर बाहर फेंक दिया। अपने प्राणों को खतरे में डालकर छूत के मरीजों और दूसरों की सेवा करने के बहुत-से उदाहरण थे, जिनसे आर्यसमाजी तरुणों को बड़ी प्रेरणा मिलती थी। अकाल के समय रोटी देकर मिशनरी सैकड़ों लड़कों को ईसाई बना लेते थे। आर्यसमाजियों की सहायता के काम से बहुत-से अकाल-पीड़ित लड़के आर्य अनाथालयों में पहुँच ईसाई बनने से बच जाते। इन बातों का साधारण हिन्दू जनता पर भी इतना असर पड़ता, कि वह उनकी रुपयों-पैसों से बड़ी मदद किया करते। आर्यसमाजी अपने विचारों के प्रचार करने में भी बड़ी तत्परता दिखलाते थे। उनके विचारों के अपनाने के साथ-साथ आदमी में देशभक्ति का भाव भी पैदा हो जाता, क्योंकि राजनीतिक संस्था न होते भी आर्यसमाज और उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द भारत की स्वतन्त्रता के जबर्दस्त पक्षपाती थे।

'सत्यार्थप्रकाश' के पढ़ लेने तथा आर्यसमाजियों के उपदेशों को सुनते-सुनते अब चन्द्रसिंह में भी धार्मिक लगन आ गई। कुछ समय बाद सूबेदार गौरसिंह पेन्शन लेकर घर चले गये, और लैन्सनायक सुन्दरसिंह का नाम कट गया। चन्द्रसिंह अब समझने लगे कि आर्यसमाज की जिम्मेवारी मेरे ऊपर है। वह अपने विचारों को पलटन के जवानों में फैलाने लगे, और उसके साथ-साथ इस भावना को भी कि अंग्रेजों की सेवा नहीं, देश-सेवा हमारा परम कर्तव्य है। आर्यसमाज के विचारों ने बहुत समय तक उन्हें आगे बढ़ाने में बड़ी मदद दी, यद्यपि वह पीछे अनीश्वरवादी हो गये, और समझने लगे कि ईश्वर और उसकी वाणी वेद आदि बातें लोगों ने यों ही गढ़ रक्खी हैं।

लैन्सडौन छावनी में रहते उनके अफसरों ने सिफारिश की, और चन्द्रसिंह को बेलगाँव में जाकर स्कूल मास्टरी के कोर्स को समाप्त कर आने की आज्ञा मिली। अपने सभी कामों में वह बड़े चुस्त थे, सभी जिम्मेवारियों को अच्छी तरह से निबाहते थे, इसलिए अफसरों का खुश होना स्वाभाविक था। वह सेकेंड क्लास स्कूल का सर्टीफिकेट भी पा चुके थे। इसमें शक नहीं, पढ़ाई की जगह उनकी दूसरी योग्यताओं का ज्यादा ध्यान रक्खा गया था। जब बेलगाँव में जाने की बात आई, तो वह सोचने लगे कि यदि मैं बेलगाँव से असफल होकर लौटा, तो बड़ी हँसी होगी। उन्होंने अपनी तेरह-बाईस पढ़ाई-लिखाई के बारे में अड्जुटेंट को बतलाया। इस पर अंग्रेज ने उनको आश्वासन देते कहा—"इस समय तुम इन्कार मत करो। मैं तुम्हें एक स्कूल-मास्टर देता हूँ, उससे कुछ समय तक पढ़ो। वहाँ अंग्रेजी की पढ़ाई नहीं होती, सिर्फ रोमन अक्षरों में हिन्दी पढ़ाई जाती है। भाषा को और ठीक करने के लिए तुम हिन्दी अखबारों को भी कुछ-कुछ पढ़ा करो। इसके लिए हम तुम्हें रात-दिन की छुट्टी दे रहे हैं, जिसे तुम पढ़ने में लगाओ।"

मई 1925 में चन्द्रसिंह की दो महीने की छुट्टी हो गई। वह अपने साथ अपनी किताबें भी घर लेते

गये। इस बीच उनका मास्टर भी घर चला गया था। छुट्टी बिताकर छावनी लौटे तो वह दैनिक 'प्रताप' (कानपुर) और दैनिक 'विश्वमित्र' (कलकत्ता)–इन दो अखबारों को पढ़ने लगे। अड्जुटेंट साहब ने अखबार पढ़ने के लिए कहा था, लेकिन कैसे अखबार को, यह नहीं बतलाया था। आर्यसमाजी होने से वह कुछ राजनीति से भी प्रभावित हो गये थे। ये दोनों अखबार उस समय राष्ट्रीयता के समर्थक थे। उनको अपने लिए अखबार पढ़ने की इजाजत थी, लेकिन फौज में प्रचार करने की छूट नहीं थी। तीन साल तक बेलगाँव जाकर शिक्षा पाने के लिए जगह खाली नहीं हुई और इन तीनों सालों में वह इन अखबारों को मँगाकर पढ़ते रहे। अन्त में बतलाया गया कि बेलगाँव में चन्द्रसिंह के लिए कोई स्थान नहीं है।

1925 में कानपुर में सरकार की ओर से बोल्शेविक षड्यन्त्र केस चलाया जा रहा था, जिसमें एस. ए. डांगे, शौकत उस्मानी, नलिनी गुप्त, मुजफ्फर अहमद, संगरावेलु चेट्टियर आदि पर सरकार के खिलाफ षड्यन्त्र करने का अभियोग लगाया गया। मुकदमे की खबरें 'प्रताप' में छपती रहतीं। चन्द्रसिंह उसको ध्यान से पढ़ते रहे। उनको मालूम हुआ कि दुनिया में एक ऐसा देश है, जहाँ अमीरों का नहीं मजदूरों और किसानों का राज्य है। जहाँ के सभी लोग समान हैं। रूस के बारे में जो खबरें अखबारों में छपतीं, उन्हें वह बड़े चाव से पढ़ते। कम्युनिस्टों की पुस्तिकाएँ देश-भर में बाँटी जाती थीं, जिनमें लिखा रहता कि वह क्या चाहते हैं। जहाँ तक सम्भव था, कम्युनिस्टों के और रूस के बारे में जानकारी प्राप्त करने की वह पूरी कोशिश करते। उन्हें यह भी मालूम हुआ कि कम्युनिस्ट लोग मजदूरों का संगठन कर रहे हैं और उनके हक की लड़ाई हड़तालों द्वारा लड़ रहे हैं। यह बतला चुके हैं कि तुर्की के सुल्तान और उनके देश को अंग्रेजों ने जिस तरह पददलित किया, उसके कारण हिन्दुस्तान में खिलाफत का आन्दोलन चला और कितने ही लोग हिजरत करके देश से बाहर चले गये थे। इन हिजरत करनेवालों में से कितने ही काबुल होते रूस चले गये, जहाँ बोल्शेविकों से शिक्षा प्राप्त कर फिर भारत लौट आये। ये बातें चन्द्रसिंह को अखबारों से मालूम होने लगीं।

नवम्बर 1925 में पलटन विशेष अभ्यास के लिए लैन्सडौन से दिपोवेन चली गई। चन्द्रसिंह और उसके स्कूल-मास्टर छावनी ही में छोड़ दिये गये। उस समय चन्द्रसिंह डिपो के क्वार्टर-मास्टर थे। वहाँ से लौटने के बाद अक्तूबर 1926 में पलटन को सैनिक अभ्यास के लिए बरेली भेजा गया। इस समय भी चन्द्रसिंह और उनके मास्टर डिपो में छोड़ दिये गये। उन्होंने क्वार्टर-मास्टरी करते अपनी पढ़ाई जारी रखी। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि छावनी से सारी पलटन के चले जाने पर चन्द्रसिंह को कुछ और भी आजादी मिली। इसी समय उनके हाथ में 'देश-दर्शन' और 'भारत-भारती' दो किताबें लगीं। पहिली पुस्तक के पढ़ने से उन्हें अपने परतन्त्र देश की दयनीय बातें बहुत-सी जानने को मिलीं और मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' तो उस समय राष्ट्रीयता का वेद समझी जाती थी।

मार्च 1927 में उनकी बटालियन लौटकर लैन्सडौन आ गई। इसी वक्त पलटन के कुछ चुने हुए आदमियों की चाँदमारी कराई गई। चन्द्रसिंह इसमें अव्वल निकले। उन्होंने एक मिनट में अपनी राइफल से 49 गोलियाँ चलाईं और सौ गज के फासले पर रक्खे निशान में सभी 12 इंच के भीतर लगीं। उनके साथ एक दूसरा शिक्षक भी अव्वल आया था, यद्यपि वह एक मिनट में इनसे बीस गोलियाँ कम दाग सका था, लेकिन उसकी सभी गोलियाँ निशाने पर एक रुपये के भीतर लगी थीं। दोनों को बटालियन के सामने नमूने के तौर पर पेश किया जाता था।

इसके बाद चन्द्रसिंह को 10/18 आर. सी. आर. के लिए चुना गया। गढ़वालियों की तीन पक्की और एक रंगरूटोंवाली बटालियन थी। रंगरूटी बटालियन में रंगरूटों को रखकर उन्हें फौजी शिक्षा दे (एक्टिव) बटालियन में भेज दिया जाता। तीनों पक्की बटालियन की एक-एक कम्पनी रंगरूटी बटालियन में भी थी, जैसे 1/18 रा. ग. रा. कम्पनी, 2/18 रा. ग. रा. कम्पनी, 3/18 रा. ग. रा. कम्पनी। ये कम्पनियाँ अपनी-अपनी पलटनों के लिए रंगरूट भरती करके उन्हें सिखलाती थीं। पक्की बटालियन से 10/18 रा. ग. रा. में रंगरूटों के सिखाने के लिए हर दूसरे साल शिक्षक भेजे जाते थे।

अप्रैल 1927 में 2/18 रॉयल गढ़वाली राइफल से 1/18 रा. ग. रा. में ड्रिल मास्टरी करने के लिए चन्द्रसिंह

को भेजा गया। उस समय वह बी. कम्पनी के पाँचवें प्लाटून के प्लाटून-हवलदार थे। ड्रिल-मास्टरी के साथ-साथ उन्हें पे-नायकी का भी पद मिला था। कम्पनी के पे-नायक का काम है–तनखाह बाँटना, सिपाहियों के सेविंग-फण्ड को जमा करना और दूसरे तरह के हिसाब-किताब को रखना, बनिया के हिसाब को देखकर सिपाही की तनखाह से काटकर उधार रुपये को देना, इत्यादि। साथ ही उन्हें डिवीजन का चीफ इन्स्ट्रक्टर (मुख्य शिक्षक) भी बनाया गया था, जिसमें उन्हें पूरी शिक्षा पाये रंगरूटों की कसम खानेवाली टोलियों को सिखलाना पड़ता था।

कसम दिलाने के लिए पहिले-पहिल उन्हें सात रंगरूटों की एक टोली मिली। 10/18 रा. ग. रा. का लैन्सनायक दो साल पूरा करके पक्की बटालियन में चला गया था। दो सप्ताह परेड कराने के बाद चन्द्रसिंह ने इस टोली को ले जाकर कर्नल के सामने कसम खिलाई। कसम खा लेने के बाद उसी दिन शाम को रिवाज के अनुसार सातों सफल रंगरूट एक थाल मिठाई और एक तामलोट शराब भरकर चन्द्रसिंह की कोठरी में आये, बड़ी नम्रता से कहने लगे–"मास्टरजी, अभी हम लोगों को तनखाह नहीं मिली है, इसलिए हम आपकी और कोई सेवा नहीं कर सकते। सिर्फ यही आपके लिए भेंट लाये हैं।"

चन्द्रसिंह ने उनसे पूछा–"जवानों, तुमने अपने पहिले ड्रिल-मास्टर को क्या-क्या दिया ?"

जवानों में से एक ने कहा–"हमने उन्हें कुछ नहीं दिया।" दूसरे ने कहा–"उन्होंने हमें कसम नहीं खिलाई, तो भी एक तामलोट शराब, मिठाई के लिए तीन रुपये और एक सिल्क की कमीज दी थी।" इतने सालों से आर्यसमाज से और दूसरी तरह से चुपचाप आदर्शवाद की जो शिक्षा उन्हें मिली थी वह क्यों असर न दिखलाती ? उन्होंने रंगरूटों से कहा–"देखो, मैं शराब नहीं पीता और न मिठाई खाता हूँ। तुमने मुझे यह दिया और मैंने इसे पा लिया। अब मैं इन चीजों को तुम्हें ही दे रहा हूँ, ले जाओ।" वह कितनी ही देर तक जोर देकर कहते रहे–"कुछ तो लीजिये, कुछ तो लीजिये।" लेकिन चन्द्रसिंह ने उन्हें लौटा ले जाने के लिए मजबूर किया।

उक्त टोली के कसम की परेड के खतम हो जाने के बाद 72 रंगरूटों की टोली 'सी' डिवीजन से 'ए' डिवीजन में जाने की कसम खाने के लिए आई। इन रंगरूटों के सात शिक्षक थे। चन्द्रसिंह की टोली में दस रंगरूट थे। दो महीने की शिक्षा के बाद 72 रंगरूटों को एक साथ कसम खिलाकर डिसमिस (मुक्त) करते समय चन्द्रसिंह ने उन्हें सम्बोधित करते कहा–"जवानो, आज हमें बड़ी खुशी है कि आपने कसम उठा ली और अब रंगरूट से पक्के सिपाही बन गये। मैंने और मेरे साथी शिक्षकों ने सिखाते वक्त जो कोई दुर्व्यवहार किया हो, उसे क्षमा करना। जब आप अपनी-अपनी पलटनों में जायेंगे, तो हमें उम्मीद है, आप हमको नहीं भूलेंगे।" चन्द्रसिंह ने फिर कहा–"जवानो, आप कसम खा चुके और मुझे विश्वास है, कि आप जैसे समझदारों को दुबारा कसम खाने की जरूरत नहीं होगी।"

सबने कहा–"नहीं, नहीं।"

"तो जवानो, एक बात कहूँ। कसम खाने के दिन मिठाई बाँटने का बेकार का रिवाज चल पड़ा है। मेरी इच्छा है कि तुम इस फिजूलखर्ची को बंद कर दो। तुम्हारे ऐसा करने से आगे आनेवाले रंगरूट भी इस कष्ट से मुक्त हो जायेंगे। मुझे विश्वास है कि मेरे साथी शिक्षक भी मेरी इस बात पर सहमत हैं। मैं अपनी ओर से सारी टोली को हुकुम देता हूँ कि आज आपमें से कोई बनिया-बाजार न जाय और न एक पैसे की मिठाई खरीदे।"

बनिया लोगों को मालूम था कि आज 72 रंगरूट कसम खायँगे, वह भेंट देने के लिए बहुत-सी मिठाई खरीदेंगे। उन्होंने थालों भर-भरकर मिठाई तैयार कर रक्खी थी। शाम को परेड से मुक्ति मिली। उस समय रंगरूटों के बाजार में आने की उम्मीद थी। चन्द्रसिंह के रंगरूटों ने दूसरे रंगरूटों को भी उस दिन बाजार जाने से रोक दिया। मिठाइयों के थाल हलवाइयों की दुकानों में वैसे ही पड़े रहे। अँधेरा हो गया, लेकिन एक भी रंगरूट बनिया-बाजार में नहीं दीख पड़ा। बनियों ने लाइन में आकर पूछा, तो सारी बात मालूम हुई–"रंगरूट मिठाई नहीं बाँटेंगे। हवलदार चन्द्रसिंह ने मिठाई बाँटना ही नहीं बन्द कर दिया, बल्कि रंगरूटों का बाजार में जाना भी बंद कर दिया।" बनिया लोगों के डेपुटेशन ने सूबेदार-मेजर के पास जाकर शिकायत की–"चन्द्रसिंह

ने बाजार में मिठाई खरीदना बंद करा दिया। हम छावनी के दूकानदार सरकार को टैक्स देते हैं। ऐसा होगा, तो हम टैक्स कहाँ से देंगे और कहाँ से अपना गुजारा करेंगे ?"

सूबेदार-मेजर ने चन्द्रसिंह को बुलाकर पूछा–"तुमने रंगरूटों को मिठाई बाँटने और बाजार में जाने से मना कर दिया? क्या तुम अपनी हुकूमत चलाना चाहते हो ? जवाब दो, नहीं तो कर्नल साहब के सामने तुम्हारी पेशी होगी।"

चन्द्रसिंह ने बड़े शान्त भाव से कहा–"जनाब, मेरी पेशी ही कर दीजिये। मैं कल वहीं जवाब दूँगा।" अगले दिन रविवार था। गढ़वाली ओहदेदार अपनी क्लब में जमा हुए थे। चन्द्रसिंह को भी वहाँ बुलाया गया। सबने एक ओर से उनको डराते कहा कि वनियों का जो नुकसान हुआ है उसके जिम्मेवार तुम हो। लेकिन उनकी बातों का चन्द्रसिंह पर कोई असर नहीं पड़ा। ओहदेदार भी नाराज हो गये। उन्होंने इस बात को कर्नल साहब के सामने रखने का निश्चय किया और कर्नल साहब को बनियों के पक्ष में बहुत समझाया-बुझाया।

अगले दिन सामने आने पर साहव ने चन्द्रसिंह से पूछा–"क्यों जवान, यह कैसी शिकायत तुम्हारे बारे में हमारे पास पहुँची है ? क्या तुमने अपने सिपाहियों को बनिया-बाजार में जाने से रोका ?"

चन्द्रसिंह ने नम्रतापूर्वक कहा–"हुजूर, आप मेरी अरज को पूरी तरह सुनें, तो मैं आपकी सेवा में कुछ कहूँ।"

"हाँ, मैं सुनने को तैयार हूँ। क्या बात है ?"

चन्द्रसिंह ने कहा–"मेरे खिलाफ जो शिकायत्त की गई है, वह बिलकुल गलत है। बाजार में जाये बिना भला कोई आदमी कैसे रह सकता है ? ऐसी मनाही न कोई कर सकता है न कोई मान सकता है। असल बात इस तरह है। आप जानते हैं कि अपना घर-वार छोड़कर हमारे आदमी यहाँ कुछ रुपया कमा, बाल-बच्चों की परवरिश करने के लिए आये हैं। हम अपना घर छोड़, बाल-बच्चे छोड़, देश-विदेश में मारे-मारे फिरते हैं। यह सब किसलिए ? क्या बनियों के लिए ? हमारे ओहदेदार चाहते हैं कि सिपाही को सरकार से जो तनखाह मिले, उससे बनियों की तिजोरियाँ भर दें। मैंने रंगरूटों को जो कुछ कहा, उसे आपके सामने बतलाता हूँ। अगर इसमें मेरा कसूर है, तो आप सजा दें। यहाँ बटालियन में रंगरूटों से मनमाने तरीके से मिठाई और शराब ली जाती है। एक तो बेचारे रंगरूटों की तनखाह ही कम होती है, जिससे वह अपने उधार को भी सधा नहीं पाते। जिस दिन रंगरूट कसम खाते हैं, उस दिन हरेक रंगरूट को दस रुपये की मिठाई बनिये से उधार लेकर अपने सरदारों, शिक्षकों, सेक्शन-कमाण्डरों और पुराने सिपाहियों में बाँटना पड़ता है। यह बेचारे रंगरूट पर भारी बोझ है। इसके अतिरिक्त और भी कितनी ही चीजें खरीदनी पड़ती हैं, और पक्की पलटन में जाते-जाते सिपाही बनिये के कर्ज के बोझ से दब जाता है। इसके अतिरिक्त बनिये से सिपाही जितना उधार लेता है, उसे लिखकर बनिया हर महीने रुपया पीछे एक आना सूद लगाता है। महीने बाद सूद भी मूल बन जाता है, और फिर सूद पर सूद चलने लगता है। हरेक बनिये के पास दो बहीखाते होते हैं, जिसमें एक में सरकारी हुकुम के अनुसार सिपाही की तनखा से काटे दस रुपये दर्ज रहते हैं, और दूसरे बही-खाते में पूरा कर्ज लिखा रहता है। इस सारे कर्ज को सिपाही को अदा करना पड़ता है। आपने मुझे रंगरूटों का शिक्षक बनाया। मेरा कर्तव्य है कि मैं उन्हें हर प्रकार से भलाई की शिक्षा दूँ। उनकी तन्दुरुस्ती का ध्यान रक्खूँ, उनकी फजूलखर्ची को रोकूँ। उनसे अन्यायपूर्वक जो वसूल किया जाता है, उसकी देखभाल करूँ। मेरा कसूर यही है कि कल 72 रंगरूटों ने कसम खाई थी। हरेक को आठ रुपये की मिठाई बनिये की दुकान से खरीदकर थाल भर-भरकर गढ़वाली सरदारों के क्लब में भेजना और दूसरों में बाँटना था। मैंने रंगरूटों से कहा कि इस फिजूलखर्ची को बन्द करो। बस, यही मेरा कसूर है।"

कर्नल को असली बात का पता लग गया। उसने शाबाशी देकर चन्द्रसिंह को छोड़ दिया, और पीछे गढ़वाली ओहदेदारों को भी फटकारा।

चन्द्रसिंह देखते थे, रंगरूट रोज एक बजे परेड से छूटते ही बनिया-बाजार में उधार दूध-जलेबी लेकर खाते हैं। परेड में खासी कसरत हो जाती थी। उस समय जवानों को भूख बहुत लगती। खाना मिलने में देर

होती, इसलिए वह दूध-जलेबी की तरफ दौड़ते। चन्द्रसिंह ने अपने प्लाटून के सभी रंगरूटों को बुलाकर कहा—"आप बनिये से जितने की दूध-मिठाई खाते हैं, उससे कम में चार छटाँक की रोटी बनिये के पास से मिल सकती है। बताओ, कौन कम दाम में रोटी और चाय लेने के लिए तैयार है ?" सबने रोटी-चाय लेना पसन्द किया। अब से बनिये के यहाँ रोटी-चाय का इंतिजाम किया गया, और धीरे-धीरे यह प्रथा सारी बटालियन में चल गई।

क्वार के दशहरे के दिन वैसे तो सभी जगह बड़ा उत्सव मनाया जाता, बलि-पूजा भी चढ़ती, लेकिन गोरखा-गढ़वाली आदि पहाड़ी जातियों में दशहरे का पर्व और भी जोर-शोर से मनाया जाता है। अष्टमी के दिन खास तौर से विशेष पूजा होती। परेड के मैदान में राइफल, मशीनगन, तलवार, भुजाली, खुकुड़ी आदि सजाकर पाँती से रक्खी जाती। मैदान में एक अठकोना चक्र बनाया जाता। उसके सामने काले रंग की यमराज की टेढ़ी-मेढ़ी मूर्ति तैयार की जाती है, जिसके मुँह के सामने एक खम्भा गाड़ा जाता। खम्भे के पास ही एक गड्ढा खोद दिया जाता। इस खम्भे से एक भैंसा बाँधा जाता, जिसके चारों ओर सौ-डेढ़ सौ बकरे खड़े किये जाते। भैंसे की सींग पर लाल कपड़ा बाँधकर सिन्दूर मला जाता। एक सिपाही राजसी पगड़ी बाँधता। उसके हाथ में एक नंगी तलवार दे दी जाती। उस दिन के लिए वह सिपाही राजा होता। राजा के साथ अपनी-अपनी नंगी भुजालियाँ लिये दूसरे सिपाही खड़े हो जाते। चारों ओर सारी पलटन खड़ी रहती। फौजी बाजे और देशी बाजे भी खूब बजाये जाते। शराब-भाँग खूब चलती, जिसकी मस्ती से लोग खूब नाचते। अफसर लोग छोलदारियों में टेबुल-कुर्सी लगाये मिठाई-शराब खाते-पीते तमाशा देखते।

पूजा का आरम्भ पलटन का ब्राह्मण करता। हरेक पलटन में अंग्रेजों ने पुरोहित के तौर पर ब्राह्मण को रख छोड़ा था, जो पूजा के साथ-साथ उन्हें राजभक्ति की भी शिक्षा देता। उस दिन ब्राह्मण संकल्प पढ़कर चावल को बकरों और भैंसों के ऊपर बिखेरता। सिपाही भी चारों ओर से बलि के पशुओं के ऊपर अक्षत फेंकते। पहिले भेड़ा मारा जाता, अन्त में भैंसे की बारी आती। सबसे पहिले राजा अपनी तलवार को भैंसे पर चलाता, और फिर दूसरे भी अपनी भुजाली को बेदर्दी से चलाने लगते। उस दिन सारी भूमि खून से लथपथ हो जाती। एक बकरे को कटता और तड़फड़ाता देखकर दूसरा भागने की कोशिश करता। सारे बकरें बें-बें करके चिल्लाने लगते। बड़ा ही करुण दृश्य होता।

बलिदान की तैयारी बैठक की जाती थी। विचार के समय चन्द्रसिंह ने भैंसा काटने का विरोध करते हुए कहा—"जब हम भैंसा खाते नहीं, तो उसका काटना पैसे की बरबादी है।" बैठक में जाने से पहिले चन्द्रसिंह ने पलटन के ब्राह्मण से बात कर उसे इस बात के लिए राजी कर लिया था कि वह कह दें—भैंसे की बलि धर्मविहित नहीं है। भैंसे की बलि रोकने की बात कहने पर कुछ लोगों ने विरोध किया। लेकिन, जब ब्राह्मण ने अपना फतवा दे दिया, तो बहुमत उनकी तरफ हो गया।

दशहरे के लिए हरेक आदमी अपनी तनखाह में से एक रुपया चन्दा दिया करता था। पलटन में चन्द्रसिंह की तरह के कितने आदमी थे, जो मांस-मछली और शराब को छूते नहीं थे, पर उन्हें चन्दा देना ही पड़ता था। चन्द्रसिंह ने जोर दिया और ऐसों को मिठाई देने की वात मंजूर की गई। इसे कहने की जरूरत नहीं कि इसमें चन्द्रसिंह के आर्यसमाजी विचार काम कर रहे थे, वह हर मौके से फायदा उठाकर आर्यसमाज का प्रचार करते थे।

सन् 1909 के करीब लैन्सडौन के पास एक नाले में कसाईखाना खोल दिया गया था। गढ़वालियों को पता था कि यहाँ गोवध होता है। नालेवाले मकान में तीन मुसलमान कसाई रहते थे। वह रात के वक्त गाय को लाकर मारते, और गोमांस वहाँ से अंग्रेजों के बँगलों में पहुँचा देते। गढ़वाली हिन्दू सिपाही इसे बहुत बुरा मानते थे। कितने ही सालों तक वह बेबस हो यह सब देखते रहे। रात के वक्त चन्द गढ़वाली सिपाही उस घर में घुस गये, तीनों कसाइयों को मार गायों को खोलकर वह रात ही को अपने बैरकों में चले आये। दूसरे मुसलमानों ने कसाइयों के मरने की रिपोर्ट दी। लेकिन जब सारी पलटन की सहानुभूति कातिलों के साथ थी, तो उनका पता कैसे लगता ? कसाइयों के मारे जाने का सवाल नहीं था, बल्कि अब अंग्रेज अफसरों को गोमांस

भी नहीं मिल सकता था। गढ़वाली सरदारों ने अपने स्वामियों के लिए कुछ करने का निश्चय किया। इन जी-हुजूरों ने यह फैसला किया कि अंग्रेजों के लिए 12 और 2 बजे के बीच में रात को गायें मारी जायँ, और मांस को रातोंरात बँगलों में भेज दिया जाय। अब यही रिवाज यहाँ चल पड़ा था।

सन् 1927-28 में लैन्सडौन सदर बाजार के एक छोर पर सब्जीमण्डी खोली गई। उसमें तरकारियाँ, मछली और बकरे के मांस बेचने की दूकानें थीं। मकान तैयार होने पर जब दूकानें नीलाम की जाने लगीं, तो उस कोठरी को एक मुसलमान ने ले लिया। नीलाम होते ही हिन्दुओं को पता लग गया कि यहाँ गोमांस बेचा जायगा। यह खबर सुनकर उनमें बड़ी खलबली मची। आर्यसमाजी इस आन्दोलन में सबसे पहिले थे। छुट्टी का दिन था। लैन्सडौन छावनी से तीन मील पर अवस्थित चमेठाखाल में देवी का मेला था। मेले में व्याख्यान भी था। केदारसिंह भण्डारी, दौलतसिंह रावत और चन्द्रसिंह–तीनों आदमी व्याख्यान सुनने बैठ गये। व्याख्यान समाप्त होते ही चन्द्रसिंह ने सभा को बतलाया कि किस तरह गोमांस बेचने के लिए सब्जीमण्डी में इंतिजाम किया गया है। सभा के सभापति ने कहा कि यदि यह बात सच है, तो लिखकर दें। चन्द्रसिंह ने कहा–"मैं फौजी आदमी हूँ, मेरे लिए ऐसा करना ठीक नहीं होगा। आप इसकी जाँच कर लें, फिर दर्खास्त दें।" उनके जाँच करने पर बात सच्ची साबित हुई। इस पर उन्होंने इसका विरोध करते हुए जिला-मजिस्ट्रेट (गढ़वाल), कन्टूनमेंट मैजिस्ट्रेट, युक्तप्रदेश के गवर्नर, वायसराय, पं. मदनमोहन मालवीय और अखबारों के पास खबर भेजी। सब तरफ से बावेला मचते देख गोमांस की दुकान बन्द कर दी गई।

अंग्रेजों ने हर बात की जानकारी के लिए अपने जासूस छोड़ रक्खे थे। किसी जासूस ने साहबों से कह दिया कि गोमांस की दूकान के विरोध करने का सूत्रधार चन्द्रसिंह था। कर्नल ने चन्द्रसिंह को बुलाया, लेकिन गढ़वाली सूबेदार-मेजर हरिसिंह राना ने कहा कि चन्द्रसिंह ने जो कुछ किया, उचित किया। कर्नल ने धमकाकर चन्द्रसिंह को छोड़ दिया, और सूबेदार-मेजर को पेन्शन लेकर घर चले जाने के लिए मजबूर किया।

ठाकुर नारायणसिंह गोसाईं घुड़दौड़स्युँ पट्टी के रखौला गाँव के रहनेवाले थे। 1914 में चन्द्रसिंह और वह एक ही साथ फौज में भरती हुए और एक ही साथ शपथ ली। दोनों साथ ही फ्रांस की लड़ाई पर गये, और दोनों ही वहाँ से एक साथ देश लौटे। बसरे की लड़ाई में भी दोनों एक साथ थे। बसरा से जब चन्द्रसिंह लौटकर डिपो (लैन्सडौन) चले आये, तो नारायणसिंह पलटन के साथ वहीं रह गये, जहाँ उन्हें तुर्की की राजधानी इस्ताम्बुल में लड़ने के लिए जाना पड़ा। सन् 1920 में वह देश लौटे। उसके बाद फिर दोनों मित्रों का साथ हो गया। मकीना की लड़ाई में दोनों साथ थे, फिर दोनों लैन्सडौन चले आये।

चन्द्रसिंह पक्के आर्यसमाजी, आर्यसमाज के अवैतनिक प्रचारक थे। उन्होंने भाई नारायणसिंह को भी अपने विचारों का बना लिया। आर्यसमाज के विचारों के अतिरिक्त बाहरी दुनिया में क्या हो रहा है, इसकी बातें भी वह नारायणसिंह को बतलाने लगे। नारायणसिंह बड़े विचारशील और गम्भीर स्वभाव के आदमी थे। उनकी योग्यता से चन्द्रसिंह की सारी टोली प्रभावित थी। सभी उनको अपना मुखिया मानते थे। अगर कहीं पर कोई काम करना या किसी असंतोष का मुकाबिला करना होता तो लोग नारायणसिंह को अपना नेता बनाते। चन्द्रसिंह जो भी करते, उसमें नारायणसिंह की सहमति होती। उनकी राय लिये बिना वह कोई काम नहीं करते थे।

उस समय भारत में अंग्रेजों ने विलायत से जाँच करने के लिए साइमन-कमीशन भेजा। कांग्रेसी देशभक्त जानते थे कि यह सम्पूर्ण गोरा कमीशन हमें स्वतन्त्रता देने नहीं, बल्कि हमारी बेड़ियों को मजबूत करने के लिए आया है। सभी जगह 'साइमन गो बैक' (साइमन लौट जाओ) का नारा लग रहा था। बम्बई, कलकत्ता, इलाहाबाद, लखनऊ आदि सभी शहरों में उसके विरोध में जुलूस निकाले गये, पुलिस ने लाठियाँ चलाईं। पं. गोविन्दवल्लभ पंत को सख्त चोट आई, जवाहरलाल नेहरू भी उससे नहीं बचे। लाहौर में लाला लाजपतराय को पुलिस कप्तान ने लाठी से पीटा और जिसके ही कारण अन्त में उनका देहान्त हो गया। सारे देश में भारी असंतोष फैल गया। चन्द्रसिंह अब पुराने ढंग के पलटनियाँ सिपाही नहीं थे। उनके दिल में देशभक्ति का बीज पड़ चुका था। उन्होंने अपने साथियों को लेकर जंगल में एक बैठक की। आदमियों के नाम, बैठक का स्थान

आदि सबके फर्जी नाम रक्खे। उन्होंने निश्चय किया कि जिस वक्त कांग्रेस हुकुम दे, उसी समय नौकरी छोड़ अपनी-अपनी राइफलें उठाये हम घर चले जायेंगे।

कभी-कभी वह रंगरूटों को जंगल में ले जाकर बैठाते, और उनसे पूछते–"यहाँ से तुम अपनी-अपनी पलटनों में जाओगे। यदि वहाँ तुम्हें कांग्रेसवालों पर गोली चलाने का हुकुम दिया जायगा, तो क्या करोगे ?" फिर उनके दिल में देशभक्ति का भाव पैदा करते, समझाते–अपनी-अपनी पलटनों में पहुँचकर वहाँ के पुराने साथियों को बतलाना कि देश में क्या हो रहा है। साथ ही पलटन में क्या हो रहा है, इसकी खवर सांकेतिक भाषा में हमारे पास भी भेजना। उन्होंने संकेत कर रक्खा था कि पलटन में खूव प्रचार हो रहा है, इसके लिए चिट्ठियों में लिखना–"यहाँ अच्छी वर्षा हो रही है।"

ऐसे विचारों के फैलाने और लोगों को संगठित करने का सबसे अधिक श्रेय भजनसिंह (सितौनस्यूँ) और उनके एक साथी को था। वह दोनों नौजवान लाहौर के डी. ए. वी. कॉलेज में पढ़ते, 'नौजवान भारत सभा' में शामिल होकर काम करते थे। लाला लाजपराय जैसे देश के महान नेता पर लाठी चलाना और उनका कुछ ही दिनों बाद मरना सारे देश के लिए भारी अपमान था। देश के नौजवान बदला लिये विना नहीं रह सकते। भगतसिंह के नेतृत्व में उनके साथियों ने बदला एक अंग्रेज अफसर को मारकर लिया। कुछ समय बाद भगतसिंह और उनके साथी पकड़े गये, उसी समय भजनसिंह अपने मित्र के साथ आकर फौज में भरती हो गये।

चन्द्रसिंह को अतिरिक्त समय में सिपाहियों को बाहरी लड़ाई की शिक्षा देने का हुकुम था। वह किसी जगह ले जाकर पहाड़ी जमीन का नक्शा बनाकर लोगों को बैठा देते और देश में क्या हो रहा है, इस पर लेक्चर देते। अगर बीच में कोई अफसर मुआइना के लिए आ जाता, तो फौजी ढंग का लेक्चर देने लगते। अफसरों को क्या पता लगता कि यहाँ क्या हो रहा है। इसी समय भाई नारायणसिंह को हवलदार बनाकर पलटन में भेज दिया गया। चन्द्रसिंह को इसका बहुत दुःख हुआ क्योंकि वह जिस काम को कर रहे थे, उसमें नारायणसिंह सबसे बड़े सहायक थे। एक दिन बिगुल-मेजर मेहरसिंह ने कहा–"चन्द्रसिंह, आपके भी पलटन में जाने का समय नजदीक है। जिस दिन जाओगे, उस दिन मुझे क्या दोगे ?"

चन्द्रसिंह ने कहा–"जो आप कहें।"

"बोलो, वचन देते हो ?"

"हाँ, वचन देता हूँ।" चन्द्रसिंह ने कहा।

"तो तम्बाकू पीना छोड़ दो।"

चन्द्रसिंह ने कहा–"गुरु, इस साधारण-सी बात के लिए आपने क्यों वचनबद्ध कराया ? लीजिए, अब से मैं तम्बाकू नहीं पीऊँगा।"

वह मुस्कराते हुए बोले–"चन्द्रसिंह, तुम्हें जिस बात की धुन है, वह तुम्हें गोली का शिकार बनायेगी, नहीं तो जेल में तो अवश्य डालेगी।"

पास में खड़े हवलदार शेरसिंह (बुटौला) को यह बात लग गई, और उन्होंने कहा–"अरे, जो सच्चे देशभक्त हैं, वे जेलों में सड़ रहे हैं, लाठियों की मार खा रहे हैं। हम लोग तो गुलाम हैं, देश के साथ गद्दारी कर रहे हैं। आखिर देश तो आजाद होकर रहेगा, उस समय हमारा मुँह काला होगा।"

12

खैबर में (1929 ई.)

1929 में 10/18 रा. ग. रा. में दो साल काम करने के बाद चन्द्रसिंह को खैबर भेजा गया। गढ़वाल के छोड़ने का सभी गढ़वालियों को दुःख होता है, लेकिन चन्द्रसिंह को और भी क्योंकि वह समझते थे कि देश जो मुझसे

आशा रखता है, मैं उससे उलटी दिशा में जा रहा हूँ। उनके अपने विचारवाले सारे साथी लैन्सडौन में छूट गये, और वह ऐसी जगह जा रहे थे, जहाँ देश की कोई खबर उन्हें मिल नहीं सकेगी। उन्हें हवलदार-मेजर बनाया गया था, जिसके लिए खुशी होने की जगह उनको अफसोस होता था। पलटन में दूसरे हवलदारों से हवलदार-मेजर को आठ रुपया मासिक अधिक मिलता है, लेकिन ड्यूटी बहुत सख्त होती है। वह एक मिनट के लिए भी अपनी कम्पनी से गैर-हाजिर नहीं हो सकता। कम्पनी के सभी सिपाहियों, सरदारों, ओहदेदारों की जिम्मेवारी उसके ऊपर रहती है। कितने आदमी परेड में हैं, कितने ड्यूटी पर, कितने अस्पताल में, कितने छुट्टी पर—इसका सारा हिसाब उसे रखना पड़ता है। सिपाहियों के छोटे-मोटे झगड़ों का फैसला करना भी उसका काम है। बटालियन से अड्जुटेंट के पास हुकुम आता, अड्जुटेंट से अड्जुटेंट-जमादार के पास, उसके पास से क्वार्टर-मास्टर, उससे कम्पनी-कमाण्डर के पास। इस तरह आये हुकुम को हवलदार-मेजर स्वयं तामील करता, और सारी कम्पनी से करवाता। कम्पनी की कवायद और अनुशासन का भी जिम्मेवार वही होता। इतने अधिक काम थे कि चन्द्रसिंह बाजार जाने का मौका नहीं पा सकते, और न अखबार या किताब पढ़ने का समय निकाल सकते थे। हवलदार-मेजर कम्पनी का संचालक अफसर है। कम्पनी में उसकी बड़ी इज्जत होती है। वह एक सिपाही को अपने साथ अर्दली रख सकता है। परेड करने में उसे राइफल नहीं उठानी पड़ती, बल्कि उसके हाथ में एक छड़ी रहती है। वह कम्पनी-कमाण्डर के साथ-साथ चलता है। कम्पनी उसका हुकुम मानने के लिए बाध्य है।

हवलदार-मेजर होकर चन्द्रसिंह अब लैन्सडौन से चले। कोटद्वार में रेल पकड़कर वह अपनी टोली लिये हुए रवाना हुए। पेशावर पहुँचे, तो सबसे पहिले उनका ध्यान अखबार ढूँढ़ने के लिए बुक-स्टाल पर गया। खोजने पर साप्ताहिक 'विश्वमित्र' मिल गया। चन्द्रसिंह ने स्टालवाले से कहा—"भाई, अगर महीने के चारों अंकों को दे सको, तो मैं अभी रुपया दे सकता हूँ, पीछे हमारा आदमी आकर उसे ले जायगा।"

उनकी पलटन पेशावर में रुकनेवाली नहीं थी। उसे खैबर दर्रा के भीतर लन्दीकोतल में रहना था। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अड्जुटेंट को रिपोर्ट दी। सिपाहियों को अलग-अलग कम्पनियों में बाँटा गया। चन्द्रसिंह को कम्पनी नम्बर 1 के चौथे प्लाटून में रक्खा गया। उन्हें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि भाई नारायणसिंह उसी कम्पनी के क्वार्टर-मास्टर हवलदार हैं। खैबर में कई स्थायी पिकेट (गुल्म) हैं। चन्द्रसिंह को उन्हें देखने के लिए जाना पड़ता था। इन्हीं पिकेटों में एक का नाम काफिरकोट था। सुरक्षा के लिए बहुत प्राचीन काल में खैबर के भीतर यहाँ एक छोटा-सा किला बनाया गया था। किस समय बना था, यह कहना मुश्किल है। कोई-कोई कहते हैं, अशोक ने यहाँ पर कोई स्तूप बनवाया था। यह सम्भव भी नहीं है, क्योंकि सारा अफगानिस्तान अशोक के राज्य के भीतर था। अशोक की तरह ही कनिष्क भी बड़े धर्मात्मा बौद्ध थे। शायद उस समय इसे बनाया गया हो। कोट में असाधारण तौर से बड़े-बड़े पत्थर लगाये गये हैं। वहाँ दीवालों में तोपों और बन्दूकों के चलाने के लिए सूराख भी बने हैं। अशोक और कनिष्क के समय बारूद का आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए ये सूराख उस समय के बने नहीं हो सकते। कुछ भी हो, जब यह सारा इलाका मुसलमान नहीं हुआ था, तब यह कोट मौजूद था और मुस्लिम गाजी ज़ब इस रास्ते भारत की तरफ बढ़े, तो काफिरों ने उनका मुकाबिला यहाँ डटकर किया था, जिसके कारण उन्होंने इसका नाम काफिरकोट रख दिया। पीछे बौद्धों और ब्राह्मणों की सन्तानें जब पठान मुसलमान बन गईं, तो उन्होंने देखादेखी अपने पूर्वजों के इस किले को काफिरकोट कहना शुरू किया। चन्द्रसिंह पिकेट को देखने के लिए इस कोट में गये थे। कोट के भीतर एक बड़ा-सा कुआँ है, जिसके नीचे घूमती हुई सीढ़ियाँ चली गई हैं। उनकी जिज्ञासा ने जोर मारा, लेकिन अँधेरा होने के कारण वह भीतर नहीं जा सके। इन विशाल पत्थरों को दीवालों पर चढ़ा देखकर चन्द्रसिंह के मन में खयाल आता था—उस समय तो कोई मशीन नहीं थी, फिर कैसे इन विशाल चट्टानों को जोड़कर यह किला बना ?

खैबर दर्रा पहाड़ों के बीच में बहुत दूर तक चला गया है। इधर (अब पाकिस्तान) के छोर पर जमरूद का किला है, और उस पार दर्रे से निकलने के बाद दूर जलालाबाद का शहर अफगानिस्तान की भूमि में आता है। खैबर का सारा फासला 32 मील का है। इन पहाड़ों में सिनवारी और दूसरे कबीले के पठान रहते हैं।

इनकी आपस में दुश्मनी रहती है। वह लड़ते-भिड़ते रहते हैं। इसी दर्रे में कुछ सुरंगें निकालकर रेल की लाइन लंडीखाने तक पहुँचाई गई है। जलालावाद लंडीखाने से 20 मील पर है।

1927 में वहाँ से दो महीने की छुट्टी लेकर चन्द्रसिंह घर आये। उनकी माता को दमे की बीमारी थी। स्वास्थ्य गिरता चला गया था। छुट्टी के एक महीने बीते थे कि माता का देहान्त हो गया। पिता जाथलीसिंह चन्द्रसिंह की स्वेच्छा से की हुई शादी को अक्षम्य अपराध समझते थे। माता के मरने पर घर में रोना-पीटना शुरू हुआ। जेठे लड़के को माता के संस्कार में हाथ लगाना आवश्यक है, लेकिन पिता ने चिल्लाकर कहा—"चन्द्रसिंह मृतक के ऊपर हाथ नहीं लगा सकता।" और उसी समय नवीना के साथ उन्हें घर से निकल जाने के लिए कहा। लोगों ने बहुत समझाया, लेकिन पिता टस से मस नहीं हुए। माता को छोड़कर उन्हें घर से वाहर रहना पड़ा। अगले दिन गाँववालों ने जब बहुत दबाव डाला, तो दाह-संस्कार में चन्द्रसिंह को सम्मिलित होने की इजाजत दी। माँ को कन्धे पर उठाकर वह श्मशान में ले गये। चिता में रख देने पर जैसे ही आग लगाई, फिर पिता चिल्ला उठे—"चन्द्रसिंह यहाँ से हट जाय।" उन्होंने स्वयं कपाल-क्रिया की। लोग समझाते ही रह गये, लेकिन चन्द्रसिंह को क्रिया-कर्म में बैठने की आज्ञा नहीं दी। तेरही हो गई, तीसवाँ श्राद्ध का दिन आया। इस समय भी कुछ विधि होती है। फिर पिता उबल पड़े, और अन्त में नवीना (गौरी) को उसके पिता के घर पर छोड़कर अपनी पलटन में चले गये।

चन्द्रसिंह के दो छोटे भाई थे—बुथाड़सिंह और थोवसिंह। कई पीढ़ियों से उनके घर में सिर्फ एक ही जीवित सन्तान चली आती थी। इस पीढ़ी में अब तीन भाई थे। दोनों भाइयों की भी शादी हुई। पिता के साथ अनबन होने पर भी भाइयों के साथ उनका सम्बन्ध हमेशा अच्छा रहा। थोवसिंह 1939 में मर गये, और बुथाड़सिंह अब पैतृक सम्पत्ति पर अपने गाँव में हैं। दोनों भाइयों के एक-एक लड़के, और बड़े भाई के दो हैं। इस प्रकार जाथलीसिंह की तीसरी पीढ़ी चार पोतों की है।

माँ की बरसी होने जा रही थी। बरसी के समय बुलाने पर चन्द्रसिंह आये। आर्यसमाजी चन्द्रसिंह माता का मृतक श्राद्ध करने के लिए तैयार नहीं थे। लेकिन, उनकी वहाँ क्या चलनेवाली थी ? बाप-भाई, गाँव और ब्राह्मण सभी एक ओर थे। चन्द्रसिंह घर को तिलांजलि दे, पैतृक सम्पत्ति में अपने हक को छोड़ने का प्रण करके वहाँ से सदा के लिए चल दिये।

1929 में जल्दी ससुर ने आने के लिए चिट्ठी लिखी थी। उनके घर पहुँचने से चार दिन पहिले ससुर आकर दोनों स्त्रियों को अपने घर ले गये थे। ससुर की एक ही लड़की थी।

जेठ महीने के अमावस की रात थी। एक कुली से सामान उठवाये चन्द्रसिंह पहुँचे। दोनों स्त्रियाँ—भागीरथी तथा नवीना—ससुर झगड़सिंह के साथ एक टूटी अँधेरी धर्मशाला में बैठे थे। चन्द्रसिंह के पहुँचने पर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ। अँधेरे में वह एक दूसरे का मुँह भी नहीं देख सकते थे। गाँव में दानसिंह नामक एक जागीरवाले पेन्शनर जमादार थे। चन्द्रसिंह के आने की खबर पाकर वह लालटेन ले उनके पास आये, और उनके खाने-पीने का इंतिजाम करके बहुत सत्कार किया।

चन्द्रसिंह के ससुर झगड़सिंह भण्डारी सन् 1889 में 9 नम्बर गोरखा पलटन में भरती हुए थे। 1897 में गोरखा पलटन से अलग कर 1/39 गढ़वाल राइफल का जब गठन किया गया, तो वह उसमें चले गये। तीस साल तक नौकरी करने के बाद 1913 में उन्होंने पेन्शन पाई। प्रथम महायुद्ध में उन्होंने 1700 गढ़वाली रंगरूट भरती कराये। इस सेवा के लिए अंग्रेजों ने उन्हें एक तमगा और अल्मोड़ा जिले की मल्ला-कत्युर पट्टी के मैगड़ी गाँव की सैनिक जमींदारी में एक सौ नाली जमीन जागीर दी। झगड़सिंह की एक ही लड़की थी, जिसकी शादी चन्द्रसिंह से करके उन्होंने अपनी जागीर उनके नाम लिख दी थी। इसी जमीन को अब ठीक-ठाक करना था।

चन्द्रसिंह के पास उस समय सिर्फ 90 रुपये थे। उस गाँव में उनका कोई जान-पहचान का आदमी नहीं था। उनके पास रहने के लिए न मकान था, न खाने-पीने की चीज, न पकाने के लिए बरतन और न जमीन आबाद करने के लिए हल-बैल या बीज थे। पास में ओढ़ने-बिछौने के लिए कपड़ा भी नहीं था।

कत्यूर का यह इलाका कुमाऊँ-गढ़वाल का ऐतिहासिक भूभाग है। प्रतापी कत्यूरी वंश कभी सतलुज से दरनाली (नेपाल) तक शासन करता था। अन्तिम दिनों में उसका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और जोशीमठ की अपनी राजधानी छोड़कर उनके एक वंशधर ने इस इलाके में अपनी राजधानी कायम की, जो पहिले कार्तिकेय पर और पीछे वहाँ पर स्थापित वैद्यनाथ महादेव के कारण बैजनाथ के नाम से मशहूर हुई। अब भी बैजनाथ में कई टूटे-फूटे मन्दिर हैं, और कई सुन्दर मूर्तियाँ अपने काल के सुन्दर शिल्प को प्रदर्शित करती हैं। इसी गोमती नदी पर दस-बारह मील नीचे बागेश्वर का मशहूर तीर्थस्थान है, जिसका जिक्र हम कर आये हैं। कत्यूर कुमाऊँ जिले में है। कुमाऊँ और गढ़वाल की भाषा में कुछ अन्तर है। चन्द्रसिंह के वहाँ अपने कोई नहीं थे। वह और उनकी पत्नियाँ अपने को उस भूमि में अपरिचित-सी पाती थीं। उनकी द्वितीय स्त्री (कुँवरी) की बहिन भागीरथी को किस तरह माता-पिता ने चन्द्रसिंह की मर्जी के बिना ब्याह कर दिया था, यह हम कह आये हैं। वह उस समय 13 साल की थी। सौत के साथ रहना ही स्त्री के लिए दण्ड होता है, और सौत के बाप के घर रहना तो और भी भारी दण्ड है। लेकिन, बेचारी क्या करती ? चन्द्रसिंह के कारण उसे यह करना पड़ा। बहिन के मर जाने पर भागीरथी की माँ ने चन्द्रसिंह के माता-पिता से स्नेह-नाता कायम रखने के लिए यह सब किया था। नवीना भागीरथी के साथ प्रेम दिखलाती थी। समझती थी कि पति तो पलटन में चला जायगा, हम दोनों का मिलकर रहना ही अच्छा है। इस स्नेह को उसकी माँ नहीं पसन्द करती थी।

जमीन को कोई किसान अब तक जोतता था, जो उसे छोड़ गया था। जेठ का महीना था। गेहूँ की फसल कट चुकी थी, धान बोया जा रहा था। अगल-बगल के लोगों ने अपने खेत जोतने-बोने शुरू किये, लेकिन चन्द्रसिंह की जमीन परती पड़ी हुई थी। सभी जगह के लोगों की तरह कत्यूरी गाँव के धनी भी लोगों की बेबसी से फायदा उठाते। जब देखते कि अनाज की तंगी है, तो उसका दाम बढ़ा देते। उस समय वह अनाज को बहुत महँगा बेच रहे थे—गेहूँ रुपये का दस सेर और धान आठ सेर। चन्द्रसिंह अपने पास के 90 रुपयों से क्या-क्या करते। खाने के लिए भी सामान खरीदना था, और बोने के लिए भी। उन्होंने 25 रुपये का गेहूँ, 16 रुपये का धान, 46 रुपये का एक जोड़ा बैल, 8 रुपये का दाल-नमक-मसाला, 2 रुपये के खेतों के औजार आदि खरीदे। पास के सारे रुपये खतम हो गये। रहने के लिए घर का कोई ठिकाना नहीं था। एक अजनबी के लिए कर्ज देनेवाला कहाँ से मिलता ? उन्होंने अपने पलटन के एक दोस्त को पैसा भेजने के लिए चिट्ठी लिखी।

कत्यूर में रंगोली के पास लोघा के पेन्शनर हवलदार तारासिंह की जागीर थी। तारासिंह नारायणसिंह के गाँव के रहनेवाले थे, इसलिए उन्हें उम्मीद थी कि कुछ पैसे मिल जायँगे। रंगोली में सवा रुपये का स्टाम्प खरीद वह तारासिंह के घर गये। पेन्शनर हवलदार ने बड़ा सत्कार किया, लेकिन उनका हाथ भी उस समय खाली था। वह चन्द्रसिंह को लेकर एक दूसरे जमींदार नरोत्तम दुर्गादास के पास ले गये। नरोत्तम घर पर ही थे। चन्द्रसिंह और उनके साथी ने ब्राह्मण देवता को पालागन कहा। शायद भाँप लिया होगा, इसलिए उनके मुँह से आशीर्वाद भी निकलना मुश्किल था। उन्होंने दोनों आगन्तुकों की तरफ नजर घुमाकर देखा भी नहीं, अन्त में तारासिंह ने ही कहा—

"पंडितजी, आप कुशल से तो हैं ?"

"हाँ, कुशल ही से हैं।"

15 मिनट तक दोनों आदमी उनके घर पर रहे। चलते समय तारासिंह ने स्टाम्प दिखलाकर कर्ज पर रुपये माँगे। नरोत्तम ने कोई जवाब नहीं दिया। शायद उस आदमी का ऐसा रूखा स्वभाव ही हो। दोनों घर लौट गये।

दो-तीन दिन बाद कप्तान नैनसिंह चिनवाण मैगढ़ी में आये। चन्द्रसिंह उनसे मिलने गये। कप्तान ने पूछा—"तुम यहाँ कैसे आये ?" चन्द्रसिंह ने अपना सारा किस्सा सुनाया। कप्तान को यह सुनकर बहुत दुःख हुआ, और वह अपने घर ले गये। वह रहनेवाले बघाण थराली के थे, लेकिन जागीर-जमीन के कारण अब तेलवाड़ी गाँव में रहते थे। वह स्टाम्प और दस्तावेज नहीं लिखवाना चाहते थे, लेकिन चन्द्रसिंह ने आग्रह करके

सौ रुपये लेकर दस्तावेज लिख दिया। आखिर, वह स्टाम्प खरीद ही चुके थे। कप्तान साहव पैसा लेकर लौटे, तो पलटन के दोस्त के भेजे सौ रुपये भी आ गये थे। उनके पास अब दो सौ रुपये थे।

चन्द्रसिंह एक दिन बागेश्वर जा रहे थे। गोमती नदी के किनारे वागेश्वर मन्दिर है। वहाँ भीड़ लगी थी, आसपास के गाँवों से लोग भागे-भागे आ रहे थे। पूछने पर मालूम हुआ कि महात्मा गाँधी आये हैं। चन्द्रसिंह महात्मा गाँधी का नाम बहुत सुने थे, लेकिन उन्होंने उन्हें कभी देखा नहीं था। गाँधीजी के साथ मोहन जोशी और हरगोविन्द पंत भी थे। चन्द्रसिंह का अभी इनसे कोई परिचय नहीं था। चन्द्रसिंह वागेश्वर पहुँचे। देशी बाजे के साथ वहाँ गाँधीजी का स्वागत किया गया और डाक बँगले में ठहराया गया। सुना, कि गाँधीजी 21 दिन का उपवास कर रहे हैं। अल्मोड़ा में उनकी मोटर के नीचे पद्मसिंह नाम का एक पुरुष दवकर मर गया था, इसीलिए वह उपवास कर रहे थे।

उस दिन गाँधीजी का व्याख्यान होनेवाला था। भाषण-मंच के सामने फौजी गोरखा टोपी पहिने चन्द्रसिंह बैठे थे। आते ही गाँधीजी की नजर उस टोपी पर पड़ी और वह उँगली से उस ओर दिखलाते हँसकर बोले–"क्या यह मुझे डराने के लिए यहाँ बैठे हैं ?" सभी लोग हँस पड़े। चन्द्रसिंह ने उठकर कहा–"अगर कोई मुझे दूसरी टोपी दे, तो मैं इसे उतारकर उसे पहनने के लिए तैयार हूँ।" किसी ने अपने झोले में से गाँधी टोपी निकालकर चन्द्रसिंह की तरफ फेंकी। चन्द्रसिंह ने उस टोपी को गाँधीजी की ओर फेंककर कहा–"मैं बूढ़े के हाथ से टोपी लूँगा।" महात्माजी ने टोपी को चन्द्रसिंह की ओर फेंक दिया। चन्द्रसिंह ने उसे लेकर सिर पर रखते हुए खड़े होकर प्रतिज्ञा की कि मैं इसकी कीमत चुकाऊँगा। सभा में तालियाँ पिटीं। चन्द्रसिंह के लिए यह दिन अविस्मरणीय था। उन्होंने महात्माजी का दर्शन ही नहीं किया, उनके हाथ से टोपी पाई। यह काँटों का मुकुट था, जिसको सिर पर रखते खुशी के मारे उनकी आँखें डवडबा आईं। कुली-प्रथा कुमाऊँ से उठ गई थी। महात्माजी ने कुमाऊँवालों को सफलता पर बधाई दी। उसी समय स्वराज्य-भवन की उन्होंने नींव भी डाली।

चन्द्रसिंह बागेश्वर में कुछ चीजें खरीदने गये थे। उन्हें खरीदकर मैगढ़ी लौट आये। एक हफ्ते और रहने के बाद 26 जून 1929 को वह अपनी पलटन के लिए रवाना हुए।

13

नमक सत्याग्रह (1930 ई.)

मैगढ़ी से चलते वक्त न जाने क्यों चन्द्रसिंह को एक तरह की बेचैनी हो रही थी। चौदह वर्षों के अपने फौजी जीवन में वह प्रायः हर साल एकाध बार छुट्टी लेकर घर आते थे मगर उनका चित्त कभी ऐसा उदास नहीं हुआ। हो सकता है, नये गाँव में ले जाकर अपनी गृहस्थी अच्छी तरह जमा भी नहीं पाई थी कि उन्हें फिर न जाने कितने दिनों के लिए जाना पड़ रहा था। चलते वक्त सबसे पीछे आशीर्वाद उनकी सास ने दिया, जो सास बनने से पहिले भी उनसे परिचित थीं। अब वह अपने दामाद को फिर नहीं देखने को थीं।

चन्द्रसिंह लंडीकोतल में 2-18 रा. ग. रा. में जा मिले। उनकी पलटन जुलाई से नवम्बर तक वहीं रही। मामूली कवायद-परेड और चाँदमारी के सिवा और कोई काम नहीं था। पहिले अखवार मँगाने का उन्होंने प्रबन्ध किया था, उसे उनके दोस्तों ने चालू रक्खा था। इस छुट्टी में उनको जो-जो खबरें मालूम हुईं और बागेश्वर में महात्मा गाँधी से कैसे दर्शन हुआ था, वह सब बातें उन्होंने अपने साथियों को बतलाईं। लाहौर-षड्यन्त्र केस, दिल्ली बम केस चल रहे थे। चन्द्रसिंह और उनके अपने विचारवाले साथियों में बड़ी बेचैनी थी। वहाँ फौजी कैम्प में मिलकर बात करने का कोई अवसर नहीं था। लंडीकोतल की छावनी दूसरी छावनियों से भी बढ़कर जेलखाना थी। कैम्प के चारों ओर काँटेदार तारों की बाढ़ लगी थी। बाजार में जाने के लिए भी उन्हें कमाण्डर से छुट्टी लेनी पड़ती। महीने के अन्त में जब कभी 'विश्वमित्र' की कॉपी आती, तो उसको पढ़ने के लिए समय

न मिलता। दिन में आदमी आते रहते थे, न जाने कौन खुफिया का काम कर रहा हो; और रात को बत्ती जलाने की मनाही थी। वह पठानों का इलाका था, जो संगीन के बल पर दबाकर रक्खे गये थे और हर वक्त अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को दिखाने के लिए तैयार थे। बहुत कोशिश करने पर चन्द्रसिंह के दोस्तों ने ब्रिगेड के कैन्टोनमेन्ट बाजार में एक दर्जी से ठीक-ठाक किया। वहीं पर चन्द्रसिंह जाकर अखबारों को पढ़ आते। उनके दूसरे साथी भी इस काम के लिए वहीं जाया करते थे। राष्ट्रीयता की भावना अब थोड़े-से लोगों का षड्यन्त्र नहीं था, वह बाँध तोड़कर भारत में बह रही थी। इसलिए अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानी सैनिकों को चाहे जितना छन्द-बन्द से रखना चाहा हो, पर राष्ट्रीयता को रोक नहीं सकते थे।

गढ़वाली बटालियन की बदली पेशावर हुई। 21 नवम्बर 1929 को वह लंडीकोतल से रवाना हुई, और तीन दिन पैदल चलने के बाद पेशावर छावनी के निकल्सन लाइन में पहुँची। निकल्सन एक मशहूर अंग्रेज सेनापति था, जिसने 1857 ई. में दिल्ली को विद्रोहियों के हाथ से छीनने में सफलता प्राप्त की थी, उसी के नाम से इस लाइन या बैरक का नाम निकल्सन था। एक दूसरी लाइन हरिसिंह लाइन कही जाती थी। हरिसिंह महाराजा रणजीतसिंह का बहुत बड़ा सेनापति था। उसने पठानों को गुलाम बनाने के लिए उन पर बड़े अत्याचार किये थे। जमरूद किले में वह मारा गया था। हरिसिंह का नाम अंग्रेज क्यों अमर करना चाहते थे ? वह पठानों और सिक्खों (पंजाबियों) की सनातन शत्रुता का प्रतीक था, जिसको जीवित रखना अंग्रेज अपने हित की बात समझते थे। यह लाइनें जमरूद सड़क के किनारे ताकाल गाँव के पास अवस्थित हैं। उन दिनों पेशावर में चार बटालियनें रहती थीं—एक गोरा रेजिमेन्ट, दूसरी 2/7 रेजिमेन्ट, तीसरी चन्द्रसिंह की 2/18 रॉयल गढ़वाली राइफल और चौथी 4/11 सिक्ख बटालियन। इसके अतिरिक्त रिसाले का ट्रूप, खच्चरवाला तोपखाना, विमान सेक्शन, मोटर कम्पनी, मलिशिया स्क्वाड्रन आदि भी थे। पेशावर अंग्रेजों का एक जबर्दस्त सैनिक गढ़ था, यह सबको मालूम है।

पेशावर छावनी में चारों पलटनें बारी-बारी से ब्रिगेड की ड्यूटी करती थीं। हरेक बटालियन को दो घंटे की नोटिस पर पेशावर शहर में जाने के लिए मुस्तैद रहने का हुकुम था। शहर में कोई बलवा हो जाय या आग लग जाय, तो तुरन्त फौज को भेजा जाता था। बटालियन जब ड्यूटी देती तो दूसरे बटालियन को सरहद के गवर्नर की सेवा, छावनी और किले की ड्यूटी, रसद गारद की ड्यूटी या मेडिकल कॉलेज की ड्यूटी करनी पड़ती। तीसरी बटालियन का काम होता पास के कबाइली अफरीदियों के आक्रमण से पेशावर के इलाके की हिफाजत करने के लिए हर वक्त तैयार रहना। चौथी बटालियन अफरीदी और सिनवारी कबाइलियों से पेशावर की हिफाजत के लिए तैयार रक्खी जाती। ये ड्यूटियाँ चारों बटालियनें बारी-बारी से करतीं। इनके अतिरिक्त उन्हें पलटनों की मामूली रोजमर्रा की ड्यूटियाँ कवायद-परेड करते ही रहना पड़ता था।

चन्द्रसिंह की बटालियन को पहिले-पहिल अफरीदियों के आक्रमण से बचाने की ड्यूटी पर लगाया गया। इस ड्यूटी में गारद लगाने की जरूरत नहीं पड़ती थी और बटालियन को रात-भर छावनी के सामने लगे कँटीले तारों की लाइन में रहते पेट्रोल (पहरेदारी) का काम करना पड़ता था। बाकी समय कवायद-परेड में जाता। किसी शिकायत पर कम्पनी के कमाण्डर ने चन्द्रसिंह को हवलदार-मेजरी से हटाकर कम्पनी क्वार्टर-मास्टरी हवलदार बना दिया। इसमें काम कम था। सिर्फ कम्पनी के रसद, गोला-बारूद, वर्दी आदि के देखने-भालने की जिम्मेदारी थी। लिखने-पढ़ने का काम कुछ ज्यादा था। कारण बतलाते हुए कम्पनी कमाण्डर ने कहा—"चन्द्रसिंह, तुम हुकुम के कामों में गफलत करते हो। मेरे पास शिकायत आई है कि तुम अपनी ड्यूटी पर हाजिर नहीं रहते।"

चन्द्रसिंह ने कहा—"हुजूर, मुझे तो तनखाह से गरज है, आप चाहे भंगियों के साथ रख दें।" कम्पनी कमाण्डर अंग्रेज था, वह यह सुनकर जल मरा, उसका चेहरा सुर्ख हो गया। समझा होगा, देश में जो आग लगी हुई है, उसकी आँच हमारे इन क्रीत दासों को भी छू गई है।

चन्द्रसिंह को इससे कोई दुःख नहीं हुआ। तनखाह के ऊपर जो आठ रुपये मासिक मिलते थे, वह भी पहिले की तरह मिल रहे थे। क्वार्टर-मास्टर का काम होता है, रसद की देखभाल करना। घी, आलू, आदि

सभी चीजों की सुविधा थी, साथ ही सिपाहियों की जवावदेही नहीं थी। वाजार जाने का मौका भी इसमें बहुत था।

पेशावर छावनी से कैन्टोनमेन्ट (छावनी) बाजार एक मील पर पड़ता। विना प्लाटून कमाण्डर की आज्ञा के कोई सैनिक लाइन से बाहर नहीं जा सकता। इसलिए वाहर से खवर या समाचारपत्र लाना आसान नहीं था। दल का कोई आदमी उन्हें देखते ही पूछता—"महाशयजी, क्या खवर है ?" आर्यसमाजी होने से अब उनका नाम शायद महाशय भी पड़ गया था। इसी समय लाहौर में कांग्रेस की तैयारियाँ हो रही थीं। देश के बड़े-बड़े नेताओं के जोशीले वक्तव्य अखबारों में निकल रहे थे। उस वक्त कौन अभागा हो सकता था, जो देश की खबरों को जानने की उत्सुकता न रखता हो ? एक दिन चन्द्रसिंह नारायणसिंह के साथ यही पता लगाने के लिए सदर बाजार गये। वह चाहते थे, अखवार मँगाने का कोई इंतिजाम किया जाय। उस दिन इतवार था। दोनों फौजी वर्दी छोड़ सूट-बूट पहिन बिना इजाजत लिये सदर वाजार चले गये। एक मकान का दरवाजा खुला था और अन्दर से 'जय जगदीश हरे, पिता जय जगदीश हरे' की आवाज आ रही थी। चन्द्रसिंह समझ गये कि यह आर्यसमाज मन्दिर है। दोनों ही आर्यसमाजी थे, इसलिए निधड़क मकान के भीतर चले गये। देखा, वहाँ कितनी ही लड़कियाँ और स्त्रियाँ हवन करके आरती गा रही हैं। उन्हें देखकर अपनी गलती मालूम हुई और वह तुरन्त लौट पड़े। इस पर वहाँ बैठी एक महिला ने आश्वासन देकर पूछा—"आप यहाँ कैसे आ गये ?" चन्द्रसिंह ने नम्रतापूर्वक जवाब दिया—"वहिनजी, हम दोनों आर्यसमाजी हैं। आरती की आवाज सुनकर भीतर चले आये। हमें यह मालूम नहीं था कि यह स्त्री समाज है। गलती के लिए हमें क्षमा करें।"

महिला ने कहा—"नहीं, नहीं, क्षमा माँगने की जरूरत नहीं। यहाँ भगवान की आरती हो रही है। आप भी इसमें शामिल हो सकते हैं।"

थोड़ा परिचय हो जाने के बाद चन्द्रसिंह ने अखवार की बात कही, महिला ने अपने भाई का परिचय दिया, जो आर्यसमाज का प्रधानमन्त्री था। महिला ने बताया कि आप उनके पास जायँ, वह अखवार का इंतिजाम कर देंगे। वह स्वयं लड़कियों के स्कूल की अध्यापिका थी।

दोनों महिला के भाई की दूकान पर पहुँचे। संयोग से वह वहाँ मौजूद थे। उन्होंने अपनी गरज बतलाई, तो भाई ने अखबार मँगा देने की जिम्मेदारी ले ली। एक महीने का दाम तीन रुपया भी जमा कर दिया। उक्त सज्जन ने अपने नाम से अखबार मँगा लेने का जिम्मा ले लिया और पढ़ने के लिए 'चाँद' पत्रिका भी दे दी। अखबार उन्हें कोई नहीं मिला, रुपये हजम हो गये।

सदर बाजार में युक्तप्रदेश के एक हलवाई ने अपनी दूकान खोल रक्खी थी। अपने प्रदेश का होने के कारण चन्द्रसिंह ने उसके सामने भी अखवार का दुखड़ा रोया। हलवाई ने एक अखबारफरोश को बुला अपनी दूकान पर रोज का हिन्दी का एक अखबार रख जाने के लिए वचन ले लिया। चन्द्रसिंह ने यहाँ भी महीने-भर के लिए रुपये जमा कर दिये। यह इंतिजाम कुछ पक्का था। अपने में से सात-आठ निश्चित कर लिये थे, जो बारी-बारी से आकर यहाँ से अखबार ले जाते थे। कम्पनी में जब हाजिरी की पुकार हो जाती, तो एक-एक आदमी चन्द्रसिंह की कोठरी के भीतर आकर अखबार पढ़ जाता। रोशनी बाहर न जाय, इसके लिए दरवाजे पर कम्बल लगा दिया गया था। अखबार पढ़कर हरेक अपनी कम्पनी के अपने दलवाले सभी आदमियों को बातें सुनाता। अखबार तलाशी में मिल जाता, तो इसका भारी दण्ड भोगना पड़ता है, इसलिए पढ़कर रातों-रात उसे पानी में डालकर गला दिया जाता था और चन्द्रसिंह की अर्दली में रहनेवाला सिपाही उसे सबेरे कूड़े में डाल आया करता।

इस तरह वह अपनी भावना और तीव्र जिज्ञासा की तृप्ति किया करते थे। इसी बीच लाहौर में पं. जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। 26 दिसम्बर 1929 को 'पूर्ण स्वतन्त्रता भारत का लक्ष्य है', इसकी घोषणा की गई। सारे देश में जोश की लहर दौड़ रही थी। उसका एक अंश अखबारों द्वारा चन्द्रसिंह की बटालियन के जवानों में भी पहुँच रहा था। एक दिन अखबार लाने की बारी चन्द्रसिंह की थी। पेशावर में वायसराय के आने की खबर थी, इसलिए रात-दिन बैरक की सफाई और बटालियन की ड्रिल

बड़े जोर-शोर से हो रही थी। दिन-भर फुरसत नहीं मिलती थी, इसलिए अखबार लाना बहुत कठिन था और अँधेरा होने के बाद कोई फौजी बाजार में जा नहीं सकता था। वहाँ गोरी पुलिस तैनात थी। पहिले से चेतावनी दे दी गई थी कि बत्ती जलने के बाद अगर कोई सिपाही बाजार में पकड़ा जायगा, तो उसको सख्त सजा दी जायगी। लेकिन, अखबार तो हर हालत में लाना ही था। चन्द्रसिंह ने पेशावरी का बाना भरा–कुल्हेवाली पगड़ी सिर पर रक्खी, सलवार पहना और फिर एक लम्बा कोट पहनकर चल पड़े। इसी तरह वह काम बना लेते थे। एक दिन वह पठानी कोट की जगह अपना लम्बा कोट पहनकर चले गये। अखवार लेकर वह लौट रहे थे। सड़क पर बिजली की रोशनी थी। उनकी बैरक अभी दो फर्लांग दूर थी, उसी समय एक गोरे पुलिसमैन ने पुकारकर कहा–"जवान, ठहरो।" भला जवान अब ठहरने के लिए तैयार कैसे होता ? वह सड़क छोड़कर बाड़े को लाँघते एक बँगले के हाते में घुस गये। गोरा भी उनके पीछे-पीछे दौड़ा। फिर सड़क की ओर के बाड़े को लाँघकर वह कूदे। गोरे ने ओवरकोट पकड़ लिया। उन्होंने पीछे मुड़कर गोरे की नाक पर एक घूँसा जड़ दिया। वह जमीन पर गिर पड़ा, लेकिन तब भी उसने कोट को हाथ से नहीं छोड़ा। चन्द्रसिंह ने कोट में से अपनी बाँहों को निकालकर उसे वहीं छोड़कर भागना शुरू किया। सौभाग्य से कम्पनी में जब पहुँचे, उस समय हाजिरी लगाने का बिगुल बज गया था। कम्पनी अपने-अपने बैरकों के बाहर फालिन हो गई थी। वह भी जल्दी-जल्दी उसमें शामिल हो गये। हाजिरी देकर वह लोगों के साथ बैरक में चले आये, और वहाँ आते ही हल्ला शुरू किया–"मेरा ओवरकोट कौन ले गया ? हाजिरी देने के समय उसे उठा ले गया।" उसी समय प्लाटून कमाण्डर सूबेदार-मेजर और अड्जुटेंट-जमादार को रिपोर्ट दी। यह भी बतलाया कि ओवरकोट पर 2-18 रा. ग. रा. लिखा हुआ है।

अगले दिन सुबह 10 बजे एक गोरा ओवरकोट लेकर पलटन के दफ्तर में आया। उसकी वर्दी पर खून लगा हुआ था। गोरे ने अड्जुटेंट को कहा कि जिस आदमी का यह ओवरकोट है, उसने मुझे मारा, क्योंकि शहर से आते मैंने उसको पकड़ा था। चन्द्रसिंह भी उस वक्त दफ्तर में हाजिर थे। सब लोग वहाँ जमा हो गये। अड्जुटेंट ने हँसते हुए गोरे से कहा–"देखो, इनमें वह आदमी है, जिसने तुम्हें मारा ?" बेचारा गोरा कैसे पहचानता ? उस वक्त तो चन्द्रसिंह के बदन पर सलवार थी, वह पठान बने हुए थे, और अब अपनी हवलदार की वर्दी पहने खड़े थे। अड्जुटेंट को सन्देह हुआ कि अपने ही आदमियों में से कोई होगा। उसने बटालियन के भिश्ती, नाई, धोबी, रसोइयों को बुलाकर वहाँ खड़ा कर गोरे से कहा–"देखो, इनमें वह आदमी है ?" गोरा उनमें से भी किसी को पहचान नहीं सका। अड्जुटेंड ने कहा–"चन्द्रसिंह की बैरक सड़क के नजदीक है, हो सकता है किसी राह चलते पठान ने ओवरकोट उठा लिया हो।" फिर हवलदार को सामने खड़ा करके कहा–"यह ओवरकोट इसी हवलदार का है, देखो इस आदमी ने तो तुम्हें नहीं मारा ?" चन्द्रसिंह बेधड़क तनकर उसके सामने खड़े थे, गोरा उन्हें पहचान नहीं सका और ओवरकोट छोड़कर चला गया।

डागा कैम्प–पेशावर से 22 मील के करीब चरत छावनी है, जिसके नीचे डागा नाम का गाँव है। चन्द्रसिंह की बटालियन तीन हफ्ते के लिए पेशावर से वहाँ कैम्प डालकर युद्ध की चाँदमारी और दूसरे कामों को सीखने के लिए गई। उस समय वह कम्पनी के क्वार्टर-मास्टर हवलदार थे। एक दिन संयोग से उनकी कम्पनी में रोटी पकाने की लकड़ी नहीं रही। दिन और रात वर्षा होती रही, जिसके कारण ठेकेदार लकड़ी नहीं ला सका। सिपाहियों को गाँव में जाने की सख्त मनाही थी। परेड पूरी ली जा रही थी, और परेड के बाद सिपाही भूखे भेड़िये बन जाते। नौ बजे रात को रसोइयों ने चन्द्रसिंह से कहा कि सबेरे के लिए एक टुकड़ा भी लकड़ी नहीं है। चन्द्रसिंह दो रसोइयों को लेकर उसी वक्त चुपचाप गाँव में चले गये। गाँव के दस-पन्द्रह कुत्ते भूँकते हुए उनके ऊपर दौड़ पड़े। चन्द्रसिंह ने अपने दोनों साथियों को समझा दिया कि भागना नहीं, नहीं तो कुत्ते काटे बिना नहीं छोड़ेंगे। यह भी डर था कि कहीं गाँव के पठान गोली न दाग दें। 'दोस्त, दोस्त' कहकर चन्द्रसिंह ने आवाज देनी शुरू की। दो पठान उनके पास आये। वह थोड़ी-सी हिन्दुस्तानी बोलना जानते थे। उन्होंने पूछा–"मुसाफिर, तुम कौन हो ?"

चन्द्रसिंह ने दो रुपये उनके हाथ में थमाते हुए कहा–"भाई, हमारे पास लकड़ी नहीं है, कल रोटी नहीं

पक सकती। हम पलटन के जवान हैं।"

पठान बहुत शरीफ थे। रुपये न ले वे तीन बोरी लकड़ी देकर चन्द्रसिंह को उनके कैम्प तक पहुँचा गये। अगले दिन चन्द्रसिंह की कम्पनी मौज से खाना खा रही थी, जबकि दूसरी कम्पनियाँ मक्खी मार रही थीं। ओहदेदार और अफसर अपने आदमियों में किस तरह प्रिय हो जाते हैं, इसका यह उदाहरण था।

डागा कैम्प से पलटन फिर पेशावर लौट आई, जहाँ से कुछ दिनों के लिए मिचनी केनाल भेजी गई। इस समय चन्द्रसिंह बीमार हो गये। चार दिन अस्पताल में रहने के बाद तबीयत ठीक हुई, तो उन्हें बहुत हल्का-सा काम दिया गया। अब शाम को बाजार जाने के लिए उनको मौका मिल जाता, और वहाँ से वह अखबार ला, पढ़कर उसकी बातें अपने साथियों को सुनाते। उस वक्त भगतसिंह की चर्चा चारों ओर थी, उनकी तस्वीरें जगह-जगह बिक रही थीं। इस सारे समय पलटन के मिचनी चले जाने से चन्द्रसिंह अकेले रह गये थे। बटालियन वापस आ गई। वह रोज सड़क पर मार्च करती निकलती। एक दिन सड़क पार मार्च करके चन्द्रसिंह की कम्पनी अपनी लाइन में लौट रही थी। एक चौरस्ते पर सिपाही दो भागों में बँट गये। बीच में थोड़ी-सी खाली जगह थी, जहाँ से एक साइकिलवाला अपनी साइकिल पर चढ़ा निकलने लगा। चन्द्रसिंह की कम्पनी का कमाण्डर मार्टिन था। साइकल-सवार की इस गुस्ताखी को देखकर वह उसके पीछे दौड़ा, और धक्का दे नीचे गिराकर उसे उसने ठोकरों से खूब मारते सैकड़ों गालियाँ दीं। यह बात कम्पनी के जवानों को बहुत बुरी लगी। वह कहने लगे–"यह गोरे हम हिन्दुस्तानियों को कितनी नीची निगाह से देखते हैं। हम गुलाम हैं, तभी तो हमारे आदमी को इस गोरे ने बेकसूर ही इतनी ठोकरें मारीं।"

अप्रैल 1930 में चन्द्रसिंह की बटालियन की ड्यूटी पेशावर शहर पर लगाई गई। एक घंटे की नोटिस मिलते ही ए. कम्पनी 12 नम्बरवाले बँगले पर शहर-मैजिस्ट्रेट के सामने पहुँचने के लिए तैयार रहती। सारी कम्पनी अपनी राइफल, सौ कारतूस, पिस्तौल, बम, मशीनगन, दूसरे सामान, एक दिन का पका हुआ भोजन, टामलोटों में पानी–सब तरह से लैस रहती थी। उस समय परेड बैरकों के सामने होती थी, जिसमें हुकुम मिलते ही कम्पनी चलने के लिए तैयार हो जाय। कोई सिपाही बिना प्लाटून-कमाण्डर की इजाजत के टट्टी-पेशाब करने भी नहीं जा सकता था। प्लाटून-कमाण्डर और कम्पनी-कमाण्डर बराबर आफिस में ही रहते थे। चन्द्रसिंह और उनके साथियों को बाजार जाने का इस वक्त बिलकुल अवसर नहीं मिलता था। पलटन बाजार में मंगलसिंह नामक एक सिक्ख हलवाई था, जिसके पास ही गुरुद्वारा था। गुरुद्वारे में पंजाबी अखबार आता था, जिसमें कुछ खबरें रहती थीं। वहाँ जाने पर मंगलसिंह चन्द्रसिंह को भी बातें सुनाया करता। चन्द्रसिंह ने अब उसके यहाँ आना-जाना शुरू कर दिया, और उसकी दूकान में दूध भी पीने लगे। जब पैसा न होता, तो उधार लिखाकर चले आते। मंगलसिंह कांग्रेस की बातें बहुत बतलाया करता था। चन्द्रसिंह और उनके साथी उसे दोस्त समझने लगे, और उससे खुलकर बातें करने लगे। उस समय उन्हें क्या पता था कि वह खुफिया (सी. आई. डी.) का आदमी है।

एक दिन उसी ने बतलाया कि 12 तारीख को पेशावर शहर में कांग्रेस की बहुत बड़ी सभा होगी। चन्द्रसिंह को कांग्रेस के नाम से बहुत प्रेम था। जब किसी के कोट के बटन में कांग्रेस के झंडे का निशान देखते, तो उसका बड़ा आदर करते। खुद भी खद्दर की बनियाइन और जाँघिया पहनते थे। यह वर्दी के नीचे होती थी, इसलिए किसी अफसर के देख लेने का डर नहीं था। अखबारों और लोगों के मुँह से कितनी ही तरह की बातें सुनने में आतीं। एक बार उन्होंने सुना कि हजारीबाग (बिहार) में गाँधीजी ने विदेशी कपड़े की होली जलवाई, जिसके लिए अदालत ने उनके ऊपर एक रुपये का जुर्माना किया। उन्होंने जुर्माना देने से इन्कार कर दिया। फिर अंग्रेजों के किसी पत्तल-चट ने जुर्माना दे दिया। इसी समय चन्द्रसिंह ने निश्चय किया कि अब मैं भी खरीदकर केवल खद्दर का ही कपड़ा पहनूँगा। उस समय शुद्ध खादी और नकली खादी क्या है, इसका भी उन्हें पता नहीं था।

कांग्रेस की बड़ी सभा की बात सुनकर चन्द्रसिंह भी उसे देखने के लिए उतावले हो उठे। अस्पताल से उन्हें तीन दिन की छुट्टी मिली थी। उस दिन अपने एक मित्र दौलतसिंह के साथ शहर की ओर चल पड़े,

और 4 बजे के करीब किस्साखाना नामक स्थान में पहुँच गये। देखा, एक तिरंग झंडा लिये दो सौ लाल कुरती–(सुर्खपोश) वाले पठान स्वयंसेवक बाजे के साथ पंडाल की ओर जा रहे हैं। चन्द्रसिंह और दौलतसिंह भी उनके साथ चल दिये। सभा की जगह पर एक हजार आदमी रहे होंगे। बड़ी भारी संख्या में पुलिस और खुफिया के आदमी भी थे। सभा के सभापति लाल वादशाह थे। उन्होंने पश्तों में भाषण शुरू किया, जिसका एक अक्षर भी चन्द्रसिंह नहीं समझ पाये। उनके पास में दो पुलिस के सिपाही थे। उनसे पूछा–"भाई साहब, यहाँ क्या हो रहा है ? लोग क्या बात कर रहे हैं ? हमें भी कुछ समझाइये।"

पुलिसवालों ने सभा की बातें समझाते हुए कहा–"यह लोग प्रतिज्ञा करते हैं कि हम विदेशी कपड़ा नहीं पहनेंगे, विदेशी चीजों का इस्तेमाल नहीं करेंगे, शराब और दूसरी नशीली चीजों को हाथ नहीं लगायेंगे। विदेशी माल और शराब बेचनेवालों को यह सूचित कर रहे हैं कि अगर वे 22 अप्रैल तक विदेशी माल बेचना बन्द नहीं करेंगे, तो कांग्रेस की ओर से उनकी दूकानों पर धरना दिया जायगा।"

अपनी कम्पनी में लौटकर चन्द्रसिंह ने जो कुछ वहाँ देखा-सुना था, उसका वर्णन अपने साथियों के सामने किया। वह यह भी जानते थे कि हमारी पलटन को जो हर वक्त शहर पर दौड़ चलने के लिए तैयार रहना पड़ता है, वह इन्हीं कांग्रेसवालों के डर के मारे।

गाँधीजी भी अंग्रेज सरकार को उस समय वरावर चेतावनी देते कह रहे थे, "यदि अंग्रेजों ने हमारी माँगें नहीं पूरी कीं, तो हम एक बहुत बड़ा संघर्ष छेड़ देंगे, और 12 अप्रैल को अपनी सीखी हुई सेना को लेकर साबरमती से चल देंगे।" चन्द्रसिंह और उनके साथी संघर्ष या लड़ाई का एक ही अर्थ समझते थे, जिसके लड़ने के वह आदी थे। सरकार को उस समय बड़ी बेचैनी थी। आन्दोलन दवाने के लिए वह तैयारियाँ कर रही थी। 12 तारीख को महात्माजी अपने 72 सत्याग्रहियों के साथ डाँडी की मशहूर यात्रा के लिए चल पड़े।

इस समय सूबेदार केदारसिंह महर ए. कम्पनी के एक प्लाटून के कमाण्डर थे। वह अब पेन्शन पर जानेवाले थे। उनकी विदाई के लिए 14 तारीख को पार्टी दी गई, मानपत्र पढ़ा गया। सूबेदार केदारसिंह ने कम्पनी को धन्यवाद देते हुए कहा था–"जवानो, आज मेरे पेन्शन जाने पर आप लोगों ने जो सम्मान प्रदर्शित किया है, मैं उसके लिए सदा कृतज्ञ रहूँगा। अपनी नौकरी के समय जो कुछ भी सख्ती या जुल्म मैंने किये हों, उन्हें क्षमा करना। हम दोनों गढ़वाली हैं, लेकिन निजी स्वार्थ के लिए आदमी क्या कुछ नहीं कर डालता। सभी जानते हैं कि हिन्दुस्तान गुलाम है। कुत्ता कुत्ते का गोश्त नहीं खाता, लेकिन सरकारी नौकरी में हम अपने भाइयों के साथ सब तरह का जुल्म करते हैं। यह हमारी बेबसी है। अन्त में एक बात के लिए मैं आपको सजग करना चाहता हूँ। इस कम्पनी में कुछ ऐसे सिपाही ओहदेदार हैं, जिनके कारण थोड़े ही दिनों में कम्पनी को बड़ी आफत में पड़ना होगा। आप लोग किसी के बहकावे में न आयें, नहीं तो बहुत तकलीफ उठानी पड़ेगी। सभी सावधानी से काम करें।" इसमें क्या शक है कि सूबेदार ने अपने जीवन-भर के तजर्बे को निचोड़कर इन वाक्यों में रख दिया था। लेकिन, जमाना बदलता है, आदमी बदलते हैं, हिन्दुस्तान भी बदला था। भला सिपाही और ओहदेदारों में क्यों न परिवर्तन आता ?

नमक-कानून तोड़ना

19 अप्रैल 1930 को गाँधीजी की आज्ञा से सारे भारत में नमक-कानून तोड़ा जा रहा था। पेशावर कांग्रेस कमेटी ने विदेशी माल बायकाट और नमक-कानून भंग करने के लिए शाहीवाग में सभा की। शायद उस दिन इतवार की छुट्टी थी। चन्द्रसिंह, नारायणसिंह जाकर अपने परिचित हलवाई की दूकान पर चाय पीने लगे। देखा 3 बजे के करीब सदर बाजार के लोग ताँगों, मोटरों, साइकिलों पर या पैदल शहर की ओर बड़ी जल्दी-जल्दी जा रहे हैं। चन्द्रसिंह ने युक्त प्रदेशवाले शंकरलाल हलवाई से पूछा–"भाई, यह लोग कहाँ जा रहे हैं ?" उसने बतलाया कि "शाहीबाग में कांग्रेस की सभा हो रही है, वहीं जा रहे हैं। आप भी जाना चाहें, तो ताँगा मँगवा दूँ।"

शंकरलाल ने ताँगा मँगवा दिया, और दोनों शाहीबाग जा पहुँचे। वहाँ कई हजार पठान जमा थे। भाषण-मंच

में खड़ा होकर एक पठान बोल रहा था। पास में कांग्रेस का तिरंगा झंडा फहरा रहा था। मंच की बगल में ही कड़ाही में नमक बनाने के लिए पानी खौलाया जा रहा था। पश्तो में बोलने के कारण चन्द्रसिंह और उनके साथी को वक्ता की कोई बात समझ में नहीं आ रही थी। लेकिन, वह देख रहे थे कि पठानों के चेहरे जोश से भरे हुए हैं। उनके पास एक पंजाबी बैठा था, जिसने कुछ बातें समझाईं। वक्ता कह रहा था—अंग्रेजों ने हमारे ऊपर नमक का टैक्स बैठा दिया है। हमारे देश में नमक के पहाड़ हैं, और नमक-भरे नमक के पानीवाले समुद्र हैं लेकिन हम अपने मन से नमक बनाकर इस्तेमाल नहीं कर सकते। अंग्रेजों का नमक विलायत से आकर यहाँ बिकता है, इसलिए भी वह हमें नमक बनाने की छूट नहीं देते। जिस समय इस तरह यह आदमी समझा रहा था, उसी समय एक और आदमी चन्द्रसिंह से बोल उठा—"जब ये लोग विदेशी माल बेचनेवाली दूकानों में धरना देंगे, तो आपकी पलटन उन पर गोली चलायेगी न ?"

जिस समय वह इस तरह बातचीत में लगे हुए थे, उसी समय उन्होंने देखा कि उनकी बटालियन का कर्नल घोड़े पर सवार होकर वहाँ पहुँच गया। वैसे वहाँ हजारों आदमियों की भीड़ थी, लेकिन चन्द्रसिंह और उनके साथी अपनी फौजी पोशाक में थे, इसलिए उन पर नजर आसानी से जा सकती थी। उनके शरीर पर सर्ज का काला कोट, ऊपर सफेद बटन, नीचे सफेद निकर और सिर पर काली टोपी थी। टोपी के ऊपर सफेद अलमूनियम का हवलदारी-निशान लगा हुआ था। चन्द्रसिंह समझ गये कि अब हम अपने को छिपा नहीं सकते। कर्नल जरूर पहचान लेगा। वह अपने साथी को वहाँ छोड़ उठकर सीधे कर्नल साहब के पास चले गये। वह भी एक किनारे घोड़े से उतरकर लेक्चर सुनने लगा था। जब चन्द्रसिंह ने उसे सलाम किया, तब उसने पहचाना। और फिर पूछा—"क्यों जवान, तुम यहाँ कैसे आये ?"

—"हुजूर, मैं रसद के गारद को देखने गया था, लौटते वक्त सोचा यहाँ अजायबघर में शेर और चिड़ियों को भी देखता चलूँ, पर यहाँ आने पर पठानों का मेला लगा हुआ मिला। मैं पश्तो नहीं जानता, मालूम नहीं यह लोग क्या बक रहे हैं ?"

कर्नल ने इस भोली-भाली बात को सुनकर उतावलेपन से कहा—"तुम यहाँ से जल्दी चले जाओ। ये सब बदमाश लोग हैं।"

"बहुत अच्छा," कहकर चन्द्रसिंह वहाँ से चल पड़े। कर्नल भी अपने बँगले की ओर गया। एक फर्लांग तक वह उसके पीछे-पीछे गये, फिर दोनों अलग और दूर हो गये। कुछ आगे जाकर चन्द्रसिंह सड़क के किनारे बैठकर साथियों के आने की प्रतीक्षा करते रहे। जब वह नहीं आये, तो वह फिर सभा की ओर चल पड़े। थोड़ी दूर में साथी आ मिले। उन्होंने पूछा—"क्या कर्नल ने तुम्हारी पेशी तो नहीं माँगी ?" नारायणसिंह ने मुस्कराते हुए कागज की एक पुड़िया देते हुए कहा—"जब मैं चलने लगा तो कांग्रेसियों ने रोककर यह नमक की पुड़िया दी है। यही है गाँधीजी का नमक।" वह नमक की पुड़िया गजब की पुड़िया थी। चन्द्रसिंह उसको पाकर फूले न समाये। उन्होंने उसमें से थोड़ा-सा निकालकर स्वयं खाया और बाकी को ले जाकर बाँट दिया।

इस समय उनकी बटालियन हरिसिंह नलवा लाइन में रहती थी। वह अपनी-अपनी कम्पनियों में चले गये। केदारसिंह डी. कम्पनी के गोदामी (स्टोर-कीपर) थे। वह चन्द्रसिंह के गाँव के रहनेवाले थे। चन्द्रसिंह जानते थे कि उनका पैर जिस तरफ बढ़ रहा है, उसके कारण न जाने कैसे दिन देखना पड़ें। केदारसिंह ने पूछा—"भाई जी, आप कहाँ से आ रहे हैं ?" चन्द्रसिंह ने सारी बातें बतलाकर कहा—"केदारसिंह, अगर मैं खुदा न खास्ता पकड़ा जाऊँ, तो तुम मेरे बाप को जाकर समझाना कि तुम्हारा लड़का किसी बुरे काम में जेल नहीं गया है।"

केदारसिंह ने डाँटते हुए कहा—"आप क्या कह रहे हैं, नशा तो नहीं खा ली ? कौन पकड़ने आ रहा है ? हम भी तो आपके साथ हैं।"

पहिले ही से ऊपरवालों के कान भरे जा रहे थे। 18 अप्रैल को अंग्रेजी अफसरों के मेस (भोजनशाला) में चन्द्रसिंह को सूबेदार जयसिंह बिष्ट के साथ बुलाया गया। उस दिन ए. कम्पनी का कमाण्डर जयसिंह बिष्ट ही था। कम्पनी की ऊपरी देखभाल मेजर ब्रास्किल करता था। ए. कम्पनी का कोई अंग्रेज अफसर नहीं था। ब्रास्किल ने पूछा—"चन्द्रसिंह, हमारे पास तुम्हारी बहुत-सी शिकायतें आई हैं। क्या तुम आर्यसमाज और कांग्रेस

में भाग लेते हो ? अगर यह बात सच है, तो तुम्हें बहुत सख्त सजा दी जायगी। मैं तुम्हारे ऊपर अविश्वास नहीं करता, क्योंकि बहुत्त समय से तुम मेरे साथ काम कर रहे हो। अभी इस बात को किसी से न कहना। अब सूबेदार जयसिंह की निगरानी में तुम्हें रहना होगा। जब तक दूसरा हुकुम न मिले, तब तक कम्पनी के किसी भी सेक्शन में न जाना, और न सिपाहियों के साथ जाकर बैठना। अपनी ड्यूटी पूरी करते रहना।" उसने सूबेदार जयसिंह से कहा, "तुम चन्द्रसिंह की निगरानी करते रहो।" चन्द्रसिंह 10/18 और 2/18 रा. ग. रा. की पलटनों में रहकर बहुत समय तक काम करते रहे। सभी अंग्रेज अफसर उनके काम से खुश रहा करते थे। इसीलिए, मेजर को यही खयाल आता कि वैयक्तिक दुश्मनी के कारण चन्द्रसिंह की शिकायत की गई है।

लौटकर चन्द्रसिंह ने केदारसिंह से कहा कि सभी कम्पनियों में जाकर अपनी पार्टी के आदमियों को यह साफ बतलाकर कह दो कि अब वह मेरे पास रात को अखबार पढ़ने न आयें, क्योंकि मेरी निगरानी हो रही है। उन्होंने गाँधीजी के नमक को भी देकर कहा कि इसे कम्पनी में बाँट देना। वह सारे दिन कम्पनी से गैरहाजिर रहे थे, डर हो रहा था कि आज ही उनको गिरफ्तार कर लिया जाय।

हवलदार-मेजर ने चंन्द्रसिंह और नारायणसिंह की गैरहाजिरी की रिपोर्ट सूबेदार जयसिंह से कर दी थी। सूबेदार ने दोनों को बुलाकर पूछा। नारायण ने कहा–"मैं तो आपसे छुट्टी माँगकर सदर बाजार गया था।" चन्द्रसिंह ने कहा–"मैं लकड़ी गोदाम गया, और वहाँ से अस्पताल जा रहा था, और रास्ते में शेर-चीते देखने के लिए शाहीबाग के चिड़ियाखाने में चला गया। अपनी ड्यूटी पर मैंने नायक भोलासिंह बटोला को रख दिया था। कम्पनी ने किसी के साथ बात करना मुझे मना किया है, तो क्या इधर-उधर भी न जाऊँ ?"

सूबेदार ने कहा–"आप कहीं भी जायँ, मुझसे पूछकर जायँ।"

"बहुत अच्छा," कहकर चन्द्रसिंह चले आये। जो साथी मिले, उन्हें नमक का प्रसाद बाँटते चेता दिया कि किसी का नाम न लें।

20 अप्रैल को बटालियन को हुकुम हुआ–"22 अप्रैल से ए. कम्पनी के कुल ओहदेदारों और सरदारों को मस्केटरी की शिक्षा दी जायगी। बटालियन के हरेक कम्पनी के दो-दो ओहदेदार भी उनके साथ सीखने के लिए जायेंगे।" एक अंग्रेज अफसर कप्तान मार्टिन ओहदेदारों की देखभाल के लिए गया था। मार्टिन चन्द्रसिंह की योग्यता को जानता था। उसने इस टोली की कमान चन्द्रसिंह को दे दी। पंचमढ़ी सैनिक स्कूल में वह शिक्षक रह चुके थे, इसलिए इस काम को वह अच्छी तरह करा सकते थे। 21 अप्रैल को इस अभ्यास के लिए सारी तैयारियाँ कर ली गईं। 22 अप्रैल के सबेरे ही से ओहदेदार मस्केटरी (राइफल) का अभ्यास करने लगे। सिपाहियों को वहीं ए. कम्पनी के सामनेवाले परेड-मैदान को तैयार करने में लगा दिया गया। इन कामों के साथ-साथ सारा सामान तैयार रक्खा जाता था, जिसमें हुकुम मिलते ही ए. कम्पनी मोटर पर बैठकर शहर के लिए रवाना हो सके।

उस दिन 7 बजे सबेरे कालेबोर्ड के सामने बैठकर चन्द्रसिंह निशाना लगाने, गोली दागने आदि बातों के बारे में लेक्चर दे रहे थे। इसी समय उनका इन्चार्ज अंग्रेज-अफसर आ गया। चन्द्रसिंह ने उसे परेड की हाजिरी की रिपोर्ट दी। अफसर सबको बैठ जाने का हुकुम देकर हँसते हुए बोला–"जवानो, मस्केटरी परेड के पहिले मैं तुम्हें एक बात बतलाना चाहता हूँ। क्या आप जानते हैं कि हमारी गढ़वाली पलटन को सरकार ने क्यों यहाँ पेशावर में भेजा है ?"

ओहदेदारों ने कहा–"नहीं।"

"सुनो, यहाँ के लोगों में 94 फीसदी मुसलमान हैं, सिर्फ 2 फीसदी हिन्दू हैं। मुसलमान सदा हिन्दुओं को सताया करते हैं। हिन्दू यहाँ के बहुत मालदार हैं, बड़ी-बड़ी कपड़े आदि की दूकानें इन्हीं की हैं। शराब का ठेका भी इन्हीं के पास है। मुसलमान बेचारे हिन्दुओं की दूकानों में आग लगा देते हैं, लूट लेते हैं, माल-असबाब ही नहीं, औरत-बच्चों को भी पकड़ ले जाते हैं। अंग्रेज सरकार उन्हें ऐसा करने की इजाजत नहीं दे सकती। लूटने का मौका न पाकर वह उनकी दूकानों के सामने धरना देते हैं, और कहते हैं कि तुम लोग दूकानदारी मत करो। बेचारे हिन्दुओं की दूकानों के सामने वह लेट जाते हैं, और तुम लोग जब उनके पास सौदा खरीदने

जाते हो, तो तुम्हारे सामने लेक्चर देते हैं कि उन लोगों की दूकानों का माल मत खरीदो। देखो, यहाँ के हिन्दुओं को कितनी मुसीबतों का सामना करना पड़ रहा है। दूसरी पलटन आती, तो वह हिन्दुओं का खयाल न करती, इसीलिए सरकार ने हमारी हिन्दुओं की पलटन को यहाँ भेजा है। शायद हिन्दुओं को बचाने के लिए हमें बाजार जाना पड़े, और इन बदमाशों के ऊपर गोली चलानी पड़े।"

इसी बीच किसी ने उठकर कह दिया—"हुजूर, यहाँ तो हम लोग पहचान नहीं पाते, कौन हिन्दू है कौन मुसलमान। सभी पश्तो बोलते हैं, एक-सी दाढ़ी और एक-सी पोशाक रखते हैं।"

अंग्रेज अफसर ने कहा—"तुम्हें सारी बातें बतला दी जायेंगी। उस दिन डिप्टी-कमिश्नर, पुलिस के अफसर और हम लोग भी तुम्हारे साथ रहेंगे। जैसा हुकुम दिया जाय, वैसा करना।"

किसी ने पूछा—"हुजूर, बाजार कब जाना होगा ?"

"जब हुकुम मिलेगा, तब।"

अंग्रेज अफसर के लेक्चर को सुनकर चन्द्रसिंह को पता लग गया कि दो घंटे के भीतर ही तैयार होकर कम्पनी को जाना पड़ेगा। शहर में कांग्रेस ने विदेशी माल की दूकानों पर धरना देने का निश्चय कर लिया था। अंग्रेज-अफसर ने बड़ी चालाकी से इन बातों को गढ़वालियों के सामने रक्खा था, जिसका असर उनके ऊपर हो सकता था। उसे हटाने के लिए चन्द्रसिंह ने साहब के वहाँ से हटते ही कहा—"भाइयो, देखा आपने ? साहब की बातें सुन लीं ? यदि आप अपने मन में रखना चाहें, तो मैं एक बात बताऊँ।"

सभी ने कहा—"बताइये, हम किसी से नहीं कहेंगे।"

चन्द्रसिंह ने कहा—"इसने जो बातें कही हैं, सब झूठी हैं। हिन्दू-मुसलमान के झगड़े की बात में रत्ती-भर भी सच्चाई नहीं है। न यह हिन्दुओं का झगड़ा है, न मुसलमानों का। झगड़ा है कांग्रेस और अंग्रेज का। कांग्रेसी अंग्रेजी माल बेचनेवाली दूकानों पर धरना देंगे। दूकानदार सिर्फ अंग्रेजों के एजेण्ट हैं। वह हिन्दुस्तान के पैसे को जमा कर अंग्रेजों के मुल्क में भेजते हैं, जिसके कारण हिन्दुस्तान इतना गरीब है। कांग्रेस ने गरीबी और गुलामी से मुक्त करने के लिए यह आन्दोलन उठाया है। जब कांग्रेसी भाई हमारे देश की आजादी के लिए अंग्रेजों से लड़ाई लड़ रहे हैं, क्या ऐसे समय हमें उनके ऊपर गोली चलानी चाहिए ? हमारे लिए गोली चलाने से अच्छा यही होगा कि अपने को गोली मार लें। देश के साथ गद्दारी करना अपने खानदान का सर्वनाश करना है।"

उस दिन की परेड में सिर्फ यही बातें होती रहीं। भीतर-ही-भीतर यह बात सिपाहियों में फैलने लगी। उसी समय (22 तारीख की शाम को) हुकुम मिला कि "जब कभी किसी कम्पनी, प्लाटून या सेक्शन को किसी बाहरी अफसर की ओर से पेशावर शहर के अन्दर विद्रोहियों पर गोली चलाने का हुकुम दिया जाय, तो हुकुम देनेवाले अफसर की दस्तखत एक फार्म पर करा लेनी चाहिए। यह फार्म बटालियन के आफिस में मिलेगा, जिसे लेकर हरेक ओहदेदार अपने पास रख ले।"

हुकुम के सुनने के बाद अब पूरा विश्वास हो गया कि गढ़वालियों को पेशावर शहर में गोली चलानी पड़ेगी।

शाम की गिनती हो जाने के बाद चन्द्रसिंह और उनके साथियों ने अपने खास-खास आदमियों की बैठक की। बैठक में प्रत्येक कम्पनी का एक-एक आदमी आया।

पाँचों कम्पनियों के निम्न पाँच आदमी थे—ठाकुर शेरसिंह बुटौला (नागपुर पट्टी), ठाकुर नारायणसिंह गोसाईं (घोड़दौड़स्यूँ), ठाकुर केदारसिंह चौथान, ठाकुर दौलतसिंह (चौबनकोट), ठाकुर रामकृष्णसिंह और छठे चन्द्रसिंह भण्डारी। चन्द्रसिंह की कोठरी के दरवाजे पर कम्बल लटका दिया गया, ताकि भीतर जलते चिराग की रोशनी बाहर न जाय। उन्हें इसी बात पर विचार करना था कि अगर हमारी पलटन की किसी कम्पनी को कांग्रेसियों के ऊपर गोली चलाने का हुकुम हो, तो हम लोगों को क्या करना चाहिए ? यह तो निश्चय ही था कि गढ़वाली पलटन को अवश्य पेशावर शहर ले जाया जायगा और गोली चलाने से इन्कार करने का मतलब बहुत संगीन जुर्म था, जिसका फल बहुत बुरा होता। सबने आपस में बातचीत करके यह निश्चित किया कि गढ़वाल के

ऊपर हम कलंक का टीका नहीं लगने देंगे। उसकी जगह गोली खाकर मर जाना अच्छा है। हम लोग कांग्रेसियों के ऊपर गोली चलाने से इन्कार कर देंगे। फिर इस पर विचार किया जाने लगा कि हमें किस तरह काम करना चाहिए, जिसमें कि ऐन-मौके पर काम बिगड़ने न पाये। यह तै हुआ कि हरेक प्लाटून में, और हो सके तो हरेक सेक्शन में एक आदमी को यह काम सौंपा जाय। जिस वक्त गोली चलाने का हुकुम मिले, उस वक्त वह अपने आदमियों को वैसा करने से रोके। शहर जाने से पहिले जो समय मिल रहा है, उसमें अपने हेल-मेल के सिपाहियों को सारी बातें समझा दी जायँ।

सभी ए. कम्पनी के चारों प्लाटूनों में चार आदमियों को हुकुम न तामील करने की जिम्मेवारी दी गई। वह थे—नम्बर 1 प्लाटून के हरकसिंह घपोला, नायक भोलासिंह बुटौला, नम्बर 2 प्लाटून के हवलदार शेरसिंह बुटौला, नम्बर 3 प्लाटून के लान्स-नायक उदयसिंह नेगी, नम्वर 4 प्लाटून के भीमसिंह महर और जीतसिंह रावत। इन जिम्मेवार आदमियों ने भी अपने नीचे दूसरे जिम्मेवार आदमी मुकर्रर किये।

इन्हीं सिपाहियों के बल पर अंग्रेजों ने अपना राज्य कायम किया था, और अब भी उन्हीं के ऊपर उन्हें बहुत कुछ निर्भर रहना पड़ता था। इसमें शक नहीं, अंग्रेजों ने सिपाहियों को अनपढ़, ग्रामीण उजड्ड समझ रक्खा था। मौके-बेमौके हर वक्त उनको राजभक्ति की घुट्टी पिलाई जाती थी, और उससे भी ज्यादा उनके दिल में यह खयाल बैठाया जाता था कि तुम्हारे अन्नदाता हम हैं, यदि हम न रहेंगे, तो तुम भूखे मर जाओगे। साथ ही यह भी दिखलाया जाता था कि तुम अगर असंतोष प्रकट करोगे, तो तुम्हारे सर्वनाश के लिए हमारे पास सारी शक्ति है।

बटालियन क्वार्टर-मास्टर को चकमा

23 अप्रैल 1930 के सबेरे 7 बजे ए. कम्पनी के ओहदेदारों और सिपाहियों को हुकुम हुआ—"पाँच मिनट के अन्दर फालिन हो जायँ।" राइफलें, दूसरे सामान और फौजी मोटरें सामने तैयार रक्खी गई थीं। रसोइयो को एक घंटे के अन्दर रोटी पका देने का हुकुम दिया गया था। 7 बजे से 8 बजे तक यह काम होते रहे। आठ का घंटा बजते ही जमादार देवीसिंह रावत ने ए. कम्पनी में आकर सीटी बजाई। कुछ ही मिनटों में कम्पनी सामान लेकर तैयार हो गई। चन्द्रसिंह ने कम्पनी को फालिन करा दिया। हवलदार-मेजर ने कम्पनी की हाजिरी ली। इसी समय कम्पनी का अंग्रेज-कमाण्डर कप्तान रिकेट आ पहुँचा। कम्पनी के सूबेदार, जमादार अपने-अपने प्लाटूनों के सामने तैयार खड़े थे। हवलदार-मेजर ने कम्पनी-कमाण्डर से चन्द्रसिंह की शिकायत की थी। कप्तान ने कम्पनी के 72 आदमियों को छाँटकर बाक़ी 36 आदमियों को लाइन में रहने का हुकुम दे दिया। इन्हीं 36 में चन्द्रसिंह भी थे। यह देखकर शहर जानेवाले 72 आदमी उदास होकर चन्द्रसिंह की तरफ देखने लगे। उन्हें अनिष्ट की आशंका साफ-साफ दिखाई देने लगी।

कम्पनी के जवान मोटर में बैठकर पेशावर शहर के लिए रवाना हुए। चन्द्रसिंह के दिमाग में तरह-तरह का खयाल पैदा होने लगा। कोठरी में जाकर सोचा : 'कम्पनी से जाकर मिलना जरूरी है, ताकि कोई गलती न हो जाय।' यह खयाल आते ही वह बटालियन क्वार्टर-मास्टर कप्तान बी. पावल के पास ऑफिस में पहुँचे। उससे कहा—"मैं आपके पास एक जरूरी काम के लिए आया हूँ।"

कप्तान ने ध्यान से कहा—"क्या बात है ?"

"हुजूर, मेरी कम्पनी शहर चली गई, मगर सिपाही अपने साथ पानी नहीं ले गये। गर्मी के दिनों में प्यास बहुत लगती है। एक टामलोट पानी तो एक घंटे में खर्च हो जायगा। शहर के कुँओं में पठानों ने कहीं जहर डाल दिया, तो हमारे भाइयों को बेमौत मरना पड़ेगा। आप आज्ञा दें, तो मैं खच्चरों पर पानी भर एक गारद के साथ उनके पास जाऊँ ?"

यह बात बिलकुल मामूली थी। कप्तान बोला—"क्या वे लोग अपने साथ पानी की पखाल नहीं ले गये ?"

"जी नहीं।"

"अच्छा, तुम अपनी कम्पनी के रसोइयों को भोजन बनाने के लिए राशन दे जाओ, फिर चार खच्चरों

पर आठ पखाल पानी भरकर छह आदमियों की गारद ले जल्दी से ए. कम्पनी के पास पहुँच जाओ।"

चन्द्रसिंह ने सोचा, काम बन गया। उन्होंने तुरन्त खच्चर-लाइन से चार खच्चर मँगवाये, पखालें भरवाकर उनके ऊपर लादीं। फिर छह सिपाहियों के गारद के साथ पेशावर शहर के लिए रवाना हो गये, वहाँ पहुँचने में एक घंटा लगा।

14
पेशावर-काण्ड (1930 ई.)

खच्चरों पर पानी लिये चन्द्रसिंह काबुली दरवाजे के सामने ताँगों के अड्डे पर पहुँचे। उस समय ए. कम्पनी के 72 जवान वहाँ खड़े थे। उनके पास पुलिस सिपाही भी मौजूद थे। चन्द्रसिंह ने कम्पनी-कमाण्डर को रिपोर्ट दी—"पानी के खच्चर कम्पनी के पीछे खड़े हैं। जब जरूरत हो पानी मँगवा लें।"

यह कहकर वह कम्पनी के हेड-क्वार्टर में साहब के साथ जा बैठे। काबुली दरवाजे पर पठानों की भीड़ लगी थी। सिपाहियों ने चन्द्रसिंह से बतलाया कि अभी वहाँ एक मोटर साइकिलवाला गोरा जलकर मर गया। वह शहर में गश्त लगाने गया था, किसी नौजवान ने मकान की छत से दरी में पेट्रोल छिड़ककर आग लगा के उसके ऊपर गिरा दिया। जिस वक्त गोरा जल रहा था, उस वक्त कप्तान रिकेट ने सिपाहियों को उसे बचाने के लिए कहा, लेकिन गोई गढ़वाली सिपाही आगे नहीं बढ़ा। जब गोरा जल गया तब रिकेट ने चार जवानों को धक्का मारकर कहा—"जाओ, उसे ले आओ।" तब सिपाही जाकर गोरे सार्जेन्ट को खींच लाये।

ए. कम्पनी में मिलने के लिए आध घण्टे बाद पूरी गढ़वाली बटालियन आ पहुँची, और फिर ब्रिगेड भी आ गया। एक को गवर्नर-हाउस और बड़े अस्पताल की हिफाजत के लिए, दूसरी बटालियन को किले पर गोला-बारूद और बेतार की रक्षा के लिए भेजा गया। गोरा बटालियन और चन्द्रसिंह की कम्पनी के नम्बर 4 प्लाटून—जिसकी हवलदारी की कमान नारायणसिंह के जिम्मे थी—को नौशेरा दरवाजे और हरिसिंह-स्मारक के पास इम्पीरियल बैंक की हिफाजत के लिए भेजा गया। चौथी (चन्द्रसिंह की अपनी) प्लाटून को काबुली दरवाजे—जिसे किस्साखाना भी कहते हैं—पर तैनात कर दिया गया। बाकी सारे रिसालों के ट्रूप स्क्वाड्रन आर्मर-कार—हथियारबन्द गाड़ी—सैफर-माइनर, आदि पेशावर शहर पर लगा दिये गये। रिसाले और मलीशिया ने शहर को चारों ओर से घेर लिया। ऊपर आसमान में जंगी विमान मँडराने लगे। तोपों ने भी अपनी नलियाँ शहर की ओर घुमा दीं। इधर अंग्रेज यह सब कर रहे थे, उधर बहादुर पठान हजारों की संख्या में किस्साखानी बाजार में पुलिस चौकी के सामने खड़े थे। आकाश में कांग्रेस का तिरंगा झण्डा फहरा रहा था। काबुली लोग भी—जो पेशावर व्यापार के लिए आया करते हैं—हजारों की संख्या में खड़े होकर इस दृश्य को देख रहे थे। वह उत्सुकतापूर्वक जानना चाहते थे कि यह सब क्या हो रहा है। आसपास के लोग गलियों में लुक-छिपकर देखना चाहते थे। मकानों के कोठों, दोमंजिला-तिमंजिला इमारतों की छतों पर स्त्री-बच्चे इधर ही टकटकी लगाये थे। सबके हृदय में आशंका और उत्सुकता थी, समझ नहीं रहे थे कि क्या होने जा रहा है।

"गढ़वाली बटालियन एडवा-ा-ा-न्स (गढ़वाली पलटन आगे बढ़ो)।" हुकुम मिलते ही कप्तान रिकेट ने भी ए. कम्पनी को एडवान्स का हुकुम दिया। सबसे आगे नम्बर 1 प्लाटून था, जिसकी कमान हवलदार गौरीसिंह कर रहा था। उसके बाद जमादार नन्दसिंह की कमान में नम्बर 2 प्लाटून था, उसके पीछे सूबेदार लुथीसिंह रावत की कमान में नम्बर 3 प्लाटून था। उसके पीछे 2/18 रा. ग. रा. पलटन की दूसरी कम्पनियाँ थीं। कम्पनी के हेड-कवार्टर में कम्पनी-कमाण्डर के. रिकेट, कम्पनी हवलदार-मेजर जाथलीसिंह, कम्पनी-कमाण्डर चार अर्दली, चार सिगनेलर और कम्पनी क्वार्टर-मास्टर हवलदार चन्द्रसिंह मौजूद थे। यह हेड-क्वार्टर नम्बर 1, नम्बर 2 प्लटूनों के पीछे और नम्बर 3 प्लाटून के आगे था। हेड-क्वार्टर का मतलब यह नहीं कि वहाँ उसका कोई

मकान या ऑफिस कुर्सी-मेज के साथ मौजूद था। कम्पनी के संचालक अफसर जहाँ इकट्ठे थे, उसी को हेड-क्वार्टर कहते थे। कम्पनी का हेड-क्वार्टर सड़क के बीचो-बीच चल रहा था। नम्बर 3 प्लाटून तथा उसके पीछे सारी पलटन भी सड़क के ऊपर मार्च कर रही थी। नम्बर 1 और नम्बर 2 प्लाटून बाजाखाली गली की सड़क के दोनों किनारों से एकहरी फाइल में दो कदम का फासला रखते कांग्रेस के जुलूस के सामने पहुँचे। प्लाटून ने जुलूस को घेर लिया। कम्पनी हेड-क्वार्टर और उसके पीछे आता नम्बर 3 प्लाटून जुलूस के आमने-सामने खड़ा हो गया। हुकुम हुआ–"ए. कम्पनी, हाल्ट (ए. कम्पनी, ठहरो)।" कम्पनी खड़ी हो गई। फिर हुकुम हुआ–"नम्बर 1, नम्बर 2 प्लाटून इन्वर्डटर्न–(भीतर की ओर मुड़ो)।" अब सिपाहियों का मुँह जुलूस की ओर था। हरेक सिपाही की राइफल में 5 कारतूस भरे थे, राइफलों पर संगीनें चढ़ी हुई थीं। फिर हुकुम हुआ–"स्टैण्ड गार्ड (खड़े सँभलो)।" संगीनों की तीखी नोकें अब कांग्रेस के झण्डों और पठानों की छातियों की ओर झुकी चमक रही थीं।

गोली चलाने से इन्कार

राष्ट्रीय झण्डे के चारों ओर वीर पठान खड़े थे। मंच पर खड़े होकर एक सिक्ख नेता ने कभी पश्तो में और कभी उर्दू में जोशीला व्याख्यान देना शुरू किया। लोगों में से आवाज आती–'नारा-ए-तकबीर', और हजारों गलों से आवाज उठती, 'अल्ला हो अकबर', 'महात्मा गाँधी की जय'। नारों से आकाश गूँज रहा था। गढ़वाली सैनिक जुलूस के बिलकुल पास खड़े थे। स्वयंसेवक उन्हें अलग-अलग समझा रहे थे। कप्तान रिकेट को डर लगा। उसने चिल्लाकर कहा–"हटाओ इन लोगों को यहाँ से।" लम्बी-लम्बी सीटी बजाकर वह चेतावनी देने लगा–"भाग जाओ, भाग लाओ, गोली चलेगी।" लेकिन, कोई उसकी चिल्लाहट की पर्वाह नहीं कर रहा था। पेशावर जिले के बड़े-बड़े अफसर काबुली दरवाजे के ऊपर बैठे यह सब देख रहे थे। एक गोरे अर्दली ने एक चिट्ठी लाकर कप्तान रिकेट के हाथ में दी। उस चिट्ठी के साथ वह फार्म भी था, जो ऊपर फायर करानेवाले अफसरों के दस्तखत के लिए था। कप्तान रिकेट ने चिट्ठी पढ़ चिल्लाकर कहा–"तुम लोग भाग जाओ, नहीं तो गोली से मारे जाओगे।" पठान जनता टस से मस न हुई। गोली से खेलना वह भूली नहीं थी। अब कप्तान रिकेट ने हुकुम दिया–"गढ़वाली, तीन राउंड फायर (तीन बार गोली चलाओ)!" चन्द्रसिंह कप्तान रिकेट के बायें खड़े थे। उसी वक्त उन्होंने पूर्व-निर्णय के अनुसार जोर से कहा–"गढ़वाली, सीज़ फायर (गोली न चलाओ)।" 22 अप्रैल के निर्णय का उन्होंने बड़े साहस के साथ पालन किया। चन्द्रसिंह के बाद ही दूसरे प्लाटूनों और सेक्शनों में जिनको काम की जिम्मेवारी दी गई थी, उन्होंने भी एकदम चिल्लाकर रिकेट के हुकुम के खिलाफ आवाज दी–"गढ़वाली, सीज़ फायर।" हुकुम को सुनते ही गढ़वालियों ने अपनी-अपनी राइफलें जमीन पर खड़ी कर दीं। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि गढ़वालियों ने बड़ी निर्भीकता से देश के साथ अपनी वफादारी दिखला दी। एक गढ़वाली सैनिक उदेसिंह ने अपनी बन्दूक को एक पठान के हाथ में देकर कहा–"लो, भाई, अब आप लोग हमको गोली मार दें।"

जिस वक्त नम्बर 1, नम्बर 2 प्लाटून के सभी सिपाहियों ने अपनी-अपनी राइफलें जमीन पर रख दीं, उसी समय नम्बर 3 प्लाटून के कमाण्डर लूथीसिंह रावत को यह सब देखा नहीं गया। उसने आगे बढ़कर फायर करने का हुक्म दिया। यही नहीं, सूबेदार लूथीसिंह ने पिस्तौल निकालकर तीन बार गोली चलाई। उसके रसोइये और एक सेक्शन-कमाण्डर ने भी उसके हुकुम पर तीन फायर किये। लेकिन, नम्बर 3 प्लाटून के बाकी लोग अपनी जगह से टस से मस नहीं हुए। कप्तान रिकेट ने लाल-लाल आँखें करके चन्द्रसिंह की ओर देखकर कहा–"क्यों, यह क्या बात ?" चन्द्रसिंह को अब भय और संकोच की क्या जरूरत थी। उन्होंने सीधे तौर से कहा–"ये सारे लोग निहत्थे हैं। निहत्थों पर हम गोली कैसे चलायें ?"

रिकेट ने एक चिट लिखकर अपने अर्दली के हाथ में बड़े अफसरों के पास भेज दिया; जोकि उस समय काबुली दरवाजे के ऊपर खड़े थे। अब मालूम हो गया कि गढ़वाली पलटन देशभाइयों के खून से अपना हाथ रँगने के लिए तैयार नहीं हैं, और इसके लिए सब कुछ भुगतने को तैयार हैं। गाँधीजी की लड़ाई शान्ति की लड़ाई थी। उन्होंने देशवासियों को हथियार उठाने के लिए प्रेरित नहीं किया; इसलिए गढ़वालियों के हाथ की

राइफलें उस लड़ाई में किसी काम की नहीं थीं। यदि वैसा समय होता, तो कौन कह सकता है कि इसका अन्त कहाँ होता ?

चिट मिलने के बाद अफसरों ने 30 गोरों की प्लाटून को दस मिनट के भीतर ही वहाँ भेज दिया, उन्होंने गोली चलानी शुरू कर दी। इसी समय दो मशीनगनों से सजी हुई एक ट्रेंच मोर्टर अन्धाधुन्ध फायर करती कांग्रेसी जुलूस के ऊपर से गुजरने लगी। चन्द्रसिंह ने अपनी आँखों से छह आदमियों को उसके नीचे दबकर मरते देखा। मोटर फायर करती हुई धीरे-धीरे चल रही थी। कहा जाता है, इसे देखकर एक पठान से नहीं रहा गया। उसने मोटर की बगल में रक्खे पैट्रोल के कुप्पों को खोलकर उस पर उड़ेल दिया और दियासलाई लगाकर आग लगा दी। उसके भीतर बैठे चारों गोरे जलकर भस्म हो गये।

भीड़ तितर-बितर हो गई। लोग पहिले दाएँ-बाएँ की छोटी-छोटी गलियों में घुसे। गोलीकाण्ड के स्थान पर मरी या तड़फड़ाती लाशें पड़ी हुई थीं। कुछ देर बाद कुछ साधारण जनता के आदमी और कुछ हत्यारी सरकार के सिपाही मुर्दों और जख्मियों को उठाने के लिए आये। मुर्दों की संख्या ठीक से मालूम न हो सकी। अंग्रेजों ने कितनी ही लाशों को मोटर लारियों में भरकर काबुल नदी में फेंक दिया। जनता अपने मुर्दों को उठाये सिपाहियों के सामने घुमाती कह रही थी—"भाइयो, यह आप ही की कृपा है। हमारे भाई होकर तुमने यह जुल्म किया। मारो, हम लोगों को भी मार दो। हम तुम्हारे ही हाथों मरना चाहते हैं।"

बड़ी बाजार में जहाँ कुछ ही समय हजारों की भीड़ थी, अब शहीदों के खून से रँगी जमीन पर सैनिक सिपाही और सवार पुलिस के सिवा और कोई नहीं रह गया था। पीछे जेल में चन्द्रसिंह ने सुना कि उस दिन तीन सौ आदमी मारे गये थे।

इसके बाद लोग अपने मकानों की छतों पर चढ़ करके दोनों ओर से पत्थर, टूटे लकड़ी के बक्स, बोतल, कुल्हाड़ी जो कुछ हाथ में आया, उसी को सिपाहियों पर फेंकने लगे। कई फौजी सिपाही और पुलिस कान्स्टेबल जख्मी हुए। कप्तान रिकेट के गाल पर एक कुल्हाड़ी इतनी जोर की लगी कि वह वहीं जमीन पर ढेर हो गया। अस्पताल के आदमियों ने उसे उठाकर लारी में डाल दिया। घाव गहरा था, लेकिन वह बच गया। उस दिन चन्द्रसिंह की कम्पनी के 16 सिपाही ईंट-पत्थरों से जख्मी हुए थे। हवलदार शेरसिंह बुटौला चन्द्रसिंह की पार्टी के एक जबर्दस्त कार्यकर्ता थे। उसे बहुत बुरी तरह से घायल होकर अस्पताल जाना पड़ा। चन्द्रसिंह उस समय काबुली दरवाजे के सामने पुलिस चौकी के सामनेवाले नल के पीछे रहकर अपने को बचा सके। लोगों को क्या मालूम था कि कौन उनका दोस्त है और कौन दुश्मन। पलटन का शायद ही कोई जवान हो, जिसको उस दिन चोट न लगी हो। लोगों ने तार काट दिये, लकड़ी के बक्सों और बैलगाड़ियों को सड़कों में खड़ी करके बाढ़ लगा दी, जिसमें कि फौजी मोटरें, सवार या पुलिस उधर से न निकल सकें।

सारे शहर में मार्शल-लॉ (फौजी कानून) घोषित हो गया था। पैदल-पुलिस, सवार-पुलिस, फौजी-पुलिस सड़कों और गलियों में चक्कर लगाने लगी। कर्फ्यू-ऑर्डर था। कोई अपने घर से बाहर नहीं निकल सकता था। पुलिस लोगों को पकड़-पकड़कर जेल में ठूँस रही थी। सभी मकानों के दरवाजे और दूकानें बन्द थीं। जो लोग मकानों के अन्दर बन्द थे, वह बाहर नहीं आ सकते थे; जो सँकरी गलियों में घुटनों तक कीचड़ में खड़े थे, उन्हें जाने के लिए कोई रास्ता नहीं था।

इसके बाद चन्द्रसिंह की कम्पनी के हेड-क्वार्टर और नम्बर 3 प्लाटून को पुलिस थाने के अन्दर ले जाकर बैठा दिया गया। अब बटालियन क्वार्टर-मास्टर लेफ्टनेंट बी. पाल को ए. कम्पनी का कमाण्डर बना दिया गया। वह भी वहीं पुलिस थाने में बैठा था। नम्बर 1 और नम्बर 2 प्लाटून चौक बाजार में भेज दिये गये। डी. कम्पनी सूबेदार त्रिलोकसिंह रावत के साथ एक दूसरी गली में भेज दी गई। चन्द्रसिंह पुलिस चौकी में बैठे यह नहीं जान सके कि और कम्पनियाँ कहाँ गईं। उस समय बटालियन की एक कम्पनी का दूसरी कम्पनी में विश्वास नहीं था। वहाँ बैठे लोग गाली दे रहे थे कि कहीं दूसरों ने कांग्रेस के ऊपर गोली न चलाई हो।

कुछ देर बाद चन्द्रसिंह ने लेफ्टिनेंट पाल से कहा—"जनाब, हमारे 1, 2, 4 नम्बर के तीनों प्लाटून शहर में हैं। कहाँ हैं, इसका पता नहीं है। उनके पास पानी अब नहीं होगा, क्योंकि पानी की पखाल और रोटियाँ

सब यहीं हमारे पास हैं।"

पाल ने कहा—"हाँ, मेरे पास मेजर ब्रोन्सकिल और कप्तान टक्कर साहब की टोली की भी रोटियाँ और पानी हैं। वे लोग इम्पीरियल बैंक में हरिसिंह-मेमोरियल के पास तैनात हैं। वहीं नम्बर 4 प्लाटून भी होगा। मेजर ब्रोन्सकिल के साथ डी. कम्पनी भी वहीं होगी। उनके भी रोटी-पानी को साथ लेते जाओ।" चन्द्रसिंह 6 आदमियों के गारद के साथ पानी-रोटीवाले खच्चरों को लिये हरिसिंह मेमोरियल में गये। मेजर ब्रोन्सकिल और कप्तान टक्कर नम्बर 4 कम्पनी के साथ वहाँ मौजूद थे। चन्द्रसिंह ने उन्हें पानी-रोटी देते कहा—"इन्हें प्लाटूनों में बाँट दें।"

नम्बर 4 प्लाटून राइफल और दूसरा सामान खोलकर वहाँ चबूतरे पर बैठा हुआ था। सूबेदार जयसिंह बिष्ट और नारायणसिंह को बहुत उदास देखकर चन्द्रसिंह ने पूछा—"भाई जी, क्यों उदास हैं ?"

नारायणसिंह ने कहा—"हमारे प्लाटून को कैद कर लिया गया है, क्योंकि उसे सामने के मकान को तोड़कर उसकी छत पर से पिकेटिंग (पहरा) करने का हुकुम हुआ था। हम लोगों ने हुकुम मानने से इन्कार कर दिया। इसलिए मेजर ब्रोन्सकिल ने राइफल खोलकर हमारे प्लाटून को यहाँ बैठने का हुकुम दिया, और कह दिया है, 'अब तुम लोग कैदी बना लिये गये हो।'

चन्द्रसिंह ने पूछा—"क्या सूबेदार जयसिंह ने भी हुकुम मानने से इन्कार किया था ?"

नारायणसिंह ने कहा—"जब सिपाहियों ने हुकुम मानने से इन्कार कर दिया, तो सूबेदार क्या कर सकते थे ?"

चन्द्रसिंह ने और भी बातें जानने के लिए पूछा—"यहाँ किसी ने गोली तो नहीं चलाई ?"

नारायणसिंह ने कहा, "नहीं। और उधर क्या हुआ ? तुम्हें तो बहुत शर्म आती होगी, क्योंकि तुम्हारे यहाँ के घायलों को यहाँ हम लोगों के सामने घुमा-घुमाकर दिखलाया गया।"

नारायणसिंह को सन्देह था कि शायद वहाँ जुलूस पर गढ़वालियों ने गोली चलाई होगी। जब चन्द्रसिंह ने सारी बातें बतला दीं, तो वह बहुत खुश हुए।

चन्द्रसिंह ने कम्पनी में रोटी-पानी बाँट दिया। सूबेदार त्रिलोकसिंह रावत शहर की हालत देखकर बहुत दुःखी थे। डी. कम्पनी के रोटी-पानी के खच्चरों को सूबेदार त्रिलोकसिंह के हाथ में देकर चन्द्रसिंह नम्बर 4 प्लाटून में चले गये। हरिसिंह मेमोरियल के पास की गलियों में पठान जनता की भारी भीड़ थी। चुन-चुनकर पुलिस आदमियों को फौजी गोरों और पंजाबी सिपाहियों के पास ला रही थी, जो उन्हें गिरफ्तार कर जेल भेज रहे थे।

सारा दिन बीत जाने पर 7 बजे शाम को बटालियन को क्लोज़ का बिगुल बजा। बिगुल बजते ही मेजर ब्रोन्सकिल ने नम्बर 4 प्लाटून को राइफल पेटी पहनकर फालिन होने का हुकुम दिया। सूबेदार जयसिंह बिष्ट ने प्लाटून को लाइन मार्च करने के लिए तैयार करके साहब को रिपोर्ट दी। मेजर ने प्लाटून को 'फार्म फोर्ज़, फार्म स्टडी' का हुकुम दिया। प्लाटून के सारे सिपाही हुकुम मानने में सुस्ती करने लगे। मेजर गुस्सा होकर बोल उठा—"तुम लोग बिलकुल कुली हो। हाँ, हम हिन्दुस्तान से चले जायेंगे, लेकिन तुम लोगों को भी जलाकर कोयला बनाकर छोड़ेंगे। सूबेदार जयसिंह, तुम प्लाटून को लाइन मार्च कराओ।"

सूबेदार जयसिंह ने 'फार्म फोर्ज़, राइट' कहकर लाइन के लिए मार्च कराया। 8 बजे शाम को बटालियन अपनी बैरकों में पहुँची। जैसे ही बटालियन को डिसमिस किया गया, वैसे ही लोग दौड़-दौड़कर चन्द्रसिंह के पास पहुँचे। कोई उन्हें शाबाश कहता, कोई उन्हें छाती से लगाता। अपनी पार्टी के लोग तो खास तौर से अपने नेता को बधाई दे रहे थे। दफ्तर के बाबू लोग और लाइन में रह गये दूसरे आदमियों ने चन्द्रसिंह के प्रति बहुत सम्मान प्रदर्शित किया। सबके भीतर छिपी हुई भावना इस वक्त चन्द्रसिंह के मुँह से पहिले-पहिल बोली थी, और उसका बिजली की तरह असर हुआ था। इसके लिए सभी भारतीय एक प्रकार के गर्व का अनुभव करते थे। यह सब देखकर चन्द्रसिंह का उत्साह और आनन्द बढ़ गया।

बटालियन जिस वक्त बैरकों में गई, उसी वक्त हुकुम हुआ—"सभी अपनी वर्दी और सामान लेकर तैयार

रहें, बिना प्लाटून-कमाण्डर की आज्ञा के कोई पेशाब करने भी न जाय। दो-दो घंटे बाद प्लाटून के सिपाहियों की गिनती की जायगी। प्लाटून-कमाण्डर भी प्लाटून के साथ रहेंगे।" उस दिन रात को सिपाहियों को एक-एक ड्रम की शराब पिलाई गई। असाधारण स्थिति का इसी से पता लगता था कि अंग्रेज अफसर दफ्तर में ही रात को भी रहे, बारी-बारी से कम्पनियों के भीतर घुसकर सिपाहियों की बातचीत सुनने की कोशिश करते थे। वह यह जानने की फिकर में थे कि सिपाहियों को बरगलानेवाले कौन-कौन से आदमी हैं। शायद शराब भी इसीलिए पिलाई गई थी कि नशे में वह कुछ बक दें। चन्द्रसिंह के घुटने में चोट लगी थी, उन्हें चलने-फिरने में कठिनाई हो रही थी। वह अपनी ड्यूटी नायक भोलासिंह बुटौला को सौंपकर अपनी कोठरी में पड़ रहे।

24 अप्रैल का विद्रोह

24 अप्रैल की सुबह आई। सभी गढ़वाली सूबेदारों, जमादारों, सरदारों को क्लब में बुलाया गया, जहाँ पहिले ही से अंग्रेज-अफसर मौजूद थे। मेजर ब्रोन्सकिल ने गढ़वाली सरदारों को खूब फटकारते हुए कहा—"देखो, कल शहर में तुम्हारे सिपाहियों ने बड़ा बुरा काम किया, कुछ ओहदेदारों ने 'फायर (दागो)' कहने पर 'सीज़ फायर (मत दागो)' का हुकुम दिया। क्या सरकार के नमक खाने का यही बदला है ? अगर फिर ऐसी बात हुई, तो जेनरल साहब कहते हैं,—'जिस कम्पनी में हुकुम मानने से इन्कार किया जायगा, उसके सरदारों को कड़ी सजा दी जायगी।' आज फिर शहर जाना है। आज वहाँ जरूर गोली चलानी पड़ेगी। अपने प्लाटूनों में जाकर ठीक से सिखलाओ। अगर कोई भी ओहदेदार या सिपाही कांग्रेसियों के ऊपर गोली चलाने से जरा भी इन्कार करेगा, तो उसको वहीं गोली मार दी जायेगी। जाओ, यह सब बातें अपने प्लाटूनों में सबको बतला दो। ठीक दस बजे शहर जाने के लिए तैयार रहो।"*

---

* 24 अप्रैल, 1930 को गढ़वाली बटालियन को छावनी से पेशावर शहर में जाने के लिए निम्नलिखित हुकुम मिला था—

1. 16 बजे कप्तान चेपल की अधीनता में बटालियन को 17 लारियों में एन. सी. रोड पर चढ़कर कचहरी दरवाजे जाना होगा। 24 घंटे की ड्यूटी है।

ए. कम्पनी	मेजर ब्रोन्सकिल	संख्या 119	6 लारियाँ
बी. कम्पनी	कप्तान चेपल	संख्या 103	5 लारियाँ
डी. एम.जी. कम्पनी	जमा. अवतारसिंह रंगोला	संख्या 59	3 लारियाँ
एच. क्यू. विंग	जमा. देवसिंह रावत	संख्या 50	2 लारियाँ
		331	
अग्रिम पार्टी		संख्या 13	1 लारी

2. क्वार्टर-मास्टर के मार्च करने की आज्ञा के लिए लारियाँ रहेंगी—
   एच. क्यू. विंग
   ए. कम्पनी
   बी. कम्पनी
   डी. एम. जी. कम्पनी
3. ओवरकोट को बाँधकर लारी पर ले जाना होगा। जर्सी या पीठ का थैला नहीं ले जाना होगा, लेकिन 24 घंटे के लिए तीन बार का पका भोजन साथ ले जाना होगा। हरेक कम्पनी के लिए पानी से भरी दो पखालें और टामलोट रहेंगे। राशन का टिन नहीं ले जाना होगा।
4. गोला-बारूद; सौ कारतूस प्रति राइफल, प्रति लुईस गन 18 माला, प्रति पिस्तौल 18 कारतूस। डी. एम. जी. राइफलवाली कम्पनी की तरह जायगी। 1 और 2 नम्बर और निशान लेनेवाले राइफल से हथियारबन्द होंगे।
   - वेरी पिस्तौल : प्रति प्लाटून 1 डी. एम. जी. सिर्फ 3 एक कम्पनी में
     बी. एन. एच. क्यू. 1
     तीन लाल, तीन हरी और 6 सफेद कारतूस प्रति पिस्तौल, प्रति कम्पनी 1 बक्स हथबम।
5. प्रत्येक राइफल को पेटी के साथ बँधा और सभी पिस्तौलों में लेनियड लगा रखना होगा।
6. लेफ्टिनेंट पावल को ऑफिस में रहना होगा
7. कम्पनी एच. एम. एस. को चाहिये कि 14-30 बजे अड्जुटेंट को अपनी संख्या की रिपोर्ट दे।

अंग्रेज अफसरों की फटकार से गढ़वाली सरदारों का होश उड़ गया था। वह गुस्से से भरे हुए अपने-अपने प्लाटूनों में गये। प्लाटून को फालिन कराकर परेड शुरू की। उनसे कहा गया कि सेक्शन-कमाण्डर गोली चलाने का हुकुम दे, और सिपाही उसे मानने से इन्कार करें, तो सेक्शन-कमाण्डर तुरन्त उस सिपाही को गोली मार दे। इसी तरह यदि कोई प्लाटून-कमाण्डर अपने ओहदेदार या उसके सेक्शन को गोली चलाने से इन्कार करते देखे, तो प्लाटून-कमाण्डर उसी वक्त पिस्तौल से सेक्शन-कमाण्डर को गोली मार दे। एक घंटे तक यही बातें लोगों को घोलकर पिलाई गईं। फिर परेड से सिपाहियों को डिसमिस कर दिया गया।

मोटरें पहिले ही पहुँच चुकी थीं। ठीक दस बजे ए. कम्पनी को शहर में जाने के लिए मोटरों में बैठाया गया। मोटरें वहीं खड़ी रहीं। दस मिनट बाद हुकुम दिया गया–"मोटर से उतर जाओ, ग्यारह बजे यहाँ से जाना होगा। इस एक घंटे में शाम के लिए रोटियाँ तैयार कराके अपने-अपने झोलों में भर लो।" रोटी तैयार हुईं। ग्यारह बजे फिर मोटरों में बैठाया गया। पन्द्रह मिनट बाद फिर हुकुम हुआ–"12 बजे जाना होगा, अभी मोटर से उतर जाओ।" दरअसल अंग्रेज अफसर कुछ निश्चय नहीं कर पा रहे थे। गढ़वाली सैनिकों पर विश्वास करें या न करें, इस दुविधा में पड़े थे। लैन्सनायक उमरावसिंह रावत के सेक्शन की मोटर में संयोग से रोटी का एक टुकड़ा गिर गया जिसे देखकर मेजर ब्रोन्सकिल ने कहा–"हिन्दुस्तानी लोग बहुत गन्दे बेवकूफ होते हैं।" इसी रोटी के टुकड़े के गिरने के लिए लैंसनायक उमरावसिंह रावत और सूबेदार जयसिंह बिष्ट को कमांडिंग-ऑफिसर के सामने पेश करके एक साल की दस रुपये की तरक्की काट दी गई। लैंसनायक को सख्त-सुस्त कहकर छोड़ दिया गया।

चन्द्रसिंह और उनके साथियों को मालूम हो गया था कि अंग्रेज इस बात का पता लगा रहे हैं कि किन-किन आदमियों ने कल शहर में गोली न दागने का हुकुम दिया था। गढ़वाली पलटन में इतना एका, और अपने किये काम के प्रति उत्साह था कि अंग्रेजों को पता लगाने में सफलता नहीं मिली।

हुकुम आया कि साढ़े 12 बजे सारी बटालियन (पलटन) को शहर जाने के लिए फालिन किया जाएगा। इसके बाद फिर हुकुम आया–"साढ़े 12 बजे सारी बटालियन ए. कम्पनी को नम्बर एक और नम्बर दो प्लाटूनों की बैरकों के सामने मशीनगन के साथ हथियारबन्द होकर फालिन होना होगा और सारे अंग्रेज अफसर, गढ़वाली अफसर, ओहदेदार गढ़वाली सरदारों की क्लब में व्याख्यान के लिए फालिन होंगे।" फालिन के बिगुल बजने पर सभी अफसर क्लब में चले गये। बटालियन के सिपाही ए. कम्पनी के पास जाकर फालिन हो गये। चन्द्रसिंह गढ़वाली क्लब के दरवाजे तक गये, जहाँ ओहदेदार होने के कारण उन्हें जाना चाहिए था। लेकिन, उनको इसी वक्त खयाल आया–'चन्द्रसिंह, अब तुम तो बचने के नहीं। सजा तो होगी ही फिर कुछ करके क्यों न मरो।'

चन्द्रसिंह लौटकर ए. कम्पनी में चले गये। वहाँ सारी बटालियन के सिपाही फालिन होकर खड़े थे। सबको पास बुलाकर उन्होंने कहना शुरू किया–"भाइयो, कल आप लोगों ने पेशावर में जो कुछ किया, बहुत अच्छा किया। हमने गढ़वाल की लाज रख ली लेकिन आज फिर आपको पेशावर शहर में ले जाया जा रहा है। सुनने में आ रहा है कि खान अब्दुल गफ्फार खाँ और अम्ब रियासत की ओर से शहर की मदद के लिए आदमी आ रहे हैं। आज शहर में उनके ऊपर गोली चलाने के लिए आप लोगों से कहा जायेगा। मुझे आशा है, गढ़वाल के माथे पर कलंक का टीका नहीं लगने देंगे। आप लोग जानते हैं कि ग्यारह साल पहिले जलियाँवाला बाग में नम्बर 6 गोरखा बटालियन ने निहत्थी जनता के ऊपर गोली चलाई थी। आज तक उसके नाम के खिलाफ काली झंडी दिखलाई जाती है। मलाबार में मोपलों के ऊपर 1-18 रॉयल गढ़वाली राइफल ने जुल्म किया था, आज भी पलटन के मोपला डाक्टर आपको बुरी नजर से देखते हैं। यह सब बात आपको मालूम है। कांग्रेसियों के ऊपर जुल्म करना अपने देश के साथ गद्दारी करना है। अगर आज हम आठ सौ गढ़वाली सिपाही यहाँ पेशावर में कांग्रेस के नाम पर अपनी जान दे दें, तो हम दुनिया में हमेशा जिन्दा रहेंगे, और हमारे गढ़वाल का मुँह सदा के लिए उज्ज्वल रहेगा, देश में हमारा गुण गाया जायगा। एक दिन तो मरना है ही, फिर क्यों न देश के लिए मरें··· "

अभी चन्द्रसिंह अपनी बात पूरी भी नहीं कर पाये थे, इसी समय हवलदार गोविन्दसिंह रावत–जो अस्पताल से सी. ए. टी. लाइन में पड़ा हुआ था–कहने लगा : "यार चन्द्रसिंह, तुम तो पूरे भाट हो, भाटों की तरह बक रहे हो। यह ठीक है, कल तुम्हारी कम्पनी ने अच्छा काम किया, लेकिन आज देखा, सुवह से ही कैसे सिखाया-पढ़ाया जा रहा है। आज किसी की हिम्मत नहीं होगी। भला कौन है, जो वहादुरी के नाम पर अपनी छाती में गोली खाने के लिए तैयार हो ?" यह बात सुनकर चन्द्रसिंह ने ए. कम्पनी के सिपाहियों से कहा–"ए. कम्पनी के जवानो, सुन रहे हो हवलदार गोविन्दसिंह की बात ? तुम क्या कहते हो ?"

सभी सिपाहियों ने एक स्वर से कहा–"अगर आप शहर नहीं जायेंगे, तो हम लोग भी नहीं जायेंगे।"

चन्द्रसिंह ने कहा–"मैं तो गायत्री मंत्र पढ़कर संकल्प करता हूँ, कि मैं वैरक से नहीं हटूँगा। जब तक मेरे शरीर में प्राण है, तब तक मैं अपने वचन पर दृढ़ रहूँगा।" यह कहकर टोपी उतार हाथ में चोटी पकड़कर चन्द्रसिंह ने "ओं भूर्भूवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्"–इस गायत्री मन्त्र को उच्चारण करते प्रतिज्ञा की। फिर उन्होंने जवानों से कहा–"यदि आप अपनी वात पर दृढ़ हैं और सच्चे मन से अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं, तो आप लोग भी मेरी तरह गायत्री मन्त्र के साथ संकल्प करें।" सभी जवानों ने अपनी चोटी पर हाथ लगाकर गायत्री मन्त्र पढ़ा। इसके वाद चन्द्रसिंह ने फिर कहा–"भाइयो, आप एक-एक प्लाटून की दस्तखत एक कागज में करवाकर अभी मेरे पास भेज दें। कागज पर यह लिखा रहे : 'ए. कम्पनी नं. ए. प्लाटून सरकार को नोटिस देती है, चौवीस घंटे के भीतर हमारा इस्तीफा मंजूर हो। इसी कागज पर एक-एक आदमी अपनी दस्तखत करे। यदि किसी भी आदमी से पूछा जाय, तो जवाव दे कि मैंने किया। कोई आदमी किसी दूसरे का नाम न बतलाये।"

अभी बात पूरी तौर से खतम नहीं हुई थी, इसी समय अफसर और ओहदेदार वहाँ पहुँचे। प्लाटून-कमाण्डर अपने-अपने प्लाटूनों को उसी वक्त बैरकों में ले गये। हुकुम दिया गया कि चार बजे शहर जाने के लिए बटालियन फालिन होगी। गोला-बारूद आदि के साथ एक वक्त की रोटी को भी अपने-अपने झोलों में भर लेना होगा। जिस समय यह हुकुम दिया गया, उस समय दिन के करीब दो बजे थे। दो घंटे के भीतर कम्पनी के लिए रोटी पकाना और कूच के लिए तैयारी करना मामूली काम था।

कई बार क्वार्टर-मास्टर हवलदारों को बुलाने के लिए बिगुल बजा, लेकिन चन्द्रसिंह वहाँ नहीं गये। बी. कम्पनी के क्वार्टर-मास्टर हवलदार कुन्दनसिंह असवाल ने कई बार चन्द्रसिंह के बदले ए. कम्पनी को हुकुम सुनाया। कम्पनी के राशन आदि बाँट देने के बाद चन्द्रसिंह सूबेदार जयसिंह विष्ट के बँगले पर गये। वही इनकी कम्पनी की कमाण्डरी कर रहे थे। आज ही सूबेदार के एक साल के लिए दस रुपये की तरक्की काट ली गई थी। सूबेदार उदास अपनी चारपाई पर पड़े थे। चन्द्रसिंह ने सलाम करके पूछा–"सूबेदार साहब, आपकी पेशी हुई थी, क्या हुकुम हुआ ?"

सूबेदार ने कहा–"भाई, क्या होना था। वेतनवृद्धि के दस रुपये मासिक जब्त कर लिये गये।"

"सूबेदार साहब, आप तो सरकार के बड़े खैरख्वाह हैं। देखा, एक मामूली कसूर पर साल के एक सौ बीस रुपये छीन लिये गये। और खैरखाही कीजिये, देखिये तो क्या मिलता है ?"

"भाई, तुम ही अच्छे हो।"

चन्द्रसिंह ने कहा–"अगर हम अच्छे हैं, तो आप भी साथ हो जाइये।"

"हाँ, मैं भी तुम्हारे साथ हूँ।"

चन्द्रसिंह ने देखा, यह अच्छा मौका है, इस वक्त सूबेदार आवेश में है। यह सोचकर उन्होंने कहा–"यदि यह बात है, तो बतलाइये, यदि कोई आदमी शहर जाने से इन्कार करे, तो क्या आप उसकी मदद करेंगे ?"

"हाँ।"

"सूबेदार साहब, अब बटालियन 4 बजे शहर जा रही है। यह मरने-जीने का सवाल है। आप जानते हैं, कई सिपाहियों ने क्लोदिंग (पोशाक) ले रक्खी है, जिनकी कीमत भी अभी उनकी तनखाह से नहीं कटी है। इसके अतिरिक्त सिपाहियों ने हिन्दुस्तानी पोशाक भी ले ली है, जिसकी भी कीमत नहीं काटी गई है।

अगर हममें से कोई आदमी शहर में मारा जाये, तो कपड़ों की कीमत किसके नाम पर कटेगी ? सूबेदार साहब, मैं इस्तीफे पर सारी कम्पनी की दस्तखत करा लेता हूँ।"

सूबेदार ने कहा—"हाँ, जाओ, दस्तखत करा लो। जल्दी करो।"

अब क्या था, चन्द्रसिंह ने बैरकों में खुले तौर से आवाज लगाई—"जल्दी-जल्दी सब लोगों के दस्तखत करा के मेरे पास भेज दो।"

फिर चन्द्रसिंह ने नारायणसिंह के कमरे में जाकर कहा—"भाईजी, जल्दी-जल्दी अपनी प्लाटूनों की दस्तखत करायें। लाइये कागज-पेन्सिल।"

नारायण सिंह ने कलम-दावात और कागज निकालकर चन्द्रसिंह को दे दिया। सबसे पहिले चन्द्रसिंह ने स्वयं कागज पर दस्तखत किया, इसके बाद नारायणसिंह ने। उसी कागज को दस्तखत लेने के लिए लैंसनायक हुकुमसिंह को सौंप दिया। हुकुमसिंह ने बात की बात में प्लाटून के सारे सिपाहियों से दस्तखत करा लिये। दस्तखत का कागज चन्द्रसिंह के पास आ गया। अब सूबेदार कम्पनी में आये। वह भी आवाज देने लगे—"जल्दी-जल्दी दस्तखत कराओ, 4 बजनेवाला है।" सिपाहियों को विश्वास होने लगा कि अब तो विद्रोह में हमारे सरदार भी शामिल हो गये हैं। जिस प्रकार इस प्लाटून में हुआ, वैसे ही नम्बर एक प्लाटून के नायक हरकसिंह ने अपने आदमियों की दस्तखत कराके कागज को चन्द्रसिंह के पास भेज दिया। अब चार बज चुका था, किन्तु सिर्फ दो प्लाटूनों के 67 जवानों की ही दस्तखत चन्द्रसिंह के पास आ पाई थी।

जिस कागज पर चन्द्रसिंह ने अपने साथियों का हस्ताक्षर करवाया था, उसकी नकल ई. एफ. टक्कर के अनुसार निम्न प्रकार है—

"24 घंटे के अन्दर इस्तीफा मंजूर हो।"

नं. 250 हवलदार नारायणसिंह गोसाईं
नं. 253 हवलदार चन्द्रसिंह बिष्ट
नं. 4406 नन्दासिंह
नं. 2436 ज्ञानसिंह
नं. 4497 शंकरसिंह
नं. 551 पातीरामसिंह
नं. 4153 करमसिंह
नं. 1346 माधोसिंह
नं. 3931 दौलतसिंह
नं. 2698 ले. ना. उमरावसिंह
नं. 4267 दबलेसिंह
नं. 1477 चन्द्रसिंह
नं. 4603 मदनसिंह
नं. 43423 रतनसिंह
नं. 779 रामसिंह
नं. 3215 श्रीचन्दसिंह
नं. 2704 जीतसिंह
नं. 3326 गुमानसिंह
नं. 224 जीतसिंह रावत
नं. 4302 हरखसिंह
नं. 4601 सरूपसिंह
नं. 2019 रूपचंदसिंह
नं. 1673 शेरसिंह
नं. 2088 आनन्दसिंह
नं. 3164 हुकुमसिंह
नं. 906 ना. केशरसिंह
नं. 3791 जुरासिंह
नं. 1804 ले. ना. भीमसिंह
नं. 2472 ले. ना. खुशहालसिंह
नं. 709 पानसिंह
नं. 1300 लछमनसिंह
नं. 2849 रूपचंदसिंह रावत
नं. 2497 शामसिंह

उस समय गढ़वाली पलटन में बड़ा जोश था, चन्द्रसिंह की कम्पनी के दो सिपाही पानसिंह दानु और पातीसिंह भंडारी को 1 मई 1930 से पेन्शन मिल चुकी थी, अर्थात एक हफ्ते के भीतर ही वह पेन्शन पर देश लौटनेवाले थे। इनके अँगूठे निशान आदि सब हो चुके थे। चन्द्रसिंह ने उन दोनों सिपाहियों से कहा—"आप दोनों इस बगावत में न शामिल हों, क्योंकि आपको पेन्शन मिल चुकी है।"

दोनों ने जवाब दिया—"आप लोगों ने गढ़वाली माँ का दूध पिया, क्या हम लोगों ने भेड़ी का दूध पिया

है ? सारे भाई जहाँ जाएँगे वहाँ हम भी जाएँगे।" हवलदार गोरिया सिंह नम्बर 1 प्लाटून के प्लाटून-कमाण्डर थे। उनकी भी पेन्शन हो चुकी थी। चन्द्रसिंह ने बहुत मुश्किल से उन्हें दस्तखत करने से रोका। यदि उस दिन चन्द्रसिंह की बात न मानते, तो वह भी पेन्शन और जायदाद जब्त करा के जेलों में सड़ते।

आखिरी तैयारी थी। नतीजा बहुत बुरा होनेवाला था। सिपाही अगर अफसर की आज्ञा न मानकर गोली चलाने से इन्कार करे, तो फौजी अदालत इसके लिए उसे मौत की सजा दे सकती है। यह मामूली अपराध नहीं था, यह सभी को मालूम था। चन्द्रसिंह के पास चिट्ठी-पत्री, डायरी और दूसरे सन्देहास्पद कागज-पत्र भी थे, उन्हें उन्होंने जला दिया। वह बटालियन-वर्दी पहन हथियार लेकर तैयार हो गये। बटालियन को शहर में ले जाने के लिए 18 मोटर-लारियाँ सामने खड़ी थीं। चन्द्रसिंह के पास अभी दो प्लाटूनों को छोड़कर औरों के दस्तखत नहीं आये थे। शायद दस्तखत के कागजों के भेजने का मौका नहीं मिला।

फालिन का बिगुल बजा। कम्पनियाँ अपनी-अपनी बारकों के सामने फालिन हो गईं। चन्द्रसिंह की ए. कम्पनी के चारों प्लाटून नम्बर 1 और नम्बर 2 प्लाटूनों के बीच में आमने-सामने फालिन होकर खड़े थे—नम्बर 1 प्लाटून के सामने नम्बर 2 प्लाटून था और नम्बर 3 के सामने नम्बर 4। चन्द्रसिंह नम्बर 4 प्लाटून के सामने बरामदे में खड़े थे। सभी अपने हथियारों से लैस थे। चारों प्लाटूनों की मशीनगनों को पीठ पर लादे खच्चर तैयार थे। ए. कम्पनी के चारों सरदार अपनी-अपनी प्लाटूनों में आये। सूबेदार जयसिंह बिष्ट—जो ए. कम्पनी के कमाण्डर थे—भी आ गये। कायदे के मुताबिक किसी ने "कम्पनी फाइल और कम्पनी तैयार है" कहकर उन्हें रिपोर्ट नहीं दी, क्योंकि कम्पनी हवलदार-मेजर वहाँ उपस्थित नहीं था। वह अग्रगामी पार्टी के साथ दो घंटे पहिले शहर में चला गया था। कम्पनी में कोई भी उसकी जगह काम करने को तैयार नहीं था। सूबेदार जयसिंह ने ही वह काम करना चाहा। उन्होंने हुकुम दिया—"ए. कम्पनी, अटेन्शन।" कोई अटेन्शन नहीं हुआ। "स्टैंड ऐट इज़।" किसी ने नहीं माना। सूबेदार ने झुँझलाकर कहा—"अरे, कम्पनी को क्या हो गया ? क्यों भाई, क्या बात है ?" किसी ने जवाब नहीं दिया। सूबेदार ने अब प्लाटून-कमाण्डरों को हुकुम दिया कि अपनी-अपनी प्लाटूनों को मार्च कराके मोटर के पास ले चलो। इस समय नम्बर 1 प्लाटून के कमाण्डर हवलदार गोरियासिंह ने चन्द्रसिंह के पास पहुँचकर पूछा—"अब मैं क्या करूँ ?"

चन्द्रसिंह ने कहा—"तुम जाकर कर्नल साहब को रिपोर्ट दो कि हमारा प्लाटून बागी हो गया है, न जाने किसने उनको बरगला दिया, लेकिन खबरदार, किसी का नाम मत लेना।"

हवलदार गोरियासिंह कर्नल के पास चला गया। सूबेदार जयसिंह ताड़ गये कि चन्द्रसिंह ने जो बात कही थी, वह अब होनेवाली है। सूबेदार ने चन्द्रसिंह के पास आकर पूछा—"चन्द्रसिंह, यह क्या हो गया ?"

"क्या हो गया, क्या यह आपको मालूम नहीं ? जानकर भी अनजान बनते हैं ?"

बेचारे सूबेदार के धुकधुकी पड़ गई। उस समय जोश में आकर कुछ भी कह गया हो, लेकिन वह सर्वनाश के लिए तैयार नहीं था। उसने बड़ी घबड़ाहट के साथ चन्द्रसिंह से कहा—"भाई, अब मैं क्या करूँ ?"

चन्द्रसिंह को उसकी सूरत पर दया आ गई। उन्होंने जोर देकर कहा—"खबरदार, किसी का नाम मत लेना। जाकर कर्नल को रिपोर्ट दो, कि मेरी कम्पनी बागी हो गई। न जाने किसने उसको भड़का दिया।"

सूबेदार जयसिंह भी बिदा हो गये।

इसके बाद नम्बर 2 प्लाटून के जमादार नन्दासिंह नेगी और नम्बर 3 प्लाटून के सरदार लुथीसिंह रावत ने एड़ी से चोटी तक जोर लगाया, किन्तु उनके प्लाटून भी टस से मस नहीं हुए। सारी बटालियन मोटरों में बैठ चुकी थी, केवल ए. कम्पनी की मोटर खाली पड़ी थी। इसकी खबर मिलने पर कर्नल ने सूबेदार जयसिंह और हवलदार गोरियासिंह को धमकाकर भेजा कि जाओ, अपनी कम्पनियों को लाओ। दोनों कम्पनियों में आये। फिर कोशिश की, लेकिन कोई जाने के लिए तैयार नहीं था। अन्त में जमादार नन्दासिंह ने अपनी प्लाटून के चार-पाँच नये भरतीवाले सिपाहियों को पकड़कर पाँती में से बाहर निकाल धक्का मारा। नये छोकरे थे, डर के मारे चलने लगे। उनके पीछे सारा प्लाटून चल पड़ा। नम्बर 2 प्लाटून अब मोटर के पास पहुँच गया था। नम्बर 3 प्लाटून के कमाण्डर लूथीसिंह ने भी वही चाल चली, और उसके जवान भी मोटर की ओर चल पड़े।

अब वहाँ नम्बर 1 और नम्बर 4 प्लाटून ही रह गये थे। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा निभाया। दोनों प्लाटूनों में से एक भी जवान ऐसा नहीं था, जो अपनी जगह से एक जौ भी हटे। सूबेदार जयसिंह बिष्ट अब मुँह से आवाज निकालने की भी हिम्मत नहीं करते थे। सिपाही कहने लगे–"चुप रहो, नहीं तो मारे जाओगे।" गोरियासिंह चन्द्रसिंह की पार्टी का आदमी था। जिस समय नम्बर 2 और नम्बर 3 प्लाटून मोटर के पास पहुँचे उसी समय कर्नल वाकर का अर्दली रायफलमैन कुँवरसिंह रावत भी कम्पनी के साथ मोटर में बैठने के लिए आ पहुँचा। उसको सब बातें मालूम हुईं। कुँवरसिंह ने नम्बर 1 और नम्बर 4 प्लाटूनों को जब वहाँ नहीं देखा, तो वह कम्पनी की बैरक में चला आया, जहाँ चन्द्रसिंह और उनके साथी बैठे-खड़े थे। कुँवरसिंह ने आकर चन्द्रसिंह से कहा–"तुम कैसे बेवकूफ हो ? वहाँ सारी बटालियन अपनी-अपनी मोटरों में बैठ गई है, और तुम यहाँ बड़े बहादुर बने खड़े हो।"

चन्द्रसिंह ने उसे तसल्ली देते हुए कहा–"दोस्त, घबड़ाओ नहीं। यही तो काम करने का समय है। मैं सोच रहा था कि लोगों को बटालियन में आखिरी खबर भेजी जाय। तुम बड़े अच्छे समय पर आये। अब आखिरी काम तुम्हारे जिम्मे है। अगर कर सको, तो करो।"

कुँवरसिह ने कहा–"जो भी हुकुम हो, मैं उसे करने के लिए तैयार हूँ। बताओ, क्या करूँ ?"

चन्द्रसिंह ने कहा–"भाई, काम तो बहुत बड़ा है। अगर तुम कर सको, तो करो। सारी बटालियन मोटरों में बैठ चुकी है, यह आप देख ही आये हैं। जाओ, बटालियन के बीचो-बीच खड़े होकर आवाज दो कि नम्बर 1 और नम्बर 4 प्लाटून के बेईमान लोग शहर जाने से इन्कार कर रहे हैं। वह अपनी बैरकों से नहीं आ रहे हैं।"

कुँवरसिंह मर्द का बच्चा निकला। वहाँ जाकर बीचो-बीच खड़ा हो बड़े जोर की आवाज में उसने वह बातें दोहराईं, जिन्हें कहने को चन्द्रसिंह ने कहा था। जमादार उमरावसिंह बहुत सीधा-सादा आदमी था जिसके कारण उसे 'लुणिया' कहकर लोग पुकारते थे। उसने भी कुँवरसिंह की बात को जोर से दोहराया–"ए. कम्पनी के सिपाही शहर जाने से इन्कार कर रहे हैं। वे लोग अपने बैरकों में से नहीं आ रहे हैं।" उमरावसिंह की बात को मोटरों में बैठे चन्द्रसिंह के दल के लोगों ने सुना। वह तुरन्त अपनी-अपनी मोटरों से बाहर निकल आये, और अपनी-अपनी राइफलें उठाकर बेतरतीब हो गये। कोई सीटी बजाता था, कोई 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे लगाता था। एक तरफ यह दृश्य था, और दूसरी तरफ ब्रिगेडियर-जेनरल, उसके कई स्टाफ-अफसर तथा गढ़वाली बटालियन के अंग्रेज और गढ़वाली अफसर चिल्ला रहे थे–"ठहरो, ठहरो, कहाँ जा रहे हो !" लेकिन इस समय कौन उनकी पर्वा करने के लिए तैयार था ? सभी सिर से कफन बाँधे हुए थे। अफसर यह देखकर दंग रह गये। सभी अपनी-अपनी बैरकों में जाकर हल्ला-गुल्ला मचाते रहे। सड़कर पर खड़ी खाली मोटरों में मक्खियाँ भिनभिना रही थीं, और सभी अफसरों के मुँह पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। ब्रिगेडियर जेनरल और उसके स्टाफ ने वहाँ से भागने में ही खैरियत समझी। चन्द्रसिंह की कम्पनी के नम्बर 2 और नम्बर 3 प्लाटूनों के जो लोग मोटर में बैठने के लिए गये थे, उनके मुँह पर काली पुत गई। वह लज्जित हो आकर चन्द्रसिंह और उनके साथियों से मिले। नम्बर 1 और नम्बर 2 नम्बर 4 के सिपाही उनके आचरण पर बात मारते थे और वे लोग बराबर उनसे क्षमा माँगते रहे।

बटालियन के अंग्रेज अफसरों ने सूबेदार जयसिंह बिष्ट के साथ सूबेदार त्रिलोकसिंह रावत को ए. कम्पनी में भेजा। उन्होंने जवानों के सामने एक लम्बा लेक्चर दिया, लेकिन उसे सुनने के लिए कान किसके पास थे ? जमादार नैनसिंह ऑफिस क्लर्क था। उसने भी अंग्रेजों की खैरखाही दिखलाने के लिए एक लम्बा भाषण देते बतलाया–"किस तरह हमारी वीरता का खयाल करके अंग्रेजों ने गोरखा बटालियन से अलग करके हमारी स्वतन्त्र पलटन कायम की, और किस तरह हमारी वीरता के लिए हमारी पलटन के नाम के साथ रॉयल (शाही) खिताब जोड़कर इसे रॉयल गढ़वाल राइफल का नाम दिया। हमारे दो जवानों ने पिछले महायुद्ध में वीरता का सर्वोच्च तमगा विक्टोरिया-क्रास प्राप्त किया। पलटन के कारण हमारे गढ़वालियों को क्या-क्या फायदे हैं। जवानो, अंग्रेज सरकार ने हम गढ़वालियों के ऊपर मेहरबानी करके हमारी चार बटालियनें तैयार की हैं। सारे अंग्रेजी फौज में हमारी बड़ी इज्जत होती है। अंग्रेज हमारे ऊपर विश्वास करते हैं, लेकिन आज इस

ए. कम्पनी के कारण हम लोग अपना सब कुछ खो बैठे। हमें मालूम है कि किन थोड़े-से लोगों ने सरकार के सामने हमारे मुँह को कलंकित किया। याद रक्खो, उन्हें भी इसका खूब मजा चखाया जायगा।"

ऐसी गुस्ताखी सुनने के लिए जवान तैयार नहीं थे। उन्होंने एक स्वर से चिल्लाकर कहा—"चले जाओ, चले जाओ अंग्रेजी कुत्ते, भागो, नहीं तो तुम्हारे लिए अच्छा नहीं होगा।" लिखनीचन्द जमादार को वहाँ से मुँह छिपाकर भागने ही में खैरियत मालूम हुई।

अंग्रेजों ने पलटन के सिपाहियों को पूरी तौर से अपनी मुट्ठी में रखने के लिए वहाँ ब्राह्मण-पण्डित भी नौकर रक्खे थे। वह इसी की रोटी खाते थे कि सिपाहियों में राजभक्ति कूट-कूटकर भरें। पण्डित ज्ञानानंद को मनुस्मृति और दूसरी जगह के कितने ही ऐसे श्लोक याद थे, जिनमें राजभक्ति की महिमा गाई गई थी, और राजद्रोही को नर्क में भी ठिकाना न मिलने की बात कही गई थी। उन्होंने तोते की तरह उन श्लोकों को दोहराकर सिपाहियों को समझाने की कोशिश की लेकिन सिपाही भली प्रकार जानते थे कि सात समुंदर पार के अंग्रेजों ने हमें गुलाम बनाकर रक्खा है। वह हमारे राजा होने के अधिकारी नहीं हैं। देशभक्ति सबसे बढ़-चढ़कर है, जिसके लिए हमारे जवानों ने हँसते-हँसते फाँसी की रस्सी अपने गले में डलवाई। एक सिपाही ने पंडित को टोककर कहा—"क्यों बेकार बक-वक कर रहे हो ? हम लोग सब जानते हैं।" वह बेचारा भी अपना-सा मुँह लेकर चला गया। वहाँ सवाल था देश-भाइयों और देश की रक्षा का। राजभक्ति के लिए अपने निहत्थे भाइयों पर गोली चलाना भयंकर पाप था, यह बात सिपाहियों के मन में बैठ गई थी। पण्डित ज्ञानानन्दजी ने उस समय अपनी नमकहलाली दिखलाते हुए अपनी गुलामी और देश के प्रति गद्दारी का परिचय दिया था।

जब छोटे-मोटे हथियारों से काम नहीं चला, तो अंग्रेज अफसर स्वयं समझाने के लिए पहुँचे। पहिले कप्तान चेपल आया। वह कर्नल वाकर की जगह बटालियन का कमांडिंग अफसर था। बटालियन का सर्वोच्च अधिकारी वाकर अग्रगामी टुकड़ी के साथ शहर चला गया था। कप्तान ने बड़े तपाक से कहा—"ए. कम्पनी, अटेन्शन", उसके अटेन्शन की किसी ने पर्वा नहीं की। दो-तीन बार उसने हुकुम दिया, पर ए. कम्पनी बहरी थी। फिर उसने नम्बर 4 प्लाटून के सामने आकर हवलदार नारायणसिंह से कहा—"नारायणसिंह, तुमने और मैंने एक ही कम्पनी में साथ-साथ नौकरी की। तुम बहुत अच्छे और सीधे-सादे ओहदेदार हो, लेकिन आज तुमको यह क्या हो गया ? मुझे सच-सच बताओ, तुम लोगों को क्या शिकायत है ? यदि किसी बदमाश ने तुम्हें भड़काया है, तो उसका नाम बतला दो, तुम्हें कोई सजा नहीं दी जायेगी।"

अब कर्नल वाकर भी आ गया था। चन्द्रसिंह नम्बर 4 प्लाटून के पीछे ही बरामदे में एक खम्भे के सहारे बैठे हुए थे। इसी समय उन्होंने अपने जेब से नम्बर 1 और नम्बर 4 प्लाटूनों के दस्तखतवाले कागजों को निकालकर हवलदार नारायणसिंह को देकर कहा—"भाईजी, इस कागज को दे दो।" नारायणसिंह ने कागज को कर्नल के हाथ में देते हुए कहा—"आप इसे ले जाकर अपने दफ्तर में पढ़ लीजियेगा। जो बात है, सब इसी में है।" दस्तखत सिपाहियों ने रोमन अक्षरों में किये थे, और कागज के ऊपर लिखी हुई बातें भी रोमन अक्षरों में थीं। कागज को पढ़ा, नारायणसिंह की ओर देखते हुए कहा—"शाबाश !" फिर वह और अफसरों को साथ लेकर दफ्तर में चला गया। जिस समय अफसर लौट रहा था, उस समय दो-तीन सिपाहियों ने अपनी भुजालियाँ निकालकर दिखलाईं। एक सिपाही ने राइफल में संगीन चढ़ाकर कहा—"मार डालो।" अफसर की नाड़ियाँ सरक रही थीं। आजादी के दीवाने सन् 1857 के बहादुर सिपाहियों ने इसी तरह अपनी वीरता और उमंगों का प्रदर्शन किया होगा, पर उनमें से किसी ने अपने सामने घटी घटनाओं को हमारे पास तक नहीं पहुँचाया। अंग्रेजों ने जो कुछ लिखा। उसे अपने रंग में रँगकर लिखा। अब देश कहीं आगे जा चुका था। स्वतन्त्रता की आकांक्षा इने-गिने हृदयों तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि सारे देश में उसकी बाढ़ आ गई थी। इस बाढ़ के लाने में महात्मा गाँधी का बहुत बड़ा हाथ था, इससे कौन इन्कार कर सकता है ? गाँधीजी ने सशस्त्र विद्रोह के लिए लोगों को नहीं तैयार किया था। चन्द्रसिंह और उनके साथी उसे इस समय बेकार समझते थे, नहीं तो इसमें शक नहीं, पेशावर की बैरकों में भी उस दिन बारकपुर का काण्ड दोहराया गया होता।

इसी समय अड्जुटेंट कप्तान टक्कर पेशावर शहर से लौटकर यहाँ पहुँचा। जब बटालियन शहर जाने

से इन्कार करती है तो अग्रगामी टोली को पेशावर में रखने से क्या फायदा था ? अड्जुटेंट टक्कर ने ए. कम्पनी को जरा दूर ही से कहना शुरू किया—"ए. कम्पनी, आज तुम लोगों को क्या हो गया ? जो होना था, सो हो गया, जो करना था, सो आप लोगों ने कर लिया। अब मेहरबानी करके अपने-अपने हथियारों को कोट में जमा कर दो और जो तकलीफ हो, उसे मेरे पास आकर बताओ।" सभी को मालूम था कि टक्कर शान से काम लेना चाहता है। सिपाहियों में से किसी ने उसकी बात का जवाब नहीं दिया। इस पर उसने इस कम्पनी तथा दूसरी कम्पनियों के दो-दो आदमी बुलाकर कम्पनी के अनुसार खड़े किये। उनमें चन्द्रसिंह की कम्पनी के थे नायक हरखसिंह घपोला (अल्मोड़ा जिले की घपोली सेरा गाँव के निवासी) और राइफल मैन पानसिंह दानू (मल्ला दानापुर निवासी)। टक्कर ने सबके दाहिनी ओर हरखसिंह घपोला को खड़ा किया, फिर पानसिंह दानू को। इसी तरह औरों को भी क्रमशः उस पाँती में खड़ा करके पहिले नायक हरखसिंह से पूछा—"नायक हरखसिंह, क्या आप बता सकते हैं कि आज हमारी बटालियन, खास कर ए. कम्पनी ने क्यों बगावत की ?"

नायक हरखसिंह ने कहा—"जब मुझे बताना ही है, तो मैं बताता हूँ। आप कागज-कलम लाइये। मैं जो कुछ जानता हूँ, उसे कहूँगा, आप उसे लिख लीजिये।"

टक्कर जेनरल नोट-बुक लाकर लिखने लगा। हरखसिंह ने कहा :

"1. हम लोग हिन्दुस्तान की रक्षा के लिए भरती हुए हैं, न कि उसे तकलीफ देने और गोली मारने के लिए।

2. हम हिन्दुस्तानी सिपाहियों को गोरों से बहुत कम तनखाह मिलती है, और काम हमसे उनकी अपेक्षा बहुत ज्यादा लिया जाता है।

3. गोरे सिपाहियों के सामने हम हिन्दुस्तानी सिपाहियों की कोई इज्जत नहीं।

4. जितनी तनखाह गोरे को मिलती है, उतनी तनखाह पर हम छह हिन्दुस्तानियों को रक्खा जाता है, लेकिन काम उनसे छह गुना ज्यादा लिया जाता है।

5. हम हिन्दुस्तानियों को फौज में कोई बड़ा दर्जा नहीं दिया जाता और सारे काम हम ही लोग करते हैं।

6. और भूल गया हूँ। आप बाकी बातें और लोगों से पूछ लीजिये। मैं इतना ही जानता हूँ।"

इसके बाद कप्तान ने सिपाही पानसिंह दानू से पूछा। पानसिंह ने कहा—"जो बात नायक हरखसिंह ने कही, वही बात मैं भी कहता हूँ।"

बाकी सबने भी हरखसिंह की बात का ही समर्थन किया। आखिरी बारी दरबानसिंह नेगी की थी, जिसने कहा—"मैं कुछ नहीं जानता।"

इसके बाद सब लोग अपनी-अपनी कम्पनियों में चले आये। जो कुछ वहाँ कहा था, हरखसिंह ने उसे चन्द्रसिंह को सुनाया। इस आशातीत सफलता पर चन्द्रसिंह को खुश होना ही चाहिए था।

आध घंटे बाद टक्कर फिर ए. कम्पनी में आया। वह अपनी बात और बर्ताव में बहुत नरमी दिखला रहा था। उसने चन्द्रसिंह को बुलाकर कहा—"चन्द्रसिंह हवलदार, यहाँ आओ।"

चन्द्रसिंह ने उठकर पास जाकर पूछा—"क्या बात है ?"

टक्कर ने कहा—"आपकी बड़ी मेहरबानी होगी, अगर आप कम्पनी के हथियारों को कोत (गोदाम) में जमा करा दें।"

चन्द्रसिंह ने कहा—"क्या आपके खयाल में इस बगावत का जिम्मेवार मैं ही हूँ ?"

"नहीं, नहीं, यह बात नहीं है। मैं इसलिए कह रहा हूँ, कि आप पुराने हवलदार हैं। आपका कहना शायद यह लोग मान जायें। यह बहुत अच्छा होगा। जेनरल साहब कहते हैं कि आप लोग अपनी राइफलें छोड़ दें, और जो आपकी माँगें हैं, उन्हें आकर हमारे पास कहें।"

चन्द्रसिंह ने जवाब दिया—"अच्छा, आप जाइये, मैं कोशिश करूँगा। आप जानते हैं, मैं तो सिर्फ एक क्वार्टर-मास्टर हवलदार हूँ। मेरा किसी प्लाटून पर कोई अधिकार नहीं है। मैं किसी प्लाटून का कमाण्डर नहीं हूँ।

जब प्लाटूनों के सरदारों का बस नहीं चल रहा है, तो मेरी क्या गिनती है ? फिर भी मैं कोशिश करके देखूँगा।"

टक्कर चला गया।

चन्द्रसिंह ने हथियारों को बेकार समझकर उन्हें जमा कर देना ही अच्छा समझा। मोटरों से निकल आये बटालियन के सारे सिपाहियों को प्लाटून के नम्बर के क्रम से फालिन होकर अपने प्लाटून-कमाण्डरों के अधीन कोत में राइफल और दूसरा सामान रखना था। राइफल कोत ए. कम्पनी के पास ही था। वहीं बटालियन का क्वार्टर, गारद, दफ्तर, राशन, गोदाम आदि सब थे। सभी लोग अपनी-अपनी राइफलें लिये ए. कम्पनी की ओर आ रहे थे। ए. कम्पनी के नम्बर 1 प्लाटून के कुछ सिपाहियों ने उन्हें हाल्ट (खड़ा) होने का संकेत किया। संकेत पाते ही सब बैठ गये। प्लाटून-कमाण्डर सिपाहियों को लात से धक्का देते थे, लेकिन कोई सिपाही कोत में जाने के लिए खड़ा नहीं हो रहा था। सारी बटालियन के 800 जवान अपने हथियारों से लैस होकर यहाँ एक जगह खड़े थे। बारूद तैयार थी, सिर्फ एक चिनगारी की जरूरत थी। लोगों में बहुत जोश था। ए. कम्पनी के सिपाही बेतरतीब होकर इधर-उधर घूम रहे थे। चन्द्रसिंह ने पंद्रह साल फौज की नौकरी की थी, लेकिन उन्होंने सिपाहियों की ऐसी चेष्टा नहीं देखी थी। सभी सिपाही बड़े गम्भीर थे। एक दूसरे से वह बात नहीं करते थे, लेकिन अपने मन में उनकी बात चल रही थी। चन्द्रसिंह उनके नेता थे, लेकिन उनके भी समझ में यह नहीं आ रहा था कि क्या किया जाय ? उन्होंने नारायणसिंह को बुलाकर पूछा-"भाईजी, अब क्या किया जाय। अगर हथियार उठाया जाय, तो आप लोग चन्द मिनटों के मेहमान हैं। अंग्रेज गोरी पलटन को लाकर हमें भून देंगे। अगर हथियार डालने के लिए कहें, तो आप यह नजारा देख रहे हैं। किस तरह राइफलों को कोत में जमा करायें ?"

नारायणसिंह ने कहा-"आपकी क्या राय है ? क्या राइफलें कोत में रख दी जायँ ?"

चन्द्रसिंह ने कहा-"भाईजी, भलाई तो इसी में है। अगर एक घंटा और राइफलें हाथ में रहीं, तो भयंकर परिस्थिति का सामना करना पड़ेगा। 800 गढ़वालियों की लाशें यहाँ तड़पती रहेंगी। दूसरी तरफ, जिन लोगों को कल पेशावर शहर में आपने गोलियों का शिकार होने से बचाया था, वही लोग हमारी गोलियों का शिकार बनेंगे, यदि हमने उधर जाना स्वीकार किया। यदि हम अपनी राइफलों को अंग्रेजों की ओर घुमायें, तो भी हम कब तक उनका मुकाबला करेंगे ? हमारे पास राइफल पीछे एक सौ गोलियाँ हैं, यह कब तक काम देंगी ? हमारे ऊपर वह हवाई जहाजों से बम गिरायेंगे। दूसरी पलटनों के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं हुआ है। हमें आशा नहीं है, कि वह हमारा साथ देंगे। यदि गढ़वाली पलटन को यहाँ अंग्रेजों ने मारकर खतम कर दिया, तो दूसरी हिन्दुस्तानी पलटनें डर जायेंगी। आगे जहाँ कहीं भी गोली चलाने का उन्हें हुकुम होगा, वह फौरन हमारे भाइयों पर गोली चला देंगी। कांग्रेस को अंग्रेज जगह-जगह दबा देंगे। कांग्रेस और महात्मा गाँधी का हुकुम है कि मरना सीखो, लेकिन मारने का खयाल भी मन में न आने दो। हमने उन्हीं की बातों से देशभक्ति का पाठ पढ़ा। हमारे हथियार उठाने पर हमारे काम को पसन्द नहीं करेंगे।"

हवलदार नारायणसिंह बड़े गम्भीर स्वभाव के आदमी थे। कुछ देर सोचने के बाद उन्होंने कहा-"क्या यह लोग इस समय हमारी बात मानेंगे ? अच्छा, तुम्हारी जो राय हो, मेरा प्लाटून तुम्हारी बात को मानने के लिए तैयार है।"

चन्द्रसिंह ने ऊँची आवाज से बोलते हुए सबका ध्यान अपनी ओर खींचा-"ए. कम्पनी, सभी भाई सुनो। जो कुछ हम लोगों को करना था, उसे हम अच्छी तरह कर चुके। हथियार उठाने के लिए कांग्रेस और महात्मा गाँधी का हुकुम नहीं है। आप लोग मेरी बात मानें, तो अपनी-अपनी राइफलें कोत में जमा कर दें। इसी में हमारी भलाई है।"

चन्द्रसिंह की यह बात लोगों को बहुत बुरी लगी। वस्तुतः सभी बातों को पूरी तौर से समझने का तो लोगों को मौका नहीं मिला था। वह अंग्रेजों के खिलाफ बगावत करने का अर्थ समझते थे अपनी राइफलों को उनकी तरफ घुमाना। चन्द्रसिंह की यह बात सुनकर कम्पनी के जवानों ने एक स्वर से कहा-"हूँ।" सभी चन्द्रसिंह की ओर तनी भौंहों से ताकने लगे, मानो वह देशभक्त नहीं देशद्रोही हैं, उन्होंने जवानों को धोखा

दिया। किसी ने चिल्लाकर कहा—"इसको मार डालो। उधर तो इसने चौबीस घंटे की नोटिस के साथ हमारे दस्तखतें कराके सरकार के पास भेजीं, और अब कहता है कि राइफलें भी दे दो। हम तो अपनी-अपनी राइफलें लेकर घर चले जायेंगे या 99 गोलियों को खतम करके आखिरी गोली से अपना अन्त कर लेंगे।"

उस समय सब अपनी-अपनी कह रहे थे, कोई किसी की नहीं सुन रहा था। बीस मिनट तक यही स्थिति रही। फिर एक पुराने सिपाही बेलमसिंह ने कहा—"ए. कम्पनीवालो, हवलदार चन्द्रसिंह को गोली मारने में अगर भलाई है, तो सबसे पहिले मैं ही उसे मारने के लिए तैयार हूँ। लेकिन, आपमें से वह आदमी निकलकर आगे आवे, जोकि चन्द्रसिंह के न रहने पर हम सबकी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेने के लिए तैयार है। निकले, वह कौन आदमी है, जो चन्द्रसिंह की जगह पर काम कर सकता है ? मेरे खयाल से जो कुछ अच्छा-बुरा होना था, सो हो गया। अब तक हमने चन्द्रसिंह की बात मानकर सब कुछ किया। अब वह जो कुछ कहता है, उसी को हमें मानना चाहिए। चलो, कोत में राइफलें रख दें।"

नारायणसिंह ने बेलमसिंह को समझाकर यह कहने के लिए तैयार किया था। बेलमसिंह की बात सुनकर सारी कम्पनी में सन्नाटा छा गया। लोगों का जोश जो दूसरी तरफ ढकेले लिये जा रहा था, वह मन्द पड़ गया। सबके खयाल बदल गये। सब चन्द्रसिंह की ओर देखने लगे। नारायणसिंह ने भी इसी समय कहा—"अगर चन्द्रसिंह को मारने से आप लोगों की भलाई है, तो उसे मारो। मैं तो अपनी राइफल कोत में रख देता हूँ।" देशभक्ति के गीत गाते एक के पीछे एक सिपाही राइफलों को लिये कोत की ओर चल पड़े। कह रहे थे—"मेरी राइफल तू कोत में रहना। संग में रहना, तू संगीन बहना।"

चन्द्रसिंह स्वयं जाकर क्वार्टर-गारद से कोत की चाबियाँ लाये। उन्होंने ए. कम्पनी का कोत खोलकर उसके भीतर अपनी राइफल और सामान फेंक दिया। सारी ए. कम्पनी ने अपनी राइफलें रख दीं। उसके बाद बटालियन की बाकी कम्पनियों ने भी धड़ाधड़ अपनी-अपनी राइफलें और कारतूस कोत में फेंक दिये। फिर सभी अपनी-अपनी बैरकों में चले गये। जब सारी बटालियन की राइफलें, कारतूस, मशीनगनें, बम, पिस्तौल, भुजालियाँ, खुकुरी आदि जमा हो गईं, तो हुकुम हुआ—"जिसके पास भी कोई हथियार, हथियारों के पुर्जे, चाकू जैसी कोई चीज हो, उसे कोत में जमा कर दे। कोई भी अपनी कम्पनी की सीमा से बाहर न जावे।"

सारी कम्पनियों ने अड्जुटेंट को रिपोर्ट दे दी कि अब हमारी कम्पनियों में किसी के पास कोई हथियार नहीं है।

अब गढ़वाली वीर दन्त-नख-गलित सिंह थे। उनसे क्या डर हो सकता था ? एक पूरी गोरी बटालियन ने आकर एकदम उनके चारों तरफ घेरा डाल दिया। जिधर देखें, उधर गोरे ही गोरे दिखाई पड़ते थे। गढ़वाली बटालियन की जहाँ-जहाँ ड्यूटी थी; वहाँ-वहाँ अब गोरे तैनात थे। मोटर-लारियाँ सब चीजों को लाद-लादकर गोरा-गारद के साथ उन्हें किले में पहुँचाने लगीं।

कुछ जोशीले जवान नहीं पसन्द करते थे, कि हम इस तरह बिना कुछ किये चुप रह जायें। वह मरने-मारने को ही काम समझते थे। उन्होंने चन्द्रसिंह से भी कहा—"आपने बड़ी गलती की, जो हमारी राइफलें रखवा दीं। अगर हमारे पास आज राइफलें होतीं, तो इन गोरों को हम दिखला देते कि हमें भी मरना-मारना आता है।" चन्द्रसिंह ने उनको शान्त करते हुए कहा—"भाइयो, अभी हमारे लिए वह समय नहीं आया है, जिसके लिए आप लोग उतावले हो रहे हैं। जरूरत पड़ने पर राइफलें मिलनी मुश्किल नहीं होंगी। हम में देश के लिए मरने-मारने के लिए तैयार रहने की हिम्मत होनी चाहिए।"

24 अप्रैल 1930 की शाम के 6 बजे गढ़वाली वीरों को मालूम हो गया कि हमारी निहत्थी बटालियन अब गोरों की कैद में पड़ चुकी है। सामान किले में पहुँच चुका था, तब 11-4 सिक्ख रेजिमेण्ट का एक अर्दली चन्द्रसिंह की बटालियन में आया। उसने बतलाया कि हमारी बटालियन आपकी हर तरह से सहायता करने के लिए तैयार है। हमारी पलटन को आपकी पलटन के ऊपर पहरा देने का हुकुम हुआ था, लेकिन हमने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। आप लोग हथियार न दें। हम आपके साथ हैं।

अर्दली बटालियन के सूबेदार-मेजर के पास आया था। उन्होंने उसे चन्द्रसिंह के पास भेज दिया। उस

अर्दली के द्वारा चन्द्रसिंह ने 11-4 सिक्ख रेजिमेंट को सन्देश भेजा—"अब तो हमने अपनी राइफलें दे दीं, लेकिन फिर भी हम आपकी सहानुभूति के इच्छुक हैं।"

एक साल बाद डेराइस्माल खाँ जेल में रहते चन्द्रसिंह ने उसी पलटन के सिपाही जिन्दा खान से सुना था कि उस पलटन के 11 आदमी निकाल दिये गये थे। जिन्दा खान खुद भी उन्हीं निकाले हुओं में से था। विद्रोही दल का सरदार सरदार चन्दनसिंह उस पलटन में जमादार था। पलटन में कुछ मुसलमान सिपाही भी थे। इस सिक्ख रेजिमेन्ट के अतिरिक्त दो पुलिस चौकियों ने भी गढ़वालियों का साथ दिया था। नम्बर 21 पुलिस चौकी जमरूद रोड के फाटक पर तैनात थी, जिसके पास ही ए. कम्पनी की बैरकें थीं। दोनों के बीच सलाह-मशविरा हो चुका था, और वह एक दूसरे को पूरी मदद देने के लिए तैयार थे। नम्बर 21 और नम्बर 6 पुलिस चौकियों के आदमियों को कुछ दिनों तक नजरबन्द करके छोड़ दिया गया।

सिक्ख पलटन के अर्दली ने गढ़वाली पलटन के सिपाहियों को धैर्य देते हुए कहा था—"आप लोग घबराइये नहीं। हमारी पलटन आपकी पूरी तौर से मदद करेगी।" लेकिन, उसकी जरूरत नहीं पड़ी। पलटन के गढ़वाली सैनिकों की तरह उसके कर्नल आदि अंग्रेज अफसर भी एक तरह नजरबन्द और निहत्थे थे। उनकी क्रिचें और पिस्तौलें जमा कर ली गई थीं।

यह बतला चुके हैं कि पहिले सिक्ख पलटन को पहरा देने के लिए कहा गया था, लेकिन उसने इन्कार कर दिया, इस पर गोरों को पहरे के लिए भेजा गया। गोरे सिपाही हिन्दुस्तानियों को काले गुलाम से बढ़कर नहीं समझते थे। पलटन में नाम और इज्जत दर्जे के अनुसार होती है, लेकिन एक मामूली गोरा सिपाही भी हिन्दुस्तानी पलटन के सूबेदार-मेजर को सलाम तक नहीं करता था। गोरे सिपाही भी हिन्दुस्तानी सिपाहियों की तरह ही अनपढ़-से होते थे। हिन्दुस्तानी पलटनों को शिक्षित करने के लिए रोमन लिपि का इस्तेमाल भी अंग्रेजों की चाल थी। वह चाहते थे कि सिपाही रोमन में छपी हुई चीजों को ही पढ़ें और हिन्दी या दूसरे अक्षरों में छपी पुस्तकों और अखबारों को न पढ़ सकें, क्योंकि वैसा होने से उनमें राष्ट्रीय भावना पैदा होने का डर था।

गोरी पलटन ने पूरी तरह से सभी बातों पर काबू पा लिया। हुकुम हुआ, "7 बजे शाम को गढ़वाली क्लब में सभी गढ़वाली अफसर और ओहदेदार और ए. कम्पनी के सभी सैनिक व्याख्यान में शामिल हों। जेनरल साहब आ रहे हैं।" 7 बजे जब सब लोग गढ़वाली क्लब में एकत्रित हुए, तो अड्जुटेंट टक्कर के सिवा वहाँ कोई भी अंग्रेज अफसर नहीं था। टक्कर ने उनसे कहा—"जवानो, ब्रिगेडियर-जेनरल साहब ने आपके लिए हुकुम भेजा है। उसी हुकुम को सुनाने के लिए मैंने आप लोगों को यहाँ बुलाया है। जेनरल साहब और सभी अंग्रेज अफसर आपके इस काम से बहुत नाराज हैं। जेनरल साहब कहते हैं—'गढ़वाली पलटन ने आज तक अंग्रेजी सेना में सबसे ज्यादा अच्छा और बहादुरी का काम किया। मुझे स्वप्न में भी यह खयाल नहीं था कि गढ़वाली सैनिक कभी हमारे साथ ऐसी धोखेबाजी करेंगे। जब से गढ़वाली बटालियन खड़ी की गई, तब से आज तक गढ़वाली अंग्रेज सरकार के खैरखाह और नमकहलाल रहे। पिछले महायुद्ध में गढ़वाली पलटनें अपने बादशाह सलामत के लिए बड़ी बहादुरी से लड़ीं। इसी बहादुरी के लिए अंग्रेज सरकार ने गढ़वाली बटालियन को रॉयल का खिताब दिया। पुराने सरदारों और सिपाहियों की ईमानदारी और खैरखाही के लिए यह किया गया था लेकिन, आज आप लोगों ने अपने पहिले की खून और पसीने से हासिल की गई इज्जत को मिट्टी में मिला दिया। यह काम अच्छा नहीं हुआ। अब हमेशा के लिए अंग्रेज अफसरों की नजरों में आपका विश्वास और इज्जत जाती रही। मेरा खयाल है कि यह काम आप लोगों ने खुद नहीं किया, बल्कि कुछ बदमाशों के बरगलाने और इस पलटन के अफसरों की असावधानी से यह सब हुआ। मुझे उम्मीद है कि अब भी आप लोग सँभल जायेंगे। जिन आदमियों ने यह बगावत करवाई, वह अपने को प्रकट करके कहें कि यह काम हमने किया और इसलिए किया। अगर वे लोग हमारे पास आकर माफी माँग लें, तो हम उनको माफ कर सकते हैं। अगर उनकी माँगें उचित हैं, तो हम उन पर गौर करेंगे।' "

ब्रिगेडियर का हुकुम सुनाकर टक्कर ने कहा—"मैं समझता हूँ, जिन लोगों ने यह बगावत कराई, वह आप लोगों में से ही होंगे। मेरी सलाह है कि वह बाहर निकलकर कबूल करें कि हमने यह काम किया। आखिर

उनको तो निकलना ही पड़ेगा। फिर उनकी वजह से इतने लोग क्यों मुसीबत में पड़ें ? निकल आवें वे आदमी। मैं वादा करता हूँ कि उन्हें मैं बहुत कम सजा दिलवाऊँगा। नहीं तो सबको मालूम ही है कि फौजी बगावत करने पर कितनी सजा मिलती है। कितनों को गोली मारी जायेगी, कितनों को काला-पानी भेजा जायेगा। क्यों सूखी लकड़ी के साथ गीली लकड़ी भी जले। इसलिए जो लोग अपने को आफत से बचाना चाहते हैं, वह बता दें कि फलाने ने यह बगावत कराई।"

टक्कर की बात सुनकर सिपाहियों के बीच से आवाज निकली–"तुम माफी माँगो, हमने कोई कसूर नहीं किया।" फिर हल्ला मचाते–"चुप रहो, चुप रहो।" कहते सब लोग क्लब से बाहर चले गये। गढ़वाली सरदार और खैरखाह ओहदेदार–हवलदार-मेजर, जमादार आदि भीगी बिल्ली की तरह टक्कर का मुँह देखते खड़े रहे।

15
गिरफ्तारी (1930 ई.)

उसी दिन 8 बजे रात को गिनती का बिगुल बजा। सब लोग हाजिरी देने के लिए फालिन हो गये। हुकुम सुनाया गया कि "यहाँ से कूच करना है। सभी लोग एक कमीज, एक जाँघिया, एक जोड़ा बूट-पट्टी, दो जोड़ा जुराब, एक फील्ड सर्विस टोपी, एक ओवरकोट, एक दरी, एक कम्बल, अपने साथ ले चलेंगे। बाकी सारा सामान अपने-अपने बक्सों में बन्द करके कम्पनी के बैरकों में जमा कर दें। हरेक कम्पनी के सामान के साथ उसकी देखभाल के लिए एक-एक आदमी छोड़ दिया जायेगा। बाकी सारी बटालियन 10 बजे रात को परेड-मैदान में मार्च करने के लिए तैयार रहे। हरेक कम्पनी अपने साथ एक दिन का राशन ले जायेगी। लंगरी रसोइया, भिश्ती आदि लग्गू-भग्गू पलटन के साथ रहेंगे। जिन सिपाहियों के अपने परिवार हैं, वे उन्हें पलटन के पण्डित ज्ञानानन्द को सौंप दें, वह पीछे अपनी कम्पनियों में आकर मिल जायेंगे।"

गिनती डिसमिस होने के बाद सिपाहियों के मन में तरह-तरह की शंकाएँ उठने लगीं। नहीं मालूम उन्हें कहाँ ले जाया जायेगा। लोग यही समझ रहे थे कि हमें कालापानी में ले जाकर सजा दी जायेगी, जैसा कि 15 नम्बर रिसाला के साथ किया गया था। (इस रिसाले ने प्रथम महायुद्ध में बगदाद शरीफ पर गोली चलाने से इन्कार किया था, क्योंकि वह मुसलमानों का पवित्र नगर था।) सिपाही क्यों चाहते कि उनके अपने खरीदे हुए सामान को बक्सों में बन्द करके छोड़ दिया जाये। सारी कम्पनी के लिए सिर्फ तीन खच्चर गाड़ियाँ दी गई थीं, जिनमें ही राशन, बरतन-भाँड़ा और दूसरे सामान ले जाने थे। सिपाहियों ने अपने पीठ के थैलों में ठूँस-ठूँसकर सारे सामान को भर लिया और वह अज्ञात स्थान में जाने के लिए तैयार हो गये।

रात के दस बज गये, संकेत मिलते ही पलटन फालिन हो गई। सभी कम्पनियाँ अपनी-अपनी गठरियों को सिर पर उठाकर रवाना हुईं। अंग्रेज नहीं चाहते थे कि गढ़वाली सैनिकों के जाने का किसी को पता लगे, इसलिए उन्होंने सड़कों की बिजली बुझा दी। टिमटिमाती हुई लालटेनें कम्पनियों के अगले छोर पर चल रही थीं। इसका ध्यान रक्खा गया था कि चलने की आवाज भी न निकले। सीधे रास्ते से न ले जाकर उसे चक्कर खाते भिन्न-भिन्न सड़कों से जाना पड़ा। एक तो अज्ञात स्थान में इस तरह के अपराध के बाद जाना था, दूसरे कुछ सैनिकों की स्त्रियाँ और बच्चे छूटे जा रहे थे, जिसके कारण वह बहुत चिन्तित थे। घोर अँधेरी रात थी। आदमी एक-दूसरे का मुँह नहीं देख सकता था। हरेक के मन में खयालों के तूफान आ रहे थे। मालूम होता था, उन्हें बैरक छोड़े युगों बीत गये। आखिर वह पेशावर छावनी स्टेशन पर पहुँचे।

स्टेशन पर चारों ओर गोरा गारद खड़ी थी। सिर्फ गोरे ही गोरे दिखाई पड़ते थे। उस रात को बराबर के काम करनेवाले रेलवे कर्मचारी भी दिखाई नहीं पड़ते थे। ट्रेन को भी गोरे ही इधर-उधर चला रहे थे। गढ़वाली सैनिक ट्रेन में बैठ गये। दो बजे रात को गाड़ी ने प्रस्थान किया। रास्ते के स्टेशनों पर कहीं कोई हिन्दुस्तानी

दिखाई नहीं पड़ता था। रात को ही ट्रेन सिन्ध नदी पार हुई। सुबह के सात बज रहे थे, जबकि वह शाहजी दी ढेरी (तक्षशिला) स्टेशन पर पहुँची। इस जंक्शन से एक लाइन मियाँवाली को जाती है, दूसरी सीधी रावलपिंडी को, यहीं से एक लाइन गोलड़ा हरिपुर होती हजारा को जाती है। गढ़वालियों की ट्रेन इसी ओर चली और जाकर हरिपुर स्टेशन पर खड़ी हुई।

स्टेशन पर चारों ओर पुलिस का कड़ा पहरा था। किसी तरह लोगों को पता लग ही गया था कि जिन गढ़वाली वीरों ने देशभाइयों के ऊपर गोली चलाने से इन्कार कर दिया था, वह ट्रेन से आ रहे हैं। प्लेटफार्म के ऊपर पतीलियों में चाय के लिए पानी उबल रहा था। कोई दूसरा आदमी दिखाई नहीं पड़ रहा था। इसी समय कर्नल ट्रेन से नीचे उतरा। उसे मालूम हुआ कि लोगों ने गढ़वालियों को चाय पिलाने के लिए पतीलियाँ रक्खी हैं। उसने ठोकर मारकर पतीलियों को उलट दिया। बागियों का इस तरह सत्कार किया जाय और अंग्रेजों के रहते, इसे वह कैसे बर्दाश्त कर सकता था ?

आध घंटा ट्रेन को आये हुआ था, इतने में एवटावाद से नम्बर 5 गोरखा पलटन की ट्रेन आकर उसके सामने खड़ी हो गई। गढ़वाली सैनिक गोरखा सैनिकों से बातचीत करने लगे। पता लगा गोरखा पलटन उन्हीं की जगह लेने के लिए पेशावर जा रही है। गढ़वालियों ने गोरखों से पेशावर की सारी बातें बतलाते कहा—"हम भाई-भाई हैं। अंग्रेज हमसे गोलियाँ चलवाकर हमारे देशभाइयों को मरवाना चाहते हैं, तुम ऐसा मत करना।" बातचीत कोई लुक-छिपकर नहीं हुई। सभी खुलकर कह रहे थे। डेढ़ हजार कण्ठों से निकलनेवाली आवाज से वहाँ हल्ला मच गया था। अंग्रेज इसे खतरे की बात समझते थे। तुरन्त गोरों की गारद को ट्रेन से उतारकर दोनों गाड़ियों के बीच में खड़ी कर दिया गया। वह 'चुप रहो, चुप रहो' कहकर चिल्लाने लगे। गोरखों ने वचन दिया कि हम लोग भी कांग्रेसियों के ऊपर गोली नहीं चलायेंगे। सीटी बजी, दोनों गाड़ियों को एक-दूसरे से दूर कर दिया गया। पीछे मालूम हुआ कि नम्बर पाँच गोरखा पलटन को पेशावर नहीं ले जाया गया। वहाँ कोई और बटालियन भेजी गई।

पेशावर में जिन बैरकों में गढ़वाली पलटन रहती थी, छोड़ते समय गढ़वाली सिपाहियों ने उनकी दीवालों और पत्थरों के ऊपर हिन्दी और रोमन में पेशावर-कांड की बातें लिख दी थीं, और आनेवाले हिन्दू-मुसलमान सैनिकों को कसम दी थी कि वह अपने भाइयों के ऊपर हथियार न उठायें। पलटन अधिकतर अशिक्षित सिपाहियों की थी। उनमें कोई व्यवस्थित रूप से न प्रचार हुआ था, और न संगठन। देश की आजादी उनको प्रिय थी, और देशभाई उनके अपने भाई थे। अंग्रेज गुलाम बनानेवाले थे। बस, इतना ही उन्हें मालूम था। स्वयं समय ने उन्हें सिखलाया कि कब कैसे क्या करना चाहिए। अपने ही तक इन कामों को नहीं रखना चाहिए, बल्कि दूसरों के पास भी सन्देश भेजना चाहिए। इसी विचार ने उन्हें अपने सन्देश को दीवालों और पत्थरों पर लिखने के लिए प्रेरित किया। गढ़वाली पलटन की जगह लेनेवाली पलटन के जवानों ने जब इन लेखों को पढ़ा, तो उनके भीतर भी बड़ी सनसनी फैल गई। पलटन के नाम-कमीशण्ड अफसर अंग्रेजों की खैरखाही के लिए सब कुछ करने को तैयार थे। उन्होंने अंग्रेज अफसरों को सूचित किया। तुरन्त लोगों को बाहर छोलदारियों में रखकर बैरकों की दीवालों पर चूना लगवा अक्षरों को मिटा दिया गया। पेशावर में जो दूसरी भारतीय पलटनें थीं, उनमें से भी अधिकांश को कहीं न कहीं भेज दिया गया। उस समय पेशावर में पूना रिसाला, सिगनल, पन्द्रह एम. टी. कम्पनी, चार फील्ड कम्पनी एस. और एम, 31 फील्ड बैटरी, 16वीं पहाड़ी बैटरी, 15वीं मिडियम बैटरी, दूसरी सिक्ख, चौथी सिक्ख, पाँचवीं आई. बी. टी., आर. ए. एफ., ए. सी. सी., सी. आर. ए. पेशावर एरिया आदि पलटनें मौजूद थीं।

स्टेशन से एबटाबाद शहर 15 मील दूर है। सैनिक उतारे गये। सामान के लिए वहाँ खच्चर गाड़ियाँ खड़ी थीं, जिन पर उसे रख दिया गया। देखभाल के लिए चन्द्रसिंह को इधर-उधर जाना था। कहीं वह कुछ और न कर बैठे, इसलिए के. बी. पाल नामक एक अंग्रेज अफसर उनके पीछे-पीछे थोड़ी दूर से निगरानी करता। बटालियन रवाना हुई और साथ आई गोरा गारद ट्रेन से पेशावर लौट गई। रास्ता अधिकतर पहाड़ी था, जहाँ पर जगह-जगह गोरखा सैनिक तैनात किये गये थे। स्टेशन से तीन मील के करीब आगे चलने पर एक फौजी

पड़ाव में दो घंटे के लिए वह ठहरा दिये गये। यहाँ उन्हें खाना पकाने और भोजन से निवृत्त होना था। ठहराने के साथ ही हुकुम हुआ कि दो घंटे में खा-पीकर तैयार हो जाओ। गाड़ियों पर राशन, बरतन-भाँडा सब सामान था ही। चटपट भोजन बनने लगा। ए. कम्पनी ने भी अपने राशन और बरतन-भाँडे को निकाला, लेकिन ईंधन के लिए लकड़ी नहीं थी, फिर खाना कैसे बनता ? कम्पनी अपने साथ पेशावर से ईंधन लाना भूल गई थी। सब कम्पनियों का भोजन बनने लगा और ए. कम्पनी को मुँह ताकने के सिवा और कोई चारा नहीं था। चन्द्रसिंह ने इधर-उधर नजर दौड़ाई। मालूम हुआ, पड़ाव के पास एक दूकान है। चन्द्रसिंह उधर दौड़े। उनके पीछे-पीछे वह अंग्रेज भी गया। चन्द्रसिंह ने दूकानदार को दो रुपये देकर कहा, कि हमें ईंधन दे दो। शायद उस दूकानदार को भी पता लग गया था। उसने दो गट्ठर लकड़ी के दे दिये और पैसा लेने से इन्कार कर दिया। डेढ़ घंटे के भीतर ही पलटन खाना खाकर तैयार हो गई। इसी समय जोर की वर्षा के लक्षण दिखाई देने लगे। बटालियन जैसे ही फालिन हुई, वैसे ही मूसलाधार पानी पड़ने लगा।

1930 के नमक-सत्याग्रह का जमाना था। एक बार फिर असहयोग के जमाने के दृश्य देश में उपस्थित हो गये थे। गढ़वाली वीरों ने पेशावर में गोली चलाने से इन्कार किया था, इसकी खबर सारे देश में फैल गई थी। यह कैसे हो सकता था कि देश-भर के रेल और तार पर से सारे हिन्दुस्तानियों को हटा दिया जाय और केवल अंग्रेज उसका काम सँभालें। इसलिए अंग्रेजों ने कितनी ही गुप्त रीति से गढ़वालियों को भेजा, लेकिन उसकी खबर कानोंकान सब जगह पहुँच गई थी। लाहौर और रावलपिंडी से मोटरों और लारियों में बैठकर लोग वीर गढ़वालियों की अगवानी के लिए एबटाबाद की ओर चल पड़े थे। जब लोगों ने गढ़वालियों को देखा तो वह 'महात्मा गाँधी की जय', 'गढ़वाली वीरों की जय' करने लगे। उन्होंने आवाज लगाई–"बहादुरो, आओ, मोटर में बैठ जाओ।" 'गढ़वाली वीरों की जय' का नारा सुनकर अंग्रेजों के हवास फाख्ता हो गये। वह चाहते थे कि बटालियन जल्दी से जल्दी लोगों से दूर हो जाय। उन्होंने पलटन को दौड़ने का हुकुम दिया।

अभी-अभी उन्होंने पेट-भर खाना खाया था, ऊपर से मूसलाधार वर्षा हो रही थी, सड़क पर घुटनों पानी था, बूट और पट्टियों के भीतर भी पानी भरा हुआ था। अंग्रेज अफसर तो अपने घोड़ों पर सवार थे, उनको क्या दिक्कत हो सकती थी ? लेकिन इसी स्थिति में गढ़वाली सैनिकों से डबल मार्च करवाया गया, सो भी एकाध मील नहीं। हुकुम हुआ था तो उन्हें डबल मार्च करनी ही होगी। कितने ही लोग थककर जमीन पर गिर पड़े। सब लथपथ और बदहवास थे। उधर जनता मोटरों और लारियों पर चढ़ी पहिले ही एबटाबाद पहुँच गई।

एबटाबाद के लोगों को जब वीरों के आगमन का पता लगा, तो सारा नगर सड़क के दोनों किनारे आकर खड़ा हो गया। लोग जोर-जोर से नारे लगा रहे थे। दोनों ओर खड़ी जनता के बीच गढ़वाली सैनिक दौड़ाये जा रहे थे। लोग उनके ऊपर फूलों की वर्षा कर रहे थे। पुलिस लाठी चलाकर लोगों को हटा रही थी। इन्द्र और जनता को बूँदों और फूलों की वर्षा की होड़ लगी थी। यद्यपि पेशावर से चलते समय से यहाँ दौड़ लगाने तक गढ़वालियों के हृदय और शरीर में परेशानी ही परेशानी हुई थी, पर जनता के स्वागत से उनका उत्साह बढ़ गया। वह समझने लगे कि हमारे उत्सर्ग की कदर करने के लिए हमारा देश तैयार है।

गढ़वाली बटालियन एबटाबाद के फौजी कैम्प में पहुँची। गोरखा पलटन ने उनके लिए वहाँ छोलदारियाँ खड़ी कर दी थीं। लेकिन इस वर्षा में वे छोलदारियाँ कैसे सुखद हो सकती थीं ? उनके भीतर घुटनों कीचड़-पानी भरा था। यह अप्रैल अर्थात गर्मियों का महीना था। लेकिन, उस दिन इस पहाड़ी स्थान में जनवरी की तरह का जाड़ा मालूम होता था। ठंडी हवा नाक-कान काट रही थी। सैनिकों के सारे कपड़े भीगे हुए थे। ऐसे जाड़े के स्वागत के लिए वह तैयार नहीं थे। कीचड़-भरी छोलदारियों के भीतर बिछाने के लिए थोड़ी-थोड़ी घास मिली, जो कुछ ही देर में पैरों के नीचे कुचली जाकर कीचड़ से एक हो गई। सारी रात दो-दो घंटे पर सिपाहियों की हाजिरी ली जाती थी। ठंड और कीचड़ के मारे आँखों में नींद का उतरना मुश्किल था, ऊपर से रात-भर की गिनती की पुकार ? वह रात बड़ी लम्बी मालूम हुई, लेकिन उसका अन्त आखिर में हुआ ही।

26 अप्रैल का सबेरा आया। 7 बजे ही हुकुम हुआ–सफेद जाँघिया और कमीज पहनकर शारीरिक व्यायाम करना होगा। कमांडिंग अफसर कम्पनियों का परेड देखेंगे। लोग जिन स्थितियों से गुजरे थे, उनके कारण उन्हें

असन्तुष्ट होना ही चाहिए था। एक ओर चन्द्रसिंह ने हरेक छोलदारी में जाकर लोगों को परेड में न जाने के लिए कहा और दूसरी ओर कम्पनी-कमाण्डर तथा प्लाटून-कमाण्डर परेड में ले जाने का प्रयत्न कर रहे थे। 7 बजे से 9 बजे तक वह कोशिश करते रहे, लेकिन कोई परेड में जाने के लिए तैयार नहीं हुआ। आखिर बी. कम्पनी के नम्बर 6 प्लाटून के जमादार भरतसिंह रावत ने वहकाकर अपने प्लाटून को सबसे पहिले परेड में जाने के लिए तैयार किया। इसी जमादार ने अंग्रेज-भक्ति दिखाकर गढ़वालियों की एकता को नष्ट करने का पाप अपने सिर पर लिया। यहीं से फूट का सूत्रपात हुआ। भरतसिंह ने सचमुच ही पीठ में छुरा भोंका था। उसे हमेशा देशद्रोही के तौर पर याद किया जायेगा।

भरतसिंह अपने प्लाटून को लेकर परेड मैदान में जब चला गया गया, तो धीरे-धीरे सारी पलटन उस ओर जाने लगी। लेकिन ए. कम्पनी के 1 और 4 प्लाटून तब तक मैदान की ओर कदम बढ़ाने के लिए तैयार नहीं हुए, जब तक कि चन्द्रसिंह ने उन्हें वैसा करने के लिए नहीं कह दिया। सूबेदार जयसिंह विष्ट सब करके हार गया था। सबके चले जाने पर चन्द्रसिंह ने सोचा कि अब सिर्फ दो प्लाटूनों के रुके रहने में कोई फायदा नहीं।

लोग परेड कर रहे थे, और भेदियें उनकी पहचान कर रहे थे। एक घंटे की परेड के बाद वह छोलदारियों में लौट आये। खाकर आराम करने के लिए छोड़ दिया गया। 4 बजे फिर उसी तरह परेड शुरू हुई। 5 बजे लौटकर उन्होंने शाम का खाना खाया।

पेशावर से उनकी पलटन एबटाबाद हथियार छीनकर भेजी गई थी। 'हमने हुकुम मानने से इन्कार किया', यह चिन्ता सबकी थी, लेकिन चन्द्रसिंह को सबसे अफसोस इस बात का था कि हमारी एकता में दरार पड़ गई। उन्हें क्या दंड भोगना पड़ेगा, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी।

26 अप्रैल की शाम आई। सूर्यास्त होने जा रहा था, इसी समय मेसकोट का अर्दली चन्द्रसिंह के पास आकर बोला—"हवलदार चन्द्रसिंह, आपको कर्नल साहब तुरन्त बुला रहे हैं।"

चन्द्रसिंह ने पूछा—"मेसकोट में कर्नल साहब अकेले हैं या और भी कोई है ?"

"वहाँ बहुत-से साहब लोग हैं। जेनरल साहब, एबटाबाद के डिप्टी-कमिश्नर, पुलिस सुपिरिंटेंडेंट आदि भी हैं।" चन्द्रसिंह ने समझ लिया, अब मुझे वहाँ से लौटकर आना नहीं है। वह तुरन्त अपना सामान सँभाल वर्दी, बूट और ओवरकोट पहनकर गोरखा हैट सिर पर रख अपनी पलटन के सारे सिपाहियों से मिलने के लिए निकल पड़े। उनसे यही कह रहे थे—"भाइयों, यह मेरी आप लोगों से अन्तिम मुलाकात है। आप लोग अपनी एकता और धैर्य को टूटने न देना।" चन्द्रसिंह का बुलौवा बलि-वेदी पर सबसे पहिले हुआ था, लेकिन उनको इसके लिए हर्ष था। वह भाइयों से हँसते-हँसते मिल रहे थे। इसलिए लोग समझते थे कि वह हँसी कर रहे हैं, लेकिन समझदार सैनिक बात की गम्भीरता को ताड़ गये। उनकी आँखों में आँसू भर आये। लोग उनके आसपास जमा हो गये। उनसे उन्होंने छुट्टी लेते कहा—"मैं आप लोगों से फिर मिलूँगा। मुझे मालूम नहीं कि कर्नल साहब ने मुझे क्यों बुलाया है।"

मेसकोट वहाँ से 20-25 गज से अधिक दूर नहीं था। चन्द्रसिंह जल्दी ही अर्दली के साथ वहाँ पहुँच गये। उन्होंने जमादार नन्दासिंह और हवलदार-मेजर जाथलीसिंह को मेसकोट के सामने खड़ा देखा। वहीं स्टाफ-कार (अफसरों की सैनिक मोटर) खड़ी थी। अन्दर जाकर जाथलीसिंह और नन्दासिंह के बाएँ खड़े हो गये। अर्दली कर्नल को खबर देने के लिए भीतर चला गया। सभी अंग्रेज-अफसर बाहर निकल आये। मेजर ब्रोन्सकिल ने कहा—"चन्द्रसिंह, अब तुम कैद कर लिये गये।" उसने जमादार नन्दासिंह को चन्द्रसिंह पर गारद रख दिया और जाथलीसिंह को उनका बिस्तरा लाने के लिए भेज दिया। चन्द्रसिंह ने मेजर से कहा—"आप सिखलाई कर रहे हैं, या यह क्या बात है ?"

"बोलो मत, अब तुम कैदी हो गये।"

इसी समय कैमरे से चन्द्रसिंह का फोटो लिया गया, फिर मोटर पर उन्हें बैठा दिया गया। मेजर ब्रोन्सकिल और पुलिस-सुपिरिंटेंडेंट खुद साथ हुए। मेजर ने स्वयं मोटर चलाई, और वह काकुल की ओर रवाना हुए, जहाँ

गोरों को तोपखाना था। ले जाकर गोरों की हवालाती कोठरी में डाल दिया गया और उनके ऊपर डबल गारद का पहरा बैठा दिया गया। यह तो उन्हें मालूम ही था कि गढ़वाली पलटन ने हुकुम मानने से इन्कार किया है। जब यह मालूम हुआ कि बगावत का मुखिया यही आदमी है, तो गोरे आ-आकर उनको देखने लगे। सोलह साल तक अंग्रेजों के लिए अपना सिर हथेली पर रखकर चन्द्रसिंह काम करते रहे। आज उन्हें उन्हीं की हवालात में बन्द होना पड़ा, अभी न जाने क्या-क्या उनके ऊपर गुजरनेवाली थी। कोठरी तीन कदम लम्बी और तीन ही कदम चौड़ी थी। ऊँचाई आठ हाथ से अधिक नहीं थी। सबसे ऊँची जगह पर लोहे के सीकचोंवाली एक छोटी-सी खिड़की थी। लोहे के सींकचोंवाला ही एक तंग दरवाजा था, जो उत्तर की तरफ खुलता था, इसलिए किसी वक्त वहाँ धूप नहीं आ सकती थी। चन्द्रसिंह ने कोठरी को चारों ओर से देखा। उन्होंने अपने को आगे के लिए तैयार कर लिया। उनका विस्तरा भी आ गया। उसे विछाकर वह वहाँ लेट गये। कोठरी में कोई रोशनी नहीं थी, चारों तरफ नीरवता छाई थी। गोरे सिपाहियों से वह वात कर सकते थे, लेकिन उनकी भाषा समझ नहीं सकते थे।

इस एकान्त कालकोठरी में चन्द्रसिंह कभी सोचते–'चन्द्रसिंह, तुम क्या कर बैठे ? मारे जाओगे। पिता, स्त्रियाँ, बच्चे सदा के लिए तुमसे छूट चुके। तुम इस अँधेरी कोठरी में पड़े हुए हो, न जाने कब तक के लिए ?'

फिर उनके मन में यह सोचकर गर्व हो उठता–'चन्द्रसिंह, शाबाश, तुमने मानुष-जीवन का फल पा लिया। अपनी तुच्छ शक्ति के अनुसार तुमने देशमाता के लिए यह सब कुछ किया। देशभक्ति कसूर नहीं है। यह शर्म करने या घबराने की चीज नहीं है। तुमने अपने जीवन की कीमत वसूल कर ली। अपने परम कर्तव्य को पूरा कर लिया। जब तक साँस चलती है, तब तक इस कोठरी में आनन्द से रहो। जो तुम चाहते थे, वही तुमको मिला।' वह इस प्रकार के विचारों में अपने आपको भूल गये। इसी समय बूटों की आहट से उनका ध्यान टूटा। जंगले से बाहर झाँककर देखा कि नम्बर 1 और नम्बर 4 प्लाटून के सैनिक जा रहे हैं। उन्होंने जोर से आवाज दी–"जवानो, घबराना मत। मैं भी यहीं हूँ।" सभी जवान उनकी ओर देखने लगे। अँधेरा हो चला था, उस कालकोठरी के भीतर उनके चेहरे को कौन देख सकता था।

कालकोठरी में चन्द्रसिंह को बन्द करके मेजर व्रोन्सकिल एबटाबाद गया, जहाँ 2/18 रा. ग. रा. का कैदी कैम्प था। एबटाबाद से काकुल सिर्फ दो मील है, और एक जगह से दूसरी जगह को साफ-साफ देखा जा सकता है। मेजर ने कैम्प में जाकर हुकुम दिया–"नम्बर 2 और नम्बर 4 प्लाटून तुरन्त फालिन हो जायें। उन्हें बटालियन के लिए लकड़ियाँ लानी हैं।" हुकुम मिलते ही दोनों प्लाटून फालिन हो गये। फिर हवलदार नारायणसिंह के साथ उन्हें काकुल की ओर जानेवाली सड़क पर रवाना किया गया। सड़क ढालुआँ चटाई की थी, जिसके दोनों तरफ टूटी-फूटी जगहें थीं। इन टूटी-फूटी जगहों में गोरे सैनिक छिपाकर रक्खे गये थे। जिस समय दोनों प्लाटून पास पहुँचे, गोरों ने संगीन चढ़ी राइफलों को लेकर एकाएक उन्हें घेर लिया। अंग्रेज पूरी सावधानी बरत रहे थे। उन्होंने समय से पहिले किसी को सजग होने का मौका नहीं दिया। ईंधन लाने की बात झूठी थी। वह कैदी बनाकर काकुल छावनी में लाये गये।

काकुल में पहिले ही से काँटेदार तारों का एक घेरा बनाया गया, जिसके किनारे पेट्रोमैक्स की तेज रोशनी का इंतिज़ाम था और चारों तरफ गोरों का सख्त पहरा था। घेरे के दोनों छोरों पर दो मशीनगनें लगी हुई थीं। यहीं काँटों के भीतर सिपाहियों के रहने के लिए छोलदारियाँ लगाई गई थीं। इन्हीं में 66 आदमियों को बन्दी बनकर रहना था। चन्द्रसिंह को लेकर सब 67 आदमी गिरफ्तार किये गये थे, जिनमें 50 सिपाही और 27 ओहदेदार थे। सिपाहियों में 7 सरकारी गवाह बनाकर छोड़ दिये गये और 17 ओहदेदार तथा 43 सिपाही–कुल साठ आदमी दण्ड के लिये चुने गये। 17 ओहदेदारों का नाम निम्न प्रकार है :

1.	चन्द्रसिंह भण्डारी	नं.	253	हवलदार क्वार्टर-मास्टर	ए. कम्पनी
2.	नारायणसिंह गोसाईं	नं.	250	हवलदार ए. कम्पनी	नं. 4 प्लाटून
3.	केसरसिंह रावत	नं.	906	नायक	नं. 4 प्लाटून

4.	जीतसिंह रावत	नं.	224	नायक	नं.	4 प्लाटून
5.	हरखसिंह घपोला	नं.	1176	नायक	नं.	1 प्लाटून
6.	भोलासिंह बुटौला	नं.	387	नायक	नं.	1 प्लाटून
7.	भीमसिंह बिष्ट	नं.	1804	लैन्सनायक	नं.	4 प्लाटून
8.	आनन्दसिंह रावत	नं.	2088	लैन्सनायक	नं.	4 प्लाटून
9.	खुशहालसिंह गोसाईं	नं.	2472	लैन्सनायक	नं.	4 प्लाटून
10.	उमरावसिंह रावत	नं.	2698	लैन्सनायक	नं.	4 प्लाटून
11.	हुकुमसिंह कठाइत	नं.	3164	लैन्सनायक	नं.	4 प्लाटून
12.	सुन्दरसिंह बुटौला	नं.	1069	लैन्सनायक	नं.	1 प्लाटून
13.	रतनसिंह नेगी	नं.	2017	लैन्सनायक	नं.	1 प्लाटून
14.	जोतसिंह बिष्ट	नं.	4204	लैन्सनायक	नं.	1 प्लाटून
15.	आलमसिंह फर्सवान	नं.	2238	लैन्सनायक	नं.	1 प्लाटून
16.	भगवानसिंह रावत	नं.	2299	लैन्सनायक	नं.	1 प्लाटून
17.	महेन्द्रसिंह नेगी	नं.	1623	लैन्सनायक	नं.	1 प्लाटून

यद्यपि सारी बटालियन ने बगावत में हिस्सा लिया था, लेकिन अंग्रेज यह नहीं चाहते थे कि बगावत के पूरे रूप को मुकदमे के द्वारा दुनिया के सामने रक्खा जाय। वह बाहरी दुनिया के सामने इसे छोटी-सी घटना दिखलाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने सिर्फ उन्हीं 67 आदमियों को लेना चाहा, जिन्होंने इस्तीफे के कागज पर हस्ताक्षर किये थे। 67 आदमियों के अलावा बाकी बटालियन को पाँच साल तक कड़े परिश्रम के साथ ड्रिल करने की सजा देकर रजमक छावनी में भेज दिया गया।

विभागीय जाँच–26 अप्रैल से महीने के अन्त तक अंग्रेज तैयारी करते रहे। एक-एक सैनिक से भेद निकालने की कोशिश करते थे। पहिली मई को एक ब्रिगेडियर-जेनरल ने आकर बाकायदा जाँच शुरू की। उसी दिन सात सिपाहियों को सरकारी गवाह बनाकर काकुल से निकालकर एबटाबाद की पलटन में भेज दिया गया। सबका बयान लिया गया, लेकिन चन्द्रसिंह से बयान लेने की जरूरत नहीं समझी गई। जाँच के बाद उनके ऊपर सख्त निगरानी होने लगी। हवलदार भगवानसिंह को चन्द्रसिंह के ऊपर खुफिया बनाकर तैनात कर दिया गया। किसी आदमी को उनसे बात करना तो अलग, नजदीक भी जाने नहीं दिया जाता था, लेकिन कैदी को भी तो खाने-पीने की जरूरत पड़ती है। चन्द्रसिंह का खाना पकानेवाला वही लंगरी था, जो कि नम्बर 1 और नम्बर 4 प्लाटूनों में काम करता था। भिश्ती, नाई, धोबी और भंगी भी उनकी कम्पनी के ही थे, लेकिन जब इनमें से कोई उनके पास आता, तो भगवानसिंह बराबर पास में खड़ा रहता। खुली हवा में रहनेवाले तथा शारीरिक श्रम और व्यायाम के अभ्यासी आदमी के लिए इस काल-कोटरी में रहना कितना दुस्सह था, इसे कहने की जरूरत नहीं। उनको यह भी पता नहीं था कि उन्हें संसार में जीना है या विदा हो जाना है। इस ससोपंज में रहना आदमी के लिए मुश्किल होता है। वह यही मनाते थे–जल्दी फैसला हो जाय। फाँसी पर चढ़ना ही है, तो वही हो जाय।

लेफ्टिनेंट-कर्नल जे. सेन्ट. ए किंग (10-1 पंजाब रेजिमेन्ट) को मुकदमा चलाने के लिए सरकारी वकील नियुक्त किया गया। उसने जाँच-पड़ताल शुरू की। काकुल छावनी में गोरा बैरक के आँगन में 67 गढ़वालियों को उसने बेंचों पर बैठा दिया। चारों ओर राइफल लिये गोरे खड़े थे। किंग ने यहीं पर गवाही लेनी शुरू की। निम्न 19 आदमी सरकारी गवाह थे :

1.	जमादार लुथीसिंह रावत	2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
2.	कप्तान ई. एफ. टक्कर	2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
3.	कप्तान एच. चेपल	2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
4.	लेफ्टिनेंट ए. एफ. बी. बावेल	2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद

5. जमादार देवसिंह रावत ह. क्वा. 1 — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
6. मेजर बी. ए. एस. ब्रोन्सकिल — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
7. सूबेदार जयसिंह बिष्ट ए.-4 — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
8. जमादार नैनसिंह नेगी ह. क्वा. 1 — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
9. हवलदार गोरियासिंह रावत 105, ए.-1 — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
10. सूबेदार त्रिलोकसिंह रावत बी.-6 — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
11. हवलदार-मेजर जाथलीसिंह रावत 121 ए. — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
12. कप्तान एस. ई. टेलर — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
13. रूपचन्द्रसिंह राना सिपाही 2019 ए.-4 — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
14. शंकरसिंह रावत 4497 सिपाही ए.-4 — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
15. शामसिंह फर्सवान 2497 सिपाही ए.-4 — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
16. हवलदार कुन्दनसिंह असवाल 231, बी.-8 — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
17. हवलदार जोतसिंह माहर 254 सी.-10 — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
18. हवलदार शेरसिंह राना 947 डी. एम. जी. कम्पनी — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद
19. हवलदार बख्तावरसिंह पुण्डीर-249 — 2-18 रा. गा. रा. एबटाबाद

ये ही गवाह फौजी अदालत के सामने पेश किये गये लेकिन इस समय किंग ने कुछ और लोगों के भी बयान लिये, जिनमें कर्नल वाकर (कमांडिंग ऑफिसर), जमादार नन्दासिंह नेगी ए.-2, जमालसिंह नेगी क्वार्टर-मास्टर जमादार 2-8 रा. ग. रा., जमादार भारतसिंह रावत बी. कं., जमादार उमरावसिंह नेगी, ए. कम्पनी के चारों रसोइया ब्राह्मण, हवलदार भवानसिंह भण्डारी। सूबेदार-मेजर रूपचन्दसिंह बिष्ट पेशावर-कांड के दिन छुट्टी पर अपने गाँव गये थे। उन्हें इस समय बुला लिया गया था। इस आदमी ने चन्द्रसिंह और उनके साथियों को बुरी तरह फँसाने के लिए एड़ी से चोटी तक का जोर लगाया।

23 अप्रैल को गढ़वाली सैनिकों ने ऐन-मौके पर गोली दागने से इन्कार कर दिया था, लेकिन उनके ऊपर अंग्रेज मुकदमा नहीं चलाना चाहते थे, क्योंकि तब जुर्म संगीन होता और मुकदमे की खबर देश-विदेश में छपकर बड़ा तहलका मचता। अंग्रेज पेशावर की घटनाओं को इतना तूल नहीं देना चाहते थे। इसीलिए सरकारी गवाहों को उसके बारे में जिक्र नहीं करने को कह दिया गया था, तो भी जमादार लूथीसिंह ने निम्न बातें कोर्ट-मार्शल के सामने कही थीं :

"23-4-30 को मेरी बटालियन पेशावर में कायम थी। करीबन 12-30 बजे ए. कम्पनी, जिसकी नम्बर 3 प्लाटून का मैं कमान करता हूँ, लारियों में शहर को गयी। काबुली फाटक में पहुँचने के पेश्तर हम लोग उतर गये और फाटक के अन्दर चले गये। नम्बर 2 और 3 प्लाटून को लाइन बनाने का हुकुम मिला, दुश्मनी सूरतवाले झुण्ड को आगे बढ़ने से रोकने के लिए। हमारे आदमी 'हाइपोर्ट' पर झुण्ड से बिलकुल मिले हुए खड़े थे। उनकी और दुश्मन की छाती आपस में लगती थी। झुण्ड पत्थर और ईंट फेंकती थी। ऊपर लिखे प्लाटून ऐसी हालत में करीबन डेढ़ घंटा तक रहे। क्योंकि 'हाईपोर्ट' से हमारे लोग बहुत थकते थे, मैंने हुकुम दिया कि बार-बार 'हाईपोर्ट' और 'आनगार्ड' करे।

" करीबन 13-45 बजे झुण्ड और भी घबराया और हमारे आदमियों को लम्बी लाठियों से मारने लगा। इन लाठियों में किसी-किसी पर परेक (काँटी) भी थी, जिनसे वे हमारे आदमियों को ढकेलते थे। इस दर्मियान झुण्ड पत्थर और ईंट फेंकता रहा।

" इस गली में पहुँचने के थोड़ी देर बाद मेरे सिर के किनारे पर एक ईंट की चोट आई। झुण्ड तब लकड़ी के बक्स लेकर उनको भी जमीन पर और हमारे आदमियों के ऊपर फेंकने लगा। उनका मतलब अटकाव बनाने के लिए मालूम होता था। लैन्सनायक उदयसिंह, जो 'आनगार्ड' के पोजीशन में खड़ा था, उसे चोट आई और एकदम बाद को एक बक्स उसकी छाती पर फेंका गया। वह गिरते-गिरते बच गया और इतने में उसका

राइफल हाथ से खींचा गया। मैं उदयसिंह से कुछ कदम पीछे खड़ा था।

" इस वक्त झुण्ड के बढ़ने से हमारा रैंक जरा टूट गया था, जिससे झुण्ड के कुछ आदमी हमारे आदमियों के बीच आ गये। अपने हाथों और बदनों से मैं भी और हमारे आदमी भी झुण्ड को पीछे की तरफ ढकेल रहे थे। एकदम जब लैन्सनायक उदयसिंह गिर गया, जैसा ऊपर बतलाया गया, लैन्सनायक चन्द्रसिंह अपने राइफल को लोड करके एक राउंड फायर किया। उसी वक्त मैंने पिस्तौल निकाला, और जब झुण्ड के दो आदमियों ने नली और सिलन्दर को हाथ से पकड़ा, मैंने एक आदमी के हाथ सिलन्दर से निकालकर चार राउंड फायर किया, जिससे झुण्ड के दो आदमी गिर गये। इसको देखकर नायक रामसिंह ने दो राउंड और राइफलमैन बख्तावरसिंह ने एक राउंड किया। झुण्ड तब भाग गया।"

सरकारी गवाह हवलदार गोरियासिंह ने बयान देते हुए कहा था—"मैं नम्बर 1 प्लाटून के मुलजिमों में से नीचे लिखे हुओं को पहचानता हूँ, जो कि परेड में 15-30 बजे से 17-00 बजे तक 24-4-30 को हाजिर थे—

नायक हरखसिंह	राइफलमैन हरखसिंह
नायक भोलासिंह	राइफलमैन रायसिंह
लैन्सनायक सुन्दरसिंह	राइफलमैन माधोसिंह
लैन्सनायक रतनसिंह	राइफलमैन कालासिंह
लैन्सनायक आलमसिंह	राइफलमैन बुधसिंह
लैन्सनायक महेन्द्रसिंह	राइफलमैन भूपालसिंह
लैन्सनायक भवानसिंह	राइफलमैन लछमनसिंह
लैन्सनायक जोतसिंह	राइफलमैन जगतसिंह
राइफलमैन बेलमसिंह	राइफलमैन प्रतापसिंह
राइफलमैन मानसिंह	राइफलमैन प्रेमसिंह
राइफलमैन हरखसिंह	राइफलमैन किशनसिंह
राइफलमैन गजेसिंह	राइफलमैन हुकुमसिंह
राइफलमैन बचनसिंह	राइफलमैन शामसिंह
राइफलमैन शेरसिंह	राइफलमैन रतनसिंह
राइफलमैन रामचन्द्र सिंह	राइफलमैन खेमसिंह

गोरियासिंह के बयान देते समय श्री चन्द्रसिंह ने बीच में कुछ सवाल किये थे, जो अदालती कार्रवाई में निम्न प्रकार मिलते हैं। गोरियासिंह ने कहा था—

"24-4-30 को करीब 14-30 बजे मैं ए. कम्पनी के लंगरखाने में था। मैंने अपने प्लाटून नम्बर 4 को अपने बैरक रूम के बरांडे पर खड़े देखा। वे बाहर जाने को तैयार थे, अगर उनको हुकुम मिले। मैंने हवलदार चन्द्रसिंह को प्लाटून के पीछे खड़े देखा। उसने हमको बुलाया। मैं उसके पास गया। हवलदार चन्द्रसिंह के हाथ में एक कागज था, और उसने कहा कि तुम्हारे दस्तखतों की जरूरत है। मैंने उससे पूछा—'किस वास्ते दस्तखत करना है।' उसने जवाब दिया—'तुम दस्तखत करो, मैं तुमको इसकी बाबत पीछे बतलाऊँगा।' मैंने फिर उससे पूछा। उसने जवाब दिया कि ऊपर से हुकुम आ गया है कि तुम्हें इस कागज पर दस्तखत करना चाहिए। मैं तब प्लाटून हवलदार के कमरे में गया। कमरे के अन्दर एक चारपाई और एक लकड़ी का बकस था। यह मामूली लकड़ी का किट बकस था। इनके सिवा कमरे में और कोई चीज नहीं थी। सिर्फ हवलदार चन्द्रसिंह और मैं उस वक्त हाजिर थे। मैंने फिर हवलदार चन्द्रसिंह से पूछा कि दस्तखत किस वास्ते चाहिए। और उसने वही जवाब, जो ऊपर लिखा हुआ है, दे दिया। यह कागज जो मेरे सामने है, वही है, जिस पर मैंने दस्तखत किया, और यह हमारा दस्तखत है। इसके बाद मैं लंगरखाने को वापस गया। जिस वक्त मैं वहाँ था, सूबेदार जयसिंह लंगरखाने के पास आया और पूछा, खाना तैयार है, बहुत जल्दी पकाओ। उसके बाद वह नम्बर 4 प्लाटून के बैरक के फ्रांट से गुजरते हुए चला गया। हवलदार नैनसिंह ने फालिन का हुकुम दिया

और मैं अपने प्लाटून के साथ फालिन किया। थोड़ी देर बाद सूबेदार जयसिंह आया और थोड़ी देर बाद दफ्तर की तरफ चला गया। थोड़ी देर बाद सूबेदार जयसिंह वापस आया। इससे थोड़ा पहिले नम्बर 2 और 3 प्लाटून ने मार्च किया। सूबेदार जयसिंह ने नम्बर 4 प्लाटून को हुकुम दिया 'फार्म फोर-राइट'। कुछ आदमियों ने हिलना शुरू किया, लेकिन ज्यादा चुपचाप खड़े रहे और नहीं हिले। सूबेदार साहब ने कहा–'यह क्या बात है, तुम क्यों नहीं हिलते ?' हवलदार चन्द्रसिंह ने तब कहा, 'हम लोग नहीं आवेंगे।' तब सूबेदार ने हुकुम दिया, मैं फार्म फोर्स किया। जिस वक्त हम लोगों ने फालिन किया, हवलदार चन्द्रसिंह ने ऐसा कहा, 'हम लोगों को हुकुम नहीं मानना चाहिए।' मैं फार्म कोर्स किया इस सवब से कि मैंने अपनी 13 साल की नौकरी के दरमियान हुकुम माना। मैंने चन्द्रसिंह का हुकुम के कागज पर दस्तखत करना माना, लेकिन उसने अभी तक मुझको नहीं कहा कि वह किस चीज के बाबत है।"

सवाल हवलदार चन्द्रसिंह : जिस वक्त मैं तुमको कागज पर दस्तखत करने को ले गया, तुम्हारा सेक्शन-कमांडर कहाँ था ?

जवाब : वह प्लाटून के साथ था, और प्लाटून के दाहिने पर खड़ा था।

सवाल ह. चन्द्रसिंह : जब मैं तुमको ले गया और तुमको हुकुम दे दिया कागज पर दस्तखत करने का, तुमने अपने सेक्शन-कमांडर की इजाजत पहिले ले लिया था या नहीं ?

जवाब : नहीं।

सवाल ह. चन्द्रसिंह : तुम कहते हो कि मैंने सूवेदार साहब को जवाब दे दिया कि हम लोग नहीं जायेंगे। उस वक्त मैंने सिर्फ जवाब दे दिया या और कोई दूसरी बात भी कही ?

जवाब : कोई नहीं।

गवाही ले लेने के बाद नायक भोलासिंह बुटौला को छोड़ बाकी सारे 15 ओहदेदारों को कैदी कैम्प से निकालकर वहीं काकुल में घोड़ों की अस्तबल की एक-एक कोठरी में बन्द कर दिया गया। अस्तबल लकड़ी के तख्तों का बना था, जिसमें एक लकड़ी के दरवाजे के सिवा कोई खिड़की नहीं थी, न कहीं अन्दर हवा जाने का रास्ता था। दरवाजे भी ऐसे बन्द हो जाते थे, कि हवा का भीतर जाना मुश्किल था। एबटाबाद और काकुल ठंडी जगहें हैं, इसलिए शायद हवा की वहाँ उतनी जरूरत नहीं समझी गई। इन पन्द्रहों को चौबीसों घंटे बन्द रहना पड़ता था, बाहर गोरे पहरा देते थे। टट्टी-पेशाब के लिए हाथों में हथकड़ी पहनाकर सुबह-शाम एक-एक आदमी को एक-एक करके दो गोरे ले जाया करते। जब एक आदमी फरागत होकर लौट आता, तब दूसरे आदमी को ले जाते। किसी को एक दूसरे से बात करने की इजाजत नहीं थी। खाने के लिए भी गोरे गारद और हवलदार भवानसिंह के सामने एक-एक को खोला जाता। इनमें से कुछ लोग बीड़ी-तम्बाकू के आदी थे। वह उससे वंचित थे। चौबीस घंटा कोठरी में बन्द रहने के कारण खाना भी हजम नहीं होता था, और पेट खराब होने से कोठरी के भीतर ही टट्टी-पेशाब करना पड़ता। पानी पीने के लिए वहाँ सिर्फ एक गिलास था। टट्टी के लिए पानी की कोई जरूरत नहीं समझी जाती थी।

मनुष्य जंगल में रहते भी पशुओं से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। कम से कम उनके रहन-सहन और गति-मुद्रा से वह हिताहित का ज्ञान पा लेता है। काकुल छावनी में एक मस्जिद थी। उसमें एक बूढ़ा मौलवी रहता था। मौलवी के साथ एक छोटा बच्चा, शायद उसका पोता, था। मस्जिद के आँगन में पानी का नलका लगा हुआ था। चन्द्रसिंह वहाँ रोज टट्टी-पेशाब से आकर हाथ-मुँह धोने तथा पीने के लिए पानी लाने जाया करते थे। गोरे सिपाही लोहे की जंजीर से जकड़कर उन्हें वहाँ ले जाते थे, लेकिन टट्टी में बैठने के समय तथा नलके पर हाथ-मुँह धोते समय हथकड़ियाँ खोल देते। इस तरह मस्जिद के पास चन्द्रसिंह का आना-जाना होने लगा। कैदियों के साथ सहानुभूति दिखलाना धार्मिक मुसलमान अपना कर्तव्य समझते हैं, लेकिन चन्द्रसिंह तो उन गढ़वालियों के अगुवा थे, जिन्होंने पेशावर में मुसलमान पठानों के ऊपर गोली न चलाकर अपने प्राणों के लिए संकट मोल लिया था, इसलिए मुसलमान और खासकर पठानों में गढ़वालियों के प्रति बहुत स्नेह पैदा हो गया था। गोरों के डर के मारे बूढ़ा मौलवी पहिले चन्द्रसिंह से कोई बात नहीं करता था। उसने इसके

लिए एक दूसरा ही तरीका निकाला। वह उनको सुनाने के लिए बच्चे से बात करता। मौलवी पढ़ा-लिखा था। अखबार पढ़ता था। वह पढ़ी हुई बातों को बच्चे को सुनाते कहता–"बेटा, आज मुसलमानी दुनिया में इन लोगों के लिए हरेक मस्जिद में खुदा-पाक के सामने दुआ माँगी जा रही है।" इसी तरह बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, लाहौर की जो खबरें आतीं, उन्हें मौलवी बच्चे को सुनाया करता। गोरे भाषा समझ नहीं सकते थे, इसलिए उन्हें मालूम नहीं था, कि बूढ़ा क्या कह रहा है। एक दिन मौलवी ने अपने पोते से कहा–"बेटा, यह जो कैदी है, इसको अगर हम कुछ खाने-पीने की चीज दें, तो खायगा ?"

चन्द्रसिंह ने जवाब दिया–"बाबा, मुझे आपका खाने में कोई एतराज नहीं है, लेकिन पहिले मैं इन गोरे सिपाहियों से पूछ लूँ।" उन्होंने गोरे सिपाहियों से इजाजत माँगी। आखिर वह भी सिपाही थे, उनमें भी भलेमानुसों की कमी नहीं थी। उनके इजाजत दे देने पर बूढ़े बाबा ने एक तंदूरी रोटी और कुछ मक्खन दे दिया। अगले दिन से बूढ़े बाबा रोज सवेरे-शाम लेमनेड की बोतल, खूबानी, रोटी और कभी मक्के के लड्डू देने लगे। अखबारों में जो खबरें आतीं, उनको वह उसी तरह सुनाते। उन्हीं बूढ़े बाबा से चन्द्रसिंह को मालूम हुआ कि गढ़वालियों के लिए काम करने के कारण लाहौर के डा. आलम और चन्द्रप्रकाश तथा पेशावर के प्रतापसिंह पकड़ लिये गये हैं। बम्बई में पुलिस ने औरतों के जुलूस पर लाठी बरसाई है। ये खबरें चन्द्रसिंह और उनके साथियों के लिए भारी महत्त्व रखती थीं। देश की इन खबरों को पाकर उनकी हिम्मत बढ़ती थी।

ए. कम्पनी में चन्द्रसिंह की ससुराल का रहनेवाला एक भिश्ती (पानी लानेवाला) था, जिसका नाम भजेडूसिंह महर था। एक तो वैसे ही इनकी कुर्बानी का उसके ऊपर प्रभाव पड़ा था, दूसरे वह उन्हें अपना सगा-सम्बन्धी समझता था। उसने चन्द्रसिंह के सन्देशे को उनके साथियों के पास भेजने का जिम्मा लिया था। वही बाजार से उनके लिए सामान ले आता। काकुल के लोग गढ़वालियों के साथ बड़ी सहानुभूति रखते थे। जब भजेडूसिंह किसी बनिये के पास कोई सौदा खरीदने जाता, तो वह उससे पैसा लेने से इन्कार कर सब चीजें मुफ्त दे देता। लोग भिश्ती से गढ़वालियों के कुशल-मंगल के बारे में पूछा करते, और बाहर की खबरें भी उसके द्वारा थोड़ी-बहुत भेज देते थे। वहाँ के वकीलों की भी सहानुभूति वीर गढ़वालियों के प्रति थी।

जाँच हो जाने के बाद चन्द्रसिंह को पता लग गया था कि कौन उनका दुश्मन है और कौन दोस्त। सरकारी गवाहों ने उनके सामने ही अपने बयान दिये थे। कोर्ट-मार्शल (फौजी अदालत) की तारीख नजदीक आ रही थी। उन्हें अब अपना बयान तैयार करना था। चन्द्रसिंह यह जानना चाहते थे कि उनके साथी क्या बयान देना चाहते हैं। वह एक दूसरे से मिल नहीं सकते थे, और न उन्हें किसी तरह सन्देश भेजने ही का मौका था। उनके पास कागज-पेंसिल भी नहीं थी, लेकिन संदेश भेजना जरूरी था। बयानों में एकता रहे, इसका प्रबन्ध करना था। चन्द्रसिंह की कोठरी में झाड़ू देने के लिए रोज सुबह-शाम एक भंगी आया करता था। जब वह आता, तो हवलदार भवानसिंह कंडारी भी उसके साथ रहता। गोरा सार्जेन्ट कोठरी का दरवाजा खोलता और भवानसिंह दरवाजे पर आकर खड़ा हो जाता। भंगी इधर झाड़ू लगाता, और भवानसिंह गोरों के साथ अंग्रेजी में गप-शप करने लगता। एक दिन जब भवानसिंह गप-शप कर रहा था, उसी समय चन्द्रसिंह ने मौका पाकर भंगी से कहा–"भाई, क्या इस मुसीबत में तुम मेरी मदद कर सकते हो ?"

"किस चीज की मदद करूँ ?"

"एक पेन्सिल और थोड़ा-सा कागज ला सकते हो ?"

उस सच्चे भाई ने कहा–"जरूर, कागज मैं टट्टी में छोड़ रक्खूँगा। जब जावें तो सबसे दाहिनेवाली टट्टी में से उसे ले लें। पेन्सिल मैं शाम को साथ लेता आऊँगा।" कागज रखने के बाद भंगी ने चन्द्रसिंह को इशारे से उसके बारे में समझा दिया। चन्द्रसिंह ने गोरे सार्जन्ट को बुलाकर टट्टी जाने के लिए कहा–गोरे उन्हें टट्टी में ले गये। वह बहाना करके बैठ गये और कागज को जाँघिया के भीतर डालकर अपने साथ लाये। शाम को भंगी झाड़ू के अन्दर पेन्सिल भी डालकर ले आया। मच्छरदानी की आड़ में चन्द्रसिंह ने अपने 16 साथियों के लिए अलग-अलग चिट्ठियाँ लिख डालीं। अब सवाल था, उन्हें कौन साथियों के पास पहुँचाये। भिश्ती भजेडूसिंह दिन में एक बार आता था, लेकिन वह चन्द्रसिंह के दूसरे साथियों के पास नहीं जा सकता था। चन्द्रसिंह ने

उससे कहा—"भजेड्डू, तुम प्लाटून के रसोइया भवानीदत्त से कहो, कि कल खाना बाँटने के समय सबसे पहिले मेरे पास आयें, पीछे अस्तबलवाले साथियों के पास जायें। किसी तरह इन चिट्ठियों को मेरे दोस्तों के पास पहुँचा दो, तो मैं बड़ा एहसान मानूँगा।"

भवानीदत्त ने संदेश भेजा कि शाम को मैं खाना देर से पकाऊँगा, और अँधेरा होने पर उसे तुम्हारे पास लाऊँगा। चिट्ठियाँ तैयार रखना।

भवानीदत्त ने चावलों के देग में छिपाकर सभी चिट्ठियों को चन्द्रसिंह के साथियों के पास पहुँचा दिया। भवानसिंह झक मारता रह गया। उन चिट्ठियों में चन्द्रसिंह ने लिखा था—

1. कोर्ट-मार्शल में जब तक हम लोगों को अपने लिए कोई वकील न मिले, तब तक बयान देने से इन्कार करना! सभी कहें कि हमें वकील मिलना चाहिए।

2. मैं बगावत की सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेता हूँ, ताकि आप लोग मौत की सजा से बचें। जिन्दा रहकर आप फिर हमारे काम को आगे बढ़ायेंगे। मौत के फंदे से छूटने की कोई संम्भावना नहीं है, इसलिए मुझे ऐसा करने दें।

3. मुकदमा 24 अप्रैल की बगावत के लिए चलाया जा रहा है। 23 अप्रैल का वह कोई जिक्र तक नहीं आने देना चाहते। आप लोग अपने बयानों में 23 अप्रैल की घटना का जिक्र जरूर करें।

4. सब लोग डाक्टर से कहें कि कोठरी में बन्द रहते-रहते हम लोगों का पेट खराब हो गये हैं, हमें हर रोज एक घंटा बाहर टहलने दिया जाय।

भवानीदत्त ने अगले दिन साथियों का जवाब भी लाकर सुना दिया। वह और बातों से सहमत थे, लेकिन इससे सहमत नहीं थे कि चन्द्रसिंह उनके लिए मौत का प्याला पियें। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि सूबेदार जयसिंह बिष्ट और सूबेदार-मेजर त्रिलोकसिंह रावत को भी हमें अपने साथ फँसाना होगा। नारायणसिंह गोसाईं ने जोर देकर कहा था—"मैं आपको अकेला नहीं छोड़ सकता।"

एक दिन रात के 9 बजे चन्द्रसिंह को पेशाब लगी। वह कोठरी के भीतर पेशाब नहीं किया करते थे। उन्होंने गोरे सार्जन्ट को बुलाया। बाहर दरवाजे के सामने पेशाब के लिए गमला रक्खा था। गोरे लोग हाथ पकड़कर पेशाब कराके फिर कोठरी में बन्द कर देते थे। पहरे पर आये गोरे अक्सर शराब पीकर मस्त रहते। एक दिन एक गोरे सिपाही ने चन्द्रसिंह को पेशाब कराके कोठरी के अन्दर कर दिया। नशे में चूर था, ताला लगाना भूल गया, और जाकर अपने दूसरे साथियों से गप-शप करने लगा। भागने के लिए इससे अच्छा मौका कौन मिल सकता था ? चन्द्रसिंह के सिर पर मौत मँडरा रही थी। एक बार उन्हें भागने का खयाल आया। फिर सोचा, मैं यहाँ की पश्तो जबान नहीं जानता, जरूर पकड़ लिया जाऊँगा। फिर बदनामी होगी।—'प्राणों के मोह से चन्द्रसिंह भागना चाहता था।' न भी पकड़ा जाऊँ, तो भी यह मौका कब हाथ आयेगा ! मैंने देश के लिए बलिदान हुए शहीदों के बारे में बहुत सुना-पढ़ा है। यही तो समय है उनके पद के अनुसरण करने का। उन्होंने आये खयाल को तुरन्त हटा दिया और दिमाग में उसे फिर न आने देने के लिए सार्जन्ट को आवाज दी—"देखो, आप लोग ताला लगाना भूल गये। कोई अफसर आ गया, तो बुरा होगा। दरवाजे में ताला लगा दो।" भाषा की दिक्कत होने पर भी किसी तरह उन्होंने अपने भावों को समझा दिया। गोरा सार्जेन्ट समझने लगा कि उनका बन्दी किस तरह का आदमी है। उस दिन से गोरे चन्द्रसिंह को बहुत मानने लगे। जो भी नया गारद आता, वह उस घटना को बतलाकर अच्छा बर्ताव करने की ताकीद करते। गोरों ने अब उन्हें अपनी मण्डली का आनरेरी मेम्बर-सा बना लिया। शाम और सुबह चाय और बिस्कुट लाकर देते, दो बजे दिन को दो आने का फल जरूर उनके पास भेज देते। जब उनका दिल नहाने या टट्टी-पेशाब का होता, तो फौरन खोलकर ले जाते।

काकुल छावनी में फौज के एक मद्रासी डाक्टर थे, जिनको दिन में दो बार चन्द्रसिंह और उनके साथियों को देखने का काम दिया गया था। उन्होंने कड़ी सिफारिश की कि हवालातियों को रोज कम से कम दो घंटा बाहर नहीं टहलाया जायगा, तो इनके बीमार हो जाने का डर है। डाक्टर ने अच्छे खाने की भी सिफारिश

कर दी। अब चन्द्रसिंह को दिन में दो घंटा टहलने के लिए बाहर निकाला जाता। हुकुम था कि उन्हें छावनी के अन्दर ही टहलाया जाय, लेकिन गोरे उन्हें काकुल गाँव में और कभी-कभी गोरखा हिल तक घुमाने ले जाते। लोग उनके दर्शन के लिए आते, और मक्खन, खूबानी, दही, गेहूँ के होले दे जाते। चन्द्रसिंह के साथ जानेवाले गोरों को भी खूब मक्खन और खूबानी मिलती, इसलिए हरेक उनके साथ जाने के लिए तैयार था। एक दिन लकड़ी के ठेकेदार एक पेशावरी ने सेर-भर मक्खन गोरों को दे दिया। वे बहुत खुश हुए।

मई के आखिरी सप्ताह में मेजर ब्रोन्सकिल चन्द्रसिंह के पास आकर बोला—"चन्द्रसिंह, शायद 1 जून से आपके कोर्ट-मार्शल की कार्रवाई शुरू होनेवाली है। आप अपने लिए किसी अफसर को पैरवीकार बनाना चाहते हैं, या खुद मुकदमे की पैरवी करेंगे ?"

चन्द्रसिंह ने जवाब दिया—"पहिले तो मैं चाहता हूँ, कि मेरा मुकदमा कोर्ट-मार्शल से हटाकर सिविल कोर्ट में भेजा जाय, क्योंकि फौजी अदालत में न्याय पाने की मुझे उम्मीद नहीं है। अगर ऐसा न किया जा सके, तो मुझे वकील रखने की इजाजत दी जाय। अगर सरकार वकील नहीं देगी, तो मैं मुकदमे की कार्रवाई में भाग लेने के लिए तैयार नहीं हूँ, चाहे मुझे यहीं गोली से उड़ा दिया जाय।"

मेजर ने उत्तर दिया—"तुम्हारी दोनों माँगों का पूरा करना असम्भव है। अभी तक कोई सैनिक मुकदमा सिविल कोर्ट में नहीं हुआ; और न किसी को वकील मिला। इसलिए इन फजूल की बातों को छोड़ो। हाँ, अगर तुम किसी फौजी अफसर को अपना कानूनी सलाहकार बनाना चाहते हो, तो वह मिल सकता है। अंग्रेज, हिन्दू, सिक्ख, मुसलमान जिसको चाहो एक-दो-तीन पा सकते हो। बाहरी वकील किसी तरह नहीं मिल सकता।"

चन्द्रसिंह ने कहा—"अच्छा, मैं इसके बारे में कल जवाब दूँगा।"

चन्द्रसिंह ने दूसरी जगह बन्द नायक भोलासिंह के पास खबर भेजकर पूछा कि आप अपनी और दूसरे साथियों की राय बतलायें, कि वकील माँगने में हमें क्या करना चाहिए। वहाँ से उत्तर आया कि हमें वकील की माँग पर डट जाना चाहिए। उस दिन रात-भर चन्द्रसिंह के दिमाग में यही खयाल दौड़ता रहा। शायद अंग्रेज आसानी से वकील देना मंजूर नहीं करेंगे लेकिन जब मरना ही है, तो जरा ढंग से मरना चाहिए। वह 1928-29 के अखबारों में पढ़ चुके थे, कि यतीन्द्रदास और भगतसिंह के साथी दूसरे राजवन्दियों ने किस तरह अपनी माँगों के लिए भूख-हड़ताल की थी। यतीन्द्रदास ने इसी में अपने प्राण दिये थे। अपनी माँगों के सामने सरकार को झुकाने के लिए भूख-हड़ताल सबसे बड़ा अस्त्र है। यदि सरकार ने बाहरी वकील को नहीं दिया, तो उन्हें गुमनाम मर जाना होगा। फौजी अदालत की कोई कार्रवाई जनता के सामने नहीं आयेगी, फौजी कानून के अनुसार अंग्रेज जैसा चाहेंगे वैसा कर देंगे। अगर बाहर से वकील आ गया, तो यहाँ की बातें बाहर जनता तक पहुँच सकेंगी। उन्होंने उसी रात निश्चय कर लिया, कि अगर वकील की माँग मंजूर नहीं हुई, तो हमें यतीन्द्रदास का रास्ता पकड़ना होगा।

अगले दिन मेजर ब्रोन्सकिल ने आकर पूछा—"चन्द्रसिंह, आपने अपने बचाव के लिए क्या सोचा ?"

चन्द्रसिंह ने साफ-साफ कह दिया—"अगर सरकार ने हमको वकील नहीं दिया, तो हम मुकदमे की कार्रवाई में भाग नहीं लेंगे, किसी किसम का बयान नहीं देंगे, और भूख-हड़ताल कर यहीं मर जायँगे।"

मेजर ब्रोन्सकिल ने चन्द्रसिंह के दृढ़ निश्चय को सुनकर दूसरे कैम्प में जा और बन्दियों को जमा करके समझाना शुरू किया—"चन्द्रसिंह बहुत बेवकूफी कर रहा है। वह सरकार से वकील माँग रहा है। फौज में यह बात कभी नहीं हो सकती। आप लोग बतलाइये, कि आप अपने बचाव के लिए क्या करना चाहते हैं ?"

सभी ने एक स्वर से कहा—"चन्द्रसिंह को हमारे पास बुलवाइये, ताकि हम और वह आपके सामने सलाह करके इसके बारे में जवाब दें।"

मेजर ब्रोन्सकिल ने चन्द्रसिंह की आँखों पर पट्टी बँधवाकर उन्हें बन्दी-कैम्प में ले जाकर उनसे कहा—"तुम लोग चन्द्रसिंह को समझाओ, कि वह वकील की माँग को छोड़ दे, नहीं तो सरकार नाराज हो जायगी और सबको सख्त सजा देगी।"

उन्होंने चन्द्रसिंह से पूछा—"हम लोगों को वकील रखने से क्या लाभ होगा, और न रखने से क्या

हानि ?"

चन्द्रसिंह ने सारी बातें समझाकर कहा–"वकील न रहने पर ये हमें यहीं चुपचाप कुत्तों की मौत मार डालेंगे।" बात समझ में आ गई और सबने एक स्वर से वकील की माँग को कह दिया, कि हम लोग बिना वकील के बयान नहीं देंगे। नायक भोलासिंह ने इस निश्चय पर पहुँचने में बड़ा काम किया था।

वकील की माँग ब्रिगेडियर-जेनरल के पास भेजी गई। तीसरे दिन वहाँ से नामंजूरी आ गई। उसी दिन शाम से चन्द्रसिंह ने भूख-हड़ताल शुरू कर दी। अगले दिन 12 बजे हुकुम आया, कि वकील मिल सकता है, लेकिन उसका खर्च सरकार नहीं देगी। हुकुम सुनाने के लिए कप्तान टक्कर चन्द्रसिंह के पास आया। उसने पूछा–"क्या तुम लोग वकील की फीस दे सकते हो ?"

चन्द्रसिंह ने कहा–"हाँ।"

"किस वकील को बुलाना चाहते हो ?"

"हम सब सलाह करके इसका जवाब देंगे, अथवा आप खुद जाकर सबसे पूछ सकते हैं। जिसको सब लोग मंजूर करें, वही वकील मुझे भी मंजूर है।"

कप्तान टक्कर ने दूसरों से जाकर पूछा। सबने कहा कि हमें बैरिस्टर मुकुन्दीलाल को दिया जाय। चन्द्रसिंह ने टक्कर से यह बात सुनकर अपनी सहमति दे दी, और उसी दिन भूख-हड़ताल तोड़ दी।

श्री मुकुन्दीलाल बी. ए. (ऑक्सफोर्ड) बार-एट्-लॉ गढ़वाल के सुयोग्य पुत्र हैं। कला के उच्च दर्जे के समालोचक होने के साथ गढ़वाल के प्रति उनके दिल में बहुत प्रेम है। युक्तप्रदेश की कौंसिल के मेम्बर रहकर उन्होंने गढ़वाल की तकलीफों को ऊपर पहुँचाने की बड़ी कोशिश की थी। गढ़वाल के लोग उनके नाम से पूरी तौर से परिचित थे, इसीलिए काकुल के कैम्प में बंद गढ़वाली बन्दियों को भी उनका खयाल आया। सरकार की ओर से लैन्सडौन में मुकुन्दीलाल के पास तार दिया गया। मुकुन्दीलालजी इससे पहिले भी फौजी अदालत में पैरवी कर चुके थे। उन्हें फीस सरकार की ओर से मिली थी। इस समय यदि सरकार ने फीस देने से इन्कार किया, तो वह समझते थे, कि आखिर में सरकार उसे देने के लिए मजबूर होगी। इसलिए भी उन्होंने तार में जवाब दिया, "मैं पैरवी करने के लिए तैयार हूँ, लेकिन मेरी फीस सौ रुपये प्रतिदिन होगी, और वह लैन्सडौन से प्रस्थान करने से लेकर वहाँ लौटने तक के दिनों की देनी होगी। साथ ही रास्ते के खर्च के लिए पाँच सौ रुपया अग्रिम भेज दिया जाय।"

मेजर ब्रोन्सकिल इस जवाबी तार को लेकर चन्द्रसिंह के पास आकर बोला–"देखो, तुम्हारा मुकुन्दीलाल कितना रुपया माँगता है ? तीन महीने मुकदमे में लगेंगे। क्या तुम लोग नौ-दस हजार रुपये दे सकोगे ?"

"हाँ, हम साठ आदमी हैं। हरेक के हिस्से में दो-दो सौ रुपया आयेंगे। उनके राह-खर्च के लिए हम लोगों के नाम से जमा फंड से पाँच सौ रुपये भेज दिये जायँ।"

मेजर ने कहा–"तुम कैदी हो। तुम्हारी सारी जायदाद जब्त हो गई है। सेविंग-बैंक के रुपये नहीं मिल सकते।"

चन्द्रसिंह ने कहा–"अभी हम लोग हवालाती हैं, हमारी सजा नहीं हुई है। हमारी जायदाद अभी कैसे जब्त हो सकती है ? ऐसा कोई कानून नहीं है, जो हमारे रुपयों को जब्त कर ले। आप रुपये भेज दें।"

आखिर में रुपये भेज दिये गये और श्री मुकुन्दीलाल जी एबटाबाद आये।

मुकुन्दीलालजी के अतिरिक्त एक फौजी अंग्रेज को भी अपने बचाव के लिए माँगा। पहिले-पहिल उन्होंने 1-18 रा. ग. रा. के कमांडिंग अफसर कर्नल मैनोरिंग को माँगा, फिर चेलन को खबर मिलते ही चेलन कोहाट से एबटाबाद आ गया। श्री मुकुन्दीलाल जी उसके एक दिन पीछे आये। चेलन साहब ने आकर चन्द्रसिंह से सारी बातें पूछीं, और खुदा की कसम खाकर कहा, कि मैं भरसक तुम्हारी मदद करूँगा। मुझे इस समय अंग्रेज न समझो। मैं तुम्हारा पक्का दोस्त और भाई हूँ। चन्द्रसिंह ने उसकी बातों पर विश्वास कर सारी बातें बतला दीं। इस पर चेलन ने कहा–"अफसोस है, सरकार आप लोगों के ऊपर 23 अप्रैल का मुकदमा नहीं चलाना चाहती। वह सिर्फ 24 अप्रैल की बगावत का ही आरोप करना चाहती है। लेकिन, हम आप लोगों को राजनीतिक

बन्दी बनाने की कोशिश करेंगे।"

चेलन ने बहुत कानूनी बातें बतलाईं। अगले दिन शाम को टक्कर के साथ बैरिस्टर मुकुन्दीलाल जी चन्द्रसिंह के पास गये। उन्होंने नमस्ते करते हुए कहा—"चन्द्रसिंह जी, मैं आप लोगों के बुलाने पर आ गया हूँ। सारी शक्ति लगाकर छुड़ाने की कोशिश करूँगा। आज मेरे पास गढ़वाल के डिप्टी-कमिश्नर और गढ़वाली जनता का तार आया है कि हमारी नजर एबटाबाद की ओर लगी हुई है।" शायद डिप्टी-कमिश्नर ने यह भी आशंका प्रकट की थी कि अगर गढ़वाली सिपाहियों का खून-खराबी हुई, तो सारे गढ़वाल में गड़बड़ी फैल जायेगी। मुकुन्दीलाल जी ने बतलाया कि अभियुक्तों के साथ सख्ती नहीं की जायेगी। इसके बाद चन्द्रसिंह की मुलाकात एकांत में मुकुन्दीलाल जी से फिर नहीं हुई।*

16

फौजी फैसला (1930 ई.)

8 जून, 1930 के 'लीडर' में 6 जून को एवटाबाद से भेजा निम्न समाचार छपा—"1857 के बाद बगावत के लिए भारतीय सिपाहियों का पहिला कोर्ट-मार्शल आजकल एवटाबाद के पास काकुल में हो रहा है। कोर्ट-मार्शल के सात सदस्य हैं, जिसके अध्यक्ष अम्बाला ब्रिगेड एरिया के कमाण्डर ब्रिगेडियर डब्लू. ई. विल्सन जान्सटन हैं। कप्तान स्टिफन जज-एडवोकेट हैं, जिनका काम है गवाहियों को अंग्रेजी में लिखना और वादी-प्रतिवादी दोनों को सलाह देना। वह अध्यक्ष और सदस्यों की ओर से गवाहों से सवाल पूछते हैं, और उनसे गवाही लेने की कोशिश करते हैं। कर्नल किंग सैमिक सरकारी वकील हैं, और मिस्टर मुकुन्दीलाल बार-एट-लॉ यू. पी. कौंसिल के डिप्टी प्रेसीडेंट को अपने कमांडिंग अफसर के द्वारा अभियुक्तों ने अपना वकील बनाया है। कप्तान पी. चेलन (तृतीय गढ़वाल राइफल) अभियुक्तों के मित्र के तौर पर काम करते हैं, जिन्हें सैनिक अधिकारियों ने इस काम के लिए नियुक्त किया है। अदालत तोपखाना स्कूल के लेक्चर के कमरे में बैठती है, जिसमें यू अक्षर के आकार में अनेक मेजें सटाकर रक्खी हुई हैं। अध्यक्ष इसके एक सिरे पर बैठता है। उसके दाहिने और बाएँ अदालत के सदस्य और जज-एडवोकेट बैठते हैं। परले छोर पर दाहिनी ओर सरकारी वकील और दुभाषिये—एक अंग्रेज

---

*श्री मुकुन्दीलालजी ने बहुत चाहा कि उनकी फीस सरकार दे। पहले भी सिपाहियों के मुकदमे में उन्होंने पैरवी की थी, और उन्हें फीस पलटन से मिली थी। जोर देते हुए उन्होंने गढ़वाली पलटन के कमांडिंग-ऑफिसर को निम्न चिट्ठी लिखी थी—

मुकुन्दीलाल, बैरिस्टर-एट-लॉ

कमांडिंग-ऑफिसर, 2-18 रॉयल गढ़वाल राइफल को — लैन्सडौन, 7-7-30

प्रिय महाशय,

कोर्ट-मार्शल के सामने 27 बन्दियों की पैरवी करने के लिए मेरी फीस के तौर पर मनीआर्डर खर्च काटकर जो 726 रु. 11 आ. 8 पाई भेजे गये, उसे धन्यवादपूर्वक मैं पाने की स्वीकृति देता हूँ।...

मैं यह जानना चाहता हूँ, कि अपराधी सैनिक कायदे-कानून के अनुसार सरकार के खर्च से वकील पाने के अधिकारी हैं या नहीं। मैंने पहिले भी सिपाहियों की पैरवी की और उसकी फीस मुझे सेना से मिली। सबसे पिछला मुकदमा इस तरह जो मैंने लिया था, उसमें एक सिपाही छुट्टी पाकर अपने घर पर रहने के समय मार-पीट और डकैती का अपराधी था, तो भी रज्मक में स्थित उसकी पलटन ने मेरी फीस के 450 रुपये दिये। मैं बहुत आभारी होऊँगा, यदि इस बात पर आप रोशनी डालें, क्योंकि मैं इसके बारे में खच्चर-अधिकारियों के पास लिखा-पढ़ी करना चाहता हूँ। अपराधियों को क्यों फीस देने के लिए मजबूर किया जाये, जबकि कायदे-कानून के अनुसार सरकार के खर्च पर अपनी पसन्द का वकील पाना उनका हक है। ऐसे वकील को ऊपर जबर्दस्ती नहीं लादा जा सकता, जिसको कि वह पसन्द नहीं करते या जिस पर उनका विश्वास नहीं है। चूँकि उन्होंने मुझे चाहा, इसलिए बचाव के अधिकार से वह वंचित नहीं हो सकते।

आपका विश्वासपात्र

मुकुन्दीलाल

और एक गढ़वाली–तथा संवाददाता हैं। अध्यक्ष के बाईं ओर अंत में बचाव के कौंसिल और अपराधियों के मित्र बेंचों पर दो पाँतियों में बैठते हैं। मेज के दोनों छोरों के बीच में अध्यक्ष के सामने सैनिक वर्दी पहने आठ अंग्रेज सिपाही संगीन के साथ बन्दूक लिये अभियुक्तों से दूर दोनों छोर पर बैठते हैं। जब गवाह शपथ लेता है, तो सारी अदालत उठ खड़ी होती है।"

2 जून, 1930 को 8 बजे सबेरे काकुल में फौजी अदालत बैठी। अध्यक्ष ब्रिगेडियर विल्सन-जान्सटन के अतिरिक्त और सदस्य थे :

1. लेफ्टिनेंट-कर्नल डी जे. एम. केम्पियन, कमांडिंग ऑफिसर चतुर्थ हजारा पहाड़ी तोपखाना।
2. लेफ्टिनेंट-कर्नल डब्लू. आर. पी. हेनरी. पी. ए. वी. ओ रिसाला।
3. मेजर एल. एल. बकलेण्ड, सेमब्रौन्स रिसाला।
4. कप्तान एल. जी. एच. हीवर, द्वितीय बी. एन, 17वीं डोगरा रेजिमेण्ट।
5. कप्तान एच. बी. डेविस, चतुर्थ बी. एन., 13वीं एफ. एफ. राइफल।
6. कप्तान एच. वाल्श द्वितीय बी. एन., छठी गोरखा राइफल।

जज-एडवोकेट : कप्तान आर. डब्लू. जी. स्टिफेन्स 1-18 रा. ग. रा.।

दुभाषिया– 1. मेजर डब्लू. ई. एच. कंडन, 5-13 एफ. एफ. राइफल।
2. सूबेदार-मेजर रूपचन्दसिंह बिष्ट, 2-18 रा. ग. रा.।

सरकारी वकील–लेफ्टिनेंट-कर्नल जे. सेंट. ए. किंग, 10-1 पंजाब रेजिमेण्ट

अभियुक्त के वकील–कप्तान पी. चेलन, 3-18 रा. ग. रा.।

उपरोक्त 17 आदमियों का अपराध है–भारतीय सेना विधान अनुच्छेद 27 के अनुसार बगावत में शामिल होना, 24 अप्रैल 1930 को द्वितीय बटालियन की 18 बी. रॉयल गढ़वाल राइफल को 16 बजे पेशावर शहर जाने के लिए आज्ञा दी गई। उक्त कम्पनी के कुछ राइफलमैनों के साथ ये लोग हुकुम देने पर अपनी कम्पनी लाइन से चलने से इन्कार करके बगावत में शामिल हुए।

ऊपर बतला चुके हैं कि अखबारों ने इसे 1857 ई. के विद्रोह के बाद बगावत करने का पहिला फौजी मुकदमा कहा था। काकुल में उस दिन जब यह मुकदमा गोरों की एक खाली बैरक के कमरे में शुरू हुआ, तो आसपास चारों ओर गोरों का सख्त पहरा लगा दिया गया था। कोई भी बाहरी आदमी छावनी के अन्दर आने नहीं पाता था। दूर-दूर तक पुलिस का पहरा लगा हुआ था। कमरे के भीतर भी हर खिड़की और दरवाजे पर राइफल लिये गोरा खड़ा था। अभियुक्तों और गवाहों के अतिरिक्त श्री मुकुन्दीलाल बैरिस्टर और दो संवाददाता भारतीय थे। सभी अभियुक्त खुले हुए थे, लेकिन चन्द्रसिंह के दोनों हाथों में दो हथकड़ियाँ थीं, जिनमें लगी दोनों जंजीरें दो गोरों की कमरपेटियों में बँधी थीं। चन्द्रसिंह को वहाँ बैठने के लिए एक कुर्सी दी गई थी।

अदालत की कार्रवाई शुरू करते हुए एक अंग्रेज ने अध्यक्ष का परिचय कराते हुए बतलाया कि आप अम्बाला ब्रिगेड के बिग्रेडियर-जेनरल हैं। आपका नाम विल्सन जान्सटन है। आप ही आप लोगों की अदालत का फैसला करेंगे। अगर आप लोगों को इनके ऊपर कोई एतराज हो तो कहें, क्योंकि इनको आप और सरकार के बीच न्याय करना है। चन्द्रसिंह और उनके साथियों ने कहा कि हमें कोई एतराज नहीं है। इसके बाद अध्यक्ष ने खड़े होकर बाइबल उठा अभियुक्तों के सामने खुदा को हाजिर-नाजिर जानकर कसम खाई, कि मैं इन गढ़वाली जवानों और अंग्रेजी सरकार के बीच ठीक इन्साफ करूँगा। इसी तरह बाकी 13 अफसरों ने कसम खाई, जिनमें अतिरिक्त सदस्य मेजर आर्मिटेज और मेजर बरो भी थे।

60 गढ़वाली अभियुक्तों के सामने सरकारी गवाहों का बयान लिया जाने लगा, जिनमें सबसे पहिले रा. ग. रा. के कमांडिंग ऑफिसर कर्नल वाकर थे। ब्रिगेडियर-कमाण्डर से जो हुकुम मिले थे, और 23-24 अप्रैल को उसने जो कुछ किया था, उसे उसने बतलाया। उसने यह भी कहा कि मुझे 18 अप्रैल को रिपोर्ट मिली थी, कि चन्द्रसिंह कांग्रेस और आर्यसमाज में जाता है, कम्पनी में लोगों को भड़काता है। मैंने खुद भी उसे शाहीबाग की कांग्रेस-सभा में देखा था। चन्द्रसिंह ने सवाल किया कि जब कर्नल साहब को 18 अप्रैल को मेरे

बारे में रिपोर्ट मिल गई थी, और उस दिन उन्होंने मुझे कांग्रेस की सभा में देखा भी था, तो उसी समय मेरे खिलाफ कार्रवाई क्यों नहीं की ?

सूबेदार जयसिंह बिष्ट ने जिसने सरकारी गवाह होकर जो बयान दिया था, उसके कुछ अंश निम्न प्रकार हैं–

"... पेशावर में 23 अप्रैल 1930 को 10-30 बजे मैं अपने प्लाटून नम्बर 4 के साथ कप्तान रिकेट के अधीन पेशावर शहर के काबुली दरवाजे में गया।

" वहाँ किसी गड़बड़ी में हमने भाग नहीं लिया, और हमें शहर के दूसरे भाग, हेंस्टिंग्स मेमोरियल में बुलाया गया, जहाँ हम मेजर ब्रोन्सकिल के कमान में आये।...

" 24 अप्रैल 1930 को 10 बजे ऑफिस के हिन्दी क्लर्क लैन्सनायक अनूपसिंह मेजर ब्रोन्सकिल से यह सन्देश लेकर आये, कि मुझे ए. कम्पनी को लारियों के पास ले जाना चाहिए।...

"15-45 बजे के करीब प्रत्येक कम्पनी के सीनियर गढ़वाली अफसरों को कप्तान चेपल ने बुलाया। मैं अपने से बाद के सीनियर जमादार लूथीसिंह को सड़क पर खड़ी लारियों में कम्पनी को लाने के लिए कहकर कप्तान के पास गया...

" हवलदार गोरियासिंह नम्बर 1 प्लाटून के कमाण्डर ने मुझे रिपोर्ट दी, कि नम्बर 1 प्लाटून चलने से इन्कार करते हैं। रिपोर्ट देते समय यह प्लाटून मुझसे 15-20 गज पर थी। मैं तब प्लाटून नम्बर 4 के पास गया, जो कि वहाँ से करीब 30 गज पर थी। मैंने प्लाटून नम्बर 4 और कम्पनी-क्वार्टर-मास्टर हवलदार चन्द्रसिंह, जो वहाँ खड़ा था, से बहुत जोर देकर कहा। उस पर चन्द्रसिंह ने कहा–'तुम जाओ, हम नहीं आयेंगे।'...

" कम्पनी-क्वार्टर-मास्टर हवलदार चन्द्रसिंह ने कहा–'हम बच्चों-बूढ़ों को मारने के लिए तैयार नहीं हैं।...' "

सरकारी गवाह सूबेदार त्रिलोकसिंह ने अपने बयान में कहा था कि हवलदार चन्द्रसिंह ने मुझसे कहा–"अगर नगर के लोग होते, तो हम तैयार हो सकते थे, लेकिन हम बच्चों को मारने के लिए तैयार नहीं हैं।"

चन्द्रसिंह के ऊपर आर्यसमाजी होने की बात कह करके एक और इल्जाम खड़ा किया गया था, जिसके लिए कोर्ट-मार्शल ने एबटाबाद के डिप्टी-कमिश्नर लेफ्टिनेंट कर्नल एम. ई. रे की गवाही ली थी, बयान भी लिया था। रे ने हलफ उठाने के बाद निम्न बातें कही थीं–

" मैं एबटाबाद का डिप्टी-कमिश्नर हूँ।

" अपने सरकारी कर्तव्यों को पालन करते समय मुझे भारत की राजनीतिक संस्थाओं-सम्बन्धी जानकारी प्राप्त हुई।

" 1924 से 1927 तक मैं पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश के चीफ-कमिश्नर का सेक्रेटरी रहा। उसके बाद के थोड़े-से समय को छोड़कर मैं वर्तमान पद पर हूँ।

" आर्यसमाज स्वयं राजनीतिक संस्था नहीं है। यह अग्रगामी हिन्दू विचारोंवाली एक धार्मिक संस्था है। इसके मेम्बरों के राजनीतिक विचार कुछ आगे बढ़े हुए होते हैं।

" हाल के वर्षों में जो राजनीतिक गड़बड़ी हुई है, जहाँ तक मुझे मालूम है, उनका सम्बन्ध इस संगठन से नहीं मिलता है।...

" किसी सरकारी नौकर को आर्यसमाज में शामिल होने की कोई रोक नहीं है। मैं समझता हूँ मुझे ऐसे सरकारी नौकर मालूम हैं, जो कि इस समाज के मेम्बर हैं।... "

गवाहियों के बाद अभियुक्तों ने अपना बयान दिया। (कम्पनी क्वार्टर-मास्टर हवलदार) चन्द्रसिंह भण्डारी, (ए. कम्पनी दूसरी बटालियन 18वीं रॉयल गढ़वाल राइफल) ने जो वक्तव्य दिया था, उसकी मूल हिन्दी कापी नहीं मिली, लेकिन उसके अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकार है–

"1. 24 अप्रैल के 10 बजे के करीब ए. कम्पनी को ऑफिस से लारी की ओर जाने का हुकुम हुआ था, जिसे एक क्षण की सूचना पर शहर की ओर जाना था।

2. कम्पनी हवलदार-मेजर जाथलीसिंह उस वक्त मौजूद नहीं था। मैंने कम्पनी के फालिन करने से पहिले मार्कर लगाया।

3. जैसे ही हम लोग इकट्ठे गाड़ी में गये, मेजर ब्रोन्सकिल ने हमें फिर उतर आने तथा लाइन में लौटने के लिए कहा और चलने के लिए तैयार रहने का हुकुम दिया।

4. यह हुकुम तामिल किया गया, और हम नम्बर 2 प्लाटून के बराण्डे में जमा हुए।

5. 11 बजे के कुछ देर बाद हुकुम आया, कि लारी के पास जायँ। सारी कम्पनी और मैंने इसकी तामिल की। हम लारी में थोड़े ही समय रहे। फिर कहा गया कि उतरकर लाइन में लौटो और तैयार रहो।

6. 12 बजे ए. कम्पनी की बी. और सी. कम्पनियों ने मिलकर बदली की।

7. करीब दस मिनट बाद क्वार्टर-मास्टर हवलदारों के लिए बिगुल से पुकार हुई। मैं तुरन्त ऑफिस गया, और लेफ्टिनेंट पावल ने हुकुम दिया, कि वेरी-लाइट का हिसाब तैयार करके लाइन और लाइट को भी मेगज़ीन में लाओ।

8. लाइन की ओर लौटते जब मैं द्वितीय प्लाटून के बैरक से गुजरा, तो गढ़वाली अफसर सूबेदार जयसिंह, सूबेदार त्रिलोकसिंह, जमादार लुथीसिंह और जमादार नन्दासिंह की बैठक बर्खास्त हो रही थी। सूबेदार जयसिंह मेरे पास आये और मेरा हाथ पकड़कर रसोईघर की तरफ ले गये। वहाँ खड़े होकर उन्होंने मुझसे कहा—"मेजर ब्रोन्सकिल मेरे पीछे पड़ा हुआ है और लारियों में राशन के गिरने की बात को लेकर आज सबेरे कमांडिंग ऑफिसर के पास ले गया। उसने कल शहर में भी मुझसे कहा था, यहाँ भी कहा, कि लैन्सनायक उमरावसिंह इसी के साथ बीच में लाया जा रहा है। उन्होंने कहा—'तुम सबको अब एक हो जाना चाहिए।' मैंने दूसरे गढ़वाली अफसरों से इसके बारे में कहा।

9. तब उन्होंने हवलदार-मेजर को पुकारा, लेकिन वह वहाँ नहीं था। सो उसकी जगह उन्होंने हवलदार गोरियासिंह को बुलाया, और मुझे कहा, कि नम्बर 1 प्लाटून के नान-कमीशंड अफसरों को ले आओ। मैंने ऐसा किया और क्वार्टर-गार्ड के पीछे मेगज़ीन में सीधे गया। यह 12-30 बजे की बात है।

10. मैं वहाँ बड़ी देर तक इंतिजार करता रहा, जब लेफ्टिनेंट पावल आये। जब वह आये, तो उन्होंने सभी कम्पनी कवार्टर-मास्टर हवलदारों को सफेद और हरी रोशनियाँ दीं। लाल को ढूँढ़ने के लिए मैंने वहाँ रक्खे सभी बक्सों को खोला। उन्हें वहाँ नहीं पाया, लेकिन मुझे याद आया, कि वह दूसरे गोदाम में रक्खी हैं। हम वहाँ गये और लेफ्टिनेंट पावल ने नई लाल वेरी-लाइट बाँटी। मैं 14 बजे के करीब लारी में लौटा।

11. वहाँ पहुँचने पर मैंने देखा, कि सी. एच. एम. को ऑफिस से अभी-अभी नये हुकुम मिले हैं। मुझे कहा गया कि तीन बार के भोजन के लिए चपातियाँ पकवाने का प्रबन्ध करूँ, क्योंकि 16 बजे सारी बटालियन शहर ज़ायेगी। लाइटों को बाँट देने के बाद मैंने रसोईघर में जा खाने का आवश्यक प्रबन्ध किया, जिसके लिए राशन को तौलना और बाँटना पड़ा था। हवलदार नारायणसिंह ने कम्पनी हवलदार-मेजर से मिले एक हुकुम को दिया, जिसमें 15-45 बजे ऑफिस के सामनेवाली सड़क पर अवस्थित लारियों में क्वार्टर-मास्टर को रिपोर्ट देने की बात थी।

12. राशन-प्रबन्ध पूरा कर रसोईघर छोड़ मैं अपने क्वार्टर की ओर गया। उस समय अपने क्वार्टर से आते सूबेदार जयसिंह से मेरी मुलाकात हुई। सूबेदार जयसिंह ने मुझे कहा कि मेरी तरक्की छह महीने के लिए बन्द कर दी गई, और कमांडिंग अफसर ने लैन्सनायक उमरावसिंह को फटकारा। उन्होंने यह भी कहा—'मैं ऐसे बर्ताव को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं हूँ। मैं मेजर ब्रोन्सकिल को यह दिखला देना चाहता हूँ, कि मेरा भारी प्रभाव है और सारी बटालियन मेरी पीठ पर है। अब तुम जाओ और नम्बर 4 प्लाटून की दस्तख्त ले लो। तब मेजर ब्रोन्सकिल को बताऊँगा, कि इस बर्ताव के कारण यह सब लोग इस्तीफा देना चाहते हैं।' मैंने कहा—'इससे हमारा कोई फायदा नहीं होगा।' तब सूबेदार जयसिंह ने कहा, 'नम्बर 1, 2 और 3 ने कागज पर दस्तखत कर दिये हैं, इसलिए नम्बर 4 प्लाटून को भी करना होगा। तुम मेरा हुकुम मानो।'

13. इसी समय क्वार्टर-मास्टर हवलदारों को बुलाने का बिगुल फिर बजा। मैं आफिस की ओर दौड़ा,

मैं कम्पनी क्वार्टर-मास्टर बख्तावरसिंह से जरा-सा पहिले आया। लेफ्टिनेंट पावल ने कहा–'लारी में आने के बाद सभी क्वार्टर-मास्टर हवलदारों को मुझे रिपोर्ट देनी चाहिए।' उसने मुझे छोड़ दिया और इसी समय तीन कम्पनी क्वार्टर-मास्टर हवलदार आये। लेफ्टिनेंट ने न समय बतलाया और न यह कि मैं अपने साथ किस आदमी को लाऊँ। मेरे वहाँ से चलते वक्त बख्तावरसिंह वहीं रहा।

14. मैं लाइन में लौटा, और हवलदार नारायणसिंह के दरवाजे के बाहर कुछ आदमियों के साथ सूबेदार जयसिंह को बात करते पाया। वह मुझे कमरे के भीतर ले गये और कागज का टुकड़ा निकालकर बोले–'मैं एक के बाद एक आदमियों को भेजता हूँ, तुम उनकी दस्तखत ले लो।' वह मुझे अकेला छोड़कर चले गये। फिर एक-एक करके आदमी आये और उन्होंने कागज पर हस्ताक्षर किया।

15. कुछ देर बाद वह लौटकर आये और मुझसे पूछा, कि क्या मैंने सबके दस्तखत ले लिये। मैंने कहा 'हाँ।' तब उन्होंने मुझसे कहा–'इसके ऊपर वह वाक्य लिख दो, जो कि नामों के ऊपर यहाँ मौजूद है।' मैंने वैसा ही किया और कागज उन्हें दे दिया।

16. फिर मैं मोटरों के आने के बारे में देखने गया। वह ऑफिस के पास नहीं थीं। उन्हें मैंने मुख्य सड़क पर देखा। मैं लारियों के पास गया और लौटते वक्त ए. कम्पनी लाइन के पास मेरी मुलाकात लेफ्टिनेन्ट पावल से हुई। मैंने उन्हें रिपोर्ट दी, कि मैं लारियों के पास गया था। उन्होंने रिपोर्ट न करने की मुझसे कोई शिकायत नहीं की।

17. मैंने लाइन में लौटकर देखा कि कम्पनी फालिन हो गई है। मैं नम्बर 4 प्लाटून में मिल गया, क्योंकि कम्पनी हेड-क्वार्टर अग्रगामी के तौर पर शहर चला गया था।

18. मैंने जमादार नन्दासिंह को नम्बर 2 प्लाटून को चलने के लिए हुकुम देते देखा। आगे की पाँती ने वैसा नहीं किया। जमादार नन्दासिंह ने अगले आदमी को मारा। इसके बाद उन्होंने उसकी आज्ञा का पालन किया। जमादार लूथीसिंह ने जब देखा, कि नम्बर 2 प्लाटून चला गया है, तो उन्होंने 3 को चलने का हुकुम दिया। उन्होंने भी उसका पालन किया, और बैरक के किनारे से चलते नम्बर 2 प्लाटून के पहिले सड़क पर पहुँच गये।

19. नम्बर 4 प्लाटून को चलने का कोई हुकुम नहीं दिया गया था, इसलिए ऑर्डर नहीं मिला, और चूँकि सूबेदार जयसिंह मौजूद नहीं थे, इसलिए हम अपनी जगह पर बरकरार रहे।

20. हम वहाँ तब तक रहे, जब तक कि सूबेदार जयसिंह कप्तान चेपल के साथ नहीं लौटे।

21. कप्तान चेपल नम्बर 1 प्लाटून के पास गये और सूबेदार जयसिंह हमारे पास आकर बोले, कि अगर मैं कोई हुकुम दूँ, तो तुम्हें नहीं मानना चाहिए और अगर वह इसके लिए कुछ खरी-खोटी कहे, तो हमें उसे ध्यान में नहीं लाना चाहिए, और इस्तीफा दे देना चाहिए।

22. जब सूबेदार जयसिंह ने 'फार्म-फोर्स' (चार-चार बन जाओ) का हुकुम दिया, तो उनके पहिले हुकुम के अनुसार चुप खड़े रहे।

23. कप्तान चेपल ने पूछना शुरू किया, कि किसलिए यह सारी गड़बड़ी है। मैंने अनुभव किया कि हमने अपने को बेवकूफ बनाया। हमारे लिए अब यही बात करने को रह गई थी, कि अपने इस्तीफे का समर्थन करें, जो कि हमें अभिप्रेत नहीं था।

24. मैं कहता हूँ, कि मैं बगावत में नहीं शामिल हुआ था। मैंने अपने ऊपर के अफसर सूबेदार जयसिंह के हुकुम को कायदे के अनुसार पालन किया। मैं अब पूरी तौर से अनुभव करता हूँ, कि सूबेदार जयसिंह के प्रभाव में धोखे में पड़कर मैंने ऐसा काम किया, जिसे मैं कभी न करता, यदि सोचने का मुझे मौका मिला होता। मैं यह प्रार्थना करना चाहता हूँ, कि सूबेदार जयसिंह के हुकुम-अदूली करने की आज्ञा से पहिले मैं अपने कर्तव्य को ईमानदारी के साथ पूरा करता रहा। यह बतलाता है, कि सैनिक अधिकारियों के आज्ञाभंग की पहिले से मैं इच्छा नहीं रखता था।

25. अंत में मैं सम्मान के साथ प्रार्थना करता हूँ, कि हमारी सारी कठिनाइयों के एकमात्र कारण सूबेदार

जयसिंह हैं, जो कि उनकी इस बात से भी प्रमाणित होता है–'इनका दारोमदार मेरे ऊपर है, मेरा दारोमदार ब्रोन्सकिल साहब के ऊपर है।' इस वाक्य को उन्होंने 24 अप्रैल 1930 की शाम को गढ़वाली अफसर क्लब में रेजिमेण्ट के गढ़वाली अफसरों और नॉन कमिशंड अफसरों के सामने कहा था। बैठक में जो गड़बड़ी पैदा हुई बतलाई जाती है, वह किसी हुकुम-अदूली के भाव के कारण नहीं हुई थी, बल्कि इस जाल के भयंकर परिणाम को गहराई के साथ अनुभव करने के कारण हुई थी, जो कि हमारे लिए, हमारी रेजिमेण्ट के लिए और हमारी जाति के लिए बिछाया गया था।"

यह हम बतला चुके हैं कि चन्द्रसिंह ने पहिले सारे कसूर की जिम्मेवारी अपने ऊपर लेकर कठोर से कठोर दण्ड भोगने की इच्छा प्रकट की थी, लेकिन उनके साथियों ने ऐसा करने से मना कर दिया। इस पर उन्हें अपना खयाल बदलना पड़ा और अब उनके सामने सवाल यही था, कि अपने साथियों को कैसे और कहाँ तक बचाया जा सकता है। यद्यपि दस्तखत कराने और प्रचार करने में सबसे पहले चन्द्रसिंह थे, और सूबेदार जयसिंह का इसमें विशेष हाथ नहीं था, पर एक बार वह इनकी तरफ हुए थे, और पीछे साफ बदलकर अपने गढ़वाली भाइयों को कड़ी से कड़ी सजा दिलाने के लिए पूरी कोशिश करने लगे। इसे देखकर चन्द्रसिंह और उनके साथियों ने जयसिंह को अछूता न रहने देने का निश्चय किया। चन्द्रसिंह ने अपना बयान अकेला दिया था। उनके साथियों में नारायणसिंह जी ने एक छोटा-सा बयान दिया था। केसरसिंह रावत, भीमसिंह बिष्ट, हरखसिंह घपोला, उमरावसिंह रावत ने भी अपने अलग-अलग वक्तव्य दिये थे। बाकियों ने मिलकर दो वक्तव्य दिये थे। मुख्य बातें करीब-करीब एक ही सी थीं।

सरकारी वकील कर्नल किंग ने चन्द्रसिंह के ऊपर आर्यसमाजी होने का भी इल्जाम लगाया। सूबेदार-मेजर रूपचन्दसिंह बिष्ट और ए. कम्पनी के चारों रसोइयों ने गवाही दी–"चन्द्रसिंह आर्यसमाज में जाता और ए. कम्पनी में आर्यसमाज का प्रचार करता था। चन्द्रसिंह मछली-मांस नहीं खाता, न शराब पीता है और लोगों को भी शराब पीने से मना करता है। पलटन में जो कुछ गड़बड़ी हुई, वह आर्यसमाज के कारण हुई।"

चन्द्रसिंह के ऊपर आर्यसमाजी होने का अपराध लगाये जाने पर जान पड़ा, यह बड़ा संगीन मामला है। सारी अदालत चौंक पड़ी। अभियुक्तों और उनके वकील को बैरक से बाहर ले जाया गया, और आध घंटा तक दरवाजा बन्द करके वहाँ सलाह-मशविरा होता रहा। आध घंटे बाद चन्द्रसिंह को भीतर बुलाया गया, और उनके साथियों को अपने स्थान में भेज दिया गया। जेनरल ने पूछा–"चन्द्रसिंह, क्या तुम आर्यसमाजी हो ?"

चन्द्रसिंह ने जवाब दिया–"हिन्दुस्तान में करीब-करीब सभी लोग आर्य हैं। यदि सच्चा आर्यसमाजी कोई था, तो वह स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। हमारे में इतनी शक्ति कहाँ, कि आर्यसमाजी बन पायें।" यह सुनकर अंग्रेज अफसरों ने आपस में बातचीत की और निश्चय किया कि हजारा के डिप्टी-कमिश्नर को आर्यसमाज के बारे में पूछा जाय। दो घंटे के लिए अदालत बर्खास्त कर दी गई। तुरन्त हजारा के डिप्टी-कमिश्नर को टेलीफोन किया गया।

दो घंटे बाद अदालत फिर बैठी। इस समय डिप्टी-कमिश्नर आ पहुँचा था। उसके लिए अदालत में एक कुर्सी रक्खी गई। डिप्टी-कमिश्नर बैठ गया। गर्मी के दिन थे। एक आदमी बाहर से पंखा खींच रहा था। पंखा खश का था, जिसमें चमड़े का फीता लगा था। डिप्टी-कमिश्नर टोपी उतारकर जिस वक्त कुर्सी पर बैठ रहा था, अचानक पंखे की रस्सी टूट पड़ी और वह उसकी खोपड़ी में जा लगी, जिससे घाव हो गया और खून निकलने लगा। उसका होश उड़ गया। इसी समय चन्द्रसिंह के मुँह से एकाएक निकल पड़ा–"देखो, खुदा ने डिप्टी-कमिश्नर साहब को चेतावनी दी है, कि वह सच बोलें, पक्षपात न करें।" चारों ओर से 'चुप-चुप' की आवाज निकली।

होश ठीक हो जाने पर अदालत ने डिप्टी-कमिश्नर से पूछा–"आर्यसमाज क्या है और सरकार के प्रति उसका क्या रुख है ?"

डिप्टी-कमिश्नर ने बाइबल उठा कसम खाकर कहा–"मेरी इन लोगों के साथ कोई दुश्मनी नहीं है। मैं जो कुछ कहूँगा खुदा को हाजिर-नाजिर जानकर सच कहूँगा। मैं करीब सात जिलों में डिप्टी-कमिश्नर रह चुका

हूँ। मेरे साथ बहुत-से आर्यसमाजी सरकारी नौकर काम करते रहे हैं। जहाँ तक मैंने देखा, आर्यसमाजी बहुत सच्चे और ईमानदार होते हैं। सच बोलना और नेकनियती से काम करना आर्यसमाजी अपना फर्ज समझते हैं। उनकी चार किताबें हैं, जिन्हें वेद तथा खुदाई किताब मानते हैं। आर्य अपने को ऊँचा मानते हैं, और अपने धर्म का प्रचार करते हैं। गोश्त खाना, शराब पीना, जुआ खेलना आदि के लिए मना करते हैं। सरकार को आर्यसमाज से कोई खतरा नहीं।"

डिप्टी-कमिश्नर के बयान के खतम होने पर जेनरल के मुँह से "हियर-हियर" (बहुत अच्छा) की आवाज निकली। उसने कहा कि आर्यसमाजी होने का इल्जाम चन्द्रसिंह पर नहीं लगाया जा सकता। सूबेदार-मेजर ठाकुर रूपचन्दसिंह से पूछा गया कि क्यों तुमने यह झूठा इल्जाम लगा के अदालत का चार घंटा बरबाद किया।

सरकारी गवाहों की गवाही खतम हो गई। अब वकीलों की जिरह बाकी थी, जिसके लिए कचहरी अगले दिन के लिए उठ गई। दूसरे दिन सबेरे 8 से 10 बजे तक कर्नल किंग और श्री मुकुन्दीलाल बैरिस्टर अंग्रेजी में बहस करते रहे। इसके बाद एक घंटा तक किंग और चेलन की जिरह हुई। फिर कानूनी नुक्तों पर एक घंटे तक बहस छिड़ी रही। फिर श्री मुकुन्दीलालजी ने अभियुक्तों के पक्ष में एक भाषण दिया, जिसका अदालत पर अच्छा प्रभाव पड़ा। उनके कहने का कुछ अंश था—"मैं यहाँ गढ़वाल के एक प्रतिनिधि के रूप में बोल रहा हूँ। मैं गढ़वाल का निवासी हूँ और पाँच साल से गढ़वाल की ओर से विधान-सभा का मेम्बर हूँ। गढ़वाल की पाँच लाख जनता का इस तरह विश्वासपात्र हूँ। मैं केवल वकील के तौर पर नहीं, बल्कि जनता के प्रतिनिधि के रूप में बोल रहा हूँ। अगर इन गढ़वालियों ने जो सेवाएँ सरकार की अब तक की हैं, और जिस तरह उन्होंने फ्रांस और दूसरी लड़ाइयों में अपनी राजभक्ति का परिचय बहादुरी से दिया है, उसे यहाँ दोहराने की जरूरत नहीं है। इसका जरूर खयाल रखना चाहिए।" इत्यादि।

8 जून को फौजी अदालत की कार्रवाई समाप्त हुई। दूसरे अफसर उठकर चले गये। चन्द्रसिंह ने अध्यक्ष से पूछा—"जेनरल साहब, क्या मैं यह जान सकता हूँ, कि क्यों मुझे यहाँ नम्बर एक मुजरिम बनाया गया ? मेरे ऊपर क्यों इतनी जबर्दस्त निगरानी की जाती है ? मैं भी अपने 60 साथियों में से एक हूँ, जिनके ऊपर भी वही कसूर लगाया गया है, फिर यह भेदभाव क्यों ?"

प्रश्न सुनकर बाहर की तरफ चल पड़े अफसर भी आकर अपनी-अपनी कुर्सियों पर बैठ गये। उसके बाद जेनरल ने एक नोट-बुक निकालकर दिखलाया, वह कांग्रेसी डायरी थी, जिस पर हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े कांग्रेसी नेताओं की तस्वीरें थीं। जेनरल ने कहा—"तुम इन लोगों को पहचानते हो ?" चन्द्रसिंह ने सिर्फ महात्मा गाँधी को अल्मोड़ा में देखा था। उन्होंने देखकर कहा, "इनको मैं पहचानता हूँ, बाकी लोगों को नहीं पहचानता।"

यह डायरी चन्द्रप्रकाश की थी। जेनरल के पूछने पर चन्द्रसिंह ने बतलाया कि मैं चन्द्रप्रकाश से परिचित नहीं हूँ। डायरी में हवलदार-मेजर चंद्रसिंह भण्डारी 2-18 रॉयल गढ़वाली रायफल लिखा हुआ था। जेनरल ने पूछा—"क्या आप जानते हैं कि इस डायरी में आपका नाम किसने लिखा ?" चन्द्रसिंह के इन्कार करने पर जेनरल ने कहा—"तुम्हारे ऊपर खुफिया पुलिस की रिपोर्ट है। बटालियन के कमांडिंग ऑफिसर ने तुम्हें खुद कांग्रेसी सभा में देखा है। इसीलिए सरकार को सन्देह है कि तुम्हीं ने लोगों में यह खयाल फैलाया, इसीलिए तुमको नम्बर एक अभियुक्त बनाया गया।"

चन्द्रसिंह के साथी बैरक के बाहर एक पाँती से खड़े थे। श्री मुकुन्दीलाल चेलन के साथ मोटर में बैठने जा रहे थे, उसी वक्त चन्द्रसिंह ने आवाज दी—

"आप जा रहे हैं। क्या अब भी हम लोगों से मिलने में कोई खतरा है ? जो होना था, सो तो हो चुका, अब कम-से-कम जाते वक्त हमको दर्शन देते जायें। हमारा संदेश गढ़वाल में ले जायँ और हमारा नमस्ते कहकर गढ़माता से कहें, कि हम तेरे ही अन्न-जल से तेरी ही गोद में पले थे, इसलिए हम आज तेरी ही इज्जत और शान के लिए मरने जा रहे हैं। माता, हमारी गलतियों को क्षमा करना। हमारा आखिरी अरमान यही है कि हमारी इच्छा को गढ़वाली जनता के सामने रख दें।"

अदालत के उठने से पहले ही चंद्रसिंह ने एक चिट्‌ठी लिखकर श्री मुकुन्दीलाल जी की जेब में डाल दी थी। उसमें करीब-करीब निम्न बातें थीं–

"माननीय बैरिस्टर साहब, मेरा आपके ऊपर पूरा विश्वास है, वैसा ही जैसा कि एक मासूम बच्चा अपनी माँ के प्रति करता है। दूसरी बात मैं अपने पूज्य पिता के बारे में कहना चाहता हूँ। मेरे पिता जाथलीसिंह भण्डारी, मौजा मासो, पट्‌टी चौथान, डाकखाना बूगीधार, जिला गढ़वाल में रहते हैं। मेरी एक लड़की है, जिसका नाम देवमती है। उसकी माँ का देहान्त हो गया है। मेरी दो स्त्रियाँ मौजूद हैं–भागीरथी और नवीना। मेरे दो छोटे भाई हैं। मुझे आशा है, कि आप खुद मेरे घर जाकर मेरे पूज्य पिता और कुटुम्ब को सान्त्वना देकर समझायेंगे, और कहेंगे कि मेरी मौत पर उन्हें खुश होना चाहिए, क्योंकि मैं किसी बुरे काम के लिए नहीं मर रहा हूँ। मुझे आशा है, आप और गढ़वाल मेरे दुःखी कुटुम्ब को नहीं भूलेंगे।"

अन्त में चंद्रसिंह और उनके साथियों ने श्री मुकुन्दीलाल और चेलन को धन्यवाद देकर विदा किया और आपस में प्रेम के साथ मिलकर वह अपनी गारद में चले गये।

9 जून 1930 के सबेरे कर्नल वाकर लाल घोड़े पर सवार होकर चन्द्रसिंह की कोठरी के सामने खड़ा हो कुछ देर देखता रहा, फिर बोला–"चन्द्रसिंह, खुदा तुम्हारा नाश करेगा।"

चन्द्रसिंह ने कहा–"बस, या और कुछ ?"

कर्नल ने कहा–"तुमने मेरे बच्चों को भूखा मार डाला।"

11 जून तक कोर्ट-मार्शल के फैसले की प्रतीक्षा होती रही। काकुल छावनी के परेड मैदान में तैयारियाँ हो रही थीं। चन्द्रसिंह को घुमाने के लिए जो गोरे ले जाते, वह उस स्थान को दिखलाकर बतलाते–"यहाँ तुमको गोली मारी जायेगी।" 11 तारीख को सूवेदार लूथीसिंह रावत ने चन्द्रसिंह की वर्दी, बूट-पट्‌टी आदि ले जाते समय कहा–"कल आप लोगों को सजा सुनाई जायेगी।"

क्या फैसला होगा, इसकी चिन्ता तो होनी ही ठहरी। दण्ड से बढ़कर असह्य दण्ड के हुकुम की प्रतीक्षा होती है। उसी दिन 10 बजे रात को एक अंग्रेज अफसर ने आकर कहा–"हलो मिस्टर चन्द्रसिंह, मुबारक, मुबारक ! ब्रिगेडियर जेनरल साहब ने आपके पास मुबारकबादी भेजा है। सरकार ने आपको मौत की सजा से मुक्त कर दिया। बहुत कम सजा रक्खी गई है।"

चन्द्रसिंह ने उक्त अफसर और जेनरल साहब को इसके लिए धन्यवाद दिया। उस समय तो उन्हें यही समझ में आया कि मौत की सजा के डर से कहीं कैदी रात ही में मर न जायें, और कल परेड में जो तमाशा होनेवाला है, वह न हो पाये, इसीलिए यह सन्देश भेजा गया है। फिर मद्रासी डाक्टर आये। उन्होंने एक पुड़िया पानी में डालकर पीने के लिए दी, जो शायद नींद के लिए थी। आध घंटे बाद चन्द्रसिंह को इतनी जबर्दस्त नींद आई कि अगले दिन बिलकुल धूप निकल आने पर भी वह नहीं जगे।

देर होते देख गोरे सिपाही ने उन्हें जगाया। शौच और हाथ-मुँह धोकर तैयार हुए। झटपट वह वर्दी पहनकर चलने के लिए तैयार हुए। दस बजे के करीब गढ़वाली बटालियन बैण्ड बाजे के साथ मार्च करती एबटाबाद से काकुल पहुँची। साठों बन्दियों को ले जाकर उसके सामने उपस्थित किया गया। उनकी पाँती में दाहिनी ओर 43 सिपाही थे, और बाईं ओर 17 ओहदेदार। सबसे बाएँ छोर पर हाथों में दो हथकड़ियाँ डालकर चन्द्रसिंह को खड़ा किया गया। चन्द्रसिंह ने सिर उठाकर बटालियन की ओर नजर दौड़ाई। सारे सिपाही दुख से आँखें नीचे किये हुए थे। फिर चन्द्रसिंह की आँखें अपने उन प्यारे साथियों को ढूँढ़ने लगीं, जिन्होंने हर प्रकार से उनका साथ दिया था।

कुछ देर बाद 1-18 रा. ग. रा. के कमांडिंग-अफसर कर्नल मनोरिंग (वाकर का स्थानापन्न) आया। उसने अड्‌जुटेंट टक्कर को हुकुम दिया कि कैदियों को फैसला सुना दो। टक्कर ने फैसले को सुनाया–

"हिज मैजेस्टी के हुकुम से बगावत में शामिल होने के कसूर पर ए. कम्पनी के क्वार्टर-मास्टर हवलदार चन्द्रसिंह को निम्न सजा दी जाती है :

1. जिन्दगी-भर कालापानी,

2. सारी जायदाद जब्त,

3. ओहदेदारी से उतारकर सिपाही दर्जे में रखना,

4. सिपाही से नाम काटकर खारिज* कर देना।

हुकुम के खतम होते ही सूबेदार-मेजर रूपचन्दसिंह और जमादार देवीसिंह रावत हाथ में कैंची लेकर चन्द्रसिंह के ऊपर टूट पड़े, और सारी बटालियन के सामने बेइज्जत करने के लिए तमाशा दिखाने लगे। उन्होंने चन्द्रसिंह के सिर से टोपी उतारकर उसमें से बैज और चेनस्टाप फाड़कर फेंक दिया। फिर उनकी वर्दी से हवलदारी का बिल्ला नोंच लिया। अच्छे आचरण का फीता, रॉयल रस्सी, तमगा आदि को नोंच-नोंचकर लोगों को दिखाते जमीन पर पटक दिया। उस समय चन्द्रसिंह के पास चार तमगे थे–1. फ्रांस-युद्ध तमगा, 2. सामान्य सेवा तमगा, 3. विक्टोरिया सर्विस तमगा, 4. वजीरिस्तान तमगा।

आखिर में वर्दी का बटन न खोलकर आस्तीन को कैंची से काटकर चन्द्रसिंह के शरीर से वह वर्दी निकालने लगे। अब चन्द्रसिंह से रहा नहीं गया। उन्होंने बटन तोड़ते हुए वर्दी को फाड़कर फेंक दिया। जाँघिया, बूट-पट्टी, जुराब सब उतार फेंके।

सारी बटालियन सामने खड़ी थी। काकुल की जनता भी भीड़ लगाये थी। टक्कर दूसरे साथियों को सजा सुना रहा था, लेकिन चन्द्रसिंह उस अपमान से इतने बदहवास हो गये थे कि उन्हें नहीं सुनाई पड़ा कि किसको क्या सजा दी गई है।

हवालात की कोठरी में लौटकर चन्द्रसिंह के पास जो भी कपड़े आदि थे, सबको गोरे सिपाहियों को दे दिया। दो बजे दिन को टक्कर साहब चन्द्रसिंह के दोस्त शेरसिंह बुटौला के साथ आये। उसने मुकदमे के फैसले की कापी और पलटन से नाम खारिज होने का कागज दिया। चन्द्रसिंह ने हाथ में आते ही उन कागजों को फाड़कर फेंक दिया और टक्कर से पूछा–"मुझे यहाँ से कब भेजोगे ?"

टक्कर ने कहा–"हमने आपके कागजों को यहाँ से भेज दिया है। नहीं मालूम वह कब और कहाँ आपको भेजेंगे।"

चलते समय टक्कर ने कहा–"अच्छा चन्द्रसिंह, हम जाते हैं। हमसे जो गलती हुई हो, उसे माफ करना। सलाम।"

चन्द्रसिंह ने कहा–"टक्कर साहब, धन्यवाद। खुश रहें।"

उस समय हवलदार शेरसिंह बुटौला की आँखों में आँसू भर आये थे। उसने दस रुपये का नोट चन्द्रसिंह के हाथ पर रखकर कहा–"प्यारे भाई, जाओ। जिन्दा रहेंगे तो फिर मिलेंगे।" दोनों वहाँ से चले गये।

सूर्य डूब गया। कोठरी के दरवाजे से आसमान में कोई-कोई सितारे दिखलाई पड़ रहे थे। इसी समय एक हिन्दू और एक मुसलमान दो सज्जन थाल में खूबानियाँ, एक गिलास दही, एक जोड़ा धोती और पगड़ी लेकर आये। उन्होंने गोरे सार्जेन्ट से दर्खास्त की कि हम चन्द्रसिंह से मुलाकात करना चाहते हैं। सार्जेन्ट ने चन्द्रसिंह से आकर पूछा, "क्या आप इन लोगों से मुलाकात करना चाहते हैं ?"

चन्द्रसिंह ने उत्तर दिया–"आपकी बड़ी मेहरबानी होगी, यदि आप उनसे मुलाकात करा दें।"

---

* पलटन में 14 सितम्बर 1914 में 18 वर्ष की उमर में वह भरती हुए थे, और 33 साल 8 महीना 29 दिन की उमर में बगावत करने के कारण 12 जून 1930 को पलटन से निकाल दिये गये। उनके कागज में सैनिक-शिक्षा की विशेष योग्यता के बारे में लिखा गया था–"डी. शिक्षा के कोर्स को 14वीं मस्केटरी संगीन की शिक्षा के साथ पंचमढ़ी में पास किया, जिसका आरम्भ 25 नवम्बर 1919 को हुआ था।" भिन्न-भिन्न युद्धों में भाग लेने के बारे में लिखा था–"14 अगस्त 1915 को फ्रांस के लिए रवाना हो 7 सितम्बर 1915 में फ्रांस पहुँचे। 10 अक्तूबर 1915 को आई. ई. एफ. को चले और 10 नवम्बर 1915 को वहाँ से जहाज पर चढ़े। 27 फरवरी 1916 को चलकर मेसोपोतामिया के लिए चले, और 20 जून 1917 को भारत लौटे। जून 1918 को पश्चिमोत्तर फ्रान्टियर के लिए गये और अक्तूबर, 1921 से 19 फरवरी 1924 तक, फिर 1930 तक रहे।"

उनकी हुलिया आदि के बारे में लिखा था–"ऊँचाई 5 फीट 5 इंच, छाती 32-33 इंच, परिचय का चिह्न ललाट के बीच में आधे घाव का चिह्न।" आचरण के बारे में उसे 'अच्छा' लिखा था।

सार्जेन्ट ने दस मिनट के लिए चन्द्रसिंह से मुलाकात करा दी। वह सज्जन सरहद की ओर से वीर गढ़वाली को पगड़ी देने आये थे। चन्द्रसिंह ने इसके लिए उन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद दिया। सूबा सरहद के लोग चन्द्रसिंह की इतनी कदर करते हैं, इस खयाल ने आज के अपमान से घायल उनके हृदय पर मलहम का काम किया। गोरे पहरेदारों ने भी चाय और फल लाकर उनके सामने रख दिये। वह भोजन करके सो गये।

रात के तीन बजे थे, जबकि मेसकोट की काली वर्दी पहने तीन अंग्रेज उनके पास आये। उन्होंने गोरे सार्जेन्ट से कहा—"चन्द्रसिंह को कोठरी से बाहर निकालो।" बाहर निकलने पर उन्होंने कहा कि अपना सामान भी साथ ले लो, लेकिन चन्द्रसिंह के पास गीता की एक पोथी और दस रुपये के नोट के सिवा और था ही क्या ? उनमें से एक ने कहा कि हम तुम्हारी तलाशी लेना चाहते हैं। चन्द्रसिंह ने कहा—"खबरदार, मेरे ऊपर हाथ न लगाना।" वह पास खड़ी मोटर पर ले जा, चन्द्रसिंह को उसमें बैठाकर जेल के लिए रवाना हो गये। काकुल छावनी के बाहर होते ही देखा कि सड़क के दोनों ओर दो-दो कदम के फासले पर गोरे और पुलिस संगीन लगी राइफलों को हाथ में लिये खड़े हैं। यह पाँती दो मील तक चली गई थी। कुछ मिनटों में मोटर एबटाबाद जिला-जेल के फाटक पर जाकर खड़ी हुई। पता लगा, कि वे दोनों अंग्रेज थे—हजारा का डिप्टी-कमिश्नर, पुलिस सुपिरिंटेंडेंट और जेल-सुपिरिंटेंडेंट।

जेल के फाटक के सामने मोटर से उतर चन्द्रसिंह ने 'सुजलां सुफलां मलयजशीतलां, बन्दे मातरम्' गाते हुए फाटक के भीतर प्रवेश किया, और हाथ उठाकर उन तीनों अंग्रेजों से कहा—"खुश रहो, जालिम हो, तो भी तुम्हारा भला हो।"

वीर गढ़वालियों की सजा की बात सुनकर पंडित मदनमोहन मालवीय ने श्री मुकुन्दीलालजी के पास निम्न चिट्ठी भेजी थी—

बिड़ला हौस, अल्बुकर्क रोड
नई दिल्ली, जून 28, 1930

मेरे प्रिय मिस्टर मुकुंदीलाल,

क्या आप मेहरबानी करके मुझे उन गढ़वाली सिपाहियों का नाम बतलायेंगे, जिनके मुकदमे की पैरवी आपने एबटाबाद में की थी, उनके सरकारी पद और पतों के साथ, अर्थात जिन जगहों में आजकल वह रक्खे गये हैं, और उनके परिवारों के आदमियों की संख्या भी, जिनको सहायता की आवश्यकता है ? कृपया यह भी मुझे बतलायें, कि अगर वह सेवाविरत होते, तो उनमें से प्रत्येक को क्या पेन्शन मिलती ? मैं यह पता लगाना चाहता हूँ, कि उनके परिवारों की आर्थिक सहायता के लिए हम क्या कर सकते हैं।

कृपया अपने पत्र को बिड़ला हौस, सेण्डहर्स्ट रोड, बम्बई 4 के पते पर भेजें।

आशा है आप अच्छी तरह हैं।

आपका विश्वासपात्र
म. म. मालवीय

इसके जवाब में श्री मुकुन्दीलालजी ने लिखा था—

मुकुन्दीलाल बी. ए. (आक्सन)
बैरिस्टर-एट-लॉ
मेम्बर लेजिस्लेटिव कौंसिल, यू. पी.
लैन्सडौन, 4-7-30

मेरे प्रिय माननीय मालवीयजी,

आपका गढ़वाली सिपाहियों के सम्बन्ध में 28 जून का कृपापत्र मुझे मिला। मेरे पास बन्दियों के

परिवारवालों के पते हैं। यह आपकी बड़ी कृपा है, जो उनके अधीर जनों को सहायता देने के लिए कह रहे हैं लेकिन मैं आपसे प्रार्थना करूँगा, कि जो कुछ करें, उसे चुपचाप करें। जो सूचना आप चाहते हैं, मैं उसे दूँगा, लेकिन इसमें कुछ समय लगेगा। इस बीच उनके मुकदमे के सम्बन्ध में सारी सूचनाएँ मैं आपके पास भेजना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है, कि कौंसिल में प्रश्न करके आप इस सम्बन्ध में कुछ कर सकेंगे।

कायदे के अनुसार हरेक सिपाही को फौज के खर्च पर बचाव के लिए वकील पाने का अधिकार है और अपनी इच्छानुसार हरेक सिपाही वकील सदा रखता है। इसके पहिले मैंने सिपाहियों की ओर से फौजदारी मुकदमों में पैरवी की है, और फौज ने मुझे फीस दी। इस मुकदमे में कमांडिंग ऑफिसर ने मुझे तार दिया, कि बगावत के 17 अपराधी मुझे वकील रखना चाहते हैं, लेकिन फीस पलटन की ओर से नहीं दी जायगी। मैंने जवाब में तार दिया, कि मैं तुरंत आने के लिए तैयार हूँ और एबटावाद के लिए रवाना हो जाऊँगा, अगर पाँच सौ रुपया मेरे खर्च के लिए भेज दिया जाय और अपराधी वचन दें, कि भविष्य में सौ रुपया प्रतिदिन के हिसाब से मुकदमे में जितने दिन लगें, उतनी फीस देंगे। तार आया, कि अपराधी फीस देना स्वीकार करते हैं, और यह भी कि रेजिमेंट फीस देने की गारन्टी नहीं देती। खर्च के लिए पाँच सौ रुपये मेरे पास भेजे गये। मैं तुरन्त चल पड़ा। सारे मुकदमे में मेरे तेरह दिन लगे। मैंने अपना बिल कमांडिंग ऑफिसर के पास भेजा। उसने जवाब दिया, कि रेजिमेंट या सेना इसे नहीं देगी, लेकिन हम देखेंगे, कि अपराधियों के सेविंग-बैंक के हिसाब में कितना पैसा है। उसमें से रेजिमेंट, बनिया और उनके दूसरे मित्रों के उधार को काट करके बाकी में से मेरी फीस दी जायेगी। बंदियों ने लिखकर अपने कमांडिंग ऑफिसर को दिया था कि सभी सत्रहों अपराधी अपने सेविंग-बैंक से जमा करके जो बाकी बचा है, उसे देंगे। सो अब ऑफिसर-कमांडिंग ने 726 रुपये भेजे, यद्यपि मेरा 1300 रुपये निकलता था। यह 726 रुपया बन्दियों के सेविंग खाते से दिया गया। उन्हें 24 अप्रैल से तनखाह नहीं दी गई, जबकि उन्होंने शहर में जाने से इन्कार किया। मैं समझता हूँ, कि मेरी फीस सेना की ओर से मिलनी चाहिए, और बंदियों के सेविंग-बैंक के खाते से उसे नहीं देना चाहिए··· ।"

17

प्रथम जेल-जीवन (1930-36 ई.)

12 जून 1930 की रात को चन्द्रसिंह ने एबटाबाद जेल में प्रवेश किया था। उनको जेलखाना साँपघर और जेलर सपेरा मालूम हुआ। सारा जेलखाना ऐसा ही था। वहाँ चोर, डाकू भरे हुए थे। लोगों को डस न लें, इसलिए उन्हें जेल की पिटारी में बन्द कर दिया गया था। इन साँपों को इतना अच्छी तरह सँभालकर जो रखता हो, उसे सपेरा कहना ही चाहिए। साँपों और सपेरों में वस्तुतः अन्तर भी नहीं था। कहावत है—"जैसे को तैसा मिले, बाभन को नाई। बाभन ने पातड़ी दिखाई, नाई ने शीशा झलकाया, लेन-देन बराबर।"

फिर जेल को देखकर चन्द्रसिंह को एक और उपमा याद आई। वहाँ के कैदी मरे डाँगर थे, और जेल-कर्मचारी उनके कीड़े। मरे डाँगर इसीलिए थे कि कैदियों को चाहे मारो, काटो, रगड़ो, जलाओ, दफनाओ, खाओ, वह उफ नहीं करते। कैदियों को वह निष्ठुरता से मारते-पीटते, बेड़ी-हथकड़ी पहनाते, तलाशी लेते, रे-बे-तू कहके गालियाँ देते। वह कुछ नहीं कह सकते थे। उनसे एकान्तवास की चक्की, कोल्हू, कागजघोटाई, गारा बनाना आदि काम कराया जाता था। चन्द्रसिंह ने नर्क के बारे में जो गरुड़ पुरान में सुना था, वह सारी बातें इस जेल में उन्हें दिखाई पड़ रही थीं।

जेल में प्रवेश करने के बाद जेलर अब्दुल गनी ने आकर चन्द्रसिंह से कहा–

"मिस्टर चन्द्रसिंह, यहाँ सबकी तलाशी लेने का हुकुम है। आपके पास कोई वैसी चीज तो नहीं है ?"

चन्द्रसिंह ने कहा–"वैसी क्या चीज जनाब ?"

जेलर–"नहीं, नहीं, मेरा मतलब है कोई हथियार, जैसे चाकू, पिस्तौल या जहर जैसी कोई चीज ?"

चन्द्रसिंह ने कहा–"मेरे पास एक गीता की पोथी और दस रुपये के सिवा और कुछ नहीं है।"

"अच्छा तो गीता और नोट को यहाँ रख दीजिये और बँगले में जाकर सो जाइये।"

अँधेरी रात थी, चन्द्रसिंह को एक सेल (तनहाई कोठरी) में ले जाया गया। यह कोठरी तीन कदम लम्बी, दो कदम चौड़ी थी, जिसमें 3 फीट चौड़ा, साढ़े 6 फीट लम्बा और डेढ़ फीट ऊँचा एक चबूतरा था, जिसके पास आटा पीसने की चक्की थी, और पास ही में पेशाब के लिए टट्टी थी। वहाँ एक पानी का घड़ा, एक मूँज की चटाई, दो फटे-पुराने कम्बल, एक घुटने तक का जाँघिया, अधबहियाँ कुहनी तक की दो सूती कमीजें, एक लाल टोपी, एक लोहे को तसला, एक लोहे का कटोरा, एक तसली, एक लंगोट और कोपिन रक्खी हुई थी। यह सामान चन्द्रसिंह के लिए था। टट्टी का गमला टट्टी से भरा था, जिसके मारे सारी कोठरी दुर्गन्ध से भरी थी। जेलर ने इसी कोठरी को बँगला कहा था।

चन्द्रसिंह को भीतर कर जेलर दरवाजा बन्द करके ताला लगा लालटेन उठाकर चल दिया। चन्द्रसिंह ने पुकारकर कहा–"जनाब, क्या मैं अँधेरे में पड़ा रहूँगा ?"

"हाँ, सुबह तो उजाला हो ही जायगा। अब आप सो जाइये।"

गर्मियों के दिन थे। मिट्टी के चबूतरे पर देह में गड़नेवाले कम्बल को बिछाकर ज्यों ही लेटे कि खटमल, पिस्सु, मच्छर, चींटियाँ और न जाने कौन-कौन दूसरे बारीक कीड़े चन्द्रसिंह के ऊपर टूट पड़े। इधर सारे शरीर में ये चिमटे हुए थे, उधर गर्मी को हल्का करने के लिए हवा का नाम भी नहीं था। मच्छर कान के भीतर घुसकर भनभना रहे थे। चन्द्रसिंह ने सोचा–'उफ, क्या किया जाय ?' वह लोहे के जँगले के ऊपर खड़े हो गये। थोड़ा ही आगे बरामदे की दीवाल थी, जिसकी वहज से कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा था। सिर्फ आकाश का एक छोटा-सा टुकड़ा और उसमें कुछ तारे चमक रहे थे। पास-पड़ोस के बैरकों से कर्कश आवाज आ रही थी–"नम्बर 1 बैरक, 45 कैदी, ताला, जंगला, लालटेन सब ठीक है।" आवाज पन्द्रह-पन्द्रह मिनट पर रात-भर सुनाई देती रही। 4 बजे के वक्त कैदी अपने-अपने चबूतरों पर बैठकर 'अल्लाहो अकबर, अल्लाहो अकबर', 'राम-राम' कहने लगे। चन्द्रसिंह सोलह वर्ष पलटन में नौकरी कर चुके थे, कितनी दुनिया देखी थी, लेकिन जेल के भीतर जो अनोखी दुनिया उन्हें देखने में आई, उसका उन्हें पता भी नहीं था। वह समझते थे कि लाल-काली पगड़ीवाले पुलिसवालों के हाथ में कैदी रक्खे जाते हैं।

पौ फटा। बेड़ियों के खनखनाने की आवाज सुनाई देने लगी। फिर किसी ने आवाज दी–"हे, जोड़ा-जोड़ा बैठो। ए, कहाँ जाता है ?" लोगों की आँखों की नींद अभी पूरी तौर से हटी नहीं थी, इसी अवस्था में कैदियों को जोड़ा-जोड़ा बैठाया जाता, बेचारों को टट्टी पेशाब के लिए भी तो पूरा समय नहीं दिया जाता था।

इसी समय रियासत चित्राल के मेहतर (राजा) के चचा फकीर महम्मद खाँ अपने दो और साथियों को लिये लपकते चन्द्रसिंह के सेल के सामने खड़े होकर कहने लगे–"चन्द्रसिंह, सलाम अलेक, शाबाश, शाबाश !" चन्द्रसिंह घबड़ा गये, यहाँ यह चन्द्रसिंह को शाबाशी देनेवाला कौन आया। उस वक्त उनसे पहचान नहीं थी, लेकिन पीछे उनसे परिचय हुआ। यह भी पता लगा कि चन्द्रसिंह के दूसरे सोलह साथी भी 3 बजे रात को यहीं जेल में पहुँचा दिया गये हैं।

साथियों को बेड़ी पहनाने के बाद चन्द्रसिंह को बेड़ी पहनाई जाने लगी। जेल के हेड-क्वार्टर (बड़ा जमादार) से यह दृश्य देखा नहीं गया। उसकी आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली, और बोला–"चन्द्रसिंह, हमारा कोई बस नहीं। हम आपकी क्या मदद करें ? आपने मुसलमानों की जान बचाने के लिए सब कुछ किया, लेकिन आज मैं खुद मुसलमान होकर आपके पैरों में बेड़ी डलवा रहा हूँ।"

चन्द्रसिंह ने कहा–"जमादारजी, आप इसे बेड़ी न समझें, यह मर्दों का जेवर है।"

उस दिन की पैरों में डाली बेड़ी पूरे 6 साल तक रही और 21 जुलाई 1936 को जब चन्द्रसिंह सूबा सरहद से बरेली सेंट्रल जेल में आये, तभी निकाली गई।

बेड़ी पहनाने के बाद उन्हें दो छटाँक उबले चने चबाने के लिए मिले। उस समय चन्द्रसिंह ने पूछा–"मेरे दूसरे साथी कहाँ हैं ?"

जमादार ने जवाब दिया–"वे सब बाहर की कमान में रक्खे गये हैं। पलटन से हुकुम आया है कि आपको उन लोगों के साथ कभी न रक्खा जाय, नहीं तो और कोई शरारत करायेंगे।"

चन्द्रसिंह का दिल कुछ उदास हो गया। आध घंटा बाहर टहल आने के बाद उन्हें फिर उसी कोठरी में डालकर ताला बन्द कर दिया गया।

कुछ दिन चढ़ा। आफिस का एक बाबू चन्द्रसिंह का जेल-टिकट बनाने के लिए और डॉक्टर उनके स्वास्थ्य को देखने और तौलने के लिए आया। बाबू ने चन्द्रसिंह की खद्दर की धोती और पगड़ी ले ली, जो काकुल में सरहद से भाइयों ने भेंट की थी। अपना काम करके वे लोग चले गये। दस बजे के करीब सुपरिंटेंडेंट ने आकर चन्द्रसिंह की देखभाल की, और उनके टिकट पर रोज 18 सेर गेहूँ पीसने की मशक्कत लिख दी। चन्द्रसिंह को कड़ी कैद की गई थी। यह लिखते हुए वह कहने लगा–"चन्द्रसिंह, अफसोस है कि मैं आपको चक्की पीसने के लिए लिख रहा हूँ, और कोठरी में बन्द देख रहा हूँ।"

इसी समय जेलर ने कहा–"जनाब, इनके लिए रात को जंजीर लगाकर रखने का भी हुकुम आया है।"

सुपरिंटेंडेंट ने कहा–"नहीं, नहीं, जंजीर मत लगाओ। यह जवान भागनेवाला नहीं है। अगर भागनेवाला होता, तो जेल ही में क्यों आता ?"

जाते वक्त सुपरिंटेंडेंट ने फिर चन्द्रसिंह से कहा–"देखो जवान, बाहर से जब कोई अफसर आये, तो चक्की पीसना शुरू कर देना, बाकी समय बैठे रहना।" जेलर को भी, "देखो, यह जवान चक्की नहीं पीसेगा। चन्द्रसिंह, जब तक हम हैं, मेरी ओर से आपको कोई तकलीफ नहीं होगी।"

चन्द्रसिंह को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि यह अंग्रेज उनके साथ इतनी मेहरबानी क्यों दिखला रहा है। पीछे उन्हें मालूम हुआ कि यह आयरलैण्ड का निवासी है। आयरिश लोग अंग्रेजों को अपने देश का शत्रु मानते हैं।

दूसरे दिन परेड में सुपरिंटेंडेंट आया। चन्द्रसिंह ने उससे कहा–"जनाब, मुझे अपने साथियों से मिलने की इजाजत दीजिये।"

"कोई शरारत न करना, तुम्हारे साथी बारी-बारी से यहीं आकर मिल जायेंगे।"

तीसरी बार की परेड में चन्द्रसिंह ने पूछा–"साहब, हम लोग राजनीतिक कैदी हैं। हमारे पैरों में बेड़ियाँ क्यों डाली गईं ? हमसे चक्की क्यों पिसवाई जाती है ?"

सुपरिंटेंडेंट ने कहा–"कोर्ट-मार्शल ने आप लोगों को राजनीतिक कैदी नहीं बनाया। आप लोग बी. क्लास और राजनीतिक बन्दी बनाने के लिए अर्जी दें, मैं खुद सिफारिश कर दूँगा।"

चन्द्रसिंह ने कागज-कलम मँगाकर इसके बारे में हजारा के डिप्टी-कमिश्नर को दर्खास्त लिखी। सातवें दिन डिप्टी कमिश्नर का जवाब आया कि मैं आप लोगों को बी. क्लास नहीं दे सकता, लेकिन आपकी दर्खास्त 2-18 रा. ग. रा. के कमांडिंग अफसर के पास भेज रहा हूँ। उसके बाद बटालियन के कर्नल मनोरिंग और अड्जुटेंट डॉक्टर जेल में उन्हें देखने के लिए आये। उनको देखते ही चन्द्रसिंह की देह में आग लग गई और वह देखकर क्लास के बारे में सिफारिश करने आये थे। कर्नल ने पूछा–"चन्द्रसिंह, तुम्हारा क्या हाल है ?"

"पलटन से भी अच्छी तरह हूँ।"

"काम क्या कर रहे हो ?"

"चक्की पीसना सीख रहा हूँ।"

"खाना कैसा मिलता है ?"

"वहुत अच्छा मिलता है।"

इस पर कर्नल ने कहा—"चन्द्रसिंह, मैं तुमको अभी छुड़ाकर अपने साथ ले जा सकता हूँ। तुम सिर्फ यह बतला दो कि यह बगावत कैसे हुई ? तुम लोगों को किसने बरगलाया ?"

चन्द्रसिंह ने जवाब दिया—"जनाब, सच पूछिये तो यह बगावत सरकार ने खुद हम लोगों से करवाई। हम लोगों को पेशावर शहर में जनसाधारण के ऊपर गोली चलाने के लिए ले जाया गया। वहाँ हजारों की भीड़ थी। सिपाहियों को दो-दो कदम के फासले पर रहते कांग्रेस के जुलूस के ऊपर घेरा डलवा दिया गया। उस समय हर एक कांग्रेसी ने एक-एक सिपाही को देश की बातें समझाईं। ऐसी स्थिति में आदमी को अपने देश और कौम का खयाल आ ही जाता है। फिर कौन ऐसा आदमी होगा, जो अपने देश और कौम के ऊपर गोली चलाने के लिए तैयार होगा।"

कर्नल ने कपड़ा उतारने के लिए कहा। चन्द्रसिंह ने कमीज उतार दी। वह दाँत और आँख देखकर कहने लगा—"जवान, अभी तो तुम्हारी तन्दुरुस्ती पलटन से भी अच्छी है।"

चन्द्रसिंह ने कहा—"क्यों नहीं, कौम की रोटी खाता हूँ।"

कर्नल का मुँह तमतमा गया। वह कहने लगा—"अच्छा जेल में अपना चाल-चलन अच्छा रक्खो। जब स्वास्थ्य खराब होने लगे, तो बी. क्लास के लिए दर्खास्त देना। हम मंजूर कर देंगे।"

कर्नल वहाँ से चला गया। चन्द्रसिंह का स्वास्थ्य कितनी ही बार खराब हुआ। वह बी. क्लास की भिक्षा माँगने के लिए तैयार नहीं थे, लेकिन राजनीतिक बन्दियों के हक के बारे में वह चुप नहीं रह सकते थे। उन्होंने भूख-हड़ताल शुरू कर दी। सूबा-सरहद में भूख-हड़ताल करने पर साठ बेंत लगाये जाते थे। चन्द्रप्रकाश ने बतला दिया था कि आदमी कमजोर हो तो बेंत नहीं लगाया जाता। अगर भूख-हड़ताल करना चाहें तो 14-15 दिन तक रोटी छोड़ दें। कमजोर होने के बाद भूख-हड़ताल की बात बतला दें।

चन्द्रप्रकाश का नाम हम पहिले बतला चुके हैं, जिनकी डायरी में चन्द्रसिंह का नाम था, और वह पुलिस के हाथ लगी थी। 24 अप्रैल 1930 को जब चन्द्रसिंह की बटालियन गिरफ्तार करके पेशावर से एबटाबाद लाई गई, उसी दिन लाहौर से बैरिस्टर डॉ. आलम और श्री चन्द्रप्रकाश लाहौर कांग्रेस कमेटी की ओर से गढ़वाली सैनिकों की जाँच करने के लिए पेशावर भेजे गये। डॉ. आलम को तो सूबा सरहद के भीतर दाखिल न होने दे अटक के पुल के पास ही पकड़ लिया गया। चन्द्रप्रकाश पेशावर पहुँचकर वहाँ की कांग्रेस कमेटी से मिले। कमेटी के सेक्रेटरी सरदार प्रतापसिंह को लेकर वह हरिसिंह लाइन में गये, जहाँ चन्द्रसिंह की बटालियन गिरफ्तार करके रक्खी हुई थी। मंगलसिंह दूकानदार ने उन्हें चन्द्रसिंह का नाम, पता आदि बातें बतलाईं, जिसे अपनी डायरी में लिखकर वह एबटाबाद आये। उस वक्त 60 आदमी पकड़कर हवालात में भेज दिये गये थे, और 60 आदमी चाँदमारी की तैयारी कर रहे थे। चन्द्रप्रकाश ने आव देखा न ताव, उन 60 आदमियों के सामने लेक्चर झाड़ना शुरू किया। सूबेदार जयसिंह बिष्ट ने उन्हें पकड़कर पलटन में भेज दिया, जहाँ उन्हें खूब पीटा गया। पीछे डॉ. आलम, चन्द्रप्रकाश और प्रतापसिंह को लाहौर जेल भेज दिया गया। मुकदमे के समय उन्हें एबटाबाद मँगाया गया। प्रतापसिंह ने माफी माँगकर छुट्टी ले ली, चन्द्रप्रकाश को साढ़े तीन साल की सजा मिली। चन्द्रप्रकाश लाहौर में बी. ए. के विद्यार्थी थे। बड़े ही सज्जन नौजवान थे। डॉ. आलम तीन साल रावलपिण्डी में कैद रहे। पीछे डेराइस्माइलखाँ जेल में चन्द्रप्रकाश और चन्द्रसिंह एक साथ रहे।

चन्द्रसिंह ने चन्द्रप्रकाश की सलाह के अनुसार काम किया। 1 जुलाई 1930 के सबेरे उन्होंने चुपचाप भूख-हड़ताल शुरू कर दी। खाने के लिए जो रोटी मिलती, उसे वह घड़े के भीतर छिपा देते।

जिस समय उनकी चुपचाप भूख-हड़ताल जारी थी, उसी समय लाहौर के मशहूर सी. आई. डी. करीमबक्श खाँ और एक फौजी अंग्रेज छह-सात और खुफियों के साथ एबटाबाद में इस मामले की जाँच करने के लिए आये। उनके पूछने पर चन्द्रसिंह ने सिर्फ यही कहा—"हरेक आदमी को अपना देश प्यारा होता है, और उसके प्रति उसका कर्तव्य भी है। हम गढ़वालियों ने उसी कर्तव्य का पालन किया। हमको किसी ने नहीं सिखलाया। जो कुछ सिखाया, सब अंग्रेजों ने सिखाया।"

चन्द्रसिंह सचमुच ही किसी क्रान्तिकारी पार्टी के सम्पर्क में नहीं आये थे, न किसी क्रान्तिकारी से उन्हें सीखने-सुनने का मौका मिला था। वह फ्रांस हो आये थे। अंग्रेज हिन्दुस्तानियों के साथ कैसा बुरा बर्ताव करते हैं, इसका उन्हें वैयक्तिक अनुभव था। इसके बाद उन्होंने जो कुछ सुना और जिससे उनकी आँखें खुलीं, वह थे अखबार, छोटी-मोटी पुस्तकें तथा देश का वातावरण।

14 जुलाई को भूख-हड़ताल करते उनको दो सप्ताह हो गये थे। उन्होंने 14 दिन की रोटियाँ घड़े में से निकालकर रख दीं, और निम्न माँगें पेश कीं–

1. हम फौजी कैदियों को बी. क्लास मिलना चाहिए।
2. हमें राजनीतिक कैदी समझना चाहिए।

चन्द्रसिंह का वजन काफी कम हो गया था। उन्होंने बेहोशी का अभिनय किया। उसी दिन जेलखानों के आई. जी. के पास तार भेजा गया, और वहाँ से मंजूरी आते ही 18 तारीख को डेराइस्माइलखाँ के सेन्ट्रल जेल में रवाना कर दिया गया। जिस समय यह हुआ, उसी समय चन्द्रसिंह के और साथियों ने भी भूख-हड़ताल शुरू कर दी। उनके साथियों को भी दो-तीन दिन के बाद एक-एक, दो-दो करके पंजाब के और जेलों में भेज दिया गया।

डेराइस्माइलखाँ में इस समय गजब की गर्मी पड़ रही थी। जीवन का आधार सिर्फ पानी था। चन्द्रसिंह पागल-से हो गये। उन्होंने अपने सारे कपड़े फाड़ डाले, देह पर लोहे की हथकड़ी और बेड़ियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। जेलर ने उन्हें हवालातियों की कोठरी में डलवा दिया। वहीं एक नेपाली साधु दफा 109 में चालान होकर आया था। साधु ने चन्द्रसिंह की बड़ी सेवा की। वह रात-रात भर जगकर पानी छिड़ककर चन्द्रसिंह के ऊपर पंखा झलता। अगले दिन सुबह जेलर आया। बड़ी क्षमा-प्रार्थना करने लगा। चन्द्रसिंह चुप रहे। अन्त में उन्हें एक सेल में रखकर उनके ऊपर एक कसाई जमादार की ड्यूटी लगा दी। दो-तीन दिन तक अधिकारी उन्हें फुसलाकर भूख-हड़ताल तुड़वाने की कोशिश करते रहे। जब इसका कोई फल नहीं हुआ, तो चौथे दिन उन्होंने पानी देना भी बन्द कर दिया, और उनके पास के घड़े, बरतन आदि को उठा ले गये। अपनी लोहे की हथकड़ियों-बेड़ियों को पहने मिट्टी के बिछौने पर मच्छरों का ओढ़ना ओढ़े वह पड़े रहे। दो दिन और एक रात तक कोई देखने भी नहीं आया। तीसरे दिन उन्हें पानी के टब में डाल दिया गया। काँटे से खोलकर मुँह में पानी डाला गया, फिर दो चादर, एक चारपाई और एक सेवा करनेवाला मिला। जिस समय उन्हें बेहोशी आती, इन्जेक्शन दिया जाता। होश आने पर वह पानी पी लिया करते। पीछे उन्हें किसी ने बतलाया कि सुपरिंटेंडेंट ने तीन सेर दूध फाड़कर उसके पानी को सूई से इन्जेक्शन द्वारा उनकी देह में पहुँचाया।

उनकी भूख-हड़ताल जारी रही। सब तरह से कोशिश करके अधिकारी हार गये। इसकी खबर उनके ससुर झगडूसिंह को दी गई। वह श्री पंडित गोविंदवल्लभ पंत, बैरिस्टर मुकुन्दीलाल और दूसरे कई सज्जनों का पत्र लेकर अगस्त 1930 को डेराइस्मालइलखाँ पहुँचे। उस दिन चन्द्रसिंह को उपवास किये तीस दिन हो चुके थे। उनकी हालत बहुत खराब थी, और चारपाई पर बेहोश पड़े थे। इसी अवस्था में जेलर और जेल के डॉक्टर ससुर को लेकर चन्द्रसिंह की कोठरी में आये। उन्होंने चन्द्रसिंह को होश में लाने की बड़ी कोशिश की। चन्द्रसिंह को मालूम हुआ, जैसे कोई स्वप्न देख रहे हैं। धीरे-धीरे आँखों के सामने से पर्दा हटता मालूम हुआ, और लोगों को पहचानने लगे। उनके ससुर का पहला वाक्य उनके कान में पड़ा–"तुमने मेरी बेटी को मेरे सामने ही राँड़ कर दिया। क्या मेरे भाग्य में यही था, कि इकलौती विधवा बेटी का मुँह देखता रहूँ ?"

चन्द्रसिंह को यह वाक्य बाण-सा लगा। उनके सूखे गले से आवाज आई–"आप क्यों आये, क्या आप मुझे यहाँ अपने भाग्य पर नहीं छोड़ेंगे ?"

ससुर ने कहा–"बेटा, मैं तुमसे प्राणों की भिक्षा माँगने आया हूँ। मैं 70 वर्ष का बूढ़ा और तुम्हारे पिता के समान हूँ। क्या मेरी इज्जत नहीं रक्खोगे ?"

चन्द्रसिंह ने नम्रतापूर्वक कहा–"आप मेरे पिता से भी बढ़कर हैं। मैं आपकी इज्जत करता हूँ, लेकिन इस समय जिस बात के लिए मैं भूख-हड़ताल कर रहा हूँ, वह निजी स्वार्थ नहीं है। मेरी सरकार से जातीय

माँग है। क्या आपकी इज्जत और प्रतिष्ठा के लिए, आपकी लड़की के सोहाग को कायम रखने के लिए, मैं अपने देशभाइयों के साथ विश्वासघात करूँ ? यह नहीं हो सकता। आप जाइये। जो आपसे मेरे बारे में पूछे, उससे मेरा नमस्ते कह दीजियेगा।"

ससुर ने नेताओं की दी हुई चिट्ठियाँ दिखलाईं, जिनमें यही लिखा था कि इस समय भूख-हड़ताल करना ठीक नहीं है क्योंकि सारे देश की पूरी हमदर्दी होते हुए भी आपकी कोई मदद नहीं की जा सकती, सभी बड़े-बड़े नेता जेल में हैं। दूसरी बात यह है कि आपके छुड़ाने की पूरी कोशिश हो रही है, थोड़े दिनों में आप छूट जायेंगे। इस समय सभी की राय यही है कि आप भूख-हड़ताल तोड़ दें।

इसके बाद चन्द्रसिंह ने कहा—"अच्छा, आप लोग एक घंटे का समय मुझे सोचने के लिए दें, फिर मैं अपना निश्चय बतलाऊँगा।"

डॉक्टर इन्जेक्शन लगाकर बाहर चला गया। चन्द्रसिंह के सामने दो सवाल थे। एक राजनीतिक बन्दियों की माँग, मान-प्रतिष्ठा और दूसरी थी देश के नेताओं की सलाह को मानना। आखिर वह इस नतीजे पर पहुँचे कि जब तक देश के नेता मेरे साथ नहीं होते, तब तक सफलता नहीं प्राप्त होती। ऐसी मौत से क्या फायदा, जिसमें जिन्दगी की कीमत न मिले सके। उन्होंने भूख-हड़ताल तोड़ने का निश्चय कर लिया। घंटे-भर बाद ससुर और जेलर उनके पास आये। उन्होंने ससुर के हाथ से दूध पी लिया और भूख-हड़ताल खतम कर दी।

कुछ समय तक उन्हें वहीं एकान्त में रहने दिया गया। पीछे दरी के कारखाने में काम मिला। पहिले वह कारीगरों के सहायक रहे। उनके लिए पानी लाते, कपड़ा धोते, कमरे की सफाई करते, दरी के सूत का ताना लगाते, नरी भरते, तागा टूटने पर मरम्मत करते। दरी बनानेवाले जानते थे कि इस कांग्रेसी से कुछ भी काम होने का नहीं है, इसलिए कोई चन्द्रसिंह को अपने साथ लेने के लिए तैयार न होता। वह अपनी इच्छानुसार जहाँ मन होता वहाँ बैठे रहते। एक दिन बरामदे में दरी की खड्डी पर बैठे थे। कारखाने के बाबू ने उन्हें देख लिया। वह स्वयं दरी पर बैठा था। कैदी ऊपर बैठा रहे, इसे वह कैसे बर्दाश्त कर सकता था ? वह झुँझलाकर कहने लगा—"गोरखा, तेरे लिए कुर्सी ला दूँ ? नीचे नहीं बैठा जाता ?"

बाबू के इतना कहते ही नम्बरदार चन्द्रसिंह को घेर उन्हें पकड़कर नीचे बैठाने लगे। उनकी पर्वाह न करके चन्द्रसिंह ने बाबू से कहा—"बाबू साहब, जिस कुर्सी की आप इतनी पर्वा करते हैं, मैं उस पर पेशाब करके आया हूँ। खबरदार, आगे से मेरे लिए कभी रे-बे-हे न कहना।" बाबू की क्रोधाग्नि में अब घी पड़ गया। उसने आग-बबूला होकर चन्द्रसिंह को पिटवाना चाहा। नम्बरदार पेशावरी थे, वह जानते थे कि इस आदमी ने उनके भाइयों के लिए क्या किया था। उन्होंने हाथ छोड़ने से इन्कार कर दिया। बाबू ने चन्द्रसिंह को तो छोड़ दिया, लेकिन पाँचों नम्बरदारों को कारखानों के मैनेजर खान के पास सजा दिलाने के लिए ले गया। मैनेजर पेशावर कांग्रेस कमेटी के प्रधान लालाबाछा का भाई था। भाई ने चन्द्रसिंह के बारे में उससे सिफ़ारिश की थी। बाबू के बात कर चुकने पर उसने पूछा—"कौन ? किस आदमी को पिटवाना चाहते थे, चन्द्रसिंह को ?"

"हाँ।"

मैनेजर ने बाबू को डाँटते हुए कहा—"क्या जेल में बलवा करवाना चाहते हो ? खबरदार, आइन्दा ऐसा कुछ मत करना।"

पीछे चन्द्रसिंह से खान ने कहा—"जब तक मैं कारखाने का मैनेजर हूँ, तब तक आप कुछ काम मत करें लेकिन किसी से लड़ाई-झगड़ा भी नहीं होना चाहिए।" खान ने बाबू को भी समझाया—"ये फौज में अफसर थे। आज कौम के लिए जेल भुगत रहे हैं। अगर इनके साथ हम भलाई न कर सकते तो बुराई तो न करना चाहिए।"

सन् 1930-31 में नमक सत्याग्रह जोरों से चल रहा था। सूबा सरहद में भी उसका बड़ा जोर था। डेराइस्माइलखाँ के सेन्ट्रल जेल में पाँच सौ के करीब पठान कांग्रेसी कैदी आ गये थे। बन्नू जिले के हाथीखेल में अयूबखान नाम के एक खान थे। उनके यहाँ कांग्रेस की सभा हुई, जिस पर पुलिस ने गोली चलाई। गुस्से में आकर लोगों ने एक अंग्रेज का सिर काट दिया। इसी मामले में सरकार ने 90 आदमियों को जेल भेज

दिया था। उनमें चार बड़े-बड़े नेता अयूब खाँ (बन्नू), शेरमहम्मद खाँ (बन्नू), पीरबदन (कोहाट) और मीरमहम्मद भी थे। दूसरे भी कितने ही कांग्रेसी पठानों को आतंकवाद का झूठा इल्जाम लगाकर जेल भेज दिया गया था। चन्द्रसिंह को भी बैरक में उन्हीं के साथ रक्खा गया था। सभी राजनीतिक बन्दी इस बात को जानने के लिए बड़े उत्सुक थे कि बाहर क्या हो रहा है। बाहर से अखबार किसी तरह मँगाया जा सकता था, लेकिन किसी के पास एक पैसा भी नहीं था। चन्द्रसिंह के ससुर अक्तूबर 1930 में उनसे मिलने के लिए दुबारा आये। उस वक्त उन्होंने बाहर एक जेल-वार्डर के पास 12 रुपया जमा कर दिया था। जेल के रीति के अनुसार ऐसे चुपचाप रुपये में एक-तिहाई वार्डर का होता था, अर्थात चन्द्रसिंह आठ रुपये ही अपने लिए इस्तेमाल कर सकते थे। जेल में लुक-छिपकर बाहर से चीज मँगाने को 'बदमाशी' कहा जाता था। जो वार्डर कैदी के सम्बन्धी से रुपया लेता, वही चीजों को लाकर देता था। कैदी के लिए मिले रुपये का तिहाई उसी वक्त वार्डर का हो जाता, और 'बदमाशी' मँगाने पर वह आधा ही रह जाता, अर्थात दो रुपया देने पर वार्डर एक बदमाशी लाता और एक अपने पास रख लेता। चन्द्रसिंह ने अपने आठ रुपये की बदमाशी में चार रुपये के अखबार मँगवाये। इसके बाद चन्द्रसिंह ने अपने पिता को बीस रुपया भेजने के लिए लिखा। पिता ने बीस रुपये का मनीआर्डर लालीराम ढढरावाला के पास भेज दिया। उसने दो रुपया अपनी ओर से मिलाकर 22 रुपया एक वार्डर के पास भेज दिया, जिसमें से 6 रुपया वार्डर ने लिया, और 16 रुपये से चन्द्रसिंह ने अखबार मँगाना शुरू किया। पीछे अयूब खाँ के भेंट करनेवाले आ गये, जो हर तीसरे महीने सौ रुपये भेजने लगे। अयूब खाँ ने अपने गलफरे में रुपया रखने के लिए खोपड़ बना ली थी, जिसमें रुपये की जगह वह बारह-चौदह गिन्नियाँ थैली में डालकर रख लेते थे। अयूब खाँ बराबर घी, चीनी, फल-मिठाई बाहर से मँगाया करते। एक बार ईद आई। उस दिन सबेरे 9 बजे एक भंगी बाहर से पाखाने में लथपथ पुराने कम्बल के टुकड़े में बँधी कोई चीज अयूब खाँ के पास लाया। अयूब खाँ हँसकर बोले—"खोलो, खोलो।" भंगी ने कम्बल खोल दिया। वहाँ एक टीन में करीब दो सेर घी और थैली मं दो सेर खाँड़ रक्खी थी। भंगी कम्बल का चिथड़ा उठा ले गया और अयूब खाँ ने उन चीजों को बिस्तरे के नीचे छिपा दिया। शाम को ईद का चाँद देखकर मुसलमानों में खुशी की लहर दौड़ गई। सबने अपना रोजा तोड़ा। अयूब खाँ ने चन्द्रसिंह से कहा—"चलो भाई, खाना खायें।" चन्द्रसिंह ने कहा—"मैंने इस वक्त तो रोटी खा ली है, कल के लिए रख छोड़ें।"

1931 में गाँधी-इर्विन समझौता हुआ, जिसके अनुसार जेलों से कांग्रेसी बन्दी मुक्त कर दिये गये। डेराइस्माइलखाँ के जेल में अब चन्द्रसिंह और अयूब खाँ के लोग रह गये। डेराइस्माइलखाँ के डिप्टी-कमिश्नर ने इसी समय जेल में आकर सुपरिंटेंडेंट से कहा—"गढ़वाली कैदी चन्द्रसिंह अगर रिहाई चाहता है, तो सरकार से माफी की दर्खास्त दे, मैं उसकी सिफारिश कर दूँगा।"

सुपरिंटेंडेंट ने स्वयं एक दर्खास्त चन्द्रसिंह को लिख ऑफिस में बुलाकर कहा—"चन्द्रसिंह, मैं आपकी रिहाई की कोशिश कर रहा हूँ। आप इस दर्खास्त पर दस्तखत कर दीजिये।"

चन्द्रसिंह ने कहा—"इसमें आपने क्या लिखा है ?"

सुपरिंटेंडेंट ने पढ़कर सुनाया। उसमें यही लिखा था कि गाँधी-इर्विन-समझौते के अनुसार सारे कांग्रेसी कैदी छोड़े गये हैं, मैं भी अहिंसक कैदी हूँ। मैं आइन्दा ऐसा कसूर नहीं करूँगा, इसलिए मेरा कसूर माफ करके मुझे रिहा कर दिया जाय।

चन्द्रसिंह ने पूछा—"आपको किसने कहा कि मैं माफी माँगकर रिहा होना चाहता हूँ ?"

"डिप्टी-कमिश्नर कह गये हैं।"

"मैं आप और डिप्टी-कमिश्नर साहब के कहने पर ऐसी नीचता नहीं कर सकता। मैं सौ साल भी इस तरह की रिहाई नहीं मानूँगा।"

कुछ दिनों बाद डिप्टी-कमिश्नर जेल में देखने आया। फाटक के भीतर घुसते ही उन्होंने कहा—"मैं चन्द्रसिंह को देखना चाहता हूँ। वह कहाँ है ?"

चन्द्रसिंह को लाये जाने पर उसने पूछा—"कैसे हो ?"

"बहुत अच्छा हूँ।"

"देखो, जवान, कैसी अच्छी पलटन का नाम तुमने बदनाम कराया। जब तक अंग्रेज रहेंगे, तब तक तुम्हारा नाम उनकी काली किताब में रहेगा।"

चन्द्रसिंह ने जवाब दिया—"जनाब, अगर मेरा नाम अंग्रेजों की काली किताब में रहेगा, तो यह हिन्दुस्तानियों की सुनहरी किताब में भी रहेगा। साहब, हमारी पलटन ने अंग्रेज सरकार के लिए इतनी लड़ाइयाँ लड़ीं, खून का पसीना किया। इस सबका फल अंग्रेजों ने यह चाहा कि हम पेशावर में अपने भाइयों पर गोली चलायें। कौन ऐसा अधम होगा, जो अपने ही भाइयों पर गोली चलायेगा ?"

डिप्टी-कमिश्नर ने कहा, "क्या, अब भी उसी बात पर डटे हो ?"

""क्या आप समझते हैं कि जेल की हथकड़ी-बेड़ियों से मैं डर गया हूँ ? याद रक्खें, मैं ही नहीं, कोई भी हिन्दुस्तानी ऐसा नहीं करेगा। बल्कि आपके गोरे सिपाही भी हिन्दुस्तान का नमक खाकर ऐसा करना नहीं चाहेंगे। मैंने स्वयं काकुल छावनी में गोरे सिपाहियों को सरकार को गाली देते सुना है। हाँ, यदि जर्मनी या किसी दूसरे देश से खतरा हो, तो मैं इसी हालत में जर्मन तोपों के सामने खड़ा होने के लिए तैयार हूँ।" अंग्रेज डिप्टी-कमिश्नर को कोई जवाब नहीं सूझा। जब वह मुँह फेरकर चलने लगा, तो चन्द्रसिंह ने पूछा—"आप यहाँ जेल में किस हैसियत से आये हैं ?"

"मैं डिप्टी-कमिश्नर हूँ।" जाते वक्त उसने फिर कहा—"जवान, अब भी तुम सरकार से माफी माँग लो।"

चन्द्रसिंह ने कहा—"जनाब, अगर आप लोग मुझे बेकसूर समझते हैं, तो छोड़ दें। माफी माँगने के लिए तो मैं संसार में पैदा नहीं हुआ।"

एक दिन डेराइस्माइलखाँ के डिप्टी-कमिश्नर कुछ सवाल पूछने के लिए चन्द्रसिंह के पास जेल में आये। चन्द्रसिंह ने उनसे पूछा—"क्या मैं यह जान सकता हूँ, कि आप किस बारे में सवाल पूछना चाहते हैं ?"

"मैं सिर्फ उन्हीं सवालों को पूछना चाहता हूँ, जिन्हें युक्त प्रदेश की सरकार ने पूछा है, और वह ये हैं—

1. "आप लोगों ने मिस्टर मुकुन्दीलाल बैरिस्टर को ही अपना वकील क्यों बनाया ?"

उत्तर—"क्योंकि वह गढ़वाली थे। हमारी पलटन के इतिहास को जानते थे, और हमसे गढ़वाली भाषा में बातचीत कर सकते थे।"

2. "आप उन्हें पहिले से भी जानते थे ?"

उत्तर—"हाँ, वह हमारे जिले के मशहूर आदमी हैं, और कौंसिल में हमारे प्रतिनिधि हैं।"

3. "आपने उनको कितनी फीस दी ?"

उत्तर—"सौ रुपया रोज के हिसाब से 1800 रुपये उन्हें मिले होंगे।"

4. "आप लोगों ने यह रुपये अपने पास से दिये या और कहीं से ?"

उत्तर—"पलटन के सेविंग-बैंक में हम लोगों के अपने रुपये जमा थे।"

5. "आपको विश्वास है, कि मिस्टर मुकुन्दीलाल ने ईमानदारी से काम किया ?"

उत्तर—"हमने उन पर पूरा विश्वास किया है, और मैं यही कहूँगा कि उन्होंने ईमानदारी से काम किया।"

6. "क्या आपको विश्वास है कि मुकुन्दीलाल सरकार से नहीं मिल गये ?"

उत्तर—"मैं अपने विश्वास पर अटल हूँ, बाकी के बारे में मैं क्या कह सकता हूँ ?"

बैरिस्टर साहब के खिलाफ इस तरह के सवाल क्यों पूछे गये, इसके बारे में उन्हें पीछे मालूम हुआ कि किसी ने उनके खिलाफ पम्फ्लेट छपवाया था, जिसमें कहा गया था कि श्री मुकुन्दीलाल ने गढ़वाली सैनिकों के साथ धोखा किया। पम्फ्लेट के लेखक र. स. पं. के खिलाफ अदालती कार्रवाई हुई, और र. स. पं. को डेढ़ साल की कैद काटनी पड़ी।

उन्हीं दिनों पेशावर जिले के ताकाल गाँव के अरबाब (ठाकुर) साहब के बेटे तथा डा. खाँ साहब अब्दुल गफूर खाँ के पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी अब्दुल गफूर खाँ उसी जेल में रक्खे गये थे। खान अब्दुल गफूर, चेलाराम, चंद्रप्रकाश और चंद्रसिंह एक ही बैरक में रहते थे। खान अब्दुल गफूर ग्रेजुयेट थे। एक दिन कोहाटी और पेशावरी

साधारण कैदियों में झगड़ा हो गया। पेशावरियों ने कारखाने से निकलकर तनहाई में बन्द सात कोहाटी कैदियों को कतल कर दिया। इस झगड़े में 90 आदमी घायल हुए। कतल का मुकदमा चला, 9 पेशावरियों को फाँसी दी गई, कइयों को बीस-बीस साल की सजा दी गई। सभी कैदियों का रेमिशन (मियाद की छूट) जब्त कर लिया गया, तीन महीने के लिए बेड़ियाँ पहनाई गईं। कितनों को तीस से साठ तक बेंत मारे गये। अब्दुल गफूर खाँ को भी तीस बेंत लगे, और पैरों में बेड़ी डालकर उन्हें हरिपुर जेल में भेज दिया गया। इस तरह की भयंकर लड़ाई चन्द्रसिंह ने कभी नहीं देखी थी।

उन दिनों जेल में कैदियों को बहुत सताया जाता था। अब्दुल गफूर और चन्द्रप्रकाश कोरेन्टीन के हाते में रहते थे। चन्द्रसिंह अस्पताल में बीमार पड़े थे। तीनों जनों ने कैदियों को समझाया। एक दिन सुबह कैदी कारखाने जा रहे थे। एक हजार कैदियों में प्रत्येक को एक छटाँक गुड़ और दो छटाँक चना दिया जा रहा था। जेलर और जेल के वार्डर वहीं खड़े थे। अस्पताल पास ही में था। इसी समय अब्दुल गफूर ने खड़े होकर आवाज़ दी–"कोई चना-गुड़ न ले। आज से सब लोग भूख-हड़ताल करें। किसी अफसर से न लड़ें और न किसी के साथ गाली-गलौज करें। सब लोग अपना काम ठीक-ठीक करते जायें, लेकिन जब तक आपकी तकलीफें दूर न कर दी जायँ, तब तक रोटी लेने से इन्कार कर दें।"

सबने चना लेने से इन्कार कर दिया। जेल के कर्मचारी मुँह ताकते रह गये। जेलर ने हुकुम दिया कि कारखाना मत खोलो, कैदियों को बैरकों में बन्द कर दो। तीन दिन तक ऐसा ही रहा। चौथे दिन सुपरिंटेंडेंट गारद लेकर भीतर आया। बेंत लगाने के लिए टिकटियाँ भी आ गईं। चन्द्रसिंह को अस्पताल से बाहर लाने लगे। पठान कैदियों ने–'अल्ला हो अकबर' का नारा लगाते जोर से कहना शुरू किया–"खबरदार, अगर चन्द्रसिंह के ऊपर किसी ने जरा-सा हाथ छोड़ा, तो अच्छा न होगा।" यह कहते वह जंगले के छड़ों को तोड़ने के लिए हिलाने लगे। उसी वक्त गारद को वापस भेज दिया गया। चन्द्रसिंह और अब्दुल गफूर खाँ को बाहर निकाला गया। समझौता हुआ। तीनों नेताओं को सारे जेल में घुमाया गया। उन्होंने कैदियों से कहा कि तुम्हारी माँगें मान ली गईं, अब रोटी खाओ। कैदियों की माँगें निम्न थीं–

1. जिन कैदियों की तिहाई मियाद रह गई है, उन्हें रेमिशन देकर रिहा कर दिया जाय।
2. साल में कम से कम तीन महीना रेमिशन मिलना चाहिए।
3. रोटी खराब मिलती है, वह अच्छी होनी चाहिए।
4. खराब तरकारी नहीं मिलनी चाहिए।
5. कपड़ा धाने के लिए गरम पानी मिलना चाहिए।
6. अस्पताल में दवाई नहीं मिलती, इसका इंतिजाम होना चाहिए।
7. कम्पाउंडर खराब है, उसे हटाया जाय।
8. गोदाम बाबू की बदली की जाय।
9. कैदियों की मार-पीट न की जाय।
10. कैदियों से रिश्वत न ली जाय।
11. बिना कारण कैदियों की तलाशी न ली जाय।
12. कैदियों को गाली देना बन्द किया जाय।
13. कैदियों को दावत दी जाय।
14. सब बैरकों में पानी के नलके लगाये जायँ।
15. भाप देने की मशीन ठीक की जाय, जिसमें जूएँ पड़े कपड़ों को भाप में डाला जा सके।

बाहर से आकर एक कमेटी ने शिकायतों की जाँच की थी, और कैदियों की माँगें मंजूर की गईं।

इस संघर्ष के बाद राजनीतिक कैदियों को डेराइस्माइलखाँ के जेल से हटाकर दूसरे जेलों में भेज दिया गया, और चन्द्रसिंह को जेल में बन्द कर दिया गया, क्योंकि वही इस संघर्ष के मुख्य अगुवा माने गये। आखिर वह यही चन्द्रसिंह थे, जिन्होंने अपनी बटालियन के आठ सौ जवानों के दिलों में आग लगा दी थी। बन्दियों

के ऊपर होते अत्याचार को देखते वह चुप रह सकते थे। उन्होंने अपने साथियों से मिलकर जो संगठन किया था, वह सफल रहा। चाहे तीन साल तक उन्हें डेराइस्माइलखाँ के सेल में बन्द रहना पड़ा, तो उसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी।

सेल के भीतर सूर्य का प्रकाश नहीं पड़ता था। दो साल बाद तन्दुरुस्ती के खराब होने के डर से उन्हें सिर्फ बरामदे में टहलने के लिए निकाला जाता। 18 सेर गेहूँ रोज पीसने के लिए मिलता।

एक दिन जेलर के साथ इब्राहिम खाँ बैरिस्टर जेल देखने के लिए आये। उन्होंने आटा हाथ में लेकर देखते हुए कहा—"अच्छा, बहुत महीन पीसा है।"

सुपरिंटेंडेंट ने उनके कहने पर चन्द्रसिंह की मशक्कत बदल दी, और उन्हें सूत खोलने का काम मिला।

पाँच-छह साल सूबा सरहद में रहते हो गया था। गढ़वाल से किसी के आने में बहुत मुश्किल थी, इसलिए चन्द्रसिंह ने अपने को युक्तप्रदेश के किसी जेल में भेजने के लिए दर्खास्त दी। सरकार ने उसे नामंजूर कर दिया। चन्द्रसिंह की पत्नी भागीरथी देवी ने भी सरहद की सरकार के पास दर्खास्त दी। सरहद के बड़े-बड़े लोगों ने सिफारिश की कि चन्द्रसिंह को युक्तप्रदेश में भेज दिया जाये। टोंक के नवाब, डेराइस्माइलखाँ के नवाब, सूबा सरहद के एडवोकेट-जेनरल श्री नारायणसिंह ने चन्द्रसिंह के बारे में सरकार को लिखा। इतने प्रभावशाली लोगों की बातों को इन्कार करना मुश्किल था, इसलिए सरहद की सरकार ने हुकुम दिया कि यदि कैदी का चाल-चलन अच्छा रहे, तो एक साल के बाद उसे उसकी स्त्री की दर्खास्त के अनुसार युक्तप्रदेश में भेज दिया जाये।

डेराइस्माइलखाँ में पठानों के साथ रहते चन्द्रसिंह को कोई तकलीफ नहीं थी। वह अब उन्हें अपना भाई समझते थे, और हर तरह से मदद करने के लिए तैयार रहते थे। साथ रहते-रहते अब वह कुछ पश्तो भी बोलने लगे थे। पहनने के लिए चप्पल, कपड़ा धोने का साबुन, नहाने का साबुन, और-और भी जिस चीज की जरूरत पड़ती, पठान उन्हें दिया करते। वह हर तरह उनके साथ अपना स्नेह प्रकट करना चाहते थे। एक दिन एक कोहाटी कैदी ने बात करते-करते कहा—"भाई चन्द्रसिंह, आप मोटे-तगड़े तो खूब हो, मगर पैर बड़े छोटे-छोटे हैं। जरा जमीन पर अपने पैर का निशान बना दो तो।" उसने जमीन पर अपने पैर का निशान बना दिया, जिसके पास चन्द्रसिंह ने भी अपने पैर का निशान बना दिया। उसने अपनी अँगुलियों से चन्द्रसिंह के पैर के निशान को नाप लिया। इसके बारहवें दिन चन्द्रसिंह के नाम एक जोड़ा चप्पल, नहाने के साबुन की चार टिकियों का पार्सल आया। उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। कोहाट में उनका कौन ऐसा दोस्त था, जिसने यह पार्सल भेजा। पीछे मालूम हुआ, कि उसी कोहाठी पठान भाई ने इसे भेजा था।

सूबा सरहद में वह अपना दूसरा घर बना चुके थे, लेकिन अपने घरवालों का भी उन्हें खयाल रखना था। बीवी-बच्चे और सम्बन्धी मिलने की बड़ी इच्छा रखते थे, इसलिए वह अपने प्रदेश में आना चाहते थे।

18
बरेली जेल में (1936-37 ई.)

आखिर छह साल बाद वह दिन भी आया, उन्हें अपने प्रदेश में आने का मौका मिला। 20 अप्रैल 1936 को उनका चालान डेराइस्माइलखाँ से बरेली के लिए किया गया। जेल-अधिकारियों ने इसकी जरा भी खबर पहिले से नहीं दी, और एकाएक उस दिन जमादार उन्हें लेने के लिए आया। चन्द्रसिंह ने जमादार से कहा—"जमादारजी, मैं छह साल से इस जेल में रह रहा हूँ। यहाँ मेरे बहुत-से मित्र हैं। जाने से पहिले मैं उनसे मिलना चाहता हूँ।"

जमादार ने कहा—"भाई, आप जेलर साहब के सामने चलिये। वही आपको ऐसा करने की इजाजत देंगे।"

सेलों में जितने मित्र थे, उनसे मिलकर चन्द्रसिंह ऑफिस में पहुँचे। वहाँ पुलिस तैयार थी। उन्हें इस बात का बड़ा अफसोस हुआ कि चलते समय अपने पठान बन्धुओं से मिल नहीं सके, लेकिन क्या करते ? जेलर ने पुलिस के हवाले किया। जेल के फाटक की खिड़की खुली, और हथकड़ियों-बेड़ियों से जकड़े वह तीन पुलिस के सिपाहियों के बीच में वहाँ से चल पड़े।

सरहद की सीमा पर बहती सिन्ध नदी के पुल से उनकी ट्रेन गुजरी। फिर वह पंजाब में दौड़ने लगी। अम्बाला के बाद जमुना, फिर गंगा को पार हो 22 अप्रैल की शाम को वह बरेली सेन्ट्रल जेल के फाटक पर पहुँच गये। जेल में पहुँचते ही मालूम हुआ कि उनके अभिन्न हृदय मित्र नारायणसिंह गोसाईं यहीं मौजूद हैं। जेलर को मालूम था कि नारायणसिंह इनके गहरे दोस्त हैं, तो भी उसने दूसरी बैरक में रखना चाहा। बड़ी कहा-सुनी के बाद नारायणसिंहवाली बैरक में उन्हें भेजना स्वीकार किया। असहयोग और सत्याग्रह ने युक्तप्रदेश और बिहार के जेलों की कड़ाई को बहुत कम कर दिया था। जब नारायणसिंह को मालूम हुआ कि चन्द्रसिंह आ रहे हैं, तो उन्होंने भी चन्द्रसिंह को अपने बैरक में भेजने के लिए बड़ी कोशिश की। दोनों भाई छह साल बाद मिले। आज उन्हें बहुत खुशी थी। छह साल के जीवन के सुख-दुख को एक-दूसरे को सुनाना था।

नारायणसिंह सारे बैरक में बहुत सज्जन माने जाते थे। वह सज्जन थे ही। दूसरे दिन कपड़ा गोदाम में चन्द्रसिंह को ले गये। लाल टोपी और लाल धारीवाली फतुही खतरनाक कैदियों का जेल का बाना है। उसे पहनकर वह हनुमानजी बन गये। नीचे घुटने तक जाँघिया थी, जिसमें एक पुरानी थी। चन्द्रसिंह ने पुरानी लेने से इन्कार कर दिया। गोदाम के बाबू ने जेलर के पास ले जाकर खड़ा कर दिया। जेलर ने रोब दिखाना चाहा। इस पर चन्द्रसिंह ने कहा—"धौंस दिखाने से काम नहीं चलेगा। मैं ऐसा कैदी नहीं हूँ, जिसके साथ आप मनमानी कर सकें। मुझे कल सुपरिंटेंडेंट के सामने पेश कर दीजियेगा, मैं निपट लूँगा।"

जेलर ने कुछ सोचा और फिर कहा—"इन्हें यहाँ से ले जाओ।" गोदाम में ले जाने पर चन्द्रसिंह सरहद से लाये अपने कपड़ों को पहनने लगे। बाबू ने कहा—"यहाँ आप इन कपड़ों को नहीं पहन सकते।"

चन्द्रसिंह ने कहा—"मैं पहनूँगा, जो मर्जी हो कर लो।"

पुराने कपड़े पहनकर गोदाम से बाहर निकलने लगे। आखिर बाबू ने झख मारकर नये कपड़े दिये। इसी वक्त उनके पैरों की बेड़ियाँ काटी गईं। इसके बाद सुपरिंटेंडेंट के पास उन्हें पहुँचाया गया। सुपरिंटेंडेंट ने पूछा—"क्या आप उन गढ़वालियों में से हैं, जिन्होंने पेशावर में गोली चलाने से इन्कार कर दिया था ?"

"जी हाँ।"

सोमवार को जेल के कैदियों की परेड थी। चन्द्रसिंह और नारायणसिंह पास ही पास खड़े थे। साहब ने चन्द्रसिंह को पहचानकर कहा—"चन्द्रसिंह, आप अच्छे तो हैं ?"

जेलर ने याद दिलाया—"ये नारायणसिंह भी तो चन्द्रसिंह के साथी हैं।"

नई राजनीतिक चेतना

उस समय बरेली जेल में कामरेड यशपाल और कामरेड रमेशचन्द्र गुप्त बी. क्लास के कैदी थे। बंगाल रेगुलेशन 3 के द्वारा नजरबन्द श्री रक्षितराय, श्री बी. दास और अजमेर के कामरेड ज्वालाप्रसाद शर्मा भी रहते थे। कुछ दिनों के बाद कामरेड यशपाल और कामरेड रमेशचन्द्र नैनीताल भेज दिये गये। चन्द्रसिंह के डेराइस्माइलखाँ से इस जेल में आने की बात सुनकर बंगाली नौजवान उनसे मिलने के लिए उत्सुक हो गए, लेकिन उनके पास किसी कैदी के जाने की सख्त मनाही थी। चन्द्रसिंह भी नहीं जा सकते थे। उन्होंने सुपरिंटेंडेंट से मुलाकात करने के बारे में कहा, तो उसने जवाब दिया—"अगर चन्द्रसिंह नम्बरदार बन जायें, तो वह आपके पास आ सकते हैं, लेकिन वह नम्बरदारी लेने से इन्कार करते हैं। अच्छा, मैं कोशिश करूँगा।"

एक दिन साहब ने जेलर से कहा—"अच्छा, इन दोनों को दफ्तर में मेरे पास लाओ।" दोनों के दफ्तर में जाने पर साहब ने कहा—"मैं आप दोनों को नम्बरदार बनाता हूँ। अब आप जेल में आजादी से रह सकेंगे।"

दोनों इन्कार करते रहे, लेकिन सुपरिंटेंडेंट ने एक न सुनी। एक सप्ताह तक वह कैदियों की स्कूल-मास्टरी

करते रहे, फिर गोदाम में गल्ला भरने का काम देने लगे। इन्कार करने पर दोनों को साहब के सामने पेश किया गया। उसने समझाते हुए कहा—"आपको मैंने इसलिए गल्ला भरने के काम पर लगाया है कि ठेकेदार लोग खराब राशन न देने पावें, और ठेकेदारों से मिलकर जेल के कर्मचारी कैदियों का राशन न खा जायें। मुझे विश्वास है, आपके हाथ में रहने से कैदियों को अच्छा राशन मिलेगा।"

साथ ही राजनीतिक बंदियों से मिलने का भी लोभ हुआ। वह भला कैसे इन्कार कर सकते थे ? जेल में साल-भर के लिए गेहूँ, चना, दाल, सरसों, चावल, आदि सब तरह का राशन लेकर खत्तियों में भर लिया जाता था। गल्ले के लाने का ठेका बाहर के ठेकेदारों को मिलता था। जेलर का काम होता, जब ठेकेदार गाड़ियों में ढाई-ढाई मन की बोरियाँ भरकर लावे, तो उन्हें अन्दर ले ले। गोदाम इन्चार्ज जेलर इन बोरियों को एक-एक करके अपने सामने तुलवाता है और साहब के देखने के लिए मुँह खोलकर बोरियों को तैयार रखता है। सुपरिंटेंडेंट जब पास कर देता है, तो उसे खत्तियों में भरा जाता। इसी समय मौका निकालकर जेल कर्मचारी ठेकेदारों से रुपया ले खराब गल्ला भर देते। मन पीछे एक सेर कूड़ा-गर्दा ठेकेदार को माफ था।

राशन का भार सँभालते ही चन्द्रसिंह और नारायणसिंह ने अपने हाथों बोरियाँ तोलना, उनकी छानबीन करना, अच्छा-बुरा गल्ला देखना शुरू किया। ठेकेदार कितनी बोरियाँ और कितने मन गल्ला ले आया, कितना उससे लेना है, इसका हिसाब रखना भी उन्हीं के जिम्मे था। उनकी इस तनदेही से जेल-कर्मचारियों और ठेकेदार का नुकसान होने लगा। वह उन्हें दुश्मन समझने लगे। दोनों ने गेहूँ की चार-चार सौ बोरियों को घुना-सड़ा दिखलाकर वापस कर दिया। जेलर कह रहा था—"गेहूँ अच्छे हैं, खराब नहीं हैं।" चन्द्रसिंह कह रहे थे—"घुने, पुराने और सड़े हैं।" अब ठेकेदार जेल-कर्मचारियों को क्यों रिश्वत देने लगा। उसने सौ रुपये के नोट चन्द्रसिंह को थमाना चाहा। उन्होंने उसे लेने से ही इन्कार नहीं किया, बल्कि इसकी रिपोर्ट सुपरिंटेंडेंट को दे दी। एक तरफ सारे जेल-कर्मचारी थे और दूसरी तरफ ये दो ईमानदार कैदी। कर्मचारियों ने गुण्डे कैदियों को बहकाकर उनके ऊपर दो बार हमला करवाया। लेकिन, वह अपनी आन पर डटे रहे।

राशन के लेने का काम खतम हो चुका था, इसी समय युक्तप्रदेश के गवर्नर के जेल में आने की खबर मिली। सुपरिंटेंडेंट ने कहा—"चन्द्रसिंह, नारायणसिंह, आप दोनों हमारे लिए एक जरूरी काम करें। इस जेल में गवर्नर साहब आनेवाले हैं। मेरी इच्छा है कि उन्हें यहाँ कैदियों की परेड, खेल-तमाशा दिखाया जाय, जिसे देखकर बरेली जेल को सारे युक्तप्रदेश में नमूना माना जाय। कैदियों को भी तन्दुरुस्त रह हँसी-खुशी से कैद काटने का मौका मिल जायेगा।"

दोनों ने सुपरिंटेंडेंट की बात मंजूर की। उन्होंने 24 कैदी चुन लिये और तीन महीने में उन्हें कवायद, शारीरिक व्यायाम, खेल-कूद आदि सिखलाकर बिलकुल फौजी सिपाहियों जैसा बना दिया। जेलों के इंसपेक्टर-जेनरल ने उनकी परेड को देखा, तो वह बहुत खुश हुए। चन्द्रसिंह और नारायणसिंह की मियाद में दो महीने का रेमिशन दिया और कैदियों को भी दो-दो महीने का। सुपरिंटेंडेंट ने अपने कैदियों में दो-दो छटाँक गुड़ बाँटा। इसके बाद सर महाराजसिंह आये। वह भी बहुत खुश होकर दोनों मित्रों के बारे में सिफारिश कर गये। इसके बाद बरेली डिवीजन के कमाण्डर ने परेड देखी। दोनों के जेल-टिकट पर रिहाई की सिफारिश करते उसने लिखा कि मेरे खयाल से इनके सिखलाये हुए कैदी नहीं, बल्कि फौजी सिपाही हैं। यू. पी. की दूसरी जेलों में भी कैदियों को इसी तरह सिखलाया जाना चाहिए।

राजनीतिक नजरबंद चन्द्रसिंह का बहुत सम्मान करते थे। वह उनके पास बराबर आने-जाने लगे। फिर उन्हें वहीं उन्हीं के साथ रख भी दिया गया। चन्द्रसिंह ने देखा कि इतने शिक्षित और सम्भ्रान्त तरुण देश, भाषा, प्रदेश किसी प्रकार का भेद-भाव न रखकर उनसे मित्रतापूर्वक मिलते हैं, और केवल सम्मान ही नहीं करते, बल्कि इस बात की कोशिश करते हैं कि मेरी जानकारी बढ़े। उन्होंने पहिले सवाल-जवाब करके उनके ज्ञान को बढ़ाया। खासकर कामरेड ज्वालाप्रसाद ने उनके दिमाग में अब भी मौजूद ईश्वर और धर्म के खयाल को हटाया, और वह भौतिकवाद की तरफ झुके। उन्होंने यह भी समझाया कि मानव-समाज ऐसा ही पहिले से नहीं चला आया, बल्कि उसका आरम्भ बहुत क्षीण रूप में हुआ, जहाँ से बढ़ते-बढ़ते वह आज के स्थान

में पहुँचा। अपने इस तीन महीने के सम्पर्क से चन्द्रसिंह ने बहुत लाभ उठाया। इसके बाद रक्षित और दास को बंगाल सरकार ने बुला लिया, और कामरेड ज्वालाप्रसाद को बरेली जेल में दूसरी जगह भेज दिया गया। तीनों तरुणों ने दस-दस रुपया करके तीस रुपया चन्द्रसिंह और नारायणसिंह के नाम जमा करा दिया। दोनों को बी. क्लास मिलने पर उन रुपयों से उन्होंने अपने लिए चीजें खरीदीं। बंगाली नजरबंदों के चले जाने पर चन्द्रसिंह और नारायणसिंह को फिर उनके बैरक में भेज दिया गया। दोनों कैदियों को परेड सिखाया करते थे। वह चाहे कहीं रहते, लेकिन सबेरे एक घंटा परेड कराने के लिए सर्किल (चक्कर) में जा अपनी ड्यूटी करके लौट जाते। जेल के कर्मचारी उन्हें पसन्द नहीं करते थे। यह बतला ही चुके है कि राशन के मामले में वह किस तरह इन दोनों से चिढ़ गये थे। वह कैदियों को बरगलाया करते थे—"परेड करके तुमको क्या फायदा होगा, जो लड़ाई हुई, तो वहाँ ले जाकर मरवा दिया जायेगा। जेल की खुराक इतनी कम है कि परेड और कसरत से तुम कमजोर हो जाओगे।" इसी समय पता लगा कि जेलों के इंसपेक्टर-जेनरल आनेवाले हैं। सुपरिंटेंडेंट ने चन्द्रसिंह को परेड सिखलाकर कुछ कैदियों को तैयार करने के लिए कहा। चन्द्रसिंह ने तब जेलरों की हरकतों के बारे में बतलाया। मुख्य जेलर वहाँ पास में खड़ा था। उससे नहीं रहा गया और बोल उठा—"चुप रहो, तुम झूठ बोल रहे हो।"

इस पर चन्द्रसिंह ने कहा—"मैं तब तक परेड नहीं कराऊँगा, जब तक कि मुख्य जेलर साहब परेड करते कैदियों को देखने नहीं आयेंगे।"

जेलर ने कहा—"तुम कैदी की तरह काम करो। जैसा हुकुम दिया जाता है, तुम्हें वैसा करना होगा।"

चन्द्रसिंह ने कहा—"मैं कैदी जरूर हूँ, लेकिन परेड कराने के लिए जेल नहीं आया। लो, आज से मैं बिलकुल परेड नहीं कराऊँगा। जो करना हो सो कर लो।"

दूसरे दिन चन्द्रसिंह परेड पर नहीं गये। वहाँ नियुक्त जेलर ने चन्द्रसिंह की गैरहाजिर होने की रिपोर्ट दी। मुख्य जेलर टिकट पर लिखकर चन्द्रसिंह को सुपरिंटेंडेंट के सामने पेश करके कहने लगा—"इसने फौज में भी हुकुम-अदूली की थी, और यहाँ भी हर वक्त मुँहफट जवाब देता रहता है।"

सुपरिंटेंडेंट ने चन्द्रसिंह से पूछा—"क्यों जी, परेड पर क्यों नहीं गये ?"

चन्द्रसिंह ने जवाव दिया—"मैं परेड कराने के लिए जेल नहीं आया हूँ।"

सुपरिंटेंडेंट ने कहा—"अच्छा, तुम्हारी नम्बरदारी तोड़ी जाती है, और चक्की में तीस सेर अनाज पीसने को दिया जायेगा।"

चन्द्रसिंह ने काम करने से इन्कार कर दिया और एक दर्खास्त लिखकर सुपरिंटेंडेंट को दे दी कि यदि इस पर गौर नहीं किया जायगा, तो मैं दूसरी कार्रवाई करूँगा। फिर सूचनानुसार भूख-हड़ताल भी शुरू कर दी।

उसी दिन एक कांग्रेसी स्वयं-सेवक बरेली जेल से छूटकर गढ़वाल गया। उसने किसी कांग्रेसी नेता को चन्द्रसिंह की भूख-हड़ताल के बारे में कह दिया, जिसने यह बात श्री रामकृष्ण खत्री को लखनऊ लिख भेजी। रामकृष्ण जी राजनीतिक बन्दियों के निरीक्षण-कमेटी के सदस्य थे। उन्होंने यह खबर अखबारों में छपवा दी, और बरेली में सेठ दामोदर स्वरूप को भी लिख दिया। सेठजी ने सुपरिंटेंडेंट से इसके बारे में पूछा, तो उसने लिख दिया कि यह खबर गलत है, चन्द्रसिंह बिलकुल अच्छी तरह हैं। अब बात ऊपर चली गई थी, इसलिए सुपरिंटेंडेंट ने चन्द्रसिंह को खुशामद करके उन्हें फिर नम्बरदार बना दिया। यही नहीं, रोज आधे सेर दूध लिखकर महीने-भर के लिए अस्पताल भी भेज दिया।

कांग्रेसी सरकार : सन् 1935 के नये भारतीय विधान के अनुसार 1936 में सारे देश में विधानसभाओं के नये चुनाव हुए, जिसमें कांग्रेस ने भाग लिया, और बारह प्रदेशों में से सात में कांग्रेस की जीत हुई। युक्तप्रदेश में तो 228 में से 141 जगहें कांग्रेस को मिलीं। चुनाव के परिणाम की खबरें और उसमें कांग्रेस की सफलता की बातें जैसे-जैसे अखबारों में आती थीं, वैसे-वैसे चन्द्रसिंह और नारायणसिंह खुशी के मारे फूले नहीं समाते थे। वह समझते थे कि कांग्रेसी सरकार हमारी रिहाई अवश्य कर देगी, क्योंकि कांग्रेस ने राजनीतिक बन्दियों

के छोड़ने की घोषणा का था।

कांग्रेस का यद्यपि युक्तप्रदेश की विधानसभा में बहुमत था, लेकिन वह अंग्रेज नौकरशाही की शर्त पर मंत्रिमंडल बनाने के लिए तैयार नहीं थी। जब तक कांग्रेस की शर्तों को न माना गया, तब तक नवाब-छतारी के प्रधानमन्त्रित्व में तीन महीने के लिए अन्तरिम सरकार कायम हुई। चन्द्रसिंह को इस सरकार से क्या आशा हो सकती थी, लेकिन अन्तरिम सरकार ने भी जेल के कैदियों को कुछ सुभीते दिये। पहिले दो छटाँक भुने चने दिये जाते थे, अब कभी वह छौंककर और कभी उबालकर भी दिये जाते। चने के बदले नाश्ते में कभी-कभी दलिया भी मिल जाती। ऊपर का रुख देखकर जेल के अधिकारी भी कैदियों के साथ कुछ नर्मी का बर्ताव करने लगे।

अंत में कांग्रेस ने अपना मंत्रिमंडल बनाया, पर वीर गढ़वालियों को पंत की सरकार भूल गई। पंतजी ने स्वयं डेराइस्माइलखाँ की जेल में चिट्ठी भिजवाकर चन्द्रसिंह की भूख-हड़ताल को तुड़वाया था। जो राजनीतिक कैदी अपनी मियाद पूरी करके छूट गये थे, वह जेल में पड़े अपने साथियों को छुड़ाने के लिए मंत्रियों के पास दौड़ने लगे। बहुत मुश्किल से काकोरी-षड्यन्त्र के कैदियों को छोड़ा गया। लोग कई दिनों तक जेल के फाटकों की ओर टकटकी लगाये देखते रहे कि दूसरे राजनीतिक कैदी भी अब छूटेंगे। पर मन्त्रियों ने बहाना बनाया कि काकोरी-षड्यन्त्रवाले कैदियों ने छूटकर हिंसात्मक व्याख्यान दिया है, इसलिए बाकी कैदियों को छोड़ना मुश्किल है। कांग्रेसी मंत्रिमण्डल का यह रुख देख बहुत निराशा हुई। बरेली जेल के निरीक्षकों में ठाकुर पृथ्वीसिंह चौहान (बरेली) और पं. बद्रीदत्त पंत पांडे (अल्मोड़ा) जैसे कांग्रेसी भी थे। वह जेल देखने आये। सुपरिंटेंडेंट से जब चन्द्रसिंह के यहाँ होने की बात सुनी, तो उन्होंने उनसे मिलने के लिए चन्द्रसिंह को ऑफिस में बुलाया। चन्द्रसिंह के शरीर पर कैदियों की पीली वर्दी थी जिसे देखकर बद्रीदत्तजी बहुत खुश हुए, और उन्होंने कहा—"हमें बड़ी खुशी हुई है कि आपको बी. क्लास दे दिया गया।"

चन्द्रसिंह ने हँसते हुए कहा—"यह बी. क्लास नहीं है, बल्कि नम्बरदारी की वर्दी है।"

खैर, उन्होंने सरकार से सिफारिश की, और दस-बारह दिन के भीतर चन्द्रसिंह और नारायणसिंह दोनों को बी. क्लास मिल गया। बी. क्लास में खाने-पीने, कपड़े-लत्ते आदि के बहुत-से सुभीते जरूर थे, लेकिन आम कैदियों से अलग रहना अच्छा नहीं लगता था। अब उनको कैदियों में से एक रसोइया और दो खिदमतगार मिले थे। चारपाई, बिस्तर, कपड़ा अथवा भोजन आदि की चीजें अपनी इच्छा के अनुसार एक खास दाम के भीतर वह मँगा सकते थे।

दोनों मित्र साथ रहते अच्छी तरह से समय बिता रहे थे। इसी समय दो महीने बाद अचानक एक दिन नारायणसिंह की रिहाई का हुकुम आया। केन्द्रीय विधानसभा में सवाल पूछने पर सरकार की ओर से जवाब दिया गया था कि चन्द्रसिंह को छोड़कर पेशावर-कांड के बाकी कैदियों की आधी सजा कम कर दी जायेगी। चन्द्रसिंह को आजन्म कालापानी अर्थात् बीस साल की सजा थी। उनके साथ सरकार कोई भी रियायत करने के लिए तैयार नहीं थी, क्योंकि वह जानती थी कि पेशावर-कांड का दिमाग यही आदमी था। नारायणसिंह की सजा 25 साल की थी, और साढ़े सात साल काट चुके थे, इसलिए उनको छोड़ने के लिए सरकार तैयार थी, लेकिन उन्हें बरेली जेल में न छोड़कर अपने जिले के पौड़ी जेल में इसके लिए भेजा गया। बेड़ी-हथकड़ी पहनाकर पुलिस के तीन सिपाही उन्हें बरेली जेल से ले चले। दुगड्डा में पहुँचे। जनता को मालूम हुआ कि हमारे गढ़वाली वीरों का एक मुखिया आ रहा है। वह भारी संख्या में जमा हो गई। हथकड़ी-बेड़ियों को देखकर उसको गुस्सा आया, और उसने उसे तोड़ दिया। बिना हथकड़ी-बेड़ी के एक बड़ा जुलूस निकाला गया। वहाँ से पुलिस आगे भी बिना हथकड़ी-बेड़ी के ही उन्हें ले गई। दुगड्डा में किसी अंग्रेज ने यह दृश्य देख लिया। अंग्रेजों का राज्य अभी हिन्दुस्तान से गया नहीं था, और यह गुस्ताखी ? अंग्रेज इसे बर्दाश्त करने के लिए कैसे तैयार होता ? उसने ऊपर के अधिकारियों को लिखा। साथ ले जानेवाला पुलिस हेड-कान्स्टेबल बर्खास्त कर दिया गया। यह खबर बरेली जेल में चन्द्रसिंह को मिली। कुछ समय बाद पं. जवाहरलाल नेहरू उनसे मिलने आये। चन्द्रसिंह ने यह बात उनसे कही, और उन्होंने पंतजी को लिखा। हेड-कान्स्टेबल को फिर अपनी

जगह पर बहाल कर दिया गया।

नारायणसिंह हवलदार अपने कार्य में दक्ष थे। पलटन में रहते तो आज तक सूबेदार हो गये होते। वह अनपढ़ नहीं थे, और दुनिया-जहान का कुछ ज्ञान भी रखते थे। जेल से छूटने के बाद अब उन्हें घर पर बेकार रहना था। नेहरूजी को उनका पता था। फैजपुर में कांग्रेस होनेवाली थी। नेहरूजी ने उसके खयाल से नारायणसिंह को बुलाया और छूटने के बाद एक ही सप्ताह घर में रहकर वह उनके पास कानपुर पहुँच गये, वहाँ से नेहरूजी ने उन्हें फैजपुर में भेज दिया। उन्होंने सरदार वल्लभभाई पटेल को परिचय-पत्र लिख दिया, और यह भी कि इनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाय, तथा स्वयं-सेवकों के कप्तान का कोई काम दिया जाय। नारायणसिंह वहाँ गये। कांग्रेस के प्रबन्धक शायद जानते होंगे कि यह पेशावर-कांड के वीर गढ़वाली हैं, लेकिन उन्हें वह सिपाही से अधिक मान देने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें कांग्रेस के फाटक पर रख दिया गया। नारायणसिंह के बारे में हम देख चुके हैं कि वह बड़े शान्त और संत प्रकृति के आदमी थे। उनमें दिखावा नहीं है और जल्दी झुँझलाना भी उनको नहीं आता। द्वारपाल के तौर पर मामूली स्वयं-सेवक रहने का उन्होंने कोई विरोध नहीं किया, और चुपचाप अपनी ड्यूटी पर लग गये। उनको इससे संतोष था कि देश के बड़े-बड़े नेताओं के दर्शन करने का मौका मिल रहा है। कांग्रेस का अधिवेशन बड़ा शानदार हुआ। देश के बड़े-बड़े सूबों में कांग्रेसी सरकारें थीं, सब जगह एक अद्‌भुत उत्साह था। सभी प्रादेशिक महामंत्री और मंत्री आये हुए थे।

अधिवेशन की चहल-पहल समाप्त हुई। लोग अपने-अपने घरों को लौट गये। जिन्होंने नारायणसिंह को द्वारपाल नियुक्त किया था, शायद वह भी फैजपुर से रवाना हो गये, किसी को खयाल नहीं रहा। नारायणसिंह सूने पंडाल के द्वार का अब भी पालन कर रहे थे। वह फौजी अनुशासन के अभ्यस्त थे। सैनिक को जहाँ ड्यूटी दे दी जाय, उसे वहाँ से तब तक हटना नहीं चाहिए, जब तक कि हटने का आदेश न हो, लेकिन यहाँ तो कोई आदेश देनेवाला ही नहीं था। अगर वह अशान्त प्रकृति के होते, तो उनकी दिमागी हलचल रास्ता जल्दी बता देती। वह इसी स्थिति में थे, कि उसी समय कम्युनिस्ट पार्टी के तत्कालीन महामंत्री पूरनचंद्र जोशी को पता लगा। वह उनसे सारी बातें जानकर अपने साथ बम्बई ले गये। फिर जोशी ने किराये के लिए पैसा दिया, जिससे वह घर लौट सके।

बरेली जेल में नारायणसिंह के छूटने के कुछ समय बाद साथी यशपाल फिर लौटकर आ गये। वह चन्द्रसिंह के पड़ोस में ही रहते थे। इसी समय प्रकाशवतीजी से यशपाल की शादी (सिविल-मैरिज) जेल ही में हो गई।

कालापानी में अब भारी संख्या में बंदी रहते थे। उन्होंने माँग की कि हमें देश लौटाकर छोड़ दिया जाय। माँग के न पूरा होने पर उन्होंने भूख-हड़ताल की नोटिस दे रक्खी थी। देवली कैम्प में भी बहुत-से नजरबन्द राजबंदी थे। उन्होंने भी न छोड़ने पर अनशन की सूचना दी। सारे देश में अपनी-अपनी जेलों में राजबंदी इन माँगों के लिए भूख-हड़ताल करनेवाले थे। गाँधीजी ने केंद्रीय सरकार से राजबंदियों के छोड़ने के लिए लिखा-पढ़ी शुरू की। उनके बीच में पड़ने पर भूख-हड़ताल रुक गई। राजबंदियों को पुस्तक-पत्र लिखने-पढ़ने के सुभीते मिले। युक्तप्रदेश सरकार ने सभी राजबंदियों को बी. क्लास दे नैनी में रखने का निश्चय किया।

जिस समय ये बातें हो रही थीं, उसी समय चन्द्रसिंह की बरेली जेल के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट गार्डन से कशमकश चल रही थी। गार्डन पूरा खाऊसल था, जेल की हरेक चीज पर हाथ साफ करना चाहता था, जिसका मतलब था कैदियों का पेट कटे। चन्द्रसिंह इसे बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। जेल के सुपरिंटेंडेंट मेजर मल्होत्रा एक फौजी आदमी थे, साथ ही भारतीय भी। वह चन्द्रसिंह की बहुत इज्जत किया करते थे, लेकिन असिस्टेंट अंग्रेज था जिसकी पहुँच ऊपर तक थी। गार्डन ने अपने रास्ते में काँटा देखकर एक बदमाश कैदी को सिखाकर भेजा। उसने नाहक झगड़ा छेड़कर चन्द्रसिंह पर हाथ चलाना चाहा। यह बात जब सुपरिंटेंडेंट के सामने रक्खी गई, तो मेजर मल्होत्रा ने उस कैदी को बेड़ी तथा एक महीने की रेमिशन (छूट), काटने की सजा दी। चन्द्रसिंह अपने लिए उस कैदी को इस तरह की सजा देना पसन्द नहीं करते थे, खासकर रेमिशन का काटना उन्हें असह्य हुआ क्योंकि अब वह कैदी एक महीने तक और अपने बाल-बच्चों से न मिलने पायेगा। जब कहने पर रेमिशन काटने की सजा नहीं हटाई गई, तो उन्होंने भूख-हड़ताल का निश्चय कर लिया। अन्त

में मेजर मल्होत्रा ने इनकी जिद्द मान ली। इस बात का प्रभाव सारे जेल के कैदियों पर पड़ा। दशहरे का दिन आया। उस दिन कैदियों को सरकार की ओर से विशेष भोजन दिया जाता था, और कैदी अपने पैसे से भी चीजें मँगवा सकते थे। बरेली जेल के साथ एक बहुत बड़ी शाक-सब्जी की बारी थी, जिसमें गोभी लगी हुई थी। गार्डन निरीक्षक था। उसने सारी गोभियाँ तुड़वाकर दो-दो आने के हिसाब से कैदियों को बेच दिया, और कागज में लिख दिया कि गोभी भण्डार में भेजी गई। भण्डार में तो चौलाई का साग उबाला जा रहा था। चन्द्रसिंह ने यह बात सुपरिंटेंडेंट को बतलाई–"तुरन्त चलिये, गोभी का फल चिड़िया चुग गई। चलकर रसोईखाने को देखिये।" सुपरिंटेंडेंट ने रसोईखाने में चौलाई का साग उबलते देखा, और कैदी जगह-जगह अपने तसलों में गोभी की भाजी बना रहे थे। गार्डन की चोरी का पता लगाया गया। जेल की गोशाला से सभी अफसरों को थोड़ा-थोड़ा दूध मिलता था, और गार्डन और भी लेता था लेकिन उसको इससे सन्तोष नहीं था। गोशाला के पास ही उसका बँगला था। रोज छागलों में भरकर दूध उसके बँगले में चहारदिवारी के इस पार से फेंक दिया जाता और दूध की कमी पानी से पूरी कर दी जाती थी। यह सब बातें देखकर सुपरिंटेंडेंट ने ऊपर लिखा और गार्डन की बरेली से नैनी जेल में बदली हो गई। इसी समय चन्द्रसिंह को भी नैनी भेजने का हुकुम आ गया था। जेल के फाटक पर गार्डन चन्द्रसिंह से मिला। उसने माफी माँगते हुए कहा–"अब तक जो कुछ हुआ, भूल जायें। नैनी में इन बातों को दोहराना नहीं चाहिए।"

कालेपानी में सड़ते तीन सौ राजनीतिक बन्दियों ने आमरण अनशन शुरू कर दिया। सारे देश में तहलका मच गया। महात्मा गाँधी तथा अंग्रेजी सरकार ने उन्हें रिहा करने का आश्वासन देकर अण्डमन से भारत में बुला अपने-अपने सूबों में भेज दिया। इसी समय युक्तप्रदेश की कांग्रेसी सरकार ने सारे राजनीतिक बन्दियों को सी. क्लास से बी. क्लास करके नैनी (इलाहाबाद) जेल में रख दिया।

19
नाना जेलों में (1937-41 ई.)

नैनी जेल में–चन्द्रसिंह इलाहाबाद में जमना के पार नैनी के सेन्ट्रल जेल में पहुँचे। उन्हें यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि यशपाल, शिव वर्मा, जयदेव कपूर, डॉ. गया प्रसाद, शम्भूप्रसाद (उटकमण्ड-केसवाले), विजयकुमार सिंह जैसे क्रान्तिकारी राजबन्दियों के साथ उन्हें रहना था। वे लोग भी वीर गढ़वाली को देखकर बहुत प्रसन्न हुए। प्रकाशवती मिलने के लिए आईं। उन्होंने चन्द्रसिंह से पूछा कि आपके लिए क्या लाऊँ? इन्होंने आर्यसमाजी कोई दर्शन-सम्बन्धी पुस्तक लाने के लिए कहा। साथियों ने सोचा कि अभी चन्द्रसिंह का पीछा आर्यसमाज ने नहीं छोड़ा है।

क्रांतिकारी जेलों में रहते अध्ययन और चिन्तन द्वारा इस नतीजे पर पहुँचते थे कि देश की मुक्ति और हित आतंकवाद में नहीं, बल्कि साम्यवाद में है। हमें इक्के-दुक्के वीरों के साहस के भरोसे अपने लक्ष्य पर पहुँचने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, बल्कि सारी जन-शक्ति को उद्‌बोधित करना चाहिए। यही सोच सभी तरुण क्रांतिकारी कम्युनिस्ट विचारों के हो गये थे। बाहर निकलने पर उनमें से कुछ नेतागिरी या और प्रलोभन से अपने पथ से विचलित हो गये, किन्तु जेलों में सभी मार्क्स के पथ को ही मानते थे।

चन्द्रसिंह के स्वागत के लिए नैनी जेल के साथियों ने खास तैयारी की। 11 राजबन्दी थे। उनके लिए अच्छी तरह पकाकर 11 मुर्गमुसल्लम तैयार किये गये थे। सब लोग खाने के लिए बैठे। चन्द्रसिंह बहुत दिनों से आर्यसमाज के प्रभाव के कारण मांस खाना छोड़े हुए थे, और इतने दिनों के जेल-जीवन में भी वह उससे बचते आये थे। युक्तप्रदेश की जेल में आने पर उनके विचारों में कुछ-कुछ परिवर्तन होने लगा था, और वह समझते थे कि मैं प्रगति में पिछड़ा हुआ हूँ। जनेऊ भी उनके शरीर पर था। इस पर भी टीका-टिप्पणी होती

या, और नहीं तो साथी मुस्कुरा सकते थे। इसलिए नहाने के वक्त वह जनेऊ को फेंक आये। एक मुर्गमुसल्लम उनके सामने भी रक्खा हुआ था। उसको इन्कार करने पर साथी समझ लेते कि चन्द्रसिंह पर साम्यवाद का कोई असर नहीं है। वह अब भी उसी दकियानूसी खयालों पर अड़े हुए हैं। पहाड़ में शास्त्रों ने भी 'उत्तरे मांसभोजनम्' कहकर मांस खाने की छूट दे रक्खी है। चन्द्रसिंह मांस छोड़कर पहाड़ के शास्त्रानुमोदित धर्म का उल्लंघन कर रहे थे। हाँ, इसका उनको पता नहीं था। वह आर्यसमाज के नये धर्म के फन्दे में फँसकर पथ-भ्रष्ट हो गये थे। पहिले वह मांस से परहेज नहीं करते थे, और उसकी सुमधुर सुरभि उत्तेजक थी। तो भी इस समय दिल पर पत्थर रखकर उन्होंने मुर्गमुसल्लम पर हाथ साफ किया। शायद नैनी में वह एक ही दिन जनेऊ तोड़कर मुर्गमुसल्लम तक पहुँचने में समर्थ न हुए होते, यदि साथी ज्वालाप्रसाद ने बरेली में धीरे-धीरे चोट करते उन्हें नास्तिकता की ओर खींचा न होता।

नैनी में अपने ज्ञान को और बढ़ाने का सबसे अच्छा अवसर मिला। उनके साथी सुशिक्षित-सुगठित तरुण थे, जो अपने मित्र की हर तरह से सहायता करने के लिए तैयार थे। सब उन्हें बारी-बारी से पढ़ाते। उनके लिए नैनी जेल ने कॉलज का रूप धारण कर लिया।

बड़ा भाई : चन्द्रसिंह को जाननेवाले आज सभी उन्हें बड़ा भाई कहकर पुकारते हैं। यह नामकरण नैनी में हुआ था। वहाँ पहुँचने पर पहिले कोई हवलदार कहकर पुकारता और कोई पहाड़ी। चन्द्रसिंह को यह सम्बोधन पसन्द नहीं था। इस समस्या का हल यशपाल ने कर दिया। उन्होंने कहा, "न हवलदार, न पहाड़ी, और न और कुछ। हम लोग अब से इन्हें 'बड़ा भाई' कहा करेंगे।"

राजबन्दियों की माँगों में कैद से रिहाई भी एक मुख्य थी। सरकार ने इस माँग को नहीं माना। अब हड़ताल करना जरूरी था। नैनी के राजबन्दियों ने निश्चय किया कि सभी एक साथ न शुरू करके एक के बाद एक हड़ताल करें। पहिले शम्भूप्रसाद को आरम्भ करना था। चन्द्रसिंह के लिए उन्होंने निश्चय कर लिया था कि इनका मुकदमा दूसरी तरह का है, अंग्रेजी सरकार इन्हें छोड़ने के लिए तैयार न होगी, इनके भूख-हड़ताल करने का मतलब मौत के मुँह में पड़ना होगा। इसीलिए सबने जोर देकर चन्द्रसिंह को भूख-हड़ताल में न शामिल होने दिया। भूख-हड़ताल को सामने आई देखकर सरकार ने राजबन्दियों को नैनी से लखनऊ जिला जेल में भेज दिया।

लखनऊ जेल में : चन्द्रसिंह जेल के फाटक के भीतर गये। वहीं साथी जयबहादुर सिंह से मुलाकात हो गई। वह आतंकवाद में विश्वास रखनेवाले थे, और चन्द्रसिंह अब मार्क्स के पथ पर आरूढ़। दोनों में बहस छिड़ने लगी। कितने ही दिनों बाद चन्द्रसिंह जयबहादुर को मार्क्सवाद पर लाने में सफल हुए। बहस का रूप सदा मित्रतापूर्ण ही नहीं रहता था, किन्तु अन्त में दोनों गहरे दोस्त बन गये। कुछ समय बाद नैनी से बाकी साथी भी यहीं आ गये, जिनमें अजमेर के साथी रामसिंह भी थे, जो कम पढ़े थे। उनकी पढ़ाई की ओर भी ध्यान दिया गया। क्लास चलने लगी। जेल के सुपरिंटेंडेंट हेतराम जोशी अल्मोड़ा के रहनेवाले थे। उन्हें चन्द्रसिंह के लिए विशेष अभिमान होना ही चाहिए था। पढ़ने के अलावा चन्द्रसिंह तरकारी की खेती में लगे रहते, कवायद-कसरत भी करते। यद्यपि केन्द्रीय सरकार के रुख के कारण कुछ नहीं कर सकते थे, पर जिन प्रदेशों में कांग्रेसी सरकारें थीं, वहाँ के राजबन्दियों के साथ अच्छा सलूक किया जाता था। लखनऊ के इस जेल में रहनेवाले बन्दियों को तो बन्दी कहना ही गलत होगा। जेल-विभाग स्वर्गीय रफी अहमद किदवई के हाथ में था, जिसके पार्लियामेंटरी सेक्रेटरी श्री गोपीनाथ श्रीवास्तव थे। रफी अहमद बहुत दूरदर्शी और बहुत उदार, असाधारण पुरुष थे। उनके कार्यकुशल होने का सिक्का तो सभी मानते हैं। वह कभी-कभी पूर्वाह्न जेल में चले जाते और शाम तक राजबन्दियों के साथ रहते—चारपाई पर पड़े हुए हैं, और सबसे सगे सहोदर की तरह हिल-मिलकर बात कर रहे हैं। कोई भी बात होने पर जेल से फोन खटखटाया जाता, सभी तरह की चीजें मिलतीं, हर सातवें दिन बाहर से खाने-पीने की चीजें लेकर लोग मिलने आया करते। रफी साहब और गोपीनाथ के इतने मेहरबान होने पर जेलवाले यदि उनसे दो कदम आगे रहना चाहते, तो वह स्वाभाविक ही था।

उस समय कांग्रेस के प्रेसीडेंट श्री सुभाषचन्द्र बोस थे। वह किसी काम से लखनऊ आये और जेल में

राजबन्दियों से मिलना न भूले। उनके आने पर चन्द्रसिंह ने अपनी रिहाई के लिए एक पत्र उनके हाथ में थमा दिया। सुभाष जानते थे कि इस सीधे-सादे पुरुष ने देश के लिए कितना बड़ा खतरा अपने ऊपर मोल लिया था। वह दिल और दिमाग दोनों के धनी पुरुष थे। चन्द्रसिंह के मुँह से बातें सुनते-सुनते वह अपने को रोक न सके, उनकी आँखों से टप-टप आँसू गिर पड़े। उन्होंने कहा–"भाई, तुम्हारे लिए जो कुछ किया जाय, कम है। पर रिहाई करने के लिए अंग्रेज तैयार नहीं होंगे। हम तुम्हारी चिट्ठी गाँधीजी को दे देंगे।"

यहीं जेल में रहते आचार्य नरेंद्रदेव और पं. सुंदरलालजी भी मिलने आये। उस समय कांग्रेस में सभी दल सम्मिलित थे। अभी कम्युनिज़्म को अछूत नहीं समझा जाता था।

पं. सुंदरलालजी मुलाकात करके फाटक तक चले गये। फिर लौटकर उन्होंने बड़े भाई से पूछा–"बताइये, जीवन का लक्ष्य क्या है ?"

बड़े भाई ने कहा–"मृत्यु के भय से मुक्त होना। इस शब्द को हमारे कोश से निकाल देना चाहिए। जब मौत अवश्यम्भावी है, तो उससे भय खाना बेवकूफी के सिवा और कुछ नहीं।" सुंदरलालजी अपनी जब्त की हुई पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज्य' की एक प्रति दे गये।

लखनऊ जिला जेल में इसी तरह दिन बीतते गये। एक दिन किदवई ने पूछा–"बड़े भाई, बताओ, तुम्हारी और क्या खिदमत करूँ ?"

चन्द्रसिंह ने कहा–"बहुत साल हो गये पिता का दर्शन किये। वह बहुत बूढ़े हैं। मुझे अल्मोड़ा भिजवा दें, तो वह आकर मुलाकात कर जायेंगे।"

यह कौन-सी बड़ी बात थी ? किदवई ने तुरंत लिखा, और महीने-भर के लिए भड़े भाई को अल्मोड़ा भेज देने का हुकुम आ गया।

पुलिस का गारद आ गया। वह बड़े भाई को लेकर अल्मोड़ा के लिए रवाना हुआ। काठगोदाम से मोटर पर चढ़ वह रानीखेत पहुँचे। पता लगा, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित और अनुसूया प्रसाद बहुगुना एम. एल. ए. यहाँ किसी कान्फ्रेन्स के लिए आये हुए हैं। चन्द्रसिंह ने उनसे मिलने के लिए आगे जाने से इन्कार कर होटल में ले चलने के लिए मजबूर किया। वह साधारण कैदी तो थे नहीं, फिर कांग्रेसी सरकार, इसलिए पुलिसवाले जोर-जबर्दस्ती कैसे कर सकते थे ? रात का समय था। बहुगुना साहब शराब के नशे में मस्त थे, उन्हें चन्द्रसिंह से मिलने की फुर्सत कहाँ थी ? विजयलक्ष्मी पंडित तो जबर्दस्ती कांग्रेसी नेता बनीं, क्योंकि वह एक महानेता की पुत्री और दूसरे की बहिन थीं। जवाहरलाल पर भद्रवर्ग के अभिमान का लांछन लगाया जाता है, लेकिन वस्तुतः आभिजात्य की साकार मूर्ति हैं, विजयलक्ष्मीजी। उन्होंने पेशावर-काण्ड के बारे में पढ़ा होगा। उसमें एक सिपाही चन्द्रसिंह भी रहा होगा। यहाँ बन्दी के रूप में उसे देखने के लिए रानीखेत में वह क्यों तैयार हो सकती थीं ? दोनों कांग्रेसी नेताओं के इस रूखे बर्ताव से चन्द्रसिंह को बहुत ठेस लगी। आखिर उनके दर्शनों के लिए ही यह जिद्द करके रानीखेत में उस दिन रुक गये थे।

अगले दिन वह रानीखेत से अल्मोड़ा जेल में पहुँचे। जेल के कायदे के मुताबिक तलाशी ली गई।

पिताजी को पहिले ही लिख दिया था। वह अपनी दोनों पुत्रवधुओं भागीरथी देवी और गौरा (नवीना) को साथ लेकर आये। महाकवि पं. सुमित्रानंदन पंत के अनुज पं. देवीदत्त पंत के यहाँ ठहरे। सालों बाद मिलने पर पिता को अपार प्रसन्नता हुई, और यह देखकर और भी, कि उनका पुत्र बन्दी जैसा मालूम नहीं होता। बी. क्लास में वह थे ही, साथ ही कांग्रेसी सरकार की उदारता भी उनके ऊपर थी। खाने के लिए बिस्कुट भी था, ओवलटीन भी, चाय भी, मिठाइयाँ भी, फल भी। कपड़ा-बिस्तर भी अच्छा और साफ-सुथरा। हाँ, यह सुनकर उनको दुःख हुआ कि पुत्र की रिहाई अब भी अनिश्चित है। न जाने अपने जीवन में वह पुत्र को मुक्त देख सकेंगे या नहीं। पिता ने भागीरथी से पुत्र की इच्छा के विरुद्ध ब्याह कर दिया था। वह तब छोटी लड़की थी। बड़े भाई ने अपने मन से अल्हड़ तरुणी गौरा से ब्याह किया था। भागीरथी अब तरुणी थी। अनिश्चित काल तक अपनी तरुणाई को वह इसी तरह काटे, बड़े भाई को यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने बरेली जेल से ही छूट (विवाह-विच्छेद) की चिट्ठी लिख दी थी। उन्होंने भागीरथी से कहा–"मेरा छूटने का समय अभी निश्चित

नहीं है। बीस वर्ष की सजा है। तब तक तुम बैठी मेरी प्रतीक्षा करो यह ठीक नहीं, इसलिए मैं तुमको भी छोड़ देना चाहता हूँ।"

भागीरथी ने आँसू भरकर कहा—"मैं जीते पति को कैसे छोड़ दूँ ? यह मुझसे नहीं हो सकता।"

बड़े भाई को अपनी उपेक्षिता पत्नी पर दया हो आई।

एक महीना अल्मोड़ा की सैर करके वह फिर लखनऊ आ गये। इतने दिनों बाद अपने पिता और उससे भी ज्यादा पत्नी से मिलकर आये थे। जेल की चहारदीवारी के भीतर बंद बन्दियों के लिए यह बड़ी मनोरंजक घटना थी। वह एक-एक बात को उनसे दोहरवाते रहे : बड़े भाई, भाभीजी से क्या बातें हुईं ? आपने भाभीजी की कैसे खातिर की, आदि आदि।

विजयकुमार जेल से छूटकर पं. जवाहरलाल से मिले और उन्होंने चन्द्रसिंह के बारे में बातें बतलाईं, और यह भी कहा कि उनके परिवार की कोई व्यवस्था की जाय। नेहरूजी ने अपने बहनोई आर. एस. पण्डित को अपनी कितनी ही पुस्तकें देकर उनसे मिलने के लिए भेजा। जीवनी हाथ में आते ही चन्द्रसिंह ने सबसे पहिले उन पृष्ठों पर नजर दौड़ाई, जिनमें नेहरूजी ने पेशावर-काण्ड के बारे में लिखा था। यह पढ़कर उन्हें बड़ा क्षोभ हुआ कि नेहरूजी समझते हैं कि गढ़वाली वीरों ने पेशावर में हल्के दिल से बगावत की थी, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि देश को स्वराज्य अब मिलने ही वाला है, इसलिए किसी अनिष्ट की सम्भावना नहीं है। चन्द्रसिंह ने और किताबें रख लीं लेकिन जीवनी को आर. एस. पण्डित के हाथों लौटाते हुए कहा कि यह बहुत गलत बात लिखी गई है। हमारे हृदयों में अपने काम के तुरंत फल की कोई आशा नहीं थी। पीछे जब पंडितजी के साथ रहने का मौका मिला, तब बड़े भाई ने उन बातों को समझाया। नेहरूजी ने कहा—"हम उस जगह को बदल देंगे। अच्छा होता, यदि यह बात कुछ पहिले मालूम होती। तब हम अमेरिका में छपे संस्करण में इस स्थल को तभी बदल सके होते।" मालूम नहीं, जीवनी से वह बातें अब भी निकाली गई हैं या नहीं।

नेहरूजी की इच्छा के अनुसार आर. एस. पंडित ने बड़े भाई से कहा कि बीवी को किसी आश्रम में भेज दिया जाय, जहाँ वह कुछ पढ़े-लिखे। गाँव का पता और घर की स्थिति के बारे में पूछा। बड़े भाई ने पता बता दिया और घर की स्थिति के बारे में अपने को अनभिज्ञ कहा। अपने या अपनों के लिए किसी के सामने हाथ पसारना उन्हें अच्छा नहीं मालूम हुआ।

पेशावर-काण्ड के मुक्त बन्दी अपने घरों में बेकार पड़े थे। कांग्रेसी सरकार के सामने अपने लिए काम माँगने वह लखनऊ पहुँचे, और जुलूस बनाकर वह पंडित गोविंदवल्लभ पंत से मिले। पंतजी ने कानपुर के करोड़पति सेठ पद्मपत सिंघानिया को इसके लिए चिट्ठी दे दी। सिंघानिया ने उन्हें अपने यहाँ दरबान रख लिया।

पेशावर-काण्ड के बन्दियों में सुंदरसिंह सात साल की आधी सजा भुगतकर छोड़ दिये गये थे, और कुछ ही समय बाद वह अपने घर में मर गये। उनके परिवार की जिम्मेवारी उनके भाई बाकसिंह पर पड़ी। वह भी सिंघानिया के यहाँ दरबान रक्खा गया। उसे 16 रुपया मासिक मिलता था, जिसमें भाई के बाल-बच्चों और अपना भी खर्च चलाना मुश्किल था। वह एक दिन आकर बड़े भाई से मिला। चन्द्रसिंह ने उसके बारे में आर. एस. पंडित से कहा, जिन्होंने अपनी चिट्ठी देकर दुगड्डा के कांग्रेसी नेता जगमोहनसिंह नेगी के पास काम देने के लिए भेज दिया। बाकसिंह देखने में बहुत सीधा-सादा आदमी था पर अनपढ़ नहीं, मिडिल पास था। नेगी ने उसे देखकर कहा, ऐसे बुद्धू आदमी के लिए हमारे पास कोई काम नहीं। बाकसिंह ने लौटकर फिर चन्द्रसिंह से मुलाकात की। भूखे मरने से सिंघानिया की नौकरी ही अच्छी, यह सोचकर चन्द्रसिंह ने जब सेठ को चिट्ठी लिखी, तो उन्होंने फिर अपने यहाँ रख लिया। लेकिन बाकसिंह को अपनी स्थिति से संतोष नहीं था। दूसरी बार अल्मोड़ा जाने पर अल्मोड़ा जिलाबोर्ड के कांग्रेसी चेयरमैन हरिश्चन्द्र जोशी से उस बारे में चन्द्रसिंह ने कहा। जोशीजी ने भी इस आदमी को नालायक समझा। इसी समय अल्मोड़ा में गाँधी-आश्रम के श्री शान्ति प्रकाश से चन्द्रसिंह की मुलाकात हुई। कहने पर उन्होंने कहा कि मेरे पास एक जगह है, लेकिन हम दस रुपये महीने से अधिक नहीं दे सकते। शान्तिप्रकाश बाकसिंह को अपने साथ ले गये। वहाँ अपना काम दिखलाने का मौका मिला, थोड़े ही दिनों में बाकसिंह का वेतन दस से छब्बीस रुपया हो गया, और बहुत समय नहीं

बीता कि 72 और फिर 120 रुपया मासिक पाने लगे। वह चरखा-संघ के एक योग्य हिसाब-निरीक्षक के तौर पर काम कर रहे हैं। यह वही आदमी हैं, जिनको कितने नेताओं ने नालायक कहकर हटा दिया था। आदमी को पहचानना कितना मुश्किल है ?

1938 का सन् बीत रहा था। पं. जवाहरलाल नेहरू गढ़वाल के टूर में गये थे। देवप्रयाग में राजनीतिक सम्मेलन हो रहा था। लोगों ने अपने वीर नेता के नाम पर वहाँ चन्द्रसिंह नगर बना रक्खा था। पंडितजी को लोगों ने मानपत्र दिया, जिसमें कहा गया था कि हमारे चन्द्रसिंह को छुड़वाइये। इसके बाद 8 अक्तूबर को पंडितजी लखनऊ जेल में चन्द्रसिंह से मिलने आये, तो देवप्रयाग-कान्फ्रेन्स के लिए हुए बहुत-से फोटो अपने साथ लेते आये थे। उन्हें सब दिखलाते और बातें पूछते हुए उन्होंने यह भी कहा—"मैं चाहता हूँ कि तुम्हारी बीवी को अहमदाबाद में मृदुला के आश्रम में भेज दिया जाय, वहाँ रहकर वह कुछ पढ़-लिख जायेगी। तुम्हारी रिहाई के लिए लिख रहा हूँ। मैं स्वयं तो विलायत जा रहा हूँ, लेकिन मेरे देश लौटने तक तुम अवश्य मुक्त हो जाओगे। मुक्त होने के बाद भावुकता में आकर तुरंत बोलने न लग जाना। पहिले देश की स्थिति को समझना। विजयलक्ष्मी से मैं कहे जा रहा हूँ, उससे पूछकर काम करना।"

बड़े भाई ने कहा—"बीवी के बारे में घरवालों से पूछना होगा। बीवी देहात के एक गरीब परिवार की लड़की है। उसे जूता भी पहनना नहीं आता, न दूसरा रीति-रिवाज जानती है। मुझे अल्मोड़ा जेल में भेज दिया जाय, तो वहाँ घरवालों को बुलाकर उनकी राय होने पर बीवी को पं. देवदत्त पंत के परिवार में रख देंगे जहाँ कुछ समय रहकर वह कुछ चाल-बात सीख जायेगी, फिर आश्रम में भेजा जाय, तो अच्छा रहेगा।"

नेहरूजी ने सारी बातें नोट कर लीं और किदवई को कहकर अल्मोड़ा भेजने के लिए लिख दिया।

राजनीतिक बंदियों की रिहाई की कोशिश अब भी जारी थीं। रामकृष्ण खत्री, बटुकेश्वर दत्त आदि जेल से छूटे पुराने क्रांतिकारी इसी सिलसिले में गाँधीजी से मिले। गाँधीजी ने कहा कि यदि राजबंदी यह कहें कि आतंकवाद के पथ को हमने छोड़ दिया, तो उनकी रिहाई का प्रयत्न सफल हो सकता है। सभी जगहों के राजबंदियों को इसके बारे में निश्चय करना था। लखनऊ जेल के साथियों ने भी आपस में विचार किया, और यद्यपि वह अहिंसा पर उस तरह विश्वास नहीं रखते थे, जैसे गाँधीजी, पर मार्क्सवाद ने उनके दिलों से आतंकवाद का खयाल छुड़वा दिया था, इसलिए "हम आतंकवाद को नहीं मानते", यह कहने में क़िसी को उजुर नहीं हो सकता था। सारे देश के आठ हजार के करीब राजबंदियों ने दस्तखत कर दिया कि हमारा आतंकवाद पर विश्वास नहीं है। चन्द्रसिंह ने भी हस्ताक्षर कर दिया था। इसके बाद साथी शिववर्मा, डॉ. गयाप्रसाद, जयदेव कपूर को पैरोल पर कुछ समय की छुट्टी दे दी गई, पर चन्द्रसिंह को वह भी नहीं मिला।

इस समय इलाहाबाद विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों का कोई आन्दोलन चल रहा था। रमेश सिन्हा और जगन्नाथ भट्टाचार्य वहाँ विद्यार्थियों के नेता थे। सरकार ने उन्हें पकड़कर लखनऊ जिला जेल में भेज दिया था। वह ए. क्लास के कैदी थे और बड़े भाई बी. क्लास के। रक्खे गये थे अलग-अलग, लेकिन खाना, खेलना, पढ़ना एक साथ होता था। रमेश बड़े भाई को अंग्रेजी, और दूसरे विषय भी दोनों साथी दत्त-चित्त होकर पढ़ाने लगे। बड़े भाई के अल्मोड़ा जाने से पहिले ही रमेश को हृदय की बीमारी हुई, और उन्हें भी अल्मोड़ा भेज दिया गया।

दुबारा अल्मोड़ा जेल में—बड़े भाई रमेश और जगन्नाथ के साथ अल्मोड़ा पहुँचे। जेल के फाटक पर तलाशी के लिए ज़ब कहा गया, तो नौजवानों का खून उबल पड़ा। उन्होंने इन्कार कर दिया। एक बखेड़ा खड़ा हो गया। फाटक बंद हो गया और तीनों राजबंदी बाहर रह गये। एस. डी. ओ. कालाजी आये। उन्होंने बड़ी नम्रता से कहा—"मैं आप लोगों के दर्शन करने आया हूँ। जेल का कानून है, तलाशी लिये बिना भीतर नहीं जाने दिया जाता।" उनकी नम्रता और सौजन्य से इतने प्रभावित हुए कि तीनों ने अपने ट्रंकों की चाबियाँ उनके हाथ में दे दीं। कालाजी ने ताले को बिना खोले ही कहा—"तलाशी हो गई, अब आप जाइये।"

राजबंदियों को खटकनेवाली वहाँ कितनी बातें थीं। हफ्ते में सुपरिटेंडेंट के आने पर परेड, हथेली खोलकर दिखलाते हुए अदब करना पड़ता। चन्द्रसिंह फौज में परेड करने के अभ्यासी थे। उनके साथी इसे अपमान

की बात समझते थे कि मामूली कैदियों की तरह उन्हें परेड करना पड़े। अल्मोड़े का अंग्रेज सिविल सर्जन ही जेल का सुपरिंटेंडेंट था, उस दिन परेड के लिए खड़े होने की बात तो दूर, रमेश वहाँ से हटकर चले गये। रास्ते में सुपरिंटेंडेंट आता दिखाई पड़ा, तो जाने या अनजाने उसे धक्का भी लगा दिया। यह भारी गुस्ताखी थी। अंग्रेज इसे क्यों बर्दाश्त करने लगा ? तुरंत हुकुम दिया, अलार्म बजने लगा, फोन खटखटाया। उसी समय पुलिस का दल आ गया। मामला संगीन बनना चाहता था, लेकिन थे तो वहाँ कुल मिलाकर तीन ही राजबंदी। खबर पाते ही डिप्टी-कमिश्नर धर्मवीर आ पहुँचे—वही धर्मवीर, जो पीछे काफी दिनों तक प्रधानमंत्री पं. नेहरू के सेक्रेटरी रहे। धर्मवीर ने मामला बढ़ने नहीं दिया। सुपरिंटेंडेंट को भी समझाया और कैदियों से बातचीत की। उनकी धर्मपत्नी भी जेल में आईं। राजबंदियों को मालूम हो गया कि उन्हें एक सज्जन देशभाई अफसर के तौर पर मिला है। धर्मपत्नी अपने बँगले से पुलाव और दूसरे स्वादिष्ट भोजन बनवाकर लाईं। झगड़ा आसानी से शांत हो गया। यहाँ फिर बाकायदा बड़े भाई का पठन-पाठन शुरू हुआ।

चिट्ठी मिलने पर पिता अपनी पुत्रवधुओं के साथ आये, और पं. देवीदत्त पंत, पं. बद्रीदत्त पांडे के साथ परिवार मिलने के लिए जेल में आया। बड़े भाई को यह निश्चय करना था कि पत्नी को किस आश्रम में कैसे भेजा जाय। अभी उनकी दोनों पत्नियाँ—भागीरथी और गौरा मौजूद थीं। नेहरूजी से कहने में संकोच भी हो रहा था कि मेरी दो पत्नियाँ हैं। अब की अल्मोड़ा में उन्हें मालूम हो गया, कि जिस गौरा को उन्होंने पिता की इच्छा के विरुद्ध ब्याहा था, वह पति के इतने लम्बे वियोग को सहने में समर्थ नहीं हुई। यद्यपि भागीरथी उपेक्षिता थी और गौरा चहेती। इस वक्त भागीरथी से मालूम हुआ कि गौरा दो नावों पर है, तो उन्होंने इसके लिए खेद या रोष प्रकट नहीं किया। उन्होंने गौरा को मुक्त करने का निश्चय कर लिया। गौरा संकोच के मारे मरी जा रही थी। उसके ऊपर दया छोड़कर चन्द्रसिंह को और क्या आता ? उसकी इस स्थिति की जवाबदेही वह अपने ऊपर समझते थे। गौरा को अब छूट मिल गई। भागीरथी का ही सवाल था।

निश्चय कर लिया गया कि भागीरथी को पढ़ाने के लिए किसी आश्रम में भेजा जाय, लेकिन उससे पहिले उसे अल्मोड़ा के किसी सम्भ्रांत परिवार में रखकर कुछ नागरिक बना देना जरूरी था। चन्द्रसिंह ने पं. बद्रीदत्त पाण्डे से जब इसके बारे में कहा, तो उन्होंने घबड़ाकर कहा—"अरे बाबा, तुम्हारी बहू बहुत सुन्दर है, और मेरा बेटा जवान है। मैं घर में रखने की जिम्मेवारी नहीं ले सकता।"

चन्द्रसिंह ने हँसते हुए कहा—"तुम्हें अपने लड़के पर भरोसा नहीं है, किंतु मुझे अपनी पत्नी पर विश्वास है।"

उधर से निराश होकर देवीदत्त से पूछा—"आप बतलाइये ?"

देवीदत्तजी ने कहा—"मैं तो हुड़किया हूँ, और मेरी घरवाली पूजा-पाठ में मस्त। लेकिन, मैं अपने घर ले जाऊँगा।"

देवीदत्त पंत गाने-बजानेवाले मस्तमौला जीव थे। अपने भाई सुमित्रानंदन पंत की प्रतिभा उन्होंने नहीं पाई थी, लेकिन आदमी के तौर पर वह हीरा थे। भागीरथी को अपने घर ले गये।

अगले ही दिन किसी मुकदमे में उन्हें इलाहाबाद जाना पड़ा। पत्नी को भागीरथी का पूरा परिचय दिये बिना वह चले गये। कह गये थे कि इनके पढ़ाने का बंदोबस्त करना, और अच्छी तरह से रखना। रजाई, कपड़ा, पलंग देने के लिए भी पत्नी को बतला दिया था।

हुड़किया पति की पत्नी को साफ मालूम होने लगा कि दाल में कुछ काला है। भागीरथी असाधारण सुंदरी तरुणी थी। उनका परिवार तिब्बत की सीमा से बहुत दूर बसा हुआ था, लेकिन उनके अपने कुटुम्ब में स्त्री-पुरुषों की आँखों पर हल्का-सा मंगोलायित प्रभाव जरूर देखने में आता। यह प्रभाव भागीरथी के मुख-सौंदर्य को कम करने की जगह बढ़ाने में सहायक हुआ था। पति जिसे तोसक-तकिया देने, बहुत अच्छी तरह से रखने के लिए हिदायत कर गया, वह सुंदरी क्यों इस घर में आई ? पंतानीजी ने पति की आज्ञा की अवहेलना करने ही में भलाई समझी और फटा-पुराना कपड़ा देकर गुसलखाने की कोठरी में रख दिया। दूसरी लुगाइयाँ भी कल्पना कर सकती थीं, लेकिन पंतानीजी ने भी उनको सहायता देना अपना कर्तव्य समझा। काना-फूसी होने लगी—देवीदत्त

कहीं से एक सुंदरी उड़ा लाये हैं। कुछ दिनों बाद कोई विवाह था। पं. देवीदत्तजी की बहिन उस वक्त आई थीं। बहिन ने भी कुछ सुन रक्खा था। उसने भागीरथी से पूछा—"देवीदत्त से आपकी दोस्ती कब की है ?" भागीरथी का मुँह फीका पड़ गया और उसने बहुत नम्रता के साथ अपनी गाथा बतलाई। जब बहिन को मालूम हुआ कि वह वीर चन्द्रसिंह की पत्नी है, तो अपनी भौजाई पर एकदम उबल पड़ीं—"तू बहुत खराब है। बेचारी को बदनाम करती फिरती है। यह तो देश के बड़े वीर की पत्नी है।"

पंतानीजी को अब होश आया। वह दिल से बुरी तो थीं नहीं, सिर्फ संदेह की शिकार थीं। उनका रुख बदल गया और भागीरथी के साथ बहुत प्रेम करने लगीं, पढ़ाने के लिए एक अध्यापक का भी प्रबंध कर दिया गया। भागीरथी पंतानीजी की पूजा में सहायता करतीं, उनके लिए फूल चुन लातीं और दूसरी सेवाएँ करतीं।

लेकिन, तरुण स्त्री के लिए संदेह को पार करना इतना आसान नहीं है। वह पति से मिलने जेल जातीं, तो वह सुगंधित तेल, नहाने का साबुन, मिठाइयाँ और दूसरी खाने की चीजें देते। पंतानीजी इन चीजों को ले आते देखकर फिर संदेह में पड़ गईं। जब देवीदत्तजी आये, तो उन्होंने इसकी शिकायत की। फिर देवीदत्त जी ने पंतानीजी को सारी बातें समझाईं। उन्होंने कहा—"हमें ये सब बातें कहके क्यों नहीं गये ?"

अल्मोड़ा जेल में अब वह अकेले रह गये। उनके दोनों साथी छूटकर चले गये थे। 1939 का सन् था। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया था। लड़ाई के सम्बन्ध में कांग्रेस और सरकार का आपसी खिंचाव इतना बढ़ गया कि 26 नवम्बर 1939 को कांग्रेसी सरकार ने इस्तीफा दे दिया। गद्दी पर बैठ जाने पर कांग्रेसी नेता इस तरह भूल जायेंगे, इस पर कोई विश्वास भी नहीं कर सकता था। यदि पंत-सरकार ने चाहा होता, तो चन्द्रसिंह अब तक रिहा हो गये होते। नेहरूजी ने भी 8 मई, 1938 को मुलाकात के समय आशा की थी कि उनके विलायत से लौटने तक चन्द्रसिंह रिहा हो गये रहेंगे, लेकिन रिहा करना नहीं था, क्योंकि इन नेताओं के दिमाग में यह खुराफात भरी थी कि चन्द्रसिंह ने तत्कालीन सरकार के फौजी हुकुम को मानने से इन्कार कर दिया था। सरकार-सरकार सब एक हैं, इसलिए हमारे लिए भी ये दंडनीय हैं। विदेशी सरकार के स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध सरकारी नौकरों को बगावत करने का आदेश गाँधीजी और कांग्रेस ने स्वयं दिया था। क्या ऐसे नौकरियों से इस्तीफा देकर आये अफसरों को कांग्रेसी सरकार ने फिर नहीं बहाल किया ? एक सरकार के विरोधी व्यक्ति पर स्वदेशी सरकार ने क्या विश्वास नहीं किया ? पंत-सरकार ने इस्तीफा देते समय चन्द्रसिंह की रिहाई का कागज लिखकर गवर्नर के पास भेजा, लेकिन गवर्नर उसकी क्यों पर्वा करने लगा।

कांग्रेसी सरकार चली गई। युद्धकालीन निर्बंध बढ़ चले। अल्मोड़ा जेल में बड़े भाई के साथ कड़ाई शुरू हो गई। पहिले वह रात में आसमान के नीचे सो सकते थे, अब उन्हें ताले के भीतर बंद होकर सोना पड़ता था। बीवी मुलाकात के लिए आई, तो कहा गया कि सी. आई. डी (खुफिया) के किसी आदमी के उपस्थित रहे बिना मुलाकात नहीं हो सकती। उसे मुलाकात किये बिना ही लौट जाना पड़ा। खाने-पीने में अब जेलखाने की स्थिति फिर खराब हो गई। साग-सब्जी की जगह कैदियों को आधा घास दिया जाता। सड़े-सूखे कद्दू की तरकारी बनती। चन्द्रसिंह कैदियों में और वार्डरों में भी प्रिय थे। उन्हें साधारण कैदियों की यह तकलीफ देखी नहीं गई। चाय पीते, खाना खाते समय अपने यहाँ मौजूद वार्डरों को भी वह खिलाते-पिलाते रहते। उन्होंने जेल के कायदे के खिलाफ सड़े साग-सब्जी को एक पार्सल में बंद करके चुपके से वार्डर द्वारा जेलखाने के आई. जी. (इंस्पेक्टर-जेनरल) श्री सलामतुल्ला के पास भेज दिया और भूख-हड़ताल करने की बात कहते जेल की बहुत-सी दुर्व्यवस्था के बारे में चिट्ठी लिख भेजी।

सलामतुल्ला बरेली से ही उनके सुपरिचित थे, और पेशावर में मुसलमानों पर गोली न चलाने के कारण वह चन्द्रसिंह का बहुत सम्मान करते थे। बरेली जेल में उन्होंने दो मास का रेमिशन भी दिया था। सलामतुल्ला अल्मोड़ा आये। उन्होंने बतलाया कि कांग्रेसी सरकार को जो काम पहिले करना था, उसे उसने समय बीतने पर किया। महायुद्ध के कारण गवर्नर इस समय रिहाई देने में असमर्थ है। हाँ, आपको सारे सुभीते मिलेंगे, और जेल के प्रबंध की जो शिकायतें हैं, उनको भी हम हटायेंगे।

भागीरथी को अहमदाबाद के आश्रम में भेजने की बात गाँधीजी को पसंद नहीं आई, उन्होंने कहा कि

वहाँ खान-पान और भाषा आदि की दिक्कत होगी। बेहतर है, उसे देहरादून कन्या गुरुकुल में रख दिया जाय। वैसा ही प्रबंध भी किया गया।

चन्द्रसिंह ने सलामतुल्ला साहब के पूछने पर यह भी कहा कि मेरी बीवी देहरादून में जा रही है, यदि मुझे भी वहाँ की जेल में भेज दिया जाय, तो अच्छा।

आई. जी. ने इसके लिए भी हुकुम दे दिया।

अगले दिन पुलिस के सिपाही बड़े भाई को मोटर पर बैठाकर ले चले।

रानीखेत के एक और धनिक प्रभावशाली पुरुष हैदर अली का वहाँ किसी अंग्रेज से झगड़ा हो गया, और उन्होंने उसकी नाक काट ली। पकड़कर हैदर को अल्मोड़ा जेल में भेज दिया गया। बड़े भाई ने उनके लिए अपनी चादर दे दी, चाय-ओवलटीन से दावत की। सुबह वह जमानत पर छूट गया। हैदर को वीर गढ़वाली का परिचय हो गया था, और साथ ही उनकी खातिर बात का भी अनुभव हुआ था। इसलिए जब पुलिस बड़े भाई को मोटर पर चढ़कर अल्मोड़ा से ले जाते रानीखेत पहुँची, तो हैदर सड़क पर रस्सा तानकर अपने आदमियों को लेकर वहाँ स्वागत के लिए तैयार थे। पुलिस की एक न चली। बड़े भाई के कहने पर कि पुलिसवालों की नौकरी चली जायेगी, समझौता हुआ और उन्हें होटल में ले जाकर हैदर साहब ने खूब दावत दी, कोफ्ता, जर्दा, कबाब, पुलाव तरह-तरह के भोजन और बहुत किसिम के फल मेज पर भर दिये।

दावत के बाद फिर वहाँ से चले। भागीरथी देवी भी साथ ही साथ देहरादून जा रही थीं। काठगोदाम स्टेशन पर पहुँचकर बड़े भाई की राय हुई, आज यहीं मुकाम करना चाहिए। इधर-उधर करते गाड़ी छुड़वा दी। इसकी खबर नैनीताल तार द्वारा भेज दी गई। हलद्वानी के थानेदार चन्दनसिंह (गढ़वाली) को जब यह पता लगा, तो उन्होंने हलद्वानी से कार भेजकर अपने यहाँ रात बिताने के लिए प्रार्थना की। बड़े भाई जानते थे कि इससे थानेदार पर आँच आ सकती है, इसलिए उन्होंने बड़ी नम्रतापूर्वक हलद्वानी जाने से इन्कार कर दिया। स्टेशन-मास्टर ने एक कमरा खोल दिया, और वहीं लोगों ने दावत की। रात-भर वहीं रहे।

सबेरे की गाड़ी से वह बरेली स्टेशन पहुँचे, जहाँ छोटी लाइन से बड़ी लाइन में बदली करनी थी। उनकी अपनी पलटन (द्वितीय रा. ग. रा.) आजकल यहीं पर थी। पता लग गया कि चन्द्रसिंह ट्रेन से बरेली आ रहे हैं। बिना आज्ञा के दो-ढाई सौ जवान स्टेशन पर उनके स्वागत के लिए आ गये। उन्होंने अपने भाइयों से कहा—"आप लोग दूर रहें, मैं कैदी हूँ। आपको मुश्किल में पड़ना होगा।" जवानों की समझ में ही नहीं आ रहा था कि यह कैसा कैदी है, जिसके पास इतना सामान है, बीवी भी साथ है, और तंदुरुस्ती ईर्ष्या करने लायक है। पीछे इन जवानों में कितनों ही के खिलाफ अनुशासन की कार्रवाई की गई।

बरेली से जानेवाली ट्रेन लुकसर तक ही उनके काम की थी। वहाँ कितनी ही देर इंतिजार करने के बाद देहरादून की ट्रेन मिली, और हरद्वार होते सबेरे नौ बजे वह देहरादून पहुँचे। वहाँ भी सौ-डेढ़ सौ कांग्रेसी स्वयंसेवक और बहुत-से नागरिक झण्डा लिये स्वागत करने को तैयार थे। 'वीर चन्द्रसिंह की जय' हुई, चाय-पानी कराया गया। तीन दिन तक बीवी साथ रही। अब बड़े भाई को जेल की ओर जाना था, और भागीरथी को कन्या गुरुकुल। चकवा-चकवी का बिछोह एक रात का होता है, और यह तीन दिन का मिलन न जाने कितने समय का बिछोह था।

देहरादून जेल--10 नवम्बर, 1939 को बड़े भाई को जेल में छोड़कर पुलिसवाले चले गये। यहाँ की दुनिया उन्हें अनोखी दिखाई पड़ी। शाम को 6 बजे ही जब ताले में बंद करने के लिए कहा गया, तो बड़े भाई को बुरा लगा। फिर देखा कि यहाँ साग के नाम पर घास चल रही है, दूध के नाम पर पानी। बी. क्लास के कैदी के साथ भी सी. क्लास से बदतर सलूक किया जाता है। अंग्रेज सिविल-सार्जन जेल का सुपरिंटेंडेंट भी था। उसने बात सुनने में रुखाई दिखलाई, जिस पर बड़े भाई का झगड़ पड़ना स्वाभाविक था। कांग्रेस सरकार ने जेल के विज़िटर (निरीक्षक) मुकर्रर किये थे, उनमें महावीर त्यागी और डॉ. रशीदजहाँ भी थे। त्यागीजी फाटक तक आये, लेकिन उन्हें चन्द्रसिंह गढ़वाली से मिलने की फुरसत नहीं थी। सुंदर अभिनेता के लिए जरूरी नहीं कि वह अपने अभिनय को भीतर से वास्तविकता का रूप दे। डॉ. रशीदा भीतर चली आईं। बड़े भाई

से हाल-चाल पूछा। बड़े भाई ने निश्चय कर लिया कि यदि हालत नहीं बदली, तो मुझे भूख-हड़ताल करनी होगी। डॉ. रशीदा ने जेलवालों को समझाने की कोशिश की, पर कोई फल नहीं हुआ। बड़े भाई ने लिखकर शिकायत की, और अपनी रिहाई की माँग की। यह शिकायत आई. जी. सलामतुल्ला साहब के पास पहुँची। उन्होंने आकर बड़े भाई से कहा—"गवर्नर साहब रिहाई नहीं कर सकते, इसका हमें अफसोस है। यह युद्ध का समय है। पहिली सरकार को यह काम करना चाहिए था, लेकिन आपके साथ अच्छा से अच्छा बर्ताव किया जायेगा।"

देहरादून में बड़े भाई को जेल की चहारदीवारी के बाहर उसी कमरे में रक्खा गया, जिसमें पं. जवाहरलाल नेहरू को जेल काटते वक्त रक्खा जाता था। बड़े भाई को ए. क्लास देकर उसी कमरे में रख दिया गया।

नौ महीने तक रहे। अब वैयक्तिक सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू हुआ, जिसमें हरिश्चन्द्र बाजपेयी, हरिकृष्ण पालीवाल, झाँसी के धुलियाजी भी नजरबन्द होकर वहाँ आ गये, और भी साथी मिल गये। पिता भी देहरा में आकर रहने लगे, बीवी तो कन्या गुरुकुल में थी ही। दोनों जब चाहते, तब आकर मुलाकात करते। शहर के एक सज्जन अपना ताँगा उनको आने-जाने के लिए दे देते। बाहर से लोग फल-फूल तथा खाने-पीने की चीजें भेज दिया करते।

गुरुकुल में भागीरथी के पढ़ने का इंतिजाम किया गया था, युक्तप्रदेश के कांग्रेस कमेटी ने तीस रुपया मासिक देने का भार अपने ऊपर लिया था लेकिन मंत्री महोदय उसे भेजना भूल गये। गुरुकुल के प्रबंधक रमेशचंद्र बहुखण्डी गढ़वाली थे। जब भागीरथी देवी का पैसा नहीं आया, तो उनके सामने समस्या खड़ी हो गई कि खर्च का क्या किया जाय। उन्होंने भागीरथी को निकालकर बाहर करने की जगह यही अच्छा समझा कि उनसे कोई काम लिया जाय, और उन्हें चौका-बर्तन पर लगा दिया। "आई थी हरिभजन को ओटन लगी कपास।" पढ़ने के लिए आई थीं और उन्हें चौका-बर्तन सिर पर पड़ा। एक दिन मुलाकात के लिए आईं, तो बड़े भाई ने देखा कि उनकी धोती में कालिख लगी हुई है। पूछने पर बतलाया कि मैं तो चौका-बर्तन करती हूँ, फिर साड़ी क्यों न काली हो जाय। बड़े भाई को यह सुनकर बहुत क्षोभ हुआ। उन्होंने नेहरूजी और महात्माजी को इसके बारे में चिट्ठी लिखी।* गुरुकुल की आचार्या विद्यावती सेठ मिलने आईं। उनसे भी यह बात कही। बहुखण्डी ने पूछने पर बतलाया कि पैसा नहीं आया, मैं क्या करता? नेहरू ने पता लगाकर तुरंत रुपया भिजवाया। बहुखण्डी निकाले गये। इस प्रकार चार-पाँच महीने चौका-बर्तन में लगे रहने के बाद भागीरथीजी की पढ़ाई शुरू हुई। पीछे बहुखण्डी भागीरथी से मुलाकात करने के बहाने खुद भी नेहरूजी से भेंट करने आये। उन्होंने सिर्फ भागीरथी से बुलाकर बातचीत की। इसके तीसरे दिन नेहरूजी लखनऊ में आ गये।

इसका उत्तर नेहरूजी ने दिया था—

आनन्द भवन,
इलाहाबाद
5-10-40

श्री चन्द्रसिंहजी गढ़वाली
जिला जेल
देहरादून

प्रिय चन्द्रसिंह जी,

मैं अभी लखनऊ गया और वहाँ मैंने दरयाफ्त किया कि पिछले वर्ष में श्रीमती भागीरथी देवी को क्या भेजा गया। मुझे मालूम हुआ कि सितम्बर 1939 से जुलाई 1940 तक कुल 220 रुपये भेजे गये थे। उनको फौरन मैंने 50 रुपये और भेजवा दिये। इसका भी इंतिजाम कर दिया है कि उनके नये पते पर हर महीने 20 रुपये भेजे जायेंगे। मैंने उनको पत्र लिखा है कि वह मुझे लिखें अगर उनको और रुपये की आवश्यकता हो—मैं उसका प्रवंध कर दूँगा। अगर मैं न हुआ तब श्री महादेव देसाई, सेवाग्राम, वर्धा सी.पी. को लिखें।

आशा है, आप अच्छे होंगे।

आपका
जवाहरलाल नेहरू

साथियों का खेल-कूद उन्हें पसंद था, लेकिन ताश नहीं जिसके लिए उनके दोस्त उन्हें असामाजिक कहने से बाज न आते थे। सब हिल-मिल गये थे। एक दिन जब चंद्रसिंह के पिता आये, तो उन लोगों ने कहा—"बाबा, नाती चाहते हो ?" बाबा क्यों न चाहते, लेकिन यह जेल था। साथियों ने तिकड़म लगाया, दोपहर का खाना खाकर बड़े भाई और भागीरथीजी को वहाँ छोड़कर सब जेलर के पास चले गये।

लखनऊ जिला जेल—खबर आई कि पं. जवाहरलाल नेहरू गोरखपुर में गिरफ्तार कर लिये गये। उनके निवास को खाली करना जरूरी था। बड़े भाई को अचानक लखनऊ जिला जेल भेजने का हुकुम आया। शाम की गाड़ी पकड़नी थी। पिता और पत्नी से मुलाकात करने नहीं दिया गया, लेकिन खबर उनके पास पहुँच गई, और वह स्टेशन पर मिलने आये। वहीं बड़े संकोच और लज्जा के साथ बीवी ने कहा—"तीन-चार मास की मैं अंतर्वत्नी हूँ। लोग क्या कहेंगे ?" लेकिन लोगों के कहने का क्या सवाल था, जब जानते थे कि जेल में रहने पर भी पति-पत्नी को मिलने की आजादी है, यद्यपि कानून नहीं था, और पता लगने पर इसके कारण जेलवालों पर आफत आ सकती है। सांत्वना देकर बड़े भाई पुलिस के साथ ट्रेन पर बैठकर 12 नवम्बर 1940 को लखनऊ जिला जेल में पहुँचे। साथी शिव वर्मा, जयदेव कपूर मौजूद थे। राजबंदियों को पहिले की तरह सुभीते नहीं थे। सम्बन्धियों को 15 मिनट की मुलाकात की इजाजत मिलती और उसमें भी सी. आई. डी. का आदमी पास खड़ा रहता। जेलर हेतराम जोशी बेचारे क्या करते ? उनको अपनी नौकरी का डर था। तो भी उन्होंने कहा कि तुम्हारी घरवाली मिलने आई है। फाटक खोलने की इजाजत नहीं थी। बड़े भाई समझते थे पत्नी कन्या-गुरुकुल में होगी, लेकिन वह तो अपने भतीजे लड़के खुशहाल को लेकर यहाँ आ धमकी थी। बड़े भाई चिन्तित हो गये। लखनऊ में कैसे और कहाँ उसे रक्खा जाय। वह इसी चिंता में पड़े थे। श्री ठाकुरप्रसाद सक्सेना (श्री मोहनलाल सक्सेना के भाई) भी वहीं जेल में थे। उन्होंने पूछा—"बड़े भाई, तुम क्यों इतने चिंतित हो टहल रहे हो ?" बड़े भाई ने सारी बात बतलाई। ठाकुरप्रसादजी ने कहा—"कोई चिंता नहीं, मैं इंतिजाम करता हूँ।" वह जेलर से मिले। जेलर के कमरे की एक खिड़की बाहर की ओर खुलती थी। उसी अँधेरे कमरे में बड़े भाई को ले जाया गया, और पाँच मिनट पति-पत्नी में बात करा दी गई। वहाँ ऑफिस से ठाकुरप्रसादजी ने नौबस्ता मोहल्ले में अपने घर पर टेलीफोन किया। उनकी माँ आ गई और वह भागीरथी को अपने घर ले गई। बड़े भाई की सारी चिंता दूर हो गई। बुढ़िया ने इस अपरिचित तरुणी पर बड़ा स्नेह रक्खा। उसे अच्छी तरह रखा। मुहल्ले में पं. गुणानन्द अध्यापन का काम करते थे। जब उन्हें पता लगा, तो उन्होंने पढ़ने का भी प्रबंध कर दिया।

देहरादून जेल में नेहरूजी के बँगलिया को देखकर इंजीनियर ने बतलाया कि इसकी कड़ियाँ कमजोर हैं, छत के गिरने का डर है, उधेड़कर मरम्मत करने की जरूरत है। पं. नेहरू वहाँ नहीं रह सकते थे, इसलिए उन्हें लखनऊ जिला जेल में भेज दिया गया, जहाँ वह 42 दिन तक रहे और इन दिनों बड़े भाई को देश के बड़े नेता से बहुत घनिष्ठ सम्पर्क में आने का मौका मिला। बड़े भाई को छोटी-छोटी बातों को गौर से देखने की आदत थी।

एक दिन नेहरूजी ने बड़े भाई से पूछा—"भागीरथी कहाँ है ?"

बड़े भाई ने कहा—"यहाँ आ गई है।"

इसी सिलसिले में उन्होंने कहा, "एक 'गलती' हो गई है।" नेहरूजी ने कहा—"शाबाश बहादुर !" चन्द्रसिंह ने जब आशंका प्रकट की—"लोग क्या कहेंगे, मेरे राजनीतिक जीवन पर आँच लगेगी।" नेहरूजी ने कहा—"क्या बात करते हो, कोई चिंता मत करो।" बड़े भाई को इतने बड़े नेता की यह बात आशीर्वाद मालूम हुई, लेकिन फिर उन्होंने चिन्ता प्रकट करते हुए कहा—"बेचारे जेलर भोलासिंह का क्या होगा ?" नेहरूजी ने कहा—"6 जून को विजयलक्ष्मी छूटेगी। उसे मैं कह दूँगा। वह भागीरथी को नौबस्ता से आनन्द भवन ले जायेगी, वहाँ सब इंतिजाम हो जायेगा।"

विजयलक्ष्मी छूटने पर नौबस्ता गईं। मुहल्लेवालों ने उनका बड़ा स्वागत किया, और यह जानकर उन्हें और भी कौतूहल हुआ कि गढ़वाली की बीवी को देखने पं. नेहरू की बहिन आई हैं, लेकिन बूढ़ी ने उस वक्त

भागीरथी को जाने नहीं दिया। उन्होंने कहा, "अभी साइत अच्छी नहीं है।" अच्छी साइत पर पं. नेहरू के प्राइवेट सेक्रेटरी शिवदत्त उपाध्याय आये, और वह 10 मार्च 1941 को भागीरथी को कानपुर होते आनंद भवन (इलाहाबाद) ले गये। वहीं 26 जुलाई (1941 ई.) को बड़े भाई की पहिली संतान माधवी का जन्म हुआ।

जिस पुरुष के साथ प्रायः अपना सारा समय बिताना पड़ता था, उसकी जीवनी को उन्होंने आदि से अन्त तक पढ़ा। बड़े भाई में दो असाधारण बातें देखने में आती हैं। सैनिक बातों को वह बहुत जल्दी पकड़ लेते हैं। उनको देखकर लार्ड रावर्ट की याद आती है। राबर्ट सिपाही के तौर पर भरती हुआ था, और अन्त में ब्रिटिश सेना का फील्ड-मार्शल और कितने ही सालों तक भारत का जंगी लाट रहा। उसको सुभीता यह था कि उसकी अपनी भाषा सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से समृद्ध थी, जिसके कारण जिन चीजों की जिज्ञासा हो, उसकी वह तृप्ति कर सकता था। दूसरे, स्वतन्त्र देश के नागरिक होने के कारण अपनी योग्यता के अनुसार आगे बढ़ने में उसके लिए कोई रुकावट नहीं थी। आज के स्वतंत्र भारत में भी यदि बड़े भाई पैदा हुए होते, तो भी राबर्ट बनने का उन्हें अवसर न मिलता, क्योंकि यहाँ तो जो पिता-माता अपने लड़कों पर 6 हजार रुपया वार्षिक खर्च नहीं कर सकते, वह उसे सैनिक स्कूल में नहीं पढ़ा सकते। आज के स्वतंत्र भारत में भी सैनिक अफसर होने का अवसर केवल उन्हीं को प्राप्त हो सकता है, जिनको अपने परिवार के चलाने के अतिरिक्त 6 हजार रुपया वार्षिक और खर्च करने की सामर्थ्य हो। शासकों की इस मनोवृत्ति को देखकर बहुत ही क्षोभ और घृणा पैदा होती है। क्या सैनिक प्रतिभाएँ उन्हीं घरों में पैदा होती हैं, जो कम से कम 12 हजार रुपये वार्षिक की आमदनी रखते हैं ? अन्धेर नगरी, तेरा नाश हो, लेकिन, इसमें संदेह नहीं है कि चन्द्रसिंह को यदि राबर्ट की तरह अवसर मिला होता, तो वह भी देश के सर्वोच्च सेनापति होते।

दूसरी विचित्रता उनमें यह है कि वह छोटी से छोटी बातों की ओर बड़े ध्यान से देखते हैं, और तीव्र स्मृति के कारण उसे याद रखते हैं। आज बुढ़ापे में स्मृति का क्षीण होना स्वाभाविक है, लेकिन तो भी बड़े भाई की स्मृति उतनी क्षीण नहीं हुई है। नेहरूजी की जीवनी पढ़ते हुए उनके मन में एक बात के लिए बड़ा आश्चर्य हुआ, जिसका कारण वह नहीं समझ पाये। नेहरूजी ने अपने जीवन में देश-विदेश की और अपने सम्बन्धियों की बहुत-सी बातें लिखी हैं। वह अनेक बार जेल में गये, और जेल-जीवन का भी वर्णन किया है। देहरादून जेल में रहते वह रात के वक्त पाँती से बलती मसूरी की दीपावली को देखकर मुग्ध हो जाते। हिमालय की पर्वतमालाएँ भी उनके लिए बड़ी आकर्षक थीं। उन्होंने चिड़ियों के चहचहाने के बारे में लिखा, कीड़ों-मकोड़ों की जीवनचर्या को भी लिपिबद्ध किया, लेकिन उनके पास हथकड़ी-बेड़ी पहने, फटे कपड़ों में जेल के कैदी जो साँसत सह रहे थे, उनका उन्होंने कहीं वर्णन नहीं किया। उनके रोदन और क्रन्दन के लिए उनकी जीवनी में स्थान नहीं। किस तरह बुरा से बुरा भोजन इन कैदियों को मिलता है, इसकी ओर उनका कभी ध्यान नहीं गया। यद्यपि वह साधारण कैदियों से अलग जेल की बँगलिया में रक्खे जाते थे, लेकिन कैदियों से उनका सम्पर्क होता था, वही उनकी सेवा के लिए आते थे। साधारण कैदी का जीवन कैसा होता है, जेल कैसा नरक है, इसका क्या उनको पता नहीं था ?

लेकिन, बड़े भाई को ऐसी शंका करने की जरूरत नहीं है। हमारे कालिदास, बाण जैसे महाकवियों के समय में आदमी ढोरों की तरह बाजारों में नहीं बिकते थे ? क्या दासी-विक्रय-पत्र लिखकर किसी स्त्री के विक्रय करते वक्त यह नहीं कहा जाता था कि मालिक को दासी को चाहे जैसे मारने-पीटने का अधिकार है, और यदि वह मर जाय, तो अपने कर्म से मरी समझी जाय, मालिक का कोई दोष नहीं। पशु भी मनुष्य की दासता में बहुत दुःख भोगता है, लेकिन उसे अपने दुःख की गुरुता का पता नहीं होता। दास या दासी मनुष्य होने के कारण उसे समझता है, इसीलिए उसकी वेदना असह्य होती है। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चली आई इस दासता में हमारी जनता के एक-चौथाई लोग जिस नरक-यातना को भोग रहे थे, क्या आज उसका वर्णन किये बिना किसी साहित्यकार की कृति को पूर्ण कहा जा सकता है ? लेकिन, अश्वघोष ने ऐसा ही किया, कालिदास ने ऐसा ही किया और दूसरे देशों के भी कवियों ने ऐसा ही किया। उनके लिए एक-चौथाई मानवता का इस तरह कराहना कोई बात नहीं। नेहरू जैसे सिद्धहस्त लेखक में यदि दोष थी तो यही कि वह पुराने

युग में नहीं, बल्कि आज के युग में पैदा हुए। देश की परतंत्रता और दरिद्रता को दूर करने की उन्होंने प्रतिज्ञा की थी। ऐसी स्थिति में कैदियों के नारकीय जीवन की ओर न ध्यान देना यही बतलाता है कि वह तथाकथित ब्रह्मज्ञानियों की तरह कमलदल जैसे निर्लिप्त रहते हैं। जेलों में रहते जैसे उन्होंने जेलों की नारकीय यातना को नहीं देख पाया, वैसे ही हमारे देश की असह्य दरिद्रता के बीच घूमते हुए भी उन्होंने उसको नहीं देख पाया। बालक पैदा होने के दो महीने बाद तक यद्यपि आँख-पुतली सबसे दुरुस्त रहता है, ताकता भी है, किन्तु उसे कुछ नहीं दिखाई देता। शायद नेहरूजी उसी तरह के शिशु हैं। आज भी भारत के भाग्यविधाता होते वह दरिद्रता के दूर करने की बहुत-सी बड़ी-बड़ी बातों को करते हैं। छोटी बातों को तुच्छ कहकर उसे छोड़ने के लिए जोर देते हैं, पर, दरबारी ठाट-बाट, मंत्रियों और राजदूतों के ऊपर शाहंशाही ढंग से भारी धनराशि बेदर्दी से खर्च की जा रही है, और जिसका नेहरूजी पूर्ण समर्थन करते हैं, उससे यही मालूम होता है कि देश के करोड़-करोड़ गरीबों के गाढ़े की कमाई का उन्हें ख्याल नहीं है।

बड़े भाई उस दो मिनट के नेहरू को भी पसन्द नहीं करते, जबकि वह किसी बात पर बौखला उठते। लेकिन उनका कहना है, दो मिनट छोड़कर बाकी 58 मिनट के नेहरू स्वभाव में बड़े ही सुन्दर, कोमल और किसी के लिए भी आदर तथा स्नेह के भाजन हो सकते हैं। गुस्से का उबाल आता, जरा देर में ही वह प्रचण्ड रूप धारण कर लेता, लेकिन उसके विलुप्त होते देर नहीं लगती। जिसे एक बार दो मिनटवाले नेहरू से मिलने का मौका मिला, वह उनके प्रति गलत धारणा रख सकता है। नेहरू की दिनचर्या को बड़े भाई बड़े गौर से देखते। बड़े भाई सुबह ताले से खुलते ही नेहरू की दिनचर्या को देखने लगते। एक ओर उनके बहनोई आर. एस. पंडित थे, दूसरी ओर नेहरूजी। किताबें उनके कमरे में बड़े कायदे से रक्खी थीं। चारपाई से उठते ही सिगरेट जलाकर वह पाखाने में चले जाते। फिर मुँह-हाथ धोते। इसके बाद आकर अपने सारे बिस्तरे को उलट-पलटकर ठीक करते, आलमारी और किताबों को झाड़ते, कमरे की सारी चीजों को बाकायदा रखकर फिर लंगोट बाँध लेते, और दण्ड-बैठक तथा शीर्षासन करते। फिर खुर्पी और गैंती लेकर साग-सब्जी की खेती में पिल पड़ते। उस वक्त उनको धूल-मिट्टी की कोई पर्वा न होती। वह तब तक काम करते रहते, जब तक कि पसीने से लथपथ न हो जाते। फिर आकर एक सिगरेट मुँह में दबा, जरा-सा ठहरकर स्नानघर में चले जाते। अब नौ बज जाते। यह चाय का समय होता। आकर बड़े भाई और दूसरे साथियों के साथ बैठकर चाय पीते। साथ बैठकर खाने-पीने में उन्हें आनन्द आता। उनके पास देश-विदेश से और चीजों के साथ-साथ खाने-पीने की चीजों के पार्सल आया करते, जो सभी साथियों की चीज होती।

चाय पीने के ब"द वह अपने कमरे में अकेले बैठकर लिखने-पढ़ने में लग जाते। दो घंटे तक उनके पास कोई न जाता।

11 बजे खाना तैयार होकर मेज पर रख दिया जाता। साथी भी आकर बैठ जाते। एक बार मेज पर सात आदमी बैठे हुए थे। नेहरूजी की ओर तीन आदमी और बड़े भाई की पंक्ति में चार आदमी थे। खाना खाते समय चीनी की जरूरत हुई। चीनी का बर्तन कुछ दूर था। बीच में दूसरों की प्लेटें रक्खी थीं। बड़े भाई ने समझा, जरा हाथ ज्यादा लम्बा कर लें, आलस करने की क्या जरूरत ? उन्होंने हाथ बढ़ाकर चीनी के बर्तन को लेना चाहा। छुरी-काँटे थे, लेकिन नेहरू अपने हाथ ही से खाना खा रहे थे, और चावल खाने में तो वह सारी अँगुलियों को पंजे तक भर लेना जरूरी समझते हैं। लिभड़े हांथों से उन्होंने बड़े भाई के हाथ को पकड़कर जोर से कहा—"बोल, जवाहरलाल सूगर पाट दे; बोल, जवाहरलाल सूगरपाट दे।" गुस्से से उनका मुँह तमतमा गया था। बड़े भाई नेहरू को भली प्रकार समझते थे, इसलिए चेहरे के तमतमाने से उनको कोई चिन्ता नहीं हो सकती थी। पर, वह यह जरूर समझते थे कि कोई अनुचित बात मुझसे अवश्य हुई है। इसके बाद नेहरू ने उन्हें समझाना शुरू किया। टेबल मैनर (भोजनकाल के शिष्टाचार) को हमें समझना चाहिए। शताब्दियों के तजर्बे के बाद यह शिष्टाचार स्वीकार किये गये हैं। यहीं बीच में दूसरों की प्लेटें, पानी के गिलास, गुलदस्ते और दूसरी चीजें रक्खी रहती हैं। जरा-सी चूक से, किसी में धक्का लग जाने पर पाँती की पाँती लुढ़क जायेगी, गिलास का पानी सारे मेज पर बिखर जायगा, और शीशे तथा चीनी मिट्टी के बर्तन जो टूटेंगे, सो अलग। यदि

खानेवालों में कुछ मेहमान या अपरिचित होंगे तो इसके कारण बड़ी भद्द होगी। इसीलिए शिष्टाचार स्वीकार किया गया कि यदि कोई चीज अपने सामने से दूर हो, तो पासवाले को कहना चाहिए, "कृपया इसे भिजवाइए।" उन्होंने इसी सिलसिले में कई देशों के भोजनकालीन शिष्टाचारों का वर्णन किया।

नेहरू नीबू की चाय पीना ज्यादा पसन्द करते हैं। वह पहलवान नहीं हैं, और न शरीर से मोटे-तगड़े। व्यायाम भी बहुत कड़ा नहीं करते, लेकिन उनको पूरा विश्वास है कि स्वास्थ्य के लिए शारीरिक परिश्रम अत्यावश्यक है। उनका शरीर देखने में चाहे कैसा ही दुबला-पतला हो, लेकिन वह ठोस है। उनको सबसे चिढ़ है शरीर में चर्बी के पैदा होने से। वह अपना पेट देखते रहते हैं—चर्बी तो नहीं बढ़ रही है। आज इतनी उमर में जवाहरलाल जो इतने कर्मठ मालूम होते हैं, बीमारियाँ और अस्वस्थता मानो उनके शरीर के पास पहुँच नहीं पातीं, इसका कारण यही उनका व्यायामशील जीवन है।

बड़े भाई जानते हैं कि मैं किस मिट्टी में पैदा हुआ। वह उस मिट्टी को भुलाना नहीं, बल्कि उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित रखना चाहते हैं। जेलों में चाहे बी. क्लास के कैदी हों, या ए. क्लास के, वह बराबर साधारण कैदियों से घनिष्ठता रखते। इसी के लिए वह कम से कम हफ्ते में एक दिन अपना खाना किसी दूसरे कैदी को दे देते और उसका खाना लेकर स्वयं खाते। एक दिन बड़े भाई अपना यही नियम बरत रहे थे। चने मिली मोटी-झोंटी रोटी और रूखी-सूखी दाल उनके सामने थी। वह उसे साधारण ढंग से खा रहे थे। इसी समय नेहरू वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखकर एकाएक कहा—"बड़े भाई, तुम खाना खाना नहीं जानते।"

"फिर कैसे खाना चाहिए ?"

इस पर नेहरू ने रोटी ले ली। उसको मींजकर गोली बना ली, फिर गोली आसमान की ओर फेंकी और वह सधी हुई मुँह के भीतर आ पड़ी। बड़े भाई ने भी कोशिश की, कई गोलियाँ आसमान में फेंकी, लेकिन वह मुँह की जगह जमीन पर जा गिरीं। नेहरू ने एक से अधिक गोलियाँ खाईं और एक को भी मुँह से नीचे नहीं गिरने दिया। बड़े भाई को उनका लोहा मानना पड़ा।

लोग बैडमिन्टन भी खेला करते थे, और बड़े भाई अन्धों में नहीं, बल्कि आँखवालों में राजा थे। नेहरू भी बहुत अच्छा खेला करते। एक दिन उन्होंने कहा कि दाहिने हाथ से खेलना कोई बड़ी बात नहीं; आओ, आज बाएँ हाथ से खेला जाय। बाएँ हाथ से बैडमिन्टन खेलने में उन्होंने सबको हरा दिया। फिर एक दिन उन्होंने शीर्षासन की होड़ रक्खी। नेहरूजी जितने मिनटों तक सिर के बल खड़े हो सकते थे, उतना दूसरे खड़े नहीं हो सके।

नेहरू को दूसरी मुद्रा में देखकर आदमी यही समझेगा कि वह असामाजिक हैं, मेल-जोल रखना पसन्द नहीं करते, लेकिन यहाँ महीने से ऊपर वह बड़े भाई और दूसरे साथियों के साथ रहते बिलकुल घुल-मिल गये थे। किसी को पता नहीं लगता था कि वह हमारी पाँती के आदमी नहीं हैं। उनकी दिनचर्या में गम्भीर अध्ययन और लेखन का भी समय था, खेल और व्यायाम का भी निश्चित घंटा था। साथियों से हँसी-मजाक करना भी वह पसन्द करते थे। वह अपने साथियों को अपने ज्ञान से लाभान्वित करना चाहते थे। उनके सामने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और दूसरे विषयों पर व्याख्यान देते। बड़े भाई से उन्होंने पूछा—"तुम्हें क्या पढ़ाऊँ ?" उनके कहने पर भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के संविधानों और दूसरी बातों को अच्छी तरह समझते रहे। आर. एस. पंडित संस्कृत के ज्ञाता थे। वह अधिकतर भारतीय अध्यात्म तथा दूसरी बातों को बतलाया करते। एक दिन नेहरूजी ने पूछा—"तुमने मेरी जीवनी को क्यों उस समय लौटा दिया ?" सारी बातें बतलाते बड़े भाई ने कहा—"हम गढ़वालियों की कभी यह भावना नहीं थी कि तुरन्त स्वराज्य मिलनेवाला है, इसलिए फौजी हुकुम के न मानने से हमारा कोई अनिष्ट नहीं हो सकता।" जैसा कि ऊपर पहिले कहा जा चुका है, नेहरूजी ने किताब के उस अंश को बदलने के लिए कहा था। नेहरूजी की दी हुई सौ-डेढ़ सौ पुस्तकें बड़े भाई के पास थीं। छूटने पर उन्होंने उन्हें सुरक्षित रखने के खयाल से लैन्सडौन की बड़थ्वाल लाइब्रेरी को दे दिया, लेकिन अभी हमारी लाइब्रेरियाँ निधियाँ रखने योग्य नहीं हैं। वे सारी किताबें लोग उठा ले गये।

दो बँगलिया के ठीक-ठाक हो जाने पर नेहरू देहरादून चले गये।

20

जेल से मुक्त (1941 ई.)

बड़े भाई को बीस साल जन्मकैद (कालापानी) की सजा थी। सीमान्त के कानून के अनुसार आजन्म कैदियों को छह साल का रेमीशन दिया जाता है, जिसके कारण उन्हें चौदह साल सजा भोगना चाहिए था, लेकिन बीच-बीच में और भी रेमीशन मिले। 26 सितम्बर, 1941 को उन्हें जेल में रहते 11 साल 3 महीने 18 दिन हो गये थे। इसी दिन सबेरे उन्हें फाटक पर ले जाकर रिहाई का हुकुम सुनाया गया। यह लड़ाई का समय था। भारतीय सेनाएँ अंग्रेजी साम्राज्य की रक्षा के लिए भिन्न-भिन्न मोर्चों पर लड़ रही थीं। बड़े भाई इसको कभी नहीं पसन्द करते कि हम अपनी गुलामी को बरकरार रखने के लिए लड़ें। ऐसे आदमी को सरकार आसानी से कैसे मुक्त कर सकती थी ? वह चाहती थी कि उन्हें कुछ शर्तों के साथ रिहा किया जाय, जिनमें गढ़वाल में न जाना और राजनीतिक व्याख्यान न देना मुख्य थे। बड़े भाई ऐसी शर्त को मानने के लिए क्यों तैयार होते ? फल यह हुआ कि उन्हें जिला जेल से मुक्त कर दिया गया, और फाटक पर पुलिस ने सँभालकर सेन्ट्रल जेल में पहुँचा दिया। वहाँ सुपरिंटेंडेंट ठाकुरसिंह (गढ़वाली) थे। उन्होंने समझाया–"देखिए, आपकी बीवी और छोटी बच्ची इलाहाबाद में है। आपको उनके पास जाना चाहिए। इतने वर्षों के वियोग को और बढ़ाना अच्छा नहीं है। तुम पर उनकी आशा है, और उनके प्रति तुम्हारा कर्तव्य है। गढ़वाल न जाने से बहुत बिगड़ता नहीं। देश में और बहुत-सी जगहें हैं, जहाँ अपना काम कर सकते हैं।" समझाने-बुझाने का यह फल हुआ कि बड़े भाई ने गढ़वाल न जाने के प्रतिबन्ध को मान लिया, और एक महीने बाद 26 जुलाई को उन्हें जेल से मुक्त कर दिया गया।

इलाहाबाद (आनन्द भवन) : 20 अक्तूबर को बड़े भाई आनन्द भवन पहुँचे। माधुरी–पीछे जिसका नाम बदलकर गाँधीजी ने माधवी रख दिया–26 जुलाई में पैदा हुई थी। वह अब तीन महीने की थी। भागीरथी और अपनी बेटी से मिलकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होनी ही चाहिए थी, लेकिन उन्होंने देखा कि बीवी, बच्ची और सरपुत खुशहालसिंह को तश्तरियाँ रखने की कोठरी में जगह मिली है, जिसके पास की एक कोठरी में श्री शिवदत्त उपाध्याय का परिवार रहता था। उस तंग कोठरी में रात को रोशनी और चिराग भी नहीं था। बड़े भाई को भी उसी तश्तरीखाने में जगह मिली। वहाँ बैठने के लिए भी स्थान नहीं था, और जब इलाहाबाद वालों को मालूम हुआ कि वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली इतने वर्ष बाद छूटकर प्रयाग आ गये हैं, तो मिलनेवालों का ताँता लग गया। वह जेलखाने से साथ लाये कम्बल को बाहर घास पर बिछा देते, उसी पर मिलनेवालों के साथ बैठ जाते। कानपुर में विमलादेवी का सनसनीखेज मुकदमा हुआ था, जिसके जज मिस्टर चौहान थे। वह अब इलाहाबाद में हाईकोर्ट के जज थे। उन्हें मालूम था कि चन्द्रसिंह भी चौहान हैं, इसलिए वह भाई के तौर पर उनसे मिलने के लिए आये। वहीं बाहर कम्बल बिछा हुआ था, जिस पर माननीय जज भी बैठ गये। इस स्थिति को देखकर उन्होंने पूछा–"बिरादर, क्या बात है ? ऐसे रहते हो।" बड़े भाई ने कहा–"आनन्द भवन की सीमा के भीतर ही तो हूँ, मेरी चिट्ठी-पत्री इसी पते पर आती है।"

एक दिन युनिवर्सिटी के गढ़वाली विद्यार्थियों ने उनके लिए स्वागत-समारोह किया, जिसका अध्यक्ष पं. मदनमोहन मालवीयजी को बनाया। मालवीयजी उसी समय गढ़वाली वीरों की सहायता के लिए उत्सुक थे, जबकि काकुल में उनकी सजा हुई थी। अगले महीने ही उन्होंने इसके बारे में बैरिस्टर मुकुन्दीलालजी से पूछा भी था। वह इन वीरों की कुर्बानी को सबसे बड़ी मानते थे। उन्होंने बड़े भाई का परिचय देते हुए बड़े भावुकतापूर्ण शब्दों का प्रयोग किया। मालवीयजी प्रथम श्रेणी के वक्ता थे, आदर्शवाद और भावुकता भी उनमें कूट-कूटकर भरी थी, इसलिए उस वक्त उनके कण्ठ पर सरस्वती बैठ गई। उन्होंने गाँधीजी की अहिंसा पर व्यंग्य करते हुए कहा–"कहाँ हैं ऐसे अहिंसक ? गढ़वाली वीरों के पास आधुनिक हथियार थे, जिन्हें चलाना वह अच्छी तरह जानते थे, लेकिन, सब रहते हुए भी उन्होंने हथियार का उपयोग नहीं किया, और सरकारी आज्ञा न मानते

हुए अपने को मौत के मुँह में ढकेल दिया। गाँधीजी को अहिंसा का रोग है, इन्हें वह बागी कहते हैं। ऐसी अहिंसा का उदाहरण कहीं नहीं मिल सकता।" अन्त में चलते समय मालवीयजी ने बड़े भाई के सिर पर हाथ रखकर कहा—"बेटा, अगर कोई जरूरत पड़े, तो मुझे अवश्य लिखना या मिलना।"

श्री राधाकृष्ण तिवारी टाटा कम्पनी के साबुन-तेल-कारखाने की इलाहाबादवाली एजेन्सी के मैनेजर थे। उन्होंने 28 अक्तूबर 1941 को फोन पर बड़े भाई से कहा—"आप मेरे घर में दर्शन दें।" बड़े भाई ने उत्तर दिया—"मुझे न रास्ते का पता है, न बँगले का।"

"मैं आपके पास कार भेज रहा हूँ।"

बड़े भाई तिवारीजी के बँगले पर गये। उन्होंने चाय पिलाई, फिर बड़ी नम्रता से कहा—"आपकी मैं यदि कोई सहायता कर सकूँ तो मुझे प्रसन्नता होगी।" बड़े भाई उपकार का प्रार्थी होना अपमान की बात समझते हैं, लेकिन साथ ही परिवार-सहित जिस स्थिति में वह थे, उसमें और अधिक समय तक रहना उन्हें पसंद नहीं था। उन्होंने कहा—"कोई काम दिलवाइये।" तिवारीजी ने कहा—"यहाँ हरेक साल होनेवाली प्रदर्शनी शुरू हो रही है। उसमें हम एक मुफ्त स्टाल दिलवाकर टाटा के तेल, साबुन और दूसरी चीजों को भी दे देते हैं। जो बिकेंगी, उनका कमीशन देकर दाम और बाकी चीजों को लौटा लेंगे।"

बड़े भाई को यह बात पसंद आई। उन्होंने प्रदर्शनी में स्टाल लगा दिया। टाटा की चीजों के साइनबोर्ड के साथ वहाँ चन्द्रसिंह गढ़वाली की भी तख्ती लगी थी। जब दर्शकों को यह मालूम हुआ, तो दूकान पर भीड़ लगने लगी। प्रदर्शनीवालों ने इसे पसंद नहीं किया, और उन्होंने गढ़वाली की तख्ती हटवा दी। एक बार प्रदर्शनी में श्रीमती विजयलक्ष्मी भी पहुँचीं। उन्होंने कहा—"आप मुझसे नहीं मिले।" यह बिल्कुल दिखावे की तथा असह्य बात थी। उसी आनंद भवन के तश्तरीखाने में चंद्रसिंह अपने परिवार के साथ इतने दिनों से रह रहे थे, लेकिन विजयलक्ष्मीजी ने कभी उधर देखने की भी जरूरत नहीं समझी। और यह तब जबकि नेहरूजी ने पत्र में लिखा था—"मैं विजयलक्ष्मी को लिख रहा हूँ, कि वह मेरे कमरे में तुम्हें रक्खें और सब तरह का आराम दें।" नेहरू की नजर में बड़े भाई की कदर हो सकती थी, लेकिन विजयलक्ष्मी—स्वर्ग की अप्सरा—को वह देहाती सिपाही नरक का कीड़ा मालूम हुआ, जिसके लिए सबसे उपयुक्त स्थान तश्तरीखाना ही था। विजयलक्ष्मी का नेहरू-कुल में जन्म विधाता की विडम्बना थी क्या ? यह तो निश्चय ही है कि वह जनता की नहीं हैं। जनता उनके लिए केवल निरीह पशु-सी है, जिसे देखकर उनकी भौंहे तन जाती हैं, जिसके पास से निकलने पर दुर्गंध से उनकी नाक फटने लगती है।

आनंद भवन में आसाम के नेता बरदोलाई आये, गोविंदवल्लभ पंत भी आये, सप्ताह-भर रहे। उन्हें मालूम होता, तो बड़े भाई से मिलते, लेकिन तश्तरीखाने में रहनेवाले के बारे में उन लोगों के पास कौन कहता ? गोविंदवल्लभ पंत जब लौटकर नैनीताल गये, तो मालूम हुआ। उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट करते हुए बड़े भाई को लिखा कि मैं एक सप्ताह आनन्द भवन में रहा, लेकिन तुम्हारा पता नहीं लगा, और मैं मिल नहीं सका। जल्दी ही मैं लखनऊ आ रहा हूँ, वहाँ चंद्रदत्त पांडे के मकान पर मुझसे तुरंत मिलो। 17 अक्तूबर 1941 को बड़े भाई लखनऊ गये। पंत जी अच्छी तरह मिले, हालचाल पूछा। चलते वक्त एक सौ रुपया दिया। बड़े भाई ने कोई मदद नहीं माँगी। वह वहाँ से फिर आनन्द भवन लौट आये।

शायद इस समय फिर नेहरूजी ने विजयलक्ष्मी को कुछ लिखा था। उन्होंने एक दिन आकर शिष्टाचार दिखाते हुए पूछा—"बड़े भाई, कहाँ रहे ?"

बड़े भाई चुप रहे।

"भाईजी की चिट्ठी आई है, कि बड़े भाई को हमारे कमरे में रखने का इंतिजाम करो। खाना साथ खाना चाहें तो ठीक, नहीं तो अलग इंतिजाम करो।"

लेकिन, देवांगना को यह मामूली बात याद कैसे रह सकती थी ? बड़े भाई ने किसी काम से एक दिन उनसे मिलना चाहा। पुर्जी लिखकर भेजी। आकर नौकर ने जवाब दिया कि श्रीमती को बुखार है। बड़े भाई ने लिखा—"मैं भी देखना चाहता हूँ।" पुर्जी की पीठ पर लिखकर आया—"कोई जरूरत नहीं।" बड़े भाई को

यह बर्ताव बहुत बुरा लगा, और तब से वह उनकी परछाईं से भी दूर रहने लगे।

प्रदर्शनी की दूकान पर आकर एक बार विजयलक्ष्मीजी ने कहा था–"तुमने यह क्या कर लिया ? भाईजी की चिट्ठी आई है, तुम्हारे बारे में।"

"कुछ करना तो चाहिए, मैंने यही कर लिया।"

श्रीमतीजी ने सोलह रुपये का सामान लेकर कहा–"बिल भिजवा देना।" लेकिन बड़े भाई ने न बिल भेजा और न रुपये आये।

प्रदर्शनी के व्यापार में बड़े भाई को 29 रुपये मिले।

एक दिन आनन्द भवन के हाते में फिर मुलाकात हो गई। बोलीं–"बड़े भाई, तुम क्या करते हो ? भाईजी ने मुझे बहुत फटकारकर लिखा है। वह छूटकर आनेवाले हैं। लिखा है, बड़े भाई को वर्धा भेज दो।"

बड़े भाई ने कहा–"मेरे पास न पैसा है, न रास्ते का पता।" इस पर श्रीमती ने खर्च के लिए सोलह-सत्रह रुपये दिये।

बड़े भाई एक बार दूर से गाँधीजी का दर्शन कर चुके थे। अब उन्हें समीप से मिलने और बातचीत करने का अवसर मिला था, इसलिए वर्धा जाने में उन्हें बड़ी खुशी हुई। वह 1941 के किसी महीने में गाँधीजी के पास पहुँचे। गाँधीजी ने पूछा–"रहने के लिए आ गये ?"

बड़े भाई ने कहा–"दर्शन करने और आश्रम देखने के लिए आया हूँ। फिर लौटकर आऊँगा।"

गांधीजी ने एक प्रदर्शक देकर उसे कह दिया कि इन्हें यहाँ की सारी चीजें दिखला दो। वह नालबाड़ी देखने गये, जहाँ हाथ से चमड़े की सिझाई आदि का काम होता था। फिर मदनबाड़ी की दस्तकारी को देखा, गोशाला भी देखी। काम करनेवालों से मिले। उनसे वेतन आदि के बारे में पूछा। दो दिन तक वर्धा के काम को देखकर वह सेवाग्राम पहुँचे। पूछने पर कहा–"बापू, अब मैं घर जा रहा हूँ।" इधर कितने ही समय से बड़े भाई के लिए बीस रुपया मासिक जाया करता था। बड़े भाई अब उसे लेना पसंद नहीं करते थे। उन्होंने इसी समय गाँधीजी से कहा–"बापू, मैं अब यह बीस रुपया नहीं लेना चाहता।"

बापू ने कहा–"तुम्हें खर्च-वर्च के लिए जरूरत होगी।"

चन्द्रसिंह ने अपने हाथों को दिखलाते हुए कहा–"बापू, मेरे हाथ में ताकत है। मैं अब जेल से बाहर हूँ, पत्थर कूटूँगा, घास काटूँगा, अपना खर्च चला लूँगा।"

आदमी के मूड के परखने में गाँधीजी अद्भुत प्रतिभा रखते थे। उन्होंने समझ लिया कि बड़ा भाई असन्तुष्ट है। उन्होंने एक मोहरबंद चिट्ठी विजयलक्ष्मी जी के लिए दी जिसमें लिखा था–'यह असन्तुष्ट हैं, रुपया लेना नहीं चाहते। जब तक जवाहरलाल बाहर नहीं आ जाते, तब तक इनके रहने का अच्छा प्रबन्ध कर दें।'

श्रीमतीजी पर क्षण-भर के लिए प्रभाव पड़ा, और उन्होंने कहा–"बड़े भाई, क्या करूँ, मुझे फुरसत नहीं मिलती। तुमने क्यों रुपया लेने से इन्कार कर दिया। भाईजी और पंडित आ रहे हैं।"

बड़े भाई ने कहा–"पंडितजी और आर. एस. पंडित आ ही रहे हैं, तभी देखा जायगा।"

आर. एस. पंडित अपनी पत्नी से उलटे एक बिल्कुल दूसरी मिट्टी के बने हुए थे। सहृदयता उनमें कूट-कूटकर भरी थी। वह इलाहाबाद पहुँचते ही तुरन्त भाईजी के पास आये, और अपने साथ चाय पीने के लिए ले गये। चाय पीने के बाद फल-मिठाइयों के साथ थाली में मधुमक्खी-पालन की एक बड़ी पुस्तक उन्हें भेंट देते हुए उन्होंने कहा–"पंडितजी आठ-दस दिन में छूटकर आ रहे हैं।"

यह वह समय था, जबकि हरेक प्रमुख कांग्रेसी नेता अपने को साम्यवाद का भक्त कहता था। 6 दिसम्बर को कानपुर में स्टूडेन्ट फेडरेशन का अधिवेशन हो रहा था। तब इन्दिरा गाँधी भी अपने को कम्युनिज़्म का समर्थक मानती थीं। विद्यार्थियों ने उन्हीं को प्रेसीडेंट बनाया था। इन्दिरा के साथ बड़े भाई भी वहाँ गये।

आखिर एक दिन सबेरे नेहरूजी आनन्द भवन में पहुँच गये। नहाने-धोने के बाद उन्होंने अपना वक्तव्य दिया, पत्र-प्रतिनिधियों को चाय पिलाई। कुशल-मंगल पूछने पर बड़े भाई ने सब अच्छा ही कहा, किसी की शिकायत करने से क्या मतलब था ?

कांग्रेस-मंत्रिमण्डल अब फिर कायम हो गया था। लखनऊ में युक्तप्रदेश की कांग्रेस कमेटी की बैठक थी। पंडितजी उसमें शामिल होने के लिए चले। साथ में बड़े भाई भी थे। सीधे न जाकर वह कानपुर के रास्ते गये। उनके दर्शनों को कानपुर के प्लेटफार्म पर जनता की भारी भीड़ खड़ी थी। बाहर निकलने का रास्ता नहीं था। पंडितजी को झुँझलाहट हुई। वह खिड़की खोलकर उसके रास्ते कूद पड़े, और भीड़ के भीतर से निकल गये। उस रात कानपुर में ही रहना पड़ा।

लखनऊ में एक दिन युनिवर्सिटी में विद्यार्थियों के सामने नेहरूजी का भाषण हुआ। उन्होंने वीर गढ़वाली चन्द्रसिंह का परिचय दिया। बड़ी तालियाँ बजीं। पाँच मिनट बड़े भाई जी कुछ बोले। वह वहाँ कांग्रेस की बैठक देखने जाया करते।

बारदोली में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक होनेवाली थी। नेहरूजी भी जानेवाले थे। समझते थे, आनन्द भवन में मेरे न रहने पर बड़े भाई का ठीक से कोई ख्याल नहीं रखता, इसलिए उन्होंने कहा–"बड़े भाई, ऐसा करो, तुम पृथ्वीसिंह के अहिंसक व्यायाम शिविर में मलाड में जाकर रहो। भागीरथीजी को अहमदाबाद भेज दें। वहाँ मृदुला बहन का एक आश्रम है। वहाँ रहकर वह कुछ सीख जायेंगी। यह मेरी राय है, लेकिन अभी बापू से भी इसके बारे में पूछ लेना है।"

14 दिसम्बर को नेहरूजी ने बड़े भाई, बच्ची, पत्नी को किराया देकर रेल पर भेज दिया–खुशहालसिंह उपाध्याय के पास रह गया। बड़े भाई को अगर अंग्रेज सरकार सबसे अधिक खतरनाक न समझती, तो किसको समझती ? वह खुफिया पुलिस के दो स्टारवाले आदमी थे, जिसमें सरदार पृथ्वीसिंह जैसे दो ही चार और रहे होंगे। रेल पर बैठने के साथ उनके पीछे दो खुफियावाले भी लग गये। आगे आगरा या और वहीं उन्हें ट्रेन बदलनी थी। जगह न मिलने पर वह सर्वेन्ट क्लास के डब्बे में मुश्किल से जा बैठे। जगह थी, लेकिन पहिले से बैठे हुए लोग टाँग पसार कर सो रहे थे–हमें दूर जाना है। बच्ची को गोद में लिये दो-तीन स्टेशन तक वह खड़े-खड़े चले। लेटे हुए आदमियों को मानवता ने धिक्कारना शुरू किया, और एक ने जरा-सा खिसक कर कहा–"माताजी, आप यहाँ बैठ जाइये।" माताजी बैठ गईं। बड़े भाई ने कहा–"माताजी के लिए आपका हृदय पिघल गया, तो क्या जाने पिताजी के लिए भी पिघले।"

इलाहाबाद से ही खुफिया के दो आदमी उनके पीछे-पीछे चल रहे थे, लेकिन दूसरे खुफियावाले अपनी कार्रवाई न दिखायें, यह कैसे हो सकता था ? भागीरथी गोरी सुन्दरी थीं, और उनकी आँखों पर हल्की-सी मंगोलायित छाप थी। उनके सारे खानदान में यह छाप देखी जाती थी, जिसका कारण अतीत के घनान्धकार में छिपा हुआ था। हिमालय के प्रथम निवासी किरात लोग थे, जो तिब्बती-चीनी जाति के थे। जापानी भी किरात और दूसरी मंगोल जातियों की संतान हैं। सम्भव है, हिमालय की किरात जाति किसी घाटी में पीछे तक बहुसंख्यक रही, और खस लोगों में शादी-ब्याह करके विलीन होते समय अपनी मुखमुद्रा छोड़ गई। खैर, खुफिया पुलिसवालों ने साड़ी पहने हुए एक मंगोलायित सुन्दरी को एक आदमी के साथ सर्वेन्ट कम्पार्टमेंट में बैठी देखकर भाँप लिया कि यह आदमी किसी जापानी तरुणी को भगाये लिये जा रहा है। अब तक उस कम्पार्टमेंट के दूसरे लोग चले गये थे, और केवल बड़े भाई और भागीरथी जी अपनी बच्ची को लिये वहाँ मौजूद थे। उन्होंने दरवाजा बन्द कर रक्खा था। अजमेर में पुलिस के जवानों को लिये एक अंग्रेज आकर दरवाजे को खटखटाने लगा। दरवाजा खोलने पर पूछा–"आप अपना नाम-पता बताइए।" बड़े भाई इतने सीधे तौर से बतलाने के लिए क्यों तैयार होते ? उनको चिढ़ाने में कुछ मजा भी आता था। अंग्रेज ने फिर कहा–"हमें पता लगा है कि आप एक जापानी औरत को भगाये लिये जा रहे हैं।" बड़े भाई ने कहा–"पहिले आप इन सबको यहाँ से हटाइये, तब मैं बतलाऊँगा कि मैं किस तरह जापानी बीवी को भगाये लिये जा रहा हूँ।" अफसर ने औरों को हटा दिया। फिर बड़े भाई ने अपना नाम बताते कहा–"यह मेरी बच्ची है, जो आनन्द भवन इलाहाबाद में पैदा हुई है। हम सब बारदोली जा रहे हैं। और कुछ पूछना हो, तो इलाहाबाद फोन करके पूछ लीजिये।" उन्होंने यह भी कहा कि इलाहाबाद से हमारे साथ दूसरे भी दो सी. आई. डी. चल रहे हैं। आप उनसे भी बुलाकर पूछ लीजिए। अंग्रेज अफसर ने पूछताछ करने के बाद बात को सच पाया और बड़े भाई के सामने

गलती के लिए बहुत-बहुत अफसोस प्रकट किया।

16 दिसम्बर को रात के समय उनकी ट्रेन अहमदाबाद स्टेशन पर पहुँची। पहिले ही से खबर थी, इसलिए वालंटियरों के साथ कार वहाँ प्रतीक्षा कर रही थी। उन्हें करोड़पति सेठ अम्बालाल साराभाई के अतिथि-भवन में उतारा गया। वहाँ की सभी चीजों में बड़ी सुरुचि और बाकायदगी थी। कमरे में फोन लगा हुआ था। पूछा गया–"कौन-सा साबुन लेंगे ?" बड़े भाई ने कह दिया–"हमाम।" फिर गरम पानी तैयार करके स्नान की सूचना दी गई। स्नान करने के बाद फोन आया–"किस प्रकार का नाश्ता चाहिए ?"' वहाँ नाश्ते की चीजों की सूची टँगी हुई थी। बड़े भाई ने दूध, फल आदि कह दिया।

नाश्ता कर लेने के बाद अपने सम्माननीय अतिथि से मिलने सेठ अम्बालाल आये। उनके शरीर पर जाँघिया और कुर्ता-भर था, जिससे उनके ऐश्वर्य का पता नहीं लगता था। उन्होंने अपने को देश के ऐसे वीर के दर्शन से धन्य-धन्य बतलाया। फिर किसी बात की तकलीफ नहीं है, पूछने के बाद कहा–"अगर कोई जरूरत हो, तो यह मेरा फोन नम्बर है, इस पर आप मुझे सूचित करें।" सेठ के जाने के कुछ देर बाद उनकी पत्नी आईं। उन्होंने भी उसी तरह शालीनता और शिष्टाचार प्रदर्शित किया। उनके जाने के बाद सेठ का लड़का आया। उसने भी अपने बड़ों का अनुकरण करते हुए बड़े भाई की अभ्यर्थना की। अन्त में सेठ की पुत्रवधू आईं। इस तरह सारे सेठ परिवार ने बारी-बारी से अतिथि का स्वागत-सत्कार किया। खाने के समय की सूचना मिली। बड़े भाई भागीरथी जी को लेकर भोजनशाला में गये। वहाँ पचीस-तीस मेहमान थे। बड़ा पुरतकल्लुफ भोजन, था निरामिषाहारी ही। भोजन का विधि-विधान कुछ और बड़े रूप में शाम को देखने में आया।

4 बजे सेठ की पुत्रवधू आईं। उन्होंने पूछा–"आप हमारे साथ घूमने के लिए तैयार हैं ?" इस अनिंद्य सुन्दरी के साथ कार में हवा खाने की इच्छा इन्द्र को भी होती, किन्तु साथ में भागीरथी जी भी थीं। पुत्रवधू ने स्वयं कहा–"क्या राणीजी भी जायेंगी ?" बड़े भाई को मालूम हो गया कि गुजरात में स्त्रियों को राणी की उपाधि से विभूषित किया जाता है। बड़े भाई के 'हाँ' कहने पर कार में राणीजी और बड़े भाई को लेकर तरुण सेठानी घुमाने ले चलीं। कार की सवारी थी, सारा नगर घूमने में क्या देर लगती ? एक घंटे तक सारे शहर को घुमाकर राणीजी को घर पर छोड़ दिया। शाम का अँधेरा हो रहा था। इसी समय तरुण सेठानी बड़े भाई को अपने फूलों और तरह-तरह की चिड़ियों के बगीचे में ले गई। वहाँ हौज में सुनहली मछलियाँ तैर रही थीं। कोंच पड़ा हुआ था। उस पर अतिथि को बैठाकर पास में अप्सरा भी बैठ गई। बड़े भाई ने ऐसा कभी नहीं देखा था। उनको संकोच हो रहा था। तरुणी ने उनके कंधे पर हाथ रखकर कहा–"बड़े भाई, अब अपनी जीवनी सुनायें।" सुनाते वक्त मालूम हुआ कि तरुणी की यही तीव्र जिज्ञासा थी, जो वह उन्हें यहाँ पकड़कर लाई। घंटा-डेढ़ घंटा वह अपनी आपबीती सुनाते रहे। उनका जीवन कितना आकर्षक और वैविध्यपूर्ण है, यह हमारे पाठक जानते ही हैं। हाँ, विस्तार के साथ उसे सुनाने का अवसर नहीं था। तो भी उन्होंने बहुत-सी बातें सुना दीं।

शाम के खाने का समय आया। भोजनशाला में 80 मेहमान थे, जिनमें मेहमान नम्बर एक भागीरथीजी थीं, जिनकी बगल में सेठ की पत्नी बैठी थीं। मेहमान नम्बर दो बड़े भाई के पास कुर्सी पर सेठ की बहू बैठी थीं। पुत्रवधू ने भोजनशाला में पहुँचते ही कहा–"वंडरफुल स्टोरी (अद्भुत कहानी)।" सभी का ध्यान उधर आकर्षित हो गया। कृपलानीजी बड़े मजाकिया तबीयत के आदमी हैं। उन्हें जिस पाँती में बिठाया गया था, वहाँ स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ थीं। कृपलानीजी ने मजाक करते हुए कहा–"बड़े भाई को यहाँ का खाना अच्छा नहीं लगेगा, इन्हें तो तेल की पूड़ियाँ पसंद आती हैं।"

बड़े भाई ने भी तीर छोड़ा–"हाँ, तेल की पूड़ियाँ ही, पर कृपलानीजी ने कब से स्त्रियों में नाम लिखा लिया ?"

अब खाने का विधि-विधान शुरू हुआ। घंटी टन से बजी। एक दरवाजे का पर्दा हटा, और एक नौकर ने सजी मेज़ पर पड़ी काँच की छोटी-छोटी प्यालियों में जग में से कोई हरा-हरा रस डाला, जो स्वादु था। शायद यह भूख तेज करने का रसायन था। मेहमान नम्बर एक को पहिले शुरू करना था। बड़े भाई ने बतलाया

और भागीरथी देवी ने प्याली मुँह में लगा ली। फिर सबने अपनी प्यालियों के हरित-रसायन को पान किया। आध घंटा तक गप चलती रही। इसी में जूठी प्याली हटाई गई, छुरी-काँटे रक्खे ही थे। घंटी टन से हुई। फिर पर्दा हटा, और एक सुनहली ट्रे में सोने के वर्कों से ढँकी मछलियाँ सबके सामने रक्खी गईं। बेचारी भागीरथी छुरी-काँटे के इस्तेमाल को क्या जाने ? बड़े भाई को उसका अभ्यास था। उन्हें प्रसन्नता हुई कि मछली तो खाने को आई, लेकिन वह मछली आलू-गाजर की बनी हुई बिल्कुल नकली थी। बड़े भाई के बतलाने पर भागीरथीजी ने अपने सामने की 'मछली' के सिर को छुरी से काटकर मुँह में डाला। फिर सबने अपनी मछली खाई। फिर घंटी बजती गई, और बारी-बारी से दूसरे-दूसरे व्यंजन, पकवान आते रहे। डेढ़ घंटा तक भोजन इसी तरह चलता रहा। अन्त में तेल की पूड़ियाँ भी आईं। कृपलानीजी की टिप्पणी से सन्देह हुआ कि पहाड़ी लोग तेल की पूड़ियों के सबसे अधिक प्रेमी होते हैं, हालाँकि यह बात गलत थी। तेल की पूड़ियाँ केवल भागीरथीजी के लिए आईं, जिसे उन्हें खाने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि पहिले ही तृप्ति हो गई थी। सारी अतिथिमंडली ने कहना शुरू किया—"हमें भी सुनाओ वह वंडरफुट स्टोरी।" सेठवधू का कहना रिहर्सल था। अब उन्होंने फिर कथा सुनाई।

बड़े भाई तीन दिन तक सेठ अम्बालाल के मेहमान रहे। उन्हें कई दावतों और मीटिंगों में भी जाना पड़ा। एक दिन वह कॉलेज के विद्यार्थियों में भाषण देने के लिए बुलाये गये, जहाँ उन्होंने पेशावर-काण्ड का वर्णन किया। दूसरे दिन अहमदाबाद की एक दूसरी सम्भ्रान्त महिला पार्वती देवी ने अपने यहाँ भोजन के लिए बुलाया। यहाँ भी तरह-तरह के गुजराती भोजन थे, पर बैठने के लिए जमीन पर देशी ढंग से प्रबन्ध किया गया था।

अब अहमदाबाद छोड़ना था, इसलिए तीसरे दिन (19 दिसम्बर) वह ताँगे पर बैठाकर भागीरथीजी को मृदुला बहन के आश्रम में ले गये। मृदुला बहन सेठ अम्बालाल साराभाई की लड़की हैं, जिन्होंने अपना सारा जीवन देश और समाज की सेवा में लगा दिया, और इसीलिए अपना विवाह भी नहीं किया। उन्होंने महिलाओं के लिये एक आश्रम खोल रक्खा था। बड़े भाई आश्रम में गये। देखा, आश्रमवासिनी एक तरुण लड़की का कपड़ा सीने के पास फटा हुआ है, और वह मैला भी है। उन्होंने अपने यहाँ डौटियाल मजूरों को इस तरह जीर्ण-शीर्ण अवस्था में देखा था। उनको यह सोचकर दुःख हुआ कि भागीरथी को ऐसे स्थान में मैं रक्खे जा रहा हूँ। आश्रमवालों ने यह पूरी कोशिश की कि भीतर की बात मालूम न होने पाये। खैर, अब यहाँ तक लाकर वह भागरीथी को लौटा नहीं सकते थे, और 19 दिसम्बर को वहीं नाम लिखवाकर वह बारदोली के लिए रवाना हुए।

गाड़ी सबेरे के वक्त बारदोली पहुँची। अतिथियों के रहने के लिए एक अच्छे कमरे में उनको जगह मिली। आगन्तुकों के खातिरदारी के लिए मृदुला साराबेन, इम्तुस्सलाम आदि महिलाएँ थीं। 23 दिसम्बर को गाँधीजी से मिलने पर उन्होंने कुशल-मंगल पूछा। सरदार वल्लभभाई पटेल का बारदोली में अपना फार्म (खेती) था। इसी से सरदार अपने को किसान कहकर अभिमान करते थे। वह बड़े भाई को रिक्शे में बैठाकर अपना बाग दिखलाने ले गये। केलों का बाग था, जिसमें तरह-तरह के केले लगे हुए थे। खेती भी इसी तरह विशाल थी। सरदार ने बड़े भाई से पूछा—"देखो, मैं कैसा किसान हूँ ?"

बड़े भाई ने कहा—"यदि ऐसे किसान भारत में सभी होते, तो हमें स्वराज्य की क्या जरूरत थी ?"

एक दिन बड़े भाई बैठे हुए थे। इसी समय एक किसान अपने लड़के को लेकर बड़े भाई के पैरों में पड़ गया, और कहने लगा—"मेरा लड़का पंडितजी का दर्शन करना चाहता है, आप उनसे मिलवा दीजिये।" अपने नेता के प्रति भारतीय जन-साधारण की भक्ति का उन्हें पता था ही। बूढ़े की विनती को स्वीकार करते बड़े भाई लड़के को लेकर सीढ़ियों से ऊपर चढ़ने लगे। कमेटी की बैठक ऊपर कोठे पर हो रही थी। जब वह कुछ सीढ़ियाँ ऊपर चढ़ चुके, तो उधर से वल्लभभाई की पुत्री मणिबहेन आ गईं। उन्हें यह बहुत बुरा लगा कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में यह आदमी लड़के को लिये चला जा रहा है। सीढ़ियों पर ही मुलाकात हुई। मणिबहेन ऊपर से आ रही थीं। उन्होंने बहुत जोर का धक्का देते हुए कहा—"शर्म नहीं

आती, मीटिंग हो रही है और तुम चले आ रहे हो।" साधारण आदमी होता, तो सीढ़ियों पर लुढ़कता चला जाता, लेकिन बड़े भाई सँभल गये। उनको सबसे बड़ी प्रसन्नता यह हुई कि उनके गिरने से लड़के को गिरना नहीं पड़ा। बड़े भाई ने मुस्कुराते हुए कहा–"बहिनजी, आपकी जैसी स्त्रियाँ भारत में हों, तो उसका बेड़ा पार हो जाय।" सचमुच ही एक हट्टे-कट्टे फौजी जवान को धक्का देकर मणिबहेन ने अपनी मर्दानगी का परिचय दिया था। खैर, उन्होंने नाम जानने पर बड़े भाई को जाने दिया। लड़के को लेकर मीटिंग के पास जा उन्होंने कहा–"यह पं. नेहरू हैं, यह महात्मा गाँधी हैं···।"

लड़के को लौटाकर उन्होंने बूढ़े किसान से पूछा–"तुम पंडितजी को लड़के के लिए खिलौना बनाना चाहते हो, या पंडितजी से प्रेम करना ?" यह तो निश्चय ही था कि बूढ़ा लड़के की जिद्द को हटाने के लिए पंडितजी को खिलौना ही बनाना चाहता था। जब बड़े भाई ने पंडितजी को यह किस्सा सुनाया, तो वह बहुत हँसे।

बारदोली में बड़े भाई तीन दिन तक रहे। यहीं पर सरदार पृथ्वीसिंह से उनकी मुलाकात कराई गई। नेहरूजी ने सरदार के अहिंसक व्यायाम शिविर में जाने का सुझाव रक्खा था। नेहरूजी ने जब गाँधीजी से कहा कि बड़े भाई को सरदार पृथ्वीसिंह के शिविर में भेजना चाहिए, तो गांधीजी ने कहा–"तुम एक म्यान में दो तलवार रखना चाहते हो।" अंत में मलाड जाने का निश्चय हो गया।

मलाड शिविर में–पृथ्वीसिंह पहिले ही कह गये थे कि मैं ट्रेन के समय स्टेशन पर मौजूद रहूँगा। 24 दिसम्बर की शाम को ट्रेन मलाड स्टेशन पर पहुँची। सरदार उन्हें अपने साथ ले गये। सरदार भीतर से कम्युनिस्ट और बाहर से गाँधीवाद का चोंगा पहने हुए थे। उनको डर था कि वह गाँधीवादी पहाड़ी हमारे भीतर के भेद को जान लेगा, और फिर इसके कारण अच्छा नहीं होगा। इसीलिए बड़े भाई को लेकर उन्होंने एक कमरे में रख दिया, और कोशिश की कि बड़े भाई विद्यार्थियों से अधिक हेलमेल न करने पायें। सरदार यदि व्यायाम के कुशल शिक्षक थे, तो बड़े भाई भी मलखम छोड़कर बाकी सभी तरह के व्यायाम को जानते थे। जैसा कि गाँधीजी ने कहा, वही बात हुई, और दिन बीतने के साथ दोनों का मनमुटाव बढ़ता गया। इसमें शक नहीं कि अगर दोनों को एक दूसरे के वास्तविक विचार मालूम होते, तो यह नौबत न आती। मतभेद जितने ही स्पष्ट होते गये, उतनी ही बात-बात में नोक-झोंक हो जाती। बड़े भाई को मालूम हुआ कि सरदार उनके ऊपर हर तरह से बुरी निगाह रखते हैं, और गाँधीजी की लिखी चिट्ठी भी उन्होंने पढ़ ली थी। बड़े भाई ने सचमुच ही गाँधीजी को लिखा कि यहाँ रहने से मुझे कोई लाभ नहीं हो सकता, मेरा दिल नहीं लगता। मुझे आश्रम में बुला लें। व्याख्यान में कुछ प्रश्न करने पर, 'चुप रहो', और अन्त में यहाँ तक हुआ कि 'शिविर से चले जाओ' को भी सुनना पड़ा। उसी वक्त बड़े भाई अपने डंडे को उठाकर स्टेशन पर आये। रात वहीं काटी और सबेरे बम्बई में पं. जवाहरलाल के छोटे बहनोई हठीसिंह के घर पर पहुँचे। वहाँ से उन्हें रेल का खर्च मिल गया, और वह वर्धा चले आये।

21

गाँधीजी के पास (1942 ई.)

वर्धा में जिस समय (15 जनवरी 1942) बड़े भाई (चन्द्रसिंह गढ़वाली) पहुँचे, उस समय बजाजबाड़ी में कांग्रेस कमेटी की मीटिंग हो रही थी। नेहरू, पंत आदि देश के बड़े-बड़े नेता वहाँ मौजूद थे। पहिले ही उन पर पं. जवाहरलाल की नजर पड़ी। वह वहाँ टहल रहे थे। उन्होंने अर्धस्फुटित हास के साथ कहा–"अहा, तुम कैसे आ गये बड़े भाई ?"

बड़े भाई ने कहा–"वहाँ (बम्बई में) मैं नहीं निभ सका।"

नेहरू बेचारे क्या करें। वह चाहते थे कि बड़े भाई को कष्ट न हो। उनके लिए कोई निश्चित प्रबन्ध

हो जाय, लेकिन बड़े भाई का निभना हर जगह आसान नहीं था। नेहरू ने कुछ अन्यमनस्क होकर पूछा—"तो बताओ, अब आपके लिए क्या किया जाय ?"

बड़े भाई को इस वाक्य में अपनी बेबसी पर व्यंग्य का आभास हुआ। उन्होंने दाँत भींचकर अपने हाथ की ओर इशारा करते कहा—"इन रगों में अभी खून है। मैं किसान का बेटा हूँ, कामचोर का नहीं। रोड़ी कूटूँगा।"

बड़े भाई के इस रुख को देखकर पंडितजी चुप हो ऊपरी मंजिल पर चले गये।

बड़े भाई को अब दुनिया में फिर कोई स्थान ढूँढ़ने की जरूरत पड़ी। सबसे पहिले जल्दी से जल्दी वहाँ से हट जाना था। वह रिक्शा बुलाने लगे। पंडितजी के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री शिवदत्त उपाध्याय ने पूछा—"बड़े भाई, कहाँ जाते हैं ?"

उसी 110 डिग्री के पारे में जवाब मिला—"नागपुर छावनी में जाकर कुछ करूँगा। उभाडूँगा और विद्रोह कराऊँगा, और गोली खाकर ऐसे जीवन से छुट्टी पा लूँगा।"

शिवदत्तजी ने यह बात नेहरूजी के पास पहुँचाई। वह आये। उन्होंने कंधे पर हाथ रखकर कहा, "बड़े भाई, ऐसा नहीं करना होगा।" पकड़कर ऊपर ले गये। मृदुला से चाय लाने के लिए कहा। नाश्ता कराते बड़ी नरमी से कहा—"तुम्हारे लिए कुछ जरूर करना है, लेकिन थोड़ा सोचना पड़ेगा। मलाड (बम्बई) भेजना बापू ने पसन्द नहीं किया था, और भेजने का यह परिणाम निकला।"

नेहरू अब दो मिनटवाले नहीं, बल्कि 58 मिनटवाले अति कोमल पुरुष थे। उन्होंने बड़े भाई के पारे को उतारकर नॉर्मल पर ला दिया, और शिवदत्तजी से कहा—"इन्हें पंतजी के पास ले जाओ।"

पंतजी वहाँ चारपाई पर पड़े हुए थे, कोई स्वयंसेवक पैर दबा रहा था। पंडित गोविन्दवल्लभ पंत को जैसा दिमाग मिला है, शरीर उससे बिलकुल उलटा है। वह भारी-भकरम बोरी है, जिसको सँभालना उनके बूते की बात नहीं। शरीर की इतनी बाधा रहते भी वह कैसे इतना सोच लेते हैं ? उस शरीर के लिए आवश्यक है कि समय-असमय बराबर उसको कोई दबाता रहे। अपने किसी कर्तव्य को पालन करना भी वह लेटे ही लेटे कर सकते हैं। शायद बहुत दूर के किसी सम्भ्रान्त पुरुष के सामने वह लेटे हुए पैर दबवाते न मिलें, पर उनको अधिकतर रहना ऐसे ही पड़ता है। ऐसे ही पड़े हुए वह हुकुमनामे लिखते, सभी काम करते हैं। उनकी इस कमजोरी से लाभ उठाने के लिए कभी-कभी उच्च कर्मचारी भी उनके पैरों की तरफ हाथ बढ़ाते हैं। इस सबका नतीजा यह होता है कि उनके पास खुशामदियों की एक गिरोह जमा हो जाती है, जो उनके चुस्त दिमाग को शिथिल करने की कोशिश करती है।

बड़े भाई ने पहुँचकर अपने पहाड़ी दस्तूर के मुताबिक पालागन किया।

पंतजी स्थिति को कुछ-कुछ जानते थे। उन्होंने भी नेहरू की तरह पूछ दिया—"अब तुम्हारे लिए क्या किया जाय ?"

बड़ी मुश्किल है कि चतुर आदमी भी यह समझना भूल जाता है कि मानव-पुत्र कुछ ही सालों में क्या से क्या हो जाता है। अगर हमने किसी को 16 वर्ष का अल्हड़ जवान देखा, और उस वक्त की उसकी अविकसित योग्यता और सम्भावनाओं का ही हमें परिचय है, तो दस वर्ष के बाद भी हम उसे वैसा ही समझते हैं, और इतने वर्षों की साधना से वह कहाँ से कहाँ पहुँच गया है, इसे जानने से आनाकानी करते हैं। पंतजी समझते थे कि आखिर यह वही पहाड़ी सिपाही है, जिसके अनशन को तुड़वाने के लिए मैंने बहुत सालों पहिले डेराइस्माइलखाँ के जेल में चिट्ठी भेजी थी। पंतजी की बात सुनकर फिर बड़े भाई का पारा ऊपर उठने लगा—'यह लोग मुझे अपने ऊपर बोझ समझते हैं।' आग सुलगाकर उसमें घी डालते हुए पंतजी ने फिर कहा—"जमनालालजी की गोशाला में काम करोगे ?'

बड़े भाई भभक उठे—"क्या आपकी नैनीताल की गोशाला में आग लग गई ? वहाँ क्यों नहीं मुझे भेज देते ?"

यह कहकर वह राइट एबौट टर्न होकर बिजली की तरह निकल गये। पंतजी मुँह ताकते रह गये।

बड़े भाई को एक-एक करके बड़े नेताओं से अश्रद्धा होने लगी। वह अब वहाँ से भागने की तैयारी

करने लगे। शिवदत्तजी ने जाकर नेहरू को सारी बात बतलाई—"वह तो वहाँ से भी बिगड़कर चला आया, और फिर जा रहा है।"

दो मिनट के बाद नेहरू से कभी-कभी बड़े भाई की समानता हो जाती। नेहरूजी ने ऊपर ही से पुकारकर कहा—"बड़े भाई, कहाँ की तैयारी है ?"

"मैं महात्माजी के पास जा रहा हूँ।"

इससे कोई चिन्ता नहीं हो सकती थी। 17 जनवरी (1942) को बड़े भाई ने अपना सामान नौकरों की कोठरी में रक्खा और छड़ी लेकर तीन मील दूर सेवाग्राम की ओर चल पड़े। शाम के चार बजे का समय था। नित्य की तरह दो लड़कियों के कंधे पर हाथ रखकर महात्माजी टहलने के लिए निकले हुए थे। नमस्कार करते ही उनसे उन्होंने पूछा—"बड़े भाई, बिस्तरा क्यों नहीं लाये ?"

गाँधी मनुष्य की नब्ज पहचानने में असाधारण पुरुष थे। उन्हें बड़े भाई से विस्तारपूर्वक बातों के सुनने की भी आवश्यकता नहीं थी। वह समझ गये कि एक म्यान में दो तलवार नहीं रहीं। फिर पूछताछ के बाद कहा—"कांग्रेस कमेटी की मीटिंग के बाद तुम यहाँ चले आओ। मेरे साथ 6 महीने तुम्हें रहना होगा। जाओ, बिस्तरा लेकर आना।"

बड़े भाई वहाँ से लौट आये, और शिवदत्तजी के साथ रहे। दूसरे दिन मीटिंग थी, जिसमें दर्शक भी जा सकते थे, लेकिन उनके लिए आठ आने का टिकट था।

कृपलानी कांग्रेस मन्त्री थे, उन्हीं के हाथ में सारा प्रबन्ध था। उन्होंने एक मुसलमान तरुण—जो उनके कार्यालय में काम करते थे—से कह दिया कि बड़े भाई को एक टिकट दे दो। कृपलानी चले गये, और तरुण ने कहा—"आई, वान्ट मनी (मुझे पैसा चाहिए)।" शायद जल्दी-जल्दी में कृपलानी यह नहीं कह सके कि इन्हें बिना पैसे लिये टिकट दे देना। बड़े भाई झगड़ पड़े। कृपलानी को पता लगा। उन्होंने आकर तरुण को खूब झाड़ा और टिकट लाकर मजाक करते हुए पूछा—"बड़े भाई, लड़कियों में बैठना चाहते हो, कुश्तीबाजों में, या बूढ़ों के पास।"

बड़े भाई को तो बूढ़े नेताओं को नजदीक से देखना था, इसलिए वह उनके नजदीक किसी जगह बैठ गये।

मीटिंग देखते दिन बीतते देरी नहीं हुई।

तीसरे दिन वह अपना लटा-पटा उठाकर सेवाग्राम पहुँचे। उनके लिए एक कोठरी मिली। छह महीने के लिए जीवन-प्रवाह निश्चित हो गया। एक दिन टहलते वक्त गाँधीजी ने पूछा—"बड़े भाई, बीवी की क्या खबर है ?"

भागीरथी देवी की चिट्ठी उन्हें उसी दिन मिली थी। उसमें लिखा था—"तुम जेल में थे, तो मैं यह आशा लगाये थी कि बाहर आओगे, तो हम अच्छी तरह साथ रहेंगे। अब छूटने पर तुम बड़े-बड़े आदमियों के साथ मौज कर रहे हो, और मैं दर-दर की ठोकरें खा रही हूँ। यहाँ मेरी स्थिति ऐसी असह्य है कि यदि यह तुम्हारी बच्ची न होती, तो मैं आत्महत्या कर लेती।" चिट्ठी पढ़कर बड़े भाई का दिल तिलमिला उठा। उन्होंने बीवी के बारे में बतलाने की जगह वही चिट्ठी गाँधीजी के हाथ में थमा दी।

गाँधीजी ने चिट्ठी पढ़कर तुरन्त इम्तुस्सलाम को भेजा। वहाँ और भी लोग थे। उनसे इतना ही परिचय दिया कि बड़ा भाई मेरा दोस्त है। फिर बड़े भाई से सरदार पृथ्वीसिंह के शिविर के बारे में पूछा। वह जले-भुने थे ही, बोले—"वह शिविर क्या है, ढोंग है, पैसा यों ही बरबाद किया जा रहा है।" गाँधीजी ने तुरन्त कनु गाँधी को जाँच करने के लिए भेजा, और उसके बाद तार देकर शिविर को बन्द करने के लिए कह दिया। सरदार को यह भी लिखा कि हिसाब बुझाकर वर्धा चले आओ, लेकिन सरदार ने इसे स्वीकार नहीं किया। तब से उनका सम्बन्ध गाँधीजी के साथ पूर्ववत् नहीं रहा। शिविर तुड़वाने में बड़े भाई का भी काफी हाथ था, लेकिन जब मालूम हुआ कि किस तरह उन्होंने एक दूसरे को गलत समझा और धोखा दिया, तो उन्हें इस पर बहुत खेद और आश्चर्य हुआ।

गाँधीजी ने दूसरे दिन कहा–"भागीरथी को अहमदाबाद में बहुत तकलीफ है।" बड़े भाई ने उसे हल्का करके कहा–"असन्तुष्ट रहना स्त्रियों का स्वभाव है। सब ठीक हो जायेगा।"

"नहीं, उसे बुलाना है। नहीं तो अनिष्ट हो जायेगा।"

गाँधीजी ने तुरन्त मृदुला को टेलीफोन किया कि चन्द्रसिंह की बीवी को इसी वक्त वर्धा भेज दो। जब रेल पर बैठाने का समय आया, तो भागीरथी ने कहा–"मैं नहीं जानती वर्धा कहाँ है। वहाँ कैसे पहुँचूँगी ?" यद्यपि अब वह वही सीधी-सादी पहाड़िन नहीं थी, और रेल का अनेक बार सफर कर चुकी थी, लेकिन अहमदाबाद से वर्धा आनेवाली ट्रेन सीधे नहीं आती थी। रास्ते में कई जगह गाड़ी बदलनी पड़ती, इसलिए घबराहट होनी जरूरी थी। अन्त में मृदुला ने बम्बई में मणिबहेन को तार दिया और ट्रेन का समय बतला दिया। भागीरथी अपनी बच्ची को लेकर गाड़ी पर बैठ गई। मणिबहेन ने स्टेशन पहुँचकर उन्हें उतारा, और कार पर बैठाकर ले चलीं। कार किसी बड़े मकान के सामने खड़ी हुई। लिफ्ट के सहारे ऊपर की मंजिल पर जाना पड़ा। इस सारे समय में भागीरथी के मन में एक तूफान उठ रहा था। उन्हें नागरिकता का अधकचरा ही ज्ञान था। वह सुन चुकी थीं कि शहर में तरुण स्त्रियों को भगानेवाले स्त्री-पुरुष होते हैं। उनके मन में होने लगा–'हो न हो, यह वैसी ही कोई भगानेवाली औरत है, मुझे ले जाकर किसी के हाथ में बेंच डालेगी।' उन्हें न वह मणिबहेन की खद्दर की साड़ी पर विश्वास आया, और न कुरूपता के साथ सीधे-सादे चेहरे पर। लिफ्ट से चलकर वह कमरे में गईं। स्नानगृह बतला दिया। मणिबहेन ने उनकी बड़ी खातिर की, लेकिन उस खातिर का भागीरथीजी उलटा ही अर्थ लगाती रहीं। स्नान कराके बैठाकर प्रेम से खिलाया-पिलाया; और अहमदाबाद आश्रम और रास्ते के बारे में पूछा। बड़े भाई का नाम भी आया। अब भागीरथी की जान में जान आई–यह भगानेवाली औरत नहीं है। वह मणिबहेन से क्यों कहने लगीं कि मैं तुम्हें क्या समझने लगी थी। मणिबहेन ने समझा दिया, यहाँ से जानेवाली ट्रेन सुबह होते ही तुम्हें वर्धा स्टेशन पर पहुँचायेगी। वहाँ उतर जाना और ताँगा लेकर महात्माजी के सेवाग्राम आश्रम में पहुँच जाना।

रात की यात्रा थी। इस वक्त सुन्दरियों पर ट्रेन में डाके पड़ सकते हैं। जब सही-सलामत रात बीत गई, तो भागीरथीजी को बहुत सन्तोष हुआ। गाड़ी वर्धा स्टेशन पर खड़ी थी, लेकिन उनको कुछ पता नहीं। गाड़ी चलने लगी। फिर वहाँ लिखे हुए साइन बोर्ड पर उन्होंने वर्धा पढ़ा। तुरंत हड़बड़ी मच गई। खिड़की से कपड़ा फेंका, दूसरा सामान फेंका, और शायद बच्ची को सँभाले स्वयं भी कूदने के लिए तैयार थीं। तब न जाने क्या होता ? लेकिन, इस फेंकाई को देखकर गार्ड ने ट्रेन खड़ी कर दी। वह नीचे उतरीं, अपनी गठरी-मोटरी सँभाल कुली के ऊपर रख स्टेशन से बाहर आईं। एक मुसलमान ताँगेवाला मिला। सेवाग्राम का नाम लेने पर उसने कहा–"मैं जानता हूँ, आइए बैठिए।" वर्धा के ताँगों के घोड़े मरियल से ही होते हैं, अगर पंजाब की तरह जानदार घोड़े होते, और उनको वह भगाता, तो भागीरथीजी के दिल में फिर हड़क मच जाती। तो भी वह बड़ी असमंजस में पड़ी थीं। स्टेशन से दूर होने पर उनकी चिंता और बढ़ी, और ताँगेवाले से पूछा भी–"कहाँ ले जा रहे हो ?"

"और कहाँ, सेवाग्राम ले चल रहा हूँ।"

खैर, अधिक समय तक चिंतित रहने की जरूरत नहीं पड़ी। बड़े भाई उनको लिवाने के लिए जरा देर से चले थे, इसलिए ट्रेन पर नहीं पहुँच सके। उन्होंने अपने रिक्शे को खड़ा कर दिया, और भागीरथीजी के साथ आकर बैठ गये। वह पति पर बरस पड़ीं–"कल मैं किसी दूसरे ही मुल्क में चली जाती, फिर क्या करती ? संयोग से मैंने वर्धा नाम पढ़ लिया।"

बड़े भाई को हँसी भी आ रही थी, और चिंता भी। सचमुच ही अभी भागीरथीजी पन्द्रह आना पहाड़िन थीं, एक आना ही वह अपनी जन्मभूमि की नहीं रह गई थीं। हाँ, बिना कान-पूँछ हिलाये वह किसी अजनबी के साथ नहीं जा सकती थीं।

28 फरवरी को ताँगा आश्रम में पहुँचा। पहिले ही से गाँधीजी ने कृष्णचन्द्र को भागीरथी के रहने का प्रबंध करने के लिए कह दिया था। सेवाग्राम गृहस्थों के नहीं, बल्कि ब्रह्मचारियों के लिए था। विवाहित दम्पती

भी वहाँ उसी तरह रह सकते थे। वहाँ पति-पत्नी के लिए नहीं बल्कि भाई-बहिन के लिए स्थान था, भागीरथीजी के लिए कोई कोठरी चाहिए, और बड़े भाई की कोठरी छोड़कर और दूसरी कोई उस वक्त खाली नहीं थी। बड़े भाई को हुकुम दिया—"आप अस्पताल में चले जाइये, इस कोठरी को खाली कर दें, इसमें भागीरथीजी रहेंगी।"

बड़े भाई ने इतने सालों तक इसी दिन की प्रतीक्षा की थी ? भागीरथी क्या इसी सुहाग की लालसा रखती थीं ? लेकिन, आश्रम आश्रम है, उसका नियम निष्ठुर चाहे हो लेकिन उसे पालन करना ही होगा। बड़े भाई को अपना दण्ड-कमण्डल उठाना पड़ा, लेकिन वह अस्पताल जाने के लिए तैयार नहीं हुए। बाहर एक नीम क़ा दरख्त था। उन्होंने अपने बिस्तरे को ले जाकर वहाँ पटका। दैव भी दुश्मन था, वर्षा होने लगी। बिस्तरे को वहाँ भीगते कैसे छोड़ते, वह बरांडे में चले आये। फिर दया हुई, हवा-पानी की फुहारें वहाँ भी पहुँचने लगीं और वह बिस्तरा कोठरी के भीतर चला गया। उस रात दोनों चकवा-चकवी होने से बच गये। बगल के कमरे में एक बहिनजी रहती थीं। वह रात को भजन करतीं, चरखा कातती थीं। उन्हें यह असह्य हुआ कि आश्रम में रहकर आश्रम के नियमों की इस तरह अवहेलना की जाय। वह अगले दिन सबेरे भी नसीहत दे सकती थीं, लेकिन भक्त लोगों में इतना धैर्य कहाँ ? उसी वक्त उन्होंने आवाज दी—"बड़े भाई, यहाँ आओ।" बड़े भाई ने वहाँ जाकर पूछा—"हुकुम।" बहिन ने कालिका के स्वर में कहा—"तुम्हें शर्म नहीं। कोठरी से इसीलिए तुम्हें हटाया गया था ? रात को पत्नी के पास चले आये।"

बड़े भाई क्यों छोड़नेवाले थे, उन्होंने कहा—"तुम्हें शर्म नहीं, कि रात के वक्त अपनी एकांत कोठरी में मुझे पास बुलाया।"

यह छोटा-मोटा महाभारत था। बहिनजी का पति चरखा इन्सपेक्टर था, उसे बराबर जहाँ-तहाँ घूमते रहना पड़ता था और पत्नी के लिए यहाँ चरखे पर भजन करने के सिवा कोई चारा नहीं था। वह समझती थी, जैसे मेरी कट रही है, वैसे ही पड़ोसन की भी क्यों न कटे ? अगले दिन सबेरे ही उन्होंने जाकर कृष्णचन्द्र के पास शिकायत की—"बड़ा भाई अनाचारी है।" वहाँ से भी पेट नहीं भरा, और फिर डॉ. वसु से जाकर रिपोर्ट दी। आखिर में मामला गांधीजी के सामने पेश हुआ। उन्होंने ही तो आश्रम के इस कानून को बनाया था। बापू ने हँसते हुए कहा—"कानून तो मैंने स्वयं तोड़ दिया है। महादेव भाई, मशरूवाला सब अपने बाल-बच्चों के साथ यहाँ रहते हैं और बड़ा भाई तो अभी हमारा मेहमान है। इसको कोई तकलीफ नहीं होनी चाहिए। उसे आश्रम के कायदे-कानून को बतलाना चाहिए। उसे जान जाने पर यदि चाहे, तो वह स्वयं पालन करेगा।"

बड़े भाई से पूछने पर उन्होंने कहा—"बापू, मैं इस आश्रम को तीर्थ समझता हूँ, और उसी तरह रहना चाहता हूँ लेकिन, बच्ची बहुत छोटी है, यहाँ बिच्छू, साँप निकलते हैं। रात को कोई काट न ले, इसीलिए मैं दूर नहीं रहना चाहता। बदरी-केदार की तीर्थयात्रा करने के लिए लोग जाते हैं, वह अपने बाल-बच्चों को पंडों के हवाले नहीं कर देते। मुझे यह अस्पताल में भेज देना चाहते थे, और बीवी को साँप-बिच्छुओं की कोठरी में। दस-बारह साल जेल में बिताते हम दोनों अलग-अलग रहे। अगर आप कहें, तो आश्रम में रहने के लिए मैं बीवी से सम्बन्ध-विच्छेद कर लूँ, पर, क्या बीवी इसे पसन्द करेगी ?"

बापू ने कृष्णचन्द्र को बहुत फटकारा, और कहा—"तुम्हें कुछ भी अकल नहीं है। कितने सालों बाद ये दोनों मिले हैं। आश्रम का कानून इन पर नहीं लगेगा। खबरदार, इनको कोई तकलीफ न होने पाये।"

अब दम्पती साथ रहने लगे।

एक दिन बड़े भाई की शिकायत फिर बापू के सामने पहुँची। उनकी ड्यूटी चरखा कातने पर थी। हरेक आश्रमवासी को दो घंटा चरखा कातना पड़ता, जिसके लिए मील-भर पर अवस्थित चरखा-संघ में जाना पड़ता। समय बहुत लग जाता था। भागीरथी अपनी बच्ची की सेवा-टहल में लगी रहतीं, उन्हें भी मौका न मिलता। हरेक आश्रमवासी को चक्की में कुछ आटा पीसना जरूरी था। बड़े भाई इसमें ढिलाई नहीं करना चाहते थे। पति-पत्नी ने निश्चय किया कि चार बजे सबेरे उठकर चक्की से भुगत लिया जाय, लेकिन यहाँ एक और कर्तव्य से भिड़न्त हो जाती थी। यही समय था, जबकि सारे आश्रमवासी एकत्रित हो 'रघुपति राघव राजा

राम' किया करते। बड़े भाई का अब 'रघुपति राघव राजा राम' पर विश्वास नहीं था; लेकिन वह इस अविश्वास के कारण वहाँ जाने से परहेज नहीं करते थे, बल्कि पिसाई से चूकना नहीं चाहते थे। बापू के पास शिकायत हुई कि बड़ा भाई प्रार्थना के समय चक्की पीसता है।

बापू अपने आश्रम के मूढ़ों को अच्छी तरह समझते थे, उन्होंने उन्हें फटकारते हुए कहा—"चक्की नहीं पीसता, बल्कि पहिले तुम्हारे लिए प्रार्थना करता है, ताकि तुम्हें रोटी मिले।"

ब्रह्मचर्य का नियम निरा ढोंग है, यह साधुओं और उनके मठों के हजारों वर्षों के तजर्बे से मालूम है। न जाने क्यों गाँधीजी ने आश्रम के लिए इसका नियम बनाया था, और मौके-बेमौके ब्रह्मचर्य की महिमा गाते रहते थे। आश्रमवासियों की संख्या न बढ़े, यह आर्थिक दृष्टि से लाभदायक बात थी। इसके लिए इन्द्रिय-संयम की जगह संतति-संयम अच्छा उपाय था, जिसे भी गाँधीजी मानने के लिए तैयार नहीं थे। यौन-सम्बन्ध स्वस्थ आदमी के लिए भी एक अनिवार्य भूख-सी है। उसमें अति अवांछनीय हो सकती है, लेकिन अभाव की आकांक्षा रखने के बारे में तो किसी कवि ने कहा है—

"विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशनाः,
तेपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगताः।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुंजते मानवाः,
तेषामिन्द्रीयनिग्रहो यदि भवेत्द् विन्ध्यस्तरेत् सागरम्।।"

बापू सागर में विन्ध्य पर्वत को तैराना चाहते थे, भला वह कैसे हो सकता था ? इसका परिणाम उल्टा हुआ था। आश्रम में यद्यपि मिर्च-मसाले का इस्तेमाल नहीं किया जाता, और इस कवि ने भी मिर्च-मसाले का नाम नहीं लिया है, और चावल, घी, दूध-दही खाने ही की बात कहकर ऐसे आहारवाले आदमी के लिए ब्रह्मचर्य असम्भव बतलाया। आश्रम में ब्रह्मचर्य के कानून का पालन वस्तुतः उसके तोड़ने द्वारा ही हुआ करता था। इसका यह मतलब नहीं कि वह अनाचार और दुराचार का अड्डा था। नॉर्मल आदमी जैसा आचरण करता है; वैसे ही वहाँ करने की प्रवृत्ति देखी जाती थी। बाधाएँ थीं, जिन्हें तोड़कर जब आदमी स्वाभाविक जीवन की तरफ बढ़ जाता तो बापू भी उसके लिए हठ करना पसन्द नहीं करते थे। बापू के अपने कनू गाँधी ही इसके उदाहरण हैं। कनू संगीत में बहुत प्रवीण तरुण थे। उनके विद्यार्थियों में एक बंगाली अविवाहिता तरुणी थी, जो अपने पिता के साथ आश्रम में रहती थी। कनू अब्बा को संगीत सिखलाया करते थे। संगीत केवल स्वर्गीय नहीं होता, बल्कि उसका सबसे अधिक सम्बन्ध इस लोक से ही होता है, और राधाकृष्ण या किसी प्रेमी-प्रेमिका के नाम से वह स्त्री-पुरुष के नैसर्गिक भावों को ही उद्बोधित करता है। विल्लहण कवि गुजरात की राजकन्या को साधारण काव्यकला की शिक्षा देते थे। उनके सिर पर कच्चे धागे से नंगी तलवार लटक रही थी, लेकिन दोनों तरुण हृदयों में प्रेम अंकुरित हुए बिना नहीं रहा। विल्लहण को वध का दण्ड हुआ, पर अन्त में मानवता बीच में पड़ी, और वह अपनी प्रेमिका के साथ दीर्घ जीवन बिताने के लिए बच गये। उदयन भी अवन्तिराज प्रद्योत की सुता को संगीत सिखलाने गये थे, और बाप की प्रचंडता का भारी भय होने पर भी पर्दे की आड़ से पढ़नेवाली शिष्या और उसके गुरु में प्रेम पैदा हुए बिना नहीं रहा। उदयन और वासवदत्ता के इस प्रेम ने हमारे अनेक कवियों को प्रेरणा दी। संगीत-गुरु कनू और उनकी शिष्या के हृदयों को रति-पति ने बाँध दिया। अब भला उनके बीच में कौन बाधक हो सकता था ? आश्रम के कानून के डर के मारे वह अपने निष्कलुष प्रेम को प्रकट नहीं कर सकते थे, लेकिन हर समय हरेक आश्रमवासी को निरीक्षण करने के लिए उनके दोनों कन्धों पर दो-दो फरिश्ते तो नहीं बैठे रहते। उनके सम्बन्ध को कितने ही लोगों ने देखा, जिनमें भागीरथी भी थीं। धीरे-धीरे यह खबर बापू के कानों तक पहुँची। अब यह जरूरी समझा जाने लगा कि दोनों प्रेमियों को एक दूसरे से अलग रखने में ही खैरियत है। तरुणी के पिता अपने परिवार के साथ एक दिन आश्रम से बाहर रहनेवाले एक सिंहल दम्पती के भोज में गये। शायद भोज में नमक-मिर्च रही हो। जो भी हो, उनके ऊपर यह इल्जाम लगाया गया, कि उन्होंने नमक-मिर्च खाई, और अब्बा और उनके माता-पिता को आश्रम से बाहर जाने के लिए कह दिया गया। अब्बा के भाई वीरेन्द्र आश्रम ही में रह गये, लेकिन बाकी

परिवार बंगाल चला गया। अब्बा ने एक तरुण से प्रेम करके कोई पाप नहीं किया था। उसके साथ यह भारी अन्याय हुआ, जिसे वह सत्याग्रह के वातावरण में रहकर ख़ुशी से बर्दाश्त कैसे कर सकती थी। बंगाल में जाकर उसने अनशन शुरू कर दिया। जब किसी तरह वह अपने अनशन को तोड़ने के लिए तैयार नहीं हुई, तो उसे आश्रम में बुलाकर कुछ दिनों कस्तूरबा के हवाले कर दिया गया, लेकिन प्रेम का स्रोत भला कभी सूख सकता है ? अन्त में अब्बा को पढ़ने के लिए काठियावाड़ भेज दिया गया। उसके लिए यह सब परीक्षाएँ थीं, जिन्हें उसने पास कर लिया। अन्त में बापू ने उसे आश्रम में बुलाकर कनू से उसकी शादी कर दी।

बड़े भाई को आश्रम को भीतर से देखते यह धारणा नहीं हुई कि वहाँ के लोग दुराचारी हैं, लेकिन ब्रह्मचर्य की बातों को कार्यरूप में न देखकर वह उसे बेकार जरूर समझे।

बड़े भाई वर्षों तक घोर आर्यसमाजी रहे। मूर्ति-पूजा, पेड़, बहुदेव-पूजा के खिलाफ लाठी लेकर पड़े रहते थे। बापू के आश्रम में कोई मूर्ति पूजी नहीं जाती थी, न किसी पीपल की ही लोग परिक्रमा करते थे। भगवान् के भक्त जरूर थे, वह भजन में बराबर शामिल होते थे। प्रार्थना के समय जापानी बौद्ध साधू पहल करते थे। बापू ने उनका नाम केशवभाई रख दिया था। बौद्ध ईश्वर-विश्वास को निरी जड़ता समझते हैं, शायद बापू को यह मालूम नहीं था, या मालूम होने पर भी उस पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं थे और धर्मों के अनुसार होते-होते इस्तुस्सलाम के 'बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम' से प्रार्थना समाप्त होती थी। जापान से मक्का और काशी से यरुसलेम तक फैले सारे धर्म इसमें सम्मिलित थे। चाहे बड़े भाई का ईश्वर में विश्वास न हो, लेकिन इतने धर्मों की एकता उन्हें पसन्द आती थी।

बापू के भण्डार में रसोई बनाने के लिए चमार, मुसलमान, ईसाई रसोइये थे। वहाँ छुआछूत का नाम भी नहीं था। भण्डार में न मिर्च-मसाला जाता था, और न प्याज, आलू, लहसुन। नमक भी साग-भाजी में नहीं पड़ता था, बल्कि अलग से, और वह भी अपर्याप्त मात्रा में दिया जाता था। साग उबला हुआ मिलता था। बड़े भाई को पहिले-पहिल यह भोजन फीका-फीका लगता था, लेकिन एक ही महीने के अभ्यास में उन्होंने देखा कि उसमें विचित्र स्वाद है। साग भी बापू के भण्डार में मिलाकर नहीं बनता था। एक दिन गाजर उबाला जाता, तो दूसरे दिन केवल मूली, तीसरे दिन सलजम और चौथे दिन कोई और चीज। उबले साग का रस तसला भर-भरकर पीने को मिलता, और जितना साग खाना चाहो, उतना दिया जाता। इस पानी में भी मधुर स्वाद था, और साग को भी जिह्वा पसन्द करती थी। सेवाग्राम धान का देश नहीं है, लेकिन चावल के वहाँ पहुँचने में क्या दिक्कत हो सकती थी। लेकिन आश्रम में भात केवल बीमारों को मिलता, दूसरे रोटी खाते। बापू के लिए सोयाबीन की रोटी बनती, सो भी रूखी-सूखी। उनके लिए बकरी का दूध मिलता और दूसरों के लिए आधा सेर शुद्ध गाय का दूध। बापू के लिए घी भी बकरी का ही बरता जाता। नागपुरी सन्तरे दुनिया के सबसे मधुर सन्तरे हैं और मौसम के समय वह बहुत सस्ते भी मिलते हैं। आश्रम में वह सुलभ होते थे। न रहने पर मुसम्बी का एक गिलास रस बापू को जरूर दिया जाता। गर्मियों में एक गिलास रस निकालने के लिए दस-बारह मुसम्बियों की जरूरत पड़ती। भोजन के समय जब गाँधीजी बैठते तो नवागन्तुक मेहमान भी उनके पास बैठ जाते। अपने भोजन को बापू अकेले खाना पसन्द न करते। वह दूसरों को भी उसमें से बाँटते। आश्रम में डबलरोटी भी बनती। बड़े भाई को आश्रम का सात्विक भोजन बहुत पसन्द आया, वह खूब साग खाते और उसका पानी पीते। इसका यह अर्थ नहीं कि सामिष भोजन से उनको चिढ़ हो गई।

बापू अपने आश्रम को अधिक से अधिक स्वावलम्बी देखना चाहते थे, कपड़े का सवाल चरखा से पूरा करना चाहते। सभी खद्दरधारी और सभी चरखा चलाते थे। अपने सूत को वह खड्डीवालों को दे देते, जो उसमें से थोड़ा-सा रखकर उसे कपड़े के रूप में बदलकर दे देते। आश्रम में गायें पर्याप्त नहीं थीं इसलिए जमनालाल बजाज की गोशाला से दूध आया करता। कहा जाता था—बजाजजी आश्रम पर सोलह हजार मासिक खर्च करते हैं। बापू ने हुकुम दे रक्खा था कि लकड़हारे जितने भी आयें, उनको फेरा न जाय। इलाके-भर के गरीब लकड़ियों का गट्ठर सिर पर रख के आश्रम में पहुँचते और वह सब खरीद ली जातीं। साग-सब्जी के बारे में आश्रम बहुत कुछ स्वावलम्बी था, लेकिन वही बात अन्न के बारे में नहीं कही जा सकती। आश्रम की सीधी-सादी

झोंपड़ियाँ बहुत कुछ स्वावलम्ब पर निर्भर थीं।

आश्रम की सफाई ने बड़े भाई को सबसे अधिक अपनी ओर आकृष्ट किया। मियाँ-बीवी दो महीने तक टट्टी साफ करते रहे, लेकिन उन्हें कभी घृणा नहीं मालूम हुई। टट्टी इस तरह से बनाई गई थी कि पाखाना अलग रहता, पेशाब अलग बरतन में जा गिरता और छूने का पानी भी गड्ड-मड्ड न हो पाता। बाहर मिट्टी रक्खी रहती। टट्टी-पेशाब के बरतनों को उठाकर दूर एक खोदी हुई खाई में डालकर ऊपर से मिट्टी चढ़ा दी जाती। बड़े भाई को ख्याल होता, ऐसा प्रबन्ध यदि सभी जगह होता, तो कैसा रहता ?

आश्रम में मूर्ति-पूजा, पेड़-पूजा नहीं थी, लेकिन बापू तो वहाँ खुद एक जीवित-जाग्रत मूर्ति थे। लोग उनके दर्शनों के लिए आते और उनका चरण छूकर अपने को कृतकृत्य समझते। बापू नियम बना सकते थे कि कोई मेरा चरण न छुए, लेकिन शायद वह इसे अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए एक साधन समझते थे, इसीलिए किसी को रोकते नहीं थे। लोग बापू के पीने के कुएँ से लोटों में पानी भरकर उसी तरह ले जाते थे, जैसे श्रद्धालु हिन्दू गंगाजल को ले जाते हैं।

बापू की दिनचर्या : बापू अपने समय के एक-एक क्षण का मूल्य चुका लेना चाहते थे, यह कहना पर्याप्त नहीं है। वह तो एक-एक क्षण का दूना मूल्य वसूल करते थे। इसीलिए एक साथ वह दो काम करते थे। शतावधानी और सहस्रावधानी की हम बातें सुनते हैं, जो एक समय सौ और हजार बातों को सुन सकते थे। हमारे नैयायिक इसे सर्वथा गलत कहते हैं। वह मन का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि मन एक समय में अनेक ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। उसकी गति अति तीव्र हो सकती है, और जिस तरह पीपल के सौ कोमल पत्तों को सूई से बेधते समय एक पत्ते से दूसरे पत्तों में चुभने के समय को अंकों में नहीं बतलाया जा सकता, पर समय उसमें लगता जरूर है; वैसे ही शतावधानता की बात यदि सच्ची है, तो उसका अर्थ इतना ही है कि बात की गति से मन की गति सौगुनी अधिक तेज है, इसलिए एक के बाद एक सौ बातें मन समझ लेता है। बापू द्विकार्यावधानी थे, एक समय में वह दो कामों को अच्छी तरह कर सकते थे। सुबह वह प्रार्थना में रहते। भारतीय तरुण अमीर भी जब पैर दबवाना आवश्यक समझते हैं, तो वृद्धों के बारे में कहना ही क्या ? भगवान की प्रार्थना में बैठे बापू के पैर को भक्त लोग दबाते रहते। प्रार्थना के अन्त में वह कुछ उपदेश देते। शायद यही समय अपवाद का था, जबकि वह एक समय में दो काम न करते होते। टट्टी में बैठते तो इसी समय कृष्णचन्द्र बापू के नाम आई सारी चिट्ठियों को बाहर से पढ़कर सुनाते। टट्टी से निकलकर मिट्टी से हाथ धोते समय वह बातें पूछते और चिट्ठियों का जवाब लिखवाते। नाश्ते के लिए कटोरे में दलिया आती, उसे खाते वह मेहमानों से मुलाकात करते। डेढ़ मील पर एक पत्थर गड़ा हुआ था, शाम-सबेरे दोनों वक्त बापू वहाँ तक टहलने के लिए जाते। दो तरुणियों के कन्धों पर उनका हाथ रहता। हमारे देश के पुराने ब्रह्मचर्य के विधाता इसे अक्षम्य दोष समझते, लेकिन वहाँ दोष की कोई बात नहीं थी। बापू को सहारे से चलने में सुभीता था। शायद वह कुछ कला के भी प्रेमी थे, यद्यपि कविता और चित्रकला की ओर खिंचते उन्हें कभी नहीं देखा गया। पर स्वच्छता और सौन्दर्य का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है, और उससे उनको अनुराग था। इसलिए वह यदि दो सुन्दरियों के कन्धों पर हाथ रखकर चलते, तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। हमारे पुराने सिद्धों ने तो लोगों की भावनाओं पर मुग्दर-प्रहार करते हुए सभी सदाचारों को दुराचार और सभी दुराचारों को सदाचार सिद्ध करने का प्रयत्न अपने जीवन से किया था। बापू भी अपने समय के महासिद्ध थे। यद्यपि वह ब्रह्मचर्य की पुरानी रूढ़ि से अपने को मुक्त नहीं कर सके, पर लोगों की कितनी ही पुरानी धारणाओं पर जबर्दस्त प्रहार करने से नहीं चूकते थे। जिस वक्त वह दो सुन्दरियों के कन्धों पर हाथ रक्खे पीछे-पीछे चलती अपनी शिष्य मण्डली के साथ टहलने के लिए निकलते, उस समय कितने ही मुलाकात करनेवाले भी उसमें शामिल रहते। वहीं उनसे चलते-चलते सवाल-जवाब कर लेते। पटेल, नेहरू, या और महत्त्वपूर्ण समस्याओं को लेकर आनेवाले पुरुषों को छोड़कर बाकी सबसे भेंट-मुलाकात सबेरे-शाम की इस तीन मील की चहलकदमी में हो जाती। लौटकर फिर विशेष मुलाकाती उनके पास कमरे में जाते। बापू के सामने मौन नहीं, सजीव चरखा रहता, और वह गम्भीर वार्तालाप में लगे रहते। स्नान का समय आता। बापू का स्नान आध घंटे से कम में

खतम नहीं होता था। वह प्राकृतिक चिकित्सा के समर्थक थे। आध घंटे तक गरम पानी में कटिस्नान करते। यही समय था जब आश्रम के झगड़ों और शिकायतों का वह फैसला करते।

नहा-धो लेने के बाद फिर अखबारों को सुनते। सभी अखबारों को वह कैसे पढ़ सकते थे। किन्हीं की सुर्खियाँ सुनाई जातीं, और किन्हीं की कटिंग। महादेवभाई देसाई 'हरिजन' के लिए लिखे लेख को ले आकर सुनाते, और बापू उसमें जरूरत होती, तो घटा-बढ़ा देते। स्वयं भी 'हरिजन' के लिए लेख लिखवाते।

खाना खाते समय मेहमान उनके पास बैठते, और वहाँ भी वह उनके प्रश्नों का जवाब देते। बापू की कमर से छोटी वाच नहीं, काफी बड़ी जेबघड़ी लटकती रहती थी। वह दिखलावे के लिए नहीं थी। उनके एक-एक मिनट का हिसाब इसी के जिम्मे था। बड़ी होने से उसकी सूइयाँ इतनी बड़ी थीं कि बिना चश्मे के देखा जा सकता था। बापू में एक यह भी बड़ी विचित्रता थी कि काम करते-करते जब शरीर शिथिल दिखलाई देने लगता, तो वह कह देते—अब मैं पन्द्रह मिनट सो जाऊँगा और ठीक पन्द्रह मिनट पर ही वह सोकर उठ जाते। बापू ने सोमवार को अपने मौन का दिन निश्चित किया था। कहावत है, "देखादेखी साधै जोग, छीजै काया बाढ़े रोग।" बापू के नकल करनेवाले के बारे में क्या पूछना है ? किसी-किसी ने तो बापू जैसा मुँह बनाने के लिए अपने दाँत भी तुड़वा लिया, और सोमवार के मौनियों की संख्या आज भी देश में काफी मिलेगी। यह किसलिए मौन रखते हैं, यह समझ में नहीं आता। किसी अनभीष्ट बात के सामने आने पर वह उबल पड़ते हैं, मुँह से अक्षर नहीं निकालते, लेकिन बाल भी नोंचते हैं, और गूँगों की तरह सारी चेष्टाएँ कर जाते हैं। बापू ने हफ्ते में एक दिन के इस मौन को इसलिए स्वीकार किया था कि जिन करने के कामों को वह निपटा नहीं पाते उन्हें वह इस दिन पूरा करते। इसी दिन वह लेख लिखते, अपने हृदय के विचारों को कागज पर उतारते, या और कोई बात सोचते। सोमवार के मौन से जब काम न चलता, तो कभी-कभी किसी और दिन भी वह मौन धारण कर लेते। मौन के समय उनके पास कोई बात करने के लिए नहीं जा सकता था।

बापू का व्यवहार बड़े भाई के साथ बहुत सहृदय और स्वाभाविक था। टहलकर आते, तो उनकी कोठरी पर जरूर आते। एक दिन पूछा—"बच्ची का नाम क्या है ?" बड़े भाई ने कहा—"माधुरी।"

"नहीं बड़े भाई, इसका नाम माधवी है।" तब से माधुरी माधवी बन गई।

माधुरी नौ महीने की हो चुकी थी, अब उसे अन्नप्राशन कराना था। छोटी-सी मंडली बुलाई गई, और 21 जुलाई को बापू ने अपने हाथ से माधवी को अन्नप्राशन कराया। बच्चों के साथ असाधारण प्रेम तो नहीं कह सकते, लेकिन स्नेह जरूर था। यही कारण था, जो वह माधवी को देखने रोज आते। भागीरथी को भी बापू से क्या संकोच हो सकता था ? एक दिन बाहर धूप में तकिया रक्खी हुई थी, जिसमें खून लगा हुआ था। बापू के पूछने पर भागीरथी ने कहा—"इनके मुँह से खून निकलता है।"

तुरंत बापू ने डॉ. दास को बुलवाया। डॉक्टर ने देखकर कहा कि कोई बीमारी नहीं है। फिर दूसरे डॉक्टर शंकरन को बुलवाया। उन्होंने देखकर बतलाया कि इनके दाँतों में बुरी तरह की पैरिया हो गई है। नागपुर तार गया। डॉ. बरेटो आये, कहा—"खतरनाक पैरिया है।" उसी दिन (4 जून) वह अपनी कार में बैठाकर नागपुर ले गये, और दाँतों के डॉक्टर महमूद के पास बड़े भाई को रख दिया। डॉक्टर ने कोकीन का इन्जेक्शन देकर बत्तीसों दाँत तोड़कर निकाल दिए। मुँह खोखला हो गया, और भीतर जख्म ही जख्म था। पंद्रह दिन बाद वहाँ से लौटे।

आश्रम में रहते समय आचार्य नरेन्द्रदेव वहाँ आकर रहे। वह दमे के चिर-रोगी थे। बुद्ध मुख्यतः विचारक थे; हाँ, कर्मठ विचारक। चिकित्सक नहीं थे, तो भी दुनिया के जिस दुःख को दूर करने के लिए उन्होंने घर-बार छोड़ा था, वह रोग के रूप में साकार हो उठता है, यह उन्हें मालूम था। इसीलिए उन्हें मजबूरन भैषज्यगुरु बन बहुत-सी दवाओं को बतलाना पड़ा था। बापू भी संसार के दुःख के विनाश करने में निरत एक जबर्दस्त विचारक थे, उनका भी चिकित्साशास्त्र के साथ छत्तीस का सम्बन्ध नहीं था। वह प्राकृतिक चिकित्सा के पक्षपाती थे, लेकिन मूढ़ के तौर पर नहीं। यह हमें मालूम ही है कि उन्होंने एलोपैथी के सिद्धहस्त डॉक्टरों की सेवाओं से भी लाभ उठाया था। उनकी प्राकृतिक-चिकित्सा जिसमें खान-पान का नियन्त्रण होता है, वह लाभदायक

नहीं है, यह कौन कह सकता है। आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी समझा कि आश्रम में रहकर बापू के विधान के अनुसार चिकित्सा कराने में शायद लाभ हो। वह वहाँ चार मास तक रहे। बापू ने मालिश के लाभ को बतलाते हुए बड़े भाई से कहा। वह 23 जनवरी को आचार्यजी से मिले, और चार मास तक मालिश करते रहे। इस समय आचार्यजी उन्हें समाजवाद की बातें बतलाते।

दाँत निकलवाकर बड़े भाई लाभ में नहीं रहे। अब वह किसी ठोस चीज, यहाँ तक कि उबले गाजर-मूली को खाने में असमर्थ थे और सिर्फ तरल चीज ही खा सकते थे, साग का रस पी सकते थे या दूध, लेकिन इतना अधिक दूध कहाँ से मिलता ? इसी समय नेहरूजी आये। नरेन्द्रदेवजी ने उनसे बड़े भाई की दिक्कत बतलाई। नेहरूजी बोले–"अहा, मैं तो भूल ही गया, यह क्या किया। दाँत क्यों तुड़वा लिये ! मेरे भी दो दाँत नकली हैं। एक दिन थूकते वक्त वह बाहर जा गिरे। बड़ी परेशानी में पड़ा। तुमने गलती की। बीवी-बच्चे कैसे हैं ? अच्छा, तो बड़े भाई, तुम काशी विद्यापीठ चले जाओ।"

अगस्त 1942 के महान् निर्णय का समय आ गया था। नेता लोग बम्बई जाने की तैयारी में थे। वह समझते थे 'भारत छोड़ो' का स्वर अंग्रेजों के कानों में मधुर नहीं मालूम होगा, और वह न जाने क्या कर बैठें। शायद आश्रम की भी स्थिति अनिश्चित हो जाय। इसलिए भी दोनों नेता बड़े भाई को काशी विद्यापीठ भेजना चाहते थे।

यही समय जवाहरलाल की इकलौती बेटी इंदिरा की शादी का था। स्विट्जरलैण्ड में एक साथ रहते इंदिरा और फीरोज़ गाँधी का परिचय प्रेम में बदल गया। तरुण-तरुणी के प्रेम कभी-कभी केवल क्षणिक भावुकता पर निर्भर होते हैं, इसे अधिक तजर्बेवाले वृद्धजन समझते हैं। जवाहरलाल, विजयलक्ष्मी पंडित और बापू भी इस ब्याह को पसंद नहीं करते थे। आनन्द भवनवाले जब असफल रहे, तो बापू ने इंदिरा को आश्रम में बुलाकर समझाया, लेकिन इंदिरा टस से मस नहीं हुईं। वह नहीं चाहती थीं कि जिसे एक वार प्रेम का वचन दे दिया, उसके हृदय को तोड़ा जाय। इसमें क्या संदेह है कि नेहरू का दामाद बनने के लिए भारत में एक से एक योग्य तरुण मिल सकते थे, लेकिन इंदिरा के गुरुजन ऐसे निष्ठुर नहीं थे कि उसकी भावनाओं का ख्याल न करते। जब वह अपनी बात पर दृढ़ रहीं, तो उन्होंने भी अनुमति दे दी और आनंद भवन में विवाह होने का निश्चय हुआ।

उस दिन बड़े भाई की बच्ची को देखकर नेहरू ने कहा–"लड़कियों का जन्म देना बड़ी कठिनाई मोल लेना है। इंदिरा भविष्य का ख्याल नहीं करती, और अपनी जिद्द किये जा रही है।"

खैर, विवाह निश्चित हो जाने पर बड़े भाई ने चाहा कि वह भी आनन्द भवन में जाकर ब्याह में शामिल हों। अनुमति माँगते समय बापू ने कहा–"बड़े भाई, वहाँ जाने में खर्च होगा। जो खर्च करना चाहते हो, उसे यहीं आश्रम में दे दो, और विवाह के लिए वर-वधू को आशीर्वाद भेज दो।"

बड़े भाई ने बापू की बात का अनुसरण किया।

बड़े भाई की विदाई का समय बहुत नजदीक आ गया था। वह छह महीने आश्रम में रहे थे। उन्होंने वहाँ की छोटी-बड़ी बातें और लोगों को नजदीक से अध्ययन किया था। सेवाग्राम आश्रम के पास ही उसी नाम का एक गाँव है। यह जमनालाल बजाज और एक और सज्जन की जमींदारी थी। गाँव के सुधारने की बापू ने बड़ी कोशिश की, लेकिन पुरानी कहावत सच्ची साबित हुई–"घर का जोगी जोगड़ा, आन गाँव का सिद्ध।" बापू जीवित रहते उस गाँव पर कोई प्रभाव नहीं डाल सके। वह चाहते थे कि गाँव साफ-सुथरा रहे, लेकिन गाँववाले पाखाना-पेशाब करने, कूड़ा फेंकने में अपनी सनातन परिपाटी छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। आश्रमवासी सप्ताह में एक दिन फावड़ा-टोकरी लेकर गाँव में पहुँचते। कूड़े-करकट को जमा करके एक ओर फेंकते, पाखाने को खोदकर दबा देते। गाँववाले बेपर्वाही से देखते मन में कहते–'अच्छा है, गाँधी के नौकर आकर सफाई कर जाते हैं।' बापू ने चरखा बँटवाया, लेकिन वह जलाने के काम आया। कपड़ा बुनने के लिए करघे लगवाये, वह भी अपने नाम पर रोते रहे। पाठशाला खोली कि लड़के-लड़की पढ़ेंगे, लेकिन माँ-बाप उसे निरी बेवकूफी समझते थे। वह परम स्वार्थी थे, उनके सुधरने की कोई आशा नहीं थी, यह कहना गलत है। उनका परम

स्वार्थीपन ही एक ऐसा साधन था, जिसके द्वारा उन्हें रास्ते पर लाया जा सकता था, लेकिन उसका इस्तेमाल करना गाँधीवाद की शक्ति से बाहर की बात थी।

शायद गाँव का सिर्फ एक ही परिवार था, जिसका बेटा और बहू आश्रम की कुछ सेवा करते थे, सो भी अपने घर पर रहकर नहीं। कुनू बुड्ढा सेवाग्राम ही नहीं, बल्कि आसपास के सैकड़ों-हजारों गाँवों में सबसे बूढ़ा था। उसकी आयु 120 वर्ष की थी। बड़े भाई की यह आदत-सी हो गई थी कि वह जिस किसी गाँव में जाते, वहाँ के सबसे बूढ़े आदमी के बारे में पूछते और उससे परिचय प्राप्त करते। इसी कारण कुनू बूढ़े से भी वह मिलते रहे। कुनू का लड़का और लड़की आश्रम के रसोईघर में काम करते थे—चमार को रसोई का काम देना बापू आवश्यक समझते थे। बेटे को मजूरी में तीन आना और बहू को नौ पैसे रोज मिलते थे। उस समय यही मजूरी नालवाड़ी में चमड़े और मदनबाड़ी में दस्तकारी के काम करनेवाले स्त्री-पुरुषों को भी मिला करती थी। बूढ़े कुनू ने अपने बचपन से सारे जीवन की बातें बतलाईं। वह बड़ा कठोर जीवन था। आज भी कठोरता दूर नहीं हुई है, लेकिन आज से वह कहीं अधिक असह्य था। गाँव के मालिक बराबर उससे बेगार लिया करते। कड़ी मशक्कत कराके पेट-भर खाना भी नहीं देते थे। कुनू ने एक के बाद एक तीन शादियाँ कीं। पहिली बीवियों की कोई संतान नहीं रही। तीसरी बीवी बूढ़ी अब भी जिन्दा थी। 80 वर्ष की उमर में कुनू ने इससे शादी की थी। इससे तीन बच्चे पैदा हुए, जिनमें से बड़ा यही था, जो अपनी बहू के साथ आश्रम की रसोई में काम करता था। कुनू की आज की झोंपड़ी शायद पहिले से बेहतर हो। तब वह झोंपड़ी कैसी रही होगी, जिसमें वह पैदा हुआ था। आज जिस झोंपड़ी में वह रह रहा था, वह जमीन से निकली ऊबड़-खाबड़ चट्टानों पर थी, जिससे एक फायदा था कि बरसातों में वहाँ पानी जमा नहीं होता था। झोंपड़ी खजूर के पत्तों का बड़ा-सा घोंसला है, जो वर्षा की सारी बूँदों को बाहर फेंकने की जरूरत नहीं समझता था। शायद इस बेमुरौवती के कारण हर साल पुरानी झोंपड़ी को तोड़कर नई झोंपड़ी बना ली जाती थी। बड़े भाई ने कुनू से उसके खाने-पीने के बारे में पूछा। उसने अपनी मिट्टी की कुण्डी दिखलाकर कहा—"इसे लेकर शाम-सबेरे गाँव में घूम जाता हूँ, दो-चार घर घूमने में पेट के लिए कुछ मिल जाता है। बहू बस पानी भर जाती है।" उसने यह भी बतलाया—"मुझे इस बात का सन्तोष है कि बहू-बेटे अपना पेट भर लेते हैं।" बूढ़े कुनू की बात से पता लगता है कि सेवाग्राम के रहनेवाले केवल परम स्वार्थी नहीं थे। ऐसा होता, तो कुनू इतने दिन जी कैसे सकता था ? मनुष्य परम स्वार्थी हो ही नहीं सकता।

एक बार माधवी को बुरी तरह की सूखी खाँसी होने लगी। टट्टी-पेशाब बन्द हो गया, बुखार आ गया। उसका चेहरा लाल था। माता-पिता चिन्तित हो गये। दुधमुँहे बच्चों को बालग्रह हुआ ही करते हैं, फिर मन में आशंका क्यों न पैदा होती ? 5 मई दोपहर के बाद का समय था। बच्ची को गोद में लेकर बड़े भाई डॉ. शंकरन के पास पहुँचे। वह नाराज होकर बोले—"इस समय क्यों आये ? यह अस्पताल का वक्त नहीं है।"

बड़े भाई ने कहा—"बीमारी जब वक्त की पाबन्दी करे, तब ना ? बच्ची की हालत बहुत खराब देखकर मुझे आना पड़ा।"

मालूम देता है, डॉ. शंकरन के ऊपर बापू के सेवाभाव की छींट भी नहीं पड़ी थी। उन्होंने बड़ी रुखाई से कहा—"ले जाओ, मैं नहीं देखता।"

बड़े भाई ने कहा—"अच्छा डॉक्टर साहब, बच्ची मर भी जायेगी, तो भी मैं इसे तुम्हारे जैसे डॉक्टर के पास नहीं लाऊँगा।"

बड़े भाई को बहुत घबराया देखकर एक आश्रमवासी ने कहा—"चरखा-संघ में एक गुजराती विद्यार्थी है, वह होमियोपैथी दवाई करता है। उनके पास जाइये।"

बड़े भाई माधवी को लेकर विद्यार्थी के पास गये। उसने बड़े ध्यान से बच्ची को देखा, और उससे भी अधिक मिठाई के साथ बर्ताव करते हुए उन्हें सान्त्वना दी। फिर छिपकली के अण्डों की तरह छोटी-छोटी सफेद दो गोलियाँ खिलाकर बोला—"दो घण्टे के बाद आप मेरे पास फिर आकर हालचाल कहें।" सचमुच, गोलियों का असर जादू की तरह हुआ। तुरन्त पेशाब हुई, चेहरे की सुर्खी हटी। दो घंटे से पहिले ही टट्टी भी आ गई।

खुश-खुश बड़े भाई विद्यार्थी-डॉक्टर के पास गये, और उसे सारी बातें बतलाईं। फिर दो गोली मिलीं, जिसे खाने पर खाँसी भी कम हो गई। अगले दिन दो गोलियाँ खा लेने पर बच्ची बिलकुल चंगी हो गई। माधवी बच गई। बड़े भाई डॉक्टर शंकरन की ड्योढ़ी पर जाने से भी बच गये।

अन्नप्राशन के लिए प्रार्थना करते वक्त बड़े भाई ने बापू से कहा था कि यह बड़ी विचित्र तरह से जेलखाने में बन्द कैदी बाप द्वारा गर्भ में आई। आनन्द भवन में पैदा हुई, अब अन्नप्राशन भी बापू के हाथ से होना चाहिए और बापू ने 30-40 आदमियों के समारोह में यह किया था, इसे हम बतला आये हैं।

अमेरिकन पत्रकार लुई फिशर एक सप्ताह के लिए सेवाग्राम आश्रम में आये थे। बापू ने उनसे बड़े भाई का जिक्र कर दिया था। फिशर ने आकर बड़े भाई से कहा कि मैं आपका वक्तव्य लेना चाहता हूँ। प्रतिबन्ध के बारे में कहने पर उन्होंने बापू से पूछा। बापू ने कहा–"तुम कैदी थोड़े ही हो, अवश्य वक्तव्य दो।" फिशर उनकी झोंपड़ी में वक्तव्य लेने आये। बड़े भाई ने कहा, "वक्तव्य देना मैं जानता नहीं, अच्छा हो यदि आप बातें पूछें और मैं उसका जवाब दूँ।" बातों के साथ फिशर ने यह भी पूछा–"क्या भारतीय सेना इस लड़ाई में अंग्रेजों की ओर से भाग लेगी ?"

"फौज तो अनुशासन की पाबन्द होती है, इसलिए हुकुम होने पर वह जरूर लड़ाई में भाग लेगी, किन्तु उसे अपने देश का ख्याल है। वह अपने मन से लड़ाई में शामिल नहीं होगी।"

फिशर ने कहा–"इस समय मिश्र में नौ भारतीय पलटनें पहुँच चुकी हैं, लड़ाई में तो वह शामिल हो रही हैं।"

"हमारे नेताओं की अनुमति के बिना ही पलटन वहाँ भेजी गई। यही तो हमारी गुलामी है। पर देश की पुकार होने पर वह अवश्य पेशावर-काण्ड को दुहरायेगी।"

फिशर–"यदि उसे राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिए कहा जायेगा, तो ?"

"वह कभी अपने भाइयों पर गोली नहीं चलायेगी। अंग्रेज उसे हमारे खिलाफ इस्तेमाल नहीं कर सकेंगे।"

फिशर ने इस वार्तालाप को अमेरिकन पत्रों में छपा दिया। अंग्रेजों ने उसकी कॉपियाँ भारत में नहीं आने दीं। उनको डर लगा कि कहीं इससे सेना पर बुरा प्रभाव न पड़े, लेकिन क्या भारतीय सेना में इस भाव को फैलाने के लिए वह रोक सके ? इसका पता उन्हें तब लगा, जब लड़ाई के बाद भी भारत को गुलाम बनाये रखने की उन्होंने कोशिश की, और भारतीय नौ-सैनिकों ने अपने जंगी जहाज के साथ विद्रोह कर दिया।

उस समय मुस्लिम लीग पाकिस्तान बनाये जाने का बड़े जोर-शोर से आन्दोलन कर रही थी। राजाजी ने देश के बँटवारे का समर्थन किया था। बापू इसके सख्त विरोधी थे। वह मुस्लिम लीग को हर प्रकार की रियायत देने के लिए तैयार थे, लेकिन देश का बँटवारा नहीं चाहते थे। चन्द दिनों के लिए बापू बनारस गये। बाबू शिवप्रसादजी ने बड़ी श्रद्धा से भारत के मानचित्र को ही मूर्ति मानकर भारतमाता-मन्दिर बनवाया था, जिसके उद्घाटन के लिए बापू वहाँ पहुँचे थे। लौटते वक्त वह नागपुर गये। जब वह आश्रम में आये, तो कार से उतारने के लिए बड़े भाई पहुँच गये। बापू उस समय कुछ उत्तेजित-से थे। उन्होंने कहा–"बड़े भाई, बहुत खुशकिस्मती है, जो मैं यहाँ आ गया। नागपुर में मेरे ऊपर इतने ढेले और जूते बरसे, जितने कि मैंने अपनी ज़िंदगी-भर में कभी नहीं देखे।"

बापू के ऊपर यह जूतों और ईंटों का बरसाना महाराष्ट्रियों के लिए लज्जा की बात थी। उससे भी कहीं बड़ी तथा अनन्तकाल के लिए कलंक की बात यह हुई, जो एक महाराष्ट्री ने देश की सनातन विभूति का अपने हाथों से अन्त किया। बापू को अपने लिए उसकी पर्वा नहीं हो सकती थी, लेकिन वह जानते थे कि देश की उमंगों के वह प्रतीक हैं, और अभी जिस काम का उन्होंने बीड़ा उठाया था, वह पूरा नहीं हुआ है। उस दिन शाम की प्रार्थना में भी बापू की समुद्र जैसी गम्भीरता चंचल हो उठी थी। उन्होंने उसी घटनाओं को लेकर कहा–"मेरा दिल कहता है कि जापान यहाँ आ ही जावे, और भारतीय नेताओं में से एक-एक को पाँती से खड़ा कर गोली मार दे। तब वह देश को गुमराह नहीं कर सकेंगे, और भारतीय जनता अपनी अकल से काम लेगी।"

राजाजी के पाकिस्तान-समर्थन की ओर ही उनका यह इशारा था। डर लग रहा था कि अब देश का बँटवारा होके रहेगा।

बड़े भाई के आश्रम में रहते समय 11 फरवरी (1942) को श्री जमनालाल बजाज का देहान्त हो गया। अपने व्यवसाय पर जरा भी आँच न लगाते जमनालालजी ने देश की बड़ी सेवा की थी। उन्हीं की श्रद्धाभक्ति के कारण बापू उनकी जमींदारी के गाँव सेवाग्राम में आ बसे थे। वह उनकी तन-मन-धन से सेवा करते थे। बापू का भी उनके और उनके परिवार पर बहुत स्नेह था। मृत्यु की खबर मिलते ही बापू चलने के लिए तैयार हुए! उन्होंने बड़े भाई से भी कहा–"आना चाहते हो, तो आओ।" वह भी बापू के साथ चल पड़े। बजाज के बड़े पुत्र कमलनयन उस समय वर्धा से बाहर थे, उनके आने तक दाह-क्रिया नहीं की गई।

अगले दिन दस बजे दाह-क्रिया का आयोजन हुआ। शोक के उपलक्ष्य में नालबाड़ी, मदनबाड़ी, गोशाला सभी के दरवाजे खोल दिये गये थे। बजाजबाड़ी से नातिदूर एक बड़ा हवनकुण्ड तैयार किया गया। मनों चन्दन की लकड़ी मँगाई गई, घी के कनस्तरों का ढेर लगा हुआ था। शव को उठाकर वहाँ पहुँचाया गया। साथ-साथ बहुत-से बच्चे भी थे। बजाजजी के हित-कुटुम्ब और सदल-बल बापू वहाँ आये। बड़े भाई भी उनके साथ थे। चिता पर शव रक्खा गया। ऊपर से चन्दन की लकड़ियों से ढाँक दिया गया। कनस्तरों से घी उड़ेला गया, फिर चिता में आग लगा दी गई। आग की ज्वाला सालों के सूखे चन्दन और घी की सहायता से बड़े जोर से भड़क उठी। जानकीदेवी अपने पति की चिर अनुगृहीता रहीं। ऐसा पति बिरली ही सेठानियों को मिला होगा। उनका दिल भर आया। उद्विग्न मन से उन्होंने गाँधीजी से प्रार्थना की–"बापू, अब ये तो चले गये, मुझे भी इजाजत दीजिये। मैं इनके साथ सती हो जाऊँगी।"

बापू ने बड़ी गम्भीरता के साथ कहा–"जरूर, आप सती हो सकती हैं।"

बड़े भाई पास में ही थे। उन्होंने देखा, जानकीजी का मुँह फक हो गया। बापू यही तो परीक्षा लेना चाहते थे। वह समझते थे कि मुझसे 'नहीं' कराने के लिए ही पूछा गया। इसमें शक नहीं, यदि जानकीदेवी का पैर आग की तरफ बढ़ता, तो बापू तुरन्त पकड़ लेते, लेकिन उस समय वह दूसरी बात देखना चाहते थे। जब उन्हें मालूम हो गया कि बात नकली थी, तो उन्होंने बड़े स्नेह से कहा–"बेटी, यह अग्नि तो हमारी जलाई हुई है। यदि सती होकर जलना है, तो अपने भीतर दिव्य अग्नि पैदा करनी चाहिए। तुम इसमें गिरकर जलोगी, तो पुलिस आयेगी, हम भी गिरफ्तार होंगे। तुम्हारे सारे हित-मित्र पकड़े जायेंगे। ऐसी अग्नि में जलना सिर्फ आत्महत्या है, जो बहुत बुरा है।"

जानकीदेवी या कोई भी दिव्य अग्नि क्या पैदा कर सकता था! वह चुप रहीं।

बापू ने फिर कहा–"दिव्य-अग्नि ऐसे ही भभक नहीं उठती। न उसका यह रूप होता, न उसमें इस तरह जलना पड़ता। तुम्हारे पति अब इस संसार में नहीं रहे। उनकी कोई अपूर्ण इच्छा भी हो सकती है, जिसे पूर्ण करने का भार अब तुम्हें लेना है।"

जानकीदेवी का सिला मुँह अब खुला, और उन्होंने कुछ उत्साह के साथ कहा–"उनकी कौन-सी इच्छा या काम अपूर्ण रह गये हैं, बापू, बतलाइये, मैं उसे पूरा करूँगी।"

बापू ने कहा–"जमनालालजी ने गोसेवा मण्डल खोला था, उसका भार तुम्हें लेना है। उसे अपने कंधों पर उठाओ, और मनसा-वाचा-कर्मणा उस काम को पूरा करने का वचन दो।"

"मैं वचन देती हूँ, मैं उस काम को करूँगी।"

बापू ने वहीं चिता के सामने ही जमनालालजी की जगह पर जानकीदेवी को गोसेवा मण्डल का प्रधान घोषित कर दिया, और फिर जानकीदेवी से कहा–"इस काम के लिए धन की आवश्यकता होती है। तुम मन-वचन-कर्म से अब प्रतिज्ञाबद्ध हो। बताओ, तुम्हारे पास कितना धन है?"

जानकीदेवी के पास दो-ढाई लाख की सम्पत्ति थी। उसे उन्होंने बतला दिया। बापू ने वहीं उसे संकल्प करवाया : अब सम्पत्ति गोसेवा मण्डल की है।

बापू के इस काम से उन लोगों को प्रसन्नता कैसे हो सकती थी, जो समझते थे कि जानकीदेवी की

निजी सम्पत्ति भी अन्त में हमारे काम आयेगी, लेकिन जानकीदेवी ने बिना जरा भी हिचकिचाहट के उस दिन सर्वस्व दान किया, और इसके लिए उन्हें वड़ी प्रसन्नता थी। शेष जीवन के लिए भी एक बड़ा काम मिल गया था, जिसका सम्बन्ध उनके प्रिय पति से था, यह कम हर्ष की बात नहीं थी।

जानकीदेवी के सीधे-सादेपन तथा सौहार्द को नजदीक से देखने का बड़े भाई को मौका मिला था। एक बार गाँधीजी के संकेत पर जमनालालजी बड़े भाई को भागीरथीजी के साथ अपने घर ले गये। उनके यहाँ अम्बालाल साराभाई का-सा पश्चिमी ढंग का राजसी ठाट नहीं था। वहाँ चारों ओर स्वदेशीपन दिखाई देता था। केला, दूध, दलिया और दूसरे प्रकार के भोजनों का सुन्दर प्रबन्ध था। बड़े भाई खूब खाते और खूब दण्ड-बैठक करते। एक दिन दोपहर के बाद के नाश्ते के समय जानकीदेवी चरखा चला रही थीं। उन्होंने पूछा—"बड़े भाई, तुम चरखा चलाते हो ?"

बड़े भाई ने कहा—"साथ में चरखे की पेटी लिये तो नहीं चलता, पर आश्रम में रहते समय चरखा जरूर चलाता हूँ।"

इसी समय वड़े भाई के मन में कुछ और विचार पैदा हुए और उन्होंने पूछ दिया—"बहिन, सुनते हैं, बम्बई में बजाज की कपड़े की मिल है, जिसके लिए उनकी जमींदारी से और बाहर से भी कपास खरीदी जाती है ?"

"हाँ, मिल है।"

"तो मुझे आप यह बतावें कि आपके लिए चरखा सच्चा है या मिल ? यदि मिल, तो चरखे का ढोंग क्यों ?"

बड़े भाई ने सुनी-सुनाई एक कहानी कही—"राजा जनक को एक बार स्वप्न हुआ। वह एक हँड़िया ले भीख माँग रहे थे। जाते-जाते एक नाली में पैर पड़ा और वह गिर गये। भीख का बरतन वहीं चूर-चूर हो गया। देह में चोट भी आई। भिखारी जनक रोने लगा। इसी समय नींद खुल गई। उसका मन अब भी भयभीत था। पर उसने देखा कि मैं तो राजभवन में हंसतूल शैया पर पड़ा हूँ। उसने ज्ञानियों को बुलवाकर पूछा—'यह सच है कि वह सच ?' इसका सच्चा जवाब अष्टावक्र ने दिया। उसी तरह अष्टावक्र हो बहिन, तुम भी मुझे जवाब दो।"

जानकीदेवी जरा भी खिन्न नहीं हुईं। उन्होंने साधारण तौर से हँसकर कहा—"बापू की सारी बातों का पालन करना हमारी शक्ति से बाहर है। हम कारबार कैसे छोड़ दें। हमसे जो कुछ हो सकता है, उसे करते हैं।"

जानकीदेवी की सादगी और मधुर बर्ताव का बड़े भाई पर बहुत प्रभाव पड़ा था। वह बात करने में किसी का लिहाज नहीं रखते, जिसके कारण एकाएक उनसे मिलनेवाला आदमी उन्हें रूखा या उजड्ड कह सकता है। जानकीदेवी का आतिथ्य ग्रहण करते समय ऐसे प्रकरण कई बार आये थे। एक बार उन्होंने कहा—"बहिन, दुनिया से दुःख और गरीबी दूर करने का एक ही रास्ता है, वह है साम्यवाद। आप लोग भी क्यों नहीं कम्युनिज़्म मानते ?"

जानकीदेवी ने हँसकर कहा—"हमारे बापू अपने को कम्युनिस्ट कहते हैं। उनके अनुचर हम लोग भी कम्युनिस्ट हैं।"

सेवाग्राम में आश्रम बन जाने के बाद देश के कोने-कोने से लोग बापू के दर्शन और सत्संग के लिए आते थे। बापू की महिमा को राजाओं ने नहीं समझा, लेकिन सेठ उनके बड़े पारखी थे, और हर ज़गह उनके स्वागत-सत्कार के लिए तैयार रहते। दिल्ली में सेठ बिड़ला के भवन में ही आततायी ने बापू को गोली मारी। बिड़ला-परिवार बापू के प्रति अपनी भक्ति दिखलाने के किसी अवसर से चूकता नहीं था। दिल्ली हो या बम्बई या और भी कोई शहर, जहाँ पर कोई भव्य बिड़ला-निवास हो, वहाँ बापू उसी में ठहरते थे। यही नहीं, अगर बिड़लों की चली होती, तो सेवाग्राम में भी उन्होंने दस-बीस लाख लगाकर विशाल आश्रम बनवा दिया होता। लेकिन जिस आश्रम का वह स्वप्न देख रहे थे, वह बिड़लों के रुपयों से नहीं खड़ा हो सकता था। बापू झोंपड़ियों में रहना चाहते थे। सेठ बिड़ला ने वहाँ अपने लिए एक अच्छा मकान बनवा दिया, जो बापू से मिलनेवाले

देशी-विदेशी सम्भ्रांत मेहमानों के भी काम आता था। एक बार सेठ घनश्यामदास बिड़ला स्वास्थ्य-सुधार के खयाल से वहाँ महीने-भर से अधिक रहे। बापू ने बड़े भाई का कुछ परिचय करा दिया था। सेठजी ने देखा कि यह आदमी इस उमर में भी कितना स्वस्थ और तगड़ा है। उन्होंने पूछा—"बड़े भाई, बापू भी आपको बड़ा भाई कहते हैं। यह बतलाइए, आप इतने स्वस्थ क्यों हैं ?"

"व्यायाम करता हूँ, रोज सबेरे घूमने जाता हूँ।"

घनश्यामदासजी ने कहा—"हम भी आपके साथ घूमने जाना चाहते हैं।"

"मैं तो चार बजे रात को जाता हूँ।"

"आप मुझे भी ले लिया करें।"

"लेकिन, आपके बँगले में कुत्ते हैं, वह मुझे काट लेंगे। अच्छा है, घड़ी में अलार्म लगा लें और चार बजे बाहर आ जायें। मैं सड़क पर मौजूद मिलूँगा।"

यह निश्चय दोनों ओर से मान्य हुआ। गर्मियों के दिन थे, तो भी चार बजे अभी काफी अँधेरा रहता था। गाँधी-पत्थर अर्थात डेढ़ मील तक जाने और फिर उतना ही लौटकर आने की बात रक्खी गई थी। प्रतिदिन तीन मील की यात्रा महीने-भर होती रही। वह चुपचाप थोड़े ही हो सकती थी। बिड़लाजी ने बड़े भाई के घर-गाँव की बात पूछी। जीवन की कितनी ही घटनाएँ भी बड़े भाई को बतलानी पड़ीं। घनश्यामजी ने उनकी बड़ी तारीफ की—"आपने बहुत बड़ा काम किया है। आपका बहुत बड़ा नाम है। आदर्श पुरुष हैं। एक जीवन में जितना काम किया जा सकता है, वह आप कर चुके हैं। आपके कामों को कोई नहीं भुला सकता, न आपको ही। पचास के करीब हो गये हैं, अब आपके विश्राम का समय है। आराम से रहने के लिए आपका इंतिजाम हो जाना कोई मुश्किल नहीं है। गर्मियों में ऐसी जगह रह सकते हैं, जहाँ पहाड़ के आदमी को तकलीफ नहीं होती, और जाड़ों में भी अच्छे मकान में रह सकते हैं।"

यह कोई एक दिन के वार्तालाप का अर्थ नहीं है। कितने ही दिनों तक वह बिड़लाजी से ऐसी बातें सुनते रहे। वह अपने विचारों को भी छिपाना नहीं चाहते थे। सुखपूर्वक शेष जीवन को अच्छी जगह बिताने के बारे में बड़े भाई ने जवाब दिया—"यह ठीक है कि मैं गर्मियों में मसूरी और जाड़ों में दिल्ली में आराम से रह सकता हूँ। हमारे देश के धनी-मानियों को ऐसा प्रबन्ध करना कठिन नहीं है। पर, जब मेरे परिवार के लोग मुझसे मिलने आयेंगे और मैं और मेरी बीवी गद्दीदार कुर्सी पर आराम से बैठे रहेंगे, उस समय उनके लिए क्या होगा ?"

"उनके लिए भी कुर्सी और ठहरने का इंतिजाम हो सकता है। आपके परिवार में कितने लोग हैं ?"

"मेरा परिवार है, सभी मेरे भाईबन्द हैं। वह मेरे पास आयेंगे।"

सेठ को मालूम हो गया कि यह कम्युनिस्टों-सी बात कर रहा है। उन्होंने कई बार बड़े भाई को शिक्षा देनी चाही, बल्कि कहना चाहिए कि लम्बी-लम्बी स्पीचें दीं कि आपको बापू के विचार के अनुसार रहना चाहिए, उन्हीं का रास्ता सबसे अच्छा है।

दो-चार घंटे की बात हो, तो वह लक्षणा-व्यंजना से भी की जा सकती थी, किन्तु यहाँ तो वह महीने भर चलती रही। सेठ को मालूम हो गया कि "सूरदास की काली कमलिया चढ़े न दूजो रंग।" लेकिन वह यह नहीं चाहते थे कि बड़े भाई की आस्था और विश्वास अपने विचारों की सफलता पर अटल रहे। उन्होंने एक दिन कहा—"बड़े भाई, तुम्हारी झंझा को रोकने के लिए हमारे पास एक बहुत बड़ा बाँध है। वह बाँध हमारा बाल भी बाँका नहीं होने देगा।"

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सेठ का इशारा बापू की तरफ था। सभी सेठों की तरह वह समझते थे कि कम्युनिज़्म के ब्रह्मास्त्र के सामने हम बापू के ही पीछे रहकर बच सकते हैं। उन्होंने बापू को उनके जीते-जी इसी तरह इस्तेमाल किया, और अब बापू के नाम और उनके चेलों को भी अपना हथियार बना रहे हैं।

कस्तूरबा—बापू की धर्मपत्नी—वस्तुतः आश्रम की अधिष्ठात्री देवी थीं, जिनको किसी का स्नेह और सहारा नहीं मिला, उसको भी बा की दया से वंचित होने का अवसर नहीं था। भागीरथी देवी कड़े स्वभाव की स्त्री

हैं। बड़े भाई को कानी उँगली पर नचाने की कोशिश करतीं लेकिन बड़े भाई भी मोम के नहीं थे। 14 मार्च 1942 को वह माधवी के लिए दूध लेने गईं। कृष्णचन्द्र ने कहा–"अब सिर्फ बीमारों-भर के लिए ही दूध बच रहा है, तुम्हें दूध नहीं मिलेगा।" उसी समय एक यूरोपियन महिला कुछ दिनों के लिए आश्रम की मेहमान थीं। उसके पास एक कुत्ता था, जिसके लिए रोज बाजार से आध सेर मांस और आश्रम से दूध दिया जाता है। जिस समय कृष्णचन्द्र ने माधवी के लिए दूध देने से इन्कार किया, उसी समय मेम के कुत्ते के लिए उन्होंने दूध दिया। भागीरथी चण्डी बन गईं, और उन्होंने रोष के साथ कहा–"तुमने मेरी लड़की को कुत्ते से भी बदतर समझा, जो उसके लिए दूध है और इसके लिए नहीं ?"

भागीरथी की जोर की आवाज सुनकर बा दौड़ी-दौड़ी आईं और बोलीं–"क्या है भागीरथी ?" भागीरथी आँसुओं को रोक नहीं सकीं, और उन्होंने बा से सारी बातें बतला दीं। बा ने कृष्णचन्द्र को फटकारा, और दूध दिलवाकर ही सन्तोप नहीं किया, बल्कि सीधे बापू के पास गईं–"यह क्या बात है कि कुत्ते को तो दूध मिले, और बच्चे को नहीं।"

बापू ने कृष्णचन्द्र को बुलाकर समझाया–ऐसा नहीं करना चाहिए।

बा ने भागीरथी से कह दिया–इसके पास न जाना। कोई बात हो, तो मेरे पास आना। उस दिन से भागीरथी को माँ मिल गई। इसमें शक नहीं, बा और भी कितनी ही भागीरथियों की माँ थीं। किसी को दुखी देखना वह सहन नहीं कर सकती थीं। आश्रम के लोग उन्हें बापू की सी. आई. डी. या आश्रम का थानेदार समझते थे। उनके डर के मारे कोई अन्याय करने की हिम्मत नहीं करता था। बापू के पाखाने को साफ करना बा ने अपने ऊपर ले रक्खा था। वह हर तरह से उनकी सेवा करती थीं। बा के मरने पर बापू को जो महान दुःख हुआ था, वह अकारण नहीं था।

बापू अपने आश्रमवासियों को शिवजी की बारात कहा करते थे, यह केवल मजाकिया बात नहीं थी। वहाँ हर तरह की मूर्तियाँ थीं। कुछ आकर्षक, कुछ विकर्षक और कुछ मिट्टी के लोंदें।

प्रोफेसर भनशाली–सेवाग्राम के सन्त पुरुषों में यह एक थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा विलायत में हुई थी। किसी कॉलेज में प्रोफेसर थे, पर अब बापू के आश्रम में रह रहे थे। वह छोटे-छोटे बच्चों को पढ़ाने के काम को भार नहीं, प्रेम के वश होकर करते थे। उनके पढ़ाने का ढंग इतना सुन्दर था कि बच्चे उनको छोड़ना नहीं चाहते थे। वह उन्हें कहानियाँ सुनाते, हँसते-हँसते बच्चे लोट-पोट हो जाते। जब कोई लड़का न आता, तो भनशालीजी उसके घर पर पहुँच जाते। उन्होंने भागीरथीजी को भी कहा–"राणीजी, तुम क्यों नहीं पढ़ने आतीं ?" राणीजी समझती थीं कि बच्ची का काम और आश्रम का काम मेरे लिए पर्याप्त है। वह बच्चों को पढ़ाते रहते, और उनके सामने सलगम, गाजर आदि की टोकरी रहती। वह बिना उबले ही फलों को खाते थे। पढ़ा रहे हैं, और बीच-वीच में गाजर निकालकर कट्-कट् खा रहे हैं। फलों के अतिरिक्त उन्हें हर रोज सेर-दो सेर दूध-दही मिल जाता था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह भोजन शरीर-पोषण के लिए अपर्याप्त नहीं था, और स्वाद तो वहुत कुछ अभ्यास की बात है। एक और भी उनमें विचित्रता थी कि वह निद्राजित होने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध थे। दिन-भर वह पढ़ाते या दूसरा काम करते बिता देते थे। रात को नींद अचानक हमला न बोल दे, इसलिए वह रुई धुनने लगते, या रात-रात चक्की पीसते। मन-मन भर आटा पीसकर रख देते। लेकिन, निद्रा को इस तरह परास्त थोड़े ही किया जा सकता था। दो-चार दिन की प्रतीक्षा के बाद वह एकाएक आकर दबोचती। भनशालीजी खड़े-खड़े गिर पड़ते। उस वक्त उन्हें उठाना मना था। वह वहीं गिरी हुई जगह पर एक-दो दिन तक पड़े कई दिनों की नींद की कसर पूरी करते। उनकी नाक में कीड़े-चींटियाँ घुस जातीं, लेकिन कुम्भकर्ण की तरह कोई खबर न होती। वह बड़े गम्भीर प्रकृति के पुरुष थे, हँसना तो एक तरह से जानते नहीं थे। बापू उनसे मजाक करते, तो वह चुपचाप सुन लेते। एक दिन किसी ने उन्हें उत्तेजित कर दिया, और उनके मुँह से कुछ ऐसे शब्द निकल गये, जिनको भनशालीजी अनुचित समझते थे। फिर क्या था, उन्हें भारी पश्चात्ताप हुआ। डोरा डालकर सूई से अपने दोनों ओठों को उन्होंने सी दिया। चार-पाँच टाँके थे। वह टाँके कपड़े में नहीं पड़े, ओठों से खून बहने लगा और उनका सारा कपड़ा रंग गया। हाँ, मुँह ने क्यों

ऐसे अनुचित शब्द अपने भीतर से निकाले, इसे दण्ड मिलना चाहिए। कोई कहेगा—उचित-अनुचित का देखना ओठों या मुँह का काम नहीं, उसकी जिम्मेवारी तो मन को है। भनशालीजी अनपढ़-गँवार नहीं थे, वह भी इसे जानते थे। उस भूमिका में पहुँचकर वह कहते—ओठों के सिलने का दुःख भी तो मन को ही होगा, और इस प्रकार उसे ही दण्ड मिल रहा है। कोई दौड़ा-दौड़ा बापूजी के पास गया। वह भनशालीजी के पास पहुँचे। कैंची से काटकर ओठ की सिलाई तोड़ी गई, घाव को अच्छा होने में कुछ समय लगा।

आश्रम में एक मद्रासी तरुण था, जिसे मिर्गी आया करती थी। अचानक ही जब दौरा पड़ता, तो वह कटे पेड़ की तरह गिर पड़ता। कितनी ही देर तक उसके हाथ-पैर काँपते रहते, मुँह से झाग निकलती। फिर थोड़ी देर में प्रकृतिस्थ हो जाता, और चरखा कातने या किसी दूसरे काम में लग जाता। वह नीम की पत्तियाँ खाया करता, बापू की बतलाई विधि से प्राकृतिक चिकित्सा करता। डॉक्टर भी आकर देखा करता। पर, बड़े भाई के वहाँ रहते समय तक उसको अपने रोग से मुक्ति नहीं मिली।

सच्चिदानन्द स्वामी आश्रम के ब्रह्मज्ञानी थे। वह अस्पताल के पीछे बाहर की ओर एक कोने में रहा करते थे। बैठने-लेटने के लिए उनका मिट्टी का चबूतरा था। कोढ़ के कारण उनके हाथ-पैर की अँगुलियाँ गिर गई थीं, नाक भी गल गई थी। हाथ-पैर को सफेद कपड़े से बाँधकर रखते। उनके शरीर पर खादी का सफेद कुर्ता रहता। पहिले लोग उनके पास नहीं जाते थे। बापू स्वयं जाकर उनके घाव को अपने हाथ से धोते, पट्टी बाँधते। बापू के जीवन की यह भी एक अद्भुत झलक थी। हर रोज शाम-सबेरे जब घूमकर लौटते, तो बापू सच्चिदानन्द स्वामी के पास जरूर जाते। वह बहुत सुशिक्षित थे, शास्त्रों को भी पढ़ा था, और अंग्रेजी के भी विद्वान थे। बापू दस-पन्द्रह मिनट जो उनसे बात करते थे, इसके कारण उस कोढ़ी पुरुष को कितना आनन्द होता होगा ? बड़े भाई को उनकी टट्टी और कुटिया के साफ करने का काम मिला था। वह दोनों वक्त वहाँ जाते। आश्रम की सफाई ही इसका कारण थी, जो कि वहाँ मक्खियाँ नहीं भिनभिनाती थीं। स्वामी के पास पुस्तकें थीं, वह उन्हें पढ़ते रहते थे।

एक दिन अँधेरा हो गया था, जबकि बिच्छू ने बड़े भाई के पैर में काट खाया। बत्ती की रोशनी में उन्होंने देखा कि लाल-लाल बड़ा बिच्छू काम करके भागा जा रहा है। एकदम उठकर उन्होंने उसे मार दिया। शिवजी की बारात चिल्ला उठी, कोई कहता—"तुम आदमी नहीं हो", दूसरा कहता—"तुम जानवर हो। बेचारे प्राणी को मार डाला।" बड़े भाई कैसे समझ सकते थे कि वह निरीह प्राणी है। वह उसी कोठरी में रहे, कल वह माधवी को डंक मार सकता है, या किसी दूसरे को। उसका जीवित रहना दूसरों के लिए अनिष्टकर हो सकता है। शिवजी की बारात शिकायत लेकर बापू के पास पहुँची—"बापू, अनर्थ हो गया। बड़ा भाई तो आश्रम के हरेक नियम को पैरों से रौंदना चाहता है। इसने बिच्छू मार दिया।"

बापू ने हँसते हुए कहा—"बिच्छू को लोग मारा ही करते हैं, यह आश्रम की सभी बातों को नहीं जानते। बड़े भाई को समझाइए।" आश्रम ऐसी जगह था, जहाँ बिच्छू और साँप अक्सर निकला करते थे। लोग एक बड़े चिमटे से उन्हें पकड़कर घड़े में डाल देते, फिर कहीं दूर छोड़ आते। धर्मात्मा लोग थे, प्राणि मात्र के ऊपर अनुकम्पा करना कर्तव्य समझते थे।

देव सुमन से भेंट

"आश्रम में रहते ही एक दिन अचानक देव सुमन से मुलाकात हो गई।

जून का महीना था। सुमन अचानक सेवाग्राम, वर्धा में दिखाई दिये। मेरे लिए एक अनुपम भेंट थी, क्योंकि मैं वर्षों से गढ़वाल से बिछुड़ा हुआ था और हूँ। एक गढ़वाल के अनुभवी कार्यशील नवयुवक से भेंट हो जाना मेरे लिए कम खुशी की बात न थी। पूछा—'बन्धु ! सेवाग्राम-यात्रा का कारण ?' जवाब मिला—'एक तो सेवाग्राम संसार का राजनीतिक तीर्थस्थान है, पूज्य बापू के दर्शन, दूसरे हम गढ़वालियों के आप जैसे एक बूढ़े सैनिक से भेंट करना मेरे लिए सौभाग्य की बात है। आपसे मिलने की इच्छा तो बहुत दिनों से थी, मगर मेरी आर्थिक स्थिति मेरे लिए बाधक थी। अबकी बार दिल्ली के कुछ मित्रों ने मदद की तब जाकर मैं आपके

पास आ सका। मैं हिमालय-राज्य-प्रजामण्डल का प्रधान हूँ। इसी के सिलसिले में मेरी इच्छा है कि मैं पूज्य बापू से भी भेंट करके गढ़वाल-राज्य-प्रजा-परिषद् के लिए आशीर्वाद ले लूँ।'

मैंने सुमन को पूज्य महात्मा गाँधी के पास ले जाकर परिचय कराया। सुमन और बापूजी की 15 मिनट तक बातें हुईं। बातचीत समाप्त हो जाने के बाद वे प्रफुल्लित होकर मेरी झोंपड़ी में आये। बोले–'जो मेरी इच्छा थी, आज बापू ने पूरी कर दी क्योंकि बापू ने गढ़वाल के विषय में जो मेरी तजवीज थी, वह मंजूर कर ली और आशीर्वाद दिया कि मैं सत्य और अहिंसा के द्वारा टिहरी-राज्य में प्रजा की सेवा करूँ। मेरे लिए जीवन-मरण का सवाल है, क्योंकि टिहरी की जनता बेहद दुखी है।'

मैंने श्री देवसुमन से गढ़वाल के गंगावार, गंगापार की राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक विषयों पर बहुत-सी बातें पूछीं। उन्होंने गढ़वाल के विषय में मुझको अच्छी तरह अवगत कराया। उनको गढ़वाल की जनता से अपार प्रेम था। मुझे उन्होंने अपनी वाक्-शक्ति और तर्क-वितर्कों से प्रभावित किया था। वह ऐसे ही असाधारण प्रतिभाशाली युवक थे।

श्री देव सुमन ने मुझसे पूछा–'आपने गढ़वाल के लिए क्या सोचा है ? हम गढ़वाली आपसे बहुत आशा रखते हैं।' मैंने जवाब दिया–'प्रिय बन्धु ! मन के अथाह सागर में जो बुदबुदे उठते हैं, वे सब उसी सागर में विलीन हो जाते हैं। हाँ, मनुष्य अथाह सागर के पार जाने के लिए मन-गढंत पुल बाँधा करता है। उसी प्रकार मैं भी सोचा करता हूँ। क्या मेरी बातों को, जो मैं गढ़वाल के बारे में सोचता हूँ, आप और गढ़वाल की जनता मंजूर करेंगे ?'

'उचित होगी तो क्यों नहीं मंजूर करेंगे।' "

इस पर बड़े भाई ने अपने सपने को कहा–"मैं तो स्वतंत्र भारत में स्वतन्त्र गढ़वाल की कल्पना करता हूँ। जैसे कि भारत कितने ही स्वतन्त्र संघों का एक महासंघ होगा। उसी महासंघ के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र गढ़वाल भी। मौजूदा गढ़वाल दो भागों में विभाजित है, जो कि हमारे लिए एक महाकलंक है। उस वक्त हम 10 लाख गढ़वालियों का एक ही संघ हो। हाँ, भौगोलिक दृष्टि से गंगावार और गंगापार का पर्यायवाची नाम रहे। आजकल हम दो भागों में बँटे हुए हैं। जैसे छह लाख ब्रिटिश गढ़वाल की और चार लाख टिहरी गढ़वाल की जन-गणना है। उस समय स्वतन्त्र भारत में कोई राजा, कोई जमींदार, या पूँजीपति नहीं रहेगा। समाज श्रेणी-विहीन हो जायेगा।

" आज जिस जमीन के ऊपर हम दस लाख गढ़वाली भूख और महामारी के शिकार हो रहे हैं, उस समय इसी जमीन में हमारी एक करोड़ से भी ज्यादा गढ़वाली सन्तान अच्छी तरह सुख और स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन बितायेगी। हमारी गढ़भूमि धन-सम्पन्न है। हमारी भावी सन्तानें उसका उपभोग करेंगी।"

" हमारे गढ़वाल में ताँबा-लोहे की खानें हैं। नाना प्रकार की जड़ी-बूटियाँ, औषधियाँ हैं। पत्थर, लकड़ी है, कागज बनाने की सामग्री मधु, शिलाजीत, ईंगुर, फूल और फलों से जंगल सम्पन्न हैं। इससे भी बड़ी और महत्त्व की चीज बहती हुई गंगा की धारा है, जिससे हम करोड़ों किलोवाट बिजली पैदा करके घर-घर पहुँचा सकेंगे। हमारा गढ़वाल औद्योगिक प्रदेश हो जायेगा। हम समय और शक्ति का सदुपयोग करेंगे।

" हमें स्वतन्त्र भारत में जनतान्त्रिक गढ़वाल बनाने का मौका मिलेगा। हम 10 लाख गढ़वालियों की आर्थिक समस्या, संस्कृति, भाषा भारत के 660 जिलों से भिन्न है।

" आज के टिहरी गढ़वाल और ब्रिटिश गढ़वाल, अपर-गढ़वाल और लोअर-गढ़वाल, ठाकुर और ब्राह्मण, डोम और विष्ट, खैकर और हिस्सेदार, राजा और प्रजा, नहीं रहेंगे लेकिन, हमको उस समय की इंतिजारी में बैठ नहीं रहना होगा। हमें उस समय को लाने के लिए महान से महान प्रयत्न करने होंगे। जनता के बीच जाकर उनके दुःखों का अध्ययन करके, उन्हीं को सामने रखकर उनको दूर करने का प्रयास करना होगा। जन-संगठन के द्वारा शक्ति प्राप्त करना, जनता में राजनीतिक जागृति लाना। भूख, महामारी, हर प्रकार के आतंकों के समय उनकी सहायता करके उनमें विश्वास प्राप्त करना होगा। आज संसार में ऐतिहासिक परिवर्तन होने जा रहा है। हमको भी इस ऐतिहासिक निर्माण में सक्रिय भाग लेना पड़ेगा। हमारी आजादी भी संसार की

आजादी में निहित है, इसलिए हमें आपसी छोटे-छोटे झगड़ों को छोड़ देना चाहिए। वैसे तो डोला-पालकी का सवाल भी गौण सवाल नहीं है। उसमें भी नागरिक अधिकार और सामाजिक स्वतन्त्रता की माँग मौजूद है। मगर इस झगड़े से आम डोम जाति का उपकार हो सकेगा। शब्दों में चाहे आर्य कहो या हरिजन, अछूत कहो या आदिवासी, या डोम; उनके लिए अलग मन्दिर बना दो, अलग कुआँ खोद दो या थोड़ी देर के लिए उनके हाथ का बनाया लड्डू भी खा लो, इन सबसे उनका असली उपकार नहीं हो पायेगा। इससे निस्तार तभी होगा, जबकि उनकी आर्थिक समस्याएँ हल की जायें। इसके लिए निम्न बातों पर ध्यान देना होगा–

1. जमींदारी-प्रथा खतम कर बंजर और जंगलों की जमीन उनको देनी चाहिए;
2. नौकरियों में अनुपात के मुताबिक उनको जगह मिले;
3. उनकी पढ़ाई के लिए शिक्षा निःशुल्क हो;
4. असेम्बलियों में और काउन्सिलों में उनके लिए अनुपात के मुताबिक सीटें दी जायँ;
5. उद्योगों में उनको प्रथम स्थान मिले।

सही और सच्चा अछूतोद्धार का रास्ता यही है।"

बापू लोकमत की जबर्दस्त शक्ति को जानते थे, इसीलिए देश और विदेश के लोकमत को अपने पक्ष में करने के लिए हमेशा कोशिश करते। जब कोई अंग्रेज, अमेरिकन या दूसरा विदेशी उनके विचारों और काम को जानने के लिए आता, तो वह उनका स्वागत करते, और उसे परिचय प्राप्त करने का हरेक अवसर प्रस्तुत करते। चाहे अमेरिकन हो या अंग्रेज या भारतीय, सबको गाँधीजी के कमरे में बाहर जूता खोलकर जाना पड़ता था। ऐसी मुलाकात के समय इम्तुस्सलाम को छोड़कर किसी को बापू के पास रहने की इजाजत नहीं थी।

गाँधीजी के पट्ट शिष्य विनोबा थे, इसे सभी जानते हैं लेकिन पट्ट शिष्य का रहना गुरु के आश्रम में नहीं होता था। वह वहाँ से तीन मील दूर पौनार में रहते थे। व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए सबसे पहिले बापू ने उन्हीं को चुना था। उस समय अखबारों में उनके फोटो के साथ लेख छपे थे। बड़े भाई की भी इच्छा विनोबा के दर्शन की हुई। उनके भाई को उन्होंने आश्रम में देखा था, जो टी. बी. के मरीज थे, और भैषज्यगुरु की देखरेख में उनकी चिकित्सा हो रही थी। बड़े भाई ने सोचा, जिसकी प्रशंसा बापू स्वयं अपने मुँह से करते हैं, उसे और उसके आश्रम को भी देखना चाहिए। एक दिन दो-तीन और आश्रमियों के साथ बड़े भाई पौनार की ओर चले। जाकर विनोबा को नमस्कार किया। पौनार के संत अपने गुरु से भी अधिक गम्भीर प्रकृति के हैं। वह दो-चार बात कहकर चुप हो गये। बड़े भाई ने उनकी कुटिया को अच्छी तरह देखा, फिर चले आये।

26 जनवरी को समारोह के लिए आश्रम में एक सभा हुई, जिसके प्रधान विनोबा हुए। वहीं उन्हें उस आदमी के चमत्कारिक भाषण को सुनने का अवसर मिला, जिसे कि वह चुपचाप समझकर उस दिन लौट आये थे। विनोबा बीच-बीच में चुटकुले कहते, पुराणों की कहानियाँ उद्धृत करते। सारे श्रोता उनके भाषण पर मुग्ध थे।

जैनी लोग वर्ष में एक दिन साल-भर के लिए उपभोग की किसी एक चीज के छोड़ने का व्रत लेते हैं। आश्रम में भी यह प्रथा चली थी। उस दिन 'शिवजी की बारात' प्रतिज्ञा ले रही थी। कोई कहता–"मैं सालभर गाय का दूध नहीं पीऊँगा।" दूसरा कहता–"मैं भैंस का दूध नहीं पीऊँगा।" तीसरा कहता–"मैं बकरी का दूध नहीं पीऊँगा।" इसी प्रकार किसी ने छाते, जूते इस्तेमाल न करने की भी प्रतिज्ञा ली। भागीरथी और बड़े भाई चुप रहे। बापू का ध्यान उधर गया और उन्होंने पूछ दिया–"बड़े भाई, सबने प्रण लिया, तुम क्यों चुप रहे ?"

बड़े भाई ने कहा–"मैंने एक चीज का प्रण लिया है, जिसको ही अभी नहीं पूरा कर सका। अब एक और प्रण लेकर मैं गदहा बनना नहीं चाहता। बापू, मुझे क्षमा कीजिये।"

बापू ने इसी बात को लेकर एक छोटा-सा भाषण दिया—"बड़े भाई की बात सच है। देश के आजाद करने का प्रण बड़े भाई ने लिया है, और अभी वह प्रण पूरा नहीं हो पाया है फिर दूसरा प्रण कैसे लेते ? मेरे पास बड़े भाई जैसे अगर चार आदमी मिल जाते, तो देश आजाद हो गया होता।"

बापू का स्वास्थ्य शरीर को देखते बहुत अच्छा था। जिस तरह काम के लिए वह कठोर नियम का पालन करते थे, वैसे ही खान-पान में भी बहुत संयम रखते थे।

एक दिन बापू ने कहा—"बड़े भाई, मैं बम्बई जा रहा हूँ, तीन दिन में लौट आऊँगा।"

दीनबन्धु एण्ड्रूज़ के स्मारक के लिए बापू भीख माँगने के लिए निकले थे। बापू और मालवीयजी भिखमंगों के राजा थे। वह खूब माँगते थे, और लोग भी उनकी झोलियों को ख़ूब भर देते थे। लौटकर आने पर बापू बड़े प्रसन्न थे, उन्होंने कहा—"कुछ ही घंटों में आशा से भी अधिक रुपया मिल गया।"

अगस्त के महान अभियान का समय नजदीक आ गया था। इसी समय आचार्य नरेन्द्रदेवजी और नेहरूजी ने निश्चय किया कि बड़े भाई को काशी विद्यापीठ भेज दिया जाये। बापू से भी इसके बारे में पूछ लिया था। जब विद्यापीठ जाने की बात आई तो उन्होंने बापू से पूछा—"बापू, विद्यापीठ में मैं क्या बनकर जा रहा हूँ ? मेरी पढ़ाई तो सिर्फ चौथे दर्जे तक की है।"

बापू ने हँसते हुए कहा—"तुम्हें हम प्रोफेसर बनाकर भेज रहे हैं।"

"मैं विद्यार्थी भी होने लायक नहीं हूँ, मुझसे वहाँ विद्यार्थी क्या पढ़ेंगे ?"

बापू ने कहा—"छह महीने में जो हमने यहाँ तुमसे पढ़ा, वही विद्यार्थी वहाँ पढ़ेंगे।"

बड़े भाई की आश्रम से जाने की इच्छा नहीं थी। नेता क्यों काशी विद्यापीठ भेज रहे हैं, यह भी उन्हें समझ में नहीं आया। शायद वह समझते थे कि बड़े भाई में तरुणों में जीवन डालने की शक्ति है। इस समय बनारस में जाकर वह कुछ कर सकते।

चलने से पहिले बड़े भाई ने बापू से कहा—"मैं छह महीने आश्रम में रहा, अब बाहर जा रहा हूँ। लोग आश्रम के बारे में पूछेंगे। मैं नहीं चाहता कि उनके सामने कोई गलत बात बताऊँ। बापू का आश्रम एक तीर्थ है। यहाँ कितने ही तीर्थयात्री आया करते हैं। हमारे देश में बदरीनाथ का धाम है। वहाँ लम्बा चूल्हा खुदा हुआ है, जिसमें सूखी भोजपत्र की लकड़ी जलती है। भात पकाने के लिए पाँती से पतीलियाँ रक्खी जाती हैं, और हर एक पतीली के ऊपर क्रमशः छोटी होती जाती कई पतीलियाँ रहती हैं। सबसे ऊपर की पतीली बहुत छोटी होती। आग जलाने पर भुर्ज की लकड़ी बड़े जोर से जलती है, और उसकी लौ सभी पतीलियों को लपेट लेती हैं। पकना चाहिए सबसे नीची पतीली के भात को, लेकिन सबसे पहिले सबसे ऊपर की पतीली का भात पकता है। बदरीनाथ के यात्री इसे बड़ा चमत्कार समझते हैं, और वह इस बात को अपने देश में जाकर लोगों को सुनाते हैं—'बदरीनाथ सचमुच बहुत चमत्कारिक देवता हैं।' यह उनका भ्रम है। यह नहीं ख्याल करते कि कम पानी होने की वजह से ऊपर तक पहुँची हुई ज्वाला सबसे पहिले छोटी पतीली को ही अधिक गरम करने अर्थात भात पकाने में समर्थ होती है। मैं इस तरह अपनी राय आश्रम के बारे में नहीं बतलाना चाहता।"

बापू ने कहा—"अच्छा तो बड़े भाई, शाम की प्रार्थना में तुम्हें व्याख्यान देना होगा।"

बापू ने बड़े भाई के लिए भारी धर्मसंकट पैदा कर दिया। व्याख्यान देने का उन्हें अभ्यास नहीं था। इतने महान नेता के सामने भाषण देने में तो उनके लिए मरण-सा हो रहा था। उनका दिल दहल गया, लेकिन जानते थे कि अब पिण्ड नहीं छूटेगा। वह वहाँ से आकर जंगल की ओर चले गये। मन में आया कि जो कुछ शाम को बोलना है, उसका यहाँ रिहर्सल कर लूँ। वह एक के बाद एक बातों को मन में बैठाने लगे। दिन-भर यह भी मनाते रहे कि किसी तरह यह बला टलती।

बापू ने आश्रमवासियों को अब तक बड़े भाई का इतना ही परिचय दिया था कि यह मेरे मित्र हैं। आश्रमवासी उतना ही भर जानते थे। आज शाम के वक्त प्रार्थना के बाद बापू ने बड़े भाई का पूरा परिचय दिया। पेशावर में किस तरह अहिंसा का पालन करते देश के लिए उन्होंने अपने प्राणों की बलि चढ़ाई थी, इसे बतलाया।

सारे आश्रमवासी सुनकर बड़े आश्चर्य और सम्मान के साथ बड़े भाई की ओर देखने लगे। बापू के कहने पर उन्होंने बोलना शुरू किया–

"मैं आश्रम में छह महीने रहा। मैं गाँव का गँवार हूँ। न मुझमें विद्या है, न बुद्धि। इसलिए बापू और उनके आश्रम को समझना मेरी शक्ति से बाहर है, लेकिन, मैंने जो कुछ समझा, उसमें तीन बातें मुझे ख़ास जान पड़ीं–(1) बापू ने आश्रम में स्वावलम्बी होने का पाठ पढ़ाना चाहा। इसलिए यह चरखा कातना, कपड़ा बुनना, साग-सब्जी उगाना, शरीर से परिश्रम करना और पाखाना उठाना जैसे काम को नीच न समझना आदि बातें चलाईं। (2) मानव जाति अनेक धर्मों को मानती है। आदमियों के भी विचार भिन्न-भिन्न होते हैं। बापू की प्रार्थना में सभी धर्मवाले एक साथ प्रार्थना करते हैं, और समझते हैं कि भगवान के यहाँ मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं, इसीलिए जापानी केशव भाई प्रार्थना को शुरू करते हैं और इम्तुस्सलाम कुरान की आयतें पढ़कर उसे खतम करते हैं। मनुष्य मात्र भाई-भाई हैं, यह दूसरा उद्देश्य है बापू और उनके आश्रम का। (3) बापू अपने जीवन से बतलाते हैं कि समय का बड़ा महत्त्व है, हमें उसे यों ही बरबाद नहीं करना चाहिए। इसीलिए वह एक साथ दो-दो काम करते हैं।

" बापू के सत्य और अहिंसा के बारे में मैंने पूरी तौर से अध्ययन नहीं किया। इसलिए उसके बारे में कुछ नहीं कह सकता। यहाँ न मन्दिर, न मूर्ति, न पीपल। बापू ही यहाँ मूर्ति हैं, और उनके कुएँ में तीर्थ का जल भरा हुआ है। लोग मूढ़ भक्ति दिखलाते हैं, लेकिन उन्हें कोई नहीं रोकता। बाहर के लोग आश्रम के दर्शन के लिए आते हैं। मुझे अफसोस है कि आश्रमवासी उनकी मूढ़ श्रद्धा को हटाकर सच्ची और बहुमूल्य बात को समझाने की कोशिश नहीं करते। मैं दो महीने तक पाखाने की सफाई करता रहा, लेकिन मुझे उसमें घृणा की बात तो दूर, एक तरह का अभिमान और आनन्द मालूम होता था। आश्रम की इन बातों को लोगों को मालूम होना चाहिए। आश्रम में कौन लोग रसोई बनाते हैं, किस तरह यहाँ जाति-धर्म, छुआछूत का कोई भेद नहीं। बदरीनाथ में गढ़वाल के सबसे ऊँचे ब्राह्मण (डिमरी) ही रसोइया होते हैं, दूसरा कोई वहाँ भीतर घुस नहीं सकता। हमारी रसोई में यहाँ चमार भी हैं, मुसलमान भी हैं, ईसाई भी हैं। सभी हमारे डिमरी हैं। बापू के प्रचार से देश में लोग बड़ी संख्या में खद्दरधारी हैं। खान-पान की छुआछूत को आश्रम में हटा देख-सुनकर लोग इसका भी अनुकरण कर सकते हैं। यहाँ बिना मसाले का उबला हुआ भोजन पहिले मुझे फीका-फीका लगा था, लेकिन कुछ दिनों में ही स्वादिष्ट लगने लगा, और कितना स्वास्थ्यकर। यह भी अनुकरण की बात है।"

बड़े भाई ने छोटी ही छोटी बातें कहीं, लेकिन भाषण बड़ा प्रभावशाली रहा।

बापू के भोजनालय में मिर्च-मसाले को जाने नहीं दिया जाता था, लेकिन, बड़े भाई को मालूम था कि महादेव भाई और मश्रूवाला के घरों में सिलबट्टे से मसाला पीसा जाता है। वह यह भी जानते थे कि आश्रम थोड़ी बातों में ही स्वावलम्बी है। उसे दूध के लिए भी बजाजजी की गोशाला का मुँह ताकना पड़ता है। कमियाँ थीं, लेकिन उनके कारण आश्रम के गुणों को बड़े भाई भुला नहीं सकते थे, न गाँधीजी के स्निग्ध जीवन को ही। छोटी-छोटी बातों को लेकर बापू आश्रमवासियों को बड़ी सुन्दर शिक्षा दिया करते थे। वह कहा करते थे, कि यहाँ तो शिवजी की बारात जमा हुई है। मेरे हटते ही सारी बारात बिखर जायेगी। वह देखते ही रहते थे कि अधिक समझदार आदमी आश्रम में कम आते हैं, और मूढ़ों की श्रद्धा चौबीसों घंटे उसकी रखवाली नहीं कर सकती। वह आपस में ईर्ष्या से जले जाते। जरा-सी बात में झगड़ पड़ते, हरेक अपने को महासिद्धान्ती साबित करना चाहता। एक दिन बापू मण्डली के साथ टहलने जा रहे थे। रास्ते में किसी ने थूक दिया था। उस पर मक्खियाँ बैठी थीं। बापू ने उसी को लेकर कहा–"तुम रास्ते में थूक देते हो। ये मक्खियाँ इस पर बैठी रो रही हैं। तुम्हारे लिए रो रही हैं। इसके कारण बीमारी होगी, लोग मर जायेंगे, इसी के लिए बेचारी रो रही हैं। साथ-साथ कोशिश कर रही हैं कि जहाँ तक हो सके इस थूक को मिटा दें, लेकिन मक्खी बेचारी तो छोटी-छोटी होती हैं।"

बड़े भाई आश्रम से प्रस्थान करने लगे। सड़क पर कपड़ों के गट्ठर, बिस्तरे और बक्सों का ढेर लगा

हुआ था। आखिर पूरा का पूरा कुनबा साथ में था। बापू विदाई देने के लिए आये। उन्होंने हँसते हुए कहा—"बड़े भाई, इतने सामान के ले जाने के लिए गढ़वाल में ताँगा कहाँ से मिलेगा ?"

"बापू, गढ़वाल के दरवाजे में ताला नहीं लगाया जाता, क्योंकि वहाँ चोरी-डकैती नहीं होती। कोटद्वार तक मुझे रेल से जाना है। बाकी सामान वहीं छोड़ दूँगा, और जो उठा सकूँगा, उसे पीठ पर लाद के ले जाऊँगा। बाकी को फिर दूसरी या तीसरी बार ले जाऊँगा।"

22

सन् उन्नीस सौ बयालीस

बड़े भाई रेल में बैठकर 22 जुलाई को इलाहाबाद में जा उतरे। आनन्द भवन में तश्तरीखाने में रहने की जरूरत नहीं थी। उनके लिए नीचे का एक कमरा खोल दिया गया था। 14 वर्ष के लड़के खुशहालसिंह को वह वर्धा अपने साथ नहीं ले गये थे, वह यहीं था। एक बार बनारस जाकर देख आये, फिर 31 जुलाई की सबेरे की ट्रेन पकड़कर बड़े भाई बीवी-बच्ची और खुशहालसिंह को लिये बनारस पहुँचे। काशी विद्यापीठ में आचार्य नरेन्द्रदेव की चिट्ठी पं. काशीप्रसाद त्रिपाठी को दी। चिट्ठी में लिखा हुआ था—"यह बापू की राय से जा रहे हैं, इनके रहने के लिए मकान या दस रुपये मासिक किराये के लिए दें, और तब तक अच्छी तरह से रक्खें, जब तक कि हम आ न जायें।"

बड़े भाई आचार्य बीरबल से भी मिले। विद्यापीठ में कोठरी खाली नहीं थी। वह दस रुपये मासिक की कोठरी ढूँढ़ने के लिए निकले, लेकिन लड़ाई के दिनों में वहाँ ऐसी कोठरी कहाँ मिल सकती थी ? 31 तारीख को दिन-भर घूमते रहे। 20-30 रुपये से कम का कोई कमरा नहीं मिला। विद्यापीठ के सामने सड़क की दूसरी तरफ एक बगीची थी, उसी में चले गये। उनके पास केवल बीस रुपये थे, जिसका वह आटा, चावल, ईंधन खरीद लाये। सामान रखकर वहाँ निश्चिन्त बैठ नहीं सके। बच्ची को दाँत निकलने वाला था, इसलिए उसका पेट चल रहा था। पति-पत्नी दोनों पहिली ही बार माता-पिता बने थे, इसलिए उनको कोई अनुभव नहीं था। अपनी चिन्ता में पड़े थे, इसी समय माली की कोठरी से रोवा-रोहट की आवाज सुनाई दी। बड़े भाई दौड़े। माली की लड़की मर गई थी, उसके शरीर को कपड़ों से ढाँक दिया गया और लोग रो रहे थे। बड़े भाई प्रत्यक्षवादी हैं। उन्होंने कहा, मुँह खोलो। मुँह खोल दिया गया। गर्दन पर हाथ रक्खा, तो वह ठंडा नहीं मालूम हुआ। उन्होंने यों ही उसके दोनों हाथों को जल्दी-जल्दी ऊपर-नीचे करना शुरू किया। ठंडी नहीं थी, इसलिए जीवन है, इस पर उनको विश्वास था। सचमुच ही थोड़ी देर में लड़की सुगबुगाने लगी। उनके पास शहद थी। माली को दूकान से दही लाने के लिए भेजा, और दोनों को मिलाकर चटा दिया। लड़की साँस लेने लगी। यह दिव्य चमत्कार से कम नहीं था। माली उनका भक्त बन गया। वह इस सन्देह में थे कि शायद उस बगीची से भी निकलना पड़े, अब माली का अवलम्ब मिल गया।

इस बीच बड़े भाई विद्यार्थियों से मिलते, हिन्दू यूनिवर्सिटी भी जाते रहे। डॉ. कुशलानन्द (के. एन.) गैरोला से भी मिले। गढ़वाली होने से उनसे और दूसरे गढ़वाली विद्यार्थियों से निकट सम्बन्ध स्थापित हो गया।

8 अगस्त को बम्बई में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक होने के बाद ही सारे बड़े-बड़े नेता पकड़ लिये गये। शाम तक बनारस में उसकी खबर पहुँची, और लोग क्रोध के मारे आपे से बाहर हो तार काटने लगे। स्टेशन और डाकखाने जलाने, और दूसरी तरह से लोगों ने अपना क्रोध प्रकट करना शुरू किया।

10 अगस्त को सबेरे ही पुलिस ने विद्यापीठ में ताला लगा दिया। विद्यार्थी और अध्यापक वहाँ से चले गये। कितने ही नेता भी गिरफ्तार हो गये थे। उसी वक्त एक अंग्रेज पुलिस के साथ बगीचे में आया। पूछने

पर बड़े भाई ने अपना नाम बता दिया। अंग्रेज ने पूछा—"तुमने पेशावर में बगावत की थी, तुम्हारी हम तलाशी लेंगे।"

बड़े भाई को क्या एतराज हो सकता था। उसने खोल-खाल के सब देख लिया। उनके पास अब सेर भर चावल, बीस सेर कोयला और तीन रुपया नगद का सम्बल रह गया था। अंग्रेज ने कहा, "24 घंटे के भीतर तुम बनारस से चले जाओ।"

बड़े भाई ने कहा—"मेरी बच्ची बीमार है, मेरे पास खर्च नहीं है। गढ़वाल में जाने पर प्रतिबन्ध है। या तो मुझे खर्च दो या जेल में डाल दो।"

मानवता ने घूरकर अंग्रेज की ओर देखा, और उसने कहा—"अच्छा, तुम्हें 48 घंटे का समय देते हैं।"

बड़े भाई अकेले नहीं थे। कम से कम बीवी और बीमार बच्ची का ख्याल तो करना ही था। वह इस कोशिश में पड़े, कि कहीं से बीस रुपया मिले, और मैं इन्हें दूसरी जगह ले जाऊँ। वह बाबू भगवानदासजी के पास गये। वीर गढ़वाली का नाम किसने नहीं सुना था ? उन्होंने उन्हें चाय पिलाई। पैसे की बात आने पर दो रुपये देना चाहते थे, जिससे उनका कोई काम बनने वाला नहीं था। सम्पूर्णानन्द गिरफ्तार हो गये थे। कोई बड़ा नेता बाहर नहीं था। मालवीयजी की याद आई, इस समय से बढ़कर मालवीयजी से सहायता लेने का कौन मौका हो सकता था ? 10 अगस्त को वह मालवीयजी के बँगले पर गये, लेकिन दुर्भाग्य से मालवीयजी वहाँ नहीं थे। हिन्दू यूनिवर्सिटी के छात्र सन् 42 के विद्रोह में सबसे बढ़कर भाग ले रहे थे। विद्यार्थियों की सभा हो रही थी। डा. गैरोला सभापति थे। बड़े भाई ने उनके पास लिखकर एक पुर्जी भेजी। गैरोला ने उन्हें हाथ पकड़कर मंच पर ले जा कुर्सी पर बैठाकर पेशावर-कांड के वीर नेता का परिचय दिया। विद्यार्थी तालियों की गड़गड़ाहट करते उछल पड़े। बड़े भाई भी इस उत्साह को देखकर सुध-बुध खो बैठे। देश की आजादी के लिए उन्होंने इतने कष्ट सहे थे, और आज भारतीय तरुण उसके लिए सब कुछ बाजी लगाने के लिए तैयार थे। वह भूल गये कि मेरी बच्ची बीमार है, बीवी अपरिचित स्थान में पड़ी है। उसके पास दो दिन से अधिक का खाना नहीं है। सभा ने प्रस्ताव किया—"गढ़वालीजी हमारे कमाण्डर-इन-चीफ बनाये जायें।" वहीं डॉ. गैरोला को डिक्टेटर और बड़े भाई को कमाण्डर-इन-चीफ घोषित कर दिया गया।

कमाण्डर-इन-चीफ को अपनी सेना को लड़ाई के लिए सज्जित करना था। लड़ाई का ढंग बतलाना, कवायद-परेड सिखाना उस समय क्या काम दे सकता था, जब आप युद्ध-क्षेत्र के बीच में हैं। अंग्रेजों के शासन को उलटना था, उनकी कचहरियों, पुलिस-थानों को दखल करना था; लेकिन, वह तब तक शासन-यन्त्र पर कैसे काबू पा सकते थे, जब तक अंग्रेजों की पलटन एक जगह से दूसरी जगह जाकर गोले-गोलियों से लोगों को दबाने के लिए स्वतन्त्र है। इसलिए तार के खम्भे गिराये जाने, तार काटे जाने चाहिए। रेल से सेना न भेजी जा सके, इसके लिए रेल की लाइनें उखाड़ देनी चाहिए। होस्टल की छत के ऊपर तरुणों को जमा करके कमाण्डर-इन-चीफ बतलाते थे कि किस तरह रेल की वोल्ट को खोलना, और लोहे को हटाना चाहिए। बरसात का दिन था, तो भी यदि हो सके, तो खरपात जमा करके रेल की लकड़ीवाली पटरी जला देने से भी गाड़ी का चलना मुश्किल हो जायगा। तार का काटना सिखलाते हुए उन्होंने सावधान कर दिया था कि तार बहुत जोर से तने होते हैं, और काटे जाने पर तार पीछे की तरफ हटता है और जरा ही देर में बाण की तरह फिर उसी जगह आना चाहता है। ऐसे समय अगर आदमी वहाँ जरा भी रुका, तो वह उसके शरीर में बेधकर निकल जायेगा। इसलिए काटने के साथ अपने शरीर को बहुत नीचे झुका देना चाहिए। युद्धक्षेत्र में खड़ा कमाण्डर-इन-चीफ अपनी बीवी-बच्ची की कैसे सुध ले सकता था ? योगी नामक एक गढ़वाली विद्यार्थी था। वह एक दिन भागीरथी को देखने के लिए गया, और वहाँ से घबड़ाया हुआ आकर उसने कहा—"आपकी लड़की मर गई है, बीवी अकेली है।" बड़े भाई सूखे काठ नहीं थे, उनके मन को यह सुनकर दुःख हुआ हो तब भी वह वहाँ से हटना युद्धक्षेत्र से भागना समझते थे। चारों ओर से सब लोगों ने कहा—"जरूर जाइये, थोड़ी देर के ही लिए जाइये।"

बड़े भाई बगीची में आये। माधवी मरी नहीं थी। उसे पेचिश लगी हुई थी। जाकर डॉक्टर से दस्त की

दवा ले आये। लौटकर देखते हैं, वहाँ कागजों का एक बंडल पड़ा है। भागीरथी ने कहा–"गुसलखाने में कोई कांग्रेसी छिपा हुआ है, उसी का यह बंडल है।" गुसलखाने में देखा, तो वहाँ अलगूराय शास्त्री हैं। लखनऊ में कांग्रेस की बैठक में वह उन्हें देख चुके थे। इतने से शायद याद न रहता, लेकिन दोनों के चप्पल एक दूसरे से बदल गये थे, इसके कारण विशेष परिचित होने का मौका मिला था। शास्त्रीजी ने कहा–"इन पैम्फ्लेटों को युनिवर्सिटी में भेजना है।" भागीरथी ने तीन दिन पहिले खिचड़ी बनाई थी। जब पति नहीं आये, तो उन्होंने भी नहीं खाया था। वह खिचड़ी उसी तरह पतीली में पड़ी हुई थी। खिचड़ी गरम की गई, और अलगूरायजी तथा सारे परिवार ने उसे खाया। शास्त्रीजी चले गये। बड़े भाई फिर चलने लगे। बीवी ने टोककर कहा–"बच्ची को इस हालत में छोड़कर कहाँ जा रहे हो ?"

"जहाँ देश की पुकार है। इस समय मैं बच्ची और तुम्हारी चिन्ता करने की कायरता नहीं दिखला सकता।"

बेचारा माली स्वतः इस आश्रयहीन परिवार का संरक्षक बन गया। वड़े भाई ने कहा, "पर्वाह मत करना। पहिले मुझे इन पैम्फ्लेटों को युनिवर्सिटी पहुँचाना है।"

इसी समय खुशहाल ने आकर कहा–कि पुलिस ने विद्यापीठ को छोड़ दिया है, और पंडितजी आ गये हैं। बड़े भाई भागीरथी को भी साथ लेकर विद्यापीठ में गये, और बोले–"पंडितजी, मैं तो अब आन्दोलन में पड़ गया हूँ। आप इनका कोई प्रबंध कर दीजिए।"

"मैं क्या प्रबन्ध कर दूँ ?"

"इसे घर ले जाइये, यह चौका-बर्तन कर देगी, आप खाना दे दीजियेगा।"

"मेरे घर में जगह नहीं है।"

"अच्छा, हमें बीस रुपया दे दीजिये, ताकि मैं इन्हें इलाहाबाद भेज दूँ।"

"मेरे पास देने के लिए रुपये नहीं हैं।"

"गाँधीजी, नेहरूजी और आचार्यजी ने मुझे यहाँ आपके पास भेजा। यदि आप कुछ करने से इन्कार करते हैं, तो कृपया इस नोटबुक पर लिख दीजिये।"

"मैं नोटबुक पर लिखने के लिए मजबूर नहीं हूँ।"

बड़े भाई ने अब नरसिंह का अवतार धारण करते हुए कहा–"पंडितजी, यह बच्ची और स्त्री मेरे राजनीतिक जीवन की आज की महत्त्वपूर्ण घड़ी में बाधा है, मैं इसे हटाना चाहता हूँ।" यह कहते हुए उन्होंने चाकू निकाल लिया, और भागीरथी को हाथ से पकड़ा।

यह देखते ही पंडितजी काँपते गिड़गिड़ाने लगे, "ठाकुर साहब, माफ कीजिए, ऐसा मत कीजिए। मैं अभी बीस रुपया देता हूँ। जब तक तुम इनके पास न आओगे, हम तब तक बीस रुपया मासिक देते रहेंगे।"

बड़े भाई लौट आये। समझे थे, थोड़ी ही देर में काम हो जायेगा, इसलिए खिचड़ी चूल्हे पर रख गये थे। लौटने पर वह आधी जल गई। जल्दी-जल्दी कुछ खाया। फिर पत्नी से कहा–"देवीजी, लो यह, मैं चला। अब तुम्हारी जो इच्छा हो वैसा करना।"

वह रोने लगीं। बड़े भाई ने समझाया–"माली अब तुम्हारा संरक्षक है। पैसे कुछ मिल ही जायेंगे, इसलिए चिन्ता मत करो। सिपाही को मैदान में जाने से न रोको।"

युनिवर्सिटी के फाटक पर पहरा लगा हुआ था। बड़े भाई पीछे की ओर होकर गन्ने के खेतों में घुसे। चहारदीवारी कैसे फाँदी जाये, यह सोचते वह एक आम के पेड़ पर चढ़ गये, जिसकी डालियाँ भीतर की ओर बढ़ी हुई थीं। पहिले उन्होंने कागजों का बंडल फेंका, फिर कूद पड़े। डॉ. गैरोला के भाई भी वहाँ प्रोफेसर थे। बड़े भाई उनके पास पहुँचे। उन्हें देखते ही प्रोफेसर साहब को डर के मारे पसीना छूटने लगा। वह अपने भाई को भी गाली दे रहे थे–"वह अपने डूबा और हमको भी डुबाना चाहता है।" वहाँ बड़े भाई के लिए कहाँ शरण मिल सकती थी। वहाँ से चले। बड़े भाई के पास एक जाँघिया, एक कुर्ता के सिवा कुछ नहीं था। पैसा भी नहीं था, दाँत भी नहीं थे, सिवा दाल पीने के वह और कुछ खा नहीं सकते थे। किसी बात की पर्वाह न करके वह लड़कों को सिखाने और संगठित करने में लग गये। कार्यक्रम बनाया जाता और उसके अनुसार

लड़के-लड़कियाँ जासूस बनकर निकलते। पहिले दिन 24 विद्यार्थी हरिश्चन्द्र-घाट की ओर गये। उन्होंने प्रचार किया कि कल डिस्ट्रिक्ट-मैजिस्ट्रेट के ऑफिस पर झण्डा गाड़कर उस पर कब्जा किया जायगा। अगले दिन वह उसके लिए गये, तो गोली चली और दो-तीन विद्यार्थी मारे गये। और भी आग भड़की। सबेरे के वक्त ज्वालापुर-हरद्वार के एक विद्यार्थी के नेतृत्व में जुलूस निकला, जो खुद सी. आई. डी. का आदमी था।

कमाण्डर-इन-चीफ को काम के सामने कोई सुध नहीं थी, और लोग इसकी खबर लेने की जरूरत भी नहीं समझते थे कि उन्हें खाना भी मिल रहा है। कभी-कभी चाय मिल जाती थी। वही अवलम्ब थी।

एक दिन एक सी. आई. डी. वाला युनिवर्सिटी के भीतर आया। लड़कों ने भाँप लिया। फिर क्या था ? उसे पकड़ कागज-पत्र छीनकर डॉ. गैरोला के पास ले गये। हुकुम हुआ–"इसका कपड़ा हटा के देह-भर में कालिख पोत जुलूस निकालो।" 'इन्कलाब जिन्दाबाद' होता जुलूस चला जा रहा था। बड़े भाई ने काले भूत को देखकर पूछा, और जब मालूम हुआ, कि सी. आई. डी. का आदमी है, तो उन्होंने विद्यार्थियों को समझाया–"हमने भारत को स्वतन्त्र घोषित कर दिया है। यह शत्रु का दूत है। दूत के साथ ऐसा बर्ताव नहीं करना चाहिए। आखिर हमारे आदमी भी शत्रु के हाथ में पड़ सकते हैं। उनके साथ भी ऐसा बर्ताव हो सकता है।" पहिले तो व्याख्यान कड़वा लगा, लेकिन फिर विद्यार्थी समझ गये। उसी समय मिट्टी का तेल मँगवा देह का कोलतार हटाकर उसे नहलाया, कपड़े दिये। फिर चारपाई दे बी. क्लास का कैदी बना उसे एक कोठरी में डाल दिया गया।

बड़े भाई सैनिक अनुशासन से सुपरिचित और अभ्यस्त ही नहीं थे, बल्कि उसके महत्त्व को भी समझते थे, कि तरुण-तरुणियों की फौज अनुशासनबद्ध रहे। गैरोला से कहने पर वह उसकी पर्वाह नहीं करते थे। बड़े भाई के पास वही जाँघिया और कुर्ता-भर था, न एक पैसा था न कोई चीज। बरसात का अन्त था, इसलिए सर्दी का डर नहीं था, लेकिन खाना तो चाहिए। उनके मुँह में एक दाँत भी नहीं था, इसलिए हर तरह की चीज खा नहीं सकते थे। जिन लोगों ने उन्हें कमाण्डर-इन-चीफ बनाया था, वह न कपड़ा देना चाहते थे, न खाना।

अब इस तरह भूखे मरना अच्छा न समझकर बड़े भाई ने बाहर जाकर काम करने का निश्चय किया। वस्तुतः हिन्दू युनिवर्सिटी में जो पुरुष सबसे अधिक कर्मठ था, वह थे प्रोफेसर राधाश्याम। वह रात-दिन एक किये हुए थे। बड़े भाई के बाहर निकलने का मतलब था, अंग्रेजी शासन की बधिया को बैठाने के लिए रेल-तार काटे जायें, स्टेशन जलाये जायें। बनारस में प्रो. राधाश्याम के संगठित काम से चारों ओर तहलका मच गया था। बड़े भाई ने निश्चय किया कि विद्यार्थियों की टोली बनाकर निकलें। उन्होंने 24 तरुणों का दल बनाया, गंगापार हो वह रामनगर की रियासत में घुसे। उस वक्त खेतों में फूट-ककड़ी थी, और चाहे जितनी मिल सकती थी, लेकिन बड़े भाई उसको कूटकर ही खा सकते थे। एक जगह चना मिला। उसे पीसकर गुड़ के शर्बत में घोलकर पिया। दाँत का न होना उन्हें बहुत अखर रहा था। गंगापार होकर बड़े भाई ने अपने साथियों से कहा, "सब लोगों का एक साथ जाना अच्छा नहीं है।" उन्हें दो-दो, तीन-तीन की टोली बना दी और काम देकर कहा–"गंगा के किनारे-किनारे चलो, अमुक दिन हम दीक्षितपुर रेलवे स्टेशन पर मिलें।" लोगों में व्याख्यान देने का ही काम नहीं था, बल्कि रेल के यातायात को भी ठप्प करना था। उन्होंने दोनों ओर की गाड़ियों को रोकने के लिए लाल झण्डी दिखाने को कह दिया था, लेकिन मुगलसराय से आनेवाली ट्रेन को रोकने में वह असफल रहे। दीक्षितपुर से पूर्व एक जगह तार काटना था। तार के खम्भे पर बड़े भाई चढ़ने लगे, तो एक मद्रासी तरुण–जिसका नाम शायद कृष्णन था–ने उनको रोक दिया और वह खुद चढ़ गया। उसे यह बतला दिया था कि तार काटने के साथ एक सेकेण्ड की भी देर किये बिना नीचे खिसक आना या कूद जाना। तरुण हिदायत भूल गया। तार कटा। दोनों तार बड़े वेग से पीछे की ओर हटे और फिर वहीं आकर तरुण के कोख में एक ओर से दूसरी ओर होते निकल गये। वह वहीं गिरकर फड़फड़ाने लगा। वीर की अंत्येष्टि-क्रिया पास बहती कलकल नदी में प्रवाहित करके उन्हें आगे बढ़ना पड़ा। एक छोटे स्टेशन पर वह नारा लगाते पहुँचे। उन्होंने सभी स्टेशन कर्मचारियों को घर से बाहर निकाल दिया, उनमें एक ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट भी उस समय

वहाँ मौजूद थे, उन्हें भी बाहर किया। दरवाजा न खुलने पर एक तरुण पीछे की ओर से शीशे को तोड़कर भीतर घुसा। उसके साथी बड़ी जल्दी में थे। उन्हें पता नहीं था कि उनका एक साथी भीतर है। विश्वविद्यालय की रसायनशाला से भड़कनेवाले पदार्थों को वह अपने साथ लाये थे। पोटास और दूसरी चीजों की मिली हुई पुड़िया को शीशा तोड़कर उन्होंने सामने की ओर से भीतर फेंका। एकदम आग भड़क उठी। शीशे को तोड़कर जो लड़का भीतर घुसा, अब बाहर निकल नहीं सकता था। इधर-उधर बहुत दौड़ते उसने खटखटाया। साथियों को भी मालूम हो गया। वह निकालने की कोशिश करने लगे। तब तक लड़के के कपड़े में आग लग चुकी थी। किसी तरह उसे बाहर निकाला गया। वह बुरी तरह झुलस गया था। अपने साथी को विद्यार्थी कैसे उसके भाग्य पर छोड़ सकते थे ? हालाँकि युद्ध का नियम यही बतलाता है कि घायल की रक्षा के लिए लड़नेवाले सिपाहियों को रुकने या पीछे हटने का अधिकार नहीं है। उन्होंने एक्का पकड़कर मुगलसराय की ओर दौड़ाया। वहाँ से वह उसे बनारस ले गये। अस्पताल में जाने पर डॉक्टर ने नाम-पता पूछा। न बतलाने पर पुलिस को खबर दी। दोनों विद्यार्थी फिर अपने आहत साथी को रिक्शे पर लेकर भागे। अन्त में वह उसे गन्ने के खेत में फेंककर अपने साथियों के पास जाने के लिए मजबूर हुए। वह मरणासन्न वीर किस तरह अपनी अन्तिम घड़ियों को गिनता रहा, यह किसको पता ? इस तरह कितने तरुणों ने मातृभूमि की बलि-वेदी पर अपने को अर्पण किया, यह किसको पता ?

बड़े भाई आगे बढ़ते गाँव के एक स्कूल में गये। उस समय देश में ऐसा जोश था कि जिस पुरुष में जरा भी मानवता या देश के लिए प्रेम था, वह स्वतन्त्रता के इन तरुण सैनिकों की सहायता के लिए सब तरह तैयार रहता। गाँव के मास्टर ने उनके लिए भोजन बनवाया, बड़े भाई के लिए दही-भात दिया। मास्टर ने उस इलाके के 12-14 राष्ट्रीय भावनावाले आदमियों के नाम भी बतला दिये, और बड़े भाई ने नाम अपनी नोटबुक में लिख लिया। अगले गाँव में एक कांग्रेसी पुरुष मिला। वहाँ चिट्ठी पहिले ही चली गई थी, इसलिए 30-40 आदमी जमा हो गये थे। उन्हें आन्दोलन का उद्देश्य बतलाया गया। लोगों ने चाय पिलाई।

15 अगस्त को बड़े भाई अकेले दीक्षितपुर पहुँचे। वहाँ के देशभक्त का नाम पहिले से मालूम था। घर पर जाने पर उसने बड़ी आवभगत की, कमरे में चारपाई बिछा दी। पहिले चाय पिलाई गई, फिर दूध-चावल मिला। गाँव का नम्बरदार पता लगते ही तुरन्त भागा-भागा थाने में गया। अंग्रेजों ने उस समय गाँवों में अपने गार्ड भी तैयार कर लिये थे। थाने से एक हवलदार और तीन सिपाहियों ने आ चारों ओर से घेर लिया। सौ-डेढ़ सौ आदमी जमा हो गये थे और शाम के वक्त व्याख्यान होनेवाला था। हवलदार ने गिरफ्तार करना चाहा। बड़े भाई ने पूछा—"हमारी गिरफ्तारी के लिए तुम्हारे पास वारंट है ?"

"नहीं है, थानेदार साहब बुलाते हैं।"

"थानेदार क्या मेरे रिश्तेदार हैं ? मैं अभी नहीं जाता, कल सुबह चलूँगा।"

जनता भी पक्ष में थी, इसलिए पुलिसवाले जबर्दस्ती करने के लिए तैयार नहीं हुए। वह वहीं जम गये। उनके लिए ज्योनार तैयार होने लगा। अब बड़े भाई को सबसे भारी फिकर थी नोटबुक में लिखे हुए नामों की, जिन्हें पुलिस जरूर पकड़ती। रात के वक्त वह कोठरी के भीतर अपनी चारपाई पर पड़े सोचते रहे कि नोटबुक को कैसे खतम किया जाय ? कुछ सोचकर उन्होंने मेजबान से कहा—"मुझे प्यास बहुत लगती है।" उन्होंने एक बड़े बर्तन में पानी रख दिया। रात को लेटे-लेटे बड़े भाई नोटबुक को उसके भीतर डाल देखते रहे, कागज गलने लगा या नहीं। उतावली थी। अन्त में जब कागज पानी से खूब भीग गया, तो हाथ से मल-मल के उसकी गोली बना ली। अभी भी पूरा विश्वास नहीं था, इसलिए इस फिकर में थे कि इसे फेंकने के लिए बाहर कैसे निकला जाय। रात के वक्त पुलिसवाले गहरी नींद ले रहे थे। बड़े भाई को नींद कहाँ ? इसी समय रात के दो बजे बाहर निकले। बाहर कुछ दूर पर कलकल नदी बरसात के कारण भरी हुई कलकल करती बह रही थी। चारों तरफ कुहरा-सा फैला था। बड़े भाई के मन में एक बार तो आया कि यहाँ से निकल भागें। पर, फिर सोचने लगे—'अकेला भागकर मैं कहाँ जाऊँगा। रास्ते का पता नहीं है, नदी पार करते समय ही कहीं खतम न हो जाना पड़े।' लौटकर वह फिर अपनी चारपाई पर पड़ गये। शाम के व्याख्यान में नमक-सत्याग्रह

के बीते हुए युग की बातें भी उन्होंने लोगों को समझाई थीं और यह भी कि आज हम अंग्रेजों को देश से हटाने के लिए यह काम कर रहे हैं।

16 अगस्त का सबेरा हुआ। बड़े भाई को सन्तोष था कि मैंने नोटबुक को गोली बनाकर कलकल को अर्पण कर दिया। सबेरे कमर में रस्सी बाँधकर सिपाहियों ने टट्टी-पाखाना कराया। अब उतनी भीड़ वहाँ नहीं थी, इसलिए सिपाहियों की हिम्मत बढ़ गई थीं। बड़े भाई रस्सी से बँधे थाने की ओर पग बढ़ाने के लिए मजबूर हुए। रास्ते में वह 'महात्मा गाँधी की जय' करते जा रहे थे, जिसको सुनकर लोग देखने के लिए इकट्ठा हो जाते। पुलिस के एक सिपाही ने महात्मा गाँधी को बुरी-बुरी गालियाँ दीं। बड़े भाई का पारा गरम हो गया। उन्होंने बँधी हुई रस्सी को खींचकर उसे वहीं पटक दिया, और दो-चार लात मारे। इस पर पुलिसवालों के डण्डे उन पर बरसने लगे। पकड़कर स्टेशन ले जा ट्रेन में बैठाकर सिपाहियों ने बन्दूकों के कुन्दों से इतना पीटा कि वह बेहोश हो गये। रेल से उतरकर वह चुनार के थाने में ले गये। थानेदार हबीब दैत्य की तरह का बड़ा ही कद्दावर पठान था। उसने नाम पूछा। बड़े भाई ने कहा—"मेरा नाम चन्द्रसिंह गढ़वाली है।"

थानेदार ने कुछ सोचकर कहा—"आप चन्द्रसिंह गढ़वाली हैं, पेशावरवाले ?"

"हाँ।"

थानेदार ने कहा—"आपसे मिलकर मुझे बड़ी खुशी हुई।"

पेशावर में यद्यपि गढ़वालियों ने देशभाई समझकर पठानों के ऊपर गोली नहीं चलाई थी, लेकिन कांग्रेस-विरोधी और राजभक्त मुसलमान इसे मुसलमानों पर गोली न चलाना समझकर गढ़वालियों को बड़ी इज्जत की निगाह से देखते थे। थानेदार हबीब के मन में भी वही भाव था।

थानेदार ने फिर कहा—"आपके ऊपर छत्तीस आदमियों के कत्ल करने का इल्जाम है।"

"आपने गिनती गिनने में गलती की···। हम गढ़वाली कत्ल करना नहीं जानते। इसीलिए हमने पेशावर में गोली नहीं चलाई।"

थानेदार तो गढ़वाली से मिलकर वस्तुतः खुश हुआ था। उसने खाने के लिए कहा, और जब बिना दाँत का मुँह देखा, तो तुरन्त दूध और गुलाबजामुन मँगवा दिया, उसके कहने पर थोड़ी ही देर में बनिया खीर बनाकर लाया। थानेदार कोठरी के भीतर बन्द करना चाहता था। बड़े भाई ने कहा—"वहाँ बहुत बदबू है, मुझे बाहर रक्खो।" थानेदार ने बयान लिखना चाहा। इस पर बड़े भाई ने कहा—"आप उस ब्रिटिश राज्य के अंग हैं, जिसके हम दुश्मन हैं, लेकिन आपके सिपाहियों ने मुझे बहुत मारा है।" पूछने पर सिपाहियों ने कहा कि पहिले इन्होंने मारा। फिर बड़े भाई ने कहा—"इसने महात्मा गाँधी को बुरी तरह से गाली दी।" थानेदार भी इसे पसन्द नहीं करता था। बड़े भाई के शरीर पर दाग देखकर उसको गुस्सा आ गया और उसने ब्राह्मण हवलदार को बुरी तरह से गाली देते हुए कहा—"बदमाश, तुम्हें हमने पकड़ने के लिए भेजा था या मारने के लिए ? इनसे माफी माँगो।" हवलदार को माफी माँगनी पड़ी।

सूर्यास्त के समय मिर्जापुर जानेवाली गाड़ी मिली। वहाँ जिला जेल में जाना था। स्टेशन से उतरते ही 'भारत माता की जय', 'महात्मा गाँधी की जय' का नारा लगाते बड़े भाई जेलखाने की ओर चले। लोग उन्हें देख रहे थे। फाटक के भीतर पहुँचने पर हथकड़ी खोल दी गई। नारे की आवाज सुनकर जेल के भीतर के राजनीतिक बन्दी भी फाटक पर आ गये। जेलर ने भीतर ले जाकर उन्हें साफ कपड़ा दिया। राजबन्दियों के मन में होने लगा कि यह जरूर सी. आई. डी. का आदमी है। नम्बरदार राजबन्दियों को एक बैरक में ले गया। पूछने पर बड़े भाई ने अपना नाम चन्द्रसिंह गढ़वाली बतलाया। राजबन्दी कहने लगे—"बड़ा साला चन्द्रसिंह गढ़वाली बनने आया है। क्या हम नहीं जानते, कि यह खुफिया है।" वर्षा हो रही थी। लोगों ने बड़े भाई के बिस्तरे को बैरक से निकालकर बाहर फेंक दिया। किसी बैरक में रात बिताई। लोग उनसे तरह-तरह का मजाक करते थे, और यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि बड़े भाई भी उन्हीं की तरह राजबन्दी हैं।

उस समय वहाँ छह सौ के करीब राजबन्दी थे। इतने राजबन्दियों को जेलवाले अपने कठोर नियन्त्रण में नहीं रख सकते थे, इसलिए उनका सहयोग लेने के लिए मजबूर थे। सबेरे के वक्त एक स्वयंसेवक ने आकर

पूछा—"आपका नाम-पता क्या है ?" बड़े भाई रात के तजर्बे से बहुत भिन्नाये हुए थे। उन्होंने कहा, "पहिले मैं पाखाना हो आऊँ, तब बतलाऊँगा।" शौच से निवृत्त होकर उन्होंने बतलाया—"मेरा नाम चन्द्रसिंह गढ़वाली है।" इस पर उस आदमी ने कहा—"तुम कह रहे थे—'जेल को फूँक दो।' चलो फाटक पर साहब बुला रहा है।" बड़े भाई फाटक की ओर चले। वहाँ कोठे पर ए. क्लास के बन्दी यूसुफ इमाम साहब रहते थे। स्वयंसेवक ने यूसुफ साहब को सलाम करके कहा—"यह आदमी जेल फूँकने के लिए कह रहा था।" यूसुफ साहब ने कहा—"अच्छी बात है। तुम इन्हें यहीं छोड़ जाओ।" यूसुफ इमाम साहब बड़े भाई के पास आये। अपना नाम चन्द्रसिंह गढ़वाली बतला देने से तो वह विश्वास नहीं कर सकते थे। अंग्रेज सिखा-पढ़ाकर सी. आई. डी को इनके भीतर भेजा ही करते थे। बड़े भाई ने आनन्द भवन, वर्धा, काशी विद्यापीठ की सारी बातें बतलाईं। यूसुफ इमाम को असली बात मालूम हो गई। वह बड़े भाई का हाथ पकड़े दूसरे राजबन्दियों के पास आकर बोले—"दोस्तो, आप गढ़वालीजी से माफी माँगें। जिसने हम सबों से कहीं अधिक देश के लिए कुर्बानी की है, उसका तुमने अपमान किया।" लोग अफसोस करने लगे, फिर चन्द्रसिंह गढ़वाली की जय-जयकार और उसके बाद व्याख्यान हुआ।

राजबन्दियों में ए. क्लास, बी. क्लास के दो-चार थे, बाकी सभी सी. क्लासवाले थे। उन्हें रोजाना चार आने की खुराक मिलती थी, इसलिए सी. क्लास को चवन्नियाँ क्लास भी कहते थे। क्लास में विभाजन देशभक्त बन्दियों में आपसी ईर्ष्या का एक बड़ा कारण हो रहा था। बिहार की जेलों में भी इसके कारण क्षोभ था, और यहाँ भी लोग कहते थे—"नेता लोग गुलछर्रे उड़ा रहे हैं, और हमें पेट-भर चना भी नहीं मिलता।" यूसुफ साहब ने बहुत चाहा कि गढ़वालीजी बी. क्लास के भोजनालय से खाना खायें, पर बड़े भाई ने कहा—"बैरिस्टर साहब, एक दिन की आपकी मेहमानी मुझे मंजूर है, लेकिन बराबर तो मैं वही खाना खाऊँगा, जो मेरे साथियों को मिल रहा है।" जेल में आये दो-चार दिन बीत गये थे, महादेव भाई देसाई के मरने की खबर आई। शोक-सभा हुई, जिसके सभापति बड़े भाई बनाये गये। उन्हें महादेव भाई को नजदीक से देखने का मौका मिला था, इसलिए उन्होंने महादेव भाई के बारे में कितनी ही बातें बतलाईं।

बड़े भाई कम्युनिस्ट पार्टी के बाकायदा मेम्बर नहीं थे, लेकिन कम्युनिज़्म पर उनका अटल विश्वास था, और पार्टी को वह अपनी पार्टी समझते थे, तथा सिपाही की तरह उसके फरमाबरदार थे। इलाहाबाद में उन्होंने पार्टी से सम्पर्क स्थापित करने की कोशिश की, इसके लिए वह डॉ. अहमद और हाजरा बेगम से टैगोरटौन में मिले भी। पर, उन्हें पार्टी की उस समय की नीति का पता नहीं लगा। शायद वर्धा में रहने के कारण भी कितने ही कम्युनिस्ट उन्हें विश्वास के योग्य नहीं समझते थे। सोवियत के ऊपर हिटलर के आक्रमण से लड़ाई का नया रूप हो गया था, जिसे पार्टी ने स्वीकार कर लिया था। अब वह मानवता और उसकी भावी प्रगति के लिए सारी शक्ति लगाकर फासिस्तों को खतम करना अपना कर्तव्य समझती थी। वह समझने लगी थी कि यदि फासिस्त विजयी होते हैं, तो हमारा देश उनके फौलादी शिकंजे में इतने जोर से फँस जायेगा कि निकलना मुश्किल होगा। फासिस्त जर्मनी हो या जापान, वह दूसरे देशों या जातियों को एकमात्र गुलाम रहने लायक मानते हैं। यदि फासिस्तों की पराजय होती है, और मित्र-शक्तियों की विजय, तो मित्र-शक्तियों में अपने त्याग और बल से रूस भारी प्रभाव रक्खेगा, जिसके कारण ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का फन्दा कमजोर हो जायेगा। लड़ाई के बाद हुआ भी ऐसा ही, लेकिन उस वक्त इस पर हमारे देश के बहुत-से देशभक्त विश्वास करने के लिए तैयार नहीं थे।

मिर्जापुर जेल में उन्हें दो कम्युनिस्ट नौजवान मिले, जो दो ही तीन दिन बाद छूटकर चले गये। उन्होंने युद्ध के बारे में पार्टी की नीति बतलाई और यह भी कि तोड़-फोड़ में हमें शामिल नहीं होना है। उनके पास 'लोक-युद्ध' की कापियाँ भी पहुँच गईं। अब बड़े भाई का दृष्टिकोण बदलना ही था। उन्होंने एक बैठक में कह दिया—"तोड़-फोड़ का आन्दोलन फेल हो गया। गाँधीजी इसकी जिम्मेवारी नहीं लेते, और कहते हैं कि जनता ने पागल होकर यह सब किया है।" यह कहकर बड़े भाई ने भिड़ के छत्ते में उँगली डाल दी। ऊपरी वर्ग के कांग्रेसी उन्हें गद्दार कहकर तरह-तरह के आक्षेप करने लगे।

सी. क्लासवाले जिन राजबन्दियों में वह रहते थे, उनके व्यवहार-बर्ताव से प्रभावित हो चले थे। जहाँ दूसरे उनकी बात भी सुनने के लिए तैयार नहीं थे, वहाँ ये उनसे हरेक बात की जानकारी प्राप्त करना चाहते थे। सभाओं में बड़े भाई भाषण देने लगे। सी. क्लास में अब उनकी बात चलने लगी। दूसरे लोग आपस में मिलने पर 'जय सीताराम' कहा करते थे। बड़े भाई ने अपने दल में प्रणाम के लिए 'जय लंकेश' का प्रचार किया। सीताराम पूजे जाते थे, और लंकेश चवन्नी के योग्य समझे गये थे। सीताराम और लंकेश दो दल बन जाने पर अब बड़े भाई को अकेले रहने की चिन्ता नहीं थी। 10 सितम्बर से उनका मुकदमा जेल के भीतर ही होने लगा। जेल के फाटक के कोठे के कमरे को अदालत का रूप दे दिया गया था। मैजिस्ट्रेट अल्मोड़े का एक ईसाई था। बड़े भाई को हथकड़ी-बेड़ी पहनाकर उसके सामने खड़ा किया गया। मैजिस्ट्रेट ने पूछा–"तुम्हारा नाम क्या है ?"

"चन्द्रसिंह गढ़वाली।"

मैजिस्ट्रेट अपने अधिकार से बाहर की बातें करते हुए कहने लगा–"तुमने बड़ा जुल्म किया है। 36 आदमी कत्ल किये, तुम्हें फाँसी दी जायेगी।"

बड़े भाई ने कहा–"आप खुद फाँसी देंगे या उसके लिए भंगी बुलायेंगे ?"

मैजिस्ट्रेट इस पर चुप हो गया। बड़े भाई ने कहा–"आपको मैजिस्ट्रेट की तरह बात करनी चाहिए। देखना चाहिए कि मेरा कसूर है या नहीं। उससे पहिले ही फाँसी की बात करनी क्या ठीक है ?"

बड़े भाई की 24 की टोली में दो तो बलिदान हो चुके थे, 20 पहिले ही पकड़कर आये थे, बाकी दो भी अब आ चुके थे। बाईसों आदमियों पर 36 आदमियों के कत्ल का इल्जाम लगाया गया है। जिस स्टेशन को इन्होंने जलाया था, वहाँ के सोलह आदमी गवाही देने के लिए बुलाये गये थे। सबकी वेशभूषा बदल दी गई थी। पहचान करने के लिए इन्हें बहुत-से लोगों के साथ खड़ा कर दिया गया। सब पहचान करनेवालों ने कह दिया कि इनमें वह आदमी नहीं है। बड़े भाई जानते थे, सब झूठ बोल रहे हैं। स्टेशन में वह और उनके साथी इतनी देर तक रहे कि पहचाने बिना नहीं रह सकते थे। ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट ने भी दूसरों ही की तरह कह दिया। निश्चय ही था कि ऐसा कहने के समय उनके मन में यही भावना काम कर रही थी कि इन्होंने जो कुछ किया, वह अपने देश की भलाई और अंग्रेजी राज्य को नाश करने के लिए किया। दो-एक लफंगों ने कत्ल की गवाही दी, पर वह साबित नहीं हो सकती थी। एक-दो नहीं, बल्कि 36 आदमियों के झूठे कत्ल का मुकदमा चलाना आसान नहीं था। बड़े भाई ने कहा–"हम इलाहाबाद जा रहे थे। बनारस से जानेवाली लाइन टूट गई थी, इसलिए इधर से जा रहे थे।"

6 अक्तूबर की शाम को मैजिस्ट्रेट ने कहा–"कल आप लोगों को सजा सुनाई जायगी।" लेकिन, दूसरे दिन एक और मैजिस्ट्रेट ने आकर फैसला सुनाना चाहा। बड़े भाई ने आपत्ति की–"आप सजा नहीं सुना सकते। जिन्होंने हमारे मुकदमे को देखा है, वही फैसला सुना सकते हैं।" लेकिन, कानून क्या चीज है, उसे कहाँ मानना और कहाँ तिलांजलि देना चाहिए, इसे बड़े भाई से ज्यादा सरकार जानती थी। मैजिस्ट्रेट ने फटकारते हुए बड़े भाई को सात साल कैद और दो सौ रुपये जुर्माने की सजा दी। उनके साथियों को भी दो-दो, तीन-तीन साल की सजा हुई।

सजा हो जाने के बाद बड़े भाई और उनके साथियों की हथकड़ी-बेड़ी डालकर 22 अक्तूबर को बनारस सेन्ट्रल जेल में भेज दिया गया। रेल में बड़े भाई पुलिस के सिपाहियों से कह रहे थे कि विद्यापीठ के पास की धर्मशाला में मेरे बाल-बच्चों को खबर दे दो, ताकि वह मुलाकात कर लें। सिपाही तैयार नहीं हुए। इस बात को पास में बैठा एक विद्यार्थी सुन रहा था। उसने बड़े भाई से पता-हुलिया पूछ लिया। बड़े भाई के कुर्ते में एक रुपये का नोट सिला हुआ था, उन्होंने उसे निकालकर विद्यार्थी के हाथ में देकर कहा–"इसे मेरी घरवाली को देना, और स्टेशन पर मिलने के लिए कहना।" बनारस छावनी स्टेशन पर पहुँचने पर बड़े भाई को पुलिसवालों ने प्लेटफार्म पर अवस्थित रेलवे पुलिस थाने में ले जाकर एक कमरे में रख दिया। दरवाजा बंद नहीं किया गया था। उधर विद्यार्थी सीधे भागीरथीजी के पास पहुँचा, और वह अपनी बच्ची को लिये उस

कमरे के दरवाजे पर आईं। सिपाही नहीं-नहीं करते ही रहे, लेकिन वह उनकी कोई पर्वाह न कर भीतर घुसते कहने लगीं—"मैं तो वात किये विना नहीं रहूँगी।" स्त्री को बेचारे हाथ नहीं लगा सकते थे। बड़े भाई ने जल्दी-जल्दी कुछ बातें बताईं, और कहा कि पण्डितजी से मिले पैसे को लेकर इलाहाबाद आनन्द भवन में चली जाना।

बनारस सेन्ट्रल जेल में बड़े भाई एक सप्ताह से अधिक नहीं रह पाये। वहाँ दो आतंकवादी देशभक्त छह महीने से भूख-हड़ताल किये हुए थे। बड़े भाई उनसे बात करते रहे और अन्त में वह भूख-हड़ताल छोड़ देने के लिए राजी हो गये।

युक्तप्रदेश के राजबंदियों को नैनी में रखने का इंतिजाम किया गया था। बड़े भाई ने पता लगने पर भागीरथीजी के पास सन्देश भेजा—"मैं नैनी जा रहा हूँ, तुम भी इलाहाबाद चली आओ।" उनको यह जानकर संतोष था कि भागीरथीजी को विद्यापीठ से बीस रुपये बराबर मिल रहे हैं।

12 अप्रैल को वह नैनी पहुँचे। जेल में हजार के करीब राजबंदी थे। डॉ. कैलाशनाथ काटजू, लालबहादुर शास्त्री, फीरोज़ गाँधी, सरदार नर्मदाप्रसाद, विजयलक्ष्मी आदि सभी यहीं थे। उनमें कुछ गरमदली और कुछ नरमदली थे। गरमदलियों ने बड़े भाई से कहा कि हमें कवायद-परेड सिखलाइये। उनके पैरों में बेड़ियाँ पड़ी थीं, लेकिन तो भी वह कवायद सिखलाने लगे। सरदार योगेन्द्रसिंह अवध के एक बड़े तालुकदार थे। बड़े लोग कांग्रेस के आन्दोलन में खिंच तो आये थे, लेकिन वह फूँक-फूँककर कदम रखते थे। सरदार को यह क्यों पसन्द आने लगा ? जेल के अधिकारी भी इसके विरुद्ध थे। परेड रोकने के लिए कहने पर जब नहीं माने, तो बड़े भाई को सेल में बंद कर दिया गया। बगल के सेलों में 15-16 वर्ष के पाँच-छह पूर्वी जिले के लड़के बंद थे, जिन्हें चालीस-चालीस साल की सजा थी। इन लड़कों को देखकर बड़े भाई सोचने लगे—साहस के लिए शाबाशी तो इनको देनी चाहिए। वह उनसे बहुत प्रसन्न थे। अपने सेल में लेटे रात-भर वह उन्हें राजनीतिक बातें बतलाया करते और देश-विदेश के देशभक्तों की कुर्बानियों की कथाएँ कहते। सिपाहियों ने जेलर से यह बात कही। इस आदमी से कहीं भी पनाह मिलनेवाली नहीं थी। यह बात नर्मदाप्रसाद ने शिव वर्मा से कही—"यह कैसा आदमी है ? यहाँ रहते परेड सिखलाता था, और वहाँ सेल में भी कम्युनिज़्म का प्रचार कर रहा है।"

शिव वर्मा ने कहा—"जिसके दिल में आग लगी हुई है, वह कैसे उसे छिपा या बुझा सकता है ?"

शिव वर्मा ने जेलर से मुलाकात करने के लिए कहा, और बड़े भाई के आने पर उन्हें समझाया कि कुछ संयम से काम लेना चाहिए। शिव वर्मा ने जिम्मेवारी ली, और बड़े भाई सेल से बैरक में भेज दिये गये। वहाँ क्लास और लेक्चर चलते रहे। सरदार नर्मदाप्रसाद बड़े भाई से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। दाँत न रहने के कारण उनको बड़ी तकलीफ थी। सरदार ने बाहर से डॉक्टर को बुलवाकर उनके लिए दाँत बनवा दिये।

शायद श्रद्धानन्द-बलिदान या ऋषि दयानन्द का स्मृति-दिवस था। जेल के आर्यसमाजियों ने उसे मनाया। बड़े भाई भूतपूर्व आर्यसमाजी थे, इसलिए उस मीटिंग के सभापति वही बनाये गये और उन्होंने सुन्दर भाषण दिया।

ए. , बी. क्लासवालों ने बहुत कोशिश की कि बड़े भाई उनकी रसोई से खाना लें, लेकिन उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। इस पर वह नाराज हो गये।

विजयलक्ष्मी जेल से छूटीं। उन्होंने इन्दिरा के हाथ से बड़े भाई के लिए कुछ किताबें भेजीं। उन्हीं से बाल-बच्चों के कुशल-मंगल का भी पता लगा। आदमी में परिवर्तन आता है पर, प्रगति के पथ पर जिसका कदम दृढ़ है, वह अपनी जगह छोड़ता है, आगे की ओर जाने के ही लिए। आदमी तरुणाई से जितना आगे बढ़ने लगता है, उतना ही लाभ, लोभ उसके रास्ते में बाधा डालने में सफल होते हैं, और बिरले ही पथभ्रष्ट होने से बच पाते हैं। बड़े भाई के जीवन से मालूम होगा कि उन्हें फूलों के ऊपर से नहीं, बल्कि काँटों के रास्ते से चलना पड़ा, और आज भी चलना पड़ रहा है। यदि वह कम्युनिज़्म को चोला समझकर सिर्फ ऊपर पहनने की चीज मानते, तो उसे उतार-फेंककर आज बड़े आराम की जिन्दगी बिता सकते थे, लेकिन वह अपने पथ पर अचल-अडिग चलते रहे। इन्दिरा कभी कम्युनिस्ट विचारवाले विद्यार्थियों की सभा का सभापतित्व कर चुकी थीं। फीरोज़ भी कभी कम्युनिज़्म की बातें करते थे। नेहरू भी किसी वक्त अपने को किसी कम्युनिस्ट

से एक आना कम भी मानने को तैयार नहीं थे, पर अब मार्क्सवाद को वह बासी कढ़ी मानते हैं, और सेठों के रास्ते देश में समानता फैलाना चाहते हैं। इन्दिरा ने उस समय बड़े भाई को एक छोटा-मोटा उपदेश दे डाला–"बड़े भाई, आप पिताजी की बात क्यों नहीं मानते ? क्यों कम्युनिस्टों की बातें करते हैं ? पिताजी नाराज हो जायेंगे।"

बड़े भाई ने कहा–"तुम भी कभी कम्युनिस्ट थीं, तुम्हारे पति और पिता भा कम्युनिस्ट थे। मेरे-उनमें इतना ही फर्क है कि मैं अब भी अपने रास्ते पर दृढ़ हूँ।" फीरोज़ भी पास ही में थे, वह भी समझाने लगे और असफल होने पर नाराज होना स्वाभाविक ही था।

भागीरथीजी से चिट्ठी प्राप्त होती रहती थी। वह कभी-कभी कोई चीज भी दे जाती थीं।

इसी बीच भारत के फेडरल-कोर्ट के चीफ जज सर मारिस ग्वायर ने उस आर्डिनेन्स को गैरकानूनी घोषित कर दिया, जिसके अनुसार बड़े भाई और दूसरों को बड़ी-बड़ी सजाएँ हुई थीं। बड़े भाई का मुकदमा फिर से शुरू हुआ, जिसके लिए उन्हें मिर्जापुर जेल में भेजा गया। मैजिस्ट्रेट पहिले से चन्द्रसिंह गढ़वाली के नाम से परिचित और उनके काम से प्रभावित था। फिर 36 आदमियों के कत्ल का इल्जाम लगाया गया। गवाही के अभाव के कारण उसे मैजिस्ट्रेट ने खारिज कर दिया। दूसरे मैजिस्ट्रेट ने फैसला सुनाया था, इसे भी अनुचित समझा गया। 3 मई को फैसला सुनाते मैजिस्ट्रेट ने पूछा–"आपके लिए हम क्या कर सकते हैं ?" बड़े भाई ने कहा–"जुर्माना माफ कर दें, नहीं तो पुलिस हमारे बाप को तंग करेगी।" फैसला देते हुए मैजिस्ट्रेट ने जुर्माने को हटा दिया, और सजा घटाकर दो साल कर दी, जिसमें छह महीना वह काट चुके थे।

वह फिर नैनी में थे। उसी समय फीरोज़ गाँधी की रिहाई हुई। काशी विद्यापीठ ने बीस रुपया मासिक देना बन्द कर दिया था। भागीरथीजी ने फीरोज़ गाँधी से कहा कि मेरे पास खाने के लिए कुछ नहीं है। फीरोज़ गाँधी ने कह दिया–"अच्छा, रात को आके बतलाना।" बेचारी पहाड़ी स्त्री इसी समाज में काफी समय से रह रही थी, लेकिन अभी भाषा और भाव को सूत्र-रूप में कहने पर समझ लेना उसके लिए मुश्किल था। उन्होंने रात में आने का दूसरा ही अर्थ लगाया, और बिगड़ पड़ीं। फीरोज़ के लिए यह बहुत बुरी बात थी ही। उनको बहुत गुस्सा आया। तश्तरीखाने में भागीरथी को जगह मिली थी। उसमें ताला लगाकर कहा–"यहाँ से चली जाओ।" भागीरथी का पत्र जेल में आया। बड़े भाई ने मालवीयजी को लिखा कि भारती मन्दिर के द्वारा मेरी बीवी के खाने-पीने का कुछ प्रबन्ध कर दें। उन्होंने कुछ किया भी।

आनन्द भवन से निकाले जाने के बाद वह तीन-चार दिन तक दारागंज में बड़े भाई के एक मित्र के पास रहीं।

नैनी से 12 जून 1943 को बड़े भाई को लखनऊ कैम्प जेल में भेज दिया, वहाँ से उन्होंने पहाड़ीजी को लिखा कि यदि भागीरथी लखनऊ आना चाहें, तो यहाँ प्रोफेसर गणेश प्रसाद उनियालजी को पत्र दे रहा हूँ, उनके यहाँ चली आवें। वह मुझसे मुलाकात करा देंगे।

आन्दोलन में भारत के सबसे उत्तरी भाग अल्मोड़ा जिले के कितने ही पुरुष बंदी होकर कैम्प में आये थे। यह आन्दोलन इतना व्यापक था कि तिब्बत के साथ शताब्दियों से व्यापार करते मिलम के समृद्ध परिवारों के तरुण भी इसमें खिंच आये थे। इन्हीं में श्री जगतसिंह रावत भी थे। बड़े भाई का उनसे सम्पर्क हुआ और बात चलने पर उन्होंने कहा कि मेरे बच्चे इलाहाबाद में बड़ी बुरी स्थिति में हैं। जगतसिंह ने बाहर खबर भेजी और भागीरथी देवी के पास पचीस रुपये चले गये। बड़े भाई के कहने के अनुसार वह लखनऊ चली आईं। वहाँ इंतिजाम न होने पर जगतसिंह ने अपने बड़े भाई दलीपसिंह के पास हल्द्वानी में लिख दिया, जिनकी मोटरें चलती थीं। भागीरथी हल्द्वानी गईं।

हलद्वानी में पंतजी के बँगले में कोई नहीं था। दूसरे भी उनको अपने पास रखने से डरते थे। अन्त में भागीरथीजी को आर्यसमाज के अनाथालय में दाखिल कर दिया गया। वहाँ एक बड़ा-सा कमरा था, जिसमें अनाथ बच्चे रहा करते थे। उसी के पास एक कोठरी लकड़ी और कबाड़खाने का काम देती थी। उसी में एक ओर भागीरथी अपनी बच्ची और खुशहाल को लिये दिन काटने लगीं। दलीपसिंह खाने की चीजें दे देते थे। अनाथालय की प्रबन्धिका बुढ़िया रोज आकर देख जाया करती थी।

इसी समय कांग्रेसी नेता भक्तदर्शनजी ने राजनीतिक पीड़ितों के लिए एक कमेटी बनाकर उसके लिए चन्दा जमा किया। वह हल्द्वानी भी आये। उन्हें मालूम था कि चन्द्रसिंह के बीवी-बच्चे यहीं अनाथालय में हैं। आदमी की अक्ल सचमुच ही कभी-कभी मारी जाती है, और वह छोटी-सी असावधानी करके हमेशा के लिए अपने को बदनाम बना लेता है। भक्तदर्शन जानते थे कि चन्द्रसिंह के बीवी-बच्चे आर्थिक संकट में हैं, इसलिए उन्होंने खुशहाल को बुलाकर उसके हाथ पचास रुपये भेज दिये, लेकिन यह नहीं हुआ कि खुद पाँच मिनट के लिए जाकर भागीरथी से दुःख-सुख की बातें पूछ आते।

लखनऊ कैम्प–इस जेल में जब बड़े भाई पहुँचे, तो राजनीतिक बन्दियों में भारी आतंक छाया हुआ था। जरा-जरा सी बात पर लोगों को बेंत लगाये जाते। नारा लगाने पर बेदर्दी से पीटा जाता। यह उसी हैलट की राजधानी थी, जिसने उस समय बलिया में पंजाब के मार्शल-लॉ के दिनों को बुरी तरह से दोहराया था। वह चाहता ही होगा कि राजनीतिक बन्दियों के साथ जरा भी दया-मया न दिखाया जाये इसलिए एक परम कट्टर अंग्रेज भक्त मुसलमान को सुपरिंटेंडेंट रक्खा गया था।

फाटक पर पहुँचते ही तलाशी ली गई, और बड़े भाई को बैरक में भेज दिया गया। कैम्प में चार-पाँच हजार बन्दी थे। शान्ति-व्यवस्था के लिए सैनिक भी काफी संख्या में रहते थे। लोग बड़े भाई का नाम जानते थे। अब वहाँ नई ज़िन्दगी आरम्भ हुई।

एक दिन कितने ही कैदियों को बेंत लगाया गया। इस पर लोगों ने रोटी नहीं खाई। बड़े भाई भी इसमें शामिल थे। सुपरिंटेंडेंट ने आकर पूछा–"आपने क्यों रोटी नहीं ली।" बड़े भाई ने कारण बतलाया और पूछने पर अपना परिचय भी दिया। पेशावर का बन्दी समझकर मुसलमान सुपरिंटेंडेंट कुछ नरम पड़ा। फिर बड़े भाई ने कहा–"आप यदि स्वयं आराम से रहना चाहते हैं, और हमें भी रहने देना चाहते हैं, तो उसका इंतिजाम हो सकता है। यदि हलाल करना चाहते हैं, तो हमारी गर्दनें आपके सामने हैं।" सुपरिंटेंडेंट ने उन्हें आफिस में ले जाकर अपनी बेबसी बतलाते हुए कहा–"हम यहाँ लखनऊ में सरकार की नाक के सामने हैं। हमारे ऊपर खुफिया लगे हैं। अगर हम जरा भी नरमी करेंगे, तो हमारी नौकरी चली जायगी। आप ही बतलाइए, हम क्या करें ?"

बड़े भाई ने कहा–"मैं इसके लिए कुछ बातें आपके सामने रखता हूँ। यदि वह हो जाय, तो मैं समझता हूँ किसी को हैरान होने की जरूरत नहीं पड़ेगी : (1) फाटक पर किसी के साथ गाली-गलौज न किया जाय। मैं इसका जिम्मा लेता हूँ कि सब थोड़ा-बहुत काम करेंगे। (2) यदि किसी के पास कोई हथियार हो, तो उसे ले सकते हैं, बीड़ी-सिगरेट नहीं छीनना चाहिए। (3) रोटी बड़ी बुरी मिलती है, उसे अच्छी करनी चाहिए। (4) मार-पीट बन्द की जाय।" सुपरिंटेंडेंट ने वचन दिया कि मैं इन बातों पर चलने की पूरी कोशिश करूँगा।

अगले दिन गढ़वाली जयानन्द भारती ने माँड़ भरा हुआ भात लाकर उसे निचोड़कर दिखलाते हुए कहा–"यह है भोजन, हम क्या खायें।" बड़े भाई ने भारती को तुरंत सुपरिंटेंडेंट के पास ले जाकर दिखलाने के लिए भेज दिया। जमादार सुपरिंटेंडेंट के पास जाने नहीं देना चाहता था, लेकिन उसे धक्का देकर जयानन्द सुपरिंटेंडेंट के पास चले गये। भात दिखलाने पर सुपरिंटेंडेंट ने कहा–"हम क्या करें, तुम्हारे कैदी ही खाना बनाते हैं, वही ऐसा करते हैं।" बड़े भाई ने यह बात सुनी। उन्हें मालूम ही था कि कैदियों के मत्थे छुट्टी ले लेना जेलवालों का कायदा है।" किसी ने बतलाया कि जेलर रसोई से दस सेर आटा ले गया है, और अभी वह उसके आफिस में रक्खा हुआ है। इसी समय सुपरिन्टेन्डेंट आ गया। बड़े भाई ने चोरी के आटे की बात कही, तो सुपरिन्टेन्डेंट ने कहा–"यदि यह बात झूठी साबित हुई तो ?" बड़े भाई ने कहा–"यदि झूठी हो, तो मुझे सजा देना।" सुपरिंटेंडेंट वहीं से चल पड़ा। जेलर के कमरे में ताला बंद था। उसने चाभी न मिलने का बहाना करना चाहा, लेकिन सुपरिंटेंडेंट ने ताले को तुड़वा दिया। सचमुच ही वहाँ दस सेर आटा रक्खा हुआ मिला। जेलर के लिए मुँह दिखलाना मुश्किल हो गया। पीछे उसे कहीं दूसरी जगह बदल दिया गया। सुपरिंटेंडेंट ने बड़े भाई से कहा–"रसोई का चार्ज आप ले लें।" बड़े भाई ने इसे स्वीकार कर लिया। प्रबंध के लिए उन्होंने चार नौजवानों को चुना, जिसमें से एक गाजीपुर का रहनेवाला था, जो आज उत्तरप्रदेश के विकास-विभाग का सहायक अधिकारी है।

बड़े भाई ने अपने साथियों को लेकर रसोई को सँभाल लिया। वह अच्छी चीज रसद में आने देते, और तौलकर आटा रसोईघर में भेजते, लेकिन, रसोइये गोरखपुरिये साधारण अपराधी बन्दी थे, जो जेलरों और वार्डरों से मिलकर रहने में अपना लाभ समझते थे। उन्हें यह पसन्द नहीं था कि रसोई का सारा प्रबन्ध स्वराजियों के हाथ में चला जाय। और नहीं हो सका, तो वह चूल्हे की धाँय-धाँय जलती आग में आटे को झोंक देते, और खाने के लिए रोटी कम हो जाती। उनकी यह चाल दो ही तीन दिन तक चली। वह पकड़े गये। सुपरिंटेंडेंट ने बेंत लगवाकर रसोई से उन्हें निकाल दिया, और अब रसोई बनाने का भी प्रबन्ध स्वराजी बन्दियों के हाथ में था। खूब अच्छी रोटी फूली-फूली बनती। बड़े भाई ने कह दिया था कि अगर किसी के पास रोटी फूली न पहुँचे, तो उसे लौटा देना। चावल भी अच्छा, दाल भी अच्छी, साग भी अच्छा। खाने की ओर से अब सब लोग निश्चिन्त थे।

नैनीताल जेल में हैलटशाही चल रही थी। वहाँ से श्यामलाल वर्मा और कुछ दूसरे राजबन्दी कैम्प-जेल में भेजे गये। वहाँ की जेल के दुर्व्यवहार के कारण उन्होंने भूख-हड़ताल कर रक्खी थी। यहाँ आने पर भी उन्होंने हड़ताल जारी रक्खी। बड़े भाई ने समझाया कि यहाँ कोई तकलीफ नहीं है, सब अपना ही इंतिजाम है। अच्छी तरह रहें। श्यामलाल ने बात नहीं मानी, कुछ ने भूख-हड़ताल छोड़ दी, लेकिन, एक गढ़वाली कृपालसिंह इसे मानने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं हुए। वह बड़े भाई को फटकारने लगे—"तुम भूख-हड़ताल तुड़वाते हो।" वह आखिर तक डटे रहे, और बड़े भाई की बात सुनने के लिए तैयार नहीं हुए। आज कृपालसिंह अपने जिले में एक जबर्दस्त किसान-कार्यकर्ता हैं।

1945 की बरसात का अन्त था, जबकि बड़े भाई को जेल से छोड़ दिया गया।

23
पार्टी केन्द्र में (1947 ई.)

साथी यशपाल से परिचय था ही। जेल से छूटते ही वह लखनऊ में उनके घर पहुँचे। कैम्प के पास के गाँव के कुछ स्वयं-सेवकों से बड़े भाई की जेल में दोस्ती हो गई थी। छूटने के दो दिन बाद वह उस गाँव की ओर जाते एक पुल पर से गुजर रहे थे। एकाएक कुछ पुलिसवालों ने आकर उनको अपनी बाँहों में कस लिया। पीछे फिरकर देखें, तो पुलिस के सिपाही हैं। पूछा—"यह क्या ?"

"हमारी रोजी छिनी जा रही है। हम जेल के फाटक पर तैनात किये गये थे कि निकलते ही आपको गिरफ्तार कर लें, और आप वहाँ से एकाएक गायब हो गये।"

वह अपने साथ लिवाये चारवाग थाने में ले गये। संयोग से थानेदार गढ़वाली था। उसने रोटी खिलाई, बिस्तरा लगा दिया, बड़ी खातिर करने के बाद कहा—"सरकार इस शर्त पर स्वतन्त्र छोड़ने के लिए तैयार है कि आप गढ़वाल के भीतर न घुसें।" बड़े भाई शर्त के साथ रिहा होना पसन्द नहीं करते थे। थानेदार ने बहुत समझाया—"आपके बाल-बच्चे हलद्वानी में हैं, वहाँ जाने में भी कोई रुकावट नहीं है।" बड़े भाई ने भी ठण्डे दिल से सोचा, और देखा कि एक गढ़वाल छोड़कर बाकी सभी जगह जाने के लिए मैं स्वतंत्र हूँ। इसलिए जिद्द करके जेल में बन्द होने से क्या फायदा ? उन्होंने कागज पर दस्तखत कर दिया।

हलद्वानी पहुँचे। किसी ने बतलाया कि उनके बीवी-बच्चे अनाथालय में रह रहे हैं। उनके दिल को बहुत धक्का लगा। जब भागीरथीजी को उस कबाड़खाने में देखा, तो और भी बड़ा सदमा पहुँचा। भागीरथीजी ने न बतलाया होता तो अच्छा रहता। बड़े भाई को उनसे मालूम हुआ कि मेरे गाँव से 12-13 मील पर के रहनेवाले भक्तदर्शन ने हलद्वानी में आकर भी मेरे बीवी-बच्चों को देखने की भी तकलीफ गवारा नहीं की। सबसे भारी क्रोध उन्हें भागीरथीजी पर था, और कहा—"तू भिखमंगिन बन गई। तूने क्यों इन रुपयों को लिया ? जा, अब

तेरा-मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। तू चली जा गढ़वाल।" भागीरथी का दोष क्या ? उन्होंने कहा--"मेरे पास कुछ नहीं था, इसलिए मैंने रुपये लेने स्वीकार किये। मैंने खुद रुपया नहीं लिया, खुशहाल ले आया था। फिर क्या करती ?" उसी वक्त यह भी मालूम हुआ कि देवीजी के पास इलाहाबाद में जो तीन सौ रुपये जमा हो गये थे, उसे उन्होंने शादी में अपने भाई को दे डाला।

कुछ देर में बड़े भाई का पारा नीचे उतरा। कुछ कपड़े बनवाये और रानीखेत को चले। अब भी वह यही सोचकर यहाँ आये थे कि पत्नी को देघाट में पहुँचा दूँगा, जहाँ से गढ़वाल की सीमा लगती है, और फिर देवीजी अपने नायके चली जायेंगी। रानीखेत में अल्मोड़ा जिला-बोर्ड के चेयरमैन भूपालसिंह खाती, शिवदत्त उपाध्याय के भाई पूर्णानन्द उपाध्याय तथा दूसरे लोगों से भेंट हुई। उन्होंने एक होटल में ले जाकर उन्हें ठहरा दिया। गोष्ठी बैठी। बड़े भाई ने कहा–"मैं बीवी को छोड़ने जा रहा हूँ।" मामूली तौर से समझाना कठिन था, इसलिए सबने अपनी-अपनी बीवियों की शिकायतों का दफ्तर खोल दिया। मालूम होने लगा, संसार-भर की बीवियाँ भागीरथीजी से बेहतर नहीं होतीं। लेकिन, समस्या यह भी थी कि उनको रक्खा कहाँ जाय, और गुजर-बसर का क्या इंतिजाम किया जाय ? मित्रों ने अल्मोड़ा जाने के लिए किराया दे पं. हरगोविन्द पंत और देवीदत्त पंत को कोई काम दिलवाने के लिए चिट्ठी लिख दी।

अल्मोड़ा में मोटर के अड्डे पर ही पं. हरगोविन्द पंत मिल गये। बड़े भाई ने जब उनसे अपनी बात बतलाई और चिट्ठी दी, तो वह पहिले ही पूछ पड़े–"आप गाँधीवादी हैं या कम्युनिस्ट ?"

बड़े भाई ने कहा–"मैं कम्युनिस्ट हूँ।"

इस पर पंत ने कहा–"हमारे पास कम्युनिस्टों के लिए कोई जगह नहीं है।" कुछ और कहने पर कहा–"मैं तो इस वक्त कानपुर जा रहा हूँ, वहाँ से आने के बाद बात करूँगा।" एक ने तो यह सलूक किया, अब बड़े भाई देवीदत्त पंत का घर पूछते वहाँ गये। देखा, देवीदत्त और उनके मामा में झगड़ा हो रहा है। वह मामा के घर में रहते थे। किसी कारण अनबन हो गई, और अब मामा कह रहे थे, तुम हमारे घर से चले जाओ। यह देखकर बड़े भाई का माथा ठनका। तो भी चिट्ठी उन्होंने देवीदत्तजी को दी। वह उन्हें एक ओर ले जाकर बोले–"आइये मेरे साथ।" देवीदत्त उन्हें एक होटल (रॉयल होटल) में ले गये, एक कमरे में रखवा मैनेजर से बोले–"इनके खाने और मकान का जो भी खर्च हो, उसका जिम्मा मेरे ऊपर है।"

देवीदत्त एक दूसरे ही प्रकार के जीव थे। बड़े मस्तमौला, लेकिन मानवता से लबालब भरे। बड़े भाई पर चार-पाँच रुपये रोज का खर्च तो जरूर ही पड़ रहा था। बड़े भाई 47 दिन रॉयल होटल में रहे। उनका दिल विचलित होने लगा। आखिर देवीदत्त की वकालत कोई बहुत ज्यादा चलती नहीं थी। उनके ऊपर इतना बोझा डालना निष्ठुरता होती। जब यह बात बड़े भाई ने देवीदत्त से कही, तो उन्होंने कहा–"रहो गढ़वाली जी ! आखिर मेरे बाल-बच्चे होते तो उनके लिए भी तो यह करना पड़ता।"

बड़े भाई ने नहीं माना। वह वहाँ से हरगोविन्द पंत के बँगले पर गये। पहले दिन कम्युनिस्ट जानकर उन्होंने जैसा रुख लिया था, अब उसमें भेद था। पंत ने हाथ मिलाकर कुर्सी में बैठाया, चाय-बिस्कुट मँगवाया। फिर हाल-चाल पूछा। बड़े भाई ने अपनी स्थिति बतलाई। होटल में ठहरने और देवीदत्तजी के ऊपर भार पड़ने की बात कही, और कहा–कि कोई काम का प्रबंध कर दें।

"मैं तुम्हारा कोई प्रबंध नहीं कर सकता। मेरे पास कोई काम नहीं है।"

बड़े भाई ने कहा–"मैं गढ़वाल के भीतर पैर नहीं रख सकता। मेरे पास कुछ नहीं है। कुछ प्रबन्ध जरूर कीजिये।"

"मुझसे कुछ नहीं हो सकता।"

बड़े भाई ने नम्रतापूर्वक कहा–"हमारे रहने के लिए कहीं जगह दिला दें, और दो-तीन-सौ रुपये पूँजी का प्रबंध कर दें, जिसमें मैं चाय का स्टाल खोल लूँ या भैंस-गाय खरीदकर दूध बेच के काम चलाऊँ।"

–"मैं यह कुछ नहीं कर सकता। मेरी हालत भी बहुत खराब है।"

बेबसी में बड़े भाई ने कहा–"मैं क्या करूँ ? बाल-बच्चों को जहर देकर मार दूँ या त्याग दूँ ?"

—"त्याग दो, तो वह तुम्हारे बाल-बच्चे हैं। जहर देकर मारोगे, तो तुम्हें फाँसी होगी। भीख माँगना चाहो, तो माँगो।"

बड़े भाई ने अब गरम होकर कहा—"मैं तुम्हारी चाय नहीं पीता। भीख माँगना होगा, तो उन्हीं झोंपड़ियों में माँगूगा, जहाँ मैं पैदा हुआ।"

बड़े भाई चाय पिये बिना ही वहाँ से चले आये। दशहरे के दिन थे। रामलीला हो रही थी। लीला देखकर आधी रात को वह लौटे, और कमरे में सो गये। सबेरे अभी वह उठे नहीं थे कि किसी ने दरवाजे को खटखटाया—"कौन ?" पूछने पर आवाज आई—"मैं हरगोविन्द। भीतर आ सकता हूँ ?" बड़े भाई ने दरवाजा खोल दिया। हरगोविन्द जी ने भीतर आकर कहा—"मैं माफी माँगता हूँ, मैंने बड़ा कसूर किया। कल के बर्ताव से मैं लज्जित हूँ। तुम्हारी स्थिति में होता, तो यह बर्ताव मुझे कैसा लगता ? मैं बंदोबस्त कर रहा हूँ। आज आप रानीखेत चले जायें। खाती के लिए मैं एक चिट्ठी देकर लिख रहा हूँ, कि वह आपको ताड़ीखेत के राष्ट्रीय विद्यालय के बोर्डिंग हाउस में रहने के लिए जगह दे दें, और तब तक के लिए बीस रुपया मासिक का प्रबन्ध कर दें। फिर हम पीछे देखेंगे।"

बड़े भाई बीवी-बच्चों को ले रानीखेत आये। रात को श्री भूपालसिंह खाती के घर पर रहे। सबेरे आटा, चावल, नमक आदि खरीदकर बैलगाड़ी पर रख चार मील दूर ताड़ीखेत पहुँचे। उसका प्रबन्ध रामदत्त पाण्डे के हाथ में था। इन्हीं के बड़े भाई ने इस विद्यालय को बनवाया था। उसमें पढ़ाई के साथ-साथ कताई-बुनाई का काम सिखलाया जाता था। आन्दोलन के बाद वह बन्द था, इमारत खाली पड़ी थी। आज यह विद्यालय इन्टर कॉलेज के रूप में मौजूद है।

दो कमरे खोल दिये गये। बड़े भाई ने अपना सामान वहाँ रख दिया। पानी लाने के लिए भी दूर जाने की जरूरत नहीं थी। रहने लगे। बीस रुपया मासिक नहीं मिले, लेकिन, बड़े भाई आदमियों के भीतर रह रहे थे। पास के एक गाँव में ठाकुर देवीसिंह रहते थे। वह और गाँववालों ने उनके साथ बड़ा सौजन्य दिखलाया। वह आटा और साग-सब्जी दे देते। बड़े भाई ने एक चीड़ को काटकर लकड़ियों का ढेर लगा दिया। सचमुच बड़े भाई अपने हाथों को उठाकर—'इन रगों में खून है' सिर्फ दिखलाने के लिए नहीं कहते थे। वह पूरी मशक्कत कर सकते थे। चीड़ का ईंधन तैयार करने के बाद साग-सब्जी के लिए उस बड़े खेत के कुछ अंश को खोद-खादकर सब्जी बो दी, जिसे दाता ने राष्ट्रीय विद्यालय को दान किया था। गुजारा चलने लगा, यद्यपि अधिकतर भिक्षावृत्ति पर था। ऐसी स्थिति से बड़े भाई सन्तुष्ट नहीं थे। उस समय साथी रमेश सिनहा बम्बई में पार्टी केन्द्र में रहते थे। उनके पास पत्र लिखकर बड़े भाई ने अपनी स्थिति बतलाई।

एक दिन रानीखेत गये, तो अकस्मात पं. हरगोविन्द पंत मिल गये। इनकी स्थिति में सम्वेदना प्रकट करने की जगह उन्होंने कहा—"तुम बोर्डिंग छोड़ दो, हमारे ऊपर लोगों का दबाव पड़ रहा है कि वहाँ कम्युनिस्ट को बैठा रक्खा है।"

बड़े भाई ने कहा—"यह राष्ट्रीय सम्पत्ति है। अभी मकान खाली पड़ा हुआ है। जब विद्यार्थी आ जायेंगे, तो मैं स्वयं छोड़ दूँगा। जब तक नहीं आते, तब तक मैं वहाँ से नहीं हटूँगा।" बड़े भाई जिस समय यह निश्चय कर चुके थे, उसी समय पूरनचन्द्र जोशी ने सौ रुपये भेजकर लिखा कि बाल-बच्चों का प्रबंध करके तुरन्त चले आओ। यह महँगाई का जमाना था, और साथ ही चीजों का मिलना आसान भी नहीं था। एक बोरी आटा और दूसरी खाने-पीने की चीजें पचास रुपयों की लेकर, पचीस नगद के साथ भागीरथीजी को दिया, और पचीस लेकर वह बम्बई की ओर चल पड़े।

बम्बई में--पता मालूम ही था। वह सेण्डहर्स्ट रोड पर राजभवन के दरवाजे पर पहुँचें। द्वारपाल ने पूछा। बड़े भाई ने कहा—"मैं जोशी और रमेश से मिलना चाहता हूँ।" द्वारपाल ने पुर्जी दी और वह उस पर नाम लिखने लगे। इसी समय कुर्ता-जाँघिया पहने मोटा चश्मा लगाये, रूखे बालोंवाला एक आदमी आ पहुँचा। उसने पूछा—"किससे मिलना चाहते हो ? क्या नाम है ?"

"साथी जोशी से मिलना चाहता हूँ। मैं चन्द्रसिंह गढ़वाली हूँ।" वह जोशी ही थे। हाथ पकड़कर ऊपर

ले जा रहने का स्थान बतला साथियों से परिचय कराया। बड़े भाई वहाँ निश्चिन्त होकर ठहर गये, तो उनके सामने 42 पुस्तकों का ढेर लगाकर कहा गया, इन सबको तुम्हें पढ़ना और परीक्षा देनी होगी। हिन्दी जाननेवाले अकबाल, रमेश, ओमप्रकाश संगल आदि छह साथियों को पढ़ाने के लिए लगा दिया गया। "अब पढ़ो और परीक्षा दो" यही काम था। जोशी बीच-बीच में खुद पढ़ी हुई बातों को पूछते और लेक्चर देते। बड़े भाई शारीरिक श्रम के आदी हैं, मानसिक श्रम यानी पढ़ना-लिखना नहीं पसन्द करते, यह बात नहीं है। लेकिन, वहाँ तो उन्हें जोत दिया गया था। बेचारे पढ़ते-पढ़ते थक जाते। छह महीने तक इसी तरह रहे। जूआ फेंक भी नहीं सकते थे, क्योंकि साम्यवाद से उनको प्रेम था। उसी के लिए अपना सारा जीवन दिया था और उसकी ही जानकारी के लिए वह पढ़ाई में इस तरह रगड़े जा रहे थे।

जब काफी पढ़ाई हो गई, तो जोशी ने उन्हें मजूरों की सभाओं में बोलने के लिए भेजा। बड़े भाई हफ्ता-दो हफ्ता वहाँ जाकर बरावर बोलते रहे। कोई साथी उनके भाषण का नोट लेकर जोशी को देता और वह बड़े भाई की गल्तियों को बतलाते।

परेल में बैठक थी। जोशी के साथ बड़े भाई भी गये। सरदार पृथ्वीसिंह भी वहाँ आये। अब दोनों जानते थे कि हम एक परिवार के सहोदर हैं और अपने पहिले के बर्ताव को सोचकर मन में हँस भी रहे थे। वहाँ एक स्कूल की लड़की ने चन्दे में बारह पैसे दिये। लड़की की विधवा माँ साग-सब्जी बेचकर गुजारा करती थी। अपनी बेटी को जो एक-दो पैसे कभी दे देती थी, उन्हीं पैसों को लड़की ने इस समय पार्टी को दिया था। वह पैसे नीलाम किये गये और सरदार ने दो हजार में खरीद लिया। जोशी ने बतलाया–"साथियो, यह बारह पैसे बड़े हैं या दो हजार रुपये ? मेरी समझ में ये बारह पैसे ही बड़े हैं। अपने जलपान को छोड़कर इस बेटी ने इन्हें बचाकर हमें दिया। इसके साथ यह भी सीखें। तुम गरीबों के पास जाओ। वह दो पैसा देंगे, लेकिन इसके साथ-साथ वह अपना हृदय भी देंगे, जिसका मूल्य बहुत अधिक है। उसी में वह शक्ति है, जो दुनिया को बदल सकती है।"

उस समय भारतीय जननाट्य (इप्टा) बड़ी तत्परता से काम कर रहा था। बड़े भाई ने उसके अभिनयों को देखा और अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों का नजदीक से परिचय प्राप्त किया। वह उससे बहुत प्रभावित हुए।

बड़े भाई जानते थे कि कम्युनिस्टों के ऊपर जो लांछन लगाये जाते हैं, उनमें सच्चाई नहीं है, लांछन लगानेवालों की ईमानदारी पर उनको भारी सन्देह था। वह सेवाग्राम में बापू के आश्रम में रह चुके थे और यहाँ पार्टी के कम्यून (सामूहिक जीवन) में रहने का उन्हें मौका मिला था। रसोई का प्रबन्ध माँ जी (साथी सुन्दरैया की सास) करती थीं। कमरे में चार पाँती में सारे स्त्री-पुरुष खाने के लिए बैठ जाते। वहीं वह जोशी को भी देखते, डॉ. अधिकारी को, रणदिवे को, प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता डा. सुब्रायन की लड़की पार्वती को। वहीं बीच-बीच में दरवाजे का द्वारपाल, प्रेस के कम्पोजिटर और दफ्तरी भी बैठते। खाने में इतना ही फर्क था कि कोई मांस नहीं खाता था, तो उसे उसकी जगह फल या मिठाई मिलती। मांस हर रोज नहीं बनता था और मांसाहारियों से घासाहारियों की संख्या बहुत अधिक थी। सभी कम्युनिस्ट मांस खाते हैं, यह बात गलत साबित हुई। लोगों ने गाँधीजी के पास शिकायत की कि कम्युनिस्ट तो गोमांस खाते हैं, उनमें यौन-सदाचार का नाम नहीं है। गाँधीजी ने भूलाभाई देसाई को जाँच करने के लिए नियुक्त किया। उन्होंने उसकी पूरी जाँच की, वर्षों के हिसाब-किताब को देखा और इसके बाद लिखा था कि यह दोनों लांछन निराधार हैं। सेवाग्राम में भी जात-पाँत, धर्म-मजहब का कोई भेदभाव किये बिना लोग रहते थे। यहाँ बड़े भाई ने उस समानता को और भी ऊँचे दर्जे पर देखा। सफाई देखकर उनका चित्त प्रसन्न हो गया और जो अनुशासन यहाँ था, वह सेवाग्राम में कहाँ देखा जा सकता था।

पार्टी-केन्द्र में एक-तिहाई महिलाएँ थीं। बड़े भाई पास के खेतवाड़ीवाले मकान में रहते थे। छोटी-छोटी बातों को देखने का उनका स्वभाव है। वह रात को कम्पोजिंग या दूसरा काम करने के बाद थककर सोये जवान लड़के-लड़कियों को तख्ते पर चित पड़े देखते। उनके बीच रुकावट का प्रयत्न नहीं किया जाता था,

लेकिन किसी तरह का कुविचार, कदाचार, गुप्त प्रेम को उन्होंने नहीं देखा। लड़कियाँ कहतीं–"बड़ा भाई, चलो अखबार बेच आयें।" बड़े भाई भी उनके साथ हो लेते। 'लोक-युद्ध', 'पीपुल्स एज' तथा दूसरे अखबार बेचने के लिए टोलियाँ निकलतीं। लोग उन्हें खरीदते। पार्टी के अखबारों को पूँजीपति विज्ञापन क्यों देने लगे ? उसकी एजेन्सी लेने में भी आनाकानी की जाती थी। विरोधी कहते थे कि कम्युनिस्टों के पास मास्को से रुपया आता है। भूलाभाई ने वर्षों के हिसाब-किताब को देखकर गाँधीजी को लिखा था कि इनको पैसा हमारे देश के ही लोग देते हैं, जिसका कौड़ी-कौड़ी का यह हिसाब रखते हैं।

कम्यून में 72 के करीब स्त्री-पुरुष थे। उनके शिष्ट और मधुर बर्ताव को देखते हुए बड़े भाई समझते थे कि हम किसी दूसरे ही लोक में आ गये हैं। योग्यता के अनुसार उनके काम अलग-अलग थे, लेकिन मिलते वक्त वह सब समान थे। उन्होंने सिद्धान्त बहुत पढ़े-सुने थे, लेकिन यहाँ उन्होंने कम्युनिज़्म को जीवन में देखा। इस जीवन को वह बहुत पसन्द करते थे।

रानीखेत में बड़े भाई ने भागीरथीजी को ताड़ीखेत के राष्ट्रीय विद्यालय में छोड़ा था। पं. हरगोविन्द पहिले ही निकलने की बात कर चुके थे। जब निकलते नहीं देखा, तो खातीजी ने बाकायदा रजिस्टरी करके नोटिस दी–तुम हमारे आश्रम को खाली कर दो। बड़े भाई ने उस नोटिस को जोशीजी को दिखलाया। जोशी ने कहा–"अच्छी बात है।"

एक दिन अहमदाबाद से एक तरुण एक सुन्दरी लड़की को लेकर नीचे आया। लड़की सोने से लदी हुई थी। सूचना पा जोशी वहाँ आ पहुँचे। तरुण पार्टी-मेम्बर था। जोशी ने उससे पूछा–"और यह कौन है ?"

"कामरेड है।"

"कैसी कामरेड ? तुम छुट्टी लेकर यहाँ आये ?...हाँ, शादी करना चाहते हो ?" लड़की ने भी कहा–"हम शादी करना चाहते हैं।"

जोशी ने माँ को बुलाकर कहा–"माँ, इस लड़की को ले जाइये, और अपने पास रखिये।" फिर तरुण से कहा–"तुम अपने काम पर जाओ। लड़की तीन साल यहाँ रहेगी, फिर शादी की बात होगी।"

पार्टी-केन्द्र में शिक्षा का काम समाप्त हुआ। जितनी पुस्तकें पढ़ने के लिए दी गई थीं, उन्हें पढ़ डाला, और यह भी साबित किया कि वह उन्हें समझते हैं। बाहरवाले आश्चर्य करते हैं कि किसी भी प्रश्न पर देश के भिन्न-भिन्न भागों में बिखरे हुए कम्युनिस्ट क्यों एक ही तरह का मत रखते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर भी सभी देशों में उनकी यह एकता आश्चर्यकर है। इसका अर्थ बाहर के शत्रु या अशत्रु यही लगाते हैं कि 'सबहि नचावें रामगोसाईं', सब मास्को के हाथ की कठपुतली हैं, वहाँ से जो इशारा होता वही ये लोग बोलते हैं। एक नहीं, हजारों बातों में मास्को से आदेश आता है, भारत की किसी कोयले की खान में हड़ताल होती है, उसके लिए भी मास्को से आदेश आता है ! अन्न या किसी दूसरी समस्या पर गढ़वाल या त्रावनकोर में कोई आन्दोलन होता है, उसका भी आदेश मास्को से आता है ! यह बातें विश्वास की नहीं हैं। वस्तुतः कम्युनिस्ट नेताओं और उनके कर्मियों का मार्क्सवाद और उससे सम्बन्ध रखनेवाले साहित्य का गम्भीर अध्ययन ही इस एकता का कारण है। सभी समस्याओं पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हुए वह एक ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। मार्क्सवाद उन्हें एक प्रकार की दृष्टि (दर्शन) देता है, जिसकी सहायता से वह दो-दो चार कहें, तो इसमें अचरज करने की जरूरत नहीं। यहाँ न शिवजी की बरात है, न बेनकेल के ऊँट हैं।

1945 के वर्षा के दिन, जुलाई या अगस्त का महीना था। इसी समय बंगाल के नेत्रकोणा में सारे भारत के किसानों का कान्फ्रेन्स हो रहा था। वहाँ जाते समय बड़े भाई को जोशी ने अपने साथ ले लिया। देश के कोने-कोने के किसान नेता वहाँ आये हुए थे। भारी जमावड़ा था। हजंग नामक एक जनजाति पूर्वी बंगाल में रहा करती है, जो सामाजिक विकास में सबसे पिछड़ी जातियों में है। उनकी स्त्रियाँ कमर से नीचे एक कपड़े का टुकड़ा बाँधती हैं, बाकी सारा शरीर नग्न रहता है। उनसे सहानुभूति रखनेवाले सफेदपोश इसी में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं कि उनके मधुर गीतों को जमा किया जाय, उनके लोक-नृत्यों का वर्णन कर

दिया जाय और हो सके तो फिल्म ले लिया जाय। इससे अधिक अगर करते हैं, तो यही कि इनकी लोक-कला का सम्मान किया जाय। साथ ही यह भी परामर्श देते हैं कि इनके इस प्राकृतिक जीवन पर कोई आँच न आने पावे। क्या है उनका प्राकृतिक जीवन ? अब वह सुरक्षित जंगलों में स्वेच्छापूर्वक शिकार और फल-संचय करके निर्द्वन्द्व जीवन बिताने के लिए नहीं छोड़े गये हैं। आज के प्रभु वर्ग ने अपने आर्थिक ढाँचे में उन्हें जकड़ लिया है, और हर तरह से उनका शोषण किया जाता है। वह खेत जोतते हैं, लेकिन जमींदार यह कोशिश करते हैं कि खेत पर उनका कोई हक न होने पावे, और दस मन में से दो मन भी उनके पास न रहे। मालगुजारी की दर बड़ी कड़ी है और ऊपर से तरह-तरह के और गैरकानूनी कर तथा बेठ-बेगार देनी पड़ती है। हड्डियों को पेरकर उनसे काम लिया जाता है, और मजूरी के नाम पर इतना भी नहीं दिया जाता कि वह अपने परिवार का पेट पाल सकें। लोक-कला और प्राकृतिक जीवन को सुरक्षित रखने के नाम पर इसी जीवन को अक्षुण्ण बनाये रखने की कोशिश की जाती है। कोई नहीं कहता कि उनकी लोक-कला उपेक्षणीय है, उसकी कदर नहीं करनी चाहिए। आखिर हमारे देश से कहीं अधिक उसके संरक्षण का काम सोवियत-संघ में हुआ है, लेकिन वहाँ यह प्रयत्न नहीं किया गया कि साइबेरिया के एस्किमो लोगों को आदिम जनजातिक युग में रक्खा जाय। वहाँ उनकी कलाओं का संरक्षण ही नहीं किया गया है, बल्कि इतना प्रचार किया गया है कि राष्ट्र की दूसरी समुन्नत जातियाँ भी उनसे सीखती उनमें से कितनी ही बातों को अपनाती हैं। इसके साथ ही कोशिश करते हुए यह भी सफलता प्राप्त की गई है कि वह परमाणु-युग में आ जायें।

उस समय बंगाल में जगह-जगह रॉयल गढ़वाल राइफल्स की 8 नम्बर पलटन तैनात थी। जिस गढ़वाली सैनिक को भी मालूम होता कि चन्द्रसिंह आ रहे हैं, वह उनके दर्शनों के लिए लालायित हो जाता, 'चन्द्रसिंह गढ़वाली की जय' बोलता।

कान्फरेंस तीन दिन तक रही। जोशी ने कहा, व्याख्या देना ही होगा। इतनी बड़ी सभा में बड़े भाई कभी नहीं बोले थे। बड़े भाई बीस मिनट बोले। जोशी ने पीठ ठोंकते हुए कहा–"बड़े भाई, अब तुम नेता बन गये।"

बड़े भाई छोटे से बड़े सभी तरह के कांग्रेसी नेताओं को देख चुके थे। एक दिन कुछ दूर पर किसी जगह व्याख्यान देने के लिए जोशी, उनकी पत्नी कल्पना और बड़े भाई मोटर से जा रहे थे। बादल का रुख कुरुख देखते मोटर को ठहराकर जोशी ने कहा–"जल्दी उतरो।" उतरते-उतरते मूसलाधार वर्षा होने लगी। चारों ओर पानी भर गया। उस पानी के समुद्र में मोटर नहीं जा सकती थी लेकिन आगे सभा होनेवाली थी। लोग जोशी की प्रतीक्षा कर रहे थे। वर्षा का बहाना करके वह वहाँ जाने से रुक कैसे सकते थे ? औरों को वहीं छोड़ जोशी ने टाट का झोला अपने सिर पर रक्खा, कल्पना ने अपनी मोटरी उठाई। पानी में छप-छप करते वह चल पड़े। किसी ने अपने सबसे बड़े नेता के सामान को उठाने का आग्रह नहीं किया। आग्रह करने पर भी नेता कब उसे मानता ? एक वह नेता था, और दूसरे वह, जो कि अपने अटैचीकेस को भी बिना कुली के हवाला किये एक कदम नहीं चल सकते।

लेकिन, इसका यह मतलब नहीं कि सभी कम्युनिस्ट नेता एक ही लम्बाई-चौड़ाई के थे। किसी-किसी के व्यवहार में कुछ नेतापन की बू भी आती थी। वहीं बंगाल के एक नेता को उन्होंने देखा। वह स्वयंसेवकों के पास जाकर हुकुम की टोन में कहते थे–"ओ, इसे करो।" फिर उन्होंने आन्ध्र में जाकर वहाँ के सबसे बड़े नेता और भारत के कम्युनिस्टों के भी एक प्रमुख नेता सुन्दरैया को देखा, जो साधारण स्वयंसेवकों में जाकर उनसे अभिन्न हो जाता, काम को स्वयं करते दूसरे को हाथ बटाने के लिए कहता।

नेत्रकोणा की यात्रा में बड़े भाई कुछ गाँवों में भी गये। वहाँ के किसानों की हालत बहुत खराब थी। बाहर से देखकर ही वह कैसे रहते ? वह घरों के भीतर गये। मुसलमानों के गाँव के गाँव थे। एक घर की मढ़िया में जाकर देखा। एक ओर बीस सेर धान रक्खा हुआ, थोड़ी-सी दाल और आध सेर नमक था। न जाने कितने महीनों के लिए उस परिवार के पास यह सम्बल था। कपड़े फटे हुए थे। टूटी चारपाई थी। एक पीतल की पतीली के अतिरिक्त सभी बर्तन मिट्टी के थे। सारे गाँव की यही हालत थी। आसपास पानी बारहो महीने बना रहता था। किसान वहाँ से थोड़ी-सी मछली मार लाते। भाजी के लिए बीजवाला केला था। यही

खाना था। कम्युनिस्ट पार्टी ने गरीबों में इतना सौहार्द पैदा किया था कि हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे का भेद नहीं रखते थे।

नेत्रकोणा से उन्हें पार्टी के नेताओं के साथ आन्ध्र जाना पड़ा। पहिले ही से पता था, इसलिए स्टेशनों पर लाल झण्डा लिये लोग 'चन्द्रसिंह बाबा की जय' का नारा लगाते स्वागत करने के लिए आते। बेजवाड़ा के पास एक गाँव में एक खाते-पीते किसान जमींदार के घर में उन्हें ठहराकर सुन्दरैया तुरन्त निकल पड़े। नेत्रकोणा में सुन्दरैया के भाषण के चमत्कार को बड़े भाई देख चुके थे। यहाँ वह सभी बातों को और भी नजदीक से देखना चाहते थे, इसलिए सुन्दरैया के निकलते वह भी उनके पीछे-पीछे दौड़े। सुन्दरैया पहिले कैम्प में गये, टट्टी देखी। "गन्दी है", फिर चीजों को स्वयं इधर-उधर करते कहने लगे—"इसे साफ करो।" फाटक को देखा—"यह अच्छा नहीं बना है।" खम्भा पकड़कर ऊपर चढ़ गये, और कुछ को ठीक करते और बाकी की हिदायत करते वहाँ से उतरे तो रसोई में पहुँचे। चटनी चख ली, भात को जरा-सा खाकर देखा। जिसे अच्छी देखते, उसकी तारीफ करते, जिसमें कमी पाते, उसके लिए हिदायत करते। आन्ध्र का यह जनप्रिय नेता चल नहीं रहा था, बल्कि मालूम होता था—उड़ रहा है। बड़े भाई पीछे-पीछे सब जगह घूमे। पशुओं की प्रदर्शनी थी। बड़े भाई, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा हरियाने का हरेक भाई यही समझता होगा कि सबसे अच्छी नसल की बैल और गायें हमारे ही यहाँ होती हैं। वहाँ बड़े भाई ने हजारों रुपये की बैल-जोड़ी देखी। कितने बड़े, कितने बृहत्काय, सुपुष्ट और सुन्दर बैल थे। उनके मालिक अपने बैलों को कितना प्रेम करते थे। उन्होंने उनकी सीगों को सोने से मढ़ रक्खा था, पीठ पर जरीवाले कमखाब के झूल डाले थे।

बड़े भाई नेत्रकोणा के किसानों को देख आये थे। उन्हें आन्ध्र के किसान समृद्ध दिखाई पड़े। उनका खान-पान अच्छा, कपड़े भी साफ-सुथरे, मकान भी स्वच्छ और मजबूत बने हुए थे। उनकी अतिथि-सेवा को देखकर वह मुग्ध हो गये। सबेरे बिस्तरे पर रहते ही पानी आ जाता। फिर इडली के साथ चाय, नाश्ते के लिए वहीं मिलती। इडली के साथ कटोरियों में घी और चीनी भी जरूर रहती। ऐसे किसान भारत के कितनी जगहों में हैं ? हाँ, यह ठीक है कि आन्ध्र के भी सारे किसान ऐसी स्थिति के नहीं थे। वहाँ के अछूत कहे जानेवाले लोगों की स्थिति तो उत्तरी भारत के बदतर गरीबों से भी बदतरीन है।

आन्ध्र के कम्युनिस्टों ने केवल राजनीतिक जागृति और किसानों-मजदूरों के अधिकारों के लिए जद्दोजहद करने तक ही अपने काम की इतिश्री नहीं समझी। वह आन्ध्र-संस्कृति के भी उन्नायक हैं। उन्होंने वहाँ के लोक-गीतों, लोक-नृत्यों, जनप्रिय पँवाड़ों के संरक्षण और प्रचार की जिम्मेवारी अपने ऊपर ली। उच्च शिक्षित तरुण-तरुणियाँ खुलकर भाग लेती हैं। बड़े भाई ने जब वहाँ के लोक-गीतों, वहाँ के नृत्यों को देखा, तो उन्हें अपने गढ़वाल की लोक-कला याद आने लगी। वह अब तक पांडव-नृत्य को गँवारू समझते थे, यद्यपि घर में रहते उन्होंने स्वयं अर्जुन का नृत्य किया था। वह गढ़वाली लोक-गीतों की पर्वतों को गुँजा देनेवाली मधुर तान को भी उजड्ड गाँववालों की चीज समझकर नाक-भौं सिकोड़ते रहे, लेकिन अब यहाँ उन्होंने इन चीजों को देखा, तो उन्हें मालूम होने लगा कि गढ़भूमि धन के लिए ही वसुन्धरा नहीं है, बल्कि लोक-गीत, लोक-नृत्य, लोक-कला के रूप में भी उसके पास भारी कोश है। उन्होंने सोचा—'हमारे यहाँ भी इन चीजों को इसी तरह ऊपर लाना है।'

सभा में बड़े भाई को भी व्याख्यान देना पड़ा। नेत्रकोणा में उनके हिन्दी भाषण का अनुवाद साथी भवानी सेन ने किया था, और यहाँ सुन्दरैया अनुवादक थे। इस भाषण के लिए पीछे बड़े भाई और सुन्दरैया पर वारन्ट भी निकला था, लेकिन तब वह वहाँ नहीं थे।

आन्ध्र से लौटकर वह बम्बई आये। बम्बई के पास ही बंगाल के हरिजन लोगों की तरह वारली में एक जनजातिक लोग रहते थे। पुरुष रस्सी में बँधी हाथ-भर की लंगोटी कपड़े की पर्याप्त समझते थे। स्त्रियाँ कमर से नीचे चार हाथ का फटा चीथड़ा लपेटतीं, और छाती ढाँकने के लिए फटी चिट से काम लेती थीं। इनके घर खजूर के पत्तों की झोंपड़ियाँ थीं। सबेरे से रात तक और पैदा होने से मरने तक यह लोग मर-मरकर काम करते, लेकिन उनका जीवन पशुओं से बदतर है। साथी परुलेकर और दूसरे कम्युनिस्टों ने उनके ऊपर

होते जुल्म को देखकर संगठन करना शुरू किया। वारली जिन खेतों को जोतते थे, मालिक उन पर हक नहीं होने देना चाहते थे। तीन पैसे में दिन-दिन भर काम लेते, और जरा-सा भी इन्कार करने पर खुद पीटते। पुलिस भी मानो अत्याचारियों के लिए थी, इसलिए इन निरीह लोगों की कहीं सुनवाई नहीं थी। बड़े भाई ने जाकर उन्हें अपनी आँखों से देखा। इतने दबे-सताये लोग अब नींद से करवट बदलने लगे। सचमुच ही उनके पास "अपनी जंजीरों को खोने के सिवा और था ही क्या !"

बड़े भाई को पार्टी-मेम्बर बनने के योग्य समझा गया। वर्षों से बड़े भाई पुस्तकों को पढ़ते और साथियों से सीखते अपने को कम्युनिस्ट समझते और कहते थे, लेकिन वस्तुतः कम्युनिस्ट तो उस सैनिक को कहते हैं, जो बाकायदा सिपाही बनकर पार्टी में दाखिल हो जाता है। बड़े भाई की कुर्बानियाँ सभी को मालूम थीं। ऐसे पुरुष को पार्टी की मेम्बरी देना पार्टी के लिए भी गर्व की बात थी। देश और विदेश के आधी शताब्दी के तजर्बे ने बतला दिया है कि जो एक बार कम्युनिस्ट हुआ, सारे जीवन के लिए कम्युनिस्ट है। इस पथ से भ्रष्ट वही होते हैं, जो किसी प्रलोभन में फँसे। बड़े भाई को मेम्बरी देने के उपलक्ष्य में ऊपर छत पर कितने ही साथियों की एक छोटी-सी सभा हुई। जोशी ने मेम्बरी सूचक छोटी-सी लाल किताब दी। रणदिवे और दूसरे साथियों ने छोटे-से भाषण दिये। बड़े भाई ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"मैं इतने दिनों तक पार्टी केन्द्र में रहा। यहाँ भीतर से सभी बातें मैंने देखीं, और मुझे पूरी तौर से सन्तोष हुआ।"

यह कहते हुए बड़े भाई यह भी कहना नहीं चूके कि कामरेड जोशी नेहरू पर जो इतना विश्वास करते हैं, वह मेरी समझ में ठीक नहीं है। नेहरू को मैं नजदीक रहकर जानता हूँ। बाहर निकलकर आने पर वह नरेन्द्रदेव का भोंपू, पाटिल की लाठी लेकर आयेंगे, और हर तरह से पार्टी को दबा देने की कोशिश करेंगे। जोशी ने बड़े भाई का समाधान करते हुए कहा—"सिनेमा की तरह आदमी में भी परिवर्तन होता रहता है, इसलिए नेहरू वही नहीं रह सकते।"

अब बड़े भाई को पार्टी ने कर्मक्षेत्र में जाने के लिए लखनऊ भेज दिया।

24
जनता में काम

लखनऊ से प्रादेशिक पार्टी ने उन्हें काम करने के लिए रानीखेत भेजा। 1946 की गर्मियाँ थीं। वह ताड़ीखेत पहुँचे। भागीरथी देवी ने बतलाया कि हमें लोग तरह-तरह से तंग करते रहे। रामदत्त पांडे ने हाथ पकड़कर घर से बाहर निकाल दिया था, पर मैं डटी रही। बड़े भाई ने सोचा, अब इस आश्रम से हटना ही अच्छा है। शहर में कोई सस्ता मकान न मिलने पर वह पास के चिलियानौला गाँव में गये। एक किसान ने अपने घर की ऊपरी कोठरी पाँच रुपये मासिक पर दे दी। बड़े भाई परिवार सहित वहीं चले गये। कृषि सुपरिंटेंडेंट श्री देवकीनन्दन वैष्णव गढ़वाली थे। उन्होंने बड़े भाई की स्थिति देखकर बीस रुपये भेज दिये। ऐसी आर्थिक हालत थी कि तीन मुखों का भरना भी मुश्किल था—खुशहालसिंह बड़े भाई के आने से पहिले ही नौटंकी की मण्डली में शामिल हो चला गया, उसका पता अब तक नहीं लगा। अब चौथे मुँह के आने की भी सम्भावना हो गई थी! बड़ी मुसीबत थी।

एक दिन बड़े भाई रास्ते से चले जा रहे थे, एक बूढ़ा अंग्रेज भी टहलने निकला, जिससे उनकी बातें होने लगीं। इसी समय थैला लिये एक कुमाऊँनी बूढ़ा मिला, जो कह रहा था—"हे भगवान, मेरे घर लौटने से पहिले ही हैजा आ जाय, और सारे घरवाले मर जायँ। मुझे आँखों से देखना न पड़े।"

बड़े भाई ने आश्चर्य के साथ उधर मुँह करके कहा—"बूढ़ा, तू पागल हो गया है क्या ?"

"मैं पागल नहीं हो गया हूँ। छह दिन हो गये, मेरे घर में एक दाना नहीं है। तीन रुपया कर्ज लेकर

यहाँ आया, तो कहीं अनाज नहीं मिलता। मैं घर नहीं लौटूँगा। सब मेरे सामने मरेंगे। मैं इसे कैसे देखूँगा।"

बड़े भाई को बूढ़े की बात सुनकर बहुत वेदना हुई। उसे "घबड़ाओ नहीं", कहकर वह अपने साथ चिलियानौला ले गये। वहाँ शंकरदत्त पांडे नाम का एक नौजवान दूकानदार था। उससे जाकर कहा—"चाहे आज तुम भूखे रहो, पर इसे अनाज दे दो।" शंकर ने एक रुपये का आटा और अपने पास से भी कुछ अनाज दे दिया, बूढ़ा चला गया।

उस दिन रात-भर बड़े भाई के दिमाग में भारी उथल-पुथल रही। लोग इस तरह अन्न के मारे कुत्तों की मौत मर रहे हैं। क्या उन्हें ऐसे मरने देना चाहिए ? उस रात को नींद कहाँ ? सबेरे लोटे में पानी भरकर टट्टी गये। वहाँ भी वही चिन्ता उनके दिमाग में दौड़ रही थी। उनको यह भी खयाल नहीं आया कि मैं लोटा वहीं छोड़े जा रहा हूँ। वह सीधे सप्लाई (रसद) इन्स्पेक्टर के पास पहुँचे, खूब जली-कटी सुनाई। इन्स्पेक्टर ने कहा—"कैसे अन्न नहीं मिलता ? प्रतिदिन 18 बोरी (50 मन) अनाज गाँववालों को देने के लिए बनियों को दिया जाता है।" बड़े भाई बाजार में गये, दूकानों में पूछा, कहीं अनाज का नाम नहीं था। उसी वक्त उन्होंने सीटी बजाई, और बिसाऊ (खरीदार) लोगों को आवाज दी—"सभी अन्न चाहनेवाले डाकखाने के पास जमा हो जायें, वहाँ इसी के बारे में सभा होगी।" बात की बात में वहाँ चार सौ आदमी जमा हो गये, लेकिन सभा करने से पहिले कुछ और भी करना जरूरी है, यह सोचकर बड़े भाई उन्हें एक घंटे के लिए वहाँ बैठने को कहकर निकल पड़े। गये पूर्णानन्द उपाध्याय वकील के पास—"अन्न न पा सकनेवाले लोगों की मुझे सूची बनानी है, और इसके लिए कार्रवाई करनी है, इसलिए मुझे कागज-पत्र दो।" पूर्णानन्द उपाध्याय ने उन्हें चाय पिलाई। डेढ़ रुपये का रजिस्टर और कार्बन-पेपर आदि खरीदकर दे दिया। लोग वहाँ इंतिजार करते बैठे रहे। रानीखेत में कहीं अनाज मिल नहीं रहा था, फिर वह इस धरती को कैसे छोड़ सकते थे ? बड़े भाई ने रजिस्टर में नाम, बाप का नाम, गाँव-पट्टी और कितने दूर चलकर आये आदि खाना-पूरी की। फिर लेक्चर दिया—"तुम्हारी दोनों तरफ से मौत है, अगर चुपचाप रहते हो, तो दाने बिना मर जाओगे। इसलिए मैं कहता हूँ, तुम भूख से नहीं गोली खाकर मरो। इसके लिए तैयार हो, तो अनाज मैं दिलवाऊँगा। बोलो, कौन गोली खाने के लिए तैयार है ?"

चार सौ आदमियों ने कहा—"हम गोली खाकर मरने के लिए तैयार हैं।" बड़े भाई ने बाजार में से जुलूस निकाला। वह नारा लगा रहे थे—"हम क्या चाहते हैं ?" "गेहूँ चाहते हैं।" रसद का बड़ा अफसर एक अंग्रेज था, वही जिसके भाई की नाक हैदर ने काट ली थी। जुलूस को लिये बड़े भाई उसके पास पहुँचे। अंग्रेज अफसर ने कहा—"क्या हो गया है ?"

बड़े भाई ने कहा—"लोग अन्न बिना भूखे मर रहे हैं, तुम्हारे रहते यह सब हो रहा है।" उन्होंने अफसर को सारी बात बतलाई। उसने इन्स्पेक्टर तिवारी को चिट्ठी लिखकर कहा—"इन्हें एक-एक रुपये का गेहूँ दिलवा दो।" वहाँ से जब नीचे उतर रहे थे, तो एक बँगले में से डॉ. रशीदजहाँ निकल आईं—डॉ. रशीदा, परमत्यागी कम्युनिस्ट नेता महमूद जफर की बीवी। स्वयं भी उर्दू की एक सिद्धहस्त लेखिका थीं। देहरादून जेल में उनसे कैसे मुलाकात हुई थी, यह हम बतला आये हैं। देहरादून की एक घटना है। रशीदा जेल में आई थीं, हरिश्चन्द्र बाजपेयी तथा दूसरे साथी बादाम के साथ भाँग घोटकर शर्बत बनाकर पिया करते थे। शर्बत तैयार था। बड़े भाई वहाँ नहीं थे, इसी समय उन्होंने एक गिलास रशीदा के हाथ में थमा दिया। बड़े भाई के आते-आते वह उसमें से काफी पी चुकी थीं। बड़े भाई ने बाकी को पीने से रोक दिया। रशीदा उसी रात अपने पति से मिलने देवली कैम्प जा रही थीं। बड़े भाई ने कहा—"आज आप सफर न करें और दरवाजा बन्द कर सो जायें। रशीदा ने कभी भाँग नहीं पी थी, नशा भी तेज था। वह तब तक परेशान और पागल-सी रहीं, जब तक कि नींद ने आकर दबा नहीं दिया। बड़े भाई ने उनके साथ बड़ा उपकार किया था। अगर वह रेल पर चढ़ गई होतीं, तो उनकी क्या हालत होती ? उस दिन रानीखेत में जुलूस के नारे को सुन बँगले से बाहर निकलकर उन्होंने देखा, बड़े भाई लोगों को लिये जा रहे हैं। उन्होंने पास आकर पूछा—"बड़े भाई, यहाँ कैसे ?" बड़े भाई ने पूछा—"और आप यहाँ कैसे ?" रशीदा ने बतलाया—"मैं गर्मियों के लिए यहाँ आई हूँ। महमूद भी यहीं हैं।" और उन्होंने

यह भी बतलाया कि रामपुर की बेगम साहिबा भी हमारे साथ हैं।

बड़े भाई फिर आने का वादा करके वहाँ से चल दिये।

पहुँचे तिवारी के पास। तिवारी ने कहा—"यहाँ कहाँ है एक-एक रुपये का गेहूँ ? जाओ, बाजार में इन्कलाब करो।"

बड़े भाई ने पूछा—"तो आप गेहूँ नहीं दिलवायेंगे ?"

"नहीं।"

बड़े भाई 'इन्कलाव जिन्दाबाद' करते लोगों को साथ लिये अनाज गोदाम की ओर बढ़े। गोदाम में बड़ा-सा ताला लगा हुआ था। हथौड़े को लेकर उन्होंने ताला तोड़ दिया और लोगों से कहा—"बोरियाँ निकालकर बाहर ले आओ, सबको तौल-तौलकर अनाज दिया जायेगा।" बाहर निकालकर खोला, तो देखा—गेहूँ की नहीं, चीनी की बोरियाँ हैं। बड़े भाई ने कहा—"इन बोरियों को जहाँ की तहाँ रख दो, हमें चीनी नहीं, गेहूँ चाहिए।" चीटियों की तरह लोग लग पड़े और बात की बात में सारी बोरियाँ अपनी जगह पर पहुँच गईं।

इस वक्त ऐसा तूफान मचा था कि सड़क पर मोटरों का जाना रुक गया था। भारी भीड़ थी। खबर लगते ही पुलिस लिये एस. डी. ओ. वहाँ पहुँच गया। सप्लाई अफसर भी चला आया। उसने यह दृश्य देखकर—'शाबाश चन्द्रसिंह' कहते यह भी कहा—"जिसके कहने पर लोगों ने बाहर निकाली चीनी की बोरियों को फिर अपनी जगह पर रख दिया, वह लुटेरा नहीं है।" फिर कहा—"चन्द्रसिंह, क्या माँगता है ?"

बड़े भाई ने कहा—"गेहूँ। इनमें से जो जितने मील दूर से आया है, उसे उतने रुपये का गेहूँ मिलना चाहिए।" गाँव के लिए जो अनाज मिलता था, उसे बनिये चोर बाजार में बेच देते थे, इसलिए सरकार की ओर से नियुक्त किसी दूकानदार के पास एक भी बोरी गेहूँ नहीं था। लोगों को मील के हिसाब से अनाज दे दिया गया। फिर बड़े भाई ने डाकखाने के पास एक सभा करके बतलाया कि अन्न बिना भूखे मरने से बचने के लिए हमें संगठित होना चाहिए। यह ऐसी घटना थी, जिसे रानीखेत और आसपास के इलाके के लोग कैसे भूल सकते थे ? लोगों ने समझा, यहाँ एक आदमी है, जो इतना काम कर सकता है।

उस दिन के बाद बड़े भाई नाम की लिस्ट बनाकर देते और उन्हें फी मील एक रुपया के हिसाब से अनाज मिलता। अन्न की समस्या को हल करने के लिए अन्न परामर्श समिति बनी, जिसके प्रेसीडेंट बड़े भाई और मन्त्री रामकृष्ण खत्री बनाये गये।

पानी का झगड़ा—लड़ाई खतम हो चुकी थी, लेकिन अभी भी अमेरिकन सैनिक जहाँ-तहाँ पड़े हुए थे। रानीखेत में उनका और अंग्रेज सैनिकों का काफी जमावड़ा था। उनके लिए पानी पूरा मिलना चाहिए, इस ख्याल से बाजार के नलकों पर ताला लगा दिया गया था, और चौबीस घण्टे में सिर्फ दो घंटों के लिए ताला खुलता था। पहुँचकर जिसने ले लिया, उसे पानी मिल गया, नहीं तो प्यास के मारे तड़पना पड़ता। खास कर आने-जानेवाले लोगों की बुरी हालत थी। अन्न की जो हालत थी, उसके बारे में हम बतला आये हैं। बड़े भाई ने पानी के अकाल के बारे में अल्मोड़ा के डिप्टी-कमिश्नर को चिट्ठी लिखी—"बरसात आ गई है, और लोग पानी बिना तड़प रहे हैं।" साथ ही यह भी कि "मोटर टिकट लेने की जगह पर कोई छत नहीं है।" डिप्टी-कमिश्नर के पास लिख देने-भर से बड़े भाई अपने काम को पूरा कैसे समझ लेते ? उन्होंने बाजार में बनियों से माँगकर 62 टिन जमा किये। फिर मोटरों के मालिक एक मुसलमान सज्जन के पास पहुँचे। उनसे कहा कि आप अपनी मोटरों में हमारे टिन को भुवाली भेजवा दें। वहाँ हम पानी भर देंगे, और फिर अपने ड्राइवर को कह दें कि वह एक-एक, दो-दो टिन अपनी मोटरों पर रखकर यहाँ पहुँचा दें। यह काम शुरू हो गया। पहिले एक-दो दिन बड़े भाई भुवाली में स्वयं टिनों को भरते, फिर दूसरे भी सहायता करने लगे। अब मोटर-स्टैण्ड के पास उन्होंने एक प्याऊ लगा दिया। रोज 62 टिन पानी आने लगा। पीछे बड़े भाई को कभी ही कभी भुवाली जाना पड़ता और कुछ नौजवानों ने यह काम अपने ऊपर ले लिया।

एक दिन की बात है। बड़े भाई को पता लगा, कि बदरीनाथ का एक यात्री नाले पर मर गया है। बदरीनाथ से देश लौटनेवाले कितने ही यात्री चौखुटिया से द्वाराहाट-रानीखेत होते काठगोदाम में रेल पकड़ते

हैं। बेचारे यात्री को दस्त लगने लगे थे। उसी में लथपथ वह मरा पड़ा था। बड़े भाई वहाँ पहुँचे। बड़ी बदबू आ रही थी। उसके ऊपर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। मृतक की अन्तिम क्रिया का कोई प्रबंध करना चाहिए। उन्होंने उसी के कम्बल में मुर्दे को बाँध दिया, और अपनी पीठ पर लादकर मोटर के अड्डे पर पहुँच मैनेजर जोशी के सामने रख दिया। उसने पूछा–"क्या है ?"

"आदमी मर गया है। इसके क्रिया-कर्म का प्रवंध करो।"

जोशी ने दस रुपये दे दिये, लेकिन यह काफी नहीं था। बड़े भाई ने फिर मुर्दे को पीठ पर उठाया, और एक वनिये की दूकान के सामने ले जाकर रख दिया। उसने हाथ जोड़ते हुए बीस रुपये दिये और कहा–"इसे हटवाइये।" तीस रुपया भंगियों को देकर बड़े भाई ने मुर्दे को जलाने का इंतिजाम कर दिया।

रानीखेत की जनता अपने निष्काम सेवक को समझने लगी। कांग्रेसी भी जेलों से छूट आये थे। पता लगा, पंतजी नैनीताल में बीमार हैं। उस दिन उन्होंने कनस्तर में पानी भरने का काम दूसरे को देकर भुवाली से नैनीताल का रास्ता लिया। पंतजी जिस बँगले में ठहरे हुए थे, वहाँ उस समय चन्द्रभानु गुप्त और दूसरे भी कितने ही नेता थे। सबका चाय-पानी हो रहा था। बड़े भाई ने मुलाकात के लिए पुर्जी लिखकर भेजी। जवाब आया, थोड़ा ठहर जाओ। बड़े-बड़े नेता चाय पीने के बाद ताल की ओर चले गये। अब पंतजी ने उन्हें बुलाकर पूछा–"कैसे आये ?"

बड़े भाई ने कहा–"आपके दर्शन के लिए, यहाँ जो अन्न की समस्या है, उसके बारे में कहने के लिए।"

इसी समय पंतजी ने भीतर की ओर आवाज दी–"भाउ ओ भाउ, चाय बचत है ?"

बड़े भाई को यह बात अपमानजनक मालूम हुई। यदि चाय पिलाना चाहते थे, तो दूसरों के साथ क्यों नहीं पिला दिया। बची-खुची चाय पिलाने का क्या अर्थ ? बड़े भाई ने कहा, "मैं चाय नहीं पीता।" फिर उन्होंने रानीखेत में जो अन्न की और दूसरी तकलीफें थीं, उनके बारे में कोई व्यवस्था करने के लिए कहा। पंतजी ने कहा–"हम कुछ नहीं कर सकते, लोगों को मरने दो।"

वहाँ से बड़े भाई ताल के किनारे पहुँचे। रोटी-चाय मिल गई, लेकिन रहने के लिए कहीं जगह नहीं थी। रात कहाँ काटी जाय। सब जगह घूमकर थक गये। इस्लामी धर्म के अनुसार हरेक आदमी के भले-बुरे काम को लिखने के लिए उसके कंधे पर करामन-कातबीन दो फरिश्ते रहा करते हैं। बड़े भाई के पीछे-पीछे भी उसी तरह दो सी. आई. डी. रहते थे। उनको यद्यपि शैतान का काम मिला था, लेकिन आदमी रहना भी चाहे, तो भी वह हर वक्त शैतान नहीं रह सकता, कभी न कभी वह फरिश्ता भी बन जाता है। उनमें से एक पंचमसिंह दुगड्डा का रहनेवाला था। बड़े भाई को इस तरह भटकते देखकर एक धर्मशाला में ले जा उसने दरवाजे पर लात मारी। भीतर तीन पंजाबी मिठाई-पूरी खाते शराब पी रहे थे। पंचमसिंह ने परिचय दिया, और कहा कि इन्हें भी यहाँ रात को रहना है। पंजाबियों ने कहा–"आइये साहब।" उन्होंने इन्हें भी कुछ खाने के लिए दिया। बड़े भाई के पास मामूली कमीज थी। वह नैनीताल की रात की सर्दी को कैसे रोक सकती थी ? बड़ी मुश्किल से रात बीती। सबेरे उन्होंने 'नैनीताल की एक रात' के नाम से एक चिट्ठी लिखकर पंतजी के पास भेज दी। उसका उद्देश्य सिर्फ अपनी तकलीफ बतलाना नहीं था, बल्कि रानीखेत की जिस तकलीफ को वह लेकर पंतजी के पास आये थे, उसका भी उल्लेख किया। पंतजी ने जवाब भेजा–"मैं रानीखेत आ रहा हूँ, वहीं सब बातें करूँगा।"

पंतजी रानीखेत आये। डिप्टी-कमिश्नर डोनाल्डसन को जो चिट्ठी भेजी थी, उसके अनुसार वह भी उसी दिन रानीखेत पहुँचा। आदित्यराम दूदपुड़ी ताड़ीखेत में चरखा आदि की परीक्षा देकर बड़े भाई के पास आया था। वह उसे मोटर-स्टैण्ड पर छोड़ने के लिए गये। वहीं मालूम हुआ कि डिप्टी-कमिश्नर मेरे बारे में पूछ रहा था। वह उस समय जेल पर गया था। वहाँ पहुँचने पर तहसीलदार ने डिप्टी-कमिश्नर से कहा कि ये चन्द्रसिंह गढ़वाली हैं।

डिप्टी-कमिश्नर ने रूखे स्वर में कहा–"हम तुमसे बात नहीं करेंगे !"

"आप तो मुझसे बात कर रहे हैं।"

डिप्टी-कमिश्नर–"नहीं, हम बात नहीं करेंगे, तुम गुण्डा है।"

बड़े भाई ने कहा–"वतलाइये, गुण्डा किसे कहते हैं ?"

इस तरह झगड़ते-झगड़ते मोटर-अड्डे पर पहुँचकर उन्होंने बतलाया–"देखिये, यहाँ धूप और वर्षा के लिए छाँह नहीं है। मुसाफिर तकलीफ पा रहे हैं।"

बड़े भाई के हाथ में डंडा था, और डोनाल्डसन के हाथ में भी। न जाने क्यों उसने डंडे को ऊपर उठाया। बड़े भाई ने समझा, वह उसे मुझ पर चलाना चाहता है। उन्होंने भी डण्डा उठा लिया। डोनाल्डसन डर गया। बड़े भाई ने कहा–"तुम किसको गुण्डा कहते हो ? मैं कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर और फूड एडवाइजरी कमेटी का प्रेसीडेंट पेशावर-काण्ड का सैनिक हूँ।"

मोटर-मैनेजर जोशी ने बड़े भाई का डंडा पकड़ लिया। डोनाल्डसन कार पर बैठकर अल्मोड़ा भाग गया।

इसके बाद ही पंतजी कार पर आये, और डॉ. चन्द्रदत्त पांडे के घर पर ठहरे। श्री सज्जनलाल शाह वकील ने उन्हें पंतजी के पास ले जाकर आज की सारी घटना कह सुनाई। पंतजी ने कहा–"यह सब लिखकर बाहर भेजो।" विवरण लिखा गया, टाइप करा के उसकी कापियाँ अखवारों में भेजी गईं, और एक-एक कापी गवर्नर और कमिश्नर के पास भी रवाना कर दी गई। चारों ओर तूफान मच गया।

डोनाल्डसन ने अल्मोड़ा में देवीदत्त पन्त से पूछा कि यह कौन आदमी है। देवीदत्त ने सारी बातें बतलाईं। फिर उसने उनसे कहा–"उसकी निर्भीकता की मैं तारीफ करता हूँ। मैंने अनुचित बर्ताव किया, जिसके लिए मैं माफी माँगता हूँ। जो शिकायतें उसने लिखी हैं, उसके बारे में मैं जाँच करूँगा।"

उस समय रानीखेत में काफी गढ़वाली अफसर थे। ठाकुर मेहरबानसिंह सप्लाई-अफसर थे, ठाकुर चन्दनसिंह थानेदार, देवकीनन्दन वैष्णव के बारे में हम बतला आये हैं। उन्हें अपने गढ़वाली वीर के ऊपर अभिमान होना ही चाहिए। वह जानते थे कि इधर यह सब कुछ को भुला लोगों की सेवा कर रहे हैं, और उधर घर में रात की रोटी का ठिकाना नहीं है। एक ईसाई फौज का कप्तान, लेकिन अब स्कूल का इन्सपेक्टर इतना प्रभावित हुआ कि उस समय जो चीज सबसे दुर्लभ समझी थी, उसी मैदे की एक बोरी भिजवा दी। इसी तरह किसी ने साग-सब्जी भिजवाई और किसी ने और चीज। गढ़वाली अफसरों ने ऐसा इंतिजाम किया कि हर महीने लिफाफे में बन्द बीस रुपये के नोट सड़क पर चलते किसी चपरासी या दूसरे के हाथ से बड़े भाई के पास पहुँच जाते। यह अचरज की बात थी कि जहाँ यह लोग उनकी सहायता करने के लिए इस प्रकार तैयार थे, वहाँ रानीखेत की जनता और अफसरों, बनियों और बड़े लोगों ने, सिवा पूर्णानन्द उपाध्याय के, कभी एक प्याला चाय भी नहीं पिलाई।

सप्लाई (रसद) विभाग की अन्धेरगर्दी के कारण लोगों को चीजों की बड़ी तकलीफ थी। सप्लाई अफसर स्वयं गढ़वाली था लेकिन बड़े भाई ने उसकी भी रियायत नहीं की। सभा करके इस अव्यवस्था की निन्दा करते कहा–"सप्लाई अफसर एक किसान का बेटा है, उसे दफ्तर चलाने का क्या सहूर हो सकता है ? इसमें बनियों से काम पड़ता है, जिनके फन्दे से बचना उसके लिए सम्भव नहीं है। लेकिन जब अपने कर्तव्य के संचालन का उसको ज्ञान नहीं, तो उसे इस्तीफा दे देना चाहिए।" ये सब बातें 'लोक-युद्ध' में छपीं। इसका जवाब 'शक्ति' में यही दिया गया–"चन्द्रसिंह कम्युनिस्ट है। वह झूठ ही लिखता है। हमारे जिले में कोई भूखा नहीं मर रहा है।"

अब इस झूठ का प्रतिवाद करने के लिए बड़े भाई झोला उठा निकल पड़े रानीखेत तहसील में घूमने। साल्ट, द्वाराहाट, चौकोट, भिखियासैण सभी इलाकों में घूम-घूमकर लोगों की सभाएँ कीं। प्रस्ताव पास हुए कि अनाज के बिना हमारी बुरी हालत है। ग्वालबिन (चौकोट) पहुँचे। वहाँ का सयाणा (जमींदार) बहुत प्रभावशाली आदमी था। उसे 2800 रुपया वार्षिक मालिकाना मिलता था। उसकी हालत जानने के लिए बड़े भाई वहाँ गये। सयाणा ने स्वागत किया। बड़े भाई ने पूछा–"खाने-पीने की क्या हालत है ?" बूढ़ा सयाणा बहुत सीधा-सादा था। उसने कहा–"चोरबाजार से 1200 रुपये का अनाज लाया हूँ।" नोटबुक में यह हिसाब लिखा था। उसे बड़े भाई ने नोट कर लिया। सयाणे ने बतलाया कि मेरा बाप मर गया है, लेकिन मेरी हालत ऐसी नहीं है,

कि मैं उसका श्राद्ध कर सकूँ। 1942 के आन्दोलन में मरे लोगों के घरों में भी गये, उनकी भी दयनीय हालत देखी। सारी बातें लिखकर बड़े भाई ने 'लोक-युद्ध' में छपवा दीं।

मेहरबानसिंह सप्लाई-अफसर ईमानदार आदमी थे। वस्तुतः उनके आसपास रहनेवाले लोगों ने उन्हें झूठी-सच्ची बातें समझा दी थीं। यदि मालूम हो कि लोगों को वस्तुतः अन्न का कष्ट है, और सप्लाई-विभाग उसके दूर करने की कोशिश करने लगे, तो चोरबाजारवाले अपने अनाज को मनमाने दाम पर बेच कैसे सकते ? अब मेहरबानसिंह ने खुद इलाके में घूम-घूमकर देखना शुरू किया। उन्हें बड़े भाई की बात सच मालूम हुई, और उन्होंने यह स्वीकार करते हुए बड़े भाई से मिलने की इच्छा प्रकट की। रामकृष्ण खत्री के यहाँ मुलाकात हुई। अफसर ने कहा, मैं इस काम में आपकी मदद करने के लिए तैयार हूँ।

जुलाई 1946 का महीना आया। पत्नी को प्रसव की वेदना शुरू हुई। वह उन्हें लेकर रानीखेत अस्पताल में चले गये। पीड़ा समय से पहले शुरू हो गई थी। 33 दिन तक भागीरथीजी को अस्पताल में रहना पड़ा। यहीं 19 जुलाई, 1946 ई. को उन्हें दूसरी लड़की पैदा हुई। इस समय खाने-पीने का सारा प्रबन्ध श्री रामकृष्ण खत्री (काकोरी काण्डवाले) करते, हर तरह से मदद करते थे। जाड़ों के लिए गरम कपड़े भी उन्होंने बनवा दिये थे।

बच्ची पैदा होने के दस-बारह दिन बाद फिर चिलियानौला लौट आये। शंकरदत्त पांडे ने चाय पिलाई। पीनेवालों में नरपतसिंह कांग्रेसी ने चाय सामने आने पर कहा—"मैं चन्द्रसिंह के हाथ की चाय नहीं पीता। इनकी लड़की हुई है, और नामकरण नहीं किया। अभी छूतक है।"

बड़े भाई को गुस्सा आ गया, उन्होंने कहा—"तू हिन्दू है या कौन ? मैं भूखा मर रहा हूँ, इसलिए संस्कार-वंस्कार करना मेरे बस की बात नहीं है। मेरी लड़की का नामकरण हो गया। उसका नाम है क्रान्तिज्वाला।"

रानीखेत में रशीदा जब तक रहीं, उनसे बराबर भेंट होती रही। यही नहीं, रशीदा चिकित्सा के लिए मास्को जाकर जब तक इस दुनिया से नहीं चली गईं, तब तक बड़े भाई के परिवार के कपड़े का भार वह अपने ऊपर उठाये रहीं। समय-समय पर पैसों की भी सहायता करतीं। बच्ची पैदा होने की खबर जब उनके साथ ठहरीं महमूद के ममसाल की रामपुर की बेगम साहबा को लगी, तो उन्होंने बड़े भाई के परिवार के लिए एक भोज का आयोजन किया। उस दिन वहाँ बीस-पचीस मेहमान जमा हुए। बूढ़ी बेगम ने कहा—"आज तक मैं किसी के सामने नहीं आई थी, लेकिन आज वीर चन्द्रसिंह के लिए मैं अपने पर्दे को हटाती हूँ।" भोजन समाप्त हुआ। बेगम साहबा ने जच्चा-बच्चा के लिए बहुत नफीस रजाइयाँ और दूसरे कपड़े तैयार करवा रखे थे। उनके बंडल को अपने नौकर को देकर घर पर पहुँचा आने के लिए कहने पर बड़े भाई ने कहा—"नौकर की क्या आवश्यकता इतनी पोटली के लिए ? मैं स्वयं लेता जाऊँगा।"

पोटली को उठाकर उन्होंने अपनी पीठ की ओर लटका लिया। वह कहीं से खुल गई और धीरे-धीरे एक-एक चीज खिसककर गिरने लगी। दो मील चलकर जब चिलियानौला पहुँचे, तो देखा, आधी चीजें निकल चुकी हैं, और रजाई तथा कुछ और चीजें रह गई हैं। रशीदा यह बात सुनकर बड़ी हँसीं।

1946 का चुनाव—द्वितीय-युद्ध की समाप्ति के बाद इंग्लैण्ड में मजदूर पार्टी की सरकार आ गई थी। यद्यपि जहाँ तक साम्राज्य का सम्बन्ध था, टोरियों और मजदूर दलियों में कोई फर्क नहीं था, एटली चर्चिल के कदम पर ही चलनेवाला था। पर, महायुद्ध के बाद सारे संसार में एक नई परिस्थिति पैदा हो गई थी। इस महायुद्ध को रूस के बल पर मित्र-शक्तियों ने जीता था। यदि प्रथम महायुद्ध ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि दुनिया के छठें हिस्से पर इतिहास में पहिले-पहिल मजदूरों और किसानों की सरकार कायम हुई, तो उन्हीं मजदूरों और किसानों के बल पर जो महायुद्ध अब जीता गया, वह भारी परिवर्तन लाये बिना कैसे रह सकता था ? पिछले पच्चीस वर्षों में भारतीयों ने स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए जो संघर्ष किये थे, तथा उससे भी जबर्दस्त कदम आगे जो उठानेवाले थे, वह भारत को गुलामी में कैसे रहने दे सकता था ? प्रथम महायुद्ध और उसके बाद के राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित होकर गढ़वाली सैनिकों ने अंग्रेजों के हुकुम से अपने भाइयों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया था। सेना के ऊपर इसका प्रभाव पड़ा। यह स्वीकार किया जाता है कि नेताजी ने जापान

के हाथ में वन्दी हुए भारतीयों को लेकर जब आजाद हिन्द फौज का संगठन शुरू किया, तो गढ़वाली सबसे पहिले थे। दूसरों ने भी उनका अनुकरण किया। प्रथम विश्व-युद्ध तक अभी अंग्रेजों ने भारतीयों को कमीशनवाले अफसर (लेफ्टिनेंट, कप्तान, मेजर, कर्नल) नहीं बनाया था। द्वितीय महायुद्ध की भीषणता के लिए जो तैयारी करनी पड़ी, उससे भारतीयों के लिए सेना के सभी दरवाजे खोल दिये गये। स्थल-सेना, जल-सेना, और वायु-सेना सबमें सिपाही से लेकर अफसर तक भारतीय होने लगे। यह सीखे-सिखाये लोग चुपचाप अपने देश को गुलामी में रखने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे। नौसैनिक पोतों और नाविकों ने अंग्रेजों के खिलाफ बगावत का झंडा खड़ा करके बतला दिया कि अब भारत में ब्रिटिश-शासन के दिन खतम हो चुके हैं। लड़ाई के बाद इंग्लैण्ड आर्थिक तौर से अत्यन्त निर्बल हो गया था। वस्तुतः वह अमेरिका के टुकड़ों पर जी रहा था। अमेरिका अब भारतीय बाजार पर अंग्रेजों की इजारादारी रहने देने के लिए तैयार नहीं था। सभी तरफ से इतना दबाव था कि एटली-सरकार को भारत की आजादी के लिए तैयार होना पड़ा। भारतीयों की अंतरिम सरकार बन गई, और यह भी निश्चय हो गया कि अंग्रेजों को भारत छोड़ना है।

अन्तरिम सरकार ने 1946 में देश-भर में चुनाव करवाया। कम्युनिस्ट पार्टी ने भी अपने उम्मीदवार जहाँ-तहाँ खड़े किये। वोट का अधिकार बहुत थोड़े लोगों को था। वोटर अधिकतर उस वर्ग के थे, जो कम्युनिस्टों को फूटी नजर से नहीं देख सकते थे। बड़े भाई जैसे लोकप्रिय और त्यागी को गढ़वाल में देखकर पार्टी ने उन्हें चुनाव में खड़ा करने का निश्चय किया। इसके लिए कामरेड नगेन्द्र सकलानी, कामरेड ब्रजेन्द्र और दूसरे कुछ साथियों को गढ़वाल जाकर बड़े भाई के ऊपर लगे हुए प्रतिबन्ध को हटाने की कोशिश करने के लिए भेजा गया। डिप्टी-कमिश्नर से कहने पर उसने कहा कि यह हमारे अधिकार में नहीं है, गवर्नर के पास जाओ। लखनऊ में कामरेड महमूदुज्जफर इसी के सम्बन्ध में गवर्नर से मिले। गवर्नर ने कहा–"कोर्ट-मार्शल के मुकदमे का फैसला लाओ, तब हम इसके बारे में कुछ कर सकेंगे।" दर्खास्त लेकर बड़े भाई लैन्सडौन गये। उस समय वहाँ का इन्चार्ज लेफ्टिनेंट-कर्नल लौंडिस था। उसने भीतर बुलाकर पूछा–"तुम कौन हो ?"

"मैं चन्द्रसिंह गढ़वाली हूँ, जिसे काकुल में कोर्ट-मार्शल किया गया था।"

"तुम यहाँ कैसे आये ?"

"मैं गढ़वाली हूँ। कोर्ट-मार्शल के फैसले की नकल के लिए आया हूँ।"

"मैं तुम्हारी दर्खास्त को नहीं छू सकता, अपने सेक्रेटरी को बुलाओ।"

बड़े भाई ने ब्रजेन्द्र से दर्खास्त दिलवाई। अंग्रेजों का नमक खाकर सैनिक बलवा करे, यह ऐसा अपराध था, जिसे अंग्रेज बर्दाश्त कैसे कर सकता था ? उसने बागी के हाथ से दर्खास्त भी लेनी नहीं चाही। अन्त में उसने जवाब दिया–"सात साल के ऊपर के कागज हमारे यहाँ नहीं रक्खे जाते, वह जला दिये जाते हैं।"

उससे यह जवाब पाकर बड़े भाई ब्रजेन्द्र के साथ कोटद्वार गये, जहाँ उस समय गढ़वाल का डिप्टी-कमिश्नर था। उसने कहा कि गवर्नर के पास जाइये। इस तरह चक्कर में घूमने से क्या लाभ हो सकता था ? बड़े भाई को यह भी मालूम हो गया कि सरकार नहीं चाहती कि वह चुनाव में खड़े हों। इस चुनाव पर अंग्रेजों की आखिरी आशा लगी हुई थी। वह जगह-जगह अपने पिट्ठू खड़ा कर रहे थे। कांग्रेस को हराकर यदि वह बहुमत में पहुँच जाते, तो अंग्रेजों को अभी भारत छोड़ने की जरूरत नहीं थी। जिस पौड़ी चुनाव-क्षेत्र से बड़े भाई खड़े होनेवाले थे, वहीं से अंग्रेज नौकरशाही ठाकुर शंकरसिंह नेगी जैसे एक बड़े प्रभावशाली वकील को खड़ा कर रही थी।

फिर लखनऊ गये। महमूद ने गवर्नर से मुलाकात की। फिर जवाब मिला–"मैं फैसले की नकल के बिना कुछ नहीं कर सकता।" यह बिलकुल गवर्नर के हाथ में था कि वह लम्बी कैदवालों को भी खड़ा होने का अधिकार दे दे। लखनऊ में काम को खटाई में पड़ा देख फिर दिल्ली पहुँचे। कामरेड यज्ञदत्त शर्मा और फारुकी ने कोशिश की। लड़ाई के दिनों में पार्टी का प्रभाव फौजों के भीतर भी पड़ा था, और कुछ बड़े अफसर सहानुभूति रखने लगे थे। उनसे मालूम हुआ कि यह काम शिमला में अड्जुटेन्ट-जेनरल अब्दुल्ला के पास जाने से हो सकता है। अब्दुल्ला ने बड़े भाई का स्वागत करते कहा–"कागज बहुत दिन पुराना हो गया है, उसे ऑफिस के जंगल

में ढूँढ़ना होगा। मैं उसे ढूँढ़ निकालूँगा, लेकिन आप अब यहाँ दस दिन आराम करें। बहुत दुबले हो गये हैं, मैं आपको मोटा बनाकर भेजना चाहता हूँ।" सचमुच वह बड़े भाई को मोटा बनाने पर तुल गये। चार-चार पाँच-पाँच बार मुर्ग, बिरयानी, कोफ्ता, कबाब और दूसरे स्वादिष्ट तथा पुष्टिदायक खाना खिलाते। शिमला में यह जाड़ों का मौसम था। कभी-कभी बर्फ भी पड़ जाती थी। सर्दी तो होती ही थी। अच्छी तरह भोजन कराने के साथ अब्दुल्ला साहब उन्हें घुमाने ले जाया करते थे, जिसमें कि खाना अच्छी तरह हजम हो सके। ग्यारह दिन रहना पड़ा। इसका बड़े भाई के स्वास्थ्य पर अच्छा असर पड़ा।

फैसला लेकर वह देहरादून आये। फिर उसे लेकर साथियों ने लखनऊ में गवर्नर से मुलाकात की। गवर्नर ने कहा, मैं हुकुम देता हूँ। सबसे पहिले गढ़वाल में प्रवेश करने के प्रतिबन्ध को हटाना था। साथी उन्हें नजीबाबाद छोड़कर लैन्सडौन में गवर्नर की आज्ञा पाने के लिए गये। वहाँ दो दिन लटकाये रक्खा, तब आज्ञा मिली।

गढ़वाल प्रवेश

22 दिसम्बर, 1946 को सबेरे की गाड़ी से बड़े भाई कोटद्वार पहुँचे। गढ़वाल के कांग्रेसी यह नहीं चाहते थे कि बड़े भाई का जनता के साथ सम्पर्क स्थापित हो, क्योंकि वह जानते थे कि वह हमारे मुकाबले में खड़े होनेवाले हैं। वह स्टेशन पर ही फूलमाला लेकर पहुँच गये और स्वागत करने के बाद ठहराने के लिए डाकबँगले में ले गये। नगेन्द्र सकलानी ने चाल समझ ली। उसने बाजार में भोंपू लेकर सब जगह आवाज दे दी कि वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली सत्रह वर्षों बाद अपनी मातृभूमि में लौटे हैं। फिर क्या था ? जनता की भारी भीड़ जमा हो गई। लोग माँग करने लगे, हम चन्द्रसिंह को देखना चाहते हैं। अब उन्हें बन्द करके कैसे रक्खा जा सकता था ? वह बाहर आये। जुलूस बनाकर उन्हें कस्बे में घुमाया गया। सभा हुई। एक कांग्रेसी नेता कृपानारायण मिश्र ने दिल खोलकर बड़े भाई का अच्छा परिचय दिया। बड़े भाई भी बोले।

खबर सब जगह फैल गई। अगले दिन दुगड्डा पहुँचे। यहाँ भी कांग्रेसियों ने वही चाल चलनी चाही और वहाँ भी जनता की माँग के कारण बड़े भाई को उनके बीच में जाना पड़ा। बाजार में बड़ी सभा हुई। यदि प्रथम विश्व-युद्ध में मार्शल-लॉ के खूनी दिनों को दिखलानेवाले डायर और उडायर थे, तो द्वितीय विश्व-युद्ध में उससे भी घोर अत्याचार जिसने बलिया आदि जिलों में करवाये थे, वह था हैलट। दुगड्डा के बनियों ने हैलट को आठ हजार की थैली दी थी। हैलटशाही के खिलाफ जिस वीर ने उस वक्त हिम्मत दिखलाई थी, वह था जयानन्द भारतीय। हैलट को काला झण्डा दिखलाने के लिए उसे पकड़कर बहुत पीटा गया। बड़े भाई ने अपने व्याख्यान में कहा—"दुगड्डा के बनियो, तुमने हैलट को आठ हजार की थैली दी, तुम हमेशा गढ़वालियों से लड़ते रहे। चुनाव के दौरान में पं. जवाहरलाल नेहरू इधर आयेंगे। अगर तुमने उन्हें दस हजार की थैली न दी, तो अच्छा नहीं होगा।" (बनियों को यह रकम देनी पड़ी थी।) वह इस व्याख्यान के कारण चन्द्रसिंह गढ़वाली से सख्त नाराज हो गये थे। बनियों और उनके द्वारा शोषितों का वैमनस्य हर जगह देखा जाता है। यहाँ कोटद्वार, दुगड्डा की मण्डियों के शोषक बनिये सारे नीचे देश के थे और शोषित थे गढ़वाली किसान-मजूर और सभी लोग। इसलिए यह वैमनस्य और भी अधिक तीखा था।

दुगड्डा से बड़े भाई लैन्सडौन पहुँचे। आजाद फौज के सैनिक लाल किले से रिहा होकर अपने-अपने घरों में आ रहे थे। लैन्सडौन में उनके स्वागत के लिए फाटक बने थे। इन्हीं फाटकों के भीतर से आजाद फौज का प्रथम मन्त्र फूँकनेवाले चन्द्रसिंह गढ़वाली का भी स्वागत किया गया। फूलमाला लेकर श्री भक्तदर्शन, रूपचन्द वर्मा और दूसरे लोग आये। रूपचन्द वर्मा महाशय टेकचन्द के भतीजे थे। टेकचन्द मूलतः अलवर के रहनेवाले थे, फिर वह लैन्सडौन में आकर बस गये। उन्हीं ने यहाँ आर्यसमाज का प्रचार शुरू किया। चन्द्रसिंह और नारायणसिंह को उन्हीं ने आर्यसमाज में प्रविष्ट कराया था। बड़े भाई अब भी उनका स्मरण बड़ी इज्जत से करते कहते हैं—"आर्यसमाजी विचारों के साथ-साथ देशभक्ति का गुरु-मन्त्र टेकचन्दजी ने ही मुझे दिया था।" परेड मैदान में फूलमाला देकर कांग्रेसी लोग घर पर ले जाना चाहते थे, लेकिन सकलानी के भोंपू ने सारे कस्बे को इकट्ठा कर दिया। एक गेट पर बड़े भाई ने रुई के गाले से लिखा देखा—"आजाद फौज को छुड़ाना चाहते

हो, तो कांग्रेस को वोट दो।" यह देखते ही बड़े भाई पीछे की ओर हट गये और उसके बाहर-बाहर से बाजार की ओर बढ़े। उन्होंने कहा—"मैं अपने द्वारा कांग्रेस के लिए वोट का प्रचार कराना नहीं चाहता।"

जुलूस रामलीला मैदान में गया। तीन-चार हजार आदमियों की सभा में भाषण देते हुए बड़े भाई ने कहा—"मैं पेशावर के अपने साथियों से जानना-मिलना चाहता हूँ, वह कहाँ हैं ? देखूँ उनके साथ हमारे नेताओं ने कैसा बर्ताव किया ?" एक रात वहीं रहे, पुराने आर्यसमाजी मित्रों से मुलाकात की, लक्ष्मीचन्द हलवाई से भेंट करके उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई।

लैन्सडौन से वह मोटर द्वारा पौड़ी पहुँचे। वहाँ सिर्फ जयवल्लभ खतूड़ी ही, सो भी पत्रकार के तौर पर बस के अड्डे पर अपने घर पर चाय पिलाने के लिए ले गये। श्री गोविन्दप्रसाद उपरेती वकील के घर पर ठहरने का इंतिजाम किया गया था, लेकिन वह वहाँ मौजूद नहीं थे। ताला तोड़कर वहाँ ठहराया गया। कोटद्वार, दुगड्डा और लैन्सडौन में अपनी चाल में असफल होकर कांग्रेसी अब पौड़ी में बड़े भाई के स्वागत करने के लिए तैयार नहीं थे और न वहाँ किसी तरह की सभा का इंतिजाम हुआ था।

गढ़वाल के और जगहों में दौरा करने का निश्चय किया गया। वह श्रीनगर होते कर्णप्रयाग गये। यहीं तक मोटर-बसें आती थीं। फिर पैदल गुप्तकाशी पहुँचे। लौटकर अगस्तमुनि आये। सभी जगह कांग्रेसियों ने बायकाट करने की कोशिश की थी, लेकिन बड़े भाई जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने में सफल हुए। अगस्तमुनि में पं. हरिदत्त ने बड़ा प्रयत्न करके एक जूनियर हाई स्कूल खोला था। ईर्ष्यालु लोग सभी जगह होते हैं। उन्होंने उड़ा दिया कि हरिदत्त सारा चन्दा खा गये। बड़े भाई वहाँ सार्वजनिक सभा में बोले। उनसे भी इस बात की शिकायत की गई। हरिदत्त ने पूछने पर बहीखाता सामने रख दिया। बड़े भाई और उनके साथियों ने जाँच-पड़ताल की। एक-एक पैसा का हिसाब था। फिर यह बात बड़े भाई ने जनता के सामने रखते हुए कहा कि ऐसे योग्य और ईमानदार कार्यकर्ता के साथ ऐसा बर्ताव नहीं करना चाहिए।

अगस्तमुनि में कांग्रेसी नेताओं के दूत ने बड़े भाई से मिलकर श्रीनगर में जिला राजनीतिक सम्मेलन में अवश्य आने का निमन्त्रण दिया। बड़े भाई श्रीनगर पहुँचे। दीवारों पर बड़े-बड़े पोस्टर लगे हुए थे, 'वीर चन्द्रसिंह की जय !' उनके स्वागत के लिए नोटिसें बाँटी गई थीं। बड़े भाई और उनके साथी एक धर्मशाला में जाकर बैठ गये। इस बात का पता वहाँ के धनी-मानी पुरुष लाला गोपीनाथ को लगा। वह बड़े आग्रहपूर्वक उन्हें अपने घर में ले गये। लक्ष्मी का निवास था, फिर गद्दा, कालीन, पलंग और दूसरे वैभव क्यों न देखने में आते। शाम को चाँदी की थाली में भोजन परोसकर आया। सेठजी ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"मैं धन्य हुआ, इस थाली में लाट साहब (हैलट) के सेक्रेटरी ने भोजन किया था। श्रीमती विजयलक्ष्मी भी इस घर को पवित्र कर चुकी हैं।" बड़े भाई ने मन मसोसकर किसी तरह भोजन किया। आखिर वह सेठ की श्रद्धा-भक्ति को ठुकरा भी नहीं सकते थे।

रात वहाँ बिताकर सबेरे ब्रजेन्द्र और सकलानी के साथ वह फिर धर्मशाला में आ गये। उन्हें सेठ के घर में बन्द रहते लोगों से मिलना नहीं हो सकता था। ठाकुर चन्द्रसिंह रावत, श्री भक्तदर्शन और गढ़वाल के दूसरे बड़े-बड़े कांग्रेसी नेता डेपुटेशन लेकर आये। उन्होंने प्रार्थना की—"आप कांग्रेस में शामिल हो जायें। एम. पी. या एम. एल. ए. जिसके लिए चाहें, एक जगह हम आपको दे देते हैं। आपकी कुर्बानियों के लिए गढ़वाल को गर्व है।"

बड़े भाई ने कहा—"मैं कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर हूँ। उसे छोड़कर कांग्रेस में आना मेरे लिए भारी अपराध होगा। यदि आप चन्द्रसिंह पर श्रद्धा रखते हैं, तो एक सीट उसके लिए छोड़ दें। मैं पार्टी की ओर से यहाँ चुनाव के लिए खड़ा हो रहा हूँ। इसके बारे में महात्माजी को भी लिख चुका हूँ।" गढ़वाल के कांग्रेसी नेताओं की प्रार्थना मानकर वह पार्टी से कैसे हट सकते थे ? गाँधीजी से उन्होंने आशीर्वाद के लिए जो पत्र भेजा था, उसे उन्होंने जवाहरलाल के पास भेज दिया। जवाहरलाल ने जवाब दिया—"जब तक मैं कांग्रेस का प्रेजीडेन्ट हूँ, तब तक दूसरे को आशीर्वाद नहीं दे सकता। अच्छा है, तुम कांग्रेस के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करो और इलाहाबाद में आकर मुझसे मिलो।"

सब तरह से समझा-बुझाकर कांग्रेसी नेताओं को निराश लौटना पड़ा। शाम तक 'वीर चन्द्रसिंह की जय' वाले सारे पोस्टर उखाड़ दिये गये थे, और कम्युनिस्टों के विरुद्ध धुआँधार प्रचार होने लगा।

सभा के अध्यक्ष काशीप्रसाद अग्रवाल थे। कृपानारायण मिश्र ने फिर बड़े भाई की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए इस बात के लिए अफसोस प्रकट किया कि हम उन्हें अपनी ओर नहीं खींच सके। ठाकुर चन्द्रसिंह रावत ने पहिले वाग्वाण चलाना शुरू किया। फिर दूसरे वक्ता कम्युनिस्ट पार्टी के खिलाफ गाली-गलौज पर उतर आये। वह बड़े भाई को बोलने का मौका नहीं देना चाहते थे। 4 बजे से आरम्भ हुई सभा को दिया जलने तक कांग्रेसी वक्ताओं ने रोके रक्खा। पुर्जी लिखकर देने पर सभापति ने कहा कि समय दिया जायगा। आखिर अँधेरा होने पर लोग उठ-उठकर चले गये। अग्रवाल ने सभा-विसर्जन का ऐलान किया। बड़े भाई मंच पर चले गये। उधर कांग्रेसी कुर्सी-जाजिम उठवा रहे थे, और इधर कामरेड सकलानी ने भोंपू बजाया–"अब चन्द्रसिंह बोल रहे हैं।" लोग इसे सुन लौट पड़े। कांग्रेसी जाजिम-कुर्सी उठा ले गये थे तो क्या ? बात की बात में दो-ढाई हजार आदमी जमा हो गये। कोई अपने साथ पेट्रोमेक्स लाया, कोई लालटेन। बड़े भाई ने अपने भाषण में बतलाया कि किस तरह कांग्रेसियों ने स्वागत के लिए पोस्टर चिपकाये, समझौते के लिए बात की और अन्त में यह बर्ताव किया। इसके साथ उन्होंने पार्टी के बारे में बतलाया।

रात को ठहरने के लिए उसी धर्मशाला में चले गये! सबेरे ठाकुर चन्द्रसिंह रावत और दूसरे नेता खाने के लिए बुलाने आये। न मानने पर रावतजी जबर्दस्ती कन्धे पर उठाकर उन्हें ले गये।

पौड़ी पहुँचने पर लखनऊ से पार्टी का तार पा वह डुगड्डा गये। 'पहाड़ी' (रमाकान्त घिल्डियाल) और दूसरे साथियों के साथ पं. अनुसूयाप्रसाद बहुगुना की बेटी कमला उनियाल और साथी रन्नू की पत्नी गुणवती भी आई थीं। चुनाव के लिए प्रचार करने का प्रोग्राम बनाया गया। दो दिन बाद फिर सारी मण्डली पहाड़ की ओर बढ़ी। पौड़ी में दो हजार की एक बड़ी सभा हुई, जहाँ कम्युनिस्ट पार्टी, गढ़वाल की स्थिति, अंग्रेजी साम्राज्यवाद और कांग्रेस के बारे में बड़े भाई दो घंटा बोले। अब तक बड़े भाई नगेन्द्र सकलानी को भोंपूवाला मामूली स्वयं-सेवक समझते थे। यहाँ उसने बोलने के लिए पाँच मिनट का समय माँगा, और संक्षेप में उसने इतना सुन्दर भाषण दिया कि बड़े भाई इस तरुण की योग्यता के कायल हो गये।

कांग्रेस के लोग उनके विरोध पर तुले हुए थे, लेकिन यह विचित्र बात है कि जिस तरह हिरण्यकशिपु के घर में प्रह्लाद पैदा होते हैं, उसी तरह घोर प्रतिगामी तथा कांग्रेसी नेताओं के लड़के-लड़कियाँ कम्युनिस्ट होते हैं। भारत में इसके हर जगह पचासों उदाहरण मिलते हैं। श्री अनुसूयाप्रसाद बहुगुना प्रतिगामी नहीं थे। वह कांग्रेस के बड़े योग्य नेता थे। उन्हें गढ़वाल-केसरी कहा जाता था। कितने ही और नेताओं की तरह शराब की उनमें कमजोरी थी, लेकिन थे वह हीरा। आज वह होते, तो शायद उन्हें भी बड़े भाई का विरोध करना पड़ता, लेकिन उनकी लड़की कमला बड़े भाई और उनकी कम्युनिस्ट पार्टी के लिए प्रचार करने आई थी, जिसके ऊपर कांग्रेसी बुरे से बुरा लांछन लगाने के लिए तैयार थे।

श्रीनगर में फिर सभा की। वहाँ से कर्णप्रयाग में मकरसंक्रान्ति के मेले में पहुँचे। मेले में दो-तीन नुक्कड़ सभाएँ कीं। कांग्रेस की एक सभा हो रही थी, जिसमें उन्होंने कम्युनिस्टों को भी बोलने का अवसर दिया। बड़े भाई ने अपनी बातें बतलाईं।

पौड़ी में आकर नामजदगी का कागज दाखिल करना था, लेकिन बड़े भाई ऐसा तभी कर सकते थे, जबकि गवर्नर अनुमति दे दे। नामजदगी का समय बीते आध घंटा हो गया, तब गवर्नर का अनुमति-पत्र आया। सब जान-बूझकर यह चाल चली गई थी, क्योंकि नौकरशाही अपने पिट्ठुओं के रास्ते में काँटा नहीं चाहती थी। पार्टी का हुकुम आया कि जहाँ अपना मेम्बर न हो, वहाँ दूसरे प्रगतिशील उम्मीदवार का समर्थन करते हुए पार्टी का प्रचार करना चाहिए।

जिस जगह से बड़े भाई खड़े होनेवाले थे, उसी जगह से कांग्रेस ने डॉ. कुशलानन्द गैरोला को खड़ा किया था। उनके खिलाफ सरकार के पिट्ठू ठाकुर शंकरसिंह थे। डा. गैरोला बहुत योग्य और प्रगतिशील विचारों के थे। उन्होंने वीना में डॉक्टरी की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और सन् 42 के आन्दोलन में हिन्दू युनिवर्सिटी

के छात्रों का संगठन करते अपने को भारी खतरे में डाला था। ऐसे आदमी के पक्ष में प्रचार करना एक खुशी की बात थी। बड़े भाई और उनके साथियों ने कांग्रेसवालों को लिख दिया कि यहाँ हमारा कोई उम्मीदवार नहीं है, हम आपके उम्मीदवार के पक्ष में प्रचार करेंगे। भिन्न-भिन्न जगहों में जाने के लिए प्रोग्राम बनाया गया था। पहिली सभा देवप्रयाग के सामने की बाजार में हुई। वीर चन्द्रसिंह के दर्शन के लिए जनता की भारी भीड़ उमड़ आई थी। कांग्रेस की सेवाओं को बतलाते हुए बड़े भाई और उनके साथियों ने कम्युनिस्ट पार्टी के उद्देश्य और उसके कामों के बारे में कहा। पट्टी-पट्टी में दौरा शुरू हुआ। रावतस्यूं, बनगड़स्यूं, सितौनस्यूं, कपोलस्यूं, घुड़दौड़स्यूं, कण्डारस्यूं, ढाइज्युली, चोपराकोट, चौथान, लोहबा, खण्डसर, बधान, थराली सब जगह जाकर सभाएँ कीं। गाँव में पहुँचते सकलानी भोंपू बजाते। आवाज सुनते पहिले कुत्ते दौड़कर आते, फिर बच्चे जमा हो जाते और अन्त में लोगों के इकट्ठे होने पर भाषण शुरू हो जाता। जिस वीर का अभी तक लोग नाम सुनते आये थे, वह उनके सामने खड़ा था। बात को वह क्यों न गौर से सुनते ? सकलानी तो थकने का नाम नहीं जानता था। दूर से चलकर आते पहाड़ के ऊपर चढ़ने से पहिले साथी आराम करने के लिए बैठ जाते, लेकिन वह खट्-खट् ऊपर चढ़ जाता। भोंपू में उसकी आवाज मीलों दूर तक सुनाई देती और बोलता भी इतना सुन्दर कि लोग मन्त्रमुग्ध हो जाते। विरोधी उम्मीदवार की ओर से यही प्रचार होता था कि कम्युनिस्टों की बात मत मानो, वह धर्म नहीं मानते, वह देवता नहीं मानते, वह जात-पाँत नहीं मानते। इन बातों का जवाब देना पड़ता था।

ढाइज्युली पट्टी जाने पर बेटी देवमती (देवोमती) के ससुराल के गाँव सौंटी में भी गये। बड़े भाई ने उसे तब देखा था, जबकि वह 8-9 वर्ष की थी, और अब उसका लड़का उसी उमर का था। सकलानी को जब मालूम हुआ कि यह बड़े भाई का नाती है, तो उसके हाथ में लाल झण्डा देकर कहा–"लो, तुम्हारे नाना यह चीज तुम्हें देते हैं। इसके सिवा और कुछ देने के लिए उनके पास नहीं है।" रात को वह सौंटी में रह गये। अगले दिन रनगाँव में पहुँचे। यह गाँव बड़े भाई का दो बार की ससुराल है। उनकी प्रथम पत्नी मर जाने पर दूसरी पत्नी कुँवरी इसी गाँव की थी, जिसके भी मरने पर उसकी छोटी बहिन भूरी से उनकी शादी हुई थी। भूरी ही आज की भागीरथी देवी हैं। सास अंधी हो गई थी। उसने दामाद के शरीर पर हाथ फेरकर कहा–"बेटा, यदि आँखें होतीं, तो मैं जमाई को देखती।"

रात को यहीं रह जाना पड़ा। यह पंच पाण्डवों की यात्रा का समय था। भारत में सिर्फ गढ़वाल ही ऐसा है, जहाँ पंच पाण्डव देवता पूजे जाते हैं। यही नहीं, बल्कि उनके साथ यहाँ की सुन्दर लोक-कला और लोक-नृत्य जीवित हैं। हर गाँव में किसी छोटे-बड़े आँगन (पटांगन) के एक किनारे छोटी-सी मढ़ी होती है, जिसमें भीम की गदा, अर्जुन का तीर-धनुष रहते हैं! उनकी पूजा की जाती, रात के समय दीपक जलाया जाता है। फसल कटने के समय साल में एक दिन पाण्डव-यात्रा की जाती। गाँव में हरेक घर की सफाई होती है, कपड़े धुलते हैं। इसके बाद नवरात्र होता है, अर्थात नौ दिन तक नाच-गाना चलता है।

पंच पाण्डव और द्रौपदी जब देवी-देवता हैं, तो दस्तूर के मुताबिक उन्हें किसी के सिर पर आना ही चाहिए। एक आदमी के ऊपर एक ही देवता आता है। यदि बड़े भाई के सिर पर जवानी में अर्जुन आते थे, तो जीवन-भर के लिए अब वह अर्जुन के वाहन हो गये। उनके ऊपर युधिष्ठिर, भीम, नकुल या सहदेव नहीं आ सकते। द्रौपदी सिर्फ स्त्रियों के ऊपर आती हैं। मैदान में नृत्य-कला को सम्भ्रान्त जातियों और वर्ग ने अपने समाज से निकाल दिया है, लेकिन पहाड़ में सभी जाति के स्त्री-पुरुष उत्सव और आनंद के समय नाचते-गाते हैं। देवता के सिर पर आने पर आदमी नाचने लगता है। एक तरह देखा जाय, तो पाण्डव का यह धार्मिक नृत्य वस्तुतः एक तरह का अभिनय है, जिसमें अभिनेता देवाविष्ट होते हैं।

पाण्डव-यात्रा की प्रथा उन दिनों का अवशेष है, जबकि लोगों का जीवन सामूहिक था। इसके लिए मेलाक (चन्दा) जमा किया जाता है। आटा, घी और दूसरी खाने की चीजें, पैसे और सतंजा (सात प्रकार के अनाज) मिलता है। अन्तिम दिन की यात्रा विशेष महत्त्व की होती है। उस दिन भोज होता है। सारे देवताओं अर्थात सारे गाँव का भोजन एक जगह बनता। सबेरे ही से लोग हलवा-पूड़ी बनाने में जुट जाते हैं। पकाकर उन्हें

टोकरियों में रख दिया जाता है, मौसमी फल अलग टोकरे में रक्खे जाते हैं। एक गाँव की यात्रा में आसपास के लोग भी शामिल हो जाते हैं। फिर इन टोकरियों को सिर पर ले फिरते हैं। आगे-आगे लम्बी चादर (चँदवे) के नीचे एक पाँती में पाँचों पाण्डव और द्रौपदी नाचते हुए चलते हैं, और पीछे-पीछे लड़के-लड़कियाँ पकवान सिर पर रक्खे चलती हैं। वह पटांगन (नाच के अखाड़े) में चक्कर काटते हुए पहुँचते हैं। मढ़ी के सामने पकवान रख दिये जाते हैं। अब तक भीमसेन नहीं नाचता। अब जुझाऊ बाजा बजता है, जिस पर भीमसेन अखाड़े में उतरता है। यह जरूरी नहीं है कि भीमसेन गाँव का सबसे तगड़ा आदमी हो, पर अक्सर वह ऐसा ही होता है। वह अपनी गदा उठा उसको चलाते हुए नाचने लगता है। वह पल्ला फैला देता है, जिसमें सतंजा डाल दिया जाता है। फिर गदा घुमाते हुए नकुल-सहदेव को साथ लेकर वह गाँव की सीमा की ओर बढ़ता है। सीमा से बाहर सतंजा को जमीन में गाड़ दिया जाता है। सतंजा गाड़ने का मतलब है, साल-भर के लिए गाँव के अलाय-बलाय को गाड़ देना।

लौटकर पटांगन में अब डटकर नाच होने लगता है। सहदेव पंडित बाजा बजानेवाले को कहते हैं, अमुक गत को बजाओ। यह गत बजने लगती है, और उस पर पंच पांडव नाचते हैं। उस समय युधिष्ठिर की धीरता-गम्भीरता न जाने कहाँ चली जाती है, गांडीवधारी अर्जुन भी अखाड़े में अपना कर्तव्य दिखलाने की होड़ करते हैं। अपने पाँचों पतियों के मुकाबले में द्रौपदी पीछे नहीं रहना चाहती। इस समय गढ़वाल के हर प्रकार के प्राचीन सुन्दर नृत्य देखे जा सकते हैं।

शाम के अँधेरे में नाच समाप्त होने पर पांडवों और द्रौपदी का हाथ धुलाया जाता है। वह बैठ जाते हैं। चन्दन, धूप-दीप से उनकी पूजा की जाती है। द्रौपदी ज्योनार परोसने लगती है। पाँचों पतियों के सामने पकवान रक्खे जाते हैं। फिर द्रौपदी कहती है—"यह हमारे कालादास के लिए है।" इस प्रकार बाजा बजानेवालों के लिए भी वह अपने हाथ से पकवान बाँटती है। पंच कन्याओं के लिए भी पकवान देती, गो-ग्रास भी निकालती है। भोजन हो जाने के बाद फिर बाजा बजता है, और थोड़ा-सा नाच होता है। फिर लोग अपने-अपने घरों को चले जाते हैं।

यह अन्तिम दिन का प्रोग्राम है, जिसमें पकवान भी रहता है। उसके पहिले आठ रातों एक-दो बजे तक पांडव-द्रौपदी नाचते हैं। जब पांडव थक जाते हैं, तो गाँव के तरुण-तरुणी नाचते-नाचते रात बिता देते हैं। स्त्री-पुरुष का सम्मिलित नृत्य यहाँ दोष नहीं, गुण की बात समझी जाती है। गढ़वाल देवभूमि है। शायद भारत के किसी भाग में इतने देवता नहीं हैं। यदि 33 करोड़ की संख्या कहीं पूरी हो सकती है, तो गढ़वाल ही में। द्रौपदी प्रधान देवी है, लेकिन जब वह नाचती है, तो उसके साथ अनेक दीवाएँ (देवियाँ)—दीवा, मराड़ी, नन्दा, उफरैन आदि भी नाचती हैं।

यह हम बतला चुके हैं कि बड़े भाई आर्यसमाजी बनने से पहिले गांडीवधारी अर्जुन के वाहन थे। कोई न कोई देवता अपने प्रभाव को गाँव में दिखलाता ही रहता है। घर के कुलदेवता हीत के चिन्ह के तौर पर मकान की छत के पत्थर में सूराख करके हाथ-दो हाथ लम्बा लोहे का छड़ गड़ा रहता है। हीत गढ़वाल और भारत के भी सर्वोच्च शिखर नन्दादेवी की अधिष्ठात्री देवी नन्दा के भाई हैं। नन्दादेवी वस्तुतः पार्वतीजी ही हैं, लेकिन शास्त्रसम्मत देवता लोक-भावना में अपने विशेष रूप ले लेते हैं। नन्दा भवानी के सात भाई हीत कहे जाते हैं। कुलदेवता हीत बड़े भाई के दादा के सिर पर आया करता था। पिता इस योग्य नहीं थे कि हीत उनको अपना वाहन बनाता। इसका यह अर्थ नहीं कि जाथलीसिंह का देवताओं पर विश्वास नहीं था। वह जागरण करते हीत को पूजते थे। एक बार जागरण के समय बड़े भाई का सिर हिलने लगा। वहाँ देवताओं पर अटल विश्वास रखनेवाले लोग बैठे थे। बाजेवाले बाजा बजा रहे थे। बाप हाथ जोड़े कहने लगे—बेटे पर कुलदेवता आ गया। अब तो तरुण चन्द्र के ऊपर सचमुच ही देवता पूरी तरह से सवार हो गया। उसे कुछ भी सुध-बुध नहीं रही। तुरन्त खड़े हो नाचने लगा। नाच समाप्त हो जाने के बाद स्नान करा के रिवाज के मुताबिक पूछा गया, तो देवता ने परिचय दिया—"मैं तुम्हारा कुलदेवता हीत हूँ। अब फिर तुम्हारे घर पर आ गया हूँ।" हीत की पूजा बहुत सात्विक हुआ करती है। हलवा-पूड़ी चढ़ाते हैं, लेकिन 'उत्तरे मांसभोजनम्' के

नियम को पहाड़ में मनुष्य भले ही उल्लंघन करे, देवता कैसे उल्लंघन कर सकते हैं। खास करके नन्दादेवी और उसके भाई हीत न बदरीनाथ है, न पंच पांडव। उन्हें साल-दो साल में कभी मांस की जरूरत पड़ती है, जिसके लिए बकरे की बलि दी जाती है।

जिसे देवता पहिले-पहिल अपना वाहन बनाता है, उसे साल-भर तक बहुत शुद्ध आचार-विचार से रहना पड़ता है। वह मांस-मछली खा नहीं सकता। जिस वक्त देवता सिर पर आता है, उस वक्त देववाहन किसी का पुत्र या भाई नहीं रह जाता। माँ भी उसके सामने हाथ जोड़ती है, बाप भी चरण छूता है। देववाहन चाहे राजपूत हो, लेकिन ब्राह्मण भी उसके सामने नाक रगड़ना अपना कर्तव्य समझता है। देवता अपने गाँव और कुल के तो होते ही हैं, कभी-कभी वह दहेज में भी आ जाते हैं। बड़े भाई के घर में इसी तरह भागीरथी देवी के मैके की कालिका आई थी। आम तौर से देवी अपना वाहन स्त्री को ही बनाती है, लेकिन ससुराल से आई कालिका को न जाने क्या हो गया, उसने चंद्रसिंह को अपना वाहन बना लिया। इसमें घाटा नहीं था, नाचने का और अवसर मिल जावे, तो क्या बुरा ? बाप ने अर्जुन के लिए थान बनाकर तीर रक्खा था, जहाँ हर साल पूजा होती थी। कई पीढ़ियों से बड़े भाई के घर में एक ही एक सन्तान चलती आ रही थी, इसलिए बहुत-सी चीजें जमा हो गई थीं, जिनमें कितने ही शालिग्राम भी थे। आर्यसमाजी बनने पर बड़े भाई ने इन्हें उठाकर फेंक दिया। अर्जुन, हीत और काली अपने वाहन से वंचित हो गये, लेकिन फिर उन्होंने उनके सबसे छोटे भाई को अपना वाहन बनाया। देवताओं के दुर्भाग्य से आज वह भी नहीं है, वह कुछ दिनों बाद मर गया।

रनगाँव में उस शाम को बड़े भाई अपने साथियों के साथ चुनाव और पार्टी का प्रचार करने के लिए आये। रात को वहीं रहना पड़ा। पांडवों का जागरण हो रहा था। गाँव के नर-नारी खूब नाच रहे थे। बड़े भाई भी पटांगन में उतरे, और सकलानी भी। खूब नाचे। बड़े भाई अर्जुन बने। बहुत सालों बाद अर्जुन को अपना वाहन मिला था। बड़े भाई यद्यपि नकली अर्जुन थे, लेकिन गाँववालों को क्या पता था कि बड़े भाई नकली अर्जुन हैं। उन्होंने महाभारत की बहुत-सी कथाएँ पढ़ी थीं, जिन्हें उस दिन अर्जुन ने बड़े रोचक ढंग से कहा। गाँववाले बड़ा खुश होकर सुनते रहे। सकलानी, मालूम नहीं, किसके रूप में नाचे थे।

अगले दिन सबेरे वहाँ से छह मील चलकर रौणासेरा गाँव में घूमते-घामते शाम के वक्त पहुँचे। सकलानी का भोंपू बजा—"वीर चन्द्रसिंह सत्रह साल बाद अपने गाँव आ रहे हैं।" अँधेरा हो रहा था। पहिले ही पता लग गया था कि चन्द्रसिंह आनेवाले हैं। भोंपू की आवाज सुनते ही नर-नारी दौड़ पड़े। बाजावाले बाजा बजाने लगे। सारे गाँव ने दिल खोलकर अपने सपूत का स्वागत किया। बापू ने गाँव-भर को हलवा-पूड़ी का भोज दिया। वह अब 90 वर्ष के हो गये थे। बड़े भाई सभा में भाषण दे रहे थे, और पिता मकान के छज्जे पर बैठकर सुन रहे थे। पिता का चरण छूने पर उन्होंने दिल खोलकर आशीर्वाद दिया।

अगले दिन गाँव से वह बुंगीधार गये। डाकखाने में चिट्ठी मिली, जिसके अनुसार उन्हें एक दिन ठहर जाना पड़ा। वहाँ से फिर घुनियारघाट में सभा करने गये। सूर्यास्त हो गया था। इसी समय सूबेदार जयसिंह के आदमी लालटेन और दो घोड़े लेकर आये—"आपको मैखोली जाना पड़ेगा।" इन्कार नहीं कर सकते थे। रामगंगा के किनारे-किनारे चलते छह मील पर उस गाँव में पहुँचे। सूबेदार साहब ने बड़ी तैयारी की थी। स्वागत के लिए दो तोरण द्वार लगवाये थे, तीन-चार पहाड़ी बाजे थे। जुलूस बनाकर स्वागत के लिए आये। पूरी रात हो गई थी, लेकिन पैट्रोमैक्स की रोशनी थी। सूबेदार साहब ने दंडवत करके प्रणाम करते कहा—"मैं अपने सारे अपराधों के लिए क्षमा माँगता हूँ।" वह अब खद्दरधारी थे। सरकार को खुश रखने के लिए उन्होंने क्या-क्या नहीं किया था। 1930 में उन्हें क्या मालूम था कि 1946 आनेवाला है। सभा में एक हजार से अधिक आदमी थे। स्कूल के लड़कों ने प्रार्थनागान किया। बड़े भाई ने अपने भाषण में यह भी कहा कि पेशावर-कांड के समय दस्तखत करके नारा लगानेवाले हमारे सूबेदार साहब भी थे।

भोजन कर लेने के बाद फिर घर की हाल-चाल पूछी। सूबेदार साहब अपना दुःख रो रहे—"तीस हजार कर्ज हो गया है। बेटा द्वाराहाट में इण्टर में पढ़ रहा है, लेकिन उसकी फीस देने के लिए भी पैसा नहीं है।"

अंग्रेजों की अनन्य भाव से सेवा करने का क्या यह फल होना चाहियै था ? सूबेदार साहब कह रहे थे—पेशावर-कांड के समय मुझे क्या मालूम था कि अंग्रेज यहाँ से चले जायँगे। मैंने भारी पाप किया, उसी का फल मुझे इस बुढ़ापे में भोगना पड़ रहा है।"

मैखोली से अब बड़े भाई ने दूनागिरि और दूदाटोली के बीच के घनघोर जंगलों को पार किया। जनवरी (1947) का महीना था। कितनी जगहों में घुटने-घुटने बर्फ थी। रास्ते में दूकान नहीं थी। एक साथी के पास जूते भी नहीं थे। दूसरों के जूते भीग गये थे। दूदाटोली का यह जंगल गढ़वाल की बहुमूल्य निधि है। इसमें हजारों तरह के वृक्ष-वनस्पति हैं, बहुत-सी मूल्यवान औषधि है। पहाड़ के सैलानियों के लिए इतनी सुन्दर जगह हिमालय में बहुत कम मिलेगी।

जंगल पार कर बधाण के इलाके में शिल्पकारों के गाँव में रात को ठहरे। गढ़वाल में बड़ी जातवाले अर्थात ब्राह्मण-क्षत्रिय बीठ कहे जाते हैं, और बाकी सब लोग डोम। इस शब्द का अर्थ मूलतः चाहे मनुष्यवाचक रहा हो, लेकिन आज वह सबसे घृणावाचक है। उन जातियों को भी इसी नाम से पुकारा जाता है, जिन्हें नीचे देश में अछूत नहीं समझा जाता। आर्यसमाज ने पहाड़ के अस्पृश्यों की ओर ध्यान दिया, उनमें आत्मसम्मान का भाव भरना चाहा। वह अपने को शिल्पकार कहने लगे, लेकिन जिस प्रकार गाँधीजी के हरिजन नाम दे देने से अछूत छूत नहीं हो गये, वैसे ही 'शिल्पकार' भी अब उसी पुराने शब्द का पर्याय हो गया। जम्मू में अछूतों को आर्यसमाज के प्रचार के कारण 'महाशय' कहा जाने लगा। आज महाशय वहाँ अछूत का पर्याय है। डोम कहिये, अछूत कहिये, अस्पृश्य, शिल्पकार या आर्य। सहस्राब्दियों से जिस जाति-व्यवस्था ने हमारे देश की चौथाई मानवता को इस हीन अवस्था में पहुँचाया, वह तब तक उन्हें ऊपर उठने नहीं देगी, जब तक कि उस व्यवस्था के भीतर आग नहीं लगा दी जायेगी और यह आग शिक्षा और बेहतर आर्थिक स्थिति द्वारा ही लगाई जा सकती है। बदरीनाथ के मन्दिर में प्रवेश कर लेने से, विश्वनाथ की पिंडी के ऊपर गंगाजल चढ़ा देने से उनका कुछ नहीं बनेगा। उलटा धार्मिक भावनाओं को फिर से जगाने से अनिष्ट ही होगा, क्योंकि धर्म ने ही तो इस व्यवस्था को मजबूती के साथ कायम रक्खा है।

अगले दिन बड़े भाई, सकलानी, पेशावर-कांड के साथी वचनसिंह के गाँव बैनौली में पहुँचे। उन्होंने भी अपना रोना रोया : "भाई-भतीजे नाराज रहते हैं, सिर पर कर्ज का बोझ है। केवल दुःख और चिन्ता का जीवन है।" लेकिन, यह दुःख तो घर-घर में, सारे देश में है; केवल सूबेदार जयसिंह और वचनसिंह के घर में ही नहीं है। यह तो जंगल की आग है, जिसमें एक तृण अपने को बचा नहीं सकता। इस आग को महामेघ ही बुझा सकता है, और वह महामेघ है मार्क्स का बतलाया रास्ता, जिसे पार्टी देश के सामने रख रही है।

यहाँ से वह थराली गये। वहीं निर्वाचन केन्द्र था। 9 बजे से वोट शुरू हो गया था, बड़े भाई घंटा-भर बाद पहुँचे। पिंडार नदी के पुल पर पहुँचते ही स्कूल-मास्टर विद्यार्थियों का जुलूस लेकर स्वागत के लिए आये। थराली में विरोधी उम्मीदवार के लिए बड़ा जोर-शोर से काम हो रहा था। पलटन के दो अंग्रेज अफसर उनके समर्थन के लिए आये हुए थे। वह कनस्तरों में शराब भरकर लाये थे। सूबेदार, जमादार और दूसरों के लिए शराब की सदावर्त लगी हुई थी। पीकर लोग बुत बने थे। कांग्रेसवालों को डर लग रहा था कि यहाँ के सारे वोट ठाकुर शंकरसिंह के बक्स में चले जायेंगे। वह बुटौला जाति के थोकदार थे, जिनका यहाँ राजपूतों पर भारी प्रभाव था। सारी स्थिति मालूम होने पर बड़े भाई ने जरा ठमककर सोचा। फिर एक टीले पर पहुँचकर भोंपू से बोलने लगे—"मैं पेशावर-कांड का चन्द्रसिंह हूँ। जो मेरी बात सुनना चाहें, वह यहाँ आ जायें।" लोग दौड़-दौड़कर उनके पास खड़े हो गये और कहने पर बैठ गये। उन्होंने समझाया—"देश को किस तरह अंग्रेजों ने गुलाम बनाया और कितने बलिदानों के बाद अंग्रेज के हाथ से हम अपने देश को छीनने में सफल हुए। आज वह फिर अपने पिट्ठुओं को भेजकर हमें गुलाम बनाना चाहते हैं।" आदि-आदि। हालत बिलकुल बदल गई। अंग्रेज अफसर निराश हो कनस्तर उठवा चल दिया। लोगों ने समझ लिया कि शंकरसिंह को वोट देना अंग्रेजों की गुलामी के लिए वोट देना है। वहाँ उनको सारे इलाके का वोट मिलनेवाला था, और मिला सिर्फ 60-70।

बस्ती जिले के शोहरतगंज में किसान-सम्मेलन था। शायद अगस्त का महीना था। सम्मेलन में बड़े भाई भी गये। सबेरे स्टेशन पर पहुँचे। किसान जुलूस बनाकर स्वागत के लिए आये। पूर्वी जिलों को देखने का बड़े भाई को यह पहिला मौका मिला था। उन्होंने देखा कि 12 वर्ष के लड़के से लेकर जवान और बूढ़े सभी के हाथ में लाठी थी। लाठियों का देश तो वह है ही। शोहरतगंज में एक बहुत बड़े जमींदार का महल था। जमींदारों से किसानों का संघर्ष चल रहा था। 11 बजे तक के करीब पुलिस की चिट्ठी आई कि नकवी इस सभा के सभापति न बनें, लेकिन वह भला क्यों मानने लगे ? कैम्प बाहर था, लेकिन सभा बाजार में होनेवाली थी। उसके लिए शामियाना खड़ा किया गया था, दरी बिछी थी। दोपहर के खाने के लिए स्वयं-सेवक अपने कैम्प में गये। पुलिस ने धमकाया और एक घंटे के भीतर न वहाँ शामियाना रहा, न दरी। बाजारवाले बनिये पुलिस के डर के मारे सब कुछ करने के लिए तैयार थे। अब वहाँ खाली जगह थी, लेकिन किसान इससे हताश होनेवाले नहीं थे। खाने-पीने के वाद हाथी पर बड़े भाई और दूसरे नेताओं का जुलूस निकला। आगे-आगे औरतें थीं, और पीछे-पीछे पुरुष। वह सभा-स्थान पर गये। बात की बात में लकड़ी के तख्ते जमा करके वहाँ मंच बना लिया गया था। दस हजार लोग थे।

सभापति ने आसन ग्रहण किया। सी. आई. डी. के तीन आदमी नोट लेने के लिए आये थे। उनके बैठने के लिए जगह दी गई थी, लेकिन वह बात न मान बिलकुल मंच के सामने आकर बैठ गये। सभापति प्रादेशिक पार्टी के तत्कालीन मन्त्री कामरेड नकवी थे। उन्होंने पहिले बड़े भाई को ही बोलने के लिए कहा, लेकिन यह निश्चय ही था कि उनके भाषण के बाद लोग न रहते या भाषण के बीच ही में पुलिस गड़बड़ी पैदा करती, और सम्मेलन खतम हो जाता। बड़े भाई ने कहा कि मुझे सबसे पीछे रखिये, पहिले दूसरे भाषण और प्रस्ताव हो जाने दीजिये। कामरेड शीतल ने अपने भाषण में राजा और पुलिस के अत्याचारों की खूब खबर ली। दूसरों के भी भाषण हुए, प्रस्ताव भी पास हो गये।

बड़े भाई बोलने के लिए उठे। उन्होंने कहा–"हमारे देश में प्रजातन्त्र स्थापित होने जा रहा है। यहाँ हमारे निहत्थे और बिना कवायद-परेड सीखे थोड़े-से स्वयं-सेवक दस हजार आदमियों पर नियन्त्रण कर रहे हैं। एक तरफ इनका यह अनुशासन है। दूसरी तरफ यह कवायद-परेड सीखे हुए पुलिसवाले जो स्वयं-सेवकों की बात मानने के लिए तैयार नहीं और जबर्दस्ती आकर इस जगह बैठ गये हैं। अगर यहाँ गढ़वाली जनता होती, तो मैं उनसे कहता कि इनके साथ कैसा सलूक करना चाहिए और इन्हें कान पकड़ के यहाँ से हटाया जाता।" सारी सभा में आवाज उठी, "निकाल दो, निकाल दो।" एक पुलिसवाला चाकू लेकर मंच की ओर दौड़ा। फिर क्या था ? धक्का दे-देकर लोगों ने तीनों खुफिया पुलिसवालों को बाहर कर दिया। डिप्टी-कलेक्टर एम. ए. खान वहाँ मौजूद था। वह गढ़वाल में सप्लाई-अफसर रह चुका था, और जुल्मों के कारण उसे काली झण्डी दिखाई गई थी। उसके साथ पुलिस आई थी। पुलिस को उसने 'लोड' (गोली भरो) का हुकुम दिया। गोली भरकर वह तैयार हो गई। इसी समय–"खान साहब, मैं गढ़वाल से ही आपको जानता हूँ, यह लो मेरी छाती खुली हुई है, हिम्मत हो, तो गोली चलवाओ।" कहते बड़े भाई ने छाती के बटन खोल दिये। पुलिसवालों ने बन्दूकें वहीं खड़ी कर दीं। खान के हाथ में पिस्तौल रक्खा रह गया। सभा-स्थल के पास ही मुस्लिम लीग का दफ्तर था। वहाँ से स्वयं-सेवक आये, और बड़े भाई को अपने साथ ले गये। जनता पुलिस पर ईंटें बरसाने लगी। नकवी ने सीटी बजाकर बहुत कठिनाई से उनको रोका।

बड़े भाई ने लीग के दफ्तर में चाँदवाला हरा झण्डा लहराते देखकर पूछा–"मुझे यहाँ क्यों लाये ?" जवाब मिला–"वह बदमाश अफसर है। कहीं हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा करा कर, तुम्हें मार न दे। इसीलिए हम अपने साथ लाये।" पठानों पर गोली न चलाने का हर एक शिक्षित मुसलमान पर प्रभाव था। वही यहाँ भी हुआ। उन्होंने बड़े भाई को चाय पिलाई। तब तक लोग आ गये, और उन्हें किसान कैम्प में जुलूस के साथ ले गये। रात को भी उनका भाषण हुआ। कैम्प हजार के करीब वाले परिवार के गाँव में था जिनमें आधे मुसलमान और आधे हिन्दू थे। सभी किसान-सभा के समर्थक थे। उन्होंने कम्युनिस्टों का चमत्कार यहाँ पर देखा। रसोई में मुसलमान और हिन्दू अछूत स्त्रियाँ भी खाना बना रही थीं, और सभी लोग बिना भेदभाव के दाल-भात खा

रहे थे।

शोहरतगंज की सभा को लेकर बस्ती में बड़े भाई पर मुकदमा चलाया गया। साल-भर बाद कचहरी के बन्द होने तक की उन्हें कड़ी सजा दी गई। इसी को प्रान्तीय सरकार के सेक्रेटरी ने गोरखपुर में पुलिस को पिटवाना कहा था।

बस्ती से बड़े भाई उन्नाव जिले के एक गाँव में किसानों की सभा में गये। इस गाँव में साम्यवाद का इतना बोलबाला था कि उसका नाम ही मास्को रख दिया गया था। बड़े भाई को वहाँ झण्डा फहराना था। यह बात उन्हें खटकती थी, जब वह देखते थे कि हमारे नेता ठाटबाट से रहते हैं। अपने अक्खड़पन के कारण उन्होंने इनकी आलोचना भी कर दी जिसको बुद्धिजीवी मध्य-वर्ग के नेता बर्दाश्त नहीं कर सकते थे।

पौड़ी लौटकर वहाँ पार्टी-केन्द्र बना नगेन्द्र सकलानी, ब्रजेन्द्र, देवीदत्त तिवारी को लेकर बड़े भाई रहने लगे। यहीं भागीरथीजी को भी ले आये। गढ़वाल में पार्टी का बाकायदा काम शुरू किया। कभी-कभी बाहर भी जाना पड़ता। एक बार मध्यप्रदेश में दमोह के पास महासुन कस्बे में किसान-सम्मेलन था। बड़े भाई वहाँ गये। स्टेशन पर बीस हजार की भीड़ थी। सम्मेलन में बड़े भाई के भाषण का बहुत प्रभाव पड़ा। भाषण के वक्त उनके नकली दाँत निकल-निकल आते थे। एक बार वह ऐसे बेढंगा तौर से निकले कि मालूम हुआ, जैसे वह किसी कंकाल के हैं। लोग हँस पड़े। श्रोताओं में अवस्थित सूर डॉक्टर ने बड़े भाई को अपने यहाँ मेहमान बनाना चाहा। सबेरे डाक्टर के घर पर गये। पच्चीस-तीस आदमी वहाँ मौजूद थे। सबने खाना खाया। डाक्टर ने आँखों की परीक्षा करके सुन्दर फ्रेम का एक चश्मा भेंट किया। दाँतों की छाप ली, और नये दाँतों को भेजने के लिए पता पूछ लिया। वहाँ कालेज था, जिसमें भी विद्यार्थियों ने भाषण के लिए निमन्त्रित किया। जब कॉलेज में पहुँचे तो कालेजबोर्ड पर लिखा देखा—'अध्यात्म विषय पर भाषण'। यह क्या ? बड़े भाई अध्यात्म के कब से पण्डित हुए ? फूलमाला डालकर अब उन्हें बोलने के लिए कहा गया। बड़े भाई ने हिम्मत नहीं हारी, और आरम्भ में ही मजाक करते कहा—"सभापतिजी और भाइयो, मुझे हर्ष है कि सभा के प्रबन्धकों को यह पहिले से मालूम था कि मैं षट्शास्त्री महामहोपाध्याय हूँ। मैं तो एक सिपाही हूँ। दर्जा चार से अधिक मैंने पढ़ाई नहीं की, फिर भी मैं कुछ कहने की कोशिश करूँगा। बापू मुझे वर्धा के आश्रम से काशी विद्यापीठ में जब भेजने लगे थे, तो मैंने पूछा था—'बापू, मुझे विद्यापीठ में विद्यार्थी बनाकर भेज रहे हैं या क्या ?' बापू ने कहा था—'प्रोफेसर बनाकर भेज रहा हूँ।' उस वक्त भी मैंने उनसे पूछा था—'मैं चौथे दर्जे तक पढ़ा हुआ आदमी वहाँ क्या पढ़ा सकता हूँ ?' उन्होंने कहा था—'जो तुमसे मैंने पढ़ा, वही पढ़ाना।' " इसके बाद बड़े भाई ने अध्यात्म विषय पर बीस मिनट तक व्याख्यान दिया। श्री सम्पूर्णानन्द विद्यापीठ में अध्यात्म पर व्याख्यान दिया करते थे। वह काले बोर्ड पर कुछ आकृतियाँ खींचकर निराकार-साकार ब्रह्म और जगत की बातें सिखलाया करते थे। बड़े भाई ने भी उनकी बातें सुनी थीं। उन्हीं को उन्होंने अपनी शैली में दुहरा दिया। श्रोता दंग रह गये। पार्टीवाले जो घबरा रहे थे, उन्होंने भी वाह-वाह की।

गढ़वाल लौटकर बड़े भाई कुछ समय बाद पंजाब भेजे गये। लुधियाना में किसान-कान्फरेंस थी। पंजाब-भर के तपे हुए किसान और कम्युनिस्ट नेता आये थे। यह बड़ा सुन्दर अवसर था। सबसे परिचय हुआ, कुछ भाषण भी दिया। इसके बाद लाहौर चले गये। लाहौर में साथी अजय घोष रहते थे। अभी-अभी उनकी शादी कांग्रेस के बड़े नेता और पीछे पंजाब के मुख्यमंत्री श्री गोपीचन्द्र भार्गव की सुपुत्री से हुई थी। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, यदि भार्गवजी के घर में कम्युनिस्ट बेटी और उनका दामाद आज भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का महामन्त्री हो। पहिले माता-पिता ने लड़की का बायकाट किया, लेकिन लड़की ने फूलों की शय्या के लिए यह शादी नहीं की थी। आखिर में माता-पिता को झुकना पड़ा। लाहौर के गढ़वालियों ने बड़े भाई के स्वागत के लिए विशेष आयोजन किया। एक बगीचे में चाय-पार्टी दी। हिन्दू-मुसलमान सभी आये। पेशावर के वीर का स्वागत करने के लिए मुसलमान हिन्दुओं से कम लालायित नहीं थे। यहीं जेनरल मोहनसिंह का तार मिला। वह उन्हें अपने यहाँ उकाडा में बुलाना चाहते थे। उकाडा लाहौर से साठ मील पर था। कार आई। बड़े भाई वहाँ गये। जेनरल मोहनसिंह ने अपना एक छोटा-सा फार्म बना लिया था। चारों तरफ खेत थे, जिनमें से कुछ

में गन्ने लहलहा रहे थे, कुछ में साग-सब्जी थी, कुएँ पर रहट चल रही थी, अच्छी नसल की भैंसे और गायें थीं, घोड़ियाँ भी थीं। फार्म के बीच में एक सुन्दर छोटा-सा बँगला था। जेनरल उस समय कितना निश्चिन्त जीवन बिता रहे थे ? उस समय किसको मालूम था कि अगले ही साल प्रचण्ड आँधी आयेगी। जेनरल यदि अपनी जान बचा भी सकेंगे, तो भी उनका यह बँगला, यह फार्म, यह सुखी जीवन सपना हो जायेगा। बड़े भाई तीन दिन तक जेनरल के मेहमान रहे।

जेनरल मोहनसिंह को देश में कौन नहीं जानता ? नेताजी ने जिस आजाद हिन्द फौज को मलाया में संगठित किया था, उसके वह सबसे बड़े सैनिक नेता थे। उन्होंने बड़े भाई को बतलाया कि पेशावर-कांड के आपके काम ने हमें प्रेरणा दी थी। इताली में हम गिरफ्तार होकर फासिस्तों के बन्दी हो गये थे। वहीं हमने काम का सूत्रपात किया। पीछे बड़ी कठिनाई से इताली से हमें मलाया भेजा गया। नेताजी के नेतृत्व में वहाँ आजाद हिन्द फौज संगठित की गई, जिसकी बुनियाद एक तरह से जेनरल मोहनसिंह और उनके साथियों ने इताली में ही रक्खी थी। उन्होंने कहा कि सबसे पहिले जो लोग आजाद फौज में भरती होने के लिए आगे बढ़े, वह गढ़वाली सैनिक थे, जिनमें इस भावना का जनमदाता पेशावर-कांड था। जेनरल मोहनसिंह फासिस्त-विरोधी थे। जेनरल शाहनवाज ने भी गढ़वाल की सभाओं में पेशावर-कांड द्वारा गढ़वालियों के पथ-प्रदर्शन को हर जगह दोहराया था।

गढ़वाल लौटते रेल से नजीबाबाद पहुँचे, तो देखा, गठरी-मुटरी गायब है। जाँधिया-कुर्ता पहने वह पौड़ी पहुँचे।

25
गढ़वाल में

पौड़ी को पार्टी का केन्द्र बना अपने साथियों से मिलकर वह काम करने लगे। उस वक्त अन्न का अकाल पड़ा हुआ था। गढ़वाल में वैसे भी अपने खाने-भर के लिए अनाज नहीं पैदा होता, और इस वक्त तो चोरबाजारियों ने भयंकर स्थिति पैदा कर दी थी। बड़े भाई 84-85 पट्टियों में घूमे। जगह-जगह से प्रस्ताव पास हुए। गढ़वाल का आखिरी अंग्रेज डिप्टी-कमिश्नर बरांडे कोटद्वार में था। उसने वहाँ बुलाया। मिलने पर उसने कहा–"अकाल नहीं है, तुम झूठ बोलते हो।" बड़े भाई ने कहा–"तुम क्यों मुझे झूठा बतलाते हो ?" डिप्टी-कमिश्नर ने लोगों की चिट्ठियाँ सामने रख दीं। बड़े भाई ने कहा–"ये चिट्ठियाँ यहाँ के बड़े-बड़े आदमियों, थोकदारों, जमींदारों, महाजनों की हैं। ये आपके दोस्त हो सकते हैं, लेकिन आपके दोस्तों और हमारे दोस्तों में बड़ा अन्तर है। अन्न का अकाल हमारे दोस्तों को है, जिनके पैर भी नंगे हैं, शरीर भी नंगे हैं, और भूख के मारे मर रहे हैं। ये लोग ऐसी चिट्ठियों को इसलिए लिख रहे हैं, कि सरकार सस्ते और सुलभ अनाज का प्रबन्ध न कर सके। अगर ऐसा हुआ, तो ये लाभ से वंचित हो जायेंगे।" डिप्टी-कमिश्नर ने कहा–"अच्छा, मैं खुद दौरा करके हालत देखता हूँ।"

ब्रजेन्द्र और बड़े भाई देवप्रयाग पहुँचे। सभा हुई। अन्न के लिए लोग त्राहि-त्राहि कर रहे थे। प्रस्ताव पास हुआ–"सरकार अनाज का प्रबन्ध करे।" पता लगा, डिप्टी-कमिश्नर पौड़ी आ रहा है। 18 मील पैदल चलकर बड़े भाई वहाँ पहुँचे। पौड़ी में राशन में आदमी पीछे दो छटाँक आटा और दो छटाँक चावल मिलता था। पहाड़ की चढ़ाई करनेवाले मेहनतकश लोगों के लिए यह चार छटाँक ऊँट के मुँह में जीरा था। सारे शहर के लोग इससे असन्तुष्ट थे। सार्वजनिक सभा की गई, लेकिन डिप्टी-कमिश्नर के डर से कोई वकील सभापति बनने के लिए तैयार नहीं हुआ। अन्त में बड़े भाई को ही लोगों ने सभापति बना दिया। बड़े भाई ने कहा–"मैं प्रधान पद तभी स्वीकार करूँगा, जब आप पूरी तौर से मेरा साथ देने के लिए तैयार हों।" सबने हाथ उठाकर

अपनी स्वीकृति दी। फिर अन्न के लिए लोगों की जो अवस्था थी, उसका विवरण देते हुए बड़े भाई ने कहा—"दो छटाँक से हमारा क्या बनता है। यह तो सीढ़ियों के चढ़ने में ही खतम हो जाता है।"

मेमोरेंडम के रूप में पहिले ही से तैयार किये प्रस्ताव को सभा में पास किया गया। इधर सभा बर्खास्त हो रही थी, और उधर कोटद्वार से डिप्टी-कमिश्नर की कार पौड़ी पहुँचनेवाली थी। सभा से ही दो हजार आदमियों का जुलूस बनाकर बड़े भाई मोटर अड्डे पर पहुँचे। सब नारा लगा रहे थे। बड़े भाई ने आगे बढ़कर मेमोरेंडम को डिप्टी-कमिश्नर के सामने पेश किया। उसने पूछा—"क्या है ?"

"पौड़ी की जनता भूखी मर रही है। वही अपने दुःखों की गाथा पेश कर रही है।"

डिप्टी-कमिश्नर ने कहा—"मैं थका हुआ हूँ, इस समय कुछ नहीं कर सकता।"

"इसे जेब में रख लीजिये, आराम करने के बाद पढ़ियेगा।"

"मुझे फुरसत नहीं है।" यह कहकर वह अपने बँगले की ओर चल पड़ा।

बड़े भाई ने वहीं बाँह पकड़ ली—"तुम्हें फुरसत निकालनी होगी।" उधर नारा लग रहा था—"अंग्रेजी राज्य नाश हो।" बड़े भाई ने जबर्दस्ती डिप्टी-कमिश्नर की जेब में उस मेमोरेंडम को डाल दिया। आज भी पौड़ी के लोग इस घटना को भूले नहीं हैं। डिप्टी-कमिश्नर बँगले की ओर चला, लोग भी पीछे-पीछे नारा लगाते चले। बड़े भाई को डर लगा कि कहीं लोग बँगले के भीतर घुसकर कुछ कर न बैठें, इसलिए आगे जाकर फाटक को बन्द कर लोगों को वहीं रोक दिया। साहब ने कहा—"हम कल जवाब देंगे।"

रामलीला मैदान में जाकर फिर सभा हुई। बड़े भाई ने समझाया कि अन्न का अकाल दूर करना हम लोगों का काम है।

अगले दिन आठ बजे सुबह से ही मोटर-अड्डे पर लोग जमा होने लगे। आठ-आठ दस-दस वर्ष के बच्चे—"माँ कलेवा नहीं देती, देवे कहाँ से, दो छटाँक से पेट नहीं भरता।" नारा लगा रहे थे। नारे डिप्टी-कमिश्नर के कान तक पहुँचे। उसने कहा—"मैं दौरा कर रहा हूँ। कर्णप्रयाग से जवाब भेजूँगा।" कर्णप्रयाग जाकर उसने अपने जवाब में लिखा कि अन्न का अकाल है, यह बात सच है। मैं सरकार को लिख रहा हूँ।

दो महीने के भीतर गढ़वाल को अन्न की कमीवाला क्षेत्र घोषित करके वहाँ आंशिक राशन-व्यवस्था जारी कर दी गई।

व्यवस्था तो जारी हुई, लेकिन प्रबन्ध पुराने सूबेदारों, जमादारों को इन्स्पेक्टर बनाकर उनके हाथ में दे दिया गया, जिसके कारण ऊपर से आया अनाज बीच ही में गायब होने लगा। इस पर अन्न परामर्श समिति बनी, जिसके उप-सभापति बड़े भाई बनाये गये। व्रजेन्द्र भी उसके एक मेम्बर थे। यहाँ भी रानीखेत की तरह राशन के अनाज को लेकर बनिये चोरबाजारी करने लगे। अब आन्दोलन उठा, अन्न के वितरण का काम जनता के हाथ में हो। बड़े भाई और उनके साथियों ने मिलकर इसके लिए सहकारी समिति बनाई। डेपुटेशन लेकर वह डिप्टी-कमिश्नर के पास पहुँचकर बोले—"अन्न-वितरण का काम सहकारी समिति करे।" पहिले वह चौंका, लेकिन समिति में भगवतीप्रसाद चन्दोला वकील, कोतवालसिंह वकील जैसे लोग थे, इसलिये अविश्वास करने का कोई कारण नहीं था। 15-20 दिन के भीतर समिति के लिए 2700 रुपये जमा हो गये। सभापति चन्दोलाजी हुए, और डायरेक्टरों में बड़े भाई, नगेन्द्र सकलानी, ब्रजेन्द्र आदि कितने ही लोग थे। समिति के हाथ में वितरण का काम आते ही गुड़ की भेली 22 आने से घटकर 10 आने में बिकने लगी, इसी तरह दूसरे अनाजों का भाव भी गिरा। डिप्टी-कमिश्नर ने राशनिंग को तो मान लिया, लेकिन यह शर्त रक्खी थी कि दो रुपये का बारीक अनाज खरीदने पर चार रुपये का मोटा अनाज भी खरीदना पड़ेगा। साथ ही यह भी कि जिस सर्किल से राशन-कार्ड मिला है, वहीं अनाज लेना होगा। मिस्टर बरांडे (डिप्टी-कमिश्नर) ने यह रुकावट जान-बूझकर नहीं पैदा की होगी, लेकिन नीति निर्धारित करते समय सरकार स्थानीय स्थिति को देखने की तकलीफ गँवारा नहीं करती।

बड़े भाई ने अब ब्रजेन्द्र को लेकर पंतजी के पास लखनऊ पहुँचकर बतलाया कि मोटा अन्न याने बाजरा पहाड़ के भारी किराये के कारण वहाँ पहुँचकर रुपये का चौदह-अठारह छटाँक के भाव का हो जाता है, इसलिए

वहाँ जानेवाले अनाज पर रेल का किराया न लिया जाय। सर्किल में अनाज खतम हो जाने पर पास के दूसरे सर्किल से उसी कार्ड पर अनाज मिलना चाहिए। इसके न होने से लोगों को बहुत तकलीफ होती है। दो रुपये के महीन अनाज पर चार रुपये के मोटे अनाज को लेने का भी प्रतिबन्ध हटा देना चाहिए। राशन में सड़ा अनाज दिया जा रहा है, इसके लिए सख्त हुकुम होना चाहिये।

बड़े भाई की बातों को पंतजी ने गौर से सुना और कहा कि इन सब बातों के बारे में हम आदेश भेज रहे हैं। उस समय पोस्ट-ऑफिस और तारवाले कर्मचारियों की हड़ताल थी, डाक रुक गई थी। बड़े भाई ने पंतजी का पत्र स्वयं पहुँचाने के लिए ले लिया। वह दुगड्डा पहुँचे। यहीं देवीदत्त तिवारी मिले, गढ़वाल में काम करने के लिए पार्टी की ओर से भेजे गये थे। वर्षा का समय था। नदी-नाले बढ़े हुए थे। सतपुली का पुल टूट गया था। बहुत चक्कर लगाकर द्वारीखाल के रास्ते पौड़ी जाना था। दुगड्डा में मूसलाधार वर्षा होने लगी। तीन आदमियों में सिर्फ एक छाता था। 'कर्मभूमि' के सम्पादक श्री भैरवदत्त धुलिया से यहाँ पहिले-पहिल मुलाकात हुई। कुछ परिचित कांग्रेसी मिले। उनसे छाता माँगा, लेकिन किसी ने नहीं दिया। पाँच रुपये में एक कम्बल खरीदकर एक के लिए तो इंतिजाम कर लिया, लेकिन एक आदमी को भीगते ही जाना था। कांग्रेसवालों ने टाट तक देने से इन्कार कर दिया। वह वर्षा में ही चल पड़े। पौड़ी पहुँचे, डिप्टी-कमिश्नर को चिट्ठी दी। उसने कहा कि सब बातें हो जायेंगी, लेकिन किराया कम नहीं किया जायेगा।

राशन-व्यवस्था में सुधार हुआ। एक जगह की सहकारी समितियों को अच्छी तरह काम करते देखकर गढ़वाल में कुछ ही दिनों में 800 सहकारी समितियाँ बन गईं, और उनका जिला फैडरेशन भी तैयार हो गया। जनता जब जगती है, तो वह ऐसी शक्ति को अपने भीतर से पैदा करती है, जिससे भारी काम कराया जा सकता है; लेकिन, एक बार की जगी जनता सुलाई भी जा सकती है। तब सब किये-कराये पर पानी फिर जाता है। हम आये दिन अखबारों में जनता के उत्साहपूर्ण कार्य की खबरें सुनते हैं—अमुक जगह पर दस हजार लोगों ने श्रमदान किया, वहाँ इतना बड़ा बाँध बाँधा गया, वहाँ इतना बड़ा तालाब खोदा गया। पर, पार साल जिन कामों के बारे में ये खबरें आपने अखबारों में पढ़ीं, आज उसे देखें, तो सब सफाचट हैं। दिल्ली के 'स्टेट्समैन' ने एक बार एक ऐसे बनाई गई सड़क के फोटो छापे थे, जहाँ माननीय मन्त्रियों के फोटो छापने और जलसा करने में हजारों रुपये बरबाद हुए थे, और अब उसका वहाँ कोई पता नहीं था। चीन और भारत में क्या अन्तर है ? पनबिजलीघर में पानी जोर से गिरकर टर्बाइन के चक्की को जोर से घुमाता है। अगर एक बार पानी की धार डालकर उसे बन्द कर दिया जाय, तो जो बिजली पैदा होगी, वह भी थोड़ी देर में खतम हो जायगी। जरूरत है पानी की धार को लगातार उस पर गिराते रहना, जिसमें टर्बाइन बराबर चलती रहे। नवीन चीन में यही हो रहा है, इसलिए वहाँ के बाँध, सड़कें और दूसरी योजनाएँ अखबार की स्याही सूखते ही लुप्त नहीं हो जातीं। हमारे यहाँ सब काम सरकारी नौकरों के हाथ में हैं। जनता उनकी शिकायत नहीं कर सकती, और न वह जनता से कोई सहायता लेने के लिए तैयार हैं। अमुक जगह लोहा है, अमुक जगह ताँबे की खान है, इन सबके बारे में वह अपने को सर्वज्ञ समझते हैं, इसलिए किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं समझते। छोटे से बड़े तक सभी नौकर अपना भत्ता, टी. ए. बनाने की धुन में हैं। योजना के लिए मंजूर पैसा इसी में हवा हो जाता है। गढ़वाल के बधाण के इलाके में तीन वर्षों में बीस लाख रुपये सरकार ने खर्च किये। आज वहाँ उस काम का कोई पता नहीं है। ऑफिसों और अफसरों के रहने के लिए जो इमारतें बनीं थी, वह खड़ी अपने भाग्य के लिए रो रही हैं। गढ़वाल में लोगों ने श्रमदान किये, स्कूलों की इमारतें खड़ी कीं और फिर जब लड़कों के ऊपर शिक्षा-विभाग के कायदे के अनुसार फीस लगाई गई, तो लोग उसे देने में असमर्थ रहे। आज वह स्कूल की इमारतें झख मार रही हैं। किसी समय आठ सौ सहकार समितियाँ गढ़वाल के हरेक भाग में बड़ी अच्छी तरह काम कर रही थीं, लेकिन मिस्टर बरांडे ने जिनको अपना दोस्त कहा था, वे बड़े लोग और बनिये इन समितियों को फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे। सरकार का ऊपर से नियन्त्रण नहीं हुआ। लोग समितियों के रुपये को खा गये। अधिकांश समितियाँ टूट गईं। जो हैं, उनके हिसाब में फूटे टिन और फटी बोरियाँ रह गई हैं। जनता का उनके ऊपर से विश्वास उठ गया है।

शहीद नगेन्द्र सकलानी

आधे गढ़वाल में टेहरी एक रियासत थी। राजवंश का इतिहास 1200 वर्ष का बतलाया जाता है, जो गलत है। तो भी गढ़वाल के इस राजवंश ने पाँच शताब्दियों तक राज्य किया। 18वीं सदी के अन्त में गोरखों का बढ़ाव जब हिमालय में पश्चिम की ओर हुआ, तो गढ़वाल भी उनके हाथ में आ गया, और आगे बढ़ते-बढ़ते गोरखावाहिनी चम्बा-काँगड़ा तक पहुँच गई। रणजीतसिंह ने उसे भगाकर सतलुज पार खदेड़ दिया, और 1814 में अंग्रेजों से जो भिड़ंत हुई, उसके कारण कुमाऊँ की पूर्वी सीमा पर अवस्थित काली नेपाल की सरहद बन गई। इस लड़ाई के बाद सबसे घने बसे गढ़वाल को अंग्रेजों ने लेकर गढ़वाल का जिला बना बाकी आधा गढ़वाल राजवंश को दे दिया। तब से इसे टेहरी रियासत कहा जाने लगा। 20वीं सदी से भारतीय राजा अपने विलासमय जीवन की चरम सीमा पर पहुँच गये थे। जिनमें विलासिता कुछ कम थी, वह भी प्रजा की हड्डियों को पीसकर धन जमा करने के लिये सब कुछ करते थे। जनता का शासन में कुछ अधिकार हो, इसकी तो बात भी सुनने के लिए वह तैयार नहीं थे। टेहरी के राजा नरेन्द्रशाह न अशिक्षित थे, और न बुद्धू ही लेकिन स्वार्थ के कारण आदमी कुछ देख नहीं सकता। भारत के पाँच सौ छत्रधारियों में कुछ ने अपने यहाँ नकली ही सही, जनतन्त्रता के लिए कुछ किया, लेकिन कुछ तो समझते थे कि भगवान की तरह हम ही सब कुछ हैं। जो हम करते हैं, वही न्याय है, और प्रजा को उसे ही मानना चाहिए।

नरेन्द्रशाह के शासन में देव सुमन किस तरह शहीद हुए, इसके बारे में हम बतला आये हैं। अंग्रेज तटस्थ रहने का ढोंग रचकर राजाओं की इस निरंकुशता को कायम रखना चाहते थे, लेकिन जनता की उमंगें गोलियों से नहीं दबाई जा सकतीं, शहीदों की टोली गिरे हुए वीरों को देखकर पीछे नहीं हटती। टेहरी में भी ऐसा ही हुआ।

15 अगस्त 1947 को अंग्रेज भारत छोड़कर चले गये। वह रियासतों को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र इस आशा से रख गये थे कि अगर पाँच सौ नहीं तो पाँच-सात रियासतें तो अवश्य अपने को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रक्खेंगी, और वह हमारे साम्राज्य के लिए लाभदायक सिद्ध होंगी। त्रावनकोर ने तो उस वक्त धुआँधार प्रचार करना शुरू किया था कि हमारा राज्य अलग रहेगा। उस वक्त त्रावनकोर के मन्त्री रामस्वामी अय्यर थे, जो विष से बुझे शब्दों में इस प्रचार को चला रहे थे। यह देश के साथ भारी द्रोह था, लेकिन आज रामस्वामी अय्यर भारत के विधाताओं की आँखों की पुतली हैं। पुराने सभी झोलीचुक और अंग्रेजों के पिट्ठू आज हमारे प्रभुओं की नाक के बाल हैं।

बड़ौदा, निज़ाम-हैदराबाद, इन्दौर आदि कुछ महीनों तक फड़फड़ाते रहे, लेकिन अब अंग्रेज उनकी पीठ पर नहीं थे, और उनकी जनता अपने तानाशाहों को कच्चा खा जाने के लिए तैयार थी। भवितव्यता के सामने सिर झुकाने के सिवा उनके सामने कुछ नहीं रह गया था। सरदार पटेल ने भी इस समय अन्धे की पकड़ दिखलाई। यदि उस समय नेहरू के हाथ में बागडोर रहती, तो इसमें सन्देह था कि वह रियासतों को विलीन करा सकते। जगह-जगह जनता ने अपने निरंकुश राजाओं को अधिकार छोड़ने के लिए आन्दोलन शुरू किया। कई जगह गोलियाँ चलीं। राजाओं ने अछता-पछताकर शासन को समर्पित कर दिया।

टेहरी में प्रजा-परिषद राजा की निरंकुशता के खिलाफ आन्दोलन चला रही थी। गंगा के दाहिने तट पर टेहरी का राज्य था, और बाएँ गढ़वाल जिला। वहाँ के स्वयं-सेवक पुलिस के डर के मारे उस पार चले आते। वह कितनी ही बार आकर बड़े भाई के पास रहते।

एक दिन कोटद्वार से पौड़ी जानेवाली मोटर पर बड़े भाई बैठ गये थे। मोटर में और जगह नहीं थी। इसी समय नगेन्द्र सकलानी और तिरेपनसिंह रेल से उतरकर आये। मोटर छूटनेवाली थी। सकलानी ने आकर कहा—"बड़े भाई, यह जगह मुझे दे दीजिये। कीर्तिनगर में अन्धेरगर्दी मची है, राज्य से मुठभेड़ हो गई है। दौलतराम कुकसाल आदि गिरफ्तार हो गये हैं। साथी भरद्वाज ने मुझे तुरन्त वहाँ जाने के लिए भेजा है।"

बड़े भाई ने कहा—"मैं ही जाकर वह काम करूँगा।"

"नहीं, पार्टी ने मुझे हुकुम दिया है।"

बड़े भाई जानते थे कि सैनिक का कर्तव्य है अपने सेनापति की आज्ञा मानना। वह भी सैनिक थे, लेकिन इस वक्त तो नगेन्द्र को कीर्तिनगर जाने का हुकुम हुआ था। बड़े भाई ने अपनी जगह नगेन्द्र के लिए छोड़ दी। तिरेपनसिंह को भी भेजना था। जब इस बात को पास बैठी महिला ने सुना, तो उसने अपनी सीट उनको दे दी। दोनों दूसरे दिन की बस से पौड़ी गये। शाम को सकलानी और तिरेपनसिंह श्रीनगर पहुँचे। श्रीनगर से तीन मील पर अलकनन्दा का पुल है, जिसके पास ही टेहरी राज्य का कस्बा कीर्तिनगर है। वहाँ पहुँचने पर सकलानी ने देखा कि भारी संख्या में जनता एकत्रित है, लेकिन वह भयभीत-सी है। दौलतराम पकड़े नहीं गये थे। कीर्तिनगर में बीस-पचीस रियासती हथियारबन्द सिपाही रहते थे। जनता की लाल-लाल आँखों को देखकर सिपाहियों ने अपनी बन्दूकें दे दीं। उन बन्दूकों को अलकनन्दा में फेंक भी दिया गया।

सकलानी ने पहुँचते ही भोंपू बजाया। फिर सभा की। राज्य की कचहरी पर अधिकार करने और जनता की सरकार स्थापित करते, उसे घोषित करते एक कमेटी बनाई। कमेटी ने सबेरे कचहरी पर राष्ट्रीय झण्डा लगा दिया, और वहाँ जनता की अदालत कायम कर दी। राज्य के डिप्टी को गिरफ्तार करके श्रीनगर और पौड़ी के बाजारों में ले जाकर घुमाकर छोड़ दिया गया। वह वहाँ से टेहरी चला गया।

अगले दिन 11 जनवरी, 1948 के सबेरे नरेन्द्रनगर होते एस. डी. ओ. और पुलिस सुपरिंटेंडेंट राजा की कार में लारी पर मिलिशिया पुलिस लिये कीर्तिनगर पहुँचे। उन्होंने कचहरी पर अधिकार करना चाहा, लेकिन जनता ने नहीं छोड़ा। इस पर आँसू लानेवाली गैस छोड़ी, जिससे लोगों में भय का संचार हुआ। नगेन्द्र सकलानी कचहरी के बाहर थे। इसी समय किसी ने कचहरी की इमारत पर पेट्रोल फेंककर आग लगा दी। कोठे पर के लोग नीचे उतर आये। 10-20 सिपाही इस प्रचण्ड जनता के सामने क्या कर सकते थे ? सिपाहियों को लोगों ने पकड़ लिया, राजा के तीनों अफसर जंगल की तरफ भाग चले। नगेन्द्र ने उनका पीछा किया, और एस. डी. ओ. का पैर पकड़ लिया। उसने पीछे फिरकर अपनी पिस्तौल नगेन्द्र की छाती पर दाग दी। वह तरुण वहीं खतम हो गया। उनके साथी मूलसिंह ने–जो पार्टी के उम्मीदवार मेम्बर थे–पकड़ना चाहा, उन्हें भी अफसर ने पिस्तौल की गोली से मार दिया। तीनों भगे। दो मील के दौड़ के बाद लोगों ने उन्हें पकड़ लिया और लाकर हवालात में बन्द कर दिया। यह बड़ी उत्तेजना का समय था। इन्होंने जनता के दो नेताओं को मार डाला था, लेकिन समझा-बुझाकर उसे शान्त किया गया। तिरेपनसिंह को भी बहुत पीटा गया था। देवीदत्त तिवारी तो सख्त घायल हुए थे, लेकिन दवा-पट्टी कराकर वह श्रीनगर अस्पताल से चले आये थे। पौड़ी में भाई के पास तार गया। यह साफ नहीं लिखा था कि वीर सकलानी शहीद हो गया, लिखा था, हमारे आदमी मारे गये हैं। तार डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन ठाकुर चन्द्रसिंह रावत के पते पर गया था। मोटर का पहिला गेट (छोड़ने का समय) नहीं मिला था, इसलिए बड़े भाई दूसरे गेट से आये थे। रास्ते ही में उन्हें तार मिला। वहीं साथियों ने पूछा–"कब चलते हैं ?"

बड़े भाई ने कहा–"कल चार बजे सबेरे ही।"

भागीरथी ने बड़े सबेरे ही परौठा और चाय तैयार कर दी। दयाशंकर भट्ट और रावत के साथ बड़े भाई चल पड़े। अलकनन्दा पार हुए, तो रास्ते में जगह-जगह खून देखा। मोटर के अड्डे पर पहुँचे। देखा, दोनों शहीदों के शरीर को पीनस पर बैठा छाती से ऊपर का उनका अंग खुला रखा गया है। नगेन्द्र को क्या इसीलिए बड़े भाई ने अपनी मोटर की सीट दी थी ? उन्हें दुःख नहीं बल्कि ईर्ष्या हुई। मैं यदि आया होता, तो मुझे यह गति मिलती–'नगेन्द्र, तुमने मेरे साथ छल किया। तुम्हें इस पीनस पर नहीं बैठना चाहिए था। मैं इस पीनस पर बैठने का अधिकारी था। मैं तुमसे बड़ा था। तुमने अभी दुनिया को क्या देखा था ?'

एक क्षण के लिए बड़े भाई के मन में यह भाव पैदा होते रहे, लेकिन यह उसका समय नहीं था। उन्होंने भोंपू दिया–"मैं चन्द्रसिंह गढ़वाली हूँ। जहाँ सिपाही हवालात में हैं, वहीं सभा होगी।" सभी वहाँ जमा हुए। बड़े भाई ने कहा–"साथियो, यह शहादत हमारी अन्तिम शहादत थी। तेरह सौ वर्षों का पुराना गढ़वाल का यह सामन्ती गढ़ अब इस शहादत के सामने टिक नहीं सकता।" उन्होंने रियासती सिपाहियों को सम्बोधित

करते हुए कहा—"तुम वचन दो कि हम जनता के साथ हैं।" हवलदार ने वचन दिया। सरदार पटेल की ओर से त्रिलोकीनाथ परवार रियासत में गुप्त तौर से काम कर रहे थे, इसलिए वह अब प्रकट होकर सभा में आये। सभा के बाद यह विचार होने लगा कि अब क्या किया जाय। बड़े भाई ने कहा—"यहाँ अलकनन्दा के किनारे हम शहीदों का संस्कार नहीं करेंगे, इन्हें टेहरी में राजा के गढ़ पर ले चलना है। उसे दिखलाना है कि तुमने क्या किया है। वहीं पर राजा के श्मशान में शहीदों का दाह-संस्कार किया जायेगा।" जनता तैयार थी। दाह-संस्कार से पहिले टेहरी की अधिक से अधिक जनता को खबर देना जरूरी था, ताकि वह अपने शहीदों के अन्तिम संस्कार में शामिल हो सके। तीनों रियासती अफसर मुजरिमों को लेकर दौलतराम कुकशाल को कीर्तिनगर से टेहरी जानेवाले रास्ते से पैदल भेजा गया। बहुत-से स्वयंसेवक उनके साथ प्रचार करते चले। राजा की कार पर बड़े भाई तथा दूसरे नेता शहीदों को लेकर चले। चन्द्रसिंह रावत ने कुछ दिन पहिले पौड़ी में बड़े भाई से हाथ पकड़कर टेहरी-विमोचन कमेटी के बारे में भाषण करवाया था। अपनी ओर से पाँच सौ रुपया चन्दा भी घोषित किया था। अब जब टेहरी के गढ़ पर जाने को हुआ, तो रावत साहब कहने लगे—"मैं कांग्रेस की आज्ञा बिना जाने में असमर्थ हूँ।" वह वहाँ से वापस चले गये। दयाशंकर भट्ट सभी बड़ी हिम्मतवाले आदमी थे। उन्होंने अछूत लड़की से ब्याह किया था, और सवर्णों के कोप के मारे उन्हें अपनी पट्टी छोड़कर पौड़ी में आ जाना पड़ा था। टेहरी की ओर बढ़ने का जो खतरा था, उसे बड़े भाई अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने रावतजी को अपनी नोटबुक देकर कहा कि इसे घर में पहुँचा दीजियेगा। उस दिन नोटबुक में उन्होंने यह वाक्य अपनी वसीयत के तौर पर लिखे थे—

"आज मैं इस खत को अपने साथी नगेन्द्रदत्त सकलानी और साथी भोलूसिंह शहीदों की मृत्यु की साया के बीच में बैठकर लिख रहा हूँ। इस खत को मैं अपने साथी ठाकुर चन्द्रसिंह रावत वकील, कांग्रेस-प्रधान के हाथ अपने गढ़वाली भाइयों, स्त्री भागीरथी देवी और बेटी माधवी तथा ज्वाला के नाम भेज रहा हूँ। मैं अपनी राजी-खुशी, होश-हवास के साथ अपने साथी सकलानी के जनाजे को लेकर पं. त्रिलोकीनाथ के साथ उन्हीं के नेतृत्व में जा रहा हूँ। मैं अपने तन-मन-धन से अहिंसात्मक शान्त प्रदर्शन को लेकर जा रहा हूँ। अगर मैं टेहरी के लिए रह (मर) गया, तो मेरी प्रबल इच्छा है कि मेरे गढ़वाली भाई मेरी अन्तिम माँगों (इच्छा) को स्वीकार करेंगे : 1. टेहरी आन्दोलन का पूरा भार लें, 2. चाँदपुर तहसील का मेरा काम अधूरा न रक्खें, 3. पेशावर-कांड को न भूलें। गढ़वाल और देश की जय।"

नोटबुक भागीरथी देवी के पास सुरक्षित पहुँच गई। उसके सन्देश को पढ़कर उनके दिल पर क्या बीती होगी, इसे पाठक समझ सकते हैं।

12 जनवरी को शहीदों का जनाजा चला। उनकी पीनसों को कार के पीछे ऐसे बाँध दिया गया था कि लोग उनका दर्शन कर सकें। राजा का ड्राइवर भाग गया था, लेकिन दूसरा ड्राइवर मोटर चलाने के लिए तैयार था। साथ में कुछ लारियाँ भी लोगों को लेकर चल रही थीं। जगह-जगह भोंपू से आवाज देते—"टेहरी चलो। शहीद नगेन्द्र सकलानी टेहरी जा रहे हैं।" कीर्तिनगर से 10 बजे रवाना हो 2 बजे के करीब वह देवप्रयाग पहुँचे। पुलिस की बैरक के सामने जाने पर बड़े भाई ने आवाज दी—"पुलिस पलटन के जवानो, हम शहीद सकलानी को टेहरी ले जा रहे हैं। कीर्तिनगर की पुलिस ने हथियार रखकर जनता का साथ दिया है। आप भी जनता का साथ दें। यदि यह मानते हैं, तो बाहर निकल आयें।" 24-25 रियासती सिपाही थे। सबने बाहर निकलकर रूमाल हिला स्वीकृति का संकेत किया। मोटर के अड्डे पर जनता की भारी भीड़ थी। पुलिस के हथियार रखवाकर शहीदों का जुलूस वहाँ पहुँचा। भागीरथी के दोनों किनारों के बाजारों में जुलूस निकाला गया, भाषण दिये गये। वहीं सबके खाने-पीने का इंतिजाम हुआ, और रात-भर के लिए रह गये।

13 जनवरी के सबेरे पैदल के रास्ते टेहरी के लिए चले। टेहरी यहाँ से 30 मील पड़ती है। थोड़ी दूर पर पहाड़ की चढ़ाई चन्द्रबदनी शुरू हुई। पहिले ही खबर पहुँच चुकी थी। लोग बाजा बजाते, फूलमाला लिये शहीदों के सत्कार के लिए आने लगे। जगह-जगह गुड़ और पानी का प्रबन्ध था। जनता पागल हो शहीदों का स्वागत कर रही थी। चन्द्रबदनी पहाड़ी पार हुए, नजदीक के गाँव में खाने-पीने का प्रबन्ध था। राज्य

का पटवारी नौकरी छोड़ राजा के बागियों की सेना में मिल गया।

14 जनवरी की रात को टेहरी से तीन मील पहिले ही राजा के मालगुजार (जागीरदार) के गाँव में रह गये। सर्दी बहुत थी। मालगुजार से कहा गया कि शहीदों के लिए जगह दे दो। उसने एक कमरा खोल दिया। उसी में उन्हें रखकर दीपक जला दिया गया। खाने-पीने का प्रबन्ध हुआ, व्याख्यान हुए।

15 तारीख को नौ बजे अब आखिरी मंजिल के लिए शहीदों की टोली चली। क्या मालूम था, कितने सकलानी का अनुसरण करेंगे। राजा के पास हथियारबन्द सैनिक थे। मरते वक्त भी वह कुछ कर सकता था। बाजे-गाजे के साथ अपार जनता शहीदों का जयकार, राजा का जयकार करती आगे बढ़ी। देवीदत्त तिवारी बुरी तरह से घायल थे। उनको आराम करने के लिए बहुत कहा गया, लेकिन वह मानने के लिए तैयार नहीं हुए। पहाड़ के नीचे उतरने पर दूसरे रास्ते से दौलतरामजी भी अपने दल के साथ आ मिले। अब शहीदों और कैदियों को लिये लोग कॉलेज और जेल के पासवाले मैदान में पहुँचे। भोंपू से आवाज दी गई–"सबके दर्शन का प्रबन्ध किया जायेगा। आप सब लोग बैठ जायें।" सब लोग बैठ गये और उनके बीच में पीनसों पर बैठे शहीदों को उठा लोग घूमने लगे। टेहरी में राज्य के सभी उच्च कर्मचारियों को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें बी. क्लास देके जेल में बन्द कर दिया गया। कह दिया गया कि तुम अपना भोजन और चारपाई घर से मँगा सकते हो। वेगवती प्रचण्ड धार के सामने तिनके की तरह हम कहीं के न रह जायेंगे, यह सोचकर राज्य के अफसरों और सिपाहियों ने आत्मसमर्पण कर दिया।

भारी जनता एकत्रित हुई थी। दूकानदार कहीं अपनी दूकानों को बन्द करके उन्हें भूखे न रक्खें, लुट न जायें, इसलिए घोषणा की गई कि जिस दूकान पर पूड़ी, पकौड़ी या कोई खाने की चीज नहीं रहेगी तो उसमें आग लगा दी जायेगी। अब शहीदों की टोली में हथियारबन्द गारद भी थे। दूकानदार भी जनता से अलग नहीं रह सकते थे। सबने अपनी-अपनी दूकानों को खोल रक्खा था, और यहाँ खाने की चीजें मिल रही थीं।

दो बजे अर्थी का जुलूस निकला। राजा और उसके परिवारवाले जिस जगह जलाये जाते थे, उसी जगह शहीदों को जलाना था। राजा के पुरोहित ने चाल चलनी चाही। वह राज-श्मशान से 20-25 गज हटकर हवनकुंड बना के तैयार था। उसने वहीं जलाने के लिए कहा, लेकिन इस धोखे में आनेवाला कौन था ? भिलिंगना और भागीरथी नदियों के संगम पर उस जगह में पानी था जहाँ राजाओं को जलाया जाता था। इशारा होने की देर थी। लोगों ने पत्थरों का वहाँ ढेर लगा दिया, चिता के लिए सूखी जमीन बन गई। कहीं से चन्दन आया, कहीं से घी। लोग अपने आप काम कर रहे थे। चिता तैयार हुई। साथ में दो-तीन शास्त्री दाह-संस्कार कराने के लिए मौजूद थे। बड़े भाई को अग्नि देना था। चिता पर रख जब वह आग देने के लिए तैयार हुई, उसी समय परिपूर्णानन्द पैन्यूली ने कहा–"कम्युनिस्टों का संस्कार कैसे होता है ?" नगेन्द्रदत्त सकलानी कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर थे और भोलूसिंह भी सहानुभूतिकारक थे। दोनों ही कम्युनिस्ट थे, लेकिन यहाँ वह सभी पार्टियों के साथ मिलकर टेहरी के उद्धार का काम करते शहीद हुए थे। पैन्यूली के यह कहने पर बड़े भाई ने कफन खोल दिया। भीतर शहीद के शरीर पर हँसिया-हथौड़ावाला लाल झण्डा था। बड़े भाई ने झण्डे को हाथ से उठाया–"यह पार्टी का झण्डा है। पार्टी प्रजा-परिषद के साथ मिलकर काम कर रही है। कम्युनिस्ट का संस्कार अपने देश की रीति के अनुसार होता है। इसी के अनुसार हम शहीदों का दाह कर्म कर रहे हैं।" आग लगा दी गई। दोनों शहीद अपने शरीर से भस्म-मात्र रह गये, लेकिन कौन कहेगा, वह आज भी जीवित नहीं हैं !

बड़े भाई ने कहा–"अब टेहरी स्वतन्त्र है।" सब लोगों ने हाथ उठाकर स्वतन्त्र टेहरी के लिए प्रतिज्ञा की।

शहीद सकलानी की उमर 25-26 साल से अधिक नहीं थी। गढ़वाल के राजाओं के समय उनके पूर्वजों ने अद्भुत वीरता का परिचय दिया था, गोरखों से भी जबर्दस्त मुकाबला किया था। इसके लिए उन्हें सकलाना की एक बड़ी जागीर मिली थी, जो वस्तुतः रियासत के भीतर एक छोटी रियासत थी। इसी खानदान में नगेन्द्रदत्त

पैदा हुए। देहरादून से उन्होंने मैट्रिक पास किया। वहीं छात्रों की संस्था 'स्टूडेन्ट फेडरेशन' में सरगर्मी से काम करने लगे, और फिर कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर बन गये। वह अविवाहित थे, पिता नहीं थे, माता और भाई थे। संस्कार हो जाने के बाद भाई वहाँ आये।

शाम के समय प्रजा-मंडल के ऑफिस के सामने बाजार में विराट-सभा हुई। शहीदों के टेहरी पहुँचने से एक दिन पहिले ही राजा नरेन्द्रशाह अपनी रानी के साथ नरेन्द्रनगर भाग गये थे। उनका ज्येष्ठ पुत्र मानवेन्द्र बहुत चाहता था कि प्रजा की माँगों को ठुकराया न जाय, लेकिन बाप अपने को अधिक बुद्धिमान और तबर्जेकार समझता था। इसीलिए कहते हैं, पुत्र दिल्ली चला गया था, वहाँ पटेल के नीचे कुछ काम-काज सीख रहा था। नरेन्द्रनगर में राजा सोचने लगा, 'अभी भी हमारे पुराने खानदान के प्रति लोगों को भक्ति है, मैं उसको इस्तेमाल कर सकता हूँ।' खबर भी उड़ने लगी थी कि राजा फौज लेकर आ रहा है। नदी के पुल पर 50-60 स्वयंसेवकों को तैनात करके पुल पर ताला लगा दिया गया। नदी पार तीन-चार मील पर तिरेपनसिंह का गाँव था, जहाँ उनके भाई उस इलाके के लोगों को संगठित कर रहे थे। उनके पास खबर पहुँचाने के लिए देवीदत्त तिवारी नदी में कूट पड़े। वह किस तरह घायल थे, इसे हम कह चुके हैं। वह नदी के सर्द पानी में तैरते हुए गाँव में पहुँचे। नरेन्द्रशाह अपनी रानी के साथ बिना किसी पुलिस-पलटन के कार पर चढ़कर पुल पार पहुँचे। ताला लगा हुआ था। खोलने के लिए कहने पर स्वयंसेवकों ने इन्कार कर दिया। वह प्यासे भी थे। कहा जाता है, उन्होंने स्वयंसेवकों से कहा—"मुझे पानी पिला दो।" स्वयंसेवकों ने पानी नहीं पिलाया, और राजा को अपने जाकर पानी पीना पड़ा। जब ताला नहीं खोला गया, तो तार पर चढ़कर उन्होंने ऊपर-ऊपर से जाने की कोशिश की। रानी ने उन्हें रोका। कनकपाल के वंश की जिस पूँजी के भरोसे वह आये थे, उसका स्वयंसेवकों पर कोई प्रभाव न देखकर वह कार में बैठ पीछे लौट गये। पिछले चुनाव में उसी टेहरी से कांग्रेस के सभी उम्मीदवार हारे, और राजा की ओर से खड़े किये गये सभी जीत गये। ऐसा क्यों हुआ ? लोगों ने देख लिया, कांग्रेस का शासन जनता का नहीं, बल्कि नेताओं और उनके सगे-सम्बन्धियों के हित के लिए है। इसलिए उनके मन में ख्याल आया, राजवाले ही क्यों बुरे हैं। नरेन्द्रशाह के ज्येष्ठ पुत्र मानवेन्द्रशाह पार्लियामेन्ट के लिए खड़े हुए थे, लेकिन उनका कागज अवैध सिद्ध हुआ। अपनी माँ के नाम से उन्होंने यों ही कागज दाखिल करवा दिया था। पचासों पीढ़ियों की पर्दे की रानी कमलेन्दुमती अपने विरोधी कांग्रेसी उम्मीदवार को बुरी से बुरी तरह से हराकर पार्लियामेन्ट में चली गई। कांग्रेस अब वह है नहीं, जो मजदूर और किसानों का पक्ष करती थी, और उन्हीं के कंधे पर चढ़कर शक्ति-संचय करने में समर्थ हुई। अब तो कांग्रेसी नेताओं के स्वार्थ पुराने सत्ताधारियों और पूँजीपतियों के साथ एक हैं। रोटी-बेटी सब तरह से वह उन्हीं की बिरादरी में शामिल हो गये हैं। इसलिए अब उन्हें नंगे-भूखों की क्या पर्वाह ? अगर जनता ने कांग्रेस के प्रति अपना क्षोभ प्रकट करने के लिए पुराने रजुल्लों और रजुल्लियों को निर्वाचित करने का निश्चय किया, तो कांग्रेसी उन्हीं को अपना मान लेंगे। महारानी कमलेन्दुमती अब कांग्रेसी एम. पी. हैं। निर्वाचन के समय लोगों ने आक्षेप किया था कि वह सात पर्दे की रानी पार्लियामेण्ट में जाकर क्या बोलेंगी। उन्होंने इसका खण्डन करते हुए निर्वाचन सभाओं में छोटे-छोटे भाषण दिये थे। अब तो पार्लियामेण्ट में भी कभी-कभी बोलती हैं। एम. पी. के तौर पर विदेशों में घूम आई हैं। इसमें सन्देह है, यदि उनके ज्येष्ठ पुत्र अगले चुनाव में चाहेंगे कि पूज्य माताजी उनके लिए जगह छोड़ दें, तो शायद ही वह इसके लिए तैयार हों, और उन्हें तैयार होना भी नहीं चाहिए।

राजा-रानी ने ही एक बार हाथ से छूटे तीर को पकड़ना नहीं चाहा, बल्कि उनके सात पीढ़ी के नमकखार भी उनको इस स्थिति में नहीं छोड़ना चाहते थे। शाम को प्रजा-पार्टी के दफ्तर में सभा हुई। हरेक विजय के बाद जैसे विजेताओं में फूट पड़ जाती है, वैसा ही यहाँ भी हुआ। राजा दल के मुखिया परिपूर्णानंद पैन्यूली और दूसरे लोगों ने यह निश्चय किया कि राजा को बुलाने के लिए एक डेपुटेशन भेजा जाय। वह चाहते थे कि राजा को रखते हुए उत्तरदायी शासन कायम किया जाय। वह रियासत के अलग अस्तित्व को कायम रखना

चाहते थे, क्योंकि ऐसा होने पर कितने नेताओं को मन्त्री बनाने का अवसर मिलता। दूसरा पक्ष विलयन के पक्ष में था, वह चाहते थे, गढ़वाल को एक जिला बना दिया जाय। यह भी कहा गया कि राजा इसके लिए तैयार है। राजा क्यों न तैयार होता, 'अर्ध तजहिं बुध सरबस जाय!' दूसरे पक्ष में बड़े भाई थे। राजा के पक्षवालों ने अपने इस मन्तव्य पर लोगों के दस्तखत करवा लिये। दौलतराम ने भी दस्तखत कर दिया था।

कमेटी के निश्चय करने के बाद (15 जनवरी) शाम के वक्त एक सार्वजनिक सभा हुई, जिस पर राजा के दलवालों ने कब्जा कर लिया। उन्होंने हुकुम देकर जेलखाने से कैदियों को छुड़वा दिया था, और राज्य के बड़े-बड़े अफसर उस सभा में मौजूद थे। राजा के मुख्य सेनापति नाथूसिंह सभा के सभापति बनाये गये थे। दौलतराम भी वहाँ मौजूद थे। पैन्यूली लाल स्याही से लिखा हुआ एक नकली कागज पढ़ रहे थे, जिसमें राजा ने उत्तरदायी शासन देने का वचन दिया था। बड़े भाई ने इसका विरोध किया। राजदलवालों ने 'बैठ जाओ, बैठ जाओ' की आवाज लगाई, और धक्का देकर बड़े भाई को सभा से बाहर निकाल दिया। त्रिलोकीनाथ परवार भी पिछड़ गये थे। वह इसी समय सभा में पहुँचे। बड़े भाई ने उनसे कहा–देखो, सब किये-कराये पर पानी फिर रहा है, ये राजा को फिर लाकर बैठाना चाहते हैं। त्रिलोकीनाथ ने सभा में आकर लोगों को शान्त किया, और बड़े भाई का परिचय दिया। लोग शान्त होकर सुनने के लिए तैयार हो गये, और रहस्य खुलने पर उन्होंने पैन्यूली को धक्का देकर बाहर कर दिया।

पता लगा, विरोधी दल बड़े भाई को अपने रास्ते का काँटा समझता है, इसलिए पिस्तौल से उन्हें खतम कर देना चाहता है। इस पर आजाद फौजवालों ने बड़े भाई को एक कमरे में ले जाकर बन्द कर दिया। दक्षिणपक्षी दल टेहरी को कहाँ ले जा रहा था ? राजा को बरकरार रखने का मतलब उसकी निरंकुशता के ऊपर पर्दा डालना था। इसी समय देहरादून से सौ मिलिटरी पुलिस को लेकर एस. डी. ओ. और पुलिस-सुपरिंटेंडेंट आ गये। पुल पर आने पर उन्होंने ताला खोलने के लिए कहा। स्वयंसेवकों ने वैसा करने से इन्कार करते हुए अपने नेता का नाम बतलाया। आदमी बड़े भाई के पास आया। चाभी नहीं मिल रही थी, इसलिए ताला तोड़ दिया गया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि टेहरी में जो घटनाएँ हो रही थीं, उसका पता दिल्ली को बराबर मिल रहा था, तार घर सुरक्षित था। वह लोग जेल के सामने डाकबँगले में ठहरे। एस. डी. ओ. बड़े भाई को पहचानते थे, उन्होंने कहा–"गढ़वालीजी, हम चार्ज लेना चाहते हैं, आप सब बातें बतलाइये।" सब बातें बतलाई गईं। कल जब कमरे के भीतर बैठकर राजा के लाने का षड्यन्त्र किया जा रहा था, उस समय दौलतराम को फिकर पड़ी थी कि कहीं लोग खजाने को न खिसका दें। उस समय भिन्न-भिन्न रियासतों में क्या घटित हो रहा था, यह लोगों को क्या मालूम ? बहुत-सी जगहों में राज्य के खजानों की लूट मची। जहाँ शासक होशियार थे, वहाँ उन्होंने स्वयं खजाने को हटा दिया ! जहाँ बेवकूफ या नाबालिग राजा थे, वहाँ दिल्ली से भेजे 'ईमानदार' अफसरों ने हाथ साफ किया। कागज-पत्र से पता न लग जाय, इसलिए उन्होंने नये-पुराने कागजों की होली खेली। बिसाहर रियासत में सैकड़ों वर्ष के ऐतिहासिक दस्तावेज जला दिये गये, और इसकी खबर पाने पर भी कोई कार्रवाई नहीं की गई। दौलतराम ने गलती नहीं की थी, जो वह खजाने के हिसाब करने के लिए चले गये। टेहरी के राजा ने अपने खजाने को भरने के लिए पूरी कोशिश की थी। अपने और अपनी रानी के नाम पर रियासत से बाहर निजी जायदादें खरीदी थीं। जनता का इतना शोषण किया था कि यह सब होने के बाद भी खजाने में 38 लाख रुपये मिले। चाँदी-सोने के बरतन और पुरानी चीजें इसके अतिरिक्त थीं। कहा जाता है, कई करोड़ रुपया राजा ने विदेशी बैंकों में जमा कर रक्खा था।

टेहरी को सर्वप्रभुत्व सम्पन्न स्वतन्त्र रियासत घोषित करनेवालों के सारे मनसूबों पर पानी फिर गया, जब एस. डी. ओ. ने दौलतरामजी और बड़े भाई का हस्ताक्षर लेकर रियासत का चार्ज अपने हाथ में लिया। उन्होंने कह दिया, सरकार ने मुझे मैजिस्ट्रेट के तौर पर चार्ज लेने के लिए भेजा है, बाकी फैसला सरकार खुद करेगी। "दौलतराम कुकसाल मनोनीत प्रधानमन्त्री हैं, इनसे सलाह लेकर आप काम कीजिये।" इस बात को मैजिस्ट्रेट ने मान लिया।

16 जनवरी को सबेरे श्री महावरी त्यागी, भक्तदर्शन, नरदेव शास्त्री आदि दूसरे नेता भी आ गये। सरकार

की ओर से कल सभा होगी, इसकी घोषणा 15 की शाम को ही कर दी गई थी। अगले दिन वह सभा हुई। 15 हजार के करीब जनता मौजूद थी। बड़े भाई दौलतराम को पकड़कर वहाँ ले गये। बेचारे कल की गड़बड़ी से कुछ परेशान-से थे। उनको फूलमाला देकर सभा का सभापति बनाया गया, और बड़े भाई ने उन्हें टेहरी राज्य का प्रधानमन्त्री घोषित किया। कल की सभा में राजा पार्टीवालों ने जनद्रोही कैदियों को छोड़ दिया था। आज की सभा में घोषणा की गई—1. सारे कैदी छोड़े जाते हैं, 2. राज्य की सम्पत्ति हमारी सरकार अपने हाथ में ले रही है, 3. तार द्वारा इसकी सूचना भारत सरकार को दे दी जाय, 4. लोगों के ऊपर जो कर्ज है, उसे माफ किया जाता है। इन बातों को महावीर त्यागी नोट कर रहे थे। सभा ने भावी टेहरी के लिए एक रास्ता बतलाया। अफसोस है, कांग्रेस के प्रभुओं ने उसे भुला दिया।

जिला वोर्ड का चुनाव

बड़े भाई फिर पौड़ी में थे। 1948 का अन्त आ रहा था। इतने दिनों तक पौड़ी में रहकर बड़े भाई और उनके साथियों ने जो काम किया था, उससे अन्न की समस्या कुछ हद तक हल हुई थी। कुछ किसान सभाओं का भी संगठन किया था, लेकिन पार्टी का जितना विकास होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ। वस्तुतः किसानों-मजदूरों में काम करने का ढंग दूसरा है, और शिक्षितों मध्यवर्गवालों में करने का दूसरा। पार्टी के शिक्षित तरुण दो-चार वकीलों और बुद्धिजीवियों के यहाँ चाय पीकर कुछ घंटे बहस कर लेने से ही अपने काम को समाप्त समझते हैं। वह वहीं तक जाना चाहते हैं, जहाँ तक मोटर की सड़कें और चाय के प्याले हैं। पौड़ी में पार्टी को और बड़े भाई के परिवार को आर्थिक कठिनाइयों का बराबर सामना करना पड़ा। एक जमींदार से थोड़ी-सी जमीन ले वह कुछ साग-सब्जी उगा लेते थे। गाँव के किसानों से अनाज माँग लाते। अपने साथियों को बड़े भाई ने बहुत बार कहा कि हर चीज का हिसाब रक्खें, लेकिन उसकी उन्हें पर्वा नहीं थी। एक तरफ पार्टी आगे बढ़ नहीं रही थी, और दूसरी ओर कुछ दूसरे आवश्यक काम थे, जिनके लिए वह समझने लगे कि पार्टी से अलग होकर ही उन्हें कर सकता हूँ। पार्टी के सिद्धान्तों और कार्यों से उनका कोई मतभेद नहीं था। अपने पेशावर-कांड के साथियों को पेन्शन दिलाने का आन्दोलन हाथ में लेना था, परिवार का कोई प्रबन्ध करना था। इन्हीं बातों के लिए उन्होंने पार्टी से छुट्टी लेनी चाही। कठिनाइयों को देखकर साथी महमूद ने पचास रुपया मासिक उनके नाम भेजना शुरू किया, लेकिन उससे सात-आठ स्थायी तथा कई अस्थायी आदमियों का काम कैसे चल सकता था ? आर्थिक-संघर्ष पति-पत्नी के मधुर सम्बन्ध पर भी प्रभाव डालता है। बड़े भाई ने एक दिन माधवी के कपड़े को फटा-भीगा देखा। पत्नी से कहा—"इसे बदल दो।" पत्नी का कहना यह उचित ही था—"दूसरा जोड़ा बनाकर लाइये।" फिर वह उबल पड़ीं—"तुम तो दावतें खाते फिरते हो, और हमारे लिए रूखी चाय भी नहीं।" कितने ही दिनों खाने का भी ठिकाना नहीं रहता था। एक दिन कम्यून की अवस्था देखकर वह गाँव में गये, और एक मन धान-मडुवा ढोकर लाये।

कम्यून में जो उस समय खाना नहीं खाना चाहता, उसके नाम के सामने 'नहीं खाना' लिख जाता था। एक दिन बड़े भाई के आने में देर हुई। सब लोग खाना खा चुके थे। बीवी ने थोड़ा-सा भात रखकर बरतन धो-धाकर रख दिये थे, और बड़े भाई के नाम के सामने 'देर का खाना' लिख दिया था। बड़े भाई बाहर से भूखे आये। जब उनके सामने वह ठण्डा भात आया, तो बीवी के सिर पर दे मारा, और कहा—"मैं कहाँ-कहाँ से खाना जुटाता हूँ, और यहाँ 'देर का खाना' भी ऐसा मिलता है।"

दूसरे कामों के करने में असमर्थ हो, उन्होंने पार्टी के पास इस्तीफा भेजते हुए कारण बतलाया—"पेशावर-कांड के सैनिकों की पेन्शन का आन्दोलन करना है, जिसे पार्टी अपने ऊपर नहीं ले सकती, अपने परिवार की शोचनीय स्थिति को भी सुधारना है।" साथी ब्रजेन्द्र गुप्त ने उनकी शिकायत लिखी थी—"इन्होंने पार्टी के उम्मीदवार मेम्बर अपनी बीवी को पीटा, यह अनुशासन नहीं मानते।" लखनऊ बुलाये गये। बड़े भाई ने सारी बातें बतलाईं। इसका फैसला करना कामरेड आर. भरद्वाज के जिम्मे दिया गया। बड़े भाई गढ़वाल पार्टी के सेक्रेटरी ब्रजेन्द्र के साथ देहरादून गये। साथी भरद्वाज ने बहुत समझाने की कोशिश की, लेकिन जो प्रश्न बड़े भाई के सामने

थे, उन्हें वह पार्टी में रहकर हल नहीं कर सकते थे। इसलिए उनकी इच्छा के अनुसार मेम्बरी से उन्हें पृथक कर दिया गया।

जिला बोर्ड का चुनाव (1948)–जिला-बोर्ड का नया चुनाव सिर पर आ रहा था। पुराने चेयरमैन अलग होनेवाले थे। ऑफिसवालों ने उन्हें चाय-पार्टी दी, जिसमें बड़े भाई भी बुलाये गये। चेयरमैन वकील शंकरसिंह नेगी के काम के बारे में लोगों ने कहा। बड़े भाई भी बोले। कांग्रेसवाले सब कुछ रहते भी बड़े भाई से शंकित रहते थे। उन्होंने उनके भाषण का यह अर्थ निकाला कि चन्द्रसिंह जिला-बोर्ड में आकर चेयरमैन बनना चाहते हैं। उन्होंने इसकी सूचना लखनऊ भेजी। हुकुम निकला, और असिस्टेंट-सुपरिंटेंडेंट ने आकर तुरन्त उन्हें गिरफ्तार कर लिया। अपने विरोधियों को रास्ते से हटाने के लिए यह तरीका कांग्रेसवालों का अनोखा नहीं था। नरेन्द्रसिंह भंडारी और जनता ने बड़े भाई का साथ दिया। लोग जेल तक पहुँचाने गये। फिर वहाँ से उन्हें रात को ही बरेली भेजना चाहते थे; लेकिन बड़े भाई ने कहा–"बाल-बच्चों से मिलकर उनका प्रबन्ध करना है, इसलिए इस समय नहीं जा सकता।"

जिस दिन बड़े भाई गिरफ्तार करके जेल भेजे गये, उसी दिन उनके पिता जाथलीसिंह का देहान्त हो गया, लेकिन दूर गाँव से खबर जल्दी कैसे आ सकती थी ? बरेली में जाने पर पत्नी ने इसकी खबर दी। वह पिता की अन्त्येष्टि-क्रिया में भी शामिल नहीं हो सके। जाथलीसिंह 90 वर्ष से ऊपर होकर मरे थे, इसलिए कहना चाहिए, कि उन्होंने अपना पूरा जीवन बिता लिया था। बाहर से बड़े रूखे और कड़े मालूम होते थे, लेकिन उनका हृदय वैसा नहीं था। पुत्र की बातें उन्हें पसन्द नहीं थीं, क्योंकि वह समझते थे कि इसके कारण हमारा खानदान बरबाद हो रहा है। चन्द्रसिंह सूबेदार-मेजर होते, नौकरी में रहते, ढाई सौ रुपया महीना पाते, फिर जिन्दगी-भर ढाई सौ रुपया मासिक पेन्शन लेते। घर कितना अच्छा बन जाता, लोगों में कितना मान होता। बेटे ने इस सब पर पानी फेर दिया। यही खयाल उनके मन में आया करते थे। लेकिन अन्त में जब उन्होंने देखा कि अकिंचन रहने पर भी बेटे का सारे गढ़वाल में बड़ा मान है, तो उनके मन का रंज दूर हो गया। उन्होंने खुले दिल से बेटे को आशीर्वाद दिया था। बेटे को यही अफसोस रहा कि अपने बूढ़े बाप की सेवा नहीं कर सका।

अगले दिन बरेली के लिए बड़े भाई को जाना था। उससे पहले नरेन्द्रसिंह भंडारी के साथ भागीरथी देवी मिलने के लिए आईं। भण्डारीजी ने कहा–"जब कांग्रेसवाले जिला-बोर्ड में जाने से आपको वंचित करने के लिए सब कुछ कर रहे हैं, तो इस उम्मीदवारी के फार्म पर दस्तखत कर दीजिये।" बड़े भाई ने उस पर हस्ताक्षर कर दिया।

वह पौड़ी से बरेली सेन्ट्रल जेल में भेजे गये। एक बार फिर उन्होंने अपने परिचित दरों-दीवारों को देखा। पहुँचते ही सरकार को सूचित किया–"गिरफ्तारी का कारण बतलाया जाय, और खुली अदालत में मुकदमा चलाया जाय, नहीं तो दस दिन बाद मैं भूख-हड़ताल कर दूँगा।" सरकार के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी। बड़े भाई ने भूख-हड़ताल शुरू कर दी। एक सप्ताह तक कोई पूछने के लिए नहीं आया। उनकी चिट्ठी भी सुपरिंटेंडेंट तक नहीं पहुँचाई गई। इस पर बड़े भाई ने दीवारों पर कोयले से लिखना शुरू किया। कागज-पेन्सिल मिलती नहीं थीं, पत्थर पर कुछ लिखा, जिसे जेल का वार्डर सुपरिंटेंडेंट के पास ले गया। सुपरिंटेंडेंट आया। उसने कहा–"जो कुछ ऊपर लिखना है, लिखकर दो, मैं उसे भेज देता हूँ, लेकिन तब तक के लिए भूख-हड़ताल बन्द कर दें।"

भंडारीजी बड़े भाई के और अपने लिए भी चुनाव के लिए प्रचार करते रहे, चुनाव-क्षेत्र से दो मेम्बर चुने जानेवाले थे। जब सरकार ने देख लिया कि अब तो चुनाव में वह खड़े ही हो गये, तो वोट-दान के पाँच-छह दिन पहिले बिना शर्त पैरोल पर छोड़ देने का हुकुम दिया।

बड़े भाई पौड़ी पहुँचे। जो चार-पाँच दिन रह गये थे, उसमें उन्होंने अपने वोटरों के पास पहुँचने की कोशिश की। उनके और भंडारी के खिलाफ एक खच्चरवाला कांग्रेस की ओर से खड़ा था, दूसरे कांग्रेसी उम्मीदवार का कागज रद्द हो गया था। निर्वाचन का परिणाम निकाला। भंडारी और खच्चरवाले चुन लिये गये। अफसोस

होने पर भी बड़े भाई को भंडारी के चुने जाने की बड़ी प्रसन्नता हुई।

बड़े भाई ने जेल से जो अपने ऊपर के इल्जामों के बारे में सरकार से पूछा था, उसके उत्तर में सरकार ने यह नोटिस दी–

"संयुक्त प्रांतीय सरकार
(कनफिडेन्सल विभाग)
नं. वी. 2986 1 25 5 ऑफ लखनऊ अप्रैल 8, 1948।

नोटिस ह. द. 5 यू. पी. मेन्टेनेन्स ऑफ पब्लिक आर्डर ऐक्ट यू. पी. ऐक्ट नं. 4 सन् 1947।

यू. पी. मेन्टेनेन्स ऑफ पब्लिक ऑर्डर ऐक्ट 47 की धारा 5 के अनुसार तुम चन्द्रसिंह बेटा जाथलीसिंह मौजा अकरोड़ा पापलस्यूं जिला गढ़वाल को इत्तिला दी जाती है। तुम्हें नजरबन्द रखने की वजह है–

(1) तुम कम्युनिस्ट पार्टी के जोरदार कार्यकर्ता हो। (2) तुम 2/18 रा. गढ़वाल रा. (बरेली) की पेशावर में हुई गदर के सजायाफ्ता हो। (3) तुमने कुमायूँ डिवीजन के आई. एन. ए. वालों को सरकार के विरुद्ध भड़काया। (4) तुमने अपने गोरखपुर के भाषण में पब्लिक को पुलिस को सूचना देनेवाले के ऊपर हमलावर होने के लिए उत्तेजित किया। तुम्हारी हरकतें अमन व राज्यसत्ता कायम रखने के सख्त खिलाफ हैं।

2. तुम्हें यह भी इत्तिला दी जाती है कि जिस हुकुम के मुताबिक तुम नजरबन्द किये गये हो, उसके खिलाफ लिखित अनुरोध करने का तुम्हारा हक है। अगर तुम्हें ऐसा अनुरोध करना हो, तो उसे जेल-सुपरिंटेंडेंट की मार्फत सरकार को जल्द भेज दिया जाय।

(ह.) गोविन्दनारायण (गृह-सचिव)"

इस नोटिस को देखकर किसी भी राष्ट्रप्रेमी के दिल को धक्का लगे बिना नहीं रह सकता। बड़े भाई इस नोटिस को पढ़कर चुपचाप कैसे रह सकते थे ? उन्होंने इसके प्रतिवाद में 'चन्द्रसिंह गढ़वाली का नम्र निवेदन' के नाम से 10 जून 1948 को एक हैंडबिल छपवाया, और उसे पत्रों और सरकार के धनी-धोरियों के पास भेजा। अंग्रेज चले गये थे, लेकिन वह अपने धर्मपुत्रों को छोड़ गये थे, यह इस नोटिस के एक-एक शब्द से मालूम होता है। रॉयल गढ़वाल राइफल के पेशावर का अभियुक्त कहकर उसे गिरफ्तारी का एक कारण बतलाना यही बतलाता है कि जिनके विरुद्ध पेशावर-कांड हुआ था, वह चमड़े का रंग बदलकर लखनऊ में अब भी मौजूद हैं। बड़े भाई के निवेदन को देश के अखबारों ने छापा और लन्दन के दैनिक 'डेली वर्कर' ने बड़ी सुर्खियों के साथ प्रकाशित किया। चारों तरफ जब यू. पी. सरकार की थुक्कम फजीहत होने लगी, तब पंतजी ने अफसोस प्रकट करते हुए प्रधानमंत्री के निजी सचिव का निम्न पत्र बड़े भाई के पास भेजा–

निजी सचिव, प्रधानमन्त्री

नैनीताल,
जून 11, 1948

मेरे प्रिय चन्द्रसिंहजी,

भारत के प्रधानमन्त्री के पास भेजे गये आपके 18 मई 1948 के पत्र की कॉपी पंडितजी ने देखी। यह जानकर उन्हें बहुत अफसोस हुआ कि नोटिस की ध्वनि से आप को तकलीफ हुई है। पंडितजी स्वयं मानते हैं कि नोटिस में पेशावर-घटना का उल्लेख आपत्तिजनक और समुत्तेजक है।

सारे राष्ट्र ने पेशावर के शहीदों की तारीफ की है, और उनके बलिदान का उच्च सम्मान करता है। माननीय प्रधानमन्त्री अनुभव करते हैं, और उन्होंने अनेक बार इस बात को प्रकट भी किया है कि आप और आपके साथियों ने जो आत्म-त्याग और वीरता दिखलाई, उसने देश के लक्ष्य की सेवा की

है, और वह श्लाघनीय तथा सबकी प्रशंसा का पात्र है। यह दुर्भाग्य की बात है कि इसे आपके नजरबन्दी के हुकुम देने के लिए एक कारण बतलाया गया। इस गलती के लिए वह वास्तविक तौर से अफसोस करते हैं, तथा वह आशा रखते हैं कि यह मामला अब छोड़ दिया जाय। अब आपके हड़ताल करने के लिए कोई कारण नहीं है।

पंडितजी अनुभव करते हैं कि पेशावरवाले पीड़ितों का मामला ऐसा है, जिस पर विचार करना चाहिए, और वह इस प्रश्न को भारत सरकार के सामने रख रहे हैं।

आपका विश्वासपात्र,
सी. डी. पाण्डे
(निजी सचिव)

पेशावर-काण्ड के वीर

पेशावर-काण्ड के वीरों के पेन्शन का मामला बड़े भाई ने अपने हाथ में लिया। गढ़वाल में गौचर नाम का एक मैदान है। उत्तुंग पर्वतों के बीच में यहाँ इतनी समतल जमीन है, जिस पर हवाई जहाज उतरते हैं। बड़े भाई ने पेशावर-काण्ड के सैनिकों की सहायता के लिए एक कमेटी बनाई, और उसके प्रचार के उद्देश्य से गौचर के मेले में जाना जरूरी समझा। गौचर में 21 नवम्बर 1948 से प्रदर्शनी होनेवाली थी, जिसमें सारे गढ़वाल से व्यापारी और दूसरे लोग आते हैं। अच्छा मौका था। बड़े भाई के पास इतना भी पैसा नहीं था कि वह मोटर का किराया दे सकते। कोटद्वार में एक ड्राइवर ने सहायता की, और वह बिना पैसे के उसकी मोटर पर 113 मील चलकर गौचर पहुँचे। मेला-कमेटी का अपना पंडाल था। बहुत प्रार्थना की, लेकिन कांग्रेसियों ने पेशावर-काण्ड के सिपाहियों के लिए भी पंडाल को देना पसन्द नहीं किया। सूचना मिलने पर बहुत-से पेशावर-काण्ड के साथी वहाँ पहुँच गये। जब पंडाल नहीं मिला, तो थोड़ा लाल कपड़ा खरीदा, उसकी पतली चिटें हरेक के सिर पर बँधवा, भोंपू बजाते निकले। प्रदर्शनीवाले लोगों को खींचने के लिए फुटबाल का खेल करा रहे थे। भोंपू की आवाज सुनते ही लोग वहाँ से उठकर चले आये, और दो हजार जनता इकट्ठी हो गई। बड़े भाई ने पेशावर-कांड का वर्णन करते हुए बतलाया—"आज वह वीर कैसी दयनीय अवस्था में हैं। 58 साथियों में चार मर चुके हैं, और बाकी दाने-दाने के लिए मुहताज हैं।" सभा ने पेशावर के साथियों की सहायता करने के बारे में प्रस्ताव पास किया। उमानन्द बड़थ्वाल पहिले बड़े भाई के सख्त विरोधी थे और यही समझते थे कि वे कांग्रेसवालों को गाली दिया करते हैं। बड़े भाई ने उस दिन दो घंटे तक भाषण दिया था। भाषण से उमानन्द इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उन्हें छाती से लगा लिया, और कहा—"तुम गाली देनेवाले नहीं हो, तुम तो उच्च राजनीतिक बातें बतलाते हो।"

सभा के बाद भी तीन दिन तक बड़े भाई वहीं रहे। खाने का जहाँ ठिकाना न हो, वहाँ मोटर का किराया कहाँ से मिलता ? उमानन्द मिल गये। उन्होंने पूछा—"क्यों नहीं गये ?" बड़े भाई ने कहा—"मैं तो ड्राइवर की कृपा से आया था। पैदल जा सकता था, लेकिन साथ में बिस्तरा है।" उसी समय (1948 ई. में) उमानन्द ने गढ़वाल मोटर यूनियन कम्पनी की ओर से मुफ्त पास कटा दिया, जो आज तक बड़े भाई के काम आता है।

दिल्ली में—पेशावर-काण्ड के सैनिकों के मामले को अब दिल्ली के कानों में पहुँचाना था। उस समय प्रतिरक्षा-मन्त्री सरदार बलदेवसिंह थे। वह भला एक अकिंचन सिपाही से मिलने के लिए क्यों तैयार होते ? अन्त में बड़े भाई नेहरू के पास पहुँचे, और उनके प्राइवेट सेक्रेटरी शिवदत्त उपाध्याय से सारी बातें बतलाईं। प्रधानमन्त्री से मिलना आसान नहीं था, लेकिन उपाध्याय और इन्दिरा सभी बड़े भाई को जानते थे। बड़े भाई को उन्होंने नेहरू के सोने के कमरे में भेज दिया। नेहरू हाथ मिलाते बड़े प्रेम से मिले और पूछा—"क्या चाहते हो ?"

बड़े भाई ने कहा—"पेशावर-कांड के सैनिकों का मेमोरेन्डम लेकर आया हूँ।" और उसे नेहरू के हाथ में देते हुए कहा—"पेशावर-काण्ड को राष्ट्रीय पर्व समझा जाय, और सैनिकों को पेन्शन दी जाय। जो मर गये

हैं, उनके परिवार की सहायता की जाय।"

मान्यता की बात सुनते ही दो मिनटवाले नेहरू तुरन्त आकर उपस्थित हो गये और उबल पड़े— "मान्यता ? तुम बागी हो।"

बड़े भाई उनका मुँह ताकने लगे। जिस नेहरू ने एक समय लखनऊ के विद्यार्थियों के सामने बड़े भाई को वीर कहा था, और उनके पिता ने मृत्यु-शय्या पर पड़े हुए गाँधी और नेहरू के सामने कहा था कि गढ़वाली सैनिकों को न भूलना। जेल में रहते कितनी मर्तबे नेहरू ने उन सैनिकों की सराहना की थी। आज यह अपने मुँह से क्या निकाल रहे हैं ? चाहे इस बात को दो मिनटवाले नेहरू कह रहे हों, जिसे 58 मिनटवाले नेहरू मानने के लिये तैयार नहीं हैं, लेकिन गाँधी तो पूरे 60 मिनट गाँधी रहते थे। उन्होंने भी पेशावर-कांड के गढ़वाली सैनिकों के काम के महत्त्व को नहीं माना था। शायद वह अपने असहयोग सत्याग्रह को ही एकमात्र भारत की स्वतन्त्रता की रामाबाण औषधि मानते थे, इसलिए महत्त्व को जानते हुए भी उसे स्वीकार करना नहीं चाहते थे। जो भी हो, उन्होंने निम्न पंक्तियों को लिखा था* (देखें, फुटनोट)।

बड़े भाई ने नेहरू को मुँहफट-सा जवाब दिया—"जिस फील्ड-मार्शल के आप जेनरल थे, मैं उसका अर्दली था। आज आप प्राइम-मिनिस्टर हैं, और मैं बागी हूँ। गढ़वाली वीरों ने पेशावर में ही देश के लिए बगावत का झंडा नहीं खड़ा किया था। इम्फाल में भी उन्होंने अंग्रेजों का हुकुम मानने से इन्कार किया था। उन्होंने देश के लिए जो किया, उसे आप भुला नहीं सकते। आज भी कश्मीर की चोटियों पर वह हमारे देश के लिए लड़ रहे हैं। वह आपको अपनी आँख की पुतली समझते हैं, और आप उनके लिए बागी का शब्द निकाल रहे हैं।"

दो मिनट का नेहरू अभी कमरे से गया नहीं था। उसकी त्योरियाँ चढ़ गईं, ओठ फड़फड़ाने लगे। अधजली सिगरेट को वहीं उसने पटक दिया और कागज सँभालते खट्-खट् नीचे उतर गया। सौ से अधिक आदमी मिलने के लिए इंतिजार कर रहे थे। जल्दी-जल्दी आध घंटे में सबको निबटाकर ऑफिस जाने के लिए नेहरू अपनी कार में जा बैठे। बड़े भाई कार के सामने खड़े हो गये—"मैं दूर से बड़ी मुश्किल से मुलाकात के लिए आया हूँ, अभी मुलाकात नहीं हुई।"

नेहरू ने उसी समय अपने सेक्रेटरी जान मथाई से कहा कि बड़े भाई को ऑफिस में मिलने का इंतिजाम कर दो।

निश्चित समय पर बड़े भाई ऑफिस में पहुँचे। मथाई ने उन्हें नेहरू के पास भेज दिया। नेहरू ने धर्मवीर को बुलाकर उन्हें बड़े भाई का परिचय देना चाहा, लेकिन धर्मवीर अल्मोड़ा के डिप्टी-कमिश्नर रहते जेल में उनकी दावत कर चुके थे। उन्होंने कहा—"मैं इन्हें जानता हूँ।"

नेहरू ने कहा—"बड़े भाई, मुझे अफसोस है, समय नहीं है। आप धर्मवीर को अपनी सारी बातें लिखवा दीजिये।" बड़े भाई ने धर्मवीर के पास जाकर सारी बातें बतला दीं।

बड़े भाई को मालूम था कि दिल्ली के प्रधानमन्त्री चाहे नेहरू हों, लेकिन असली सूत्रधार वल्लभभाई पटेल हैं। गढ़वाल में जब उन्हें मालूम हुआ कि सरदार देहरादून आये हैं, तो वह उनसे मिलने के लिए वहाँ पहुँचे, लेकिन पुलिस ने भीतर जाने नहीं दिया। वहाँ से चलते समय लिखकर सरदार के लिए एक चिट्ठी दे दी। दिल्ली जाकर सरदार ने मिलने के लिए बुलाया। बड़े भाई कितने अर्थ-संकट में हैं, यह इन नेताओं को क्या पता था ? वह नहीं जानते थे कि मोटर और रेल का किराया चुकाना भी किसी की शक्ति के बाहर की बात हो

---

* "वह सिपाही जो गोली चलाने से इन्कार करता है, अपनी प्रतिज्ञा भंग करता है, इस प्रकार वह हुक्म-उदूली का अपराध करता है। मैं अफसरों और सिपाहियों से हुक्म-उदूली करने के लिए नहीं कह सकता। जब हाथ में ताकत होगी, तब शायद मुझे भी इन्हीं सिपाहियों से और अफसरों से काम लेना पड़ेगा। अगर मैं इन्हें हुक्म-उदूली करना सिखाऊँगा, तो मुझे भी डर लगा रहेगा कि मेरे राज में भी वे ऐसा ही न कर बैठेंगे।" (गढ़वाली सिपाहियों के प्रश्न पर फ्रांसीसी पत्रकार चार्ल्स पेत्राश को गाँधीजी का उत्तर 'मोंद' 20 जनवरी 1932)।
'आज का भारत'—रजनी पामदत्त (हिन्दी, पृ. 333)

सकती है। दिल्ली गयें, लेकिन पहरे की चहारदीवारी को चीरकर मन्त्रियों से मिलना आसान थोड़ा ही था। बड़े भाई बाहर टहल रहे थे। शाम का समय था। इसी समय पटेल बाहर निकले। उन्होंने देख लिया। बुलाकर पूछा, तो कहा, मैं आपके पत्र को पाकर यहाँ मिलने आया। समय माँगा, तो पटेल ने कहा–"उसे माँगने की जरूरत नहीं, चलो मेरे साथ।" वह भीतर ले गये। बड़े भाई ने सैनिकों का मेमोरेंडम दिया और उनसे सारी बातें बतलाईं। पटेल ने 'बहुत अच्छा' कहकर उन्हें विदा किया।

बलदेवसिंह ने मिलने की भी जरूरत नहीं समझी। प्रधानमन्त्री ने सभी बातें जानने के लिए अपने सेक्रेटरी को आदेश दिया था और अब लौह-पुरुष से भी बात हो गई। इस सबका परिणाम यह हुआ कि सरकार ने एक प्रेस-नोट निकालकर कहा कि 1857 ई. से इधर जिन सैनिक या असैनिक लोगों ने देश के लिए अपनी नौकरी या सम्पत्ति खोई है, उन्हें पेन्शन दी जायगी, सम्पत्ति लौटाई जायगी। जो दस साल नौकरी कर चुके थे, उन्हें पेन्शन मिलेगी। इस नोटिस से जो बूँदें पड़नेवाली थीं, वह पेशावर-कांड के 58 सैनिकों में से सिर्फ तीन–चन्द्रसिंह गढ़वाली, नारायणसिंह गोसाईं और जीतसिंह रावत–पर ही गिरतीं, बाकी को कुछ न मिलता।

पेशावर-काण्ड सैनिक कमेटी की बैठक हुई। फिर प्रस्ताव पास हुआ, जिसे लेकर बड़े भाई दिल्ली पहुँचे। पेन्शन-विभाग में गये, वहाँ के इन्चार्ज से मिलने के लिए पुर्जी भेजी। इन्चार्ज ब्रिगेडियर-जेनरल प्रीतमसिंह थे, जिन्हें सेकण्ड-लेफ्टिनेन्ट रहते समय बड़े भाई ने पंचमढ़ी में शिक्षा दी थी। पुर्जी पाते ही बाहर निकल आये, और उन्होंने अपना परिचय पंचमढ़ी के विद्यार्थी के तौर पर देते कहा–"पेशावर-काण्ड के समय लन्दन के फौजी स्कूल में विशेष पढ़ाई के लिए गया था। जब उसकी खबर वहाँ के पत्रों में पढ़ी, तो मुझे अपार खुशी हुई।" ब्रिगेडियर ने इस काम को अपना समझ, मेमोरेंडम को पढ़कर उसमें आवश्यक परिवर्तन किये और तीन सौ कापियाँ टाइप कराकर उनके हाथ में देकर कहा–"इन्हें विधानसभा के सदस्यों में बाँटिये।"

बड़े भाई पार्लियामेण्ट-भवन में गये। उन्हें यह बता दिया गया था कि दोपहर के समय चाय पीने के लिए मेम्बर बाहर आते हैं, उसी समय इन्हें बाँटिए। उस समय बड़े भाई के परिचित महावीर त्यागी भी एक मन्त्री हो गये थे। त्यागीजी ने मिलने पर कहा–"किदवई के पास भी जाओ। उनकी बात पंडितजी मानते हैं।" जाकर फोन किया, पर किदवई से मुलाकात नहीं हो सकी। मोटर पर चढ़ते समय मिले और दो-तीन मिनट किदवई से बात हुई।

इसी समय दो बजे की घंटी बजी। पार्लियामेण्ट के सदस्य बाहर निकलने लगे। कुछ नोटिस बाँटी, कुछ को फेंका। धक्का-मुक्की में कुंजरू से भेंट हो गई। उन्होंने बात सुनकर कहा–"अच्छा, नोटिसें बाँट दो।" कुंजरू तब तक वहीं खड़े रहे। कॉपियों को बाँट देने के बाद वह अपने साथ रहने की जगह में ले गये। चाय पिलाई और मेमोरेंडम को पढ़ा। मेमोरेंडम में था–"पेशावर-कांड को मान्यता दी जाय। सैनिकों की पुनर्नियुक्ति की जाय। राष्ट्रपति उसके लिए अपना उच्चतम तमगा दें।"

कुंजरू अंग्रेजों के समय से ही सैनिक-विभाग के सम्बन्ध में विशेषज्ञ माने जाते थे। उनके पास दिल भी था, तभी तो पद और वैभव के रास्ते को छोड़कर वह सर्वेण्ट ऑफ इंडिया सोसाइटी के मेम्बर बन गये। उन्होंने कहा–"भाई, मुझे बात समझ में नहीं आ रही है। वीस साल बाद सैनिकों की पुनर्नियुक्ति का क्या अर्थ है ? तब से अब हथियार बदल गये हैं, इनकी उमर भी ऐसी नहीं है कि सब बातों को सीखकर काम कर सकें।"

बड़े भाई ने सैनिकों की सूची दिखलाते हुए कहा–"इन 58 आदमियों में चार आदमी मर चुके हैं, और प्रेस-नोटिस के मुताबिक उन्हीं को पेंशन मिलेगी, जो दस वर्ष से अधिक नौकरी कर चुके हैं। इसका मतलब है, सिर्फ तीन आदमियों को पेंशन मिलना। बाकी 51 आदमियों ने भी तो अपने भविष्य पर लात मारा था। जो पचास ही दिन नौकरी कर पाये थे, उन्होंने यदि उस दिन अंग्रेजों का हुकुम मानने से इन्कार न किया होता, तो क्या वह हवलदार-जमादार-सूबेदार न हुए होते। वल्कि हम लोग, जो 15-16 साल नौकरी कर चुके हैं, हमने कुछ कमा भी लिया था। हवलदार बनकर मैंने अपने लिए मकान बनाया था। अपने जीवन-स्तर को भी साधारण किसान से निम्न-मध्यमवर्ग के तल तक पहुँचाया था, लेकिन जिसने 49 दिन ही काम कर पाया, वह

तो अपने लिए कुछ नहीं कर सका। यदि कोई सैनिक लड़ाई में जाकर कम सर्विस होने पर भी अंग-भंग हो जाता है, तो उसको क्यों पेंशन दी जाती है ?"

अब कुंजरूजी को बात कुछ समझ में आने लगी।

बड़े भाई ने कहा—"मैं भी जानता हूँ कि पुनर्नियुक्ति से यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि उन सैनिकों को फिर नौकरी पर लगाया जाय। पुनर्नियुक्ति का यही अर्थ है कि जिसने 49 दिन काम किया है, उसके लिए भी दस वर्ष में जितने कम हैं, उतने समय को जोड़ दीजिये और उसकी तनखा दे दीजिये। फिर कायदे के मुताबिक पेंशन दे दी जाय।"

कुंजरू ने कहा—"बिलकुल ठीक है। मैं इसके लिए पूरी कोशिश करूँगा।"

कुंजरू ने पूरा जोर लगाया और सरकार ने अपने प्रेस-नोट को बदलकर आदेश निकाला, जिसके अनुसार दस सालवालों को पेंशन और कम नौकरीवालों को ग्रेचुटी (विशेष रकम) देना स्वीकार किया। अब 36 को पेंशन मिली और 21 को ग्रेचुटी। दो आदमियों को कुछ भी नहीं मिला। यही सरकारी तरीका है। वह यह नहीं समझ पाये कि इन दो आदमियों ने भी तो देश के लिए उस दिन गोली से उड़ा देने लायक कसूर किया था।

11 अप्रैल 1954 को फिर इसी सिलसिले में बड़े भाई दिल्ली राष्ट्रपति से मिलने गये। सोचा, आखिर राष्ट्रपति भी इस कागज को प्रधानमन्त्री के पास भेजेंगे, इसलिए उनके पास चले गये और राष्ट्रपति के लिए तैयार किये हुए मेमोरेंडम को उनके हाथ में दे दिया। मेमोरेंडम में लिखा था कि 1930 के नमक-सत्याग्रह के युद्ध में आप हमारे सेनापति थे और अब राष्ट्रपति हैं। हमने अपने निहत्थे भाइयों पर उसी समय पेशावर में गोली चलाने से इन्कार कर दिया था। अंग्रेजों ने हमें बागी और देशद्रोही करार दिया था। हम अंग्रेजों के बागी थे, लेकिन देशद्रोही नहीं थे, यह आप जानते हैं। युद्ध से विजयी होकर आप लौटे हैं। इस समय आप पेशावर-कांड के सैनिकों के साथ वीरोचित बर्ताव करें, और पेशावर-कांड को अपना उच्चतम पदक अशोक-चक्र प्रदान करें।

पौड़ी में रहते 17 दिसम्बर 1948 को बड़े भाई की तीसरी संतान-पुत्र आनन्द चन्द्र पैदा हुआ।

बड़े भाई गढ़वाल के प्राकृतिक तौर से बड़े ही समृद्ध किन्तु सामाजिक और आर्थिक तौर से पिछड़े हुए राठ प्रदेश में पैदा हुए थे। राठ (राष्ट्र) इस प्रदेश को क्यों कहा गया, यह ऐतिहासज्ञों के खोज की बात है। दो सौ वर्गमील के इस इलाके में चोपड़ाकोट, ढाईज्युली, चौथान और कंडारस्यूं की पट्टियाँ हैं। यहाँ की बोली आसपास से कुछ भिन्न है। यदि फौज में भरती होने के लिए लोग अधिक संख्या में न जाया करते, तो यहाँ वाले पूरे कूपमंडूक रहते। इलाके के लोग वस्तुतः जंगल के वासी हैं। यहाँ का शासन-केंद्र पौड़ी बहुत दूर है। चमोली, लैन्सडाउन 30-30, 40-40 मील पर पड़ते हैं, जिससे यहाँ वालों का कोई सम्बन्ध नहीं है। सकलानी के शहादत के दिन अपनी वसीयत में बड़े भाई ने राठ प्रदेश के बारे में लिखा था। वह समझते थे कि जब तक राठ प्रदेश के भीतर तहसील का शासन-केन्द्र नहीं बनता, तब तक वहाँ की आर्थिक, सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी समस्याएँ हल नहीं हो सकतीं। वह राठ प्रदेश का दौरा करने के लिए निकल पड़े। यह प्रदेश समृद्ध है, यहाँ के जंगलों में देवदार, अखरोट के कीमती वृक्ष हैं, मुरई, थनेर, बाँज, तिलौंज, खरसू जैसे उपयोगी काष्ठ हैं। यहाँ लोहे, ताँबे, सीसे और अबरक की खानें हैं, जिनमें से कितनी ही में पहिले काम हुआ करता था। यहाँ के कितने ही स्थान सात-आठ हजार फीट ऊँचे हैं, सबसे ऊँची चोटी गीदों 10,217 फीट ऊँची है, जहाँ से हिमाच्छादित शिखरपंक्तियों तक फैला सारा गढ़वाल और नीचे की ओर देश की मैदानी जमीन देखी जा सकती है। यहाँ चार बड़े-बड़े पयार (बुक्याल) हैं। आठ हजार फीट से अधिक ऊँचे इन मैदानों में हवाई जहाज उतर सकते हैं। बरसात में यहाँ बर्फ के नीचे से सैकड़ों तरह की मूल्यवान जड़ी-बूटियाँ निकलकर लहलहाने लगती हैं, और फूलों की कालीन बिछ जाती है। बिनसर गढ़वाल और भारत के बहुत पुराने मन्दिरों में हैं, जिसे

कत्युरी-काल में बनाया गया था। यातायात के रास्तों से बहुत दूर होने के कारण पुरातात्त्विक महत्त्व के इस मन्दिर की कोई खोज-पूछ करनेवाला नहीं है, और वह टेढ़ा होकर गिरने के लिए तैयार है। दूदाटोली के नाम से प्रसिद्ध यहाँ का जंगल केवल प्राकृतिक सौन्दर्य में ही अद्वितीय नहीं है, बल्कि प्राकृतिक सम्पत्ति का भंडार है। यहाँ से छह नदियाँ निकलकर भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहती हैं—जिनमें पिंडार, पूर्वी नयार, पश्चिमी नयार और रामगंगा मुख्य हैं। बड़े भाई राठ प्रदेश की यात्रा करते नौ दिन खरकियों के साथ रहे थे। बर्फ पिघल जाने पर जब पयार हरी-हरी घासों से ढँक जाते हैं, तो बीसों मील के लोग गाय-भैंसों को लेकर चार-पाँच महीने के लिए यहाँ डेरा डाल देते हैं। उनके साथ रहते पयारों को देखा, फिर उन्होंने सरकार के पास तीन हजार आदमियों के हस्ताक्षर से आवेदन-पत्र भेजा कि राठ के लिए एक नई तहसील लुधौली में बनाई जाय और इस इलाके के विकास के लिए सरकार पूरा ध्यान दे। उन्होंने इसकी सारी योजना बनाई और दो हजार कॉपियाँ छपवाकर सब जगह भेजीं।

इतने ही से वह सन्तुष्ट नहीं हुए, बल्कि इस इलाके में पाई जानेवाली धातुओं के उन्होंने बहुत-से नमूने जमा किये, जड़ी-बूटियाँ और फलों के नमूने भी साथ लिये, नक्शा तैयार किया, फिर नेहरूजी के पास दिल्ली पहुँचे। उन्होंने नेहरूजी को याद दिलाते हुए कहा—"जब आप गढ़वाल का दौरा करने गये थे, उसके बाद हवाई जहाज से भी उसके ऊपर उड़े थे तो आपने कहा था—गढ़वाली माँगना जानते हैं, काम करना नहीं जानते, गढ़वाल सब तरह समृद्ध है। मैं कहता हूँ, कि गढ़वाली काम करना जानते हैं, हमें उसके लिए मौका दीजिये। गढ़वाल का यह इलाका है, जिसके प्राकृतिक सौन्दर्य का मुकाबला गढ़वाल में भी दूसरे स्थान करनेवाले नहीं हैं। दूदाटोली को आप भारत की ग्रीष्म राजधानी बना सकते हैं, वहाँ हवाई जहाज से पहुँच सकते हैं। पाकिस्तान की सरहद से वह बहुत दूर है, हरियाली और पानी से भरा हुआ प्रदेश है। रामनगर और मिखियासेन से होते वहाँ रेल पहुँच सकती है। यह देखिये वहाँ ये धातुएँ मौजूद हैं।"

नेहरूजी ने सभी बातें ध्यान से सुनकर कहा—"बड़े भाई, मैं तो तुम्हें सिपाही समझता था, तुम तो आयोजना बनाने वाले हो गये।"

नेहरूजी ने उन नमूनों को तत्सम्बन्धी विभागों को भेज दिया। भूतत्त्वीय सर्वे के जी. एन. दत्त जाँच के लिए आये। बड़े भाई ने उन्हें सारी जगहें दिखलाईं। रेलवेवालों को भी हुकुम दिया गया था। प्रादेशिक कृषिमन्त्री शेरवानी और उद्योगमन्त्री केशवदेव मालवीय के पास भी पहुँचे। उन्होंने भी जाँच करवाई। सभी सम्पत्तियों के रहने के बाद भी राठ में तब तक कुछ नहीं हो सकता था, जब तक कि आधुनिक यातायात का प्रबन्ध न किया जाय। उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी यही बहाना किया। यातायात के लिए मरचूला, वीरौखाल, कर्णप्रयाग, थलीसेण और पौड़ी में मोटर-रोड बनाकर मौजूदा मोटर-सड़कों के साथ मिलने के लिए एक कमेटी भी बड़े भाई ने बनाई। जनता की आवाज को दबाना मुश्किल था, इसलिए 1950 में सरकार ने कहा, कि दूसरे पंचवार्षिक योजना में हम इस मोटर-सड़क को प्राथमिकता देंगे। उसके लिए दो लाख रुपये मंजूर भी हो गये। इसके अनुसार मरजूला से वीरौखाल होते बाजिरों तक सड़क बनाई जाने वाली है, लेकिन तब भी राठ प्रदेश अछूता रह जायगा। इस पिछड़े इलाके के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने तहसील बनाने को सिद्धान्तः मंजूर कर लिया है, लेकिन कहती है कि हम इमारत नहीं बना सकते। यदि लोग इमारत बना दें तो हम तहसीलदार भेजने के लिए तैयार हैं, लेकिन सिर्फ तहसीलदार को लेने से लोगों को क्या फायदा ? वहाँ तहसील की इमारतें बनतीं, पुलिस का थाना रहता, अस्पताल स्थापित होता, हाईस्कूल कायम होता, तो दूकानें खड़ी हो जातीं, वह एक कस्बे का रूप धारण कर लेता, और राठ प्रदेश के लोगों को उससे फायदा होता।

लैन्सडौन में जब छावनी कायम हुई और वहाँ अंग्रेज रहने लगे, तो उनका ध्यान बागवानी की ओर गया। उन्होंने छावनी में सेब, नासपाती, आड़ू, खूबानी, पाँगर (चेस्टनट) आदि का बगीचा लगवाया। उस बाग को जंगल दबोच रहा था। बड़े भाई ने देखा कि अभी भी पेड़ों में सेब लगे हुए हैं। कितना पैसा लगाकर इस बगीचे को तैयार किया गया था। इस प्रदेश को बागवानी से कितना लाभ हो सकता है, इसका खयाल करके बगीचे की यह दयनीय अवस्था देखकर उन्होंने डिप्टी-कमिश्नर को लिखा। वहाँ से बगीचे को ठीक-ठाक करने

के लिए 250 रुपये, मकान के लिए 250 रुपये मिले। यह भी हुकुम हुआ कि जंगल में आ गये पुराने बगीचे और नई जमीन को मिलाकर तीन सौ एकड़ बाग के लिए दिया जाय। बाग को बढ़ाया तो नहीं जा रहा है, लेकिन साल के फल नीलाम हो जाते हैं, जिससे उसे कायम रक्खा गया है।

शिक्षा की राठ में बड़ी कमी थी। शासन-केन्द्र और सड़कों से दूर रहने के कारण अधिकारियों का उधर ध्यान नहीं जाता था। 30-30 गाँवों पर एक प्राइमरी स्कूल—मीलों की यात्रा करके विद्यार्थी वहाँ कैसे पहुँच सकते थे ? डिप्टी इन्स्पेक्टर बुद्धिवल्लभ और बड़े भाई ने प्रयत्न किया। चोपराकोट में जहाँ पहिले एक प्राइमरी स्कूल था, अब वहाँ 15 कायम हो गये। हरेक पार्टी में एक-एक जूनियर हाईस्कूल भी स्थापित हो गया। जनता में इतना उत्साह था कि श्रमदान-करके उन्होंने सड़कें बनाईं, स्कूल के लिए मकान तैयार किये। सरकार और जिला-बोर्ड ने उपेक्षा दिखाई, अब उनमें से अधिकांश स्कूल बन्द हो गये हैं, और इमारतें ढह रही हैं।

बिनसर के प्राचीन मन्दिर के बारे में फोटो के साथ बड़े भाई ने पुरातत्त्व-विभाग को लिखा कि मन्दिर टेढ़ा हो गया है। वह गोपेश्वर और केदारनाथ की तरह का विशाल मन्दिर है। विभाग ने एक हजार रुपया अनुदान दिया, लेकिन रुपये का कोई इस्तेमाल नहीं हुआ, और न उस ऐतिहासिक मन्दिर के लिए कुछ किया गया।

बड़े भाई बैठे रहना नहीं जानते। देश में इतनी समस्याएँ हैं, जिनके लिए काम करनेवालों की कमी है। जिस समय गढ़वाल से बेगार-प्रथा खतम की गई थी, उस समय पौड़ी के तहसीलदार जोतसिंह नेगी थे। कुलियों के न मिलने पर आने-जानेवालों को कठिनाई होती, इसलिए उन्होंने घर पीछे दो रुपया चन्दा जमा कर उससे खच्चरों के रखने का प्रबन्ध किया। वह सामान को एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाया करते थे, उनके ऊपर पटवारी और नौकर भी थे। किराये का रुपया मिलता था, जिससे खर्च का काम चल जाता। 1951 में अधिकारियों के लिखने पर उत्तरप्रदेश सरकार ने खच्चरों को बेकार समझकर उन्हें नीलाम कर देने का आदेश दिया। पटवारी चिल्लाता हुआ बड़े भाई के पास पहुँचा—"खच्चर भी बेकार नहीं थे। नीलाम कर देने पर जो हम सब नौकर हैं, वह बेकार हो जायँगे और खच्चरों के लिए जहाँ-तहाँ बने घर भी गिर जायेंगे।" बड़े भाई ने तार देकर पंतजी को नीलाम रुकवाने के लिए कहा। चिट्ठी पहुँची। बड़े भाई ने जोतसिंह तहसीलदार का वह कागज भी खोज निकाला जिसमें लिखा था कि जिस वक्त इस कुली-एजेन्सी को तोड़ा जाय, उस वक्त नौकरों का ख्याल रक्खा जाय, और इसकी सारी सम्पत्ति सार्वजनिक संस्था को दे दी जाय। जाँच से मालूम हुआ कि इससे स्वयं सरकारी अफसरों को भी बहुत लाभ है। बेगार के कुली तो अब मिल नहीं सकते, ऐसे समय ये खच्चर बड़े काम के हैं। आखिर एजेन्सी तोड़ी गई। सरकार ने 2,500 रुपया सालाना देना स्वीकार किया। डिप्टी-कमिश्नर कुरेशी ने इसके लिए बड़े भाई को धन्यवाद दिया।

जंगलात के फारेस्ट गारदों को बड़ी तकलीफ थी। उन्होंने समझा कि हमारी तकलीफें संगठन से ही दूर हो सकती हैं। एसोसियेशन बना बड़े भाई को भी बुलाया। वह शिकायत कर रहे थे—"(1) हमारी तनखाह बहुत कम है, (2) हमें अपनी जगह से आने-जाने के लिए टी. ए. (सफर खर्च) नहीं मिलता, (3) दूसरी जगह बदली होने पर अपने सिर पर सारा सामान उठाकर जाना पड़ता है, (4) जंगल में आग लग जाती है, जानवरों का उपद्रव होता है, और उसमें हमें अकेले रहकर जान देना पड़ता है। आसपास के लोगों से सहायता लेने के लिए मजबूर होना पड़ता है, जिसके कारण उनके साथ हम रियायत करते हैं, जिससे जंगलात को नुकसान होता है।

इसके लिए बड़े भाई ने भी कोशिश की। जंगलात के कन्जर्वेटर ने कहा कि तनखाह के बारे में तनखाह-कमीशन बैठा हुआ है, वही निश्चय करेगा, बीस रुपया महँगाई को हम तनखाह में डाल देते हैं, और दूसरी बातों पर भी विचार किया जायगा।

उस समय कोटद्वार से दिल्ली जाने में कई जगह रेल बदलनी पड़ती थी। गढ़वाल के दस हजार आदमी दिल्ली में रहते हैं, उनको बड़ी तकलीफ होती थी। बड़े भाई ने इस आन्दोलन को हाथ में लिया कि कोटद्वार से सीधे दिल्ली जाने के लिए डब्बा लगाया जाय। बलदेवसिंह आर्य उस समय एम. पी. थे, उन्होंने भी पूरा जोर लगाया और सहारनपुर होकर एक डब्बा कोटद्वार से सीधे दिल्ली जाने लगा। अब शाम को कोटद्वार में

बैठिये और सवेरे दिल्ली पहुँच जाइये।

गढ़वाल में शराब के कारण लोग बरबाद हो रहे थे। पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी पीने लगी थीं। पौड़ी में शराब का ठेका जो 12 हजार में बिकता था, 98 हजार हो गया। 1949-50 में बड़े भाई ने इसके खिलाफ आन्दोलन करते निश्चय किया कि शराब की भट्टियों को नीलाम करते समय धरना दिया जाय। सरकारी कर्मचारी भी शराबबन्दी के पक्ष में थे। उन्होंने नीलाम पर धरना न देने के लिए कहकर बतलाया कि बाजार में जुलूस और नारे लगायें जायें। डिप्टी-कमिश्नर भी चाहता था कि शराबबन्दी हो। पौड़ी, सौड़ी, धौड़ी, श्रीनगर, दुगड्डा में भट्टियाँ नीलाम हो चुकी थीं, लेकिन आन्दोलन के कारण ठेके को तोड़कर पैसे लौटा दिये गये। लैन्सडौन में फौजों के कारण और कोटद्वार के जिले के सीमांत पर होने से भट्टी तोड़ी नहीं जा सकी, और सारे जिले को सूखाक्षेत्र नहीं घोषित किया जा सका।

लेकिन, एक आफत है ? पैसा कमानेवाले हजार रास्ते निकाल लेते हैं। जब शराबबन्दी हुई, तो टिंचरी शुरू हुई यानी टिंचरबरी, टिंचरकार्ड आदि नामों से शीशियों में भरकर दवाई के नाम पर टिंचर बिकने लगा। दस-दस आने की शीशियाँ मिलती थीं।

उनमें दो भाग पानी मिलाकर लोग पीने लगे। नशा चाहिए था, जो इसमें हो जाता था। सभी जगह टिंचरी शीशियाँ भर गई, और शराब की जगह लोग अपने पैसों को इन पर उड़ाने लगे। बड़े भाई मद्य-निवारक कमेटी के मेम्बर थे। वह इस नई बला को कैसे बर्दाश्त कर सकते थे। टिंचरी के खिलाफ जबर्दस्त आन्दोलन शुरू हुआ। इसी समय गढ़वाल के उद्धार के लिए इच्छागिरि माई पैदा हो गई। उसने विद्यार्थियों का खूब संगठन किया, और टिंचरी दूकान पर धावा बोल दिया। दुकानों में घुसकर लोगों ने शीशियाँ तोड़ डालीं। 'इच्छागिरि माई की जय' बोला जाने लगा। कानून को हाथ में ले लेने पर, कानून के रक्षक धर-पकड़ करने लगे।

इच्छागिरि माई के पति सेना में हवलदार थे। वह इम्फाल के मोर्चे पर मारे गये थे। पत्नी को 18 रुपया मासिक पेंन्शन मिलने लगी। पेन्शनवाली स्त्रियों की तरह वह भी अपनी जिन्दगी बिता सकती थीं, लेकिन वह जोगन बन गईं। बाल काटकर गेरुआ वस्त्र पहन लिया। कोटद्वार के पास मोटाढाक में उसने कुटिया बनाई। लोगों को पानी की बहुत तकलीफ थी, माई ने डिग्गी (पोखरी) खोदने के लिए एक हजार रुपये दिये, लेकिन एक हजार से क्या बननेवाला था ? फिर लखनऊ पहुँचकर पंतजी के बँगले के सामने उसने भूख-हड़ताल शुरू कर दी। सरकार को डिग्गी बनवा देना पड़ा। इच्छागिरि माई ने चन्दा करके मोटाढाक में एक जूनियर हाई स्कूल स्थापित कर दिया।

26

ध्रुवपुर में (1950 ई.)

बड़े भाई ने छह साल तक पौड़ी में अपना हेड क्वार्टर रक्खा। उन्हें 16 रुपया मासिक पेन्शन के साथ 1930 से अब तक पेन्शन के बाकी 3,163 रुपये 6 आने मिले। पौड़ी में सात महीने रहने में सात सौ रुपये खर्च हो गये। अभी तक मित्र लोग उनकी सहायता करते थे। अनुसूयाप्रसाद बहुगुना के पुत्र द्वारिकाप्रसाद जी ने रहने के लिए मुफ्त मकान दे दिया था, जिसमें वह छह साल तक रहे। उनका परिवार हमेशा बड़े भाई की सहायता के लिए तैयार रहता था। अब पेन्शन मिल जाने पर वह दूसरे की सहायता पर अपने को निर्भर नहीं कर सकते थे। वह जानते थे कि सौ रुपया महीने के हिसाब से बाकी 2400 रुपये 24 महीने में खतम हो जायेंगे, इसलिए सोचा कि इससे बाल-बच्चों का कोई इंतिजाम करना चाहिए। आयोजना कमेटी की बैठक के लिए वह कोटद्वार आये थे। वहीं उनकी मुलाकात अपने पुराने मित्र जयानन्द भारती से हुई। उन्होंने बड़े भाई

से कहा—"भावर में जंगलात की जगह लोगों को आबाद करने के लिए मिल रही है। (खास महाल के) सुपरिंटेंडेंट के पास दर्खास्त दे दें।" बड़े भाई ने दर्खास्त दे दी, और 30 बीघा (5 एकड़) जमीन मिल गई। वहाँ कुकाठ का जंगल था। उसी जगह और भी 26 परिवारों को जमीन मिली थी, बड़े भाई 27वें थे। आज वहाँ 33 परिवार हैं। पास में लालपुर और पदमपुर के गाँव हैं, जिनमें पदमपुर बिलकुल नजदीक है। 33 घरों में 22 भूमिहीनों के थे, जो आसपास के गाँवों में लोगों के घरों में मजूरी करते थे। उन्हें सनक सवार हुई कि हमें अपने को हरिजन या शिल्पकार नहीं कहना चाहिए। सबने अपने को सवर्ण (बीठ) घोषित कर दिया। कोई कौशिक ब्राह्मण बन गया, और कोई ठाकुर अपने नाम के साथ लगा लिया। हरिजन होने के कारण सरकार से जो रियायतें मिल सकती थीं, उन्हें भी उन्होंने लेने से अपने को वंचित कर दिया। गाँव का आरम्भ 1948 में हुआ था, पर उसका नामकरण ध्रुवपुर बड़े भाई के वहाँ आने के दो-तीन वर्ष बाद हुआ। गाँव के लोगों की सभा बैठी थी। उन्होंने कहा, नाम चन्द्रपुर होना चाहिए, लेकिन बड़े भाई ने इसका विरोध किया, और फिर उन्हीं के सुझाव पर उसका नाम ध्रुवपुर रक्खा गया।

भाबर हिमालय की सबसे निचली पर्वतमाला के खतम होने के बाद मैदानी इलाके का अंग है। यह निचली पर्वतमाला कहीं पर हिमालय की है, और कहीं पर शिवालिक की। वस्तुतः जहाँ शिवालिक हिमालय से मिल गया है, उसी जगह भाबर को हिमालय के चरण पर कहा जा सकता है, नहीं तो वह शिवालिक के चरणों पर होता। भाबर के बाद तराई आती है। तराई घने जंगलों से ढँकी तथा अनेक धाराओं से सिंचित है, भाबर में झाड़ियाँ और कुकाठ होते हैं, और साधारण नदियाँ पहाड़ की ओर से आकर यहाँ अन्तर्धान हो जाती हैं, जिसके कारण पानी की कठिनाई है।

कह चुके हैं, पास-पड़ोस के गाँववाले हरिजन, बिना खेत के मजदूर थे। बीठ और हरिजन भाबर के भी प्रायः पहाड़ से ही आये हुए हैं। बहुत पुराने काल में कई जगहों के पहाड़ी लोग अपने पशुओं को लेकर जाड़ों में यहाँ घमतपी करने आते थे, जाड़ों के बाद फिर लौट जाते थे। पीछे आबादी के दबाव के कारण यहाँ उन्होंने अपने गाँव बसा लिये। पहाड़ से आये हरिजन यहाँ बेखेत के रहकर सभी तरह का शोषण और सामाजिक अत्याचार सहते रहे। फिर उनमें जागृति पैदा हुई। गाँवों से उत्तर अभी भी बहुत-सा गैर-आबाद जंगल था। 1948 में कुछ हरिजनों ने आकर इन्हीं जंगलों में अपनी झोंपड़ियाँ डालीं, और जंगल काटकर खेत बनाना शुरू किया। वह भाग किसी जमींदार का नहीं, बल्कि सरकारी जमींदारी का था, जिसे खाम कहते हैं। खाम का प्रबन्ध करने के लिये सुपरिंटेंडेंट रहता है। बिना पूछे जंगल काटने के लिए इन भूमि-हीनों पर पाँच-पाँच रुपया जुर्माना हुआ लेकिन, भूमिहीनों को भूमि देनी चाहिए, इस बात को सरकार ने स्वीकार कर लिया था। अन्त में हरेक परिवार को 15-15 बीघा (ढाई-ढाई एकड़) जमीन दी गई। शारीरिक परिश्रम के बल पर ही वह हजारों वर्षों से जीते आये थे। जंगल काटकर उन्होंने अपने खेत बना लिये।

बड़े भाई ने 7 सितम्बर 1950 को पहिले-पहिल अपनी जमीन पर पैर रक्खा। बहुत दिन नहीं हुए, इस जंगल में बाघ रहा करते थे। पहाड़ यहाँ से एक मील पर है, और जमीन में जगह-जगह पत्थर हैं। ध्रुवपुर से कोटगढ़ का बाजार डेढ़ मील से दूर नहीं है, जहाँ रेल का स्टेशन भी है। इस तरह यहाँ रहने में कुई सुभीते थे। जमीन भी उर्वर है लेकिन, पानी सबसे बड़ी समस्या है। बड़े भाई दो-दो रुपया रोज पर दो आदमी लगा जंगल साफ करवाने लगे, लेकिन पास के लालपुर के लोग समझते थे कि यह जंगल हमारे काम आयेगा। बड़े भाई ने जहाँ अपनी कुटिया बनाई, उससे 18 फीट पर ही पद्मपुर गाँव है। सबसे नजदीक के पड़ोसी ने इसे पसन्द नहीं किया। उसने हर तरह से रोड़ा अटकाना शुरू किया लेकिन, बड़े भाई वहाँ से भागने के लिए नहीं आये थे। नौ सौ रुपये पर ठेका दे महीने-भर के भीतर एक कमरा तैयार करवा लिया। पौड़ी से बाल-बच्चों को भी लाये। पड़ोसी ने बड़े भाई की बाड़ी में आग लगा दूसरे आदमियों का नाम बता दिया। बड़े भाई के परिवार को उसने अपने घर में रक्खा था, इसलिए उस पर अविश्वास कैसे कर सकते थे ? आग लगाने का मुकदमा कर देने के बाद एक दिन सरपंच अमरदत्त पोखरियाल आये। बाड़ी में आग ले जाने की टीन की पणाई मिली थी। सरपंच ने कहा—"जिसकी यह पणाई है, उसी ने आग लगाई।" बड़े भाई को अपनी गलती

मालूम हुई, और उन्होंने लैन्सडौन में जाकर अपने मुकदमे को उठा लिया। देवी मन्दिर के पंचायत घर में सभा भरी थी, वहाँ भी बड़े भाई ने लोगों से क्षमा माँगी कि मैंने बेकसूर आदमियों पर मुकदमा किया।

अभी तक बाल-बच्चे उसी आदमी के घर में रह रहे थे। अब उसने उन्हें घर से निकाल दिया।

अब 20-22 बीघा जमीन खेत बन गई है, एक कमरा है और दो बीघे को साग-सब्जी के लिए चहारदिवारी से घेर दिया है। सारे रुपये खर्च हो गये, अभी खेती पूरी तौर से जम नहीं पाई थी, उसके लिए और रुपयों की आवश्यकता थी। सरकार से 2500 रुपया तकावी माँगी, जिसे मंजूर किया गया, लेकिन अन्त में लैन्सडौन और पौड़ी दो तहसीलों से 400 और 1000 रुपये ही मिले।

1951 का सन् था। तकावी के रुपयों पर छह-छह महीने बाद किश्त के सौ रुपये पौड़ी और सौ रुपये लैन्सडौन भेजने थे, लेकिन खेत इतनी जल्दी थोड़े ही फल देने लगेगा ? इसी बीच खरीदकर लाई जोड़ी का एक बैल मर गया। अब तकावी का रुपया नहीं दे सके, तो उनकी चीजें कुड़क कर ली गईं। नीलाम लेने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ, तो भी गाय, फावड़े और कुछ ऐसी चीजें जमानत पर छोड़ी गईं। इसके लिए प्रयत्न करने पर भूतपूर्व सैनिक बोर्ड को मदद देने के लिए ऊपर से हुकुम आया। जाँच करके अफसरों ने भी लिख दिया कि यह पैसा देने की स्थिति में नहीं हैं।

विधान-सभा का चुनाव (1951-52)

नये संविधान के अनुसार नया चुनाव होने का समय आया। मित्रों ने फिर जोर दिया–आपको खड़ा होना चाहिये। अपने कामों के लिए दिल्ली और लखनऊ दौड़ते रहना पड़ा था। बड़े भाई ने सोचा, यदि हम चुन लिये गये तो काम में आसानी होगी। ठाकुर नरेन्द्रसिंह भण्डारी ने भी कहा, आप जरूर खड़े हो जाइये। पौड़ी-चमोली निर्वाचन-क्षेत्र से नामजदगी का कागज दाखिल कर दिया, अपनी चुनाव-घोषणा प्रकाशित कर दी। वहाँ से दो प्रतिनिधि चुने जानेवाले थे। उम्मीदवारों में–4 हरिजन और 6 सवर्ण बिष्ट थे। निर्वाचन पैसे के जोर से ही लड़ा जा सकता है। 97 वोट-स्थान थे। बड़े भाई सिर्फ एक पौड़ी में स्वयं एजेन्ट थे, बाकी जगहों में कोई आदमी नहीं रख सके। चुनाव लड़ने के लिए उनके पास लड़के के नाम पर जमा दो सौ रुपये और भाई नारायण सिंह के दिये सौ रुपये, बस तीन सौ रुपये थे। कागजों के छपाने में जो खर्च हुआ, उसका सौ रुपया अब भी बाकी है। इस समय एक गलती यह हुई थी कि जहाँ उन्हें जबर्दस्त कांग्रेस उम्मीदवार ठाकुर चन्द्रसिंह रावत से मुकाबला करना था, वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से चन्द्रमणि पुजारी खड़े हो गये। यदि ऐसा न हुआ होता, तो मुमकिन है, सफलता मिल जाती। कांग्रेस उम्मीदवार के बाद दूसरे जबर्दस्त उम्मीदवार वकील घनश्याम डिमरी थे, जिन्होंने दस हजार से क्या कम खर्च किया होगा। चमोली तहसील में उनका बहुत प्रभाव था।

बड़े भाई ने भोंपू सँभाला। गाँव-गाँव घूमकर प्रचार करने लगे। रात के 9-10 बजे निश्चिन्त हो लोग जब अपने घरों में रहते, उसी समय किसी टेकरी पर बड़े भाई भोंपू लेकर खड़े हो जाते। भोंपू से बोलने की कला में वह निपुण हो गये थे, और लाउडस्पीकर से भी ज्यादा स्पष्ट उनकी आवाज सुनाई देती थी। चढ़ाई-उतराई से दस-दस मील पर जो गाँव थे, वहाँ तक उनकी आवाज पहुँचती थी। बड़े भाई बोलते–"मैं चन्द्रसिंह गढ़वाली हूँ, आपकी जिन कठिनाइयों को मैंने देखा है, उन्हीं का खयाल करके मैं विधान-सभा में जाना चाहता हूँ!" लोग अपने छज्जों पर बैठे सुनते। बड़े भाई पूछते–"यदि आप लोग मेरी बातें सुन रहे हैं, तो छज्जों पर से लालटेनें हिलायें।" लालटेनें हिलने लगतीं। बड़े भाई जान जाते, कि गाँव के लोग मेरा व्याख्यान सुन रहे हैं। दो-दो घंटा व्याख्यान देते। फिर पूछते–"आपको मेरी बातें मंजूर हैं, तो लालटेनें हिलायें।" लालटेन हिलाकर लोग अपनी स्वीकृति देते।

कांग्रेसी उम्मीदवार के पास रुपया था, उसके लिए कांग्रेस के सारे स्वयं-सेवक और छोटे-मोटे नेता प्रचार कर रहे थे। डिमरी साहब के भी सैकड़ों कार्यकर्ता घूम रहे थे। यद्यपि गढ़वाल में कम्युनिस्ट पार्टी का काम बहुत नहीं हुआ था, लेकिन वह यदि पार्टी की तरफ से उम्मीदवार खड़े हुए होते, तो उन्हें कुछ कार्यकर्ता अवश्य मिले होते। बड़े भाई ने बड़ी कोशिश की कि आपस में समझौता करके एक को रखकर बाकी उम्मीदवार हट

जायँ। उन्होंने डिमरी जी से कहा भी—"यदि आप नहीं हटना चाहते हैं, तो मैं हटने के लिए तैयार हूँ, लेकिन एक सभा करें, जिसमें इसे घोषित किया जाय। ऐसा न करने पर प्रचार किया जायेगा कि डिमरजी से पैसा लेकर मैं हट गया।" शायद डिमरीजी जरूरत से अधिक विश्वास रखते थे कि मैं अकेला ही कांग्रेस उम्मीदवार को अच्छी तरह हरा दूँगा। जिस समय गढ़वाल में चुनाव हो रहा था, उससे पहिले उत्तर प्रदेश के मैदानी जिलों का चुनाव हो चुका था, और विरोधियों को बुरी तरह से हराकर कांग्रेस का भारी बहुमत हो चुका था। अब कांग्रेसी उम्मीदवारों की ओर से प्रचार करने के लिए नेता लोग पहाड़ में आ गये थे। यह निश्चय ही था कि पंतजी मुख्यमन्त्री होंगे। वह कर्णप्रयाग से होकर पौड़ी लौटे। रावत होटल में उनके भोजन का प्रबन्ध था। बड़े भाई ने चुनाव-सम्बन्धी माँगों की एक कापी उनके पास भेज दी। वह इस प्रकार थी—

"पूज्य पंतजी से

1. क्या आप गढ़वाल में सिवा वोट माँगने के कभी गढ़वाली जनता के कष्टों को दूर करने भी आये ?
2. पिछले चुनाव में आप श्री गैरोलाजी के लिए वोट माँगने आये थे। क्या उन्होंने गढ़वाल की कोई सेवा की ?
3. क्या यह सच नहीं कि आपकी सरकार के सिर्फ 5,000 रुपये की धन-राशि पुल जोड़ने के लिए पी. डब्लू. डी. को न देने पर सतपुली काण्ड हुआ ?
4. क्या आपकी सरकार ने पेशावर-कण्ड तथा आई. एन. ए. के दुःखी सैनिकों को राजनीतिक पीड़ित माना ? अगर नहीं तो उसकी वजह क्या है ?
5. आपकी सरकार ने जिस प्रकार अल्मोड़ा, नैनीताल में विकास-कार्य किये, क्या गढ़वाल के लिए भी कुछ किया ?
6. आपकी सरकार ने कर्णप्रयाग और पौड़ी से कॉलेज उठाकर नैनीताल और मैसमोर को दिये हैं, क्या गढ़वाल इस काबिल न था कि गढ़वाल में एक अच्छा कॉलेज हो ?
7. क्या आप अल्मोड़ा तथा नैनीताल की मोटर सड़कों को गढ़वाली सीमा तक पहुँचाने आये हैं, ताकि गढ़वाल की मोटर सड़कें वहाँ से शुरू की जा सकें ?
8. क्या आप इस वक्त गढ़वाल में मरोड़ा डाम तथा कोई और डाम की योजना लेकर आये हैं ?
9. क्या आपने हल्द्वानी तथा तराई-भाबर के गोविन्द नगर की तरह कोटद्वार भाबर में ट्रैक्टरों से जमीन साफ करवाकर गढ़वाल के भूमि-रहितों को भूमि दिलाने की कोशिश की ?
10. क्या आपने दूदातोली के विकास व लथोली तहसील के लिए, जिस पर गढ़वाल का विकास निर्भर है, कभी कोई औद्योगिक बजट पास किया ?
11. रामनगर-वीरोखाल, थलीसैंण-पौड़ी-देवप्रयाग, तथा थलीसैंण-कर्णप्रयाग मोटर-सड़कें जिनकी मंजूरी हो चुकी हैं, उनका अभी तक एलाइनमेन्ट क्यों नहीं किया गया ?
12. क्या आपकी सरकार से यही हो सका कि निःशुल्क शिक्षा के बजाय फीस दुगुनी कर दी ? घराटों पर दुगना टैक्स व लगान के रुपये पर 6 पैसे बढ़ोतरी व दूकानदारों पर भारी टैक्स से क्या गरीब जनता का शोषण नहीं हो रहा है ?
13. रानीखेत में जब गरीब ढाकरी नमक लेने गये, तो नमक के बजाय उनको हवालात भेज दिया, क्या सरकार का यही कर्तव्य है ? मैंने जो रानीखेत में अकाल के समय जनता की सेवा की थी, क्या उसी के फलस्वरूप गढ़वालियों को हवालात में रखा गया ?
14. गढ़वाल में जो मोटर-दुर्घटना होती है, क्या उसकी जिम्मेदारी सरकार पर नहीं है ?

—चन्द्रसिंह गढ़वाली"

पंतजी ने गढ़वालीजी को बुलाकर कहा—"चन्द्रसिंहजी, मैंने आपकी कौन-सी बात नहीं मानी, जो कि आप हमारा इतना विरोध कर रहे हैं ?"

"आप जबानी तो मान लेते हैं, लेकिन कार्यरूप में कुछ नहीं होता।"

जिस स्थिति में बड़े भाई चुनाव लड़े थे, और कांग्रेसी और दूसरे उम्मीदवार जिस तरह साधन-सम्पन्न थे, उसे देखते जितने वोट उन्हें मिले थे, वह आश्चर्यकर था। पौड़ी के इलाके में बड़े भाई को 7714 वोट मिले थे, जबकि जीतनेवाले कांग्रेसी उम्मीदवार को वहाँ एक ही हजार वोट मिले। उनके हारने का कारण चमोली इलाके के वोट थे, जहाँ उन्हें केवल 700 वोट मिल सके। जीतनेवाले उम्मीदवार को 14 हजार, डिमरी जी को 10 हजार के करीब, बड़े भाई को 8000 और पुजारी जी को 3000 वोट मिले थे। इस हार के बाद उम्मीदवारों ने अनुभव किया कि स्वतन्त्र रूप से लड़कर हम कांग्रेस के सामने जीत नहीं सकते, हमें संयुक्त मोर्चा बनाना चाहिए, और किसी पार्टी का सहारा लेना चाहिए। बड़े भाई यद्यपि उस समय पार्टी से बाहर थे, लेकिन तब भी वह पार्टी के थे। अगर वह और कम्युनिस्ट उम्मीदवार मिल गये होते, तो 11000 हजार वोट तो बने-बनाये थे, और अधिक साधन-सम्पन्न होने से प्रचार ज्यादा होता जिससे और भी वोट मिलते।

फिर पार्टी मेम्बर

1952 के आखिर में कोटद्वार में पार्टी का संगठन हुआ। किसान-सभा स्थापित होकर काम करने लगी। इसी सम्बन्ध में कामरेड पी. सी. जोशी कोटद्वार आये। उनका वहाँ भाषण हुआ। लोग उसे सुनकर मुग्ध हो गये। आज भी वह उन्हें याद करते हैं। बड़े भाई पेशावर-कांड के सैनिकों को पेन्शन दिला चुके थे। उन्हें आशा नहीं थी कि वह इस सम्बन्ध में और कुछ कर सकेंगे, इसलिए उन्होंने निश्चय किया कि अब पार्टी से बाहर रहना अच्छा नहीं है। उन्होंने मेम्बरी के लिए दर्खास्त दी, पार्टी ने सहर्ष मंजूर कर लिया। बड़े भाई विचारों से तो जन्म-भर के लिए कम्युनिस्ट थे ही, अब मेम्बरी भी उनकी जन्म-भर के लिए हो गई।

जिले के हरेक लोकोपयोगी काम में उन्हें आगे रक्खा जाता है। सहकारी संघ, पुनर्वास समिति, प्लानिंग समिति, बेकारी संघ, मद्यनिवारक संघ सबके वह सरगर्म मेम्बर हैं।

इस इलाके में पीने के पानी की बड़ी तकलीफ थी, जो पानी मिलता भी था, वह अस्वास्थ्यकर और अपर्याप्त होता था। पहाड़ में ध्रुवपुर से चार मील पर रिगड़ीसोत नाम का एक पहाड़ी चश्मा है। वहाँ से पानी ले आने की योजना बनाकर बड़े भाई ने एक कमेटी बनाई। कमेटी के प्रधान वह स्वयं हुए। आन्दोलन किया जाने लगा। पंतजी के पास डेपुटेशन ले गये। अन्त में सरकार ने योजना मंजुर की, 1954 में रिगड़ीसोत से तीन इंच मोटा नल द्वारा चौदह गाँवों (तल्ला-मल्ला सकरौड़) और कोटद्वार बाजार में पहाड़ का निर्मल पानी लाया गया। लोग गन्दे पानी पीकर गर्मियों में पेचिश और बरसात के बाद मलेरिया से मरते थे, अब उससे बचाव हो गया।

शिक्षा की भी हालत वहाँ बुरी थी। लालपुर में प्राइमरी स्कूल खोलने के लिए आन्दोलन किया। प्लानिंग कमेटी ने पाँच सौ रुपये दिये। जनता ने श्रमदान दिया। 2,500 रुपये लगाकर स्कूल की इमारत बना दी गई। स्कूल के लिए चार बीघा जमीन मिली, और सरकार को 40 बीघा और देने के लिए लिखा गया। 1954 में यह स्कूल खुल गया। स्कूल में 50 से ऊपर विद्यार्थी पढ़ते हैं। अध्यापक को 60 रुपया वेतन जनता दे रही है, जिसको बराबर देते जाना मुश्किल है। भाबर के सारे स्कूल निःशुल्क हैं, यदि इसमें फीस लगाई जाय, तो लड़के नहीं आयेंगे। अफसरों ने सिफारिश की कि इसे सरकार ले ले। सब होने पर भी कांग्रेसवाले नहीं चाहते थे कि बड़े भाई के प्रयत्न से जो स्कूल खुला है, वह जीवित रहे। वह इस बात की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि पैसे के अभाव में स्कूल बन्द हो जाय, फिर इसे लिया जाय।

आर्थिक स्थिति–बड़े भाई का जीवन संघर्षमय रहा है, यह हम देख चुके हैं। शायद वह परिवारवाले न होते, तो इतने भीषण आर्थिक-संघर्ष से उन्हें मुकाबला न करना पड़ता। उन्होंने ध्रुवपुर में खेत बनाकर इसीलिए रहना स्वीकार किया था कि उससे परिवार की ओर से निश्चिन्तता हो जायगी। 22 बीघे (पौने चार एकड़) खेत वह तैयार कर चुके हैं, जो सभी धान के उर्वर खेत हैं। इनमें हंसराज, बासमती आदि अच्छे किस्म के चावलों की खेती हो सकती है, लेकिन ज्यादातर अंजना धान ही पैदा किया जाता है। 280 रुपये में वह बैल की जोड़ी लाये थे, जिसमें एक मर गया। एक और लाये तो पहली जोड़ी का दूसरा भी मर गया। अब दो

बूढ़े-बूढ़े बैल रह गये हैं। दो गायें हैं, जिनमें से एक कुर्क हो चुकी है। सब मिलाकर आठ ढोर हैं। घर में चार बच्चे, पति-पत्नी तथा एक काम करनेवाले आदमी को मिलाकर सात व्यक्ति खानेवाले हैं। खेती को बिल्कुल असफल भी नहीं कहा जा सकता। पिछले साल धान इतना पैदा हुआ, कि उनमें से 24 रुपये का उन्होंने बेचा भी, लेकिन दाल-आटा, तेल-घी सब खरीदना पड़ता है। फिर बड़े भाई का नाम बड़ा है, मिलने-जुलनेवाले आते रहते हैं। उनका सत्कार करना भी आवश्यक है। खेती अभी सब खर्च चलाने के काबिल नहीं है। पेन्शन में 16 रुपये मिलते हैं, जिससे साल में 192 रुपये की आमदनी हो जाती है। यात्रा के समय में बदरीनाथ कमेटी को अपना एक आदमी कोटद्वार स्टेशन पर रखना पड़ता है, जो 15 मई से 15 अगस्त तक यात्रियों के आराम का इंतिजाम करता है। बड़े भाई के लिखने पर कमेटी ने यह काम उनके सुपुर्द कर दिया, जिससे साल में डेढ़ सौ रुपये और मिल जाते हैं। तीन सालों से वह यह काम कर रहे हैं।

हो सकता है खेती की हालत बेहतर हो जाय, लेकिन पौने चार एकड़ जमीन से निश्चिन्त होकर वह अपना जीवन कैसे चला सकते हैं ?

बड़े भाई को जब पहली लड़की पैदा हुई, तो बीवी का आग्रह था एक तो लड़का जरूर होना चाहिए, लेकिन भगवान के पास उनकी सिफारिश नहीं लगी। उन्होंने दूसरी भी लड़की भेज दी। लड़के की लालसा को पूरी करता एक लड़का हुआ। फिर बड़ी लड़की ने कहा—"यह तो एक भूला (भाई) है।" दोनों बहनों के लिए सचमुच ही एक-एक भाई चाहिए, और 30 अक्तूबर, 1953 ई. को दूसरा भाई भी आ गया। बड़े भाई को सबसे बढ़कर जो चिन्ता है, वह अपने बच्चों की। माधवी 14 साल की है। पढ़ने-लिखने में अच्छी है, कोटद्वार में आर्य कन्या पाठशाला में पढ़ती थी। फीस नहीं दे सके, तो स्कूलवालों ने एक महीने की मुहलत दी। फिर नोटिस आया—"अगर फीस नहीं देंगे तो नाम खारिज कर दिया जायगा।" यह बात वर्मा सेल कम्पनी के मैनेजर प्रकाशचन्द्र को मालूम हुई। उन्होंने फीस के साढ़े बारह रुपये दे दिये। स्कूलवालों को भी कुछ ख्याल आया, उन्होंने आधी फीस माफ करके सवा छह रुपये ही लिये। माधवी सातवाँ दर्जा पास हो गई। अब आगे क्या किया जाय ? फीस भी और किताब का दाम भी चाहिए। इसी समय ठाकुर नरेन्द्रसिंह भण्डारी आये। वह लड़की को अपने पास पौड़ी ले गये। वहाँ वह एक स्कूल चला रहे थे, जिसमें माधवी को भरती कर अपने घर में रखकर खाना-कपड़ा देते रहे। आठवें दर्जे में पास हो गई। नवें दर्जे में उसे गर्ल्स हाई स्कूल में दाखिल किया गया। फीस माफ कर दी गई है और भण्डारी जी लड़की को अपने यहाँ रखकर पढ़ा रहे हैं। दूसरी लड़की तीसरे दर्जे में पढ़ रही है, और बड़ा लड़का दूसरी में। गाँधीजी के नाम पर हमारे देश के ऊपर बेसिक स्कूल की बला लादी गई है। पहिले दो-एक आना फीस लग जाया करती थी, अब सिलाई के लिए कपड़ा खरीदकर लाओ, पिकनिक के लिए घर से घी-आटा-चावल लाओ। हर महीने हरेक बच्चे के लिए दो-एक रुपये का नुस्खा आ जाता है। सारे देश में लोग इस बेसिक स्कूल की बला के कारण त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। इस आर्थिक कठिनाई में बड़े भाई के लिए बच्चों को पढ़ाना और भी मुश्किल पड़ रहा है।

पत्नी भागीरथी में बहुत गुण हैं, लेकिन जिन आर्थिक संकटों के भीतर से उन्हें परिवार की गाड़ी चलानी पड़ रही है, उसके कारण यदि मिजाज में चिड़चिड़ापन आ जाय तो अचरज की बात नहीं। कितनी ही बार बड़े भाई को वैसा ख्याल आता है, पर इस जीवन का अन्त कर देने पर भी तो छुट्टी नहीं। कहते हैं—"मैं 65 वर्ष का हूँ, एक तरह से जीवन के दूसरे छोर पर पहुँच गया। अगर मैं अपने बच्चों को पढ़ा-लिखा नहीं सका, तो वह न जाने कौन-सा रास्ता पकड़ेंगे, और मेरे नाम को उज्ज्वल या कलंकित करेंगे।" उनके मित्रों का आग्रह हुआ कि आप सरकार के पास सहायता के लिए लिखें। 20 सितम्बर 1954 को बड़े भाई ने निम्न चिट्ठी लिखी—

"सेवा में,

माननीय मुख्यमन्त्री महोदय,
उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ।

पूज्य महोदय,

1. मेरी आर्थिक हालत बहुत खराब हो गई है। मेरे पास कोटद्वार खाम भाबर के मल्ला सुकरौड़ में 30

बीघा जमीन विना सिंचाई की है, जो बिलकुल आमदनी रहित व कम है। अगर उसमें किसी साझीदार (तिहाड़ी को) वैठाना चाहूँ, तो कोई राजी नहीं होता, क्योंकि न तो उसमें सिंचाई का ही प्रवन्ध है और न उस पर अब तक धनाभाव के कारण खोड़-दाड़ कर पाया हूँ। इसके अलावा, इस जमीन पर दो कुटुम्बों का पालन-पोषण भी नहीं कर सकता। अगर मैं खुद भी खेती करना चाहूँ तो मेरी और मेरी स्त्री की उम्र, स्वास्थ्य अव श्रम करने के लिए जवाब दे चुके हैं। मेरे चार बच्चे 12, 8, 6, और 2 वर्ष के हैं। बड़ी लड़की कक्षा 8 में पढ़ती है और छोटे प्राइमरी स्कूल में हैं।

2. आमदनी के नाम से मुझे 16 रुपये पेन्शन मिलती है, जो जमीन की लगान में, डंगरों की चराई वगैरह ऊपरी खर्च में व्यय हो जाया करती है।
3. मलेरिया बुखार से मेरा कुटुम्ब विलकुल पीड़ित है, उनके लिए दवाई व खुराक की सख्त कमी है। दूध व फल तो क्या, नमक-मिर्च भी नसीब नहीं है।
4. मेरे ऊपर 1400 रुपये का कर्ज हो चुका है। साहूकार तकाजा लगाये बैठे हैं। इसको मैंने ऊपरोक्त नई तोड़ जमीन को आवाद करने व झोंपड़ी आदि बनाने, वैल-खेती के औजार वगैरह खरीदने में खर्च किया।

अव मेरी दशा निम्नलिखित है–

1. झोंपड़ी वर्षा से टूट चुकी है, जो पानी बाहर पड़ता वही भीतर आ रहा है।
2. कपड़ा-वर्तन जर्जर हो चुके हैं। खाने-पकाने के वर्तनों में कई छेद हो चुके हैं। एक बैल मर गया था, उसके स्थान पर दूसरा खरीदा, वह भी जवाब देनेवाला है। गढ़वाल में अन्न-अकाल है। मैं भी उसका शिकार हूँ। इसलिए मैं आपकी शरण आया हूँ। आप मेरी यथोचित सहायता करें, तो मेरा आखिरी जीवन सुख से व्यतीत हो सकेगा। आप जो भी उचित हो, सहायता दें।

भवदीय,
चन्द्रसिंह गढ़वाली

ता. 20-9-54.

ग्राम ध्रुवपुर, खाम भावर, कोटद्वार,
गढ़वाल

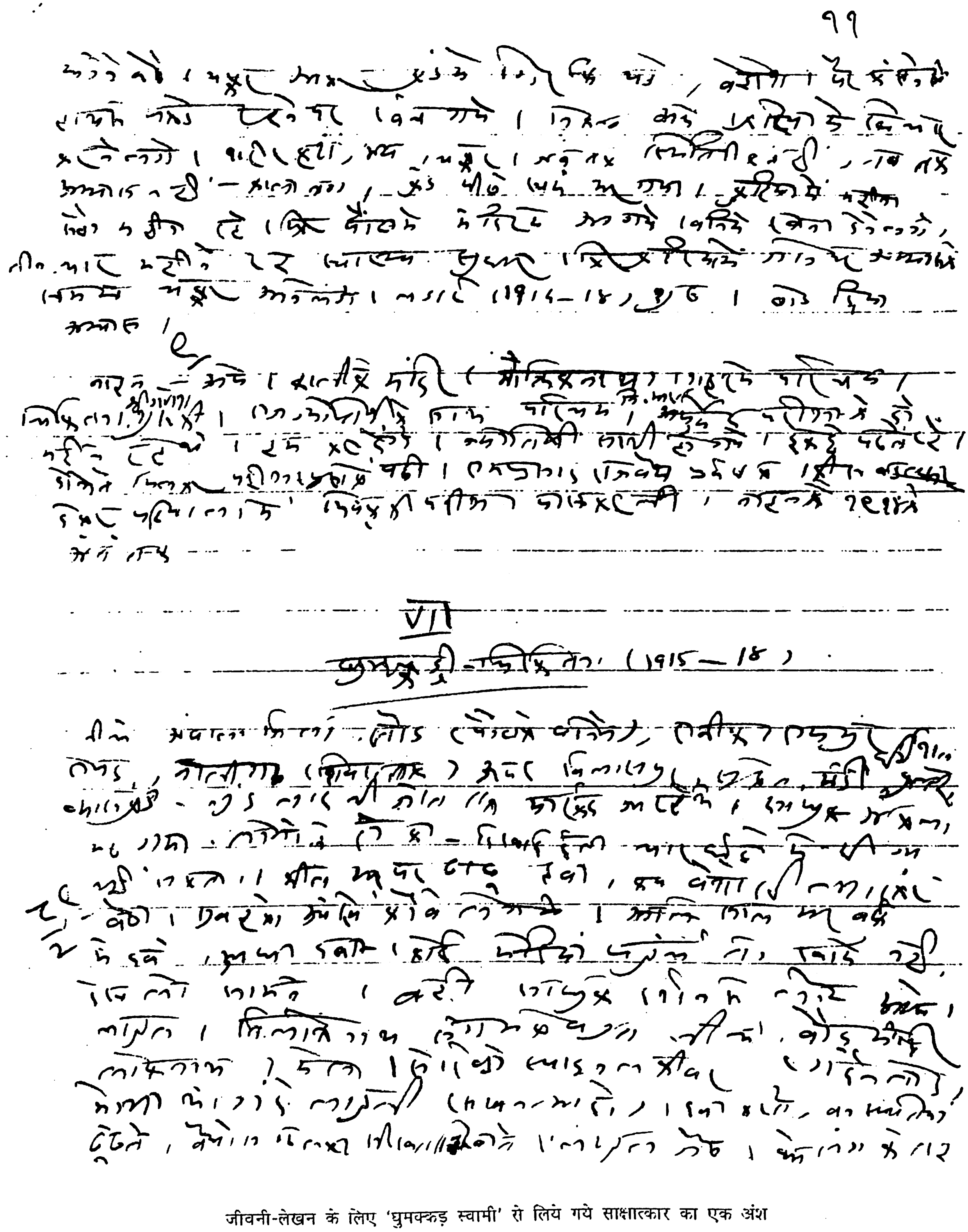
सितम्बर की भेजी चिट्ठी का दस महीने बाद यह परिणाम निकला, कि 25 जुलाई 1955 को उत्तरप्रदेश सरकार ने लिखा कि राज्यपाल को इसके लिए बड़ी प्रसन्नता है कि चन्द्रसिंह गढ़वाली को अब 14 रुपया मासिक आजीवन पेन्शन दी जायेगी।

यह जले पर नमक छिड़कना था। भला आजकल के जमाने में 14 रुपये से क्या बनता है ? बड़े भाई ने 16 अगस्त 1955 को सरकार को चिट्ठा लिखकर इस पेंशन को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। यह खबर समाचार-पत्रों में भी प्रकाशित हुई। बड़े भाई की चिट्ठी का कुछ अंश निम्न प्रकार है–

"··· मेरी उमर 65 साल की है। आपने 14 रुपये मुझे पेंशन दिये हैं। क्या मैं यह समझूँ कि हमारे गणतन्त्र राज्य ने मेरे लिए अन्तिम कार्य के लिए उपरोक्त पेंशन ही उचित और काफी समझी···? मैं आपके भेजे हुए पेंशन के पत्र को वापस करता हूँ···। क्षमा।"

बड़े भाई की यह जीवनी हमारे पाठकों, देश के और भावी सन्तानों के सामने है। वह देखेंगे कि जिन्दा शहीदों के साथ हम कैसा वर्ताव कर रहे हैं, उनके अन्तिम जीवन को कैसा बना रहे हैं ? क्या ऐसे पुरुष के बच्चों की शिक्षा-दीक्षा की जिम्मेवारी सरकार को नहीं लेनी चाहिए ? यदि इन्हें छात्रवृत्ति नहीं दी जाती तो उनसे बढ़कर कौन उसका पात्र है ? यदि बड़े भाई के परिवार को वृत्ति नहीं दी जा सकती, तो दूसरा कौन उसका हकदार हो सकता है ? उनको इतनी निश्चिन्तता अवश्य होनी चाहिए कि वह अपने शेष जीवन को शान्ति और सम्मान के साथ विता सकें, अपने यहाँ आनेवाले अतिथियों की खातिर कर सकें।

घुमक्कड़ स्वामी



जीवनी-लेखन के लिए 'घुमक्कड़ स्वामी' से लिये गये साक्षात्कार का एक अंश

1

बाल्य (1889-1905 ई.)

आयु-वर्ष 16

कानपुर आज उत्तरप्रदेश का सबसे बड़ा शहर और उत्तरी भारत की औद्योगिक राजधानी है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह आज से डेढ़ सौ साल पहिले भी कोई प्रसिद्ध बस्ती थी। कानुपर की सारी माया आधुनिक यातायात के साधनों और अंग्रेजी शासन की देन है। कितने ही लालबुझक्कड़ कानपुर कहकर इसको यह सम्भ्रान्त नाम देना चाहते हैं। लेकिन कानपुर कर्णपुर से नहीं, बल्कि कैम्प या कम्पू का बिगड़ा रूप है। वहाँ अंग्रेजी सेना का कैम्प था। कम्पनी के शासन में छावनियों को कैम्प या डिपो कहते थे।

18वीं शताब्दी के मध्य में पहुँचते-पहुँचते दिल्ली की मुगल सल्तनत छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। दरबार के प्रभावशाली अमीर सल्तनत के एक-एक भाग को दबाकर अपना स्वतन्त्र राज्य कायम कर रहे थे। इसी समय लखनऊ, मुर्शीदाबाद और हैदराबाद की नवाबियाँ कायम हुईं। मुर्शीदाबाद को अपने हाथ में करके अंग्रेजों ने अपने राज्य की नींव डाली। फिर लखनऊ को अंग-भंग करना शुरू किया। बचे हुए लखनऊ पर भी हर वक्त पूरी तौर से अंकुश रखने के लिए उन्हें एक ऐसे स्थान की आवश्यकता थी, जहाँ वह अपनी सेना रख सकें, और जहाँ यातायात की भी सुविधा हो। ऐसा स्थान कानपुर निकला था। गंगा के किनारे पर होने के कारण वहाँ सेना और रसद लेकर कलकत्ते से नावें पहुँच सकती थीं। कम्पनी की सेना के कैम्प के गड़ने से पहिले वहाँ कोई प्रसिद्ध गाँव भी नहीं था। 1857 ई. में विद्रोह के समय ही उसका रूप एक कस्बे-सा होने लगा था, क्योंकि सेना के लिए बाजार की आवश्यकता होती है। जब तक रेल यहाँ नहीं पहुँच गई, तब तक सस्ता यातायात का साधन गंगा थी, जिसके किनारे बसा मिर्जापुर अधिक व्यापारिक महत्त्व रखता था। वहाँ सरगुजा तक के बंजारे बैलों पर लाख, कपास और दूसरी चीजें लादे पहुँचते थे। पश्चिम और उत्तर से भी माल वहीं जाता था। मिर्जापुर तब एक बड़ा वैभवशाली नगर था। रेल आने पर कानपुर, झाँसी, लखनऊ और पश्चिम के व्यापार और यातायात का केन्द्र बन गया। उद्योग-धन्धे के खड़े होते ही इसकी दिन-दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी, और मिर्जापुर से रूठकर लक्ष्मी यहाँ पहुँच गई।

पहिले यहाँ छोटी रेल लखनऊ तक बनी। फिर बड़ी रेल आई। बड़ी रेल के आ जाने पर उसे छोटी रेल के नजदीक जाने के लिए पुल और सड़क बनी। सड़क और रेल के बीच लक्ष्मीपुरवा, ठठेराबाजार और एक बहुत बड़ा मैदान पड़ता था। इसी मैदान के आस-पास विद्रोह के बाद कुछ मकान बनने लगे। स्थान को गल्लामण्डी के अनुकूल समझकर कुछ व्यापारी वहाँ बस गये। वहाँ अनाज, घी और दूसरे सामान के गोले थे, इसलिए उस स्थान का नाम गल्लामण्डी पड़ गया। बड़ी रेल के पास बसे होने के कारण उसे लोग रेलगंज कहने लगे, जो आज तक इसी नाम से प्रसिद्ध है। इसके कारण कानपुर की दूर-दूर तक ख्याति बढ़ी और जगह-जगह से व्यापारी आकर वहाँ बसने लगे।

पूर्वज–पं. पीताम्बरदास उन्नाव जिले के मंगतखेर-मझकुरिया नामक एक छोटे-से गाँव के रहनेवाले थे। गाँव के कुछ व्यापारी कम्पू का नाम सुनकर वहाँ पहुँच दूकान करने लगे। अच्छी कमाई थी, उनके मुँह से गाँव में कम्पू की चर्चा सुनकर पीताम्बरदास का मन भी ललचाया। उनके पास जीविका के साधन कुछ खेत थे, और कुछ चिकित्सा से भी कमा लेते थे। वह अपने इकलौते लड़के मुन्नीलाल को गाँव में छोड़कर कम्पू चले आये। गाँव के बनिये ने सलाह दी और एक दूकान किराये पर लेकर घी का कारबार शुरू किया। वह गाँवों से आये घी को लेकर उसे साफ करके कनस्तरों में भरके हाथरस, खुरजा आदि के व्यापारियों के हाथ बेच दिया करते थे। इस प्रकार गदर से 12-13 वर्ष बाद 1869 या 1870 में पीताम्बरदास लक्ष्मी-सिन्धु के किनारे धूनी रमाकर बैठ गये। व्यापार चमका। फिर वह अपने बेटे मुन्नीलाल को भी गाँव ले आये। दोनों ने दो वर्ष में काफी पैसा कमाया, और वहीं कुछ जमीन खरीद ली। उस वक्त जमीन मिट्टी के मोल थी। सोने के मोल होने में अभी देर थी। उसी जमीन पर बाप-बेटों ने धीरे-धीरे एक दूकान और रहने के लिए उसके ऊपर चौबारा बना लिया।

मुन्नीलाल की शादी भी हो गई। 1874 में उनके लड़का पैदा हुआ। प्रसूत-ज्वर में स्त्री चल बसी, और शिशु भी दो-चार दिन संसार में रहकर माता का अनुगामी हुआ। पैसेवाले को शादी की क्या कमी थी। 1876 में मुन्नीलाल की दूसरी शादी हुई। एक वर्ष बीतते-बीतते पं. पीताम्बर बीमार पड़े और तीसरे दिन ही पुत्र और वधू को छोड़कर चल बसे। मुन्नीलाल अब अकेले रह गये। वह अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। अपने व्यवसाय के लिए उसकी अधिक आवश्यकता भी नहीं थी। हिन्दी, कुछ उर्दू, कुछ टूटी-फूटी संस्कृत जानते थे; लेकिन, बड़े धर्मभीरु जीव थे। साधुओं की सेवा करते, ठाकुर-पूजा और रामायण का पाठ कुल-धर्म समझकर नित्य करते थे। साधुओं के सत्संग में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। बाबा गोपालदास उनके गुरु थे, जो साल में एकाध बार अवश्य अपने शिष्य के यहाँ फेरा लगा जाया करते थे। घी के कारबार से मुन्नीलाल को अच्छी आमदनी थी ही, साथ ही देखा, गल्ला रखने के लिए गोदामों की भी माँग ज्यादा है, इसलिए पैसा कमाकर उन्होंने अपने मकान के हाते में एक गोदाम बनवा लिया, जो अच्छे किराये पर उठ जाता।

उस समय ब्राह्मणों में ब्याह बहुत छोटी उमर में हुआ करता, और छोटी लड़की का गौना (मुकलावा) माँ-बाप बहुत देर बाद किया करते थे। मुन्नीलाल तो 'आठ कनौजिये नौ चूल्हेवाले थे', इसलिए अपने हाथों चूल्हा फूँकना पड़ता था। अपने से ही रोटी बनाना और फिर व्यापार देखना अकेले आदमी के लिए मुश्किल था, इसलिए चाहते थे कि बीवी घर आ जाये, तो रोटी का सुख मिले। ससुरालवालों पर बहुत जोर देते रहे। 1886 में उनका गौना हो पाया।

जन्म–सन् 1889 का सावन का महीना था, जबकि मुन्नीलाल को एक पुत्र पैदा हुआ। प्रसूति-गृह और प्रसूता को जिस तरह गन्दी कोठरी और दूसरे अस्वास्थ्यकर परिस्थिति तथा साधनों में रक्खा जाता है, उसके कारण हमारे यहाँ बहुत-सी प्रसूताएँ अकाल ही में मर जाती हैं। दाइयाँ अशिक्षित होती हैं। उन्हें शुद्धता का कोई ख्याल नहीं रहता। गन्दे कपड़े, गन्दे हाथों और गन्दे औजारों से प्रसव कराती हैं, नाल काटती हैं। इसी का परिणाम होता है, आधी प्रसूता स्त्रियाँ सूत के रोगों में पड़कर प्राण खो देती हैं। मुन्नीलालजी की पहिली स्त्री भी इसी व्याधि से मरी थी। दूसरी स्त्री को भी वही व्याधि लगी। वह उसी वक्त से चारपाई पर पड़ी, तो आठ महीने बाद मरकर ही उससे उठी। पं. मुन्नीलाल ने बहुत चिकित्सा, सेवा-सुश्रूषा कराई। आठ महीने तक उन्होंने अपने काम-काज की खबर नहीं ली। जो भी रुपया था, सब बीमारी में लगा दिया। होलियों के दिन थे। नगर के लोग अवीर-गुलाल खेलते मस्त थे। इसी समय मुन्नीलाल की जीवन-संगिनी ने साथ छोड़ दिया। उन्होंने बालक का नाम हरिश्चन्द्र रक्खा था।

आठ महीने के बालक को सँभालना और भी मुश्किल था। मुन्नीलाल उसे नानी के पास छोड़ आये। लेकिन बालक का दुर्भाग्य कहिये, ननिहाल में अकेली नानी थी। वह अकस्मात बीमार पड़ गई। दस महीने के हरिश्चन्द्र को पिता ने अपने साथ रखकर काम-धाम देखना शुरू किया। असाढ़ का महीना था, वर्षा आरम्भ होनेवाली थी। इसी समय महात्मा गोपालदास आ गये। मुन्नीलाल को बड़ी सान्त्वना मिली। महात्मा जब कभी

उनके पास आते, तो कुछ दिन अवश्य रहा करते, और कभी-कभी तो सारा चतुर्मासा वहीं बिताते। सन्त गोपालदास गोरे रंग के सुन्दर अच्छे डील-डौल के पुरुष थे। उनका माथा चौड़ा, नाक ऊँची, आँखें बड़ी-बड़ी और हाथ लम्बे थे, हरिश्चन्द्र, उन्हें कभी भूलनेवाले नहीं थे। वह सिर मुड़ाये गेरुआ वस्त्र पहने रहते। लेकिन किसी सम्प्रदाय के साधु नहीं थे, यद्यपि नाम से वैरागी वैष्णव और भेस से दसनामी संन्यासी मालूम पड़ते थे। रामायण, महाभारत आदि की कथाओं के कहने का उनका ढंग बहुत सुन्दर था। जब कहीं ठहर जाते, तो कोई न कोई कथा अवश्य शुरू कर देते। वह कुछ प्राणायाम भी करते थे, हठयोग की कितनी ही क्रियाएँ जानते थे। उस समय (19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में) उत्तरप्रदेश के पश्चिमी नगरों में आर्यसमाज का प्रचार हो रहा था। महात्मा गोपालदास किसी सम्प्रदाय के बन्धन में नहीं थे, तो भी आर्यसमाज के विचारों से प्रभावित मालूम होते थे। इस समय उनकी उमर 70 साल के आसपास थी।

इससे थोड़ा ही पहिले 1890 में गल्लामण्डी रेलगंज से उठकर कलक्टरगंज चली गई। मण्डी के कारण ही तो पं. मुन्नीलाल का गोदाम अच्छे किराये पर चढ़ जाता था। अब उसको कोई पूछनेवाला नहीं था। गोदाम ऐसे ही पड़ा हुआ था। उसके भीतर तीन-चार सौ आदमी बैठ सकते थे। सन्त गोपालदास की कथा सुनने के लिए बहुत आदमी आया करते थे। उसके लिए यह बहुत उपयुक्त स्थान था। मुन्नीलालजी ने गोदाम साफ करवा गुरु को वहीं ठहराया था। गोदाम का दरवाजा बाजार की पिछली ओर की गली में था, जिसके पीछे दो-चार छोटे-छोटे मकान थे। फिर बिलकुल खाली मैदान या जंगल था। पीछे इसी मैदान में एक बड़ी जूट मिल बनी।

मुन्नीलाल की गोद में बच्चे को देखकर महात्मा ने पूछा—"यह किसका बालक है ?" "आपका ही है" सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुए। उनका अपने शिष्य पर बड़ा स्नेह था। उस स्नेह के कारण अब बच्चे पर भी उनका वात्सल्य बढ़ा। दो-चार दिन ही में बालक बूढ़े सन्त के साथ हिलमिल गया।

बालकों का स्वभाव ही है चंचल होना। वह महात्मा के डण्ड-कमंडल को इधर-उधर लुढ़काता, पोथी-पत्रों को फाड़ता-फेंकता, सारा दिन ऊधम मचाये रहता। बाबा बालक की इस चपलता से कभी रुष्ट नहीं हुए, और न कभी उन्होंने झिड़का। यदि मना करना चाहते, तो बहुत प्यार से समझाते। ऐसे पुरुष को पाकर बालक अपने पिता को भूल जाये, तो आश्चर्य क्या ? बालक हरिश्चन्द्र के लिए बाबा गोपालदास ही माता और पिता, दोनों बन गये।

बाबा गोपालदास का अब शरीर इस अवस्था को पहुँच गया था, जबकि बहुत घूमने-घामने में अनुकूलता नहीं मालूम होती थी। उन्होंने अपने शिष्य के सामने जिक्र किया कि अब तो कहीं एक जगह कुटिया बनाकर रहना चाहता हूँ। मुन्नीलाल ने कहा—"महाराज, जहाँ इस समय आप विराजमान हैं, इसी स्थान को अपनी कुटिया समझिये। आपका यह तुच्छ सेवक कष्ट न होने देने की पूरी कोशिश करेगा।" बाबा गोपालदास के लिए यद्यपि पं. मुन्नीलाल सब कुछ करने के लिए तैयार थे, लेकिन उनके भक्त बहुत थे। वह उनके पास खाने-पीने की चीजें पहुँचाया करते थे। मुन्नीलाल स्वयं चूल्हा फूँकने लगे थे, इसलिए अपने गुरु के लिए दो फुलके और सेंक लेना उनके लिए कोई मुश्किल नहीं था। वर्षों का घनिष्ठ परिचय था। बाबा ने अपने शिष्य की बात स्वीकार कर ली।

बाबा अब पं. मुन्नीलाल के गोदाम को अपनी कुटिया बनाकर रहने लगे। वहीं उनका कथा-सत्संग चलता, जिसमें भक्त लोग शामिल होते। बाकी समय वह कुछ पढ़ते, और बालक हरिश्चन्द्र के साथ खेलते। धीरे-धीरे बच्चा कुछ तुतलाकर बोलने लगा। बाबा उसे अपने पास सुलाकर क-ख वर्णमाला और अंकों को बड़ी मीठी लय में सुनाकर उससे बुलवाते। ढाई वर्ष का होते-होते बच्चे को सौ तक गिनती और वर्णमाला के सारे अक्षर याद हो गये। चौथे वर्ष पर पहुँचने तक मिट्टी पर अँगुली से अक्षरों को लिखकर वह बाबा को दिखला दिया करता। पाँचवें वर्ष में तुलसी की चौपाइयों को मीठे स्वर से वह सुनाने लग पड़ा। सात वर्ष का होने तक बाबा ने बच्चे को इतनी हिन्दी पढ़ा दी थी कि वह 'हिन्दी बंगवासी' में से कुछ-कुछ पढ़ बाबा को देश-विदेश की खबरें सुनाने लगा। विद्या में इस तरह उसकी प्रगति देखकर पिता और बाबा दोनों बड़े प्रसन्न थे। उस

समय उत्तरप्रदेश में उर्दू का बोलवाला था। कचहरियों में हिन्दी की कहीं पूछ नहीं थी, और न नौकरियों में उससे सुभीता था। पं. चुन्नीलाल ने उर्दू पढ़ने के लिए हरिश्चन्द्र को पास के मदरसे में एक मौलवी के पास बैठा दिया। एक वर्ष में कायदा और फारसी का करीमा समाप्त किया। 'खालकवारी' में हाथ लगाया था कि पिता को खयाल आया, उर्दू से ज्यादा कीमत अंग्रेजी की है, इसलिए उन्होंने मदरसे से निकालकर हरिश्चन्द्र को अंग्रेजी स्कूल में भर्ती कर दिया। जोड़, बाकी, गुणा-भाग और हिन्दी-उर्दू का ज्ञान काफी होने से लड़के को छठी क्लास में भर्ती किया गया। 11वें साल (1900 ई) में हरिश्चन्द्र ने मिडिल पास कर लिया। पिता और बाबा दोनों ही बड़े धार्मिक प्रवृत्ति के थे। वह नहीं चाहते थे कि उनके बच्चे पर दूसरे लड़कों का बुरा प्रभाव पड़े। लड़के खिलाड़ी और शरारती होते ही हैं। वह हरिश्चन्द्र को भी अपने साथ लें जाते। कभी उन्हें पतंग उड़ाते देखा गया, कभी तास या पैसे-कौड़ी का खेल खेलते। एक दिन पतंग उड़ाते हुए आँखें आसमान पर टँगी थीं और पैर धरती पर दौड़ रहे थे। हरिश्चन्द्र ने गड्ढे में गिरकर अपनी कोहनी तुड़ा ली, जिसके ठीक होने में तीन महीने लगे। लेकिन हरिश्चन्द्र, इससे हताश क्यों होने लगा ? स्कूल कुछ दूर था। घर से स्कूल जाते, रास्ते ही में खिलाड़ी लड़कों की मंडली घेरकर उसे अपने साथ कर लेती। स्कूल की गैरहाजिरी का पता पं. मुन्नीलाल को लग गया, और उन्होंने खूब पीटा। एक दिन शाम हो गई, और लड़का अभी भी स्कूल से नहीं आया! चारों ओर ढूँढ़ने पर कहीं नहीं मिला। अगले दिन दोपहर को घर आया। बाप की आँख बचाकर भीतर जाना चाहा। पिता उस वक्त चूल्हे में रोटी सेंक रहे थे। देखते ही उनका पारा गरम हो गया, और चूल्हे में से जलती लुआठी निकालकर उससे मारा। वह पैर में जोर से लगी और घाव हो गया। चोट को देखकर बाबा मुन्नीलाल पर बहुत नाराज हुए। बाबा तो सदा अपने शिष्य से कहा करते थे—"लाल ने बहवो दोषाः ताडने बहवो गुणाः।" फिर यदि बहुत दोषवाले लाड़-प्यार को छोड़कर पिता ने बहुत गुणवाले ताड़न का आश्रय लिया, तो उनका क्या कसूर ? इस घाव से हरश्चिन्द्र को यह फायदा हुआ कि कुछ दिनों के लिए स्कूल से छुट्टी मिल गयी।

1901 का सन् था। हरिश्चन्द्र अब 12 वर्ष का हो गया। और देर तक यज्ञोपवीत को रोकना अच्छा न समझकर हरिश्चन्द्र का जनेऊ कर दिया गया। स्कूली लड़कों के साथ लड़के को बिगड़ते देखकर बाबा ने सलाह दी कि उसे स्कूल से हटा लो। हरिश्चन्द्र का इससे अनिष्ट हुआ, यह कहना मुश्किल है। बहुत से माता-पिता लड़कों को ठोंक-पीटकर एक साँचे में ढालना चाहते हैं, यद्यपि उनमें से बहुतेरे उलटे रूप में ही सफल होते हैं। लड़के अपने समवयस्कों से यदि दुर्गुण सीखते हैं, तो काम की बातें भी वह उन्हीं से ज्यादा सीख सकते हैं। लड़कों में रहकर ही वह साहस के कामों की आदत लगाते हैं। यदि हरिश्चन्द्र को स्कूल से उठाया नहीं गया होता, तो वह कुछ वर्षों में हाईस्कूल पास कर लेते। सम्भव है, उच्च शिक्षा का भी रास्ता उनके लिए खुल जाता।

अब पढ़ने के लिए रास्ता यही था कि बाबा गोपालदास के पास संस्कृत पढ़ें और घर की विद्या वैद्यक को भी कुछ हासिल करें। बाबा 'सारस्वत चन्द्रिका' पढ़े हुए थे और वैद्यक का भी ज्ञान रखते थे। उन्होंने अपने अन्तेवासी को वैद्य बनाने का निश्चय किया। बाबा गोपालदास चिकित्सा का व्यवसाय नहीं करते थे। पर रोगी आते रहते थे, जिन्हें वह मुफ्त दवाएँ दिया करते। जो रोगी आता, उसी से दवा की सब चीजें मँगा लेते, उसी के हाथ से औषधि तैयार कराते। जितनी दवा रोगी के काम आने से बच जाती, उसे वह गरीब रोगियों को दिया करते। बाबा के पास सदा ही कोई न कोई दवा बना ही करती, और कोई न कोई आदमी दवाई के घोटने में लगा रहता। वह जड़ी-बूटियों ही की दवा नहीं जानते थे, बल्कि धातुओं की भस्में और पारे के योग से बननेवाले रसों को भी तैयार कराते थे।

बावा गोपालदास सबेरे घूमने के लिए जाते समय हरिश्चन्द्र को भी उठाकर साथ ले जाते। घर से आठ मील पर एक पक्का तालाब था। वहीं गुरु और चेले का स्नान होता। तालाब में बाबा ने हरिश्चन्द्र को तैरना सिखला दिया था, जिसका अभ्यास उसने और भी अधिक बढ़ाया। घर पर किसी धातु की भस्म बनाने के वास्ते यदि वनस्पति के रस की भावना देने की आवश्यकता पड़ती, तो वहीं जंगल से हरि से उखड़वाकर साथ

लाते। जंगल में आक, धतूरा, औंधीझाड़ा, पुनर्नवा, पथरचटा, मकोय, काकजंघा, गिलोय, प्रसारणी आदि अनेक प्रकार के वनस्पति थे। इनको उखाड़ते वक्त हरि की जिज्ञासा हो उठती, तो बाबा उनके नाम, गुण, धर्म सारी बातें समझाकर बतलाते। व्यावहारिक शिक्षा से हरि की रुचि वनस्पतियों के बारे में विशेष जानने की हो गई, जो आगे उसके लिए बहुत काम आई।

बाबा ने हरि को 'सारस्वत' और 'अमरकोश' एक साथ पढ़ाना शुरू किया। सबेरे टहलकर आने पर कुछ खिलाते-पिलाते, फिर 'सारस्वत' पढ़ाने लगते। इसी समय कुछ रोगी भी आ जाते। उन्हें देखकर बाबा हरि से दवा मँगवा और मात्रा में रखकर पुड़िया बँधवाया करते। थोड़े ही दिनों में हरि को हरेक दवा की मात्रा का पता लग गया, और वह बिना कहे ही मात्रा के अनुसार पुड़िया बना देता। 12 बजे भोजन का समय था। उससे पहिले बाबा हरि को पढ़ाई या इसी तरह के दूसरे कामों में लगाए रहते। भोजनोपरान्त 'अमरकोश' की पढ़ाई शुरू होती। जिस दिन 'बंगवासी' या 'वेंकटेश्वर समाचार' आते, हरि पढ़कर बाबा को सुनाया करता। 4 बजे बाबा की कथा शुरू होती। उस समय हरि को एक घण्टा खेलने के लिए छुट्टी मिलती। यह सख्त ताकीद थी कि शाम से पहिले घर लौट आवे। जरा भी देर हुई कि बाप 'अले रे' की टेर लगाते ढूँढ़ने के लिए निकल पड़ते। हरि आखिर लड़का था। वह चाहता ही था कि कुछ देर तक अपने बाल-संहातियों में रहे। कितनी ही बार आज्ञा के अनुसार न आने पर पिटाई होती। पढ़ने में प्रगति अच्छी रही। दो वर्ष बीतते-बीतते हरि ने 'सारस्वत' पढ़ डाली और 'अमरकोश' के भी कई काण्ड याद कर लिये। अब बाबा 'सारंगधर' वैद्यक ग्रंथ को पढ़ाने लगे।

सन् 1903 था। वर्षा के दिन थे। हरि की उमर 14 साल की हो गई थी। पं. मुन्नीलाल पास के गाँव में घी लेने गये थे। रास्ते में भीग गये। घर आते ही बुखार बढ़ गया। तीसरे दिन निमोनिया हो गया, और सातवें दिन अपने बेटे को अनाथ छोड़कर वह संसार से चले गये। पिता पीटते थे, कड़े स्वभाव के थे, लेकिन प्यार भी बहुत करते थे। इसलिए हरि को उनका वियोग दुःखद हुआ। 14 साल का होने से वह निरा अबोध नहीं था। पर, पिता से भी ज्यादा उसे बाबा गोपालदास का प्रेम मिला था। जब तक वह मौजूद थे, तब तक संसार की आँच नहीं लग सकती थी। कुछ ही दिनों में वह पिता को भूल गया। लेकिन, बाबा भी कितने दिन रहनवाले थे ? वह 85 साल के हो रहे थे। पं. मुन्नीलाल की मृत्यु के 11 महीने बाद बाबा एक दिन एकाएक मूर्च्छित हो गये। उन्हें अर्धांग मार गया। दो दिन और रह वह अब वस्तुतः हरि को अनाथ बनाकर चले गये। 15 साल का लड़का अब संसार में अकेला रह गया।

बाबा गोपालदासजी का जन्म कानपुर के आसपास ही किसी गाँव में हुआ था। घर छोड़ने से पहिले उनकी एक लड़की थी, जिसका नाम नारायणी था, और जो कानुपर के किसी मुहल्ले में ही ब्याही गई थी। शायद उसे मालूम था कि उसके पिता साधु होकर यहीं रेलगंज में रहते हैं। बाबा उससे कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। बाबा एक बड़े गोदाम और मकान के स्वामी बनकर रह रहे थे। उनकी मृत्यु की खबर सुनकर नारायणी वहाँ पहुँच गई। बाप की जायदाद काफी थी, और हरि संसार में अकेला था, इसलिए वह हरि की अभिभाविका बनकर रहने लगी। पर, उसको हरि से नहीं, बल्कि हरि की जायदाद से प्रेम था। स्नेह का दिखावा-भर रखती थी, हरिश्चन्द्र इस बात को जानता था। स्वभावतः यदि बिगड़ा या खिलाड़ी लड़का होता, तो हरिश्चन्द्र को यह अच्छा मौका मिला था। पर, वह उस आयु में पहुँचा था, जबकि मनुष्य अपनी बागडोर अपने हाथ में सँभालता है, और बिगड़ी को भी बनाने में सफल होता है। हरि बाबा के सत्संग में जन्म से रहते-रहते बहुत-सी अच्छी बातें सीख गया था। बाबा तेली के कोल्हू के बैल-से थे, उन्हें घुमक्कड़ी का शौक नहीं था। कुछ खास-खास परिचित जगहें थीं, जहाँ वह घूम आया करते थे। यदि वह घुमक्कड़ होते, तो हरि को यात्रा की बहुत-सी कथाएँ सुनने में आई होतीं। नारायणी को हरि बूआ कहा करता। बूआ के व्यवहार के कारण अब उसका मन घर से उचट गया था।

2
गृह-त्याग (1906 ई.)

वर्ष 17

बाबा गोपालदास के यहाँ कथा-वार्ता और सत्संग हुआ करता था। बाबा स्वयं भी कुछ योग-विधियाँ जानते थे, और उनसे अधिक उनके यहाँ योग की चर्चा हुआ करती। उनके प्राणायाम और हठयोग के ही कारण आकृष्ट हो कितने ही आर्यसमाजी शाम को उनके पास आया करते। दूसरों के साथ हरि भी आसन मारकर प्राणायाम करने में शामिल हो जाता। यह केवल अनुकरण-मात्र था, इसमें शक नहीं। पर, कुछ सयाना होने पर इन बातों की ओर उसका आकर्षण बढ़ने लगा। बाबा भक्तों में बैठे योग की सिद्धियों की बात करते, हरिश्चन्द्र को उसे सुनने में बड़ा रस आने लगता। फिर वह रात को सोते समय बाबा से पूछा करता—"योग करने से क्या मिलता है ?" "सिद्धियों को प्राप्त करके आदमी क्या कर सकता है ?" "अणिमा, लघिमा, गरिमा आदि का क्या अर्थ है ?" "योगबल से आदमी अन्तर्धान हो सकता है", यह सुनकर हरिश्चन्द्र को और भी जबर्दस्त आकर्षण हुआ। वह बाबा को कई बार तंग करके कहने लगा—"हमें भी इस सिद्धि को प्राप्त करा दें।" बाबा ने कभी नहीं कहा कि हमें यह सिद्धि नहीं आती, वह यही कहकर सान्त्वना देते कि अभी तुम पढ़ो। जब समझने लगोगे, तब हम सिद्धियों की विद्या सिखा देंगे। बालपन के इस सत्संग से हरिश्चन्द्र को योगाभ्यास की ओर भारी आकर्षण हो गया।

बाबा की शिक्षण-प्रणाली अपनी स्वतः आविष्कृत थी। बतला ही चुके हैं कि वह शिक्षा के लिए ताड़न को आवश्यक मानते थे। हाँ, उतना नहीं, जितना कि उनके चेले मुन्नीलाल। साथ ही उनका विचार था कि बालक को हरेक विषय का कुछ-कुछ ज्ञान हो जाना चाहिए, तभी वह धूर्तों और ठगों के फन्दे में नहीं पड़ेगा। बाबा गोपालदास की कथा बड़े रोचक ढंग की होती थी। उसमें वह जगह-जगह रामायण की चौपाइयाँ, कितने ही श्लोक और बीच-बीच में चुटकुलों को मिलाकर कहा करते थे। उन्हें सुनते-सुनते हरिश्चन्द्र को पचासों श्लोक अप्रयास ही याद हो गए। अब भी उसमें से बहुतेरे याद हैं, जैसे—

> येषां न विद्या न तपो न दानं न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
> ते मृत्युलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।

(जिनके पास न विद्या, न तप, न दान, और न ही सदाचार, न गुण, न धर्म है, वह मृत्युलोक में पृथ्वी के भार बने मनुष्य के रूप में मृग की तरह विचरते हैं।)

> मृगा मृगैः संगमनुव्रजन्ति गावश्चगोभिरतुरगास्तुरंगैः।
> मूर्खाश्चमूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।।

(मृगों के साथ मृग, गायों के साथ गायें, घोड़ों के साथ घोड़े अनुगमन करते हैं, और मूर्खों के साथ मूर्ख, सुबुद्धियों के साथ सुबुद्धि। एक समान शील और स्वभाववालों में मित्रता होती है।)

> जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यं,
> मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
> चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,
> सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।।

(वह बुद्धि की जड़ता को हरती है, वचन में सत्य को लाती है। मान-उन्नति को बढ़ाती है, पाप को दूर करती है। चित्त को प्रसन्न करती है, चारों ओर कीर्ति बढ़ाती है। बताओ, सत्संगति पुरुषों को क्या नहीं करती ?)

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ।।

(नीच पुरुष विघ्न के भय से काम आरम्भ नहीं करता, प्रारम्भ कर विघ्न होने पर मध्यम लोग काम बन्द कर देते हैं। विघ्नों से फिर-फिर ताड़ित होने पर भी काम आरम्भ करके उत्तम जन उसे नहीं छोड़ते।)

आरम्भ में यह श्लोक कानों में पड़ने पर एक मधुर ध्वनि से बढ़कर हरि के लिए कोई अर्थ नहीं रखते थे, लेकिन पीछे वह इनके अर्थ समझने लगा और उसके जीवन पर इन्होंने प्रभाव भी डाला। बाबा कहते थे—"बालक तो कोरे कागज जैसा है। जैसा चाहो उस पर लिख डालो। वह तो कुम्हार के मिट्टी के लोंदे जैसा है, जैसा चाहो वैसा बना लो।" बाबा की यह बात बहुत कम सत्य का अंश रखती थी, तो भी वह उसी के अनुसार बालक को बनाने की कोशिश करते, उसे नीति के श्लोक सुनाते और अर्थ बतलाते थे।

बाबा गये और बूआ ने आकर अब घर सँभाल लिया था। वह कड़े स्वभाव की थी, या कहिये, बालक के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, इसे मानती थी। हरिश्चन्द्र का मन घर से उखड़ गया था। रामनवमी का दिन नजदीक आया। बाबा गोपालदास की कथा सुननेवाले कुछ लोग अयोध्या में रामनवमी की यात्रा करने की तैयारी कर रहे थे। हरि को जब इस बात का पता लगा तो उसने उनसे साथ ले चलने के लिए आग्रह किया। वह तैयार हो गये। बूआ तो चाहती ही थी कि किसी तरह यह बला टले। कहीं ऐसा न हो कि दो-चार वर्ष बाद यह घर का मालिक बन जाये। उन्होंने बालक के विचार का समर्थन किया और यात्रा के लिए कुछ रुपये भी दे दिए। सभी लोगों के साथ हरिश्चन्द्र भी रेल पर बैठ गया और उन्नाव, लखनऊ, बाराबंकी, फैजाबाद होते अयोध्या पहुँचने में देरी नहीं लगी। अयोध्या राम का जन्मस्थान है और रामभक्त वैरागियों का शहर, इसलिए वहाँ की रामनवमी बड़े धूमधाम से हुआ करती है। हजारों मन्दिर और मठ हैं, जिन्हें खूब सजाया जाता है। यात्री मन्दिरों का दर्शन करते थकते नहीं। दिन-भर दर्शन करने के बाद साथियों के साथ हरिश्चन्द्र ने रात नगर के एक छोर पर सरयू के किनारे बाबा रघुनाथदास की छावनी में बिताई।

सबेरे उठकर हरिश्चन्द्र ने अपने चारों ओर नजर दौड़ाई और हरेक बात को ध्यान से देखने लगा, कितने ही साधु कमण्डल लिये बाहर गये। शौच और सरजूजी में स्नान करके लौटे। फिर कितने ही शरीर पर भस्म चढ़ाने लगे। कोई जटा ठीक करने लगा और कोई जूड़ा सँवारने लगा। पंचाग्नि तापनेवाले कण्डों की ढेरी जोड़कर दोपहर की धूप में आग के बीच बैठने की तैयारी करने लगे। कितनों ने बड़े छत्ते के नीचे ठाकुरजी का सिंगार करके पूजा करना शुरू किया। किसी के सामने माला का ढेर लगा हुआ था, जिसे वह अँगुलियों से सटका रहा था। कोई-कोई मुँह को कपड़े से ढाँक ध्यान में मग्न थे। हरि ने अब तक ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा था। एक बाबा गोपालदास को ही वह जानता था और वह इन सब बातों से परे थे। वह बहुत प्रभावित हुआ।

बाबा रघुनाथदास की छावनी अयोध्या से बाहर थी। अभी वह धीरे-धीरे जम ही रही थी। मन्दिर बन चुका था और महन्त ईश्वरदास की गद्दी का स्थान बनने लगा था। मकान अधिक नहीं थे, कुछ झोंपड़ियाँ थीं और कुछ बड़े-बड़े छत्ते लगे थे। स्थान में सौ-डेढ़ सौ के करीब साधु पड़े थे। इसमें शक नहीं, रामनवमी के कारण संख्या इतनी थी, नहीं तो कम ही साधु बराबर रहा करते थे।

साधु हरिदास—साधुओं को उस तरह पूजा-पाठ और ध्यान-मग्न देखकर हरि को आकर्षण हुआ। वह सोचने लगा, इन्हीं में योगी और पहुँचे हुए महात्मा भी होंगे। योगी-तपस्वी, जटा-जूटधारी होते हैं, इसे वह रामायण की चौपाइयों से जानता था। वह भी स्नान करने सरजू गया और लौटकर फिर छावनी में आ गया। देखा, महन्त ईश्वरदास गद्दी पर विराजमान हैं। भक्त लोग भेंट-पूजा दे रहे हैं। महन्तजी उन्हें उपदेश भी कर रहे हैं। कुछ उनसे गुरुदीक्षा भी ले रहे हैं। कुछ चेला हो साधु बन रहे हैं। हरिश्चन्द्र ने भी महन्तजी से चेला बनने की प्रार्थना की। उसमें क्या दिक्कत थी, जबकि साधुओं का सिद्धान्त ठहरा 'मूँड़ दिया माँग खाओ।' महन्तजी ने हरिश्चन्द्र के कान में राममंत्र फूँक दिया, और नाम में से चन्द्र निकालकर दास जोड़ दिया—अब 15 वर्ष

की उमर में कानपुर के तरुण ने एक नये जीवन में प्रवेश किया। चेला बनाने के बाद महन्त ईश्वरदास ने तरुण साधु की शिक्षा-दीक्षा के लिए अपने एक बड़े चेले को सुपुर्द कर दिया, जिसने उन्हें वैरागियों का करम-धरम सिखलाना शुरू किया : कैसे तिलक लगाना चाहिए, कैसे अँचला बाँधना चाहिए, कैसे बैठकर भोजन करना चाहिए। हाँ, चावल-दाल से कंकड़-पत्थर निकालने को साफ करना नहीं, बल्कि अमनिया करना कहना चाहिए। छूरी नहीं कहना, उसकी जगह चाकू कहना चाहिए। खाना कहना बुरा है, क्या कोई डायन-राक्षस है कि खायेगा। साधु की बोली में इसे 'पावना', 'पवाना' कहना होता है। साधु की अपनी बोली होती है और उसको कितने परिश्रम से सीखना पड़ता है, इसे जानने के लिए यह कहावत काफी है–'बारह बरस रहे साधु की टोली। तब पावे एक टुटही बोली।' टट्टी जाना साधु की बोली में डोलडाल है, और पेशाब लघुशंका। बड़े-छोटे से दण्डवत करने का भी खास तरीका है। साधुओं के ऐसे पचासों कोड वर्ड (सांकेतिक शब्द) हैं, जिनको उनमें रहे विना कोई आदमी समझ नहीं सकता। नकली आदमी अपने चाल-व्यवहार, वेश-भूषा और बोली-वाणी से पहचान लिया जाता है। फिर उसके लिए साधुओं में ठिकाना नहीं रहता।

पहिले दिन छावनी की साधु-मण्डली में निरे तपस्वी, योगी, सिद्ध, महात्मा दिखलाई पड़ते थे। लेकिन, वहाँ रहते-रहते दूसरे ही रूप में देखा। भभूत मलकर धूनी रमानेवाले हों, चाहे पद्मासन लगा ध्यानावस्थित होनेवाले हों। धूप में धूनी तापनेवाले या आँख मूँदकर हजारामाला सटकानेवाले, सभी के काम ढोंग के लिए थे। जब वह देखते कि कोई गृहस्थ दर्शन के लिए आ रहा है, तो वह तुरन्त अपने-अपने पूजा-ध्यान में लग जाते। मालूम होता, महात्मा रात-दिन इसी में व्यस्त रहते हैं। जब गृहस्थ चले जाते तो सबकी समाधि खुल जाती, हजारामाला को अपनी जगह रोने के लिए छोड़ दिया जाता। फिर एक-दूसरे से पूछने लगते–"भक्त ने क्या चढ़ाया ?" "तुम्हें क्या दे गया ?" "ठाकुरजी के आगे क्या-क्या चढ़ाया ?" यदि किसी भक्त ने कुछ नहीं चढ़ाया, तो उसे कंजूस, मक्खीचूस कहकर पीठ पीछे धिक्कारते। वहाँ बस यही चर्चा रहती–"आज महन्तजी की गद्दी पर इतना चढ़ावा चढ़ा। आज अमुक भगत ने ठाकुरजी के आगे इतने रुपये प्रदान किए। आज अमुक ने (काली रोटी, धोली दाल का) भण्डारा दिया।" साधुओं की बोली में काली रोटी का अर्थ मालपुआ, और धोली दाल का अर्थ है खीर। यही चर्चा वहाँ सुनाई देती। इनके अतिरिक्त फिर वह तीर्थाटन की भी बातें करते। तीर्थाटन में घुमक्कड़ी की बातें भी सुनने में आती थीं और वह काफी आकर्षक होती थीं। पर बाबा हरिदास को उससे कोई मतलब नहीं था। वह तो सिद्धि प्राप्त करके अदृश्य हो जाने की युक्ति जानना चाहते थे। वैरागी साधुओं में शिक्षा का उस समय बिलकुल अभाव-सा था। वह कहा करते थे, "पढ़ै लिखै बाभन का काम। भज वैरागी सीताराम"। पढ़ने को बल्कि दोष समझा जाता था, क्योंकि पढ़ा-लिखा आदमी उनके मोटे-झोटे व्यवहार-बर्ताव, भक्ति-पूजा को पसन्द नहीं करता। किसी ने यदि टो-टाकर 'रामचरितमानस' पढ़ लिया तो वह बड़ी बात थी। 15 वर्ष के बाबा हरिदास अन्धों में काना राजा थे, इसमें सन्देह नहीं।

छावनी में दो मास रहने पर हरिदास को पता लग गया कि यहाँ न कोई सिद्ध है, न कोई योगी। बस अपने से बड़ों की सेवा-टहल करो और रोटी खा पड़े रहो। हरिदास के पाँच वर्ष बाद रामनवमी के समय (1910 ई. में) इन पंक्तियों का लेखक भी अयोध्या पहुँचा था। संयोग ही कहिये, एक दिन वह भी बाबा रघुनाथदास की छावनी में जाकर ठहरा था, और वहाँ रामनवमी के दिन आये कितनों ही को चेला बनते देखा था। उमर भी करीब-करीब बाबा हरिदास ही की थी। पर, इन पंक्तियों का लेखक तब तक दो बार कलकत्ता तक की उड़ान कर चुका था और वेदान्ती महात्मा के सम्पर्क में आने से पूजा-पाठ को तुच्छ और ब्रह्म तथा योग को बड़ा मानता था। इसीलिए कई बार कहने पर भी वह अयोध्या में किसी का चेला नहीं बना।

चित्रकूट–1905 की वर्षा के पूर्व ही कुछ साधु अयोध्या से प्रस्थान करने लगे। उनका लक्ष्य तो कुछ महीने बाद (1906 ई.) होनेवाले प्रयाग के कुम्भ में जाने का था। लेकिन कई महीने थे, इसलिए उन्होंने घूमते-फिरते वहाँ के लिए प्रस्थान किया। पाँच-सात मूर्तियों की मण्डली थी, जिनमें कुछ के साथ हरिदास का अब अधिक सम्पर्क हो चुका था। इसलिए उनको जाता देखकर बाबा हरिदास की भी इच्छा हो आई। महन्तजी के हर रामनवमी पर बीसियों साधु चेले होते थे। सबको समेटकर मठ में रखने की गुंजाइश कहाँ थी ? आज्ञा माँगने

पर उन्होंने कहा—"जाते हो तो कुम्भ ही नहीं, बल्कि चारों धाम करके आना।" द्वारिका, जगन्नाथ, रामेश्वर और बदरीनाथ को वैरागी साधु चारों धाम कहते हैं। चारों धाम कर आये साधु को टकसाली बड़ा साधु माना जाता है। हरिदास दूसरों के साथ अपना आसन कंधे से लटकाये हाथों में कमण्डल लिये चल पड़े। गाँव-गाँव विचरते वह चित्रकूट की ओर चले। जहाँ कोई वैरागी साधु की कुटिया होती, वहाँ वह विश्राम के लिए ठहर जाते। उस समय साधुओं में संकीर्णता बहुत थी और किसी मठ में अपने ही सम्प्रदाय के साधु को रहने दिया जाता था। कबीरपंथी भी रामानन्द के ही अनुयायी होने से वैरागी हैं, पर उन्हें भी वैरागियों के मठों में जगह मिलती थी। कहीं यदि दूसरे सम्प्रदाय के साधु को रहने की जगह मिल भी जाती, तो उसे पाँती में बैठकर भोजन नहीं करा अलग अछूत की तरह दे दिया जाता, जो अपमान की बात थी। इसीलिए साधु अपने-अपने सम्प्रदाय के मठों में ही जाकर उतरते थे। अब तो बहुत उदारता आ गई है। काल का प्रभाव होना ही चाहिए, जहाँ साधु का स्थान होता, मठ या कुटिया होती, वहाँ तो अभ्यागतों के भोजन के लिए पास से या माँग-याचकर प्रबन्ध करना स्थानीय साधु का कर्तव्य था। जहाँ वैसा कोई स्थान न मिलता, वहाँ बाबा हरिदास के साथ के तजर्बेकार साधु चेताकर भोजन का प्रबन्ध कर लेते। हरिदास पढ़े-लिखे थे। वह रामायण की कथा अच्छी तरह कह लेते थे। बाबा गोपालदास की कथा और सत्संग में रहने से भी उन्हें लाभ हुआ था। अभी बालगोपाल थे, इसलिए तरुण हरिदास की कदर हो गई थी। इसका फल यह हुआ था कि उन्हें जूठे बर्तन धोने-माँजने या रसोई बनाने का कड़ा काम नहीं दिया जाता था। बहुत हुआ, तो ठाकुरजी की पूजा कर ली। घूमते-घामते वर्षा होने से पहिले ही वह चित्रकूट में पहुँच गये। अनिवार्य नियम तो नहीं है, पर अक्सर चौमासा रहने के लिए साधु किसी स्थान पर ठहर जाते हैं। यह प्रथा बुद्धकाल से ही चली आती है। वर्षा-समाप्ति के बाद आश्विन की पूर्णिमा को बौद्ध प्रवारणा करते हैं। उस दिन भिक्षु चौमासा पूरा करके चारिका पर निकलनेवाले होते हैं, गृहस्थ सुन्दर भोज करते हैं, और भिक्षुओं को वस्त्र या कोई और चीज प्रदान करते हैं। भारत के दूसरे साधुओं में भी कुछ न कुछ इसका अनुकरण अब भी होता है। हरिदास चित्रकूट में चौमासा रहने ऐसे समय पहुँचे, जबकि उस पार्वत्य भूमि का प्राकृतिक सौन्दर्य बहुत बढ़ जाता है, चारों तरफ हरियाली ही हरियाली दिखाई पड़ती है। कामतानाथ (कामदगिरि) चित्रकूट का सर्वपुनीत पर्वत है। बल्कि इसका नाम ही चित्रकूट था, जिसे सभी कामनाओं को प्रदान करनेवाला बतलाते कामदगिरि कहा जाने लगा, और उसे ही आजकल कामतानाथ कहा जाता है। वनवास के समय राम-लक्ष्मण-सीता ने इसी के ऊपर निवास किया था, इसलिए इसे बहुत पवित्र माना जाता है और लोग बड़ी श्रद्धा से उसकी परिक्रमा करते हैं। परिक्रमा में जगह-जगह मन्दिर और मठ बने हुए हैं।

चौमासा समाप्त कर कार्तिक में जमात अब प्रयाग की ओर चल पड़ी। उसे सीधे प्रयाग जाने की जल्दी नहीं थी, इसलिए नदी की धार की तरह इधर-उधर घूमती गाँव-गाँव का दाना-पानी लेती, वह आगे बढ़ रही थी। साधुओं में रहते अब हरिदास को आठ महीने हो चुके थे और उनकी सभी बातों से परिचित थे। पैदल यात्रा का भी उनको अनुभव हो गया था। घर का कोई आकर्षण नहीं था, उनके लिए एक दूसरा चलता-फिरता घर तैयार हो गया। हरिदास पहिले सोचते रहे होंगे, बिना पैसा-कौड़ी के परदेश में क्लेश होता है, पर अब उन्होंने देख लिया कि कौड़ी भी पास न रहने पर साधु को भूखे रहने की कभी नौबत नहीं आती और न भिखमंगों की तरह किसी के सामने हाथ पसारने या झिड़की खाने की जरूरत पड़ती है। गाँव हो, कस्बा या शहर हो, सभी जगह भगत साधु को भोजन दे पुण्य कमाने के लिए लोग तैयार मिलते। वैरागी होने से बाबा हरिदास और उनके साथी कच्ची रसोई किसी के हाथ की नहीं खा सकते थे; हाँ, पक्की रसोई में उन्हें एतराज नहीं था, यदि बनानेवाले उन जातियों में से हों, जिनका पानी चलता है। हर जगह काली रोटी, धौली दाल या सीरा-पूड़ी कहाँ से मिल सकता था, विशेषकर गाँवों में ? उस समय अनाज का भाव (गेहूँ 15-16 सेर) बहुत सस्ता था, किसी भी साधारण गृहस्थ के घर पर एक-दो साधुओं के आ जाने पर उसके ऊपर बहुत भार नहीं पड़ता था। कभी जमात को गेहूँ का आटा, अरहर की दाल और भाजी भोजन बनाने के लिए मिलती। साधु की भाषा में—तरकारी या साग-सब्जी कहना अक्षम्य अपराध है। वह उसे भाजी कहते हैं। कभी जौ-चना

मिला हुआ आटा ही मिलता, और वह बेझर की रोटी बनाते। बाजरे के आटे की रोटी भी खानी पड़ती। भाजी न होने पर आम का अचार या कोई चटनी मिल जाती, जिसके साथ इस रूखे-सूखे टुकड़ों को खाने में हरिदास को बड़ा स्वाद आता। उस स्वाद की स्मृति आज भी उनके लिए मधुर है, यद्यपि उसे सामने रख दिया जाये, तो शायद ही वह उतना मधुर मालूम हो।

अयोध्या में अपने गुरु-स्थान में हरिदास सभी साधुओं के साथ पंगत में बैठकर भोजन कर लिया करते। उन्हें यह नहीं मालूम होता था कि भोजन-सामग्री कहाँ से आती है, कैसे आती है। तुलसीदास ने साधुओं पर अनन्त उपकार किया है। उन्होंने सन्तों की सेवा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, उसे पुण्यार्जन का बहुत बड़ा साधन बतलाया है। उसी प्रचार का यह फल है, जो कि गृहस्थ साधुओं के लिए आँखें बिछाने के लिए तैयार रहते हैं। तुलसी की चौपाइयाँ केवल पढ़ुओं तक ही सीमित नहीं हैं, वह अपढ़ों की जीभ पर भी नाचती रहती हैं। फिर साधु-सन्तों की आवभगत करने के लिए तैयार हों, तो आश्चर्य क्या ? इसके अतिरिक्त हमारा देश अतिथि-सेवा को हमेशा से अपना परम कर्तव्य समझता रहा है। बाबा हरिदास ने पिता और बावा की छत्रछाया से वंचित होने पर कभी नहीं आशा की थी कि उन्हें ऐसा निश्चिंत जीवन बिताने का मौका मिलेगा। भोजन ही क्यों, संतों में कुछ गाँजा और भाँग का भी सेवन करते थे। कंकड़ की चिलम साथ-साथ चलती थी। भक्त लोग इसका भी जुगाड़ करते थे। उन्हें आकर्षित करने के लिए चिलम बड़ा साधन था। यह समझना भी मुश्किल है, कि तीन-चार शताब्दियों पहिले, जब भारत में तम्बाकू नहीं आयी थी, उस समय सन्तों की धुनी कैसे गुलजार रहती होगी।

केवल रामानन्द के अनुयायियों को ही वैरागी साधु नहीं कहते, बल्कि उनमें रामानन्द, निम्बारक, हरिव्यास और गौड़िया–चारों सम्प्रदायों के साधु सम्मिलित हैं। सवकी अपनी-अपनी परम्पराएँ हैं। पोशाक प्रायः एक-सा ही है। हाँ, तिलक में अवश्य भेद होता है। हरिव्यासी, निम्बारक और गौड़िया वैरागियों के अपने तिलकों में उतना भेद नहीं है, न इन सम्प्रदायों के साधुओं की संख्या ही अधिक है। पर, रामानन्दी संख्या में सबसे अधिक हैं और उनके तिलकों में भी बहुत अन्तर आ गया है। आरम्भ में रामानुजी वैष्णव की तरह नाक पर सफेद सिंहासन बना, दो सफेद लकीरों के बीच में एक लाल लकीर उनका तिलक था। किन्हीं ने लाल लकीर को हटाकर उसे भी सफेद कर दिया। उन्हें शुक्लश्री या लश्करी साधु कहते हैं। अपना-अपना पंथ निकालने और नाम अमर करने की लालसा सभी जगह देखी जाती है। एक महात्मा ने लालश्री को हटाकर उसकी जगह सफेद बिन्दी लगाई। पूछने पर बतलाया कि जानकी महारानी ने स्वयं अपनी ही बिन्दी को सफेद बनाकर मेरे सिर में लगा दिया। फिर क्या था, बिन्दीवाला सम्प्रदाय चल पड़ा। बिन्दी में भी कोई चवन्नी-भर की बिन्दी लगाता तो कोई अठन्नी-भर की, इस प्रकार छोटी बिन्दी बड़ी बिन्दी वाला सम्प्रदाय चल पड़ा। बिन्दीवालों में ही एक महात्मा को रामजी तब मिले, जब वह स्त्री का रूप लेकर सखीमंत चलाने में सफल हुए। उन्होंने बिन्दी के ऊपर सीताजी की चन्द्रिका का छाप लगाना शुरू किया। लाल बिन्दीवाले सखी मत में दीक्षित हुए तो उन्होंने अपने-अपने श्री के नीचे जानकी महारानी की भी बिन्दी लगानी शुरू की। यह सभी रामानुजी तिलक के ही भिन्न-भिन्न विकार हैं।

वैरागी साधु सफेद वस्त्र पहनते हैं, जिसे पीला भी रंग सकते हैं। अब तो मेरे मित्र श्री भागवताचार्य की कृपा से गेरुआ वस्त्र पहननेवाले वैरागी भी मिलने लगे हैं। वस्त्र या तो कमर में लिपटा तहमत की तरह का होता है, या विशेष ढंग से उसे दोनों कन्धों पर डालकर ऐसे बाँधते हैं, कि वह घुटनों तक पहुँचता है। दोनों को अँचला कहते हैं। हर हालत में कौपीन (लँगोटी) रखना जरूरी है। अँचला धारण करनेवाले को वस्तरधारी कहते हैं। वह चाहे तो चुटिया रखकर सिर-दाढ़, केश-दाढ़ी मुड़ा सकते हैं, या सभी बाल रख सकते हैं। पर, केवल दाढ़ी बनाना या मूँछ रखना या बाल को कैंची से कटाना-छँटाना वर्जित है। अब इसमें कुछ अपवाद भी होने लगे हैं, जिनको शुरू पहिले-पहिल दसनामी संन्यासियों ने किया।

एक हिन्दी के विद्वान लेखक ने यों ही अटकलपच्चू अनुसन्धान कर मारा कि वैरागियों में तपसी एक सम्प्रदाय होता है। वस्तुतः तपसी जटाधारी वैरागी को कहते हैं। जटाधारी होने के लिए यद्यपि भभूत धारण

करना अनिवार्य नहीं है, पर अक्सर जटा-भभूत साथ-साथ चलती हैं। तपसी मूँज की मोटी कर्धनी पहनते और उसमें पतले कपड़े की कोपीन डाल लेते हैं। कोई-कोई मूँज की या पाट की कोपीन बनाते हैं। काठवालों को कठिया बाबा कहते हैं। कोपीन के ऊपर अँचला लगाना अपनी इच्छा पर है। इन्हीं को तपसी या तपस्वी कहते हैं। तपस्वी लोगों के लिए चिलम और धुनी अत्यावश्यक चीज है। इस भेष और चिलमधुनी में आकर्षण भी बहुत है। तपसी होकर जो गाँजा-चिलम न पिये, तो तपसी काहे का ? कितने ही तपसी गर्मियों में पंचधुनी भी तापते हैं, वैरागी स्थानों में बहुतों के संस्थापक यही तपसी रहे हैं। तपसी के गले में कोई मणियों की कण्ठी नहीं, बल्कि तुलसी का एक मोटा-सा दाना जनेऊ में बँधा रहता है, जिसे हीरा कहा जाता है। साधारण लोग वस्त्रधारियों से अधिक तपसी का सम्मान करते हैं, क्योंकि उनमें विचित्रता होती है। रामानन्दियों में इस तरह कई तिलक-छाप और वेश-भूषा के कारण कितने ही स्थायी या अस्थायी भेद होते हैं, पर वह सब अपने को एक ही सम्प्रदाय का अनुयायी मानते हैं। सिद्धान्तों में दूसरे तीन सम्प्रदायों के साधुओं से तिलक-छाप में भेद रखने पर भी रामानन्दी खान-पान आदि का कोई भेद नहीं रखते, और चार सम्प्रदाय की एक समान जय मानते हैं, तथा सबके लिए अपना दरवाजा खुला रखते हैं।

रामानन्द मुस्लिम शासन के आरम्भिक काल में प्रयाग में पैदा हुए। वह रामानुज के सम्प्रदाय में राघवानन्द के शिष्य हुए। उस समय रामानुजी सम्प्रदाय को उत्तर में कोई नहीं जानता था और न उसके आचार-विचार को द्रविड़ देश के रूप में लेकर इधर चलाया जा सकता था। इसलिए रामानन्द ने उसमें अनेक परिवर्तन किये। रामानुजी सम्प्रदाय, भक्ति प्रधान सम्प्रदाय है। उत्तर में भक्ति की परम्परा वैसी नहीं थी, इसे नहीं कहा जा सकता, पर नाथ-पंथ, शंकर-पंथ और बौद्ध सिद्धों के प्रभाव के कारण ध्यान और योग की महिमा यहाँ अधिक थी। साथ ही मुस्लिम शासन में रहने के कारण आचार-विचार में भी यहाँ अधिक उदारता आ गई थी। इन सबका ख्याल करके रामानन्द ने वैष्णव धर्म को देश-कालानुकूल बनाया। उनकी विचारधारा का सबसे बड़ा समर्थक तुलसी का 'रामचरितमानस' है, जिसमें भक्ति पर ही सबसे अधिक जोर दिया गया है। रामानुजी शिव के दर्शन में भी पाप मानते हैं। रामानन्द ने इस भाव को हटा दिया, जिसे हम तुलसी की कृति में देख सकते हैं। ज्ञानमार्ग की परम्परा रामानन्द के वैरागियों से अधिक कबीरपन्थियों में मिलती है। रामानन्द का योग और ध्यान के ऊपर भी विशेष जोर था, जिसका पीछे इतना कम प्रचार हुआ कि उसे एक प्रकार से हम लुप्त कह सकते हैं। रामानन्द के अनुयायी सारे उत्तर भारत में छाये हुए हैं। उनके मठ दक्षिण भारत में यद्यपि कम हैं, पर वहाँ भी उन्होंने तिरुपति के बालाजी जैसे समृद्ध मठ को स्थापित किया था, जिसकी वार्षिक आमदनी कई लाख थी।

रामानन्दी वैष्णवों में अब विद्वानों की कमी नहीं है। पण्डित भागवताचार्यजी संस्कृत के दिग्गज विद्वान हैं। उन्होंने रामानन्दियों को रामानुजियों की पूँछ बनने से बचाकर आत्मगौरव बढ़ाने का सबसे बड़ा काम किया। नई पीढ़ी में विद्वानों की काफी संख्या देखी जाती है। उनमें कुछ आधुनिक शिक्षा प्राप्त भी हैं। रामानन्दी सम्प्रदाय और उसके हजारों स्थानों की परम्पराएँ अधिकतर मौखिक चली आई हैं, जिनके तेजी से लुप्त होने का डर है। क्या उनमें कोई ऐसा नहीं निकल आ सकता, जो सम्प्रदाय के विस्तृत इतिहास को वैज्ञानिक ढंग से लिखे।

यद्यपि आज के रामानन्दी या दूसरे वैष्णव सम्प्रदाय दक्षिण के वैष्णववादियों से जलाये हुए दीपक हैं। पर, इसका यह अर्थ नहीं कि उत्तर में वैष्णव धर्म कभी बहुप्रचलित नहीं था। गुप्त राजा (चौथी-पाँचवीं सदी ईसवी) अपने को वैष्णव कहकर अभिमान करते थे। उस समय के बहुत-से वैष्णव मन्दिरों और मूर्तियों के अवशेष अब भी मिलते हैं। संरर्षणवासुदेव की पूजा के रूप में वैष्णव धर्म पुरातात्त्विक सामग्री के बल पर ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी तक पहुँचता है।

रामानन्द ने एक बड़ा सुधार यह किया कि वैष्णवों को कूपमण्डूकता से बाहर निकाला, और निर्द्वन्द्व घूमनेवाले घुमक्कड़ पैदा किये। यद्यपि कच्ची-पक्की का भेद रखने से घुमक्कड़ी में बाधा जरूर रहती है, पर उसमें आचारियों की-सी कड़ाई नहीं रखी।

प्रयाग कुम्भ–पुराने काल में जिसे साधु लोग 'विहार करना' कहते थे, और आज जिसे विचरना कहते हैं, उसी को साधुओं की भाषा में रामत करना कहा जाता है। वस्तुतः विहार करना और भ्रमण करना एक ही बात है। बाबा हरिदास अपने दूसरे साधुमित्रों के साथ रामत करते धीरे-धीरे जनवरी (1906) के आरम्भ में, कुम्भ से कुछ पहिले प्रयाग पहुँचे। कुम्भ की भीड़ के बारे में क्या पूछना ? आज की तरह विज्ञापन के साधन उस समय अधिक नहीं थे और न देश के देवों-महादेवों के आने की सम्भावना थी, क्योंकि देश अंग्रेजों के अधीन था। देवों और महादेवों के आने से प्रयाग-कुम्भवालों को यही लाभ तो हुआ कि इंतिजाम करनेवाली पुलिस देवों-महादेवों की सेवा-सत्कार में चली गई, मेले का प्रबन्ध नहीं हो सका, और हजारों आदमी कुचलकर मर गये। लेकिन, साधुओं की संख्या इन मेलों पर पहिले के बराबर अब नहीं होती। उनकी भी संख्या घट गई है, यह भी कारण है। हमारे देश में हरद्वार, प्रयाग, उज्जैन और नासिक के चार कुम्भ बारह-बारह साल पर अलग-अलग समय में लगते हैं। हरेक जगह की अर्द्ध-कुम्भी भी होती है, जैसे इस साल (1956), 13 अप्रैल को हरद्वार में।

इन कुम्भों का आरम्भ किसने किया, यह कहना मुश्किल है। कुम्भ के चारों स्थान पवित्र तीर्थ हैं। विशेष समय पर वहाँ मेले लगते होंगे। कम-से-कम प्रयाग में तो हर पाँचवें साल बड़े मेले के होने का उल्लेख स्वेन-चाङ ने सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में किया है, पर बारह-बारह साल पर और एक-दूसरे स्थान में विशेष समय-सम्बन्ध रखनेवाले मेलों के आरम्भ का पता नहीं लगता। सम्भव है, वह मुस्लिम काल के आरम्भ में या उससे थोड़े से पहिले शुरू हुआ हो। मेलों की सबसे रौनक है अखाड़ों की शोभायात्रा। इनमें संन्यासी (दसनामी), वैरागी और उदासी तीनों के ही अखाड़े मुख्य होते हैं। नाथ-पंथ पुराना सम्प्रदाय है, लेकिन न उनके अखाड़े होते हैं और न नहाने में प्रतिद्वंद्विता। किसका अखाड़ा पहिले स्नान करके जाये, इसके लिए संन्यासी और वैरागी अखाड़ों में हमेशा प्रतिद्वंद्विता रही है। पुराने काल में इसके लिए खून की नदियाँ बह जाती थीं, लेकिन अब बहुत समय से शासकों ने विशेष नियम बाँध दिये हैं, जिसके कारण खून-खराबी की नौबत नहीं आती। इस वक्त साधुओं का काम ज्ञान-ध्यान से नहीं, बल्कि लोहे के हथियारों से चलता है। जिसके पास अधिक लोहा है, वही अपनी मनवा सकता है। इसे देखकर बाजवख्त ख्याल आता है कि साधुओं में अखाड़ों के रूप में सैनिक-संगठन क्या कुम्भ के लिए तो नहीं हुआ ? अखाड़ों में बारूद-युग के पहिले के हथियारों के साथ तरुण साधुओं को बाकायदा सैनिक शिक्षा दी जाती है। रंगरूट भरती किये जाते हैं। अखाड़ों के अफसर (नागा) के अधीन उनकी वर्षों शिक्षा होती है, हथियार चलाने की भी और अनुशासन की भी। फिर यह रंगरूट (हुड़दंगे) बड़ी धूमधाम से नागे बनाये जाते हैं, जो बारह वर्ष सेवा करने के बाद अतीत के महापद को प्राप्त करते हैं। अखाड़ों का संगठन और व्यवस्था बिलकुल जनतान्त्रिक है।

केवल कुम्भों में लड़ने के लिए ही साधुओं ने अपनी सैनिक अखाड़ाबन्दी नहीं की। शायद इसमें अपनी प्रतिरक्षा या प्रतिद्वंद्वी पर आक्रमण करने की प्रवृत्ति भी कारण रही हो। एक सम्प्रदाय के मठ पर दूसरा सम्प्रदाय जबर्दस्ती अधिकार कर लेता था। जनसाधारण साधुओं के झगड़े में तटस्थ रहना पसन्द करता। अंग्रेजी शासन के पहिले के शासक यदि तटस्थ होते, तो मठों का हस्तान्तरण होना आसान था। ऐसे समय सैनिक साधुओं की मंडली (अखाड़े) ही रक्षा कर सकते थे। अब अखाड़ों की पुरानी सैनिक आवश्यकता नहीं रही, तो भी अखाड़े के नागा अपने घोड़े-ऊँटों-हाथियों को लिये अपने सम्प्रदाय के जिस मठ में भी चले जायें, वहाँ सेवा-सत्कार प्राप्त करना उनका अधिकार था। इस तरह घूमती छोटी-छोटी मंडलियाँ कुम्भ के समय बड़ा रूप ले लेती हैं। उनके पास बहुतेरे ऊँट, कितने ही घोड़े और हाथी होते हैं। जरी से रेशम पर काम किये हुए सुन्दर झण्डे-निशान–फहराते जब यह बड़ी जमात चलती, तो समाँ बँध जाता था। वैरागी साधुओं में नंगा रहना बिलकुल पसन्द नहीं किया जाता, लेकिन संन्यासियों में दिगम्बर रहना प्रशंसा की बात समझी जाती है। इसलिए नागा या नंगा शब्द उन्हीं के लिए उपयुक्त था। वैरागियों का भी अपने सैनिकों के लिए नागा शब्द का प्रयोग करना यही बतलाता है कि शायद अखाड़े की प्रथा दसनामियों से ही शुरू हुई। पर, दसनामी (संन्यासी) के कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि दसनामी अखाड़े की स्थापना भी अपने पंथ के साथ शंकराचार्य ने की।

एक और धारणा शंकराचार्य के अनुयायियों में पाई जाती है। वह समझते हैं कि हमारा सम्प्रदाय अनादि काल से चला आया है और बाकी वैरागी उदासी आदि साधु पंथाई–नवीन पंथों के अनुयायी–हैं। वह अपने को वैदिक और दूसरों को अवैदिक समझते हैं। ऐतिहासिक तौर से यह धारणा बिल्कुल गलत है। शंकराचार्य आठवीं सदी में पैदा हुए। उनके परम गुरु गौडपाद स्वयं अपने ग्रन्थ 'माण्डूक्यकारिका' में बुद्ध की वन्दना करते हैं। गौडपाद से पहिले शंकर की परम्परा नहीं जाती। उनके पहिले के साधुओं में सिर्फ जैन और बौद्ध साधु बच रहे हैं। बौद्धों के 84 सिद्धों में गोरखनाथ भी थे, जो तिब्बती परम्परा के अनुसार राजा देवपाल के समय (नवीं शताब्दी के आरम्भ में) मौजूद थे। इस तरह प्राचीनता में तो बौद्धों और जैनों के सामने शंकराचार्य का सम्प्रदाय टिक नहीं सकता। रही बात वैदिक होने की, सो शंकराचार्य का अद्वैत दर्शन बौद्ध विज्ञानवाद की कच्ची नकल होने से उसी तरह सोलहों आना अवैदिक है, जैसे बौद्ध धर्म। दर्शन के रूप में वैरागियों का दर्शन अधिक वैदिक है।

हरिदास जिस उमर के थे, उसी उमर में अखाड़ों में हुड़दंगे (रंगरूट) भरती किये जाते हैं। वह जिन साधारण तथा अधिक सौम्य स्वभाववाले साधुओं की मण्डली में अयोध्या से चित्रकूट और चित्रकूट से प्रयाग आये थे, उनके ही प्रति उनकी कोई आकर्षण नहीं था। क्योंकि उन्होंने तो बाबा गोपालदास से योग-सिद्धियों की चर्चा सुनी और उनकी ओर आकृष्ट हुए थे। उन्हें जीवन को येन-केन-प्रकारेण घूमते हुए बिताना नहीं था। यदि साधुओं का भीतरी रूप पहिले ही उन्हें मालूम हो गया होता, तो इसमें शक है कि वह साधु बन पाये होते। अब तो नकटे पंथ में शामिल हो गये थे, यही कहना चाहिए, पर साथ ही अभी आशा टूटी नहीं थी। समझते थे, यहाँ नहीं तो और किसी जगह सिद्ध-योगी मिल जायेंगे।

त्रिवेणी पर गंगा-जमुना के संगम के बीच की भूमि तथा गंगा पार झूँसी तक साधुओं के हजारों तम्बू-कनात-झोंपड़ी-डेरे पड़े हुए थे। उनके ऊँट-घोड़े-हाथी बँधे हुए थे। इन्हीं डेरों में से एक में हरिदास भी अपने साथियों के साथ जा पहुँचे।1906 ई. के कुम्भ में भी पुराने कुम्भों की खूनी याद भूली नहीं थी, और उसके लिए सरकारी पुलिस सतर्क थी। लेकिन उस वक्त कोई नहीं कह सकता था कि आज से 49 वर्ष बाद (1954 ई.) के कुम्भ में देश के राजनीतिक नेताओं की आवभगत के लिए हजारों नर-नारियों, बच्चे-बूढ़ों को कुचलकर प्राण देना पड़ेगा। 1906 ई. के कुम्भ में 1954 ई. से कहीं अधिक साधु थे, कहीं अधिक हाथी-घोड़े थे, पर उस समय ऐसी दुर्घटना नहीं घटी। कुम्भ मेला प्रायः महीने-भर का होता है, साधु प्रायः पूरे महीने-भर रहते हैं। प्रयाग का कुम्भ जाड़े के बहुत सुहावने मौसम में होता है, जिस वक्त बीमारियों के फैलने का बहुत कम डर रहता है। हरद्वार का कुम्भ अप्रैल की गर्मियों में पड़कर मानो हैजे को निमन्त्रण देता आता है। हरिदासजी ने सुन रक्खा था कि कुम्भ के वक्त देश-भर के जहाँ साधु जुटते हैं, वहाँ हिमालय की कन्दराओं से निकलकर बहुत-से योगी भी आ जाते हैं। वह मेले में योगियों को ढूँढ़ने लगे। भेड़ के बालों को मिलाकर गजों लम्बी जटा बाँधे देह में भभूत रमाये धूनी के किनारे बैठे साधुओं-तपस्वियों के पास भी वह गये। जिनके बारे में कुछ सुना, उनके समीप पहुँचे। कुम्भ में कोई योगी नहीं मिला, लेकिन यह जरूर सुना कि हिमालय की कन्दराओं में योगी जरूर रहते हैं, और असली योगी ऐसी भीड़ में नहीं आते, न उनको किसी दिखावे से काम है। कुम्भ तो देश-भर के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के साधुओं के एकत्रित होने का स्थान है। यहाँ देशाटन और तीर्थाटन की बातें सुनने को मिल सकती हैं। साधु-जीवन की यह अनमोल बातें हैं, लेकिन हरिदास तो घुमक्कड़ बनने के लिए घर से नहीं निकले थे। उनका तो एकमात्र ध्यान था, ऐसी सिद्धि हाथ लगे कि अन्तर्धान हो जायँ। कहा जा सकता है कि कुम्भ का मेला हरिदास को बिल्कुल पसन्द नहीं आया। आखिर तरुण थे और पहिले-पहिल लाखों के जनसमूह को उन्होंने यहाँ देखा।

3
योगियों की खोज (1907 ई.)

वर्ष 18

कुम्भ के बीत जाने पर अखाड़े के रामढ़ के लिए निकले और वैयक्तिक साधु अपने-अपने मठों की ओर चले। उस समय अपने से पचास वर्ष पहिले के अन्न की सस्ती को सतयुग बतलाया जाता था और अपने समय को महँगाई का काल। पर आज पचास वर्ष बाद सोचने पर उस काल को सस्ती का समय कहा जा सकता है। अनाज जिस तरह महँगा होता है, उसी के अनुसार मजूरी भी महँगी हो जाती है। यदि ऐसा होता तो हिसाब करने से कोई फर्क नहीं पड़ना चाहिए। पर जान पड़ता है, सस्ती के समय अधिकांश लोगों की जीविका अधिक सुभर होती है, तभी तो उस समय अपने घोड़े-हाथी-ऊँट लिये सैकड़ों की जमात रामत करने निकलती थी। वह एक गाँव से दूसरे गाँव, एक शहर से दूसरे शहर में पहुँचती और लोग दिल खोलकर उसका स्वागत-सत्कार करते। दो-तीन दिन पहिले ही अगले पड़ाववाले गाँव या कस्बे में खबर दे दी जाती, वहाँ के लोग खाने-पीने का सारा इंतिजाम कर डालते। इसी समय शायद प्रयाग-कुम्भ पर जाते वक्त देवरिया जिले के पैकोली के पौहारी बाबा की जमात को इन पंक्तियों के लेखक ने रानी की सराय (आजमगढ़) में देखा था। रानी की सराय न शहर है, न कस्बा। उस समय तो वहाँ दूकानों की संख्या भी दो दर्जन से अधिक नहीं थी और सो भी छोटी-छोटी। साधु अच्छी तरह समझते हैं कि जमात से करामात होती है। पौहारी बाबा की जमात में बड़ी-बड़ी अतिसुन्दर गुजराती और जमुनापारी गायें थीं, जिनको देखने के लिए लोग टूट पड़ते थे। उनके चारे-पानी का प्रबन्ध भी उतनी ही श्रद्धा से किया जाता, जितना कि जमात के साधुओं का। हाथी-घोड़े-ऊँट ही नहीं, बल्कि कितनी ही बैलगाड़ियाँ भी साथ थीं। बैलगाड़ियों के चलने के लिए सड़क चाहिए, शायद इसीलिए वह सरजू पार होकर पौहारी बाबा आजमगढ़ और रानी की सराय के रास्ते प्रयाग की ओर जा रहे थे। पौहारीजी पालकी पर सवार होकर चलते। रानी की सराय में भी उनकी पूजा-पाठ और जमात का दर्शन करके लोग अपना अहोभाग्य समझते थे। भोजन के बाद रिक्थ दक्षिणा भी दी जाती। शायद एक रात रह पौहारीजी आगे चले।

हरिदास भी इसी तरह की किसी जमात में शामिल होकर घूम सकते थे, लेकिन वह तो योग-सिद्धि के पीछे पड़े हुए थे। उन्हें दो-चार ऐसे साधु मिल गये, जो कुछ पढ़े-लिखे थे, उन्हीं की तरह योग सीखने की कामना रखते थे। यह छोटी मण्डली एक दिन उत्तर-पश्चिम की दिशा को चल पड़ी। उनका लक्ष्य हिमालय और हरद्वार था। हिमालय में बदरीनाथ-केदारनाथ की यात्रा भी आकर्षण रखती थी और उधर सिद्धों के होने की सम्भावना भी बतलाई जाती थी। यात्रा अप्रैल के अन्त में शुरू होती थी। उसके खुलने में अभी दो-ढाई महीने की देर थी, इसलिए हरिदास और उनके साथियों को जल्दी नहीं हो सकती थी। उन्होंने न गाड़ी की सड़क पकड़ी, न रेल की। गंगामैया के अंचल पकड़े वह ऊपर की ओर बढ़े। अभी तक उनकी रामत सिर्फ अवधीभाषी प्रदेश में हुई थी। कानपुर, अयोध्या और प्रयाग अवधीभाषी हैं। चित्रकूट में थोड़ा ही भाषा का अन्तर पड़ा था। जहाँ तक साधुओं का सम्बन्ध है, उनकी एक अपनी भाषा (सधुक्कड़ी) होती है, जो खड़ी हिन्दी से बहुत मिलती-जुलती है, पर उसमें हरेक भाषा-क्षेत्र का अपढ़ साधु अपना व्याकरण इस्तेमाल करने के लिए स्वतन्त्र है। गंगा के किनारे पहिले ही पता लग जाता था कि किस गाँव में साधु का स्थान है और किस गाँव में नहीं। स्थान होने पर वह वहीं ठहरते। दो-चार की मण्डली रहने से अतिथि-सत्कार का बहुत भार नहीं पड़ता। वैसे गाँव के स्थानधारी साधु को अभ्यागतों का आना घाटे का सवाल भी नहीं है। यदि उनके पास स्वागत-सत्कार की सामग्री नहीं हुई तो अभ्यागतों के नाम पर वह दस घरों से खाने-पीने की चीजें जुटा सकते हैं। हरेक गाँव का स्थानधारी साधु कम-से-कम एक दिन का सत्कार करना अपना कर्तव्य समझता।

यद्यपि हरिदास के लिए हरेक गाँव और वहाँ का हरेक मठ या आदमी नया होता, पर अपरिचित स्थान

के प्रति जो अनिश्चितता या आशंका की बात हृदय में उठती है, वह पहिले ही कुछ दिनों तक रहकर शान्त हो गई। यदि कोई उत्सुकता पाई जाती तो स्थान की नवीनता थी। परिचित स्थान का अभाव खटकने की बात नहीं थी। 'कहीं घनीघना, कहीं मुट्ठी-भर चना' जैसी लोकोक्तियाँ हृदय को प्रसन्न करने के लिए काफी थीं।

हरेक तरुण जन्मजात घुमक्कड़ होता है। उसके मन में घूमकर नये-नये देशों, नये-नये लोगों के देखने की आकांक्षा होती है। किसी में यह आकांक्षा क्षणिक होती है, इसलिए उसे घुमक्कड़ी का आनन्द भी क्षणिक ही मिलता है। हरिदास अभी नहीं बतला सकते थे कि वह जन्मजात घुमक्कड़ हैं या नहीं। उन्होंने अपने सामने एक लक्ष्य रक्खा था—योग-साधना जिसके कारण घुमक्कड़ी उनके जीवन का एकान्त लक्ष्य नहीं हो सकती थी। यदि ऐसा होता, तो उन्हें और भी आनन्द आता। फिर मंजिल नहीं, बल्कि रास्ता ही उनके लिए सबसे प्रिय वस्तु हो जाता। जौ की रोटी, सरसों के साग में जितना स्वाद उस समय उन्हें मालूम होता था, उतना किसी अतिस्वादिष्ट पकवान में भी नहीं मालूम हुआ होगा। लेकिन, सिर्फ जौ की रोटी पर ही उन्हें गुजारा नहीं करना पड़ता था। कहीं पूड़ियाँ मिलतीं, कहीं खीर-मालपूए भी। कभी गाँवों की कच्ची कुटिया की मिट्टी के फर्श पर सोते, तो कभी शहरों के पक्के मठों का पक्का फर्श उनकी पीठ के नीचे होता। हर मठ-मन्दिर में हरिदास जैसे शिक्षित तरुण साधु के सामने रहने का आग्रह आता। बड़े मठों के पास अपनी जमींदारियाँ होतीं, जिनके प्रबन्ध के लिए शिक्षित साधु की आवश्यकता थी। लेकिन वह अपने संकल्प पर दृढ़ थे।

कहीं पर उन्होंने गंगा की धारा छोड़ दी थी, तभी तो रामनवमी को मुरादाबाद पहुँचे। वहाँ की भाषा बतला रही थी कि वह नये देश में आ गये हैं। हरेक को अपना जन्मग्राम या शहर अपना देश मालूम होता है। फिर उसकी सीमा अपनी भाषा के विस्तार तक जान पड़ती है। जहाँ भाषा बदली, तहाँ देश पराया मालूम होने लगता है। मुरादाबाद में अवधी नहीं थी। शहर में प्रायः शुद्ध खड़ी बोली जाती थी, जो साधुओं की भाषा के नजदीक थी। वेष, भाषा और आचार-विचार में साधु एक-से होते हैं। वह नवागत साधुओं के साथ स्नेह रखते हैं। यदि आर्थिक भार बाधक न हो, तो उनका मधुर सम्बन्ध बहुत दिनों तक निभ सकता है। घर छोड़े अब एक साल हो गया था।

हरद्वार—मुरादाबाद से रामत करते वह हरद्वार पहुँचे। वहाँ काफी गर्मी पड़ रही थी, लेकिन उस गर्मी का प्रभाव बिल्कुल खतम हो जाता था, जब हरद्वार के गंगा के शीतल जल का स्पर्श आदमी करता। कानपुर में भी उन्होंने गंगा को देखा था, घण्टों उसमें तैरते-नहाते थे। उन्हें आश्चर्य होता था, गंगा का ऐसा यह शुद्ध-शीतल जल कानपुर में क्यों नहीं मिलता ? सोचते थे, गंगा का दिव्य प्रभाव पहाड़ से हटकर कम हो जाता है। लू चलते समय भी गंगा के किनारे बैठने पर सन्ताप पास नहीं फटकता था, लेकिन तट से चार ही कदम हटने पर धूप से मत्था भन्नाने लगता, एड़ी का पसीना चोटी पहुँचता। उस समय शीतल जल की आकांक्षा होती, लेकिन गंगा की धार में घुसते ही माघ-पूस की सर्दी मालूम होने लगती। जल्दी-जल्दी धारा से बाहर निकलने की पड़ जाती। हरिदास को गंगा से प्रेम था। पण्डा न होने पर भी वह गंगापुत्र थे, गंगा के किनारे ही पैदा हुए थे। अपनी गंगा की महिमा जब लोगों से सुनते, तो फूले न समाते। हरद्वार या हरिद्वार यह पीछे का गढ़ा हुआ नाम है। पहिले इसे गंगाद्वार कहा जाता था, क्योंकि गंगा के पहाड़ों से बाहर निकलने का यही द्वार था। सप्तपुरियों में हरद्वार की नहीं, माया की गिनती है, जो कनखल को लिये हुए थी। अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काँची, अवन्तिका (उज्जैन), द्वारावती (द्वारिका) पुरियों की यह सात संख्या बहुत पुराने समय में पूरी हो गई थी। लेकिन, माया से भी पुराना तीर्थ कनखल है। कालिदास ने 'मेघदूत' में माया का नहीं, कनखल का स्मरण किया है। इस तरह नाम-परिवर्तन और स्थान-परिवर्तन करना काल के लिए कोई असम्भव बात नहीं है।

हरद्वार में वह निहालचन्द की बगीची में ठहरे। उनके साथियों को बदरीनाथ जाना था। वह उधर चले गये। अप्रैल का महीना था। गर्मी तो थी, पर उनको यह क्या पता था कि इन पहाड़ों के ऊपर के स्थानों पर कुछ ही दिनों में जब पहुँच जायेंगे, तो गर्मी का नाम-निशान नहीं रह जायगा। उनके अन्तिम जीवन में

मसूरी गर्मियों के बिताने का निश्चित स्थान बन गई थी, और वह हरद्वार से बहुत दूर नहीं थी। लेकिन उस समय तो वह भी उनके लिए अज्ञात जगत की नगरी थी। अब वह योगी-महात्माओं को ढूँढ़ने में लगे। वैरागियों में साल-भर रहकर उन्हें निराशा का ही सामना करना पड़ा था। वहाँ ज्ञान और योग को ढूँढ़ना उन्हें असम्भव मालूम होता था, इसलिए अब वह संन्यासी, उदासी जिस किसी के बारे में भी सुनते, वहाँ पहुँचते। उनकी बातें सुनते, योगियों का पता पूछते। सभी ने योगियों के बारे में कान से सुन रक्खा था। कोई दर्शन किये होता, तब न बतलाता ? यहाँ हरद्वार में उन्हें पेशावर के साधु वैष्णवदास एकाएक मिल गये। धीरे-धीरे उनसे घनिष्ठता बढ़ी, और जो जलियाँवाला बाग (अमृतसर) में उनके शहीद होने के साथ ही टूटी। दोनों में स्नेह था, पर दोनों का एक लक्ष्य नहीं था। वैष्णवदास योग के जिज्ञासु नहीं थे। वह आयु में वड़े और देशाटन करने के कारण हरिदास से अधिक अनुभव रखते थे।

ऋषिकेश–वैष्णवदास के साथ हरिदास ऋषिकेश गये। ऋषिकेश उस समय न कोई शहर या कस्बा था और न कोई बड़ी बस्ती ही। एक दर्जन छोटी-छोटी दूकानें थीं। बाबा कालीकमलीवाले का क्षेत्र जरूर था, लेकिन वह भी अभी छोटे ही रूप में था। सिन्ध-पंजाब-क्षेत्र का तो अभी आरम्भ ही हुआ था। आसपास जंगल और खाली जमीन पड़ी हुई थी, घेरा बाँध लो और जमीन तुम्हारी। इसी कारण तो आधे ऋषिकेश की जमीन आज इन दोनों क्षेत्रों की है। उस समय हरिदास या उनसे तीन वर्ष बाद वहाँ पहुँचे इन पंक्तियों के लेखक को भी इसका क्या ख्याल हो सकता था कि जहाँ कभी दो-चार टूटी मड़ैयाँ खड़ी थीं, वहाँ भूपों के महल खड़े हो जायेंगे। ऋषिकेश साधुओं का नगर बन जायेगा, रात को बिजली के दीपक जगमग-जगमग करने लगेंगे, वहाँ के हाटों के सामने हरद्वार भी फीका पड़ जायेगा। यदि ऋषिकेश की आधी भूमि और उसकी आधी दूकानों के मालिक यह उपरोक्त दोनों क्षेत्र हैं, तो यह समाज के लिए घाटे का सौदा नहीं है, क्योंकि ये संस्थाएँ वैयक्तिक लाभ के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक हित के लिए काम करती हैं। यात्रियों को उनसे यहाँ और उत्तराखण्ड की यात्रा में बड़ी सहायता मिलती है। ऋषिकेश को अधिक संस्कृत जाननेवाले हृषिकेश कहते हैं, हृषिकेश कृष्ण का नाम है, किन्तु इससे इसके इतिहास पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। ऋषिकेश में गुप्तकाल की भी खण्डित मूर्तियाँ मिली हैं, लेकिन उस समय उसका यह नाम नहीं था। जिस समय की बात हम कर रहे हैं, उस समय अयोध्या ही एकमात्र साधुओं का नगर था। अब एकमात्र न कहने पर भी ऋषिकेश हजारों साधुओं का नगर है। दोनों मित्र भरतजी के मन्दिर में जाकर ठहरे। साधुओं की संख्या बहुत अधिक नहीं थी कि योगियों का पता लगाने में बहुत देर लगती। इन पंक्तियों का लेखक भी उस आयु में योग और सिद्धि से प्रभावित हुआ था। हृदय के अन्दर छिपा घुमक्कड़ी का बीज भी जोर मार रहा था, पर हरद्वार वह संस्कृत पढ़ने के ख्याल से आया था–घर की गंगा (काशी) को इसलिए छोड़ आया था कि वहाँ रहने पर घरवाले विघ्न डालने के लिए तैयार थे। हरद्वार और ऋषिकेश दोनों में संस्कृत-अध्ययन से निराश होकर उत्तराखण्ड की यात्रा का निश्चय जिस तरह उसने किया, उसी तरह हरिदास ने भी वैष्णवदास के साथ परामर्श करके यही तै किया कि चलो जमुनोत्री, गंगोत्री, केदार-बदरी के दर्शन ही कर आयें। वैष्णवदास पहिले हो आये थे, लेकिन हरिदास के कहने पर 'अधिकस्याधिकं फलं' सोच तैयार हो गये।

जमुनोत्री–ऐसा निश्चय करने में एक कारण यह भी था कि हरिदास को हिमालय के गहन वनों और कन्दराओं में योगियों के होने की सम्भावना थी। वह ऋषिकेश से लक्ष्मणझूला पहुँचे। एक सप्ताह वहीं ठहर गये। तपोवन, कजलीवन में रहनेवाले साधुओं के पास जाते रहे, पर कोई योगाभ्यासी नहीं मिला। अब चारों पैर आगे की ओर चले! हरिदास को पहाड़ में चलने का यह पहिला अवसर था, वैसे चित्रकूट के पहाड़ वह देख चुके थे, जो हिमालय के सामने पहड़ुल्ली होने लायक भी नहीं था। अज्ञात और घने जंगलों में भालू तथा दूसरे खतरनाक जानवरों की बात सुनकर उनका मन भी कुछ घबरा रहा था। यात्रा के समय में उत्तराखण्ड के चारों तीर्थों की ओर जानेवाली सड़कों पर सहयात्री मिल सकते थे, लेकिन उस समय अभी न यात्रियों की इतनी अधिक संख्या थी, न इतनी अधिक चट्टियाँ थीं। धर्मशालाएँ तो और भी कम थीं। इसीलिए उन्होंने वैष्णवदास को आग्रहपूर्वक चलने के लिए तैयार किया था। कालीकमलीवाले की धर्मशालाएँ और सदावर्त के

क्षेत्र जगह-जगह पर बने हुए थे, प्रायः दस-पन्द्रह मील की यात्रा करने पर वह जरूर आ जाते थे। वहाँ जाने पर ठहरने का ही आराम नहीं रहता, बल्कि आटा-दाल-चावल, नून-तेल-लकड़ी भी मुफ्त मिल जाती। दोनों साथियों ने इस सुभीते से लाभ नहीं उठाया। उन्हें सदावर्त की चिट्ठी के लिए लौटकर ऋषिकेश आना पड़ता। आसानी से एक ही आदमी दो-चार सदावर्त न ले ले, इसके लिए कालीकमलीवाले एक टिकान पहिले अगली सदावर्त की चिट्ठी देते। चिट्ठी लेकर सदावर्त की चीजें देते हुए उसे अगली सदावर्त की भी चिट्ठी मिल जाती। पहाड़ को चढ़-उतर बीस-तीस मील आवा-जाही करके कौन दुबारा सदावर्त लेने के लिए चिट्ठी लाने जाता। इसलिए भी चिट्ठी लेने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि वैष्णवदास सड़क के रास्ते नहीं, वल्कि गाँवों के रास्ते मनमाना जाना चाहते थे। वस्तुतः उनमें घुमक्कड़ी की तीव्र भावना थी। हरिदास को लिये वैष्णवदास गाँवों की पगडंडियों से चले। उस समय अन्न इतना दुर्लभ नहीं था, न इतनी महँगाई थी, इसलिए चार-दस घरों में फेरा लगाने पर दोनों मूर्तियों के लिए खाने-भर को चून मिल जाता। वह देवप्रयाग पहुँचे। यहाँ से एक रास्ता अलखनन्दा के बाएँ किनारे से ऊपर जा आगे केदार-बदरी के दो रास्तों में बँट जाता और दूसरा भागीरथी के बाएँ से ऊपर को जा रहा था, जो आगे चलकर जमुनोत्री और गंगोत्री के रास्ते में विभक्त हो जाता। दोनों ने चारों तीर्थों में जाने का निश्चय कर लिया। जब निकले, तब सभी तीर्थों को पूरा करके लौटे। देवप्रयाग से वह टेहरी की तरफ चले। यहीं पहिले-पहिल कड़ी चढ़ाई की बानगी उन्हें मिली। उस समय छठी का दूध याद आ गया। पहाड़ी चढ़ाई करने में नौसिखिये थे। जाने-सुने आदमी को भी कुछ दिनों चढ़ाई में अभ्यस्त होने की जरूरत पड़ती है, तब जाकर वह सुगम मालूम होती है। चढ़ाई समाप्त कर फिर उतराई आई। और भी चढ़ाइयाँ आईं, लेकिन वह पहिले जैसी कठिन नहीं थीं। चौथे दिन दोनों मित्र टेहरी पहुँचे।

शायद उन्हें किसी ने बतलाया नहीं था कि तीर्थयात्रा तब तक सुफल नहीं होती, जब तक वहाँ के राजा का दर्शन न कर लिया जाय। टेहरी-राजा उस राजवंश के थे, जिसके हाथ में जमुनोत्री-गंगोत्री, केदार-बद्री—चारों महातीर्थ थे। उस समय राजधानी श्रीनगर थी। सारे राज्य को गोरखों ने लेकर राजा को भगा दिया था। अंग्रेजों ने गोरखों को हराया, जिसमें गढ़वाल के राजा ने पूरी सहायता की, लेकिन विजय के बाद सबसे अधिक आबाद आधे इलाके को अंग्रेजों ने अपने राज्य में मिला लिया, जिसमें राजधानी श्रीनगर भी थी, और बाकी के जंगल-पहाड़ों को गढ़वाल के राजवंश के उत्तराधिकार को दे दिया। उसने आकर टेहरी को अपनी राजधानी बनाया। राज्य से वंचित होने पर भी उत्तराखण्ड के चारों धामों के राजा टेहरीवाला ही माने जाते थे। टेहरी में राजा की बनवायी धर्मशाला थी, जहाँ आटा-दाल-गुड़-नमक-हल्दी-मिर्च की सदावर्त लगी हुई थी। पर, वैष्णवदास की दक्षता के कारण दोनों को सदावर्त का आश्रय लेने की जरूरत नहीं थी। वहाँ भागीरथी के किनारे से उन्होंने एक-दो दिन विश्राम किया, फिर वह भागीरथी के दाहिने किनारे से ऊपर की ओर बढ़े। दो या तीन दिन में धरासू आ गया।

अब हरिदास के पैर पहाड़ी-यात्रा में अभ्यस्त हो गए। थोड़ी-बहुत चढ़ाई तो हर जगह ही आ जाती थी, लेकिन अब चढ़ने में साँस नहीं फूलती थी, न पैर उठने से इन्कार करते थे। यदि वह चाहते, तो सबेरे चलकर दोपहर को किसी जगह विश्राम कर उसी दिन शाम को धरासू पहुँच जाते, लेकिन उनको कोई जल्दी नहीं थी। जब मौज आई तो चले और जब मौज आई तो बैठ गये। गाँव में उन्हें दाल और आटा ही नहीं, दूध भी मिल जाता था। आधी शताब्दी पहिले जो खाने-पीने का सुभीता घुमक्कड़ों को था, अब वह नहीं है, क्योंकि सभी चीजें महँगी हैं। पर, घुमक्कड़ी किसी देश-काल से सीमित नहीं है, वह हर समय अपने लिए रास्ता निकाल लेती है।

धरासू में जमुनोत्री और गंगोत्री के रास्ते अलग-अलग होते थे। जमुनोत्री के रास्ते की कठिनाइयाँ वह बहुत सुन चुके थे। आज तो धरासू ऋषिकेश से सीधे मोटर जाती है। और शायद इन पंक्तियों के छपकर निकलते समय तक आगे उत्तरकाशी तक भी मोटर आने-जाने लगे, अब भी जीप के जाने में दिक्कत नहीं है। जमुनोत्री के रास्ते पर कब मोटर चलेगी, अभी इसका पता नहीं। रास्ते की कठिनाइयों को समझकर कितने लोग जमुनोत्री को छोड़कर गंगोत्री का रास्ता पकड़ लेते हैं। हरिदास और वैष्णवदास रास्ते की कठिनाइयों से

घबरानेवाले नहीं थे। धरासू में जमुनोत्री जानेवाले कुछ और साधु मिल गये, जो विकट मार्ग का स्वागत करने के लिए तैयार थे। गंगा के जलक्षेत्र से अब उन्हें जमुना के जलक्षेत्र की ओर जाना था। ऐसे दो जलक्षेत्रों की विभाजक रेखा किसी पहाड़ी की पीठ पर होती है, इसलिए उस ऊँचे स्थान पर पहुँचने के लिए काफी चढ़ाई चढ़ना आवश्यक होता है। वह आगे बढ़े। रात को डाँडे के पासवाले किसी गाँव में ठहरे। सवेरे सात मूर्तियों का काफिला ब्रह्ममुहूर्त में ही उठकर चल पड़ा। आधे मील चलने पर चढ़ाई आरम्भ हुई। अभी भुवन-भास्कर की अरुण किरणें हिमालय के गगनचुम्बी हिमशिखरों पर प्रतिबिम्बित नहीं हुई थीं। पर, आसपास के घने जंगलों को देखा जा सकता था। सात-आठ फुट चौड़े नाले के किनारे-किनारे रास्ता ऊपर चढ़ता जा रहा था। नाले में पानी कम था, किन्तु धार इतनी तीव्र थी कि कोई उसमें लाँघने की हिम्मत नहीं कर सकता था। साधुओं ने नाले के किनारे अपना डण्ड-कमण्डल रक्खा, और चिलम तैयार करने के लिए आग जलाई। कंकड़ का दम लगा डोलडाल के लिए गये। एक साधु नाले के मोड़ से घूमकर आड़ में जाकर शौच के लिए बैठा। उसकी नजर जंगल की ओर नाले के पार जो गई, तो देखा कि एक भालू जमीन में पंजों से खोदकर जड़ निकाल रहा है। साधु ने समझा, नजदीक है, पर नाले के पार है, वह मेरा क्या बिगाड़ सकता है। चुपचाप चला आता तो कोई बात न होती, लेकिन उसने भालू की ओर एक पत्थर फेंका। उसने साधु को देख लिया। फिर क्या था, जमीन खोदना छोड़कर वह साधु की ओर लपका। साधु ने उसे भगाने के लिए पत्थर मारा। इतने में भालू नाले के किनारे पहुँच पानी में उतरने लगा। अब साधु के पैर उखड़ गये, वह 'रीछ, रीछ' चिल्लाता अपने साधुओं की ओर भागा और डण्ड-कमण्डल उठा वह चढ़ाई की ओर दौड़ा। दूसरे साधुओं और हरिदास ने भी देखा कि रीछ पानी पार होने की कोशिश कर रहा है। वह पहाड़ी तो थे नहीं कि जन्तुओं के स्वभाव से अभ्यस्त होते। सभी डर गये, अपना-अपना डण्ड-कमण्डल उठा चढ़ाई की ओर भाग चले। रीछ ने नदी को नहीं पार किया, बल्कि परले किनारे-किनारे वह उनका पीछा करने लगा। चढ़ाई पर वैसे होता, तो चार कदम में ही दम फूलने लगता, कलेजा गले में अटकता, लेकिन इस वक्त तो सातों मूर्तियों को मालूम हो रहा था, यमराज सीधे हाथ बढ़ाये चले आ रहे हैं। सबमें अनेक हाथियों का बल आ रहा था, हाँफते-हाँफते भी वह ऊपर की ओर दौड़ते ही जा रहे थे। सारा शरीर पसीने-पसीने हो गया था, पर वह पैरों को कुछ उजुर करने की छुट्टी भी देने के लिए तैयार नहीं थे। सौभाग्य से कुछ दूर आगे नदी घूम गई, रास्ता नदी से हटकर चला, इस प्रकार नदी और रीछ दोनों आँखों से ओझल हो गये। कुछ दूर तक तब भी वह बीच-बीच में पीछे की ओर देखते भागते रहे। अब उन्हें इत्मीनान हो गया कि भालू यहाँ नहीं आ सकता। सूर्य की किरणें भी अब चारों ओर फैल गई थीं और मीलों तक अपने आसपास की चीजों को देख सकते थे। तब भी वह तब तक पूरी तौर से निश्चिन्त नहीं हो पाये, जब तक कि कुछ गाँववाले दिखाई नहीं पड़े। 'हनुमान चालीसा' प्रायः सभी को याद था, सभी विश्वास रखते थे, 'भूत पिशाच निकट नहिं आवै। महावीर जब नाम सुनावै।' लेकिन उस समय किसी को न 'हनुमान चालीसा' याद रहा, और न महावीर जी का नाम। वह केवल अपने पैरों पर भरोसा कर सकते थे। डडालगाँव, गंगाणी होते हुए वह अब जमुना के किनारे पहुँच गये। गंगा की धारा को धरासू और ऋषिकेश-हरद्वार में उन्होंने सफेद देखा था, और जमुना यहाँ पहाड़ में भी नीली श्यामला थी। जमुना का कृष्ण जैसा रंग देखकर मन में विचार होता था, क्या कृष्ण के सम्पर्क से ही तो जमुना का यह रंग नहीं हुआ ? दृश्य नयनाभिराम था। समतल-सी उपत्यका में किन्तु पत्थरों के बीच में पड़े पत्थरों में से होकर जमुना बह रही थी। उसके दोनों तरफ के पहाड़ उत्तुंग हरे-हरे वृक्षों से ढँके थे, जिसमें इस समय तरह-तरह के पक्षियों के मधुर कलरव सुनाई देते थे।

बीच-बीच में जहाँ-तहाँ ठहरते जमुना के बाएँ किनारे कितनी ही छोटी-छोटी नदियों और झरनों को देखते, उनके शीतल जल से तृप्त हो वह पण्डों के गाँव खरसाली में पहुँच गये। मैदानी देश होता तो हर जगह किसी वैरागी की कुटिया या मठ मिल जाता, सदावर्त ढूँढ़ने की जरूरत न पड़ती। यहाँ सदावर्त नहीं होने पर भी साधुओं को भोजन मिलने में दिक्कत नहीं हुई। इतनी दूर आ जाने पर हरिदास ने देखा कि हिमालय के इन बीहड़ जंगलों में भी योगी का कोई पता नहीं। पर, उन्हें निराशा नहीं हुई। अब उन्हें यात्रा में रस आने लगा

था। देवप्रयाग की पहिली चढ़ाई की कड़वाहट वह बिल्कुल भूल गये थे।

उन्होंने बदरीनाथ के पण्डों को देवप्रयाग में देखा था। वह बहुत संस्कृत और खाते-पीते थे। हरिदास ने समझा था, उत्तराखण्ड के सभी पण्डे ऐसे ही होंगे। पर, खरसाली में जमुनोत्री के पण्डे दूसरी तरह के ही दिखाई पड़े। उनमें शिक्षा का नाम नहीं था, इनकी वेश-भूषा भी बहुत मैली तथा ऊनी कम्बल की थी। तरुण-तरुणियाँ सभी अधिक गोरे और सुन्दर थे, पर मैल ने सौन्दर्य को ढाँक दिया था। और यात्रियों की तरह हरिदास को भी ख्याल हो सकता था कि क्यों यह इतना गन्दा रहते हैं। शायद यह भी सोच सकते थे कि ठण्डा मुल्क होने के कारण गन्दा रहने का इनका स्वभाव है। उनको क्या पता था कि शिक्षा और पैसा चाहिए, फिर ठण्डे से ठण्डे मुल्क में भी इतनी सफाई रक्खी जा सकती है, जो हमारे बड़े से बड़े नगर के उच्च से उच्च पुरुष-स्त्री में भी नहीं मिलती। हरिदास को यह देखकर भी आश्चर्य मालूम हुआ कि वह ब्राह्मण-पुरोहित रात होते ही ढोल बजा रहे हैं और उनकी स्त्रियाँ भी नाच में खुलकर सम्मिलित हो रही हैं। यह समझना बहुतों के लिए बहुत दूर की बात है कि तीन हजार वर्ष पहिले हमारे वैदिक पूर्वज जब सप्तसिन्धु (पंजाब) में रहते थे, तो उनका समाज भी खरसाली के पण्डों की तरह ही मुक्त था। इसी तरह रात को उनका अखाड़ा जमता, बाजे बजते और आर्य नर-नारी ताल और सुर पर नाचने लगते।

खरसाली से जमुनोत्री चार ही मील है, पर वह इससे अधिक ऊँची जगह पर है, जिसके कारण वहाँ सर्दी और बर्फ अधिक पड़ती है। लोगों ने अपेक्षाकृत कम ठण्डा समझकर यहाँ बारहों महीना रहने के लिए घर बनाये। कुछ दूर जाने पर उन्हें जमुना पार करना पड़ा। फिर उसके दाहिने से ऊपर की ओर चले। चढ़ाई थी, लेकिन अब वह उसके अभ्यस्त हो गये थे। अन्त में एक पहाड़ की दीवार खड़ी मालूम हुई, जहाँ जमुना एक से अधिक धारा में आसमान से सीधे नीचे जमीन पर अट्टहास करती गिर रही थी। जमुना के इस अद्भुत अवतरण की ओर हरिदास का ध्यान नहीं खिंचा, जितना कि पास के छोटे-से तप्तकुण्ड की ओर, जिसमें वह पकाने के लिए पोटली में चावल बाँधकर डालनेवाले थे। चावल ही नहीं, आलू या किसी भी चीज को पोटली में बाँधकर उसमें डालने से पक जाता, पानी इतना गरम था। इसे वह जमुनामैया की महिमा मानते थे। जमीन के अन्दर गन्धक की आग है, जिसके कारण यह पानी गरम होकर ऊपर आ रहा है, इसका उन्हें क्या पता था। ऐसे गरम चश्मे यहाँ या कुल्लू के मणिकर्ण में ही नहीं, बल्कि दुनिया के और भागों में भी मिलते हैं। जिनका पानी कुछ सह्य होता है, उनमें लोग स्नान भी करते हैं। यहाँ पर गरम पानी की धार को ठण्डे पानी की धार से मिलाकर नहाने के लिए सह्य गर्मीवाला एक कुण्ड बना लिया गया है, जिसमें हरिदास अपने साथियों के साथ बैठकर नहाये।

हरिदास को जमुनोत्री में मालूम हो रहा था, हम माघ-पूस के जाड़े में हैं, जबकि नीचे इस वक्त आसमान से आग बरसती होगी। उनके पास ओढ़ना-बिछौना बहुत ज्यादा नहीं था, क्योंकि उससे अपने ही शरीर पर बोझा अधिक बढ़ता। अँगोछे के दोनों सिरों के भीतर एकाध चीजों सहित कम्बल को बाँधकर कन्धे से लटका दूसरे कन्धे में झोली डाल, एक हाथ में कमण्डल और दूसरे हाथ में चिमटा लिये चलने के साधु अभ्यासी होते हैं। किसी को अधिक भक्ति हुई, तो उसने ठाकुरजी को भी झोली में रखकर गले में लटका लिया। जिसे कुछ अक्षर से भेंट है, वह तुलसी की रामायण की पोथी भी लटका लेता। साधुओं की सूरत फले कटहल के वृक्ष-सी बतलाई जाती है। उनके कन्धे, गले और हाथों में लटकी ये चीजें सचमुच ही उन्हें कटहल-वृक्ष बना देती हैं। हरिदास और उनके साथी कम-से-कम डण्ड-कमण्डल के पक्षपाती थे। वह यहाँ अपनी बेवकूफी पर पछता रहे थे। सचमुच ही यदि यहाँ जंगल की सूखी लकड़ी इफरात से न मिलती, तो रात बिताना मुश्किल हो जाता। वह दो पहर से पहिले ही जमुनोत्री पहुँच गये थे। आकाश नीरव था, मध्याह्न में सर्दी अधिक कड़ी नहीं थी, पर जैसे-जैसे सूर्य पश्चिम की ओर ढल रहा था, वैसे ही ठंडक बढ़ती जा रही थी। रात का उन्हें पता नहीं था, नहीं तो वह उसी शाम खरसाली लौट आते। लेकिन, वैदिक ऋषियों ने कह दिया है—'अग्निहिमस्य भेषजं' अग्नि सचमुच ही उनके लिए सर्दी की भेषज सिद्ध हुई। उन्होंने बड़े-बड़े लक्कड़ लगा दिये और उसी की आँच में बैठकर रात काट ली।

हिमालय के सभी कड़वे-मीठे अनुभव उन्हें हो चुके थे, इसलिए हिम्मत भी बढ़ गई थी। वह वही पुराना रास्ता पकड़े खरसाली लौटे। जमुनोत्री (10,000 फुट) से सिमली तक 25 मील से कुछ ऊपर देखे हुए रास्ते से वह लौटे। वहाँ से फिर धरासू लौटकर गंगोत्री के रास्ते को वही पकड़ना चाहते हैं, जो अधिक चढ़ाई से डरते हैं, नहीं तो 17 मील पर ही उत्तरकाशी पहुँच सकते हैं। छह महीने के रास्ते से बारह महीने का रास्ता भयंकर नहीं होता है, पर तरुण रक्त हो और घुमक्कड़ी की आकांक्षा, तो वह क्यों साल-भर के रास्ते को पकड़कर नामहँसाई करायेगा। हरिदास और उनके साथियों ने नजदीक का रास्ता पकड़ा। रास्ते को उनमें से किसी ने नहीं देखा था। 'अंधेनैव नीयमाना यथांधाः' वाली बात थी। रास्ता पगडंडी का टेढ़ा-मेढ़ा तथा जंगल का था। चढ़ाई भी काफी थी। डाँडे को जहाँ पार करना था, उसके दोनों तरफ कोसों तक गाँव नहीं थे। आखिर डाँडे पर हर साल कई महीने तक बर्फ पड़ी रहती थी। कोई भी पहाड़ी गाँव कम-से-कम दिनों तक ही बर्फ का सामना करने की हिम्मत रखता है, क्योंकि उस समय पशुओं के चारे के लिए भारी दिक्कत हो जाती है। जमुनोत्री का एक और प्रसाद हरेक यात्री को मिलता है। वहाँ पीली-पीली पतली मक्खियाँ पैर खुला रहने पर चलते-चलते भी काट देती हैं। खुजली होने लगती है, खुजलाने पर घाव हो जाते हैं। इस प्रसाद को लिये दस-बारह दिन तक आदमी कष्ट उठाने के लिए मजबूर होता है ? यदि मोजे से पैरों को ढाँक लिया जाय, तो उससे त्राण मिल सकता है, पर ऐसी सावधानी बहुत कम ही लोग बरतते हैं।

उत्तरकाशी–डाँडे को पार कर कितने ही घंटों बाद वह एक छोटे-से गाँव में शाम के वक्त पहुँचे, जिसमें कुल चार-पाँच घर थे। खाने की बात तो दूर, वहाँ रहने के लिए भी स्थान नहीं था। एक टूटी-फूटी गोशाला में उन्होंने अपना आसन रक्खा। भूखे तो थे ही, लेकिन वहाँ के पिस्सू उनसे भी अधिक भूखे थे। जब उन्होंने धावा बोल दिया, तो रात भला सोकर कैसे काटी जा सकती थी ! उस दिन की चढ़ाई उन्हें उतनी दुःखद नहीं मालूम हुई थी, जितना कि पिस्सुओं का प्रहार। हरिदास पिस्सुओं के अभ्यस्त नहीं थे, इसलिए उस दिन की मुसीबत जीवन-भर के लिए उनके मन से भूलनेवाली नहीं थी। यदि उन्हें ऐसा मालूम होता, तो उसी दिन थोड़ा और हिम्मत करके बाराहाट पहुँच गये होते। यदि बारह महीने के रास्ते जाते, तो उन्हें यहाँ पहुँचने में कई दिन लगते। हाँ, बाराहाट यही असली नाम है, उत्तरकाशी पण्डों ने अपने मतलब से बना दिया है। काशियों के नाम पर तीर्थयात्री अधिक चढ़ावा चढ़ायेंगे, इसी ख्याल से उन्होंने बाराहाट का उत्तरकाशी नाम रख दिया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि इस नकल के कारण बाराहाट का महत्त्व कम हो जाता है। लालबुझक्कड़ लोग बाराहाट का अर्थ बारह बाजार लगाते हैं। गंगा के दाहिने किनारे यहाँ इतनी समतल भूमि है कि जहाँ किसी नगर के बारह बाजार बसाये जा सकते हैं। पर हाट पहाड़ में बाजार को नहीं, बल्कि राजधानियों को कहते थे। कुमायूँ में गंगोलीहाट, द्वारहाट ऐसे ही हैं। गढ़वाल में भी गुलाबकोटी के पास हाट और यह बाराहाट किसी समय छोटे-बड़े राजाओं की राजधानी थे, इसलिए यह नाम पड़ा। राजधानी का सम्भवतः बाराहाट नहीं, बल्कि कोई दूसरा ही नाम था। छठी शताब्दी के अभिलेख के साथ विश्वनाथ मन्दिर के सामने जो अष्टधातु का विशाल त्रिशूल (शक्ति) गड़ा हुआ है, वह बतलाता है कि उस समय भी बाराहाट कोई महत्त्वपूर्ण स्थान था। वहाँ शंकर का कोई भव्य मन्दिर था, जिसके स्थान पर विश्वनाथ का मन्दिर बना दिया गया। गणेश्वर राजा ने मन्दिर के साथ इस शक्ति की स्थापना की थी। त्रिशूल की ऊपरी मोटाई 1 फुट 15 इंच और नीचे 8 फुट 9 इंच है। लम्बाई 26 फुट है। शक्ति नीचे पीतल की और ऊपर लोहे की है। पुराने मन्दिर का जीर्णोद्धार टेहरी के राजा सुदर्शनशाह ने संवत् 1913 (सन् 1856 ई.) में किया था। गणेश्वर के पाँच शताब्दी बाद (11वीं शताब्दी में) भी बाराहाट एक प्रसिद्ध स्थान, उस पश्चिमी तिब्बत के भोट-राजा देवभट्टारक नागराज के अधीन था, जिसने यहाँ एक भव्य सुगतालय बनाकर वहाँ पीतल की सुन्दर बुद्ध-मूर्ति स्थापित की थी। मन्दिर का अब पता नहीं, लेकिन मूर्ति अब भी दत्तात्रय के नाम से पूजी जाती है, जिसके ऊपर का लेख मूर्ति के निर्माणकर्ता का परिचय देता है।

बाबा हरिदास को अभी इन बातों की कोई जिज्ञासा नहीं थी। वह तो योग और सिद्धि के पीछे पड़े हुए थे। यह भी जानते थे कि वह सुखसाध्य नहीं है, इसलिए हर तरह के कष्ट को सहने के लिए तैयार थे।

उन्होंने और उनके साथियों ने उत्तरकाशी के विश्वनाथ का दर्शन किया। असली विश्वनाथ के पास पहुँचकर भी वह प्रयाग से काशी नहीं जा सके थे। वह नहीं, तो यही काशी सही। उत्तरकाशी अभी बड़ी बस्ती नहीं थी। दूकानें भी दो-चार ही थीं, और एक-दो धर्मशालाएँ थीं।

गंगोत्री–उत्तरकाशी से आगे योगी-महात्माओं के मिलने की आशा दिलाई गई थी। वह बड़ी लालसा से उधर बढ़ रहे थे। पहिले ही पड़ाव पर रात को ठहरे, तो पता लगा, पास के एक गाँव में एक चश्मे के किनारे एक महात्मा रहते हैं। स्थान रास्ते से तीन मील हटकर था। हरिदास बड़े प्रसन्न हुए। वैष्णवदास भी अपने तरुण साथी को निराश नहीं करना चाहते थे। दोनों वहाँ पहुँचे। महात्मा वैरागी साधु थे। वह तीन दिन उनके पास ठहरे। महात्मा की शिक्षा तुलसी रामायण तक सीमित थी। पूरी तरह रामायण को समझते थे, यह कहना मुश्किल था। हाँ, वह प्राणायाम का कुछ-कुछ अभ्यास करते थे, और राजयोग की भी कुछ बातें जानते थे। उनके पास जो ज्ञान था उतना तो हरिदास बाबा गोपालदास की कृपा से पहिले ही प्राप्त कर चुके थे। यह मालूम हुआ कि वह दस साल से यहीं रह रहे हैं। वह घूमे हुए भी थे। हरिदास का उनसे काम बननेवाला नहीं था, और न उन्होंने किसी अच्छे योगी का पता ही बतलाया।

गंगनाणी के सप्तकुण्ड में स्नान कर आगे बढ़े। सूखी चट्टी की चढ़ाई उन्हें कड़वी नहीं मालूम हुई, यद्यपि वह देवप्रयाग से कहीं अधिक कड़ी थी। हसिंल पहुँचे–जिसे पण्डों ने हरिप्रयाग नाम दे रक्खा है। गंगा को दो जगह पार कर वह अब भैरवघाटी के झूले के पुल पर पहुँचे। आधे आसमान तक पथरीले पहाड़ों पर लटका यह झूला पार करनेवाले को बहुत भयंकर मालूम होता था। अब तो उसका पता भी नहीं है। लोग नीचे लोहे के पुल से चले जाते हैं। झूले के बीच में जाकर यदि किसी की शामत आई और उसने नीचे भोट गंगा की पतली रुपहली रेखा देखनी चाही, तो उसके प्राण सूख जाते थे। झूला पार कर आगे साढ़े 6 मील देवदारों की शीतल छाया के बीच की यात्रा बड़ी सुखद और दृश्य बहुत मोहक था। वह गंगोत्री (10,300 फुट) पहुँच गये। अभी उसकी माया बढ़ी नहीं थी, और गंगामैया के मन्दिर को छोड़ बाकी कुछ लकड़ी की झोंपड़ियाँ ही दीख पड़ती थीं। वैष्णवदास और कुछ साधुओं ने जोर किया कि गोमुख भी देख आयें। गोमुख वह स्थान है, जहाँ गंगा बर्फ की चट्टान से बाहर निकलती है। सोलह या अठारह मील की यात्रा थी। सड़क नहीं थी। ऊबड़-खाबड़ पत्थरों के ढेर के बीच से चलना पड़ा। जगह-जगह अभी भी बर्फ के बड़े-बड़े खण्ड पड़े हुए थे। गंगामैया का दर्शन किया। उसी दिन लौट के आना सम्भव नहीं था। रात ऐसी जगह बितानी पड़ी, जहाँ न कोई गाँव था, न टिकान। पहाड़ की एक दरी में सर्दी के मारे ठिठुरते लोगों ने रात काटी।

गंगोत्री में अभी दिगम्बर साधुओं की भीड़ नहीं थी। लिहाफों और कम्बलों को ओढ़कर भी जहाँ सर्दी कम होने का नाम नहीं लेती, वहाँ नंगे रहने की कौन हिम्मत करता ! पर, आदमी अभ्यास से सर्दी को काफी हद तक सहन कर सकता है, यह इसी से मालूम होगा कि अब वहाँ आधे दर्जन से अधिक दिगम्बर रहते हैं। आज से बीस-पचीस साल पहिले स्वामी कृष्णाश्रम ने ही अकेले हिम्मत दिखाई थी। तब भी वह जाड़ों में नीचे हसिंल या किसी दूसरे गाँव में चले जाया करते थे। अब तो वह बारहों महीने रहते हैं, अपनी शिष्या के साथ अखण्ड तप में विलीन हैं।

केदारनाथ–पुराने रास्ते से गंगोत्री से 40 मील लौटकर मल्ला चट्टी के पास उन्होंने भागीरथी पार की। वह केदारनाथ की ओर चले। भागीरथी के बाद भिलंगणा भी काफी बड़ी नदी है, जिसके बाद मन्दाकिनी आनेवाली थी, जिसकी ही उपत्यका में केदारनाथ है। इन दो बड़े डाँडों का पार करना निश्चय ही था। पर, अधिक ऊँचा पंवाली डाँडा (11,364 फुट) है, जिसको पार कर मन्दाकिनी की उपत्यका में आते हैं। बीच में 27 मील पर बूढ़ा केदार मिलनेवाला था। पहिले कुछ और ही नाम रहा होगा, यहाँ भी पण्डों ने एक केदार बनाने की इच्छा की। 4,380 फुट पर अवस्थित यह अच्छा-खासा शीतल स्थान है। वहाँ तक पहुँचने के पहिले नौ मील की चढ़ाई आई। हरिदास की मण्डली में एक तपसी बाबा थे। लम्बी-लम्बी जटा सिर पर पगड़ी की तरह बँधी थी, अंग में भभूत रमाये हुए थे, हाथ में चिमटा-कमण्डल लिये बगल में कम्बल मृगछाला दाबे निश्चिन्त चले जा रहे थे। गोधूलि की बेला थी। गायें जंगल से चरकर घर लौट रही थीं। उनका गाँव पास ही में था, जिसके

किनारे से सड़क गुजर रही थी। गायें सड़क काटकर घर की ओर जा रही थीं। उनमें से एक ने तपसी बाबा को देख लिया और साथ ही उनकी बगल में लटकते बाघम्बर को भी। शायद बाघ से चिढ़ हुई, या तपसी बाबा के रूप से ही! वह हुंकार मारकर सींग ताने उनके पीछे पड़ी। तपसी बाबा ने चिमटा खड़खड़ाया। वह और भी भड़क उठी। तपसी बाबा का भी हाथ कुछ ढीला पड़ा। पर बावा भी हिम्मत हारनेवाले जीव नहीं थे। उनके हाथ में बिना पेंदी का जगन्नाथी लोटा था। दूसरे हाथ को भी खाली करने के लिए उन्होंने उसे जमीन पर रक्खा और चिमटे से गाय के ऊपर पिल पड़े। बेपेंदी का लोटा उस चढ़ाई की जगह में कैसे ठहरता ? वह टन-टन-टन करता नीचे की ओर चला। सड़क भी टेढ़ी हो गई थी, इसलिए सड़क का रास्ता छोड़ उसने जंगल का रास्ता लिया। तपसी बाबा अपने जगन्नाथी लोटे से निस्फिकिर नहीं हो सकते थे। लेकिन इस वक्त तो दूसरी मुसीबत सिर पर थी। पहाड़ी गाय़ भले ही मासे-भर की हो, लेकिंन उसके सींग तो तेज थे। फिर उसे वशिष्ठ की नंदिनी गाय की संतान होने का भी अभिमान था। अकेले तपसी बाबा गाय से नहीं निबट सकते थे। साथी भी उनकी मदद के लिए चले आये। गाय भाग गयी। तपसी बाबा ने जंगल में जगन्नाथी लोटे के ढूँढ़ने की कोशिश की, लेकिन अब वह कहाँ हाथ आनेवाला था ? लोगों के लिए यह मजाक का साधन हो गया, और बेचारे तपसी बाबा सुपात्र से कुपात्र हो गये।

सारे गढ़वाल का पुराना नाम केदारखण्ड है। केदारखण्ड के भीतर ही बदरीनाथ भी पड़ता है। उत्तराखण्ड की इस भूमि की प्रसिद्धि केदार के नाम से होनी यही बतलाती है। यहाँ के सबसे बड़े देवता केदारनाथ के शंकर ही हैं। बूढ़े केदार की अभी कोई महिमा नहीं थी, और अब तो मोटरों ने उसको और भी कम कर दिया, क्योंकि धनपात्र लोग दोनों डाँडों को पार करने की जगह उत्तरकाशी लौटकर मोटर का रास्ता आसानी से पकड़ सकते हैं। पंवाली डाँडा अवश्य कड़ा था, पर अब हरिदास के पैर पक्के हो चुके थे। उन्होंने एक ही दिन में 41 मील की मंजिल मार त्रिजुगीनारायण में जाकर डेरा डाला। यह वस्तुतः नारायण का स्थान है। उसका आजकल का नाम ही नहीं, बल्कि 11वीं-12वीं सदी की शेषशायी भगवान की मूर्तियाँ भी इसी बात को बतलाती हैं। पर परम्परा यह भी कहती है कि हरगौरी का ब्याह इसी जगह हुआ था। यही नहीं, बल्कि जिस अग्नि के चारों ओर भवरें पड़ी थीं, वह आज भी अखण्ड जल रही है।

त्रिजुगी से उतरकर असली रास्ते को पकड़ वह गौरीकुण्ड होते केदारनाथ पहुँच गये। योगियों के मिलने की अब आशा कम रह गई थी, और वह साधारण साधु-यात्रियों की तरह चलते हरेक मन्दिर और तीर्थस्थान में पहुँचते दर्शन करते आगे बढ़ते रहे। केदारनाथ से उखीमठ, फिर तुंगनाथ भी गये। वहाँ से चमोली के सामने बड़ी सड़क को पकड़कर बदरीनाथ की ओर बढ़े। बदरीनाथ में वह तीन दिन ठहरे। वहाँ के पण्डों और दूकानदारों से यह जानने की कोशिश की कि यहाँ किसी गुफा में कोई योगी-महात्मा हैं ? 'नहीं' कोई नहीं कहता था। सभी कहते थे, यहाँ हजारों वर्षों की आयुवाले सिद्ध पुरुष रहते हैं। लेकिन, उनका दर्शन होना भाग्य की बात है। कितने तो कसम खाकर यह भी कहने के लिए तैयार थे कि ऐसे महात्मा हैं कि जिनकी भौंहों के बाल सारे मुँह को ढाँके हुए हैं ! हरद्वार से प्रस्थान करते समय हरिदास को पूरा विश्वास था कि हिमालय जरूर किसी-न-किसी महात्मा का दर्शन करायेगा। लेकिन, अब तो वह हिमालय के चारों धामों को देख चुके थे और हाथ कुछ नहीं आया था। अब भी दुनिया बहुत बड़ी थी। हिमालय के भी अंगुल-अंगुल को उन्होंने देख लिया था, इसलिए आशा-तन्तु के बिल्कुल छिन्न-भिन्न होने का खतरा नहीं था। बदरीनाथ से वह लौटकर जोशीमठ का दर्शन करते नीचे की ओर उतरे। वर्षा खूब होने लगी थी। सड़क कहीं-कहीं टूट गई थी, जिसके कारण रास्ते खतरनाक हो गये थे। पर, अब वह पहाड़ी रास्तों के अभ्यस्त थे। रास्ते के कई नामधारी प्रयागों में होते वह रामनगर पहुँच गये, जहाँ पाँच महीने बाद उन्हें रेल का दर्शन हुआ। अब उन्हें गर्मी मालूम होने लगी। ठण्डा पानी पीने की इच्छा तो पूर्ण होती नहीं दिखाई देती थी, मैदान का पानी फीका-फीका मालूम हो रहा था। कहाँ चला जाये, यह उन्हें सोचना था, पर लक्ष्य न होने पर भी रास्ते तो उनके पैरों के नीचे थे।

4
योग का चक्कर (1907-9 ई.)

वर्ष 20

बाबा हरिदास अब पैदल विचरने लगे, घूमते-फिरते हरद्वार पहुँच गये। फिर ऋषिकेश आये। सोचा, यदि योगी नहीं मिले, तो कम-से-कम योग के ग्रंथों को ही पढ़ना चाहिए। जब कोई योगी मिल जायेगा तो योग की क्रियाएँ भी सीख लेंगे। ऋषिकेश में अभी साधुओं की संख्या कम थी और उनकी कोई जगद्विख्यात दूकान भी नहीं खुली थी। पर, योग या वेदान्त के ग्रन्थों को पढ़नेवाले साधुओं का अभाव नहीं था। हरिदास जानते थे कि उनका ज्ञान केवल पण्डिताई के लिए है। वह दूसरों की लिखी पंक्तियों को पढ़ा सकते हैं, पर क्रिया नहीं बतला सकते। जिनको योग का पता नहीं, पर ज्ञान-वेदान्त का गर्व था, वह कह देते—"योग में क्या धरा है ? हम सब एक ब्रह्म ही हैं। ब्रह्म से भिन्न दुनिया में कोई चीज नहीं। ब्रह्म बनना नहीं है, हम तो स्वतः बने-बनाये ब्रह्म हैं।" ऋषिकेश में वह कितने ही दिनों तक उधेड़-बुन में पड़े रहे। अक्तूबर (1907) के अन्तिम दिन थे। इसी समय उन्हें एक पीले वस्त्रवाले वैष्णव साधु सद्गुरुप्रसाद शरण मिले। हरिदास साम्प्रदायिक संकीर्णता के पक्षपाती नहीं थे, जहाँ से भी गुण मिले वहाँ से उसे लेने के लिए तैयार थे। पर अपनी वैष्णव सम्प्रदाय का कोई पुरुष मिले तो उससे अधिक दिल खोलकर बात की जा सकती है। सद्गुरु अपने वैष्णव साधु थे और साथ ही दोनों का गुरुद्वारा अयोध्या ही में था। अयोध्या में पुरुष-रूप में भक्ति करने से सिद्धि न मिलने पर किसी महात्मा ने स्त्री-रूप में राम का भजन करके उन्हें प्राप्त किया। उन्होंने सखी मत चला दिया, जानकीघाट में जिसका आरम्भ हुआ और फिर किले में इसकी एक शाखा श्रीजुगलानन्द शरण ने स्थापित की। जुगलानन्द शरण के पंथ में चेला होनेवाले गृहस्थ हों या साधु, अपने नाम के साथ दास नहीं, शरण लगाते हैं। सभी सखीभाव से भगवान की भक्ति करना आवश्यक समझते हैं। गृहस्थों में भी शरण नामवाले कितने ही पुरुष मिलते हैं। पर, उससे यह न समझना चाहिए कि सभी सखी बनकर भगवान का भजन करते होंगे और सभी को मासिक धर्म होता होगा। किलेवाले सखी लोगों के नाम के साथ दास की जगह शरण लगा करता था। यह भी याद रखने की बात है कि लालश्री की जगह बेंदी लगानेवाले अयोध्या के बड़े स्थान के महापुरुष ने दास की जगह अपने नाम के साथ प्रसाद लगाना शुरू किया था, जो अब भी वहाँ के महन्तों में प्रचलित है। बेंदी सम्प्रदाय से ही पीछे सखी सम्प्रदाय निकला। यद्यपि प्रसाद और शरण दोनों को साथ लगाना नहीं देखा जाता, पर सद्गुरुप्रसाद शरण में इन दोनों को पाया जाता था।

सद्गुरुप्रसाद शरण शिक्षित व्यक्ति थे। उनके रहन-सहन में संस्कृति और नागरिकता देखी जाती थी। यद्यपि उनमें साम्प्रदायिक कट्टरता थी, पर 'सखियों' जैसे पीले कपड़े पहनते थे। कभी-कभी सिर के तिलक में लालश्री के नीचे जानकीजी की बिंदिया लगा लेते थे। सखी लोग सगुण उपासना और भक्ति को ही एकमात्र भगवान के मिलने का साधन मानते हैं, लेकिन सद्गुरुजी अपने को उतने ही में सीमित रखनेवाले नहीं थे। उनकी रुचि योग की ओर थी। वैष्णवों की कट्टरता न होने का ही यह प्रभाव था, जो कि वह हरद्वार और ऋषिकेश की ओर अक्सर घूमा करते थे। अच्छे पढ़े-लिखे थे। योग-दर्शन का अध्ययन किया था। इन बातों के मालूम होने पर हरिदास ने समझा, मेरा भाग्य खुल गया। धीरे-धीरे उनकी श्रद्धा बहुत बढ़ गई। वैष्णव में एक का चेला होकर फिर दूसरे का चेला बनना नहीं देखा जाता, या जरूरत नहीं समझी जाती। पर, हरिदास बाबा रघुनाथदास की छावनी में 'मूँड़ दिया, माँग खाओ' वाले चेला बने थे। न गुरु का उनके प्रति स्नेह था, न उनका ही गुरु के प्रति कोई भाव। वहाँ से किसी परमार्थ की प्राप्ति की भी सम्भावना नहीं थी। सद्गुरुशरण को चेला बनाना नहीं चाहिए था, जबकि हरिदास भी उन्हीं की तरह वैरागी थे। सखी मत की दीक्षा लेने की योग के लिए भी कोई आवश्यकता नहीं थी। हरिदास ने कुछ देखा ही होगा, तभी तो वह दुबारा चेला बनने

के लिए तैयार हुए। चेला बनने पर बाप-माँ के दिये हुए चन्द्र को हटाकर ईश्वरदास ने हरिश्चन्द्र से उन्हें हरिदास बना दिया था। अब सद्‌गुरुप्रसाद शरण ने उनके नाम के दास को निकालकर शरण लगा दिया।

सद्‌गुरुजी ऋषिकेश आने पर लक्ष्मण झूला में महन्त गरीबदास–फलाहारी बाबा–के स्थान में बहुत ठहरा करते थे। गरीबदास महन्त को उनके सखी होने से कोई काम नहीं था। वह शिक्षित समझकर उनकी आव-भगत किया करते थे। कार्तिक के अन्त तक उस साल सद्‌गुरुजी वहीं रहे। सर्दी आने को हुई, तब उन्होंने वहाँ से चलने का विचार किया। यहाँ रहते-रहते साधुओं की गोष्ठी में अक्सर रसायन (सोना-चाँदी बनाने) की चर्चा छिड़ जाती थी। सद्‌गुरुशरण कहते–"रसायन विद्या है तो सच, पर वह हजारों में से एकाध को ही आती है।" दूसरे साधुओं के मुँह से भी हरिजी रसायन की बात सुन चुके थे। योग का चस्का तो था ही। अब रसायन की ओर भी वह आकृष्ट हुए–यदि सोना-चाँदी बना सकें, तो फिर किसी के सामने हाथ पसारने की क्या जरूरत। यही नहीं, दूसरों को भी निहाल कर सकते हैं। सद्‌गुरुप्रसाद शरणजी की ओर आकृष्ट होने की यह दूसरी बात पैदा हो गई। इसी समय योग-सम्बन्धी कुछ पुस्तकों के खरीदने की जरूरत थी, पास में पैसा नहीं था। चलना था, इसलिए रास्ते के लिए भी कुछ सम्बल आवश्यक था। पैसा देनेवाला भी नहीं था। सद्‌गुरुप्रसाद अपने नये चेले से कई बार कह चुके थे कि जरूरत पड़ने पर हम किसी के पास माँगने नहीं जाते, पैसा हमारे पास स्वयं आ जाता है। कैसे आ जाता है, इसका अर्थ हरि की समझ में नहीं आया था। एक दिन गुरुजी कहने लगे–"अच्छा, हरिशरण, रास्ते के सम्बल की आवश्यकता है, और तुम्हें पुस्तकें भी चाहिए। इसका प्रबन्ध करना है।" उन्होंने बटुए में से एक रुपया निकालकर चेले के हाथ में थमाते हुए कहा–"ऋषिकेश में जाकर दो शीशियों में चार-चार तोला पारा और थोड़ा तेल डालकर लाओ।" हरि ले आये। अगले दिन शाम को टहलने के लिए निकले। जंगल में अनार का पेड़ था। गुरु ने कहा, उसके दस-बारह पत्ते तोड़ लाओ। चश्मे के किनारे फर्न (वनस्पति-आश्रित वनस्पति) लगी हुई थी, जिसे सागबीब बूटी कहते हैं। उसके भी उतने ही पत्ते तोड़ लाने के लिए कहा। गंगा के किनारे उन पत्तियों को उन्होंने खूब बारीक पिसवाकर दो-दो टिकियाँ बनाईं। लौटते समय रास्ते से कुछ कण्डे चुनवा लिये। रात को सब साधु सो गये। तब गुरु ने जमा की हुई चीजों को लेकर रसोई में चलने के लिए कहा। हरि ने सब चीजें रख दीं। गुरुजी ने एक कण्डे में गड्ढा बनाया। उनमें अनार के पत्तों की टिकिया रख दी, फिर दूसरे कण्डे में भी उसी तरह गड्ढा बनाकर सागबीब की टिकिया रख दी। कुछ कण्डे छोटे-छोटे करके जमीन पर चुन दिये, उस पर अनार की टिकियावाला कण्डा रखकर उसके गड्ढे में टिकिया के बीच में तेल सहित पारा डाल दिया, और उस पर दूसरी टिकियावाला कण्डा उलटकर ढाँक दिया। इसी तरह दूसरी शीशी के पारे को भी रखकर ढाँक दिया। चारों ओर कण्डा जमाकर आग दी, और दोनों ही आकर आसन पर सो गये।

सवेरे 4 बजे ही गुरु ने चेले को जगाकर कहा–रसोई में जाकर रात के रक्खे पारे को उठा लाओ। हरि रसोई में गये। कण्डे जलकर राख हो गये थे। हाथ चलाया, तो उसमें पारा जमी हुई डली की शक्ल में मिला। लाकर गुरु को देने लगे। गुरु ने कहा–झोली में रख लो, दिन में ऋषिकेश में ले जाकर बेच आना। उन्होंने हिदायत कर दी कि इसकी चर्चा किसी के सामने न करना। दिन में देखने पर वह डलिया चाँदी की लग रही थी। वह सोनार के पास ले गये। चाँदी थी ही, और आठ तोले। सोनार ने चार रुपया दिया। सोनार पूछने लगा–चाँदी कहाँ से लाये ? बतला दिया–गुरुजी के पास से लाया हूँ। पारा आठ आने का लगा था, और सोनार से ठगे जाने पर भी चार रुपये मिले थे। एक का आठ, बड़े लाभ का सौदा था। हरि बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने रुपयों को लाकर गुरु जी को दे दिये। गुरुजी ने तीन रुपया पुस्तक खरीदने के लिए दे दिया। हरि के पास अपना योगदर्शन हो गया। गुरु के प्रति उनकी अनन्य भक्ति हो गई। रसायन के सीखने के लिए किसी के पास जाने की जरूरत नहीं थी, और न दुनिया में किसी के सामने पैसे के वास्ते हाथ फैलाने की आवश्यकता रह गई। गुरुजी ने एक दिन यह भी कहा कि चाँदी को आसानी से सोने में भी बदला जा सकता है। हरि कहने लगे, फिर चार तोले सोना ही बना लेना अच्छा था, 88 रुपया मिल जाता। सद्‌गुरु ने कहा–इस समय यहाँ उसकी बूटी नहीं मिलती, और न वह आजकल पैदा होती है। वह चैत-बैसाख में उगती है, और

वर्षा की समाप्ति के साथ सूख जाती है।

हरि अब रसायन के लोभ में पूरी तरह लिप्त हो गये, और अनन्य भाव से गुरु की सेवा करने लगे। सद्गुरु उन्हें योग-दर्शन भी पढ़ाते रहे। गुरु ऋषिकेश से मैदान की ओर चले। हरदोई जिले के पास बेहटाबुजुर्ग और निमिसार के बीच एक छोटा-सा गाँव था, जहाँ गुरु की जन्मभूमि थी। वहाँ होते वह लखनऊ, बाराबंकी आदि कितने ही शहरों में विचरते रहे। सभी जगह लोग उनकी बड़ी इज्जत करते। कितने ही उनके गृहस्थ शिष्य थे। कथा खूब किया करते। उनकी कथा का ढंग भी सुन्दर था और रूप-सम्पत्ति भी काफी प्रभावशाली थी। आयु 39-40 वर्ष की थी। सिर से पैर तक सारा बदन सौन्दर्य में ढला हुआ था। रंग गोरा था। वेश-भूषा भी बड़ी विनीत, पर मनोहर थी। स्त्रियाँ बलात उनकी ओर आकृष्ट होतीं, और उनकी सेविकाओं की संख्या काफी थी। पूजा-दक्षिणा तो चढ़ा ही करती थी, सद्गुरुप्रसाद शरण का रूप ही पुरुष का था, नहीं तो वह साक्षात रामजी की पटरानी जनकनंदिनी थीं। इसी भावना से स्त्रियाँ उनकी खूब चरण-सेवा किया करतीं। हरि इसको देखते जरूर थे, लेकिन अभी इस सबको सन्तों की लीला समझते थे। अभी वह इस तथ्य पर नहीं पहुँचे थे कि तरुण सुन्दरियों का इतना घनिष्ठ सम्पर्क सन्तलीला तक ही सीमित नहीं रह सकता।

डेढ़ महीने की यात्रा में सद्गुरुजी ने पाँच बार पारे से चाँदी बनायी। उनके पास पैसे की कमी नहीं रहती थी। जब इतने लक्ष्मीपात्र चेले-चेली उनका चरणामृत लेने के लिए तैयार थे, तो पैसों की क्या कमी हो सकती थी ? सम्भवतः चाँदी बनाकर हरि पर अपना प्रभाव अधिक लादना चाहते थे। साथ रहने में हरि को यह फायदा हुआ कि उन्होंने योग-दर्शन को अच्छी तरह पढ़-समझ लिया। सद्गुरुजी पढ़ा-भर सकते थे। उन्होंने योग का अभ्यास नहीं किया था, इसलिए पुस्तकज्ञान से अधिक दे नहीं सकते थे। सद्गुरु के चरणों में रहने का उद्देश्य दो ही था–योगदर्शन पढ़ना और रसायन की विधि सीखना। सद्गुरु ने पहिला काम तो कर दिया, लेकिन दूसरे का रहस्य नहीं बतलाया। वह रहस्य था ही क्या ? पारा वह हरि के हाथ से ही खरीदवाकर मँगवाते थे। दोनों प्रकार के पत्ते उन्हीं के हाथ से पिसवाते, केवल कण्डों में आग अपने हाथों से लगाते थे। हरि ने समझा, इसमें कोई रहस्य नहीं है, जिसे उन्हें बताने की जरूरत है। गुरु की आज्ञा बिना दो बार पारा लाकर उसी विधि से चाँदी बनाने का प्रयास किया, लेकिन पारा उड़ गया और हाथ कुछ नहीं लगा। उन्हें ख्याल आया, कोई और भी बात है, जिसे गुरु ने नहीं बतलाया। वह यह नहीं समझ सके कि क्या जाने गुरुजी चुपके से वहाँ चार तोला चाँदी रख आते हैं। बहुत आग्रह करने पर सद्गुरु ने कहा कि इसके साथ रसांकुश मन्त्र जपने की आवश्यकता होती है। वही मन्त्र रस (पारा) पर अंकुश रखता है, नहीं तो पारा क्या कभी आग पर टिक सकता है ? हरि ने प्रार्थना की–महाराज, वह मन्त्र मुझे बतला दीजिये। "हाँ, हाँ, जरूर बतलायेंगे" कहते रहे, पर उन्होंने बतलाया नहीं। फिर आग्रह करने पर कहा, ग्रहण के समय पर उसे सिखाया जाता है। उनकी टालमटोल से हरि जान गये कि गुरुजी केवल टरकाना चाहते हैं। अब भी निश्चय नहीं कर पाये थे कि यह केवल धोखाधड़ी हो सकती है। इस धोखाधड़ी को किसी से पैसा ऐंठने के लिए सद्गुरुशरण इस्तेमाल करें, इसकी जरूरत नहीं थी, क्योंकि वह कानूनी खतरे की बात थी, और सद्गुरुशरण को अपने काम के लिए पैसों की कमी नहीं रहती थी। हरि का आकर्षण अब गुरु के प्रति कम हो गया। जब उनसे काम बननेवाला नहीं था, तो पीछे-पीछे घूमने से क्या फायदा ?

लक्ष्मणझूला–1908 ई. का बैसाख (अप्रैल या मई) का महीना था। गुरुजी के साथ हरिशरण फिर हरद्वार आये। अबकी बार यात्रा में जब गुरुजी बुलन्दशहर से होकर गुजरे, तो उन्हें एक ब्राह्मण लड़का मिल गया। वह शिष्य बनना चाहता था। लड़के ने लघुकौमुदी पंचसंधि तक पढ़ी थी। हरद्वार में सद्गुरुशरण ने उसे रामउदार नाम रखकर अपना शिष्य बना लिया। वह दो-तीन बार लक्ष्मणझूला में आकर फलाहारी बाबा के पास ठहरे। यहाँ ही हरिशरण बाबा को वैष्णवदास भी मिल गये। फलाहारी बाबा गरीबदास सद्गुरुप्रसाद की बड़ी इज्जत करते थे, यह हम बतला आये हैं। वह बीमार रहा करते थे। उनका कोई चेला नहीं था। सद्गुरुशरण गर्मियों में दो-दो महीने वहाँ बड़े आराम से ठहरते थे। सोचा, इसी रामउदार को क्यों न महन्त का चेला बनवा दूँ। उन्होंने हरिशरणजी से भी सलाह ली–यदि यह चेला बन जायेगा, तो यहाँ ठहरने की हमें और भी सुविधा रहेगी।

सद्गुरु प्रसाद ने 14-15 वर्ष के लड़के को दिखलाकर कहा, इसी को आप अपना चेला बना लें, पढ़ा-लिखा ब्राह्मण बालक है। गरीबदास के लिए और क्या चाहिए था ? उन्होंने उसे रामउदारदास नाम देकर अपना चेला बना लिया। एक की जगह दो बार, एक मुँह के स्थान पर दो मुँहों से मंत्र लिया जाये, तो इसमें बनता-बिगड़ता क्या है ? बाबा गरीबदास बहुत दिनों नहीं जिये और रामउदार लक्ष्मणझूला स्थान के महन्त हो गये। उन्होंने स्थान की बहुत उन्नति की।

5

मानसरोवर-यात्रा (1908 ई.)

वर्ष 21

सद्गुरु के प्रति अब हरिशरण बाबा का कोई आकर्षण नहीं था, लेकिन चेला थे, इतने दिनों तक मानते-जानते आये थे, इसलिए आँखों में मुरौवत तो थी ही। इधर सैलानी वैष्णवदास फिर मिल गए, जिनके पैरों में चक्का बँधा था। हरिदास या हरिशरण उन्हें अच्छे साथी मालूम होते थे। उन्होंने ही प्रस्ताव किया—चलो कैलास-मानसरोवर चलें। हरिशरणजी ने गुरु के सामने जाने की इच्छा प्रकट की, और पूछने पर बतलाया—"सुनते हैं, वहाँ घोर तपस्या करनेवाले सन्त रहते हैं। तपस्या के कारण उनकी आयु कई सौ वर्षों की होती है। वहाँ के मठों में बड़े-बड़े योगाभ्यासी महात्मा हैं। अखबारों में भी दीर्घजीवी लोगों के वहाँ रहने की बात पढ़ी है। यह भी सुना है कि वहाँ मानसरोवर में हंस रहते हैं, जो मोती चुगने के लिए वहाँ जाते हैं।" सद्गुरुप्रसाद ने बहुत समझाने की कोशिश की—"तुम जो कुछ सुनते हो, उसमें कोई तथ्य नहीं है। कैलास मानसरोवर ऐसा देश है, जहाँ के लोग बौद्ध धर्म को मानते हैं। उनके साधुओं—लामाओं का धर्म और पूजा-पाठ बिल्कुल भिन्न है। वह सब भक्ष्याभक्ष्य खाते हैं। जैसे योगाभ्यासी को तुम ढूँढ़ना चाहते हो, वह वहाँ नहीं मिलेंगे। फिर उनकी बोली भी अलग है। न वह तुम्हारी बात समझेंगे, न तुम उनकी बात। हमारी बात पर विश्वास नहीं, तो यहाँ सर्दियों में भीख माँगने के लिए बहुत-से भोटदेशी आदमी आते हैं, उनसे पूछ लो।" हरिशरण का अब गुरु पर बिल्कुल विश्वास नहीं रह गया था। वह समझते थे—'यह भरमाकर अपनी सेवा में रखना चाहते हैं।' उधर वैष्णवदास भी कान भर रहे थे। हरिशरण ने कहा—"अब कुछ दिन के लिए आज्ञा दीजिये कि कैलास-मानसरोवर का दर्शन कर आयें।"

गुरु को प्रणाम कर बिस्तरा उठा एक दिन हरिजी वैष्णवदास के साथ चल पड़े। लक्ष्मणझूला से गंगोत्री का रास्ता पकड़कर वह जल्दी और आसानी से थोलिंग मठ होते कैलास-मानसरोवर जा सकते थे। पर, शायद वैष्णवदास को इसका पता नहीं था, अथवा वह जान-बूझकर पहाड़ों में घूमते जाना चाहते थे। दोनों ऋषिकेश से देहरादून पहुँचे। फिर नाहन गये। वहाँ से गिरि नदी के पार रेणुका के भव्य सरोवर पर पहुँचे। रामायण तो बचपन से वह सुनते आये थे, कई बार उसका पारायण किया था। सैकड़ों चौपाइयाँ और दोहे उन्हें याद थे, जिनके बल पर वह तुलसी की भाषा अवधी—जो कि उनकी भी अपनी मातृभाषा थी—में दोहा-चौपाई बना सकते थे। यमदग्नि, उनकी पत्नी रेणुका और मातृघाती सुपुत्र परशुराम की बात याद थी। बतलाया गया, रेणुका यहीं रहती थीं। यहीं पुत्र के फरसे से गला कटाकर वह सरोवर के रूप में परिणत हो गईं। तालाब गिरि नदी से डेढ़-दो मील हटकर है और बरसात के समय कभी-कभी दोनों का सम्बन्ध हो जाता होगा, नहीं तो बीच में कोई पानी की धार नहीं है। गिरि-जैसी पहाड़ी नदी में मगर कहाँ हो सकते हैं, लेकिन इस सरोवर में मगर दिखाई पड़े। इसे भी पण्डे-पुजारी रेणुका माई का चमत्कार बतलाते थे। पर, चमत्कार की क्या जरूरत थी ? किसी ने एक जोड़ा लाकर डाल दिया, फिर उनके बढ़ने में क्या देर लगती है ? सरोवर में मगर डालना मृत्यु को डालना है। यह कोई अच्छी बात थोड़े ही थी। स्थान बहुत ही सुन्दर था। किनारे के पहाड़ हरियाली से लदे थे। उस समय मेले का समय नहीं था, इसलिए कोई साधु दिखाई नहीं दिया। रेणुका से वह पहाड़ों-पहाड़ जुब्बल पहुँचे, जो उस समय एक रियासत थी। जुब्बल से वह रामपुर राजधानी पहुँचे। यहीं उन्हें मानसरोवर

जानेवाले पाँच और साधु मिल गये। अब उनकी सात की जमात थी। कनौर के चार व्यापारी तिब्बत में गर्तोक जा रहे थे, उनसे बातचीत की। व्यापारियों ने बतलाया, यात्रा लम्बी है, रास्ते में हर जगह चीजें नहीं मिल सकतीं। कुछ सम्बल ले लेना, नहीं तो रास्ते में तकलीफ होगी। सबके पास कुछ न कुछ पैसा था, हरिशरण ही ऐसे थे, जिनके पास कुछ न था। वह घबराये। वैष्णवदास ने कहा–"चिन्ता न करो, गुजारा हो जायेगा।" उनके पास कुछ मालमता थी।

1908 का अगस्त का महीना था। काफिला सतलज के किनारे-किनारे ऊपर की ओर चला। सात साधु, चार व्यापारी, दो भोटदेशी तथा तीन घोड़े थे। सराहन होते बाँगतू के पुल से उन्होंने सतलज को पार किया। अब उसके दाहिने किनारे से चिनी, कनम, स्पू होते भारत के अंतिम गाँव नम्ग्या में पहुँचे। पहाड़ी बोली वह कुछ समझ सकते थे, यह पहाड़ी लोग उनकी भाषा आसानी से समझ सकते थे, क्योंकि वह हिन्दी के समीप थी। कनौरी बोली के इलाके में पहुँचे। यद्यपि वह हिन्दी से बहुत अन्तर रखती है, लेकिन सम्पर्क के कारण वहाँ के पुरुष प्रायः सभी हिन्दी बोल-समझ लेते थे। स्पू से नम्ग्या तक उन्हें तिब्बती बोलीवाले भारत में जाना पड़ा, जहाँ के लोग भी हिन्दी कुछ समझ लेते थे। अब तिब्बत की सीमा के भीतर घुसे, जो चार मील पर शिप्की के डाँडे के ऊपर मिली। अभी तक पहाड़ों की जितनी चढ़ाइयाँ उन्होंने चढ़ी थीं, वह इसके सामने खेल थीं। डाँडे से आठ मील नीचे उतरने पर तिब्बत का पहिला गाँव शिप्की मिला। दृश्य में कोई भारी परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि वह बहुत कुछ वैसा ही था, जैसा कि स्पू से नम्ग्या तक उन्होंने देखा था। पर, बोली का कोई सहारा नहीं था, और न वहाँ साधुओं की इज्जत करनेवाले कोई थे। वह गूगे (5 मील), ठिओग (15 मील), मियंग (12 मील), शिरिंग ला (घाटा, 23 मील) को पार किया, जो समुद्रतल से 16,400 फुट ऊँचा है। मियंग से 108-9 मील जाने पर वह पश्चिमी तिब्बत की राजधानी गर्तोक में पहुँचे। व्यापारियों को यहीं अपना काम करना था, मानसरोवर के लिए जानेवाले आदमी गर्तोक में अक्सर मिल जाया करते हैं। गर्तोक बड़ा बाजार है। पश्चिमी तिब्बत के राज्यपाल का निवास होने के कारण उससे लोगों का काम भी रहता है। मानसरोवर के आदमियों के साथ अब सातों मूर्ति उधर चले। उन लोगों का गाँव बीस मील पीछे ही था, जहाँ से उन्होंने मानसरोवर का रास्ता बतला दिया।

रास्ता भूलने-भटकने लायक नहीं था, दूसरे दिन सातों जने मानसरोवर पहुँच गये। सात साधुओं में वैष्णवदास, हरिशरण और एक तिरहुतिया बाबा रागी थे। बाकी दो कनफटे नाथ और दो संन्यासी थे। मानसरोवर की विशाल झील देखकर उन्हें प्रसन्नता हो सकती थी, पर जिस समय वह पहुँचे, उस समय वर्षा हो रही थी। मानसरोवर के किनारे जगह-जगह लामा लोगों की कितनी ही गुम्बाएँ हैं। गुम्बा तिब्बती भाषा में मठ को कहते हैं। हमारे साधु लोग समझते हैं, वह गुफा का अपभ्रंश है। एक बड़ी गुम्बा में सातों मूर्ति जाकर ठहरे। दिन में जलवृष्टि होती रही, जो कि रात को हिमवृष्टि में परिवर्तित हो गयी। सबेरे उठकर देखा, तो सारे मैदान और पहाड़ के ऊपर बर्फ की सफेद चादर पड़ी हुई है, कहीं रास्ते का पता नहीं है। सर्दी के लिए तो पहिले ही से तैयार थे, लेकिन बर्फ पड़ने के बाद हवा तेज़ हो गई, जिसके कारण वह और भी दूनी हो गई। तिरहुतिया बाबा आने के ही दिन मानसरोवर में नहा आये थे। अब इस सर्दी में भला किसकी हिम्मत थी कि मानसरोवर में डुबकी ले, चाहे उसके लिए धर्मराज ने स्वयं स्वर्ग से विमान भेजा हो। बिहारी बाबा ने दूसरे दिन फिर हिम्मत की, लेकिन सर्दी के मारे डुबकी लगाते ही न लोटा उठा सके, न लंगोटी निचोड़ सके। शरीर अकड़ गया। मुश्किल से गुम्बा तक पहुँचे। चूल्हे के पास उन्हें बिठाया गया, नहीं तो प्राण-पखेरू के उड़ने में देर नहीं थी। अब किसी को मुफ्त में प्राण गँवाने का ख्याल भी नहीं उठ सकता था। सबसे पक्के धर्मात्मा बिहारी बाबा ही थे, जब वह अपनी तपस्या में कच्चे निकले, तो दूसरों से क्या आशा हो सकती थी ?

सातों के सातों जने अनाड़ी थे, नहीं तो उन्हें जान लेना चाहिए था कि सितम्बर-अक्टूबर मानसरोवर जाने का समय नहीं है। इस समय तो लौटकर देश धर लेना होता है। जो हिमवृष्टि मानसरोवर के तट पर हुई थी, वह वहीं तक सीमित नहीं थी, उसने सारे पहाड़ी डाँडों (घाटों, जोतों, केकों) को बर्फ से ढाँक दिया था। अब वह पार नहीं किये जा सकते थे। गर्मी के आने तक मानसरोवर के किनारे पड़े रहने के सिवाय

अब उनके लिए कोई चारा नहीं था। बिहारी बाबा भाग्य के लिए रोया करते थे। वैष्णवदास पेशावरी थे। वैष्णव होने से पहिले मांस का रस ले चुके थे। हरिबाबा भी नौजवान थे, और उनका वैष्णव धर्म के साथ कोई बहुत जबर्दस्ती आग्रह नहीं था। कनफटे और संन्यासी तो गंगा गये गंगादास, जमुना गये जमुनादास थे, पर बिहारी बाबा पक्के वैष्णव थे। वह यहाँ धर्म गँवाने नहीं, बल्कि धर्म कमाने के लिए आये थे। सुन्दरदास की समस्या दो चार-दिन में हल होनेवाली नहीं थी। गुम्बा के लामा जानते थे कि यह सातों आचारहीन धर्मी हैं। पर, उनके महायान में प्राणिमात्र के साथ दया दिखाना, उनके लिए प्राण तक दे देना, कर्तव्य बतलाया गया है, वह सातों मूर्तियों को भूखे मरने कैसे देते ? वही भोजन दे सकते थे, जो खुद खाते थे। सत्तू अपने खाते थे, और वह उनके लिए भी हाजिर था। लेकिन इनमें से किसी ने भूख या कभी स्वाद बदलने के लिए सत्तू भले ही खाया हो, पर उसी पर गुजारा नहीं किया था। बाबा सुन्दरदास के लिए तो सत्तू भी भक्ष्य चीज नहीं हो सकती थी। खैर, उससे वैष्णव धर्म नहीं जायेगा, यह उन्होंने स्वीकार किया। एक दिन लामाओं के लिए मांस पकते देखकर सातों मूर्तियों में किसी ने पहिल की। फिर एक के बाद एक छहों ने उसे जल्दी ही भक्ष्य बना लिया। मांस भेड़ का, बकरी का नहीं, बल्कि चमरी (याक) का था। झूठ बोलनेवाले चमरी को मृग कह देते हैं, पर चमरी मृग नहीं, बल्कि गाय की ही एक जात है, क्योंकि दोनों के गाय-बैलों के सम्पर्क से आगे अविच्छिन्न सन्तान चलती है। भला गोमांस खानेवालों को कैलास-मानसरोवर के दर्शन से क्या पुण्य मिल सकता था ? हाँ, विश्वामित्र ने आपत्काल में कुत्ते का मांस खाया था और हिन्दू-शास्त्र उसे पाप नहीं कहता। यह भी ठीक है कि साधारण काल का धर्म दूसरा होता है और आपत्काल का दूसरा। पर, यह बहाना करके आजकल गोमांस खाकर कोई हिन्दू धर्म को बचा नहीं सका। यह अच्छा ही था, जो हमारे सातों सन्त यह नहीं जानते थे कि चमरी गाय है। मृग कहने से सुन्दरदास भी चार-छह दिन बाद रास्ते पर आ गये। आखिर बिहार में कौन-सी जात है, जो मांस-मछली नहीं खाती ? उन्होंने भी बचपन में खाया ही होगा। सत्तू से वह पेट भर सकते थे, लेकिन उसे खाते-खाते मन ऊब गया था। सुन ही रक्खा था–'उपवास करन्ते सत्तू।' सत्तू से उनका पेट ही नहीं भरता था। आखिर छह जने जब जीभ चटकार-चटकारकर सत्तू के साथ मांस उड़ा रहे थे, तो वह ही क्यों अकेले मल्लू बनते ? फिर मानसरोवर में देखने ही वाला कौन था ? जो देखनेवाले थे, वह स्वयं नकटा पंथ में शामिल हो गये थे। एक दिन उन्होंने भी हाथ बढ़ाया। जब पहिला नेवाला उनके मुँह में गया, तो यारों ने कहा–"बिहारी बाबा की जय।"

भोजन की समस्या तो हल हो गई, पर अब 14,000 फुट के ऊपर का लम्बा तिब्बती जाड़ा शुरू हुआ। नवम्बर से मार्च तक के पाँच महीने तो उनके लिए घोर साँसत के थे। वृक्ष-वनस्पतिहीन भूमि में धूनी लगाना सोचने की बात भी नहीं थी। लामा लोगों ने उन्हें ठिठुरते देख भेड़ के रोयेंवाली खाल देने का प्रस्ताव किया। सन्तों ने खुशी से उसे स्वीकार किया। मानसरोवर के जमने से पहिले ही उन्हें मालूम हो गया कि पाण्डवों के पुरोहित ऋषि धौम्य की बात सोलह आने ठीक है–हिमालय की वायु सारे दैहिक-आध्यात्मिक पाप को धो डालती है। बिहारी बाबा ने शिक्षा पा ली थी, और अब वह धौम्य के अनुयायी बन गये थे। नौ बजे तक लोग लेटे रहते, फिर गरम पानी से हाथ-मुँह धो लेते। वहाँ वृक्ष कहाँ कि दातवन मिलती। मानसरोवर जम गया था। गुम्बा के भीतर छोड़ कहीं पर मानव का पता नहीं था। चारों ओर भयानक नीरवता छाई हुई थी–न कहीं पक्षी थे, न कीट-पतंग। दूर की आवाज नजदीक सुनाई देती थी। बर्फ और वर्षा दोनों ही इस भूमि में बहुत कम पड़ती है, तो भी उसकी सफेदी पहाड़ी और उपत्यकाओं में दिखाई देती थी। लोटे में पानी बाहर रखते ही बर्फ बन जाता था। खालों में बन्द मक्खन पहिले से गुम्बा में जमा किया हुआ था, जो सन्तों के लिए सुलभ था। पर, दूध दुर्लभ था। चँवरियों को रखने पर उनके घास-चारे का प्रबन्ध करना पड़ता, इसीलिए गुम्बा की चँवरियों को किसी गाँव में रक्खा गया था।

भाषा की कठिनाई उनके लिए सबसे दिक्कत की बात थी। भारतीय तीर्थयात्री और व्यापारी जाड़ा आरम्भ होने से पहिले ही देश लौट चुके थे। लामा लोगों में कोई हिन्दी नहीं जानता था। पहिले केवल इशारे से ही वह एक-दूसरे को अपने भाव बतलाते। छह-सात महीने उन्हें वहाँ रहने पड़े। धीरे-धीरे काम की बातें बोलने

लगे। यदि उन्हें विश्वास होता कि हमें और रहना है, तो तत्परता के साथ भाषा का ज्ञान और भी बढ़ा सकते थे। लेकिन, वह तो मानते थे, "हम आ फँसे हैं। गर्मी आते ही यहाँ से चल पड़ेंगे।" महीने-भर बीतते-बीतते अब सातों मूर्ति भाग्य पर सन्तोष करने के लिए तैयार थे। हरिशरण बाबा के पास 'हठयोग-प्रदीपिका' और तुलसी-रामायण जैसी दो-तीन पोथियाँ थीं, जिनका वह पाठ किया करते थे। कभी सत्संग भी करने की इच्छा होती, पर क्या खाक करते, जब जानते थे कि हम अभक्ष्य भक्षण कर रहे हैं–'करतब वायस भेस मराला' से वह किसको धोखा देते ? सबने अपनी-अपनी घुमक्कड़ी और आप बीती सुनाई। लेकिन, इतनी कथाएँ कहाँ थीं, जो सात महीनों तक चलती रहतीं ? उसी कथा को दुहराने के लिए सुनने को कौन तैयार होता, पर समय को चुपचाप रहकर तो काटा नहीं जा सकता था।

बिहारी बाबा सबसे अधिक अपने को ही गिरा समझते थे, वह सबसे अधिक धर्म की ऊँची सीढ़ी पर थे भी। सर्दी असह्य थी। उन्हें विश्वास नहीं था कि जाड़ा पार कर पायेंगे। इस महापाप का फल नर्क में ही पड़ना था। क्यों न बेचारे बैठे-बैठे रोया करते ? मांस का टुकड़ा दूसरों की देखी मुँह में डाल तो लेते, और उससे शरीर को पोषण भी मिलता था, पर मन को पोषण कहाँ से मिलता ? पहिले कुछ दिन टहलने के लिए भी गुम्वा से बाहर जाते थे, पर जब मालूम हुआ कि आसपास डाकुओं के होने की सम्भावना है, तो उन्होंने उसे छोड़ दिया। सबेरे हाथ-मुँह धोने के बाद चाय-सत्तू मिल जाता। दोपहर को एक-दो बजे पेट-भर सत्तू, चाय और उबला मांस मिलता। गुम्बा की छत से याक के मांस के बड़े-बड़े टुकड़े लटक रहे थे, उसे देखकर विश्वास था कि यह जाड़ों ही जाड़ों नहीं खतम होंगे।

मार्च का महीना समाप्त होने लगा। अब सूर्य के ताप में काफी गर्मी थी, लेकिन इस गर्मी से क्या बनता ? उन्हें तो 16,750 फुट ऊँचे लेपु-लेक को पार करके ही भारत लौटना था और अभी वह खुला नहीं था। खैर, दिन की गर्मी से उन्हें धैर्य बँधा।

अन्त में एक दिन गुम्बा के लामा लोगों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए सातों सन्त वहाँ से चलकर तकलाकोट (तकलाखर) पहुँचे। वहाँ अल्मोड़ा के भोटिया लोगों की कुछ दूकानें थीं। उनसे हिन्दी में बातचीत हो सकती थी। अल्मोड़ा के भोटिया भाइयों ने भी उनकी हिम्मत बँधाई। तकलाकोट से लेपु-लेक पार होते ही भारत की सीमा आती।

तकलाकोट पहुँचते ही सिपाही उन्हें तिब्बती अफसर के पास ले गये। उसने पूछना शुरू किया–कौन से रास्ते आये ? राहदानी कहाँ है ? इतने दिनों कहाँ रहे ? सूचना क्यों नहीं दी ? वहाँ क्या करते रहे ? इत्यादि जवाब-सवाल करके उसने साधु समझ छोड़ दिया।

लेपु-लेक (डाँडा) तकलाकोट से 15 मील ही है। मानसरोवर 14,900 फुट और तकलाकोट 13,100 फुट पर है। लेपु-लेक (16,750 फुट) से उतराई उतरकर 11 मील पर काला पानी (12,000 फुट) मिला। लेकिन बस्ती गरब्यांग (10,330 फुट) पाँच मील और नीचे थी। उसी दिन शाम को वह गरब्यांग पहुँच गये। सातों सन्तों की जान में जान आई। गरब्यांग बहुत बड़ा गाँव है। तिब्बत के साथ व्यापार करने के कारण यहाँ के बहुत-से लोग धनी व्यापारी हो गये हैं। किसी समय वह शुद्ध बौद्ध रहे होंगे, लेकिन अब सभी ठाकुर हैं, और साधुओं की अच्छी सेवा करते हैं। ऐसे साधुओं की विशेषकर, जो कि मानसरोवर में सारा जाड़ा बिताकर आये थे। सन्तों का बड़ा सत्कार किया गया। बिहारी बाबा ने फिर अपना पहिला वैष्णव चोला धारण कर लिया। लक्कड़ लगाकर धुनी रमाई, और गाँजे की चिलम से दिल और दिमाग को गरम किया। धौम्य ने तो मैदान में उतरकर शरीर के मैल को धोने की जरूरत समझी। बिहारी बाबा और उनके साथियों ने यहीं लामा मठ के सारे पापों का प्रायश्चित्त कर डालने का निश्चय किया। गरब्यांग में दो दिन ठहरकर वह नीचे की ओर चल पड़े। चौथे दिन काली (शारदा) नदी के तट पर जौलजीवी पहुँच गये। 2,100 फुट होने के कारण यह गरम जगह थी। मालूम होता था, जैसे देहरादून आ गये हैं। उन्हें अल्मोड़ा जाना था। सात मील आगे अस्कोट में वह पाँच हजार फुट पर पहुँच गये। सातों सन्त मैदानी थे। अभी वह पहाड़ी इलाके में थे, तो भी यहाँ उन्हें देश-सा मालूम होता था। अपने-जैसे रंग-रूपवाले लोग थे, बोली-वाणी भी अपनी-सी ही थी। वनस्पति

की दरिद्रता खतम हो गई थी। आठ-दस महीने तक हरियाली देखने के लिए उनकी आँखें तरसती रहीं। खाना-पीना अपनी रुचि का मिल रहा था। अस्कोट से अल्मोड़ा और वहाँ से रानीखेत होते वह हल्द्वानी पहुँचे। वर्षा आरम्भ हो गई थी। प्रायः साल-भर साथ रहकर और अब सालों के लिए एक-दूसरे से बिछुड़नेवाले थे, जिसका दुःख उन्हें होना ही चाहिए था। सबसे पहिले बिहारी बाबा और सुन्दरदास अपने देश की ओर रवाना हुए। बिजनौर में मध्यप्रदेशी बाबा भी अलग हो गये, फिर दूसरों ने भी अपना-अपना रास्ता लिया। हरिशरण बाबा को कोई मठ बुला नहीं रहा था, न कोई स्नेही-सम्बन्धी अपनी ओर खींच. रहा था। रसायन का आकर्षण था, लेकिन सद्गुरु प्रसाद से वह उनके बारे में हताश हो चुके थे। योग के चक्कर से अब भी बाहर नहीं आये थे। तिब्बत की यात्रा में उन्होंने घुमक्कड़ी और सधुक्कड़ी तक ही अपने को सीमित नहीं रक्खा था। बाबा गोपालदास से उन्हें जड़ी-बूटियों की महिमा मालूम हो गई थी और कुछ से परिचय भी था। इस यात्रा में उन्होंने शृंगिक विष, निर्विषा, चौटक, ग्रन्थपर्णी, अतीस आदि तीस-चालीस औषधियों का परिचय व्यापारियों से प्राप्त किया।

हरद्वार–कहाँ जाना चाहिए, इसके लिए बहुत माथापच्ची करने की जरूरत नहीं थी। आखिर हरद्वार, ऋषिकेश, लक्ष्मणझूला उनके लिए सुपरिचित हो गये थे। वह जेठ के मध्य में हरद्वार पहुँचे। निहालचन्द की बगीची में छह-सात दिन सोचते-विचारते रहे, पर किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सके। एक दिन बड़ी रात रहते ही, ऋषिकेश की ओर चल पड़े। समय का अंदाजा लगाने में उन्होंने गलती की। दो बजे रात को आँख खुली, और उठ खड़े हुए। भूपतवाला और खड़खड़ी होकर सड़क के रास्ते चल रहे थे। भूपतवाला से आध मील आगे बढ़े। सड़क के दाहिनी ओर एक बगीचा आया। उसके अन्दर दौड़ने और धम-धम कूदने की आवाज सुनाई दी। फिर कोई चीख मारकर भागता मालूम पड़ा। अँधेरी रात थी। कहीं कुछ नहीं दिखाई देता था। कुछ डर तो लगा, लेकिन सब कुछ बगीचे के अन्दर हो रहा था। वह डरते-डरते इधर-उधर निगाह दौड़ाते सड़क पर आगे बढ़ते गये। बगीचे के आधे में पहुँचने पर दरख्त से किसी के कूदने की आवाज कान में पड़ी। यह भी मालूम हुआ कि किसी ने वृक्ष को पकड़कर जोर से हिला दिया, फिर धम से कूदकर चीखता हुआ कोई भागा। पत्तों की खड़खड़ाहट साफ सुनाई दे रही थी। हरिबाबा बहुत डर गये, पैर मन-मन भर के हो गये, शरीर से पसीना छूटने लगा। आसपास कोई बस्ती नहीं थी, और न उस समय किसी आदमी के मिलने की सम्भावना थी। दूर खेतों में मचानों पर लालटेनवाले आदमी जानवरों से खेती की रखवाली करते हला-हला कर रहे थे। इस आवाज के सिवा और कुछ सुनाई नहीं देता था। बगीचे की ओर नजर डालने की हिम्मत नहीं हो रही थी, तो भी वह उधर बरबस जाती थी। डर लग रहा था, कहीं कोई ऊपर न टूट पड़े। बड़ी मुश्किल से उन्होंने बगीचे की सीमा पार की। बाग के छोर से फिर किसी के दौड़ने और चीखने की आवाज सुनाई दी। पीछे की तरफ भी उसके भागने की आवाज थी। हरिबाबा भूत-प्रेतों की बात बहुत सुन चुके थे। अभी तक ऐसा गुरु नहीं मिला था, जो इन पर से उनके विश्वास को हटाता। बगीचे से बाहर निकल आने पर यह देखकर उनकी हिम्मत बँधी, कि धम-धम करके चीखने-चिल्लानेवाली बला बगीचे के भीतर ही रहना चाहती है। वह तेजी से कदम आगे बढ़ाने लगे।

डेढ़ मील और गये। अब सड़क बाँसों के घने जंगल के भीतर से जा रही थी। अब भी काफी रात थी, और पौ फटने की सूरत नहीं दिखलाई पड़ रही थी। जंगल के भीतर थोड़ा ही घुसे थे कि बाँसों के तड़-तड़ टूटने की आवाज आने लगी। एक बला से पिण्ड छुड़ाकर यहाँ पहुँचे थे, और दूसरी बला आती दिखलाई पड़ी। समझ नहीं पाये, सोच ही रहे थे कि इतने ही में एक हाथी सड़क से होकर दूसरी तरफ चला गया। उसे देखते ही हरिबाबा के होश गुम हो गये। डर के मारे अधमरे हो गये। उनके मुँह से चीख निकल गई। हाथी ने आदमी की चीख सुनी, तो वह भी डरकर जंगल में भागा। वह खासतौर से चिंघाड़ता भाग रहा था, जिसे सुनकर जंगल के भीतर के दूसरे हाथी भी चारा खाना छोड़कर भाग खड़े हुए। उनमें कुछ तो हरिबाबा से कुछ ही हाथ दूर से गुजरे। बाबा के बारे में क्या पूछना है ? वह तो जीवन से आशा छोड़ चुके थे। कुछ ही मिनटों में हाथी जंगल से हवा हो गये, चारों ओर नीरवता छा गई। हरिबाबा कुछ देर तक पत्थर की मूर्ति बने खड़े रहे। फिर उस जंगल को पार करने के सिवा कोई चारा नहीं था। वह धीरे-धीरे आगे बढ़े।

बड़ी बुरी साइत को उन्होंने हरद्वार से यात्रा शुरू की थी। बाँसों के जंगल के बाद शाल का जंगल आया। उसे पार करके सत्यनारायण मन्दिर के पास गये। वहाँ छोटी नदी का पुल था, वहाँ पहुँचे। पौ फटनेवाली थी, पूर्व ओर आसमान का रंग भी बदल रहा था। पुल पर आधी दूर नहीं गये थे कि दूर सड़क के ऊपर दो चमकती आँखें दिखाई दीं, और सड़े मांस की दुर्गन्ध नाक में आने लगी। शरीर सिहर गया। साहस करके खाँसने लगे। आदमी के खाँसने की आवाज सुनकर जानवर–बाघ था–उठा, अँगड़ाई ले गुर्राने लगा। हरिबाबा के प्राण सूख गये। काटो तो शरीर में खून नहीं। पर, वनराज ने कृपा की, गुर्राता हुआ वह पास के नाले में उतर गया। हरिबाबा 15 मिनट तक वहीं खड़े रहे। कुछ और प्रकाश हो गया, तब वह आगे बढ़े। सत्यनारायण होकर ऋषिकेश पहुँच गये।

6

योगाभ्यास (1910-12 ई.)

वर्ष 23

वैरागी साधु बहुत छूत-छात मानते हैं। वह किसी के हाथ का भोजन नहीं करते। जब तक सद्‌गुरुजी नहीं मिले थे, तब तक हरिदास भी वैरागियों के छूत-छात को मानते थे। उन्होंने देखा, वैष्णव होते हुए भी उनके गुरु अपने भक्तों के घर कच्ची रसोई खा लेते हैं। वह यह भी कहते थे कि कच्ची-पक्की के छूत मानने की क्या आवश्यकता ? शुद्धता से जो भी भोजन बने, उसे खाने में दोष नहीं।

वैष्णवदास के साथ हरि बाबा पेशावर भी इस बीच गये थे। वस्तुतः इस समय उनका चक्कर इतना लगता रहा कि काल और स्थान की याद नहीं रही। वहाँ भी वह गृहस्थों के घर में कच्ची रसोई खा आये थे। वैष्णवदास ने भी बतलाया कि यह कच्ची-पक्की का ढोंग साधुओं में ही हम रखते हैं, बाहर खा लेते हैं। हरि बाबा ने तो मानसरोवर में जाकर छुआछूत के मुर्दे को भी बहा दिया था, इसलिए दिल में उसके लिए कोई ख्याल नहीं था, बाहर से लोक-लाज तो करनी ही पड़ती थी। यहाँ ऋषिकेश में संन्यासी, उदासी सभी छूत-छात नहीं मानते थे। शिक्षा-संस्कृति में पिछड़ा और इस छूत-छात का ख्याल कर वैरागियों को दूसरे साधु पास बिठाना भी नहीं पसंद करते थे। हरिबाबा कोई रास्ता निकालना चाहते थे। उन्होंने कण्ठी तो पहिले ही गंगा में बहा दी थी, अब उन्होंने सद्‌गुरु की तरह अपने कपड़े पीले रँग लिये और नाम तो हरिशरण था ही, रास्ता साफ हो गया, दूसरे सन्तों की तरह वह भी कालीकमलीवाले क्षेत्र से मधुकरी लाकर गंगा के किनारे खा लेते और फिर सारे दिन निश्चिन्त हो संन्यासियों और उदासियों की मण्डली में शामिल हो जाते। पूछने पर बतला देते, मैं स्वामी सद्‌गुरु का चेला हूँ। "कौन साधु हो ?" का जवाव था, योग सम्प्रदायी। और पूछने पर कहते–"यह योग का एक नया सम्प्रदाय निकला है, जिनके आचार्य हमारे श्री सद्‌गुरुप्रसाद शरण हैं।"

हरि बाबा ने मुनि की रेती में एक साधु से परिचय करके उसके पास अब अपना आसन जमाया। संन्यासी-उदासी साधु 'योग-वासिष्ठ' पढ़ते हैं। वैरागियों में रामायण का जिस तरह प्रचार है, वैसे ही यहाँ विचारसागर का था। योग की चर्चा भी उनमें थी, और कोई-कोई योग के ग्रंथों को समझते थे। उनके पास रहकर उन्होंने 'हठयोग-प्रदीपिका', 'षट्चक्र-निरूपण' आदि दो-तीन ग्रंथ पढ़े। उनके पढ़ने से यही मालूम हुआ कि इनकी प्रक्रिया 'योगदर्शन' से भिन्न है। योगियों के पीछे तो पड़े ही थे, इसलिए हमेशा पूछा करते थे। एक साधु ने बतलाया, "कैलास आश्रम से ऊपर जंगल में दूर एक महात्मा स्वामी सत्यानन्द रहते हैं। यदि योग के सम्बन्ध में कुछ जानना हो, तो उनसे मिलो।" वह 12 बजे के करीब सिन्ध-पंजाब-क्षेत्र के सामने सड़क पर आकर खड़े हो जाते हैं। लंगरवाले वहीं उन्हें दो मधुकरी दे देते हैं, और वह खड़े-खड़े खाकर वहाँ से

लौट जाते हैं। उनके पीछे-पीछे जाने पर उनके निवासस्थान का तुम्हें पता लग जायगा।"

स्वामी सत्यानन्द–बाबा हरिशरण पंजाबी क्षेत्र के सामने जाकर इंतिजार करने लगे। स्वामी सत्यानन्द ठीक दोपहर को वहाँ आये। मधुकरी को खड़े-खड़े उन्होंने खा, प्याव पर जाकर पानी पी लिया। फिर वह जंगल की तरफ चल पड़े। हरि बाबा उनके पीछे-पीछे थे। कैलास आश्रम काफी दूर जंगल में एक कम्पिल वृक्ष के नीचे वह जाकर बैठे। उनसे काफी दूर एक वृक्ष के नीचे हरिशरण भी बैठ गये और उनकी गति-विधि देखने लगे। स्वामी 5 बजे तक एक आसन से उसी वृक्ष के नीचे बैठे रहे। फिर उठकर पास की एक टूटी झोंपड़ी में चले गये। हरिशरण लौट आये। अब रोज दोपहर को वह उसी तरह स्वामी के पीछे-पीछे जाते, और दूर वृक्ष के नीचे बैठ जाते। दो-तीन बार वह सबेरे के वक्त भी वहाँ गये। देखा, योगी अपनी कुटिया के भीतर पद्मासन बैठे हैं। सर्दी के चारों महीनों वह इसी तरह उनका पीछा करते रहे। सिर्फ यही देखते रहे कि वह क्या करते हैं ? न हरि बाबा ने उनसे कुछ पूछा, और न स्वामी ने ही उन्हें बुलाया। यह जंगल ऐसा नहीं था जिसमें बड़े जानवर हों। हाथी इधर आते ही नहीं थे। जंगली सुअरों से आदमी को भय नहीं था। इस प्रकार वह स्थान श्वापदों से निर्मुक्त था। भोजन करके लौटने पर वह कभी-कभी ध्यान लगाने की जगह कुटिया में या उसी वृक्ष के नीचे लेट जाते। उनके पास एक कम्बल की अलफी थी। कुटिया के भीतर पराल का बिछौना और उसी का सिरहाना था। एक कोने में पानी की हँड़िया रक्खी थी। सिरहाने एक फटी गूदड़ी भी बेड़ी हुई थी। वहाँ और कुछ नहीं था। वह बड़े त्यागी थे, यह तो यहाँ की बेसरोसामानी के देखने से ही मालूम होता था। इन चार महीनों में हरि बाबा ने उन्हें किसी से बोलते नहीं देखा। कभी-कभी वह जंगल में कुछ घूमने जाया करते थे, नहीं तो डटकर एक आसन पर बैठना ही उनका काम था। सर्दी बढ़ने पर वह कुटिया में बैठते। वह कब से इस स्थान में रह रहे थे, इसे जानने का हरि बाबा को कोई साधन नहीं मिला। उनकी आयु 50 से ऊपर थी। आधे बाल सफेद हो गये थे। बकरदाढ़ी थी। सिर के बाल बहुत लम्बे नहीं थे, जिन्हें वह खुले रखते थे। आसपास न कोई झरना था, और न जल की धारा। कभी-कभी वह अपनी हँड़िया को गंगा से भर लाया करते थे। वह कब और कहाँ स्नान करते हैं, शौच आदि कब करते हैं, इसे देखने का हरि बाबा को मौका नहीं मिला। हरि बाबा ने 'योगदर्शन' को पढ़ा था, और अब वह एक योगी को देख रहे थे। वह समझने लगे कि वह अपनी वृत्तियों को एकाग्र करने में लगे हैं। चित्त की वृत्तियों के निरोध करने का यही मार्ग है। जब तक आदमी लोगों से मिलता-जुलता रहता है, तब तक उसके मन में संकल्प-विकल्प अधिक उठते रहते हैं।

एक दिन भोजन कर लेने के बाद स्वामी उसी कम्पिल वृक्ष के नीचे थोड़े देर बैठे। हरि बाबा भी थोड़ी दूर पर एक वृक्ष के नीचे बैठे थे। महात्मा उस दिन उठकर उनके पास चले आये, और बोले–"आप यहाँ रोज क्यों आकर बैठा करते हैं ? यहाँ आने का प्रयोजन क्या है ?" हरि बाबा मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। आखिर चार महीने बाद उन बन्द ओठों से दो अक्षर तो सुनने का मौका मिला। वह बड़े भक्ति-भाव से हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए और बोले–"महाराज, मैं कुछ जिज्ञासा रखकर यहाँ आता हूँ, और वह जिज्ञासा है योग की शिक्षा।" महात्मा बोले–"यदि कुछ जानना और इस मार्ग पर चलना चाहते हो, तो पहिली बात तो यह करना कि किसी से न कहना कि सत्यानन्द ने हमने बात की, और न किसी को कभी अपने साथ लाना। योग-मार्ग पर चलनेवाले को किसी से मिलने की न जरूरत होती है, न मिलना अच्छा है। यह उसके कार्य में सबसे बड़ी बाधा है।" उन्होंने यह भी बतलाया कि "रोज मत आना, इससे हमारी क्रिया में बाधा होगी और जब आओ, तो दस-पाँच मिनट के लिए। उसी समय मैं कुछ बता सकूँगा।"

इसके बाद हरि बाबा ने ऐसा ही किया। स्वामी सत्यानन्दजी के पूछने पर हरि बाबा ने बतलाया कि मैंने 'योगदर्शन' को अच्छी तरह पढ़ा है। फिर योगिराज ने कहा–"अब तुम अपने मन की वृत्तियों की ओर देखो। वह कैसे उठती हैं, कैसे एक विषय से दूसरे विषय पर आरूढ़ होती हैं। फिर उन्हें इधर-उधर जाने से रोको। वृत्तियों को रोकना ही मन को रोकना है। वृत्तियों को रोककर मन को आज्ञाकारी बनाओ। मन को आत्मा में तल्लीन कर दो। मन अखण्ड हो जाये, संकल्प-विकल्परहित हो जाये, यही योग-साधन है। इसकी

शिक्षा किसी से लेने की जरूरत नहीं, यह तो अपने करने का काम है। उसमें सिखलाने की भी कोई बात नहीं है, स्वतः उठते हुए अपने संकल्प-विकल्प को देखो और उसको उठने न दो। अपने ही विचार करो कि किस कारण से कौन-सा संकल्प उठता है, उस कारण से बचो। अपने ही समझो और अपने ही मन को एकाग्र करो। किसी के पास आने-जाने या समझने की जरूरत नहीं है। अभ्यास करते तुम्हें अपने ही रास्ता मिल जायेगा। हमारे पास भी आने की जरूरत नहीं होगी। यदि योगाभ्यास करना चाहते हो तो ऐसे एकान्त स्थान में चले जाओ, जहाँ न तुमसे कोई मिले, और न तुम किसी से मिलो। शरीर-यात्रा के लिए दो रोटियों की तो जरूरत होगी ही। मैं भी इसीलिए क्षेत्र में जाता हूँ। बस वैसा ही कोई साधन ढूँढ़ लो, और पूरे तितिक्षु बनकर कहीं एकान्त में जा क्रिया में लग जाओ। यह रास्ता किसी के दिखाये नहीं देखा जाता, अपने ही करने से दिखलाई पड़ता है। जो योगदर्शन तुमने पढ़ा है, वही मैंने भी पढ़ा है। दूसरा भी उसकी बातें बतलायेगा। अब पढ़ना और सीखना-समझना नहीं है, बल्कि उस पर चलना है।" स्वामी सत्यानन्द ने बातें बतलायीं और हरि बाबा को उन पर पूरा विश्वास हो गया। वस्तुतः वह इतने अकृत्रिम रूप से उनके मुँह से निकली थीं, उनमें इतनी सहृदयता थी कि हरि बाबा का मन संतुष्ट हुए बिना नहीं रह सकता था।

कोयलघाटी की कुटिया–स्वामी सत्यानन्दजी की बातों से हरि बाबा की आँखें खुल गईं। वह समझने लगे, मैं व्यर्थ ही इधर-उधर भटक रहा था। योगदर्शन में ये बातें दी हुई हैं। अब वह एकान्त स्थान ढूँढ़ने की फिकर में पड़े। स्थान भी ऐसा हो कि खाने-पीने का प्रबन्ध आसानी से किया जा सके। कई दिन सोचने के बाद उन्हें मालूम हुआ, कि ऋषिकेश के पास ही में कहीं रहना अच्छा होगा, क्योंकि यहाँ आकर भिक्षा ले सकता हूँ। आसपास जगहें तलाश करने लगे। उस समय कोयलघाटी में जंगल था। यह स्थान ऋषिकेश से एक मील नीचे गंगा के किनारे पड़ता था। भूमि भरत मन्दिर के महन्तजी की थी। यहाँ थोड़े दिन पहिले एक बंगाली स्वामी कृष्णानन्द (बी. ए.) झोंपड़ी बनाकर रह रहे थे। वह हठयोगी थे। उनसे बातचीत करने पर मालूम हुआ कि भरत मन्दिर के महन्त से मैंने जगह ली है। हरि बाबा ने सोचा, यहीं मैं भी अपने लिए कुटिया बना लूँ। महन्त परशुरामदास से कहने पर उन्होंने बड़ी खुशी से जगह दे दी। एक आदमी को और लेकर उन्होंने फूस की झोंपड़ी बना ली। बिच्छुओं की बहुतायत थी। एक दिन फूस से निकलकर बिच्छू ने हरि बाबा के पैर में डंक मारा। शरीर में आग लग गई और दर्द की लहर बड़ी तेजी से ऊपर चढ़ने लगी। यहाँ के बिच्छू बड़े विषैले होते हैं। बाबा की झोली में संखिये की डली पड़ी हुई थी। उन्होंने चट उसे पानी में घिसकर लेप कर दिया। दस मिनट में ही दर्द बिल्कुल दूर हो गया।

1910 ई. के वैशाख का महीना था। झोंपड़ी बन गई। दोनों ही योगी अपनी-अपनी कुटिया में अभ्यास करने लगे थे। कृष्णानन्द नेती-धोती करते और हरि बाबा योगदर्शन की प्रक्रिया से चित्त-वृत्तियों पर अंकुश रखने का अभ्यास करते। उसके लिए वह अब ओम् का उच्चारण या दोनों भौंहों के बीच की त्रिकुटि में दृष्टि को लगाकर साधना करते थे। शाम को स्वामी कृष्णानन्द से ज्ञान-गोष्ठी होती। उसी समय हरि बाबा ने उनसे नेती-धोती करनी भी सीखी। महीने-डेढ़ महीने में गुदा के द्वारा उदर में पानी खींचने में समर्थ हो गये। इसके लिए पेट की दो पेशियों को खड़ा करके नल के रूप में धुमाना पड़ता है। अभ्यास करने से वह दोनों तनकर खड़ी हो जाती हैं, और उनके तनाव तथा संकोच-विकास से आँतें धीरे-धीरे पानी खींचने लग जाती हैं। नेती में डेढ़ हाथ की बत्ती नाक से डालकर मुँह से निकालकर सफ़ाई करनी पड़ती है। पहिले बत्ती नाक में डालने से छींक आती है, लेकिन कुछ ही दिनों में नाक बत्ती के स्पर्श को सहन करने लगती है। गले में बत्ती के पहुँच जाने पर खाँसने से साँस की हवा के साथ वह मुँह में निकल आती है। इन दोनों सिरों को पकड़कर धीरे-धीरे फिराना पड़ता है। त्रिकुटी में दृष्टि लगाकर लगातार देखने को त्राटक कहते हैं। हठयोग की क्रियाओं को करके हरि बाबा को पता लगा कि ये क्रियाएँ उन आदमियों के लिए आवश्यक हैं, जिनका शरीर शुद्ध नहीं होता, शरीर में कोई रोग होता है। शरीर के भीतर को शुद्ध रखने से मन के एकाग्र करने का कोई सम्बन्ध नहीं है। जो आदमी मिताहारी है, और भोजन इतना ही ग्रहण करता है, जिससे न पेट पर भार पड़े, न आलस आये, और जिसका शरीर निरोग है, उसे इन क्रियाओं के करने की जरूरत नहीं। हरि बाबा को लोगों पर

इसका प्रभाव डालना नहीं था, इसलिए ये उनके लिए महत्त्व नहीं रखती थीं।

धीरे-धीरे कोयलघाटी की कुटिया में रहते उन्हें पाँच महीने हो गये। इतने दिनों के अभ्यास से चित्त-वृत्तियों को रोकने में कोई सफलता नहीं हुई। इसका कारण एक तो यह था कि वहाँ कोई न कोई आदमी पहुँच जाता था। हठयोगी की क्रियाओं को सीखने की ओर मन लग जाने से भी बहुत-से संकल्प-विकल्प उठा करते थे। मन एकाग्र करने के लिए कुछ समय रात को या सबेरे मिलता था। जितनी देर वह मन को स्थिर करने की कोशिश करते, उससे अधिक समय दिन में उनका उससे चलायमान करने में लग जाता। सुभीता जरूर था। वहाँ से ऋषिकेश जा क्षेत्र से दो मधुकरी माँग लाते थे। इस प्रकार खाने से निश्चिन्त थे। अपने इस पाँच महीने के अभ्यास से वह संतुष्ट नहीं थे। इसी समय सद्गुरुजी घूमते-फिरते लक्ष्मणझूला पहुँचे। पता लगा, हरि कुटिया बनाकर कोयलघाटी में योग साध रहे हैं। लक्ष्मणझूला में कुछ समय रहकर जब वह नीचे जाने लगे, तो हरि बाबा की कुटिया में भी पहुँचे। रात वहीं बिताई। सवेरे बोले, चलो हमारे साथ हरद्वार तक। हरि बाबा को आशा हुई, क्या जाने गुरु बाबा कुछ विशेष कृपा करें। उनके साथ वह हरद्वार चले गये।

जल-प्रलय–1910 के सितम्बर का शायद अन्तिम सप्ताह था। सद्गुरु बाबा ने उनसे बातें पूछीं और उन्होंने अभ्यास की सारी बातें बतलाईं। गुरु महाराज कहने लगे–हमारे साथ लखनऊ चलो। किन्तु हरि बाबा उनके साथ घूम चुके थे। उससे उनको कोई फायदा नहीं होनेवाला था। उनका घूमने की ओर मन भी नहीं था। वह समझते थे, जिस योग के लिए मैंने वैराग लिया, उसे पूरा करना होगा। उन्होंने जाने से इन्कार कर दिया। शाम को घूमते-फिरते गंगा के घाट पर पहुँचे, तो देखा कि पानी चढ़ रहा है। वह गंगा के बीच के प्लेटफार्म से पौड़ियों पर आ पहुँचे। देखा, पानी प्लेटफार्म के ऊपर आ गया। यह अचरज की बात थी। आसमान में न कहीं बादल था, न एक भी बूँद पड़ रही थी। यह गंगा में बाढ़ कैसी ? समय शाम के पाँच बजे का था। सोचने लगे, यदि पानी आ गया है, तो निहालचन्द की बगीची में भी जरूर पानी घुस आया होगा। वहीं उन्होंने अपना डण्ड-कमण्डल रक्खा था। दौड़े बगीची की ओर। भीमगोड़ा में पहुँचते-पहुँचते देखा, ऋषिकेश की सड़क पर घुटने-भर पानी बड़े वेग से बह रहा है। चार-पाँच आदमी हाथ पकड़ एक-दूसरे का सहारा लेते धारा चीरकर बड़ी मुश्किल से कोठी के अन्दर पहुँचे। पानी बड़ी तेजी से बढ़ता जा रहा था। देखते-देखते पानी सारी बगीची में फैल गया। अब सड़क पर धारा इतनी तेज हो गई कि उसका पार करना आसान काम नहीं था। कुछ देर में पानी ने बगीची के भीतर की कोठी को चारों ओर से घेर लिया। वह बढ़ता ही जा रहा था। आसपास के चालीस के करीब नर-नारी कोठी की छत पर शरण लेने आ पहुँचे।

कोठी की पिछली तरफ एक गोशाला थी, जिसमें 30-40 गौएँ बँधी हुई थीं। गोशाला के आदमियों ने जब पानी को भीतर आते देखा, तो अपना बोरिया-बँधना बाँधकर कोठी के भीतर आ घुसे। आते समय उन्होंने गोशाला का फाटक भी बन्द कर दिया। घंटा-भर भी नहीं बीता था कि कोठी के भीतर पानी घुस आया। गोशाला की जगह तो कोठी से भी नीची थी। छत पर से देखा, गौवों के गले-गले तक पानी पहुँच गया है, बछड़े डूब रहे हैं। गौएँ रँभा रही हैं। सब लोग इस करुण दृश्य को देख रहे थे, लेकिन किसी को गोशाला में जाकर गौओं के खोलने का साहस नहीं हुआ। वह बड़ी बुरी तरह से तड़फड़ा रही थीं। उनके गले में यदि रस्सा न बँधा होता, तो वह तैरकर किसी ओर लग जातीं। हिन्दू उन्हें वैतरणी पार करने में सहायक बनाते थे। अब तो जान पड़ता था, वह अपने ही इस प्रलयपयोधि में डूबनेवाली हैं। उनकी चिल्लाहट जमीन-आसमान को एक करने लगी। हरि बाबा और देर तक चुपचाप उस गुहार को सुनने के लिए तैयार नहीं हो सके। कमर में रस्सी बाँधकर वह गंगा की धार में कूद पड़े। धारा का वेग गोशाला की दीवार से टकरा रहा था। हाथ मारते गोशाला की दीवार पर चढ़ गये। उनके साहस को देखकर दो और आदमी साथ देने के लिए कूद पड़े। गोशाला के भीतर आदमी के डूब जाने-भर पानी था। गौओं के पास पहुँचना आसान काम नहीं था। इस समय हरि बाबा की बचपन की तैराकी ने काम दिया। गौओं के पास जाकर बड़ी मुश्किल से उन्होंने रस्सियों को काटा, और फाटक को खोल दिया। गौएँ मुक्त होकर धारा में बह चलीं। लम्बी-चौड़ी दुनिया में न जाने कहाँ उन्होंने शरणस्थान पाया होगा। रस्सी कोठी से बँधी हुई थी, उसी के सहारे धारा को चीरते एक-एक करके

सारे आदमी कोठी की छत पर चले गये।

रात के आठ बजने लगे थे। पानी बढ़ता ही जा रहा था। कोठी गंगा की बीच धारा में थी। उसकी दोनों तरफ गंगा जोर से टकरा रही थी, मानो अपनी दोनों बाँहों में पकड़कर उसे अपने साथ ले जाना चाहती थी। कुछ देर बाद कोठी एक ओर कुछ नीचे धँसी। लोगों में घबराहट फैल गई। रात का अँधेरा था। ठीक तरह से कुछ दिखाई भी नहीं पड़ता था। उनकी नैया मझधार में डगमग-डगमग कर रही थी। लोगों की हालत बुरी थी। हजारों बार लोग चिल्लाकर थक गये। लेकिन, वहाँ कौन सुननेवाला था? महाप्रलय केवल निहालचन्द की बगीची के लिए थोड़े ही आई थी? हरि बाबा की तरह दूसरे आदमियों में भी कुछ तैरना जानते थे, लेकिन अँधेरी रात में तैरकर कहाँ पहुँचेंगे, इसका भी तो ठिकाना नहीं था। लोग अपने प्रियजनों के साथ सिमटकर छत पर जहाँ सुरक्षित स्थान समझते, वहाँ जमा हो गये थे। उनमें कोई नास्तिक नहीं था, यह उनके लिए अच्छी ही बात थी। चारों ओर 'हे राम, हे राम' ही सुनाई देता था। यह अखण्ड रामधुन बराबर चलती रही—रामधुन वैरागियों का बनाया शब्द है, जिसे गाँधीवादियों ने दखल कर लिया, और अब रेडियो पर भी वही धुन घंटों चलती है। लेकिन, रामधुन में 'रघुपति राघव सीता राम…' का पेटेन्ट मन्त्र नहीं चलता था। छोटे से बड़े तक सभी रात-भर उसी रामधुन में लगे रहे। नींद कहाँ से आती, जबकि मृत्यु सिर पर मँडरा रही थी। वह रात हजार साल के बराबर थी। एक-एक सेकेण्ड कटने में एक-एक महीना बीतता मालूम होता था। पर, आखिर उसे कटना तो था ही। पौ फटी। लोग चारों ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे कि कोई आदमी नजर आवे और उससे सहायता की याचना करें। कोठी का काफी हिस्सा कटकर गंगामाता को समर्पित हो चुका था। एक लम्बे बाँस से देखने पर पानी का थाह नहीं लग रहा था। किसी समय भी सारी कोठी बैठ जाने के लिए तैयार थी। बैठती तो क्या, सीधे थोड़े ही बैठती। उसके चीथड़े-चीथड़े उड़ जाते, पानी का प्रहार इतना जबर्दस्त था। जब आसमान पर कुछ और लाली दौड़ी, तो रेल की पटरी पर आदमी नजर आने लगे। कोठी की छत पर से लोग हल्ला मचाने लगे—"निकालो, बचाओ, कोठी कट गई है।" सड़क पर पानी की धारा कुछ कम हो गई थी, पर अब भी वेग इतना था कि कोई उसको पार करने की हिम्मत नहीं कर सकता था। लोगों ने महन्तजी को खबर दी। उनका हाथी आया, और उस पर चढ़ाकर छत पर के लोग धारा के उस पार पहुँचाये गये।

यह निरभ्र बाढ़ कहाँ से आई? उस वक्त तो लोग इसे भगवान की माया समझते थे। इसके लिए निम्न अवतरण 'गढ़वाल' में पढ़िए :

"गोहना (गोणा) गढ़वाल के मल्ला दसोली पट्टी में बिरहीगंगा के किनारे गाँव है। 1893 के सितम्बर में एक भयंकर भूपात हुआ, जिससे धारा के ऊपर 2,000 फुट चौड़ा और 900 फुट ऊँचा बाँध बन गया, और पानी बिल्कुल रुक गया। पहिले पटवारी की रिपोर्ट को मामूली भूपात समझा गया। इंजीनियर पुलफोर्ड ने हिसाब लगाकर बाँध के टूटने तथा बाढ़ आने के बारे में पहिले ही सूचना दी, जो ठीक उतरी। लोगों का विश्वास है कि डाइनामाइट से तोड़कर भविष्यवाणी सच्ची कराई गई। पहिले से ही गोहना, चमोली, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग, रुद्रप्रयाग, श्रीनगर, बाह, व्यासघाट, ऋषिकेश और हरद्वार में सावधानी कर दी गई थी। 1894 के अगस्त के मध्य में बाँध टूटने का समय बतलाया गया था। 24 अगस्त को सूचना दी गई कि 48 घंटे के भीतर बाढ़ आयेगी। 25 अगस्त के सबेरे पानी जरा-जरा ऊपर से चूने लगा, धार बढ़ती गई और आधी रात को भारी आवाज के साथ बाँध का ऊपरी भाग गिर पड़ा। पानी जोर से बह चला। 26 अगस्त के सबेरे तक 1 अरब घनफुट पानी निकल गया और गोहनाताल 390 फुट नीचे उतर गया। प्राणहानि में एक परिवार मरा, जिसने हटाये जाने पर भी जाकर खतरे की जगह में डेरा डाल दिया था, सो भी बाढ़ से नहीं, बल्कि एक रक्षात्मक रोक-थाम के गिरने से। सम्पत्ति की अपार हानि हुई। श्रीनगर का पुराना नगर अपने पुरातात्विक चिह्नों के साथ बह गया।"

16 वर्ष पहिले गोहना (झील) ने उस महाप्रलय का दृश्य हरद्वार में भी दिखलाया होगा। पर, उस समय तो पाँच वर्ष के हरि बाबा हरिश्चन्द्र के रूप में कानपुर में बाललीला करते होंगे। अब 2 अक्तूबर 1910 को

गोहना ने दूसरी बार अपना चमत्कार दिखलाया। उस दिन सबेरे झील को रोकनेवाली कुछ चट्टानें खिसक गईं। रुके हुए पानी का रास्ता खुल गया और फिर वह प्रलय मचाती नीचे की ओर चल पड़ी। यह छोटी-मोटी बाढ़ नहीं थी, बल्कि यदि खुलकर देखा गया होता, तो मोलूम होता कि पानी की एक ऊँची दीवार पहाड़ की ओर से बढ़ती चली आ रही है। 16 वर्ष पहिले की बाढ़ के लिए तो पहिले ही से लोगों को सजग कर दिया गया था। यहाँ तक कि स्थानों पर निशान भी लगा दिये गये थे कि पानी यहाँ तक पहुँचेगा। इस समय तो वह भी नहीं हुआ था। सबेरे देखने पर गंगा की धार बहुत विशाल हरद्वार में दोनों पहाड़ों तक पहुँची हुई थी। धार में सैकड़ों पशु, मकानों के छप्पर बहते चले जा रहे थे। कितने ही छप्परों पर आदमी और बच्चे भी बैठे हुए थे। वह कहाँ गये होंगे ?

हरि बाबा गुरुजी को हरद्वार में रेल पर पहुँचाने गये थे, और अपना ही यमपुर का टिकट कटाते-कटाते बच गये। लौटकर फिर वह कोयलघाटी की अपनी कुटिया में चले आये। चार महीने जाड़े के वहीं किसी तरह बिताये। अभ्यास करते रहे, मन की चंचलता को रोकने का अवसर नहीं मिल पाया।

कुनाँव के वन में–कोयलघाटी अब उन्हें अनुकूल नहीं जँच रही थी, इसलिए वह कोई दूसरे एकान्त स्थान की तलाश में थे। वह अपनी कुटिया से शौचादि के लिए गंगा के किनारे कुछ दूर जाया करते थे। देखा, गंगापार पहाड़ और उसकी जड़ में घना जंगल है, जिसके नीचे गंगा के तट पर एक-डेढ़ मील लम्बा मैदान चला गया है। वह एक अच्छी चरागाह थी, जहाँ सैकड़ों गौएँ चरा करती थीं। गर्मियों में वहाँ गौएँ दिखलाई पड़ती थीं, लेकिन सर्दियों में उनका कोई पता नहीं रहता। मैदान के पास गंगा के बिल्कुल तट पर एक छोटी-सी टेकरी थी, जिस पर एक झोंपड़ी पड़ी हुई थी, जहाँ कभी-कभी एक साधु दिखाई पड़ते। पता लगा, इस स्थान का नाम कुनाँव है। पास में और भी झोंपड़ियाँ थीं, जिनमें सर्दियों में कोई आदमी नहीं दिखाई पड़ता। हरि बाबा सोचने लगे कि वह स्थान हमारे लिए बहुत अनुकूल है। वहाँ रहने पर गंगापार जानेवाले भगत भी नहीं पैदा होंगे। हरि बाबा ने रास्ते का पता लगाया। पता लगा, लक्ष्मणझूला से गंगा पार कर जाया जा सकता है, वहाँ से वह स्थान पाँच मील के करीब था। दूसरा रास्ता कोयलघाटी से चार मील नीचे था, जहाँ गंगा को चमड़े की मशक से पार करना पड़ता था। 1911 ई. की गर्मियों के आरम्भ में लक्ष्मणझूला से होकर हरि बाबा कुनाँव की ओर चले। वन-विभाग ने रास्ता बना दिया था, पर उधर से लोग बहुत कम आते-जाते थे। वहाँ पहुँचने पर देखा, वहाँ कोई आदमी नहीं है और कुटिया भी खाली है। झोंपड़ियाँ काफी थीं लेकिन आदमी नहीं। खाने-पीने के लिए वहाँ कुछ नहीं था, और आसपास कोई गाँव भी नहीं था। जंगल में खाने लायक कन्दमूल उन्हें नहीं मिला, या पता नहीं था। भूख लगी, अब खायें क्या ? शाम होने लगी, चिन्ता और भी बढ़ी। इसी समय एक पहाड़ी चार गायों को लेकर वहाँ पहुँचा। हरि बाबा की हिम्मत बढ़ी। पहाड़ी गोपाल ने बतलाया कि और भी लोग गौएँ लेकर आ रहे हैं। ऊपर चारे का अभाव हो जाता है, इसलिए हम अपनी गौओं को लेकर यहाँ आ जाते हैं। गोपाल ने रात को रोटी बनाई, दो हरि बाबा को भी दे दीं। हरि बाबा की अँतड़ियाँ भूख के मारे कुलबुला रही थीं। भला ऐसे समय योग-ध्यान कैसे किया जाता ? अब उनकी जान में जान आई। रात उन्होंने साधु की झोंपड़ी में बिताई।

अगले दिन एक और पहाड़ी गोपाल कई गायों को लेकर आ गया। उसने हरि बाबा से कहा–आप यहाँ रहकर अच्छी तरह भजन-भाव करें, हम आपको भूखा रहने नहीं देंगे। यहाँ हजार से अधिक गाएँ जमा हो जाती हैं। दूध की कमी नहीं रहेगी, जितना चाहें उतना पीयें।

दूसरे साधु की झोंपड़ी में रहना हरि बाबा ने पसन्द नहीं किया। गोपालों की झोंपड़ियों में पिस्सू बहुत थे। उन्होंने जंगल में इधर-उधर अपने लिए कोई अनुकूल स्थान ढूँढ़ना चाहा। गोपालों ने बतला दिया कि इस जंगल में बाघ भी हैं, और हाथी भी काफी रहते हैं। गोपालों की झोंपड़ियों से सौ गज के करीब गंगा के किनारे एक बहुत बड़ा जीयापोता का वृक्ष था। उसकी शाखाएँ आड़ी-तिरछी फैली हुई थीं। हरि बाबा ने सोचा, इन्हीं शाखाओं पर बाँस रखकर कुटिया बना लें, तो अच्छा रहेगा। पेड़ बड़ा है, हाथी इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकेंगे, और झोंपड़ी सूँड़ की पहुँच से बाहर रहने पर सुरक्षित रहेगी। हरि बाबा ने गोपालों से कहा–"यदि हमें यहाँ

टिकाना चाहते हो तो इस वृक्ष पर बाँस बिछाकर हमारे लिए कुटिया बना दो।" गोपालों ने कहा-"दो-चार दिन ठहरें, और भी आदमी आनेवाले हैं। उनके पास लकड़ी काटने के औजार हैं। उनके आते ही हम आपके लिए झोंपड़ी बना देंगे।" हरि बाबा इतने दिनों तक साधु की सूनी कुटिया में रहे।

रोज दस-बीस गौवें बढ़ जातीं और दो-एक नये आदमी चले आते थे। काटने के औजारों के आते ही गोपालों ने वृक्ष की डाली पर बाँस बाँधकर उस पर आड़ी-तिरछी डालियाँ बिछा समतल बना दिया। ऊपर फूस का छप्पर भी डाल दिया। पेड़ के ऊपर एक अच्छी छोटी-सी झोंपड़ी तैयार हो गई। वहीं पानी की हाँड़ी रखने का स्थान भी बना दिया। हरि बाबा उस कुटिया को तैयार देखकर इतने प्रसन्न हुए, मानो उनके लिए इन्द्रभवन तैयार हो गया। वृक्ष पर चढ़ने में कहीं-कोई पैर रखने की जगह नहीं थी, वहाँ कीलें ठोककर पैर रखने लायक बना दिया गया।

लोग अधिकतर ऐसे ही गौवों को अपने यहाँ लाते थे, जो गाभन थीं, या बिसुकनेवाली थीं। फिर भी 40-50 गौवों में तीन-चार सेर दूध निकलने लगा। गोपाल सबेरे और शाम को आध-आध सेर दूध बाबा के पास पहुँचाने लगे। रोटियाँ भी पकाकर लाये, लेकिन बाबा ने कह दिया कि हमारे लिए यह दूध ही काफी है। आगे दूध बढ़ाना चाहते थे, लेकिन बाबा ने उसे लेना पसन्द नहीं किया। उन्हें तो भूख को मारना था, बाकी समय अपने अभ्यास में लगाना था। अधिक खाना शरीर को ही सक्रिय नहीं करता, बल्कि मन को भी चंचल बनाता है।

चौबीस घण्टे में सिर्फ एक बार बाबा सबेरे शौचादि के लिए पेड़ से नीचे उतरते। कभी-कभी शाम को भी एक बार उन्हें उतरना पड़ता। इसके बाद उसी पेड़ पर डटे रहते। इस एकान्तवास और दूसरों से अल्पतम सम्पर्क के कारण अभ्यास में उनका मन लगने लगा। रात को देखते कि हाथियों का झुण्ड पास से ही गंगापार हो वीरभद्र महादेव के जंगल में चरने जाता और भिनसारे को 3-4 बजे वापस लौटता। बाबा को आसन जमाये तीन-चार ही दिन हुए थे कि एक दंतैल हाथी ने आकर उस वृक्ष से पीठ खुजलानी शुरू की। सारा वृक्ष हिलने लगा। फिर उसने पेड़ की एक लटकती डाली को सूँड़ से लपेटकर झटका मारा। सारा वृक्ष झटका खा गया और डाली कड़ाक से टूटकर नीचे जा पड़ी। इस समय हरि बाबा चित्त की वृत्ति को क्या एकाग्र करते ? लेकिन उनको विश्वास था कि न दंतैल इस वृक्ष को तोड़ सकता है, न हमारी झोंपड़ीवाली डालियों तक उसकी सूँड़ पहुँच सकती है। लेकिन पेड़ के हिलने से झोंपड़ी में रक्खी हँड़िया लुढ़कर नीचे धम् से जा गिरी। उसके गिरते ही दंतैल भाग खड़ा हुआ।

हाथियों के झुण्ड उधर से रात को अक्सर आया-जाया करते। कुछ दिनों बाद जब हाथियों का झुण्ड गंगापार से चरकर लौट रहा था, उस समय देखा, एक हथिनी अपने हाल ही में पैदा हुए शिशु को सूँड़ के सहारे ऊपर ला रही थी। वहाँ गंगा के किनारे बहुत-सी शिलाएँ पड़ी हुई थीं। बच्चा आने-जाने के रास्ते से कुछ ऊपर चला गया और पत्थरों के भीतर फँस गया। बाकी हाथी तट के ऊपर आ गये। बच्चा चिल्लाने लगा। उसकी आवाज सुनकर सभी लौट पड़े। उन्होंने बच्चे तक पहुँचकर उसे निकालने की बहुत कोशिश की, लेकिन सफल नहीं हुए। इतने ही में सबेरा हो गया। अब वहाँ रहना सुरक्षित नहीं था, इसलिए बच्चे को वहीं फँसा छोड़कर सारे हाथी जंगल में चले गये। गोपाल जब दूध देने के लिए आये, तो बाबा ने उन्हें पत्थरों में फँसे बच्चे को निकालने के लिए कहा। वह उसे निकाल लाये। अपने बछड़ों में ले गये तो इस विचित्र काले जन्तु को देखकर सभी डर के मारे कान खड़ा कर भाग खड़े हुए। बच्चा भूखा था, उसे उन्होंने दूध पिलाने की कोशिश की, लेकिन दो-तीन दिन में ही वह उसमें पूरी तरह से सफल हुए। फिर तो वह अपनी सूँड़ से दूध भरकर मुँह में उड़ेलने लगा और एक बार में चार-चार सेर दूध पी जाता था। गाएँ बहुत थीं, दूध का घाटा नहीं था। बच्चा दो-चार दिन पहिले का जन्मा मालूम होता था। वह जल्दी ही बछड़ों में हिल गया। फिर बछड़े भी उसके दोस्त बन गये। वह बछड़ों के साथ खूब खेलता, अपनी सूँड़ को बछड़ों की टाँगों में डालकर उन्हें गिरा देता, कभी उनकी पूँछ पकड़कर खींचता। एक दिन कुछ अंग्रेज हाथियों पर सवार होकर जंगल में शिकार खेलने के लिए आये। हाथी के बच्चे ने देखा, तो वह हाथियों में जा मिला और उनके साथ

गोहना ने दूसरी बार अपना चमत्कार दिखलाया। उस दिन सबेरे झील को रोकनेवाली कुछ चट्टानें खिसक गईं। रुके हुए पानी का रास्ता खुल गया और फिर वह प्रलय मचाती नीचे की ओर चल पड़ी। यह छोटी-मोटी बाढ़ नहीं थी, बल्कि यदि खुलकर देखा गया होता, तो मालूम होता कि पानी की एक ऊँची दीवार पहाड़ की ओर से बढ़ती चली आ रही है। 16 वर्ष पहिले की बाढ़ के लिए तो पहिले ही से लोगों को सजग कर दिया गया था। यहाँ तक कि स्थानों पर निशान भी लगा दिये गये थे कि पानी यहाँ तक पहुँचेगा। इस समय तो वह भी नहीं हुआ था। सबेरे देखने पर गंगा की धार बहुत विशाल हरद्वार में दोनों पहाड़ों तक पहुँची हुई थी। धार में सैकड़ों पशु, मकानों के छप्पर बहते चले जा रहे थे। कितने ही छप्परों पर आदमी और बच्चे भी बैठे हुए थे। वह कहाँ गये होंगे ?

हरि बाबा गुरुजी को हरद्वार में रेल पर पहुँचाने गये थे, और अपना ही यमपुर का टिकट कटाते-कटाते बच गये। लौटकर फिर वह कोयलघाटी की अपनी कुटिया में चले आये। चार महीने जाड़े के वहीं किसी तरह बिताये। अभ्यास करते रहे, मन की चंचलता को रोकने का अवसर नहीं मिल पाया।

कुनाँव के वन में–कोयलघाटी अब उन्हें अनुकूल नहीं जँच रही थी, इसलिए वह कोई दूसरे एकान्त स्थान की तलाश में थे। वह अपनी कुटिया से शौचादि के लिए गंगा के किनारे कुछ दूर जाया करते थे। देखा, गंगापार पहाड़ और उसकी जड़ में घना जंगल है, जिसके नीचे गंगा के तट पर एक-डेढ़ मील लम्बा मैदान चला गया है। वह एक अच्छी चरागाह थी, जहाँ सैकड़ों गौएँ चरा करती थीं। गर्मियों में वहाँ गौएँ दिखलाई पड़ती थीं, लेकिन सर्दियों में उनका कोई पता नहीं रहता। मैदान के पास गंगा के बिल्कुल तट पर एक छोटी-सी टेकरी थी, जिस पर एक झोंपड़ी पड़ी हुई थी, जहाँ कभी-कभी एक साधु दिखाई पड़ते। पता लगा, इस स्थान का नाम कुनाँव है। पास में और भी झोंपड़ियाँ थीं, जिनमें सर्दियों में कोई आदमी नहीं दिखाई पड़ता। हरि बाबा सोचने लगे कि वह स्थान हमारे लिए बहुत अनुकूल है। वहाँ रहने पर गंगापार जानेवाले भगत भी नहीं पैदा होंगे। हरि बाबा ने रास्ते का पता लगाया। पता लगा, लक्ष्मणझूला से गंगा पार कर जाया जा सकता है, वहाँ से वह स्थान पाँच मील के करीब था। दूसरा रास्ता कोयलघाटी से चार मील नीचे था, जहाँ गंगा को चमड़े की मशक से पार करना पड़ता था। 1911 ई. की गर्मियों के आरम्भ में लक्ष्मणझूला से होकर हरि बाबा कुनाँव की ओर चले। वन-विभाग ने रास्ता बना दिया था, पर उधर से लोग बहुत कम आते-जाते थे। वहाँ पहुँचने पर देखा, वहाँ कोई आदमी नहीं है और कुटिया भी खाली है। झोंपड़ियाँ काफी थीं लेकिन आदमी नहीं। खाने-पीने के लिए वहाँ कुछ नहीं था, और आसपास कोई गाँव भी नहीं था। जंगल में खाने लायक कन्दमूल उन्हें नहीं मिला, या पता नहीं था। भूख लगी, अब खायें क्या ? शाम होने लगी, चिन्ता और भी बढ़ी। इसी समय एक पहाड़ी चार गायों को लेकर वहाँ पहुँचा। हरि बाबा की हिम्मत बढ़ी। पहाड़ी गोपाल ने बतलाया कि और भी लोग गौएँ लेकर आ रहे हैं। ऊपर चारे का अभाव हो जाता है, इसलिए हम अपनी गौओं को लेकर यहाँ आ जाते हैं। गोपाल ने रात को रोटी बनाई, दो हरि बाबा को भी दे दीं। हरि बाबा की अँतड़ियाँ भूख के मारे कुलबुला रही थीं। भला ऐसे समय योग-ध्यान कैसे किया जाता ? अब उनकी जान में जान आई। रात उन्होंने साधु की झोंपड़ी में बिताई।

अगले दिन एक और पहाड़ी गोपाल कई गायों को लेकर आ गया। उसने हरि बाबा से कहा–आप यहाँ रहकर अच्छी तरह भजन-भाव करें, हम आपको भूखा रहने नहीं देंगे। यहाँ हजार से अधिक गाएँ जमा हो जाती हैं। दूध की कमी नहीं रहेगी, जितना चाहें उतना पीयें।

दूसरे साधु की झोंपड़ी में रहना हरि बाबा ने पसन्द नहीं किया। गोपालों की झोंपड़ियों में पिस्सू बहुत थे। उन्होंने जंगल में इधर-उधर अपने लिए कोई अनुकूल स्थान ढूँढ़ना चाहा। गोपालों ने बतला दिया कि इस जंगल में बाघ भी हैं, और हाथी भी काफी रहते हैं। गोपालों की झोंपड़ियों से सौ गज के करीब गंगा के किनारे एक बहुत बड़ा जीयापोता का वृक्ष था। उसकी शाखाएँ आड़ी-तिरछी फैली हुई थीं। हरि बाबा ने सोचा, इन्हीं शाखाओं पर बाँस रखकर कुटिया बना लें, तो अच्छा रहेगा। पेड़ बड़ा है, हाथी इसका कुछ बिगाड़ नहीं सकेंगे, और झोंपड़ी सूँड़ की पहुँच से बाहर रहने पर सुरक्षित रहेगी। हरि बाबा ने गोपालों से कहा–"यदि हमें यहाँ

टिकाना चाहते हो तो इस वृक्ष पर बाँस बिछाकर हमारे लिए कुटिया बना दो।" गोपालों ने कहा–"दो-चार दिन ठहरें, और भी आदमी आनेवाले हैं। उनके पास लकड़ी काटने के औजार हैं। उनके आते ही हम आपके लिए झोंपड़ी बना देंगे।" हरि बाबा इतने दिनों तक साधु की सूनी कुटिया में रहे।

रोज दस-बीस गौवें बढ़ जातीं और दो-एक नये आदमी चले आते थे। काटने के औजारों के आते ही गोपालों ने वृक्ष की डाली पर बाँस बाँधकर उस पर आड़ी-तिरछी डालियाँ बिछा समतल बना दिया। ऊपर फूस का छप्पर भी डाल दिया। पेड़ के ऊपर एक अच्छी छोटी-सी झोंपड़ी तैयार हो गई। वहीं पानी की हाँड़ी रखने का स्थान भी बना दिया। हरि बाबा उस कुटिया को तैयार देखकर इतने प्रसन्न हुए, मानो उनके लिए इन्द्रभवन तैयार हो गया। वृक्ष पर चढ़ने में कहीं-कोई पैर रखने की जगह नहीं थी, वहाँ कीलें ठोककर पैर रखने लायक बना दिया गया।

लोग अधिकतर ऐसे ही गौवों को अपने यहाँ लाते थे, जो गाभन थीं, या बिसुकनेवाली थीं। फिर भी 40-50 गौवों में तीन-चार सेर दूध निकलने लगा। गोपाल सबेरे और शाम को आध-आध सेर दूध बाबा के पास पहुँचाने लगे। रोटियाँ भी पकाकर लाये, लेकिन बाबा ने कह दिया कि हमारे लिए यह दूध ही काफी है। आगे दूध बढ़ाना चाहते थे, लेकिन बाबा ने उसे लेना पसन्द नहीं किया। उन्हें तो भूख को मारना था, बाकी समय अपने अभ्यास में लगाना था। अधिक खाना शरीर को ही सक्रिय नहीं करता, बल्कि मन को भी चंचल बनाता है।

चौबीस घण्टे में सिर्फ एक बार बाबा सबेरे शौचादि के लिए पेड़ से नीचे उतरते। कभी-कभी शाम को भी एक बार उन्हें उतरना पड़ता। इसके बाद उसी पेड़ पर डटे रहते। इस एकान्तवास और दूसरों से अल्पतम सम्पर्क के कारण अभ्यास में उनका मन लगने लगा। रात को देखते कि हाथियों का झुण्ड पास से ही गंगापार हो वीरभद्र महादेव के जंगल में चरने जाता और भिनसारे को 3-4 बजे वापस लौटता। बाबा को आसन जमाये तीन-चार ही दिन हुए थे कि एक दंतैल हाथी ने आकर उस वृक्ष से पीठ खुजलानी शुरू की। सारा वृक्ष हिलने लगा। फिर उसने पेड़ की एक लटकती डाली को सूँड़ से लपेटकर झटका मारा। सारा वृक्ष झटका खा गया और डाली कड़ाक से टूटकर नीचे जा पड़ी। इस समय हरि बाबा चित्त की वृत्ति को क्या एकाग्र करते ? लेकिन उनको विश्वास था कि न दंतैल इस वृक्ष को तोड़ सकता है, न हमारी झोंपड़ीवाली डालियों तक उसकी सूँड़ पहुँच सकती है। लेकिन पेड़ के हिलने से झोंपड़ी में रक्खी हँड़िया लुढ़कर नीचे धम् से जा गिरी। उसके गिरते ही दंतैल भाग खड़ा हुआ।

हाथियों के झुण्ड उधर से रात को अक्सर आया-जाया करते। कुछ दिनों बाद जब हाथियों का झुण्ड गंगापार से चरकर लौट रहा था, उस समय देखा, एक हथिनी अपने हाल ही में पैदा हुए शिशु को सूँड़ के सहारे ऊपर ला रही थी। वहाँ गंगा के किनारे बहुत-सी शिलाएँ पड़ी हुई थीं। बच्चा आने-जाने के रास्ते से कुछ ऊपर चला गया और पत्थरों के भीतर फँस गया। बाकी हाथी तट के ऊपर आ गये। बच्चा चिल्लाने लगा। उसकी आवाज सुनकर सभी लौट पड़े। उन्होंने बच्चे तक पहुँचकर उसे निकालने की बहुत कोशिश की, लेकिन सफल नहीं हुए। इतने ही में सबेरा हो गया। अब वहाँ रहना सुरक्षित नहीं था, इसलिए बच्चे को वहीं फँसा छोड़कर सारे हाथी जंगल में चले गये। गोपाल जब दूध देने के लिए आये, तो बाबा ने उन्हें पत्थरों में फँसे बच्चे को निकालने के लिए कहा। वह उसे निकाल लाये। अपने बछड़ों में ले गये तो इस विचित्र काले जन्तु को देखकर सभी डर के मारे कान खड़ा कर भाग खड़े हुए। बच्चा भूखा था, उसे उन्होंने दूध पिलाने की कोशिश की, लेकिन दो-तीन दिन में ही वह उसमें पूरी तरह से सफल हुए। फिर तो वह अपनी सूँड़ से दूध भरकर मुँह में उड़ेलने लगा और एक बार में चार-चार सेर दूध पी जाता था। गाएँ बहुत थीं, दूध का घाटा नहीं था। बच्चा दो-चार दिन पहिले का जन्मा मालूम होता था। वह जल्दी ही बछड़ों में हिल गया। फिर बछड़े भी उसके दोस्त बन गये। वह बछड़ों के साथ खूब खेलता, अपनी सूँड़ को बछड़ों की टाँगों में डालकर उन्हें गिरा देता, कभी उनकी पूँछ पकड़कर खींचता। एक दिन कुछ अंग्रेज हाथियों पर सवार होकर जंगल में शिकार खेलने के लिए आये। हाथी के बच्चे ने देखा, तो वह हाथियों में जा मिला और उनके साथ

चलने लगा। गोपालों ने अंग्रेजों से बहुत कहा कि इसे लेते जाइये, पर उन्होंने बिना सरकारी आज्ञा के हाथी को ले जाना अच्छा नहीं समझा। काफी दिक्कत के बाद उसे दूसरे हाथियों से निकालकर ला पाये। जब तक गोपालों की हजारों गायें वहाँ चर रही थीं, तब तक बच्चे के लिए कोई दिक्कत नहीं थी। किन्तु पीछे वह बच नहीं सका।

बाबा का अभ्यास चलता रहा। वहाँ कोई आता-जाता नहीं था। सिर्फ गोपाल शाम-सबेरे दूध दे जाया करते थे। उनसे कोई बात-चीत नहीं करते थे। उन्हें पहिले ही से बतला दिया था कि बाबा ध्यान में रहते हैं, बात-चीत करने से विघ्न होता है। आसन जमाकर बैठने की आदत पड़ गई। मन की वृत्तियाँ भी कुछ काबू में आने लगीं। मित आहार के कारण शरीर कुछ दुर्बल हो गया, किन्तु उसमें निर्बलता नहीं मालूम होती थी। मन भी अब कुछ-कुछ एकाग्र होने लगा था। बाबा ने सोचा, यहाँ कोई भगत नहीं पहुँचेगा, पर उनका ख्याल गलत निकला। सारे भारतवर्ष के भक्त हिमालय में योगियों का पता लगाने आया करते हैं। बम्बई के एक डॉक्टर को ऋषिकेश में पता लगा कि कुनाँव के जंगलों में एक योगी वृक्ष पर रहते हैं। वह वहाँ पहुँचे। डॉक्टर बात-चीत करना चाहते थे, जिसे योगी उसे भारी विघ्न समझते थे। हरि बाबा को तब भी दो-चार बातें कहने ही पर पिण्ड छुड़ाने में सफलता मिली। डॉक्टर ने पूछा—"आप को किसी चीज की जरूरत है ?" बाबा ने कहा—"हमें कोई जरूरत नहीं।" डॉक्टर तब भी गोपालों को जबर्दस्ती कुछ रुपये दे गया कि महात्मा को खीर बनाकर खिलाया करना और दूध में चीनी डालकर देना। हरि बाबा ने डॉक्टर की कोई चीज नहीं ली।

वर्षा अभी आरम्भ नहीं हुई थी। काफी गर्मी पड़ रही थी। इसी समय सद्‌गुरुजी कोयलघाटी में हरि बाबा की कुटिया पर पहुँचे। कुटिया खाली थी। स्वामी कृष्णानन्द ने बतलाया कि वह सामने गंगापार कुनाँव में जाकर बैठे हैं। वहाँ से वृक्ष की डालियों पर उनकी झोंपड़ी दिखलाई पड़ती थी। गुरुजी ने एक आदमी के हाथ सन्देश भेजा कि एक दिन के लिए ऋषिकेश आकर जरूर मुझसे मिल जाओ। हरि बाबा गुरु के कृतज्ञ थे, इसलिए वह उनकी आज्ञा मानने से इन्कार नहीं कर सकते थे। हो सकता है, अभी भी रसायन सीखने की कुछ हल्की-सी वासना उनके मन के भीतर थी। लक्ष्मणझूला या मशकवाले घाट से जाने में सात-आठ मील से कम का चक्कर नहीं पड़ता, और सामने गंगा उतर वह कुछ ही देर में ऋषिकेश पहुँच सकते थे। उस समय गंगा में पानी कम था। यह वही स्थान था, जहाँ से हाथी रोज गंगापार हुआ करते थे। धारा भी ज्यादा नहीं थी। हरि बाबा को अपनी तैराकी पर पूरा भरोसा था। सोचा, इस 40-50 हाथ चौड़ी धार को यहीं न पार कर लूँ। कानपुर की गंगा की धार को जो कई बार आर-पार कर सकता था, उसके लिए सचमुच ही यह अपमान की बात थी कि इस छोटी-सी धार को न पार कर आठ मील का चक्कर लगाये। ऊपर से लकड़ियों के स्लीपर बहकर नीचे आया करते हैं। उनमें से कुछ किनारे भी पड़े हुए थे। चाहते तो स्लीपर का सहारा लेकर आसानी से पार जा सकते थे, पर उन्हें तो अपने तैरने का अभिमान था। पानी में उतरे। लेकिन यह काशी-कानपुर की गंगा का पानी नहीं था। यह तो बर्फानी था। बाहर तेज गर्मी थी, इसलिए घुसते समय तो अच्छा लगा। बाबा ने अपने अँचले को सिर में बाँध लिया था कि उस पार चलकर सूखे पहन लेंगे। धार में आधी दूर तक तो हाथ मारते आसानी से चले गये। बीच गंगा में पहुँचते-पहुँचते अब हाथ-पैर ठण्डे पड़ने लगे, थकावट बड़ी मालूम होने लगी। सिर पर बँधा अँचला भी मन-भर का जान पड़ने लगा। उसे उन्होंने उतार फेंका। अब हाथ-पैर सुन्न हो गये, उन्होंने हिलने-डुलने से इन्कार कर दिया। जीवन-मरण के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया। धारा उन्हें बहाकर आगे ले चली। वह बेबस बहे जा रहे थे। बीच में पाँच-सात गोते भी खाये और उनके पेट में काफी पानी जा चुका था। डूबकर जब-जब पानी के भीतर जाते, उस समय साँस को रोके रखते, इसीलिए फेफड़ों के अन्दर पूरा पानी नहीं जाने पाया। डूबते समय आदमी कैसे मरता है, उस समय उसकी क्या अवस्था होती है, इसका अनुभव हरि बाबा को पूरा मिला। कुछ ही दूर बहने पर एकाएक उन्होंने देखा कि पैर जमीन पर पड़ गये हैं। वह किनारे की तरफ बढ़ने की कोशिश करने लगे। उनके डूबने का दृश्य ऊपर किनारे पर खड़ा एक आदमी देख रहा था। बाबा ने उसकी ओर इशारा किया,

लेकिन वह नीचे नहीं आया। संयोग समझिए, जो तीन बड़े-बड़े पत्थर धारा में आ गये, और हरि बाबा उनमें फँस गये। उसके बाद तो धारा इतनी तीव्र थी कि उसमें पड़कर वह जीवित नहीं रह सकते थे। इन पत्थरों पर पड़े वह कुछ देर सुस्ताते रहे। फिर पाँच-सात हाथ बची धारा को पार होने में समर्थ हुए। समय पाँच बजे का होगा। अभी सूर्य के डूबने में काफी देर थी। गंगा किनारे की रेत काफी गरम थी। बाहर निकलते ही उन्होंने वमन करके पेट का सारा पानी निकाल दिया, और रेत पर लेट गये। थोड़ी देर में उनका शरीर गरम हो गया।

शरीर में सूत के नाम पर सिर्फ लँगोटी लगी हुई थी। उसी भेस में वह सद्गुरु बाबा के पास पहुँचे। वह बुलाने के लिए बहुत अफसोस करने लगे। अपने बिस्तर में से निकालकर उन्होंने एक अँचला दिया और अगले दिन अपने साथ लक्ष्मणझूला ले गये। कहने लगे–"मेरे साथ चलो, मैं रसायन की सारी विधि बतला दूँगा।" हरि बाबा ने कहा–"अब मैं रसायन सीखने की स्थिति में नहीं हूँ। सारी आशाएँ एक ही बात पर केन्द्रित हैं और उसी में लगा हुआ हूँ।" सामने की परोसी हुई थाली छोड़कर दूसरे की ओर भागना उन्हें पसन्द नहीं था। इधर जो ध्यान का कुछ अभ्यास किया था, और उसमें प्रगति हुई थी, उसके कारण उन्हें आनन्द आ रहा था, और रसायन तुच्छ वस्तु मालूम होती थी। उन्होंने गुरु से कहा–"आपकी कृपा से यदि योग में मुझे सफलता हुई, तो एक क्या, सैकड़ों प्रकार के रसायन स्वतः मेरे पास दौड़े-दौड़े आयेंगे।" गुरु से आज्ञा लेकर वह फिर अपनी झोपड़ी में लौट गये।

और भी प्रगति हुई। उन्होंने देखा, जब मन की वृत्तियों के स्थिर होने का समय आता है, तो स्थिरता के साथ श्वास की गति भी घट जाती है, जिसके साथ नाड़ी भी धीमी पड़ जाती है। शरीर की और क्रियाओं में भी उसी के अनुसार कमी हो जाती है। मन के अंकुश से शरीर के व्यापार में क्यों शिथिलता आती है, यह रहस्य तो उस समय नहीं मालूम हुआ। क्योंकि हमारे विद्वान मन को अभौतिक मान शरीर से उसके सम्पर्क को बहुत दूर का बतलाना चाहते हैं, लेकिन आधुनिक शरीर-क्रिया के विद्वानों ने पता लगाया है कि शरीर की क्रियाओं, ज्ञान, सम्वेदन आदि सारे मानसिक व्यापार का मुख्य स्थान मस्तिष्क है, जिसके भिन्न-भिन्न क्षेत्रों द्वारा यह क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। मस्तिष्क के दो भाग हैं–धूसरांग और शुभ्रांग। धूसरांग अर्थात धूमिल रंगवाली मज्जावाला मस्तिष्क ऊपर होता है और शुभ्रांग उसके नीचे। शुभ्रांग के ऊपर धूसरांग की परत उसी तरह चढ़ी हुई है, जैसे वृक्ष के ऊपर छाल। धूसरांग-रूपी छाल के पाँच स्तर एक-दूसरे के ऊपर फैले हुए हैं, जिनके नाम हैं–(1) बाह्य तंतुजाल, (2) बाह्य कोश, (3) मध्य कोश, (4) अन्तर्जाल और (5) अन्तर्कोश स्तर। प्रत्येक स्तर का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध है। सभी स्तरों में कोशों (सेल) की संख्या दो करोड़ के लगभग है। इस अंग के नीचे शुभ्रांग है, जिसके द्वारा शरीर की क्रियाओं, चेष्टाओं, सम्वेदनाओं का आदान-प्रदान होता है। धूसरांग इन सब क्रियाओं पर नियन्त्रण रखता है, और वही सारे मानसिक व्यापार का अधिष्ठान है। इसी में सभी स्मृतिपटलों का वास है। इनके क्रिया-व्यापार निम्न प्रकार बँटे हुए हैं–(1) सब पर व्याप्त तन्तुजाल स्तर में संकल्प-विकल्प की तरंगें–वैद्युतिक तरंगें–दौड़ा करती हैं। इन्हीं को हमारे योग में मानसिक वृत्तियाँ कहा गया है। संकल्प-विकल्प या मानसिक वृत्तियाँ एक ही चीज हैं। (2) तन्तुजाल स्तर के नीचे बाह्य कोश स्तर है, इसमें स्मृतियाँ निवास करती हैं। अधिक प्रतिभाशालियों में बाह्य कोश मोटा होता है और साधारण बुद्धिवालों का पतला। निर्बुद्धियों में तो यह अत्यन्त क्षीण होता है। (3) इसके नीचे मध्य कोश स्तर शरीर की संज्ञाओं का अधिष्ठान है। (4) उसके नीचे तंतुजाल और उसके नीचे (5) कोश स्तर का सम्बन्ध शरीर के भीतर की क्रियाओं और चेष्टाओं के साथ है।

बाह्य कोश स्तर के भी अनेक क्षेत्र हैं। उन क्षेत्रों में धृतिक क्षेत्र के भीतर हमारी सारी स्मृतियाँ भिन्न-भिन्न कोठिरयों के अनुसार बँटकर अवस्थित हैं। कोशों के स्पन्दन के कारण वहाँ जो तरंगें उठकर बाह्य स्तर तन्तुजाल में फैलती हैं, यही मन की वृत्तियाँ या संकल्प-विकल्प हैं। वैज्ञानिक परिभाषा में इन्हें वैद्युतिक तरंग या स्पन्दन कहते हैं। वे तन्तुजाल में वैसे ही व्याप्त हो जाती हैं, जैसे ताँबे के तारों में बिजली की धारा। इन वृत्तियों में तदाकार रहनेवाली सत्ता ही मन है। बाह्य स्तर कोश में सारी स्मृतियों के मण्डल मौजूद हैं। जब तक मनुष्य

जाग्रत या अर्द्धसुप्त रहता है, तब तक इन कोशों में स्पन्दन या वैद्युतिक तरंगें उठती रहती हैं, अर्थात स्मृतियाँ वहाँ से उठकर सारे तन्तुजाल में फैला करती हैं। इन्हीं स्मृतियों को योगी लोग वृत्तियाँ कहते हैं, जिन्हें वह एकाग्र करना चाहते हैं। मन के एकाग्र होने का अर्थ है, इन कोशों की क्रियाओं को स्थिर करने का प्रयत्न। मन को रोकना उसकी वृत्तियों को रोकना है। स्मृति-मन्दिर से उठी स्मृति-वृत्तियों के स्पन्दन को रोकना है, उससे सम्बद्ध कोशों की क्रिया को रोकना।

ये स्मृतियाँ (चित्त-वृत्तियाँ) शरीर की ऐच्छिक और अनैच्छिक गतियों से भी सम्बन्ध रखती हैं। नियन्त्रित रूप से उनकी जो क्रिया चलती रहती है, वह स्मृति-मन्दिर से सम्बन्धित व्यवस्था से बँधकर ही चलती है। इसीलिए मन के निग्रह से कोशों की ऐच्छिक गति और स्मृति पर भी प्रभाव पड़ता है। इसी कारण आगे शरीर की क्रिया पर भी उस निग्रह का प्रभाव पड़ना आवश्यक है। इस निग्रह से श्वास-क्रिया, पाचन-क्रिया, रक्त-संचार, हृदय-गति यहाँ तक कि शरीर के अंगों की क्षय-पूर्ति की गति भी मन्द हो जाती है। यह अनुभव हरि बाबा को मन के एकाग्र करने से हो रहा था। लेकिन वह इस समय उसकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर सकते थे।

छह महीना भी अभी कुनाँव में पूरे नहीं हुए थे कि उन्होंने मन को एकाग्र करने में काफी प्रगति कर ली थी। उनकी भूख कम हो गई थी। जब वह ध्यान लगाते तो श्वास-प्रश्वास की गति काफी कम हो जाती। नाक के पास रुई का फाहा रखकर देखते तो श्वास की हवा से पहिली की अपेक्षा उसका हिलना कम जान पड़ता। शरीर पहिले से क्षीण हो गया था, किन्तु मानसिक आनन्द बढ़ गया था। उन्हें विश्वास हो चला था, कि यदि दो-तीन वर्ष तक वह इसी तरह अभ्यास करते रहें, तो वह अपनी वृत्तियों को स्थिर करके इच्छानुसार क्रिया में लगाने में सफल हो जायेंगे।

एक दिन गोपालों के डेरे में रात को बड़ा हल्ला मचा था। गौवें अपने बच्चों को घेरे आँगन में बैठी हुई थीं। एक चीता गायों के ऊपर से कूदकर बछड़ों पर जा पड़ा। एक बछड़े को मुँह में दबाकर उठाया ही था कि चारों ओर से गौवें उस पर टूट पड़ीं, और कितने ही सींगें उसके देह में धँसने लगीं। हल्ला सुनकर फूस का मशाल बाल लाठियाँ लेकर गोपाल भी पहुँच गये। देखा, गौवों ने चीते के चीथड़े-चीथड़े कर दिया है।

कार्तिक मास लगते ही गोपालों ने दूध देते समय आकर कहा—"महाराज, अब तो हम अपने-अपने घर जा रहे हैं। अगले वर्ष फिर आवेंगे। आप या हमारे साथ चलें, या यहाँ पर अपने भोजन का कोई प्रबन्ध कर लें। यहाँ अब आपके सिवाय कोई नहीं रहेगा।" हरि बाबा को वह स्थान बहुत पसन्द आया था। ऐसा अनुकूल स्थान मिलना आसान नहीं था। किन्तु बिना आहार के वह यहाँ रह कैसे सकते थे ? खाने लायक कन्दमूल कोई वहाँ था नहीं। वृक्ष के पत्ते खाकर निर्वाह करने का अभ्यास उन्होंने नहीं किया था। गोपालों के चले जाने के बाद कई वनस्पतियों को खाकर उन्होंने पाँच-सात दिन गुजारे, किन्तु शरीर बहुत दुर्बल होने लगा, क्षुधा शान्त नहीं हो रही थी। कितना अनुकूल और कितना सुहावना वह स्थान था। एक ओर गंगा बह रही थी, दूसरी ओर गंगा के कछार में हरियाली से भरा मीलों तक सुहावना मैदान चला गया था। तीसरी तरफ हिमालय की उत्तुंग पर्वतमाला सिर से पैरों तक हरे-हरे वृक्षों से ढँकी थी। इन्हीं जंगलों में से निकलकर रात को हाथी गंगा घाट पर आया करते थे। अपनी मचान की झोंपड़ी में बैठे हरि बाबा इस दृश्य को देखा करते थे। पर, अब बिना आहार के वहाँ रहते कैसे ? सिर्फ सेर-भर दूध या दो रोटियों का सवाल था, जिसका वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं हो सकता था।

7
साधना में विघ्न (1911-14 ई.)

• वर्ष 25

देवप्रयाग–बाबा का मन वहाँ से हटने का बिल्कुल नहीं हो रहा था। एक हफ्ता उन्होंने पत्तों और जड़ी-बूटियों को खाकर निकाला। लेकिन भूख की बाधा के कारण अभ्यास में बाधा होने लगी। सन् 1911 का कातिक का महीना था। इसी समय बाबा अपनी झोंपड़ी की ओर हसरत की निगाह से देखते वहाँ से विदा हुए। लक्ष्मणझूला में रहना उनके लिए अनुकूल नहीं था। वह वहाँ से ऊपर चले। तीसरे दिन देवप्रयाग पहुँचे। साधुओं से पता लग गया था कि गंगापार देवप्रयाग से आधा मील दूर एक एकान्त गुफा है, जिसमें कभी एक तपसी बाबा रहा करते थे। हरि बाबा उसी के लिए आये थे। देवप्रयाग से पाव मील पर गंगा के बिल्कुल किनारे कुछ गड़हे जैसी जगह थी, जिसे रहने लायक बनाया जा सकता था और दूसरी गुफा आसपास दो मील तक कहीं नहीं थी। वहाँ भोजन का प्रबन्ध नहीं हो सकता था। देवप्रयाग में मधुकरी अवश्य मिल जाती। यदि 10-11 बजे के करीब पण्डों के घरों में पहुँच जाते, तो वह सत्कारपूर्वक एक रोटी देने से आनाकानी नहीं करते। गंगा तट की वह जगह पूरी तौर से तो अनुकूल नहीं थी, लेकिन और दूसरी दीख भी नहीं रही थी, इसलिए उन्होंने वहीं रहकर जाड़ा बिताने का निश्चय किया। हाथ-पैर हिलाकर गढ़े को रहने लायक बनाने में दिक्कत नहीं हुई। पास के गाँव के एक पुरुष ने भी कुछ मदद की, वह स्थान सर्दी और हवा से बचने लायक बन गया। बाबा के पास दो कम्बल और एक कम्बल की अलफी थी, जिससे वह सर्दी को रोक सकते थे। इसके अलावा एक अँगोछा, दो लँगोटी और एक कमंडल-भर उनके पास था। मधुकरी माँगने दो ही तीन दिन गये, चार घर से खाने-भर के लिए भात और फुलके आसानी से मिल जाते थे। यह आहार उनके लिए चौबीस घंटे के वास्ते पर्याप्त था। गुफा से कुछ दूर हटकर गाँव की ओर जानेवाली पगडण्डी थी, लेकिन वहाँ कोई आता-जाता दिखाई नहीं पड़ता था।

पण्डों को यह तो पता लग गया कि उस स्थान पर एक बाबा बैठे हुए हैं, लेकिन सारे जाड़े-भर वहाँ कोई नहीं आया। छह महीने से कुछ अधिक बाबा वहाँ रहे। अभ्यास में उनका मन खूब लग गया, और उसमें कुछ उन्नति भी हुई। लेकिन उससे बाबा को पूरा सन्तोष नहीं था। भोजन के समय का ख्याल सबेरे से ही उनकी वृत्तियों को उस ओर खींचता रहता था। कुनाँव जैसी सुविधा यहाँ नहीं थी। गर्मियाँ आईं। बदरीनाथ के कपाट खुल गये। नीचे से यात्रियों का जाना-आना आरम्भ हो गया। पण्डों को तो यात्रियों से पैसा बनाना था। नीचे से आये भगत पूछा ही करते–"यहाँ कन्दराओं में कोई सिद्ध-महात्मा, योगी-तपस्वी हैं ?" पंडे अपने यजमानों को प्रेतशिला और दूसरे तीर्थों में ले जाते। अब उन्होंने हरि बाबा के स्थान को भी उसमें शामिल कर लिया। वह अपने यात्रियों को लेकर तपसी बाबा का दर्शन कराने लाते। कुछ भगत दर्शन कर हाथ जोड़ कुछ पैसे चढ़ा चले जाते। पैसों को पंडों के लड़के या दूसरे आकर उठा ले जाते। बाबा को उनसे कोई मतलब नहीं था। इतना ही तक होता तब भी काम चल जाता। लेकिन, कितने भगत ऐसे भी आते, जो बाबा से कुछ उपदेश लेना चाहते, और बिना उसके वह वहाँ से टलना नहीं चाहते। दो-चार दिन में ही हरि बाबा परेशान हो गए। उन्होंने मौन धारण कर लिया, और एक पट्टी पर लिखकर लगा दिया कि बाबा ने मौन धारण किया है। पर, ऐसे भी मूढ़ भक्तों की कमी नहीं थी, जो कहते–"आप बोलते नहीं हैं, तो कुछ उपदेश ही लिखकर दे दें, उसी से हमारा मनोरथ पूरा हो जायेगा।" एक भगत तीन दिन लगातार पीछे पड़े रहे, और कुछ लिखकर देने पर ही पिण्ड छूटा।

बाबा के लिए अब उस स्थान को छोड़े बिना और कोई रास्ता नहीं था। देवप्रयाग से प्रायः दो मील पर अलकनन्दा के किनारे प्रेतशिला है। वहाँ एक कुटिया बनी थी, जिसके पास में ही एक मन्दिर था। कुटिया

में कोई रहता नहीं था। बाबा सावन के महीने में गंगातट को छोड़कर यहाँ चले आये, और मौन धारण के कारण लोग उन्हें मौनी बाबा कहने लगे। पास में एक गाँव था, और कुछ घर पण्डों के भी थे। मधुकरी उन्हें आसानी से मिल जाती थी। दिन में प्रेतशिला में पण्डे यात्रियों को लाया करते। यद्यपि प्रेतों को मुक्त करने का अधिकार गया को मिला है, पर इस एकाधिकार को हर जगह के पण्डे मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्होंने जगह-जगह प्रेतमुक्ति के लिए शिलाएँ कायम कर लीं। बदरीनाथ में भी प्रेतशिला है, और वहाँ के पण्डे देवप्रयाग में रहते हैं। उन्होंने यहाँ भी एक शिला निश्चित कर रक्खी है। पहाड़ के लोग और बातों में चाहे जितना भी पिछड़े हों, लेकिन उनके पण्डे नकली तीर्थ बनाने में सबसे आगे बढ़े हुए हैं। इसी कारण यहाँ काशियों और प्रयागों की धूम है। चावल-दालक हटका जगन्नाथजी को ही चढ़ता है, लेकिन हटका आमदनी का सौदा हैं, इसलिए बदरीनाथ में भी वह जोर-शोर से चढ़ने लगा। प्रेतशिला से लोग डरते बहुत थे। आखिर पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण सारे देश-भर के प्रेतों को लाकर वहाँ मुक्त कर दिया जाता था। उनकी पुरानी आदत छूटी थोड़े ही थी। वह किसी को पकड़ लेते, इसलिए शाम होते ही वहाँ आने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी। लोगों में हल्ला था, प्रेतशिला पर रात को प्रेतों की सभा जुटती है। जो कोई वहाँ भाग्य का मारा पहुँच जाये, वह जीता नहीं लौट सकता। मौनी बाबा वहीं रहते थे। वह जरूर पहुँचे हुए सिद्ध थे, तभी तो भूत-प्रेत उनका कुछ नहीं बिगाड़ते। इसके कारण मौनी बाबा के प्रति लोगों की श्रद्धा और बढ़ गई। यह भी प्रसिद्धि थी कि वहाँ बिच्छू बहुत होते हैं, और इतने जहरीले कि मर्म स्थान पर काट दें, तो आदमी मर जाता है। बाबा की कुटिया में वह काफी थे। बाबा दो मास वहाँ रहे, लेकिन भूतों की तरह बिच्छुओं ने भी उन पर दया रक्खी। बाबा दिन को सोते और रात को अभ्यास करते थे। कभी-कभी दोपहर के भोजन के बाद भी शाम तक पड़े-पड़े ध्यान लगाया करते। यह यात्रियों के आने का समय था। बाबा सोये हुए हैं, यह सोचकर कोई उन्हें छेड़ता नहीं था। चित्त-वृत्तियों की एकाग्रता का अभ्यास ऐसा है, जिसके लिए बैठना या लेटना एक-सा ही है। हाँ, लेटने पर नींद आने लगती है, जो ध्यान में जबर्दस्त बाधा है। ध्यान में निद्रा को इसीलिए पाँच क्लिष्ट (मलिन) वृत्तियों में से पहिला स्थान दिया गया है। वास्तव में निद्रा भी वृत्तियों—संकल्प-विकल्पों—के बन्द हो जाने की ही एक अवस्था है। मनुष्य जब गहरी निद्रा में होता है तो उस समय उसकी सारी मानसिक क्रियाएँ बन्द-सी रहती हैं। मन को रोककर जिस अवस्था में हम पहुँचना चाहते हैं, वही निद्रा तो शरीर को विश्राम देने के लिए नित्य नियमपूर्वक आती रहती है। लेकिन ध्यान-योग के समय शरीर और मन की चेतन अवस्था के रहते उस स्थिति को लाने का प्रयत्न किया जाता है। दोनों की प्रति-स्पर्द्धा में ध्यान करते जब मन और उसकी वृत्तियों को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया जाता है, तभी वह अपनी प्रतिच्छाया को मन पर डाल उसे लुप्त कर अपना रूप प्रकट करती है। प्रकृति ने निद्रा के रूप में शरीर के अंगों को विश्राम देकर उन्हें पुनर्जीवित करने का अवसर प्रदान किया है, वही ध्यान में बाधक होता है। लेटने पर सारे शरीर के निष्क्रिय होने के कारण बैठने की अपेक्षा अधिक निद्रा आती है, और मन एकाग्र होने की जगह निद्रा में लिप्त हो जाता है। जब थकावट दूर हो जाती है, तो फिर मन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हरि बाबा अनेक बार ध्यान करते-करते सो जाते। लेकिन निद्रा कब तक उन्हें दबाये रखती ? उसके हटते ही वह फिर मन को एकाग्र करने में लग जाते। हरि बाबा ने किसी तरह दो महीना वहाँ काटे, लेकिन आवाजाही के कारण बाधा बराबर रहती। इसीलिए जाड़ों के आरम्भ होते ही फिर वह ऋषिकेश में अपनी कोयलघाटी की कुटिया में आ गये।

पाँवटा—जैसा कि पहिले लिखा, हरि बाबा की घुमक्कड़ी और अभ्यास कई वर्षों तक चलते रहे। सभी काल और स्थान याद रखना उनके लिए मुश्किल था। शायद 1913 ई. का चैत का महीना था, जबकि वह ऋषिकेश से किसी दूसरे एकान्त स्थान की तलाश में निकले। देहरादून आये। वहाँ किसी भद्रपुरुष के साथ ठहरे थे। जंगल से ढँके किसी पहाड़ी स्थान को देखने के लिए निकले। भद्रपुरुष का छोटा-सा कुत्ता भी उनके साथ-साथ गया। दोनों जने इधर-उधर घूम रहे थे कि देखा, कुत्ता भूँका और उसके बाद फिर चुप हो गया। जाकर देखा, तो कुत्ते को अजगर लील रहा है। उसकी भूख को शान्त करने के लिए उसे छोड़ दिया गया। देहरादून से चूहड़पुर गये, फिर कालसी। कालसी के बचे-खुचे वैभव को चूहड़पुर ने लूट लिया। किसी समय

सिरमौर की राजधानी और उसके भी पहिले एक बड़ा व्यापारिक नगर कालसी अब सिसक-सिसककर मर रहा था। जाड़ों में पहुँचे होते, तो चकराता से कचहरी के आ जाने से कुछ अधिक आदमियों को देख सकते थे। इस वक्त तो वह आधे खड़े-आधे गिरे घरों की सिसकती बस्ती थी। नीचे जमुना के किनारे उस चट्टान को भी देखा, जिस पर अशोक ने अपने अभिलेख खुदवाये थे। वह तलाश में थे, कोई एकान्त स्थान मिले, जहाँ मधुकरी का भी सुभीता हो, पर वैसा कोई स्थान नहीं मिला। बाबा चूहड़पुर लौट आये। फिर जमुना पार ही सिरमौर रियासत में प्रविष्ट हुए। कालसी जाते समय उनको दाद दिक करने लगी, वह बढ़ती जा रही थी। खौड़ावाला के पास नदी के किनारे एक गाँव में एक बड़े साधुसेवी ठाकुर साहब रहते थे। वह गरीबों को मुफ्त दवा बाँटा करते थे। दाद की दवा के लिए हरि बाबा भी उनके पास पहुँचे। उन्होंने बड़ा सत्कार किया। खुजलाते देखकर कहा–"बाबा, आपको तो दाद लग गई है।" बाबा ने कहा–"हाँ, दो-चार दिन से लगी है।" ठाकुर साहब ने कहा–"कोई पर्वाह नहीं, मैं दवा देता हूँ, दो-चार दिन में ठीक हो जायेगी।" अगले दिन बेर के बराबर की चार गोलियाँ देकर कहा–"पानी में घिसकर खुजलाकर दाद के ऊपर इसे लगा दें।" दो-चार दिन में सचमुच ही दाद खतम हो गई। कहीं फिर न हो जाय, इसलिए बाबा ने ठाकुर साहब से दवा के बनाने की प्रक्रिया पूछी। ठाकुर साहब ने कहा–"दवा बनाना मुश्किल नहीं है", और उन्होंने उसे बतला भी दिया। (देखिए परिशिष्ट-1)

ठाकुर साहब के यहाँ रहकर हरि बाबा अभ्यास के लिए एकान्त स्थान ढूँढ़ने लगे। वहाँ न मिलने पर वह मानपुरदेवड़ा गये। फिर गिरि नदी पार कर पाँवटा साहब पहुँचे गये। पाँवटा साहब में गुरु गोविन्दसिंह कई वर्षों तक रहे। इसीलिए सिक्खों के लिए वह तीर्थस्थान है। उस समय अभी यहाँ कम ही आदमी आते थे। नाहन से हरद्वार की मोटर-बस का अभी कहीं पता नहीं था। उसके हो जाने तथा देश-विभाजन के बाद शरणार्थियों के आ जाने पर पाँवटा साहब ने कस्बे का रूप धारण कर लिया है। उस समय वह अभी 30-35 छोटी-छोटी दूकानों का एक छोटा-सा बाजार था। सिक्खों का गुरुद्वारा था। थोड़ी दूर पर उत्तर की तरफ एक मन्दिर था जिसके पास ही जमुना 30-40 फुट नीचे बह रही थी। जमुना की कगार उत्तर की ओर दो-तीन फर्लांग पर चली गई थी। मन्दिर से कुछ दूर जाने पर एक चश्मा मिलता। वर्षाकाल में जमुना के पानी में डूब जाता, बाकी समय जमुना उससे हटकर बहती। चश्मा क्या, एक कुण्ड था जो काफी गहरा था। उसी के किनारे एक टूटी झोंपड़ी दिखाई पड़ी, जिसमें कभी कोई एकान्तवासी साधु रहा करता था। हरि बाबा को वह जगह पसन्द आई। कुनाँव के गंगा-तट का-सा ही कुछ सुन्दर दृश्य यहाँ भी था।

अभ्यास–बाबा ने कुटिया ठीक-ठाक कर ली। किसी ने एक तख्तपोश दे दिया। उसे भी कुटिया के भीतर डाल दिया। पाँवटा में मधुकरी आसानी से मिल जाती थी। वहाँ से मधुकरी माँग लाते और खाकर कुटिया में बैठे अभ्यास करते। कुटिया का स्थान कगार के बीच में था, जिसके ऊपर खेत थे। खेतों में बहुत चूहे थे और उनकी लालच से साँप भी वहाँ डेरा डाले हुए थे। घूमते-फिरते वह अक्सर दिखाई पड़ते, पर हरि बाबा उनसे भयभीत नहीं थे, शायद उन्हें योगसूत्र याद आ रहा था–"अहिंसा प्रतिष्ठायां सर्वभूतानभिद्रोह !" (अगर आदमी पूरी तौर से अहिंसक हो जाय तो कोई भी प्राणी उससे बैर नहीं कर सकता।) स्थान की एकान्तता देखकर बाबा को कुनाँव अब भूल-सा गया। कभी-कभी कोई आ जाता, लेकिन नमस्कार करने-भर के लिए। कोई बातचीत नहीं करता। कुटिया के बाहर एक बहेड़े का वृक्ष था, जिसके किनारे चबूतरा बना हुआ था। कभी-कभी बाबा उस चबूतरे पर बैठकर ध्यान लगाते आनन्द अनुभव करते। वहाँ पर बैठकर उन्हें जमुना और पार की पर्वतमालाओं का सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ता। मन लगने लगा, चित्त की वृत्तियों के एकाग्र करने में भी काफी प्रगति हुई।

दो-तीन महीने बाद बनियों ने जोर दिया, आप एक घर में से भोजन कर लिया करें। पर हरि बाबा इसे पसन्द नहीं किया करते थे। उन्हें दो-तीन फुलकों की जरूरत थी और एक घर से ही वह उन्हें मिल जाते थे, पर वह दो घर से लिया करते थे। जैसे-जैसे अभ्यास में वह मन को रोकने में सफल होते गये, वैसे-वैसे ऐसी स्थिति पैदा होती गई कि मन को अपना आज्ञाकारी बना सकें। इच्छानुसार जहाँ चाहते, वहाँ कुछ क्षण

के लिए उसे ठहरा देते। इस सफलता से उन्हें आनन्द भी अधिक आने लगा। जितनी देर मन एक जगह स्थित होता, उतनी देर श्वास और हृदय की गति में काफी कमी हो जाती। यही नहीं, सारे शरीर की क्रिया उसी के अनुपात से मन्द हो जाती। एक वर्ष तक अभ्यास करते रहने पर उनका शरीर और क्षीण हो चला। भोजन की मात्रा दो से घटकर आधी रोटी रह गई, बल्कि उसको भी खाना और पचाना कठिन हो गया। शरीर जरूर निर्बल होता जा रहा था, किन्तु मन बहुत प्रसन्न था, क्योंकि चित्त को एकाग्रता से एक विचित्र आनन्द मिल रहा था। अब ऐसी स्थिति आ गई थी कि वह मन को जिस समय जिस ओर लगाना चाहते, काफी क्षणों तक वह तदाकार होकर स्थिर रहता, शरीर की कोई सुध-बुध नहीं रहती। यद्यपि अभी स्थिति कुछ ही क्षणों की थी, इसलिए इसे सिद्ध अवस्था नहीं कहा जा सकता। पर अब उन्हें विश्वास हो गया था कि मैं ठीक रास्ते पर आ गया हूँ। वह यह भी समझने लगे कि जब मन पूर्णतया एकाग्र हो जायेगा तो शरीर की कोई सुध-बुध नहीं रहेगी। घंटों की ऐसी स्थिति को समाधि कहते हैं। हरि बाबा अब समाधि के द्वार पर थे। भोजन तीन-चार ग्राम रह गया था। मधुकरी लेने के लिए जाने में उन्हें थकावट मालूम होती थी। अव किसी एक आदमी की आवश्यकता थी, जो उनके खाने-पीने की खोज-खबर लेता रहता। यदि ऐसा सहायक मिल गया होता तो कुछ ही समय में वह अपनी तपस्या में पूरे हो गये होते।

विघ्न–1914 ई. के कातिक का महीना, कृष्णपक्ष की रात्रि थी। हरि बाबा आधी रात को तख्तपोश पर पद्मासन लगाये ध्यानावस्थित बैठे थे। चूहों की तलाश में दो साँप झोंपड़ी के छप्पर पर घुसे थे। शायद एक ने दूसरे को चूहा समझा या यों ही एक ने दूसरे की गर्दन पकड़ ली। दोनों गुत्थमगुत्था होकर छप्पर से निकल हरि बाबा के ऊपर गिरे। एक बाबा के गले से लिपट गया, दूसरे का शरीर बाबा के पद्मासन पर हिल रहा था। बाबा का ध्यान एकाएक भंग हुआ। उन्होंने साँपों की ओर देखा। शरीर काँपने लगा। शरीर के हिलते ही एक साँप ने दूसरे साँप को छोड़ दिया। नीचेवाला साँप सर से निकल गया। दूसरा जो गले से लिपटा हुआ था, वह भी गर्दन को छोड़कर उतरने लगा। मस्तिष्क में और भी जोर से भय का संचार हुआ। दोनों ही साँप उतरकर चले गये, पर मस्तिष्क पर ऐसा जबर्दस्त प्रभाव पड़ा कि वह घूमने लगा। मालूम होता था, सारी दुनिया बड़ी तेजी से घूम रही है। चक्कर के कारण हरि बाबा को होश-हवास नहीं था। वह बैठे भी न रह सके। लेट गये, फिर भी चक्कर वन्द नहीं हुआ। मालूम होता था, कुटिया कुम्हार के चक्के की तरह घूम रही है। उन्हें कुछ नहीं समझ में आ रहा था कि क्या हो रहा है। रात को किसी तरह लेटे-लेटे काट दिया। नींद कहाँ आनेवाली थी ?

सुबह होने पर चक्कर कुछ कम हुआ, मन भी कुछ सावधान होने लगा। सबेरा होते नित्यक्रिया के लिए उठे, लेकिन फिर चक्कर आ गया। अपने को न सँभालकर वह फिर लेट गये। अबकी बार मूर्च्छित-से हो गये। बालसूर्य के प्रकाश ने कुटिया के भीतर अपना आलोक फैला दिया। वह फिर उठने का प्रयत्न करने लगे। बैठते ही फिर चक्कर आया। अबकी उसका जोर कुछ कम था। सोचने लगे–"क्या बात हो गई ? क्यों होश-हवास ठीक नहीं हो रहे हैं।" उस एकान्त स्थान में वह मर भी जाते तो वहाँ कौन पूछनेवाला था ? काफी दिन चढ़ आया। शौच से निवृत्त हो स्नान करना चाहते थे, पर उठने में डर लगता था। हिम्मत करके उठे, चक्कर आने लगा, पर कुछ हल्के। चलने में जमीन पर सीधे पैर नहीं पड़ता था। जैसे-तैसे चलकर पेशाब किया। हाथ-मुँह धोने के लिए कुण्ड के किनारे पहुँचे। झुककर पानी लेने लगे। अबकी बड़े जोर का चक्कर आया। वह अपने को सँभाल नहीं सके, और कुण्ड में गिर पड़े। कुण्ड में एक उभड़ा हुआ पत्थर था, जिस पर उनका पैर पड़ा और एक हाथ किनारे के पत्थर में फँस गया। कुछ क्षणों बाद होश आने पर देखा, वह बड़ी भयंकर स्थिति में हैं। जरा भी चूकते तो कुण्ड में गिर जाने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं था। किसी तरह वहाँ से निकलकर कुटिया में आये। अपने को सँभालने में काफी समय लगा।

मध्याह्न का समय हो गया। आज वह मधुकरी (भिक्षा) लेने के लिए नहीं गये। एक बनिये का लड़का इसी समय आ गया। उससे कहा और वह भोजन दे गया। अब सोचने लगे, आगे क्या होगा ! रात के समय कुछ चित्त शान्त हुआ। मन एकाग्र करने की ओर ख्याल गया, तो फिर वही चक्कर। रात में वह मुश्किल

से तीन घंटे सोया करते थे, अभ्यास करते-करते ऐसी ही उनकी आदत बन गई थी। यदि नींद को वर्जित न कर दिया होता, तो बारह घण्टे की रात काटने में कुछ तो सहारा मिलता। सोचने लगे, यह विघ्न दैवी है या आकस्मिक। गोसाईंजी की याद आती–'रिद्धि-सिद्धि तहाँ प्रेरे भाई। बुद्धि हिं लोभ दिखावें आई।" उनकी तपस्या भंग करने के लिए किसी का प्रयत्न तो नहीं ? लेकिन वह किसके इन्द्रासन को छीननेवाले थे ? रात-भर विचारते रहे, कुछ समझ में नहीं आया। ब्राह्म मुहूर्त का समय आया। उठकर बैठ गये और ध्यान का प्रयत्न करने लगे। फिर चक्कर आया और वह गिरते-गिरते बचे। तख्तपोश पर लेट गये। डेढ़ घण्टे बाद तबीयत कुछ ठीक हुई।

दोपहर को मधुकरी के लिए पाँवटा गये। मंगताराम और प्रभुदयाल दोनों हरि बाबा पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। वे कुछ पढ़े-लिखे और समझदार आदमी थे। उनसे रात की घटना सुनाई तो उन्होंने सलाह दी, अब कुछ दिन अभ्यास छोड़ दें, और यहीं हमारे पास आकर रहें। नाकर-नुकर करने पर भी उन्होंने बाबा का आसन-वासन जबर्दस्ती मँगवा लिये। बाबा अब उनके घर पर विश्राम करने लगे। चिरंजीलाल दूकानदार बुद्धिमान तथा आर्यसमाजी विचारों के थे। उनकी भी बाबा पर बड़ी श्रद्धा थी। लेकिन बाबा के लिए दिन काटना मुश्किल था। गप लड़ाने की आदत नहीं थी, इसलिए पुस्तकों को देखने लगे, जिनमें आर्यसमाजी ग्रंथ भी शामिल थे। सारा जाड़ा वहीं गुजारा। जब-तब कुटिया का दर्शन कर आते, ध्यान का तो नाम भी नहीं ले सकते थे। कभी-कभी कुछ टहलने चले जाया करते थे। धीरे-धीरे भोजन की मात्रा बढ़ी और कुछ महीनों में शरीर पूर्व स्थिति पर आ गया। बुद्धि ने निराहार रहकर साधना करनी चाही थी। जब शरीर न सँभालकर गिर पड़े तो पता लगा, यह सिद्धि का नहीं, आत्महत्या का रास्ता है, इसलिए उन्होंने उसे छोड़ दिया और विचारों का रास्ता पकड़ा। हरि बाबा यद्यपि जानकर निराहार व्रत नहीं कर रहे थे। शरीर सूखकर काँटा-सा हो गया था। जब फिर वह हरा हुआ तो सोचने लगे, कुटिया में चलकर फिर अभ्यास करें और यह विचार भक्तों के सामने भी प्रकट किया। निश्चय कर लेने पर हरि बाबा कभी किसी की नहीं सुनते। जाकर ध्यान लगाने बैठे तो फिर चक्कर शुरू हुआ। अब वह इसी निश्चय पर पहुँचे कि योग में लगना सम्भव नहीं, उस तरफ़ बढ़ना सर्वनाश का आवाहन करना है।

8

वैद्य घुमक्कड़ (1915-18 ई.)

वर्ष 26-28

हरि बाबा 16 वर्ष की अवस्था में घर से निकले थे। साधु रहकर दस वर्ष उन्होंने योगियों की खोज या योगाभ्यास में लगाये। पहिले नाबालिग थे, और अब 25 वर्ष को पूरा करके 26वें में पैर रख रहे थे। वह अपने बारे में आगे-पीछे पूरी तौर से सोचने में समर्थ थे। पाँवटा में दो-चार बार प्रयत्न करने पर देखा कि ध्यान अब हमारे बस की बात नहीं है। वह साधुओं की तरह ही उस समय सोच सकते थे। साँप शायद निमित्त हो। वस्तुतः यह उनकी साधना में विघ्न होने का ही बहाना था। वह आस्तिक थे, भगवान पर विश्वास रखते थे, और योग के बारे में पढ़ी-सुनी बातों पर भी श्रद्धा न होने का कोई कारण नहीं था। लेकिन वस्तुतः ऐसा हुआ क्यों ? मन और शरीर का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। काया पर मन आश्रित है। काया की तरह मन भी अन्नमय है, भोजन से ही उसे शक्ति मिलती है। दो-चार ग्रास खा लेना बहाना था, उससे शरीर और मन को पोषण नहीं मिल सकता था। साँपों की मढ़ी में तो वह रहते ही थे। यदि वह लड़ते-लड़ते उनके ऊपर गिर पड़े, तो यह इन्द्र के सिंहासन के गरम होने के कारण नहीं। साँप काल के साक्षात शरीर हैं। उनके गिरने पर डसने

की सम्भावना बिल्कुल निश्चित थी। मन इसीलिए उत्तेजित हो उठा और शरीर के निर्बल होने से मन भी अतिनिर्बल तो था ही, वह आगे-पीछे विचार नहीं कर सके। उसके ऊपर एक बहुत बड़ा आघात पड़ा। शरीर की चोट कुछ दिनों में भर जाती है, लेकिन मन पर लगी चोट की परम्परा चलती रहती है। आखिर मन को भी तो मन ही द्वारा समझाया जा सकता है। जब वह समझने के लिए तैयार नहीं, तो उसे कैसे समझाया जाता ? मन ने फिर उस रास्ते पर जाने से इन्कार कर दिया, जहाँ पर फिर उसी तरह से आघात का शिकार होना पड़े।

जिसके लिए हरि बाबा साधु बने थे, वह साध पूरी नहीं हुई। यह बतला चुके हैं कि केवल घूमने के लिए घुमक्कड़ी जीवन को अपनाना हरि बाबा को पसन्द नहीं था। उनका शरीर हल्का, देखने में मांस कम, किन्तु 67 वर्ष की अवस्था में भी वह आकृति और बल में लोहे का है। अब भी वह मैदान या पहाड़ में इतनी तेजी से चलते हैं कि जवान भी उनके साथ नहीं चल सकते। दुरारोह पहाड़ों पर वह पहाड़ियों की तरह चढ़ सकते थे। घुमक्कड़ बनने के लिए उनके पास सारी शारीरिक सम्पत्ति थी। यदि उधर लग जाते, तो उस कला में भी वह आगे रहते। वह लिखते हैं। आयुर्वेद पर कई पोथियाँ उन्होंने लिखी हैं, लेकिन जिस तरह की लेखनी घुमक्कड़ को चाहिए, कहीं उस तरह की लेखनी उन्हें मिली होती, तो सम्भव है, वह घुमक्कड़ के जीवन को अपना लेते। लेकिन देवता केवल योग-साधना में ही विघ्न नहीं डालते, बल्कि घुमक्कड़ी को भी परमार्थ वस्तु समझकर उसकी सिद्धि में भी बाधा डालने से नहीं चूकते। शायद उन्होंने ही एक ही तीर से दो चिड़ियों का शिकार किया हो।

ज्ञान-ध्यान का रास्ता तो हाथ से गया। अब जगह-जगह घूमते रोटियाँ तोड़ने का रास्ता रह गया था। वैरागियों और तुलसी बाबा की सलाह को पसन्द करते तो भक्ति-मार्ग अब भी उनके लिए खुला हुआ था। वैरागी सगुण भगवान की उपासना करते हैं। उसे तुच्छ समझकर ही योग-मार्ग पर आरूढ़ हो हरि बाबा निर्गुण उपासना कर रहे थे। योग से मुक्ति उनकी समझ में आ सकती थी। वेदान्ती से पूछते, तो वह कहता—यह योग-जाग बेकार है। यही समझो 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ)। बस, बेड़ा पार है। बल्कि समझने की भी बात नहीं, क्योंकि ब्रह्म के सिवा संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, सब सपने की तरह, रस्सी में साँप के भ्रम की तरह सरासर झूठी हैं, तुम-हम बने-बनाये ब्रह्म हैं। इस पर भी विश्वास करके अगले सारे जीवन को अर्पण करना हरि बाबा के लिए मुश्किल था। दूसरों को उपदेश देने की भी उनको हिम्मत नहीं होती थी। जब अपने को ही अल्पज्ञ समझते थे, तो दूसरों के सामने सर्वज्ञ कैसे बनते ? हरि बाबा धर्म के दूकानदार नहीं बनना चाहते थे। अभी न पांडिचेरी की दूकान खुली थी, न तिरुवन्नामले की। खुली भी हो, तो हरि बाबा को उनका पता नहीं था। जो दूकानें बाबुओं को अपनी ओर खींचती हैं, वह साधुओं को नहीं खींच सकतीं। वह तो घर के भेदिया ठहरे। समझते हैं सभी के घर में मिट्टी का चूल्हा होता है। लोग सिद्ध-साधक बनकर ख्याति प्राप्त करते हैं, पूजित होते हैं। ऋषिकेश की बड़ी दूकान खुलने में तो अभी काफी देर थी। वह अच्छी तरह जानते थे, इन सिद्धों में खाने के दाँत और दिखाने के दाँत और हाथी की तरह ही होते हैं। स्वामी सत्यानन्द जैसे विरले ही होते हैं, और उनको न कोई जानता है, न वह जतलाने की कोशिश करते हैं। यद्यपि स्वामी सत्यानन्द ने कह दिया था कि 'योगदर्शन' तुम्हारे पथ-प्रदर्शन के लिए काफी है, लेकिन 'योगदर्शन' ने यह चेतावनी नहीं दी थी कि तुम आहार कम करते-करते हड्डी-चमड़ा मात्र रह जाना, और न यही कि निर्बल मन पर भारी चोट पड़ने के बाद उसका प्रतिकार कैसे करना चाहिए। शायद स्वामी सत्यानन्द से जब-तब मिलते रहते, तो उन्होंने कुछ सहायता जरूर की होती। आखिर वह उसी ध्यान में वर्षों से लगे हुए थे, शरीर पर अतिचार नहीं करते थे। इसलिए उनका जीवन स्वाभाविक तौर से बीत रहा था। मान लिया, चित्त की वृत्तियों पर योगी इच्छानुसार नियंत्रण करता है। हो सकता है, घंटों के नियंत्रण से शरीर की सुध-बुध खोकर समाधिस्थ हो जाने पर श्वास अतिक्षीण या कुछ समय के लिए बन्द हो जाता है, तो इससे ही क्या बननेवाला था ? ब्रह्म का दर्शन ? यह तो मन का काम है। मन ही ब्रह्म को बनाता है, अल्ला को बनाता है, सारी दुनिया के देवताओं को बनाता है। आत्म-सम्मोहन (**Self-hypnotism**) द्वारा मन-कल्पित चाहे जिस चीज को देख सकते हैं। चित्त की एकाग्रता

से उसकी शक्ति बढ़ जाती है, यह ठीक है, लेकिन उस बड़ी शक्ति को भी किसी उपयोग में लाने से ही तो उसकी सार्थकता है।

बहुत वर्षों बाद हरि बाबा को उस समय की स्थिति और घटना पर विचार करते मालूम हुआ; उस समय जो बाधा आई थी, और जिसके प्रभाव को वह हटा नहीं सके, उसका कारण यही था कि शरीर के साथ मन निर्बल हो गया था, और उसकी विचार-शक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। मन की एकाग्रता बिल्कुल निष्फल नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसके कारण उनकी बुद्धि तीव्र हो गई थी–विवेक, विचार, स्मृति, धृति सबमें ही तीव्रता देखी जाती थी। बात को वह जल्दी समझ लेते। शायद ध्यान का यही उपयोग भी था।

हरि बाबा जब ध्यान में पूरी तौर से लगे थे, उस समय तो ज्ञान प्राप्त करने के बाहर के सभी रास्ते बन्द थे। किन्तु वैसे वह पुस्तकों के प्रेमी थे। बाबा गोपालदास को वह अखबार सुनाया करते थे, इसलिए अब वह अपने को केवल धार्मिक ग्रन्थों तक सीमित नहीं रख सकते थे। साइन्स के प्रताप को भी मानते थे। उन्हें रसायन की झूठी विद्या नहीं, बल्कि रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, चिकित्साशास्त्र के विकास की बातें पढ़ते ख्याल आता था। उसी समय पाँवटा में रहते ही समय उन्हें गुरुकुल काँगड़ी के प्रो. विनायक गणेश साठे रचित 'विकासवाद' ग्रंथ पढ़ने को मिला, जिसमें डार्विन के सिद्धान्त का अच्छी तरह विवेचन किया गया था। हरि बाबा ने उसे पढ़ा। देखा, कैसे निम्न कोटि के प्राणियों से विकास होते-होते बड़े प्राणी संसार में आये। उन्हीं प्राणियों में बन्दर बनमानुस होते मानव प्राणी तक पहुँचा। इस सिद्धान्त को जिन अकाट्य युक्तियों और भौतिक आधारों पर सिद्ध किया गया था, उससे हरि बाबा के ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने एक नहीं, अनेक बार उस पुस्तक को पढ़ा। जिस वक्त यह पुस्तक निकली थी, इसी समय इन पंक्तियों के लेखक ने भी उसे देखा था। पर देखा-भर ही था, क्योंकि आर्यसमाजी वैदिक धर्म के सच्चे होने तथा उसके प्रचार की इतनी धुन उसके दिमाग में समाई थी कि आगरा में इधर-उधर के पन्ने ही देखकर उसने पुस्तक रख दी। यदि कोई ख्याल आया, तो यही कि वह वैदिक धर्म से विमुख बनानेवाली पुस्तक है, इसकी युक्तियों का खण्डन करना चाहिए। विकासवाद पर पहुँचने में इस मनोवृत्ति ने वर्षों बाधा दी। सचमुच नीम-हकीमी खतरे-जान होती है। हरि बाबा किसी आर्यसमाज के चक्कर में नहीं आये, और न विज्ञान की गलत-सलत व्यवस्था से वेद को विज्ञानसम्मत मानते थे। इस विषय में उसका मन कोरे स्लेट जैसा था। साठेजी की पुस्तक उनके लिए दिशा-परिवर्तन का कारण बनी। उसी समय प्रयाग में हिन्दी माध्यम द्वारा प्रचार करने के लिए 'विज्ञान परिषद' स्थापित हुई। हरि बाबा उसके सदस्य बन गये। अप्रैल 1915 में जब परिषद पत्रिका 'विज्ञान' निकला, तो वह उसके नियमित पाठक बन गये। 'विज्ञान' का इतना नियमपूर्वक पाठ करनेवाला शायद ही कोई पाठक हो। हरि बाबा ने शायद ही किसी अंक को ध्यानपूर्वक न पढ़ा हो। उनके लिए अंग्रेजी में लिखे विज्ञान की बड़ी-बड़ी पोथियों का रास्ता उतना खुला नहीं था, लेकिन 'विज्ञान' के सँकरे द्वार ने उन्हें साइन्स के तत्त्वों को हृदयंगम करने में बड़ी सहायता की। यदि इच्छा होती, तो वह अंग्रेजी की कमी को पूरा कर सकते थे, पर मन ही उधर नहीं गया। हिन्दी में विज्ञान-सम्बन्धी जो भी पुस्तक मिलती, उसे वह मँगाकर पढ़ते।

नाहन–पाँवटा के दूकानदारों में एक के रिश्तेदार श्री प्रभुदयाल नाजिर नाहन में रहते थे। वह किसी शादी में अपने रिश्तेदार के पास आये। हरि बाबा से मुलाकात हो गई। बाबा भी अब पाँवटा छोड़ने की सोच रहे थे। वह नाजिरजी के साथ ही नाहन चले गये। पहाड़ पर नातिशीत-नातिउष्ण यह नगरी उन्हें बहुत पसन्द आई। वहाँ का काली मन्दिर नाथों का एक बहुत प्रतिष्ठित मन्दिर और एक तरफ राजा का अपना देवालय है। थोड़े ही दिन हुए श्री मोतीनाथ या मुक्तिनाथ उसके महन्त बने थे। वह संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। हरि बाबा का उनसे परिचय हुआ और वह उनसे संस्कृत के कुछ ग्रन्थों को पढ़ने में लग गये, मठ में काफी पुस्तकें थीं, इसलिए स्वाध्याय का भी सुभीता था। अभी तक बाबा के शरीर पर पीला वस्त्र और नाम के साथ शरण लगा रहा, जो उनके सम्प्रदाय के झूठे सम्पर्क को बतला रहा था। यहीं उन्होंने पीले कपड़े को गेरुए में रँगा और शरण के आगे आनन्द भी जोड़ दिया। इस प्रकार हरिदास ने हरिशरण होते स्वामी हरिशरणानन्द बन गये। यद्यपि भेस और नाम बदलने से साधुओं को सन्तोष नहीं हो सकता था। वह तो फिर भी सम्प्रदाय के

बारे में पूछते। पर गृहस्थों का समाधान हो सकता था, यह भी दूसरों की तरह संन्यासी हैं।

कुछ ही सालों पहिले आयुर्वेद के प्रचार के लिए आयुर्वेद महामण्डल की स्थापना हुई थी, जिसने आयुर्वेद विद्यापीठ और आयुर्वेद की परीक्षाएँ शुरू की थीं। परीक्षा लेकर वैद्य विशारद और आचार्य की उपाधियाँ दी जाती थीं। हरि बाबा औषधि के माहात्म्य को समझते थे। यह भी जानते थे कि जिस साधु को दस-पाँच दवाएँ मालूम हैं, वह बड़े सम्मानपूर्वक सभी जगह पूजित होता है, उसे किसी बात का अभाव नहीं रहता। कुछ दवाइयों का परिचय तो उन्हें बाबा गोपालदास के सम्पर्क से ही हो गया था। रसायन में जड़ी-बूटी के प्रताप को उन्होंने सद्गुरु बाबा से सीखा था। घुमक्कड़ी में भी जड़ी-बूटियों के पहचानने की ओर उनका ध्यान रहता था। सोचा, यदि चिकित्सा में हाथ लगाना ही है, तो कोई परीक्षा भी क्यों न पास कर ली जाय। रास्ते पर एक की जगह दो आदमी चलें, तो उसमें मन लगता है। बाबा का नाहन के राजज्योतिषी पं. ज्योतिप्रसाद से परिचय हो गया था। उनको भी प्रेरणा दी और दोनों आयुर्वेद की परीक्षा देने के लिए तैयार हो गये। पटियाला में परीक्षा-केन्द्र था। दो महीने का समय मिला। इसमें पाठ्य-ग्रंथों को उन्होंने पढ़ लिया। जाकर परीक्षा दे आये। स्वामी हरिशरणानन्दजी दूसरी श्रेणी में और ज्योतिषीजी तीसरी श्रेणी में पास हो गये। अब वह प्रामाणिक वैद्य थे। इसके बाद दो वर्ष तक वह नाहन ही में रहे और यहीं उन्होंने चिकित्सा शुरू कर दी। लेकिन हरि बाबा किसी बात में हल्के दिल से प्रवेश नहीं करते। वह चाहते थे, यदि चिकित्सा का भी मार्ग अपनाया, तो इसका पूरा ज्ञान और औषधियों का पूरा परिचय प्राप्त करना चाहिए। चिकित्सा भी रोगियों से पैसा ऐंठने के लिए नहीं, बल्कि उनको सुखी करने के लिए करनी चाहिए। वह वैद्यक में लिखी जिन जड़ी-बूटियों का उपयोग करते थे, उनमें से बहुतों को पहचानते नहीं थे। रोग के कारणों और शरीर-सम्बन्धी ज्ञान भी अपने सन्तोष का उनके पास नहीं था। सबसे पहिले उनका ध्यान आयुर्वेद में उपयुक्त होनेवाली वनस्पतियों की ओर गया, विशेषकर पहाड़ों में होनेवाली। उनका परिचय तब तक नहीं प्राप्त किया जा सकता, जब तक उनके पास न पहुँचा जाय। एक बार वह कश्मीर से कुमाऊँ तक के हिमालय की सैर कर आये थे। कैलास-मानसरोवर भी जा चुके थे, पर उस समय उन्हें नहीं मालूम था कि मुझे अपना जीवन आयुर्वेद और उसकी औषधियों के लिए देना पड़ेगा। इसीलिए अब उन्हें फिर से हिमालय के छानने की आवश्यकता महसूस हुई। नाहन के दो वर्ष उन्होंने श्री प्रभुदयाल नाजिर के यहाँ बिताये। नाजिरजी के यहाँ दोनों वक्त बना-बनाया भोजन मिल जाता। वह दो भाई थे। छोटा भाई बारूराम पढ़ता था। घर में कोई स्त्री नहीं थी, नौकर रसोई बनाता था। स्थान बड़ा अनुकूल था। स्वामीजी के स्वभाव से जितना ही नाजिरजी अधिक परिचित होते गये, उतना प्रेमभाव अधिक बढ़ता गया। जब उन्होंने जाने की बात कही, तो नाजिरजी उसके लिए तैयार नहीं थे। लेकिन स्वामीजी बैठे-बैठे रोटी खाने के लिए पैदा नहीं हुए थे।

घुमक्कड़ी–1917 ई. का शायद वैशाख का आरम्भ ही था, जबकि स्वामी हरिशरणानन्द ने नाहन छोड़ा। परिचित रास्ते को पकड़कर रेणुका, जुब्बल होते रामपुर (बिसाहर) चले गये। उनको इन नगरों या ग्रामों से कोई मतलब नहीं था, बल्कि जहाँ-कहीं भी प्रसिद्ध वैद्य का नाम सुनते, उनके पास जाते। जानते थे, अपने आसपास पैदा होनेवाली जड़ी-बूटियों का जितना ज्ञान इन पहाड़ी वैद्यों को है, उतना मैदानियों को नहीं हो सकता। वैद्य के पास जाकर वह एक-दो दिन ठहरते। दो साल तक डटकर जो उन्होंने अध्ययन किया था, उसकी बानगी मिलती, वैद्य भी प्रभावित हो जाता। उससे जो कुछ लाभ प्राप्त होता, उसे ग्रहण करते। पहाड़ में यौन-स्वच्छन्दता का एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि वहाँ सूजाक और आतशक की बीमारियाँ मैदान से भी अधिक हैं। विशेषकर ऐसे स्थानों में, जहाँ मैदानी लोगों तथा गोरों की आवा-जाही ज्यादा थी। सिरमौरवाले ठाकुर की कृपा से स्वामीजी को बामी वटी मालूम हो गई थी। वह वैद्यों को उसे बतला देते। 'विद्यया विद्या' (विद्या से विद्या) की बात सच है। स्वामी केवल दूसरे से विद्या लेना ही नहीं चाहते थे, बल्कि देने के लिए भी तैयार थे। ऊपर से संन्यासी का भेस था, इसलिए पहाड़ के वैद्य अपनी गोपनीय दवाइयों को भी बतलाने में कृपणता नहीं दिखलाते थे। उन्हें बनफसा, ममीरी, सुगन्धवाला, तालिसपत्र, मलाकन्द, तेलियाकन्द, हारिद्रकविष, निर्विषी, अतीस आदि 15-20 वनस्पतियों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके अतिरिक्त दो सिद्ध योग–भगन्दर योग और प्रसूताज्वर योग–

भी मिले।

रामपुर से 12 छोटी-छोटी रियासतों (ठकुराइयों) में घूमते-घामते वे वहाँ के अनेक राजवैद्यों से मिले, जिनके पास कितने ही हस्तलिखित ग्रंथ थे। शिमला से सुकेत गये। वहाँ के राजकीय पुस्तकालय में चरक, सुश्रुत आदि के साथ कितने ही रसग्रंथों की हस्तलिखित पोथियाँ देखीं। बारह-तेरह दिन वहीं डट गये। इस यात्रा में उन्हें इस इलाके में होनेवाली कम्बीला, दारुहरिदा, कायफल, हर्रे, बहेरा, अमलतास, तेजपत्र, तेजबल, मदनफल, तुम्बरु आदि 15-20 वनस्पतियों का परिचय प्राप्त करने का मौका मिला। उन्होंने देखा, लोगों के खेतों में हर्रे होती हैं, जिससे विशेष विधि से वह लोग तैयार करते हैं। हर्रे को वृक्ष से तोड़कर इकट्ठा कर लेते हैं। फिर अग्नि में जला देते हैं; लेकिन इस बात का ख्याल रखते हैं कि लकड़ी जलकर राख न बन जाय। जब लकड़ियों की राख बन जाती है, तो उसकी भौर में हर्रे को डालकर दबा देते हैं। यह ख्याल रखते हैं कि हर्रे जलने न पावे। भौर में दबकर रस पककर जम जाता है। तब उसे निकालकर सुखा लेते हैं। इस तरह बनाने पर हर्रे का रंग पीला हो जाता है। उसका वजन बराबर उतना ही बना रहता है। लम्बी हर्रे, पुरवाड़ी हर्रे, काबुली हर्रे, अभय, जीवन्ती आदि मूल्यवान हर्रे इसी तरह तैयार की जाती हैं। इनमें दो से पाँच तोलेवाली हर्रे भी होती हैं। यदि इस तरह बनाई हुई एक हर्रे दो तोले से ऊपर हो, तो उसका दाम पाँच रुपया हो जाता था। पाँच तोलेवाली हर्रे के एक दाने का दाम तो पाँच-पाँच, छह-छह सौ रुपया लगता है। बाहर ठकुराइयों और सुकेतमण्डी के वैद्यों से मिलकर स्वामी को आयुर्वेद की अनेक गूढ़ बातों का पता लगा। कितने ही रस और धातु-भस्म भी बनाते, उन्हें भी स्वामीजी ने देखा, और रसग्रंथों के अध्ययन का भी उन्हें चस्का लग गया। कूपीपक्व रस, रससिन्दूर, चन्द्रोदय के निर्माण का ज्ञान प्राप्त करने का उन्हें यहाँ अच्छा अवसर मिला।

मण्डी से स्वामी कुल्लू गये। कुल्लू के बारे में वह साधुओं से काफी सुन चुके थे। 'जो जाये कुल्लू, हो जाये उल्लू', इसका साक्षात उदाहरण उनके सामने था। स्त्रियाँ सुन्दरी, उनमें स्वच्छन्दता भी काफी अर्थात किसी से प्रेम या ब्याह करने में अधिक बाधा नहीं। स्वामी ने कितने ही वैरागियों को जटा-जूट साफ करा हल चलाते देखा। लेकिन वह उल्लू बनने के लिए वहाँ नहीं गये थे। वह जड़ी-बूटियों की खोज में थे। कूट, अतीस, बालछड़, रेवंदचीनी, कुटकी, शृंगिकविष आदि कितनी ही वानस्पतिक दवाइयाँ कुल्लू से ही आती हैं। पहाड़ी लोग दूर-दूर से इन वनस्पतियों को जमा करके दूकानदारों को बेचते हैं, और बदले में तेल-नमक, चीनी-गुड़, कपड़ा खरीदकर ले जाते हैं। स्वामी समझते थे, ये औषधियाँ कुल्लू में ही होती हैं, पर बेचनेवाले पहाड़ियों से पूछने पर मालूम हुआ कि ये चीजें हम लाहुल और स्पिती के इलाके से लाते हैं। स्वामी स्पिती नहीं पहुँच सके। मणिकरन गये और वहाँ उन्होंने अतीस, शृंगिकविष और कुटकी आदि को उनके स्वाभाविक रूप में देखा। फिर कुल्लू लौटकर लाहुल की ओर चले। मनाली से जा व्यासकुण्ड के गरम चश्मे को भी देखा। फिर रटंग जोव चढ़कर ऊपर सूर्यकुण्ड के पास पहुँचे। किसी पहाड़ी जानकार को साथ ले गये थे। उसने उन्हें रेबन्द-चीनी, निर्विषी, पुष्करमूल, मीठातेलिया, असीत, कुटकी आदि को उगा दिखलाया। इसी से व्यास नदी निकलती बतलाई जाती है। वैसे व्यास किसी एक कुण्ड की नहीं, बल्कि अनेक हिमानियों से गलकर आये पानी की धाराओं से बनी है। बहुत ऊँची और सर्द जगह है, इसलिए व्यासऋषि के नाम से इस कुण्ड पर पहुँचनेवाले श्रद्धालु बहुत कम ही होते हैं। लोग मजेम व्यास नदी को व्यास ऋषि के नाम से जोड़ना चाहते हैं। उन्हें यह मालूम नहीं कि संस्कृत में इसका नाम मूलतः व्यास नहीं, विपाश है।

रटंगजोत पार कर स्वामी लाहुल के बर्फानी प्रदेश में पहुँचे, और भागा और चन्द्रा के संगम को देख ऊपर की ओर केलंग जा पहुँचे। केलंग में लाहुल का तहसीलदार रहता था। वहीं उन्हें होशियारपुर के व्यापारियों का एक काफिला मिल गया। वह लोग यारकन्द जा रहे थे। उनके घोड़ों और खच्चरों पर मनियारी का सामान, चीनी आदि लदा हुआ था। मालूम हुआ, इसे वह यारकन्द-काश्गर में बेचकर उसके बदले में रेशम और चरस लायेंगे। हमारे सन्त लोग जितनी चरस चिलम पर उड़ाते थे, वह सबकी सब यारकन्द से आती थी। कुछ काफिले पहिले चले गये थे। यह आखीरी काफिला भादों के शुरू में जा रहा था। व्यापारियों ने कहा–"महात्मा, हमारे साथ चलो। तुम्हें यारकन्द देश दिखला लायेंगे। यहाँ से कुछ सप्ताहों का रास्ता है। सर्दियों से पहिले ही हम

लौट आयेंगे। जो कुछ रूखा-सूखा हम खाते हैं, वह आपके लिए भी हाजिर रहेगा।" इन पंक्तियों के लेखक के लिए कोई ऐसा कहता, तो उसे वह अपना भाग्य खुला समझता, खासकर उस आयु में। हरेक तरुण में घुमक्कड़ी का बीज कुछ न कुछ तो रहता ही है। फिर स्वामीजी नाहन के पण्डित गरुणध्वज शास्त्री से सुन चुके थे कि वैदिक काल में सोम यारकन्द से ही आता था और उसी के पत्तों का मद चरस है, यारकन्दवाले इसे सोम कहते हैं। व्यापारियों से पूछने पर उन्होंने बतलाया कि चरस का पौधा भाँग-जैसा ही होता है, पत्ते भी वैसे ही होते हैं। हाँ, उसमें लस ज्यादा होती है। पत्ते को मलकर उसी लस को इकट्ठा करते हैं, जिसे हम चरस कहते हैं। इसका मतलब हुआ कि हमारे सन्त उसी सोम को चिलम पर पीते हैं, जिसे हमारे वैदिक पूर्वज भाँग की तरह कूट-छान मधु और दूध मिलाकर चषक के चषक पीते थे। दोनों में नशा तो एक ही तरह का आता है, लेकिन स्वाद का जहाँ तक सम्बन्ध है, हम समझते हैं, सप्तसिन्धु के आर्यों के पीने का ढंग अधिक अच्छा था। बूटियों के पीछे तो स्वामी पड़े ही हुए थे। सोचा, चलो इसी बहाने सोम की भूमि में सोम को भी उगा देख आयें।

काफिला चला। कोलन होते वह लोंगलाचा की जोत के पास पहुँचा। वस्तुतः इन दो जोतों का नाम लोछेन और लांछुग है, जिसका अर्थ है बड़ी जोत, छोटी जोत। पर तिब्बती शब्द का हमारे लोगों को कोई अर्थ नहीं था, उन्होंने इन्हें लोंगलाचा बना दिया। लाचा से उनका मतलब इलाइची से है। हर जगह अजनबी हाथों में नामों का इस तरह बिगड़ना जोत पार करना था, जो 15-16 हजार फुट से कम ऊँची नहीं थी। सबेरे जोत की ओर काफिला चलने लगा। चढ़ाई में दम क्यों न फूलता ? हवा बहुत पतली थी। इसी समय व्यापारियों ने पिछले साल की घटना बतलाई। "स्वामी की तरह वह एक साधु को अपने साथ ले जा रहे थे। होशियारपुर के दो काफिले थे। एक आगे निकल गया, और दूसरा आज की तरह पिछड़ा हुआ था। पड़ाव काफी दिन से ही डाल दिया गया था। अभी दिन के दो ही तीन बजे थे। साधु ने कहा, अभी दिन बहुत है, मैं अगले पड़ाव पर दूसरे काफिले के साथ जाकर रहूँगा। व्यापारियों ने बहुत मना किया, यहाँ दोपहर बाद बड़ी तेज हवा चलती है, सर्दी और बर्फ का डर है। लेकिन साधु दुनियादारों की बात क्यों मानने लगा ? उसके पास एक कम्बल था, और कमर में लँगोटी लगी हुई थी। सर्दी-गर्मी सहने का अभिमान था। वह आगे चल पड़ा। जितना ही ऊपर चढ़ने लगा, उतने ही पैर भारी होने लगे। जोत के ऊपर पहुँचने से पहिले ही सूर्य अस्ताचल के पीछे की ओर हटने लगे। हवा बड़ी तेज हो गई। बाबा के हाथ-पैर बर्फ बनने लगे। चलना उनके बस की बात नहीं रही। हवा से बचने के लिए एक पत्थर की आड़ में कम्बल ओढ़कर बैठ गये। फिर क्या था, सर्दी ने उन्हें कुछ समय में पूर्ण समाधिस्थ कर दिया। अगले दिन सबेरे जब काफिला वहाँ से गुजरा, तो देखा, बाबा वहाँ उसी तरह बैठे हैं, आँखें कौवे निकाल ले गये हैं, शरीर का वही भाग दूसरे जन्तुओं का भक्ष्य बनने से बचा था, जो कि बर्फ में दब गया था।"

स्वामी ने अपनी आँखों से उस साधु के शरीरावशेष को वहाँ देखा, तो फिर उनकी हिम्मत सोम की भूमि देखने की नहीं रही। व्यापारियों ने कुछ खाने की चीजें दीं, और वह केलंग लौट आये। केलंग से गुन्दला के ठाकुरों के काठ के महल को देखा, फिर चन्द्रा और भागा के संगम की ओर गये, जहाँ दोनों नदियाँ मिलकर चन्द्रभागा या चनाब का नाम लेती हैं। नदी पार करने के लिए झूला था, इस समय त्रिलोकनाथ का मेला लगा हुआ था। स्वामी अपने साधुओं से सुन चुके थे कि वहाँ त्रिलोकनाथ महादेव का दर्शन दुर्लभ है। लेकिन देखा, वहाँ का पुजारी लामा है, दर्शनार्थियों में भी अधिकांश बौद्ध हैं। खैर, हिन्दू बौद्ध का इतना अन्तर भी नहीं है, इसलिए यदि दोनों के एक देवता हों तो अचरज नहीं। वस्तुतः त्रिलोकनाथ, लोकनाथ हैं। अवलोकितेश्वर बोधिसत्व को बौद्ध लोकनाथ या लोकेश्वर भी कहते हैं। शायद यही नाम सुनकर साधुओं को महादेव की भ्रान्ति हुई।

मेला देखकर स्वामी आगे बढ़े। देखा, इस इलाके में गर्दनतोड़ ज्वर बड़े भयंकर रूप में फैला हुआ है। लोग बुखार से मर रहे थे। पंजाब-सरकार ने जानकारी प्राप्त करने और शायद कुछ सेवा करने के लिए भी वहाँ डॉक्टरों का एक दल भेजा था। यह दल गाँव-गाँव में फिर रोग के कारण का पता लगा रहा था। लाहुल अत्यन्त सर्द स्थान है। साधारण लोग नहाने की बात तो दूर, मुँह भी नहीं धोते। ऊपर घर के भीतर के

धुएँ की कालिख लग जाती है। सभी मालूम होते, जैसे इंजन के ब्वायलर में कोयला झोंकनेवाले आदमी हैं। मेले में देखा, वही लाहुली स्त्रियाँ और उनके बच्चे अप्सराओं और देवताओं की तरह सुन्दर गुलाबी रंग के दिखाई पड़ रहे हैं। उन्होंने आज देवता के दर्शन के लिए स्नान कर लिया था, मुँह पर से मैल की परत धुल गई थी। वस्त्र भी साफ-सुथरे पहने हुए थे। मन्दिर का एक पुजारी लामा बीमार था। उसके शरीर में दर्द हो रहा था। स्वामी को कुचले का योग मालूम था, जिसकी गोलियाँ उनके पास थीं। जिस वैद्य ने इस योग को बतलाया था, उसने कहा था कि कई पीढ़ियों से हमारे घर में यह गोलियाँ बनती आ रही हैं। पहिले दिन की गोलियों से लामा को लाभ हुआ और पाँच-छह दिन में तो वह चंगा हो गया। उसे 15 दिन की दवाई और दे दी। चलते समय लामा ने एक पट्टू और बीस रुपये दिये। सचमुच ही यात्री के लिए वैद्यक विद्या से बढ़कर अच्छा सम्बल कोई नहीं हो सकता। दूसरा पाथेय तो खतम भी हो सकता है, लेकिन यह अखुट है।

पाँगी–स्वामी अब भारत के सबसे प्रकृति-रमणीय देश में विचर रहे थे। चन्द्रा और भागा जहाँ हिमानियों से निकलती हैं, वहाँ से उनके संगम तथा कुछ मील नीचे तक का इलाका लाहुल कहा जाता है। लाहुल के खतम होते ही पाँगी का इलाका शुरू हो जाता है। कनौर में भी पाँगी एक गाँव है, और वह भी सुन्दर देवदारों से भरे पहाड़ में है। पर यह पाँगी गाँव का नहीं, बल्कि पूरे इलाके का नाम है। हिमाचल प्रदेश के चम्बा जिले में आजकल यह पड़ता है। अब भी यातायात की कठिनाइयों के कारण वहाँ कोई सैलानी विरला ही पहुँचता है। इसके बारे में कुछ पंक्तियाँ यहाँ कहना आवश्यक है।*

कनौर की पाँगी सतलज-उपत्यका से जो देवदार और नेवजों के बीच में बसा एक बड़ा ही सुन्दर गाँव है, लेकिन चम्बा की पाँगी का सौंदर्य अद्भुत है। चन्द्रभागा यहाँ बहुत नीची खड्ड में बहती है, जिसके किनारे कितनी ही चट्टानें उसी तरह खड़ी हैं, जैसे चिनी के नीचे सतलज के परले पार शोंङ्टङ् के सामने। कहीं-कहीं तो वह दो हजार फुट ऊँची पत्थर की दीवार-सी खड़ी मालूम होती है। यहाँ की अपेक्षा निचली पहाड़ियों की ढलानों पर घास से भरी सुन्दर चरागाहें तथा देवदार और कैल के घने जंगल हैं, जिसके पीछे 18,000 से 21,000 फुट ऊँचे सनातन हिमवाले शिखर अपनी शोभा से दर्शक को चकित करते हैं। कुछ-कुछ मीलों पर उपत्यका खुली मिलती है, जहाँ भूतत्त्वीय युग में सरोवर रहे होंगे। यही पाँगी के थोड़े-से और एक-दूसरे से काफी दूर बसे गाँव हैं। रास्ता सँकरा और खतरनाक है, जिन्हें पहिले यहाँ के लोग पार करने की हिम्मत कर सकते थे। कहीं-कहीं त्राँगरी-जैसे खतरनाक सँकरे लकड़ी के पुल से आदमी को जाना पड़ता था। पाँगी इलाके की सैचू, परमौर, हुनान और सुरालनाला की उपत्यकाएँ बड़ी सुन्दर हैं। सभी धाराएँ जाँस्कर श्रेणी से निकलकर चन्द्रभागा में मिलती हैं। मुख्य उपत्यका में मिलने के समय ये छोटी उपत्यकाएँ सँकरी हो जाती हैं, लेकिन ऊपर की ओर वे काफी चौड़ी हैं, जहाँ कितने ही गाँव बसे हुए हैं। हरेक नाला (धारा) के उद्गम के पास की भूमि में तिब्बती भाषा-भाषी (भोंट) लोग रहते हैं, इसीलिए स्थानों को भोटोरी कहते हैं।

पाँगी और लाहुल का जाड़ा बड़ा कठोर होता है। अक्तूबर के आरम्भ में उपत्यका के निचले भाग में हिमवृष्टि होने लगती है, लेकिन दिसम्बर तक वह पिघलती रहती है। इसके बाद मार्च-अप्रैल तक सारी उपत्यका बर्फ की मोटी तह से ढँकी रहती है, और बाहर की दुनिया से ही नहीं, बल्कि एक गाँव से दूसरे गाँव का भी यातायात बन्द हो जाता है। इस समय अपने घरों में रस्सी बँटने, सूत कातने का काम करते रहते हैं। पशुओं और प्राणियों के भोजन का इंतिजाम पहिले ही से कर लेना पड़ता है। वसन्त आकर बर्फ को पिघलाने लगता है। उस समय बर्फ को हटा वह अपने खेतों को बोते हैं। यहाँ मुख्यतः गेहूँ, जौ, फूलन, ब्रेज, एलो और मसार की खेती होती है। आम तौर से दो फसलें होती हैं–जौ-गेहूँ शरद में बोये और जून-जुलाई में काटे जाते हैं, फिर खेतों में फूलन या ब्रेज बो दिया जाता है, जिसे अक्तूबर में काटा जाता है।

स्वामी लाहुल से चन्द्रभागा के किनारे-किनारे पाँगी में पहुँचे। लाहुल का भी निचला भाग चम्बा में पड़ता है। पाँगी में तहसील है। वहाँ 15-20 दूकानें भी थीं। वहाँ एक अच्छे प्रसिद्ध वैद्य थे। स्वामी उन्हीं के पास

*'हिमालय प्रदेश', भाग 7, अध्याय 1

जाकर ठहरे। घनिष्ठता होने में देर नहीं लगी। वैद्य को वहाँ की जड़ी-बूटियों का काफी पता था। उनके साथ जाकर रासना (काबुली किसमिस) की जंगली बेल देखी। असली और बाजारी तालिसपत्र के बड़े वृक्ष भी जंगल में थे। पहाड़ के ऊपरी भाग में कुष्ट का भी एक पौधा मिला। वैद्य ने बतलाया कि ये वस्तुतः, कुष्टवार-भद्रवाह के इलाके में होता है, जो यहाँ से 20-25 मील दूर जम्मू रियासत में है। वहाँ ही नीलम की खान भी है। पाँगी के कितने ही लोग नीलम की चोरी करने उधर जाया करते हैं। इन्हीं वैद्य से स्वामी को उपदंश-धुनी का नुस्खा मिला। (देखिए, परिशिष्ट-4)

भद्रवाह–भद्रवाह किसी समय, एक स्वतन्त्र रियासत थी, जो पीछे जम्मू के पेट में चली गई है। पुराने राज्यों की राजधानियों में वैद्य और पंडितों के परिवार हुआ करते हैं। स्वामी पाँगी से अब उधर चले। इस यात्रा में जगह-जगह हस्तलिखित पुस्तकों को देखते पुराने वैद्यों के सत्संग से आयुर्वेद के रसशास्त्र से स्वामी का काफी परिचय हो गया था। उन्हें यह भी मालूम था कि आयुर्वेद, विशेषकर रसशास्त्र के अभी भी बहुत-से ग्रंथ अप्रकाशित हैं, जिनमें ऐसी बातें हो सकती हैं, जो प्रकाशित ग्रंथों में नहीं मिलतीं। जड़ी-बूटियों की खोज के साथ अब उन्हें इन ग्रन्थों की खोज का भी चस्का लग गया। पाँगी से कश्तवार-भद्रवाह 60-65 मील से ज्यादा नहीं था। दुर्गम पहाड़ी रास्ता था। ऐसी जगह में चलना पड़ता था, जिस पर पेड़ पर चढ़ने में कुशल आदमी ही जाने की हिम्मत कर सकता था। लेकिन वह स्वामी के लिए कोई भयंकर चीज नहीं थी। वह भद्रवाह में राजवैद्य के पास पहुँचे। पास में एक मन्दिर था, वहीं ठहर गये। बातचीत करने पर मालूम हुआ कि यह सिर्फ रमताराम नहीं हैं, बल्कि इनका आयुर्वेद में काफी प्रवेश है। वैद्य भी प्रभावित हुए, और उनकी मेहरबानी से स्वामी को पचासों हस्तलिखित ग्रंथ देखने को मिले, जिनमें 'रसपद्धति', 'रससार', 'रसहृदय', 'रसचूड़ामणि', 'रसरत्न समुच्चय', 'रसकामधेनु', 'लोह पद्धति', 'त्रिशतिभाव' भी थे। 'रसकामधेनु' अपूर्ण थी। 'चरक', 'सुश्रुत', 'अष्टांग हृदय', 'हारीतसंहिता' आदि के भी कितने ही हस्तलेख मौजूद थे। वैद्यजी के पास 'रसकामधेनु' का एक ही पाद था। उन्होंने ही बतलाया कि जम्मू के राजवैद्य पं. भगवानदासजी के पास इस ग्रन्थ के चारों पाद हैं। रास्ता रास्ते को बतलाता है। कुठौवा में किसी समय एक राजधानी थी, वहाँ के राजवैद्य के परिवार में भी काफी हस्तलिखित पुस्तकें हैं, यह भी उन्होंने बतलाया। स्वामी बारह दिन भद्रवाह में रहे। वहाँ के जंगलों में घूमकर पुष्पकरमूल, कुष्ट, खुरासानी, अजवाइन, बिलाडोना, डेजीटेलिस, छोटा शृंगिक, विषमा, हत्थाजोड़ी आदि बहुत-सी वनस्पतियों का परिचय प्राप्त किया।

वहाँ से चलकर कुठौवा के वैद्य श्री भीमसेन और दूसरों से मिले। एक ही घर के तीन घर हो गये थे। वहाँ कूपीपक्वरस बन रहा था। बड़ा अच्छा मौका मिला था। स्वामी को रस बनाने की विधि आँखों देखने को मिली। वह वहाँ 15 दिन रहे, वैद्यों के पास मौजूद हस्तलिखित ग्रन्थों को देखते रहे। उनमें कोई ऐसा नहीं था, जिसे दूसरी जगह न देखा हो। आसपास के जंगलों में गम्भारी, पाटला (स्यौनाक), अरणी आदि तथा दशमूल-सम्बन्धी वनस्पतियाँ–चतुष्पर्णी, बलाचतुष्ट्य, ब्राह्मी, मण्डूकपर्णी, जलनिम्ब, जलपिप्पली आदि बीसों वनस्पतियों से परिचय प्राप्त किया। वैद्यों से कुछ अप्रकाशित योगों को भी प्राप्त किया, इन्हीं में से संखिया को द्रव बनाना भी था।

उस समय वहाँ टाइफाइड (मंथर ज्वर) फैला हुआ था। वैद्य लोग एक काढ़ा बनाकर देते थे (देखें, परिशिष्ट-7)।

जम्मू–कुठौवा से स्वामी जम्मू पहुँच वहाँ के राजवैद्य से मिले। उनके यहाँ धातु की कई भस्में बन रही थीं। वैद्य बड़े पण्डित थे। सरकार की ओर से औषधियों के बनाने के लिए आर्थिक सहायता मिलती थी। पुरानी परिपाटी से औषधि-निर्माण को सीखने का इससे अच्छा मौका कहाँ मिल सकता था। वहीं काफी समय ठहरे। राजवैद्य को विश्वस्त पाकर सभी विधियाँ सीखते रहे।

स्यालकोट–1916 ई. का जाड़ा आरम्भ हो रहा था। स्वामी ने सोचा, चलो स्यालकोट चलें, और अपनी सीखी हुई विद्या का प्रयोग करें। उन्होंने जाड़ों के चार महीने वहीं बिताये और इस समय अच्छी तरह चिकित्सा करते रहे। यहाँ उन्हें दौलाशाह के चूहों को देखने का मौका मिला। दौलाशाह की कब्र को पूजने के लिए

हिन्दू-मुसलमान, विशेषकर औरतें होड़ लगाती हैं। जिसके बच्चे नहीं होते, वह मानता मानती हैं कि दो लड़के हुए तो मैं एक लड़का दौलाशाह की दरबार में चढ़ा दूँगी। हजारों मानता माननेवाले जहाँ हों, वहाँ दर्जनों की मनोकामना पूरी होना मुश्किल नहीं। फिर वह अपने एक लड़के को वहाँ चढ़ा देते। मजार का साईं बच्चे को ले उसके सिर पर लोहे का कनटोप चढ़ा देता, जिसके भीतर सिर बढ़ने नहीं पाता। सिर के विकास ही पर तो सारा शरीर का मानसिक विकास अवलम्बित है, विकास रुक जाता। बच्चों की बुद्धि उतनी ही रह जाती है, जितनी शैशव में। इन्हें लोग दौलाशाह के चूहे कहते। स्वामीजी ने बीसियों चूहों को माँगते-फिरते देखा। पंजाब में न जाने कितने दिनों से सैकड़ों बच्चों का जीवन इस तरह बरबाद किया जा रहा है। अंग्रेजी सरकार यह सब टुक-टुक देखती रही, लेकिन उसने कभी उसमें दखल देना पसन्द नहीं किया।

कश्मीर–1917 ई. के चैत का महीना आया। गर्मी बढ़ने लगी। स्वामी ने अब कश्मीर की ओर सैर और अनुसन्धान करने का निश्चय किया। स्यालकोट से बेलाबिजवात और फिर अखनूर होते कालीधार पर्वतमाला के भीतर घुसे। गाँव-गाँव घूमते-फिरते, राजौरी, पुणछ, कोटली आदि में वहाँ के वैद्यों से मिलते, वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त करते आगे बढ़े। जेठ में वह बारहमूला में थे। उन्हीं की तरह और भी कितने ही साधु जड़ी-बूटियों की खोज में पीर-पंजाब की जोत में घूम रहे थे। उनमें एक मलंग (मुसलमान) साधु ऐसा था, जो एक मासा संखिया रोज खा जाता था, और अत्यन्त शीतल इलाके में एक ही चोगा पहने घूमता रहता था। स्वामी ने देखा कि इन साधुओं को भी वनस्पतियों का ज्ञान बहुत कम होता है। वह उतना भी नहीं जानते, जितना कि वैद्य जानते हैं। इनमें से कितने ही रसायन के पीछे पड़े, सुन-सुनाकर ताँबा-चाँदी-पारा मारने की बूटियों की तलाश में घूम रहे थे। रसायन में चाहे वह सदा असफल ही रहे हों, पर इनके अनुसन्धान से रसायनशास्त्र और चिकित्साशास्त्र को लाभ पहुँचा है, इसे कौन इन्कार कर सकता है ? स्वामी हरिशरणानन्द अब उस तरह के भ्रम में नहीं थे। वे बुद्धिवादी हो गये थे। तजर्बे ने बतलाया कि यह सब फजूल की बातें हैं। दो वर्ष की घुमक्कड़ी में ही उन्होंने आयुर्वेद सम्बन्धी इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया, जितना दस वर्ष पढ़कर नहीं पा सकते थे। वह चार-छह योग देकर भी किसी वैद्य से अद्भुत योग ले लेने की स्थिति में थे। इन योगों को गुप्त रखना वह गलत समझते थे। जैसे साइन्स का हरेक आविष्कार हरेक के लिए खुला है, वैसे ही आयुर्वेद के हरेक आविष्कार या योग को खुला कर देना चाहिए। अपने ज्ञात योगों को जिस उदारता के साथ वह बतलाने के लिए तैयार थे, उसको देखकर वैद्य भी उनसे संकोच छोड़कर अपनी बातें बतलाते। स्वामी के झोले में 30-40 अनुभूत दवाइयाँ बराबर रहतीं। जहाँ भी जाते, एक अनुभवी चिकित्सक के रूप में उनका आदर होता। उन्हें पैसों के लिए किसी के सामने हाथ पसारने की जरूरत नहीं थी।

श्रीनगर पहुँचे। जब चुटकी बजाते वैद्यों पर वह अपना प्रभाव डाल सकते थे तो उन्हें मठ, मन्दिर या धर्मशाला में ठहरने की क्या जरूरत थी ? उनके ज्ञान और भगवा वस्त्र दोनों वैद्य को आकृष्ट करते और वह इनसे कुछ सीखने के लिए लालायित हो जाता। वैद्यों के सत्संग के अतिरिक्त अपने डेढ़ महीने के निवास में उन्होंने कई कश्मीरी पण्डितों के परिवार में चिकित्सा की। पण्डितों के घरों में हस्तलिखित पुस्तकें थीं, उन्हें भी देखने और पढ़ने का उन्हें मौका मिला। शायद किसी आयुर्वेद के ग्रन्थों को वह नहीं पढ़ सकते थे। उनकी जानकारी अब बहुत बढ़ गई थी। वह आयुर्वेद के सिद्धान्तों पर वैद्यों से बहस करने लगे। साइन्स के रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, शरीर-रचनाशास्त्र आदि ग्रन्थों का भी उनका अध्ययन साथ-साथ चल रहा था। इसके फलस्वरूप आयुर्वेद के कितने ही सिद्धान्तों पर उन्हें आशंका होने लगी। वैद्यों के सामने रखते तो वह उनका उत्तर नहीं दे पाते। इसका अर्थ यह नहीं कि आयुर्वेद-सम्बन्धी नास्तिकता बढ़ने से उन्हें आयुर्वेद-पद्धति और उसकी अनुभूत औषधियों पर अविश्वास हो चला।

अमरनाथ यात्रा–सावन का महीना आया। लोग अमरनाथ की यात्रा पर जाने लगे। अपने वैद्य-मित्र से सुना कि अमरनाथ के मार्ग में भी बहुत तरह की जड़ी-बूटियाँ होती हैं। वैद्य भी साथ हो लिये और वह यात्रा के लिए चल पड़े। अब वह कमण्डलु हाथ में लिये अलफी पहने साधु नहीं थे। दोनों के लिए एक छोलदारी थी, दो आदमी और उनके अतिरिक्त चार कुली सामान उठाने के लिए थे। पहलगाँव में अमरनाथ के यात्री

मिल गये। चन्दनबाड़ी, शेषनाग, फिर पंचतरणी नदी के किनारे आख़िरी पड़ाव पर पहुँचे। नदी में घुटने से अधिक पानी नहीं था, लेकिन धार तेज़ थी। साहस करके कितने ही लोग अपने ही पार हो रहे थे। निर्बलों को कश्मीरी मजूर दो पैसा ले पीठ पर लादकर उस पार छोड़ आते। एक पुरबिया बुढ़िया थी। उसके झोले में खाने का पकवान बँधा हुआ था। मजूर मुसलमान थे। उन्होंने कहा—"माई, आ तुझे भी पार छोड़ आवें। मुसलमान के हाथ लगने से तो बुढ़िया का सारा पकवान भ्रष्ट हो जाता। उसे यह मालूम नहीं था कि अपनी विद्या के लिए सारे भारत में प्रसिद्ध शारदा पीठ के काश्मीरी पण्डितों ने इस छूत से बचने का बड़ा अच्छा रास्ता निकाल लिया है। ऊनी कपड़े में बाँधकर वह कच्चा-पक्का कोई भोजन मुसलमान मजूर के हाथ में दे देते हैं। पवित्र ऊन छूत लगने नहीं देता। बुढ़िया बिस्तरा मजूरों को दे झोला कन्धे पर लटकाये पंचतरणी पार करने लगी। धार तो तेज थी ही। बीच में पहुँचने पर पैर उखड़ गए। झोला सहित वह चली। सँभलने की कोशिश करने लगी तो कन्धे से झोला निकल गया। मजूरों ने वहने से बुढ़िया को बचाकर किसी तरह पार पहुँचाया। बुढ़िया गाली देने लगी—"तूने मुझे निकाला क्यों ? हाय, मेरा झोला चला गया।" वस्तुतः झोला में पकवान ही नहीं था, बल्कि उसी में उसकी जमा पूँजी भी थी। पैसे बिना परेदश में कैसे गुजारा होता ? वह बहुत रो रही थी। लोगों ने चन्दा करके उसे कुछ पैसे दे दिया, तब वह चुप हुई।

अमरनाथ का अन्तिम पड़ाव आया। सर्दी का क्या पूछना ? राजा की ओर से मुफ्त लकड़ियों का प्रबन्ध था, जो सबसे बड़ा अवलम्ब था। रात बिता सबेरे चाय-पानी करके लोग चलने के लिए तैयार हो गये। अमरनाथ गुफा तक पहुँचने के दो रास्ते थे। एक पहाड़ के किनारे-किनारे घूमकर और दूसरे उसे लाँघकर। स्वामी ने ऊपर का ही रास्ता लिया। डेढ़-दो मील की चढ़ाई थी। पीठ पर बर्फ पड़ी हुई थी। उतराई में भी गुफा के दरवाजे तक बर्फ ही बर्फ में चलना था। कैलास-मानसरोवर और दूसरी बड़ी-बड़ी जोतों के लाँघनेवालों के लिए यह क्या चीज थी ? श्रीनगर से वह लोहा लगे बल्लम को अपने साथ लाये थे, जो बर्फ में बड़े काम का सिद्ध हुआ। उतराई में वह बर्फ में धँसकर फिसलने से बचाता था। अब सूर्य की किरणें श्वेत पर्वतमालाओं पर फैली हुई थीं, जिसमें हिम के स्फटिक हजारों दर्पणों में किरणों के प्रतिबिम्ब की तरह चमक रहे थे। जहाँ देखें, उधर केवल बर्फ ही बर्फ नजर आ रही थी। उतराई के लिए आदमियों ने बर्फ काटकर सीढ़ियाँ बना दी थीं, जिसकी बगल में बिना कटी बर्फ भी थी। नौजवान कम्बल की तह बनाकर उसे कपड़े या रस्सी के सहारे कमर में बाँध उसी पर बैठ जाते। फिर बर्फ पर हाथ रख दूसरे हाथ में बल्लम ले फिसलते मालूम होता था, हवा में उड़ते जा रहे हैं और चंद ही मिनटों में वह अमरनाथ गुफा के द्वार पर पहुँच जाते। स्वामी कुछ देर तक उसका तमाशा देखते रहे। वैद्यजी ने कहा—देखते क्या हैं, यह बल्लम तो हम इसीलिए लाए थे। जैसे तैरनेवाले को पानी से डरने की जरूरत नहीं, उसी तरह यहाँ भी फिसलने से डरने की जरूरत नहीं। वैद्यजी को तैयार देखकर स्वामी भला डरपोक कैसे बनते ! उन्होंने भी उसी तरह कम्बल बाँधा और ढलुआँ बर्फ पर बैठ गये। जोर लगाने की जरूरत ही नहीं थी, जरा-सा इशारा करके आगे हिलने की देर थी कि रपट पड़े। रपट पड़ने के बाद तो मालूम हुआ कि डर की बात फजूल थी। हाथ का बल्लम कम्बल के आसन को घुमाने में घोड़े की लगाम का काम दे रहा था। जिधर घुमाना हो, उससे उल्टी दिशा में बल्लम को लगा दो, चाहे जैसे बर्फ पर रास्ता बदलते चले चलो। रुक-रुककर चलना हो तो बल्लम को आगे अड़ाते चलो। दोनों गुफा के दरवाजे पर पहुँच गये।

स्वामी ने हिमालय के बहुत बड़े भाग को देखा था, लेकिन इतनी बड़ी कन्दरा उन्होंने कहीं नहीं देखी थी। यह 30-40 फुट ऊँची, उतनी ही गहरी और लम्बी-चौड़ी थी। उसके भीतर 10-12 फुट ऊँचा बर्फ का स्वाभाविक पिण्ड उभरा हुआ था। उसी पर लोगों ने शिवलिंग बनाया था, जिसे बहुत गौर से देखने पर ही समझा जा सकता था। यही अमरनाथ थे। इन्हीं के दर्शन के लिए लोग आते थे। गुफा के भीतर अबाबील, कबूतर और कौवे के भी दर्शन हो रहे थे। पक्षी ही ठहरे, कहीं से आ जाते होंगे, लेकिन यात्रियों को यह भी एक चमत्कार की बात मालूम होती थी। यात्रा का आनन्द तो नगद था, बाकी स्वामी हरिशरणानन्द को अब न भोले बाबा पर विश्वास था, न उनके इस लिंग पर।

लौटते वक्त उन्होंने जड़ी-बूटियों का निरीक्षण किया। शेषनाग चन्दनबाड़ी में नाना प्रकार की बूटियाँ भरी पड़ी थीं। घुग्गीबान जैसी कुछ तो सिर्फ वहीं देखने को मिलीं। रसग्रन्थों में जिन 64 वनस्पतियों का उल्लेख है, उनमें से वहाँ एक भी देखने को नहीं मिली। हो सकता है, वहाँ हो और ग्रन्थकारों ने उनकी जो रूपाकृति बताई है, उसी में कुछ गलती हो। अतीस, शृंगिक, निर्विषी आदि जो यहाँ दिखाई पड़ीं, उन्हें वह पहिले ही देख चुके थे। श्रीनगर लौटकर वह गुलमर्ग भी देख आये। अब कश्मीर छोड़ने का निश्चय किया।

पेशावर–स्वामी लौटकर बारहमूला हो रावलपिंडी पहुँचे। वहाँ वैष्णवदास भी मिल गये। वह अपनी जन्मभूमि जा रहे थे। बोले–चलो पेशावर की सैर करा दें। स्वामी भी उनके साथ रेल पर बैठ पेशावर जा पहुँचे। पेशावर में वह बाबा परशुरामदास के मठ में ठहरे। बाबा वैष्णवदास की अपनी सगी विधवा बहिन तथा कितने ही और सगे-सम्बन्धी खत्री वहाँ रहते थे। स्वामी का भी परिचय बढ़ा। फिर वह कोरे साधु नहीं, बल्कि गुनी भी थे। मन्दिरों-मठों में भक्तों की भीड़ हुआ ही करती है। साधु रामायण या और कोई कथा सुनाया करते थे। महिला भक्तों ने सुना तो वैष्णवदास से कहा–कि स्वामीजी से हमें कथा सुनवायें। एक बार कथा बैठा देने पर उसे पूरा किये विना उठा नहीं जा सकता था। कथा-समाप्ति पर भोग लगता और उसमें सैकड़ों रुपया दक्षिणा मिलती, पर स्वामी वहाँ उतना दिन ठहरना नहीं चाहते थे। लोग बादाम, पिस्ता, किसमिस तथा दूसरे ताजे मेवे दे जाया करते थे। स्वामीजी तो इस फिकर में थे कि देखें वहाँ क्या जड़ी-बूटियाँ होती हैं, कैसा प्रदेश है। एक दिन वैष्णवदास दर्रा खैबर में लण्डीकोतल उन्हें ले गये। कन्धे पर बन्दूक धरे चार कबायली पठानों ने आ घेरा। गेरुवा वस्त्र देखकर कहा–यह तो काफिर है, काफिरों का मारना सबाब होता है। वह क्या बोल रहे हैं, इनका पता स्वामीजी को नहीं था, पर वैष्णवदास पख्तो जानते थे। आखिर पेशावरी थे। उन्होंने उनसे कहा–"यह मलंग है, जैसे तुम्हारे, वैसे हिन्दुओं के। इनको मारकर तुम बहिश्त नहीं जा सकते। हमारे पास कुछ है ही नहीं।" बड़ी मुश्किल से जान बची। स्वामी कहने लगे–"ऐसे खतरनाक जगह में क्यों लाये ?" लेकिन अपने ही तो इस इलाके के देखने के लिए उतावले थे। पेशावर लौट आये।

अब वहाँ रहने का मन नहीं कर रहा था। वैद्य नहीं, कुछ यूनानी हकीम थे। आयुर्वेद की बूटी 'त्रायभाण' को वह गुलजजील कहते थे। स्वामी ने उसे वहाँ पन्सारियों के पास देखा। पेशावर में हींग के कारखानों को भी उन्होंने देखा। हींग काबुल की ओर से आती है, लेकिन उसकी सबसे बड़ी मण्डी पेशावर है। वैष्णवदास के एक रिश्तेदार हींग के व्यापारी थे। वैष्णवदास उन्हें कारखाने में ले गये। वहाँ नकली और असली दोनों तरह की हींग तैयार होती थी। हींग के पौधे का नाम रामठ है, जिससे दूध निकलता है। बकरे की खालों में भरकर यह दूध आता है। पचासों खालें कारखाने में पड़ी हुई थीं। बड़े-बड़े कुण्ड बने हुए थे। पहाड़ के एक सफेद भुरभुरे पत्थर को कूटकर बारीक बजरी-सा बना के उसकी तह इस कुण्ड में बिछाई जा रही थी, जिसके ऊपर हींग का दूध छिड़क दिया जाता। बीच-बीच में उड़द का आटा भी दूध पर बिखेर दिया जाता। इस प्रकार एक के ऊपर एक तहें जमाई जातीं। जब वह काफी मोटी हो जातीं, तो कुण्ड को बन्द कर देते। एक साल बाद सारा दूध जमकर हींग बन जाता। यह नकली या मिलावटी हींग है। असली हींग भी बनती देखी। वहाँ दूध से भरी सैकड़ों खालें पड़ी हुई थीं। तीन-चार साल इस तरह पड़े रहने के बाद हींग का दूध जमकर थक्का हो जाता है। फिर उसे बेच देते हैं। यह असली हींग है। हींग अफगानिस्तान में किसी एक ही इलाके में नहीं होती, अलग-अलग जगहों में होती है और उनके स्वाद, गुणों में भी अन्तर होता है। स्थानों के नाम पर उन्हें हड्डा, सडा, नईजमीन, चिलास, शाहबन्दी आदि आठ-नौ प्रकार की हींगें होती हैं। उनका मूल्य दो रुपये से दस रुपये सेर तक था।

पेशावर से वैष्णवदास के साथ स्वामी पंजा साहब गये। वहाँ सिक्खों और हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ है। वहाँ से कालाबाग स्टेशन पर उतरकर तक्षशिला के खण्डहरों को देखने गये। तक्षशिला ऐतिहासिक और पुरातात्त्विक दृष्टि से बहुत महत्त्व रखती है और वैद्यों के लिए तो वह एक तीर्थ है, क्योंकि वैद्य आत्रेय इसी तक्षशिला में आयुर्वेद के महान आचार्य थे। तक्षशिला से डेराइस्माइलखाँ, डेरागाज़ीखाँ, कटासराज और खेवड़े की सेंधा नमक की खानों को देखते मुलतान (प्रह्लादपुरी) पहुँचे। प्रह्लाद यहीं जन्मे थे और यहीं हिरण्यकशिपु को नरसिंह

ने मारा था। मुलतान (मूलस्थान) मुख्यतः प्रह्लाद और नरसिंह के लिए नहीं, बल्कि अपने सूर्यमन्दिर के लिए मशहूर था, जिसका पीछे लोग नाम तक भूल गये। मुलतान से स्वामी लाहौर आये, फिर अमृतसर। वैष्णवदास को वहीं छोड़ अब द्वाबा के इलाके में घूमने लगे। लोगों से सुना था, इस इलाके के कस्बे में अच्छे-अच्छे वैद्य रहते हैं। द्वाबा और सारे पंजाब में वह पाँच महीने घूमते रहे। कितने ही योग्य वैद्यों से परिचय प्राप्त किया और वहाँ पैदा होनेवाली वनस्पतियों का भी ज्ञान तथा कितने ही अनुभूत योग भी मिले। पंजाब का घनिष्ठ परिचय इसी बार उन्हें पहिले-पहिल मिला। लेकिन उस समय क्या समझते थे कि उन्हें अन्त में पंजाबी बनना होगा।

चम्बा–यह सारी यात्रा उस समय कर रहे थे, जब यूरोप में प्रथम विश्वयुद्ध हो रहा था। वह पहाड़ों-पहाड़ ही अधिक घूमे तो भी महायुद्ध की भनक उनके कानों तक नहीं पहुँची हो, यह बात नहीं थी, लेकिन उससे उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था। अंग्रेज का राज्य रहे या जर्मन आ जाय–'कोउ नृप होई हमैं का हानि' की चौपाई उनकी जीभ पर थी। चेरी छोड़कर रानी बनने का संकल्प उनके कितने ही देशवासी कर चुके थे, इसका उन्हें पता नहीं था या उसमें दिलचस्पी ही नहीं थी। जब गर्मियाँ आईं तो किसी ठण्डी जगह पकड़ने की फिकर पड़ी। वह होशियारपुर से काँगड़ा जिले में घुसे। ज्वालाजी को देखते मण्डी, वहाँ से फिर नूरपुर होते धर्मशाला और फिर चम्बा राजधानी में 1918 ई. के आषाढ़ महीने में राजवैद्य भगवानदास के पास पहुँचे। वैद्य को स्वामी की योग्यता से प्रभावित होना ही ठहरा। उनके पास 'रसकामधेनु' नामक रस का एक विशाल ग्रन्थ देखने को मिला जो चार पादों में था। उसके महत्त्व को देखकर स्वामी ने उसको उतार लेने का निश्चय किया। वैद्यजी के पास उनके मित्र पं. लक्ष्मणदास कश्मीरी भी आया करते थे, उनको भी वैद्यक का शौक था। वह चम्बा से दो मील के फासले पर एक गाँव में रहा करते थे। वैद्यजी के यहाँ रोगियों का आना-जाना अधिक रहता था और स्वामीजी को किसी एकान्त स्थान की जरूरत थी। पं. लक्ष्मणदास उन्हें अपने गाँव ले गये। 'रसकामधेनु' का पाद भी लिख नहीं पाये थे, इसी समय उर्दू दैनिक 'प्रताप' में पढ़ा कि कराँची की ओर बड़े जोर की इन्फ्लुएंजा की बीमारी फैली हुई है। दूसरे दिन पढ़ा कि इन्फ्लुएंजा लाहौर में पहुँच गया और वहाँ हजारों आदमी बीमार पड़े हुए हैं। अगले दिन तो लोगों ने बतलाया, वह पठानकोट और डलहौसी आ गया। उसके ही अगले दिन पता लगा कि वैद्य भगवानदास का सारा परिवार इन्फ्लुएंजा में पड़ा हुआ है। उसी दिन शाम को स्वामी को भी सूखी खाँसी आने लगी। रात तक वह भी पड़ गये। उन्होंने जुलाब की गोली खा ली, जिससे रात को ही दस्त आ गयें। फिर बुखार चढ़ने लगा। दिन चढ़ते-चढ़ते खाँसी-बुखार का इतना जोर हुआ कि उन्हें कोई होश-हवास नहीं रहा। वैद्यराज के घर गये थे, फिर वहाँ से वापस नहीं आये। चारपाई पर इन्फ्लुएंजा में पड़े थे। वैद्यराज की स्त्री काँवा ने स्वामी की बड़ी देखभाल की। तीन दिन तक उन्होंने कुछ नहीं खाया, सिर्फ पानी पर गुजारा किया। चौथे दिन अपने-आप कुछ होश आया। पाँचवें दिन बुखार कुछ कम हुआ, सातवें दिन अवस्था बेहतर हुई। उस दिन लगा कि भगवानदास के घर सिर्फ वह और उनका छोटा भाई बचा है, बाकी सब इन्फ्लुएंजा की भेंट चढ़ गये। चम्बा नगर में सैकड़ों आदमी मरे। चार ही हफ्ते में तो इस महारानी ने भारत में 60 लाख की बलि ले ली थी। वह लोगों को सजग करके थोड़े ही आती थी। अपने मित्र वैद्यराज के घर पर जो विपद पड़ी थी, उसके लिए उन्हें बहुत अफसोस हुआ। पुस्तक एक-चौथाई ही लिखी थी। समाप्त करना जरूरी था। सर्दियाँ समाप्त होते-होते उन्होंने लिखकर पुस्तक समाप्त कर ली और फिर अमृतसर में आकर दुरगियाना तालाब के किनारे वैष्णवदास से मुलाकात की।

इस 'रसकामधेनु' को 1922 में गोण्डल की रसशाला औषधालय के स्वामी राजवैद्य जीवराम कालिदास ने प्रकाशन करने के लिए लिया। इसके 'धातु-संग्रह', 'उपकरण' और 'सूतक्रिया' के तीन पादों को आचार्य यादवजी त्रिकमजी ने 1925 ई. में और चौथे 'चिकित्सा' पाद को पं. जीवराम ने प्रकाशित किया।

9
देश की आग में (1919-22 ई.)

वर्ष 30-33

अमृतसर–अमृतसर में अबकी स्वामी लाला सन्तराम की बगीची में ठहरे। वैष्णवदासजी दुरगियाना में थे। दोनों मिलते रहते थे। लड़ाई समाप्त हो गई थी। 1919 में अब स्वामी 30 साल के हो गये थे, जिसमें आधे को उन्होंने घूमते-फिरते तरह-तरह का तजर्बा हासिल करते बिताया। बुद्धि परिपक्व हो चुकी थी। आयुर्वेद का पूरा अनुभव हो चुका था। कौन-सी जड़ी-बूटी कहाँ होती है, कहाँ से आती है, इसका जितना ज्ञान उन्हें था, उतना शायद ही किसी वैद्य को हो। कई अनुभूत दवाइयाँ पास में थीं, इसलिए रोगियों को तत्काल लाभ पहुँचता और उनके पास बहुत-से रोगी आया करते थे। पैसा भी काफी आ जाता। स्वामी ने देखा, रोगियों में अधिकांश गरीब हैं। वह पैसा खर्च नहीं कर सकते। हाँ, श्रद्धा के फूल जितना वह बिखेर सकते हैं, उतना धन नहीं। चिकित्सा का पेशा ऐसा है, जिसमें हर तरह के रोगी के प्रति पूरी तरह से दया और सहानुभूति रखनी चाहिए। स्वामी जी का विचार था, चिकित्सा को परोपकार की भावना से ही करनी चाहिए। यदि लाखों रुपया कमाना हो, तो व्यवसाय के रूप में चिकित्सा को नहीं अपनाना चाहिए। रुपया कमाने का जब ध्यान रहता है, तो पैसा अपनी ओर खींच लेता है और दया तथा परोपकार की भावना जाती रहती है। स्वामी साधु भी थे और उस बाने को छोड़ना नहीं चाहते थे। यह बात नहीं थी कि इस तरुणाई की अवस्था में उनके दिल में राग न उत्पन्न होता हो। वह रहते भी ज्यादातर गृहस्थों में। पर उनके ऊपर जो धुन सवार होती, वह एकबग्गा हो उधर ही चल पड़ते। इसीलिए वह अपने मन को रोकने में अधिक सफल हुए। तितिक्षा और संयम की शक्ति अभ्यास के साथ उन्होंने खो नहीं दी थी। ऐसे आदमियों की संगति नहीं करते थे, जिससे कि मन में विकार पैदा हो। फिर कार्य की इतनी भीड़ रहती थी, चौबीस घण्टे के समय में सोने के लिए भी मुश्किल से समय मिलता। नये ग्रन्थ हाथ लग जाते तो उनके पारायण में लग जाते।

वैष्णवदास से अब भविष्य के कार्य पर विचार होने लगा। दोनों ही बहुत पुराने दोस्त थे, और एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते थे। दोनों घुमक्कड़ी का जीवन ही बिता रहे थे। वैष्णवदास भी कहने लगे–"मेरा भी मन अब घूमने से ऊब गया है। अब हम तुम्हारे साथ ही शेष जीवन बिता देंगे।" स्वामी ने कहा–"चिकित्सा का व्यवसाय हम अधिक दिनों तक नहीं करेंगे। हम तो आयुर्वेदिक दवाइयों के बनाने की फार्मेसी खोलेंगे, जिसके लिए कुछ पूँजी की आवश्यकता है। हम तभी तक चिकित्सा करते रहेंगे, जब तक कि अपेक्षित पैसा हाथ में नहीं आ जाता।" उन्होंने देख लिया कि फार्मेसी खोलने के लिए अमृतसर-जैसा उपयुक्त स्थान कोई नहीं मिल सकता। यही नहीं कि यहाँ हिमालय की जड़ी-बूटियों के व्यापार की सबसे बड़ी मण्डी है, बल्कि लाहौर के राजधानी होने पर भी व्यापार की राजधानी अमृतसर ही है। वैष्णवदास इस विचार से सहमत हुए। दोनों ने सलाह की कि अब मठों और धर्मशालाओं को छोड़कर शहर में कोई जगह लेकर रहा जाय। इसी विचार से वह आलूवाले कटरे में मारवाड़ियों की धर्मशाला में आ गये। सोच रहे थे, पाँच-सात दिन में कोई जगह तलाश कर लेंगे।

जलियाँवाला बाग-काण्ड–लड़ाई समाप्त हो चुकी थी। जाने या अनजाने भारत के लोग यही मना रहे थे कि अंग्रेजों की हार हो जाय। वस्तुतः अंग्रेजों को देश से निकालने का उन्हें कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था, और न अपने में ऐसी शक्ति पाते थे कि ऐसे दुर्धर्ष शत्रु को हटा सकें, जिसने महायुद्ध में इतनी बड़ी विजय प्राप्त की थी। लड़ाई के समय देश के धन-जन को जिस तरह अंग्रेजों ने जबर्दस्ती स्वाहा किया, उसका आर्थिक प्रभाव भी बहुत जबर्दस्त पड़ा। शिक्षित वर्ग में राजनीतिक चेतना तेजी से बढ़ी थी। हर तरफ भीतर ही भीतर आग सुलग रही थी। अंग्रेज लड़ाई के समय गैरकानूनी कानून बनाकर लोगों को दबाये हुए थे। शांति के समय

वह कानून चल नहीं सकते थे। उधर बंगाल में और कुछ दूसरी जगहों में क्रांतिकारी जो बलि दे-ले रहे थे, उससे उनकी नींद हराम हो गई थी। उन्होंने इसकी जाँच के लिए जस्टिस रौलेट की अध्यक्षता में कमीशन मुकर्रर किया था। उसकी रिपोर्ट का सहारा ले वह रौलेट-कानून बना हमेशा के लिए उन गैरकानूनी कानूनों को भारतीयों के ऊपर लादना चाहते थे। जब संकट का समय था, तो वह तरह-तरह के वादे और प्रलोभन देते रहे। अंग्रेजों के भक्त नरमदली राजनीतिज्ञ अनन्तकाल तक प्रतीक्षा करने के लिए तैयार थे, लेकिन देश इसके लिए तैयार नहीं था।

गाँधीजी अब भारत में थे। जनशक्ति का उन्हें जितना ज्ञान था और उस पर जितना भरोसा था, उतना किसी का नहीं था। वह समझते थे, यद्यपि अंग्रेजों ने भारतीयों को निहत्था करके छोड़ा है, और उनको खूनी हाथों से दबाने के लिए जगह-जगह फौजी छावनियाँ बना रक्खी हैं, पर तो भी जनता की अमोघ शक्ति अपना चमत्कार दिखला सकती है। काम के लिए बहाना भी मिल गया। रौलेट-कानून नरमदलियों के विरोध करने पर भी सरकार ने पास कर दिया। नरमदली नेता नरम-नरम शब्दों में कुछ विरोध प्रकट करने से अपने काम की इतिश्री समझते थे, लेकिन गाँधीजी इसे जनता के पास ले जाने के लिए तैयार थे। 6 अप्रैल 1919 को इतवार का दिन था। उसी दिन सब जगह हड़ताल और विरोधी सभा करने का निश्चय किया। लाहौर और अमृतसर में उस दिन जनता में ऐसा जोश देखा गया था, जितना शायद ही कभी उससे पहिले हुआ हो। यह ठीक है, 1857 ई. के स्वतन्त्रता-युद्ध में पंजाबवालों ने अंग्रेजों की सहायता की थी। सिक्खों को हराने के लिए पुरबियों ने अंग्रेजों का साथ दिया था, उसी का बदला 1857 में सिक्खों ने लिया, जिसका फल दोनों को भुगतना पड़ा। सिक्खों ने आजादी के लिए इस समय क्या नहीं कुर्बानी की थी। सन् 57 के विद्रोह में पुरबियों ने भी दिखला दिया कि उन्होंने अपने को दो टुकड़ों के लिए अंग्रेजों के हाथ में बेच नहीं डाला।

अब पंजाब सारे देश से आगे रहना चाहता था। लड़ाई के दौरान में ही सैकड़ों पंजाबी—ज्यादातर सिक्ख—देश को स्वतन्त्र कराने के लिए अमेरिका से आये। उनमें से बहुतेरे हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ़ गये। वह रिहर्सल था। अब असली नाटक का समय आ गया था। वस्तुतः गाँधीजी ने जो दिन हड़ताल और सभा के लिए नियत किया था, गलती से उसे पहिले समझ लिया गया। अंग्रेजों ने जनता के जोश को देख लिया। तानाशाह उडायर उस वक्त पंजाब का राज्यपाल था। 6 अप्रैल को जो कुछ पंजाब के शहर में हुआ, उसे देख-सुनकर अंग्रेजों की नींद हराम हो गई। अमृतसर के अंग्रेज अफसरों ने इसे रोकने के लिए यही उपाय सोचा कि नेताओं को पकड़ लिया जावे, फिर संचालन के अभाव में जनता का जोश ठण्डा हो जायेगा। डॉ. सैफुद्दीन किचलू और डॉ. सत्यपाल उस समय अमृतसर के बेताज के बादशाह थे। 11 तारीख की रात को उन्हें गिरफ्तार कराया गया। रात ही रात सब जगह इसकी खबर पहुँच गई। 12 के सबेरे लोग गुस्से में पागल हो सड़कों पर निकल आये। वह नेताओं को छुड़ाने के लिए जिलाधीश (डिप्टी कमिश्नर) के बँगले की ओर चल पड़े। लोगों की बाढ़ हालबाजार की ओर उमड़ती चली जा रही थी। इच्छा न रहते भी कितने ही उस बाढ़ में तिनके की तरह बहे जा रहे थे। इन्हीं में वैष्णवदास और स्वामी हरिशरणानन्द भी थे। हृदय के कोन में पीढ़ियों के सुषुप्त विद्रोह की भावना थीं। शायद वही उन्हें उस बाढ़ में खींचकर ले गई।

स्वामी हरिशरणानन्द हरिशचन्द्र रहते भी नित्य अखबार पढ़ा करते थे और बाबा गोपालदास को सुनाया करते थे। अब तो उन्हें उसका अमल हो गया था। बिना अखबार पढ़े पेट में अनाज नहीं पचता था। लेकिन राजनीति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। यदि उधर रुचि होती भी तब भी उनका सारा ध्यान फार्मेसी कायम करने में लगा हुआ था। वह चाहते थे, लखपति हो जायें, लेकिन आदमी सामाजिक जीव है। समाज से प्रभावित हुए बिना वह कैसे रह सकता है ?

जुलूस के साथ स्वामी हालबाजार के बाहर रेल का पुल पार हो गागरमल की कुइयाँ के पासवाले चौरस्ते पर पहुँचे। उसी समय फौज ने आकर जुलूस को आगे बढ़ने से रोक दिया। भीड़ पीछे हटने के लिए तैयार नहीं थी। सैनिक आगेवालों पर ही जोर-दबाव डाल सकते थे। पीछे की भीड़ उनके हाथ से बाहर थी, और उसके रेले से आगेवाले सैनिकों को ढकेलकर आगे बढ़ाना चाहते थे। सड़क को चार गोरे घुड़सवार अफसर

गश्त लगाते रोके हुए थे। भीड़ में स्वामी और वैष्णवदास एक ही साथ शामिल हुए थे। लेकिन भीड़ के प्रवाह का क्या ठिकाना ? न जाने कैसे वैष्णवदास आगे पहुँच गये। घुड़सवार इधर से उधर भाग रहा था। वैष्णवदास के उसके घोड़े का धक्का जोर से लगा। वह क्रोधी स्वभाव के थे। धक्का लगने पर उनका पारा गरम हो गया। यह अपने कुर्ते की बाँह में हर समय एक डण्डा छिपाये रखते थे। धक्का लगते ही डण्डा बाहर निकला, ताबड़तोड़ घोड़े के चूतड़ पर बजा दिया। घोड़ा बिदक उठा। अफसर इस गुस्ताखी को कैसे सह सकता था। उसके हाथ में एक लम्बा चाबुक था। उसने चाबुक को पीछे की ओर फटकारा। संयोग से वह भी वैष्णवदास के ऊपर ही पड़ा। डण्डा गोरे के पास तक पहुँच नहीं सकता था। सड़क के किनारे ईंटें गड़ी हुई थीं। उन्हें उखाड़कर उन्होंने ताबड़तोड़ मारना शुरू किया। एक ईंट गोरे के हैट को छूती निकल गई। यह बातें चौरस्ते पर खड़े गोरे ने देख लीं, और उसने तुरन्त गोली मारी। भीड़ पर चार फायर हुए। एक गोली वैष्णव के कोख में लगकर देह के भीतर रह गई। वह वहीं गिर पड़े। एक गोली एक बच्चे को लगी, और वह भी जमीन पर गिर पड़ा। सारी भीड़ में भगदड़ मच गई। गोलियों के सामने निहत्था हाड-मांस क्या कर सकता था ? लेकिन खून का घूँट पीकर लोग चैन से कैसे रह सकते थे ? अब तो खून हो गया था। वह बदला माँग रहा था। यदि वह नहीं हो सकता, तो जनता बैंकों, डाकखानों, गिरजाघरों पर टूट पड़ी। अंग्रेजों के नाम से जिस किसी चीज का कोई सम्बन्ध था, उसको ध्वंस करना वह अपना कर्तव्य समझने लगी। गिर्जा जला दिया गया, बैंकों को लूट लिया गया। कोई अंग्रेज दिखाई पड़ता, तो उससे बदला लिये बिना छोड़ा नहीं जाता। अमृतसर की यह आग सारे पंजाब में फैल गई। अंग्रेज इसको दबाने के लिए तैयार थे।

स्वामी हरिशरणानन्द ने अपने साथी को ज़मीन पर गिरते देख लिया। लेकिन उस समय वहाँ पहुँचना बेकार था। जब भीड़ वहाँ से हट गई, गोरे भी वहाँ नहीं रहे, तो तुरन्त ताँगा लेकर वह वहाँ पहुँचे, और वैष्णवदास को उसमें डाल के धर्मशाला में लाये। घाव मामूली नहीं था। गोली पेट के भीतर थी। दोनों मित्र एक अपरिचित नगर में थे, जहाँ उनकी किसी से जान-पहचान नहीं थी। दिन-भर तो अवस्था बुरी नहीं मालूम पड़ी, पर शाम को वह बिगड़ने लगी। इसी बीच कांग्रेस के कार्यकर्ताओं को पता लगा, और वे आहत साधु की देखभाल के लिए एक डॉक्टर के साथ धर्मशाला में आये। डॉक्टर ने कहा, ऑपरेशन करके गोली निकाले बिना काम नहीं चल सकता।

धर्मशाला जलियाँवाला बाग के पास ही थी। सुबह उठते ही स्वामी को पता लगा कि कल के गोलीकांड के विरोध में आज जलियाँवाला बाग में सभा होगी। लोग हजारों की संख्या में उधर जा रहे थे। वस्तुतः इस स्थान का नाम बिलकुल गलत था। वहाँ कोई वृक्ष या पौधा नहीं था। शहर के भीतर चारों ओर घरों से घिरा मैदान था, जिसमें लोग पाखाना करते थे, या गोबर पाथनेवाली गोबर जमा करती थीं। वस्तुतः तीन तरफ गोबरों का ही ढेर था। एक ओर एक पुराना खराब कुआँ था, और एक ऊँचे चबूतरे पर देवी का मन्दिर था, जो इस गन्दे स्थान में होने के कारण भक्तों को अपनी ओर खींचने में समर्थ नहीं था। सबेरे 8-9 बज रहा था। लोग जलियाँवाला बाग के भीतर जा रहे थे। जाने के लिए एक ही तंग गली थी। भाषण के लिए वहाँ एक बड़ा-सा मंच बन गया था। जनता पहुँच गई, पर नेता अभी पहुँचे नहीं थे। इसी बीच फौज आ गई, और उसने गली के निकास पर मशीनगन लगा दी। भारी भीड़ थी। जोश का क्या पूछना ? पास की धर्मशाला में साथी को घायल छोड़कर स्वामी हरिशरणानन्द भी बाग के अन्दर पहुँच गये। जनरल डायर आया। उसने मंच पर चढ़े आदमियों को हुकुम दिया—जलसा बन्द करो, नहीं तो गोली चलाई जायेगी। किसी ने उसकी बात की पर्वाह नहीं की। सामने के कुछ लोग हटने लगे। स्वामी भी देवी के मन्दिर के पास पहुँचे। उन्हें साथी को छोड़ना नहीं चाहिए था। और आगे बढ़ने से पहिले ही मशीनगन तड़तड़ाने लगी। घायलों की चीख-पुकार और लोगों में भगदड़ मच गई। आदमी के ऊपर आदमी गिरते जा रहे थे, और लोग वहाँ से दौड़ रहे थे। निकलने का रास्ता जिधर था, उधर ही से तो गोलियाँ आ रही थीं। कितने ही आदमी गोबर में धँस गये, कुएँ में गिर पड़े। थोड़ी ही देर में उस मैदान में लाशें, जूते, पगड़ियाँ बिखरी पड़ी थीं। घायल चिल्ला रहे थे। लेकिन सभी को अपनी-अपनी जान की पड़ी हुई थी, दूसरे की सुध लेने की किसको फुर्सत थी ? अंग्रेज इस खूनी काण्ड

के लिए पहिले ही सोचकर तैयार थे। वह समझते थे, आतंक फैलाकर ही पंजाब में विद्रोह की भावना को दबाया जा सकता है। कुछ घण्टों के लिए जलियाँवाला बाग में जरूर वह सफल हुए। लेकिन उनको क्या पता था, जलियाँवाला बाग की आग सारे देश में भड़क उठेगी, और इतना प्रचण्ड रूप लेगी कि एक नहीं हजार डायर-उडायर भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। करोड़ों की जनता में डेढ़-दो हजार के मरने से क्या बिगड़ता है ? मरे हुओं के लिए एक बार अफसोस प्रकट कर जनता को तो अपने दिल के भीतर लगी आग को बुझाने के लिए कुछ करना ही पड़ेगा। अंग्रेजी शासन के अन्त का आरम्भ यहीं जलियाँवाला बाग से हुआ, जिसके कि स्वामी प्रत्यक्षदर्शी थे। यदि वह देवी के मन्दिर के चबूतरे की आड़ में न होते, तो शायद इस जीवनी को लिखने की जरूरत नहीं होती। हजारों गुमनाम मर गये, शहीदों की तरह वह भी अनजानी दिशा का रास्ता लेते।

उस रोमांचकारिणी घटना को आँखों से देखकर कुछ ही देर बाद स्वामी अपने साथी के पास थे, जिसकी हालत क्षण-क्षण बिगड़ती जा रही थी। पिछले दिन का काण्ड आज के सामने कुछ भी नहीं था। अंग्रेजों ने चारों ओर आतंक फैला दिया था। तो भी शाम को डॉक्टर ने आकर क्लोरोफार्म सुँघाकर गोली निकाल दी। हालत और भी बुरी हो गई, और दो घण्टा रात रहते-रहते स्वामी ने अपने प्रिय साथी को खो दिया। उन्होंने जलियाँवाला बाग के हजारों शहीदों को भी धराशायी देखा था, और उसका भी उनके हृदय पर प्रभाव पड़ा था; लेकिन यह तो वैयक्तिक हानि थी। वैष्णवदास उन्हें मानसरोवर ले गये थे। उनके साथ वह कहाँ-कहाँ तक घूमते रहे। योग-ध्यान से वैष्णवदास का कोई मतलब नहीं था, और न चिकित्साशास्त्र से ही। नहीं तो, उस समय भी वह स्वामी के साथ बराबर रहते। अब दोनों एक जगह अपना जीवन बिताने का स्वप्न देख रहे थे। दुरगियाना से धर्मशाला में इसीलिए आये थे कि जल्दी ही कोई किराया की जगह लेकर अपना काम शुरू करें। आज वह साथी चल बसा था। स्वामी अकेले थे। पुरानी स्मृतियाँ एक-एक करके जाग रही थीं। खून के आँसू पीते मन मसोसकर भीतर-ही-भीतर विलाप करते स्वामी ने किसी तरह रात काटी। सबेरा हुआ। अमृतसर के पहिले खूनी काण्ड के शहीद की मृत्यु की खबर लोगों को लगी। जलियाँवाला बाग के खूनी काण्ड से बढ़कर आतंक फैलाने का और क्या काम अंग्रेज कर सकते थे। सचमुच जनमानस दुर्दम्य था, नहीं तो उस रात को कोई डॉक्टर ऑपरेशन करने के लिए क्यों हिम्मत करता ? और आज तो जब शहीद वैष्णवदास की अर्थी चली, तो उसके साथ 50 हजार आदमियों की भीड़ थी। चाटीपिण्ड के श्मशान पर उन्हें ले गये। दाह-संस्कार की रस्म पूरी अदा नहीं हुई कि फौज ने आकर श्मशान को चारों ओर से घेर लिया। अपराधी-निपराधी के पता लगाने का साधन क्या था ? भीड़ में जिनको अधिक सभ्य रोब-दाबवाला देखा, उन्हीं को पकड़कर लारियों में बिठा जेल भेज दिया। स्वामी भगवा पहने एक मामूली साधु थे। उनको कौन पूछनेवाला था ?

धर्मशाला में आकर सोचने लगे, अब क्या करें। किसी निर्णय पर पहुँचने से पहिले ही शाम हो गई। एक कांग्रेसी ने उन्हें सूचना दी कि जल्दी यहाँ से चले जाओ, नहीं तो पुलिस गिरफ्तार कर ले जायेगी। लड़ाई के समय अंग्रेजों ने खुफियों की भारी पलटन भरती की थी, सर्वत्र उनका जाल बिछा हुआ था। सच्ची-झूठी किसी खबर को अफसरों के पास पहुँचाकर ही वे निश्चिन्त हो टुकड़े तोड़ सकते थे। वैष्णवदास के साथी साधु का पता लगाना उनके लिए मुश्किल नहीं था। उसी रात स्वामी अपना डण्ड-कमण्डल छोड़ बाजार कसेरा में पेशावरियों की धर्मशाला में रात बिताने के लिए चले गये, और तड़के ही शहर छोड़ने का निश्चय कर लिया।

कन्धे पर झोली रक्खे पानी का लोटा हाथ में लिये बड़े सबेरे वह रामबाग दरवाजे से बाहर निकलने लगे। शहर में अंग्रेजों ने नाकाबन्दी कर ली थी। गोरे ने उन्हें बाहर जाने से रोका। उसके साथ सिक्ख पुलिस-अफसर था। उसने गोरे को बताया, यह साधु-फकीर हैं। इनका शहर में कोई घर-द्वार नहीं है। यह सबेरे टट्टी-फराकत के लिए शहर से बाहर जाया करते हैं। गोरे ने छोड़ दिया। जान बची लाखों पाये। शहर से कुछ दूर हटते ही स्वामी के पैरों में पंख बँध गये। लम्बे-लम्बे डग भरते वह सात मील चलकर बड़ी सोइयाँ पहुँच एक शिवालय में ठहरे। पाँच घरों से मधुकरी माँग लाये, खाकर वहीं बैठे। एक माई ने साधु के पास कोई सामान न देखकर बिछाने के लिए एक दरी और अलफी बनाने के लिए एक चादर दे दी। तीन दिन तक यहीं गुजारा। दोपहर

के वक्त मधुकरी लेने गये थे, इसी समय मन्दिर में पुलिस पहुँच गई। एक लड़का भागा-भागा इनके पास आकर बोला–"मन्दिर में पुलिस आ गई है, वहाँ के दूसरे साधु को उसने गिरफ्तार कर लिया है। आप वहाँ न जायें।" एक माई ने अपने घर में उन्हें शरण दी। साधु बूटासिंह को पकड़कर पुलिस ले गई। गाँव में स्वामी की भी तलाश की, पर पता नहीं लगा। रात को माई के घर में ही रहे। बड़े सबेरे माई ने जगाकर कहा कि आप कहीं और जगह चले जायें। हमारे भी कितने ही दुश्मन हैं, कोई शिकायत करके आपको पकड़ा देगा।

स्वामी तड़के ही वहाँ से निकले। उन्होंने सोच लिया, अब पहाड़ में जाने में ही खैरियत है। डेराबाबा नानक के पास रावी पार करना चाहते थे, इसलिए उधर ही जा रहे थे। दूर-दूर तक गाँवों में पुलिस पहुँच गई थी। बैंक और दूसरी जगहें लूटी गई थीं। लूट के माल को लोगों ने गन्ने के खेतों में छिपा रक्खा था, जिन्हें पुलिस जमा कर रही थी। गाँवों में गिरफ्तारियाँ भी हो रही थीं। रावी पार करते समय घाट पर बैठे सन्तरी ने टोका–"कहाँ जा रहे हो ? कहाँ से आये ?" स्वामी ने बतलाया–"हम तो रमते राम हैं। कभी इस गाँव में, कभी उस गाँव में विचरते रहते हैं। कल व्यास के किनारे थे, रात मजीठा में और आज तुम्हारे सामने हैं।" सिपाही ने विश्वास कर लिया कि अमृतसर से आया नहीं है, इसलिए छोड़ दिया।

कुठौवा पहुँचे, पहाड़ के भीतर प्रविष्ट हुए। गर्मियाँ सिर पर थीं, इसलिए पहाड़ में विचरण करने का निश्चय किया। सोच रहे थे–संसार में गुलामों का कोई जीवन नहीं, न उनके जीवन का कोई मूल्य है। बिना कसूर हजारों आदमी गोली से भून दिये गये, और अब कोई पूछनेवाला नहीं। स्वामी अख़बारों में अफ्रीका के गुलामों के किस्से पढ़ चुके थे। उन्हें बेदर्दी से पकड़कर जंजीर में बाँध दिया जाता, फिर गुलाम बनाकर बेच दिया जाता। भारतवासियों की भी स्थिति उससे क्या कम है ? आर्य जाति का उन्हें अभिमान था। समझते थे, संसार को इसने सभ्यता का पाठ पढ़ाया। पढ़ाया होगा किसी समय, लेकिन अब तो वह गुलाम से भी बदतर है। यह भी कोई जिन्दगी है। इन सब विचारों ने उनके मन को एक नई दिशा की ओर प्रेरित किया। वह समझने लगे कि महात्मा गाँधी क्यों स्वराज्य माँग रहे हैं। क्यों कांग्रेस स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रही है।

देशभक्ति जगी–1919 ई. की सर्दियों में अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। वह अधिवेशन में शामिल होने के लिए स्यालकोट से अमृतसर आये। जलियाँवाला बाग के खूनी काण्ड के बाद भी जनता के उत्साह को उन्होंने जरा भी मन्द पड़ा नहीं देखा। नेताओं के व्याख्यानों को सुनने का मौका मिला। आठ महीने से दिमाग में जो खिचड़ी पक रही थी, अब वह पूरी तैयार हो गई। स्वामी बिल्कुल बदल गये। "अपने गुलाम देश को आजाद करना हमारा कर्तव्य है, यदि यह भाव नहीं, तो हमसे पशु बेहतर हैं"–यह भावना उनके दिल में भर गई। कांग्रेस के समाप्त होने के बाद वह फिर स्यालकोट लौट गये; लेकिन अब भागने के लिए नहीं, बल्कि स्वतन्त्रता के संघर्ष में भाग लेने के लिए। देश के लिए जो लोग बलिवेदी पर चढ़े; उन्हें वह अपना सगा बन्धु समझते। आखिर उन्हीं में से तो उनके मित्र वैष्णवदास थे। अब राजनीतिक पुस्तकों को ढूँढ़-ढूँढ़कर पढ़ने लगे। ऐसी पुस्तकों को और चाव से, जिन्हें कि अंग्रेजों ने जब्त कर रक्खा था। वह गाँधीजी के अहिंसात्मक युद्ध से ज्यादा क्रान्तिकारियों के तरीके को पसन्द करते थे। समझते थे, अंग्रेजों और उनसे भी बढ़कर उनके खुशामदी देशद्रोही भारतीयों के साथ दया-मया दिखाना पाप है–'शठे शाठ्यं समाचरेत्' (शठ के साथ शठ बनना चाहिए।) क्रान्तिकारी अंग्रेजों को अपनी गोली का निशान बनाते, बहुत अच्छा करते हैं। लेकिन देश अब एक दूसरी ही बाढ़ में बह रहा था। गाँधीजी ने हिंसा का रास्ता छोड़कर जन-जागृति पैदा करने में बड़ी सफलता प्राप्त की। चाहे फैसला हिंसा से हो या अहिंसा से, पर वह जन-जागृति और जन-शक्ति के बल पर ही हो सकता था। यद्यपि क्रान्तिकारियों के साथ उनकी भारी सहानुभूति रही, पर स्वयं उसमें शामिल होकर काम करने की इच्छा उन्होंने कभी नहीं की। हो सकता है, इसमें फार्मेसी का लक्ष्य सामने रहना भी बाधक था।

फिर पहाड़ों में–1920 ई. की गर्मियों में वह फिर पहाड़ों में थे। जम्मू गये, वहाँ से ऊधमपुर और मधुबनी के विचरते वैद्यों और वनस्पतियों से परिचय प्राप्त करते डलहौजी जा पहुँचे। 2 अक्तूबर, 1920 को लोकमान्य तिलक का देहान्त हुआ था। उस दिन स्वामी हरिशरणानन्द डलहौजी के पास बनीखेत में ठहरे थे। स्वामी की

जैसी प्रकृति के आदमी के लिए लोकमान्य के प्रति अधिक आस्था होना स्वाभाविक था। तिलक कौटिल्य थे, और गाँधी उनकी दृष्टि में साधु-महात्मा। तिलक की गीता को वह कई बार पढ़ चुके थे। उनके 'औरायन' ग्रन्थ के पढ़ने से उन्हें मालूम था कि तिलक शास्त्रों-वेदों के भी पारंगत पण्डित हैं। अब जाड़ा आ रहा था। अक्तूबर के अन्त में वह पठानकोट चले आये। फिर तराई ही तराई होशियारपुर जा पहुँचे। वहाँ से बंगा, गढ़शंकर घूमते नालागढ़ पहुँचे। यह सारी यात्रा वैद्यों और जड़ी-बूटी जाननेवाले साधुओं से मिलने-जुलने के लिए हुई थी, और इसमें उन्हें कई अनुभूत दवाइयाँ (योग) मिलीं। बंगा के पास एक सन्त रहा करते थे। उनसे उन्हें 'नीलकंठरस' और बालकों की चूँड़ी–दो योग मिले थे।

फार्मेसी का स्वप्न–आयुर्वेद का ज्ञान अब काफी अर्जित कर लिया था। घूमने की इच्छा भी नहीं रह गई थी। अब अर्जित ज्ञान का उपयोग करना चाहते थे। वैष्णवदास के साथ उन्होंने फार्मेसी खोलने का संकल्प किया था। अकेले ऐसा काम हाथ में लेने में हिचकिचाहट होती थी, लेकिन वह ख्याल स्वामी के दिमाग से हटा नहीं था। स्वामी अम्बाला पहुँचे। उनकी बहुत-सी पुस्तकें स्यालकोट में एक भक्त के पास पड़ी थीं। वहाँ भी पहुँचे। सर्दियाँ भी खतम हो गईं। टाँड़ा का एक आदमी उनके पास आया। उसकी स्त्री बहुत समय से बीमार पड़ी हुई थी। उडमल काँडे में जाकर एक महीना चिकित्सा करते रहे। स्त्री अच्छी हो गई, और आदमी ने स्वामी को सौ रुपये दिये। पास में ही एक सोनार का घर था। वह लायलपुर की ओर से किसी गाँव में जाकर रहता था। वहाँ उसे किसी महात्मा ने श्वेतकुष्ठ की जड़ी बता दी थी, जिसकी एक बोरी भरकर सोनार ने अपने घर भेजी थी। रात को एक समय भैंस खुल गई। उसने सारी बोरी साफ कर दी। भैंस को फुलबहरी थी, अर्थात जगह-जगह चमड़े का रंग सफेद हो गया था। बूटी खाते ही उसकी फुलबहरी जाती रही। यह किस्सा स्वामी ने सोनार की स्त्री से सुना। उन्होंने समझा, यह तो अद्‌भुत बूटी है। यदि यह हाथ लग गई, तो कितना बड़ा काम हो सकता है। उन्होंने सोनार का पता पूछा, और लालामूसा से लायलपुर की गाड़ी में बैठ गये।

चकझूमरा–रात को गाड़ी में जाते सो गये। टिकट और रुपये गाँठ में बँधे हुए थे। किसी ने चुपके से निकाल लिये। चकझूमरा स्टेशन पहुँचने पर आँख खुली। देखा, टिकट और रुपये नदारद। पास में बिस्तरा, लोटा और दवाइयों का बक्स था। बिना टिकट कभी सफर नहीं किया था। डर के मारे वहीं उतर गये। बाबू से कहा–"हमारे पास लालामूसा से गोजरे तक का टिकट था, गिरहकट ने टिकट और पैसे ले लिये।" टिकट बाबू ने कहा–"ऐसे बहाने हमने बहुत सुने हैं। हम कुछ नहीं जानते। दवाइयों का बक्स और लोटा यहाँ रखकर किराये का पैसा माँग लाओ, तब अपना सामान ले जाना।" चकझूमरा में साधु का कोई स्थान नहीं था। श्मशान घाट के पास एक कुटिया बनी थी। आये-गये साधु वहीं ठहरा करते थे। वहाँ पहुँचे तो देखा, गाँजा-सुलफा पीनेवाले भक्तों का काफी जमघट था। उन्होंने स्वामी की आवभगत की। पूछा-पेखी हुई। स्वामी ने आपबीती सुनाई। भक्तों ने देखा कि यह पढ़े-लिखे साधु हैं, और दवा-दारू भी जानते हैं। उस समय कुटिया में कोई साधु भी नहीं था। यदि यह रहना स्वीकार करें, तो कितना अच्छा होगा। सब गँजेड़ी भक्तों ने मिलकर आपस ही में इतना पैसा जमा कर दिया कि स्वामी को और कहीं जाने की जरूरत नहीं पड़ी। स्वामी जाकर अपना सामान ले आये, लेकिन पैसों के साथ सोनार का पता भी गुम हो गया था, इसलिए उधर जाने की अब कोई जरूरत नहीं थी।

चकझूमरा लायलपुर के इलाके में है। यह इलाका वीरान पड़ा हुआ था। पानी का अभाव था, नहीं तो धरती सोना उगानेवाली थी। अंग्रेजों ने यहाँ नहर निकाली। जंगल में मंगल होने लगा। हरे-भरे गाँव बस गए। अनाज-कपास के बेचने के लिए मंडियों की जरूरत थी। इस प्रकार चकझूमरा एक अच्छी-खासी मण्डी बन गया। वहाँ कपास ओटने की दो मिलें स्थापित हो गईं। झेलम नदी के किनारे चिन्यौट एक प्राचीन नगर है। नगर उजड़ते-बसते रहते ही हैं। जब व्यापार चला तो एक गुमनाम स्थान नगर बन गया, जब व्यापार का सहारा नहीं रहा और दूसरी जगह कोई मण्डी बनने लगी, तो लोग चुम्बक की तरह उधर खिंचकर चले गये। इसी तरह चिन्यौट के लोग चकझूमरा की मण्डी में अधिकतर चले आये। नदी दूर थी, इसलिए हिन्दुओं ने यहीं एक श्मशान बना लिया था। श्मशान के पास काफी जगह घेरकर एक कुआँ, एक बहुत बड़ा बगीचा और

उसी के बीच में साधु के लिए एक अच्छी-सी कुटिया बना दी। मंडी में आढ़तियों के पास जो भी चीज बिकने आती, तौलते वक्त कुटिया के नाम पर एक पसर धर्मदान के लिए निकाल दिया जाता। कपास, गेहूँ, सरसों–सभी चीजों का धर्मादा निकलता, और फसल के मौके पर रोज 15-20 रुपये जमा हो जाते। इस प्रकार श्मशान की कुटिया गरीब की कुटिया नहीं थी। उसी की देखभाल के लिए भक्तों ने स्वामी को ठहराया। धर्मादा के पैसे लेने के लिए बनियों के पास जाना पड़ता। स्वामी को यह काम अच्छा नहीं जँचा और उन्होंने इसके लिए एक ब्राह्मण को नौकर रख लिया। वही सारे दिन धर्मादे के दाने को इकट्ठा करता और शाम को एक दूकान पर जमा कर देता। उसे बेचकर आढ़तिये स्वामी के पास भेज देते। तीन ही महीने में उनके पास आठ सौ रुपये जमा हो गये। भक्तों ने सलाह दी, कुटिया के चारों ओर चहारदीवारी बना दी जाय। स्वामी ने जवाब दिया, एवमस्तु। उनकी चिकित्सा भी चमक उठी थी।

इस समय असहयोग-आंदोलन जोरों पर था। पंजाब में मुसलमानों में तो कम, पर हिन्दुओं में कांग्रेस के प्रति काफी भक्ति थी। मण्डियों में हिन्दू छाये हुए थे। हरेक मण्डी में कांग्रेस कमेटियाँ बनी थीं। चकझूमरा ही केवल ऐसी मण्डी था, जहाँ के शत-प्रतिशत चिन्यौटिये आढ़तिये झोलीचुक (अंग्रेजों के भक्त) थे। कांग्रेस का नाम लेने से भी वहाँ लोग डरते थे। मण्डी का चौधरी बरकतराम तो हद दर्जे का डरपोक था। वह कांग्रेस कमेटी बनने नहीं देता था। कहता था–"ऐसा करोगे तो अंग्रेज मण्डी बरबाद कर देंगे।" लेकिन चिन्यौटिये के लड़कों में नया खून था, जोश था; पर चौधरी के डर के मारे आगे नहीं आते थे। स्वामी की चिकित्सा चल निकली थी। यद्यपि वह पैसा नहीं माँगते थे, किन्तु रोग अच्छा होने पर लोग स्वतः दस-बीस रुपया दे जाते। कुटिया के धर्मादे से भी वह खर्च कर सकते थे, लेकिन जब उन्हें अपनी चिकित्सा से पाँच-सात रुपये रोज मिल जाते तो उसकी जरूरत नहीं थी।

चकझूमरा में कांग्रेस का कोई काम न हो, यह स्वामी के लिए सोचने की भी बात नहीं थी। उन्होंने निश्चय किया, यहाँ भी कांग्रेस कमेटी स्थापित करनी है। दो-चार नवयुवक साथ देने को तैयार थे, पर आगे आने में हिचकिचाते थे। सुल्फिये भक्तों के सामने भी यह विचार प्रकट किया। उन्होंने इसकी खबर बरकतराम के पास पहुँचा दी। बरकतरराम अपनी ही मण्डी के धर्मादे के स्थान पर बैठे साधु को कांग्रेस कमेटी कायम करते कैसे देख सकते थे ? स्वामी को चौधरी की टीका-टिप्पणी का पता लगा। वह धौंस में आनेवाले जीव नहीं थे। कुटिया छोड़ बाजार में किराये पर मकान लेकर वह वहाँ चले आये। उन्हें श्मशान अगोरने की न कोई इच्छा थी, न जरूरत ही। राली ब्रादर्स की बहुत बड़ी फर्म गल्ले का रोजगार करती थी, जिसमें एक नौजवान क्लर्क थे लाला रामकिशन। वह हारमोनियम अच्छा बजाते-गाते थे। लाला रामकिशन स्वामी का साथ देने के लिए तैयार हो गये। रलाराम आर्यसमाजी बड़े पक्के और जेल जाने के लिए भी तैयार थे। वह भी सहायक मिले। स्वामी ने अब अपने दोनों परिषदों के साथ रावण की लंका में कांग्रेसी सभा करने का निश्चय किया। सभा के बानी आर्यसमाजी थे। उन्होंने हरेक सभा में बाजा और भजन को अनिवार्य कर दिया था। बाजा बजाने के लिए तो रामकिशनजी थे, पर भजन बना-बनाया मौजूद नहीं था। स्वामी रात को बैठ गये और उन्होंने तीन भजन लिख डाले थे। पहला था :

भारत माता की आरती

1

ओम जय भुवि अम्ब हरे, जय जगदम्ब हरे।
तू धारणि जगकारणि संकट विपति हरे।
पर- शिक्षा के लालच हो गये हम निगुरे।
करम-धरम सब भूले सेवा तव विसरे।
जैसी करनी वैसे ही हम कष्ट सहे।
अब तो पुत्र उबारो छमि अपराध हरे।

होवे पुत्र नलायक क्या माता बिसरे।
हम सब दीन अनाथा संकट माँहि घिरे।
जब जब कष्ट पड़े पुत्रन पर तब तू धाई।
पुत्र बचावन हेतु जगत्पति जा ल्याई।
पर बन्धन के मारे संकट प्राण हरे।
अब तो पुत्र उबारो नहिं तो जात मरे।
ना हम किसैं सतावैं ना हम परसत्वै छीनैं।
तापर जुलमी हम पर जुल्म करें हीने।
कर जोड़े सुत ठाड़े चरनन ध्यान धरे।
जननी होउ सहायी विपता से उबरे।
दुखहारनि सुखकारनि हे अम्बे त्राता।
लालन - पालनवाली जगजीवन दाता।

लेकिन पंजाब में हिन्दी से उर्दू ज्यादा चलती थी, यह स्वामी जानते थे। इसीलिए उन्होंने उर्दू की भी टाँग तोड़ते हुए कहा :

2

मैं गाँधी पै जानो-जहाँ बेचता हूँ। खरीदो कोई मैं हमाँ बेचता हूँ।
मुशक्कत से मैंने कमाया है सारा। खुले दिल से अपनी जमाँ बेचता हूँ।

फिर पंजाबी की भी तुकबन्दी की :

3

की लगदी सरकार साडी की लगदी।
सात समुन्दर पारों बसदी बन बैठी मुखत्यार। साडी की लगदी।
कर दी जारत हिन्द बीच आई हो गई गले दा हार।
न ए साडी जात बिरादर ना ए रिश्तेदार।
हमका लेव गोरी खलना मिलना न लक्ख हजार।
न हम उसदे न यह साडी मुफतों ही कर दी ख्वार।
मन्नो न मन्नो बणदी जांदी जब रोई हकदार।
न्याव नु चूल्हे बिच है पाया हत्थ फड़े हथियार।
बदोबदी वो टिकसाँ लांदी लूट रही बदकार।
जदों ते साडे हिन्द बिच आई धरम रहा ना प्यार।
कौम दी जेहडे खिदमत करदे उन्हाँनु लांदी मार।
नाँव मुन्सफी रिशवत खांदी ला दी करे पुकार।
कहँदा स्वामी देखो लोगो है डाकू दी यार।

8 नवम्बर 1921 की बात है। चकझूमरा मण्डी के चौक में कांग्रेस की सभा की मुनादी का ढोल बज रहा था। चौधरी बरकतराम धवन ने जो आवाज सुनी तो पूछा—"वेख, ये कादा ढोल खडकदा ई ?" आदमी ने कहा—"कांग्रेसदा जलसा होण जा रया है।" चौधरी ने कहा—"फड़ के लाओ, मारू जुत्ते।" चौधरी ने ढिंढोरा नहीं पिटने दिया। फिर क्या था ? छोटे-छोटे बच्चों में जोश आ गया। उनके हाथ में स्वामी ने कनस्तर दे दिये, जिन्होंने सारी मण्डी में मुनादी कर दी। शाम को मैदान में सभा के लिए मेज-कुर्सी लगा दी गई। लाला रामकिशन ने हारमोनियम पर अपनी अँगुलियाँ फेरनी शुरू कीं। बैठने के लिए टाट बिछा हुआ था, जिस पर

बच्चों की सेना आ बैठी थी, लेकिन बड़े आदमियों में कोई भी बैठने नहीं आया। दूर-दूर से वह तमाशा देखते रहे। महाशय रलाराम सभापति बने। उन्होंने एक छोटी-सी स्पीच देकर कहा, स्वामीजी और बात बतलायेंगे। स्वामी ने पहिला राजनीतिक भाषण दिया—कांग्रेस क्या चाहती है, स्वतन्त्रता क्या है, और हम क्यों उसे चाहते हैं। सभा के अन्त में कांग्रेस कमेटी का चुनाव हुआ। महाशय रलाराम प्रधान और स्वामीजी अपने मन्त्री तथा तीन और सदस्य चुने गये। अब तो रोज ही शाम को स्वामीजी सभा करने लगे। सभा में शामिल होने में किसी के ऊपर आफत न पड़ते देखकर धीरे-धीरे लोगों की हिम्मत बढ़ी और टाट पर बैठनेवालों की संख्या बढ़ती गई। स्वामी रोज नई कविता बनाकर लाते। कविताएँ उसी काल के लिए थीं और उसके साथ ही काल के गाल में चली गईं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं, जिनके देखने से मालूम होगा कि योग के पीछे पागल स्वामी के दिमाग में अब क्या-क्या विचार उठ रहे थे :

(1) खुदाई ताकत है तुझमें गाँधी, सिसक रहे हैं बचा ले आजा।
सता रहे हैं हमें यह जालिम, लबों पे दम है छुड़ा ले आजा।

(2) तू आँख खोल देख जमाना आनेवाला है, बहुत चल चुकी धींगामुश्ती।
लूट-खसूट जबर की कुश्ती, जोर-जुल्म का राज कुछ दिनों में जानेवाला है।

(3) सुन नौकर दफ्तर के पीछा नहिं छड्डाँगामरके।
है आजादी सबाँनु प्यारी, दुनिया कर दी लेण दीप्यारी।
तू रोकै तेरी अक्कल मारी ले लेवाँगा लड के। पीछानहिं.।

वह समय आने में देर नहीं लगी, जबकि चकझूमरा में कांग्रेस कमेटी बहुत मजबूत हो गई, उसके डेढ़ सौ मेम्बर बन गये। स्वामी ने व्याख्याता बनने के रास्ते पर यहीं पहिले-पहिल पग रक्खा था और कुछ ही दिनों में वह अच्छे वक्ता बन गये। उनका सारा समय कांग्रेस में लगता, चिकित्सा रोटी-भर के लिए कर लिया करते।

1922 ई. के आरम्भ होते विदेशी कपड़ों का बायकाट जोर-शोर से होने लगा। स्वामी ने भी विदेशी कपड़ों की होली जलाई। विदेशी कपड़े के व्यापारियों की दूकानों पर धरना दिया जाने लगा। गिरफ्तारियाँ आरम्भ हुईं। बड़े-बड़े नेता गिरफ्तार कर लिये गये। लायलपुर में मास्टर गुराँदत्तामल, जड़ाँवाला में मास्टर मंगतलाल और लाला रामनारायण आदि पकड़ लिये गये। पिकेटिंग ढीली पड़ने लगी। स्वामी को जड़ाँवाला भेजा गया। वहाँ उन्होंने आठ दिन तक बड़ी होशियारी से पिकेटिंग का संचालन किया। अन्त में गिरफ्तार कर लिये गये। 15 दिन हवालात में रहे। कोई गवाह नहीं मिला, इसलिए मजिस्ट्रेट ने छोड़ दिया। स्वामी ने स्वराज्य के लिए जेल की रोटियों का स्वाद भी ले लिया।

10
वैद्यक रूढ़िवाद के खिलाफ (1922-30 ई.)

वर्ष 33-41

स्वामी अब 33 साल के हो गये थे। 1922 ई. के अन्त में असहयोग का आन्दोलन ठंडा पड़ गया था। विदेशी वस्त्र-बहिष्कार भी बन्द हो गया था। कांग्रेस के नेता कहते थे, चरखा कातो, खद्दर पहनो, स्वराज्य मिल जायेगा। स्वामी का इस पर विश्वास नहीं था। अब उन्होंने चकझूमरा को छोड़ने का निश्चय कर लिया और फिर पुराने स्वप्न को साकार बनाने के लिए अमृतसर चले आये। चौकपासियाँ में जलालदीन कश्मीरी रँगरेज की दूकान

पाँच रुपये महीने पर किराये पर ले ली। उस समय वह संन्यासी के रूप में थे। सिर घुटा हुआ था और शरीर पर भगवा वस्त्र थे। वैद्यक की पूँजी तो काफी थी ही। सिद्ध योगों का उन्होंने बहुत अच्छा संग्रह कर लिया था। उन्हें पूरा भरोसा था कि पाँच रुपये महीने की कोठरी में ही उन्हें जिन्दगी नहीं बितानी है। यह लखपति बनकर रहेंगे। चकझूमरा के सामान बेचने से उन्हें 45 रुपये मिले थे। इसी को लेकर वह अमृतसर आये। पाँच रुपये रास्ते में खर्च हो गये। पाँच रुपये पेशगी किराये के दे दिये। रोटीवाले को भी महीने-भर के लिए दस रुपये पेशगी दे दिये। बीस रुपये उनके पास थे। उन्होंने उन्हें विज्ञापन पर खर्च करने का निश्चय किया। लोग जानें कि एक अनुभवी चिकित्सक संन्यासी उनकी सेवा के लिए अमृतसर में आया हुआ है। उन्होंने अपनी फीस कोई नहीं रक्खी और न दवा का मूल्य ही कुछ लिया। बीमार राजी होकर जो दे जाये, वही बहुत। रोगियों की उनके पास अब कमी नहीं रही। छपे हुए इश्तिहार पढ़कर दूसरी जगह के भी निराश रोगी उनके पास आने लगे।

स्वामी ने सिद्धान्त बना रक्खा था–लाभ पहुँचाकर ही किसी से कुछ लेना चाहिए। जिन बीमारियों की दवा उनके पास थी, उसे वह मुफ्त दे देते थे। जिनकी नहीं थी, उसका सामान रोगी से मँगवाकर उसी के हाथ तैयार कराते। इश्तिहार पढ़कर आये हुए रोगियों में एक आधा सीसी की पुरानी मरीजन थी। दवा जो उन्होंने दी तो तीन दिन के भीतर ही उस महिला का दर्द जाता रहा। वह बीस रुपया दे गई।

स्वामी कैसे अँधेरे में कूदनेवाले थे, कैसे हिम्मती जीव थे, यह इसी से समझ सकते हैं कि बची-खुची पूँजी को विज्ञापन में लगाकर जो थोड़ी-सी लक्ष्मी आई थी, उससे उन्होंने एक बहुत बड़ा साइनबोर्ड बनवाकर अपनी दूकान पर लगवा दिया। नाम रक्खा स्वामी फार्मेसी, अर्थात अपनी चिकित्सा का विज्ञापन नहीं, बल्कि औषधि-निर्माण का विज्ञापन करने लगा। चिकित्सा को वह पैसा कमाने का जरिया नहीं बनाना चाहते थे, क्योंकि ऐसा करने पर रोगियों के साथ अपना कर्तव्य-पालन नहीं कर सकते थे। उन्होंने निश्चय किया, चिकित्सा को तो पूजा-उपासना की तरह रखना है, पैसा फार्मेसी में बनी दवाइयों से कमाना है। पहिले वह आयुर्वेदिक वनस्पतियों के बेचने के व्यापार में हाथ लगाना चाहते थे, फिर दवाइयों को बड़े पैमाने में बनाने का काम जनता में अपने परिचय को अधिक बढ़ाना वह जरूरी समझते थे। यहाँ आकर वह अमृतसर के प्रत्येक वैद्य से मिले। उस समय तक वहाँ वैद्यों का कोई अपना संगठन नहीं था। समय मिला, तो एक-दूसरे से मिलकर कुछ बात कर लिया करते। स्वामी ने वैद्यमण्डल स्थापित करने का प्रयत्न किया। अमृतसर वैद्यमण्डल नाम से वैद्यों की एक सभा बन गई, जिसके वही मन्त्री बने। मण्डल प्रति रविवार अपनी बैठक करता, जिसमें आयुर्वेद के सिद्धान्तों पर वाद-विवाद होता। स्वामी दोषों को वैद्यों के सामने उपस्थित करने में झिझकते नहीं थे, लेकिन वैद्य तो लकीर के फकीर थे। उन्हें नवीन चिकित्सा-पद्धति और उसके आविष्कारों का कोई ज्ञान नहीं था। स्वामी 'विज्ञान' और दूसरी किसी भी तत्सम्बन्धी पुस्तक का पता पाते ही उसे मँगाकर पढ़ते थे। वह जिन शंकाओं को प्रकट करते, उनका जवाब बेचारे पुराने वैद्य क्या देते ? वह समझते थे, आयुर्वेद हमारी जीविका का साधन है। यदि उसके ऊपर कोई आशंका करें, तो हमारी जड़ ही कट जायेगी। व्यवहार तो उनसे छू नहीं गया था। आयुर्वेद में जिनका उल्लेख है, उन्हें भी वह जानते नहीं थे। इसी समय स्वामी को 'श्राद्ध प्रकाश' और 'भक्ष्यनिर्णय भास्कर' दो ग्रन्थ पढ़ने को मिले। 'श्राद्धप्रकाश' को फिल्लौरनिवासी पण्डित श्रद्धाराम (?) ने लिखा था, जो अनिश्वरवादी थे। 'भक्ष्यनिर्णय' के लिखनेवाले हरद्वार के पतंजलि आश्रम के स्वामी तेजनाथ थे। पण्डित ने ईश्वर के खिलाफ इतनी अधिक जबर्दस्त युक्तियाँ दी थीं कि जिससे असहमत होना मुश्किल था। स्वामी युक्तियों से भी अधिक साइन्स के विचारों के कारण ईश्वर पर सन्देह प्रकट करते, डार्विन के विकासवाद, आइन्साटाइन के सापेक्षतावाद और डाल्टन के परमाणुवाद के पढ़ने पर ईश्वर पर से पूरा विश्वास उठ गया। पर 'श्राद्धप्रकाश' ने उस दिशा में बढ़ने में सहायता जरूर की। 'भक्ष्यनिर्णय' में वेद से लेकर बहुत-से संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों के उद्धरणों को देकर यह सिद्ध किया गया था कि "मांस खाना धर्मविहित है। अनीश्वरवाद की ओर बढ़नेवाले के लिए ग्रन्थों की दुहाई की कोई आवश्यकता नहीं। स्वामी कान्यकुब्ज थे, जिसकी वंशावली में मांस खाना विहित लिखा हुआ है।" निरालाजी का यह वचन प्रमाण था, जिसे उनके किसी मित्र ने सुनाया था।

आर्यसमाज से टक्कर–पण्डित पिण्डीदास ज्ञानी से अमृतसर में स्वामीजी का परिचय हुआ। आर्यसमाजी बहस करने में वहुत आगे रहा करते थे। एक दिन पिण्डीदास स्वामी से उलझ पड़े। स्वामी ने कहा–"मांस खाना यदि वर्जित है, क्योंकि उसमें हिंसा होती है, तो फल खाना भी वर्जित है, क्योंकि वृक्ष में भी तो जीव है।" इससे पिण्ड छुड़ाने के लिए आर्यसमाजियों में से कुछ ने यह कहना शुरू किया, वृक्षों में जीव नहीं है। पिण्डीदास ने शास्त्रार्थ करने के लिए चैलेंज दे दिया। लोहगढ़ आर्यसमाज में उसका प्रबन्ध हुआ। आर्यसमाज की ओर से पं. बुद्धदेव और पं. रामचन्द्र देहलवी आये। स्वामी जी वहाँ पहुँचे। स्वामी ने एक बोतल में पानी भरकर उसके मुँह पर प्याज रख दी थी। बोतल की जड़ में, प्रायः एक फुट पर मिट्टी रक्खी थी। प्याज की जड़ें बढ़कर मिट्टी तक पहुँचना चाहती थीं। उन्होंने अपने पास एक लाजवन्ती (छुईमुई) का पौदा भी रख रक्खा था। वृक्षों में जीव होने के कई प्रयोग डॉ. जगदीशचन्द्र बसु ने किये थे। वह भी उनको कंठाग्र थे। इन प्रत्यक्ष प्रयोगों के सामने आर्यसमाजी शेरों की क्या चलती ? चौरासी लाख योनियों में वृक्षों में आना भी ग्रंथों में मिलता है। स्वामीजी ने कहा–जीव के छह लक्षण हैं–1. भोजन को बाहर से अपने अन्दर लेना, 2. उसे अपने शरीर के अनुरूप परिवर्तित करना, 3. गति अर्थात हिलना-डोलना, 4. अपनी जैसी सन्तान उत्पन्न करना, 5. भीतर से बढ़ना, 6. हवा या साँस ग्रहण करना। श्रोताओं में अधिक लोग तो मांस-विरोधी नहीं थे, और दूसरे हिन्दू हमेशा से यही मानते आये थे कि वृक्षों में भी दूसरे जन्तुओं की तरह ही जीव है। लोग स्वामी की जय-जयकार बोलने लगे। आर्यसमाजी शास्त्रार्थी मुर्गी की तीन टाँग करने के सिवा और कुछ नहीं कह सके। सनातनधर्मियों में स्वामी का नाम हो गया। चकझूमरा की कांग्रेस कमेटी के स्थापक अमृतसर में उनसे अलग कैसे रह सकते थे ? वह यहाँ की कांग्रेस कार्यकारिणी के मेम्बर थे, और कांग्रेस के हरेक काम में भाग लेते थे। आर्यसमाजियों के शास्त्रार्थ के फ़लस्वरूप सनातनधर्मी लाला करमचन्द्र स्वामी के सहयोगी बन गये।

पठानकोट की ओर नूरपुर के वैद्य माला धन्वन्तरी प्रसाद वैद्य वाचस्पति उनसे मिलने के लिए आया करते थे। वह पठानकोट में जड़ी-बूटियों की बिक्री का काम करते थे। जिस समय 1919 में पुलिस के मारे स्वामी ने सोइयाँकलाँ में शरण ली थी, उसी समय से वहाँ बाबा गोपालगिरि उसी शिवालय में डेरा डालकर रहने लगे थे। गोपालगिरि भी कभी-कभी अमृतसर में स्वामी से आकर मिलते थे। वह भी चिकित्सा करते थे। उनका गुरुद्वारा ज्वालाजी में था, जहाँ ही स्वामी से उनका परिचय भी हुआ था। धन्वतरी प्रसाद ने अभी नया-नया काम शुरू किया था। वह चिकित्सक भी थे। अकेले काम करने में दिक्कतें होती हैं। ज्वालाजी की ओर से एक पहाड़ी वैद्य ज्वालादत्त मारवाड़ियों के खैराती दवाखाने में चिकित्सक थे। तीनों ज्यादा सम्पर्क में आये। स्वामी ने फार्मेसी खोलने का विचार प्रकट किया। धन्वन्तरी प्रसाद ने कहा–क्यों न इसके लिए हम सब मिलकर प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी बना लें। स्वामी इस बीच चार आलमारियाँ बनवा चुके थे। धीरे-धीरे दवाइयाँ भी तैयार करते जा रहे थे। एक आदमी नौकर रख लिया था। दवाइयों और सामान के अतिरिक्त उनके पास दो सौ रुपये की पूँजी थी। धन्वन्तरी प्रसाद के प्रस्तावों को उन्होंने पसन्द किया। उन्होंने कहा–यदि चार वैद्य मिलकर ईमानदारी से फार्मेसी चलावें तो इसमें शीघ्र सफलता मिल सकती है। स्वामी ने यह भी कहा कि गोपालगिरि गाँव में बैठे भस्म बना के भेजें, धन्वन्तरी प्रसाद पहाड़ से जड़ी-बूटियाँ जमा कर दें, संध्यादत्त (ज्वालादत्त) बाहर आर्डर लेने के लिए सफर करें, और मैं यहाँ फार्मेसी का काम सँभाल लूँ, तो सब काम ठीक हो जायेगा। इसके साथ ही स्वामी ने एक शर्त यह भी रक्खी कि यदि चिकित्सा या व्यापार आदि के द्वारा किसी को कोई आमदनी हो, तो उसे भी कम्पनी का माना जाय। कम्पनी के लिए पाँच-पाँच सौ रुपये के शेयर रक्खे गये। बाबा गोपालगिरि ने एक मास तक, और संध्यादत्त ने तीन मास तक शेयर का रुपया देने का वादा किया। धन्वन्तरी ने कुछ नगद और कुछ जड़ी-बूटियों के रूप में दे देने का वचन दिया। स्वामी ने दो सौ और तीन सौ रुपये का अपना सामान दे दिया। दस रुपये के स्टाम्प पर इकरारनामा लिखा गया। सबकी सम्मति से नाम स्वामी फार्मेसी की जगह पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी रख दिया गया। यह भी निश्चय किया गया कि कुछ ही दिनों में दूकान को यहाँ से मजीठमण्डी या कर्माड्यौढ़ी में ले चलेंगे।

दस्तावेज़ लिख जाने के बाद सब अपनी-अपनी जगह चले गये। धन्वन्तरी प्रसाद ने जाते ही पठानकोट

से तीन सौ रुपये की वनस्पतियाँ भेज दीं। कुछ धातुओं को भस्म बनाने के लिए बाबा गोपालगिरि के पास भेज दिया गया। एक महीना भी नहीं बीता था कि बाबा को लोभ ने घेरा। किसी जाट स्त्री को उन्होंने रोगमुक्त किया था। जाट ने उन्हें एक बढ़िया बछेरी भेंट की थी, जिसका दाम चार-पाँच सौ रुपये होगा। सोइयाँ के एक बनिये ने खबर दी कि बाबाजी को घोड़ी मिली है। शर्त के अनुसार बछेरी कम्पनी की सम्पत्ति थी। महीने बाद बैठक हुई, जिसमें चारों मेम्बर शामिल हुए। स्वामी ने उस महीने बीमारी से पौने दो सौ रुपये प्राप्त किये थे, जिसे उन्होंने हिसाब में जमा कर दिया था। बाबा गोपालगिरि से पूछा गया, तो उन्होंने कहा—मुझे कुछ नहीं मिला। स्वामी ने घोड़ी के प्राप्त होने की बात की, तो कहने लगे—"उस रोगी का इलाज मैं पहिले ही से कर रहा था।" पर घोड़ी तो इकरारनामा लिखने के बाद मिली थी, इसलिए वह फार्मेसी की थी। गोपालगिरि डट गये—हम तो घोड़ी नहीं देते। कहा गया—तब आप हिस्सेदार भी नहीं रह सकते। इकरारनामे की पीठ पर उनसे इस्तीफा लिया गया। अब चार की जगह तीन जने रह गये। अगले महीने फिर मीटिंग हुई। तीनों व्यक्ति उपस्थित थे। स्वामी ने अपनी आय बतला दी, बाकी लोगों ने कहा—हमें कोई आय नहीं हुई। स्वामी को पता लग गया था कि धन्वन्तरी प्रसाद ने बम्बई के काकाराम जगन्नाथ के पास अतीस के पाँच पार्सल भेजे थे। यह सुनकर धन्वन्तरी का रंग फक हो गया। चोरी पकड़ी गई। स्वामी ने कहा—आप भी कागज की पीठ पर इस्तीफा लिखिये और अपना रास्ता नापिये।

एक ओर ईमानदारी का ढिंढोरा पीटना और व्यवहार में ऐसा देखा जाना, कोई आकस्मिक बात नहीं थी। व्यापारिक ईमानदारी रखने ही से व्यापार के बड़े-बड़े संगठन चल सकते हैं। यूरोप के बनिये दूध के धुले नहीं हैं, लेकिन वह जानते हैं कि कहाँ से नीचे चोट नहीं करनी चाहिए। स्वामी को यह तजर्बा बहुत कड़वा मालूम हुआ। संध्यादत्त ने अपने हिस्से का पैसा देने में असमर्थता प्रकट की, इसलिए वह हिस्सेदार नहीं हो सकते थे। उनसे भी दस्तावेज़ की पीठ पर इस्तीफा लिखवा लिया। चार महीने में ही कम्पनी का नाटक खतम हो गया और स्वामी फिर अकेले के अकेले रह गये।

तजर्बा असफल रहा, लेकिन स्वामी उससे हताश होनेवाले नहीं थे। धीरे-धीरे डेढ़ हजार से ऊपर की पूँजी दूकान में लग गई। 1923 का आरम्भ था, उनकी चिकित्सा भी बढ़ गई थी। अनुभूत योगों के कारण उनके हाथ से रोगी अधिक अच्छे होते थे, इसलिए रोगियों की संख्या दिन पर दिन बढ़ रही थी। नमकमण्डी के लाला करमचन्द के एक मारवाड़ी मित्र के भाई लाला सीताराम माहेश्वरी तपेदिक के बीमार थे। डॉक्टरों ने टी. बी. का रोग घोषित कर दिया था। तपेदिक के मरीजों में वह पहिले थे, जिन्हें स्वामी को देखने का मौका मिला। नकोदर (जिला जलन्धर) निवासी पण्डित नाथूराम वैद्य के पास स्वामी कई महीने रहे थे। वह राजयक्ष्मा के सिद्धहस्त वैद्य माने जाते थे। नकोदर में रहते उन्होंने सोने की भस्म बनाई थी। पं. नाथूराम उसी का उपयोग करते थे। स्वामी ने चिकित्सा करना स्वीकार कर लिया। पर कहा कि दवा का खर्च हमारे पास नहीं है, उसे वह स्वयं तैयार करावें। रोगी धनी था, इसलिए पैसा खर्च करने के लिए राजी हो गया। स्वामी ने स्वर्ण भस्म बनाई। (देखो, परिशिष्ट-10)

स्वर्ण भस्म के साथ वसन्तमालती (रस) बनाकर स्वामी ने तीन महीने तक रोगी को सेवन कराया। वह बिल्कुल राजी हो गया। (वह अब बाल-बच्चोंवाला अच्छा स्वस्थ पुरुष है।) सेठ इतने कृतज्ञ हुए कि उन्होंने परामर्श दिया, आप हमारे नमकमण्डी मुहल्ले में चलें। वर्षा का दिन था। स्वामी चौकपासियाँ छोड़कर नरसिंहदास के बाजार में लाला राधेश्याम सीताराम माहेश्वरी के मकान में चले आये। बारह रुपये महीने पर एक दूकान और सात रुपये महीनों पर चौबारा उन्हीं के यहाँ उन्होंने किराये पर ले लिया, और फार्मेसी का काम आरम्भ कर दिया। सेठ ने तीन सौ रुपये नगद भेंट दिये थे, जिसे स्वामी ने पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी की पहिली औषधि-सूची छपाने में खर्च कर दिया। उसी साल चौदहवाँ अखिल भारतीय आयुर्वेदिक महासम्मेलन कलकत्ता में हो रहा था। वह उसमें सम्मिलित होने गये, और दवाइयों के सूचीपत्रों को वैद्यों में बाँट दिया। कुछ ने वहीं उन्हें दवाइयों के आर्डर भी दिये।

पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी आरम्भ—इस तरह सन् 1924 में स्वामी ने आयुर्वेदिक फार्मेसी का श्रीगणेश किया।

नमकमण्डी करोड़पति सेठों का गढ़ है। यहाँ परिचय बढ़ाने में और भी सुभीता था। स्वामी विद्याव्यसनी थे, इसलिए उनका परिचय पं. मेहरचन्द शास्त्री जैसे विद्वानों से भी होना स्वाभाविक था। वृन्दावन के गोस्वामी नन्दकिशोरजी का सेठों पर काफी प्रभाव था। वह प्रभावशाली वक्ता थे। सामाजिक और सार्वजनिक कार्यों में भी उनकी रुचि थी। स्वामी भी उनके साथी हो गये, और निश्चय किया कि कन्याओं की शिक्षा के लिए एक श्रीकृष्ण कन्या पाठशाला खोली जाये। कितने ही सनातनी इसके विरुद्ध थे। अभी बाजार में अनपढ़ कन्याओं का भाव गिरा नहीं था, और न हरेक वर शिक्षा के प्रमाणपत्र तथा फोटो देखने की माँग करता था। लेकिन समय उसके अनुकूल आ गया था। कितने ही नेमी-प्रेमी मिल गये और नरसिंहदास बाजार में पाठशाला खोल दी गई। स्वामी कई वर्ष तक उसके स्तम्भ रहे। अब वह कन्या विद्यालय के रूप में बड़ी उन्नत अवस्था में है।

जलियाँवाला बाग-काण्ड में बहुत-से लोग अंग्रेजों के कोप के शिकार हुए थे। उनकी और दूसरे अनाथों तथा दुःखियों की सहायता के लिए नमकमण्डी के कुछ उत्साही नवयुवकों ने प्रेमसेवक सभा स्थापित की। सभा के लोग बीमारों की सेवा करते और लावारिस मुर्दों के दाह-संस्कार आदि का प्रबन्ध करते, साथ ही कांग्रेस या मेले आदि में पानी पिलाने का भी काम करते। उस समय सभा के प्रधान बाबा गणेशदास एक बड़े ही निःस्वार्थ सेवी पुरुष थे। वह महाजनी अक्षर लण्डा (मुड़िया)-भर पढ़े हुए थे। कुछ टूटी-फूटी हिन्दी भी जानते थे। उनके साथ स्वामी का परिचय और धीरे-धीरे घनिष्ठता बढ़ी। स्वामी भी प्रेमसेवक सभा के सदस्य बन गये। बाबा गणेशदास गरीब रोगियों को उनके पास ले आते और स्वामी उनकी बड़े प्रेम से चिकित्सा करते। रोगियों की संख्या देखकर स्वामी ने बाबा को सलाह दी—अच्छा होता सभा गरीबों के लिए एक धर्मार्थ आयुर्वेदिक औषधालय खोल देती। बाबा ने कहा—सभा के पास इतना रुपया नहीं है। स्वामी ने कहा—"आपको वैद्य नौकर रखने की आवश्यकता नहीं है। मैं काम कर दूँगा। थोड़े दिनों में औषधालय स्वावलम्बी हो जायगा, खर्च की चिन्ता की आवश्यकता नहीं है।" बाबा ने सभा की मीटिंग बुलाई और औषधालय की योजना सामने रक्खी। स्वामी ने भी अपनी अवैतनिक सेवा देने का प्रस्ताव रक्खा और यह भी विश्वास दिलाया कि एक-दो महीने में ही औषधालय अपना खर्च आप निकाल लेगा। सभा ने प्रस्ताव को मंजूर कर लिया और 1 जनवरी, 1925 को ढाब बस्तीराम में एक दूकान किराये पर लेकर आयुर्वेदिक धमार्थ दवाईखाना आरम्भ हो गया। जिस आदमी के पास इतनी अनुभूत दवाइयाँ हों और निःस्वार्थ भाव से रोगियों को देखकर अच्छी दवाइयाँ दे, उनके पास रोगियों का अधिक आना स्वाभाविक था। उस समय अमृतसर में केवल बालचरों की ओर से एक डॉक्टरी दातव्य औषधालय था। स्वामी के पास जितने अनुभूत योग थे, उनमें से कितने ही का वह रोगों पर तजर्बा नहीं कर पाये थे। अब देखा कि उनमें से 80 प्रतिशत ठीक साबित हो रहे हैं। इस कार्य से उन्हें एक ओर दवाओं की परीक्षा करने का अवसर मिला, तो दूसरी ओर धनी लोगों से घनिष्ठता बढ़ी। अपनी फार्मेसी के लिए ब्याज पर रुपये भी काफी मिलने लगे। दो वर्ष तक स्वामी सभा के दवाखाने में काम करते रहे। इस बीच में उन्हें अपने 14 नुस्खे बहुत लाभदायक सिद्ध हुए। उन्होंने उनके अंग्रेजी नाम रखकर अच्छे ढंग से पैकिंग करके सरकार के कलकत्ता के ऑफिस में रजिस्टरी करवा लिया। अभी तक हरेक दवा को अपने हाथ से तैयार करते थे, अब उन्होंने उसके लिए नौकर रख लिये। रात को बैठकर आयुर्वेद की पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखते। इसी बीच उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 'आसव विज्ञान' लिखी, जो 1925 ई. के अन्त में प्रकाशित हुई। आयुर्वेद के धुरन्धर विद्वान और समालोचक पं. शालिग्राम शास्त्री ने 'माधुरी' में उसके बारे में लिखा था—"आसव, अरिष्ट, सुरा आदि से सम्बन्ध रखनेवाली पाश्चात्य साइन्स द्वारा निर्धारित अनेक ज्ञातव्य बातों का इसमें समावेश है। इस पुस्तक से वैद्यों को बहुत सहायता मिल सकती है और जो इन्हें नहीं बनाते, उनकी भी अनेक अंशों में ज्ञान-वृद्धि हो जाती है।"

'धनवन्तरी' ने लिखा था—"इसमें आसव को सुरा प्रमाणित करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। सुरायन्त्र का प्राचीन और अर्वाचीन मत से विस्तारपूर्वक वर्णन है। आसव की प्राचीनता, उपयोगिता, उसके बनाने की विस्तारपूर्वक विधि दी गई है, जो अब तक हिन्दी भाषा में प्रकाशित नहीं हुई है।"

इस पुस्तक में स्वामी ने यह सिद्ध किया था कि आसव सुरा के प्रादुर्भाव का आरम्भिक द्रव है, जिसे परिसृत करने पर ही उससे जलमिश्रित मद्य उड़कर परिसृत पात्र में एकत्रित हो जाता है। परिसृत किये बिना यों ही छानकर रक्खा आसव अरिष्ट कहलाता है। दवाइयों के अंश को घुला लेने की उसमें शक्ति है। बिना उबले द्रव को आसव कहा गया और उबले को अरिष्ट (अरिष्टः क्वाथसाध्यः स्यात् ।) इस पुस्तक के प्रकाशित होने पर दकियानूसी वैद्य बड़े भड़के। गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक, डी. ए. वी. आयुर्वेदिक कालेज के प्रिंसिपल तक लाठी लेकर पड़े। दूसरे संस्करण में स्वामी ने आलोचकों की खूब खबर ली और ऐसे प्रमाण उद्धृत किये, जिनका उनके पास जवाब नहीं था।

उन्हीं दिनों स्वामी ने तासिलपत्र, पुँष्करमूल, प्रियंगु आदि वनस्पतियों पर 'बूटीदर्पण' तथा 'धन्वन्तरी' आदि पत्रों में लेख लिखे। इन दवाइयों का अन्दाज वैद्य लोग अटकलपच्चू लगाते थे। जड़ी-बूटियों के पीछे वह वर्षों मारे-मारे फिरे थे। जितना उनके बारे में उन्हें परिचय था, उतना तेली के कोल्हू के बैल क्या जान सकते थे ! वैक्रांत, कंकुष्ठ आदि के विषयों में भी उनके लेख निकले। वैद्यों की तो गिनी-चुनी पुस्तकें थीं। उससे बाहर की पुस्तकों और मान्यताओं का उनको पता नहीं था। इसीलिए अपने अज्ञान के कारण वह भड़क उठते और समझते कि स्वामी जो कुछ कह रहे हैं, वह शास्त्रसम्मत नहीं है। स्वामी विज्ञान के पक्षपाती थे। आरम्भ ही से विज्ञान परिषद के सदस्य और 'विज्ञान' के ग्राहक थे। उनका ख्याल था, विज्ञान-विज्ञान के बीच में दीवार खड़ी नहीं की जा सकती। आयुर्वेद की सीमा को हमें इतना बढ़ाना चाहिए कि आधुनिक विज्ञान भी उसके भीतर आ जायें। इससे वैद्यों के ज्ञान का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जायेगा। वह आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से लाभ उठायेंगे और उनकी गति और शक्ति वैज्ञानिकों के जैसी हो जायेगी। लेकिन वैद्य इसका उल्टा अर्थ लगाते थे। वह नवीन ज्ञान से कोसों दूर रहने से ही आयुर्वेद का हित समझते थे।

इसी साल उन्होंने अपनी दूसरी पुस्तक 'क्षार विज्ञान' प्रकाशित की और आयुर्वेद के सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक पत्र प्रकाशित करने की योजना भी बनाई। वह समझते थे, इससे एक पंथ दो काज होगा—वैज्ञानिक विचारों का प्रचार और फार्मेसी के सम्बन्ध में भी विज्ञापन हो जायेगा। जनवरी 1927 में 'आयुर्वेद विज्ञान' मासिक पत्र निकाला। उसके पहिले अंक के मुखपृष्ठ पर निम्न पद्य था, जिससे पत्र का उद्देश्य मालूम होगा :

हमारा प्यारा आयुर्वेद।
दुःख नसावन सुख उपजावन ऋषियों का निर्वेद। हमारा.
प्राणिमात्र का जीवनदाता आर्य जाति का आदि से त्राता,
त्रिविध दुःखहर शम्भु विधाता आमय-रहित सुवेद। हमारा.
जो करते थे इसकी भक्ति अन्त में पाते सेवा-मुक्ति,
सन्तति जीवन स्वास्थ्य सुशक्ति, कल्पतरु अच्छेद। हमारा.
जिसकी रचना हुई स्वर्ग में नींव पड़ी थी निगम गर्भ में,
उसी पुराने महादुर्ग में, हो गये लाखों छेद। हमारा.
चारों तरफ से शत्रु-राशी, घेर रही है सत्यानाशी,
साथ न दे रहे भारतवासी, यही बड़ा है खेद। हमारा.

प्रेमसेवक सभा के धर्मार्थ दवाखाने में रोज डेढ़-दो सौ रोगी आते थे, जिनसे एक-दो बजे से पहिले छुट्टी नहीं मिलती थी। फार्मेसी के लिए दवाइयों के बनवाने में भी समय लगता। कांग्रेस के अधिवेशनों और जलसों में भी जाना पड़ता। 'आयुर्वेद विज्ञान' के लिए लेख लिखने का भार भी उनके ऊपर था, इसलिए प्राइवेट प्रैक्टिस का समय बहुत कम ही निकाल पाते। सभा के औषधालय में काम करते उन्हें मंथर ज्वर (टाइफाइड) के काफी रोगियों को देखने का अवसर मिला। इस अनुभव से दूसरों को भी अवगत कराने के लिए उन्होंने 'मंथर ज्वर की अनुभूत चिकित्सा' के नाम से अपनी तीसरी पुस्तक प्रकाशित कराई।

फार्मेसी का काम—दवाइयों के बनाने का काम तेजी से बढ़ रहा था। स्वामी हर साल वैद्य-सम्मेलनों में

जाते। वहाँ अपने विचारों को रखते, फार्मेसी का प्रचार और वैद्यों से आर्डर लाते। उनके भाषणों की वैद्यों पर अच्छी धाक जम गई थी। सम्मेलनों के समय वैद्यों के नाम-पते जमा करते-करते वह 20 हजार से अधिक हो गये। 'आयुर्वेद विज्ञान' के साथ अब फार्मेसी की दवाओं का सूची-पत्र भी समय-समय पर निकलता। 'आयुर्वेद विज्ञान' को उन्होंने पहिले दो हजार वैद्यों के पास भेजा। वहाँ से आर्डर आने लगे। अमृतसर के व्यापारियों से परिचय प्राप्त करने का लाभ यह था कि उन्हें उधार माल मिलने लगा। एक बार साख कायम हो जाय तो आदमी हजारों का माल बाजार से उधार ले सकता है। उधार रुपये के लौटने की मियाद एक मास की होती थी। इतने बीच होशियार आदमी उसी से रुपया पैदा करके लौटा सकता है। फार्मेसी का काम तेजी से बढ़ने लगा। वैद्य भी सूची-पत्र को पढ़कर आर्डर भेजने लगे। काम इतना बढ़ गया कि नरसिंहदास बाजार की दूकान छोटी पड़ गई। अब स्वामी मौके की कोई बड़ी दूकान ढूँढ़ने लगे। मार्केटों में दूकानों का किराया बहुत था। पास ही में बहियाँवाला बाजार में एक दूकान कितने ही समय से खाली पड़ी थी। वह आगे से चौड़ी किन्तु पीछे तंग थी। ऐसी दूकान को लोग शेरमुँह की दूकान कहते थे। जो व्यापारी दूकान को बनवा उसमें बैठा, छह-सात महीने के भीतर उसका दिवाला निकल गया। दूकान बिक गई। उसे एक पड़ोसी बूटामल वहियाँवाले ने खरीद लिया था। 60-70 रुपये महीने लायक बड़ी दूकान थी, लेकिन कौन इसे लेकर अपना दिवाला निकलवाने के लिए तैयार था ? स्वामी भयंकर श्मशानों में रह चुके थे, वह क्यों डरने लगे। दूकान बड़े सस्ते तीस रुपये मासिक पर उन्हें मिल गई। यार-दोस्तों को मालूम हुआ, उन्होंने बहुत समझाया,–"दूकान बड़ी मनहूस है, शेरमुँह है। इसे कभी नहीं लेना चाहिए।" उत्तर था–साधु होकर हम यदि ऐसी बेवकूफियों को मानने लगें, तो फिर क्या ठिकाना। बिना मुहूर्त देखे 1 जनवरी को उसी दूकान में आ गये। घर तिमंजिला था, जिसमें रहने के और फार्मेसी के लिए काफी जगह थी। तीन वर्ष में ही शेरमुँह दूकान ने फार्मेसी को खूब चमका दिया। काम इतना बढ़ गया कि वह तिमंजिला मकान भी छोटा मालूम होने लगा।

फरवरी 1929 में नौकरों पर दूकान का प्रबन्ध छोड़कर स्वामी वैद्यों से मिलने और आर्डर लाने के लिए निकल पड़े। सारे राजस्थान में फिरे। फिर मालवा में घूमते, गुजरात-काठियावाड़ में पहुँचे। बम्बई भी देखी। वहाँ से महाराष्ट्र, बरार का चक्कर लगाते छह महीने में लौटे। बीच-बीच में आर्डर भेजते जाते थे, जो 20 हजार के ऊपर के हो गये थे। अभी तक वह पहाड़ों के घुमक्कड़ थे, अब मैदान में आयुर्वेद के लिए घुमक्कड़ी करने लगे। 1930 ई. में फिर उन्होंने पाँच महीने घूमने में लगाये। अबकी गोवा, कर्नाटक, मैसूर, बीजापुर, निजाम हैदराबाद गये और 17-18 हजार का आर्डर लाये। इन दो चक्करों ने फार्मेसी की स्थिति को बहुत मजबूत कर दिया। उन्होंने 1927 ई. में 'आयुर्वेद विज्ञान' के तीन अंक निकाले। पत्र की समालोचना अच्छी निकली थी। स्वामी की आशा थी कि जल्दी ही इसकी ग्राहक-संख्या काफी हो जायेगी, लेकिन वह सौ से अधिक नहीं हुई। इतने ही अंकों में गाँठ के एक हजार रुपये चले गये, और आय हुई थी केवल 250 रुपये। यद्यपि उससे वैद्य समाज पर प्रभाव अच्छा पड़ा था, किन्तु आरम्भ ही में इतना घाटा उठाना उन्होंने उचित नहीं समझा, और पत्र बन्द कर फार्मेसी का सूत्री-पत्र निकाल दिया करते थे।

1930 की यात्रा से लौटने पर स्वामी ने देखा, अब इस दूकान में काम नहीं चल सकता। मजीठमण्डी में दो बड़ी-बड़ी दूकानें खाली पड़ी थीं। ढाई मंजिला इमारत 80 रुपये महीने में लेकर वह अपनी फार्मेसी वहाँ उठा लाये। यात्रा के समय पं. देवराज शास्त्री फार्मेसी के प्रबन्धक थे। वह तीन वर्ष तक उनके साथ रहे। हरेक आदमी जीवन में आगे बढ़ने की आकांक्षा रखता है, इसलिए स्वाभाविक ही था कि शास्त्री औषधि-निर्माण, वैद्यों के पते आदि को नोट करते रहते। स्वामी के लिए भी यह स्वाभाविक था कि अपने व्यवसाय में दूसरा प्रतिद्वन्द्वी पैदा होने का मौका न दें। वहाँ प्रतिद्वन्द्वियों की क्या कमी थी ? वैद्य ईर्ष्या करते थे–कहाँ से बाहर से आकर इस संन्यासी ने आयुर्वेदिक फार्मेसी स्थापित कर दी, और उसे जमा ही नहीं दिया है, बल्कि कुछ भूमि भी खरीद ली। स्वामी के प्रबन्धक फार्मेसी के रहस्य को दूसरे वैद्यों को बतला आते थे। फार्मेसी से अलग किये जाने पर उन्होंने तीसरे वैद्यों को बतलाकर पास में ही एक दूकान ले दूसरी फार्मेसी खोल दी। प्रतिद्वन्द्वियों ने अपने आदमी बाहर भेजकर स्वामी की फार्मेसी को बदनाम करने का भी भारी प्रयत्न किया। लेकिन स्वामी

का व्यवहार बहुत खरा होता था, इसलिए लाख प्रयत्न करने पर भी जिन वैद्यों का सम्बन्ध स्वामी से हो चुका था, उन्होंने उसे नहीं छोड़ा। इस प्रकार बालग्रह से फार्मेसी को आँच नहीं आई।

मजीठमण्डी में आकर स्वामी ने गुरुकुल के स्नातक श्री योगेन्द्रपाल आयुर्वेदालंकार को अपना मैनेजर बनाया। औषधि-निर्माण, रस, भस्म आदि स्वयं अपनी देख-रेख में बनाते थे। उनका ध्यान इस ओर था कि औषधियों के योग के जो नुस्खे तैयार किये गये हैं, उनको पूर्वाचार्यों ने किस सिद्धान्त के ऊपर माना था, और जो कूपीपक्वरस बनाये जाते हैं, वह किन धातुओं और अधातुओं के योग से बनते हैं। भस्में किन धातु और अधातु तत्त्वों के योग की होती हैं। इसी बीच स्वामी ने आधुनिक रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, जीव-रसायनशास्त्र, आधुनिक औषधि-निर्माण शास्त्र का भी अच्छी तरह से अध्ययन किया, जिससे धातुओं की भस्मों और रसों के वास्तविक स्वरूप समझ में आने लगे। उन्होंने कई भस्मों और रसों को तैयार कर विश्लेषण के लिए प्रतिवस्तु 16 रुपया फीस देकर कलकत्ता की सरकारी प्रयोगशाला में भेजा, जिससे उन्हें वास्तविक यौगिक सूत्र मालूम हो गयें। स्वामी अच्छी तरह समझते थे कि हमारी भस्मों और रसों का विश्लेषण करके वही अच्छी तरह बतला सकते हैं। आधुनिक रसायनशास्त्र के पास इतनी विधियाँ और यन्त्र हैं कि आयुर्वेद के किसी योग का रसायन सूत्रों के रूप में बतलाना उनके लिए मुश्किल नहीं है। वैद्यों को आयुर्वेद और रस-सम्बन्धी अपने प्राचीन इतिहास का भी कोई ज्ञान नहीं होता। वह आधुनिक विज्ञान को तुच्छ दृष्टि से देखना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। वह तो आयुर्वेद को ब्रह्म की तरह अनादि मानते हैं। रसशास्त्र भी उनके लिए सतयुग से चला आया है। स्वामी के अध्ययन और अनुशीलन ने बतला दिया कि वैद्यों के यह विचार निराधार और अंधविश्वास मात्र हैं। तांत्रिक ग्रन्थों के अध्ययन से उन्हें पता लगा कि ईसा की आठवीं शताब्दी से पहिले वैद्य धातु-भस्मों का नाम भी नहीं जानते थे, और न उनका उपयोग करते थे। पुरानी बात सभी ठीक है, यह धारणा गलत है। हमें आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से भी लाभ उठाने में झिझकना नहीं चाहिए—स्वामी के ये विचार थे, जो वैद्यों के गले से नीचे उतरनेवाले नहीं थे।

यद्यपि औषधि-निर्माण में वह आयुर्वेद की विधि का पूर्णतया अनुसरण करते थे, लेकिन सोचते जरूर थे कि ऐसा ही क्यों करना चाहिए। यदि विधि में कुछ परिवर्तन किया जाय, तो उससे क्या हानि है, उसे वह अच्छी तरह देखने और समझने की कोशिश करते थे, और जब नये ढंग से भी वह औषधि बनाने में उसी परिणाम पर पहुँचते, तो "बाबा वाक्यं प्रमाणं" क्यों मानने लगे। उन्होंने देखा कूपीपक्वरस चाहे लकड़ी की आग पर बनाये जायें, या पत्थर के कोयले की आग पर, विश्लेषण करने पर उनके गुणों में कोई अन्तर नहीं आता! उन्होंने पत्थर के कोयले की आग पर रससिन्दूर, चन्द्रोदय आदि रस बनाये। आरम्भ में रूढ़िवादी वैद्यों ने इन रसों की निन्दा की। स्वामी के प्रतिद्वन्द्वी तो छिद्र ढूँढ़ने के लिए तैयार ही थे। उन्होंने प्रचार किया कि पंजाव आयुर्वेदिक फार्मेसी की दवाइयाँ शास्त्र-सम्मत विधि से नहीं बनाई जातीं। स्वामी ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को चैलेंज दिया कि यदि कोई हमारे रसों को निर्गुण सिद्ध कर दे, तो हम उसे एक हजार रुपया देंगे। वैद्यों ने पत्थर के कोयले पर बने रसों का प्रयोग किया और किसी ने उन्हें गुणरहित सिद्ध नहीं किया। स्वामी के कूपीपक्वरस औरों से सस्ते पड़ रहे थे। फिर व्यापार में उनका मुकाबला कौन कर सकता था? अन्त में दूसरे फार्मेसीवाले भी स्वामी की विधि से कूपीपक्वरस बनाने लगे—लकड़ी की अपेक्षा पत्थर के कोयले पर बने रस पर लागत कम आती थी। आयुर्वेद के क्षेत्र में स्वामी ने यह पहिली विजय प्राप्त की।

फार्मेसी की स्थिति अच्छी हो गई। उन्हें अपने विचारों के प्रचार के लिए एक पत्र की आवश्यकता थी। गलत या सही, स्वामी की यह धारणा रही है कि पत्र-पत्रिकाओं के विज्ञापन में रुपया फूँकना ठीक नहीं है। जहाँ तक व्यापार की सफलता का सम्बन्ध है, उनकी यह धारणा बिल्कुल गलत थी। यदि एक ने विज्ञापनबाजी से अपनी एक दवाई जमा ली और लाखों रुपये कमाये, तो दूसरे के लिए रास्ता रुक नहीं जाता। अमृतधारा और सुधासिन्धु के उदाहरण हमारे सामने हैं। विज्ञापन का दरवाजा खोलते ही व्यवसाय का असीम क्षेत्र खुल जाता है। स्वामी दूसरों को दकियानूसी कहते थे, लेकिन विज्ञापन के सम्बन्ध में उनके विचार भी दकियानूसी थे, इसमें शक नहीं। हाँ, वह अपने पत्र में विज्ञापन देने के अथवा सूची-पत्रों को बाँटने के विरोधी नहीं थे।

इसे आधा तीतर आधा बटेर कह सकते हैं। अब उन्होंने फिर 'आयुर्वेद विज्ञान' को जनवरी 1931 से प्रकाशित करना शुरू किया, और वह कई वर्षों तक बराबर निकलता रहा।

त्रिदोष पर प्रहार–जिसने लकड़ी के ईंधन को हटाकर पत्थर के कोयले को अपनाया हो, जो विज्ञान के आविष्कारों से आयुर्वेदवालों के लाभ उठाने का पक्षपाती हो, जो धार्मिक तथा दूसरी रूढ़ियों को न मानता हो, उसे आयुर्वेद की पुरानी रूढ़ियों पर प्रहार करने से कैसे संकोच हो सकता है ? स्वामी समझते थे, वात-पित्त-कफ की कल्पना करके रोगों का निदान या औषधि करना बेकार है। इन तीनों दोषों को न मानने से चिकित्सा के सिद्धान्त और उपाय में कोई फर्क नहीं पड़ता। उन्होंने पत्रों में सूचना निकाली कि जो त्रिदोषवाद को ठीक सिद्ध कर दे, उसे आयुर्वेद महासम्मेलन की ओर से हम पाँच सौ रुपया इनाम देंगे। सूचना थी–

"त्रिदोष सर्वस्वं त्रिधातुसर्वस्वं संस्कृत निबन्धो भागद्वयात्मकः।' पारितोषिकंपंचशत रु. लेखनावधिः20-6-32 मिति, फुल्स्केप साइज 150 पृष्ठ तोऽन्यूनः। वामनशास्त्री दातार वैद्य, मन्त्री, नासिक।"

कई सालों से त्रिदोष सिद्धान्त के बारे में अमृतसर के वैद्यमण्डल में और दूसरे बड़े-बड़े वैद्यों से विवाद कर चुके थे। उन्होंने जो शंकाएँ उठाई थीं, उसका समाधान कोई भी वैद्य नहीं कर सका था, इसलिए उनको पक्का मालूम था कि इस सिद्धान्त का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है, और रूढ़िवाद के बल पर वह बहुत दिनों तक टिक नहीं सकता। इसमें शक नहीं, हमारे देश में त्रिदोषवाद पण्डित-मूर्ख सबकी जीभ पर देखा जाता है। अपढ़-गँवार आदमी भी पेट में दर्द होने से तड़पता हुआ कहता है, मेरा पेट फूल रहा है, वाई बढ़ गई है। वाई (वात) चढ़ने को भी वात कहते हैं। जब गर्मी और प्यास की तकलीफ होती है, तो कहा जाता है, पित्त वढ़ गया। मुँह-नाक से बलगम निकलते देखकर श्लेष्म का प्रकोप प्रत्यक्ष दिखलाया जाता है। वैद्य के पास भी कोई रोगी आता है, तो रोग का कारण चाहे कुछ भी हो, वह सबसे पहिले नाड़ी देखकर कहता है, आपके भीतर वात, पित्त, कफ में से एक या दो दोष हुए हैं। रोगी चारपाई पर पड़ा हो, ज्वर बहुत तेज हो, तो वैद्य महाराज त्रिदोष कह देते हैं। किस दोष का क्या परिणाम होता है, इसके बारे में जो बातें लिखी-लिखाई हैं, उनमें से 30-35 सैकड़ा तो किसी में भी मिल सकती हैं। यदि कोई लक्षण न मिले, तो रोगी के कहे लक्षण के अनुसार वैद्यजी अपने विचार भी बदल देते हैं। मिश्रित लक्षणवाले त्रिदोषवाद को स्वामी ऐसी मुलायम मोम की नाक समझते थे, जिसे आसानी से जिधर चाहे उधर मोड़ा जा सकता है, और रोगी का विश्वास भी बना रह सकता है। एक ही रोगी अपने को दस वैद्यों को दिखावे, तो सारे वैद्यों की राय एक नहीं होगी। कोई वात को बढ़ा हुआ बतलायेगा, कोई और किसी को, और कोई मिश्रित लक्षण। लोगों पर विश्वास जमाने के लिए वह कहते हैं–आप चिकित्सा करा कर देखें, यदि लाभ हो, तो समझें, इस वैद्य का निदान ठीक है। वैद्य यह भी कहते हैं–"तजर्बा वड़ी बात, तजर्बे से ही नाड़ी देखना आता है।" रोगी इन विवादों में नहीं पड़ता। उसे तो रोग से छुट्टी पाने की गरज होती है। जिस समय भारत में चिकित्सा की केवल आयुर्वेदिक पद्धति ही थी, तो झख मारकर सभी रोगियों को वैद्यों के पास जाना पड़ता, और वैद्य महाराज जो कहते थे, उसे 'सत्य वचन महाराज' कहने के सिवा कोई चारा नहीं था। लाहौर के एक डॉक्टर ने इसी समय 'त्रिदोष की आधुनिक व्याख्या' प्रकाशित की थी, जिसे भी स्वामी ने देखा था।

स्वामी ने अपने ज्ञान को आयुर्वेद ही तक सीमित नहीं रक्खा था। वह शरीर-रचनाशास्त्र, शरीर-क्रियाशास्त्र आदि का भी अध्ययन किये हुए थे। डॉ. त्रिलोकीनाथ वर्मा–जिन्होंने शरीरशास्त्र पर हिन्दी में पहिली पुस्तक लिखी थी–उस समय लखनऊ में किंग जार्ज मेडिकल कॉलेज में एनाटोमी के प्रोफेसर थे। स्वामी पुस्तकों को देखकर सन्तुष्ट होनेवाले नहीं थे। वह एक महीने तक मेडिकल कॉलेज जाते और मुर्दो को काट-छेदकर शरीर की भीतरी स्थिति को जब दिखलाया जाता, तो उसे बहुत गौर से देखते थे। सब कुछ देखने के बाद वह त्रिदोष को आयुर्वेद से निकाल देने के पक्षपाती हो गये। अप्रैल 1932 से 'आयुर्वेद विज्ञान' में उसके विरुद्ध उन्होंने लेख प्रकाशित करने शुरू किये, जिन्हें पीछे पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया। उसके साथ ही उन्होंने सूचना निकाली कि जो कोई इन आक्षेपों का वैज्ञानिक ढंग से पूरी तरह उत्तर देगा, उसे हम एक हजार रुपया पुरस्कार देंगे। निर्णय करने के लिए उन्होंने चार विद्वानों का नाम भी दे दिया था। पुस्तक पढ़ कई वैद्यों ने लिखा, यह आयुर्वेद

पर जबर्दस्त प्रहार है। कितने वैद्यों ने अपने दिल का बुखार उसकी कड़ी आलोचना करके निकाला। पं. उपेन्द्रनाथ दास (कविराज काव्यसांख्यतीर्थ) ने 'त्रिदोषवादः', 'पंचभूतवादः'–दो पुस्तकें प्रकाशित कीं। जवाब में पीलीभीत के ललितहरि आयुर्वेद कॉलेज के प्रिंसिपल पं. विश्वनाथ शास्त्री ने 'त्रिदोषलोक' प्रकाशित किया। हरिहर भानुशंकर तिवारी ने 'त्रिदोषवादः' और इसी तरह एक और विद्वान ने भी त्रिदोषवाद के समर्थन में पुस्तक लिखी। यह सवाल बम-विस्फोट की तरह वैद्यों के सामने आया। वैद्य ही क्यों, हमारे दार्शनिक पण्डित भी तो सत्वरजतम के इसी आयुर्वेदिक वात-पित्त-कफ को मानते हैं। सभी ने पण्डित मदनमोहन मालवीय जी से निवेदन किया कि इसके निर्णय के लिए एक परिषद बुलाई जायें। पं. मदनमोहन मालवीय प्राचीन भारत के नाम पर कोई भी तकलीफ उठाने के लिए तैयार थे। उनके द्वारा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 1935 में 2 से 8 नवम्बर तक परिषद हुई। इसमें बड़े-बड़े वैद्य और दार्शनिक पण्डित जमा हुए थे। पक्ष-विपक्ष में निम्न विद्वान सम्मिलित हुए थे :

दार्शनिक पण्डित–पंत गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पं. मधुसूदन झा, पं. शंकर तर्करत्न, पं. प्रमथनाथ तत्त्वभूषण, पं. राजेश्वर शास्त्री द्रविड़, न्याय-सांख्य-व्याकरणतीर्थ, पं. रुद्रदत्त शर्मा, आचार्य ध्रुव, पं. देव-नायकाचार्य विद्यावगी, पं. भूषण तर्कवारिध।

वैद्य विद्वान–कविराज गणनाथ सेन, कप्तान श्रीनिवास मूर्ति, आचार्य यादवजी त्रीकमजी, राजवैद्य पं. लक्ष्मीराम स्वामी जयपुर, कविराज प्रतापसिंह, पं. दुर्गादत्त शास्त्री, पं. सत्यनारायण शास्त्री, पं. शिवदत्त शुक्ल, कविराज उपेन्द्रनाथदास, कविराज हरिरंजन मजुमदार, पं. मस्तराम शास्त्री, श्री गंगाधर शास्त्री गुणे, पं. ब्रजबिहारी चौबे, पं. किशोरीदत्त शास्त्री, पं. जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, पं. दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, पं. धीरजराम निर्भयराम शास्त्री, पं. वामन शास्त्री दातार, पं. कृष्ण शास्त्री कवड़े बी. ए., भिषगाचार्य त्र्यम्बक शास्त्री आप्टे, पं. भीका जी विनायक डेगवेकर (एल. एल. बी.), पं. गोवर्धन शर्मा छाँगती, तपस्वी बाबा साहब परांजपे।

त्रिदोष के विपक्ष में बोलनेवाले विद्वान थे–प्रो. राणे, प्रो. रामदास गौड़, प्रो. दत्तात्रेय अनन्तकुलकर्णी, प्रो. जोशी, प्रो. फूलदेव सहाय वर्मा, डॉ. घाणेकर, डॉ. बालकृष्ण अमरपाठक, स्वामी हरिशरणानन्द।

परिषद के स्वागताध्यक्ष स्वयं मालवीयजी हुए थे, और हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत कॉलेज के प्रिंसिपल श्री प्रमथनाथ तत्त्वभूषण की अध्यक्षता में पहिले तीन दिन पंचमहाभूत पर 'विचार-विनिमय' हुआ। उसके बाद तीन दिन महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन की अध्यक्षता में त्रिदोष-सम्भाषा परिषद हुई। पंचभूत के सम्बन्ध में आधुनिक रसायनशास्त्रियों ने जो प्रश्न उठाये थे, वह प्रयोगसम्मत थे। प्रयोग से कोरे दर्शनशास्त्री उसका क्या जवाब देते ? तर्क हवा में तीर मारना है, और प्रयोग सामने करके दिखलाने की बात है। दार्शनिक और तार्किक अनुमान, उपमान, अर्थापति आदि प्रमाणों से समझाने की कोशिश करता है, और वैज्ञानिक उसे प्रत्यक्ष करके दिखलाता है। प्रत्यक्ष के सामने अनुमान और दूसरे तर्क के घोड़ों के दौड़ाने से क्या बनता है ? बौद्ध दार्शनिक होते, तो वह कह देते कि प्रमाण वस्तुतः प्रत्यक्ष ही है, दूसरा कोई प्रमाण नहीं है। अनुमान के साथ इसीलिए रियायत करनी पड़ती है कि वह प्रत्यक्ष का पल्ला पकड़ता है। लेकिन यहाँ तो जितने दार्शनिक थे, सब परम आस्तिक, सनातनधर्मी थे। वह भला बौद्धों की उदारता कैसे दिखला सकते थे ! निर्णायकों ने वाद-विवाद के बाद यही निर्णय दिया था :

"पंचभूत सिद्धान्त के सम्बन्ध में प्राच्य और प्रतीच्य विज्ञान की दृष्टि से जो विचार-विनिमय हुआ, उससे हम लोग जिस निर्णय पर पहुँचे, वह निम्न है–

(क) आधुनिक वैज्ञानिकों के पदार्थ-वर्गीकरण का दृष्टिकोण एवं मुख्य लक्षण प्राचीन ऋषियों के दृष्टिकोण एवं ध्येय से अत्यन्त भिन्न है।

(ख) इस समय तक आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा किये 92 मूल तत्त्वों एवं तन्मूल विमूत कणों के वर्गीकरण की दृष्टि से पंचभूत वर्गीकरण के सिद्धान्त का विचार करके परिषद इस निश्चित मत पर पहुँची है कि इन वर्गीकरणों का परस्पर कोई मेल नहीं है।"

इस प्रकार आयुर्वेद के सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान-सम्मत नहीं हैं, यह बात तो साफ हो गई। आधुनिक

विज्ञान पंचभूतों को नहीं मानता, और इन विद्वानों को यह भी पता नहीं था कि उन्हीं के देश के धुरन्धर बौद्ध विद्वानों ने भी, पंचभूतों में से एक आकाश को मानने से इन्कार कर दिया था।

तीन दिन त्रिदोष-सम्भाषा-परिषद हुई। पहिले दिन इसी विषय पर विवाद होता रहा, और कई पत्र-सम्वाददाता भी कार्यवाही की रिपोर्ट लेते रहे। अगले दिन (8 नवम्वर 1935 के) 'आज' ने इसके बारे में लिखा था—"परिषद के आज के विवाद में बड़ी छीछालेदर हुई। परिषद की कार्यवाही देखकर कितने ही सत्यप्रेमियों को बड़ी निराशा हुई और उन्होंने कहा—'नाम बड़े और दर्शन थोड़े।' त्रिदोषवादियों ने किसी आक्षेप का उत्तर नहीं दे पाया। उनकी विचार-पद्धति को केवल वही अनुगमन कर सकते थे।"

इन परिषदों से स्वामी को और भी उत्साह हुआ। वह इस ढोंग को ज्यादा दिन चलते नहीं देखना चाहते थे कि आयुर्वेद अथर्वेद का उपांग है। स्वयम्भू ब्रह्मा ने प्रजा को उत्पन्न करने से पहिले एक लाख श्लोकों और एक हजार अध्यायों की ब्रह्मसंहिता बनाई। यह ब्रह्मा कौन था ? कब हुआ ? सृष्टि से पूर्व जब मानव ही नहीं उत्पन्न हुआ था तो रोग किसके शरीर पर लगा, जिसके कारण आयुर्वेद की रचना की आवश्यकता पड़ी ? वैद्य अपने आयुर्वेद के इतिहास से भी कोरे होते हैं। ब्रह्मा, अश्विनीकुमार, इन्द्र आदि से खामखाह आयुर्वेद का सम्वन्ध जोड़ते फिरते हैं।

1948 में स्वामी ने 'त्रिदोष-मीमांसा' का दूसरा संस्करण प्रकाशित किया, जिसमें 96 पृष्ठ का उपोद्घात लिखकर बतलाया कि अथर्वाही ब्रह्मा था, जो सृष्टि की रचना से बहुत पीछे हुआ। वेद की दिव्य चिकित्सा से आयुर्वेद का कोई सम्बन्ध नहीं है। वैद्यों को तो स्मृतिकार नीच पेशा करनेवाले मानते थे। अत्रिस्मृति में कहा गया :

"अविकाश्चित्रकाराश्च वैद्यो नक्षत्र पाठकः।
चतुर्विप्रा न पूज्यन्ते बृहस्पतिसमा यदि।"

(मूर्तिकार, चित्रकार, वैद्य और ज्योतिषी, ब्राह्मण यदि बृहस्पति के समान हों, तब भी उनका यज्ञादि में सत्कार नहीं करना चाहिए।)

मनु दादा ने भी कहा है :

"चिकित्सकान् देवलकान् मांसविक्रयिणस्तथा।
विपणेन च जीवन्तो वर्याः स्युर्हव्यकव्ययोः।"

(चिकित्सक, पुजारी, मांसविक्रेता, दुकानदार—इन्हें यज्ञ और श्राद्ध कर्म में नहीं आने देना चाहिए।)

औशनस स्मृतिवाले तो वैद्यों को गाली देने से भी बाज नहीं आये :

नृपायां विप्रतष्चौर्यात् संजातोयो भिषक् स्मृतः।

(रानी से ब्राह्मण द्वारा चोरी से पैदा हुआ वैद्य कहा गया।) यह बात तो झूठी है, क्योंकि आज के हजारों वैद्य इस तरह नहीं पैदा हुए।

11
विज्ञान के प्रेमी (1931-41 ई.)

वर्ष 42-52

1930 में लाहौर में कांग्रेस का महाधिवेशन हुआ। इसी में कांग्रेस ने ब्रिटिश साम्राज्य से अलग होकर पूर्ण स्वराज्य-प्राप्ति अपना ध्येय घोषित किया। ब्रिटिश साम्राज्य से अलग होने की घोषणा करने में उस समय के कांग्रेस के सभापति पं. जवाहरलाल का विशेष हाथ था, वही स्वराज्य मिलने पर अंग्रेज रानी के साम्राज्य से

चिपके रहने के सबसे जबर्दस्त पक्षपाती हैं। कितना अन्तर है। लाहौर कांग्रेस के वाद नमक सत्याग्रह शुरू हुआ और विलायती कपड़े के बायकाट का भी जोर-शोर से आन्दोलन होने लगा। अमृतसर देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में बराबर आगे रहनेवाला था। जलियाँवाला बाग में कुर्बानी करके उसने इतिहास में अपने लिए एक स्थायी स्थान बना लिया। उस समय सत्याग्रह की असाधारण अवस्था में कमेटियों द्वारा काम नहीं हो सकता था, इसलिए कांग्रेस के प्रोग्राम का संचालन डिक्टेटर किया करते थे। जब तक भारत में अंग्रेज रहे, तब तक पंजाब बराबर अंग्रेजभक्तों द्वारा ही शासित होता रहा। लोग कह बैठते, यह पंजाबी स्वभाव है। वह दो अतियों में जा सकते हैं, मध्य का रास्ता उसे पसन्द नहीं। चाहे वह अंग्रेज के जूते चाटेगा या बगावत का झंडा उठाकर मरने-मारने के लिए तैयार हो जायेगा। कांग्रेस एक तरह की क्रांति लाना चाहती थी। पंजाब में ही कीर्ति-किसान पार्टी गुप्त रहकर मजूर-किसान क्रांति का स्वप्न देख रही थी। स्वामी साम्यवाद (कम्युनिज़्म) के रास्ते को ठीक मानते थे, लेकिन उस वक्त तो काम करने का खुला रास्ता कांग्रेस द्वारा ही था, इसलिए वह उसी के काम में लगे हुए थे। वह पहिले ही से अमृंतसर कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी के मेम्बर थे। अब 'समर-भूमि या दुर्लभ प्राणी' मानकर अपनी फार्मेसी के लिए वह पीठ नहीं दिखा सकते थे।

19 फरवरी 1931 को सरकार ने कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सभी सदस्यों को अमृतसर में गिरफ्तार कर लिया। स्वामीजी भी उनमें थे। उनके मुकदमे का फैसला नहीं हुआ था, इसी बीच गाँधी-इर्विन-समझौते के अनुसार 15 दिन जेल में रहकर 4 मार्च 1931 को वह जेल से छोड़ दिये गए। 15 दिन के लिए ही जेल की रोटियाँ बदी थीं। लेकिन समझौते को अंग्रेजों ने मानने के लिए नहीं स्वीकार किया था। शर्तें तोड़ीं, और सत्याग्रह फिर छिड़ गया। अमृतसर पंजाब ही नहीं, कश्मीर, अफगानिस्तान और पूर्वी मध्य-एशिया तक के कपड़ें के व्यापार की बड़ी मण्डी है। विलायती कपड़ा वहाँ से बहुत जाता था। कपड़े की दूकानों पर जबर्दस्त पिकेटिंग शुरू हुई। व्यापारी हर देश और युग में पैसा कमाने के लिए कोई भी कुकर्म करने के लिए तैयार होता है। फिर जब सरकार उसकी पीठ पर हो, तो वह क्यों और किसी की बात मानने लगे ? यहाँ के थोक के व्यापारी करोड़पति थे। विलायती कपड़े की मिलें बायकाट से परेशान होकर मुँहमाँगा कमीशन दे रही थीं। फिर ये सेठ बहती गंगा में हाथ धोने से क्यों बाज आते ? पिकेटिंग हो रही थी, सरकार धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ कर रही थी। लेकिन जगह खाली नहीं होने पाती थी। एक के गिरफ्तार होते ही दूसरे उसकी जगह आ खड़े होते थे। व्यापारियों ने कांग्रेस के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिया कि हम विलायती कपड़ा नहीं बेचेंगे। लेकिन अवसर मिलते ही प्रतिज्ञा तोड़े बिना नहीं रहते थे। जिन व्यापारियों ने प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किया था, उनकी दूकानों और घरों पर धरना चल रहा था। कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी के सभी सदस्य गिरफ्तार हो गये थे। अब स्वामी कितने दिनों तक बाहर रहते। एक व्यापारी की दूकान पर पिकेटिंग करते डेढ़ सौ स्वयंसेवक गिरफ्तार हो चुके थे। स्वयंसेवकों की कमी पड़ गई। स्वामी संचालक थे। उनके पास अगले दिन के लिए केवल नौ आदमी थे। स्वामी ने उस दिन स्वयंसेवकों के गले में ढोल डाल, माला पहना, पीछे चार और स्वयंसेवकों को मारू राग बजाते धरना देने के लिए भेजा। ढोल की आवाज सुनकर काफी लोग पीछे-पीछे हो लिये। नारा लगा रहे थे, 'धरना नहीं छोड़ेंगे।' उनके गिरफ्तार होते ही लोगों में से अपने आप स्वयंसेवक बनकर आगे आने लगे। गिरफ्तारी करनेवालों और आगे आनेवालों में होड़ लग गई थी। दो दिन-दो रात उस मकान पर इतनी जबर्दस्त पिकेटिंग हुई कि व्यापारी के परिवार के लोगों को घर से बाहर निकलना भी कठिन हो गया। सेठ ने देखा, एक ओर तो भारी बदनामी हो रही है, और दूसरी ओर गिरफ्तारी और सरकारी डण्डे से कांग्रेस की शक्ति दब नहीं रही है। अन्त में उसने माफी माँगी, नाक रगड़ी और डेढ़ हजार रुपया जुर्माना देकर जान छुड़ाई।

इस सफलता के बाद दूसरे दिन एक दूसरे व्यापारी के घर पर पहुँचे। वहाँ भी जनता के लोग तमाशे में शामिल हो अपने को गिरफ्तार कराने लगे। स्वामी को विश्वास हो गया, जनता की शक्ति अजेय है, उसका भण्डार अखंड है। सचमुच ही उसके ऊपर रक्तबीज की कहानी चरितार्थ होती है। इस सेठ के यहाँ भी जब शाम तक डेढ़ सौ आदमी गिरफ्तार हो गये, तो उसे अकल आई, और रात को स्वामी के पास जाकर प्रतिज्ञा-पत्र

पर दस्खत कर मुँहमाँगा जुर्माना दे पिंड छुड़ाया।

जबर्दस्त पिकेटिंग हो रही थी। पुलिस परेशान थी। वह पता लगाने में लगी हुई थी कि कौन आदमी इसका संचालन कर रहा है। आखिर पीछे रहने पर भी शहर के लोग तो जानते ही थे कि स्वामी हरिशरणानन्द संचालन कर रहे हैं। पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया।

जेल में—अदालत में मुकदमा चला। गवाही-साखी तो नकली भी पुलिस बना सकती थी। पंजाब जैसी अधम पुलिस तो हिन्दुस्तान में कहीं भी नहीं थी। स्वामी तो परिणाम को जानते ही थे। उन्हें दो साल के कड़े कारवास की सजा मिली। पहिले एक महीना लाहौर जेल में बिताया, फिर मुलतान की पुरानी सेंट्रल जेल में भेज दिये गये, जहाँ उनके अपने पुराने कांग्रेसी पहिले से पहुँचे थे। जेल में उन्होंने जेल का वस्त्र पहना। यह बिना रँगे वस्त्र थे। राजनीतिक कैदियों की संख्या बहुत अधिक थी, इसलिए श्रेणी-विभाजन में भी बहुतों को उच्च श्रेणी देनी पड़ती थी। सरकार ने सब धान बाईस पसेरी कर दिया था। स्वामी को वह पसन्द था—क्यों ऊँचे बनकर अपने साधारण बन्धुओं से अलग रक्खे जायें। पंजाब की सरकार तीन लोक से न्यारी थी। वह अंग्रेजों के हाथ की बिलकुल कटपुतली थी, और देशभक्तों पर गजब ढाने के लिए उसके चाकर चार कदम आगे रहते थे। और प्रदेशों के जेलों में राजनीतिक बन्दियों के खाने-पीने में सुधार हुआ था। पर यहाँ साग-सब्जी के नाम पर वही घास-पात, खराब आटे की जली-सड़ी रोटियाँ मिलती थीं, जिनमें आधी रेत होती। स्वामी ऐसे खाने के आदी नहीं थे। योगाभ्यास के समय भोजन के छूट जाने के बाद जब वह फिर से पहिली अवस्था में पहुँचे, तब भी गेहूँ का आटा उन्हें पचता नहीं था। इसलिए वह अधिकतर चावल, सब्जी, मांस और अंडे खाया करते थे। जेल में दस-बारह दिन जेल की इस तरह की रोटियाँ खाईं, तो उनका पेट खराब हो गया। कभी दस्त होती, कभी पेटदर्द। जेल में चाहे कोई बीमारी हो, अस्पताल में एक ही दवा थी—कुनैन। स्वामी को भी वही दी गई। उन्होंने कहा, मुझे बुखार नहीं है, पेटदर्द है, उसकी दवा दो। जेलवाले कैदी के उजुर को बर्दाश्त कैसे कर सकते थे ? यह तो आज्ञा-भंग था। डॉक्टर ने कहा—हम जो दवा देंगे, वही तुम्हें पीना पड़ेगा। हम डॉक्टर हैं, तुम नहीं। कैदी को बोलने का कोई हक नहीं। स्वामी यदि स्वयं चिकित्सक न होते, तो शायद चुप भी हो जाते। उन्होंने कहा—"हम कुनैन नहीं पीयेंगे। कुनैन से बहुत खुश्की पैदा होती है, और कानों से सुनाई नहीं देता। हम यहाँ जेल काटने के लिए आये हैं, बहरे होकर जाने के लिए नहीं। क्या आप लिखकर दे सकते हैं, कुनैन पीने से हमारे कानों को नुकसान नहीं होगा ?" यह गुस्ताखी, जेल के डॉक्टर का अपमान था। उसने रिपोर्ट कर दी कि इस कैदी ने जेल के नियमों को तोड़ा है। जेलर (दरोगा) वार्डरों की पलटन लेकर कुनैन पिलाने के लिए पहुँच गये। जेल में दो सौ से ऊपर कांग्रेसी कैदी थे, जिनके रहने के लिए छोलदारियाँ लगी थीं, और हरेक छोलदारी में चार-चार के बिस्तरे थे।

जेल का सुपरिंटेंडेंट एक काबुली पठान डॉक्टर था। वह बड़ा भला आदमी था। जेलर ने बहुत दबाया और चाहा कि जबर्दस्ती कुनैन पिलाई जाये, लेकिन स्वामी नहीं माने, और इस जबर्दस्ती के खिलाफ भूख-हड़ताल कर दी। बहुत समझाया गया—जेल में भूख-हड़ताल करना भारी अपराध है। मित्रों ने भी समझाया कि मुकदमा चलाकर सजा दे देंगे, और जेल में और अधिक रहना पड़ेगा, इसलिए कुनैन पी लो। स्वामी को पूरा विश्वास था, कुनैन पेटदर्द की दवा नहीं है। उसे पीकर वह अपना स्वास्थ्य खराब करने के लिए तैयार नहीं थे। छठे दिन सुपरिंटेंडेंट जाँच के लिए आया। स्वामी का मामला उसके सामने रक्खा गया। पूछने पर स्वामी ने कहा—"मैं स्वयं चिकित्सक हूँ। जानता हूँ कि कुनैन पेट की दवा नहीं है, यह मलेरिया की दवा है। मेरे कान पहिले ही से कुछ खराब हैं, कुनैन पीने से और नुकसान होगा। मैंने डॉक्टर से कहा कि तुम लिखकर गारंटी दो कि इससे कान खराब नहीं होगा, तो मैं पी लूँ। वह इसके लिए तैयार नहीं है। मुझे जबर्दस्ती कुनैन पिलाया जाने लगा, इसीलिए मैंने भूख-हड़ताल की। मैं जेल के किसी नियमों को तोड़ना नहीं चाहता, लेकिन आपके डॉक्टर स्वयं मुझे ऐसा करने के लिए मजबूर कर रहे हैं। आप स्वयं अच्छे डॉक्टर, और जेल के बड़े अफसर हैं, आप ही इसको अच्छी तरह देखिए।" सुपरिंटेंडेंट ने बात को अच्छी तरह सुना और टिकट पर अस्पताल ले जाने का हुकुम दे गया।

वार्डरों ने उनका बिस्तरा समेटा और स्ट्रेचर पर उठाकर अस्पताल ले गये। वहाँ भी स्वामी ने भूख-हड़ताल जारी रक्खा। सातवें दिन फिर सुपरिंटेंडेंट देखने के लिए आया। टिकट पर देखा कि कैदी खुराक लेने से इन्कार कर रहा है। वजन करवाने पर मालूम हुआ कि वह नौ पौण्ड कम है। उसने कहा—"यदि तुम भोजन नहीं लोगे, तो जेल के कानून तोड़ने के विरुद्ध तुम्हें सख्त सजा मिलेगी।" स्वामी ने कहा—"जीता रहूँगा तब न ?"

"नहीं, नहीं, तुम्हें खाना जरूर लेना चाहिए।"

"मैं खाना खाने से इन्कार नहीं करता, लेकिन कुनैन नहीं पिऊँगा। यदि आप मुझे अपनी दवा लेने की इजाजत दे दें तो मैं अभी खाना शुरू कर दूँगा। साथ ही मुझे आगे ऐसा भोजन मिले, जिसे मैं हजम कर सकूँ।"

सुपरिंटेंडेंट ने कहा—"खुराक तो वही मिलेगी, जो कैदियों को मिला करती है।"

"मैं वही खुराक खाना चाहता हूँ, लेकिन वह खाने लायक तो हो।"

सुपरिंटेंडेंट ने टिकट पर अपनी दवा लेने की इजाजत दे दी और जब तक वजन पूरा न हो जाय, दो अण्डे, एक सेर दूध, एक छटाँक चीनी, चावल आदि अस्पताली खुराक देने के लिए लिख दिया। स्वामी दो मास तक अस्पताल में मजे में रहे। उनका वजन असली वजन से भी चार पौंड अधिक बढ़कर 115 पौंड हो गया। तब अस्पताल से उन्हें हटा दिया गया। कैम्प में आने के समय सुपरिंटेंडेंट से उन्होंने लिखने-पढ़ने की इजाजत माँगी और उसने इजाजत दे दी। पठान डॉक्टर पर स्वामी की बातों और व्यवहार का प्रभाव पड़ा था।

स्वामी ने वैज्ञानिक और पुरातत्त्व सम्बन्धी पुस्तकें मँगाईं। कज्जल (कार्बनिक) रसायन और अकज्जल रसायन के ग्रन्थों को मँगाकर खूब पढ़ा। इसके बाद उन्होंने सृष्टि-रचना पर फुल्स्केप साइज के 1200 पृष्ठों की पुस्तक लिख डाली। इस पुस्तक में उन्होंने दर्शन-ग्रन्थों की सृष्टि-विषय की बातों की आलोचना की। जैसा ईश्वर उसमें बतलाया जाता है, उसका सबूत विज्ञान से नहीं मिलता है, वह तो विज्ञान का ही एक तत्त्व हो सकता। पुस्तक न उन्होंने प्रकाशित की और न किसी प्रकाशक को दी। यह अपने कलेवर के भीतर ही जीर्ण-शीर्ण हो गई। चाहे औरों के लिए जेल चिन्ता और दुःख का घर भले ही हो, पर स्वामी तो वहाँ अपने लिखने में मजे में लगे रहे। छह महीने तक उन्हें आधा सेर दूध मिलता रहा। एक वक्त चावल तो पौने दो वर्ष तक दिया जाता था। नेक चलन के कारण सजा की मियाद से तीन महीने कम कर दिये और पौने दो वर्ष में ही वह जेल से छूट गये। 4 जनवरी 1933 को महात्माजी गिरफ्तार हुए थे। उससे चार महीने पहिले स्वामी की जेल से रिहाई हुई थी। जेल से ही वह 'आयुर्वेद विज्ञान' का सम्पादन करते रहे।

जेल से निकलने पर अब उन्होंने सिर्फ पगड़ी भगवा की रक्खी, बाकी कपड़े बदल दिये।

फार्मेसी की स्थिति—जेल जाते समय फार्मेसी में 15-16 हजार की चीजें थीं, चार-पाँच नौकर थे। मैनेजर को तजर्बे की कमी थी या क्या, वह काम को सँभाल नहीं सके। अनुभव नहीं था, इसलिए कूपीपक्व रस, भस्म आदि को तैयार नहीं कर सके। तैयार दवाइयाँ बेंचते रहे, जिनमें कितनी ही समाप्त हो गईं। फार्मेसी के ग्राहक तो वैद्य थे। उनके पास जैसे रोगी आते थे, वैसे ही दवाइयाँ मँगवाते थे। फार्मेसी पन्सारी की दूकान थी। यदि ग्राहक की माँग पूरी न की जाय और जो औषधि माँगे, उसे न दिया जाय तो हाथ से ग्राहक चला जाता है। दवाइयों की कमी के कारण ग्राहक घटने लगे। दवाइयों के बिक जाने से आल्मारियाँ और गोदाम खाली हो रहे थे। इसी बिक्री से मैनेजर साहब खर्चा चला रहे थे। आकर देखा तो मालूम हुआ कि दूकान की मालियत घटकर आधी रह गई है। स्वामी ने मैनेजर को हटाया और एक नये मैनेजर श्री दिलीपचन्द्र आयुर्वेदालंकार को रक्खा। दिलीपचन्द्र बड़े ही ईमानदार और मेहनती युवक थे। उन्होंने दूकान को अच्छी तरह सँभाला। स्वामी दवाइयाँ बनाने में जुट गये। उस समय गुरुद्वारा के अकाल तख्त की जायदाद के पास एक बाग था, जिसे अकालियों का बाग कहा जाता था। वहाँ दूकानें, गोदाम, कारखाना आदि की इमारतें बनाकर दी जा रही थीं। किराया भी बहुत कम था। अभी तक जो दूकान उनके पास थी, उसके लिए 80 रुपया मासिक किराया देना पड़ता था। अकाली मार्केट में 15-15 रुपये पर एक दूकान और कारखाने के लिए बड़ा स्थान

मिल गया। रहने के लिए भी बहुत अच्छा स्थान बना-बनाया मिला। स्वामी वहाँ चले आये। आज भी उनकी दूकान और कारखाना उसी अकाली मार्केट में है।

औषधि-निर्माण में मशीन–स्वामी प्रत्यक्ष और प्रयोग पर विश्वास रखनेवाले हैं। उन्होंने जब दवाइयों का विश्लेषण करके देखा कि चाहे लकड़ी की आँच से उन्हें तैयार करो या पत्थर के कोयले से, गुण में अन्तर नहीं आता तो पत्थर के कोयले का व्यवहार करना शुरू कर दिया। अब उन्हें मशीनों ने अपनी तरफ खींचा। महात्मा गाँधी–देश के सबसे बड़े नेता–मशीनों के विरोधी थे और उसे अनेक खुराफातों की जड़ मानते थे। उनके कारण कितने ही गाँधीभक्त मिल की चीनी छोड़कर गुड़ इस्तेमाल करने लगे, हाथ के कते-बुने कपड़े की तो बात ही अलग। स्वामी साइन्स के भक्त थे, इसलिए मशीनों के बारे में उनका रुख गाँधीवादी कैसे हो सकता था ? देख रहे थे, आज के युग में कोई भी देश दो हजार वर्ष पुराने चर्खे, बढ़ई, लोहार के भरोसे होड़ में टिक नहीं सकता और न बढ़ सकता है। इस युग में मुकाबला मशीनों द्वारा ही किया जा सकता है। खद्दर का यह उपभोग जरूर था कि विदेशी कपड़े के बायकाट करने पर उसकी कमी को पूरा करने में वह सहायक हो सकता था, लेकिन उसे सदा के लिए देश की नीति नहीं बनाया जा सकता। वह देखते थे, हमारी सामग्री से बनी कितनी ही दवाइयाँ विलायत से आती हैं और वह बड़ी स्वच्छ और गुणवर्द्धक होती थीं। मशीनों से दवाइयों के तैयार करने पर उन पर आदमी को श्रम भी कम पड़ता। आयुर्वेदिक दवाइयों की घुटाई, पिसाई बहुत करनी पड़ती थी, जिसमें बहुत आदमी लगते थे। आदमी के सिर पर सवार रहें, तब तो काम करते थे, नहीं तो बेगार टालने लगते। जब साल में पचासों हजार की दवाइयाँ तैयार करनी थीं, तो जितने आदमी काम में लगाये गये, उन सबके सिर पर सवार रहना भी मुश्किल था। उन्होंने सोचा, मशीनों का यदि इस्तेमाल करें तो घुटाई-पिसाई पूरी हो सकती है, दवाइयाँ देखने-सुनने में भी अच्छी मालूम होंगी और सस्ती भी पड़ेंगी।

लेकिन वैद्य तो रूढ़िवादी होते हैं। वह पत्थर के कोयले की आँच भी बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। मशीनों के बारे में तो वह पूरे गाँधीवादी थे। कहते थे–कुटाई-पिसाई मशीनों से करने पर गर्मी अधिक पैदा हो जाती है, जिसके कारण औषधि के कितने ही गुणदायक अंश नष्ट हो जाते हैं। पर स्वामी दवाई कूटने-पीसने में आग लगते नहीं देखते थे। फिर विलायती दवाएँ तो सभी मशीनों से ही तैयार होकर आती हैं। उनका गुण क्यों नहीं नष्ट हो जाता ? वैद्यों की दलीलें उन्हें थोथी मालूम हुईं और वह इस धुन में लगे कि हरेक कुटाई-पिसाई की मशीन को तैयार करके उसका इस्तेमाल करें। वह इसके लिए बम्बई गये। वहाँ झण्डू के कारखाने को देखा। झण्डू की फार्मेसी में सारी मशीनें विलायती थीं। धूतपापेश्वर में गीली दवाइयों के घोटने की मशीनें स्वदेशी थीं। उन्हें देखकर स्वामी इस निश्चय पर पहुँचे कि कुटाई-घुटाई की मशीनें हम अमृतसर में बनवा सकते हैं। बम्बई से वह टिकियों और गोली बनाने की मशीनें खरीदकर लाये थे, बाकी मशीनों की रूपरेखा अपने दिमाग में बैठाकर आये। अमृतसर में अच्छे मिस्तरियों की कमी नहीं थी। उन्हें कहकर छह महीने में ही स्वामी ने मशीन से चलनेवाले घोटने के खरल और कूटने के इमामदस्ते बनवा लिये। उनसे कुटाई-घुटाई का काम उससे भी अच्छा होने लगा, जितना कि हाथों से होता। 1934 में दवाइयाँ मशीनों से बनने लगीं। इसके कारण श्रम की बहुत बचत हुई। हाथ से बनाने में जो दवाई एक रुपये सेर में बनती थी, वह मशीन से 8 आना सेर से भी कम पड़ती थी। स्वामी ने अपनी मशीनों के फोटो के ब्लाक बनवाकर सूचीपत्र में छपाये और मशीनों से दवाएँ बनती दिखाईं। विरोधियों को फिर उनके विरुद्ध प्रचार करने का अवसर मिला–"पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी में दवाइयाँ मशीनों से बनती हैं। इसके कारण उनके गुण नष्ट हो जाते हैं और उनसे कोई लाभ नहीं होता। इसीलिए उनका कारबार बन्द हो रहा है।"' इसमें शक नहीं कि इस प्रचार का प्रभाव आरम्भ में कुछ पड़ा। कुछ वैद्य उनके एजेन्टों के फेर में आये, पर स्वामी घबरानेवाले जीव नहीं थे। उन्होंने अपने ग्राहक वैद्यों को लिख भेजा कि मशीनों की बनी हमारी दवाइयाँ यदि निर्गुण सिद्ध हों, तो हम उनका दाम वापस देने के लिए तैयार हैं। तीन-चार वर्ष के संघर्ष के बाद स्वामी अब के भी विजयी साबित हुए। अपने ही यहाँ उन्होंने मशीनें नहीं लगवाईं, बल्कि गुरुकुल काँगड़ी, सुखसंचालक कम्पनी, मथुरा के दवाई के कारखानों को मशीनें बेचीं और वहाँ अपने आदमी भेजकर उन्हें चालू कराया, जो आज भी अच्छी तरह काम कर रही

हैं। मशीनों की प्रतिस्पर्द्धा में मशीनें ही ठहर सकती हैं, हाथ नहीं ठहर सकते, यह विश्वास स्वामी के लिए आसान था, क्योंकि 1915 से ही वह 'विज्ञान' के अध्येता और भक्त बन गये थे। स्वामीजी पहिले आदमी थे, जिन्होंने अमृतसर में आयुर्वेदिक फार्मेसी स्थापित की थी। देखादेखी दूसरों ने भी फार्मेसियाँ खोलीं और होड़ लगाना चाहा, पर स्वामी के कारबार को आँच नहीं लगी।

विज्ञान-परिषद की सहायता—जेल से लौटकर स्वामी अपने फार्मेसी के काम में जुटे हुए थे, आमदनी भी खूब बढ़ी थी। थोड़ा-थोड़ा करके सात बीघा जमीन हाथ आ गई। रहने के लिए एक बहुत बड़ा मकान खरीद लिया। 1938 तक अब वह लखपति-से बन गये थे, उनका लखपति बनने का संकल्प पूरा हो गया। वह कमाई के पीछे पागल होनेवाले आदमी नहीं थे, वह चाहते थे आयुर्वेद-सम्बन्धी अनुसन्धान का काम किया जाये। उसके लिए एक बड़ी प्रयोगशाला की आवश्यकता पड़ेगी। स्वामी का सम्बन्ध बहुत समय से प्रयाग की विज्ञान-परिषद से था। परिषद के संचालक और संरक्षक युनिवर्सिटी के बड़े-बड़े प्रोफेसर थे। स्वामी ने समझा, आयुर्वेद भी तो प्रयोग पर विश्वास रखता है और प्रयोग द्वारा ही उसको आगे बढ़ाया जा सकता है। यह पहिले ही बतला चुके हैं कि विज्ञान-परिषद की पुस्तकों और पत्रिकाओं से जितना लाभ स्वामी ने उठाया, उतना शायद ही किसी ने उठाया हो। नवम्बर 1933 में विज्ञान-परिषद वार्षिक अधिवेशन में स्वामी भी प्रयाग पहुँचे थे। विश्वविद्यालय के फिजिक्स लेक्चर हॉल में अधिवेशन हो रहा था। परिषद के प्रधानमन्त्री प्रो. शालिग्राम भार्गव ने रिपोर्ट पढ़ी, जिसके कुछ अंश थे--

"चार-पाँच वर्षों से इस वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर हम बराबर कहते चले आये हैं कि यह रिपोर्ट परिषद के कार्यकर्ताओं का कार्य-वृत्तान्त नहीं, बल्कि उसके सेवकों की कठिनाई की कहानी है, जो आपको सुनाई जाती है। यह कठिनाइयाँ दिनोंदिन बराबर बढ़ती ही गई हैं, कि पुराने कर्मचारियों की जगह अब नये कर्मचारी चुने जायँ, जो नई रीतियों से काम करके परिषद के उद्देश्यों की पूर्ति में सफलता प्राप्त कराएँ, तभी परिषद का कल्याण सम्भव है। नहीं तो यदि ऐसी ही शिथिलता रही, तो दो-चार वर्ष में परिषद को बन्द ही कर देना पड़ेगा। धनाभाव के कारण पुस्तकों का छापना बन्द होता जाता है, और 'विज्ञान' का आकार भी घटा दिया गया है। पिछले साल के पहिले महीने-भर तो विज्ञान का सम्पादन डॉ. सत्यप्रकाश जी करते रहे, परन्तु किसी कारण उनको सम्पादन का काम छोड़ना पड़ा। कौंसिल ने उचित समझा कि वह काम श्री रामदास गौड़ के सपुर्द कर दिया जाय। गौड़जी विज्ञान-परिषद के स्थापित करनेवालों में से हैं, इसीलिए समय न होते हुए भी उन्होंने सम्पादन का भार लेना स्वीकार कर लिया, और चार-पाँच महीने से यह काम कर रहे हैं। गवर्नमेण्ट से हमको छह सौ रुपये की सहायता बराबर मिलती चली आती है, इसके बिना परिषद् का काम चलना असम्भव था। परिषद की सदस्य संख्या, और 'विज्ञान' की ग्राहक-संख्या बहुत कम है।"

स्वामी जी ने परिषद की शोचनीय स्थिति को देखा, कार्यकर्ताओं से बातचीत की। उन्हें मालूम हो गया कि यदि इस समय परिषद की सहायता नहीं की गई, तो उनका काम ठप हो जायगा। 'विज्ञान' और विज्ञान-परिषद का वह अपने को बहुत ऋणी मानते थे। उसे अकाल में ही कालकवलित देखना कैसे पसन्द करते। अमृतसर आकर उन्होंने प्रो. रामदास गौड़ और प्रो. शालिग्राम भार्गव से लिखा-पढ़ी की, साथ ही 12 मार्च 1934 को 150 रुपया भेजकर परिषद के आजीवन सदस्य बन गये। अप्रैल 1934 में उन्होंने 'आयुर्वेद विज्ञान' बन्द कर दिया, और परिषद के सामने प्रस्ताव रक्खा कि मैं पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी को विज्ञान-परिषद के हवाले करने के लिए तैयार हूँ। इसकी आमदनी से वह अपना काम चलावे। मुझे केवल आयुर्वेदिक अनुसन्धान का शौक है, जिसके लिए मुझे सुविधा मिले। फार्मेसी ले लेने पर 'आयुर्वेद विज्ञान' को भी 'विज्ञान' में सम्मिलित कर लेना होगा, क्योंकि ऐसा न करने पर फार्मेसी की दवाइयों के प्रचार का काम नहीं हो सकेगा। परिषद ने विशेष अधिवेशन करके निश्चय किया कि एक वर्ष तक स्वामीजी ही फार्मेसी को चलावें। इस बीच में हम किसी आदमी का प्रबन्ध कर लेंगे। 'आयुर्वेद विज्ञान' को 'विज्ञान' में मिलाने का भी निश्चय किया गया। जुलाई 1934 से 'आयुर्वेद 'विज्ञान' अब 'विज्ञान' में विलीन होकर प्रकाशित होने लगा। उस अंक के मुखपृष्ठ पर प्रो. रामदास गौड़ ने स्वामीजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए लिखा था—

"विज्ञान सम्पादक मण्डल की ओर से हम अमृतसर के 'दि पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी' के सुयोग्य स्वामी तथा 'आयुर्वेद विज्ञान' के यशस्वी सम्पादक देशभक्त श्रीमान स्वामी हरिशरणानन्दजी वैद्य का विशेष सम्पादक के रूप में और उनके संचालित°आयुर्वेद विज्ञान पत्र का विज्ञान के अंग-रूप में सादर स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि आधार-आधेय का यह सहयोग और सम्मिलन कल्याणकारी होगा और 'विज्ञान' में नया जीवन और नई स्फूर्ति लाने के लिए रसायन का काम करेगा। मंगलमय भगवान विश्वनाथ दोनों का उत्तरोत्तर कल्याण और वृद्धि करें। शुभमस्तु।

" अब से विज्ञान में प्रकाशित होने के लिए प्राच्य और पाश्चात्य सभी तरह के चिकित्साशास्त्र सम्बन्धी लेख हमारे कृपालु लेखक इस विषय में विशेष सम्पादक श्री स्वामी हरिशरणानन्द वैद्य, दि पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी, मजीठमण्डी, अमृतसर को भेजें।—रामदास गौड़।"

इसी जुलाई 1934 के अंक में 'विज्ञान और आयुर्वेद विज्ञान का सम्बन्ध' शीर्षक के नीचे स्वामीजी ने निम्न वक्तव्य प्रकाशित किया :

"पाठकों को ज्ञात है कि 'आयुर्वेद विज्ञान' आज से कई मास से बन्द था, इसका कारण त्रैमासिक सूची के आरम्भ में अन्तिम निश्चय शीर्षक में दे चुका हूँ। मैं पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी नामक अपने वृहद कार्यालय को विज्ञान-परिषद नामक संस्था को समर्पण करने का निश्चय कर चुका हूँ। विज्ञान परिषद इस देश की एक माननीय वैज्ञानिक संस्था है। इसका कार्यालय प्रयाग में है। उसका अपना 'विज्ञान' पत्र आज बीस वर्ष से निरन्तर निकल रहा है। इसने जितना वैज्ञानिक साहित्य दिया है, हिन्दी भाषा के साहित्य की पूर्ति की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी। इसने चिकित्सा विषय को लेकर आयुर्वेद की काफी सेवा की है। यद्यपि आयुर्वेद शास्त्र अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है, इसका बहुत-सा विषय आरम्भ से क्रियात्मक रहा है तथा आज भी है, तथापि इसमें अनेक ऐसी बातें भी सम्मिलित हैं, जिनको आज तक क्रियात्मक रूप नहीं दिया जा सका। पर दकियानूसी वैद्य 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' को आँख मींचकर मान रहे हैं। किन्तु आधुनिक विचार के वैद्य इस पक्ष के नहीं हैं। वे चाहते हैं कि आयुर्वेद-सम्बन्धी प्रत्येक विषय पूर्ण क्रियात्मक बनाया जाय और उसे अच्छी तरह विज्ञान की कसौटी पर कसकर दिखा दिया जाय। मैं भी इसी विचार का व्यक्ति हूँ। 'आयुर्वेद विज्ञान' का जन्म इसी उद्देश्य को लेकर हुआ था, जिसे वह बहुत कुछ पूर्ण करता रहा। परन्तु मेरे स्वराज्य-संग्राम में फँसे रहने के कारण 'आयुर्वेद विज्ञान' का प्रकाशन ठीक तौर पर न हो सका, न भविष्य में स्वतन्त्र दृढ़ रूप से प्रकाशित होने की आशा दिखाई दी। इसी कारण इसको विज्ञान-परिषद की कौंसिल ने सहर्ष स्वीकार किया। उसे विज्ञान के कलेवर में मिला लेने की स्वीकृति दे दी। इसलिए ये अब आगे से 'आयुर्वेद विज्ञान' 'विज्ञान' का अंग होकर उसके साथ प्रकाशित होता रहेगा। मुझे अब पूर्ण आशा है कि जिस उद्देश्य को लेकर 'आयुर्वेद विज्ञान' प्रकाशित किया गया था, 'विज्ञान' के विद्वान लेखक तथा अन्य वैद्य उक्त उद्देश्य की पूर्ति में पूर्ण सहायता देंगे और आयुर्वेदशास्त्र आधुनिक विज्ञान में पूर्ण रूप से मिल जायेगा, इससे उन्नति का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।"

अब से स्वामीजी विज्ञान में चिकित्सा-विषय के विशेष सम्पादक के रूप में काम करते रहे।

20 अक्तूबर 1937 को विज्ञान परिषद का वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसमें प्रधानमन्त्री डॉ. गोरखप्रसाद ने विवरण पढ़ते हुए कहा—"परिषद सरकार की बड़ी ऋणी है। सरकार से हमको प्रतिवर्ष छह सौ रुपये मिलते हैं। हम स्वामी हरिशरणानन्दजी के प्रति भी बहुत कृतज्ञ हैं, जिनसे हमें प्रतिवर्ष कई सौ रुपये मिल जाते हैं। इस वर्ष उनसे हमको लगभग आठ सौ रुपये सहायता के रूप में मिले।"

पच्चीस वर्ष पूरा करने पर 1938 में विज्ञान परिषद की रजत-जयन्ती मनाई गई, 'विज्ञान' का रजत-जयन्ती अंक निकाला गया। उसमें परिषद के पच्चीस वर्ष का विवरण प्रकाशित किया गया, जिसमें स्वामी हरिशरणानन्द शीर्षक के नीचे निम्न बातें लिखी थीं—"2 अप्रैल 1934 की कौंसिल में परिषद को यह सूचना मिली कि पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी अमृतसर के श्री स्वामी हरिशरणानन्दजी अपने फार्मेसी की सम्पत्ति एवं अपने 'आयुर्वेद विज्ञान' नामक पत्र को परिषद को सौंपना चाहते हैं। प्रो. शालिग्राम भार्गव ने अमृतसर जाकर स्वामीजी से परामर्श भी किया और सब परिस्थिति 15 जून 1934 की बैठक में उपस्थित की। सौभाग्य की बात है कि हमें श्रद्धेय

स्वामीजी का सहयोग प्राप्त हो गया।

" यह निश्चय हुआ कि उनका 'आयुर्वेद विज्ञान' 'विज्ञान' में सम्मिलित कर लिया जाये, और स्वामीजी आयुर्वेद विभाग के सम्पादक बनाने जायें। स्वामीजी की फार्मेसी का गिफ्टरोड (दान-पत्र) अभी तैयार नहीं हो पाया है। परिषद के पास ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है, जो अमृतसर में फार्मेसी का प्रवन्ध कर सके। इसीलिए फार्मेसी की देख-रेख स्वामीजी कर रहे हैं। स्वामीजी से परिषद को वरावर आर्थिक सहायता मिलती रही है, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। आपके परामर्शों से भी लाभ होता रहा है।"

प्रेस–1940 में बम्बई जाकर स्वामी छापेखाने की चार मशीनें और प्रेस का सामान अपने साथ लाये। पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी का अपना प्रेस भी स्थापित हो गया। महायुद्ध छिड़ा हुआ था। 'विज्ञान' के लिए कागज का कोटा जो मिला था, वह अक्तूबर 1941 में प्रयाग में मिलना कठिन हो गया। पत्र बन्द होने की स्थिति में था। सूचना पा स्वामी ने कहा–पत्र बन्दी नहीं करना चाहिए, उसे हम अमृतसर में अपने प्रेस से निकालेंगे। इसी के अनुसार अक्तूबर 1941 से 'विज्ञान' अमृतसर से प्रकाशित होने लगा। तब से अगस्त 1942 तक 11 महीने 'विज्ञान' अमृतसर से निकलता रहा। जव वहाँ भी कागज का अभाव हो गया, तो कुछ दिनों के लिए प्रेस को भी बन्द कर देना पड़ा, और प्रयाग में कागज मिल जाने से 'विज्ञान' फिर वहाँ से निकलने लगा।

1941-42 के वार्षिक विवरण में परिषद को स्वामी से सात सौ रुपये की सहायता का उल्लेख किया गया था। आठ वर्ष तक का मौका मिला था, लेकिन फार्मेसी को सँभालने के लिए परिषद किसी आदमी को तैयार नहीं कर सकी। स्वामी ने आशा दे रक्खी थी, कि परिषद से सम्बनध रखनेवाले प्रोफेसर आयुर्वेदिक अनुसन्धान में सहायता करेंगे, उसमें भी उन्हें निराश होना पड़ा। लाचार हो, अव उन्हें फार्मेसी को अपने ही हाथ में रखना पड़ा।

इस बीच में उनके अध्ययन और लेखन का काम चलता रहा। 'ज्वर-मीमांसा' लिखकर प्रकाशित की। कूपीपक्वरसायन पर कई तजर्वे किये। रससिन्दूर, चन्द्रोदय, समीरपन्नग, मल्लसिन्दूर आदि पचासों कूपीपक्वरस उन्होंने पत्थर के कोयले पर, लकड़ी, गैस और विजली की अँगीठी पर तैयार किये। उनका विश्लेषण करवाया और प्रयोग करके देखा। इस अनुभव के आधार पर उन्होंने 'कूपीपक्वरसनिर्माण विज्ञान' नाम से एक बड़ा ग्रन्थ लिखा, जिसकी सौ पृष्ठ की भूमिका में प्राचीन और अर्वाचीन रसायनशास्त्र का इतिहास दिया। यह ग्रन्थ 1941 में प्रकाशित हुआ।

12

गृहस्थ (1941 ई.)

वर्ष 52

स्वामी अब तक स्वामी थे। पैसा खूब आता था। रहने के लिए मकान और अनुसन्धानशाला के लिए रेलवे लाइन के पास काफी जमीन खरीद ली थी। पैसा खर्च करने में भी उनका हाथ खुला रहता था। उनके मित्रों में सनातनी, आर्यसमाजी सभी थे। पुराने विचार रखनेवाले स्वामी अब कट्टर नास्तिक थे। न उनका ईश्वर पर विश्वास था और न अपनी पुरानी रूढ़ियों पर। लेकिन उनमें कट्टरता नहीं थी। वह दूसरों की सभाओं में जाते, दूसरे के भावों के प्रति उदारता रखते। मित्रों की कमी नहीं थी, लेकिन अपने विचारों के साथ चलनेवाले मित्रों का विल्कुल अभाव था। अब आयु भी ढल चुकी थी, जिसका प्रभाव मन पर पड़ना जरूरी था। देखते थे, सभी हमप्याला-हमनिवाला होने के लिए तैयार थे, लेकिन उनमें कोई ऐसा नहीं कि जो उनकी रोग या ढलती

उमर में पूरी तौर से साथ देने के लिए तैयार हो। किसी में असली मित्रता के भाव नहीं पा रहे थे। इतने परिश्रम से उन्होंने धन कमाया था। जानते थे, इसको वह अपने साथ नहीं ले जायेंगे। पर व्यक्ति का अभाव उनके दिल में खटकता था, जिसको वह अपना कह सकें और वह उन्हें अपना कह सके। यह सोचते हुए उनका ध्यान गया, इसकी सम्भावना स्त्री से ही हो सकती है। प्रकृति ने ही स्त्री-पुरुष को परस्पर आश्रित कर दिया है। स्त्री जितना सेवा-सुश्रूषा कर सकती है, उतना दूसरा नहीं कर सकता। कई वर्षों से वह अपने मित्र गोस्वामी सुधाधरदेव शर्मा के घर पर रहते थे। खाना-पीना-सोना सब वहीं होता था। उनके परिवार के आदमी-जैसे थे। रहने के लिए अपना आलीशान मकान था, पैसे की कमी नहीं थी, फिर इस तरह दूसरे पर भार होना ठीक नहीं जँचा। वह इसी निश्चय पर पहुँचे कि शादी कर लेनी चाहिए। वह जानते थे, उनके यार-दोस्त शादी का विरोध ही करेंगे। एक तो समझते थे कि चौथेपन में ब्याह करना उचित नहीं है, और उससे भी बढ़कर वह यह जानते थे कि घर में स्त्री के आ जाने पर खाने-पीने की मौज नहीं रहेगी। वह स्वामी के विचार की हँसी उड़ाने लगे, कहने लगे–"मरते समय संसार से संन्यास लेना चाहिए या संसार बसाना चाहिए ? स्वामी सठिया गये। इनकी अकल मारी गई। कोई ऐसी स्त्री मिलेगी, कि इन्हें उलटे अस्तुरे से मूँड़ देगी, तब अकल आयेगी। 30-35 साल के जब थे, तब शादी करते तो कोई बात नहीं थी।" धीरे-धीरे यह चर्चा बहुत लोगों में फैल गई। कोई पूछता–"किस उमर की भागमान से शादी करोगे ? विधवा या कुमारी से ? ब्राह्मण या किसी और जाति की ?" कोई मजाक करता और कोई गम्भीरता से पूछता। कोई कहता–"यहीं अमृतसर में बन्दोबस्त कर देते हैं।"

स्वामी हमेशा से एकबग्गा रहे। जिस बात का निश्चय कर लिया, उससे डिगना नहीं जानते। उन्होंने मार्च 1941 में ब्याह के लिए एक विज्ञापन बनाया। अपनी आयु, कारबार आदि की बातें लिखीं, और उसे 'हिन्दी मिलाप', 'हिन्दुस्तान', 'अर्जुन', 'हिन्दुस्तान टाइम्स' आदि पत्रों में भेज दिया। कई सप्ताह तक विज्ञापन निकलता रहा। ब्याह के लिए बाहर से 15 पत्र आये, जिनमें विधवाओं, कुमारियों और अनाथालय की तरुणियों के भी थे। तीन पत्र अच्छे सुशिक्षित परिवार के व्यक्तियों की ओर से थे। स्वामी ने विवाह के लिए कैसी स्त्री चाहिए, इसे विज्ञापन में स्पष्ट कर दिया था और लिख दिया था कि हम अच्छी तरह देख-भाल कर, विचारों को जानकर सिविल मैरिज के नियम से शादी करेंगे।

वह अपनी भावी पत्नी को चुनने के लिए निकले। साथ में स्त्री सहायक हो सकती थी, इसलिए अमृतसर की कन्या पाठशाला की एक मुख्याध्यापिका को साथ लिया। जहाँ से पत्र आये थे, वहाँ पहुँचे। लुधियाना देखा, अम्बाला, दिल्ली, मथुरा, अलीगढ़, हाथरस, होते अन्त में इटावा पहुँचे। इटावा की ही तरुणी उन्हें पसन्द आई। बहुत छोटी उमर में एक बूढ़े से उसे ब्याह दिया गया था, जो छह महीने भी नहीं जी सका, और लड़की का गौना भी नहीं हो सका कि वह संसार से चल बसा। परिवार में चार बहिनें, एक भाई और एक माँ थी। दो बहिनों का ब्याह अपने ब्राह्मण घरों में हो चुका था। छोटी बहिन और यह तरुणी–जानकीदेवी–अपनी माँ के साथ थी। गाँव में बाप की जमीन थी, लेकिन वह आकर इटावा दवाई करने लगे थे। उस गाँव की जमीन पर एक दामाद रहकर खेती-पाती करवाता था, और उसमें से कुछ भेज देता था। यही गुजारे का साधन था। जानकीदेवी की आयु बीस साल की थी। बाप के कारण थोड़ा-सा पढ़ा था। दोनों ने एक-दूसरे को देखा। तीन दिन तक स्वामी वहाँ ठहरे। देवीजी की भी स्वीकृति पाकर वह रिश्तेदारों को यह सूचित करके चले आये कि हमारा ब्याह दिल्ली में मजिस्ट्रेट के सामने सिविल मैरिज कानून के अनुसार होगा। तारीख की सूचना देंगे, तब आप इन्हें दिल्ली पहुँचा जायें। कई वर्षों से दिल्ली में स्वामी ने अपनी फार्मेसी की शाखा खोल रक्खी थी जिसके मैनेजर श्री ब्रह्मानन्द आयुर्वेदालंकार थे। श्री ब्रह्मानन्दजी ने सारा प्रबन्ध किया, और अप्रैल 1941 में दिल्ली में ब्याह की रजिस्टरी हो गई, और पति-पत्नी अमृतसर चले आये। जानकीदेवी खाना बनाने में एक नम्बर हैं, और खाना खिलाने में तो उनकी ऐसी महिला शायद ही मिले। दो दिन भी उनके हाथ का मीठा व्यंजन खाना पड़े, तो पेट खराब हुए बिना न रहे। "जरा और लीजिए, जरा और लीजिए" की रट में आदमी संकोच के मारे कुछ अधिक खा ही जाता है, और उल्लू बनाने में भी भाभीजी को बड़ा आनन्द आता है।

और उल्लू तो बनना ही है, क्यों सामर्थ्य से अधिक खाया जाये। जानकीजी का स्वरूप बाज वक्त कड़ा मालूम होता है। वह जल्दी उबल पड़ती हैं। भीतर से वह बहुत मधुर और शीतल हैं। अपनी असाध्य बीमारी के समय जिस तत्परता से उन्हें सेवा करते देखा, उससे स्वामी को अपने चुनाव पर सन्तोष हुआ।

'वैसे एक तो करेला दूसरे नीम चढ़ा' की कहावत स्वामी पर बहुत चरितार्थ होती है। वह अपना निर्णय खुद करने के आदी हैं, दूसरों की सुन लेते हैं, इसमें शक नहीं। पर जिस निश्चय को कर लिया, उसे वह बदलना नहीं चाहते। भला केवल एक स्त्री उनके निर्णय में कैसे रोड़े अटका सकती है ? इसके साथ अब वह बुढ़ापे में पैर रख चुके हैं। और सबसे बढ़कर बात यह है कि उन्होंने अपना सारा जीवन घुमक्कड़ी और एकाकीपन में बिताया था। पहिले जंगलों में फिरते रहे, फिर जब घरों में रहने लगे, तो भी निर्लेप रहते, साँप की तरह बनी-बनाई बाँबी में गुजारा कर लेते थे। ऐसा आदमी गृहस्थ बनने के सर्वथा अयोग्य होता है। जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक को नजदीक से जानने का मौका मिला है, वह यही कह सकता है कि घुमक्कड़ी में जीवन का अधिकांश बिताकर आदमी उसी जीवन के लायक रह जाता है। वह दूसरों के भावों को समझने और सहानुभूति रखने की शक्ति खो देता है। वह बँधे हाथी की तरह अपने पुराने जंगलों को याद करता है। किसी से सम्बन्ध रखता है, तो कुछ घड़ियों और कुछ दिनों-भर। वह दूसरे के लिए जान दे सकता है, उसकी तन-मन-धन से सेवा कर सकता है, लेकिन अपनी शर्तों के साथ, अपने आदर्शों के बीच में रहकर। बुढ़ापे की अपनी शारीरिक निर्बलताओं और उसमें सहारा मिलने का प्रलोभन उसके लिए आकर्षक जरूर हो उठता है। यह आकर्षण कभी अपनी ओर खींचने में सफल होता है, पर वह सारे जीवन का सम्बल नहीं हो सकता। यदि कहीं घुमक्कड़ गैरजिम्मेवार हुआ, और अपने कर्तव्य की अवहेलना करने के लिए तैयार हुआ, तो उसका गृहस्थ जीवन शोक और चिन्ताओं का हो जायेगा।

संसार में बहुत कम मनुष्य सुख-सुविधा लेकर आते हैं। अधिकांश को जीवन-निर्वाह के साधन सुलभ होते हैं। जिनके पास सुख-सुविधा के साधन हैं, उन्हें उससे लाभ होता है। जो लड़के उससे वंचित हैं और साथ ही माता-पिता की छाया को भी छोड़ चुके हैं, उन्हें अपने ही गिर-पड़कर अपने पैरों पर खड़े होने की कोशिश करनी पड़ती है। हमारे स्वामी वैद्य-भैया-ऐसे ही साधनहीन लड़कों में थे। माँ एक वर्ष के होने से पहिले ही चल बसी। पिता का स्नेह था, लेकिन वह उतना अवलम्ब नहीं दे सकता था। उन्हें भी अपने जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ता था। सौभाग्य कहिये, जो उसी समय बाबा गोपालदास आ पहुँचे, जिन्होंने ध्यान और योग की कथाएँ कहकर बालक का ध्यान उधर आकृष्ट किया। वह धर्म की बातें सुनता, और उस समय समझता था कि धर्म सभी मीठा-मीठा है; उसे क्या मालूम कि इन धर्मों में आपस में भी थुक्कम-फजीहत और कटाकटी चलती है। इनके संस्थापकों में तो कितने ही परम धूर्त और चालाक थे, जिन्होंने बहुत-से लोगों को अपने जाल में फँसाकर अपनी भेड़ बना लिया। साधु साधारण लोगों को भेड़ें कहते, और जानते हैं कि उनमें भेड़चाल ज्यादा चलती है। इसलिए वह अपना उल्लू सीधा करने में सफल हुए।

स्वार्थी चालाकों ने समझ लिया है कि समाज में रहकर आदमी को भेड़ की तरह ही रहना पड़ेगा। इसी को समाज-व्यवस्था का नाम दिया गया। बाप जिधर जाये, बेटे को भी उधर ही जाना चाहिए, यह परम्परा चला दी गई। अनुकरण करना बुरी बात नहीं है, आखिर मानव-प्राणी अनुकरण के बल पर ही पुरानी पूँजी को समेटते आगे बढ़ा, वन्य अवस्था से सभ्य अवस्था में पहुँचा। लेकिन वह अनुकरण जब भेड़ियाधसान की हालत में पहुँच जाता है तो अनेक अनिष्टों का कारण होता है। धर्म क्या है ? वैदिक आर्यों को ले लीजिए। दुःख-तकलीफ के समय, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए वह अपने देवताओं से प्रार्थना करते थे। इन्द्र देवों का देव या देवज्येष्ठ था। वरुण, सविता, सोम आदि अनेकों देवता उनके पूज्य थे, क्योंकि उनकी ही दया से वह अपने को सुखी और विजयी मानते थे। भरद्वाज, वसिष्ठ, विश्वामित्र उस समय सबसे बड़े धर्माचार्य थे। इसके बाद उपनिषद के प्रवाहण, याज्ञवल्क्य आदि हुए। उन्होंने भी अपना पंथ खड़ा किया। ईसा, मुहम्मद आदि कितनों ने अपने को भगवान का पैगम्बर घोषित किया, अपनी-अपनी जमातें बनाईं। इन जमातों में मानव बँट गया। एक कोठरी में बन्द आदमी कूपमंडूक हुए विना कैसे रह सकता था ? आज इस फेर में दुनिया

के लोग पड़े हुए हैं। भैया इस चौरासी के चक्कर से बाहर निकल गये हैं। जो चीजें बुढ़ापे में बुद्धिमानों को भी बेवकूफ बनाती हैं और वह ऋषिकेश, पांडीचेरी और तिरुवन्नामलय की ओर भागने लगते हैं, उन्हें तरुणाई में ही वर्षों तक भैया ने भीतर रहकर देख-समझ लिया। उन्हें तड़क-भड़कवाली धर्म की दूकानें अपनी तरफ खींच नहीं सकतीं। सबसे बड़ा चमत्कार योग का माना जाता है, उसमें भी उनकी काफी गति हो गई थी। और यदि विघ्न न हुआ होता, तो वह उस तजर्बे को भी पूर्णता पर पहुँचाये बिना न रहते। वह उच्च भावनाओं को लेकर इस तरफ अग्रसर हुए थे। बातों पर नहीं, बल्कि प्रयोग पर शुरू से ही उनका जोर था। इसीलिए उन्हें मुक्ति, स्वर्ग आदि के जंजाल को तोड़कर बाहर आने में देर नहीं लगी। चिकित्सा के क्षेत्र में प्रवेश करने पर भी वह 'वाबा वाक्यं प्रमाणं' के विरोधी रहे। आयुर्वेद ही नहीं, यूनानी, मिस्रानी, एलोपैथी, होमियोपैथी, बायोकेमी, क्रोमोपैथी, नेचरोपैथी आदि सभी चिकित्सा-पद्धतियों के साहित्य का उन्होंने अच्छी तरह अध्ययन किया। जिस तरह साधु होकर उन्होंने योग तथा स्वर्ग-अपवर्ग के रहस्य को समझने का प्रयत्न किया, उसी तरह आयुर्वेद के क्षेत्र में भी उतरकर उन्होंने चिकित्सा और उसके उद्देश्य को समझने की कोशिश की।

संसार छोटा नहीं है। उसकी सीमा भारत तक सीमित नहीं है। पृथ्वी के दोनों गोलार्द्धों में जहाँ समुद्र नहीं है, वहाँ मानव फैला हुआ है, जिसकी संख्या आज ढाई अरब हो गई है। यातायात और मिलने के साधन इतने विकसित और सुलभ हो गये हैं कि अब सचमुच ही सारी वसुधा एक कुटुम्ब जैसी हो गई है। चिकित्सा को ही ले लीजिए। इन्सोलिन या पेनिसिलिन एक देश में आविष्कृत होती है, और देर नहीं लगती कि सारे भूमंडल में उसका प्रचार होने लगता है। पुराने समय के स्वास्थ्य और सुरक्षा के साधन आज की अपेक्षा कम थे, और विपत्तियाँ आज से अधिक थीं। आदमी ने खुद तजर्बे करके, गलती करके ऐसी वनस्पतियों को ढूँढ़ा, जो विशेष रोग में लाभ पहुँचाती, घावों के भरने में सहायता करती हैं। उनमें से कुछ चमत्कारिक तौर से लाभ या हानि पहुँचाती हैं। सोम या भाँग पीने से ग़म गलत हो जाता था। विष खाने से आदमी जान से हाथ धो बैठता था। मांस आदमी का शुरू से ही आहार रहा है। उसने मृग मारकर खाये, तो उसे कस्तूरी का पता लगा। मछली के तेल का, बाघ की चर्बी का भी उसने औषधि के तौर पर प्रयोग किया। सींगों, चमड़े, चर्बी, मांस ही नहीं, पशुओं के मल-मूत्र तक का दवा के तौर पर प्रयोग किया। हजारों वर्षों तक वनस्पति और पशु के अंगोपांग ही औषधि रहे। फिर आदमी पाषाण-युग से धातु-युग में आया। उसे ताँबे-लोहे का पता लगा। फिर उसकी भस्में बनाने लगा। आदमी इसी चिकित्सा-स्थिति में था; फिर वैज्ञानिक-युग में ज्ञान, यन्त्र और प्रयोगशालाओं का महत्त्व बढ़ा, और उसने आयुर्वेद से उद्भूत रसायनशास्त्र को चिकित्सा में प्रयोग करना शुरू किया। आगे बढ़ा, तो रोगाणुओं को नष्ट करनेवाले जीवाणुओं को खोज निकाला। अब परमाणु-युग ने तो परमाणु के रेडियोसक्रिय अवयवों को कृत्रिम रूप से प्रभावित कर चिकित्सा-क्षेत्रों में ऐसा चमत्कार दिखलाया, जिसका पता कभी किसी को नहीं हो सका था।

भैया विज्ञान की हरेक प्रगति का बहुत ध्यान से अध्ययन करते रहे। वह किसी मतवाद के भीतर अपने को बन्द रखने के पक्षपाती कभी नहीं थे, इसलिए वह आयुर्वेद को ही सर्वथा पूर्ण समझकर लकीर के फकीर क्यों बनते ? उपयोगिता सबसे बड़ी चीज है, और चिकित्सा में तो और भी। वादों और मतों के फन्दे में पड़ना बुद्धिमानी नहीं है। वैद्य होते हुए भी उन्होंने आयुर्वेद के पंचभूत सिद्धान्त, त्रिदोष सिद्धान्त, षट्रस सिद्धान्त, पचन-सिद्धान्त का खण्डन किया। इसका यह अर्थ नहीं कि आयुर्वेदिक चिकित्सा के महत्त्व को वह नहीं मानते। वह आयुर्वेद की देनों के कट्टरपंथियों से भी अधिक समर्थक हैं।

सत्य और रूढ़िग्रस्त परम्परा एक नहीं हुआ करती। हमारे यहाँ व्याकरण की उत्पत्ति शंकर के डमरू की नाद से मानी जाती है; कितने ही इस बीसवीं सदी में शिक्षित कहे जानेवाले पुरुष भी इसे दोहराते हैं। वैद्य मानते थे कि रसशास्त्र के आविष्कारक शिवजी थे, यह बहुत पुराना शास्त्र है। 1952 में स्वामीजी ने अपने ग्रन्थ 'भस्म विज्ञान' को लिखकर प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने बतलाया कि धातु-भस्म या रस के आविष्कारक कोई शिवजी नहीं थे और न उतना प्राचीन है। आठवीं शताब्दी से पहिले रस और भस्म को हमारे यहाँ कोई जानता भी नहीं था। उन्होंने बतलाया—"धातुवाद के जन्मदाता सिद्ध नागार्जुन थे, जो आठवीं शताब्दी में हुए।

उन्हीं से ही रस, रसायनवाद का जन्म हुआ और सिद्ध सम्प्रदाय के साधुओं ने ही धातुवाद, रसायनवाद को आगे बढ़ाया। इन्हीं से रस-चिकित्सा का ज्ञान वैद्यों ने पाया।" इस ग्रन्थ के बारे में आचार्य यादव जी विक्रम जी जैसे आयुर्वेद के महाविद्वान ने कहा—"इस ग्रन्थ में वैद्यों के जानने की बहुत-सी उपयोगी बातें हैं।"

चिकित्सा प्रयोग पर आधारित है। इसके क्षेत्र में प्रवेश करके आदमी बहुत-से अनुभव प्राप्त करता है। भैया ने अपने रोगियों के ऊपर ही नहीं, अपने ऊपर भी चिकित्सा-सम्बन्धी प्रयोग किये जो अपने लिए कभी-कभी बुरे साबित हुए। इसी तजर्बे से उन्होंने अपने कान की शक्ति को और भी कमजोर कर लिया। अपने शरीर को प्रयोगशाला साइन्सवेत्ताओं ने बनाया। कितनों ने तो तजर्बे के वास्ते अपने जीवन को खत्म कर दिया। उनकी जीवनियों से भैया भी प्रभावित थे, इसलिए वह अपने ऊपर तजर्बा करने के लिए तैयार हो गये। 1954 में वह गर्मियाँ बिताने मसूरी आये थे। जमालगोटा के अधिक काल तक सेवन करने से उनके कानों के पर्दे मोटे हो गये, जिसके कारण ऊँचे सुनने लगे। पर्दों को पतला करना चाहिए, तभी सुनने की शक्ति बढ़ सकती है। एक वनस्पति के फूलों के रस को उन्होंने इसके लिए उपयुक्त समझा और उसे दोनों कानों में डाल दिया। रस के पड़ते ही कानों के भीतर आग लग गई। इतना ही नहीं, एक कान के पर्दे को उसने जलाकर नष्ट कर दिया और वह उस कान से बिल्कुल बहरे हो गये।

1947 के जाड़ों का आरम्भ था। भैया वैसे भी दूध के प्रेमी थे और पंजाब में आकर वह अब अंध-भक्त बन गये थे। दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह सेर दूध देनेवाली भैंस घर में रहतीं। लेकिन चाहे दूध-घी खायें, चाहे हलुवा मलीदा—कहावत है, 'मूस मोटाके मसूर होइहैं', उनके शरीर पर मांस और चर्बी अधिक बढ़ने नहीं पाती थी। रोज सुबह टहलकर आते, तो चीनी मिलाकर दही खाया करते। भाभीजी ने कहा, अब सर्दियाँ आ रही हैं, अंडे आदि अच्छी गिजा खाया करें। अंडे लाये, कच्चे ही वो अंडे खाकर ऊपर से दही उड़ा गये। एक घंटा भी नहीं बीता कि हाथ की कलाई में दर्द पैदा हुआ। यही दही-अंडे खाने के कारण था, या और कोई कारण से इसको जानने के लिए उन्होंने अगले दिन फिर दो अंडे खा दही पी ली। पहिले दिन की तरह आज दूसरी कलाई में एक घंटे पहिले ही दर्द होना शुरू हुआ। तजर्बे का कितना चस्का लगा कि दोनों कलाइयों में अपने हाथों दर्द मोल लिया। 58 साल की उमर में भी शरीर भले ही कृश हो, लेकिन उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा था, शरीर में कोई रोग नहीं था। दही-अंडे के मिलाकर खाने से यह अवस्था क्यों हुई, इस पर वह सोचने लगे। कलाई के दर्द की उन्हें पर्वाह नहीं थी। अंडे में दो तरह की और दही में तीन तरह की प्रोटीन होती है। दूध के साथ अंडे वह बराबर खाते थे, लेकिन कभी तकलीफ नहीं हुई। दही भी तो उसी दूध से बना है। दूध से अधिक दही में दुग्धाम्ल (लैक्टिक एसिड) और उसके बनानेवाले कीटाणु भरे हैं। दही और दूध में इतना अन्तर है। इन्हीं कीटाणुओं ने दूध को दही में बदल दिया। उससे उसके छेने की प्रोटीन में जो रासायनिक परिवर्तन हुआ, उसके कारण वह जमकर दही बन गया। इस रासायनिक परिवर्तन का प्रभाव अण्डे के प्रोटीन पर पड़ा। पेट में कीटाणुओं की उपस्थिति में—जो दोनों का मिलकर थक्का जमा, उससे ऐसा भयंकर विषाक्त रासायनिक अंश उत्पन्न हुआ कि उसका प्रभाव कलाइयों के बाँधनेवाली कण्डरा के अतिसूक्ष्म अंश पर पड़ा और दर्द होने लगा। दर्द हटाने के लिए गठिया आदि की सभी तरह की दवाइयाँ खाईं, पर मर्ज बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की। सभी चिकित्सा-पद्धतियों की सहायता ली, पर कोई लाभ नहीं हुआ। डॉक्टरों ने मल, मूत्र, रक्त, श्लेष्म सबका टेस्ट किया, कोई दोष नहीं मिला। दो साल में बीमारी और बढ़ी, दर्द कई जोड़ों में पहुँच गया। हाथ की कलाइयों में सूजन आ गई। दर्द भी अजीब था। दिन में कोई तकलीफ नहीं रहती। सारे दिन अपना काम करते रहते। रात को सो जाने के बाद जब आँख खुलती तो जोड़ों में इतनी सख्त तकलीफ होती कि दर्द के मारे जान निकलने लगती। आध घंटे में ही दर्द अपने आप हट जाता। अगले दिन, दिन-भर फिर वह अपना काम स्वाभाविक रीति से करते रहते। यह योग के समय हुई बाधा से भी बढ़कर थी। कोई वैद्य या डॉक्टर इसे पहचान नहीं पाता था। जब रोग ही न पहचाना जाय तो चिकित्सा क्या की जाय ? तजर्बे के लिए यों ही दवाइयाँ खाते रहे। समझने लगे कि अब यह बीमारी शरीर के साथ ही खतम होगी। उन्होंने देखा, जिन चीजों में प्रोटीन का परिमाण अधिक है, उनके पेट में पहुँचते ही तकलीफ बढ़ने लगती।

दर्द सुई के चुभने जैसा होता। उन्होंने स्वतः निश्चय किया कि बीमारी की जड़ पेट है, उसको शुद्ध करना जरूरी है।

29 अप्रैल 1949 से उन्होंने अपने आप चिकित्सा करनी शुरू की। भोजन बिलकुल छोड़ दिया। चीनी, गुड़, शहद इनमें से कोई चीज पानी में मिलाकर लेते और उसके साथ जुलाब और वमन की दवा खाकर पेट को साफ रखते। जुलावी दवाइयाँ आरम्भ में पेट में जाकर जलन उत्पन्न करतीं। मरोड़ उठने लगती। कौन-सी दवा मिलाकर खाने से जुलाववाली दवा का यह दोष दूर होता है, इसका अनुभव करते उन्होंने एक ऐसा नुस्खा तैयार किया, जिसके खाने से वह तकलीफ नहीं होती और इच्छानुसार जुलाब लिया जा सकता है। फिर पेट साफ करने के लिए उन्होंने एनिमा लेना शुरू किया। एक-एक दिन में 35-40 बार तक एनिमा लिये। आँतों में चिपके रेशे एक महीने के बाद छूटने लगे। और वह 15 दिन तक बराबर निकलते रहे। रेशों के निकलने पर दर्द कम हो जाता था। दो महीने में जोड़ों का दर्द और सूजन जाती रही। उन दिनों भैया अपनी रोज की डायरी लिखते थे, और हर महीने फोटो लिवाते। उनका वजन एक मन दो सेर रह गया, शरीर बहुत कृश हो गया। उठना-चलना-फिरना मुश्किल। इस समय ब्याह का लाभ उन्हें मालूम हुआ। पत्नी दिन-रात चौबीस घंटे सेवा में लगी रहती, न उन्हें सोने का ख्याल था, न खाने का। यह तो निश्चय ही है कि उसके बिना वह यह कायाकल्प कभी नहीं कर सकते थे, और न फिर से जीवन प्राप्त कर सकते थे। 28 सितम्बर 1949 के सुबह जब वह प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार भाग ले रहे थे, पसीना छूटते-छूटते बेहोश हो गये। मल-मूत्र अपने आप निकल गया। ऐसी खतरनाक कायाकल्प के लिए किसी को सलाह नहीं देनी चाहिए। जानकीदेवी को तो मालूम हुआ कि बस यह अन्तिम समय है। वह चीख उठी। चन्द मिनट बाद भैया को होश आया, तो पत्नी पैर पकड़कर गिड़गिड़ाने लगीं—"अब इस चिकित्सा को बन्द करिये।" स्वामी तो अपने शरीर को प्रयोग का साधन बहुत पहिले से बनाते आये रखते थे। यदि बेहोशी की घड़ियाँ अन्तिम मिनट होतीं, तब भी उन्हें पर्वाह नहीं थी। वह चाहते थे कि बीमारी को जड़-मूल से खतम कर दूँ। अभी भी एक कलाई में जरा-सा दर्द बाकी रह गया था, लेकिन पत्नी के आँसुओं को वह देखने के लिए तैयार नहीं थे। कायाकल्प छोड़ दिया, और मायोक्राइसिन का इन्जेक्शन लिया, जिससे वह दर्द भी जाता रहा।

दो साल की इस बीमारी में एक बार उन्हें अकस्मात दमा का दौरा हुआ। दो दिन तक बड़ी तकलीफ हुई। पर इस शरीर-संशोधन या कल्प से फेफड़ा इतना निर्मल हो गया, कि फिर दमा उनके पास फटकने नहीं पाया, और पिछले सात सालों में जुकाम तक कभी नहीं हुआ। इस बीमारी के दौरान में खान-पान और औषधि के सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये, और महत्त्वपूर्ण अनुभव प्राप्त किये। भोजन कितनी देर पेट में, आँतों में कहाँ-कहाँ पर रहता है ? कौन-सा भोजन जल्दी और कौन-सा देर में पचता है ? भोजन का क्या प्रभाव शरीर पर पड़ता है ? ये सब बातें उन्होंने पुस्तकों में पढ़ी थीं, अब खुद प्रयोग करके उन्हें देख रहे थे। उनको अनुभव हो रहा था, उक्त कायाकल्प ने उनके जीवन को कम-से-कम बीस वर्ष के लिए बढ़ा दिया है। कायाकल्प करते समय इन पंक्तियों के लेखक को स्वामीजी का परिचय नहीं हुआ था। परिचय प्राप्त करने का समय एक साल बाद आया, और घनिष्ठता होने में एक साल और लगा। यह जरूर है कि छह साल पहिले जैसा कर्मठ उनको देखा था, आज छह साल बाद भी वह वैसे ही हैं। बाल सारे सफेद हैं, यह तो किसी-किसी के तीस वर्ष पहुँचने तक भी हो जाते हैं। पर न उनके चेहरे पर झुर्रियाँ हैं, और न चलने में पैरों में जरा भी सुस्ती आई है। साठ वर्ष से ऊपर होकर इन पंक्तियों का लेखक अनुभव करने लगा है कि साठ की सीमा पार करने पर जल्दी शरीर का अपना जीवन और शारीरिक क्रिया की शक्ति कम होने लगती है। पर स्वामीजी में वैसा कोई परिवर्तन नहीं मालूम होता। यदि उनकी बात ठीक है, तो 80 साल की आयु तक तो उन्हें जरूर जीना है।

हर बात से वह प्रयोग को ज्ञान का सबसे बड़ा साधन मानते रहे हैं, यह भैया के जीवन से साफ मालूम होता है। यदि वह योग में सफल हुए होते तो इसमें सन्देह नहीं, वह हमारे देश की सबसे पवित्र और महान आकर्षक समाधि को प्राप्त होते और उनका समाधि प्राप्त करना लोगों को उल्लू बनाने के लिए न होता, बल्कि

उनकी सहज जिज्ञासा उन्हें समाधि के आसपास घेरे बादलों को फाड़कर असली तत्त्व पर पहुँचने में मदद करती। वह समाधि को असम्भव बात क्यों कहते, जबकि स्वयं अनुभव से उसकी कितनी ही बातों को देख चुके थे। हाँ, यह जरूर साबित करते कि समाधि के लिए न किसी आत्मा की जरूरत है, न परमात्मा की। ईश्वर पर बिल्कुल विश्वास न रखते भी, मन या आत्मा के भौतिक तत्त्वों की उपज होते भी समाधि के साक्षात्कार में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अन्तिम स्थिति पर पहुँचने के समय उन्हें यदि कुनाँव के जंगलों में रहने का अवसर मिला होता और दो दिन-तीन दिन पर भी दो-दो रोटियाँ रोज के हिसाब से उनको मिल जातीं तो वह अपनी लगन से समाधि के रहस्य को ढूँढ़ निकालने में सफल होते। उस समय इतना भी प्रबन्ध नहीं हो सका, यह दुर्भाग्य की बात है।

चिकित्सा में भी हम देख चुके हैं, वह कितने निरालस और कठोर जीवन बिता रहे थे। उसके पीछे वह वैद्य होकर नहीं, बल्कि फकीर होकर पड़े थे। आयुर्वेद की दवाइयों तथा अनुभूत योगों और बूटियों को उन्होंने बड़े परिश्रम से जमा किया और तब तक उन्हें स्वीकार नहीं किया, जब तक कि उनके गुणों को प्रयोग करके देख नहीं लिया। उन्हीं योगों औषधि-निर्माण की विधियों को उन्होंने अपनी फार्मेसी में प्रयुक्त किया। आयुर्वेद वस्तुतः एक वैज्ञानिक चिकित्सा-सिद्धान्त है। उसकी परिपाटी प्रयोग पर निर्भर है। पर इसके आसपास बहुत-सी खुराफातें वैद्यों की परम्परा ने जमा कर दी हैं, जिनको हटाकर उस पर लगी कीचड़ धोकर असली हीरे को बाहर लाना भैया ने अपना कर्तव्य समझा। इसीलिए वह पंचभूत के पीछे डंडा लेकर पड़े, वात-पित्त-कफ–त्रिदोष–पर जबर्दस्त प्रहार किया। जब उन्होंने देखा कि डॉक्टर साइंस के नवीनतम आविष्कारों को अपनी चिकित्सा और औषधि-निर्माण में प्रयोग करते हैं और उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, तो लोगों के विरोध की कोई भी पर्वाह न करके उन्होंने लकड़ी या कण्डे के ईंधन की जगह गैस, बिजली और पत्थर के कोयले को ईंधन के तौर पर इस्तेमाल किया। आदमी के हाथ की जगह मशीनें अच्छी तरह काम कर सकती हैं, इसे भी प्रयोग करके दिखला दिया। ये बातें बतलाती हैं कि भैया रूढ़ि को मानने के लिए तैयार नहीं, चाहे वह कितनी ही पुरातन और पवित्र हों। चिकित्सा-विधि का प्रयोग अपने शरीर पर करने से वह नहीं चूके। इसी के पीछे एक कान गँवा दिया। कायाकल्प करते-करते तो काया को ही उसके अन्त तक पहुँचाने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी। उन्हें जितना आयुर्वेद के आसपास घिरे मिथ्या विश्वासों से चिढ़ है, उतना ही तीन-चार हजार वर्ष के हमारे वैद्यों के तजर्बों और उनकी औषधियों पर विश्वास। आयुर्वेद की कितनी ही औषधियों को डॉक्टरी चिकित्सा-पद्धति ने स्वीकार कर लिया है। यदि रूस या चीन जैसा शासन होता तो हमारी हजारों औषधियों की वैज्ञानिक ढंग से बहुत अच्छी तरह छान-बीन की जाती और लाभ उठाया जाता। हमारी तरह चीन में भी अपनी प्राचीन चिकित्सा-पद्धति है। चीन के साथ हमारे देश का हजार वर्ष तक बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। हर क्षेत्र में बहुत प्रकार के दानादान हुए। यह एकतरफा व्यापार नहीं था। चीन को हमने अपनी सर्वश्रेष्ठ वस्तुओं को प्रदान किया। कला, साहित्य, मूर्तिकला, चित्रकला, दर्शन, संगीत–सब उनके सामने रख दी गईं और उनमें से बहुतों को चीन ने सहर्ष स्वीकार कर उन्हें सुरक्षित रक्खा। हमने भी वहाँ से बहुत-सी भौतिक महान देनें स्वीकार कीं–चीनांशुक चीन की ही देन है। नासपाती, आड़ू, लीची जैसे कितने ही मधुर फल चीन ने हमें दिये। विचारों के क्षेत्र में भी हमने कितनी ही चीजें लीं, जो इतनी आत्मसात हो गई हैं कि उन्हें पहचानने के लिए विशेष परिश्रम की जरूरत है। हमने अपने आयुर्वेद का दिल खोलकर चीन में प्रयोग किया। हमारे भिक्षुओं से चीनी भिक्षुओं ने आयुर्वेद का अध्ययन किया, हमारे औषधि-निर्माण के विधान को प्रयोग के साथ सीखा। शताब्दियों तक भारतीय या चीनी भिक्षु चिकित्सा में सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। हमारे आयुर्वेद ने चीन के चिकित्सा-तत्त्वों को अपने भीतर शामिल कर लिया, या कहिए हमारे आयुर्वेद को चीनी चिकित्सा-पद्धति ने अपने में मिला लिया। नवीन चीन किसी चीज को पुरानी होने से उसे बेकार नहीं समझता। उसने अपनी चिकित्सा-पद्धति और आधुनिक चिकित्सा-पद्धति के बीच की दीवारों को ढा दिया, दोनों पद्धतियों को साथ मिलकर काम करने का अवसर दिया, और दोनों पद्धतियों के लिए आधुनिक विज्ञान के साधनों को एक साथ सुलभ कर दिया। हरेक वैद्यकीय निदान को आधुनिक तुला पर तौलने का वहाँ प्रयत्न किया जा रहा है, हरेक औषधि का रासायनिक,

जीव-रासायनिक विश्लेषण करके उसके गुणों का निर्धारण किया जा रहा है। वहाँ पुराने अनुभवों से प्राप्त एक भी वस्तु या विधि को भूलने की कोशिश नहीं की जाती।

भैया भी चाहते हैं कि आयुर्वेद के बारे में ऐसा ही कुछ किया जाये। बीस साल पहिले इसी ख्याल को लेकर उन्होंने लाखों की अपनी फार्मेसी को विज्ञान-परिषद के हाथ में देना चाहा था। अब भी उनके दिमाग से वह ख्याल दूर नहीं हुआ है, कायाकल्प के कारण वह अपनी आयु बीस वर्ष बढ़ा चुके हैं, अर्थात इन पंक्तियों के लिखने के समय अब भी तेरह साल की गारण्टी उनकी जेब में है। फिर कार्यरूप में परिणत करने का अवसर न मिलने का ख्याल करके उनका मन लम्बे स्वप्नों को देखने से कैसे कुण्ठित हो सकता है ? दो साल के करीब हुए। एक दिन भैया बड़ी गम्भीरता से कह रहे थे–दिल्ली में मकान तो बन गया। मैं चाहता हूँ, वहाँ आधुनिक साधनों से सम्पन्न एक आयुर्वेदिक प्रयोगशाला स्थापित की जाय। उन्होंने उसके पैसे-कौड़ी का भी हिसाब लगा लिया, और एक प्रसिद्ध आधुनिक ढंग से शिक्षित वृद्ध वैद्य को भी साथ देने के लिए तैयार कर लिया था। यह कल्पना सुनकर मैंने भी बिना घुमाव-फिराव के सीधे प्रहार किया–"बात आपकी ठीक है, पर यह लाखों नहीं करोड़ों के खर्च की बात है। इसका फल साल-दो साल में नहीं निकल सकता, यदि दो-चार साल में ही काम आगे न चल सका, तो सारा किया-कराया व्यर्थ हो जायगा। प्रयोगशाला के लिए आधुनिक यन्त्र दस-पाँच हजार में नहीं आयेंगे। अनुभवी प्रयोग-संचालन के लिए निर्वाह-भर तो चाहिए ही। दिल्ली में घर के अतिरिक्त तीन सौ रुपया मासिक के बिना काम नहीं चल सकता। फिर उसे सहायक और दूसरे आदमियों की भी जरूरत पड़ेगी। आरम्भ में ही हजार-डेढ़ हजार रुपया महीने से कम खर्च नहीं आयेगा। 'काज़ीजी दुबले शहर के अन्देशे से' की बात न कीजिये। भारत की और बहुत-सी समस्याएँ, जिस तरह सच्चे अर्थ में समाजवाद-साम्यवाद के आये बिना हल नहीं हो सकतीं, वैसे ही आयुर्वेद की भी हल नहीं हो सकतीं। एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता, इसके लिए सारे राष्ट्र की शक्ति की जरूरत है। अनुसंधानशाला को खोलकर आप बुरी तरह फँस जायेंगे। फिर निकलने का भी रास्ता नहीं मिलेगा। साधनों के जुटाने में कर्ज में फँसेंगे, कार्यकर्ताओं को वेतन समय पर न मिलने पर दूसरी आफत सिर पर पड़ेगी।" भैया ने कड़वी-मीठी बातें सुन लीं। उसके बाद फिर उसकी चर्चा नहीं की, लेकिन कह नहीं सकता, संकल्प अभी भी उनके दिमाग से दूर हुआ है या नहीं।

परिशिष्ट

1. **वामीवटी**–दाद की दवा जो पाँवटा के पास के ठाकुर साहब ने बतलाई थी, वह इस प्रकार थी–नीला थोथा 5 तोला, फिटकिरी 5 तोला। दोनों को पीसकर कढ़ाही में डालकर, गरम करने पर पहिले वह पिघल जायेगा, फिर फूलकर सफेद नीलिमा लिये उनकी खीलें वन जायेंगी। उतारकर उनमें 5 तोला चित्रक (चीता) की छाल का चूर्ण मिला दें। पानी के छींटे देकर घोटकर बेर के बराबर गोलियाँ वना लें, यह गोलियाँ दाद पर भी बहुत अच्छा काम करती हैं। आतशकवालों को भी इन्हें खिलाया जाता है। खाने पर वमन और विरेचन होता है, इसीलिए इन गोलियों का नाम बामीबटी है। जिस साधु ने यह दवा ठाकुर साहब को बतलाई थी, उसी ने नाम बामीबटी रक्खा। पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी की यह बड़ी उपयोगी दवाओं में है।

2. नासूर, भगन्दर का योग–रीटा के फल के छिलके का चूर्ण बना उसमें बराबर मात्रा में रसकपूर तथा गुड़ डालकर खूब कुटाई करें। जब गोली बनने लायक हो जाये, तो दो-दो रत्ती की गोलियाँ बना लें। पानी के साथ एक गोली सवेरे और एक गोली शाम को निगल जायें। पथ्य–चने के आटे की रोटी घी से खायें। नमक, दाल, सब्जी आदि कुछ भी न खायें। एक सप्ताह के सेवन से नासूर और भगन्दर में आराम होने लगता है। स्वामीजी ने बहुत-से रोगियों पर इसकी परीक्षा की, और आधे से अधिक रोगी इस दवा से अच्छे हो गये।

प्रसूता ज्वर-रोग–पहाड़ में भी मैदान की तरह प्रसूता ज्वर का अधिक प्रकोप देखा जाता है। एक पहाड़ी वैद्य को एक बूटी मालूम थी। वह तीन बार उसे देता, और सन्निपात की स्थिति में पहुँची रोगिणी को भी आराम हो जाता। उसके पास दूर-दूर से रोगी आते थे। स्वामी सात दिन तक वैद्य के पास रहे, लेकिन वह दवा बताने के लिए तैयार नहीं था। वैद्य के पास गेरुआ रंग का कोई चूर्ण था। उसका तो दिल नहीं पसीजा, लेकिन उसकी स्त्री भली निकली। उसने उस गेरुआ रंग के छिलके को दे दिया, जिसका पहचानना स्वामीजी के लिए मुश्किल नहीं था। उस चूर्ण को उन्होंने मिलाकर देखा। मालूम हुआ, रूप, रंग, स्वाद सबमें कायफल के छिलके जैसा है। पहाड़ों में कायफल के वृक्ष बहुत होते हैं। इसी के चूर्ण की चार-पाँच मासे की एक खुराक वह देता था, जिससे प्यास शान्त हो जाती और ज्वर घट जाता। स्वामीजी को इस योग को पूरा आजमाने का कभी मौका नहीं मिला, क्योंकि वैसी भयंकर रोगिणी को देखने का अवसर नहीं मिला।

3. कुचला योग–शुद्ध कुचला 1 तोला, शुद्ध गंधक 1 तोला, बड़ी पीपल 1 तोला। तीनों को कूट-पीसकर शहद में मिला दो-तीन रत्ती की गोलियाँ बना लें। पानी के साथ एक गोली रोज दे दें।

4. उपदंश धूनी–सिंगर्फ (इंगुर) 1 तोला, मैनसिल 1 तोला, कटेली 1 तोला, अजवाइन 1 तोला, सत्यानाशी का बीज 1 तोला, देशी मोम 1 तोला। सबको कूट-पीसकर मोम को पिघला उसमें चूर्ण को मिलाकर रख लें। रोगी को एक जालीदार कुर्सी पर कपड़ा उतार नंगा बैठाकर एक कम्बल से गले के नीचे तक ढाँक दें। कम्बल सारी कुर्सी को भी ढाँके रहे। धूपदानी या किसी पात्र में दो-चार दहकते कोयलों को रखकर उक्त धूनी को एक तोले के करीब डालकर कुर्सी के नीचे रख दें। धुआँ रोगी के इन्द्रिय के घावों में खूब लगाना चाहिए। दो-तीन बार धूनी देने से घाव सूख जाता है। इसके साथ कोई खाने की भी दवा दी जा सकती है। आतशक के अलावा दूसरे भी जहरीले फोड़े-फुन्सियों में यह धूनी लाभ देती है।

5. द्रव संखिया–1 तोला संखिया को 5 तोला शीरा के बीच एक कलछी में रख डूबने-भर का सरसों का तेल डालें। फिर आग पर रखकर इतना गरम करें कि तेल आग से जल उठे। जब तेल में आग लग जाये, तो कलछी को आग पर से उतारकर ठण्डा होने के लिए रख दें। फिर संखिया की डली को निकालकर ओस या नमीवाले स्थान में चीनी की प्याली में रखकर कुछ दिन पड़ा रहने दें। इस तरह रखने से वह अपने ही पड़ा-पड़ा द्रव (तरल) बन जायेगा। इस रस को सींक में डुबोकर मक्खन में लगाकर खिलायें, जिससे जुलाब और वमन होता है, और रक्त का विकार शांत होता है।

6. टाइफाइड (मंथरज्वर) औषधि–1 तोला खूब बड़ा; 14 दाने काला मुनक्का का पानी में काढ़ा बनायें। भृंगराज बारहसिंगा को आग के पत्ते में लपेटकर बनाई भस्म की 1 रत्ती मात्रा शहद में मिलाकर चटा दें और ऊपर से काढ़े को पिला दें। भोजन सिवा जल और काढ़े के कुछ नहीं देना चाहिए।

7. अश्वकंचुकी–कब्जवाले बच्चों को इसकी एक या दो गोली रात को दे देने से ठीक हो जाती है।

8. नीलकंठ रस–कलमी शोरा 3 तोला, लोटासज्जी 3 तोला, सफेद फिटकरी 3 तोला, लालकसीस 3 तोला, सोहागा 1 तोला, गंधक 1 तोला, नीलाथोथा 3 मासा, शुद्ध ताँबा 6 मासा। ताँवे के बारीक पत्तर को कैंची से काटकर चावल के बरावर टुकड़े बना लें। सबको कूटकर कड़वी लौकी के भीतर भर उस पर कपड़मट्टी चढ़ाकर सुखा लें। इस तुम्बी को 30 सेर कोयले या एक मन कण्डे की आग में जला दें। इस प्रकार ताँबे की भस्म वन जायेगी। इसकी खुराक की मात्रा आधी रत्ती से दो चावल के बराबर है, अर्थात इसे तिनके पर चढ़ाकर देने की जरूरत है। उक्त महात्मा इस दवा को दमा, गठिया, आतशक, रक्त-विकार, सन्निपात, बवासीर आदि कई रोगों पर देते थे। वह इस दवा को तीन दिन दूध के साथ और तीन दिन घी या मक्खन के साथ दिया करते थे। स्वामी ने दस-ग्यारह दिन रहकर महात्मा से यह दवा सीखी।

9. वालकों की चूंडी–गिलोय का सत, बंसलोचन, जहर मोहरा, छोटी इलायची का दाना, दरियाई नारियल, कमलगट्टे की गरी, धनिया के चावल, सब चीजें बराबर-बराबर लेकर खूब पीसकर शीशी में रख लें। इसकी खुराक 4 रत्ती से 1 मासे तक है। दाँत निकलने के वक्त या गर्मियों में कौवे के लटक जाने पर बच्चों को हरे-पीले दस्त लगने लगते हैं, और उनकी गरदन पतली पड़ जाती है, प्यास बहुत लगती है। पंजाब में इसे घण्डी या चुण्डी कहते हैं। रोग के आरम्भ में दवा को अँगुली पर लगाकर कौवे को दबाया जाये, तो बच्चा दो-तीन दिन में ठीक हो जाता है। टौंसिल में भी इससे लाभ होता है।

10. स्वर्णभस्म–1 तोला सोना लेकर सोनार के पास जा उसे गलवाना चाहिए। इसमें दो रत्ती सीसा डाल उतारकर गरमागरम कुटने से सीसे के कारण वह चूर-चूर हो जाता है। फिर उसे गरम ही खरल में डालकर पिसवाएँ, तब 1 तोला कजली मिलाकर कचनार के फूल के रस में उसे खूब घुटवाएँ। फिर छोटी-छोटी टिकिया बनाकर सुखा बिना सम्पुटक कण्डों पर कचनार का चूर्ण बिछाकर दूसरे कण्डे से उसे ढँक दो कण्डों की आँच दें–जब एक कण्डा बुझ जाये, फिर दूसरे कण्डे में आँच दें। सात बार आँच देने पर सोने की भस्म तैयार हो जाती है। इस भस्म से बसन्तमालती रस बनता है।

शरीर की क्रिया-क्षमता–प्राणी जीवन धारण करते ही संघर्ष में पड़ जाता है। यदि माता बीमार है, तो गर्भ का सम्वर्धन ठीक से नहीं होता। माता का दोष गर्भ के लिए घाटे का सौदा बन जाता है, जिसको लेकर वह जीवन-संघर्ष करने में निर्वल साबित होता है। अनुकूल धूप, नमी, और हवा के बिना जैसे खेत में बोया बीज ठीक से बढ़ नहीं पाता, यही हालत गर्भस्थ प्राणी की होती है। माता के रक्त में जितने रोगों का प्रभाव है, वह गर्भ को दायभाग में मिलते हैं, और जीव के कोशों के दोष तो आणुवंशिकता के तौर पर इसी जीवन-भर नहीं, बल्कि अगले जीवनों–सन्तानों–तक के लिए उपहार में मिलते हैं। इन सब संघर्षों से सही-सलामत गुजरने पर गर्भ 280 दिनों बाद पेट से बाहर आता है। आने के समय भी उसे कम मुसीबत का सामना नहीं करना पड़ता। माता अति कृश हो, या और कोई कारण हो, और समय पर आधुनिक साधन नहीं जुट सके, तो बच्चा जीवन खोकर ही माता के जठर से बाहर आता है। उसकी नाल को छेदते वक्त पुरानी दाइयाँ न हाथ के सफाई का ख्याल करतीं, न हथियार के। इसके कारण रोग के कीटाणु खुले घाव में भरते जाते हैं।

इस वक्त भी बालक को जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ता है। यदि कीटाणु प्रबल सावित हुए, तो शिशु को एक आँख-भर दुनिया को देखने का ही अवसर मिलता है, फिर वह सदा के लिए विदा हो जाता है। यदि उससे बचा, तो माता को यह पता नहीं कि दूध कितना और कब देना चाहिए।

चाहे अधिक दूध पीने से पेटदर्द हो और बच्चा रो रहा हो, तो भी माँ अपना स्तन उसके मुँह में डाले जाती है। जन्मजात शिशु में स्वचालित मशीन की तरह खान-पान, मल-मूत्र-त्याग की क्रियाएँ होती हैं। उसमें चेतना नाम मात्र को ही रहती है। वह कोई भी बुद्धिपूर्वक काम नहीं कर सकता। इसीलिए वह नहीं जानता कि स्तन को कितनी देर चूसना चाहिए। स्तन के मुँह में लगाने पर अपने आप चूसने की क्रिया शुरू हो जाती है। स्तन मिलते ही वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। उसमें दूध पीने का आनन्द ही उसे नहीं मालूम होता, बल्कि स्पर्श का भी उसे विशेष आनन्द होता है, जिसे फ्रायड कामवासना का ही एक रूप मानते हैं। यदि मात्रा से आहार नहीं दिया गया, और अधिक आहार पचकर रक्त बनने लगा, तो कोशाएँ (सेल) फूलने लगती हैं—रक्त में प्रोटीन की मात्रा अधिक होने पर कोशाएँ भी उनसे भरी होती हैं। श्लेष्म कला में भी उसकी अधिक मात्रा पहुँचती है, और वह भी फूल उठती है। जब उसे आत्मसात करने में वह असमर्थ होती है, तो कला की प्रोटीन बाहर आने लगती है। इससे बच्चों की नाक से बलगम बहने लगता है। श्लेष्म या बलगम एक प्रकार की प्रोटीन है, जिसे आत्मसात करना जरूरी है। मात्रा से अधिक होने पर फिर उसे कहीं से बहाना जरूरी है। बच्चों की नाक बहने का मुख्य कारण यही है। बलगमी (प्रोटीनवाली) झिल्ली जब बलगम से ज्यादा भरी रहने के कारण फूल जाती है, तो उससे साँस का रास्ता रुकने लगता है। नाक का मार्ग अधिक तंग होने से श्लेष्म के आने पर वह बन्द हो जाता है, फिर बच्चा मुँह से साँस लेने लगता है। प्रकृति ने सभी प्राणियों को साँस लेने का ऐसा साधन दिया है कि उसके उपयोग से हवा में उड़नेवाले गंधवान् अणुओं का ज्ञान नाक रख सके, और विषैली तथा अरुचिकर गंधों से बचा जा सके। मुँह से साँस लेने पर गंध शिशु के मस्तिष्क के गन्धबोधक केन्द्र में नहीं पहुँच सकता। इसके कारण बच्चा का स्वास्थ्य बिगड़ सकता है। जब तक बच्चा अबोध है, तब तक माता-पिता का कर्तव्य है कि बच्चे के लिए उचित मात्रा सहित पथ्य भोजन समय के साथ दिया करें। आधुनिक ढंग से पले किसी यूरोपीय बच्चे की नाक बहती आप नहीं देख सकते, जबकि भारतीय बच्चों में 80 प्रतिशत इसके शिकार हैं! यह नाक बहना चेतावनी है कि लड़के का शरीर ठीक से काम नहीं कर रहा है, और यदि इस पर ध्यान नहीं दिया गया, तो कई तरह की बीमारियों में वह पड़ सकता है।

अधिक मात्रा में और अधिक समय खिलाने के ही कारण दस्त, पेचिश, पेटदर्द या अजीर्णता होते हैं। बालकाल में इससे मुक्त न होने पर बढ़ने पर ये बातें उसकी आदत में शामिल हो जाती हैं। शहरों में शारीरिक श्रम से वंचित लोग सारे दिन कुछ-न-कुछ चबाते रहते हैं। इससे राष्ट्रीय खाद्य-सामग्री की हानि भारी फजूलखर्ची की बात तो होती ही है, लेकिन इससे भी बढ़कर डर है बीमारी के शिकार होने का। जिनके शरीर में रसों की मात्रा खपत से ज्यादा बनती हैं, ऐसे व्यक्तियों की शरीर की कोशाओं (सेलों) का काम बहुत अधिक बढ़ जाता है, जिनके कारण उनकी कार्यक्षमता घट जाती है। क्षमता घटने पर संचारी रोगों का प्रहार जल्दी असह्य हो जाता है। खसरा, चेचक, मोतीझरा, टाइफस, टी. बी., मरोड़ा आदि के कीटाणुओं को ऐसा शरीर निमन्त्रण देता है, बच्चा हो या जवान, उसके शिकार हो जाते हैं। हमें यह समझना चाहिए कि प्राणी के शरीर में जो जीवन-व्यापार चलते रहते हैं, उन्हें एक सीमा तक ही शरीर चला सकता है। यदि सीमा पार की गई, तो अनर्थ की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। अधिक खाने पर यदि पचा सके, तो मोटापा बढ़ेगा, जो शरीर की कार्यक्षमता को ही कम नहीं करता, बल्कि हृदय-रोग, डायबिटीज़ आदि बीमारियों का लक्ष्य बनता है। बच्चों में तो और भी वह अनर्थ का कारण होता है, क्योंकि अपने भीतर होते बहुत-से दोषों को वह मुँह से कह नहीं सकते।

आदमी की जो मनोवृत्ति चिरअभ्यास से बन जाती है, उसमें परिवर्तन करना मुश्किल है। स्वामी ने जवानी में योग और अनासक्ति का अभ्यास किया था, जिसकी अमिट छाप किसी-न-किसी रूप में उनके जीवन पर पड़नी जरूरी थी। उन्होंने लाखों की सम्पत्ति पैदा की, जिसका सदुपयोग करना उन्हें अभीष्ट है। वह जानते हैं, उसे वह अपने साथ नहीं ले जा सकते। अब तो बल्कि वे चाहते हैं कि व्यवसाय से हाथ हटाकर शान्तिपूर्वक

जीवन व्यतीत करें। चाहा भी कि अपनी फार्मेसी को उसके कर्मचारियों की सम्पत्ति बना दें और अपने पाँच सौ रुपये मासिक-भर से वास्ता रक्खें। पर कर्मचारियों ने दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। इसका विवरण उन्हीं के शब्दों में लीजिए–

"जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने आपसे इस बात का जिक्र किया था कि फार्मेसी मैं अपने नौकरों को दे दूँगा, और उससे केवल पाँच सौ रुपया मासिक खर्च के लिए लेता रहूँगा। यह बात मैंने अपने समस्त मित्रों और कर्मचारियों को एक बार नहीं, कई बार कह दी थी। मेरी दूकान के नौकर दो वर्ष से माँग करते चले आ रहे थे कि हमारी तरक्की की जाय। उन्हें बतला चुका था कि जिस-जिस ग्रेड तक वेतन-वृद्धि का प्रश्न है, वह तो समाप्त हो चुका है, उससे अधिक नहीं बढ़ सकता। ग्रेड योग्यता, काम, श्रम और सेवा-काल से सम्बन्धित है, उसमें तो अब वृद्धि की कोई गुंजाइश नहीं है। अकस्मात मेरे ऊपर जो मुकदमा आरम्भ हो गया है, जब तक वह समाप्त नहीं हो जाता, तब तक तो मैं फार्मेसी आप सबके नाम नहीं कर सकता। मुकदमे के समाप्त होने पर मैं फार्मेसी को लिमिटेड कम्पनी के रूप में बदल दूँगा, जिसमें सारे कर्मचारी शेयर-होल्डर (भागीदार) होंगे। वेतन सबका दूना कर दूँगा। इस योजना का मसौदा भी बना पड़ा है। फार्मेसी से आप सबको जीवन-भर, बल्कि अगली सन्तानों तक को सहारा बना रहेगा। मुझे केवल पाँच सौ रुपया चाहिए। वह भी जीवन पर्यान्त, पीछे कुछ नहीं।··· जब-जब वह कोई माँग करते या बात चलती, तो मैं यह सारी स्थिति कर्मचारियों के सामने दोहरा देता। वास्तव में मेरा चित्त फार्मेसी से उपराम कर चुका है। पहिले संकल्प था कि बिना पैसे कैसे लक्षाधीश बना जा सकता है। वह साध पूरी हो चुकी थी। अब तो इच्छा इतनी ही थी कि शेष जीवन मसूरी या कहीं आसपास के स्थान में निश्चिन्त हो व्यतीत करूँ। मगर यह सुख बदा नहीं है।

"नवम्बर की 10 तारीख (1956) को अमृतसर से सूचना आई कि कर्मचारियों ने मिलकर एक सभा बना ली है, मजूर-संघ के सेक्रेटरी से परामर्श लेकर यह काम किया है। वह लोग बोनस, वेतन-वृद्धि आदि की माँग लेबर इन्स्पेक्टर द्वारा करनेवाले हैं। कुछ दिनों बाद लेबर इन्स्पेक्टर की तरफ से नोटिस आया कि 20 नवम्बर को मेरे दफ्तर में आकर अपना हिसाब-किताब दिखाओ, और फार्मेसी मजूर सभा की निम्नलिखित माँगों को पूरा करो : 1. छोटे कर्मचारियों को कम से कम 60 रुपया मासिक वेतन हो, 2. दस रुपया वार्षिक वेतन-वृद्धि हो, 3. कम-से-कम तीन वर्ष का बोनस दो।

" नोटिस पाकर मैं अमृतसर पहुँचकर लेबर इन्स्पेक्टर से मिला। उससे सारी बात बतलाई–मैं अपनी फार्मेसी कर्मचारियों को ही दे रहा हूँ। फार्मेसी की वार्षिक आय 15 और 20 हजार रुपये के बीच रहती है। उसमें से मैं केवल छह हजार लेकर बाकी कर्मचारियों को ही दे रहा था। क्या आप उन्हें इतना दिला सकेंगे। मैंने स्पष्ट बतलाया कि कर्मचारियों के भाग फूट गये, जो आपके पास आये।

" दो दिन तक बातचीत होती रही। कर्मचारियों को फिर भी मैंने कहा कि आप लोगों को इस संघर्ष से बहुत थोड़ा मिलेगा। मैं जितना देना चाहता हूँ, वह इससे कहीं अधिक है। आप लोग 15-20 वर्ष से हमारे यहाँ काम करते हैं। आप में मैंने ईमानदारी और वफादारी पाई। कर्मचारियों में से एक ने भी मेरे कथन पर विश्वास नहीं किया। तब मैंने स्पष्ट रूप से कहा दिया–अब मैं फार्मेसी नहीं दूँगा। जो कुछ लेबर इन्स्पेक्टर दिलायेगा, वही दूँगा।

" मैंने लेबर इन्स्पेक्टर के सामने एक मास का बोनस देना स्वीकार किया, और जिनका वेतन 40 रुपये रक्खा था, उनकी क्रमशः उन्नति 60 तक की मान ली। बड़े कर्मचारियों का 100 से 120 तक का ग्रेड स्वीकार किया। इससे अधिक वेतन पानेवाले कर्मचारियों की वेतन-वृद्धि का कोई सवाल ही नहीं था। लेबर इन्स्पेक्टर ने मेरी बात मान ली। मसौदा बना, 6 कापियाँ टाइप कराईं, जिन पर मेरे, लेबर इन्स्पेक्टर और मजदरू संघर्ष के मन्त्री के हस्ताक्षर हुए। इस निर्णय से हमारे कर्मचारियों को कुल 1200 रुपया वार्षिक की प्राप्ति हुई।

" इस तरह मैं जिस जंजाल से छूटना चाहता था, उसी में फँस रह गया।"

सिंहल घुमक्कड़ : जयवर्धन

भूमिका

'सिंहल घुमक्कड़ःजयवर्धन' की जीवनी आगे के पृष्ठों में लिखी गई है। उसके देखने से यह मालूम होगा कि स्वामी की भविष्यवाणी पर लोगों को बहुत विश्वास था। उनका अपना विश्वास कुछ भी नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। विश्वास करनेवालों में साधारण लोग नहीं थे। युनिवर्सिटी के प्रोफेसर, बड़े-बड़े उपाधिकारी, वकील और बैरिस्टर, बुद्धि-बल में मुहर लगे, यूरोप से लौटे लोग भी थे। तिब्बत के पिछड़े लोग ही उनकी भविष्यवाणी स्वीकार नहीं करते थे। इसमें शक नहीं, अपने तजर्बे से उन्हें मालूम हो गया कि भविष्यवाणी घुमक्कड़ी का अच्छा सम्बल हो सकता है। उन्होंने कभी इसे धन जमा करने का साधन नहीं बनाया। कुछ बातों में वह अबनार्मल—असाधारण—हैं। रुपया आता, उसे वह खर्च डालते; कल की उनको न जवानी में परवाह थी, न अब बहत्तर वर्ष की अवस्था में। वह अपनी बीमारी या बुढ़ापे की चिन्ता करनेवाले जीव नहीं हैं। जीवन में वह प्रायः स्वस्थ रहे। बहुत कम समय ऐसा हुआ, जब वह कड़ी बीमारी में पड़े। पीलिया रोग जरूर एक बार आया।

जयवर्धन जन्मजात घुमक्कड़ हैं। ल्हासा में न जाने कैसे एक शहर में अधिक दिनों तक बैठे। पर, वहाँ भी मुहल्ला बदलते रहे, या कहीं-कहीं घूम आते। बाकी समय मुश्किल से वर्ष-छह महीने एक जगह ठहरे। उनका हृदय बहुत साफ है, लेकिन कड़वा सत्य बोले बिना बात नहीं करते। किसी जगह ज्यादा दिन टिकने पर उनके शत्रुओं की संख्या भी बढ़ जाती, विशेषकर ऐसे शत्रुओं की, जो उनके द्वारा अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते। पश्चिमी नेपाल में हमने उनके खोले हुए विद्यालयों को देखा। कैसे उनके प्रभाव में आ विद्यार्थी सब तरह के कष्ट सहने को तैयार हो जाते थे !

जयवर्धन लंका के पहाड़ी गाँव में पैदा हुए। उनका भूगोल का ज्ञान बहुत नहीं था। रास्ते ने ही उन्हें रास्ता बतलाया। चलते वक्त इतना वह जानते थे कि तलेमन्नार के पार भारतवर्ष है, जिसकी भाषा तमिल है। उनका सौभाग्य था कि अपने यहाँ के कुलियों के कारण, वह तमिल से सुपरिचित थे। कुछ वर्ष जो तमिल में रहना पड़ा, उससे वहाँ और भी बातें मालूम हुईं। पर यह कितना भ्रम था ! तमिल भारत के एक कोने की भाषा है। और उसके दूसरे भागों में सबसे अधिक समझ जाती है हिन्दी। जयवर्धन का तमिल, हिन्दी, बंगला, नेपाली और तिब्बती पर एकसमान अधिकार है। हिन्दी व्याकरण के ख्याल से यह अशुद्ध बोलते हैं, पर उसके शब्दों पर उनका पूरा अधिकार हैं। नक्शे को उन्होंने अपनी यात्रा का अंग नहीं बनाया, जबकि हमारे जैसे लोग नक्शे को अपनी यात्रा का प्रथम पथ-प्रदर्शक मानते रहे। इससे उनको कोई हानि हुई, यह मालूम नहीं होता।

वर्षों तक उनकी यात्रा 'स्वान्तःसुखाय' होती रही। जब मैंने उनसे कहा कि आपकी जीवनी मैं लिखना चाहता हूँ तो उन्हें समझ में नहीं आया कि उनकी जीवनी में क्या रखा है। उन्होंने स्वाभाविक तौर से अपनी जीवन-घटना कहनी शुरू की। कहीं कोई नोट नहीं लिया, न स्मरण-शक्ति को तेज करने की कोई जरूरत समझी,

उन्होंने अप्रयास बतलाना शुरू किया। बहत्तर वर्ष की उम्र में कब क्या बीता, इसका मोटा-मोटा ज्ञान भी स्मरण-शक्ति के चमत्कार को बतलाता है। वह हमारे देश के उन घुमक्कड़ों में हैं जो अनेक शताब्दियों से अठारहवीं सदी तक होते रहे। उसी तरह वह निरुद्देश्य घूमते रहे पर उनका घूमना अपने लिए सोद्देश्य था। घूमने में उन्हें आनन्द मिलता था। उन्हें कष्ट भी उठाना पड़ता, पर कष्ट की घड़ियाँ बहुत कम थीं। भविष्यवाणी, देवता और भूत उनकी सहायता करने को तैयार थे। यात्रा करने का ढंग उनका बहुत दिलचस्प है। वह अपने कम हँसते और दूसरों को ज्यादा हँसाते। अपनी जन्मभूमि से कितने उदासीन हैं! कभी उनको ख्याल भी नहीं आता कि सिंहल में भी उन्हें जाना चाहिए। आजकल जाने-आने के लिए पासपोर्ट, वीसा आदि की दिक्कत है। उससे उन्हें यही अच्छा मालूम होता है कि वहाँ न जाएँ। भारतवर्ष तो उनकी दूसरी जन्मभूमि है, जन्मभूमि से भी वह अधिक आकर्षण रखता है। उनकी विचरण-भूमि पहिले हिमालय से परले पार थी। पर अब वह रास्ता बन्द हो गया (अब बर्मा जाना चाहते हैं)। उनकी सहानुभूति सामन्तों और महन्तों की अपेक्षा साधारण जनता से अधिक है। वह किसी वाद को नहीं जानते, पर यह जानने की चेष्टा अवश्य करते हैं कि किसके शासन में जनसाधारण की अवस्था बेहतर होगी। दार्जिलिंग, कलिम्पोंग एवं दूसरी जगहों में उनके पुराने परिचित हैं, जो उनको गुरु के तौर पर स्मरण करते, पर वह देखते हैं कि वे कैसे झूठ बोलने, अपने को बेचने के लिए तैयार हैं। उनकी दृष्टि में ऐसे लोगों की कोई इज्जत नहीं।

गुमनाम साहसी यात्रियों को प्रकट करने में मुझे आनन्द आता है। सरदार पृथ्वीसिंह, चंद्रसिंह गढ़वाली, घुमक्कड़ स्वामी हरिशरणानन्द और जयवर्धन ऐसे ही हैं। भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति के लोगों ने दुनिया को किस रूप में देखा, विशेषकर बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में, उसे मैंने लेखबद्ध किया।

दार्जिलिंग
18-9-1960

—राहुल सांकृत्यायन

1
बाल्य (1889-1914 ई.)

सिंहलद्वीप भारत से बीस मील से अधिक दूर नहीं है। किसी समय वह भारत भूमि का अभिन्न अंग था। आज भी द्वीप और भारत के बीच वह सम्बन्ध इतना स्पष्ट है कि कहीं-कहीं पत्थर जल के एक-दो फुट नीचे दिखाई पड़ता है। कहीं पर भी वह दस-पंद्रह फुट से अधिक नीचे नहीं है। इसीलिए कलकत्ता से कोलम्बो जानेवाले जहाज उसे पार नहीं कर सकते और उन्हें सारे सिंहलद्वीप की परिक्रमा करनी पड़ती है। दोनों स्थल भागों को मिलानेवाला यह भाग सेतु-सा मालूम होता है। इसके कारण इसे राम का बनाया सेतु कहा जाता है। सिंहल का क्षेत्रफल चौबीस हजार वर्गमील और जनसंख्या आजकल एक करोड़ है। एक करोड़ में अस्सी लाख सिंहली भाषा-भाषी हैं, और बीस लाख तमिल भाषा-भाषी। तमिल भाषा-भाषियों में आधे के करीब उन लोगों की सन्तानें हैं, जो हजार वर्ष पहिले जाकर उत्तर सिंहलद्वीप में बस गए। सिंहल का उत्तरी छोर भाषा में बिल्कुल मद्रास जैसा मालूम होता है। वहाँ सभी जगहों में तमिल भाषा बोली जाती है, सिंहली बोलनेवाला कहीं नहीं मिलता। आधे तमिल-भाषी पिछले डेढ़ सौ वर्षों में अंग्रेजों के चायबागानों में कुली बनकर गए। ये यहाँ सिंहली-भाषियों के केन्द्र के पहाड़ों में जाकर बस गए। यदि ये तमिल-भाषी उत्तरी इलाके में जाकर बसे होते, तो शायद उनको समस्या न होती। अस्सी लाख सिंहली-भाषियों में सात लाख ईसाई हैं—अधिकतर रोमन कैथोलिक—हैं। तिहत्तर लाख सिंहली-भाषी बौद्ध हैं। सिंहलद्वीप का मुख्य धर्म बौद्ध धर्म है।

सिंहली-भाषी भू-भाग भी सांस्कृतिक तौर से दो भागों में विभक्त है। एक वह भाग, जिस पर सोलहवीं सदी के आरम्भ में यूरोपियनों का अधिकार हो गया। पहिले पोर्तुगीज़, फिर डच और अन्त में अंग्रेज शासक हुए। यह भू-भाग समुद्र-तटवर्ती था। दूसरा, सिंहल द्वीप के मध्य में अवस्थित पहाड़ी भूमि (उडरट) थी, जो 1814 ई. तक स्वतन्त्र रही। उडरट (ऊर्ध्व राष्ट्र) सिंहल का मेवाड़ की तरह स्वतन्त्रता का उपासक रहा है। इसे अंग्रेज ही उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में अपने अधीन कर सके। इसका उन्हें अभिमान हो, तो आश्चर्य नहीं। इसी वीरभूमि में दस लाख तमिल-चायबागानी बस गए।

स्वतन्त्र सिंहल की राजधानी कांडी प्राकृतिक सौन्दर्य की नगरी है। उसे देखकर कहना पड़ता है—जनु बसन्त ऋतु रही लुभाई।—सिंहल में ऋतु-परिवर्तन उत्तरी भारत की तरह नहीं देखा जाता। वर्षा और गर्मी दो ही भेद हैं। वर्षा होने पर तापमान कुछ नीचे गिर जाता है, पर वहाँ कभी भी इतनी सर्दी नहीं होती कि चादर ओढ़ने की जरूरत पड़े। समुद्र के नजदीक होने से वहाँ गर्मी असह्य नहीं होती। ऋतु-भेद न होने के कारण भूमध्य रेखा की समीपता है, जो छह-सात डिग्री दक्षिण में है। हाँ, पहाड़ों की ऊँचाई से क्रमशः सर्दी बढ़ती है, पर वह भी वर्ष-भर एक-सी रहती है। दार्जिलिंग की तरह सात हजार फुट की ऊँचाई रखनेवाली नुवरएलिया बारहों महीने सर्द रहती है।

कांडी नगर से दस मील दूर रङ्गल्ल सड़क पर अम्बलगामा प्रायः चार हजार फुट की ऊँचाई पर होने से सर्द जगह है। आज से पौन शताब्दी पहिले यह इलाका जंगलों से भरा था, जहाँ भालू, चीते, हरिण आदि

जन्तु रहते थे। हाथी पहाड़ों के निचले भागों को ही पसन्द करते थे। अम्वलगामा में ढाई सौ परिवार बसते थे। उनका काम खेती था। तरकारी, नारंगी, केला, आम, रमवुटान (एक प्रकार की लीची) आदि भी लगाते थे। धान विशेष तौर से बोया जाता था। ऊँची जगहों में मकई और कोदो भी उपजता था। धान एक ही खेत में साल में दो बार होता था। वर्षा भी साल में दो बार होती। सिंचाई के लिए झरने का पानी इस्तेमाल किया जाता था। गाँव में सभी बौद्ध थे। थोड़ी दूर पर बाजार था, जहाँ दूकानदार तमिल-भाषी मुसलमान थे। सिंहल के प्रायः सभी मुसलमान तमिल भाषा बोलते हैं।

अम्बलगामा में किरा उपासक नामक एक गृहस्थ थे। उनकी जीविका यद्यपि कृषि पर निर्भर करती थी, पर वह ज्योतिषी और वैद्य भी थे, घर बनाने के इंजीनियर थे और त्योहार के समय छोड़े जानेवाले बारूद के पटाखे भी बनाते थे। उनकी पत्नी बैवीनोना एक गम्भीर तथा पुत्रवत्सल महिला थी। उस समय की अन्य ग्रामीण सिंहली महिलाओं की तरह उनका अक्षर से सरोकार नहीं था। गाँव के 75 सैकड़े लोग अनपढ़ थे। किरा और बैवीनोना के जीवित छह बच्चों में चार लड़के और दो लड़कियाँ थीं। हमारे भावी घुमक्कड़ नंदा से बड़ा सिर्फ एक भाई था। गाँव दो छोटी नदियों—गाब्बे-लओया और लुनुगलओया—के बीच में पड़ता था। लुनुगलओया के सामने गोडमुन्ना बड़ा गाँव था, जहाँ छह सौ परिवार बसते थे। गाँव में एक बौद्ध विहार था जिसमें दो भिक्षु रहते थे। दीपंकर बड़े थे। सिंहल में स्याम, अमरपुर, रामञ्ञ तीन सम्प्रदायों के भिक्षु मिलते हैं, जिनमें स्याम निकायवालों की संख्या और प्रभाव अधिक है। दीपंकर स्याम निकाय के थे। गाँव में कोई ऐसा परिवार नहीं था जिसके पास गुजारे-भर के लिए खेत न हो। खेती के अतिरिक्त किसी-किसी के पास छोटे-छोटे चायबागान भी थे। वे कच्ची पत्तियों को कारखानों को बेच देते थे। बढ़ई-लोहार का भी काम लोग कर लेते थे, कोई-कोई चायबागान की ठेकेदारी करते थे। किरा उपासक अच्छे खाते-पीते गृहस्थ थे। उनकी भी चाय की छोटी-सी बाड़ी थी, नारियल और फल-तरकारी की बाड़ी भी थी।

उपासक के द्वितीय पुत्र नंदा का जन्म 25 अप्रैल 1889 ई. को हुआ। जव वह पाँच वर्ष के थे, सर्दी के कारण आग के पास बैठे थे; बहन खाना बना रही थी। लकड़ी चलाते वक्त एक कोयला भाई के पैर में लगा, पैर पक गया। दूसरी घटना नौ-दस वर्ष की आयु की है। लुनुगलओया में लड़के नहा रहे थे। नंदा तैरना नहीं जानते थे। एक लड़के ने नीचे झलकते पत्थरों को दिखाकर कहा—गहरा नहीं है, चले आओ।—नंदा जाकर डूबने लगे। हिलते-डुलते पैर धरती से लग गए और डूबने से बच गए।

भात और चावल की रोटी गाँव में मुख्य भोजन था। ताजे नारियल की बुकनी में मिर्च मिलाकर चटनी बना ली जाती थी। मछली भी रोज के भोजन का एक भाग थी, पर नंदा को वह पसन्द नहीं आती थी। माँ कहती—नंदा मछली नहीं पसन्द करता।—नंदा को खाने का उतना शौक नहीं था, न पढ़ने का। उनकी चलती, तो रात-दिन खेलते ही रहते। पेड़ पर चढ़ने में वह बड़े वहादुर थे और उसकी फुनगी तक पहुँच जाते थे। पिछली बार जलते कोयले से पैर में घाव हो गया था, उसे घरवाले धोते नहीं थे। आठ वर्ष के नंदा भी अपने हाथ से साफ नहीं करते थे। घाव पक गया, तो भी उन्हें जिद थी कि घरवाले धोएँ। नंदा दो-तीन कीड़े घाव में डाल चिल्ला उठे—अरे बाप, घाव में कीड़े पड़ गए, कोई निकालता नहीं, मैं मर जाऊँगा।—वाप ने सबको गाली दी—बेटे को कोई नहीं देखता।—जल्दी-जल्दी गरम पानी से धोया, बोरिक पाउडर डाला। कीड़े बड़े-बड़े निकले, जो घाव के नहीं थे। सभी हँस पड़े—कैसे बड़े-बड़े कीड़े नंदा के घाव में पड़ गए!

किरा उपासक स्वयं बच्चे को साल-भर पढ़ाते रहे पर नंदा याद करना चाहते ही नहीं थे। उनको दूसरी शरारतें सूझती थीं। उस इलाके के जंगलों में वेद्दा लोग रहते थे। वे सिंहल के आदिम निवासी थे, जिनका सम्बन्ध हमारे निषाद (सन्थाल आदि) से था। पर वे सदियों से अपनी भाषा भूलकर सिंहली भाषा बोलते हैं। शुद्ध वेद्दा अब कुछ दर्जन ही रह गए हैं, बाकी ग्रामवासी बनकर सिंहली लोगों में मिल-से गए हैं। वेद्दा शरीर में नाटे, छरहरे और कोयले जैसे काले होते हैं। ये पहाड़ी गुफाओं में रहते शिकार, जंगली कन्द-मूल और मधु से जीविका चलाते थे। अन्न से इनको कोई काम नहीं था। कपड़ा भी अनावश्यक था। हाँ, कुल्हाड़ी, छुरी जैसी कुछ लोहे की चीजें आवश्यक थीं। किसी समय वेद्दा लोग दूसरे आदमी के सामने नहीं आते थे। और

निश्चित स्थान पर हरिण के मांस या मधु को रख देते। दूसरे उसके बदले कुल्हाड़ी या छुरा रखकर उनकी चीज ले जाते थे, पर आज से सत्तर वर्ष पहिले भी वेद्दा ग्रामीण लोगों के पास आने से झिझकते नहीं थे।

पिता ने घर में पढ़ाकर हार मान ली। बहुत मारते, पर कोई फल नहीं हुआ। अन्त में उन्होंने पास के गाँव में अमुपिटिया के स्कूल में नाम लिखा दिया। मास्टर मारने में बहुत तेज थे। नंदा ने एक ही दिन में सारे अक्षर याद कर लिये। दूसरे दिन मास्टर ने पुस्तक पढ़ाना शुरू किया। नंदा को अब पुस्तक भी धड़ाधड़ याद होने लगी। घरवाले बहुत खुश हुए। नंदा अपनी कक्षा में सबसे आगे थे। स्कूल में दो मास्टर और मानीटर थे। क्लास के तेज लड़के मानीटर बनकर पढ़ाने का भी काम करते थे। नंदा ने चार क्लास तक मन लगाकर पढ़ा। सिंहली भाषा, कविता, गणित, भूगोल आदि सीखा। उम्मग्गजातक काव्य आधा पढ़ लिया। अब उनके मन ने विद्रोह कर दिया। वह पढ़ना नहीं चाहते थे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों से सिंहल सरकार ने देश से निरक्षरता दूर करने का संकल्प कर लिया था। नंदा स्कूल से भाग जाते। मास्टर गण-सभा (ग्राम-पंचायत) में रिपोर्ट कर देते। गण-सभा के मुखिया दिशानायक ने पिता पर जुर्माना कर दिया। दो-तीन दिन स्कूल जाते, फिर भाग जाते। घर से पढ़ने के लिए जा जंगल में खेलते रहते, फल-फूल खाते, फिर समय पर घर आ जाते। लड़कों को मिठाई दे देते, जिससे वे बात नहीं खोलते थे। एक बार तीस दिन तक नंदा का यही क्रम चलता रहा। पिता ने बाँधकर खूब पीटा। उन्हें दो-तीन बार जुर्माना देना पड़ा। गाँव के ज्योतिषी, इंजीनियर, आतिशबाजी के कारीगर, विहार के उत्सव के मुखिया वेद महात्मा थे, लड़के के कारण उनको बड़ी बेइज्जती सहनी पड़ती।

अन्त में हार मानकर स्कूल भेजने का ख्याल छोड़ देना पड़ा। नंदा बारह-तेरह वर्ष की उम्र में स्कूल से मुक्त हो गए।

पाँच-छह वर्ष तक वह घर में ही रहे। अधिकतर खेलने का काम था। कभी मन हुआ तो खेती में मदद कर देते। आषाढ़ के महीने में कांडी में भारी महोत्सव होता, जिसमें बाजे-गाजे के साथ दर्जनों हाथियों का जुलूस निकलता था। कई तरह के तमाशे होते। नंदा स्कूल के समय से ही कांडी के मेले में जाते थे।

सत्रह-अठारह वर्ष की उम्र में नंदा को पैसा कमाने का एक तरीका मालूम हुआ। अंग्रेजों के चाय के बगीचे पास में चारों ओर थे। नंदा गाँव के कई लड़कों को लेकर ठेकेदार के पास चले जाते थे। घास निकालना, पत्तियों को चुनना आदि काम था। मजूरी एक रुपया रोज थी। सिंहल में एक रुपये में सौ पैसा बहुत पहिले से माना जाता था। पैसे को सत कहते हैं। दूसरे लड़कों को लाने के लिए नंदा को बीस-पच्चीस सत और मिल जाते थे। हफ्ते में पन्द्रह-बीस रुपया कमाकर माँ के हाथ में देते। अपने खर्च के लिए पचास सत (आधा रुपया) ले लेते। उसी से चाय पीते। चाय से भी ज्यादा उनको चुरुट पीना पसन्द था। हर वक्त मुँह में चुरुट सुलगता रहता। पिता ने बहुत कहा, पर नंदा के मुँह से चुरुट छूटता नहीं था। एक दिन चुरुट में पिता ने बिल्ली का पाखाना लगा दिया। छोटे भाई ने बतला दिया, नाक में दुर्गन्ध भी आई। चुरुट के बण्डल को फेंककर नंदा अपनी मौसी के घर चला गया। मौसी माँ से छोटी थी, उसी गाँव में ब्याही थी और माँ से भी अधिक प्यार करती थी। घर से नाराज होने पर नंदा हफ्ता-दो हफ्ता मौसी के घर रहते। मौसी ने चेहरा देखते भाँप लिया। पूछा—क्या है बेटा ?—नंदा रोने लगे—घर में मुझे कोई प्यार नहीं करता, चुरुट में बिल्ली का गुह लगा दिया।—मौसी ने ढाढ़स दिया—लो खीरा खाओ, खाना बना रही हूँ।—मौसा दूसरे ही तरह के थे। वह मजाक करने लगे—हाँ, खूब न चुरुट में बिल्ली का गुह लगाया, अब पियो चुरुट !—नंदा नाराज होकर कहने लगे—मैं आपकी दाढ़ी में माचिस लगा दूँगा।—उस समय सिंहल में दाढ़ी रखने का बहुत शौक था, बाल भी लोग बड़े-बड़े रखते। नंदा का चुरुट तब तक नहीं छूटा, जब तक वह घर में रहे। मुँह की गन्ध दबाने के लिए वह कच्ची सुपारी खाते।

अठारह-उन्नीस वर्ष की आयु से पहिले ही वह गाँव के नौजवानों के सरदार थे। गाँव के सरपंच (विधान अराच्ची) से झगड़ा मोल लेने में भी वह पीछे नहीं रहते थे। वह स्वयं अराच्ची बन बैठे। वेद्दा लोग पाँच-छह की संख्या में ओलोड़् छाल के थैले में सूखा मांस बेचने आते। चौरस्ते पर एक बड़ा बरगद का पेड़ था। उसके पास के पत्थर पर नंदा बैठ गए। वेद्दा लोगों को साथियों ने घेर लिया।—कानून के खिलाफ सूखा मांस बेचते

हो ? लोग बीमार पड़ेंगे। चलो अराच्ची महत्या के पास।

हरिण के मांस के पतले-पतले टुकड़े सुखाकर बंडल बाँधे हुए होते। एक-एक बंडल का दाम पच्चीस-तीस सत होता था। बेचारे वेद्दा गिड़गिड़ाने लगे—महत्या, हमें छोड़ दो।

—नहीं, तुमको जेल भेजेंगे।

बहुत कह-सुनकर एक-एक से तीन-चार बंडल ले, कह दिया—अच्छा, जंगल-जंगल चले जाओ।

बंडल बेचकर दो-तीन रुपया हाथ आ जाता। गाँववालों ने अब नंदा को अराच्ची महत्या कहना शुरू किया।

2
घर से भगे (1915 ई.)

नंदा पच्चीस-छब्बीस वर्ष के हो रहे थे। पिता ने सोचा, ब्याह कर दें, तो शायद कुछ अंकुश हो; लेकिन नंदा उसके लिए राजी नहीं थे। छोटा भाई बड़े भाई से छेड़छाड़ करता रहता। एक बार उसने कुल्हाड़ी के डण्डे से मारा। बस, नंदा उसे जोर से पीटने लगे। माँ ने देख लिया। उसने उन्हें पीछे से आकर जोर से मारा। बेटे ने मुँह फेरकर देखा। वह भागकर एक सप्ताह घर से गायब रहे। मौसी का घर रहने के लिए था ही।

गाँव का एक और नौजवान साथी मिल गया। कांडी गए। उस समय प्रथम विश्वयुद्ध के लिए आदमी भरती किए जाते थे, जिनका काम युद्धक्षेत्र में लड़ना नहीं, कुली का काम करना था। ठेकेदार ने बतलाया, जितने लोगों को भरती करना था, उन्हें भरती कर लिया। निराश हुए। साथी कहीं भाग गया। नंदा गाँव में आए, तो दोनों घरों में झगड़ा हो गया—हमारे लड़के को मारकर यह कहीं फेंक आया।—किसी तरह दस महीने घर में बिताए।

गाँव से दस-बारह मील दूर एक चाय के बगीचे में नया बँगला बन रहा था। वहाँ जा नंदा टीन की चादर लगाने में कारीगर के सहायक बन गए। एक जगह ठहरकर काम करना उन्हें पसन्द नहीं था। दस-बारह दिन काम किया। डेढ़ रुपया रोजाना मजूरी थी। पैसा हाथ में आते उत्तर की ओर चल पड़े। माँतले से आगे दंबुल के जंगलों में जा रहे थे। भालू पेड़ पर फल खा रहा था, आदमी को आता देख पेड़ पर से कूदा। नंदा घबड़ा गए, पर भालू भी कम डरा नहीं था। वह जंगल की ओर भाग गया। पैदल चलते-चलते नंदा अनुराधपुर पहुँचे।

अनुराधपुर सिंहल की प्राचीन राजधानी थी। यहीं सिंहल जाति और संस्कृति का निर्माण हुआ था। अशोक-पुत्र भिक्षु महेन्द्र ने यहीं सिंहलीवासियों को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। अशोक-पुत्री संघमित्रा बोधगया से उस पीपल की शाखा लाई थी, जिसके नीचे बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त किया। वह शाखा वृक्ष के रूप में आज भी अनुराधपुर में मौजूद है। 2300 वर्ष का दुनिया का यह सबसे पुराना ऐतिहासिक वृक्ष अनुराधपुर की शोभा बढ़ा रहा है। अनुराधपुर उजड़ गया था। पिछली सदी के अंत में धीरे-धीरे वहाँ कुछ सिंहली-परिवार आकर बसने लगे, पर अभी भी वह कस्बे का रूप नहीं ले सका था। नंदा ने पहिले घूम-घूमकर सभी पुनीत स्थानों के दर्शन किए, फिर जीविका की तलाश आवश्यक थी। एक नहर के इंजीनियर ने उस नौजवान को अपने पास रख लिया। इंजीनियर जाफना के तमिल थे। वह नौजवान को हिम्मती और होशियार देखकर पढ़ाते भी थे। एक दिन नंदा नापने के लिए पानी में कूदे, तो पैर मगर की पीठ पर पड़ा। सिंहल में छोटे-छोटे तालाबों में भी मगर दिखलाई पड़ता है। मगर भाग गया और नंदा पानी में गिर पड़े। साथियों ने आकर बाहर खींचा। साल-भर काम करने के बाद नौकरी छोड़ दी। छुट्टी के समय धार्मिक पुस्तकें पढ़ा करते थे। जाफना की बोली तमिल है। चायबागान के कुलियों के सम्पर्क से नंदा को तमिल आ गई थी।

गाँव का आदमी पी. डब्ल्यू. डी. के अफसर का रसोइया था। दोनों में बहुत स्नेह था। नंदा डेढ़ मास तक उसके पास रहे। काम न मिलने पर वह पैदल ही पश्चिम की ओर चल पड़े। अनेक गाँव-जंगल पार कर समुद्र के तट पर पुत्तलम बाजार में पहुँचे। वहाँ भी कोई काम नहीं मिला, फिर अनुराधपुर की ओर लौटे। वर्षा में सारे कपड़े भीग गए। चौबीस घंटे से मुँह में दाना नहीं पड़ा, चला भी नहीं जाता था। एक जगह तालों के पेड़ के नीचे बैठ गए। उसी समय एक पका फल गिरा। नंदा के गाँव में ताल के वृक्ष नहीं थे, लेकिन अपनी यात्रा में उन्होंने पके ताल को खाते देखा था। उन्होंने छिलका उतारकर उसका गुद्दा खाना शुरू किया। बहुत मीठा लगा। पेट-भर खाया। कुछ देर सुस्ताने के बाद बुखार मालूम होने लगा। बुखार में ही अनुराधपुर पहुँचे। गाँव-भाई ने बहुत डाँटा–मरने के पीछे पड़े हो।–दवाई लाकर दी। दो-तीन दिन में कुछ आराम हुआ। इंजीनियर ने कहा–तुम चुपचाप भाग जाते हो।–तो भी रख लिया। काम मिन्नेरिया में करना पड़ा, जो मलेरिया का घर समझा जाता था। नंदा को मलेरिया ने धर पकड़ा। उसे भगाने के लिए मिन्नेरिया के देवता की पूजा कराई जाती। सिल पर काली मिर्च पीसकर पुजारी सिर पर लगाता। नंदा दो-तीन सप्ताह बीमारी में रहे। अच्छे नहीं हुए, तभी बैलगाड़ी पर चढ़कर अनुराधपुर आए। तीन मास अस्पताल में रहने पर पिण्ड छूटा। सारे बाल ही नहीं, चमड़ा तक शरीर से निकल गया। बहुत कमजोर थे। जीवन से निराश हो गए।

1918 का समय था। प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हो रहा था। नंदा काम की खोज में समुद्रतट पर मन्नार पहुँचे। सिदु पेरेरा एक ईसाई ठेकेदार था। उसकी दूकान पर बही-खाता लिखने का काम मिला। पेरेरा बड़ा ही खूसट था। कई मास तक उसके यहाँ काम किया। उसी की बस पर मन्नार के अस्पताल में नंदा जाते थे। रोज-रोज का किराया उसने तनख्वाह में से काटा। छह-सात महीने काम करने की तनख्वाह उसने छह-सात रुपये दिए। नंदा ने रुपये फेंक दिए। अंत में बारह-तेरह रुपये दिए।

नंदा अनुराधपुर आए। वहाँ दर्शन करने मिहिन्तले पहाड़ में पहुँचे। भिक्षु महेन्द्र का यही निवास था। नंदा भी वहीं किसी पहाड़ी गुफा में तीन-चार दिन ध्यान-भावना करते रहे। विहार के भिक्षु इन्हें खिचड़ी (यवागू) दे दिया करते थे। अभी नंदा के कपड़े गृहस्थों के ही थे। भिक्षु ने कहा–साधु क्यों नहीं बन जाते ?–पर अभी उनकी इच्छा साधु बनने के लिए नहीं थी।

नंदा उत्तर की ओर चल पड़े और कुछ दिनों के बाद जाफना पहुँचे। एक ऑफिस में काम मिल गया। काम के बाद वह इधर-उधर घूमने जाते। अफसर को नंदा का सीधा-सादा स्वभाव अच्छा लगा। उसने चाहा कि यह वहीं बने रहें। उसने रसोइया बनाना चाहा। नंदा को वह पसन्द नहीं था, क्योंकि उसमें अण्डा फोड़ना पड़ता, मछली पकानी पड़ती। कुछ दिन वहाँ रह फिर चल पड़े।

वह मन्नार पहुँचे। एक दूकानदार ने अपनी दूकान में खाना-कपड़ा और पन्द्रह रुपया मासिक पर रख लिया। आसपासवालों ने बतला दिया कि यह शराबी क्रिस्तान तनख्वाह देना नहीं जानता। नंदा प्रतिदिन आधा रुपया (पचास सत) लेकर जंगल के एक पेड़ के खोखले में डाल आते। जब तनख्वाह माँगी तो सचमुच वह टालमटोल करने लगा। इस पर नंदा पेड़ के खोखले से पैसा निकालकर चल दिए। मदवाच्ची में एक सिंहल मुदलाली मिला, जिसने खाना खिलाया और तलेमन्नार का रेल-टिकट भी खरीद दिया। उसने यह भी कहा कि रहना चाहो तो हमारी दूकान पर रह जाओ। नंदा नहीं रहे।

समुद्र के किनारे तलेमन्नार सिंहल का अन्तिम स्टेशन है। वहाँ से स्टीमर पर समुद्र में घण्टे-भर चलकर भारत का किनारा आ जाता है। पर, नंदा को अभी भारत जाना नहीं था। तलेमन्नार के एक मछली के ठेकेदार ने कहा–यहाँ रहकर काम करो।–जीती मछलियाँ बर्फ में रखकर रेल से सिंहलद्वीप के अन्य स्थानों में भेजी जाती थीं। पैक करने के वक्त वह छटपटाती थीं। नंदा को यह देखकर दुःख होता था। मालिक अच्छा था। वह चाहता था कि यहाँ का काम नंदा को सौंप दे। पर नंदा के बस का वह नहीं था। ढूँढ़ने पर डाकपिउन का काम मिला। ट्रेन से डाक के थैले उन्हें लेने-देने पड़ते। पोस्टमास्टर ने चाहा कि नंदा उसकी रसोई बना दिया करें। वहाँ भी मुर्गा काटना, अण्डा उबालना पड़ता। पोस्टमास्टर ने कह दिया–वह हम कर लेंगे, तुम भात-तरकारी पका दिया करो।–पन्द्रह दिन उसके व्यवहार को देखकर मन में कहा–साला हरामी क्रिस्तान।–एक

महीने की तनख्वाह उसने जमानत के तौर पर रख लिया। कपड़ा भी नहीं था। दूसरे महीने भी उसने टरका दिया। नंदा का मन उचट गया। एक पुलिस कान्स्टेबल से परिचय हो गया। उससे यही कहा–मैं भारत का किनारा देखना चाहता हूँ।

कान्स्टेबल ने कहा–यह कोई मुश्किल नहीं है। स्टीमर में बैठा देंगे और किसी से कह देंगे। स्टीमर से ही देख लेना, उतरना नहीं।

भारत और सिंहल के स्वतन्त्र होने से पहिले दोनों देशों में आना-जाना बहुत आसान था। पासपोर्ट का झगड़ा नहीं था। सिर्फ सिंहल सरकार हरेक भारतीय से मेडिकल सर्टिफिकेट चाहती थी। भारत सरकार को उसकी भी जरूरत नहीं थी। अब तो बहुत दिक्कत है।

तीन बजे रात को ही उठकर नंदा ने नाश्ते के लिए पेट्टू पकाए। पोस्टमास्टर के लिए अलग रख दिए और अपने लिए अखबार में लपेट लिये। साथ ही एक बोतल चाय भी तैयार कर ली। चुपचाप स्टीमर घाट पर चले गए और इधर-उधर टहलने लगे। मन में घबड़ा रहे थे, क्योंकि डाकखाने की नौकरी थी और वह बिना छुट्टी भाग रहे थे। सिपाही ने नौ बजे स्टीमर के फायरमैन से परिचय करा दिया और नंदा स्टीमर पर चले गए। फायरमैन को पेट्टू दे दिया। मन अभी धुकधुक कर रहा था, शायद तार आ जाए, पुलिस आकर पकड़ ले। सो कुछ नहीं हुआ। स्टीमर सिंहलद्वीप का तट छोड़कर भारत की ओर चला। बीस मील की यात्रा थी, जिसमें कोई ऐसा अवसर नहीं था, जबकि भारत या सिंहल का किनारा दिखाई पड़ता हो। भारत के किनारे को यहाँ धनुषकोडी कहते हैं। स्टीमर के किनारे लगते ही नंदा उतर पड़े। वह किनारा देखने नहीं आए थे, उनका इरादा भारत के बौद्ध तीर्थों को देखना था।

3
धर्मपिता की सम्पत्ति (1916 ई.)

वह समुद्र के किनारे-किनारे चले। जगह-जगह झोंपड़ियाँ दिखाई पड़ती थीं, जिनमें चाय के होटल और दूसरे प्रकार की दूकानें थीं। एक होटल में चाय पी कोट सिरहाने रख सो गए। कोट में दो-ढाई रुपये थे। उठकर देखा, तो कोट नदारद। बिना पैसे के परदेश में कैसे गुजर होगी, यह सोचकर दिल घबड़ाने लगा, और मन ने कहा : समुद्र में डूब जाना ही अच्छा है। तीन बार पानी के किनार गए, फिर लौट आए। दिन-भर इसी उधेड़बुन में रहे। फिर स्टेशन के प्लेटफार्म पर पहुँचे। उनके गाँव के पास के बाजार का एक आदमी (मौलाना) मिल गया। वह बम्बई जा रहा था। मौलाना नंदा के पिता के दोस्त थे। उन्होंने ले जाकर कुछ खिलाया-पिलाया। यह तो मालूम हो गया, कि घर से भागकर आए हैं। पूछने पर बतलाया–मैं बोधगया तीर्थ के दर्शन के लिए जा रहा हूँ। मौलाना ने मदुरा तक के लिए प्रथम श्रेणी का टिकट खरीदकर अपने पास बैठा लिया। अपने साथ की मिठाई में से सेर-डेढ़ सेर नंदा को दे दी और छह-सात रुपये भी दे दिए।

मदुरा का स्टेशन आधी रात को आया। नंदा वहीं उतर गए और बेंच पर सो गए। सबेरे उठकर हाथ-मुँह धोते समय एक आदमी मिला। वह हँस-हँसकर उनके साथ बात करने लगा–मैं धनुषकोडी का इंजन ड्राइवर हूँ। तुम्हें देख लिया था। चलो मेरे घर। नंदा तमिल भाषा अच्छी तरह बोल लेते थे इसलिए उन्हें यहाँ भाषा की कोई दिक्कत नहीं थी। ड्राइवर अपने साथ घर ले गया। इडली-उपमा के साथ चाय पिलाई। तीन-चार दिन तक नंदा मदुरा देखते रहे। मीनाक्षी मन्दिर को देखकर आश्चर्यचकित हुए। स्वतन्त्र घूमते-घामते वह एक साधु के आश्रम में पहुँचे। महन्त का नाम स्वामी रामलिंगम् था। उम्र में छोटा पर शरीर उसका बहुत मोटा-ताजा था। स्वामी रामलिंगम् के व्यवहार से ऐसा मालूम होता था मानो वर्षों से परिचित हों। उन्होंने बाघम्बर पर बैठाया। बड़े प्रेम से बातचीत की। अपने यहाँ रख लिया। वह कहने लगे–मेरे बाद इस मठ की गद्दी पर तुम

बैठना।–स्वामी रामलिंगम् विचित्र स्वभाव के थे। कभी वह मैसूर के महाराज बनकर राजसी पोशाक में निकलते और कभी एक सूत भी कपड़ा देह पर न रख नंग-धड़ंग घूमते सड़क के किनारे पड़ी जूठी पत्तलों को चाटते। वह मांस-मछली नहीं खाते थे, पर गाँजा-भाँग खूब चलता था। भक्त मिठाई-पैसा खूब चढ़ाते थे। छह मास तक रामलिंगम् के पास रहते अब फिर नंदा का मन उचटने लगा। एक बार भागने को तैयार हुए। स्वामी ने पकड़ लिया। बोले–क्यों जाना चाहते हो ?–नंदा ने कहा–मुझे बोधगया का दर्शन करना है। रामलिंगम् मनुष्य की प्रकृति को अच्छी तरह जानते थे। उनको लोग महासिद्ध मानते थे। नंदा को रखने के लिए उन्होंने दूसरा उपाय सोचा। मदुरा में उनके भक्त एक धनी सेठ थे, जिनके कोई सन्तान नहीं थी। वह बराबर सिद्ध बाबा से प्रार्थना करते थे कि हमारा वंश चले। रामलिंगम् ने उन्हें बुलाकर कहा–लो, भगवान ने तुम्हारे लिए यह पुत्र भेज दिया। बड़ा सुशील खानदानी तरुण है। इसको अपना धर्मपुत्र बना लो।

सेठ-दम्पती ने बहुत धूमधाम से नंदा को धर्मपुत्र बनाया, भोज दिया। नंदा पर भी सिद्ध का इतना प्रभाव था कि वह उनकी बात का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। तो भी उनका मन उचटा-उचटा रहता। भारत में वह बौद्ध तीर्थ के दर्शन के लिए आए थे, और सिंहल से 200 मील दूर पर ही अटक गए। सेठ ने धर्मपुत्र की शान्ति के लिए दो ब्राह्मण पण्डित कथा और सत्संग के लिए रख लिये। इस सबका कुछ असर भी पड़ा। सेठ के पास दर्जनों मोटरें थीं, जो किराये पर चलती थीं। मोटर मरम्मत करने का एक अच्छा कारखाना भी था। वह अपनी सारी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी नंदा को बनाकर रजिस्ट्री कर देना चाहते थे। सेठ की उम्र 55-56 की थी। शादी की बात करने पर नंदा कहते कि हम दूसरी जाति में शादी नहीं करेंगे।–धर्मपिता ने कहा–शादी मत करो, पर सम्पत्ति का मालिक तो बनना पड़ेगा।–मोटर कारखाने के स्वामी होते हुए मोटर-ड्राइवरी न सीखें, यह कैसे हो सकता है ? नंदा का मन लग गया था। उन्होंने मोटर-ड्राइवरी का सर्टिफिकेट ही नहीं ले लिया, बल्कि मोटर की मरम्मत करना भी जान गए। चार वर्ष तक नंदा सेठ के उत्तराधिकारी बनकर मदुरा में रहे। कारखाने के प्रबन्ध में दक्ष हो गए। मोटर-मरम्मत में स्वयं हाथ बँटाते थे। एक बार एक मोटर की मरम्मत हुई। वह स्टार्ट नहीं होती थी। सब लोग हार गए तो नंदा ने स्वयं हैंडल पकड़ा और बहुत जोर का धक्का लगाया। एकाएक इंजन ऐसे जोर से चला कि नंदा का दाहिना हाथ झटककर उन्हें दूर फेंक दिया। हाथ की हड्डी टूट गई, वह बेहोश हो गए। सेठ को वैद्यक पर विश्वास था। इसलिए दवा वैद्य की ही चली।

हाथ सड़ने लगा, तब उन्हें अस्पताल ले गए। सिविल सर्जन ने कहा–इसे काटना पड़ेगा, नहीं तो सारी देह में जहर फैलकर यह मर जाएगा। उसने यह भी कहा कि यदि उसी दिन हमारे पास लाए होते तो हाथ बच जाता। डॉक्टर ने इन्जेक्शन दे हाथ काट दिया। बेहोशी में ही, सिर को छोड़ सारे शरीर को चारपाई से बाँध दिया। रात के वक्त जब होश आया तो नंदा को आश्चर्य होने लगा। बहुत साफ-सुथरा भव्य मकान था। चारपाई पर चुपचाप लेटे थे। कहीं शरीर में दर्द नहीं था। समझ में नहीं आ रहा था कि कहाँ हैं। कान से आवाज कम सुनाई देती थी। वह हिलना चाहते थे। मेहतर झाड़ू लेकर दौड़ा–हिलो नहीं, नहीं तो मार दूँगा।–नहीं उठ पाए, चुपचाप पड़े रहे। दूसरे दिन जब मालूम हुआ, हाथ काटकर फेंक दिया गया, तो जोर से रोने लगे। तीन दिन तक पागल बन गए। गिलास फोड़ दिया। अंग्रेज सिविल सर्जन को गाली देते। वह हँसता रहा। पास आने में डरता था, फिर पलंग पर आकर बैठ गया और बोला–क्यों गाली देते हो ?

–तुमने हमारे हाथ को क्यों काटकर फेंक दिया ?

–हमको भी हाथ कटने का दुःख है। उसी दिन तुमको लाए होते तो हाथ काटना नहीं पड़ता। फिकर मत करो। हम तुम्हें नकली हाथ देंगे।

नंदा को नकली हाथ लेकर क्या करना था ? उस समय शायद अभी ऐसे नकली हाथ नहीं बने थे, जिनकी अँगुलियाँ टाइपराइटर पर टाइप कर सकतीं। आज तो रूसी विशेषज्ञों के बनाये हाथ असली की तरह काम करते हैं। 1959 में एक चीनी लड़की के दोनों हाथ कट गए। रूसी विशेषज्ञ ने ऐसे हाथ लगा दिए जो कटे छोर पर मिलकर नाड़ियों से चालित हो काम करते हैं।

नंदा को यह नुकसान जीवन का भारी नुकसान जैसा था। बायाँ अंग जहाँ भरा-पूरा मालूम होता था,

वहाँ दाहिना अंग सूना-सा दिखाई पड़ता था। अस्पताल में ही मन में यह होने लगा था कि जीवन का अन्त ही अब इस चिन्ता की दवा है। डॉक्टर ने कह दिया था कि इसे अभी कई महीनों तक अकेले न छोड़ना। घाव तो पन्द्रह दिन में अच्छा हो गया। सेठ धर्मपुत्र को मोटर पर बैठाकर घर लाए। दो ब्राह्मण कथा सुनाते, तीन नौकर काम करने के लिए पास खड़े रहते। एक हाथ से कपड़ा पहनना भी मुश्किल था। नंदा को किसी चीज की कामना नहीं थी। रह-रहकर कटे हाथ का ख्याल होता। यही चाहते थे कि एकान्त मिले और कावेरी या किसी नदी में जाकर डूब मरूँ। ब्राह्मण कथा कहते—अंगविहीन लोग बड़े-वड़े काम कर गए।—मदुरा में गणेश का एक अच्छा मन्दिर सुन्दर बाग में बना हुआ था। नारियल आदि के पेड़ और फुलवारी थी। नंदा रोज बाग में जाने लगे, लेकिन नौकर साथ में रहते थे। वहाँ बाग में कुछ साधुओं से भी भेंट होती। वह बातचीत में पूछते—विष क्या चीज है ? और कौन-कौन-से हैं ?—उन्हीं की सहायता से कुचिला, धतूरा आदि विष उन्होंने जमा किए। मौका पाकर सबको पीसा। खाया तो तुरन्त कै हो गई। फिर हलुआ में डालकर तीन गोलियाँ निगलीं। बीस-पच्चीस मिनट में वृक्ष हिलने लगे। आँख मूँदकर वह नारियल के पेड़ से लगकर बैठ गए। लोगों को मालूम हुआ, उठाकर अस्पताल ले गए। इन्जेक्शन देने पर कै हुई, गोलियाँ निकल आईं। चौबीस घण्टे तक बेहोश रहे। फिर नस-नस में दर्द होने लगा। तीन बार उन्होंने आत्महत्या का प्रयास किया। रेल से कटने का प्रयत्न किया। असफल हो अन्त में उन्होंने जीकर कुछ करने का संकल्प किया।

4
भारत की तीर्थयात्रा (1923 ई.)

धर्मपिता ने देख लिया कि नंदा को यहाँ रखकर सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। नंदा ने तीर्थ-यात्रा करने का विचार जब उनके सामने रखा तो उन्होंने हजारों रुपये के नोटों के बण्डल सामने रखते हुए कहा—इन्हें लेकर जाओ, तीर्थयात्रा करो, और फिर हमारे पास चले आना।—नंदा ने सिर्फ पाँच सौ रुपये लिये और मद्रास की ट्रेन पकड़ी। उनके बदन पर कमीज, नीचे सारोंग (लुंगी), चादर और हाथ में लटकाने का थैला था। पैर में चप्पल, थैले में कुछ किताबें और तौलिया। तमिल तो सिंहल से ही बोलते थे, अब मदुरा के चार वर्ष के जीवन में तमिल उनकी मातृभाषा जैसी बन गई। मद्रास के स्टेशन पर उतर गए। किसी अपरिचित व्यक्ति ने कहा—वाडो स्वामी।—वह उन्हें एक घर में ले गया और उपमा के साथ कॉफी पिलाई। वह गाँजा भी दे रहा था पर नंदा नहीं पीते थे। चुरुट के एक समय वह बहुत शौकीन थे पर घर छोड़ते समय यह व्यसन भी छूट गया। कभी-कभी बीड़ी-सिगरेट पी लेते। उसी दिन एक गेरुआधारी साधु मिला। वह कह रहा था—हम काशी जानेवाले हैं।—नंदा को न भारत का नक्शा मालूम था, न उसका भूगोल। बोधगया का नाम वह जानते थे, पर वह कहाँ है, इसका उन्हें ज्ञान नहीं था। सोचा, जिधर काशी है, उधर ही कहीं बोधगया भी होगा।

दोनों बंगलौर की ट्रेन पर बैठ गए। आधी रात को ट्रेन चल रही थी, उसी समय साथी बेंच से नीचे गिर गया। उसके हाथ-पैर जोर-जोर से काँपने लगे। नंदा घबड़ा उठे, कुछ समझ में नहीं आ रहा था। कुछ देर बाद वह आदमी होश में आया और बेंच पर बैठ गया। उसने कहा—मुझे मिर्गी का रोग है, इसका दौरा अक्सर आ जाता है, इसलिए मैं चाहता हूँ कि काशी-विश्वनाथ का दर्शन कर लूँ।—नंदा इतना घबड़ा गए कि उन्होंने अगले स्टेशन पर उसका साथ छोड़ दिया और दूसरी ट्रेन से बंगलौर पहुँचे।

बंगलौर आज भारत का एक बहुत समृद्ध नगर है। उसकी आबादी पिछले छत्तीस वर्षों में, विशेषकर स्वतंत्रता के बाद, कई गुना बढ़ गई है। अपने जलवायु के लिए भी वह बड़ी ख्याति रखता है। नंदा को न वहाँ की कन्नड़ भाषा आती थी, न हिन्दी का ही कुछ ज्ञान था। टूटी-फूटी अंग्रेजी से काम चलाते थे। दिन-भर शहर घूमते रहे, रात को ट्रेन से चल दिए। किसी स्टेशन पर उतरे। वहाँ किसी सज्जन ने बुलाकर मक्के-बाजरे

की रोटी खिलाई। अभी तक वह भात को ही खाना समझते थे। पूना में उतरे। उस समय न वर्षा का दिन था, ना जाड़े का। एक विशाल जैन मन्दिर देखा। डेढ़ मास पूना में रहे। अब उन्हें मालूम हो गया कि तमिल या सिंहली से काम नहीं चल सकता, हिन्दी ही ऐसी भाषा है जिससे यात्रा करने में आसानी होगी। यहाँ रहते हुए रास्ता, खाना आदि के सम्बन्ध के कुछ शब्द सीख लिये। पैसा उनके पास काफी था। बहुत संकोच के साथ ही वह खर्च करते थे। खिलाने-पिलाने के लिए कोई-न-कोई दाता मिल जाता था।

बम्बई बिना गए और दूसरे शहरों में बिना उतरे प्रयाग पहुँच गए। स्टेशन से वह त्रिवेणी पहुँचे। गंगा-जमुना के संगम पर स्नान जरूर किया, और यह भी जान गए कि संगम के पास कोई किला है, पर विशेष बातें उन्हें मालूम नहीं हुईं। छत्तीस वर्ष पहिले की बात है। नंदा ने अपनी यात्रा के कोई नोट नहीं लिये। बस, स्मृति से ही वह सब कुछ बतलाते हैं। बहत्तर वर्ष की उम्र में इतनी तेज स्मृति रखना कम आश्चर्य की बात नहीं है। दस-पन्द्रह दिन प्रयाग में रह उन्हें काशी-बनारस का पता लगा। रेल पकड़कर वह बनारस पहुँचे। एक महीने तक घूम-घूमकर नगर को देखते रहे। उन्होंने पढ़ा था कि ऋषिपत्तन मृगदाव यहीं कहीं है, जहाँ बुद्ध ने प्रथम धर्मोपदेश दिया था। ऋषिपत्तन कहकर वह लोगों से पूछते रहे, उसका आजकल नाम था सारनाथ। कौन बतलाता ? सारे महीने-भर कोई बौद्ध नहीं मिला, नहीं तो पता लग गया होता। दिन-भर घूमते और रात को गंगा के किनारे चौकी पर सो जाते। पैसा करीब-करीब सारा उनके पास था। एक दिन स्टेशन पर गए, तो वहाँ बोधगया के सिंहली यात्री मिले। उन्होंने भी दो रुपये तीन आने देकर गया का टिकट कटा लिया। गया से इक्के पर बोधगया गए। वहाँ चटगाँव के भिक्षु धम्मवंस मिले। वह सिंहल में आम्बवत विहार में भिक्षु बने थे और सिंहली भाषा जानते थे। अब नंदा के लिए कोई दिक्कत नहीं रह गई। उनसे सारी बातें मालूम हो गईं। धम्मवंस से कुछ पढ़ते हुए दो-तीन मास बोधगया में रहे। सारे तीर्थस्थानों के नाम नोट कर लिये।

सारनाथ छोड़ आए थे, पहिले वहाँ गए। एक स्थानीय भिक्षु को यह घुमक्कड़ पसन्द नहीं आया। दोनों सिंहल के थे और दोनों का स्वभाव गरम था। कह दिया—यहाँ रहने का स्थान नहीं है।—धमेख स्तूप के पास जैन मन्दिर दिखला दिया। खाना भी सिर्फ एक बार और वह भी खराब खिलाया। खाने की कोई दिक्कत नहीं थी, क्योंकि पैसा पास में था। पूना में मृगछाला जमीन पर बिछा लेते और जैन मन्दिर के पास नीम के पेड़ के नीचे सो जाते। एक सप्ताह तक पूजा-प्रदक्षिणा में लग रहे। अब उनकी दृष्टि कुसीनारा पर थी।

कुसीनारा—सारनाथ में मालूम हो गया कि बुद्ध का जहाँ निर्वाण हुआ, उसे आजकल कसया कहते हैं। उसके लिए देवरिया स्टेशन पर उतरना पड़ता है। एक ही ट्रेन सारनाथ से देवरिया पहुँचा देती है। नंदा कुसीनारा (कसया) पहुँचे। चन्दा बाबा का दर्शन किया। वह बड़े स्नेह से बोले। एक कोठरी दिलवाई, चाय पिलवाई, चारपाई-बिस्तर सब मिला। सामने बैठाकर रोज भोजन कराते। नंदा ने एक बार भोजन करने का नियम कर लिया था। तीर्थ-दर्शन करने के साथ वह सूत्रों का पाठ करते। एक महीना कसया में बहुत आराम से बीता।

लुम्बिनी, बुद्ध का जन्मस्थान, चौथा महातीर्थ था। 1924 का जाड़ा चल रहा था। नंदा नौगढ़ स्टेशन पर उतरे और वहाँ से लुम्बिनी पहुँचे, जिसे लोग रुम्मिनदेई कहते थे। उस समय वह एक ब्राह्मण देवी मानी जाती थी। एक छोटा-सा पक्का मन्दिर था, जिसमें साल-शाखा को पकड़े मायादेवी की मूर्ति बनी हुई थी। आगे का पत्थर निकल गया था, जिसके कारण मूर्ति स्पष्ट नहीं दिखती थी। पूजा करनेवाले आते और अहिंसा के अवतार के पैदा होने के स्थान पर उनकी माँ के नाम से मुर्गी और बकरे की बलि चढ़ाते। पुजारी दिन में पूजा के लिए आ जाता। नंदा को रात को अकेले रहना पड़ता। लोमड़ी और सियार रात को पहुँचते, उनकी आवाज उस सुनसान स्थान में गूँजती। बलि तो नहीं मिलती, पर जमीन पर गिरे रक्त की बूँदें चाटते। कभी-कभी चीता भी आता। मन्दिर में किवाड़ थे, इसलिए चीते से खतरा नहीं था। पास के गाँव के चौधरी आगत बौद्धों का स्वागत करते थे। ब्राह्मण पुजारी को वह सीधा दे देते, और घुमक्कड़ को पका-पकाया भोजन मिल जाता। तीन दिन वहीं बिता फिर वह ककरवहा बाजार होते नौगढ़ पहुँचे। इतने दिनों में हिन्दी के बहुत शब्द याद हो गए थे, भाषा की कोई दिक्कत नहीं थी। व्याकरण की न उस समय उन्होंने परवाह की, न छत्तीस वर्ष बाद आज ही परवाह करते हैं। वह फर-फर हिन्दी बोलते हैं, उनके पास भारी शब्दकोश है, पर व्याकरण के

लिए आदि में जो लघुमार्ग स्वीकार किया, उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। तिब्बती, नेपाली और बंगला में उनका व्याकरण कुछ अधिक उचित मालूम पड़ता है।

स्टेशन जाते वह मटिहनिया के अंग्रेज प्लांटर के बँगले पर गए। सीलोन में उसकी बहिन रहती थी। उसने इस सिंहल घुमक्कड़ की खातिर की और कहा—मैं अपने हाथी से तुम्हें स्टेशन पहुँचा दूँगा। उन्होंने अपने पैरों को हाथी का सहारा दिया।

आज से छह वर्ष पेहिले इन पंक्तियों का लेखक भी इन स्थानों में घूमा था। उस समय ये सभी पुनीत बौद्ध स्थान सुनसान-से थे। आज की तरह वहाँ बड़े विहार और धर्मशालाएँ नहीं बनी थीं। बलरामपुर में बौद्ध विहार की कुछ दीवारें खड़ी थीं। घुमक्कड़ बलरामपुर स्टेशन पर उतर सहेटमहेट की सड़क पर चल पड़े। भिक्षु महेन्द्र ने उस समय वहाँ धुनी रमाई थी। सहेटमहेट श्रावस्ती और जेतवन का वर्तमान नाम है। दोनों उजड़कर जंगल बन गए थे, पर देखने पर मालूम होता था कि यहाँ कोई नगरी (श्रावस्ती) थी और उसके पास जेतवन था। पूरा परिचय तो पुरातत्त्व-खोदाई के बाद लगा। भिक्षु महेन्द्र अस्सी वर्ष के हो हाल ही में मरे। उन्होंने घुमक्कड़ का स्वागत किया, और तीन सप्ताह अपने पास रखा। वह दिन-भर घूमते रहते। नगर का जंगल बना हुआ था, इसलिए घूमने के लिए बहुत स्थान थे। घूमते-घामते एक दिन खेत की रखवाली के लिए बनी एक झोंपड़ी में पहुँचे। किसान मुसलमान था। सीधे-सादे ग्रामीण की तरह उसका सभी प्रकार के साधुओं पर विश्वास था। उसने बाबा को बैठाया, और घर में जो भी रूखा-सूखा बना था, खिलाया। वह संकोच कर रहा था, पर बाबा ने कह दिया—हाँ, हम तुम्हारे हाथ का खाना खाएँगे।—तभी किसान ने पूरी और आलू की तरकारी बना के खिलाई। अन्त में बाबा से आशीर्वाद माँगा।

भारत के मुख्य-मुख्य बौद्धतीर्थ अब तक देख लिये। रामेश्वर (धनुषकोडी), पूना, प्रयाग, बनारस, गया और लुम्बिनी हो लिये। अब गर्मियों का मौसम आ रहा था। नेपाल के भीतर लुम्बिनी को देख लिया था। अब नेपाल के भीतर ही हिमालय में घूमने का विचार हुआ।

5
तिब्बत की सीमा तक (1924 ई.)

नेपाल जाने का रास्ता नौतनवा है, यह सुन वह बलरामपुर से वहाँ रेल से आए, फिर पहाड़ की जड़ में बुटौल पहुँचे। शंखमुनि महाजन बाजार के एक मुखिया थे। उन्होंने अपने घर में स्थान दिया। घुमक्कड़ तीन-चार दिन वहीं रह आगे का रास्ता ढूँढ़ते रहे। जानकार होना बाज वक्त घाटे का सौदा होता है। हम जानते थे, उस समय नेपाल में केवल शिवरात्रि को भारतीयों को जाने की छूट थी, बाकी समय विशेष अनुज्ञापत्र लेना पड़ता था, जिसका मिलना सिंहल घुमक्कड़ जैसे आदमी के लिए असम्भव था। वह बुटौल से पालपा और फिर पहाड़ के ऊपर तान्चिन पहुँचे। वड़ा हाकिम किसी बाहरी आदमी को वहाँ रहने नहीं देता, यह मालूम हुआ, पर उसकी परवाह किसको थी। अमृतलाल गुभाजू ने खाना खिलाया, वह भी अपने पास रख नहीं सकते थे। घुमक्कड़ ने पोखरा का रास्ता लिया। पोखरा की उपत्यका उन्हें बहुत पसन्द आई। पहाड़ों के बीच में स्वच्छ जल की एक विशाल झील थी, जो छोटे समुद्र-सी जान पड़ती थी। छोटी नाव भी बीच में थी। पोखरा उपत्यका के महत्त्व को जानने के लिए छत्तीस वर्षों की आवश्यकता थी। नौगढ़ से लुम्बिनी और बुटौल जानेवाली सड़क पोखरा पहुँचाई जा रही है। नेपाल राजधानी से पोखरा हवाई जहाज आने-जाने लगा है। सैलानी हजारों की तादाद में पोखरा देखने जाया करेंगे, यह आशा की जाती है। उस समय भी घुमक्कड़ को यह नील सरोवर आकृष्ट करने में समर्थ हुआ था। वहाँ के सस्ते फलों को देखकर आश्चर्य होता था। एक नेपाली पैसे में तीन केले मिलते, जो मिश्री से भी ज्यादा मीठे थे। नारंगी एक आने की पन्द्रह-सोलह। उनका कहना था—ऐसी सुन्दर

मीठी नारंगी दुनिया में नहीं मिलेगी। नंदा के बदन पर पीले कपड़े थे। वहाँ के बौद्ध गृहस्थों को मालूम हुआ कि यह भी बौद्ध हैं, तो बड़ी खातिर की। गुड़ के साथ दही-चिउरा खाने के लिए दिया, भात नहीं मिला। लोग सीधा देते, पर घुमक्कड़ पकाया भोजन ही स्वीकार करते थे। खाने की चीजें सभी सस्ती थीं।

गोरखा होते वह त्रिशूली पहुँचे। त्रिशूली में बहुत बड़ा बाजार है, साधुओं के लिए एक आश्रम भी था, जिसमें सिंहलद्वीप के इस साधु को ठहरा दिया गया। सब बड़ा सम्मान करने लगे। एक ब्राह्मण खाना बनाकर खिला जाता था। शाम और सबेरे लोग सत्संग करने आते। लोगों का आग्रह था, सिंहल साधु यहीं बैठे रहें। उन्होंने कितनी बार जीवन में बैठने की कोशिश की, किन्तु उनके पैर में चक्कर बँधा था, वह एक जगह रह कैसे सकते थे ? मालूम हुआ गोसाईंकुण्ड एक बड़ा तीर्थ है। कुछ लोग वहाँ जा रहे थे। घुमक्कड़ भी चल पड़े। कई दिनों चलने पर उन्हें बर्फ की भूमि मिली। वह अकेले हो गए थे, रास्ता भूल गए। जंगल में धुआँ निकलता दिखाई पड़ा। गए तो देखा, भोटिया अपनी चमरी, भेड़, बकरी को लिये एक गुफा में डेरा डाले पड़े थे। साधु को देख गृहपति ने तीन बार दण्डवत करके प्रणाम किया। दोनों एक दूसरे की बोली नहीं समझते थे, तो भी संकेत से काम चल गया। गृहपति ने गुफा में कम्बल बिछाया, धुनी जल रही थी। घुमक्कड़ के पास कपड़े कम थे, इसलिए वे सर्दी से काँप रहे थे। धुनी के पास बैठने पर कुछ गर्माहट आई। जल्दी-जल्दी मक्खन डाली नमकीन चाय पी, फिर सत्तू भी खाया। भूख लगी हुई थी। खाने पर बड़ा आराम मालूम हुआ। फिर मकई का नमकीन हलुआ बना, जिसमें बहुत मक्खन पड़ा हुआ था। उसके साथ गुन्दुरू का साग भी था। स्वाद का क्या पूछना ! उसे भी खूब खाया। लेकिन उसके पाँच-सात मिनट बाद ही जुलाब लग गया। पाँच-सात बार में ही घुमक्कड़ बहुत कमजोर हो गए। गृहपति बड़ा हैरान हो गया। फिर, वह जंगल से जाकर एक बूटी लाया, जिसे साग के तौर पर बनाकर खिलाया। खाने के साथ ही दर्द जाता रहा, पर दस्त के बन्द होने में कुछ समय लगा। तीन दिन तक वह वहीं पड़े रहे। शरीर में कुछ ताकत आई और आगे जाने का ख्याल छोड़ वह त्रिशूली लौट आए।

आज त्रिशूली से काठमाण्डू मोटर जाती है। उस समय पैदल ही डांडे को पार कर काठमाण्डू जाना होता था। वह त्रिशूली में थोड़ा आराम करके काठमाण्डू की ओर चल पड़े। काठमाण्डू के भीतर घुसने तक किसी ने नहीं टोका। राणाशाही नेपाल में कहीं से भी नेपाल के भीतर घुसना मना था। सरकारी अफसरों और जनसाधारण को आज्ञा थी कि किसी भारतीय या विदेशी को भीतर न आने दें। पर इस आज्ञा का पालन करना आसान नहीं था। तराईवाले लोग वेश-भूषा में भारतीयों जैसे ही होते हैं, इसलिए क्या मालूम आनेवाला आदमी तराई का है या भारत का ? काठमाण्डू पहुँचने पर घुमक्कड़ विदेशी मालूम हुए। पहचानने में उनका साँवला रंग भी सहायक हुआ। सिपाही ने समझा, यह बंगाली है, और हुकुम दिया—ओ बंगाली, यहाँ नहीं रह सकता। जिस रास्ते आए उसी रास्ते चले जाओ।—बहुत मुश्किल से रात-भर रहने की इजाजत मिली। आनेवाले रास्ते से तो लौट नहीं सकते थे, त्रिशूली-गोरखा-पोखरा-बुटौल बहुत लम्बा रास्ता था। सिपाही ने कहा—अच्छी बात है, रक्सौल के रास्ते जाओ।—घुमक्कड़ चन्द्रागढ़ी और सीसागढ़ी होते भीमफेरी उतरे, फिर जंगल के रास्ते वीरगंज जा रक्सौल में रेल पकड़ी।

उन्हें कुसीनारा जाना था। रक्सौल से बगहा रेल से गए। किसी समय गण्डक पर पुल था, जिस पर से रेल सीधे गोरखपुर पहुँचती थी। पर, वह कितने वर्षों से टूट चुका था। घुमक्कड़ छितौनी घाट नाव से पार हुए, फिर रेल पर गोरखपुर पहुँचे। जनवरी का महीना था, सर्दी बहुत पड़ रही थी। कुसीनारा में दो सप्ताह रहे। चन्दा बाबा ने बहुत अच्छा व्यवहार किया। दो सप्ताह के बाद वह सारनाथ पहुँचे। फिर भिक्षु श्रीनिवास का सामना करना पड़ा। दोनों का मिजाज नहीं मिलता था, इसलिए जल्दी सारनाथ छोड़ बोधगया गए। अब बोधगया में चार मास रहना था।

बोधगया में चटगाँव के भिक्षु अभी भी रहते थे। यहीं से नंदा ने अपने घर पहिली चिट्ठी भेजी—मैं घर आना नहीं चाहता, मैं भिक्षु बनूँगा।—पिता ने तार और रजिस्ट्री चिट्ठी भेजी—एक बार आकर घर-भर को दर्शन दे जाओ। भिक्षु बनना है, तो यहीं बन जाओ।

बोधगया में तीर्थयात्री आते रहते। वे पैसा और कपड़ा देते। घर से भी पैसा आ गया। अब घुमक्कड़ ने धूमधाम से बुद्ध-पूजा करने का निश्चय किया। रात के वक्त चार पेट्रोमैक्स के प्रकाश में जुलूस निकला, बैण्ड बाजा आगे-आगे बज रहा था। मन्दिर और बोधिवृक्ष के सामने सैकड़ों दीपक जलाए गए। बहुत तरह की मिठाई बनवाकर चढ़ाई गई। उस समय बोधगया मन्दिर महन्त के अधिकार में था। महन्त लखपति था, इसलिए मन्दिर की आमदनी का विशेष लोभ नहीं हो सकता था। पर, वह बौद्धों को चिढ़ाने के लिए इस अधिकार को अपने हाथ में रखना चाहता था। अंग्रेज भी उसके इस काम में सहायक थे। वे समझते थे, बोधगया अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक केन्द्र है। यहाँ परतन्त्र भारतीयों से स्वतन्त्र चीन-जापान जैसे देश के बौद्धों का समागम हुआ, तो अंग्रेजी राज के लिए वह अनिष्ट होगा। पहिले बोधगया मन्दिर महन्त की भूमि में नहीं था, फिर उसे जान-बूझकर उसमें डाल दिया गया। महन्त कहता—बुद्ध विष्णु के अवतार हैं, इसलिए हम विष्णु के तौर पर ही उनकी पूजा करने देंगे।

घुमक्कड़ की पूजा की सूचना महन्त को मिली और उन्होंने अपना पण्डित भेजा। उनके पास भी मिठाई और फूल-फल भेजे। महन्त बहुत खुश हुआ। अनागरिक धर्मपाल चाहते थे कि बोधगया का मन्दिर बौद्धों के हाथ में आए। इसके लिए वह मुकदमा भी लड़े, पर सफल नहीं हुए। तीन दशाब्दियों तक दोनों के सम्बन्ध में बड़ी कड़वाहट पैदा हो गई। इन पंक्तियों के लेखक ने प्रादेशिक कांग्रेस में प्रस्ताव रखा कि बोधगया का मन्दिर बौद्धों को दिया जाए। पीछे कांग्रेस ने बोधगया जाँच-कमेटी बनाई, जिसके अध्यक्ष डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद, आजकल राष्ट्रपति, और सदस्यों में इन पंक्तियों का लेखक भी था। कमेटी ने निश्चय दिया कि बोधगया का प्रबन्ध असन्तोषजनक है, उसकी प्रबन्धकारिणी समिति में बौद्ध और भारतीय दोनों रहें।

महन्त बहुत खुश हुआ। घुमक्कड़ के पास वह चावल, लकड़ी भेजता; समझता था यह धर्मपाल की तरह दुष्ट सिंहल नहीं है।

6
जन्मभूमि और बोधगया (1925-38 ई.)

अन्त में पिता का आग्रह मानना पड़ा, और घुमक्कड़ छह महीने के लिए 1924 के अन्त में सिंहल गए। यह समय उन्हें बाकायदा प्रव्रज्या लेने का था। दुम्बर विहार—सुवर्णबिम्बाराम—के महास्थविर धीरानंद अमरपुर निकाय के भिक्षु थे। उन्होंने कहा—हाथ कटा होने से उपसम्पदा नहीं हो सकती।—गाँव के दीपंकर ने कहा कि हमारे स्याम निकाय में उपसम्पदा भी हो सकती पर अभी उन्होंने सामणेर बनाया। वस्त्र-भूषा तो भिक्षु और सामणेर की एक-सी होती है। पर भिक्षु पूरा बौद्ध साधु होता है और सामणेर उसका उम्मीदवार। सिंहल के छह मास के निवास में उन्होंने अपने अध्ययन को बढ़ाया और बहुत-सी बातें सीखीं।

छह महीने बाद 1925 में वह फिर बोधगया आ गए। अब की बार यहाँ अधिक दिन रहे। पिछली बार जहाँ 'अच्छे सिंहल' की उपाधि महंत से मिली थी, वहाँ अब की बार उसी से लोहा लेना पड़ा। महन्त की आज्ञा से उसका पुजारी मन्दिर की बुद्ध-मूर्ति के सिर पर पगड़ी बाँध चोला पहनाता। बौद्धों के लिए यह असह्य बात थी। आश्विन की पूर्णिमा आई, उस दिन जयवर्धन—अब यही घुमक्कड़ का नाम था—पूजा करने गए, तो यह दृश्य देख क्रोध आ गया। उन्होंने कहा—इसे हटाओ।

पुजारी ने कहा—महन्त जी का हुक्म है, हम हटा नहीं सकते।

जयवर्धन लोहे की हथौड़ी लेकर दौड़े। पुजारी मन्दिर छोड़कर भाग गया।

महन्त के आदमी समझाने लगे। जयवर्धन ने कहा—मूर्ति में स्वयं वस्त्र बना हुआ है; इस भगवे की आवश्यकता नहीं। नकली वस्त्र में हम भगवान की पूजा नहीं कर सकते।

बड़ा आतंक छा गया। लोग कहने लगे, सिंहली भिक्षु पागल है, वह खून कर देगा। जयवर्धन पुलिस-दरोगा के पास गए, उनसे सब बात बतलाई। दरोगा ब्राह्मण समझदार तथा उदार विचार का था। उसने पाँच-छह सिपाही भेज भगवा हटवाने को कहा। जमादार ने जयवर्धन को समझाना चाहा—महन्त लखपति है, बड़ा प्रभावशाली है, उससे झगड़ा नहीं करना चाहिए।

जयवर्धन ने कहा—हम झगड़ा नहीं चाहते, वही झगड़ा करना चाहता है। हमारे भगवान को शैव साधु बनाना चाहता है।—इस झगड़े में मन्दिर के लिए नियुक्त इन्जीनियर फणीन्द्र बाबू भी जयवर्धन के साथ थे। भगवा हटाना इतना आसान नहीं था। दरोगा स्वयं जयवर्धन को लेकर महन्त के पास जानेवाला था। इसी वक्त गया जिले के पुलिस-सुपरिंटेंडेंट आ गए। वह उदार विचारों के मुसलमान थे। सब बात सुनकर वह स्वयं महन्त के पास गए और बहुत डाँटा—आप बिना मतलब झगड़ा मोल लेना चाहते हैं। बौद्ध सचमुच बुद्ध को शैव संन्यासी जैसी पगड़ी और चोगा पहिने नहीं देख सकते।

सुपरिंटेंडेंट इस पतले-दुबले सिंहल साधु की निर्भीकता से बहुत प्रभावित था। उसने कितनी ही बातें पूछीं। वे यह जानकर सन्तुष्ट हुए कि जयवर्धन धर्मपाल के आदमी नहीं हैं। अनागरिक धर्मपाल को सरकार बुरी निगाह से देखती थी, वह समझती थी कि धर्मपाल बोधगया को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक केन्द्र बनाना चाहते हैं। जयवर्धन अपने काम में सफल हुए, भगवा हटवाकर उन्होंने बुद्ध-पूजा की।

इसकी खबर भारतीय पत्रों और सिंहल के पत्रों में भी छपी। उस वक्त भारत में महाबोधि सभा के मंत्री पी. पी. श्रीवर्धन थे। उन्होंने रुष्ट होकर जयवर्धन को लिखा—क्यों बोधगया में गोलमाल कर रहे हो ?—धर्मपाल ने जब सुना तो उन्हें यह बहुत अच्छा लगा। उन्होंने श्रीवर्धन को डाँटकर लिखा—उसने हमारा काम किया। उसकी मदद करें।—सिंहल के पत्रों में जयवर्धन को 'सिंहलवीर' नाम से उद्धृत किया गया। अब बोधगया में सिंहलवीर का लोहा माना जाता। महन्त का चेला भी उनसे डरता था। पुलिस सहायता के लिए तैयार थी।

वैशाख पूर्णिमा की बुद्ध-जयन्ती को धूमधाम से मनाने का निश्चय कर जयवर्धन ने महन्त को भी निमन्त्रित किया। महन्त ने जुलूस के लिए हाथी-घोड़े दिए। भोज के लिए बड़े-बड़े बर्तनों की आवश्यकता थी, वह भी महन्त ने भिजवाए। जुलूस में दो हाथी, दो ऊँट और चार-पाँच घोड़े थे। महाबोधि धर्मशाला से जुलूस निकला। पूजा हुई, गरीबों को भोज दिया गया।

श्रीवर्धन को सिंहल भेज दिया गया। भारत का काम श्री देवप्रिय ने सँभाला। धर्मपाल ने लिखा—वह हमारे जैसा है, उसकी मदद करो।—गया शहर में ज्योति का हाल महाबोधि ने बनवाया था, उसका भी चार्ज जयवर्धन को दे दिया। वहाँ भी सभा हुई, लस्सी और रसगुल्लों से अतिथि-सत्कार किया गया। महाबोधि ने मुफ्त रात्रि-पाठशाला खोली। मुहल्ले के बड़े जमींदार काशीनाथ बाबू भी उसमें सहायता करते।

किसी समय जयवर्धन ने एक दूसरी दिशा में भी अपना प्रभाव दिखलाया। बोधगया का माली भगवानदास मन्दिर में फूल-माला बेचा करता था। उसके संतान होकर मर जाती थी। स्वामी जी (जयवर्धन) की साधुता से वह प्रभावित था। मन्दिर में पूजा के लिए वह मुफ्त फल देता था। एक दिन बड़ी नम्रता से उसने विनती की—स्वामीजी, बड़े दुःख में हूँ। हमारे बच्चा होता है, लेकिन जीता नहीं। मालूम नहीं मेरा दोष है या स्त्री का या घर का दोष है।

स्वामीजी ने कहा—तुम्हारा भी दोष है, तुम्हारी स्त्री का भी दोष है और घर का भी दोष है। तुम्हारा वंश चल सकता है, पर बड़े संयम की जरूरत पड़ेगी। होगा तुमसे ?

—हाँ, स्वामीजी, आप जो कहेंगे हम सब वही करेंगे।

—तुम कबूतर और बकरा पालते हो, बेचकर मारने के लिए। मछली का ठेका लेते हो। देवी को बकरा चढ़ाते हो, शराब पीते हो। यह सब छोड़ना पड़ेगा, तब तुम्हारा और तुम्हारी स्त्री का दोष दूर होगा। घर को साफ करना पड़ेगा। हमारे साथ हमारा देवता आता है, वह गन्दे घर में नहीं आना चाहेगा, या आकर मुश्किल कर देगा।

भगवानदास ने सब छोड़ा, घर को अच्छी तरह साफ किया, लीपा-पोता। मंगल का शुभ दिन निश्चित

किया था। उस दिन झाड़ू दे टाट बिछाया गया, पलंग पर साफ बिछौना रखा गया। गाय का दूध, फल, धूप-दीप का प्रबन्ध था। स्वामीजी पहुँचे। भगवानदास के निवेदन पर सभी कोठरियों में स्वामीजी के चरण पड़े, सभी जगह धूप दिया गया।

स्वामीजी ने कहा–मैंने देख लिया है। तुम्हारे घर में बहुत दोष है। कोठरी के कोने-कोने में पिशाच बैठे हैं। तुम अपना सुधार करो।

भगवानदास ने कहा–भगवती का तो खयाल करना होगा।

स्वामी–वही तो पिशाच को लानेवाली है।

–हाँ स्वामीजी, जो कहें वहीं करूँगा।

–अच्छा, तो यदि सन्तान चाहते हो तो हमारे बताए अनुसार चलना होगा। हम जन्तर बना देंगे। उसे घर में छिपाना होगा।

पास में बैठी भगवानदास की माँ भी कहने लगी–मैं हाथ जोड़ती हूँ स्वामीजी, मेरी बहू को गर्भ है, उसे बचाइए।

स्वामीजी–जरूर बचाएँगे, लेकिन दूसरे की जान बचाओगे, तभी तुम्हारे बच्चे की जान बचेगी।

घर-भर ने स्वामी जी के कहे अनुसार चलने का निश्चय किया। चलते वक्त पूछा–लड़का होगा या लड़की ?

–लड़की, अबके होगी।

स्वामी जी ने कागज पर दो ताबीज लिखे और कहा कि इसे सुनार के यहाँ से चाँदी पर उतरवा लो। एक यन्त्र माँ के लिए था और दूसरा बच्चे के लिए। तीन मास बाद लड़की पैदा हुई। उसके गले में ताबीज डाल दिया। आगे फिर भगवानदास की प्रार्थना पर स्वामीजी ने वरदान दिया–अगली बार लड़का होगा। तीसरा भी लड़का होगा, चौथी, पाँचवीं लड़कियाँ होंगी और छठी वार लड़का।–ऐसा ही हुआ। सभी बच्चे मौजूद हैं। लड़की का ब्याह हुआ। उसके बच्चे भी मरने लगे। बाबा ने कहा–भगवानदास फिर पीने लगा है।–लड़की बाप से लड़ने लगी–हम बाबा से वरदान लेना चाहते हैं और तुम पीने लगे हो ?

1927 की गर्मियाँ आईं।

जयवर्धन को मालूम हो गया कि हिमालय में गर्मी नहीं होती। दार्जिलिंग के बौद्धयात्रियों से भी उनका परिचय हो गया था। दार्जिलिंग में भोटिया बस्ती में वाई. एम. बी. ए. (तरुण बौद्ध सभा) को काजी फगूछिरिङ् ने स्थापित किया था। उनसे भी जयवर्धन का परिचय था। लद्दाख के हेमिस गुम्बा के बड़े लामा स्तग्-संग-रेपा बोधगया में आए। उन्होंने घुमक्कड़ को अपने यहाँ बुलाया। दार्जिलिंग से बंग बाबू का लड़का एल. टप्पा भी जाना-पहचाना था। पहिले भी जयवर्धन दार्जिलिंग में गर्मियों में गए थे। 1927 में दार्जिलिंग के वाई. एम. बी. ए. स्कूल में रह फगूछिरिङ् की सहायता करते थे। पर उतने से उनको सन्तोष नहीं हुआ। अब दूर की छलाँग मारना चाहते थे।

7
देवताओं के देश में (1932-34 ई.)

बाबा ने लद्दाख की जगह शिमला के ऊपरी भाग में जाने का निश्चय किया। लाहुल और कनौर के बौद्धयात्री उन्हें बोधगया में मिल चुके थे। पहिले वह मंडी गए, रेल-मोटर का रास्ता था। मंडी से उन्होंने पैदल का रास्ता पकड़ा, और सुकेत होते हुए रामपुर पहुँचे।

रामपुर-बुशहर के राजा उस समय पद्मसिंह थे। उन्होंने राजधानी में एक लामा मन्दिर (गुम्बा) बनवाया

था। टोमो गेशे लामा के चमत्कार से प्रभावित होकर उन्होंने यह कार्य किया एवं बौद्ध ग्रन्थ–कन्जुर और तन्जुर–मन्दिर में रखवा दिए। पीछे राजवंश पर भारी आफत आई। महामारी ने उन्हें निर्वंश-सा बनाकर छोड़ा। सिंहल घुमक्कड़ पहिले उसी गुम्वा में गए। वहाँ लामा लोग पाठ कर रहे थे। राजा को मालूम हुआ कि एक बड़ा भिक्षु गुम्बा में आया है। राजा ने आदमी भेजकर उन्हें दरबार में बुलाया और आने पर 'दण्डवत महाराज' कहकर प्रणाम किया। 'लंका का है' सुनकर और कौतूहल हुआ। राजा ने कहा–हमारा धन्य भाग है।–उसने लंका के बारे में पूछा और सेतुबंध तथा सीता के अशोकवन के बारे में भी प्रश्न किया।

घुमक्कड़ ने अतिरंजित रूप में सारी बातें बतलाईं–लंका में विभीषण राजा भी है। सेतुबंध जहाँ-तहाँ, अब भी देखा जा सकता है। सीता का अशोकवन भी है और पास छोटी-सी सीता-गंगा भी बह रही है।

राजा अश्रु-गद्गद हो सुनता और 'अहो भाग्य' कहता रहा। कभी मस्त हो कुर्सी पर उछल पड़ता था–स्वप्न में भी ऐसी बात कहाँ सुनने को मिलती है ? यही असली रामायण है।–दो-तीन घण्टे तक सत्संग चलता रहा। स्वामी जी एकाएक उठ खड़े हुए।

राजा ने नरमी से कहा–उठे क्यों सरकार ?

–हम दोपहर के बाद खाना नहीं खाते, इसीलिए जाना है।

–क्या हमारा भोजन नहीं ग्रहण कर सकते ?

–हाँ, ग्रहण कर सकते हैं।

राजा ने एक कमरे में खाना ठीक करने के लिए कहा। भात, रोटी और बारह-तेरह तरह की चीजें सजाकर लाई गईं। राजा ने आसन पर बैठाकर कहा–ग्रहण कीजिए महाराज !

भोजन हुआ। उसके बाद वहीं एक कमरे में चारपाई ठीक कर दी गई और स्वामीजी विश्राम करने लगे।

कुछ देर बाद फिर सत्संग शुरू हुआ। राजा का दरबार था। राजा की मर्जी देखकर दरबारी मंत्री ने पूछा–सरकार ! कुछ फल-वल ? सेब-केला, क्या लाएँ ?

कुछ फल लाकर रख दिए। राजा ने पूछा–हनुमानजी ने लंका को जला दिया, उसका कोई चिह्न है ?

–है महाराज, मिट्टी जलकर लाल हो गई। लंका में लाल मिट्टी मिलती है।

–हाँ, जली मिट्टी लाल होती है। कुम्हार के बर्तन भी जलकर लाल हो जाते हैं।

राजपुरोहित दस साल तक काशी में पढ़ा था। उसकी बड़ी-बड़ी दाढ़ी थी। वह नहीं चाहता था कि बौद्ध-भिक्षु ब्राह्मणों से बाजी मार ले जाए। घुमक्कड़ ने तुरन्त कहा–मैं एक श्लोक बोलता हूँ, यदि पण्डित अर्थ कर दें तो मैं समझूँगा कि वह असली काशी का पढ़ा पण्डित है।

श्लोक था–भुत्वानमेके खल मुसिकायो, कटसीसु खित्ता निज कन्नपस्से।...

ब्राह्मण पण्डित सिर पर हाथ रखकर बैठ गया। वह पाली नहीं जानता था, कैसे अर्थ बतलाता ? दरबारियों के लिए संस्कृत और पाली एक ही चीज थी। सबने कहा–स्वामीजी बड़ा पण्डित है।–राजा ने क्रोध में पुरोहित से कहा–पैर छूकर महाराज से अर्थ पूछो और माफी माँगो।

पुरोहित ने माफी माँगी और कहा–हम स्वामीजी के पास एक-दो घण्टे आकर कुछ सीखेंगे।

स्वामीजी ने कहा–जरूर आइए, हमें जो मालूम होगा वह बतलाएँगे।

सात समुद्र-पार लंका से आए घुमक्कड़ की धाक जम गई। राजा ने पूछा–सरकार, यहाँ कहाँ जाना है ?

–मानसरोवर का दर्शन करना है। उसी के लिए इतनी दूर से आया हूँ।

–इस कपड़े से सरकार, मानसरोवर नहीं पहुँचा जा सकता, वहाँ बहुत सर्दी होती है।

–कोई बात नहीं, मैं मरने से नहीं डरता।

राजा ने उनके लिए ऊनी और अण्डी के चीवर बनवा दिए। यह भी कहा कि अभी रास्ता साफ नहीं है। बर्फ पड़ी होगी और यात्री साथ के लिए नहीं मिलेंगे।

राजा ने अपने परिवार के नाश की बात कही, और यह भी कि मेरा वंश उच्छिन्न हो गया है।

सिंहल-गुरु ने कहा—आपका वंश उच्छिन्न नहीं होगा। आपकी रानियों में एक से दो लड़के होंगे। पर, इसके लिए कुछ व्रत लेना पड़ेगा। बलि और प्राणि-हिंसा छोड़नी होगी। अनेक प्राणों को वध कर एक प्राण का पालना ठीक नहीं है।

—हाँ सरकार, मंत्री और पुरोहित लोग लालची हैं। ये अपने मन की करवाते हैं। यदि न मानें, तो अंग्रेजों से हमारी शिकायत करते हैं।

गुरु ने कहा—हम वरदान देंगे, आपके पुत्र होंगे।

दो पुत्र हुए भी, पर उनके होश सँभालने तक भारत स्वतन्त्र हो गया, रामपुर-बुशहर राज्य भारत में विलीन हो गया।

रास्ता साफ न होने तक राजा के आग्रह पर सिंहल-गुरु डेढ़ मास रामपुर में रहे। उन्हें मालूम हुआ, कनौर में, कनम में, टोमो गेशे आजकल विराजमान हैं। टोमो, चुम्बी उपत्यका का तिब्बती नाम है, जो कलिम्पोंग से तिब्बत जाने में सबसे पहिले पड़ता है। टोमो में ही उनका जन्म होने से उन्हें टोमो गेशे कहा जाता। गेशे पण्डित (आचार्य) को कहते हैं। टोमो गेशे कोई बड़े पण्डित नहीं थे। बड़े पण्डित होने पर उनको वह ख्याति नहीं मिलती, जो कि मिली। वह भविष्यवाणी भी करते, देवताओं को भी साथ रखते। इस प्रकार गेशे से ज्यादा वह सिद्ध माने जाते। रामपुर के राजा ने उनका बहुत सम्मान किया। गेशे की कुछ भविष्यवाणियाँ ठीक उतरीं, जिसके कारण राजा की श्रद्धा और बढ़ी। परन्तु अन्त में कुल का नाश-सा हो गया था। सिंहासन का उत्तराधिकारी तक नहीं रह गया। श्रद्धा के दिनों में ही टोमो गेशे के उपदेश के अनुसार राजा ने रामपुर में बौद्ध मन्दिर (गुम्बा) बनवाया, बौद्ध धर्मग्रन्थ रखवाए और पाठ-पूजा की व्यवस्था की। भारी नाश होने पर भी राजा की गम्भीरता इसी से मालूम होती है कि उन्होंने गुम्बा को जैसे का तैसा रहने दिया। उसमें एक कारण यह भी था कि रामपुर रियासत में कनौर के लोगों का बहुत प्रभाव है। कनौर के लोग बौद्ध हैं और रामपुर-वंश भी मूलतः कनौरी वंश है। उनकी पुरानी राजधानी मोरो (वासपा उपत्यका) है, जहाँ गद्दी पर विना बैठे कोई रामपुर का राजा नहीं हो सकता। गोरखा शासन-काल में (उन्नीसवीं सदी, प्रथम दशक) रामपुर का राजा भागकर वहीं गया था।

डेढ़ महीने बाद सिंहल घुमक्कड़ सतलज के किनारे ऊपर की ओर बढ़े। उनके साथ राजा का आदमी था। सब इंतिजाम राजा ने कर दिया था। रामपुर शहर तीन हजार फुट की ऊँचाई पर है। रियासत के उस भाग को, जो तिब्बत की सीमा से सतलज के दोनों किनारों और वासपा नदी की उपत्यका में है, कनौर कहते हैं। शायद यह किन्नर शब्द का बिगड़ा रूप है। कनौर के लोग तिब्बत के साथ व्यापार करते हैं, जिसके कारण उनमें अच्छे-अच्छे व्यापारी हैं। जाड़ों में भारी बर्फ पड़ती है, जिससे पशुओं के लिए चारा अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है। हजारों वर्षों से किन्नर लोग जाड़े के आरम्भ में—सितम्बर-अक्तूबर में—अपने पशुओं को लिये नीचे की ओर चले आते हैं। वे कालसी और देहरादून के जंगलों, सुकेत और मण्डी के गर्म इलाकों में जाड़े बिताते, गर्मियों के शुरू होते फिर कनौर चले जाते। इस आवा-जाही के कारण सभी किन्नर पुरुष हिन्दी बोल सकते हैं, यद्यपि वही बात स्त्रियों के बारे में नहीं कही जा सकती। किन्नर भाषा वस्तुतः चीनी-तिब्बती वंश की भाषा है। किन्नर किरात (मोन्खमेर) वंश से सम्बन्ध रखते हैं, जिसका विस्तार आज भी चम्बा से कम्बोज तक देखा जाता है।

सिंहल-सिद्ध की ख्याति सारे राज्य में फैल गई, इसलिए रास्ते में जहाँ भी ठहरते, लोग दुःख-सुख पूछने उनके पास आ जाते। सराहन राज्य की कुलदेवी का स्थान तथा राजा का ग्रीष्म-निवास है। रामपुर तीन हजार फुट की ऊँचाई पर होने से गर्मियों में शीतल नहीं होता। सराहन प्रायः उससे दूना ऊँचा है। सतलज के बाएँ किनारे बहुत ऊँचे तिब्बत-हिन्दुस्तान सड़क से सिंहल-सिद्ध चले। उस समय अभी मोटर की सड़क नहीं थी। बांगतू में पुल से पार हो वह सतलज के दाहिने किनारे चलने लगे। पुल पार करने से पहिले डाकबँगले के चौकीदार या पोस्टमास्टर का दुःख दूर करना था। उनके साथ बेलीराम ओवरसियर और नरनदास ओवरसियर चल रहे थे। रात का बसेरा डाकबँगले में होता। उनके ही द्वारा चौकीदार ने अपना दुःख कहलाया था। उसकी

बीवी मर गई तब उसकी छोटी वहिन से शादी की। पहिली से कोई संतान नहीं थी। दूसरी को गर्भ-स्राव हो जाता था। इतना ही होता तब भी गनीमत थी। वह तो पागल की तरह आचरण करती थी। आँखें उसकी लाल-लाल थीं।

सराहन के चौकीदार ने प्रार्थना की। सिंहल-सिद्ध ने कहा—है बहुत मुश्किल। बड़ा भयंकर देवता पीछे लगा है। अच्छा, कोई बात नहीं, जाओ, गंगा से एक लोटा पानी लाओ।—गंगा वहाँ से दो हजार फुट से अधिक नीचे थी। पानी लाया गया। औरत को एक और भी रोग था। उसके दाहिने हाथ की बिचली अँगुली फूली हुई थी, जिससे कभी-कभी खून टपटप गिरने लगता था। सिंहल-सिद्ध ने मंत्र के साथ फूँककर छींटे मारे, फिर लोटे का जल डाल दिया। इसके बाद कह दिया :

—इसकी सौत बहिन होते हुए भी पीछे पड़ी थी। लो, सबको भगा दिया। अब बच्चा भी होगा।

सचमुच ही औरत के व्यवहार में परिवर्तन हो गया। अँगुली का खून उसी वक्त बंद हो गया और हफ्ते-भर बाद घाव भी नहीं रहा। वह खेतों में काम करने लगी। पीछे दो बच्चे हुए।

सराहन की देवी ने सौगात के रूप में खाता (रेशमी माला) भेजा। अपने यहाँ निमन्त्रित किया, पर सिंहल-सिद्ध ने कहा—हम किसी देवी के दरवार में हाजिरी नहीं देते।

वाँगतू के चौकीदार की बीवी उन्नीस वर्ष की थी। ब्याह के पाँच वर्ष बाद पागल हो गई। उसकी चिकित्सा में बिचारे ने अपना घर बेच डाला, पर कोई फायदा नहीं हुआ। वह भी सिंहल-सिद्ध के आने की प्रतीक्षा में बैठा था। बेलीराम अपने मित्र की सहायता करना चाहते थे। चौकीदार ने प्रार्थना की। बेलीराम ने कहा—हाँ, गुरुजी, इस गरीब की मदद करनी चाहिए, और आज रात यहीं निवास होना चाहिए।

बीवी नंगी रहती। गुरु ने कहा—जाकर कह दो कि उसकी बीमारी अच्छी करने के लिए गुरु आए हैं।

सचमुच जब गुरु का नाम सुना, तो उसने कपड़ा पहिन लिया। गुरु के दर्शन करने पर जीभ निकालकर हाथ जोड़ने लगी।

गुरु ने कड़कती आवाज से धमकाकर कहा—तू कौन है, जो इस बिचारी को दुःख दे रहा है। यहाँ से भागना पड़ेगा।

भूत सचमुच ही दूर हट गया। स्त्री ने रात को खाना बनाया और लोगों को खिलाया। भूत ने गुरु से कहा—हम नहीं रहेगा, हम चला जाएगा। हमको मत मारिए।

गुरु ने बेलीराम से कहा—नहीं, इसकी बात का ठिकाना नहीं है। लंका का बड़ा लोहे का काँटा लाओ, हम उसमें फँसाकर डण्डा मार के इसे भगा देंगे। दस-बीस भारी सूखी लकड़ी जलाओ, उसी के कोयले पर इसे जलाऊँगा।

भूत-गृहीत औरत रोने लगी—नहीं , गुरुजी, मैं मर जाऊँगी।—वह रोते-रोते गुरु के पैरों पर गिर पड़ी। भूत ने कहा—मैं चला जाऊँगा, फिर नहीं आऊँगा।

रात को वाँगतू में ही निवास रहा। गुरु ने स्त्री की माँग से कुछ केश काट उसमें पत्थर बाँध तीन बार घुमाया। तीन बार थूककर पीछे हाथ करके सतलज पार फेकने के लिए कहा।

अगले दिन सबेरे विशेष तौर से खाना बना। सबेरे भोजन के बाद गुरु की मण्डली ने प्रस्थान किया। सतलज पार हो उसके दाहिने किनारे आए। चौकीदार तीन-चार मील तक साथ आया। गुरु के आशीर्वाद से उसका सचमुच कल्याण हुआ, बच्चा भी पैदा हुआ।

दो-तीन दिन बाद वह चिनी पहुँचे। चिनी कनौर का सदर है। वहाँ सिर्फ चौबीस घण्टे रहे। आगे पाँगी के लोगों ने अपना गुम्बा पवित्र करने का आग्रह किया। सिंहल-गुरु जन्मजात फक्कड़ हैं, यह हम देख चुके हैं। दो टूक बात करना, कड़वी बात सुना देना उनके लिए मामूली बात है। उन्होंने कह दिया—नहीं, मैं नहीं जाऊँगा। हाँ, कलश में जल लाओ।

कलश के जल पर मंत्र पढ़कर फूँक दिया, और कहा—पहिले इस जल को देवता को पिलाओ, फिर सब जगह छिड़क दो।

किन्नर देवताओं का देश। वहाँ ऐसे देवता नहीं माने जाते हैं, जो मन्दिर में चुपचाप बैटे रहते हैं। कनौर के देवता चलते-फिरते हैं। एक खुली डोली (छोटा-सा स्तूप) बना रहता। स्तूप को किमख्वाब या कीमती रेशमी कपड़े से ढँक दिया जाता है। उसी के चारों ओर चाँदी-सोने के अनेक चेहरे लगा दिए जाते हैं। यही देवता है। डोली के बीच में चार-पाँच हाथ लम्बे भोजपत्र के दो डंडे लगे रहते। यह स्प्रिंग की तरह लचकते, हिलते-डोलते रहते। दो आदमी अपने दोनों कंधों पर डंडों को रखकर देवता को ले चलते। देवता से यदि कोई बात पूछी जाती, तो वह पूछनेवालों की ओर जरा झुक जाता, जिसका अर्थ 'हाँ' होता। यदि दूसरी ओर झुका तो 'नहीं'। यदि ऊपर-नीचे उछलता तो उसका अर्थ नाराज होना भी हो सकता है और कभी-कभी बहुत अच्छा भी। हरेक देवता के एक या अधिक ग्रोक्ष (ओझा) होते हैं, जिनके ऊपर आकर देवता जवाब देता है। तीसरा ढंग देवता से बात करने का चिट्ठी डालना है। कनौर के देवता से लोग अपनी सभी छोटे-बड़े कामों में सहायता लेते। देवताओं के पास पूजा चढ़ती है, वह कर लगा सकता है। हरेक देवता के पास गाँव के सबसे अच्छे खेत जागीर के होते, जिन्हें वह जोतने के लिए दूसरों को देता है, और आधा अनाज लेता है। देवताओं की वार्षिक आमदनी काफी होती, जिससे समय-समय पर बड़ी पूजा और भोज हुआ करता। उत्सव पर शराब का सदावर्त चलता। पूड़ी-मिठाई, गोश्त-मांस के भोज होते। खानेवाले वही गाँव के लोग होते, इसलिए उनके लिए यह घाटे का सौदा नहीं है। देवता के नाराज हो जाने पर पशु-प्राणी की भारी हानि होती। किन्नर देश में राजा और प्रजा ही नहीं, बल्कि कभी-कभी अंग्रेज अफसर भी उनके प्रभाव में आए और उन्होंने विशेष जागीर दिलवाई।

सिंहल-सिद्ध देवता के भी गुरु थे, इसलिए वे उनका सम्मान करते। बेलीराम कनम के रहनेवाले थे, जहाँ टोमो गेशे उस वक्त रहते थे। वह चाहते थे, सिद्ध वहाँ जाएँ, पर पास के गाँव लबरंग का देवता तम्बू लगाकर रास्ते में बैठा हुआ था। कनम और लबरंग दोनों ऐतिहासिक स्थान हैं। कनम बहुत बड़ा गाँव है। वहाँ दसवीं सदी में संस्कृत से भोटिया में ग्रन्थों के अनुवाद करनेवाले महान अनुवादक (लोचवा) रिन-छेन्-जंग-पो पैदा हुए। आज भी लोचवा के अवतरण के कारण यह प्रधान स्थान माना जाता है। तिब्बत में भी उसकी कितनी ही जागीरें तथा गुम्बाएँ हैं। लबरंग अपेक्षाकृत छोटा गाँव है, पर वहाँ अब भी पुराने जमाने का अनेक मंजिला किला मौजूद है। कनम का देवता डब्ला बड़ा प्रतापी है, तो लबरंग का देवता भी अपने को कम नहीं समझता। टोमो गेशे ने अपना वरदहस्त डब्ला के सिर रखा, यह लबरंग के देवता को पसन्द नहीं था। टोमो गेशे ने पहिले सूचना भेजी कि सिंहल-गेलोंग (भिक्षु) को हमारे यहाँ अतिथि-सत्कार स्वीकार करना चाहिए। अब सिंहल-सिद्ध के सामने बड़ा धर्म-संकट था। गाँव के सारे लोग अपने देवता के साथ प्रार्थना कर रहे थे। देवता ने सिंहल-सिद्ध के कनम जाने की बात सुनकर बहुत अफसोस करते सिर झुका दिया। गाँव के लोगों ने कहा—लम्बर साहब को दुःख है।—देवता को लम्बर साहब भी कहा जाता था। सिंहल-सिद्ध ने आश्वासन दिया कि हम देवता को भूलेंगे नहीं।

कनम में पहिले डाकबँगला में गए। टोमो गेशे ने संदेश भेजा कि हमने यहाँ रहने का इंतिजाम किया है। चौबीस घण्टे डाकबँगले में रह बेलीराम की ससुराल में गए। कनौर में पाण्डव-विवाह की प्रथा है, अर्थात सभी भाइयों की एक ही पत्नी होती है। पाण्डव-प्रथा में भाइयों के अलग होने की जरूरत नहीं पड़ती, हरएक घर का एक नाम होता है, जो कुल का पर्याय भी समझा जाता है। बेलीराम के ससुराल का नाम ओपंपा था। किसी समय यह घर रामपुर रियासत का सबसे धनी परिवार था, इसमें शिक्षा भी काफी थी, लेकिन सारे लोग कुछ वर्षों में खतम हो गए और घर की लड़की बेलीराम से ब्याही गई। अब वही इस घर के स्वामी थे। बेलीराम भी बहुत दुःखी थे, क्योंकि उन्हें कोई सन्तान नहीं थी। टोमो गेशे ओपंपा के यहाँ ठहरे हुए थे। बहुत विशाल घर था। कनौर देवदारों का देश है। मकान बनाने में पत्थर के साथ लकड़ियों का भी बहुत उपयोग होता है। लकड़ी देवदार की होती है। देवदार में कीड़ा नहीं लगता, न पानी से नुकसान होता है। उसकी परम शत्रु आग है। आग लगने पर मोमबत्ती की तरह जलता है। कितने ही सालों बाद ओपंपा का यह पुराना मकान जलकर खाक हो गया। उस समय तो यह राजभवन-सा था। घर में कुछ कमरे सिंहल-सिद्ध के लिए विशेष तौर से साफ करवाए गए। वहाँ मोटे-मोटे आसन और सामने चाय रखने के लिए कलापूर्ण चौकियाँ रखी गईं।

चाय पीने के प्याले सोने के थे। सिंहल-गुरु ने उसे देखते ही कहा–जातरूपरजत (सोना-चाँदी) हमारे लिए निषिद्ध है, इसे हटाओ। टोमो गेशे हँस पड़े। आखिर वह स्वयं सिद्ध थे। कहते हैं, दो तलवारें एक म्यान में नहीं रहतीं, दो सिंह एक जंगल में नहीं रहते, उसी तरह दो सिद्ध भी एक स्थान में नहीं रह सकते। पर टोमो गेशे बड़े व्यवहार-कुशल थे। दार्जिलिंग में उनकी गुम्बा में यूरोपियन और अमेरिकन सम्मानपूर्वक सत्संग करने आते। एक जर्मन विद्वान ने तो बड़े अभिमान से कहा था–मेरे गुरु टोमो गेशे हैं।–टोमो गेशे स्वयं किसी के अवतार नहीं थे, पर उनके मरने के बाद उन्हें अवतार माना गया। आज भी वह मान्यता मौजूद है। दोनों सिद्धों में अक्सर नोक-झोंक हो जाती। सिंहल-सिद्ध को तिब्बती भाषा मालूम नहीं थी, इसलिए सारा काम दुभाषिये के जरिये करना पड़ता।

टोमो गेशे ने सिंहल-गेलोंग को प्रथम स्थान दिया और अपने लिए द्वितीय स्थान रखा। पूछने पर कहा–वह भारत का भिक्षु है।–जयवर्धन ने सारे जातक पढ़े थे। सिंहली और पाली में कितनी ही धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन किया था। टोमो गेशे के कहने पर वह एक महीने तक कथा सुनाते रहे। बेलीराम दुभाषिया थे। कथा इतनी प्रभावशाली थी कि टोमो गेशे की आँखों से आँसू गिरते। कथा में गाँव के बाहर के भी लोग शामिल होते। सिंहल-सिद्ध के चमत्कार की कथाएँ फैली हुई थीं। इसलिए लोग रोज दस-बीस की संख्या में उनसे मिलने आते। टोमो गेशे नहीं चाहते थे कि लोग उन्हें छोड़, सिंहल-सिद्ध के पीछे दौड़ें। वह अपने आदमियों से कुछ कहलाकर उन्हें लौटा देते। एक महीने बाद सिंहल-सिद्ध को रहस्य मालूम हुआ–टोमो गेशे नजरबन्द करके रखना चाहता है।–एक दिन लबरंग का आदमी आया और अपने देवता की ओर से गुरुजी को निमन्त्रण दिया। गुरुजी ने कहा–अच्छा, सब ठीक करो, हम आएगा।

कल जाने का निश्चय कर लिया। टोमो गेशे ने पूछा–लबरंग से कोई सूचना तो नहीं आई ?

–हाँ आई। हमने जाने का वचन दे दिया।

गेशे ने कहा–लबरंग का देवता अच्छा नहीं है। काहे को हैरान होते हैं, यहीं रहें।

–कोई परवाह नहीं। हमने वचन दे दिया।

यह सुनकर गेशे का मुँह फीका हो गया।

अगले दिन सिंहल-सिद्ध चले। कनम और लबरंग की सीमा पर एक छोटी-सी नदी बहती है। लबरंग का देवता सदल-बल अपनी सीमा पर प्रतीक्षा कर रहा था। कनम के देवता डब्ला ने नदी-किनारे तक पहुँचा दिया। दोनों देवताओं में हमेशा झगड़ा रहता। सिंहल-सिद्ध ने दोनों में मेल कराना चाहा, पर टोमो गेशे जिस काम को नहीं कर सकते थे उसे दूसरा करे, यह उन्हें पसन्द नहीं था। वह डब्ला देवता को लेकर तीन महीने के लिए ध्यान में बैठ गए।

बाजे-गाजे के साथ सिद्ध का स्वागत हुआ। देवता के सभी आदमियों के हाथों में मक्खन की टिक्की और एक-एक बोतल शराब थी, और दूसरे हाथ में धूपदान। देवता ने बोतल को सिंहल-सिद्ध के हाथ में देना चाहा। इस पर सिद्ध बिगड़ गया–यह कैसी बदतमीजी ? हम शराब छू भी नहीं सकता। हम तुम्हारे साथ नहीं जाएगा।

देवता का ग्रोक्ष रोने लगा–गुरुजी, हमारी इज्जत चली जाएगी।

सिद्ध ने बिगड़कर कहा–तो यह ऊटपटाँग बात होती रहेगी और मैं तुम्हारे साथ चलूँगा ?–देवता ने ग्रोक्ष (ओझा) के मुख से गिड़गिड़ाकर कहा–गुरुजी, अब ऐसा नहीं होगा। जैसा आप कहेंगे, हम करेंगे। पधारिए।

लबरंग में गुम्बा में रहने का इंतिजाम किया गया, पर सिंहल-गुरु ने कहा–हम देवता के घर में रहेंगे। हम शराबखाने में नहीं रहेंगे।

इस पर जुलूस रास्ते में घण्टे-भर के लिए ठहर गया। देवता के घर को अच्छी तरह साफ किया गया। धूप दी गई। वहीं रास्ते में छोटा-सा पोखरा था। आठ-नौ हजार फुट की ऊँचाई पर वहाँ का पानी शीतल और अमृत था। गाँव के लोग उसका उपयोग खेतों की सिंचाई के लिए भी करते थे। देवता ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया–पोखरे का पानी कम हो गया है। क्या जाने झरना ही बन्द हो जाए !

गुरुजी ने मंत्र पढ़कर पोखरे में जौ फेंकते हुए कहा–पानी कम नहीं होगा, बढ़ जाएगा। हाँ, गाँव-भर मिलकर पोखरे का कीचड़ निकाल दे।

गुरुजी जानते थे कि बहुत दिनों से कीचड़ न निकालने से पानी कम हो गया है। कीचड़ निकालने पर बढ़ जाएगा।

देवता के स्थान पर पहुँचे। सब कुछ साफ करने पर अब भी शराब की गन्ध आ रही थी। गुरुजी ने देवता से कहा–क्यों ऐसा करता है ? तू अपने को बौद्ध कहता है और शराव से इतना प्रेम ?

देवता ने कहा–बहुत दिनों से आदत लगी है, इसलिए छोड़ना मुश्किल हो रहा है।

–बुद्ध भगवान ने अपना प्राण तक दे दिया और तुम शराब भी नहीं छोड़ सकते ?

–हम तो छोड़ सकते हैं, पर ये लामा लोग अपने पीने के लिए उसे छुड़वाना नहीं चाहते।

किले के नीचे भारी भीड़ लगी हुई थी, वहीं गुरु और देवता में बात छिड़ी। लामा लोग सुन रहे थे, उनका मुँह सूख गया था।

बड़े लामा और उनके सहायक ने आकर जीभ निकालकर कहा–गुरुजी, क्षमा करें।

गुरुजी ने फटकारते हुए कहा–तुम लोगों की बात का ठिकाना नहीं, देवता को भरमाते हो।

लामा ने कहा–गुरुजी ! हमारे गुरु रिपोछे (पद्मसम्भव) ने देखा कि उत्तर में राक्षस लोग बहुत हैं, इसलिए पंचामृत देकर उन्हें शान्त करने का उपाय बतलाया है।

–क्या कहा, पंचामृत ? पंचामृत शराब है ? पंचामृत दीर्घायु होने की दवा है। पंचामृत है दूध, दही, मक्खन, मधु और फलों का रस।

देवता ने अपने कयथस् (कायथ) को नोट करने के लिए कह दिया।

गुरुजी ने कहा–बकरे की जगह मीठा डालकर बड़ा रोट बनाओ और घी के साथ दूध देवता को अर्पण करो।

देवता बड़ा खुश हुआ। आगे बढ़कर सभी बातें स्वीकार कीं।

ग्रोक्ष पर सवार देवता ने हाथ में तलवार ले कूदकर कहा–आज से यही काम करना होगा, जो गुरुजी ने बतलाया है।

गुरुजी अब अपने आसन पर विराजमान थे। उसी रात से उन्होंने जातककथा शुरू कर दी। बोधिसत्व होते समय बुद्ध ने कैसे-कैसे त्याग किए। दूसरों का प्राण नहीं लिया, बल्कि प्राण बचाने के लिए अपना प्राण दे दिया। कथा के अन्त में पूछते–तुम क्यों हिंसा करते हो ?

कनमी में अनुवाद बेलीराम किया करते थे। बेलीराम अच्छी हिन्दी-उर्दू जानते थे। यहाँ भी एक दिन बेलीराम ने ही अनुवाद का काम किया। उसके बाद लबरंग के कुंगा छेरिंग ने वह काम अच्छी तरह सँभाल लिया। रात के बारह बजे तक सारा गाँव अपने देवता के साथ कथा सुनता। कथा से पहिले लोगों को पंचशील दिया जाता। गाँव और आसपास के हजारों आदमियों ने शील ग्रहण किया। गुरु-पूजा की तैयारी हुई। गुरुजी ने कहा–मीठा रोट और फल, यही गुरु-पूजा की सामग्री है।–उस दिन गुरुजी ने गृहस्थों को गले में सफेद कपड़े की चीर बाँधी और भिक्षुओं के गले में पीली। देवता भी खुश था और दुनिया भी।

एक दिन गाँव के देवता ने प्रार्थना की–गुरुजी की बड़ी कृपा होगी, हम लोगों के ऊपर, हमारे गाँव में छोरतेन (स्तूप) नहीं है। इसीलिए भूत-पिशाच हमारे पशु-प्राणियों को बहुत नुकसान पहुँचाते हैं, फसल को भी नुकसान पहुँचाते हैं।

गुरुजी ने कहा–कल दिन भी ठीक है। कल कथा नहीं होगी।

देवता ने लोगों के सामने व्याख्यान दिया–गुरुजी लोचवा का अवतार होकर हमारे यहाँ आए हैं, वह हमारे उपकार के लिए सब कुछ कर रहे हैं, कल सब तैयार होकर आएँ।

अगले दिन गाँवभर के लोग जमा हुए। बाजे-गाजे के साथ सबेरे ही जुलूस निकला। आगे-आगे देवता, फिर गुरुजी और उनके पीछे गाँव के नर-नारी। जुलूस भूमि की तलाश में घूमता रहा। दूर से टोमो गेशे भी

उसे देखते रहे। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पोखरे के पास स्तूप के लायक एक जमीन मिली। गुरुजी ने पैर से ठोकर मारते हुए कहा–बस, यही जमीन ठीक है।–जमीन पोखरे से एक फर्लांग पर थी। पैर मारते समय आकाश से भी बादल की गरज सुनाई पड़ी। यह बड़ा शुभ शकुन था। सब लोग और भी खुश हो गए, जब देखा कि कनौर के लिए दुर्लभ बूँदें भी पड़ने लगीं। देवता ने कहा–यहीं खाना होगा और यहीं काम करते हुए रहना होगा।–उसी समय कुदालें मँगा जमीन ठीक कर दी गई। लोग रोज गाना गाते हुए काम करते। टोमो गेशे ने जब सुना, तो वह बहुत उदास हो गए। लवरंग की औरतों ने स्तूप के लिए आभूषण दान दिए। लबरंग में खम (पूर्वी तिब्बत) का गेशे रहता था, उसी को दानपति बना दिया। उस दिन खूब नाच-गाना हुआ। किसी ने तत्काल सिंहल-गुरु का गीत भी बना दिया। किन्नर लोग नाचने-गाने के बहुत प्रेमी हैं। अपने स्वर की मधुरता के लिए किन्नर-कण्ठ बहुत प्रसिद्ध है।

अगले दिन से स्तूप का काम बाकायदा शुरू हो गया। गुरुजी ने क़ागज पर नक्शा बनाकर कारीगर को समझाया। पत्थर के कारीगर किन्नर में सुलभ हैं। गुरुजी ने तीस रुपया अपनी ओर से दिया और कहा कि हमारे मानसरोवर से लौटने तक स्तूप बन जाना चाहिए। देवता ने गुरुजी से वचन ले लिया कि वह मानसरोवर से इसी रास्ते लौटेंगे।

मानसरोवर के लिए रवाना होते समय लबरंग के कुछ लोग सोलह-सत्रह मील पर अवस्थित अगले गाँव स्पू तक आ गए। कनम तक कनौरी भाषा बोली जाती है, पर स्पू से तिब्बती भाषा शुरू हो जाती है। रास्ता कनम होकर था। डब्ला ने रहने के लिए निमन्त्रण दिया। गुरुजी ने उसकी बात न मानी। इस पर डब्ला का नाराज होना स्वाभाविक था। ओपंपा ने पाँच सौ रुपया और एक घोड़ा दान देने का लालच दिया। गुरुज़ी ने कहा–हम घोड़ा नहीं चाहते, रुपया नहीं चाहते, हम लोक-उपकार चाहते हैं।

स्पू में डाकबँगले में ठहरे। स्पू बहुत बड़ा गाँव है। जर्मन मिशनरियों ने अपना यहाँ अड्डा बनाया हुआ था, जो प्रथम विश्वयुद्ध में उजड़ गया। कनम में जहाँ देवदार के जंगल मिलते हैं, वहाँ उनसे कुछ ही मील पर पहाड़ नंगे हो जाते हैं। केवल छोटी-छोटी झाड़ियाँ देखने में आती हैं। इस महागाँव में कोई अपने आप उगे वृक्ष नहीं। वृक्ष हैं, लेकिन आदमियों के लगाए हुए हैं। मिशनरियों ने कुछ सेब-नासपाती के वृक्ष लगाए थे, जो अभी भी मौजूद हैं और मीठा फल देते हैं।

डाकबँगले में कोटगढ़ के रायबहादुर रामसिंह मिले। राजा ने उनसे कह दिया था कि सिंहल-सिद्ध की सहायता करें। कुछ आदमी लबरंग से यहाँ तक आए थे, उन्हें भी विदा कर दिया। उस समय गाँव में एक प्रसिद्ध लामा रोपा बैठा हुआ था। वह शिक्षित था। उसने सिंहल के बौद्धधर्म के बारे में कितनी ही बातें पूछीं। तीन दिन तक गुरुजी को अपने विहार में रखा और सभी स्थानों को पवित्र करवाया। रोपा लामा निगमापा सम्प्रदाय का था। चौबीस घण्टे शराब के नशे में चूर रहता था। विवाहित था, स्त्री बिचारी उसके शराब, जुए और व्यभिचार से परेशान थी। लामा ने गुरु-पूजा करनी चाही, तो गुरुजी ने कहा–जब तक अपना आचार शुद्ध नहीं करते, तब तक गुरु-पूजा कैसी ?

तिब्बत में शराब (छंग) पानी की तरह मानी जाती है। गेलुक्पा अवश्य छंग पीना अच्छा नहीं समझते, पर उनके देवताओं के लिए वह अत्यावश्यक है। बाकी तीनों सम्प्रदाय छंग की छूट मानते हैं। निगमापा तो पद्मसम्भव के अनुयायी हैं, जिनके लिए समुद्र-भर शराब भी कम है। बेचारा लामा यदि चौबीस घंटे छंग पीकर बुत बना रहता, तो उसमें उसका दोष क्या था ? पर सिंहल-सिद्ध शराब के पीछे लाठी लेकर पड़े हुए थे, स्पू के लोग उनके सिद्धान्तों के कायल थे, इसलिए वहाँ के रोपा लामा ने शराब न पीने की प्रतिज्ञा की। कहीं प्रतिज्ञा तोड़ न दे, इसलिए लोगों के सामने उसे शपथ दिलवाई गई। चालीस-पचास दूसरे आदमियों ने भी पंचशील ग्रहण किया। सिंहल-सिद्ध के चले जाने पर उस प्रतिज्ञा का बहुत समय तक पालन किया गया, इसमें सन्देह है। यद्यपि सिद्ध ने कह दिया था कि यदि शीलभंग किया तो घर ही गिर जाएगा। पशु-प्राणी की हानि होगी।

अगला गाँव नम्ग्या था, जो भारत का अन्तिम गाँव है। वहाँ डाकबँगला था, लेकिन सिंहल-सिद्ध को गुम्बा में ठहराया गया। शहनाई और बाजे-गाजे से स्वागत हुआ। नम्ग्या नंगे पहाड़ों का गाँव है, पर लोगों ने खूबानी,

नासपाती आदि के पेड़ लगा रखे हैं, जिससे गाँव हरा-भरा मालूम होता है। अपने काम-भर के लिए जौ भी हो जाता है। इस समय सारी फसल नष्ट होनेवाली थी, क्योंकि वर्षा नहीं हो रही थी। गाँव-भर के लोगों ने गुरुजी के सामने 'त्राहि-त्राहि' की। गुरुजी ने स्तूप-पूजा करवाई, बुद्ध मूर्ति का जुलूस सारे गाँव में फिरा। संयोग से उसी शाम खूब वर्षा हुई।

नम्ग्या से कुछ ही मील पर तिब्बत की सीमा पर सतलज में गिरनेवाला एक छोटा-सा सूखा नाला है। पर, रास्ता नदी के किनारे-किनारे नहीं है। इसके लिए एक जोत (ला) पार करने कई हजार फुट चढ़ना-उतरना पड़ता है। अगला गाँव शिपकी है, इसलिए इसे शिपकी ला कहते हैं।

8
मानसरोवर (1933 ई.)

सिंहल-सिद्ध शिपकी पहुँचे। वहाँ के जटाधारी लामा ने धूपदानी के धूप से स्वागत किया। एक सप्ताह शिपकी में ही ठहरना था। पोलिटिकल एजेंट से परिचय हुआ। नम्ग्या में वर्षा कराने की सूचना लोगों को मिल चुकी थी, इसलिए उन्होंने गुरु से प्रार्थना की कि हमारे गाँव का भी कल्याण हो, ऐसा उपाय कर दीजिए। गुरुजी ने धूमधाम से पूजा करवाई। अब वह पश्चिमी तिब्बत प्रदेश में थे; जहाँ अन्न की अपेक्षा भेड़-बकरियाँ और याक ज्यादा होते हैं। इस भूमि में घास इतनी उपजती है कि लाखों पशु पाले जा सकते हैं। भेड़ यहाँ वालों के लिए आमदनी का सबसे बड़ा साधन है। यद्यपि जहाँ-तहाँ शिपकी जैसे गाँव हैं, पर अधिक समय लोग याक (चमरी) के काले तम्बुओं में रहते हैं। मक्खन भी यहाँ की विशेष चीज है, जो प्रायः याक का होता है। याक गाय की जाति है,इसलिए इसका मक्खन पीला होता है। भेड़ या बकरी के ताजे चमड़े में मक्खन को डालकर सी दिया जाता है, जिसके कारण उसके पिघलने का डर नहीं रहता। दो-चार महीने तक बदबू भी अधिक नहीं होती। बेचने या ले जाने की सुविधा के लिए मक्खन का गोला सेर से दस सेर तक हो सकता है। गो-पालों के पशु नहीं होते। मालिकों के हजारों जानवर अर्धदास चरवाहों की देख-रेख में रखे जाते हैं। यदि कोई पशु मर जाए तो सबूत के लिए पूँछ-खुर अपने पास रखने पड़ते। उसे नियमित परिमाण में मक्खन रखना पड़ता। मक्खन अधिकतर दही से निकाला जाता। याक के दही में घी बहुत होता है। मथने के लिए मथानी का उपयोग नहीं होता, एक मिट्टी की ढोलक-सी होती है, जिसके बीच में एक सूराख होता है। दही इसी में डाल दिया जाता, फिर हाथ से हिलाकर उसमें मथा जाता है। कुछ देर में मक्खन ऊपर चला आता। छाछ या दही पशुपालकों के डेरों में जाने पर आगन्तुक को मुफ्त मिलती। छाछ को फिर आग पर चढ़ा दिया जाता, जिससे पानी अलग हो जाता। गाढ़े भाग का पनीर (छुरपी) बनाया जाता। यह इतना कड़ा और चिम्मड़ होता है कि इसे मुँह में घण्टों रखा जा सकता है। तिब्बती लोगों के लिए यह सुपारी का काम देता है। इसे मुँह में रखने से प्यास भी नहीं लगती।

शिपकी में सिंहल-सिद्ध की सेवा में सौ से ऊपर मक्खन के गोले आए, जिन्हें उन्होंने वहाँ के बड़े लामा को दे दिया।

गरतोक पश्चिमी तिब्बत का शासन-केंद्र है। चीन के तिब्बत में प्रवेश करने के बाद सबसे पहिला काम यह हुआ कि गरतोक को चीनी तुर्किस्तान (खोतन, काशगर) से मोटर-सड़क द्वारा मिला दिया गया। यह सड़क लद्दाख के उस भाग से जाती है जिसमें आदमियों की आबादी नहीं है पर वह भारत और चीन के विवाद का विषय बना हुआ है। गरतोक में तिब्बती गवर्नर रहता और भारत का पोलिटिकल एजेन्ट भी कुछ समय जरूर वहाँ रहता। पोलिटिकल एजेन्ट ने अपने कैम्प में गुरुजी को रखा, जो गवर्नर के निवास-स्थान से एक मील दूर एक बड़े मैदान में था। गवर्नर का सिपाही रायबहादुर के पास आया। अगले दिन पार्टी दी गई, जिसमें

गवर्नर भी पधारे। यहीं सिंहल-गुरु का उनसे परिचय कराया गया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गुरुजी के चमत्कारों की सूचना बढ़-चढ़कर पहिले ही गवर्नर के कानों तक पहुँच चुकी थी। अगले दिन गवर्नर ने पार्टी दी। उन्होंने गुरुजी के मानसरोवर तक जाने का प्रबन्ध किया। गाँव के मुखिया को आज्ञा दी कि हर जगह सवारी का इंतिजाम करे।

यह भूमि नंगे छोटे-छोटे पहाड़ों की है। जब पानी की धारा चौदह हजार फुट पर हो, तो तीन-चार हजार फुट ऊँचे होने पर ही पहाड़ सत्रह-अठारह हजार फुट ऊँचे हो जाते हैं। हवा बहुत पतली है, जिससे साँस लेने में ऑक्सीजन की कमी मालूम होती है। तिब्बती लोग इसे मिट्टी का विष (सदुंग) कहते हैं। पहाड़ बहुत दूर हैं और बीच में बड़े-बड़े मैदान-से भी दीखते हैं। मैदान को तिब्बती भाषा में थांग कहते हैं। हजारों मीलों तक फैले इस विशाल मैदान को चांगथांग (उत्तरी मैदान) कहा जाता है। यहाँ के पशुपालों को थांगपा या डोंक्पा कहते हैं। गरतोंक में ही पता लगा कि कैलास और मानसरोवर के मैदानों में सरकार का नहीं, डाकुओं का राज्य है। वे यात्री को असहाय देखकर टूट पड़ते हैं। हरेक कैलास-मानसरोवर के यात्री को इसके लिए तैयार होकर जाना पड़ता है। प्रायः व्यापारियों की बड़ी जमातों को हथियारबन्द होकर जाना पड़ता है।

सिंहल-सिद्ध की जमात इतनी बड़ी नहीं थी, पर उन्हें अपने ऊपर पूरा विश्वास था। वहाँ मैदान में दूर जंगली गधे (क्यांग) पच्चीसों की संख्या में खड़े होकर यात्रियों को देख रहे थे। क्यांग गधे ही हैं, किन्तु वे मध्यम आकार के घोड़े की तरह लम्बे-ऊँचे होते हैं। अभी तक उनको पालतू नहीं बनाया जा सका। जंगली भेड़ें तथा दूसरे जानवर भी कहीं-कहीं देखने में आए। चारों ओर घास का मैदान दिखाई पड़ता था, यद्यपि पास जाने पर घास दूर-दूर मिलती। हवा भी यहाँ बहुत तेज चलती। कहीं-कहीं हजारों मन बालू को एक जगह से दूसरी जगह ले जाना उसका काम था। यहाँ मोटा ऊनी कपड़ा भी काफी नहीं होता। सिंहल-गुरु को चमड़े का कपड़ा मिला था, जिसका उपयोग यहाँ कर रहे थे। उनके पैरों में तिब्बती लम्बा बूट था। नाक छोड़कर मुँह भी ढका था। पॉलिटिकल एजेन्ट ने दस्ताना, मोजा, मंकी कैप तथा एक गुलूबन्द दे दिया था। पैदल चलने की जरूरत नहीं थी। चलने के लिए घोड़ा और सामान ढोने के लिए पशु मिले थे। रास्ते में डोंक्पा के तम्बू कहीं-कहीं दीख पड़ते थे। बरसात के कारण घास से हरे-भरे पहाड़ बड़े सुन्दर दीख पड़ते थे। दिन-भर चलने पर डोंक्पा कैम्प मिलता, जहाँ रात के लिए ठहर जाते। सिंहल-गुरु सीधे-सादे पशुपालों को बतलाते कि सिंहल का राजा मतबलसेन मरकर यहीं देवता बना है। एक कैम्प में शाम को ठहरे। तिब्बत के अवतारी लामाओं को रिंपोछे (रत्न) कहा जाता। गुरुजी को भी लोग सिंहल-रिंपोछे कहते थे। घोड़े से उतरकर रिंपोछे गरम-ऊँचे आसन पर विराजमान हो धूप जलाकर पाठ करने लगे। रात को परित्राण-देशना हुई, जिससे दुष्ट पिशाच कैम्प से भाग जाएँ। रात को गोश्त मिलाकर थुक्पा (गाढ़ा सूप) बनता। खाने का कोई कष्ट नहीं था। लोग अपने दुःख-सुख के बारे में रिंपोछे से प्रश्न करते और उनका आशीर्वाद लेते थे। कहीं मरी भेड़ देखकर रिंपोछे घोड़े से उतर पड़ते और मुँह से बुदबुदाकर फूँक मारते। लोगों के पूछने पर कहते—इसकी आत्मा बिचारी दुःख में मँड़रा रही थी, उसे अच्छी जगह भेज दिया।

एक जगह देखा, शहनाई की आवाज आ रही थी। बाहर निकलने पर मालूम पड़ा, पूजा हो रही है। लोग आश्चर्यचकित हो उठे—अरे बाप रे, यहाँ कौन पूजा कर रहा है ? देवता कर रहे हैं। सब सिंहल-रिंपोछे की महिमा है।

लबरंग के पोनसंग छेरिंग ने अमानत के पैसे को मार लिया था। रास्ते में उससे भेंट हो गई। गवर्नर ने सुना, तो उसे डाँटकर रुपया देने के लिए कहा। पाँच सौ रुपया कैलास मानसरोवर में दान करना है, उसका इंतिजाम हुआ। बाकी रुपया थोड़ा-थोड़ा कर देने के लिए उसने वचन दिया।

आखिर श्वेतहिम से मण्डित जगत का सुन्दरतम पर्वत कैलास आ गया। उसकी परिक्रमा की जाती है। परिक्रमा में चार-पाँच गुम्बाएँ हैं। हरेक गुम्बा में उतरकर पूजा-पाठ होता। कैलास से अब मानसरोवर जाना था, जहाँ डाकुओं का डर था। पन्द्रह-बीस घर के एक गाँव में तीन दिन ठहरना पड़ा। लोगों ने याक ले जाने के लिए कहा। रास्ते में कितने ही तालाब मिले, जो मानसरोवर के बराबर तो नहीं थे, लेकिन काफी बड़े थे।

भूतों-पिशाचों की भूमि में राकसताल होना स्वाभाविक था।

राकसताल करीब-करीब मानसरोवर के बराबर था। वह उसका जुड़वाँ सरोवर था। राकसताल से ही सतलज निकलती है। मानसरोवर से भी जल राकसताल में जाता है। लोगों ने गुरुजी को बतलाया कि राकसताल इतना खराब है कि इसके पानी को पशु-पक्षी भी नहीं पीते। इसके पानी के छूने से आदमी राक्षस बन जाता है। रिंपोछे ने इसे झूठा करने के लिए जाकर ताल के पानी में हाथ लगाया। लोग दूर से बड़े आश्चर्य के साथ देख रहे थे, जब गुरुजी ने ताल में पैर डाले और पानी से हाथ-मुँह धोया। लौटने पर लोग दण्डवत करने लगे—बुद्ध हैं, हमें आशीर्वाद दीजिए।—गुरुजी ने कहा—इस ताल का पानी बहुत अच्छा है। हमने राक्षस देख लिया। वह वहाँ पानी में छिपा हुआ था। उसे मैंने भगा दिया।

गाँववालों ने घोड़ा नहीं दिया, उसकी जगह पच्चीस रुपया दिया। सवारी और सामान के लिए याक मिले। याक भैंस की तरह मजबूत, हाथ-हाथ लम्बे काले बालोंवाला जानवर है, जो बहुत धीरे-धीरे चलता है। पर भड़कने पर वह बहुत उछलता-कूदता है। डाकू घोड़े को पसन्द करते हैं, याक को नहीं, इसलिए लोगों ने घोड़ा नहीं दिया। गुरुजी थक जाने पर ही याक की सवारी करते, नहीं तो पैदल चलते।

राकसताल से दो दिन बाद वह मानसरोवर के किनारे पहुँचे। छुकु गुम्बा में सूर्यास्त से कुछ पहिले पहुँचे। गुम्बा का दरवाजा बन्द था। डाकुओं के डर के मारे ऐसा किया जाता। यह गुम्बा ल्हासा की सेरा गुम्बा के अधीन है। उस समय गुरुजी के लिए सेरा नाम-भर था। वह नहीं जानते थे कि यह पाँच हजार भिक्षुओं के रहने का विशाल विहार है। आवाज देने पर फाटक खोलकर उन्हें भीतर ले लिया गया। जल्दी ही मालूम हुआ कि कौन आया है। रहने के लिए एक अच्छा आरामदेह कमरा दिया गया। गुम्बा में दस बड़े-बड़े विशालकाय कुत्ते थे। रात को उन्हें छोड़ दिया जाता। वे चीते को भी मार सकते थे। गुम्बा की चारदीवारी के भीतर मजाल है, कोई जानवर आ जाए। रात को तीन बार डाकू पास आए जान पड़े, लेकिन कुत्तों की विकराल आवाज के सामने उनका वश नहीं चला।

सबेरा हुआ। हाथ-मुँह धोकर चाय के साथ सत्तू खाया। तिब्बती लोग अपने प्याले में चाय के साथ सत्तू को मिला आराम से खा सकते थे। रिंपोछे के लिए बकरी का पतला चमड़ा था, जिसमें सत्तू, मक्खन और चाय डालकर मला जाता, जिससे सत्तू का पिण्ड बन जाता। उनके पास गरम चाय रखने के लिए थर्मस भी था। गुम्बा के खेम्बो (महन्त) ने प्रार्थना की कि परिक्रमा कर हमारे विहार में कुछ दिनों निवास करें, रास्ते में डाकुओं का डर है।

गुरुजी ने कहा—कोई परवाह नहीं। डाकू हमारा कुछ भी विगाड़ नहीं सकते। छुकु गुम्बावालों ने समझा कि रिंपोछे के पास जरूर कोई करामात है।

परिक्रमा के लिए रवाना हुए। दोपहर को चाय बनाने के लिए ठहर गए। याकों ने घास चरी। चाय-सत्तू खाकर फिर चले। आकाश में बादल छाए, अँधेरा-सा हो गया, पानी गिरने लगा। लोग घबड़ाए। गुरुजी ने मंत्र पढ़कर जौ बिखेर दिया। लोग पीछे लौटने की सोच रहे थे। लेकिन गुरुजी ने बादलों को जहाँ का तहाँ रोक दिया। वे धिरे-धिरे आगे बढ़ रहे थे। दो-तीन मील पर एक पहाड़ के ऊपर कोई आदमी खड़ा दिखाई पड़ा। थोड़ी देर में एक नहीं, दो दिखे। धुआँ भी उड़ता मालूम हुआ। पर्वत आगवाला है, तो आदमीवाला भी है। साथियों ने कहा—रिंपोछे, लौट चलें, डाकू है।

—हम जानते हैं। उल्लू कहीं का, हमको मालूम नहीं है ? हम आगे चलेंगे।—और गुरुजी सचमुच आगे बढ़े। उनके साथी दो फर्लांग पीछे थे। वे सोचते थे कि जैसे ही डाकू आएँ, हम भाग चलें। गुरुजी दो पहाड़ों के बीच में गए, जहाँ से धुआँ निकल रहा था। एक आदमी आया। उसने याक की नथ को पकड़ लिया, और गुरुजी से उतर जाने को कहा। देखा, वहाँ बारह-चौदह आदमी बैठे कुछ खा रहे थे। गुरुजी को जो कुछ तिब्बती शब्द मालूम थे, उनकी सहायता से कहा—किसलिए ?

—यहाँ थोड़ा आराम कर चाय पीकर जाओ।

गुरुजी को मालूम हो गया कि ये डाकू हैं। जरा भी भय का प्रभाव बिना दिखाए वह उतर पड़े। याक

को नाले की ओर कर दिया। गुरुजी के लिए आसन बिछा दिया गया।—प्याला पीछे रह गया—गुरुजी ने कहा। उधर साथवालों ने जो यह देखा, तो जान लेकर भागे। वहाँ शान्ति, हल्ला-गुल्ला का अभाव देखकर सोचा, जरूर रिंपोछे को उन्होंने मार दिया।

डाकुओं ने प्याला रखकर गुरुजी के लिए चाय डाल दी। वे गुरुजी के मंत्रपाठ और मुखमुद्रा से प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—हम लोग डाकू हैं। हमे सरकार नहीं पकड़ सकती। जीवनयापन के लिए हमने यही काम स्वीकार किया। हम हरेक आदमी से आधा माल लेते हैं। पूरा लेने पर वह मर जाएगा या उसे बहुत कष्ट होगा। उसमें हमें भी पाप होगा।

गुरुजी ने कहा—लो, आधा नहीं, सारा रुपया ले लो। डाकू को भी दान देने में पुण्य होता है। पेट के लिए ही तो तुम यह सब कुछ करते हो।

डाकू-सरदार ने जीभ निकालकर 'लामा' के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया—हमारा निस्तार कीजिए रिंपोछे। हमको छेवंग (आशीर्वाद) दीजिए।

गुरुजी ने उन्हें सान्त्वना दी और कहा—जैसे भी हो, करुणा करना पुण्य का काम है।—इस प्रकार अपने गिने-चुने शब्दों में एक छोटा-सा उपदेश दे दिया।

अन्त में डाकुओं ने अपने जखीरे में से सत्तू, चाय और कितनी ही दूसरी चीजें निकालकर सामने रख दीं। रिंपोछे ने कहा—बस, चाय-भर चाहिए।—लेकिन डाकू नहीं माने। उन्होंने प्रार्थना की—सबमें से थोड़ा-थोड़ा ले लें, जिसमें हमारा कल्याण हो।—'लामा' ने वैसा ही किया और डाकुओं को आशीर्वाद दिया।

साथियों को पीछे से आवाज दी। परिक्रमा समाप्त कर छुकु गुम्बा में लौटे। साथियों ने चमत्कार की बात सुनाई। खेम्बो (महन्त) ने बहुत सम्मान किया। डाकुओं की दी हुई चीजों में से एक ईंट चाय और एक डला मक्खन गुम्बा को भी दिलवाया। कितना ही सामान तेजिन (अफसर) को दिया। अफसर ने जन्तर बनाकर देने की प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना स्वीकृत हुई। दो-तीन दिन आराम करने के बाद गुरु रिंपोछे टेटापुरी गए। यहाँ पर गुरु रिंपोछे (पद्मसम्भव) ने तपस्या की थी। यहीं उन्होंने एक राकस को मारा था, जिसकी हड्डी और सींग वहाँ दिखलाए जाते हैं। शिला के छिद्र में राकस को रख दिया है। टेटापुरी एक गाँव है। गुम्बा में मंजुश्री और तारा की मूर्तियाँ हैं। कनम के देवता डब्ला का जन्मस्थान टेटापुरी है। यहाँ रायबहादुर का मुंशी भी मिला।

अब लौटना था। दावाजोंग के जोंगपोन ने स्वागत किया। सिंहल-सिद्ध ने जोंगपोन, उसकी चाम (देवी) और बच्चों को छेवंग (आशीर्वाद) दिया। यहाँ जोंग (किला) भी बड़ा है और गाँव भी अच्छा-खासा है। बड़ी सुन्दर जगह बसा हुआ है। पर सुन्दर जगह का अर्थ जंगल और वृक्ष-वनस्पति नहीं है। जोंगपोन की प्रार्थना पर वहाँ परित्राण-देशना की। सिंहल में कुछ सूत्रों का पाठ परित्राण कहा जाता है, जिससे भूत-प्रेत भगाए जा सकते हैं, दुर्भाग्य को सौभाग्य में परिणत किया जा सकता है। तिब्बत में इसके लिए मंत्र-तंत्र-अनुष्ठान, पूजा-पाठ होता है।

अगले दिन वहाँ से चलकर थोलिंग पहुँचे। थोलिंग सतलज के किनारे बसा तिब्बत का अति प्राचीन और पवित्र मठ है। इसकी स्थापना ग्यारहवीं सदी के आरम्भ में हुई थी। थोलिंग में पहिले ही रिंपोछे की कीर्ति पहुँच चुकी थी। उनके पहुँचते ही शहनाई बजाकर स्वागत किया गया। सिंहल-घुमक्कड़ का कहना है कि थोलिंग जैसी सुन्दर बोधिसत्व मूर्तियाँ तिब्बत में और कहीं देखने को नहीं मिलीं। एक सप्ताह वहाँ ध्यान में रहे। खेम्बो तब भी छोड़ना नहीं चाहता था। यहाँ कई तरह की तरकारियाँ और स्वादिष्ट खाने बनाकर खिलाए गए। लोग दुःख-सुख पूछने आते, दक्षिणा चढ़ाते।

थोलिंग से चलकर वह शिपकी पहुँच गए।

9
बोधगया में (1935 ई.)

शिपकी से अब उन्हें पुराना रास्ता नापना था। नम्ग्या, स्पू में एक-एक रात ठहरे। अगले दिन छह-सात बजे शाम को लबरंग पहुँचे। उरुकू (लबरंग का) देवता दलबल के साथ देवदार के नीचे नदी के किनारे स्वागत करने आया था। स्तूप का काम समाप्त नहीं हुआ था। खम्पा गेशे बीमार पड़ गया था। देवता ने कहा—गुरुजी की आज्ञा न पूरी करने से ही ऐसा हुआ है। गुरुजी और सब लोग तैयार होके आ गए और एक सप्ताह बाद काम शुरू कर दिया। टोमो गेशे ने चाहा कि स्तूप के शिखर का चाँद उनके हाथों लगवाया जाए। गुरुजी ने कहा—चाँद नहीं आठ धारों का वज्र लगाया जाएगा। उसकी आठ धारें आठों दिशा में होंगी।

उरुकू देवता ने गुरुजी की बात का समर्थन किया—हाँ, मैं भी यह मानता हूँ। वज्र लगाना होगा।

टोमो गेशे बिचारे हार गए।

स्तूप की समाप्ति के दिन में लिप्पा के बड़े लामा, रारांग, पांगी, जंगी आदि के बहुत-से लोग आए। उस दिन थोड़ी बर्फ भी पड़ी, जिसे शुभ माना गया। स्तूप का नाम आनन्द चैत्य (कुंगा छोरतेन) रक्खा गया। स्तूप की चारों दिशाओं में चारों महाराजाओं की मूर्तियाँ स्थापित की गईं। वैशाख पूर्णिमा को उसका वार्षिक उत्सव होगा, यह निश्चित किया गया। हलवा से पूजा होगी। उस दिन देवता ने स्वयं पूजा की और स्तूप की प्रदक्षिणा भी की। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं कभी हिंसा नहीं करूँगा, कभी बलि नहीं लूँगा।

सिंहल-गेलोंग की कृपा से पोखरे में पानी बढ़ गया था, और छारतेन (स्तूप) भी तैयार हो गया था। साथ ही लबरंग का देवता पक्का बौद्ध बन गया था। इसकी ख्याति चारों ओर फैल गई थी। सराहन की देवी रामपुर राज्य की असली मालिक समझी जाती थी। कभी-कभी उसकी सवारी सारे राज्य में निकलती थी, और गाँव-गाँव के देवता तथा लोग उसका स्वागत एवं पूजन करते थे। ब्राह्मणों ने देवी की सवारी निकालने का निश्चय किया। राजा ने कहा—मुझे कोई आपत्ति नहीं है, लेकिन देवी का पूरा सम्मान होना चाहिए।

गुरुजी को इसका पता लगा, तो उन्होंने सोचा, देवी पशु-बलि लेनेवाली है। उसकी यात्रा में सहायता देनी नहीं चाहिए। आनन्द चैत्य की समाप्ति होते ही उन्होंने सूचित किया कि हम तीन महीने के लिए ध्यान-तपस्या में बैठेंगे, एकान्त में रहेंगे, कोई हमारे पास नहीं आएगा। उरुकू देवता भी हमारे साथ रहेंगे। देवता ने भी स्वयं ऐसी इच्छा प्रकट की। देवता और गुरुजी एकान्त में चले जाएँगे। राज्य की देवी के आने पर देवता को गाँव की सीमा पर उसका स्वागत करना पड़ता। देवता उसके लिए तैयार नहीं, इसलिए देवी को लबरंग आने का खयाल छोड़ना पड़ा। यह भी सिंहल गुरु की मंशा थी। एकान्त में रहते सिर्फ एक बार निरामिष भोजन उनके पास पहुँचता। एकान्त में जाने के दस-बारह दिन बाद देवी निकलने की सूचना आई। पुरानी रस्म के अनुसार नौ बोतल शराब लेकर देवता को सीमा पर जाना पड़ता। गाँव में एक-एक घर से एक-एक बकरी की बलि और तीन-तीन बोतल शराब की देनी पड़ती। यह सूचना गुरुजी के पास गई तो उन्होंने उसे धूनी की आग में डाल दिया और कहा—तीन महीने तक कुछ नहीं हो सकता।—तीन-चार दिन बाद देवी का सिपाही आया। उसको भी वही जवाब—तीन मास बाद आना।—राजा के पास लबरंग के देवता और गुरु की अवहेलना की सूचना दी गई, पर उसने कोई दखल नहीं दिया। पुरोहित पहिले ही हार चुका था, अब देवी भी हारी।

मानसरोवर से लौटकर करीब दस महीने गुरुजी लबरंग में रहे। वहाँ से लिप्पा गए। लिप्पा बहुत बड़ा गाँव है। वहाँ के अवशेषों से मालूम होता है कि गाँव हजार वर्ष से भी अधिक पुराना है। पंचांग बनानेवाले ज्योतिषी की गुम्बा में भी एक मास रहे। लिप्पा से फिर लबरंग लौटे। चिनी होते हुए फिर भारत के लिए लौटते हुए रामपुर आए। रास्ते में एक करामात हुई। कोई आदमी बीमार पड़ा था। लामा सब कुछ करके हार गए, किन्तु कुछ फायदा नहीं हुआ। गुरुजी की भी प्रार्थना करके उन्हें वहाँ ले गए। देखा तो नाड़ी गायब है, पर छाती कुछ-कुछ गर्म। गुरुजी ने कहा—सब लोग हट जाएँ।—फिर कलश में पानी मँगवाया। सूत की गाँठ

बनाकर रोगी के गले में डाल दी और कलश के पानी को हाथ में लेकर मुँह में तीन बार छींटे मारे, तत्पश्चात परित्राण का पाठ करने लगे। छींटे मारते ही रोगी ने आँख खोल दी। थोड़ी देर बाद मुँह से कुछ बोला भी। सब लोग चकित हो दण्डवत करने लगे।

वांगतू के चौकीदार ने भी अपने यहाँ ठहरने का आग्रह किया। उसकी पागल पत्नी अब स्वस्थ थी, और उसको एक पुत्र पैदा हुआ था, जिसका नाम गुरुजी ने शशि शेखर रखा। चौकीदार ने एक कनौरी टोपी दी, जिसे गुरुजी ने सिंहल में काण्डी के म्युजियम में ले जाकर रख दिया।

रामपुर आए, मानसरोवर से शीशी में जल और साथ ही थोड़ी सूखी मछली भी लाए थे। भारत के सैकड़ों यात्री हर साल कैलास-मानसरोवर जाते हैं। उनमें से कितने ही शीशी में जल भी लाते हैं, लेकिन सूखी मछली का महत्त्व उनको मालूम नहीं है। राजा ने दोनों को प्रसाद के तौर पर ग्रहण किया। जाड़ा आ गया था, नवम्बर का महीना था, इसलिए रामपुर में एक सप्ताह रहकर शिमला होते हुए गुरुजी सारनाथ पहुँचे।

सारनाथ में धर्मपालजी का इसी साल गर्मियों में देहान्त हुआ था। उनके फूल मिट्टी के घड़े में रखे थे। घुमक्कड़ के सारनाथ पहुँचने के एक दिन बाद घड़े का मुँह खोला गया, तो उसमें से एक सफेद मेढ़क कूदकर भागा। सिंहल-सिद्ध ने कहा—यही धर्मपाल है।

मानसरोवर हो आए थे, जहाँ बहुत कम लोग जा पाते हैं। काशी के एक भक्त पण्डित सुनकर पास आए। गुरुजी ने दो-तीन घण्टे तक अपनी यात्रा का विवरण और चमत्कार बतलाया। पण्डित ने कहा—आप भगवान हैं। कैलास में क्या शिवजी का भी दर्शन हुआ ?

—हाँ, क्यों नहीं ! उनका कपाल चमक रहा था ! जटा बड़ी सुन्दर थी ! सफेद भव्यमूर्ति ! हाथ में कमण्डलु था। कैलास की परिक्रमा करते एक दिन एकाएक मिल गए ! मैंने पहिले समझा, कोई महात्मा हैं, वह हँसकर बोले। जाने पर देखा, तो तुरन्त अन्तर्धान हो गए। हाँ, अलबत्ता शिवजी महाराज के पैरों में कुछ न था। यही आश्चर्य की बात थी। कैलास-मानसरोवर बड़ी ठण्डी जगह है। गर्मी में भी वहाँ रात को पानी बर्फ बन जाता है। लेकिन शिवजी के संगमरमर जैसे सफेद पैर बिलकुल नंगे थे। पार्वतीजी से भी भेंट हुई थी। शिवजी के हाथ में त्रिशूल था, और डमरू में माला लिपटी हुई थी। मृगछाला उनकी बगल में था।

पण्डित की आँखों से अश्रुधारा वह चली। उनका कण्ठ रुँध गया था। उन्होंने पूछा—अभी कब तक आप यहाँ हैं ? मैं आपको निमंत्रित करना चाहता हूँ।

—कोई निश्चित नहीं है। साधुओं का कौन ठिकाना ?

बोधगया पहुँचकर दो-तीन महीने रहे। बोधगया के महन्त से भी कैलास की बात चली। उन्होंने सुनकर कहा—बाप रे बाप ! हिन्दुस्तान ही का यह कैसा भाग है !—नेपाल-यात्रा से लाए हुए शालिग्राम को कमल के फूल में रखकर भेंट किया। महन्त बहुत प्रशंसा करने लगा—यही असली भिक्षु हैं।—उसने अपनी कोठारी को हुक्म दिया—दूध, चीनी, सीधा, जिस चीज की जरूरत हो, इनके पास पहुँचा दो।—महाबोधि धर्मशाला में आसन जमा। वहाँ पर जाड़ों में देश-देश के बहुत-से यात्री आते रहते। लद्दाख के लामा स्तग्-संग-रेपा भी मिले। वह तिब्बत जा रहे थे। उन्होंने अपने साथ चलने के लिए कहा, पर अभी घुमक्कड़ वहाँ जा नहीं सके। तिब्बती अफसर भी तीर्थ-यात्रा के लिए आया। वह अनागरिक धर्मपाल के लिए चाय और दूसरी नम्बु आदि चीजें लाया था। पर धर्मपाल का देहान्त हो चुका था। घुमक्कड़ उसके साथ सारनाथ गए। उसने भी तिब्बत चलने का निमंत्रण दिया। घुमक्कड़ को भी तिब्बत जाने की बड़ी इच्छा थी। उसके साथ राजगृह, नालन्दा, सारनाथ, कुशीनगर, लुम्बिनी, सहेटमहेट होते गन्तोक तक गए। गन्तोक में सिक्किम के राजा से पहचान हुई। वहीं लामा उरगेन से भेंट हुई जिनसे बोधगया में परिचय हुआ था। लामा उरगेन का प्रायः सारा जीवन तिब्बत में ही बीता था। वह तिब्बती व्याकरण के विद्वान थे। चान्द्र व्याकरण मालूम होने का यह अर्थ नहीं कि वह संस्कृत भी जानते हों। इन पंक्तियों के लेखक से भी उनका परिचय हुआ था। लामा उरगेन ने सिंहल-सिद्ध से कहा—आप इधर कैसे आए ?

—हम तिब्बत जाना चाहते हैं।

उन्होंने मना किया और अफसर से भी कहा कि इनके साथ जाने में कुछ हो जाएगा तो बुरा होगा। वस्तुतः किसी भारतीय या विदेशी का तिब्बत ले जाना उतना आसान नहीं। अफसर की भी समझ में आया। और पच्चीस रुपये देकर हाथ जोड़ लिये। इतनी दूर तक पथप्रदर्शन करते आना और अन्त में यह बात ! घुमक्कड़ रुपये फेंक कहने लगे–कितना बेईमान है। विश्वास दिलाकर धोखा दिया।–पर वस्तुतः यह समझना गलत था, क्योंकि बड़े से बड़ा अफसर भी सरकार की आज्ञा और नीति के विरुद्ध नहीं जा सकता। बेचारा ग्यान्चे का जोंग क्या करता ?

घुमक्कड़ गन्तोक से बोधगया चले गए और तीन-चार मास वहीं रहे। मन तिब्बत की ओर लगा हुआ था। उसमें जो असफलता हुई उसके कारण बोधगया में मन नहीं लगा, तो भी वह दो-तीन मास वहीं रहे। गर्मियाँ आ गईं और ठण्डी जगह की तलाश में वह दार्जिलिंग पहुँचे।

10
काजी फगूछिरिंग

काजी फगूछिरिंग एक बड़े धार्मिक पुरुष थे। उन्होंने भोटिया बस्ती में एक स्कूल खोला था, जिसमें सिक्किम, कलिम्पोंग आदि के लड़के पढ़ते थे। वाई. एम. बी. ए. की ओर से उन्होंने एक मकान बनवाया। मकान में सोगपो गेशे (मंगोल आचार्य) से मूर्तियाँ बनवाईं। सोगपो गेशे बीच में ही पेकिंग चला गया। आजकल अमेरिका पहुँचकर वहाँ से झूठा प्रचार कर रहा है। मकान थोड़ा बन चुका था, तभी छात्रावास सहित स्कूल खोल दिया गया। काजी फगूछिरिंग सारा भार उठाने लगे। लड़कों का खाना-कपड़ा भी वही देते थे। उनकी इच्छा थी कि पिछड़े हुए इस प्रदेश के बौद्ध पढ़कर आगे बढ़ें। आमदनी के लिए उनके पास तीन नारंगी के बगीचे थे। चाकुंग का बगीचा अच्छी फसल होने पर साल में छह-सात हजार देता था। सभी जगह अच्छे काम करनेवाले के भी शत्रु होते हैं। टी. एल. पल्जर की भी यही बात थी। भोटिया बस्ती में वैसा दूसरा मकान नहीं था, यह भी ईर्ष्या का कारण था। काजी फगूछिरिंग के पूर्वज किसी समय सिक्किम के मिनिस्टर थे। वह अंग्रेजों से मिल गए थे, यह कहकर उनकी जायदाद जब्त कर ली गई। ढाई सौ रुपये अंग्रेज देते थे। कुछ बैंक में भी जमा था। उदारतावश उन्होंने बहिन का हिस्सा भी बेचकर खर्च कर दिया। इतने ही पर सन्तोष नहीं किया, चाकुंग में भी स्कूल खोल दिया। बीस हजार कर्जा मारवाड़ियों का हो गया। लेंदेनला को भी उनकी महत्त्वाकांक्षा से ईर्ष्या हुई। कहते हैं, उन्होंने मारवाड़ी से मुकदमा दायर करवाया। बेचारे बड़ी मुसीबत में पड़ गए। स्कूल के अतिरिक्त भिक्षुओं की भी सेवा करते। कर्ज के मारे संस्था डूबने जा रही थी। महाबोधि के पास पहुँचे, लेकिन बीच में भाँजी मारनेवाले भी थे।

लेंदेनला कई कारणों से काजी फगूछिरिंग को पसन्द नहीं करते थे। काजी फगूछिरिंग की स्त्री अत्यन्त सुन्दर थी। उसका एक तहसीलदार के साथ गलत सम्बन्ध था। तहसीलदार उसे भगा ले गया। फगूछिरिंग धन के मामले में बड़े उदार थे, यदि पत्नी के विश्वासपात्र होते, तो यह नौबत न आती।

सिंहल-घुमक्कड़ अब कुछ वर्षों के लिए काजी के स्कूल से सम्बद्ध हो गए। उनके उत्साह और कार्यदक्षता से काजी भी बहुत सन्तुष्ट थे। उनकी बहिन ने दुःख से रोते हुए कहा–आप समझाइए, भाई की चाल अच्छी नहीं है। हमारी भी सम्पत्ति मकान में लगा डाली, पर उसकी परवाह नहीं। घर में सुन्दर औरत होते भी बाहर जाता है।

काजी से पूछने पर उन्होंने कहा–वह पगली है। ब्राण्डी पीती है और अकबक बोलती है।

बहिन ने कहा–हम पकड़ा देंगे।–ऐसा हुआ भी। रात के वक्त काजी अपनी कोठरी से गायब थे। भीतर से ताला बन्द-सा मालूम होता था। जब दरवाजा नहीं खुला तो कमरे का शीशा तोड़कर चूरचूर कर दिया।

नौकरानी रोती रही लेकिन उसने भेद नहीं वतलाया। बहिन विस्तरा बाँधकर सिक्किम जाने के लिए तैयार हो गई। सव रोने लगे। किसी तरह वहिन को मना किया। वह भी साध्वी थी। फगृछिरिंग बड़ी मुश्किल से क्षमा करवा पाए। भन्ते–सिंहल घुमक्कड़–वीच में पड़े थे। काजी अब भी बहिन के लिए कहते थे–व्राण्डी पीकर पागलपन की वात करती है–झूटमूठ भिक्षुणी बनकर माला फेरती है।

तिव्वत में जप करने का एक नया आविष्कार हुआ। कागज पर लाखों मंत्र लिखकर उसे एक गोल आकार के यंत्र में डाल देते हैं, जो धुरी के ऊपर हिलाने से नाचता है। एक चक्कर का मतलब है, एक लाख से अधिक मंत्रों का जप।

खैर, चूर-चूर हुए शीशे को झाड़कर फेंका गया और डेढ़ घण्टे में नये शीशे लग गए। घर में शान्ति-स्थापना हुई। काजी का घनिष्ठ मित्र और सेवक वेन्तर भी दुराचार में सहायक था। बहिन के जोर देने पर उसे निकाल दिया गया। बहिन की नौकरानी डोलमा पियक्कड़ थी और चुगली लगाती थी, उसे भी निकाला गया। इसके कुछ दिन बाद ही तहसीलदार स्त्री भगा ले गया। काजी को इसका बेहद खेद हुआ और वह 'चाकुंग में परीक्षा हो रही है' इसका वहाना करके वहाँ चले गए। चुपके-चुपके पिस्तौल भी लेते गए। वह तहसीलदार और उसकी चहेती को मारने की सोच रहे थे। छोटे चचेरे भाई को पता लगा, तो उन्होंने पिस्तौल छीन ली। बीवी भागकर पिता के घर चली गई और तहसीलदार गन्तोक जा पहुँचा। काजी अब भी उत्तेजित थे। उन्होंने खुकुड़ी और संखिया का एक टुकड़ा ले लिया। चाकुंग में असफल हो वह कलकत्ता महाबोधि सोसायटी के मंत्री देवप्रिय के पास पहुँचे और उनसे कहा–हमारा नाम सोसायटी की आजीवन सदस्यता से काट दीजिए।

–क्या है, क्या वात है ?

–हम जीना नहीं चाहते। आत्महत्या करना चाहते हैं।–यह कहते हुए उन्होंने खुकुड़ी और संखिया दिखलाया।

देवप्रिय ने समझाते हुए कहा–आत्महत्या बुरी चीज है। तुम्हारा मन नहीं लगता, तो सिंहल में जाकर शामनेर बनके रहो।

काजी ने अपने वंश के सम्मान आदि की बात कहकर असमर्थता प्रकट की, तो भी उस वक्त कुछ करना जरूरी था। देवप्रिय ने खुकुड़ी और संखिया किसी तरह ले लिया। उस समय बर्मा के यशस्वी भिक्षु उत्तम कलकत्ता में थे। उनसे शामनेर दीक्षा दिलवाई, नाम रखा जिनोरस। जिनोरस वैशाख पूर्णिमा को बोधगया गए। ठंडी जगह के रहनेवाले बोधगया की गर्मी में पहुँचे। स्नानगृह के टब में पानी भरवाकर भैंस की तरह पड़े रहते। जिनोरस ने बहिन के पास चिट्ठी लिखी–हमारे जीवन का कोई भरोसा नहीं। स्कूल चला सको तो चलाना, नहीं तो बंद कर देना। मैं भिक्षु होकर वर्मा जानेवाला हूँ।–साथ ही उन्होंने चाभी भी भेज दी। घर के लोग रोने लगे। दो-तीन सप्ताह तक फिर कोई चिट्ठी नहीं आई, तो घबड़ाहट और बढ़ गई। सबने भन्ते के पास आकर बिनती की–आप ही जाकर उन्हें ला सकते हैं।–भन्ते ने कहा–हमें देखकर भाग जाएँगे।–उन्होंने नाराबिल धर्मरत्न भिक्षु को तैयार किया। एक बड़ी करुणापूर्ण चिट्ठी लिखी। आने-जाने का रेल-टिकट तथा पन्द्रह रुपये ऊपर से दिए।

धर्मरत्नजी ने जाकर देखा, जिनोरस कलकत्ता में नहीं हैं। उनके पास आगे का खर्च नहीं था। तो भी वह बोधगया गए। देखा, वह टब में बैठे हुए हैं। कपड़ा पहनकर बाहर आए। चिट्ठी खोलकर नहीं पढ़ना चाहते थे। नाराबिल ने कहा–खोलिए। दरवाजा बंद कर पढ़ लीजिए।–पढ़ने के बाद जिनोरस ने कहा–चलिए। अब क्या करें, चलना ही पड़ेगा।

उस भयंकर गर्मी में पटना, सोनपुर होते हुए वह सिलीगुड़ी पहुँचे। वहाँ से नाराबिल को दार्जिलिंग भेजा और स्वयं चाकुंग गए। नाराबिल को अकेले देखकर बड़ी निराशा हुई, पर उनका हँसता मुँह देखकर कुछ सन्तोष हुआ। भिक्षु संघरक्षित और सिंहल घुमक्कड़ चाकुंग जाने के लिए तैयार हो गए। सबेरे ही दो घोड़े मँगवाए गए। दो थर्मस चाय तैयार कर दी गई। चाकुंग गरम जगह है, इसलिए नीचे जाते-जाते गर्मी बढ़ती गई। एक चाय के बगीचे में विश्राम के लिए ठहरे। पानी बरस रहा था। शाम को चाकुंग पहुँच गए। जिनोरस बगीचे में घूम रहे थे। दोनों भिक्षुओं को देखकर प्रणाम किया। उनके चेहरे पर सन्तोष का चिह्न नहीं था। संघरक्षित को रात को भूख लगी। जहाँ संघ का दबाव नहीं वहाँ रात को चुपके से दूध पी लेना या खा लेना मामूली

बात है। जयवर्धन इन्फ्लुएन्जा से उठे थे। भीगने से फिर हल्का बुखार आ गया। चौकी पर बिछौना बिछाकर तीनों सोए थे। जयवर्धन को बुखार में नींद कहाँ। जिनोरस रात-भर रोते रहे। बत्ती जलाकर देखा, आँसू से तौलिया भीगा हुआ था। घुमक्कड़ ने चिल्लाकर कहा—तुम क्यों रोते हो ?

—भारी अपमान की बात है।

—मूँड़नेवाले ने दीक्षा देते समय अनित्यता की बात नहीं बतलाई ? भावना के बारे में नहीं कहा ? आनापान (प्राणायाम) की भावना करो।

जिनोरस ने आधी रात को आनापान-भावना शुरू की। सबेरे बतलाया कि हम शोक के कारणों को भूलते जा रहे हैं।

नया घोड़ा करके तीनों आदमी दार्जिलिंग की ओर चले। गर्मी थी। चायबागान में आराम कर, चार बजे निकले और सात-आठ बजे तक भोटिया बस्ती पहुँच गए। सारे परिवार में खुशी मनाई गई। भन्ते ने रोने-धोने से मना किया। खुशी में भोज दिया गया। जिनोरस को भन्ते ने कह दिया—तुम अपने कमरे में बैठकर आनापान-भावना करो। कमरे में ही खाना मिलेगा।—सात दिन के बाद जिनोरस ने कहा—भन्ते, चलिए घूमने।

भन्ते ने बाजार में ले जाना अच्छा समझा, क्योंकि उससे संकोच दूर होगा। लेदेनला अपनी छत से उन्हें देख रहे थे। उन्हें सारी बातें मालूम थीं। भन्ते की कारगुजारी से वह बहुत प्रभावित हुए और दूसरे दिन अपने यहाँ भोजन करने का निमंत्रण दिया। भन्ते नियत समय पर गए। लेदेनला ने स्वागत करते हुए कहा—आपने बड़ा काम किया। क्या जानें मैं भी एक भिक्षु हो जाऊँ।

लेदेनला की फगूछिरिंग से शिकायत का कारण था। किसी खानदानी सिक्किमी लड़की को लाकर लेदेनला ने पाला था। जब वह बड़ी हो गई तब अपने लड़के से उसकी शादी करने का निश्चय किया। रात को बारह बजे लड़की खरसांग पहुँचा दी गई। उसने शिकायत की कि हमारी सम्पत्ति लेने के लिए लेदेनला शादी करवाना चाहते हैं। लेदेनला को हारना पड़ा। इसमें काजी फगूछिरिंग का हाथ था।

जिनोरस अब भगवा पहने सन्तोष का जीवन बिता रहे थे। एक-डेढ़ मास बाद उन्होंने स्कूल को भी कुछ समय के लिए बन्द कर दिया। अपने भाई के बच्चों के साथ सारनाथ गए। संस्था को महाबोधि को दे देने का विचार कर रहे थे। देवप्रिय से इसके बारे में बातचीत हुई। कर्जा चुका देने के लिए बिड़ला तैयार थे। तारीख भी निश्चित हो गई। जिनोरस बिड़लाजी के पास कलकत्ता गए। उन्होंने कहा—हम तो आपको नहीं जानते। देवप्रिय को क्यों साथ नहीं लाए ?

जिनोरस बहुत बिगड़े। सारनाथ चले आए। उन्हें बुखार और निमोनिया हो गया, बेहोश पड़े थे। इसी समय बिड़लाजी का तार आ गया—आप आइए, हम बारह हजार इसी वक्त दे देंगे और बाकी भी तीन बार में दे देंगे।

जिनोरस कहाँ होश-चेत छोड़ चुके थे और कहाँ तार की खबर पाते ही वह होश में आकर बैठ गए। तार इन्जेक्शन बन गया। गर्म पानी से मुँह धोया। बहुत कमजोर थे। डॉक्टर ने तीन-चार दिन जाने से रोक लिया। अब वह चंगे हो गए। कलकत्ता में बिड़लाजी ने बारह हजार रुपये दिए। कुछ रुपये बर्मा में मिल जाएँगे, यह सोचकर बर्मा गए, पर वहाँ सफलता नहीं मिली। बारह हजार में कइयों का कर्जा दे दिया, स्कूल फिर चलने लगा।

लेदेनला भी बहुत खुश हुए और पाँच सौ रुपया देकर 'लाइफ मेम्बर' बन गए। दस और 'लाइफ मेम्बर' बने। दस-बारह हजार चन्दा भी हो गया।

सिंहल-घुमक्कड़ उस समय तिब्बत के सेरा महाविहार में थे, जबकि उन्हें जिनोरस के दुःखद निधन का समाचार मालूम हुआ। चाकुंग जाते समय रमकू नदी में उन्होंने आत्महत्या कर ली। नौकर पीछे-पीछे जा रहा था। वह रोके नहीं इसलिए उसके मुँह पर चीवर फेंक दिया और आप नदी में कूद पड़े। इस प्रकार एक परोपकारी पुरुष का अन्त हुआ।

11
तिब्बत में प्रथम बार (1934-35 ई.)

दार्जिलिंग में रहते-रहते सिंहल घुमक्कड़ तिब्बती भाषा जान गए थे। पहिले वह सीधे तिब्बत नहीं गए। जाड़ों में सारनाथ, फिर लुम्बिनी जा नेपाल के रास्ते उन्होंने तिब्बत जाने का निश्चय किया। लुम्बिनी से बूटौल, पाल्पा, पोखरा पहिले के परिचित स्थान में थे। गोरखा से त्रिशूली, फिर काठमांडू। रात में स्वयंभू में डेरा डाला। दिन में घूमते समय सिपाही ने आ पकड़ा—चलो, शिवरात्रि बीत गई, नीचे चलो।—उस समय रात को रहने का अवसर मिला। सिपाही कोई वहुत तत्पर नहीं था। उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं थी। सबेरे के वक्त जब चिड़िया बोलने लगी, तो घुमक्कड़ चुपचाप चल पड़े और उसी दिन त्रिशूली पहुँच गए। पास में ब्राह्मणों का गाँव था। वहीं एक ब्राह्मण के घर में तीन दिन सत्संग करते रहे। ध्यान, प्रार्थना देखकर ब्राह्मण बड़ा प्रभावित था। वह भी पीपल के चौतरे पर जम पूजा करता। पूछने पर वतलाया—हम दक्खिनी ब्राह्मण हैं।—बात बनाकर ही तो वह तिब्बत के भीतर घुस सकते थे। बुड्ढे की एक लड़की थी। उसने दक्खिनी ब्राह्मण से ब्याह कर देना चाहा, पर घुमक्कड़ ने कहा—हम साधु हैं, ब्याह नहीं करते।

—रँगा कपड़ा छोड़ दो, गृहस्थ बन जाओ।

घुमक्कड़ हाथ देखना भी जानते थे, इसलिए ब्राह्मण को उन पर विश्वास हो गया। 'गोसाईंकुण्ड जाना है' कहकर किसी तरह उन्होंने छुट्टी ली। त्रिशूली होते हुए एक पौवा (धर्मशाला) में आसन लगाया। एक महाजन ने सेवा करने में तत्परता प्रकट की। महाजन को कुछ बातें बतलाईं, जिससे उसकी श्रद्धा बढ़ गई। कोई रोग था, उसे भी अच्छा कर दिया।

अब घुमक्कड़ तिब्बत की सीमा की ओर जा रहे थे। साहू ने केरोंग का रास्ता बतलाया, और यह भी कि थोड़ी दूर पर अड्डा (सरकारी थाना) है। इतनी आसानी से छूट जाएँगे इस पर उन्होंने विश्वास नहीं किया। तिब्बत के सभी रास्ते भारतीयों और विदेशियों के लिए तिब्बती सरकार की ओर से बन्द हैं। नेपाल सरकार की भी यही बात है। घुमक्कड़ अड्डेवाले सिपाहियों के पास सीधे जा रहे थे। दो सिपाहियों ने बन्दूकें झुकाकर उनको रोक दिया—कहाँ जाएगा ?

—केरोंग।

—'ठहरो' कहकर अपने अफसर के पास जाकर बोला—एक जोगी आया है, केरोंग जाना चाहता है।

अफसर पूजा-पाठ में था। कुछ देर बाद बुलवाया और जोगी को कम्बल पर बैठाकर पूछने लगा—कहाँ जानेवाला है, और कहाँ का रहनेवाला है।—वह गोरखाली और हिन्दी दोनों में बोल रहा था। जोगी ने तुरन्त कहा—नेपाल के पश्चिम इलाके प्यूटान के महन्त का मैं चेला हूँ।—अफसर ने कहा—प्यूठान का चेला है, और इतनी साफ हिन्दी बोलता है ?

—हम प्यूठान मठ का साधु है, पर लखनऊ हमारा जन्मस्थान है। रामेश्वर, गया, मद्रास सब जगह तीर्थयात्रा के लिए गया, काशी में भी पढ़ता था।

अफसर ने देखा, जोगी अंग्रेजी भी जानता है। उसने कहा—मैं भी नेपाल तक ही नहीं रहा हूँ। महायुद्ध में जर्मनी गया था, छह वर्ष तक हम बाहर रहे। जोगी महाराज, हमें श्राप न दीजिए। सरकार का कानून है, उसे मानना हमारा काम है। हम यहाँ से अपने अफसर के पास खबर देंगे, जैसा हुकुम होगा वैसा करेंगे।

जोगी को मालूम था कि ऊपर से क्या हुकुम आएगा। सब गड़बड़ होगा। कहा—हम जोगी हैं। हम किसी को कष्ट नहीं देते। इतनी देर तक प्रतीक्षा भी नहीं कर सकते। हम चले जाएँगे।

अफसर ने इसे पसंद किया और जोगी को अच्छी तरह भोजन कराया। अफसर ने यह भी बतलाया कि जवाब आने में तीन मास या वर्ष भी लग सकता है। भोजन के बाद जोगी ने जाने की इच्छा प्रकट की। अफसर ने कहा—नहीं, इतनी जल्दी क्या पड़ी है। यहाँ दो-तीन दिन रहिए।

जोगी ने कहा—जाना ही अच्छा होगा। गोसाईंकुण्ड का तीर्थ कर लेंगे।

अफसर ने सात रुपए जोगी को दिए और दो सिपाही साथ देकर कहा—तकलीफ न होने पाए इन्हें, काठमाण्डू पहुँचा आओ।

खाने-पीने के लिए अफसर ने दिया था। सिपाही की नौकरी पाँच-सात रुपये की थी। बेचारे टोकरी बना और बेचकर किसी तरह गुजारा करते थे। जोगी ने कहा—तुमको बहुत तकलीफ होगी, गरीब आदमी हो। त्रिशूली करीब है, हम अकेले चले जाएँगे।—सिपाहियों ने त्रिशूली तक चलने के लिए कहा। रास्ते में बाँस का जंगल मिला। जोगी ने एक गुफा में बैठकर बड़े ध्यान-ज्ञान के साथ कहा—ओह, कितने गरीब हो ! वहाँ रहते तो टोकरी बनाते, कुछ पैसे मिलते।

—हाँ, महाराज, पाँच-सात रुपये तनखा, उसमें काम नहीं चलता। इस वक्त टोकरी बनाना नहीं मिलता।

जोगी ने कहा—देखो भाई, एक बात सुनो, सब सीधा (खाने की चीज) जो है, उसे ले लो। हम अकेले चले जाएँगे। यहाँ बाँस से टोकरी बनाते रहना, फिर लौट जाना।

उन्हें थोड़ा डर तो लगा पर खाने-पीने की चीज और सात रुपयों से सन्तोष हो गया।

आगे जोगी जिस गाँव में पहुँचे, वह गुरुंग या मंगर लोगों का था। लोगों की नाक चिपटी थी। वह गोरखाली बोल रहे थे। एक-डेढ़ मील आगे त्रिशूली थी। बड़ी बस्ती एक और मिली, कुछ दूर पर जंगल आया, उसी में घुस गए। पगडण्डी केरोंग नदी के साथ जा रही थी। धार तेज थी और भयंकर आवाज कर रही थी। आठ मील तक कोई रास्ता मालूम न होता था, फिर एक झूले का पुल मिला, जो लताओं से बना था। कहीं-कहीं वह टूट भी गया था। हवा चल रही थी, जिससे झूला हिल रहा था। हिम्मत नहीं होती थी, पर कोई चारा न था। उसी से पार करना होगा, चाहे मरें या बचें। चीवर को कसकर शरीर में बाँध लिया। भिक्षापात्र का झोला भी एक झमेला था, उसे भी सँभाला। किताबें शरीर से बाँधीं। एक हाथ से लता की रस्सी पकड़ी। खड़े होकर चलने की हिम्मत नहीं थी, इसलिए बैठकर खिसकने लगे। हवा अलग से पेंग दे रही थी। पता नहीं कौन-सा पेंग मृत्यु का हो ! आधी दूर जाने तक होश नहीं था। पर अन्त में पार पहुँच ही गए। पार न पहुँचते तो इस यात्रा को बतानेवाला कौन होता ? उस वक्त जोगी को सन्तोष हुआ कि अब ल्हासा पहुँच जाएँगे।

आगे घना जंगल था। बाँस और काँटे के जंगल। पैर में जूता नहीं, काँटा गड़ रहा था, पर उसकी परवाह करने से कैसे काम चलता। दो-तीन घण्टे चलने के बाद एक चट्टान पर पहुँचे। ठण्डी जगह थी। रात भी आ गई। सोचा, आज रात यहीं बिताएँगे। चाहे हाथी हो, चाहे बाघ, चाहे भालू। बदबू आ रही थी, जिससे भय लगता था कि कोई जानवर है। रात-भर नींद कैसे आएगी। सबेरा होने से पहिले ही चल पड़े। आगे एक झोंपड़ी से धुआँ निकलता दिखाई पड़ा। एक बूढ़ा झोंपड़ी में बैठा था। आलू और फापर की खेती थी। भीतर गए तो दोनों पति-पत्नी ने जोगी को हाथ जोड़कर प्रणाम किया। बिछौना बिछा दिया। नमक-मिर्च पीसकर फापर की रोटी और मट्ठा दिया। उस समय वह अमृत से भी बढ़कर मीठा लगा। दो ही खा सके, पर बूढ़े ने कहा—इसे साथ ले जाना, आगे खाना नहीं मिलेगा।—कुछ दूर तक बूढ़ा केरोंग का रास्ता बतलाने आया।

चट्टान से उतरने पर एक मील तक चलते गए, फिर एक छोटी नदी आई। पानी अधिक नहीं था। उसे पार कर चढ़ाई शुरू हुई। कुछ दूर तक पगडण्डी रही। पाँच-छह घण्टे तक उसी पर चलते रहे। अभी भी नेपाल की सीमा के भीतर थे। बड़ा भय लग रहा था। सूर्य डूबने में अभी तीन घण्टे की देर थी। बस्ती में जा फिर पकड़े जाने का डर था। अँधेरा होने तक वहीं जंगल में बैठे रहे। फिर देखा, बस्ती की एक ओर एक झोंपड़ी में चिराग जल रहा है। जोगी के मन ने कहा कि वहाँ चलना चाहिए। सचमुच वह सबसे उपयुक्त जगह थी। वह लोहार (कामी) की झोंपड़ी थी। कामी नेपाल के अछूत हैं। गंदगी में वह नरक के समान हैं। वहाँ बैठे आदमी का मुख कोयले-सा काला था। जीवन में उसने कभी स्नान नहीं किया होगा। जोगी का उसके घर में जाना अहोभाग्य था। उसने प्रणाम किया और एक चटाई पर कम्बल बिछा दिया। उसने कहा—महाराज, यहाँ आप कैसे रहेंगे ? उधर गाँव में बड़े-बड़े लोग हैं।

—नहीं, नहीं, जोगी को तुम्हारा ही घर पसन्द है, हमें बड़े लोग नहीं चाहिए। हमें यहीं रात-भर रहना है। भूख वहुत लगी है, कुछ खिला सकते हो ?

लोहार को वहुत संकोच हुआ। उसने कहा—हम छोटी जात के हैं, हम कैसे खाना खिलाएँ ?

—छोटी-बड़ी जात की बात नहीं है, तुम्हारे पास श्रद्धा है जो सबसे बड़ी चीज है। जो तैयार है, वही जोगी को दो।

लोहार ने कहा—खट्टे साग का गाढ़ा पानी (अमिली) है। गरीब का खाना कैसे खाएँगे ?

—वह बहुत ठीक है। तुम आनन्द से रहो।

खाने के वाद कुछ देर में ताकत आई, फिर पूछा—जोगी से विश्वासघात नहीं करना। तुम्हारी झोंपड़ी में लक्ष्मी बसेगी, वेटा होगा, मेरा आशीर्वाद है। आज रात को यहीं रहना है। हम केरोंग जाना चाहते हैं। इधर से जाना ठीक है ?

लोहार ने कहा—इस बस्ती में तीन-चार सिपाही रहते हैं।

—किस तरफ ?

—गाँव के ऊपर की ओर।

लोहार ने सबेरा होने से पहिले निकल जाने के लिए कहा। वह एक-डेढ़ मील तक साथ आया और एक चट्टान पर पहुँचकर कहा—इस चट्टान के बाद उतरते जाना। जंगल में बाघ-भालू रहते हैं। खाना कुछ भी नहीं। सात-आठ दिन पर केरोंग आएगा।

आँसू बहाता बिचारा लोहार लौट पड़ा। जोगी आगे बढ़े। कठिन उतराई आई, फिर सूर्य उगा। चढ़ाई और बाँसों के जंगल मिले। बाँसों को पकड़-पकड़कर ऊपर चढ़े। चार बज रहे थे, जबकि आदमी की-सी आवाज सुनाई दी। भय के मारे होश-हवास गुम हो गए। वह छिपकर आवाज सुनने लगे। एक ओर पेड़ हिल रहा था और दो भालू घूँ-घूँ कर रहे थे। दिल की घबड़ाहट की बात क्या पूछना। नाड़ी बन्द-सी हो गई। सोचा, छिपकर चले चलें। दो-ढाई मील बाद फिर उतराई मिली। बड़े-बड़े वृक्ष थे, सभी कुकाठ थे। जमीन में पत्ते सड़कर खाद बन गए थे। जहाँ वे नहीं थे, वहाँ फिसलन थी। सूर्यास्त होने लगा। जल्दी-जल्दी उतरने लगे। एक-डेढ़ मील के बाद एक वड़ी नदी मिली। पार करने की हिम्मत नहीं थी। ऊपर-नीचे एक मील तक घूमते रहे, तब जा के एक जगह उतरने योग्य मालूम हुई। पत्थर पंक्ति से रखे हुए थे। उसी रास्ते से जाने का निश्चय किया। कूदते-फाँदते आखिर एक जगह पैर फिसल गया। पानी सर्दी से ठंडे होकर हड्डी चीरनेवाला था। पत्थर-किनारा दूर होने से बीच में ही गिरना पड़ा, किताबें भीग गईं, चीवर भी और थोड़ा-सा गुड़ था वह भी पानी में सन गया।

हड्डी चीरनेवाली ठण्डक थी। दूर तक रास्ता बदलना पड़ा। थक गए। फिसलना अलग पड़ता था। जीने की कोई आशा नहीं रह गई थी। दो मिनट आँख बन्द कर पड़े रहे। देखा, रास्ता कोई नहीं है। सिर्फ बाँसों के जंगल हैं। बिच्छू-घास पर गिरे तो छह-सात फुट नीचे तक बदन चिरता गया। पत्थर पर पैर पड़ा। भिक्षा-पात्र और झोली किसी तरह मिली। उठे। फिर बाँस ही बाँस और फिर चढ़ाई। फिर फिसलन। पच्चीस-तीस फुट ऊपर गए। रात को अँधेरा था। कहीं दिखाई नहीं पड़ता था। हिम्मत करके ऊपर उठे। एक बड़े वृक्ष के नीचे पत्तों पर बैठे। रात को प्यास लगी, पर वहाँ पानी नहीं था। कहीं से टिप-टिप की आवाज आ रही थी। पानी पिएँ कहीं, यही संकल्प था। चूनेवाली जगह पर हाथ लगा के देखा, तो वहाँ पानी था। न जाने कैसा पानी था, पर इस वक्त तो पीना था। चीवर को मुँह पर रख पानी पिया। कुछ शांति मिली। थोड़ी देर बाद कंकड़-पत्थर गिरने लगे। शैतान था या क्या ? घने जंगल में कुछ नहीं दिखाई पड़ता था। शायद कोई जन्तु था।

घण्टे-भर बाद उठे, तो शेर दहाड़ रहा था। लेकिन वहाँ शेर कहाँ ? इधर-उधर मन गया। भय भी लगा। कोई चिल्लाने की-सी आवाज मालूम हुई। कहीं इधर ही तो नहीं आ रहा ? भय से बेहोश-से हो गए। दिल जोर से धड़क रहा था। रात एक वर्ष के समान बीत रही थी। थोड़ी देर बाद चिड़ियों की आवाज आई।

बेशक सबेरा हो गया था। लेकिन अब भी उठने की हिम्मत नहीं थी। देर तक वहीं पड़े रहे। फिर आगे बढ़े।

दो पहाड़ की चढ़ाई चढ़े। जमीन समतल थी। भूमि पर चले। बीच-वीच में आराम करते। भूख बहुत लगी। आगे समतल पत्थर आए, फिर किनारा मिला। वहीं बैठ गए। सिर चकरा रहा था। मैदान पानी से भरा था। सिंहल को कोई खाने जैसी चीज मालूम हुई। उसे छीलकर खाया। कुछ खाने के लिए रख लिया। बड़े पत्थर की गुहा में धुआँ दिखाई पड़ा। बादल या धुआँ उधर बढ़ते गए। नदी मिली। उधर वालू पर आदमी के पैर थे, जो गुफा में गए थे, देखा, पाँच भोटिया थे, सबके पास शिकारी बंदूक थी।

उन्होंने स्वागत किया, पर स्वागत ग्रहण करने के लिए होश-हवास नहीं रहे थे। अब तक मन इसी तरह आया था, लेकिन अब होश-चेत नहीं रहे। न जाने कब नमकीन चाय दी और सत्तू भी। घोलकर खा लिया। जरा-सी हिम्मत आई। पेट भरने से हिम्मत आती ही। पूछा–किस तरफ जाना चाहिए। उन्होंने रास्ता बतलाया। रास्ता वही था जिधर केरोंग था, पर वहाँ से तीन-चार दिन दूर था। अच्छा, उधर ही जाना होगा। बहुत-से फूल खिले हुए थे। सुगन्ध आ रही थी। अब जोर से चलना था। चलते-चलते एक बस्ती में पहुँच गए। बड़ी बस्ती थी। जंगल हल्का होता जा रहा था। जंगल खत्म हुआ, तो तीसरे दिन एक बस्ती में पहुँचे। वहाँ एक चैत्य मिला। डेढ़ मील पर बस्ती आई।

एक लामा निकलकर नजदीक आया और लिपटकर मिला। यह कौन है ? यह तो बोधगया में मिला था। दोनों यहाँ मिले। कपड़ा भीगा हुआ था, उसने एक चीवर दिया। पहचान लिया, घर में ले गया। चाय बनाई और फापर की रोटी आलू और मक्खन के साथ दी। सब खा लिया। उसी वक्त नींद आ गई, सो गए। नौ बजे सोए-सोए शाम को जागे। लामा ने जगाया नहीं। चावल, मूली का साग और सूखा मांस बनाया। पैर के काँटे निकाले। कितने ज्यादा काँटे गड़ गए थे ! साथ में बैठ दोनों ने भोजन किया। एक दूसरे को भली प्रकार पहचाना। लामा ने कपड़ा दिया। यहाँ ठण्डे कपड़े की जरूरत थी। कुछ पैसा भी दिया। अभी शरीर की अवस्था ऐसी थी कि लामा जाने देना नहीं चाहता था, पर स्थान छोड़ना था। बिना जूते के चला नहीं जा सकता था, इसलिए एक जोड़ा जूता बनवा दिया। अप्रैल का महीना था। केरोंग दो रोज आगे था। जैसा होगा देखा जाएगा। केरोंग इलाके में पहुँच गए। इसका हर्ष था। यहाँ जंगल थे, जिनमें देवदार के वृक्ष अधिक थे। लामा ने बहुत उपकार किया। उससे मुलाकात नहीं होती तो बड़ी दिक्कत का सामना करना पड़ता।

12

तिब्बत में (अप्रेल 1934 ई.)

लामा आधी दूर तक पहुँचाने आया था। अब नेपाल से केरोंग के रास्ते पर आ गए, जो बड़ा चलता रास्ता था। खच्चर और घोड़े चलते थे। रास्ते में एक गाँव के मुखिया के पास ठहरे। बड़ा पत्थर का मकान था। रात को बड़ी सेवा की। भारी कुटुम्ब था। जवान-जवान तीन-चार लड़कियाँ थीं। लोग रात को खेती से घर लौटे। पूछा–बूढ़ी ने चाय दी कि नहीं ?–यहाँ हिन्दी और नेपाली दोनों ही बोली जाती थीं। रात को थुक्पा खिलाया। सोने नहीं दे रहे थे।–लड़के-लड़कियों का सौभाग्य कैसा रहेगा ? उनका दुःख-सुख कैसा होगा ?–सबका जवाव दिया। लड़की के ब्याह में किसी को छह महीने, किसी को वर्ष-भर मियाद बतलाई। लड़का व्यापार करेगा, बहुत रुपया कमाएगा, इत्यादि।

बुढ़िया को बीमारी थी, जो दवा से अच्छी नहीं हो रही थी। बाँस की नली हाथ में ले उससे फूँक दिया। बुढ़िया को उससे आराम मिला। मुखिया ने बतलाया कि आज शाम तक केरोंग पहुँच जाएँगे।

अगले दिन सबेरे चाय बिना पिए ही चले। रास्ते के लिए सूखा पनीर और मक्खन पाव-पाव भर दे दिया।

केरोंग–यहाँ कहीं-कहीं खेती-वारी थी और कहीं-कहीं ऐसी ही जमीन। नदी डेढ़ मील लम्बी होगी। पहाड़ जंगलवाले थे। सवेरे चिड़ियाँ वहुत वोलती थीं, कोयल भी थी। दोपहर को एक घर में पहुँचे और वहाँ चाय में फेंटकर सत्तू खाया। साढ़े सात बजे केरोंग बस्ती में पहुँच गए। एक सिपाही शराब पिए मिला, उसने आँखें मोटी-मोटी करके पूछा–तुम कहाँ से आए ?

–मैं सिंहल-गेलोङ् हूँ।

–मैं सिंहल-गेलोङ् नहीं जानता। चलो हमारे साथ, चलो मालिक के पास। तुम अंग्रेज का खुफिया है।

चुप ही रहना था। शराबी आदमी से क्या बात करना ? केरोंग देवता के पीछे अँधेरे घर में बन्द कर दिया। एक सिपाही की ड्यूटी लगा वड़ा ताला भी डाल दिया।

कर्नल बहुत भगत था, किन्तु पहिले उसने कहा–अंग्रेज का सी. आई. डी. मालूम होता है। बन्द कर दिया। रात-भर होशियारी से देखते रहो।

छोटा छिद्र था। उसी से भीतर दीखता। सिंहल गेलोङ् को कुछ भी घबड़ाहट नहीं थी क्योंकि नेपाल से बचके यहाँ चले आए थे। सिपाहियों को भी कोई फिक्र नहीं थी। वे एक ओर बैठे रहे। रात को आदमी घूमने आया। देखा, सचमुच ग्यगर लामा (भारत का सिद्ध) आराम से आसन बाँधे बैठा है। जरूर यह बड़ा सिद्ध है। देवता नाराज हो जाएगा। जल्दी करो। धूप-बत्ती जलाओ। कर्नल भी आया। उसने भी सिद्ध की महिमा देख ली। पकड़नेवाले को उसने धमकी दी–क्यों तूने इन्हें बन्द किया ? यह तो आँख खोलता ही नहीं।–दो-तीन और आदमी आ गए। वे दीपक, चाय और थुक्पा लाए।

तब तक समाधि भी टूट चुकी थी। महासिद्ध ने कहा–तुम चले जाओ।–जीभ निकालकर उन्होंने सम्मान प्रकट किया और कहा–रिंपोछे, आप नाराज न हों। आपके नाराज होने से केरोंग का देवता भी नाराज हो जाएगा। किसने बदमाशी की जो आपको यहाँ बन्द कर दिया ?

धमकी देनेवाले से कहा–माफी माँगो।

कर्नल सीधा-सादा भगत था। उसके कान में लम्बी पेंसिल लटकी हुई थी। वह नेपाली भी बोलता था। भिक्षु समझ लामा को दण्डवत करने लगा था। दुःख प्रकट कर रहा था।

–नहीं, कोई बात नहीं।–सिंहल-लामा ने कहा।

बिचारे को आँसू आ रहे थे। उसे क्षमा कर दिया। भिक्षा ग्रहण करने के लिए कहा। भिक्षा ग्रहण कर फिर ध्यानमग्न हो गए।

कर्नल ने कहा–हमारे ऊपर लामा नाराज नहीं। इस (सिपाही) ने शराब पीकर बड़ा बुरा काम किया।

–हम किसी को पाप नहीं लगाते। इसने अपनी ड्यूटी पूरी की। हम इसे क्षमा करते हैं।

–इसे क्षमा करें। हमारे परिवार को भी आशीर्वाद दीजिए। हमने भी अपराध किया।

–नहीं, आपका कोई अपराध नहीं। आपको यह करना ही चाहिए था, क्योंकि यह सरकार का काम है।

–यहाँ का देवता (फोरंगका) बहुत सख्त है, वह हमें क्षमा नहीं करेगा।

–नहीं, हम देवता को कह देंगे, वह जरूर क्षमा कर देगा।

आदमी ने सिर से दण्डवत की और क्षमा माँगते हुए कहा–हम पिए थे। हम गरीब हैं। हमें माफ कर दीजिए।

कर्नल उसकी ओर से बहुत माफी माँगने लगा। दो घण्टे तक बातचीत करता रहा। बड़े सम्मान से चाय पिलाई। फिर खाने के लिए चीनी के प्याले में मोमो आई। तुरन्त रिंपोछे की उपाधि प्रदान की।

रिंपोछे ने तीन रोज तक खाना नहीं खाया, क्योंकि देवता को शान्त करना था। उसके लिए उन्होंने डेढ़ मील पर अवस्थित एक गुहा पसन्द की। साथ में चिउरा और खाने की चीजें ले लीं।

केरोंग के जर्नल को भी मालूम हो गया कि रिंपोछे एकान्त में हैं। उसने पूछा–सरकार से कुछ बुरा हो गया, कितने दिनों तक इस तरह से बैठे रहेंगे ?

–तेरह-चौदह दिन रहना पड़ेगा। लेकिन कोई बात नहीं।

गुम्बा के लामा भी पूजा से बहुत प्रसन्न थे। उस समय पानी नहीं बरसता था। जर्नल ने पूछा—केरोंग देवता नाराज है क्या ?

—देवता नाराज है, पर उसे मना लिया जाएगा। वर्षा के लिए कुछ करना होगा।

—पूजा की क्या-क्या चीज चाहिए ?

—नहीं, कुछ नहीं। लामा लोग पूजा कर रहे हैं। हम तीन दिन तक साधना में बैठे रहेंगे। हमारी कोठरी में कोई नहीं आए। तीन दिन बाद वर्षा जरूर होगी।

सचमुच तीन दिन बाद वर्षा हो गई। बड़े जोर की वर्षा ! पोखरे भर गए। कर्नल और जर्नल ने हुक्म दिया कि सब एक-एक खाता (रेशमी पट्टी) ले बोधिसत्व के दर्शन के लिए जाएँ। लामा लोग डेढ़ मास तक तप करके हार गए, किन्तु कुछ भी नहीं कर सके।

उस दिन बहुत-से खाते जमा हो गए। सिद्ध ने कोई चीज नहीं ली, उसे केरोंग की मरम्मत के लिए दे दिया। बड़ी तारीफ हुई।

अचा डोलमाला (बहिन तारा जी) एक बहुत धनाढ्य स्त्री थी, जिसका पति मर गया था। वह अफसरों को सामान देती थी। उसके एक ही लड़का था। लड़का हाथ-पैर नहीं हिला सकता था। कर्नल ने पूछा—बेचारी दुःखी है। भगवान, उस पर दया कीजिए।—जर्नल ने भी प्रार्थना की। उसका घर एक मील पर था। रिंपोछे ने मंजूर किया। अचा डोलमाला के घर को चारों तरफ से बन्द कर दिया, धूप लेकर भीतर गए। लड़के को देखने से मालूम हुआ कि तेल-मालिश से फायदा होगा। ऊपर से परित्राण-देशना का सूत चारों ओर बाँधा। हल्दी डाल के तेल की मालिश करवाई। तीन दिन बाद सूजन उतर गई। डोलमाला के पुत्र को अच्छा कर दिया। डोलमाला ने दक्षिणा देनी चाही तो रिंपोछे ने कहा—इसकी बात मत करो, हमें कुछ नहीं चाहिए।

इससे आश्चर्य हुआ। जाने के दिन डोलमाला चाय, मक्खन, सत्तू आदि ले आई। जोंग ने आगे के लिए घोड़ा देना चाहा, पर डोलमाला ने तिंगरी तक के लिए (चार दिन को) घोड़ा दे दिया। थोङ्ला दो दिन बाद पड़ता था। सरकारी व्यापारी बदेपछंग तीन-तीन वर्ष पर दस हजार रुपया नेपाल को देने आता था। जंगबहादुर के समय हार खाने पर यह कर देना पड़ता था। चीन के स्वतन्त्र होने पर ही उससे छुट्टी मिली। सरकारी व्यापारी के साथ जाने में सुविधा रहती, इसलिए उसी के साथ भेजने का निश्चय किया। वह जगह-जगह घोड़े पर चढ़ाके ले गया। उसके साथ बारह सिपाही और चार-पाँच नौकर थे। वह व्यापार करते हुए जाता, बस यही एक दिक्कत थी।

थोंगला में बड़ी चढ़ाई थी। इस तरफ केरोंग से भी बड़ा देवदार-जंगल था। हजारों घरों की तीन बस्तियाँ थीं। दो नदियाँ पड़ीं, जिन्हें आदमी पार कर सकते थे। थोंगला में पन्द्रह दिन रहे। एक सिपाही बीमार पड़ गया, उसे देखकर चलना था। मानला मानसरोवर के रास्ते पर था, वहाँ से लौटकर आने में देर हुई। वहाँ की हवा बहुत खराब थी। पाँच-छह रोज बीत गए। रिंपोछे से पूछा—क्या बात है ? जीता है या मरा !

रिंपोछे ने कहा—आएगा परसों। शाम तक आनेवाला है, घबड़ाना नहीं। खच्चर लँगड़ा हो गया, इसलिए उसके आने में देर हो गई।

—वहाँ का देवता तो नहीं बिगड़ गया ?

—नहीं, परसों जरूर आएगा।

परसों सूर्यास्त के समय सचमुच कूदता-उछलता वह आ गया।

रात को मोमो बनाई, खूब भोज हुआ। उसी समय एक आदमी के पेट में दर्द मालूम हुआ।

—क्यों, क्या हुआ ?

—पेट में दर्द है और खच्चर भी लँगड़ा हो गया।

रिंपोछे की महिमा बढ़ गई। वह बार-बार पूछे जाते थे। उन्होंने कहा—डिका, डिका (ठीक है, ठीक है)।—शाम को धूप रख। लोगों ने रमल फेंका, पूजा किया पर कुछ नहीं हुआ।

—रिंपोछे, बताइए, क्या करना चाहिए ? देवता का दोष है क्या ?

–देवता का दोष नहीं, अपना दोष है।

झट दवाई बनवाई। जायफल, चन्दन को बकरी के दूध के साथ घोंटकर पिला दिया। यह भी कहा–इसे **शराब** नहीं पीनी होगी, नहीं तो बहुत बुरा होगा।–कुछ देर में पेट-दर्द बन्द हो गया।

पर सिपाही से रहा नहीं गया। लोग जुआ खेल रहे थे, सूखा गोश्त खा छंग पी रहे थे। सिपाही ने भी खाया। शाम को फिर टट्टी शुरू हुई। दर्द के मारे छटपटाने लगा। तीन-चार दिन बाद फिर उसकी हालत खराब हुई। उसने स्वीकार किया–हमने खाया, गलती की।

रिंपोछे अब क्या कर सकते थे ? उसने अपने पैर आप कुल्हाड़ी मारी। अब मुश्किल था। वह ल्हासा नहीं पहुँचा। रास्ते में ही रक्त गिराते-गिराते खतम हो गया।

तिंगरी में कुछ दिन लगे। उसके बाद लपची गए, जो जेचुन मिला रेपा का निवास-स्थान था। फिर सेकर और उसके बाद ल्हार्चे। ल्हार्चे में पन्द्रह दिन रहना पड़ा। वहीं वह सिपाही मर गया। उसको फेंक दिया गया। पर लोग घबड़ा रहे थे कि कहीं उसका भूत न लगे। रिंपोछे ने कहा–घबड़ाओ नहीं, तुम्हें कुछ नहीं होगा। ल्हार्चे गुम्बा में पूजा कर लो।

पिंजोलिंग ब्रह्मपुत्र के पास एक बड़ी गुम्बा है। वहाँ जंगल से पेड़ उखाड़कर कागज बनाते हैं। यहाँ भी तीन दिन रहे। गोरखा युद्ध में आज से सौ वर्ष पहिले जंगबहादुर के समय जो गोली दगी थी, उसका निशान आज भी यहाँ मौजूद था। यहाँ से चलने पर शिगर्चे पहुँचे।

शिगर्चे में सरकारी व्यापारी ने अपने साथ ले जाने से इन्कार कर दिया। उसे डर लगा। सरकार की आज्ञा के विरुद्ध आगे ले जाना अच्छा नहीं होगा। शिगर्चे में दो-तीन सप्ताह ठहरे। यहाँ पणछेन् लामा का स्थान टशिल्हुन्पो है। पणछेन् लामा उस वक्त नहीं थे। शिगर्चे से एक रास्ता रोंग का था, दूसरा ग्यांचे का। ग्यांचे का रास्ता अच्छा था, पर रिंपोछे ने रोंग का रास्ता अपनाया।

छेप्या एक अच्छे खाते-पीते आदमी का घर था। नौकरानी ने छह-सात दिन नौकरी की थी। मालकिन लबरंग में ठहरी। वहाँ से पूजा करने पहाड़ में गई। नौकरानी माल-मता देख जेवर-कपड़ा ले चम्पत हो गई। कुछ जेवर छिपा लिये और कुछ मेले में ले गई। शराब पी शाम के गीत गाते-गाते घर लौटी। मालकिन ने बक्स खोलकर देखा, तो वहाँ कुछ नहीं था। चट रिंपोछे के पास पहुँची–कौन ले गया ?

तीन-चार का नाम पड़ा, उसमें एक का नाम उतरा।

–तुम्हारी छ्यामा (नौकरानी) ले गई।

छ्यामा ने रोते-रोते स्वीकार किया। कुछ चीजें उसने बतलाईं।

–ठीक बताओ। बचा हुआ माल बताओ।

चोर पकड़ा गया। रिंपोछे ने कहा–दुःख देना नहीं होगा, न जोंग (सरकारी दफ्तर) में पहुँचाना होगा।

मालकिन ने बात मान ली। दो-चार थप्पड़ लगाकर उसे छुट्टी दे दी। सारे शिगर्चे में हल्ला हो गया। उसी दिन एक और घटना घटी। किसी के घर का माल चोरी गया। रिंपोछे ने पूछा–तुम्हारे घर पर कौन था, किस पर सन्देह है ?

–मेरे घर में तीन लड़के थे–छोटा, बड़ा और मँझला।

–वही छोटा ले गया। जाओ गुम्बा में, बारह बजे मिल जाएगा। जाकर खेम्पो को रिपोर्ट दो।

छोटे लड़के ने चीज ली थी, उसे बारह कोड़े मारे गए। इन बातों का ग्यांचे तक हल्ला हो गया–बाप रे बाप, कैसा विचित्र लामा है ! जहाँ रहेगा वहाँ तो चोरी नहीं हो सकती !

ग्यांचे में राहुलजी से भेंट हुई (1936 ई.)। राहुलजी ने ल्हासा में छुशिङ्शा के पास चिट्ठी लिख दी और रिंपोछे वहाँ से ल्हासा चल दिए। अब जाड़ा शुरू हो गया था। छुशिङ्शा के स्वामी ज्ञानवान मिले। उन्होंने प्रणाम करके कुशल-प्रश्न पूछा। 'देर से क्यों आए', कहने पर बतलाया–मैं पैदल आ रहा हूँ।

उन्होंने कहा–कोई बात नहीं। आप जाइए, मेरे बड़े भाई ल्हासा में मौजूद हैं, वे मदद करेंगे।

रास्ते में कई जगह ठहरते-ठहरते आठवें दिन वे ल्हासा पहुँच गए। त्रिरत्नमान साहु वहीं थे। माहिला

साहु ने बड़ी सहायता की। गुभाला भी वहीं थे। माहिला तीन बार आकर चाय पिलाते। जाड़े के लिए अण्डी का पीला चीवर बनवा दिया। ऊपर से नम्बु का छुपा (चोगा) था। अचा चेंगा पूरी ताड़का थी। बहुत बिगड़कर बात करती थी। रिंपोछे ने सोचा : यह हजार योजनवाली ताड़का यहाँ कहाँ से आ गई। जन्म-भर उसने कभी नहाया नहीं था। उसे देखकर कै आने लगती। रिंपोछे ने उससे कहा—जरा हाथ-पैर धोओ।—ताड़का गाली देकर कहती—मुझे हाथ-पैर धोना नहीं है।

उसी घर में कादिर भाई और अचा खदीचा रहते थे। कादिर भाई कश्मीरी मुसलमान जम्बु राजा के कैदी के बेटे थे।

दो मास बाद त्रिरत्नमान साहु ने सेरा में रहने का इंतिजाम कर दिया। सेरा ल्हासा की दो गुम्बाओं में से एक है, जिसमें 5,000 भिक्षु रहते हैं। छोंग को उनका जिम्मा दिया था। वह शहर में दिन-भर रहते। सबेरे ट्यूशन के लिए चले जाते और शाम को लौटते। भन्ते को बहुत तकलीफ हुई। रिंपोछे छुशिङ्शा लौटे। इनको उसी घर में जगह दी गई जिसमें एक नेपाली गला काटकर मर गया था। पूछने पर कहा—उसमें आवाज जरूर आती है, पर उसका कोई डर नहीं। पाखाने के रास्ते में भी आवाज आती है।—यह कहने पर त्रिरत्नमान दो आदमी के साथ वहाँ जाते। जीवसाहु—एक दूसरा साहु था, जो बड़ा डरपोक था, वह छुशिङ्शानुब में रहता था।

माहिला साहु बहुत अच्छा आदमी था। पहिले स्वयं साहु था, पर पीछे उसका कारबार बिगड़ गया, और यहाँ नौकरी की। उसका घर जाने का इरादा था। लेकिन मालिकों ने यह स्वीकार नहीं किया। उस दिन सबेरे बहुत खुश था, कस्तूरी की जाँच कर रहा था। फिर उसके मुँह पर चुप्पी आ गई। उसका हाथ भी कुछ लड़खड़ा रहा था। उस दिन भन्ते सामने खड़े थे। लेकिन उसने कोई शिष्टाचार नहीं दिखाया। थोड़ी देर बाद चिउरा खाने को आया। सबने एक साथ खाना खाया। भन्ते की तबीयत कुछ खराब थी, इसलिए जाकर सो गए। दो बजे नींद टूट गई। पिंजरे में तोता तिब्बती भाषा में कुछ बड़बड़ाने लगा। भन्ते बैठ गए। इसी समय पिस्तौल की आवाज आई। उसे मामूली समझा। क्योंकि पिस्तौल की आवाज विशेष बात नहीं थी। चन्द मिनट बाद त्रिरत्नमान हाँफते-हाँफते आए और भन्ते की गोद में गिर पड़े। कुछ देर तक आवाज नहीं आई। जबर्दस्ती खड़ा किया, तो कहा—चलिए गोदाम में।

वहाँ गए। माहिला की नाड़ी देखी। पेट्रोमेक्स कपड़े के गोदाम में जलाकर रख दी। नाड़ी देखते-देखते डेढ़ सेर खून निकला। माहिला चुपचाप बैठे मालूम होते थे। 'यह क्या ? यह तो पिस्तौल की गोली है।' दो गोली लगी थीं। एक पिस्तौल में रह गई थी। माहिला शान्त हो चुके थे। उस दिन धर्मरत्न बाहर तकाजे के लिए गए थे।

फौरन नेपाली अड्डे में खबर दी गई। काना कप्तान आ गया। पूछना शुरू किया—स्वामीजी, आप बतलाइए, आप पर विश्वास है। जैसा कहेंगे वैसा ही लिखेंगे।—माहिला के पुत्र धर्मरत्न से पूछा—तुम कहाँ गए थे ?

—बाहर तकाजे के लिए।

अपने गोली लगती, तो कैसे लगती ? यह सीधी लगी ?—यही सन्देह था।

—कैसी आवाज आई ? रात को आवाज आई या दिन को आवाज आई ?

इस प्रकार पूछताछ करते रहे। फिर अड्डे पर बुलवाया। सात दिन तक जिरह होती रही।

देवता ने उन्हें बचा लिया।

ल्हासा में एक गृहस्थ ने सिंहल-लामा के लिए कन्जुर दान दिया। उसमें पचास भारी-भारी कागज लगते। ल्हासा में तेरहवें दलाई लामा ने कन्जुर का ब्लाक बनवाया। शर्बागेल्पो (यह दूसरा था) ने कन्जुर के लिए कागज दिया। उसे लेकर निमाछेर्तनरांग के पास रख दिया। घर से चिट्ठी आई और सिंहल के लिए रवाना हो गए। ल्हासा से ग्यांचे और गए।

फरी से डुक्पा के राजदूत ने घोड़ा दिया। बहुत ऊँचाई थी। चढ़कर नीचे को जाना था। घोड़े की जीन टूट गई। लुढ़कते-लुढ़कते आधे मील तक गए। देह में चमड़ा पहन रखा था, बर्फीली जगह में कुछ भी ठंडक मालूम नहीं हुई। एक आदमी ने पकड़ा, दूसरे दो दौड़कर आए। वह समझते थे, बड़ी चोट लगी है, पर चोट

नहीं लगी थी। वे हँस दिए, पकड़कर उन्हें ऊपर ले आए। चाय पी, सत्तू खाया, उसके बाद पैदल ही चले। शाम को कुछ-कुछ बर्फ रह गई थी। तीन-चार दिन बाद परकुसो (राजा) दरबार में पहुँचे। बड़ी दावत दी। काजी ने हुकुम दिया–सिंहल-गेलोङ् को अच्छी तरह रखो। नंगे-पैर थे, जूते भी नहीं थे। वहाँ लाल चावल का भात और सूअर का गोश्त विचित्र बना हुआ था। कोई चीज हल्दी के रंग की पड़ी हुई थी। खाने में अच्छी थी।

कुसो लामा है, उनकी बात माननी चाहिए। राजा बहुत ध्यान रखता और गेलोङ् (भिक्षु) के आने पर खड़ा हो जाता। राजा की बात का लोगों पर बहुत असर पड़ा। महीना-भर वहीं रहे। फिर बुन्दन जाने का इंतिजाम हुआ। वहाँ कलिम्पोंग के परिचित लामा मिले। गुम्बा में रहे। वहाँ जोंग के पास बहुत-से सूअर के सिर लाए गए। वह उसे काटकर खाता था। सिंहल-लामा ने उसे नहीं खाया, न जाने कैसा मालूम होता था।

पुनाखा पुरानी राजधानी बहुत ठण्डी है। वहाँ देवदार के जंगल हैं, बाजार भी बड़ा है। लेकिन उस समय राजा वहाँ नहीं, बुन्दन में था, जहाँ बड़ा दरबार था। जोंग ने साथ आदमी कर दिया और तीन दिन जाने की एक चिट्ठी जमादार को दी। जमादार की दोनों आँखें सड़ी हुई थीं, पलक भी नहीं थी। देखने में भी बूढ़ा भयानक मालूम होता था। यहाँ हर जगह अपनी-अपनी हुकूमत थी, किसी को कोई नहीं पूछता था। जमादार ने तीन दिन रोक लिया–नियम नहीं है आगे जाने का।–वस्तुतः वह पैसा चाहता था और पैसा बहुत ज्यादा नहीं, सिर्फ डेढ़ रुपया। उसे दे दिया, रास्ता साफ हो गया। दो रोज में बुन्दन पहुँचे। बहुत ठण्डी जगह थी। बर्फ गिरने जैसी मालूम होती थी। देवदार का जंगल था। तिब्बती, खम्पा, नेपाली, मंगर, तमंग, हिन्दुस्तानी, सभी लोग थे। छोटी-मोटी दूकानें थीं। मारवाड़ी नहीं थे। एक लामा के पास तीन दिन रहे। उस समय भूटान का महाराजा सख्त बीमार था। रानी से भेंट हुई। कुछ रुपया दिया। अच्छा होने पर भेंट करने की बात कही।

रिंपोछे आसाम जानेवाले थे, पर वहाँ का रास्ता साफ नहीं था। न जाने क्या रुकावट होती, इसलिए फिर पीछे की ओर लौटे और टोमो में आगे रिनूछेन् गङ् के पास उतरे। वहाँ से यातुंग थोड़ी ही दूर था। टोमोनिमा के घर में रहे। टोमोनिमा शराब पी-पीकर लिवर को उठा बैठा था। वहाँ से नातोल होते गन्तोक में ग्यलपो काजी के घर में ठहरे। काजी से भोटिया बस्ती, दार्जिलिंग का परिचय था, वहाँ उनके दोनों लड़के पढ़ते थे। तीन दिन आराम करके वहाँ से चले। काजी ने कलिम्पोंग तक के लिए खर्च भी दिया। शमा करपो के घर में ठहरे। कुछ तिब्बती चीज नम्बु आदि वहीं दे दिया।

13
जन्मभूमि और चटगाँव, अराकान

वहाँ से सिंहल गए। घर तार दे दिया था, जल्दी आने की इच्छा थी, जिससे भाई को देख लें; लेकिन प्रयत्न करने पर भी वहाँ समय पर नहीं पहुँचे। उनका संस्कार हो चुका था। सबसे बड़े और सबसे छोटे भाई आपस में लड़ रहे थे। उन्हें समझाया, पर मानते नहीं थे। दोनों ने सम्पत्ति बाँट लेने को कहा। सम्पत्ति-बाँट भी उन्हें पसन्द नहीं थी। भन्ते ने निश्चय किया, अब मैं नहीं आने का। छह-सात महीने किसी तरह बिताए। गुरु के पास कभी-कभी जाते, नहीं तो एक धर्मशाला में रहते। प्रतिज्ञा करके वहाँ से चले। काण्डी में चचेरी बहिन के पास गए। उसी जगह पिता भी आ गए। पिता लौटने देना नहीं चाहते थे। पर वे किसी तरह ट्रेन के डिब्बे में चढ़ गए। माता रोती रही।

–इनको घर ले जाओ।

बहिन ने इसमें सहायता की। वहाँ से सेकेंड क्लास का टिकट खरीदकर कलकत्ता आ गए। कलकत्ता में कुली को पैसा दिया। बेंच पर बैठे। हल्की जेब देखकर मालूम हुआ, बैग गिर गया।

सारनाथ गए, वहाँ से बहिन को तार दिया। पचास रुपये का वहाँ से मनिआर्डर आ गया। साथ में बहुत-सा सामान सिंहल से लाए थे, उसे कलकत्ता, बोधगया और सारनाथ में बाँट दिया।

चटगाँव जाने का इरादा हुआ। वहाँ पाँचटोली शहर में रहे। लंका आते-जाते एक अग्र महापण्डित धर्मवंस वहाँ के संस्कृत कॉलेज में प्रोफेसर थे। अग्र महापण्डित चेले को समझाकर जाते, पर वह कोई पर्वाह नहीं करता। लाओस के एक भिक्षु से कह दिया कि भिक्षा लाकर इन्हें भी खिलाओ। जब भिक्षा लेकर खाना था तो इसमें किसी का नाता क्या ?

वहाँ से बोलकाली विहार में चले गए। वहाँ के भिक्षु बड़े नम्र थे। वे कहते—यहीं रहें।—मछली और भात का भोजन रहता। एक मास वहीं रहे। इसके बाद उत्तर चटगाँव गए। वहाँ भी सिंहल के भिक्षु रहते थे। पहाड़ी चढ़ाई-उतराई पड़ती थी, क्योंकि यह इलाका पहाड़ी है। वर्षा का दिन था, इसलिए वर्षावास का इंतिजाम करना था। उसी समय एक घटना घटी। दो बच्चों की माँ इक्कीस वर्ष की युवती पागल हो गई थी। उसे दिखाने के लिए ले गए। तिब्बत और मानसरोवर में घूमे होने से उनके आशीर्वाद में बहुत शक्ति थी। सिंहल-भिक्षु ने उनसे कहा—आज अच्छा दिन नहीं है, कल आओ।—उन्होंने एक फूल का नाम भी बतला दिया। जब उस दिन गए तो वहाँ हजारों की भीड़ थी। पगली की आँखें लाल-लाल थीं। वह बहुत बातें करती थी। सिंहल-भिक्षु ने कहा—इलाज से कोई लाभ नहीं तो हमारा भी इलाज देखो।—पगली द्वार पर खड़ी हो भयंकर आँखों से देख रही थी। सिंहल-भिक्षु ने कहा—तू कौन है ? क्यों बरबर बक रही है ?

—मैं कौन हूँ, इसी घर की हूँ।

रोगिणी का कुछ उपचार करते, सान्त्वना देते तीन रोज तक वहीं रहे। तीन दिन अपने हाथ से उसे चाय पिलाई। बिल्कुल स्वस्थ हो गई।

उसका पति रंगून में पोस्टमास्टर था। उसका साला छुट्टी पर आ रहा था। पति ने कहा—साथ में अपनी बहिन को लेते आना।—चटगाँव में जहाज से उतरने पर उसने अपनी बहिन को कहा—तुम मेरे साथ चलने के लिए तैयार रहना।—वह अपने घर से बहिन के घर आया, जहाज के जाने में जल्दी थी, इसलिए बहिन के बिना ही चला गया। बहिन को बहुत दुःख हुआ। वह बहुत रोई। इष्ट-मित्रों से इसके बारे में कहा। रात को उसे रोम-हर्ष हुआ और उसी रात अकबकाने लगी। तीन दिन बाद कपड़ा भी छोड़ दिया। सिंहल-भिक्षु ने बाल मुँडवा दिए। उससे सिर में कुछ ठण्डक पैदा हुई। फिर परित्राण-देशना की, सूत बाँधा और तीन दिन बाद वह अच्छी हो गई।

वहाँ से बोलकाली आए। और फिर पाँचटोली। अब अराकान स्टीमर से चले। रास्ते में काक्सबाजार आया। वह वहीं उतर गए। अराकान में एक भिक्षु ध्यान की संस्था खोले हुए थे। उस भिक्षु ने इनको दीक्षा दी, और जयवर्धन से उनका नाम उ. कौंडिन्न रखा। सबकी अलग-अलग ध्यान की जगह थी। भोजन का अच्छा प्रबन्ध था। कौंडिन्न से बहुत आग्रह किया कि तुम यहीं रहो। उनका एक हाथ नहीं था, पर दूसरा आजानुबाहु था, जिसे महापुरुष का लक्षण कहा जाता। सिंहल-भिक्षु का मन वहाँ नहीं लगा और वह हठपूर्वक स्टीमर पर जा बैठे।

अराकान में एक बड़े चतुर भिक्षु थे, जिनके पास बीस-पच्चीस सामनेर रहते थे, उन्हीं के पास सिंहल-भिक्षु पहुँच गए। उनके पाली उच्चारण को देखकर भिक्षु ने कहा—आपका उच्चारण ठीक है।—भिक्षु बात-बात में उत्तेजित हो चिल्लाने लगते। सामनेर कहते—अच्छा-अच्छा खाना आप खाते हो, हमको खराब खाना देते हो।

कलिम्पोंग के महाप्रज्ञ का एक नेपाली चेला रंगून में था। वहाँ के वातावरण को देखकर भिक्षु ने श्मशान में रहना शुरू किया। वहाँ ध्यान में मग्न देखकर लोगों ने कहा—यह अर्हत है।—महाप्रज्ञ के चेले द्वारा मांस का विरोध करने से लोग ऐसा समझने लगे। पर भिक्षुओं ने उसे पूरी तरह देखा, और उसे पीटकर जंगल में छोड़ आए। चेहरे में चोट आई। आराम होने पर वह रंगून छोड इधर चला आया। यहाँ आने पर उसके लिए एक औरत खाना लाती। उस औरत के कारण उसकी बदनामी हो गई।

सिंहल-भिक्षु का यहाँ मन नहीं लगा। महाप्रज्ञ के चेले की अवस्था और स्थानीय भिक्षु और उसके शिष्यों

की अवस्था देख मन उचट गया। अराकान का सुपरिंटेंडेंट चटगाँव का एक बरुआ था। चटगाँव की पगली उसकी कोई सम्बन्धी लगती थी। उसे खबर मिल चुकी थी, इसलिए उसने निमंत्रण दिया, बोला—भन्ते ! आज हमारे घर चलिए, भोजन कीजिए।—खूब ठाट-बाट का भोजन हुआ। आराम के बाद चाय पिलाई, यात्रा के बारे में पूछा, तो भन्ते ने कहा—रंगून जाना है।

बरुआ ने कहा—हम इसका प्रबंध कर देंगे।—और उन्हें बँगले में ठहरा दिया। शान्त-एकान्त स्थान था। आठ-दस रोज वहाँ रहे। दूसरे दिन दस बजे रंगून को रवाना होना था, उसी दिन बहुत-से लोग भागते हुए उधर आए। खबर दी कि रंगून में मार-काट छिड़ी हुई है। मन उदास हो गया।

अब कलकत्ता, फिर बोधगया आना पड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया था। सन् 1939 का अक्तूबर महीना था, जब बोधगया में पहुँचे। सी. आई. डी. वाले तीन-चार बार दिन में पूछताछ करते। सिंगापुर में गोलमाल हुआ। अंग्रेजी जहाज वहाँ नष्ट हो गए। कोई कहता—जापान का वहाँ अधिकार हो गया।—कलकत्ता में भी महाबोधि सोसायटी के मंत्री देवप्रिय को गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तारी के बाद उनका मन विकृत हो गया। उसी समय भन्ते ने देवप्रिय को चिट्ठी लिखी। सी. आई. डी. ने सब पढ़ लिया। देवप्रिय को यह पत्र लिखनेवाला कौन है ? वहाँ से बोधगया चिट्ठी आई। सी. आई. डी. ने बहुत पूछताछ की। देवप्रिय को सरकार सीलोन ले गई। मस्तिष्क विकृत था, उसके लिए नुअरएलिया अधिक अनुकूल स्थान था। बोधगया में अब सिर्फ जयवर्धन रह गए।

बर्मा में अब जापानियों का राज था। सीलोन की क्या खबर थी, इसका पता नहीं, पर जयवर्धन ने अपने मन को समझाया : तुम क्यों डरते हो, शेर की तरह रहो।

सीलोन से उन दिनों खाने की वस्तुओं के पार्सल आते थे। कोई रुकावट नहीं थी। उन्हीं दिनों एक बड़ा अफसर बोधगया आया, जिसने उनकी तकलीफें दूर कर दीं। उसके चपरासी ने आकर कहा—साहेब गाइड नहीं बल्कि एक भिक्षु चाहता है। उसके पास मेम भी है।—पास जाने पर साहेब ने पूछा—तुम अंग्रेजी जानते हो ?

—हाँ, कुछ जानता हूँ।

—तो यहाँ की हिस्ट्री बताओ।

तीन घण्टे में भिक्षु ने सारी बातें बतलाईं। इस पर उसने कुछ पैसा देना चाहा। भिक्षु ने यह कहकर इन्कार किया कि हम फीस नही लेते। डाकबँगले में बैठकर उन्होंने और भी बातें सुनाईं और बतलाया कि ढुंगा वह स्थान है, जहाँ बुद्ध ने छह वर्ष तप किया था।

ढुंगा जाने का साहेब ने निश्चय कर लिया, पूछा—वहाँ सवारी जा सकती है ?—उत्तर मिला—हाथी-घोड़ा जा सकते हैं।

—महन्त के पास हाथी-घोड़ा है ?

—हैं।

—आप भी चलिए। महन्त से कहेगा।

जिस वक्त साहेब चलने लगा तो महन्त के एक आदमी ने कहा—साहेब के जूता खुलवा के ले आओ।—इतनी हिन्दी साहेब जानता था। महन्त के अखाड़े में तेल लगाकर सभी जवान कुश्ती लड़ रहे थे। साहेब ने इसे अपनी मानहानि समझी। महन्त के आदमी से पूछा तो आदमी ने बतलाया कि महन्त सोए हुए हैं। तीन-चार बजे से पहिले नहीं उठेंगे। इस पर भन्ते रामसहाय गिरि मैनेजर के पास गए। वह भन्ते पर कुछ क्रुद्ध-सा था। वह सोकर अभी-अभी उठा था। भन्ते ने नमस्कार किया, और उसने बैठने के लिए पैर की जगह बतलाई। भन्ते नहीं बैठे—बैठने का समय नहीं है, कुछ बातें करनी हैं। बड़ा साहेब आया है, हाथी-घोड़ा माँगता है।

—जूता निकला हो तो आने दो।

—उसे क्या मालूम था कि यह सर एच. एस. रेंकिन वार्ट है, जो एक बड़े पद पर अवस्थित है।

महन्त से घोड़ा या हाथी नहीं मिला। तब तक भन्ते ने बाहर एक घोड़ागाड़ी का इंतिजाम कर लिया।

आधा रास्ता वह घोड़ागाड़ी पर गया, और आधा घोड़ों की पीठ पर। साहेब को यह बात बहुत पसन्द आई। वह ढुंगा पहुँच गया। ढुंगा में बैठने की एक गुफा बनी हुई थी। यहीं तपस्या के स्थान पर साहेब ने खाना खाया।

उसने कहा—मैं दानापुर से पलटन लाकर महन्त के पास बैठा दूँगा—चलते वक्त साहेब ने एक सौ पचास रुपया दिया, और कहा कि मैं लखनऊ से चिट्ठी लिखता रहूँगा।

सचमुच चार दिन बाद गोरी पलटन आकर महन्त के बगीचे में बैठ गई। चारों कोनों पर तोपें लगा दीं। दो-तीन घण्टे में टैंक चलते। गोरों ने तीन साँड़ मारकर खा लिए। महन्त के आदमी अब भन्ते के पास आए। बहुत गिड़गिड़ाकर बोले। भन्ते ने कहा—मुझे कोई बात मालूम नहीं।

—भन्ते, साहब आपसे परिचय रखता था।

—हमारी बात क्या चलेगी, लड़ाई का समय है।

डाकखाने में महन्त का आदमी था। उससे उन्हें मालूम हो गया कि साहेब भन्ते को पैसा भेज रहा है। महन्त लखनऊ जाने के लिए ख़र्चा दे रहा था, जिस पर भन्ते ने कहा—तार भेज देंगे।—महन्त कार देने को तैयार था। भन्ते रिक्शा से गए और गया से तार दे दिया। दूसरे दिन बिगुल बजा और तम्बू उखड़ने लगे। महन्त को पूरा विश्वास हो गया। वह तब बहुत खुश हुआ, जब गोरों का कैम्प उठ गया।

पलटन उठने के बाद दो-तीन बार महन्त की इन्क्वायरी आई। स्वयं गवर्नर भी एक दिन डाकबँगले पर आकर उतरा और महन्त को बुलवाया, उससे रेंकिन के साथ हुई बात के विषय में पूछा।

उसके बाद तो महन्त भन्ते की बहुत इज्जत करता। उसने कहा—हम गोतिया भाई हैं; सब कहा-सुना भूल जाओ। हम आपकी सब तरह से मदद करेंगे।

सर्दी का मौसम आया। रेंकिन के सारे परिवार के लोग, बच्चे और नौकर भी, गले के रोग में फँस गए। यह खबर भन्ते को मिली तो उन्होंने मन्दिर में घी के चिराग जलवाए, तीन बार परित्राण-देशना कराई। सचमुच तीन दिन में सब अच्छे हो गए। चिट्ठी आई चार पेज की, जिसमें सबका अच्छा होना लिखा था। रेंकिन को विश्वास था कि भन्ते अवश्य देवताओं से बातें करते हैं। उन्होंने लिखा—जब आइए, तब तार दे दीजिए।—पत्र भेजा तो उसका जवाब नहीं आया। मालूम हुआ, वह किसी दूसरी जगह बदल गया है। भन्ते ने फिर उसके लिए परित्राण किया और कहा कि आपकी बदली रुक जाएगी।

14
तिब्बत में फिर (1940 ई.)

पोलिटिकल ऑफिसर होपकिन्सन को सिंहल-भिक्षु ने चिट्ठी लिखी कि हमें तिब्बत जाने की इजाजत मिले। उसका जवाब नहीं मिला, तो स्वयं गन्तोक पहुँचे। होपकिन्सन बहुत नाराज हुआ—लड़ाई का वक्त है। सीलोन से यहाँ आया। तिब्बत में क्यों जाएगा ?

—तिब्बत में हमारे धर्म के लोग रहते हैं। वहाँ बहुत तीर्थ हैं। हम उनके दर्शन के लिए जा रहे हैं।

होपकिन्सन ने साफ जवाब दिया—हम इस समय इजाजत नहीं देंगे।

अब एक ही रास्ता था, लुम्बिनी, बुटौल का रास्ता लिया जाए। बुटौल में दो दिन रहे। तानचिन शाम को पहुँचे, वहाँ दो दिन रहे। उस समय रुद्र शमशेर वहाँ के गवर्नर थे। उनके सी. आई. डी. आते रहे। सिंहल-गेलोङ् ने मुक्तिनाथ जाने का इरादा किया और उन्हें उसकी इजाजत मिल गई।

पोखरा एक सप्ताह का रास्ता था। वहाँ दो बौद्ध विहार थे, लेकिन दोनों में उपासक रहते थे। एक रात वहाँ ठहरे, फिर चर्का-भोट, मुक्तिनाथ जाने का निश्चय किया। रास्ते में एक नेवार का घर मिला। वहाँ

छोटा-सा वाजार भी था। नेवार गृहस्थ ने बराण्डे में गुदरी डाल दी। दस-बारह मिनट बाद हल्दी, घी, दाल, चावल और लकड़ी लाकर रख दिया। भन्ते ने कहा—हम कच्चा नहीं खाते।—बूढ़ी रूठकर बाहर चली गई। फिर नेवार ने दूसरे घरवाले को बुलाकर भोजन बनवाया। भोजन बहुत मीठा लगा। वहाँ से चलते वक्त जान पड़ा, भन्ते थाल भी ले जाएँगे। इस पर घर के आदमी ने कहा—एक ही थाल और इसे भी ले जाएँगे ?—नहीं, नहीं, हम तुम्हारा थाल नहीं ले जाएँगे।—चलते वक्त बुढ़िया को आशीर्वाद दिया।—सदा-सर्वदा नीरोग रहो।

यात्रा आरम्भ हुई। आगे भोटिया लोगों के गाँव, देवदार के जंगल और उनमें दो-तीन मंजिले मकान थे। चर्का-भोट आ गया। यहाँ बोधगया के कुछ परिचित लोग मिले। यह भी मालूम हुआ कि यहाँ राजा की ओर से सदावर्त लगा है। भन्ते ने कहा—आज रात-भर रहना है। आज खाने की दरकार नहीं। अगले दिन खाना सदावर्तवाले ने बना दिया और खाना खाकर चल दिए। आगे कोई हिन्दू का घर नहीं। मुक्तिनाथ चार दिन रह गया तो एक ब्रह्मचारी मिला। उस दिन भण्डारा किया था, हलवा और पूड़ी का। उस दिन उसी जगह रह गए। सबेरे उस जगह पहुँचे, जहाँ आग की ज्वाला जल रही थी। एक गाँव में पहुँचे, जहाँ पद्मसम्भव की मूर्तियाँ थीं। एक वड़ी बुद्ध-मूर्ति भी देखने को मिली। रानी पोवा की एक धर्मशाला थी, वहीं रात को रहे। उसके बाद छोटी नदी, और डेढ़ मील उतराई। फिर एक बड़ा गाँव दिखाई पड़ा। वहाँ एक जटाधारी लामा था। तीन रोज उसके पास रहे। मस्तंग भोट अब तीन-चार घण्टे पर था, जहाँ राजा का घर था। यह तिब्बत का नहीं, नेपाल का अन्तिम इलाका था। राजा के पास जंजीर में बँधे बड़े-बड़े कुत्ते थे। सिंहल-गेलोङ् की खबर पाकर उसने अपने पास बुलाया। लड़का जरा घमण्डी-सा था, लेकिन राजा नरम था। उसकी लड़की शिगर्चे में ब्याही थी। उससे दो मील दूर एक और जगह थी, जहाँ बड़े सुन्दर-सुन्दर घोड़े पाले हुए थे। यहाँ एक किस्म के घोड़े होते हैं। साक्य का खेम्पो भी वहाँ आया हुआ था। भन्ते ने यहाँ नाक से खून गिरते एक बेहोश आदमी को बचाया। जरा हल्दी, लवंग, इलायची और पीपल, जायफल घी में पिसवाकर उसे एक नाक बंद कर सूँघने को दिया। जायफल का पलास्तर भी कर दिया। कह दिया—फिकर मत करो, यह बच जाएगा।

गाँव में दो वैद्य थे। उनके ऊपर प्रभाव पड़ना ही था। राजा के परिवार के लोगों का हाथ देखा, पिछली बातें भी सही निकलीं। राजा छोड़ना नहीं चाहता था। शिगर्चे का अफसर यहाँ दामाद था। राजकुमारी पूछती थी—हमारा पति राजा होगा कि नहीं ? सन्तान कैसी होगी ?—दोनों वैद्य भी आकर बड़े सम्मान से भोजन कराते और भविष्य के बारे में पूछते।

मस्तंग बड़ी ठण्डी जगह है। यहाँ नंगा जौ, हरी मटर और गेहूँ की खेती होती है, मक्की नहीं होती। याक यहाँ का प्रधान जानवर है।

मस्तंग में नमक की खान है, जिसमें तीस मन प्रति वर्ष राजा को मिलता था। राजा ने लाल नंबु का 'छुपा' बना दिया और कहा कि यह हमारे नंबु की चीज है, दूसरे को न देना।—रानी ने रास्ता चलने की चीजों का प्रबन्ध किया। याक और भेड़ के सूखे मांस, चाय, मक्खन और सत्तू दिए। पर, एक-दो दिन का ही ले जा सकते थे। बहुत ले जाने से तकलीफ होती। ताड़ू (घोड़े के झोले) में जितना समा सकता, उतना लिया।

मस्तंग से एक आदमी और एक घोड़ा मिला। घोड़ा और आदमी आधे दिन के रास्ते तक जाते, फिर दस-बारह सेर पीठ पर लादकर चले जाते थे। चढ़ाई थी, घास भी नहीं थी। याक और घोड़े चरनेवाले थे। बूँद-बूँद पानी बरसता था। एक डोंकूपा (यायावर) रास्ते में मिला, उसने भोजन खिलाया। ग्यारह बजे चलकर दो घण्टे में ला पार कर गए। उतराई हल्की थी, बल्कि कह सकते हैं कि समतल मैदान था। ला में विश्राम करते देवता को सत्तू और मक्खन चढ़ाया; चकमक से आदमी ने आग जलाई, और 'ला-छ-लो,' 'ला-छ-लो' कहकर देवता को प्रसन्न किया।

वहाँ से घोड़ेवाला लौट गया। अब सामान कंधे पर लेकर चले। यही ला तिब्बत और नेपाल की सीमा है। पाँच मिनट बाद तिब्बत की बस्ती में आए। यहाँ मिट्टी के पहाड़ हैं, जिसमें घर बनाकर लोग रहते हैं। कुल डेढ़ सौ गुफावाले घर थे। देखने में वह आदमी के घर जैसे मालूम नहीं होते थे। बोली में भी थोड़ा फर्क

था, पर उसे भन्ते समझ लेते थे। आवाज सुनकर बीस-पच्चीस कुत्ते आ गए। भन्ते मील-भर से पत्थर फेंकने लगे, वे वहीं ठहर गए। बाद में दो-चार आदमी आ गए, और उन्होंने कुत्तों को शान्त किया।

घर जैसे जिन्दगी-भर कभी साफ नहीं किया था। वहीं थूक और पाखाना पड़ा हुआ था, वहीं हड्डी पड़ी थी। वहाँ के लोगों ने जीवन-भर पानी नहीं छुआ था। मुँह उनके काले और मैले थे, पंजा भी काला था। सचमुच प्रेत जैसे यहाँ के लोग मालूम होते थे। गुफा पीली मिट्टी की थी। ले जाकर उन्होंने एक गुफा में बैठाया, जिसमें कोई रास्ता न था। कुत्तों से डर लग रहा था। सीढ़ी पर से ऊपर चले गए, दुमंजिली गुफा थी। यहाँ कुत्तों से कुछ इतमीनान हुआ। चाय पिलाने के लिए वहीं अँगीठी आ गई। लोगों को विश्वास हुआ कि भन्ते बयपो लामा (नेपाली लामा) हैं। सत्तू, मक्खन और सूखा गोश्त खाने को ला दियां। साथ ही सूप भी बनाया। उस गाँव में निगमापा लामा बैठा हुआ था, जिसके बाल लम्बे-लम्बे थे। गाँव के लोग उसे ङ्गपा (मंत्रवाला) लामा मानते थे। उससे बड़ा एक और लामा था, जो बड़ी-बड़ी आँखें करके देख रहा था। उसकी उम्र साठ-पैंसठ वर्ष की थी। वह पंद्रह-बीस मिनट ठहरकर चला गया।

सवेरे फिर कुत्तों का डर था। आदमी को बुलाकर कुत्तों को रोका और कहा—हम जाना चाहते हैं।—लोगों ने बतलाया—यहाँ से दो दिन तक बस्ती नहीं है, जहा-तहाँ सिर्फ डोंक्पा (यायावर) मिल सकते हैं। यहाँ चाय पी के जाना अच्छा है।—सुक्पा की झाड़ी काफी थी, वह ऐसे ही हरी आग में डाल दी जाती। मक्खन डालकर चाय बनाई गई। यहाँ मक्खन काटने के लिए चाकू की जरूरत पड़ी। हाथ फिसलने पर उसमें थूक लगा दिया जाता है। दो-तीन प्याले चाय पिए। मक्खन तथा सत्तू लाकर रखा। पर उसको कौन लेता, जब अपने पास ही बोझा बहुत था ? चलते समय धूप निकल आई।

तीन आदमी आधे मील तक साथ-साथ चले। वहाँ से छोटा ला दिखलाकर कहा—इसे पार करने पर रास्ते में छोटे पहाड़ हैं। क्यांग कहीं-कहीं दिखाई पड़ते हैं और प्यांग जमीन से ऊपर झाँकते हैं। हिरण के झुंड के झुंड मिलते हैं।—चलते-चलते दो पहाड़ों के बीच एक स्वाभाविक चौतरा मिला। थक गए थे, इसलिए वहीं डेढ़ घंटा लेटे रहे।

उठकर फिर चले। कहीं डोंक्पा का तम्बू दिखाई नहीं पड़ता था, बस्ती तो कहाँ से होगी। अँधेरा होते-होते पाँच-छह काले तम्बू डोंक्पा के मिले। उतराई होने से दूर से दिखाई नहीं पड़ता था। दलदल में पानी था। पाँच सौ के करीब चँवरी का झुण्ड एक जगह दिखाई पड़ा। खूँटे गाड़कर उन्हें रस्सी में बाँधा हुआ था। कोई दूध निकाल रहा था, कोई भेड़ों को ले जा रहा था। पाँच-छः कुत्ते ड्यूटी पर लगे हुए चक्कर मार रहे थे, जिससे सारी भेड़ें इकट्ठी हो जातीं। जोर से चिल्लाने पर आध घंटे बाद आदमी आए। पैरों में पायजामा, छुपा (लम्बा चोगा) और सिर पर टोपी थी। एक मर्दाना औरत भी आ गई। उससे पूछा—क्या रात में मैं रह सकता हूँ ?

—ला-सो ला-सो (हाँ-हाँ)।

तीन आदमियों ने तीन कुत्तों को पैरों से पकड़ लिया और तम्बू की ओर ले गए। शेष कुत्ते वहीं छोड़ दिए। एक आदमी ने भारी आवाज में बोलते हुए कहा—नेपाल से आए ? बयपो इन् बटा—(क्या नेपाली है) ?

—हाँ, नेपाली हूँ।

इस पर बूढ़े ने कहा—चाय नाङा (चाय डालो)।—दही डालने के लिए कहा, तो नेपाली लामा ने उसे लेने से इन्कार कर दिया।

—सत्तू के साथ दही अच्छा होता है, जरूर खाना चाहिए।

—पर सर्दी के डर से मैं खाना नहीं चाहता।

सूखा पनीर लाकर रख दिया, जो चबाने में आसान नहीं था। फिर पनीर की बुकनी और सत्तू लाकर रखा। अपने हाथ से बुकनी और मक्खन डालकर सत्तू बनाया। चार-पाँच कम्बल बिछाने और चार-पाँच ओढ़ने को दिए। इतने पर ठण्डक का क्या पता लगता ? फिर आग में कण्डा भी जल रहा था। नींबू डाल के सितु

बनाया। उबला गोश्त डालकर पनीर की बुकनी और मूली का थुक्पा बना। सब शाम को वही पीने लगे। बहुत थकावट आई थी, रात को नींद आई। सवेरे भी पनीर की बुकनी डालकर चाय और सत्तू बनाया। सीधे-सादे डोंक्पा लोगों ने आराम देने में कोई कसर उठा नहीं रखी।

चलने का मन नहीं था। आगे आदमी की गन्ध भी नहीं थी। पर अगले दिन चलना जरूरी था। डोंक्पा शायद आगे नहीं मिलते। वैसे रास्ते में न बहुत चढ़ाई थी, न बहुत उतराई। जानवरों की बनाई हुई पगडण्डी थी। क्यांग थे, हरिण थे और एक जगह जंगली याक था, जो गाँव के याक से काफी बड़ा था। वह आदमी को देखकर खड़ा हो जाता, फिर फुफकार मारकर दौड़ता। हाथी जैसा मालूम होता था। शायद वह शैतान था, जो घड़ी-घड़ी में भूमि से निकल आता। कभी ठहर जाता। तोप के गोले-सा गर्द उड़ाए चलता। रास्ता भी नहीं मालूम होता था। चलते ही गए। कहीं विश्राम नहीं किया। अँधेरा होते-होते डोंक्पा (तम्बूवालों) का कैम्प मिला। ठण्डक बहुत थी। ऊपर से वर्षा थोड़ी-थोड़ी हो रही थी। हवा के कारण शरीर हिलाया नहीं जा सकता था। डोंक्पा जहाँ हों, वहाँ कुत्तों का होना जरूरी था। खड़े होकर आवाज दी, एक डोंक्पा बाहर निकला, तीन-चार और बाहर आ गए। 'इधर आ जाओ' कहकर बुलाया। दो ने कुत्तों को रोक दिया, भीतर ले जाकर बैठाया। बीस वर्ष की जवान औरत को देखकर मालूम हुआ–डोंक्पा लोगों में भी सुन्दरता है। पर उसकी जीभ निकली हुई थी, मुँह के भीतर नहीं जा रही थी। जीभ से लार गिर रही थी। सिर्फ 'आ-आ' बोल सकती थी। उसका बाप रो रहा था। कुछ जड़ी-बूटी अपने पास थी। डेढ़ घण्टा सोचते रहे। बाप ने बतलाया–इसकी हालत यही है। न जाने कौन-से देवता का प्रकोप है ?

–और कौन देवता, शिन्जे गेलपो (यमराज) है। उसके स्थान पर कोई बुरा काम किया, इसलिए यह हालत हुई।

बाप ने कहा–जरूर ! लामा ने जान लिया। अब क्या करना चाहिए ?

लामा ने सिर से पैर तक फूँक मारी, चुटकी बजाई। घी में कपूर मिला उँगली से लगाया। और कहा–फिकर मत करो, सबेरे तक जीभ भीतर चली जाएगी।

सबेरे उठने पर देखा, वह सो रही थी। ओढ़ना हटाया तो जीभ अन्दर चली गई थी। धूप, दीप, नमक पर मंत्र पढ़ चँवरी को दिया, उसको भी बीमारी हो गई थी। बाप ने बतलाया–भेड़िया हमारी भेड़ों को लग जाता है, उसके लिए भी मंत्र करें।–डेढ़-दो मील का चक्कर काटते मंत्र पढ़ उसे भी शान्त कर दिया।–अब यहाँ कोई भेड़िया नहीं आएगा। न कोई बीमारी आएगी।–दस-बारह दिन बाद डोंक्पा दूसरी जगह चले ही जाते।

डोंक्पा छोड़ना नहीं चाहता था। उपद्रव तो शान्त कर दिया। मानसरोवर में टेटापुरी को दवा दे दी, कुछ नेपाल में महाबौद्ध का भी प्रसाद दिया। मक्खन, गोश्त, पनीर लाकर रखा, पर यहाँ तो ले चलना मुश्किल था। कौन चीजों को ढोता ? नाम-भर के लिए कुछ पनीर-मक्खन रख लिया।

ब्रह्मपुत्र के बिल्कुल पास आ गए तभी उसको देखा। सूर्यास्त से पूर्व वहाँ पहुँचे। एक पुल और उसके बाद दूसरा पुल था। नदी गरज रही थी। पार होकर वहाँ गए। लोगों ने घर में बुलाया, चाय पिलाई। रात को गेथुक् (चीनी थुक्पा) और चावल दिया। गाँव के पास सिद्धों के रहने लायक एक गुफा थी। लामा वहीं रहे। सबेरा हुआ। वहाँ से चले बारह बजे। एक जगह पहुँचे, जहाँ पाँच-छह खच्चर चर रहे थे। गुफा से धुआँ निकल रहा था। दरिया के किनारे दूसरा पुल दिखाई पड़ा। किसी ने आकर पूछा–कवा डोगी झबटे (कहाँ जा रहा) ?

–मैं ल्हासा जा रहा हूँ।–उसने चाय पिलाई, बतलाया कि रास्ते में डाकुओं का स्थान है। व्यापारी व्यापार करने के लिए जा रहा था।

–हमारा तो सभी जगह आदर करते हैं। जाने पर डाकू का क्या खतरा ? हम तो चाय पीकर इसी तरह जाते हैं।–व्यापारी अगले दिन जानेवाला था। खच्चर थका हुआ था, इसलिए घास चरा रहा था। उसके साथ कई आदमी थे। सब खच्चरों को छोड़कर आराम कर रहे थे।

वहाँ से चले। अँधेरा होते-होते दस-बीस घर के दो गाँव मिले। पीछे सुन्दर-सा पहाड़ था। अकेले घर में बड़े आराम की जगह मिली। तीन दिन वहीं ठहरे। दिन में एक पत्थर जैसा घर था, वहीं बैठते, कभी सो जाते। गाँव का आदमी खाने को दे जाता, कभी नहीं भी देता। दिन में व्यापारी घोड़ा देखने आता, अपने भाग्य की बात पूछता। वह कहता–इसी रास्ते जाना चाहिए। इसी व्यापारी का साथ कर लेंगे। आगे डाकुओं से पाला पड़ेगा। वे यह नहीं देखते कि इसके पास कुछ है या नहीं। पहिले वे मार डालते हैं, फिर देखते हैं क्या चीज है।

लामा ने कहा–कोई बात नहीं, मर जाने में भी कोई हर्ज नहीं।

दूसरे ने समझा, इनके पास डाकू के साधन का बहुत उपाय है। ऐसा नहीं होता, तो अकेले जाने की हिम्मत कैसे करते ?

अगले दिन चले। कुछ दूर तक व्यापारी साथ आया, और कहा–दूर से दिखाई पड़े तो छिप जाना, आगे नहीं जाना।

दो-तीन बजे तक चलते गए। देखा, दोनों ओर पहाड़ हैं। लामा बेपरवाह चलते गए। एक स्थान पर पत्थर का ढेर था, देखा, पाँच-छह आदमी वहाँ बैठे हैं। एक ने आकर पूछा–कहाँ से आ रहे हो ?–लामा भी वहीं बैठ गए और नेपाली में बात करने लगे–जंगबहादुर के देश से आ रहा हूँ।

–तो बयपो (नेपाली) है, पैसा इसके पास होगा।–दूसरे ने कहा–पांगु (भिखमंगा) है, जाने दो।

–कहाँ जा रहा है ?

–साक्य, पिंजोलिंग, शिगर्चे, ल्हासा। तीर्थ के लिए जा रहा हूँ। भूख लगी है। कुछ खाना हो तो दो।

–ला-सो, ला-सो (अच्छा, अच्छा)।

उन्होंने खाना दिया। डाकुओं के खतरे से छुट्टी मिली। उनके पास थोड़ा-बहुत सत्तू और मक्खन था ही।

आगे तीन रास्ते थे। एक रास्ते में बहुत बड़ा जोड़ था। साक्य साढ़े चार बजे दिन को पहुँचे। एक बड़े जमींदार का घर था, जिसके घोड़े-खच्चर खेतों में चर रहे थे। मकान बहुत बड़ा था। खेत में सिंचाई हो रही थी। तिब्बत में बड़ा घर भी रात को रहने का काम देता है। घोड़े-खच्चर वहाँ भुस पा जाते हैं, जिनका दाम दे देते हैं। अच्छा कपड़ा होने से घर में जगह मिल जाती है, नहीं तो बाहर भिखारी तो रहते ही हैं। हरेक बड़े घर में कुत्तों का होना आवश्यक है। एक आदमी घर के भीतर ले गया। मजदूरों के लिए बड़ी-बड़ी रोटी और थुक्पा बना था। काठ के प्याले से थुक्पा दे रहे थे। जमींदार पास में बैठा सत्तू सान रहा था और लामा से पूछ रहा था–कहाँ से आया ? डाकू मिला या नहीं ?

लामा ने कहा–डाकू मिला था। हमारी चीजें तलाशीं। घण्टे-भर उससे बात होती रही। हमारे पास कोई चीज नहीं थी, इसलिए छोड़ दिया।

डेढ़ घण्टा बिता चार बजे साक्य के मैदान में पहुँचे। महल का एक भाग थोड़ी देर बाद दिखाई पड़ने लगा। मैदान में लाखाङ् छलो था। नदी पार पहाड़ की जड़ में और बहुत-से मन्दिर थे। डोलमा फोटांग और फुन्छोग फोटांग दो महल सामने आ गए। अँधेरा हो जाने पर कम्बल बिछाकर वहीं बराण्डे में बैठ गए। किसी ने कहा–यहाँ रहने की जगह नहीं, यहाँ से निकलो, हम बाहर का दरवाजा बन्द करेंगे।–बाहर का दरवाजा बन्द कर वह चला गया। जाते वक्त उसने कह दिया–यह बड़े देवता का घर है। यहाँ मत रहो, नहीं तो प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा।

–हम भी सिंहल-गेलोङ् (सिंहल-भिक्षु) हैं। ल्हासा तीर्थयात्रा के लिए जा रहे हैं। कोई पर्वाह नहीं। देवता हमें दर्शन देंगे।

रात वहीं बितायी। सबेरे मन्दिर में घुसे। सबेरे एक आदमी फुन्छोग फोटांग के लामा के पास ले गया। उस समय फुन्छोग फोटांग का लामा ही गद्दी पर था। फुन्छोग फोटांग और डोलमा फोटांग के लामा बारी-बारी से गद्दी पर बैठते हैं। साक्य मठ की बहुत बड़ी रियासत है। कहना चाहिए, वह भारत की रियासतों की तरह

एक रियासत है, जो शासन का काम भी स्वयं करती है। छह सौ वर्ष पहिले मंगोल सम्राट् नें साक्य को अपना गुरु बना उसे तिब्बत का राज्य प्रदान किया था। लामा (गररू) राज का आरम्भ उसी समय से हुआ। आज भी रियासत वहाँ मौजूद है, यद्यपि पहिले से कम। फुन्छोग फोटांग का लामा एक ऊँचे सिंहासन पर बैठा था, दूसरे दरबारी नीचे बैठे थे। लामा ने सिंहल-गेलोङ् को एक खास आसन दिया। बोले–चाय पी सकते हो ?

–पी सकता हूँ।

चाय, सत्तू, मक्खन दिया। बातचीत होने लगी।

–ग्यगर राहुला का नाम सुना है ?–पूछा।–वह हमारे यहाँ कई बार आया था।

–मैंने नाम सुना है, सीधा परिचय नहीं है।

फुन्छोग फोटांग लामा को पीले पेशाब का रोग था, उसे दवाई दी, वह ठीक हो गया। वहाँ तीन महीना रहे। साक्य में सबसे ज्यादा भारत की हस्तलिखित तालपत्रों की पोथियाँ हैं, पर सिंहल-गेलोङ् को उनसे कोई दिलचस्पी नहीं थी। लामा को यह देखकर अवश्य आश्चर्य होता कि एक हाथ रहते वह कैसे कपड़ा पहनता है। साक्य-लामा का व्यवहार बहुत सुन्दर था। तीन महीने तक वह साक्य में जगह-जगह घूमते रहे, फिर आगे के लिए रवाना हो गए।

15

ल्हासा में (अक्तूबर 1940 ई.)

वर्षा समाप्त हों चुकी थी, ठण्डक भी बहुत नहीं थी। अक्तूबर के महीने के ल्हार्चे के रास्ते चले। ल्हार्चे में पहिले का परिचय था, उसी मकान में एक सप्ताह ठहरे। एक दिन गुम्बा में भी गए। वहाँ का खेम्पो ऊपर की ओर (चांगपो से पश्चिम की ओर) जा रहा था। उसने अपने आदमियों को समझा दिया कि लामा जितने दिन रहें, अच्छी तरह रखना। पर तिब्बत में मालिक के मुँह मोड़ते ही नौकर मनमानी करते हैं, वे मेहमान की पर्वाह नहीं करते। सिंहल-गेलोङ् भी आगे चलने के लिए मजबूर हुए। पिंजोलिंग के खेम्पा ने पहचान लिया। चाय पिलाई, रहने के लिए स्थान दिया। तीन दिन तक वहाँ रहे। ब्रह्मपुत्र के उस पार तानक पड़ता था। यह वही स्थान था, जहाँ ग्यारहवीं सदी में भारत के भिक्षु स्मृतिज्ञानकीर्ति कई सालों रहे थे। उनका तिब्बती भाषा पर इतना अधिकार था कि उन्होंने कई ग्रन्थों का अनुवाद स्वयं तिब्बती भाषा में किया। पिंजोलिंग से शिगर्चे चमड़े की नाव भी जाती थी, पर सिंहल-गेलोङ् पैदल गए।

शिगर्चे में तेंदुखंगसर में गए। तेंदुखंगसर के लड़के के भविष्य के बारे में पूछने पर लामा ने कहा–यह ढावा (भिक्षु) नहीं होगा, इसे पढ़ाइए।–हाथ देखकर भाग्य बताने से ही वहाँ फुर्सत नहीं थी। बहुत कोशिश की कि सिंहल-लामा कुछ दिन और रहें, पर जाड़ा नजदीक था, ल्हासा जल्दी पहुँचना था। ल्हासा जाने के लिए एक रास्ता ग्यांचे से था, और दूसरा रोंग से। ग्यांचे का रास्ता निरापद था, पर लामा रोंग का रास्ता देखना चाहते थे, जो नजदीक था। सबेरे निकले। पणछेन् लामा के बगीचे के पास ग्यांचे के पुल को पार कर लिया। आगे बस्ती पड़ी। लोगों ने बतलाया–डाकू क्वा (चमड़े की नाव) से डाका डालकर इधर-उधर चले जाते हैं।–दूसरे लोग भी चल रहे थे। दो-तीन घण्टे बाद खच्चरवाले आदमी दिखाई पड़े। अन्त में खतरे की जगह पहुँचे। वहीं एक बस्ती में डेरा डाल दिया। आगे एक दिन तक रास्ते में कोई बस्ती नहीं थी। वहाँ भी डाकुओं का भय था। अगले दिन चले, तो दो आदमी उधर से आ रहे थे। उनकी पीठ पर मामूली बोझ था। नजदीक आकर वे धीरे-धीरे चलने लगे। दस हाथ पर ठहर गए।

उनका रुख देख लामा ने कहा–जो है ले लो।

–कुछ दे दो–पेट पर हाथ फेरकर उन्होंने कहा। लामा ने उन्हें थोड़ा-सा सत्तू दे दिया। उसी समय पीछे

से किसी ने मुक्का मारा और कहा—चलो जल्दी।

यह 'चलो जल्दी' कहनेवाला हितैषी था। वह भी ल्हासा जानेवाला था। एक फर्लांग जाने के बाद उसने कहा—जानते हो, ये कौन थे ? ये डाकू थे, और तुमको बिना मारे नहीं छोड़ते।—वह भी ल्हासा जानेवाला एक तगड़ा ढावा (भिक्षु) था। एक नदी पार हो कहा—हम तेज चल रहे हैं, आगे खतरा नहीं है, धीरे-धीरे आओ। हमारा ल्हासा में रहने का स्थान सेनड्रू फोटांग है। तुम्हारा कौन-सा स्थान रहेगा ?

—छुशिङ्शा नेपाली सौदागर के पास हम रहेंगे।

नगरचे झील में जा फिर एक ला पार किया। लकड़ी की नाव से ब्रह्मपुत्र पार हुए। छुशल होते नेयांग पहुँचे। छुशिङ्शा का खच्चरवाला जा रहा था, उसने खच्चर पर बैठा लिया और तीन-चार बजे ल्हासा पहुँच गए।

ल्हासा में जिस आदमी के पास पिछली बार कागज दे दिया था, उसने लड़ाई के कारण कागज को बहुत महँगा बेंच दिया। मालूम हुआ, वह पैसा देना नहीं चाहता। लामा के श्राप का उसको बहुत कम भय था।

छुशिङ्शा के यहाँ से पूर्णमान साहु छोड़कर ल्हासा से चले गए थे। त्रिरत्नमान उनकी जगह आए। छुशिङ्शा नुब (पश्चिम) और छुशिङ्शा शर में आपस में वैमनस्य था। छुशिङ्शा नुब के मालिक चैत्यरत्न थे। वह कभी अपनी ओर बुला लेते। त्रिरत्नमान को बुरा लगता। त्रिरत्नमान ने अन्त में कहा—आप उधर ही रहें।—वहीं आसन लगवा दिया। छुशिङ्शा नुब की हालत उस समय बहुत खराब थी। उसके ऊपर बहुत कर्जा था।

उधर कागज का हिसाब माँगना था। उसने नेपाली अड्डे में घूस दे दी थी। तिब्बत के अड्डे में भी कह दिया था। वहाँ से भी कुछ होनेवाला नहीं था। उसने बतलाया, हमारा बहुत-सा नुकसान हो गया। सेनड्रू फोटांग में रेंडिंग लामा की बहिन ब्याही थी। उससे बात की। उसने कहा—हम कुछ करेंगे।—इससे निमा छोरतेन को कुछ घबड़ाहट हुई, पर उसका व्यापार भी गिरा हुआ था। उसने कहा—जरा हमें खड़ा होने दीजिए, तो तीन-चार बार करके हम कागज दे देंगे।

छुशिङ्शा पारा में भोज हो रहा था। चैत्यरत्न ने पारा में बात करने के लिए मीटिंग बुलाई। निमा छोरतेन ने और भी जगहों से कर्जा लिया था और किसी को देने की हालत में नहीं था। एक दिन छुशिङ्शा और दूसरे दो पारों की इकट्ठी मीटिंग हुई। पारा नेपाली लोगों के अपने संगठन हैं। वे पारा में खूब शराब पीते और बातचीत करते हैं। वहाँ गम्भीरता का नाम नहीं होता। निमा छोरतेन माजंग (जुआ) खेल के सब हार गया था। सिंहल-लामा ने एक दिन कह दिया—जाओ, अब तुम्हारा भला होनेवाला नहीं है। कन्जुर छपाने का कागज लेकर तुमने मनमाना कर दिया।

एक दिन वह माजंग खेलने बैठा था, उसी समय लकवा मार गया। सारे ल्हासा में हल्ला हो गया—उस दिन सिंहल-गेलोङ् ने कहा था, वही बात हुई न !

—हमने श्राप नहीं दिया। यह धर्म का इन्साफ है।

औरत-बच्चे माफी माँगने लगे। निमा छोरतेन का मुँह टेढ़ा हो गया। मुँह से लार टपकने लगी। औरत बुलाने आई—कुछ आशीर्वाद दे दीजिए।—बहुत भीड़ लग गई थी, कितने ही लोग देखने आए। जाकर नाड़ी देखी, फिर पाँच प्रकार के तेल लगाने के लिए कहा। छाती में मालिश करवाई। चार-पाँच घण्टे उसी के घर में रहे। शाम को आँख खोली, पर मुँह से सिर्फ गूँ-गाँ कर सका। एक हफ्ते बाद बैठने लगा। डेढ़ महीने बाद कुछ बोलने भी लगा, पर मुँह टेढ़ा ही रहा। तीन वर्ष तक मजे में रहा। उतने दिन को लामा ने उसकी आयु बतलाई थी। एक दिन उसे निमोनिया हो गया और तभी वह मर गया। औरत को अपना घर बेचना पड़ा, लड़के को दूसरे को दे देना पड़ा। नेपाली कुछ माल देते थे, जिससे वह गुजारा करती थी। लामा लोग पूछते—सिंहल में बहुत मंत्र-तंत्र हैं। हमें भी कुछ बताइए।

यह 1940 का अन्त था।

उस समय ल्हासा में जितने कर्मचारी थे, सिंहल-लामा से अंग्रेजी या हिन्दी पढ़ते थे। नुब का व्यापार अब खतम हो गया था। खाना भी मुश्किल से खाते थे। कहते थे—कैसे गुजारा चलेगा। देना भी बहुत हो गया।

अब राज टाटा का था, रेडिंग ने रिजेंसी छोड़ दी थी। टाटा नुब का समर्थक था। उसने यह हुक्म दे दिया कि नुब से कोई तकाजा न करे, जब होगा, तब दे देगा। शमा करपो (कलिम्पोंग) अब नेपालियों में बहुत बड़ा व्यापारी हो गया था। उसका भांजा–रत्न साहु–ल्हासा का काम देखता था। उसी के यहाँ लामा खाना खाते। एक दिन लामा ने रत्न साहु से कहा–चैत्यरत्न को बहुत तंगी है। उसे खाना भी मुश्किल से मिलता है। उसकी कुछ मदद करनी चाहिए।

रत्न साहु ने एक दिन विचार करने के लिए कहा। चैत्यरत्न को अपने पास लाने के लिए कहा। चैत्यरत्न बहुत खुश हुआ, जब उसने सुना कि रत्न साहु मदद करने के लिए तैयार है। सिंहल-लामा ने चैत्यरत्न को बुलाया, यह बात छुशिङ्शा से नहीं छिपी रही। दोनों में बात हुई। पुराने साहु की बुरी दशा में मदद करना रत्नसाहु ने पसन्द किया। उन्होंने बीस हजार रुपये देना स्वीकार किया, जिसमें दस हजार नकद और दस हजार का सामान। लिखा-पढ़ी हो गई। चैत्यरत्न ने कहा–ऐसा उपकार भाई भी नहीं कर सकता। रत्न साहु ने कहा–उसी समय हमें क्यों नहीं कहा ? क्यों इतना कष्ट उठाया ?

यह खबर त्रिरत्नमान साहु को मालूम हुई तो वह रूठ गया। भन्ते को चाय भी नहीं पिलाता। पर चैत्यरत्न की हालत बेहतर हो गई। शमा करपो की दूकान से उसने बहुत-सा सौदा लिया और अपने भाई को कलिम्पोंग भेज दिया। उसी समय रत्न साहु नेपाल चला गया और शमा करपो के दो बेटे ल्हासा काम देखने के लिए चले आए। रत्न साहु एक साल बाद मर गया।

डेढ़ साल बाद सारनाथ में रहनेवाला एक चीनी ल्हासा आया, जिसका नाम किनूछोक् था। वह माँ की ओर से तिब्बती और बाप की ओर से चीनी था। सारनाथ में तीन वर्ष रहकर वहाँ की चीनी धर्मशाला उसने बनवाई थी। चांग-काई-शेक की सरकार ने इसे अपने काम के लिए ल्हासा भेजा था। उसके साथ उसकी तमंग पत्नी भी आई थी। पति-पत्नी के चेहरे पर प्रसन्नता नहीं दीख पड़ती थी। अपरिचित जगह थी। दूसरे दिन उसे देखकर भन्ते ने पार्टी दिलवाई। पार्टी दिलवाने से परिचय हुआ। त्रिरत्नमान देश चला गया था, पूर्णमान उसकी जगह आया था। पार्टी में उससे परिचय कराया। हर शाम जरूर उनसे मिलने आता। वहाँ से सामान ले जाके पेलिंग में घर रहने का इंतिजाम कर दिया। वह चीन के ऑफिस में काम करने जाता। किनूछोक् से सभी नेपाली महाजनों का परिचय हो गया। किनूछोक् रेडियो की मरम्मत करता था। काम बहुत चलने लगा। वह कुछ ही दिनों में धनी चीनी हो गया। सदा पार्टी करता रहता था। भन्ते अंग्रेजी जानते, इसकी भी सब जगह खबर थी, लेकिन दीगिलिंका, जो अंग्रेजी दूतावास का नाम था, का रायसाहेव पेम्बा भन्ते के पीछे पड़ गया। रायबहादुर सोनम नोर्बू (सिक्किमी) भी वहीं था। दोनों ने भन्ते को बहुत सताया। इस समय भन्ते ने डेपोङ् और सेरा के खम्पों (मुखियों) से अच्छा सम्बन्ध स्थापित किया। इसी समय दलाई लामा ने ढाबा की पोशाक पहने एक पार्टी में आ सिंहल-गेलोङ् को देखा। उन्हें वह पसन्द आए। पूजा-पाठ हुई। दही-चीनी प्याले में दी गई। भन्ते इधर-उधर नहीं देखते, चुपचाप गम्भीर थे। इसका बड़ा असर हुआ, स्वागत हुआ।

दलाई लामा ने रास्ते में घोड़े पर चढ़ाकर भेजा। उसने मान दिया, इसका असर भी लोगों पर पड़ा। सब जीभ निकालकर खड़े हो जाते। छोकोलिंका के कन्जुर रिंपोछे बहुत विद्वान थे। उन्होंने भंते का सिर सूँघा। वह रेडिंग लामा का दाहिना हाथ था। रेडिंग के इस्तीफा देने के हफ्ते-भर बाद वह मर गया। रायसाहब पेम्बा नाराज हो कूटा लोगों को सिखाता था।–इसका हाथ क्यों कटा, जानते हैं ? इसने चोरी की। चोरी के कारण इसका हाथ काट दिया गया।–पोलिटिकल एजेण्ट उस वक्त गोल्ड था। वह भी सिंहल के एक आदमी का इतना मान होना बुरा समझता था। गोल्ड हर पार्टी में कार्ड भेजता, जिससे भन्ते वहाँ आए। पर वह जाते नहीं थे। एक बार कहीं रास्ते में मिल गया, तो उसने पूछा–आप कैसे सीलोनी हैं, हम चपरासी के हाथ कार्ड भेजते, पर आप एक बार भी नहीं आए।

भन्ते ने कहा–हमारे पास कोट-पैंट नहीं हैं, सीधे-सादे आदमी हैं। सिर हमारा मुँडा हुआ और बदन पर पीला कपड़ा है। हमारी बात कौन पूछेगा ?

–तो भी मुलाकात करने के लिए आना चाहिए।

—आपके दोनों बाबू हमसे उल्टे रहते हैं। हमें उनसे कोई वास्ता नहीं, क्योंकि हम धार्मिक आदमी हैं। हमें राजनीति से कोई मतलब ही नहीं है।

उस समय भन्ते पेलिंग में रहते थे। पास में एक लामा रहता था, जिसकी बहिन मर गई। उसके पास बीस-पच्चीस तोला सोना था, जिसे बेचकर बहिन के लिए दान करना था। भन्ते अपनी जान-पहचान के एक नेपाली सौदागर के पास ले गए, उसे तोला। लामा ने घर में जो तोला था, उससे तीन तोला कम वजन मालूम हुआ। लामा बिगड़ गया और भन्ते पर भी नाराज हुआ। सेर छोङ्खांग (सोने की दूकान) पर जाने के लिए कहा, जिसने ठीक-ठीक तोला। दाम भी ठीक-ठीक दिया। दूसरे नेपाली ने देखा, तो उसे बुरा लगा, पर इसमें भन्ते का क्या दोष था ?

लद्दाख के खछे (मुसलमान) की दूकान में रोज दो-तीन घण्टे बैठना होता। लड़ाई का समय था, कपड़ा नहीं मिलता था। दूकानदार के पास दो सौ साठ थान भारी कपड़ा था। उसने कहा—कोई लेनेवाला हो तो उसे यह कपड़ा दिलवा दें। पाँच-छह सौ दोर्जे (पाँच-छह हजार रुपये) में दो पैसा रुपया कमीशन मिल जाएगा। कपड़े की लिस्ट दे दी। एक नेपाली ने जब सुना तो बहुत खुश हुआ। लद्दाख के दूकानदार ने सौदा कर दिया। उसी वक्त मजदूर भी बुला लिया और माल आ गया। भिक्षु को कमीशन लेते देख नेपाली ने कहा—हम आपको भिक्षु नहीं कहेंगे।

तेरहवें दलाई लामा के भतीजे छेलोन कोंग (लुगछेन) को रेडिंग ने राज सँभालते वक्त अपने स्थान से हटा दिया। उसके रहने के लिए अच्छा स्थान था। भन्ते उसके लड़कों को पढ़ाने एक वर्ष तक जाते रहे। फिर बच्चों को कलिम्पोंग भेज दिया। पेलिंग मुहल्ले में जिस घर में रहते थे, उसका कूटा (अफसर) मर गया सन्तान कोई नहीं था। किराये पर मकान देते थे। दो मंजिलों पर एक कमरा था, वे उसी में रहते थे।

16

रेडिंग की हत्या (1946 ई.)

इसी समय दो जर्मन देहरादून कैम्प से भागकर तिब्बत आए। गंगोत्री-मानसरोवर पार हुए, फिर ल्हासा पहुँचे। हाइनरिख हरर[1] ने 'Seven Years in Tibbat' पुस्तक लिखी। 15 जनवरी 1946 को वह ल्हासा पहुँचे। उस समय मंत्री थे सुरखांग जिग्मे, कसोपा, पुनखाम और रोंगपा। रोंगपा भिक्षु थे, बाकी तीन गृहस्थ थे। हरर के साथ उसका साथी औफश्नीड़टर[2] था। 1950 में भारत के स्वतन्त्र होते समय भी रिचार्डसन तिब्बत में भारत का दूत था, अर्थात तीन साल तक वह स्वतन्त्र भारत का प्रतिनिधि रहा। 1944 में रेडिंग ने पद छोड़ा। उन्होंने अपने सम्बन्धियों की इतनी हिमायत की थी कि छोटी-से-छोटी बातें भी उनके हाथ में दी थीं। व्यापार और दूसरी इजारेदारी अपने लोगों को दी थी, जिसके कारण बड़े लोग नाराज हो गए। रेडिंग ने उसे कम करने के लिए तीन वर्ष की छुट्टी लेनी चाही। अगर इसकी जगह तीन वर्ष दूसरों को मौका देते, तो वह नौबत न आती। उधर तेरहवें दलाई लामा के समय जो लोग अधिकारारूढ़ थे, उनको बड़ी बुरी तरह नीचे उतारा। उस समय के प्रधान सेनापति (लुंगशर) की आँखें निकलवा लीं। चौदहवें दलाई लामा के अध्यापक टाटा (टगटा) ने बड़ी खुशी से तीन वर्ष के शासन का भार अपने हाथ में लिया। उस समय दलाई लामा तेरह-चौदह वर्ष के थे। संसद की मीटिंग हुई थी। जैसे ही रेडिंग ने अधिकार छोड़ा, उसके आदमियों का प्रभाव जाता रहा।

टाटा के हाथ में शक्ति आई, उसी समय सिंहल-गेलोङ् ने अपने कागज का मामला उनके पास ले जाना चाहा। पहिले लिखकर आवेदन दिया। द्वारपाल ने पूछा तो सिंहल-गेलोङ् ने कहा—हम गेलपो रिंपोछे (महाराज)

1. Heinrich Harrer. 2. Autschneiter.

से मिलना चाहते हैं।–आदमी भीतर गया और टाटा ने पूछा–कुछ देने को लाए हैं ?–'देने को नहीं है', यह सुन उसका मन बिगड़ गया, तो भी बुलाया। राजदरबार के मुताबिक सिंहल-भिक्षु को दण्डवत करने को कहा गया। उन्होंने दण्डवत नहीं की। इस पर टाटा ने कहा–नहीं, कोई जरूरत नहीं।–पीछे कागज पढ़ा, तो कहा–कसा (सरकार) को देना है, हमें नहीं।

सिंहल-भिक्षु ने कहा–वह धर्म की बात है, सरकार की बात नहीं है। सेन्दु छाँग रेडिंग का बहनोई था और उससे सिंहल-गेलोङ् का अच्छा परिचय था। बड़े सचेला ने पूछा–क्या टाटा ने कुछ किया ?–नहीं खाली हाथ लौटा दिया।–सचेला भगत था, रोज ल्हासा की परिक्रमा करता था। वह चाहता था कि कुछ करे।

डेढ़ वर्ष बीतते जो बात रेडिंग ने की, वही अब टाटा करने लगा। पाँच लाख लेके कसोपा को मंत्री बनाया जो ग्यांचे का बड़ा जमींदार था। लुंगशर इसी तरह मंत्री बना। कसोपा का दर्जा कम कर उसे साधारण मुंशी बना दिया। कसोपा को उसने षड्यन्त्रकारी कहा। लुंगशर की आँखें निकलवाई गई थीं, उसके लड़के लालुंग कोंग को जज से सवंग (मंत्री) वना दिया। सुरखांग रेडिंग के समय से ही सबंग था। टाटा के समय उसका और भी प्रभाव बढ़ा। ङ्गपो सवसे पीछे सवंग बनाया गया, जो आज भी कम्युनिस्टों का विश्वासपात्र है। लालुंग का छोटा भाई लालुंग छोजोंग को भाई की जगह जज बना दिया गया और उसे चौथी श्रेणी का दर्जा मिला। तिब्बत में पहिली श्रेणी में दलाई लामा आते हैं, दूसरी श्रेणी (रिम) में रिजेन्ट और तीसरी श्रेणी में चारों मंत्री होते हैं। चौथी श्रेणी में उसके बाद वाले आते हैं। मुँहटेढ़ा लालुंग छोजोंग अपने बाप की आँख निकलवाने का बदला लेना चाहता था।

इस सारी उथल-पुथल में रेडिंग के आदमियों का तख्ता उलटा गया। रेडिंग के पास वे दौड़े-दौड़े गए। रेडिंग ने तीन वर्ष खतम हो जाने की कहकर अपने अधिकार को सँभालना चाहा। इसका सीधा जवाब था–अधिकार दिया नहीं जाता, अधिकार लिया जाता है। हमने आपके हाथ से अधिकार नहीं लिया।–छत्तीस वर्ष के रेडिंग कोई बच्चे नहीं थे। सिंहल-गेलोङ् पहिले ही भविष्यवाणी कर चुका था कि रेडिंग का सितारा छत्तीस साल की उम्र में डूवेगा। इसी समय एक और भी षड्यन्त्र रचा गया। कुछ हथ-बम बक्स में बन्द कर टाटा पर फेंकने के लिए रखे गए। बक्स पर सेंदुछांग की मुहर थी। कहते हैं, कसोपा ने सब किया। उसका नौकर सन्जोछेनवो (भिक्षु) के पास उसे ले गया, और बोला–गेलपो रिंपोछे (महाराज) को चढ़ाने की चीज है, फिर ले जाएँगे।–तीन-चार दिन हो गए, कोई आया नहीं। दुनीछेनपो (सरकारी सचिव) ने खुलवाया, तो धुआँ निकलने लगा। लोग भागे, पर फूटने पर सारा घर नष्ट हो गया। उस वक्त रात के सात-आठ बजे थे। रात ही रात पोतला में टाटा के पास रिपोर्ट गई। सेटीलिंका में मीटिंग हो रही थी। चार सवंग (मंत्री) और उनके चार डोनीछेम्पो, तीनों गोम्पा (गन्दन, सेरा, डेंपुग) के खेम्पो और दूसरे गण्यमान्य सज्जन एकत्रित हुए। तीन दिन मीटिंग हुई। ल्हासा के सारे व्यापारी घबड़ा गए। दस बजे दिन की मीटिंग समाप्त हुई। निश्चय कर दिया गया कि रेडिंग को समाप्त कर दिया जाए।

पलटन के तीन भाग किए गए। आँख निकाले मुख्य सेनापति के पुत्र लालुंग सवंग (मंत्री) के अधीन एक भाग रेडिंग से मोर्चा लेने भेजा गया। दूसरे भाग को तारिंग पोला के अधीन तपची (सेरा) भेजना जरूरी था, क्योंकि यह मालूम था, सेरा के भिक्षु रेडिंग का पक्ष लेंगे। तीसरा मंत्री रम्बा (कोंग लामा) के हाथ में था। ल्हासा में रेडिंग के लबरंग पर अधिकार कर लिया गया। सन्जो लबरंग और सेंदुछांग भी यहीं पहुँचे। दिन में भन्ते छोमोलिंग में युतो के भाई रतनसेकुसो (पुगांग मंत्री) के लामा को पढ़ाने जा रहे थे। उसी समय सिंहल-गेलोङ् पर गोली सनसन करती चली। लबरंग सन्जो में भी गोली छूट रही थी। पुगांग सेकुसो ने डाँटकर कहा–इस समय इस गोली में कहाँ जा रहे हो, वापस लौट जाओ। रमोछे के पास जाकर देखा, लोग रो रहे थे। पलटन सेंदुछांग के भीतर घुसकर अधिकार कर चुकी थी। नौकर ने बतलाया–मालिक को पकड़कर पोतला ले गए और घर जब्त कर लिया। सेंदुछांग पन्नाछांग के बाद दूसरा सबसे धनी आदमी था, जिसे रेडिंग की बहिन ब्याही थी।

इस समय पेलिंग मुहल्ले में सिंहल-गेलोङ् रहते थे। महीना फरवरी 1946 का था। निर्णय करने के तीन

दिन बाद सेरा-ढावा (भिक्षु) बिगड़ गए। सेरा के दो डसङ् (फैकल्टी या विभाग) ने साथ नहीं दिया, तटस्थ रहे। इक्कीस दिन तक सेरावालों ने सरकार को लोहे के चने चबवाए। उनके पास बन्दूक थी और सरकार के पास तोप। गुम्बा को सरकार ने तोड़-फोड़ दिया। मुसलमान सिंहल-भिक्षु से हँसते हुए कहते–गुरुजी, भिक्षु अपने ही पैरों में आप कुल्हाड़ी मार रहे हैं।–नेपाली लोग बहुत घबड़ा गए। उनको हर वक्त डर लगता था कि ल्हासा लूटने सेरावाले आ रहे हैं। इक्कीस दिन दूकानें बंद रहीं।

ढावा (भिक्षु) चादोंग (चाय कुटनी) में बारूद भर के कब तक धड़ाका करते। सोलह-सत्रह दिन बाद मालूम हुआ, सेरावाले कमजोर पड़ रहे हैं। प्रायः दो सौ सिपाही सेरा के मारे गए। मशीनगन, तोप सब भिड़ा दी गई। रात को शान्ति हो जाती, दिन को गोलाबारी होती। एक दिन रात को वहाँ के ढावा गुम्बा से बाहर निकले। कुछ शहर में भी भागकर छिपे। उन्हें पकड़ लिया गया। भिक्षुओं के दोनों हाथों को फैलाकर उसमें डण्डा बाँधा हुआ था। एक भिक्षु के सारे कपड़े में गोली के दाग थे। कहते थे, वह अवतारी लामा है, उसे गोली नहीं लगती। सेरा गुम्बा छिन्न-भिन्न हो गई। मन्दिरों की किसको परवाह थी ? निशाना लगाने में देवता और अदेवता का कोई भेद नहीं था। पीछे जब सामन्तों ने विद्रोह किया, तो सेरा के टूटने की बात अखबारों में छापी गई। पर, सेरा तो उस समय टूटा, जब रेडिंग के पक्ष में भिक्षुओं ने विद्रोह किया।

रेडिंग से पहिले वे बहुत सशंक थे। ल्हासा से तीन-चार दिन के रास्ते पर रेडिंग एक किलानुमा गुम्बा है। पिछले सात सौ सालों में उसकी कोई विशेष क्षति नहीं हुई। रेडिंग के अनुयायियों ने चाहा कि किले का उपयोग किया जाए। उनके पास मशीनगन और बन्दूकें थीं। कुछ तोपें भी रख ली गई थीं। जब सरकारी सेना रेडिंग की आड़ में आई, तो लोगों ने रेडिंग से पूछा–हमें मुकाबला करना चाहिए।–रेडिंग ने कहा–क्या देख रहे हो ?

–दूरबीन से झण्डे दिखाई दे रहे हैं।

रेडिंग ने कहा–आने दो, मुकाबला करना नहीं होगा।

–बिना मुकाबला के ऐसे ही मारे जाना अच्छा नहीं।

रेडिंग ने एक नहीं सुनी। उसको विश्वास था कि हथियार न उठाने पर उसके खिलाफ हथियार नहीं उठाया जाएगा। सरकारी सेना पास पहुँच गई। रेडिंग के अनुचरों ने फिर कहा–पास आ गए। बोलिए, मशीनगन लगा दें ? भीतर घुसना चाहते हैं।

रेडिंग की वही रट थी। रेडिंग के साथ दया दिखाई जाएगी, इस पर लोगों का विश्वास नहीं था। सेक्रेटरी ने पिस्तौल निकाल ली, पर उसे छीन लिया गया।

सेना मठ के भीतर आई। हुक्म हुआ–आप चलने के लिए तैयार हो जाइए।–हाथ पकड़कर लाए गए। रेडिंग उनका बन्दी था, पर रास्ते में उन्होंने कोई कड़ाई नहीं दिखाई। रेडिंग जब ल्हासा पहुँचे, तो सेरा ने युद्ध छेड़ दिया।

रेडिंग को खाना-पीना नहीं दिया। रेडिंग गुम्बा में तख्ते उखाड़े गए। जहाँ कहीं छिपी चीज रखने की सम्भावना थी, उसे खोद डाला। एक जगह चालीस सेर सोना और बहुत-सा रत्न मिला। रेडिंग गुम्बा की पुस्तकें भी छाँट दी गईं। चाँदी-सोने की मूर्तियाँ लूट ली गईं।

रेडिंग को दिन में ल्हासा नहीं लाया गया, क्योंकि उससे उत्तेजना बढ़ती। रास्ते में कहीं रोक रखा गया। रात को पोतला पहुँचाया गया। तपची पर उसी दिन आक्रमण हुआ था और निर्भय ढावा तोप लूटकर ले गए। लड़ाई के बाद सेरा में इतनी बदबू थी कि महीनों वहाँ जाया नहीं जा सकता था। मुर्दे सड़ रहे थे।

रेडिंग की मौत कुत्ते से भी बदतर हुई। पुराने सेनापति की आँखें रेडिंग ने निकलवाई थीं, इसका बदला लेने के लिए लालुंग का मुँहटेढ़ा लड़का प्रतिशोध लेना चाहता था। उसे पूरी आजादी दी गई। रेडिंग के मुँह में खाता (रेशमी कपड़ा) भिगोकर ठूँस दिया गया। फिर उसके अण्डकोष को मल-मलकर मारा गया। पकड़ते वक्त रेडिंग चिल्लाया। गाँववालों ने रात को सुना। लेकिन लालुंग मुँहटेढ़े को उसकी परवाह नहीं थी। आखिर उसके बाप की आँखें बुरी तरह निकलवाई गई थीं, उनमें जलता तेल डाला गया था।

इसके बाद रेडिंग की जाली चिट्ठी छापी गई–हम विदा माँगते हैं, दुनिया में रहना नहीं चाहते। लोग कहा-सुना माफ करें।–'रेडिंग ने आसनवद्ध हो स्वेच्छा से प्राण-त्याग किया।' सबेरे यह सूचना सब जगह लगा दी गई। उसके साथ वह बिना अक्षर की सूचना भी लगी कि रेडिंग लालुंग का कोपभाजन हुआ। सबेरे लोग रो रहे थे। ल्हासा में शोक छा गया था। यह सब करनेवाला टाटा था। तिब्बत में उस समय अखबार नहीं होते थे। पर लोगों के चित्त को खींचनेवाली खबर कविता के रूप में तुरन्त सामने आ जाती थी। किसी ने टाटा के विरोध में कविता बनाई। टाटा लँगड़ा था, उसका भी संकेत उसमें किया गया। उस कविता को चो-रिंपोछे (ल्हासा के प्रधान मन्दिर) के मजूरों ने गाया :

'लँगड़े बैल को राज देकर क्या मिला।'

रेडिंग के दुश्मन अब बहुत खुश थे। रेडिंग के खयाल से वह रात को सो नहीं सकते थे। ग्यांचे का योनदेनला (चाङ्पा) भी बहुत खुश था। एक दिन उसने भन्ते को खाना खिलाया। खाने में नरम-नरम गोश्त का टुकड़ा था। मुँह में डालने पर कहा–कैसा स्वाद है ?

–याक का गोश्त है।

–मरे याक का गोश्त है। हमने आर्डर नहीं दिया, नौकर ले आया।

–मारा तो ?

–तड़पाकर नहीं मारा। मुँह बन्द करके याक को मारते घण्टा-भर लगता, खून नहीं निकलता। रक्तसहित मांस मीठा होता है।

–यमदूत वंशीवाला डोरा लगाके घसीटेगा। लाल लोहे के डंडों से पीटेगा। ऐसा मांस नहीं खाना चाहिए।

रेडिंग को इससे भी बुरी तरह मारा गया, और मारा टाटा ने।

रेडिंग के मरने के बाद उनके दल के लोगों की तलाशी ली गई। बहुत-से चीन भाग गए। पणछेन् नक्षुका तक मिलिटरी के साथ आए थे। ल्हासा की मिलिटरी भी वहाँ पहुँची। पणछेन् चीन के पक्षपाती थे, इसलिए अंग्रेज नहीं चाहते थे कि वह सेनासहित तिब्बत में आएँ। उन्होंने सलाह दी, पणछेन् आना चाहते हैं, तो अकेले आएँ। चीनी अकेला छोड़ना नहीं चाहते थे। चीकुदो के पास एक गुम्बा में बैठे पणछेन् मरे दिखाई पड़े। चार महीने बाद पणछेन् के सेवक टशील्हुन्पो लाए। उनके शव के साथ नमक रखा गया था। सरसों की-सी गोलियाँ दो-तीन रुपये में बेची जातीं। उनको खाने से पाप नष्ट होता है, यह विश्वास किया जाता था।

गेशे शेरब आज अखिल चीन बौद्ध-संघ के अध्यक्ष हैं। तिब्बत के वह सबसे बड़े विद्वान हैं। डेपुंग में रहते हुए भी उनके हजारों शिष्य मंगोलिया, अमदो और तिब्बत के दूसरे भागों में फँसे हुए हैं। तेरहवें दलाई लामा ने उनका बहुत सम्मान किया, उन्हीं की डेपुंग गुम्बा के वह प्रधानाचार्य थे। तेरहवें दलाई लामा के मरने के बाद उन्होंने तिब्बत के लक्षण बुरे देखे। पहिले वह कूमिन्तांग की सहायता से तिब्बत का भविष्य बेहतर समझते थे, पर यह समझते देर न लगी कि कम्युनिस्ट शासन तिब्बत के लिए अच्छा होगा। उन्होंने पेकिंग रेडियो से अच्छा भाषण देना शुरू किया–हमें चीन से ही भलाई की आशा रखनी चाहिए। अंग्रेज और उनके पिट्ठू हमारी भलाई नहीं चाहते।–रोज उनके भाषण लोग सुनते। वह कम्युनिस्टों की बात उन्हें अच्छी लगती।

टाटा वस्तुतः डेपुंग का एक पण्डित था, जिससे दलाई लामा को पढ़ाने का काम मिला था। उसी को अब तिब्बत का कर्ता-धर्ता मान लिया गया। रेडिंग के मरने के बाद कसोपा को सवंग (मन्त्री) बनाया गया, जिसमें साढ़े पाँच लाख रुपया घूस टाटा को मिली। टाटा को भी रेडिंग के रास्ते जाते देख लोग बिगड़े। इस पर टाटा ने दस हजार नई फौज भर्ती की। सबका बोझ लोगों के ऊपर पड़ रहा था। लोग समझने लगे कि इससे तो अच्छे कम्युनिस्ट ही हैं। दस हजार की तनख्वाह नहीं, हमारी लूट है। यह व्यापारियों को और भी असहनीय हो रहा था।

रेडिंग के बाद उनके बहनोई सेंदुछांग पर टाटा की वक्र दृष्टि जानी जरूरी थी। उसके बड़े भाई सेचिला को पकड़कर पोतला में रखा और उसकी सम्पत्ति पर मुहर लगवा दी। सुनुजु सेरा का ढावा था, उसने सेरा के भिक्षुओं को संगठित किया। सेंदुछांग कलिम्पोंग भाग गया। सेंदुछांग का एक भाई बहुत पीछे मारा गया।

सेचिला सेरा के पास एकांतवासी हो गया।

पन्नाछांग को भी उस समय घेरा गया। इस पर तीनों गुम्बाओं के ढावाओं ने अल्टीमेटम दे दिया। पन्नाछांग अपने दान-पुण्य से सबको संतुष्ट रखता था। उसको कोई नुकसान नहीं हुआ। बूनिमा दूसरी प्रकृति का था, उसने वैभव भोगने की जगह त्यागी बनना पसंद किया। उसने अपनी सुन्दरतम स्त्री को एक खम्पा को दे दिया और स्वयं एकान्तवासी हो गया। बूनिमा नागपूजा कर चाँदी की तिपाई पर रख थाल में गोली डाल कस्तूरी-केसर का पानी 'अमृतं' कह डाल देता और सन्तोष करता। उसके पास पाँच-छह नौकर थे। दूसरा भाई पन्नाछांग पीछे साक्य में अधिकारी हुआ था और वहाँ से अपना बहुत-सा माल ले-देकर सिक्किम में पहुँचा।

टाटा के विरोधी कुछ समय के लिए दब गए। उसने नये-नये नियम निकाले। सबमें अपना स्वार्थ पहिले रखा।

उस समय भन्ते पेलिंग में रहते और कूटा (सरकारी कर्मचारी) को पढ़ाते थे। छोमोलिंग में नोबोछुकूपा एक सरकारी कर्मचारी था, जो डोनीछेनपो (सचिव) का काम करता था। वह भी भन्ते के यहाँ पढ़ता था। भन्ते ने उसके लिए भविष्यवाणी की—तुम्हें दर्जा मिलेगा, पर काम नहीं मिलेगा। दलाई लामा ने पहिली बार भागते समय उसे दर्जा दे दिया, पर दलाई लामा के टोमो भाग आने से काम नहीं मिला।

1951 में कम्युनिस्ट छम्दो पहुँच गए। गम्पो अन्तिम सवंग (मन्त्री) था, जिसे पाँच हजार सिपाही देकर कम्युनिस्टों के मुकाबले के लिए छम्दो भेजा गया। कम्युनिस्टों ने बिना गोली चलाए पाँच हजार की सेना और पैंतालिस अफसर पकड़ लिये। इसी समय अंग्रेज फोर्ड भी गिरफ्तार हुआ। वह रेडियो-चालक था। कलिम्पोंगवाले दो-तीन पकड़े गए पर उन्हें पेकिंग ले जाकर छोड़ दिया। फोर्ड के पकड़े जाने पर तीन रोज तक रेडियो में खबर नहीं आई। टाटा का प्रतिद्वन्द्वी तालामा इसी समय निकल आया। उधर छम्दो से साठ मील और आगे कम्युनिस्ट बढ़े। कम्युनिस्टों ने तिब्बतियों को बात करने के लिए बुलाया। ल्हासा में कसा (सरकार) और छोङ्ग्यु (पार्लियामेंट) की बातचीत चलती रही।

सेंदुछांग के नाश की टाटा ने तैयारी की। उसी समय तालामा उसके विरुद्ध हो गया। 'सारे बड़े-बड़े आदमियों को बेइज्जत करने से हमारी इज्जत नहीं रहेगी।' इस प्रकार वह अपने मन्सूबे में सफल नहीं हुआ। इसी समय दलाई लामा के अपने देवता नेचोंग ने भी अपना पार्ट अदा किया। नेचोंग पर देवता आता और उसका फैसला अन्तिम माना जाता। अब सवाल यह था कि टाटा अपने हाथ में शासन रखे अथवा दलाई लामा को दे दे। नेचोंग आगा-पीछा कर रहा था। पर तालामा ने नेचोंग को चिट्ठी लिखकर दी कि परसों साफ-साफ बात करनी है। उस दिन नेचोंग ने फिर गड़बड़ करना चाहा, तो तालामा ने कहा—साफ जवाब दो।—नेचोंग अपनी पोशाक पहन के आया था। उसने दलाई लामा को राज सँभालने का फैसला दिया। लाल मुहर भी लग गई।

उस समय भन्ते तालामा के घर में ही रहते थे। तालामा ने उनसे अपनी चिन्ता प्रकट की—यदि चार मन्त्रियों और चार सचिवों की बैठक हुई, तो टाटा का पक्ष भारी होगा।

भन्ते ने कहा—उनकी बात नहीं मानी जाएगी। नेचोंग का फैसला हो चुका और उस पर लाल मुहर भी लग चुकी। गुम्बा के खम्पा (प्रधान) को चिट्ठी लिखकर उनको अपने साथ करो।

चारों मन्त्रियों और चार सचिवों के सामने रौब दिखलाते हुए टाटा ने पूछा—आप लोगों का क्या विचार है ?

—हमारा विचार वही है, जो नेचोंग ने कहा। दलाई लामा के हाथ में अधिकार जाना चाहिए।

17

दलाई लामा को राज (1950 ई.)

टाटा को राज करते तीन वर्ष हुए, जबकि पतन हुआ। दलाई लामा ने अब स्वयं राज की बागडोर अपने हाथ में ली। पर करना था चीनी कम्युनिस्टों के साथ समझौता। यह इतना आसान काम नहीं था। दलाई लामा ने जल्दी-जल्दी चार्ज अपने हाथ में लिया। तालामा ने भन्ते की सलाह ली। उन्होंने कहा—पहिला काम हो कैदियों को मुक्त करना, दुखियों को भोजन देना, पशुओं को जीवन-दान देना।—तालामा ने चाहा कि टाटा से बदला लिया जाए। दलाई लामा ने कहा—जिससे हमने एक अक्षर भी पढ़ा उसके साथ ऐसा बर्ताव नहीं होना चाहिए।—तो भी टाटा के आदमी आकाश से नीचे गिर पड़े।

दलाई लामा ने राज सँभालने के बाद हफ्ते के भीतर ही भागने का निश्चय किया। राज का भार दूसरे लोगों के हाथ में दे स्वयं टोमो भाग गए। टोमो भागते वक्त करोड़ों की सम्पत्ति अपने साथ लाए। वह सम्पत्ति उसी समय सिक्किम भेज दी गई, जिसका पता हाल में लगा, जब सम्पत्ति कलकत्ता के बैंक में भेजी गई। दलाई लामा कुछ समय बाद ल्हासा लौट गए पर सम्पत्ति सिक्किम में रही।

ल्हासा की वैसी स्थिति में अब भन्ते को कुछ करना जरूरी था। जिस तालामा के घर में भन्ते रहते थे, वह किसी को कुछ वतलाए बिना एक दिन दलाई लामा के साथ टोमो भाग गया। घर के बचे-खुचे नौकरों ने कोई जवाब नहीं दिया। मालूम हुआ कि वह अपने काम की सभी चीजों को लेकर बलवाहन के साथ चला गया।

दिग़ीलिंका भारत के पोलिटिकल ऑफिसर का मुख्य स्थान था। पहिले वहाँ अंग्रेज अफसर रहता था। पीछे वही अंग्रेज अफसर भारत का काम करता रहा। तालामा के भाग जाने पर भन्ते का उसके घर में बैठा रहना बेकार था। दिगीलिंका में काम का भार बंगाली ईसाई सिन्हा ने लिया। कहने पर उसने कहा—पहिले अपना पास लाइए।—पर भन्ते ने पासपोर्ट कहाँ लिया था ? उन्होंने सारा समाचार कह सुनाया। सिन्हा ने कहा—कल आठ-नौ बजे तक हम लमइक (पासपोर्ट) देंगे, साथ ही दो घोड़े और एक आदमी की भी आज्ञा मिल जाएगी। ल्हासा के पोस्टमास्टर ने भी मदद की। ग्यांचे तक हर जगह फोन कर दिया जिसमें घोड़ा देने में देर न हो। नेथांग और छूशंग में एक-एक रात, तीसरी रात नागर्चे रह चौथी रात ग्यांचे पहुँच गए। ग्यांचे से एक दिन पहिले गेशे वागेल मिला। वह मंगोल था और अंग्रेजों का खुफिया भी। भन्ते ने उसके लिए एक घोड़े का प्रबन्ध कर दिया। एक से दो होना बहुत अच्छा था। जब भन्ते ग्यांचे पहुँचे, तो सोगांग का सबसे छोटा भाई (ढावा) वहाँ का व्यापारी अफसर था। लेकिन पहिले भारतीय अफसर से भुगतना था। मेजर कृष्णाती के पास गए। देखा, सिपाही ताश खेल रहे हैं। झटपट वर्दी पहनी और बिगुल बजा फौज ने मार्च किया। उन्होंने समझा, भन्ते सरकारी जासूस है। भन्ते ने डेपुंग और सेरा में रहने की बात कही। यह भी कहा कि गोखले और सिन्हा हमारे परिचित हैं।

पूछा—आप लामा हैं ?

—हाँ लामा हूँ, बौद्ध-भिक्षू हूँ।

तीन दिन बाद उन्होंने रास्ते के डाकबँगले में ठहरने की आज्ञा दी, सब जगह फोन कर दिया।

रकसा सवंग का लड़का चाङ्लोछेन नक्षुका गया था। वहाँ से लौटकर ग्यांचे आया। शिगर्चे जाने के लिए फिर दो आदमी मिले। उस समय भीड़ बहुत थी, इसलिए डाकबँगले में जगह मिलना आसान नहीं था। ग्यांचे में लमइक बदलवाना था। चाङ्लोछेन ने कहा—इसकी कोई बात नहीं। हम लोगों के साथ शिगर्चे चलिए। वहाँ बदल देंगे।—इसी समय एक खाली खच्चर भी आ गया, फिर कहा—चलिए।—जबर्दस्ती वह शिगर्चे ले गया। शिगर्चे में पणछेन् के बगीचे में ठहरे। वह शराब पीकर मस्त रहता, रात को रण्डी नचवाता। भन्ते बुरी तरह फँसे थे। आखिर किसी तरह घोड़े का प्रवंध हुआ। उसने सोग्पो (मंगोल) को ग्यांचे तक साथ कर दिया। सोग्पो

बहुत मजबूत था, कहता था–मैं अकेला पच्चीस को मार सकता हूँ।–अभी भी ग्यांचे से सीधा जाना नहीं हुआ। सोगांग के छोटे भाई ने कहा–माँ जमींदारी में रहती है, एकान्त स्थान है। वहाँ चलिए।–अब भी लमइक (राहदारी) का कुछ नहीं हुआ था। सोगांग खेनजोन ने कहा–कोई बात नहीं, वह सब हम कर देंगे।

सचमुच यह बहुत सुन्दर जगह थी। पहाड़ के ऊपर शिम्शा (बँगला) बना था। माँ वहीं रहती थी। सोगांग के बाप अपनी बीवी से अलग हो कलिम्पोंग की औरत के साथ रहते थे। पहिले ल्हचम (देवी) ने नाराज हो पति को महल से बाहर निकाल दिया। ल्हासा में उनका घर सबसे बड़ा और शहर के बीचोबीच में था। कई वर्षों तक पति ऐसे ही रहते। अन्त में पति के साथ सुलह हुई। इधर लड़के भी मंत्री, जेनरल और उच्च ऑफिसर हो गए। बुढ़िया ने इस जगह अपना समय जप-तप में लगाना पसन्द किया। ल्हचम इन पंक्तियों के लेखक के काम में भी बड़ी सहायता करती थीं, उस समय बच्चे अभी छोटे थे। 1959 में मसूरी में रहते हुए उनका देहान्त हो गया।

भन्ते शिम्शा में एक हफ्ता रहे। उस समय की स्थिति में यह जगह शान्त मालूम नहीं होती थी। दो-तीन दिन भन्ते ने खाना भी छोड़ दिया और बीमार होने का बहाना कर दिया। तब ग्यांचे जाने की इजाजत मिली। तब तक डाकबँगले का भी काम हो गया। राहदारी भी बन गई। सोगांग खेनजोन (भिक्षु) ने घोड़े का प्रबन्ध किया। उस समय फरीजोंग का जोंगपोन भन्ते का शिष्य था। वहाँ भी स्वागत हुआ, फिर आशीष माँगे। कहा–यहीं रहिए।–पर फरी में रहना पसन्द नहीं था। तीन दिन किसी तरह रहे। फिर स्यासीमा का घोड़ा ठीक हो गया और एक दिन में वहाँ पहुँच गए। वहाँ भी बोधगया का एक परिचित व्यापारी मिल गया, जिसने रहने के लिए अच्छा स्थान दे दिया। दलाई लामा ऊपर तोंगसर गुम्बा में रहते थे। सबेरे चाय पीकर चढ़ाई कर वहाँ पहुँचे। सोगांग सवंग और उसका बूढ़ा बाप (दरबार सचिव) भी वहीं थे। सोगांग ने कहा–आपके शिष्य बहुत हैं। तालामा भी है।

–तालामा भी कैसा शिष्य, मुझे सूचित नहीं किया और चल दिया।

दलाई लामा के दर्शन के लिए गुम्बा से नीचे बैठना पड़ता। भन्ते को यह अच्छा नहीं लगा। रास्ते में जब आ रहे थे, तो सोगांग सवंग फिर मिला और बोला–आप भविष्य की बात जानते हैं। अफसोस, हम आपके सत्संग से लाभ नहीं उठा सकते।–यह कह उसने बारह हाथ का चीनी रेशम भेंट किया और यह भी कहा कि एक मास बाद हम ल्हासा जाएँगे, उस समय हमारे साथ लौटिए। साथ ही डेढ़ सौ रुपया दक्षिणा दी। तालामा के पास जाने को वह तैयार नहीं थे, लेकिन रास्ते में वह मिल गया, बोला–ऊपर चलिए, हमारे यहाँ एक प्याला चाय पीकर जाइए।–उसने एक लिफाफे में कुछ रुपया लाकर दिया। सोगांग ने गन्तोक तक घोड़े का प्रबन्ध कर दिया। नातोला होते अक्तूबर 1951 में गन्तोक पहुँचे। इनचेन गुम्बा में वैयत काजी ने रहने का इंतिजाम किया। उनके घर से खाना बनकर आता था। तीन मास वहीं रहे।

उस समय गन्तोक के पोलिटिकल ऑफिसर दयाल थे। दयाल से भी भेंट होती रही और उन्होंने कहा–नीचे जाते समय हमसे अनुज्ञापत्र लेकर जाएँ।–वहीं से सिंहल हाई कमिश्नर के पास दिल्ली में पत्र भेजा। वहाँ से फार्म भरने के लिए चिट्ठी आई। लेकिन चिट्ठी में जिन बातों के भरने के लिए कहा गया था, उसे लंका में जाकर ही भरा जा सकता था।

1952 में सिक्किम छोड़ा। रंगफू में ठहर, फिर सारनाथ गए। पिता को चिट्ठी लिखी। मालूम हुआ, पिता पाँच-सात वर्ष पहिले मर गए। लंका के अफसर की चिट्ठी के साथ लिखने पर वहाँ आने की इजाजत होती। भाई ने समझा, यह हमारी जायदाद बँटवाना चाहता है। इन्होंने कहा–हमें सम्पत्ति से कोई मतलब नहीं। माँ की सेवा करो, बस हम यही चाहते हैं।–सारनाथ में पिता की मृत्यु पर श्राद्ध करते हुए संघदान दिया। लंका के अखबारों में भी उसका समाचार छपा। माँ ने समझ लिया कि भाइयों ने कुछ धोखा किया है। वह उन्हें बहुत गाली देती थी।

सारनाथ में रहते ही गर्मी आ गई, मार्च का महीना था, इसलिए ठंडी जगह जाना जरूरी था।

18

पश्चिमी नेपाल (1952 ई.)

राणाशाही नेपाल से खतम हो चुकी थी। नेपाली कांग्रेस का दबदबा था। महाराज त्रिभुवन अब राणाओं के बन्दी नहीं थे। पहिले बुटौल जाने की जरूरत पड़ी। नौतनवा से जिस वक्त वह बुटौल जा रहे थे, उस समय वहाँ के विहाराधिपति चुन्द ने चिट्ठी लिख दी कि मैं सारिपुत्र मोग्गलायन की धातुओं के उत्सव के लिए नेपाल जा रहा हूँ। पद्ममुख विहार में भन्ते को रहने देना।

यहाँ कुछ और ही बानक बना। गुभाजू और ब्राह्मणों ने चुगली लगाई कि यह घुमक्कड़ साधु हमारा विरोधी है। रसादल के मारे उस समय बुटौल में त्राहि-त्राहि मची थी। चारों ओर मनमानी चल रही थी। न्याय-अन्याय की कोई पर्वाह नहीं करता था।

एक दिन भन्ते जंगल में जा रहे थे, उसी समय एक सिपाही दौड़ा आया–आपको कप्तान साहब बुला रहे हैं।

जाकर देखा कि कप्तान ने खूब शराब पी हुई है, सिपाही भी खूब पिए हुए हैं। कप्तान ने पूछा–तुम कौन हो ? टीका भी नहीं, जनेऊ भी नहीं, क्या काम करते हो ?

–दुनिया में दूसरे भी हैं, जो टीका-जनेऊ नहीं रखते। हम बौद्ध-भिक्षु हैं।

–तुम हिन्दुस्तान के सी. आई. डी. हो।

–बुटौल के सब लोग जानते हैं कि मैं लंका का भिक्षु हूँ।

एक सिपाही सिंहली बोलने लगा–ठीक-ठीक बतलाओ, टीका भी नहीं और जनेऊ भी नहीं, कौन हो ?

–हमारे टीका और जनेऊ नहीं होता।

उसी समय कप्तान ने मुँह पर थप्पड़ मारा। चश्मा ल्हासा में किसी ने भेंट किया था, वह दूर जा पड़ा।

उस समय वहाँ उपस्थित एक महाजन का लड़का बोल उठा–आप लोग यह क्या करते हैं ?

इस पर उसे भी पकड़कर पीटा। भन्ते का हाथ चीवर से बाँध दिया और अड्डे के भीतर ले गए। कप्तान ने सिपाही को कहा–राइफल में गोली भरो। जंगल में ले जा के गोली मार दो।

इसी समय बुटौल के कांग्रेस-प्रधान सूर्यलाल श्रेष्ठ भी आ गए। कप्तान पर बहुत बिगड़े।–क्या कर रहे हो ? महात्मा है, शान्ति चाहता है।

यह सुनकर कप्तान के होश उड़ गए। उसने कहा–हमारे खिलाफ कुछ करेगा तो नहीं।

भन्ते ने उसी शाम को छह बजे अनशन करने का निश्चय कर लिया।–जब तक अन्याय का फैसला नहीं होगा, तब तक किसी से भेंट नहीं करूँगा।–बाहर यह नोटिस लगाकर भीतर से दरवाजा बन्द कर लिया।

अनशन शुरू हो गया। सारे नेपाल में त्राहि-त्राहि मच गई। बुटौल, पालपा, पोखरा आदि में जुलूस निकले। लोगों ने नारे लगाए–रक्षादल मुर्दाबाद, स्वामी जयवर्धन जिन्दाबाद।–भैरहवा, तोलिहवा, पालपा आदि के बड़े हाकिम बुटौल पहुँचे। दरवाजा नहीं खुला, वे लौटकर चले गए। बुटौल बाजार तीन दिन तक बन्द रहा। रक्षादल के भीतर मार-पीट-झगड़े शुरू हो गए। एक सिपाही की आँख फूट गई। सूर्यलाल श्रेष्ठ ने लिखकर भीतर चिट्ठी फेंकी–भन्ते, अनशन तोड़ दें।

स्वामी जयवर्धन ने लिखा–जब तक सरकार निर्णय नहीं करती, तब तक हम अनशन भंग नहीं करेंगे।–यह भी मालूम हुआ कि खबर लंका के हाई कमिश्नर को भी पहुँची और पार्लियामेन्ट के मेम्बरों ने भी पटेल के कान तक उसे पहुँचाया।

आठवें रोज तीन बड़े हाकिम और डिट्ठा आदि पच्चीस-तीस आदमी आए। महामन्त्री का तार आया कि हम रक्षादल के खिलाफ कार्यवाही करेंगे। सूर्यलाल स्वयं यह खबर देने स्वामी जी के पास गए। दरवाजा खुला।

बड़े हाकिम लोग भी भीतर बुला लिये गये। भैरहवा के बड़े हाकिम ने कहा—महात्मा जी के हाथ से ही हम प्रसाद ग्रहण करेंगे।

अभी अनशन का अन्त नहीं है। पहिले बात कीजिए।

बड़े हाकिम ने कप्तान और स्वयंसेवकों को कहा।—इधर आओ। स्वामीजी को दण्डवत करो। पाँच रुपया दण्ड दो।

—हम रुपया नहीं लेंगे। इसने गोली से मारने के लिए कहा; क्या हम चिड़िया हैं ?

बड़े हाकिम ने कप्तान और रक्षादल को बहुत बुरा-भला कहा। उसी वक्त डॉक्टर बुलाया गया, जिसने इन्जेक्शन लगाया। पेशाब की भी जाँच कराई। रिपोर्ट दी—सब ठीक है।—अनशन भंग हुआ। फल का सबने प्रसाद ग्रहण किया। रक्षादल उसी समय तोड़ दिया गया। पश्चिमी नेपाल में रक्षादल ने मनमानी कर रखी थी। किसी को पीट देना, किसी को बेइज्जत कर देना मामूली बात थी। वे सुन्दर औरतों को पकड़ ले जाते थे। रक्षादल का तोड़ना मामूली बात नहीं थी। सारे पश्चिमी नेपाल में इसका हल्ला मच गया।

दो दिन रहने के बाद भन्ते पालपा गए। पालपा के लोग रक्षादल के तोड़ने से पहिले ही स्वामी जयवर्धन के नाम से परिचित थे। वहाँ उनका विजेता के रूप में स्वागत हुआ। पालपा में दो विहार थे, जिनमें टूड़ी खेत के पास वाले विहार में आसन जमा। वड़ी भीड़ होती। लोग फूलमाला लाते। कथा भी होने लगी। इसी समय काठमाण्डू में सारिपुत्त मोग्गलायन की धातु गई थी। बौद्ध-भिक्षु का अनशन इसलिए भी बहुत महत्त्व रखता था। महाराजा चाहते थे कि वह जल्दी खतम हो जाए।

पालपा के जंगल में भन्ते एक कुटिया बनवा वहाँ रहने लगे। उस समय पालपा के गुभाजू लोगों में एक आन्दोलन छिड़ा हुआ था। गरीब-अमीर सभी गुभाजुओं (बौद्ध-पुरोहितों) को नेपाल—काठमाण्डू—में व्रतबन्ध के लिए जाना पड़ता। वहाँ जाने पर बहुत खर्च होता। गुभाजू चाहते थे कि व्रतबन्ध पालपा में हो जाए, तो खर्च कम पड़ेगा। कुछ लोग—जिनकी संख्या दो-तीन थी—चाहते थे कि काठमाण्डू के व्रतबन्ध को कायम रखा जाए। चाहे इसके लिए गरीबों को कितना ही कष्ट हो। यह प्रयत्न पिछले पन्द्रह वर्षों से चल रहा था। अमृतलाल और वैद्यराज काठमाण्डू का पक्ष कर रहे थे। दूसरे गुभाजुओं ने स्वामी जी से प्रार्थना की। स्वामी जी ने मीटिंग बुलवाई। पूर्णमान, चन्द्रमान नेता बने। सूची तैयार की गई। सबने हस्ताक्षर कर दिए, किन्तु अमृतलाल और वैद्यराज ने नहीं किए। बहाना यह किया कि दोनों घर में नहीं हैं। फिर दोबारा भेजा। अमृतलाल ने सही कर दिया, पर वैद्यराज ने नहीं किया। स्वयं स्वामी जयवर्धन उसके पास गए। उसने भी सही कर दिया। मीटिंग हुई, बातचीत चली—तुम दोनों धनी आदमी हो, एक-एक लड़के पर हजार-हजार रुपये खर्च कर सकते हो, पर गरीब ऐसा नहीं कर सकते। उनका फायदा इसी में है कि व्रतबन्ध पालपा में हो।—जो लोग पक्ष में थे, उन्हें हाथ उठाने के लिए कहा गया। हाथ उठाया। सबों ने पंचशील ग्रहण किया, लिखा-पढ़ी हो गई। व्रतबन्ध करने के लिए एक घर बन गया। इसके जरिये पालपा में बहुत प्रचार हुआ। पालपा में एक जगह स्वामी जी ने तेरह में नौ धुतांग—कठिन तपस्या—व्रत पालन किया। जगह बन जाने पर पालपा के लड़कों का व्रतबन्ध खूब धूमधाम से किया गया।

इसी समय एक और बात हुई। रिडी में मिनबहादुर का साला मुसलमान औरत को लेकर मधेस भाग गया। मिनबहादुर पैसेवाला आदमी था। मुसलमानी का वहाना करके समाज से मिनबहादुर को जाति-बहिष्कृत कर दिया गया, बच्चों का व्रतबन्ध रुक गया। लोगों में ख्याल था कि यह बात गलत है, और मिनबहादुर को जाति-बहिष्कृत नहीं करना चाहिए। दस वर्ष से यह रुकावट थी, जिसे स्वामीजी के बीच में पड़ने पर ठीक कर दिया गया।

बागलुंग में स्वामीजी 1953 में चार महीने रहे, रिडी रास्ते में पड़ता था। बागलुंग में चालीस-पचास घर बौद्ध थे। वहाँ जाते ही स्वामीजी ने देखा, शिक्षा का प्रचार नहीं है, इसलिए ज्ञानोदय विहार में ज्ञानोदय पाठशाला कायम कर दी। पाठशाला में बौद्ध ढंग से प्रार्थना होती। नरसिंहगाथा और जयमंगल गाथा का पाठ होता। बुद्ध-जयन्ती उसी समय आई। बाजार में खूब जुलूस निकाला गया, विहार के अधूरे काम को भी पूरा कर

दिया गया। मुट्ठी-दानकोष सभी बौद्ध घरों में रख लिया गया। रोज उसमें पैसा या मुट्ठी भर अनाज डालते। महीने में एक बार पूर्णमासी को चन्दा जमा होता। पाठशाला चलाने के लिए खूब चन्दा आया। चावल बेचकर जो पैसा जमा होता, उसे सूद पर लगा देते।

बागलुंग में एक सनातनी श्रेष्ठ ने अपना स्कूल खोला था, उससे इस स्कूल का विरोध पड़ गया। नदी पार पन्द्रह-सोलह घर मल्लों के थे। वहाँ भी कांग्रेसी नेता ने एक स्कूल खोल रखा था।

भारसे में दो धनी पदमलाल और गिरिप्रसाद थे। गिरिप्रसाद का बेटा शिवप्रसाद कश्मीर में कर्नल था। गिरिप्रसाद उस समय तमगास–गुलमी–का गवर्नर था। वह विद्वान नहीं था, पर विद्या के महत्त्व को समझता था। यह इलाका मंगर लोगों का था, जहाँ उनकी काफी प्रतिष्ठा थी। सिर्फ दो ही धनी नहीं, बल्कि बहुत-से दूसरे भी पलटनवाले थे। गिरिप्रसाद चाहते थे कि स्कूल खुले, पुस्तकालय खुले, लोग नई तरह से जाल में मुर्गी पालें। मल्ला में कागज बनता था, इसको भी तरक्की दी जाए।

तमगास में पाँच हजार आमदनी का आदमी साहु समझा जाता था, वहाँ एक ऐसे धनी साहु थे।

भारसे में हजार घर मंगर थे। साल में ढाई लाख रुपया पेन्शन का आता था। वहाँ स्कूल बनाने की बहुत सुविधा थी। गिरिप्रसाद ने स्वामीजी से कहा––यहाँ स्कूल चलाइए। हम तनखा देंगे।

–हम तनखा नहीं लेंगे। हाँ, हम यहाँ स्कूल इसी शर्त पर चलाएँगे कि जो विधान मंजूर हो, उसी के अनुसार सारा काम हो।–तमगास के गवर्नर ने मंजूर किया और स्वामीजी को स्कूल चलाने के लिए विधान बनाने के लिए कहा। स्कूल बहुत अच्छी जगह बना। वहाँ खेलने की जगह थी। कवायद करने के लिए परेड की भी व्यवस्था थी। गिरिप्रसाद ने एक अतिथि-भवन को लाइब्रेरी के लिए दे दिया। स्कूल के विधान में रखा गया–(1) हाथ-मुँह धोकर इष्ट देवता को नमस्कार और माता-पिता को दण्डवत् करना चाहिए। (2) रास्ते में किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए, न मक्की आदि तोड़नी चाहिए। (3) सीधे स्कूल आना चाहिए। (4) मास्टर की अनुमति के बिना कोई काम नहीं करना चाहिए।

सब बात लोगों को पसन्द आई, किन्तु हिंसा–शिकार–सैनिक-धर्म का निषेध कैसे पसन्द आता ? लोगों ने इसका विरोध किया और स्वामी ने बागलुंग छोड़ दिया।

तमगास बागलुंग से छह मील पर था, वहाँ भन्ते छह मास रहे। तमगास में पाँच सौ ब्राह्मण, साढ़े तीन सौ क्षत्रिय और साढ़े तीन सौ नेवार और थोड़े मंगर-गुरुंग के घर थे।

यहाँ पर भी छह मास स्कूल खोलकर चला, किन्तु घुमक्कड़ स्वामी के लिए यह असम्भव था कि किसी जगह जमकर बैठें।

फलेबास दूसरा स्थान था, जहाँ पन्द्रह सौ घर बसते थे। बिचारी ब्राह्मण बहुत धनी आदमी था। उसके पास बहुत-सी विर्ता की जमीन थी, अन्न भी खूब होता था। और सूद पर भी अन्न-धन दिया जाता था। अपनी जोत की जमीन थी, जिसके लिए बहुत-से बैल रहते। मक्की, कोदो, धान, गेहूँ, कलाइ, भटमास, फ़ापर आदि फसल होती थी। स्कूल वहाँ पहिले से था, जिसके लिए रुपया भारत सरकार से भी मिला था। दो सौ से ऊपर छात्र थे और तीन-चार अध्यापक थे। अध्यापकों में दो गोरखपुर के थे। नेवार भी वहाँ काफी थे और वह बिचारी के विरुद्ध थे। एक कप्तान ने गाँव में दूसरा स्कूल खोल दिया, स्कूल का घर भी बनवा दिया। बिचारी पहाड़ी उपाध्याय ब्राह्मण था। सब कुछ रहते भी वह पचीस वर्ष से अन्न नहीं खा सकता था। अन्न खाते ही वमन हो जाता। उसके यहाँ मुक्तिनाथ के यात्रियों को सदावर्त मिलता। लोग कहते–कैसा अभागा है, सब कुछ रहते खा नहीं सकता।–स्वामी जयवर्धन भी उसको देखते रहे, पर अधिक कुछ नहीं कर सके। जाड़ा आ गया और जाड़े के कारण तीन रोज रहकर वहाँ से चल दिए।

19

फिर भारत और पश्चिमी नेपाल (1954 ई.)

लुम्बिनी में एक मास रहे। धम्मालोक स्थानीय भिक्षु थे, पर उनसे पटरी नहीं जमी। सुब्बा बमबहादुर नेवार के साथ बुटौल के अनशन के समय परिचय हुआ था, उनका पालपा में भी घर था। लुम्बिनी जाने पर सवाल आया, नेपाल से परमिट लेकर कहाँ रहना हो सकता है। स्वामीजी परमिट बिना लुम्बिनी चले आए। लुम्बिनी में कुछ ऐसी खटपट हुई कि बँगले में कालीन, फर्नीचर आदि जो कुछ था उसे चौधरी ले गए। इसकी शिकायत स्वामी जी ने की, और उसका फल भी कुछ होता, पर धम्मालोक और चौधरी एक हो गए। उन्होंने कहा—जब तक नेपाल सरकार से परमिट नहीं मिलता, तब तक यहाँ रहना नहीं हो सकता।—अगले दिन भैरहवा पहुँचे। वहाँ का बड़ा हाकिम दार्जिलिंग का मंगर बौद्ध था। उससे कहा—चौधरी हमें रहने नहीं देता।—इस पर बड़े हाकिम ने चिट्ठी लिखवाई—इनके रहने के लिए पलँग, कुर्सी आदि देनी चाहिए।—लेकिन इसका भी कोई फल नहीं हुआ। घुमक्कड़ अक्खड़ तो थे ही, इसलिए जहाँ धम्मालोक और चौधरी एक थे, वहाँ नौतनवा के श्रीनिवास भिक्षु भी उनसे मिल गए। चौधरी ने कहा—हम चिट्ठी नहीं मानते।—भैरहवा चिट्ठी डाक में डाल दी। बड़े हाकिम ने चौधरी को बुलाकर बहुत डाँटा। इस पर भन्ते ने अनशन का महास्त्र हाथ में लिया और पीपल के नीचे बैठ गए। झोंपड़ी भी वहीं तैयार हो गई। सब डर गए। कहा—आप बँगले में ठहरिए, क्यों अनशन करते हैं ?

अनशन का भी ख्याल छोड़ा, वहाँ से चल दिए। जिस दिन चले, उसी दिन या उसके एक दिन बाद बहुत ओला पड़ा। धम्मालोक ने फैला दिया—भन्ते तिब्बत में रहा है, मंत्र-तंत्र बहुत जानता है। देवता से भी बातचीत करता है, उसी के कारण यह ओला पड़ा।

ओला कई दिनों तक रहा। उससे जानवर भी मरे और फसल का भी बहुत नुकसान हुआ। धम्मालोक ने महाबोधि सभा में यही बात कही—जयवर्धन स्वामी गुरु रिंपोछे (पद्म सम्भव) का मंत्र जानता है। उसी ने यह हानि करवाई।—नौतनवा में हितमान सुब्बा के पास पाँच-सात दिन रहे, फिर पालपा, रिडी, प्यूठान, काली के संगम रुद्रवेणी की ओर पहाड़ में चले गए।

भारसे शाम को पहुँचे। मुखिया की आज्ञा बिना कोई ठहर नहीं सकता, यह बात वहाँ मानी जाती। जो भी हो, रात को गिरिप्रसाद के घर में गए। श्रीमती ने सुन्दर गेस्टहाउस में रहने का स्थान दिया, फिर पूछा—हजूर लाई के पाउनु हुन्छ।—स्वामी ने कहा—रात को चाय काफी है। कल सबेरे से पहिले खाना नहीं होगा।—भारसे में गिरिप्रसाद के अपने बगीचे में गोभी, आलू आदि की सब्जियाँ थीं। सबेरे गोभी का साग, दाल और भात का सुन्दर भोजन कराया। चलते वक्त तीन नेपाली रुपया रास्ते के लिए दिए। दो दिन बाद रेसुंग पहुँचे।

रेसुंग—शृंगी ऋषि का स्थान माना जाता, क्योंकि शृंगी और ऋषि का उच्चारण उसमें था। युद्ध शमशेर या जंगबहादुर ने अपने समय में यहाँ बहुत बड़ा मन्दिर बनवाया। पंद्रह हजार सालाना विर्ता लगाया, धर्मशाला और मठ बनवाए। लेकिन इस समय वहाँ ऐसा महन्त था, जिसका नाम परमहंस था, पर सब तौर से 'एक नम्बर लखनौवा' था। उसने शृंगी ऋषि के सामने एक नहीं, अनेक सुन्दरियों का लीलाक्षेत्र बना रखा था। रेसुंग काफी चढ़ के जाना पड़ता था। जंगल में करौंदे का फल मिला, जिससे भूख कुछ शान्त हो गई। (पहाड़ी लोग करौंदे की शराब बनाते हैं)। उसी समय एक ग्वाले ने दही दिया। सचमुच अमृत-सा मालूम हुआ। महन्त के बारे में बहुत प्रसिद्ध था—प्रभु हैं, भगवान हैं।—प्रभु ने स्वामीजी पर यह दया जरूर की कि उन्हें मुट्ठी-भर रुपया दे दिया, जिसमें बीस रुपये थे। नीचे उतरने पर मैदान-सी जगह मालूम हुई।

तमगास—तमगास के बाजार में सात-आठ दूकानें थीं। गणेशमान के पास आसन जमा। गणेशमान के कोई लड़का नहीं था। तीन लड़कियाँ थीं। अगले दिन गिरिप्रसाद भी उनके घर आ गए और उन्होंने स्कूल में सहायता करने के लिए कहा। एक मास पढ़ाया। बिना किसी सरो-सामान के पचास-साठ लड़कों का आना बतलाता था कि लोगों की विद्या में रुचि थी। फिर गिरिप्रसाद ने अपने गाँव भारसे में रखा। वहाँ भी एक मास से

अधिक पढ़ाते रहे। फिर उसे छोड़ तमगास में गणेशमान के पास आ गए। पूर्व चार नम्बर के राई-सुब्बा के घर में स्त्री की आँखें लाल थीं। स्वामीजी ने जड़ी-बूटी लाकर उसे दी और आँखें अच्छी हो गईं। गणेशमान का कहना था–जो भी हो, उनके हाथ में यश है।

इसमा–दो-तीन फर्लांग आगे इसमा के रास्ते पर एक दोतल्ला पौवा (धर्मशाला) था। उसमें रहने का प्रबन्ध किया गया। लड़के भी पढ़ने के लिए जमा हो गए। घर-घर से सीधा लाते और एक लड़का खाना बना देता। दो मास यहाँ पढ़ाया। इसी समय इसमा के इक्कू और दिक्कू दो धनी ब्राह्मणों के बारे में सुना। दोनों ही सगे भाई थे। बड़े इक्कू ने अधिक हिस्सा स्वयं ले लिया था, जिसके कारण दोनों में बड़ी दुश्मनी थी। बड़े-बड़े लोगों ने उसे मिटाने की कोशिश की, पर उसमें सफलता नहीं मिली। इक्कू के दो लड़के थे। बड़े लड़के को पालपा के हाईस्कूल में भर्ती किया। पर वह पढ़ नहीं सका। काठमाण्डू में भर्ती किया, वहाँ भी वह मनमौजी करता। मारा-पीटा, पर कोई परिणाम नहीं हुआ। वह स्वामी जी के पास डींग मारता–मुझे कहीं पढ़ने जाना नहीं है। अब मैं घर में ही पढूँगा।–लड़के की उम्र बाईस-तेईस वर्ष की थी और उसके एक बच्चा भी हो चुका था। छोटा भाई बहुत सुशील था। लड़के ने स्वामीजी से प्रार्थना की–महाराज, हमें पढ़ने की बड़ी इच्छा है। हम घर पर सारा प्रबन्ध करेंगे, हमारे साथ चलिए।

लड़के के यह कहने पर स्वामीजी ने विचार करने के लिए एक-दो दिन का मौका रखा।

वर्षा मूसलाधार हो रही थी। इसमा जाने के रास्ते में जगह-जगह खोले थे, जो बाढ़ के मारे अथाह बन गए थे। दो जगह बहते-बहते बचे। दिन-भर चलने पर भी शाम तक इसमा नहीं पहुँच सके। जंगल में एक गोष्ठ में ठहरना पड़ा। वहाँ खाने-पीने की चीज भी नहीं थी। गर्मी बहुत थी। आगे रास्ते में सुन्दर झरना था, फिर इक्कू का घर पास में था। जाते ही नहाने का प्रबन्ध हुआ। डेढ़ मील पर घर था जहाँ भोजन बनाया गया। मध्याह्न में भोजन कर सो गए। रिडी, पालपा, धुपकोट कहीं जो पढ़ नहीं सका, उस लड़के को पढ़ाना था। लड़का पूछने पर कहने लगा–मैं चार क्लास पढ़ा हूँ।–किताब मँगवाने पर घबड़ा गया। उसे लाना नहीं चाहता था। छोटा भाई मुस्कराने लगा। फिर बहुत सारी किताबें लाया। मालूम हुआ, किसी से जाली चौथी क्लास का सर्टिफिकेट ले लिया है। पहिली किताब से डिक्टेशन बोलने पर पता लग गया कि वह कुछ नहीं जानता। उसने कहा–मुझे और कुछ नहीं चाहिए। बस लघुतम-महत्तम सिखा दीजिए।–हिसाब दिया मामूली, दो घण्टे लगाए और कुछ नहीं बनाया। फिर वही रटन–मुझे लघुतम-महत्तम सिखा दीजिए।–फिर वह तमगास की ओर भाग गया। छोटा लड़का बड़े प्रेम से पढ़ता था। उसका मन भी पढ़ाई में लगता था। इसी समय घर में भैंस ब्याई। नीचे दूध देनेवाली पाँच-छह भैंसें दिखाई पड़ती थीं। आज भैंस जोर से चिल्लाई। देखकर ध्यान उधर आकृष्ट हुआ। छोटे लड़के ने बतलाया–पाड़ा ब्याई है।

–पाड़ा ब्याई तो क्या ?

–पाड़ा ब्याने पर उसे सर्की (चमार) को दे दिया जाता है।

–सर्की को दे दिया जाता, क्या मतलब ?

–सर्की उसे मारकर खा जाता। इसीलिए सर्की को पाड़ा देने पर भैंस चिल्लाती है।

यह सुनते ही स्वामीजी डण्डा उठाकर सर्की की ओर दौड़े। सर्की भाग गया। स्वामीजी ने कहा–अभी पाड़े को भैंस के सामने डाल दो। वह छटपटा रही है।–स्वामी के सामने एक नई बला दिखाई पड़ी। ब्राह्मण और बड़े लोग भी पाड़े को मरवाते हैं। सारे नेपाल में यह हो रहा है। इक्कू अकेले वैसा नहीं करता, सारे ब्राह्मण करते हैं। स्वामी वहाँ से उठकर चल दिए।

धुपकोट–आधे दिन के रास्ते पर नेवार साहु के लड़के को पढ़ाने के लिए मास्टर चाहिए था। उसने तमगास में स्वयं इसके लिए कहा था। चलो उसी तरफ। दरिया के सामने पहुँचे। धूप में तबीयत परेशान थी। भूख भी लगी थी। नदी पार चढ़ाई, रास्ते पर घर आया। घर की स्त्री ने परिचित की तरह व्यवहार किया। नीचे गुदड़ी और कम्बल बिछा दिया। प्यास लगी हुई थी। पहिले ही मट्ठा आया। और क्या चाहिए था ? भोजन बनाने का सवाल आया। स्वामी ने कहा––हम तो बना-बनाया खाते हैं।–भोजन बना और खूब स्वादिष्ट।

चलते वक्त एक रुपया बच्चे के हाथ में थमा दिया। नेपाल में ऐसा रिवाज है, ऐसा न करने में धर्म बिगड़ जाता। एक तरफ इक्कू से नाराज होकर आए थे और दूसरी तरफ इसी घर की वहू उसकी बेटी थी।

दरिया पार दो नौजवान आ रहे थे। बड़ी गर्मी लग रही थी। दोनों लड़के भी बैठ गए। इन लड़कों में एक इक्कू का दामाद था, उसी लड़की का पति और दूसरा भतीजा था। न मानने पर भी दोनों अपने साथ ले गए। बढ़िया कलमी आम पके हुए थे। चाकू से काटकर खिलाया। पाँच-छः आम में पेट भर गया। शाम को इसमा पहुँच गए। घर पहाड़ पर था। नीचे बहुत लम्बी पशुशाला थी, जिसमें पाँच-छह भैंसें दूध देती थीं। नीचे पशुओं के लिए घर था और ऊपर सुन्दर भवन आदमियों के लिए। अच्छा भोजन थोड़ी देर में तैयार हुआ। देहरादून का चावल न जाने कैसे आया। रात को भोजन कराया, फिर हुक्का सामने लाया। लेकिन स्वामी जी हुक्का नहीं पीते थे।

दिक्कू छोटे भाई थे इक्कू के। यह उनका घर था। आँख, पैर हाथ सब देखने में देवता जैसे मालूम होते थे। पता नहीं लगता था कि यह इक्कू का भाई है। घर में डेढ़ हजार मूरी धान पैदा होता था। (एक मूरी एचास-पचपन सेर की होती है)। पद्म शमशेर के पाले में, यह हिस्सा भाई को मिला। जवानी में छोटा भाई दिल्ली-बम्बई की हवा खाता रहा। जब लौटकर आया, तो बड़े भाई ने बहुत लोगों को अपनी ओर कर लिया था। छोटे ने मुकदमा किया। कुछ कब्जा मिला, पर जितना चाहता था, उतना नहीं। सरकारी अफसर भी बड़े भाई के सामने कुछ नहीं कर सकते थे। सत्रह वर्ष से दोनों का झगड़ा चल रहा था।

इस बार दूसरे भाई के चार लड़कों को पढ़ाने का काम भन्ते ने शुरू किया। तीन सौ रुपया महीना देने का वचन दिया। दिक्कू बड़ा लम्बा-चौड़ा जवान था। हर दूसरे दिन बकरा मारा जाता, और सारा साफ कर डालता। बन्दूक ले जंगली मुर्गियाँ मारता। पेट-भर बकरा खाकर कुम्भकर्ण की तरह नौ-दस बजे दिन तक सोता रहता। उसकी पाँच स्त्रियाँ थीं, जो पाँच जगह रखी हुई थीं। उसके अपने ही बच्चे बहुत थे। सबको पढ़वाना चाहता था। दोनों भाइयों में इतनी दुश्मनी थी कि कभी एक जगह नहीं रहते थे। मुकदमे के सिलसिले में कभी रिडी, कभी तमगास और कभी पालपा रहते।

सेवा के लिए दो नौकर रख दिए और स्वामीजी वहीं बैठ गए। इक्कू और दिक्कू दोनों हथियारबन्द रहते। उनके साथ आगे-पीछे बन्दूकधारी चलते। कभी दिक्कू कहता—हमें उससे बदला लेना चाहिए।—खेत में तम्बू लगाकर बैठा होता। दिक्कू रात को अपने लोगों की बैठक करता। एक मंगर को उसने मुगलान (अंग्रेजी राज) भेज दिया और स्त्री से दावा करवाया कि मेरे पति को जान से मारकर फेंक दिया। नाम बदलकर अब वह मुगलान में था। चिट्ठी भी उसकी जब-तब आती थी। उस आदमी की लाश भी खुदवाकर ला दी, जिसे मुगलान में भेजा था। अब गिरिप्रसाद की जगह तराई का कुंदन बाबू गवर्नर होकर आया। कुंदन बहुत पढ़ा-लिखा और बात समझनेवाला था। दिक्कू और इक्कू के मामले ने अब नया रुख लिया।

पालपा के तरफ जंगल में दिक्कू अपना खेत बनाना चाहता था। स्वामीजी को भी कहा—आप भी वहीं जंगल में रहें।—दिक्कू ने घोड़े के झोलों में कई बंडल नोट के बाँधे। यह भी मालूम हुआ कि उसने दो साल का टैक्स नहीं दिया, इसलिए इतने नोट जमा किए। पहाड़ में नीचे का रास्ता गर्म होता है और लीक (रीढ़) का रास्ता ठण्डा। स्वामीजी को दिक्कू ने बताया कि हम लीक-लीक के रास्ते चलेंगे, वहाँ ठण्डक रहती है। स्वामीजी को रहस्य का कोई पता नहीं था। उन्होंने लीक-लीक चलने का प्रस्ताव स्वीकार किया। रिडी के ऊपर काली नदी के पास जंगल में आए। बुटौल में उसके नौकर ने एक झोंपड़ी बना रखी थी। उसमें डेरा डाला। बुटौल में उसने खान खुदवाने की भी बात की। स्वामीजी ने जब उपासक-जनों के पास ले जाने की बात कही तो कहा—नोट की यहाँ चेकिंग होती है।—नोट के लिए उसने शायद कहीं घूस भी दी, फिर नौतनवा पहुँच गए। नौतनवा में पुलिस ने रोका पर वहाँ से भागकर निकल गया। रात को नौतनवा में ठहरे, फर्स्ट क्लास का टिकट ले दूसरे दिन रेल से गोरखपुर पहुँचे। उस वक्त उसने कहा—भगवान, मैं काठमाण्डू मुकदमे के लिए जा रहा हूँ। बुटौल के ऊपर के जंगल बहुत सुन्दर हैं, वहीं आपके लिए कुटी बनवाऊँगा। आपके पैसों का हिसाब सारनाथ में करूँगा।

कृष्णमोहन वर्मा, गांडा के वकील, वहीं मिल गए। इसी समय मनीबेग निकालकर उसमें दिक्कू ने रुपये डाल दिए और तुरन्त दूसरी ओर चला गया। कृष्णमोहन के साथ स्वामीजी बीस-पच्चीस मिनट बात करते रहे, फिर रिफ्रेशमेन्ट रूम में चले गए। कृष्णमोहन के परिचय का भी विचित्र इतिहास है। लंका के यात्री आए थे, जिसमें एक के पास पान-सुपारी कूटने का इमामदस्ता था। कृष्णमोहन के पिता को दाँत न होने से ऐसे इमामदस्ते की बड़ी जरूरत थी। यह बात कहने पर स्वामीजी ने उनके पास इमामदस्ता भिजवा दिया।

गोरखपुर से स्वामीजी सारनाथ गए। वहाँ देखा कि सब नकली नोट हैं। नकली नोट और हमारे हाथ में ! यह किसी दूसरे आदमी ने हमारे हाथ में दिए। जरूर दिक्कू का यह काम है। नकली नोट को तो उसी वक्त जला दिया। फिर सोचा, दिक्कू को इसका बदला चखाना होगा।

बुटौल में उसी घर में आए, जिसमें दिक्कू ठहरा था। स्वामीजी वहीं ठहरे, और अपने एक परिचित से सारी बात कही। पूर्णमान गुभाजू कार्यकारी गवर्नर था। क्या करना चाहिए, इसमें उसकी सलाह ली। उसने कहा–उसे पकड़वा दें।–स्वामीजी ने कहा–उसको पकड़वाना नहीं, बल्कि लज्जित करना चाहिए।

चार दिन बाद दिक्कू आ गया। पर जैसे देखा नहीं, इस तरह उसका बर्ताव रहा, फिर देखकर आया–भगवान, पधारें, इतने दिनों की देर हो गई। मैं चिट्ठी नहीं लिख सका।–यह कहकर वह जंगल की ओर घूमने के लिए ले गया।

स्वामीजी ने कहा–तुमने हमारे साथ ऐसा क्यों किया ? क्यों नकली नोट हमें दिए ?

–नहीं, भगवान, हमने आपको नकली नोट नहीं दिए। दूसरे किसी ने डाल दिए होंगे।

अन्त में स्वीकारा; उसने कहा–तीन सौ रुपया महीना मुझे आपको देना है। रुपया देकर क्षमा माँगूँगा। अभी मेरे पास डेढ़ सौ रुपये हैं। बाकी घर से लाने के लिए आदमी भेजता हूँ।

–मुझे रुपया नहीं चाहिए।

–नहीं, मैं दूँगा, मैं आदमी भेज रहा हूँ।

17-9-1956 को उसने उनसे यह कहा और अगले दिन बारह बजे भाग गया। उसने स्थानापन्न गवर्नर की दूकान से बारह रुपये का काँच का आबखोरा लिया, उसका भी दाम नहीं दिया। सबेरे बहुत तड़के उठने की स्थानापन्न गवर्नर की आदत थी। तीन बजे उठकर गणेश की घण्टी बजाई। उस समय देखा, दिक्कू का पता नहीं था। मगर नौकर ने कहा–शाम के चार बजे आ जाएगा।–चार बजे नहीं आया। स्वामीजी को मालूम था, तमगास गया होगा। पालपा के रास्ते वह चल पड़े और उसी दिन आठ-नौ बजे रात को तमगास पहुँच गए। वहाँ जाते-जाते रबर का जूता समाप्त हो गया।

गणेशमान की दूकान में गए। उन्होंने वैसी हालत में देखकर पूछा–भन्ते, कहाँ से आए ?

–आज पालपा से।

–आज पालपा से निकले ? घोड़े पर आए क्या ?

–नहीं, हमारे अपने दो घोड़े हैं।

गणेशमान के आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहा।–कौन-सी ऐसी बात हुई ?

–ऐसी ही जरूरी बात है। एक आदमी इसमा के लिए दीजिए।

–इसमा के लिए एक आदमी मिलना मुश्किल है। दिक्कू तो यहाँ जेल में पड़ा है। इक्कू-दिक्कू दोनों पिंजरे में बंद हैं। कुन्दन ने सचमुच कमाल कर दिया।

–क्यों, पहिले तो इक्कू-दिक्कू के मारे लोग परेशान थे। किसी को कुछ बोलने की हिम्मत नहीं थी ?

–नहीं, बड़े हाकिम ने लोगों में जोश भर दिया। लोगों ने आकर सारी मुसीबतें बतलाईं, कैसे उनसे सूद-दर-सूद लिया जाता था।

भन्ते एक घण्टा चुप लेटे रहे। अब आगे करना ही क्या था। जिसके पीछे आए थे, वह पहिले ही जेल में बंद है। हाकिम स्वयं चाहता है कि सबूत मिले।

सबेरे शौच आदि से निवृत्त हो हाकिम के सहायक के घर गए। देखा, सामने भीड़ लगी है। हाकिम मैदान

में बैठे सवाल पूछ रहा है। लोग अपने कष्टों को बतला रहे हैं। सूद का धान काट लेने का अत्याचार, दो मूरी अनाज लेने का अत्याचार, सारी रिपोर्ट हाकिम के पास लिखी जा रही है। हाकिम ने सुरक्षा कानून के अनुसार घोषणा करा दी है।

दोनों छिपने की कोशिश करते थे, लेकिन सफलता नहीं मिली। भन्ते ने भी जाकर अपनी बात सुनाई, कैसे जाली नोट दिए। हाकिम ने कहा–यदि वह जाली नोट आज होते, तो बड़े काम आते।–यह भी कहा कि हमको तीन सौ रुपये महीने पर काम पर लगाया था। दूसरे दिन हाकिम ने फिर बुलाया।

आज कुर्सी बाहर पड़ी थी। हाकिम के हाथ में चाबुक था। वह बड़ी गम्भीर मुद्रा में था और बात-बात में कल के दोनों बहादुरों को 'साला और बदमाश' कह रहा था। भन्ते की बतलाई हुई बात को जब हाकिम ने कहा, तो दिक्कू बोल उठा–भगवान, क्या चाहिए ?

हाकिम ने कहा–स्वामीजी कहो। जाली नोट की बात बतलाओ।

दिक्कू बहुत परेशान था। परेशान होने की बात ही थी। उसने कहा–हम सब पैसा दे देंगे।

–हम पैसा वसूल करना नहीं चाहते।

–भगवान, आदमी घर गया है। वह सब पैसा लेकर आएगा।

–हाँ, वह पैसा ले आएगा और लघुतम-महत्तम पढ़नेवाला लड़का भी सब कर देगा।

लघुतम-महत्तमवाली बात सब जगह फैल गई।

इसका एक नतीजा यह हुआ कि पिंजरे में बन्द दोनों भाइयों ने आपस में समझौता कर लिया। दोनों की दुश्मनी खतम हो गई। तुलसी-शालिग्राम उठाकर उन्होंने वहीं शपथ खाई कि आपस में अब दुश्मनी नहीं करेंगे।

भन्ते बुटौल आए और कुछ दिनों बाद बोधगया गए, फिर दूसरे तीर्थ में रहे।

20
भारत में (1956 ई.)

स्वामीजी बनिया-बसाढ़ अपनी यात्रा में पहुँचे। बनिया-बसाढ़ बुद्ध काल में महा गणराज्य था। बुद्ध ने कितनी ही बरसातें वहाँ बिताई थीं। गणों के प्रति उनकी सहानुभूति थी। ऐसे स्थान से स्वामी जयवर्धन का भी विशेष प्रेम होना ही चाहिए। 1956 के आसपास किसी समय वहाँ राष्ट्रपति या नेहरूजी आनेवाले थे, स्वामी जी ने अपने बनिया के सेवकों को कहकर तेरह कट्ठा (13 बिसवा) जमीन वहाँ दान ली। राष्ट्रपति या नेहरू जी वहाँ नहीं आए। उस समय मोटर से हाजीपुर से गए थे। चापालचैत्य मुसलमानों का मकबरा माना जाता था। मुसलमान इस बात को जानकर बौद्ध भिक्षु से विशेष सम्बन्ध रखना चाहते थे। एक बर्मी भिक्षु पाँच-छह महीने बनिया में रहे। एक दिन मुसलमानों के घर में गए। किसी ने खाने के लिए कहा। बर्मा-भिक्षु बर्मा में भी मुसलमानों के हाथ का खाना खाते हैं, इसलिए यहाँ भी खा लिया। यह बात बनिया गाँववालों को मालूम हुई। उन्होंने भिक्षु को कहा–तुम्हें प्रायश्चित्त करना होगा।–प्रायश्चित्त में गोमूत्र, गोबर, गंगाजल का विधान था। भिक्षु ने उसे कर लिया, क्योंकि गोमूत्र और गोबर भिक्षुओं की दवाइयों में हैं। प्रायश्चित्त करके वह हँसता था–शुद्ध हो गया ! कैसा शुद्ध हो गया !

इसके बाद स्वामीजी बसाढ़ में पहुँचे। बसाढ़ में एक धनी आदमी था। उसके लड़का नहीं था। वह इसके लिए महात्माओं की सेवा करता। स्वामीजी से उसने विनती की। आदमी बड़ा मक्खीचूस था। स्वामी ने कहा–बच्चा पाना मुश्किल है। बहुत जबर्दस्त संयम करना पड़ेगा। मास-भर पूरा ब्रह्मचारी रहना पड़ेगा। उपवास करना, मछली-मांस न खाना, रात को केवल दूध-फल लेना–ऐसा संयम करना होगा। हम दो यंत्र तैयार करके देंगे,

उनको रखना होगा। महीने-भर कौआ बोलने से पहिले करौंदा पोखर में स्नान करना होगा।

इन सबके अतिरिक्त जड़ी-बूटी मँगवाकर यज्ञ भी करवाया। सात संन्यासी या ब्राह्मणों को शुद्ध घी का पूरी-पूआ खिलवाया। जाड़े के दिन थे और करौंदा पोखर में नहाना आसान काम नहीं था, पर आरत को सब कुछ करना पड़ता है। यह सब करने के बाद स्वामीजी बनिया चले गए। पीछे धनी के बच्चा पैदा हुआ और इस तरह एक नहीं, तीन बच्चे। स्वामीजी की महिमा का क्या कहना !

बनिया में अब स्वामी जी का आसन जमा। वहाँ भी दुःख-सुख के पूछनेवाले बहुत थे, बनिया और बसाढ़ दोनों की आपस में होड़ थी। बसाढ़वाले यदि भिक्षुओं को रखते तो, बनियावाले भी रखना चाहते। इसी पर प्रतिद्वंद्विता में तेरह कट्ठा जमीन बनियावालों ने दी। और दाम लेकर दूसरी जमीन भी मिल सकती थी। कुसीनारा के चन्दा बाबा भी जमीन चाहते थे, पर उन्हें नहीं मिली। जमीन में किसी नेता से आधारशिला नहीं रखवा वहाँ एक कच्ची कुटिया बनवाई। टीन डलवाने का भी संकल्प था। राष्ट्रपति या नेहरूजी तो नहीं आए, पर बिहार के मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण बाबू महोत्सव के लिए आएँगे, इसकी आशा थी, पर वह भी नहीं आए। 1956 में बुद्ध की पच्चीसवीं शताब्दी मनाई गई। उसमें लोगों ने खर्च किया, पर कुछ नहीं हुआ। 1958 में मालूम हुआ कि स्वामीजी से असन्तुष्ट हो लोगों ने महाबोधि सभा के नाम जमीन की रजिस्ट्री करा दी।

नुजु एक अच्छी जगह थी, जहाँ बड़े-बड़े विद्वान रहते थे। स्वामीजी वहाँ एक बार गए। वहाँ के एक विद्वान से पहिले ही (1924-25 में) परिचय था। वहाँ के प्रमुख से भी उनका परिचय हुआ। प्रमुख को दूसरों से भय था। स्वामीजी के पास अपना भय बतलाया। स्वामीजी ने कहा—आप निडर रहिए, पंचशील अपनाकर किसी से दुश्मनी मत कीजिए। सबमें समता रखिए। सब ठीक हो जाएगा।—सचमुच सब ठीक हो गया। बड़े-बड़े लोग विरोध पर तुले हुए थे, उनका किया कुछ नहीं हुआ। प्रमुख स्वामीजी पर बहुत श्रद्धावान हो गए—यह सब आपका आशीर्वाद है।—वह स्वामीजी को अपना अतिथि बनाना चाहते थे। इस पर स्वामीजी ने अपने एकान्त और ध्यान-भावना की बात कही। घर के पास ऐसी जगह मिल गई। वह अपनी पत्नी को सबेरे ही ताकीद करते—देखो, सबेरे ओवल्टिन मत भूलना। मिठाई भी रहे।—पत्नी खर्च से घबराती थीं, इस पर पति डाँटकर कहते थे—हलवा बनाओ, पूरी बनाओ, खूब सेवा करना।

उधर पुराने परिचित एक विद्वान् को भी स्वामी जी से बहुत आशा थी। वह भी इनके भाग्य भाखने से सन्तुष्ट थे। इस परिवार में भी स्वामीजी का वैसा ही सम्मान था। स्वामी जी देख रहे थे, प्रमुख और उनके शिष्य-सहायक मुँह पर प्रशंसा करते पर पीछे एक दूसरे की शिकायत करते। एक तीसरे विद्वान वहाँ रहते थे। वह भी स्वामीजी के प्रति सम्मान दिखाने में किसी से पीछे नहीं थे, क्योंकि उन्होंने भी स्वामीजी की भविष्यवाणी का चमत्कार देख लिया था। तीनों ब्राह्मण बौद्ध और जैन धर्म माननेवाले थे, पर जहाँ तक भविष्यवाणी का सम्बन्ध था, तीनों एक दूसरे का कान काटने को तैयार थे। प्रमुख की और समस्याएँ हल हो चुकी थीं। वह चाहते थे कि उनका कार्यकाल एक साल और बढ़ जाए। स्वामीजी की भविष्यवाणी से वह भी हो गया। वह जानना चाहते थे कि उनका लड़का कैसे पास होगा। स्वामीजी ने कहा फर्स्ट क्लास फर्स्ट होगा, और सचमुच वह वैसा ही पास हुआ।

स्वामी जी ने जो भविष्यवाणी की, वह तीनों आदमियों को मालूम हो गई। तीनों के मन में इससे बड़ी श्रद्धा पैदा हो गई। वहीं बहुत-से विद्यार्थियों के बारे में भविष्यवाणी की, जो सफल रही। एक तिब्बती अध्यापक के ब्याह करने की जो भविष्यवाणी की, वह तो सचमुच अद्भुत थी। स्वामीजी ने जिसकी लड़की से शादी होनेवाली थी, उसे भी बतला दिया। अध्यापक सचमुच अष्टावक्र था, पर उसे अच्छी लड़की मिली। स्वामीजी ने अध्यापक से कहा—इसी वक्त जाओ, शादी तुम्हारी हो जाएगी, नहीं तो वह लड़की दूसरे के पास चली जाएगी।—अध्यापक छुट्टी लेकर कलकत्ता चला गया। वहीं साली के पास लड़की मौजूद थी और शादी हो गई।

एक विदेशी भिक्षु के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की—सजग रहो, तुम्हारे दुश्मन बहुत हैं।—वह भी ठीक रही।

पश्चिमी नेपाल में गर्मी में रहकर नवम्बर महीने में दार्जिलिंग पहुँचे और चार दिन वहीं रहे। एक भक्त

ने भोजन खिलाया, जिसमें मछली भी थी। नेपाल में थे, तभी उनका सिर गरम था। दार्जिलिंग में भोजन में रुचि नहीं थी। पेट साफ नहीं रहता, और सिरदर्द बढ़ गया। वहाँ के स्थानीय भिक्षु कलकत्ता जा रहे थे, उन्होंने चाभी स्वामीजी को दे दी। पन्द्रह दिन तक वहीं रहते हुए गर्म पानी में स्नान करते रहे। देखा, पेशाव पीला, आँखें पीली हैं और रात को दीखता नहीं। सारे शरीर का रंग पीला हो गया। तब तक उनके भक्त-प्रमुख भी आ गए थे। दो-चार दिन और बीतने पर बीमारी और भी बढ़ी। उसी दिन मोटर में स्वामीजी को अपने स्थान में लाए। वैद्य ने देखकर कहा—यह हमारे बस की बात नहीं। इन्हें अस्पताल ले जाना चाहिए। उसी समय वहाँ से सात-आठ मील दूर एक अस्पताल में ले गए।

डॉक्टर बहुत होशियार निकला। उसने कहा—हम इनको मरने नहीं देंगे।—प्रमुख ने रहने के लिए निजी क्वार्टर का प्रबन्ध किया। डॉक्टर हर रोज दोनों वक्त आता। कहने को कह दिया कि हमलोग आते रहेंगे, लेकिन भक्त लोगों की श्रद्धा भी रोज-रोज नहीं होती। खर्च और दवा के लिए पैसा दे दिया। फिर प्रमुख कलकत्ता चले गए। डॉक्टर शाम-सवेरे इन्जेक्शन देता रहा। उसने कहा था, मिर्च बिल्कुल नहीं खाना, और मिर्च सिंहल के लोगों की बड़ी प्रिय चीज है। अभी आँख का पीलापन बिल्कुल दूर नहीं हुआ था कि स्वामीजी ने एक ब्राह्मण को इसके लिए तैयार किया। डॉक्टर ने भी समझ लिया स्वामी होटल के मांस में हरी मिर्च खाते हैं। किसी तरह बीमारी अच्छी हुई। डॉक्टर की दवा के लिए पचास रुपये दिए। डाक्टर ने कहा—डालडा घी, मांस-मसाला मत खाना। उबले साग पर ज्यादा रहना।—प्रमुख स्वामीजी के इन्कार करने पर भी अपने पास ले गए। उन्होंने एक चश्मा, एक कम्बल और दूसरी चीजें खरीद दीं।

सन् के बारे में कहना बहुत मुश्किल है। अपने बहत्तर वर्ष के जीवन को भन्ते ने कभी नोट करके नहीं रखा। इसीलिए समय का आगे-पीछे हो जाना स्वाभाविक है। 1957 में स्वामीजी नेपाल में थे। पालपा से रिडी हो वह रुद्रवेणी पहुँचे। एक-दो सप्ताह वेणी में रहे, गिरिप्रसाद से मुलाकात की। घर में औरत बहुत बीमार थी। जड़ी-बूटी की दवा दी। सिर का दर्द सबसे असह्य था। जड़ी-बूटी को कूटकर सिर पर बाँध देने पर नींद खूब आई और सिर का दर्द जाता रहा।

वोर्मी टकसाल पहिले गुलमी की राजधानी थी, वहाँ नेपाली सिक्कों की टकसाल थी। गाँव में दो-ढाई हजार घर थे, जिनमें थकाली महाजन भी थे। बोर्मी होते प्यूटान जाना पड़ता। वर्षा का मौसम था। स्वामी जी रुद्रवेणी जानेवाले थे कि एक श्रेष्ठ नेवार ने रोक लिया—महाराज, थोड़ा विश्राम कीजिए। आज हमारे यहाँ भोजन करके जाइए। खाने का समय है।

पश्चिमी नेपाल में भन्साघर (रसोई) मकान के सबसे ऊपरी मंजिल पर होता है, जिसमें उस पर छुआछूत न लगे। भोजन ऊपर बना। खाने के लिए उन्हें सबसे गन्दे बराण्डे में ले आए। स्वामीजी ने पूछा—आप ऐसी गन्दी जगह भोजन करते हैं ? क्या आप हमें दमाई और सर्की समझते हैं ?

—महाराज क्षमा कीजिए।

इसके बाद साफ-सुथरी जगह ले जाकर भोजन कराया।

वहाँ से कुछ दूर एक पौवा (धर्मशाला) में जाकर बैठे। लोगों से पूछने पर मालूम हुआ, यहाँ स्कूल नहीं है। टकसाल हटा ली गई है। पुलिस चौकी है, पढ़ाने का कोई प्रबंध नहीं। स्वामीजी ने आने-जानेवालों से कहा—आज शाम को बाजार है। इष्ट-मित्रों को बुलाओ और सभा करो। दिन भी अच्छा है। शुक्रवार है।—सभा हुई।

एक-एक करके दस-पन्द्रह लड़के जुट गए और पाँचवीं क्लास तक की पढ़ाई होने लगी। साहु लोग मदद करने लगे। स्वामीजी की पाठशाला खुल गई। पंचशील को प्रार्थना में स्थान दिया, जिससे किसी को विरोध नहीं था। वहाँ एक आम का बाग था, जिसमें दो मंजिला मकान बना हुआ था। स्वामीजी ने कहा—इसी में स्कूल ले चलो, इसे साफ करो। लेकिन आम के बगीचे को लोगों ने पाखाना बना दिया था। स्वामीजी को वहीं लक्ष्मीप्रसाद नामक एक बहुत मुस्तैद मास्टर मिल गया। वह सब काम में सहायता करता था। उसने दस-बारह लाल कपड़े के टुकड़े काटे और उन पर लिख दिया—यहाँ पेशाव-पाखाना करना नहीं। यहाँ विद्या का प्रचार

है।—आम के पेड़ों में दस-बारह जगह वे टुकड़े टाँग दिए गए। पाखाना बन्द हो गया। विद्यार्थियों में अनुशासन कायम करने के लिए स्वामी ने नियम बना दिया—लड़के छुट्टी होने पर लाइन बनाकर जाएँगे और यह कहते कि हमारे बगीचे में पेशाब-पाखाना नहीं करना होगा।—लोगों में बहुत उत्साह था। लड़के धड़ाधड़ बढ़ते जा रहे थे। स्कूल की नये मकान बनाने की भी तैयारी होने लगी। आसपास में कई गाँव में स्कूल खोलने थे, जिसका केन्द्र यहाँ होता। इसी समय एक विघ्न खड़ा हुआ। बाजार में एक जबर्दस्त पियक्कड़ गुण्डा रहता था, जिससे सब लोग डरते थे। पालपा, पोखरा, प्यूठान के बीच गोपाल श्रेष्ठ जैसा गुण्डा कोई नहीं था। पुलिस भी उससे घूस लेकर छोड़ देती। सिपाही का हाथ-पैर तोड़ डालने के लिए उसे बीस साल की सजा हुई थी। दस साल जेल में रह भाग आया। अब खुलेआम अपने घर में रहता। पिये होने पर वह झगड़ा करता। उसे लड़कों का अनुशासन और आम के बगीचे की सफाई पसन्द नहीं आई। वह स्वयं रात को पाखाना फिर आता। इस पर स्वामीजी ने कहा—मक्की का डंठल घर-घर से लाओ और पाखाना का यज्ञ जलाओ। डंठल हिला-हिलाकर जलाओ, और पाखाना करनेवाले को श्राप दो।

गोपाल श्रेष्ट जैसे स्वयं गुण्डा था, वैसे ही उसके लड़के भी थे। गोपाल ने यह भी दावा किया कि बगीचा हमारा है। उसे जाकर काटो। इसमें एक वहाँ का प्रधान भी उसके साथ हो गया। उसने गोपाल को भड़का दिया—झगड़ा करो, स्कूल बन्द हो जाएगा।—एक दिन पीकर वह आया और चिल्लाने लगा। लोग जमा हो गए। वह किसी-किसी को लात से भी मारने लगा। लोगों में कुछ भाग गए, लेकिन तीन आदमी बाँस चीरकर झोंपड़ी तैयार करने के फिक्र में थे। गोपाल ने उनसे खुकुरी छीनना चाहा पर उन्होंने देने से इन्कार कर दिया।—देखो गोपाल भाई, ऐसा नहीं करना चाहिए। कलह नहीं करो।—इस पर उसने दस-बारह हाथ का बाँस उठा लिया। बाँस काटनेवाले ने भी डंडा उठा लिया। दोनों गुत्थम-गुत्था हो गए। कुल्हाड़े का डंडा पकड़कर स्वामीजी ने खूब पीटा। गोपाल उठ नहीं सका। उसके भाई भी मदद करने नहीं आए। इतनी मार पड़ी थी कि कई दिन घर में जाकर पड़ा रहा। उसकी दोनों औरतें मालिश करतीं।

इधर लड़के तैयार हो गए कि हम तमगास जाकर गोपाल की रिपोर्ट करेंगे। गोपाल डर गया। लड़के कहना चाहते थे कि सरकार स्कूल नहीं खोलती और जब हम स्कूल खोलते हैं तो गुण्डा बदमाशी करता है। लोगों ने देखा, लड़के स्वामीजी के कहने पर चल रहे हैं। तमगास जाने पर सरकार को जरूर फिक्र पड़ेगी। स्वामीजी किसी की बात नहीं मानते थे। फिर लोगों ने स्त्रियों से कहा—तुम्हारी विनती जरूर मंजूर करेंगे स्वामीजी। एक-एक गुच्छा फूल का रख प्रार्थना करो। लड़कों के ऐसा-वैसा कुछ करने पर सरकार नाराज हो जाएगी, इसलिए वे नहीं जाएँ।—दो-तीन दिन बाद गोपाल को भी उन्होंने भेजा और उसने आकर प्रार्थना की—मैं उस समय पिये हुए था। मुझे माफ़ कर दीजिए।—स्वामीजी ने उसे माफ किया। इतना जबर्दस्त गुण्डा सीधा हो गया, यह कम नहीं था।

इस पर अब मुखियों का भाव दूसरा हो गया। देखने लगे, स्वामीजी की बात चलेगी और लड़के उनके सहायक होंगे, तो हमारी कोई बात नहीं रहेगी। इधर स्वामी ने स्कूल के लड़कों को सैनिक तौर से संगठित किया। रात को जब घण्टी लगती, लड़के चले आते। एक बार रात को नौ बजे घण्टी बजी तो सारे लड़के ज़मा हो गए। आकर देखा, कहीं कोई नहीं है। फिर स्वामीजी ने कहा—जाओ, हम तुम्हारी परीक्षा ले रहे थे।—बारह बजे रात को भी घण्टी बजाने पर वही बात हुई।

स्कूल के प्रेसिडेण्ट और वाइस प्रेसिडेण्ट में मतभेद हो गया। उनकी तस्वीर बनाकर लड़के निकले 'उपद्रवी मुर्दाबाद, उपद्रवी का सत्यानाश, महेन्द्र विद्यापीठ जिन्दाबाद !' इस विद्यालय का नाम राजा के नाम पर महेन्द्र विद्यापीठ रखा। यह भी एक बड़ी चीज थी। एक दिन प्रधान की लड़की ने प्रधान की दूकान से काला कपड़ा खरीदा।—काले कपड़े का क्या होगा ?—पूछने पर लड़की ने जवाब दिया—बाजे (आप) के विरुद्ध जुलूस निकलेगा।—काला झण्डा निकालने का हल्ला हो गया और यह भी मालूम हुआ कि खुद बाजे की लड़की ने काला कपड़ा खरीदा है। न देने पर लड़की ने खाना छोड़ दिया और एक हाथ कपड़ा लेके ही रही।

दोनों ओर मामला बहुत उग्र हो गया। इलाके के कांग्रेसी नेता ने भी देखा कि स्वामी दूसरी जगह से

आकर यहाँ इतना हावी हो गया। लोगों ने नेता को ही निपटारे के लिए बुलाया। उसने स्वामीजी से कहा—आप तो त्यागी पुरुष हैं। आपको झगड़े से क्या मतलब।

उधर पुलिस अपने हाथ में कर लड़कों को पकड़कर जेल में डलवा दिया। लड़के डर गए। इस प्रकार यह एकता वहीं समाप्त हो गई। स्वामीजी के अब यहाँ रहने का मतलब नहीं था। इस प्रकार चार-पाँच मास के बाद स्कूल छोड़ना पड़ा और स्वामीजी वहाँ से रवाना हो पालपा, बुटौल होते कुसीनारा पहुँचे।

21

शिमला-रामपुर (1959-60 ई.)

फिर रामपुर जाने का विचार आया। पहिले उसके लिए शिमला गए। वहाँ काँगड़ा के सुनार अमरचन्द से परिचय हुआ। स्वामी की भविष्यवाणी सुनकर सुनार को वहुत विश्वास हुआ। उसके घर में बीमारी थी, भूत-पिशाच का भय था। स्वामीजी ने घर को साफ कराया। घर में मांस-मछली नौ दिन तक नहीं आनी चाहिए। इसके बाद परित्राण-देशना कराई। परित्राण का जल हर घर में छिड़का गया। निवासस्थान घर से दो मील एकान्त पहाड़ में था। सुनार वहाँ खाना ले जाता। वहाँ भी रहना पसन्द नहीं था, लेकिन भगत को शीवली यंत्र बनाना था। यंत्र को कागज पर लिख दिया, जिसे सुनार ने चाँदी के पत्र पर उतार लिया। कस्तूरी मोती आदि के साथ उसे डब्बे में रख गले में बाँध दिया। स्वामी ने बतलाया—शत्रु ने कुछ कर दिया था, लो अब साफ हो गया।—हाथ में रत्नयंत्र भी सिद्ध करके बाँध दिया। अब कोई भूत-पिशाच पास नहीं आ सकता।

रामपुर को चले। अमरचन्द ने रामपुर का टिकट कटवाकर मोटर पर बैठा दिया। जाने का इरादा लबरंग (कनौर) तक था, पर रास्ता अभी ठीक नहीं था। रामपुर में मोहनलाल नेगी मिले। सरकारी ठेका था, अस्सी हजार रुपया इंजीनियर ने उसके ऊपर निकाला था। बड़े परेशान थे। उन्होंने अपना दुःख कहा। स्वामीजी ने बतलाया—छह महीने में तुम्हारा रुपया मिल जाएगा।—उनको जपने का मन्त्र बतला दिया। मोहनलाल ने स्वामी को गुरु बना लिया। उनका काम पहाड़ के ऊपर, नौ मील तक, लगा था, जहाँ से शिमला का रास्ता पहाड़-पहाड़ सराहन जाता था। अपने गाँव में ले जाकर पन्द्रह-बीस दिन रखा। घर में जाने पर औरतों ने कहा—भीतर जूता नहीं लाना चाहिए, यहाँ देवता नाराज हो जाएगा।

स्वामीजी ने कहा—हम जूता ले जा सकते हैं, हमको सभी देवताओं ने हुक्म दे रखा है। जो देवता रक्षा नहीं करते, लोगों को तकलीफ देते हैं, ऐसे देवता को हम पहाड़ की चट्टान पर बैठा देंगे और नया देवता लाएँगे, जो रक्षा करेगा।

घर में तकलीफ थी। स्वामीजी ने बतलाया—मुर्गा-मुर्गी नहीं काटना, अखरोट के पास देवी है। वह मदद करेगी।—अखरोट की देवी को जगा दिया। थोड़ा-सा दूध डालकर चिराग बालना, यही उसकी पूजा थी।

शिमला में फिर अमरचन्द सुनार के पास गए। छोटे भाई ने मैट्रिक पास किया था और उसको कोई नौकरी नहीं मिल रही थी। तीन महीने में नौकरी मिलने की भविष्यवाणी की।

अब नवम्बर का महीना आ गया। स्वामीजी नालन्दा आए। चन्द्रशेखर विद्यार्थी ने गेस्टहाउस में किसी को न आने देने का जिम्मा लिया। नालन्दा में महीने-भर रह राजगिरि में जापानी मंदिर में महीने-भर रहे। सोनभंडार, गृध्रकूट आदि में घूमते रहे। कभी शाम को श्मशान में भी अनित्य भावना करते। अँधेरे में उन्हें बैठा देख लोग समझते कि मुर्दा खानेवाला अघोरी जोगी है।

राजगिरि में भोटिया लोग तम्बू लगा के बैठे थे। स्वामीजी जठियाँव जाना चाहते थे, जो बुद्ध के समय पुनीत स्थान था। पता लगा, वहाँ स्वाभाविक गुफा है, जिसमें पाँच सौ आदमी बैठ सकते हैं। गुफा पहाड़ के ऊपर है। गुफा के बाहर बहुत बड़ा चबूतरा है। दो-तीन मील पर गरम पानी का चश्मा है, जिसमें चार धाराएँ

निकलती हैं। सफाई कोई नहीं करता, इसलिए कीचड़ बहुत है। स्वामीजी अकेले जठियाँव जाने के लिए तैयार हुए। भोटिया लोगों ने पूछा–कहाँ जा रहे हैं ?–स्वामीजी ने जठियाँव का नाम लिया और उसका विवरण सुनाया तो वे लोग भी चलने के लिए तैयार हो गए। मोटर से जा सकते थे, उन्होंने मोटर-किराया देना स्वीकार किया। स्टेशन पर मोटर ढूँढ़ने गए, तो ठेकेदार ने पचास-साठ रुपये माँगे।

–वाजिब लो, इतना दाम क्यों करते हो ?

–इसमें कम नहीं होता, यही वाजिब है।

राजगिरि से स्टेशनमास्टर परिचित थे, उन्हें कला से भी प्रेम था। उनको जाकर कहा।

–चलिए वन्दोवस्त कर देते हैं।

बाजार गए, और दूसरे आदमी के जिम्मे लगा दिया। उससे तीसरे ने जिम्मेवारी ले ली।

मोटर देखकर बयाना देंगे।

पाँच रुपया बयाना दिया। दूसरे दिन सबेरे साढ़े सात बजे चलने का वादा किया। सारा किराया तीस रुपया होता। रात को जापानी मन्दिर में रहे। सबेरे खबर आई, मोटर आ गई। देखा, वह तो कूड़ागाड़ी है, बहुत रद्दी। उसी पर बैठने के लिए कहा। भोटिया लोग पहिले ही जाकर बैठ गए, और कहा–चलिए इसी पर चलें।–देखा, आधा पेट्रोल जमीन पर गिरा है। बड़ा बुरा लक्षण दिखाई पड़ा। कैसे यह मोटर वहाँ तक पहुँचेगी ?

पहाड़ के किनारे-किनारे तीन घंटे तक चले। एक खेत के किनारे बुद्ध-मूर्ति कुर्सी पर धर्मचक्र-मुद्रा में देखी। छोटी मूर्तियाँ भी कई थीं। बड़ी मूर्ति का हाथ टूटा हुआ था। वह काले पत्थर की थी, अर्थात् पाल-काल की। भोटिया लोगों ने धूप जलाया। गाँव के आदमी दौड़े आए। मोमबत्ती और पैसा ले जाने के लिए। गाँव के लोग बहुत गरीब नहीं थे। खपड़े के मकान थे। दो-तीन दूकानें भी थीं। ब्राह्मण, बनिया, कायस्थ लोगों की बस्ती थी, जिनके लम्बे-चौड़े शरीर को देखकर पठान याद आते थे। वहाँ ताड़ी भी बिक रही थी। भोटियों में कुछ कलिम्पोंग के रहनेवाले थे, जो हिन्दी बोल सकते थे। उन्हें ताड़ी पीने की आदत थी। वे ताड़ी पीने लगे। गाँव में डिस्पेंसरी और स्कूल भी था। डॉक्टर बंगाली थे, बंगला में स्वामीजी ने बातचीत शुरू की। डॉक्टर ने कहा–लंका में बंगाल से लोग गए थे, इसीलिए बंगला बोलते हैं। स्वामीजी, हमारी डिस्पेंसरी को पवित्र कीजिए।–पवित्र करते समय चाय बनाने और गर्मागर्म कचौड़ी और मिठाई खिलाने का प्रबन्ध किया। चाय-पान के बाद डॉक्टर ने एक लड़का साथ कर दिया। मोटर वहीं पहाड़ के किनारे छोड़ दी। रास्ता पुराना दो मील तिरछी चढ़ाई का था, सारा पहाड़ जंगल से ढँका था। बाहर बहुत बड़ा चबूतरा था, फिर गोल गुफा थी। दाहिने-बाएँ कुछ फाटक-सा मालूम होता था। गुफा के भीतर अँधेरा था। भोटिया लोगों को विश्वास हो गया कि यही संगीत का स्थान है, जहाँ बुद्ध-उपदेशों का पाठ किया गया था।

कुछ देर पाठ करने के बाद अब लौटे, तो मोटर स्टार्ट नहीं होती थी। ढकेलने पर भी कुछ नहीं हुआ। पेट्रोल ही नहीं था, इसलिए चले कैसे ? ड्राइवर और क्लीनर भी नौसिखिया थे। 'चलो पैदल चलें' कहकर चले, तो आधा मील चलने के बाद मोटर स्टार्ट हो के आ गई। राजगिरि तीन-चार मील रह गया, जब एक चढ़ाई की जगह आई। मोटर में ब्रेक भी नहीं था, खड़े होने पर क्लीनर पत्थर रख देता, जिससे मोटर पीछे न घूमे। लेकिन जहाँ भूमि बिलकुल समतल थी, वहाँ मोटर उलट गई। ड्राइवर और क्लीनर साफ निकल गए। बाकी लोग बीच में पड़े रहे। एक बारह-तेरह वर्ष की लड़की चिल्ला रही थी।–बाला-बाला !–तीन औरतें और दो मर्द बड़ी खतरनाक जगह मोटर में फँसे थे। कोई निकल नहीं सकता था। दरवाजे पर लात मारकर खोला। स्वामीजी का चीवर दब गया था। वह फट गया। एक भोटिया नौजवान बाहर निकल आया लेकिन उसका सिर फट गया था, जिसे चीवर से पोंछकर तौलिया से बाँध दिया। एक दूसरे मर्द का बायाँ हाथ घायल हुआ और एक औरत का भी सिर फूटा। जो लड़की रो रही थी, उसको कोई चोट नहीं थी।

अप्रैल का महीना था, सब पानी-पानी चिल्ला रहे थे। ड्राइवर और क्लीनर का पता नहीं था। जूता भी स्वामीजी के पैर में नहीं था। वह नंगे पैर एक बजे दिन को धूप में चले। सोनभण्डार के पास फारेस्ट बँगले

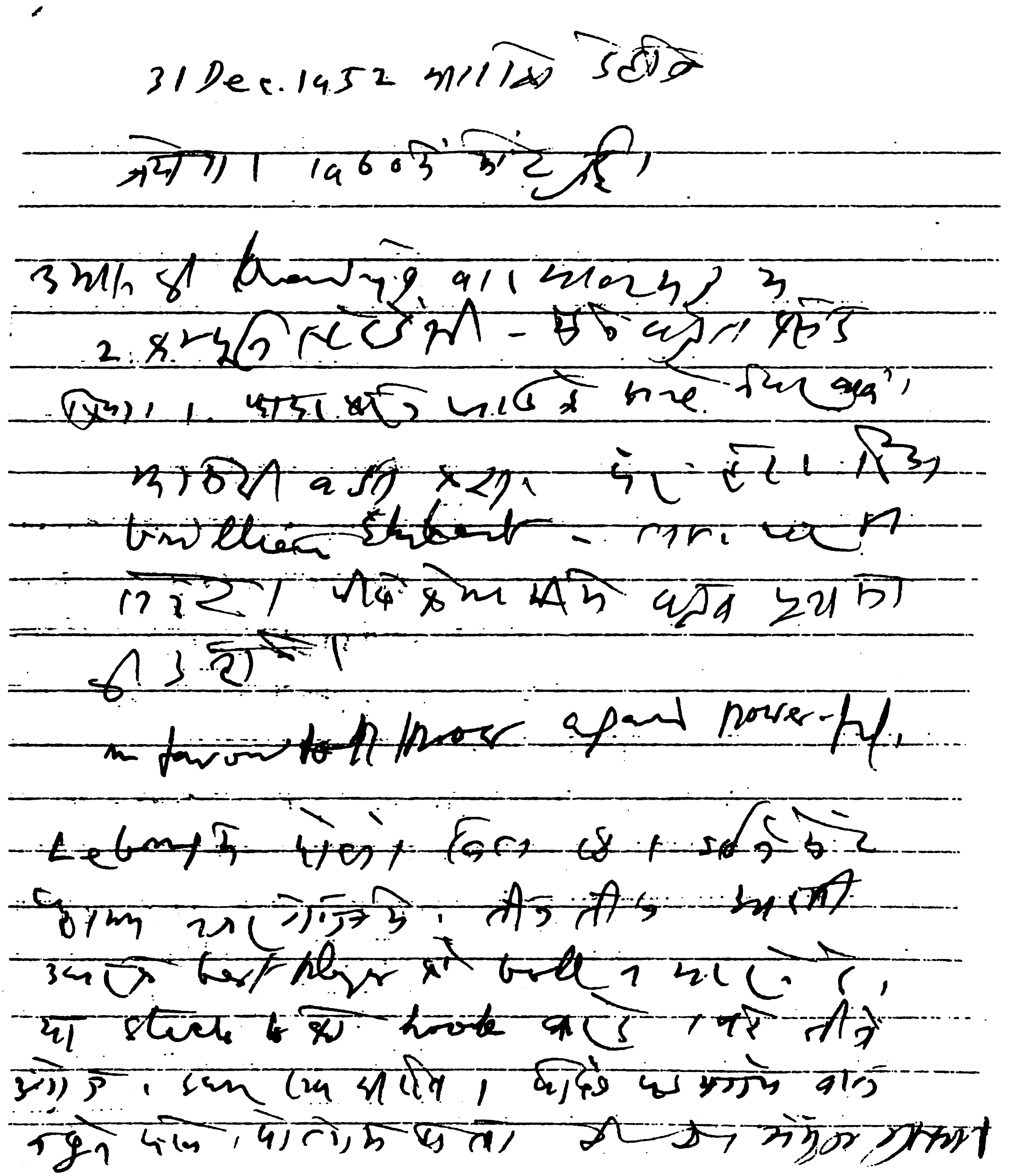
में गए। रेन्जर देखकर आया। दम फूल रहा था, दौड़े जो आए। कुर्सी पर बैठाया और पानी मँगवाया। लोटा-भर पानी पी लिया, फिर दूसरा लोटा भी। बतलाया—मोटर उलट गई। साथी सब घायल हैं। तिब्बती लोग हैं, बहुत ठण्डी जगह के। पहिले पानी सबको भेज दीजिए।—रेन्जर ने बाल्टी में पानी भरकर भेजा।—मैं स्वयं जाता हूँ साइकिल पर मोटर की जगह, मोटर लाता हूँ।—इसी बीच भोटिया लोग भी चलकर वहाँ पहुँच गए। पानी पिलाया। फिर डॉक्टर और पुलिस के पास भेजा। जो ज्यादा घायल थे, उन्हें रिक्शा पकड़कर अस्पताल पहुँचाया। मरहम-पट्टी हुई। पुलिस ने कहा—बिहार शरीफ अस्पताल में जाना होगा।—कन्ट्राक्टर, ड्राइवर सब फँसनेवाले थे। पुलिस ने लोगों को मुकदमा चलाने के लिए रहने को कहा। भोटिया लोग परेशान थे। वे समझते थे, यहाँ रहेंगे तो गर्मी के मारे मर जाएँगे। वेणुवन होटल में सात दिन किसी तरह बिताए। इन्जेक्शन और मरहम-पट्टी चलती रही। दुर्घटना की खबर अखबारों में भी छप गई। लेकिन भोटिया लोग गरमी देखकर कलिम्पोंग चल दिए। मुकदमा जहाँ का तहाँ रह गया।

अमरचन्द सोनार ने अपने घर की कठिनाइयों को बताते हुए स्वामीजी के पास पच्चीस रुपये भेजे और वह अप्रैल में शिमला चले गए। अमरचन्द को फिर तावीज बनाकर देना पड़ा। बुद्ध-जयन्ती के दिन (वैशाख पूर्णिमा) को रामपुर पहुँचे। मोहनलाल ठेकेदार वहाँ से अपने गाँव ले गए। फिर चार मील पैदल चलकर कोट गढ़ गए। शिमले में एक ही रात ठहरे। फिर अम्बाला, लखनऊ, सिलीगुड़ी होते हुए जून के आरम्भ में खरसाँग में कृपालु एन. बी. लामा के यहाँ ठहरे। 1958 में भी दो-तीन मास रहे थे।

दार्जिलिंग 1960 के जून में ही पहुँचे। एन. एम. लामा ने उन्हें चिट्ठी लिखी। तमंग ने अपने यहाँ रहने के लिए कहा। दस दिन रहे। इधर स्वामीजी का पेट खराब हो गया था। तमंग घर पर नहीं थे, लेकिन उनकी दीदी ने कहा—आप यहीं रहें।—स्वामीजी को वहाँ दो बातों की तकलीफ थी। घर में काटनेवाले कुत्ते थे जो अचानक कूद पड़ते। दूसरी बात की जो तकलीफ थी, वह था गन्दा पाखाना। उन्होंने सौ रुपये मासिक पर कूचबिहार के बँगले में जगह ठीक की, पर अपने ऊपर सौ रुपया महीना किराया खर्च करवाना स्वामीजी को पसन्द नहीं था। वह वहाँ से खरसाँग चले गए। फिर हिमालय बुद्ध एसोसिएशन की मीटिंग में दार्जिलिंग आए, तो शिवकाली बरुआ ने वर्षावास यहीं करने का आग्रह किया। लेकिन जिस घर में उन्हें जगह दी, उसमें एक सिगरेट पीनेवाले भिक्षु को भी स्थान दे दिया। कहाँ बचपन में चुरुट पीने के स्वामीजी कितने शौकीन थे, कहाँ अब उससे इतनी नफरत थी कि उसका धुआँ बर्दाश्त नहीं होता था। वहाँ रहते ही मुझे अपनी कथा उन्होंने सुनाई। पर उसे पूरा नहीं कर सके और तमंग के घर में जाकर रहते हुए अपनी सारी कहानी पूरी की।

टप्पा (बंग बाबू के लड़के) दार्जिलिंग में स्वामी जी के सबसे बड़े सहायक थे। सोनम् तोबगे (रिनक) 1946 में उनके सहायक थे। घूम-निवासी एम. बी. थापा की कृपाओं के भी वे बड़े कृतज्ञ हैं।

कप्तान लाल



जीवन-लेखन के लिए कप्तान लाल से लिये गये साक्षात्कार का एक अंश

1

जसवन्तचन्द्र का जन्म एक विचित्र सांस्कृतिक वातावरण में हुआ। उनके पिता राजा पृथ्वीचन्द्र लाल चौधरी (जन्म 1886 ई.) तीन पीढ़ी पहिले दिल्ली प्रांत के रहनेवाले थे। नेपाल और अंग्रेजों की लड़ाई में उन्होंने अंग्रेजों की सैनिक रसद के ठेके का काम किया और उसी सिलसिले में बिहार के पूर्णिया जिले में बस गए। व्यापारिक प्रवृत्ति के आदमी थे। उन्हें पूर्णिया की जमीन व्यापार की दृष्टि से और रुपये-पैसे के लेन-देन के लिए भी अच्छी मालूम हुई, और वे वहीं बस गए। उनकी तीसरी पीढ़ी में राजा पृथ्वीचन्द्र लाल चौधरी पैदा हुए, जिनका जन्म 1886 ई. के आसपास हुआ था। पिता-पितामह ने अपरिमित सम्पत्ति अर्जित कर दी थी, जिसमें काफी (13 लाख) आमदनी की जमींदारी भी थी, और वे बड़े जमींदारों में गिने जाते थे। जमींदारों के अलावा खेती (बकाश्त) भी इतनी अधिक थी कि जिससे उनके यहाँ साल में इतना अधिक अन्न उपजता था, जितना किसी अन्य जमींदार के पास नहीं होता होगा।

पूर्णिया, जान पड़ता है, प्राचीन पुंड्रवर्धन के पुंड्र का बिगड़ा हुआ रूप है। सम्भवतः यहाँ पौंडा गन्ने की खेती अच्छी रही होगी, इसलिए बंग देश के उत्तरी भाग में अवस्थित इस भू-भाग का पुंड्र नाम पड़ा। वहाँ की भूमि बहुत उर्वर रही है। धान की उपज भी बहुत होती, और अंग्रेजों के सम्पर्क से मक्का भी यहाँ पहुँचा, तो पूर्णिया मक्की के एक-एक पौधे में तीन-तीन बालों के लिए मशहूर था। इसके साथ ही बिहार का यह सबसे पूरब का जिला मलेरिया और कालाजार के लिए भी बदनाम है। पिता-पितामह ने धन-सम्पत्ति अर्जन करना अपना कर्तव्य समझा। परन्तु राजा पृथ्वीचन्द्र लाल उसका उपयोग करना भी जानते थे। जवानी में लगा घुड़दौड़ का शौक आज भी उनका वैसा ही है और नेत्रहीन होने पर भी दार्जिलिंग के लेबोंग की घुड़दौड़ देखने आते हैं। पहिले तो कलकत्ता और कहाँ-कहाँ घुड़दौड़ों में भाग लेने जाते थे, जिनमें उनके अपने घोड़े होते थे।

यद्यपि राजा साहब के दादा पूरे पछिमा थे और दिल्ली प्रांत से आए थे, राजा साहब के खून में भी दिल्ली के कुरुओं का रक्त था। इसलिए मर्यादा के भीतर रहते वे खान-पान-व्यवहार में मुक्त थे। पिता-पितामह का अंग्रेज शासकों से दूर का ही भक्ति का सम्बन्ध था, पर राजा पृथ्वीचन्द्र उनकी भाषा, उनके समाज सबसे सुपरिचित और घुल-मिल गए थे।

कुमार जसवन्तचन्द्र लाल की माता एक तरह भारतीय भी थीं और कोचीन (केरल) की भी। कोचीन की एक अहिन्दू सुन्दरी तरुणी राजा पृथ्वीचन्द्र लाल की प्रेम-भाजन हुई। यह सुयोग कलकत्ता में मिला। लड़की अभी कम उम्र की थी, इसलिए इस प्रेम में माता-पिता का योग भी रहा होगा। लड़की अत्यन्त सुन्दरी थी और राजा साहब ने उसे हिन्दू बना अपनी रानी के तौर पर स्वीकार किया। 29 दिसम्बर 1911, शुक्रवार का दिन था, जबकि जसवन्तचन्द्र का कलकत्ता में जन्म हुआ। उस समय राज्याभिषेक के लिए इंग्लैंड के राजा जार्ज तथा मेरी कलकत्ता में आए थे। तोपों से उनकी सलामी दग रही थी, उसी समय जसवन्त का जन्म हुआ। उसके दो बरस पहिले बड़े भाई विक्रमचन्द्र (विक्टरचन्द्र) का जन्म हुआ था। 'लाल चौधरी' मूल पुरुष के समय

से ही सरकारी कागजों में लिखा जाता था। वह बात इन दोनों भाइयों के साथ भी हुई और वे जसवन्तचन्द्र लाल चौधरी, विक्रमचन्द्र लाल चौधरी कहलाए।

पूर्णिया में नजरगंज में राजा साहब का अपना महल था। महल से दो सौ गज पर एक वहुत बड़ा बाग था, जिसमें बाघ, चीता, भालू पिंजड़ों में पालकर जंतु-संग्रहालय बना दिया था। दोनों लड़कों के रहने का इंतिजाम उसी बागवाली कोठी में हुआ। एक अंग्रेज गवर्नेस उनकी शिक्षा के लिए रख दी गई थी, जो अंग्रेजी भाषा और रहन-सहन सिखलाती थी। बगीचे से कुछ ही दूर पर स्वाभाविक महावन था। रात के समय जब पिंजड़े के बाघ नाद करते, तो कभी-कभी जंगल के भी प्रतिनाद करते। एक रात जसवन्त ने जँगले से बाहर देखा, तो वहाँ एक बड़ा-सा बाघ मुँह चिंघाड़ने में लगा हुआ था। जसवन्त डर गए, लेकिन जँगले में सींखचे लगे थे, इसलिए डरने की आवश्यकता नहीं थी। उस वक्त उनकी उम्र चार बरस से ज्यादा की न होगी।

बूढ़ा खानसामा (मुसलमान) बच्चों के साथ रहता, उन्हें तरह-तरह की कहानियाँ सुनाता, जिसमें भूतों और प्रेतों की भी काफी होतीं।

राजा साहब की प्रथम रानी जाति की हिन्दू थीं, जो अपनी सौत के लड़के जसवन्त को बहुत प्यार करती थीं। माँ के बुलाने पर वे उनके पास जाते, नहीं तो बड़ी माँ के ही साथ रहते। बड़ी माँ को 'बड़ी माँ' कहते और माँ को 'मम्मी'। जब दोनों बच्चे पाँच-छह बरस के हो गए, तो राजा साहब को बच्चों को पढ़ाने का ख्याल आया। और साहबी बातों में कोई कसर न रह जाए, उसके लिए कलकत्ता में एक यूरोपियन परिवार में रख आए। उस परिवार में माता-पिता, दो लड़के और दो लड़कियाँ थीं। उसी समय प्राट मेमोरियल स्कूल में पढ़ने के लिए भर्ती कर दिए गए। यह स्कूल लड़कियों का था : लेकिन छोटे लड़कों को भी एक-दो क्लासों में ले लेते थे। उसके बाद सेंट जेवियर स्कूल में भर्ती कर दिए गए।

प्राट स्कूल में एक साल पढ़ते रहे थे। वह यूरोपियन परिवार हिन्दुस्तानियों से घृणा करनेवाला एक एंग्लो-इंडियन परिवार था। बड़े भाई को बड़ा मास्टर कहते। वह छड़ी छोड़ किसी दूसरी चीज से बात ही न करता। माँ-बाप ने लड़कों को सिखाने की सारी जिम्मेवारी उन्हीं के ऊपर दे दी थी। परिवार स्वयं रोमन कैथोलिक था और चाहता था कि लड़के भी पक्के कैथोलिक हो जाएँ। घर (पूर्णिया) आने पर हिन्दू वातावरण मिलता, राजा साहब कुमारों को धोती पहनाकर पूजा में ले जाते। रानी भी हिन्दू थीं ही। वह साड़ी में अनिन्द्य सुन्दरी महाश्वेता जान पड़तीं। जसवन्त की बड़ी माँ का अपना कोई लड़का न था, सिर्फ एक लड़की थीं, जिसका ब्याह मोतिहारी के बाबू भगवानप्रसाद चौधरी के यहाँ हुआ था। उसके बाद बड़ी रानी के जो सन्तानें हुईं, वे मरती गईं। बड़ी माँ का जनवरी 1945 में देहान्त हुआ। जसवन्त बहुत दिनों तक उन्हीं को अपनी माँ समझते थे। उनका नइहर पटना में था और वे पटना की 'मगही' बोलती थीं। 1914 में राजा साहब ने दानापुर की लड़की से शादी करके उसे अपनी छोटी रानी बनाया, जिसे जसवन्त 'छोटी माँ' कहते।

साल में दो बार लड़के कलकत्ता से छुट्टी में घर आते, जिसमें एक अवसर दुर्गापूजा होता। 1922 में वे तीसरे स्टैंडर्ड में पढ़ रहे थे। जब माँ और राजा साहब कलकत्ता आते, तो लैण्डो गाड़ी में घूमने जाते। ईडन बाग में लड़के खूब खेलते। सेंट जेवियर स्कूल ले जानेवाली बस पहिले घोड़े से चलती थी। एक बार जसवन्त ने देखा कि धूप में गर्मी के मारे बस का एक घोड़ा एकाएक जमीन पर गिरकर छटपटाने लगा और थोड़ी देर में मर गया। इसके कुछ समय बाद मोटर आ गई।

एंग्लो-इंडियन परिवार में दोनों भाई कसाई के सामने बछिया की तरह थे। घर में नौकर की तरह उनसे काम लिया जाता। बर्तन साफ करते थे, बूटपालिश करते थे। माँ हलवा और दूसरे अच्छे-अच्छे खाने बनाकर बच्चों के पास भेजती। पूर्णिया के अपने बाग से कलमी आम और लीचियों की टोकरियाँ आतीं। बड़ा मास्टर उनमें से कोई चीज उन दोनों को खाने को न देता। वह सब कुछ अपने-आप खा जाता, या डाली लगाकर अपने परिचित साहब लोगों के पास भेजा देता। जसवन्त और विक्रम तरसते रह जाते। बड़े मास्टर ने सिखा रखा था कि घर में पूछने पर कहना कि सव पकवान मिला, अच्छी तरह खाया। जसवन्त और विक्रम को

मालूम था कि यदि कोई शिकायत बड़े मास्टर के बारे में माँ-बाप से की, तो छड़ी से बात करेगा, इसलिए झूठ बोलना पड़ता।

पूर्णिया के डॉक्टर सेन राजा साहब के परिवार के डॉक्टर, बल्कि घर के व्यक्ति जैसे थे। राजा साहब ने उनकी बड़ी सहायता की थी और रहने के लिए मकान दे दिया था। वे एक दिन कलकत्ता आए। स्कूल में जाकर पूछा तो मालूम हुआ कि विक्टर (विक्रम) एक हफ्ते से स्कूल नहीं आया। रास्ते में स्कूल की बस में जसवन्त को अकेला देखा। पूछा, "विक्रम कहाँ है ?" जसवन्त ने बतलाना न चाहा, पर डॉक्टर रोन को सब बात मालूम हो गई। पूर्णिया लौटकर राजा साहब से कहा कि एंग्लो-इंडियन साहब परवाह नहीं करता; लड़कों को यूँ ही छोड़ देता है। वैसे लड़कों को यूँ ही छोड़ने की बात नहीं थी। उनसे डटकर खूब काम लेते थे। यूँ जरा-सी बात पर पीटते। माँ को मालूम हो गया कि लड़कों के भेजे फल-पकवान वे अपने-आप ही खा जाते थे और उनके हाथ कुछ नहीं पड़ता था।

1921 में उस परिवार में से लड़कों को निकालकर एक दूसरे यूरोपियन परिवार ब्रीजेस के यहाँ दो साल रखा। इस परिवार ने उनसे अच्छी तरह वर्ताव किया। पहिले परिवार का बड़ा मास्टर चाहता था कि विक्रम और जसवन्त पूरे रोमन कैथोलिक हो जाएँ। उनका रंग काफी सफेद था, इसलिए वे अपने-आपको अंग्रेज भी कह सकते थे। इसी खयाल से बड़े मास्टर ने उनके हिन्दू नाम को छिपाकर जेम्स लायल (James Lyall, जसवन्त लाल) और विक्टर लायल (Victor Lyall, विक्रम लाल) स्कूल-रजिस्टर में लिख दिया था। बड़ा मास्टर हिन्दुस्तानियों से और हिन्दुस्तानी नामों से सख्त नफरत करता था। पर राजा साहब अपने बच्चों पर खूब खर्च करते थे, इसलिए उन्हें घर में रखना उनका काम था। हिन्दी बोलने में भी लड़कों को बहुत कठिनाई होती, क्योंकि बड़ा मास्टर साहवों की हिन्दी बोलना पसन्द करता था। लड़के जब घर जाते, तो पूजा-त्योहार में कुर्ता-धोती पहनकर जाते। बड़ी माँ और घर के नौकरों से पूर्णिया की हिन्दी बोलने का मौका मिलता। वे अपने को एंग्लो इंडियन नहीं, हिन्दू समझते थे। ब्रीजेस परिवार में आने के पहिले ही से उनको सेंट जेवियर हाईस्कूल में भर्ती कर दिया गया। इसमें दो साल विताए।

यूरोपियन परिवार में दो वर्ष रखने के बाद माँ ने देखा कि बच्चों को अच्छी तरह रखने के लिए साथ में कलकत्ता में रहना अच्छा होगा। 1924 में जसवन्त को बुखार आने लगा। पूर्णिया मलेरिया और कालाजार के लिए वदनाम था। डॉक्टर हीरालाल बसु को देखने के लिए बुलाया गया। वे कुनैन का इंजेक्शन देने लगे। टेम्प्रेचर देखने से मालूम होता था कि कोई नहीं, तो भी डॉक्टर बसु कुनैन का इंजेक्शन देते जाते थे। तब राजा साहब ने मेडिकल कॉलेज के अध्यापक डॉक्टर बर्नाडो को बुलाया। चुपचाप चारपाई पर पड़े लड़के को देखते ही डॉक्टर ने कहा, 'के. ए.' (कालाजार)। जसवंत की हड्डी-हड्डी रह गई थी। सारी पसलियाँ दिखाई पड़ती थीं। चेहरा काला पड़ गया था।

उस समय डॉक्टर यू. एन. ब्रह्मचारी को बंगाल सरकार ने कालाजार के अनुसंधान पर लगाया था। डॉक्टर बर्नार्डो के कहने पर डॉक्टर ब्रह्मचारी को बुलाया गया। डॉक्टर ब्रह्मचारी भी चेहरे को देखते ही 'के. ए.' बोल उठे। यह सुनकर माँ का धीरज छूट गया और रोने लगीं। उसी समय डॉक्टर बसु कुनैन का इंजेक्शन देने आए। डॉक्टर ब्रह्मचारी ने पूछा, "किसका इंजेक्शन दे रहे हो ?"–"कुनैन का।" इस पर उन्होंने रायबहादुर डॉक्टर हीरालाल बसु को बहुत डाँटा, "जानते हो, यह मलेरिया नहीं है, यह कालाजार है, चेहरे का रंग देखने ही से पता लग सकता था और जब कुनैन का कोई असर नहीं दिखता, तो उससे भी समझ सकते थे, तो भी कुनैन के इंजेक्शन देते जा रहे हो ?"

डॉक्टर ब्रह्मचारी ने कालाजार का एंटीडौट (दवा) यूरिया स्टिवामाइन का आविष्कार किया था। अभी इस दवा को आदमी पर उन्होंने प्रयोग नहीं किया था। बेटा जीवन और मृत्यु के बीच में झूल रहा था। उन्होंने कहा, "राजा साहब, आपका लड़का जिस अवस्था में है, उसमें मैं अपनी दवा का प्रयोग करना चाहता हूँ। पर, उसे अभी आदमी को नहीं दिया गया है। कोई अनिष्ट भी हो सकता है। आप लिखकर इजाजत दें, तभी मैं दवा दूँगा।"

राजा साहब मौत के मुँह में पड़े बेटे को जीवन की आशा से वंचित कैसे रखते ? उन्होंने लिखकर इजाजत दे दी।

डॉक्टर ब्रह्मचारी ने डॉक्टर बसु को नस में इंजेक्शन देने की विधि बतलाई। पाँच-छह मास के बाद इंजेक्शन का प्रभाव दिखाई देने लगा और जसवन्त खतरे से बाहर निकला। उस समय कालाजार के मुँह में गया आदमी काल के मुँह में गया समझा जाता था। पूर्णिया में सैकड़ों की तादाद में लोग मर रहे थे। जसवन्त से भी माँ-बाप आशा छोड़ बैठे थे। लेकिन ब्रह्मचारी के इंजेक्शन ने प्राणदान दिया। कालाजार में सूरज के उगने के समय तापमान बढ़ने लगता है। मध्याह्न में सबसे अधिक तापमान होता है। इसके बाद गिरते-गिरते संध्या को तापमान शून्य रह जाता है। सारी रात बुखार का कहीं पता नहीं रहता। सूर्योदय से फिर तापमान बढ़ने लगता है। नर्सें चौबीसों घण्टे देखती रहतीं। माँगुर मछली, आलू और भात खाने को देते। उन्हें खाते-खाते जसवन्त को इस खाने से नफरत हो गई। दस मास की चिकित्सा के बाद ज्वर हट पाया। डॉक्टर ब्रह्मचारी ने स्थान बदलने के लिए सलाह दी और जसवन्त पूर्णिया चला गया।

उसी समय डॉक्टर ब्रह्मचारी की दवा की ख्याति हुई। सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि दी। ब्रह्मचारी का इंजेक्शन पाँच-छह बार के इस्तेमाल में कालाजार हटा देता।

पूर्णिया जाने पर जसवन्त को बड़ी भूख लगती, उधर इंजेक्शन दिया जाता और इधर खाना तैयार रखा रहता। सूखी ठठरियों पर बड़ी जल्दी मांस और चर्बी चढ़ने लगी। तेरह बरस में जसवन्त का नया जीवन प्रारम्भ हुआ।

1926 ई. में राजा साहब रानीजी के साथ यूरोप घूमने गए। जमींदारी का अंग्रेज मैनेजर उनका सेक्रेटरी था। इटली, जर्मनी, फ्रांस देखते इंग्लैंड पहुँचे। इंग्लैंड की घुड़दौड़ मशहूर थी। राजा साहब उससे वंचित कैसे रहते ? घुड़दौड़ का आनंद लेते रहे।

2

1929 से 1931 तक दो साल दोनों भाई दार्जिलिंग के मशहूर सेंट पाल स्कूल में पढ़ते रहे। वैसे भी दार्जिलिंग से अपरिचित नहीं थे। गर्मियों में राजा साहब सपरिवार दार्जिलिंग जाते, जहाँ गर्मी में वहाँ की ठंडक से लाभ उठाते, वहाँ लेबोंग की घुड़दौड़ में भी शामिल होते। सेंट पाल दार्जिलिंग में जल पहाड़ पर है। यहीं 1929 में भर्ती होने के लिए वे सेंट जेवियर से स्कूल सर्टिफिकेट लेने गए, तब मालूम हुआ कि दोनों भाइयों का नाम जेम्स लायल और विक्टर लायल है। खैर, सेंट पाल में असली नाम से दाखिल हुए। और दो बरस बाद 1931 में ग्यारह वर्ष की आयु में सीनियर कैम्ब्रिज पास हुए।

1931 में वे कलकत्ता के सेंट जेवियर कॉलेज में भर्ती हो गए। सात-आठ महीने बीते, फिर पिता जाड़े में पूर्णिया ले गए। पिता को घोड़ों का बहुत शौक था। आस्ट्रेलिया से बड़े-बड़े घोड़े मँगाते। उनको फेरने का काम सवार लोग करते। पोलो खेलना भी उन्हें पसन्द था। नजरगंज (पूर्णिया) की पोलो टीम कलकत्ता तथा दूसरी जगह खेल खेलने जाती। मई में टीम को लेकर दार्जिलिंग जाते। लेबोंग में खेल खेलते। इसी समय राजा साहब ने दार्जिलिंग में अपना अस्तबल 'बनवाया' था, जिसमें घुड़दौड़ के घोड़े रखते।

पिता हिन्दुस्तानी थे और इसमें शक नहीं कि उन्होंने हिन्दू-हृदय पाया था। रानी भी उनके विचारों के अनुकूल थीं। पिता के परिचितों और दोस्तों में बड़े-बड़े अंग्रेज अफसरों की संख्या ज्यादा थी, जिनकी खातिर के लिए भोज, नाच और काकटेल पार्टियाँ बराबर होती रहतीं। 1933 से 1937 तक के चार साल जसवन्त इस कार्य में मदद कर देने में लगे रहे। पढ़ना-लिखना बन्द, पर घुड़दौड़ और घोड़ों के शौक ने उनके शरीर को हृष्ट-पुष्ट बना दिया। उनके बड़े भाई विक्रम ने भी कॉलेज पढ़ना छोड़ दिया था, पर उनका मन मशीनों

में लगता था। विजली का पंखा खोलकर पुर्जे यथास्थान लगा देते। मोटर पर भी वे हाथ साफ करने से बाज न आते थे। पिता ने वड़े लड़के की इस प्रवृत्ति को देखकरं 1929 में मोटर मेकेनिकल इंजीनियर बनने के लिए इंग्लैंड भेज दिया। वे चार-पाँच वरस वहाँ रहकर मोटर के काम में निष्णात होकर लौटे और आजकल पूर्णिया में उसी का कारबार करते हैं। उन्होंने विलायत में रहते एक परिचित अंग्रेज लड़की से भारत में शादी की। चार-पाँच बरस इंग्लैंड का जीवन उनके बड़े काम का सिद्ध हुआ।

कुमार जसवन्त पिता के काम में सहायता दे रहे थे, लेकिन वह ऐसा काम नहीं था, जिस पर सारी जिन्दगी गुजारी जा सकती। उनकी इच्छा को देखकर पिता ने 1932 में को-ऑपरेटिव बैंक के प्रबन्ध की शिक्षा दिलाने का निश्चय किया। उस समय जर्मनी को-ऑपरेटिव बैंकिंग में प्रसिद्धि रखता था। कलकत्ता में जर्मन कौंसल जेनरल से कहने पर उन्होंने बताया कि हम जर्मनी भेज देंगे। तीन से पाँच बरस तक दामस्टाड में रहकर उसे सीखना होगा। लेकिन वहाँ जाने से पहिले जर्मन भाषा का ज्ञान तथा बैंक के काम-काज का थोड़ा अनुभव हो जाना चाहिए। कौंसल ने कलकत्ता में सेंट्रल बैंक के उच्च अधिकारी श्री नन्दलाल पुरी के पास भेज दिया, जिन्होंने राजा साहव के लड़के को बैंक के सभी विभागों के काम को सिखलाने की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले ली। विशेषकर विदेशी विनिमय विभाग में एक महीना लगा और दूसरे विभागों में दो महीने। जसवन्त एक जर्मन महिला के पास जर्मन भाषा भी सीखने जाते थे। इस प्रकार अब वे जर्मनी जाने के लिए तैयार थे। यह देख माँ रोने लगीं और पति से कहा, "बड़े लड़के को विलायत भेज दिया, अब दूसरे को भी जर्मनी भेज रहे हो !"

माता के आग्रह को राजा साहब टाल नहीं सके और जर्मनी जाना रुक गया। फिर पोलो टीम लेकर कभी कलकत्ता जाते, कभी पटना। 1934-38 तक के चार बरसों के दौरान फिर पुराना जीवन दोहराया जाने लगा। दरभंगा महाराज को जसवन्त की पोलो टीम बहुत पसन्द आई। वे कई बार दरभंगा गए। फिर एक ही तरह के जीवन से मन उकता गया। जसवन्त के मन में आया कि दूसरे देश नहीं तो भारत को ही देख लेना चाहिए। धीरे-धीरे उन्होंने यात्रा के लिए काफी रुपये इकट्ठे किए। एक बार राजा और रानीजी कलकत्ता गए हुए थे, उसी वक्त जसवन्त पूर्णिया से भाग निकले। पहिले प्रयाग में अपनी सौतेली बहन के पास गए। थोड़ी हिम्मत बढ़ी। उसके बाद सेंट पाल में अंग्रेजी के अपने प्राइवेट अध्यापक के पास कानपुर पहुँचे। वहाँ से किसी पूर्व-परिचित की कार में घूमकर लखनऊ और कानपुर को खूब देखा। फिर आगरा में एक अध्यापक परिचित निकल आए। उन्होंने सारा आगरा, फतेहपुरी-सीकरी दिखलाया। जसवन्त हर नई जगह जाकर बिना पता दिए घर तार देते कि मैं अच्छी तरह हूँ। इस तरह उनकी यात्रा में बाधा न होती।

राजा साहब प्रति शुक्रवार को कलकत्ता घुड़दौड़ देखने जाते। एक दिन कुमार पूर्णिया लौट आए। माता-पिता से अपनी यात्रा की बातें कहीं। सभी प्रसन्न हुए। फिर वही घोड़ा और भोज-पार्टी का जीवन। 1938 में एक मोटर-कम्पनी कायम हुई, जिसमें राजा पृथ्वीचन्द्र लाल को भी शामिल किया गया। मोटर-कम्पनी खूब चली। जसवन्तचन्द्र लाल पिता के प्रतिनिधि बनकर कम्पनी के एक डायरेक्टर थे। कम्पनी का भागीदार एक मारवाड़ी था, जिसका रुपया ज्यादा लगा था। जब रोजगार चला तब उसने नफे को काटकर अपने अहमदाबाद के कपड़े की मिल के हिसाब में जमा करना शुरू किया। कम्पनी एक साल से ज्यादा नहीं चली। मारवाड़ी सेठ को छोड़कर बाकी सभी घाटे में रहे।

ढाका के नवाव हबीबुल्ला राजा साहब के सुपरिचित दोस्त थे। राजा साहब का लड़का जानकर वे कुमार जसवन्तचन्द्र को बहुत मानने लगे। नवाब बंगाल के एक मिनिस्टर थे। उन्होंने दोस्त के लड़के को अपने साथ रख लिया और वे दो साल तक उनके साथ घूमते रहे।

3

कुमार जसवन्त समझते थे कि मेरी जिन्दगी ऐसे ही बीत रही है। वे उससे असन्तुष्ट थे। इसी समय द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। उन्होंने माँ-बाप से बिना पूछे फौज में भर्ती होने का आवेदनपत्र दे दिया। उम्र उस समय उनकी अट्ठाईस बरस की थी। माँ ने जब सुना तो वह बहुत रोईं, पिता भी गुस्सा हुए। जसवन्त को दुनिया देखनी थी। उन्होंने सोचा, लड़ाई के बहाने दुनिया देखने का मौका मिलेगा। ढाका नवाब के लड़के ने भी फौज में जाने की दरख्वास्त दे दी। 1940 में बंगाल के गवर्नर सर जान हर्बर्ट यह बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। कुछ दिनों बाद दिल्ली से हुक्म मिला कि कलकत्ता फोर्ट विलियम में जाकर भेंट करो। फोर्ट विलियम में बातचीत के बाद उनको शिमला जाने के लिए रेलवे के फर्स्टक्लास का वारण्ट मिला। बोर्ड ने अपने सामने बुलाया। जो-जो सवाल पूछे, सबका ठीक-ठीक जवाब कुमार ने दिया। अंग्रेज ब्रिगेडियर बोर्ड का मुखिया था, उसने पूछा, "क्या काम कर रहे हो ?" उन्होंने अपना काम बतलाया। पिता-माता के साथ रहने के सिवा और काम नहीं था। यह भी बतलाया कि मेरे पिता की सहायता से पन्द्रह सौ आदमी पलते हैं। ब्रिगेडियर को मालूम हुआ कि इस नौजवान ने बड़े आराम की जिन्दगी बिताई है, यह लड़ाई की जिन्दगी में नहीं डट सकता। उसने कहा, "तुम स्वावलम्बी बनकर कुछ करके आना, सेना का जीवन बहुत मुश्किल है।"

कुमार शिमला से कलकत्ता होकर पूर्णिया लौटे। कलकत्ता में उन्होंने अफसर को शिमला की सारी बातें बतलाईं, जिन्हें सुनकर उसने अफसोस प्रकट किया। "तुम्हें स्वीकार नहीं करेंगे।" पूर्णिया में सब बातें सुनकर माँ-बाप बहुत खुश हुए।

लेकिन लड़ाई ऐसी परीक्षा नहीं चाहती थी, जो शिमला में ली गई थी। उसको अधिक, और अधिक जवानों और अफसरों की जरूरत थी। कुमार जसवन्त अफसर होने लायक थे।

1941 में फोर्ट विलियम से चिट्ठी आई—आओ, बंगलौर में इंटरव्यू (पूछताछ) के लिए।

कलकत्ता में बंगलौर जाने का फर्स्टक्लास का वारण्ट मिला। पुराने अफसर ने उन्हें अकल की बातें बतलाईं, "बहुत ईमानदार मत बनना चाहो। जो सवाल पूछे, उनका तुरन्त जवाब दो। यह विश्वास दिलाओ कि तुम स्वावलम्बी हो सकते हो।"

गुरु-मन्त्र लेकर जसवन्त मद्रास की गाड़ी पर बैठे और वहाँ से बंगलौर पहुँचे। वहाँ उन्होंने कैडट (भावी अफसर) की खाकी वर्दी पहने जवानों को बड़ी शान से घूमते देखा। जसवन्त को भी खयाल आया, मैं भी ऐसे ही होता। बोर्ड के सामने जाने पर उन्होंने फटाफट जवाब दिया। नक्शा दिखलाकर पूछा गया—आस्ट्रेलिया से कोई जहाज चला है, रास्ते में जापानी पनडुब्बियों का खतरा है, कैसे उसे सुरक्षित जगह पर पहुँचाओगे ? कुमार ने उसका जवाब साफ और ठीक-ठीक दिया। फिर बोर्ड के मेम्बरों ने मार्च करने के लिए कहा। प्रायः पौने छः फुट का स्वस्थ शरीर, और फौजी मार्च का अभ्यास भी पहिले का था। मार्च करके दिखला दिया। कुमार ने देखा, वही पुराना ब्रिगेडियर यहाँ पर भी बैठा है। उस पर नजर पड़ते ही देह से पसीना छूटने लगा। ब्रिगेडियर ने मेज पर हाथ पटककर कहा, "क्या हमने कहीं तुमको देखा नहीं है ?—आई एम नाट श्योर, इफ आई सी यू।" (यह अच्छी तरह मालूम नहीं कि मैंने आपको देखा।)

जरा देर रुककर बिग्रेडियर ने फिर कहा, "मैं तुमसे शिमला में मिला था।"

कुमार ने कहा, "मैं अपने बल पर काम करता रहा हूँ, पिता से अलग रहकर। मैंने कम्पनी में मोटर बेचने का काम घूम-घूमकर किया है।"

"एक्सीलेंट, वेरी गुड, यू कैन गो।" (खूब, बहुत अच्छा, जाओ।)

चपरासी ने आकर कहा, "आपको ऊँचे दर्जे में पास किया है, कुमार को फेल होने पर मौत का ख्याल आता था। चपरासी को एक रुपया इनाम दिया और बंगलौर से पूर्णिया चले आए।

दिसम्बर 1941 में ओ. टी. एस. (ऑफिसर ट्रेनिंग स्कूल) में शिक्षा पाने के लिए बंगलौर जाने का हुक्म आया। नवाब साहब के लड़के भी साथ गए।

बंगलौर में सैनिक शिक्षा बड़ी कड़ी थी। रोज अठारह घंटा काम करना पड़ता। देहरादून सैनिक स्कूल में जो ढाई बरस की शिक्षा थी, उसे यहाँ छह महीने में पूरा कराते थे। शाम को सोते वक्त बदन चूर-चूर हो जाता। पहाड़ी लड़ाई, रेगिस्तानी लड़ाई, झूलं से नदी और घाट पार करना, यह सब बड़े साहस का काम था, जिसमें लोग पार नहीं होते थे। कितने ही बीमार होकर अस्पताल जाते थे। कितने ही 'अनफिट' मानकर निकाल दिए जाते।

कुमार जसवन्तचन्द्र मई 1942 में द्वितीय लेफ्टिनेंट का पद पाने में सफल हुए। पद भी कमीशन का ईनसिगनिया (राजचिह्न) स्कूल से बाहर निकालकर रात को दिया जाता था। क्योंकि ईनसिगनिया दे देने पर जो कमीशन बिना प्रशिक्षण देते थे, उन्हें हवलदार और जमादार सलाम करते। कुमार जसवन्त लाल का कमीशन नम्बर 2461 था। अभी बहुत कम को कमीशन मिलता था, क्योंकि लड़ाई का अभी दूसरा ही साल था। संकट जबरदस्त नहीं था। और योग्यता का पूरा ख्याल किया जाता था। कमीशन मिलते ही जलंधर जाने का हुक्म हुआ और स्कूल से बाहर निकलने पर कन्धे पर से फीता हटाने पर ईनसिगनिया लगाने का हुक्म मिला था। लेफ्टिनेंट की वर्दी और ईनसिगनिया लगाने पर कैडेट को खुशी होनी ही चाहिए। स्कूल से बाहर आठ बजे रात को फीता हटाकर ईनसिगनिया लगा लिया गया। दूसरे दिन स्टार (तारा) भी लगा लिया। उस वक्त सबेरा था और पास का शहर सिकन्दराबाद आ गया था। स्पेशल ट्रेन थी। पंजाब की ओर जा रही थी। कुमार के परदादा पंजाब के थे। जसवन्तचन्द्र लाल उत्तरी भारत की बहुत-सी जगहों में घूम आए थे, लेकिन पंजाब जाने का यह पहिला अवसर उनको मिला था। उनके मन में क्या-क्या भाव उत्पन्न हुए। जून, जुलाई, अगस्त, सितम्बर के चारों महीने पंजाब की गर्मियों के थे। पूर्णिया की गर्मी नरम होती है, वहाँ की जमीन भी रसवंती है, और पंजाब की गर्मियों में लू का सामना करना पड़ता था। जरा-सी गर्मी कम हुई तो पास के शहर अमृतसर को देखने गए। सोने का मन्दिर देखा और सरोवर भी, जिसके कारण शहर का नाम अमृतसर पड़ा। एक बाग में गए। ताँगेवाले ने कहा, "इस कुएँ का पानी बरफ जैसा ठंडा होता है।" सचमुच ही वह बहुत ठंडा लगा। गर्मी से परेशान जीभ को उसका स्पर्श वैसा ही ठंडा जान पड़ा। समय था, इसलिए ताँगेवाला साहब को सिनेमा दिखाने ले गया। जसवन्त गोरे थे और रंग में अच्छे साफ एंग्लो-इंडियन से मिल जाते थे, लेकिन उनकी बोलचाल हिन्दुस्तानी जैसी थी और हृदय भी तदनुरूप था। अमृतसर का दूसरा तीर्थ जलियाँवाला बाग भी उन्होंने देख लिया। स्वर्ण मन्दिर के पास रेलवे के बुकिंग ऑफिस से टिकट ले जलंधर चले आए। जलंधर में चार महीने तक वे सिपाहियों पर नियन्त्रण आदि का व्यावहारिक काम सीखते रहे। उसके बाद उनकी पोस्टिंग सीमान्त प्रदेश में मानसर कैम्प में हुई।

मानसर कैम्प

अटक के पास यह लड़ाई के जमाने की बड़ी छावनी थी, जिसमें रहने के ज्यादातर झोंपड़े थे। अक्टूबर 1942 से मार्च 1943 तक छह महीने वे वहाँ रहे। केम्बलपुर बड़ी छावनी और बड़ा शहर था। शाम को अक्सर वहाँ चले जाते। वाह (Wah) कैम्प भी बहुत दूर नहीं था। वहाँ भी कभी-कभी चले जाते। रावलपिण्डी का बड़ा शहर भी बहुत दूर नहीं था। वहाँ से रावलपिण्डी भी देखने जाते। रावलपिण्डी से दार्जिलिंग जैसा ठंडा मरी का पहाड़ कुछ ही मीलों पर है। मिलिटरी ट्रक और लारियाँ पास थीं। दो सिविलियन कारें भी थीं। ड्राइवरों को उनकी अच्छी तालीम जरूरी थी, इसलिए कहीं भी जाने में कोई दिक्कत नहीं थी।

मानसर में पहुँचते ही लेफ्टिनेंट लाल को अडजुटेण्ट बना दिया गया और साथ ही क्वार्टर मास्टर के पद के साथ खाने-पीने के राशन का जिम्मा भी उनको मिल गया। वे एम. टी. ओ. (मिलिटरी ट्रेनिंग अफसर) थे। कारों की देखभाल भी उन्हीं के ऊपर थी। कारों पर अधिकार होने से घूमने-फिरने की उनको बहुत छूट थी। नवशेरा गए, एक दिन ग्राण्ड ट्रंक रोड पकड़ी, जो हावड़ा से पेशावर तक जाती है। पेट्रोल भरा और पेशावर चले गए। पेशावर के डींज होटल में मध्याह्न भोजन किया और शहर देखने निकले। वह पठानों का मुल्क था। लम्बे कद और गोरे रंग के शहरी लोग भले मालूम हुए। फिर वे मानसर लौट आए।

4

पठानों के साथ लड़ाई सारे ब्रिटिश शासन में हर साल की बात थी। कभी वह बड़े रूप में होती और कभी छोटे रूप में। अंग्रेजी सेनाओं के लिए लड़ाई जीतना सीखने के लिए भी यह अच्छा मौका था। लेफ्टिनेंट लाल की बटालियन युद्ध के क्षेत्र के समीपतम थी, इसलिए तीन कम्पनियाँ लड़ाई में भेज दी गईं। लेफ्टिनेंट लाल सीनियर अफसर थे, इसलिए तीनों कम्पनियों का भार उनके ऊपर था। इनके ऊपर दो अंग्रेज अफसर भी थे। बटालियन का भी एक अंग्रेज अफसर साथ में दिया गया, पर अंग्रेज अफसरों और सैनिकों में सम्पर्क अफसर (लिएजन अफसर) लाल थे। तीन कम्पनियों के तीन सौ सिपाही दो दिन में झाड़, ढोंड स्टेशन होते मरीड़ंडस पर पहुँचे। वहाँ ट्रेन खड़ी कर दी गई। रसोइया लोग खाना बनाने लगे। कहार पानी लाने लगे। दो घंटे में खाना बनाकर सिपाहियों ने खा भी लिया। रात को एकाएक जोर का पानी आया। छोटी लाइन पानी में बह गई। सिपाही आगे बढ़ नहीं सके। वे पन्द्रह दिन तक वहीं पड़े रहे। तब तक, जब तक कि लाइन बन नहीं गई। वहीं पर उनका कालाकाग के नवाब से परिचय हुआ। वे लेफ्टिनेंट लाल को अपने साथ ले गए। कैम्प में आए प्रशासक अफसर ने बतलाया कि जब तक तीस लारियाँ नहीं आ जातीं तब तक यहीं प्रतीक्षा करनी होगी, इसलिए वे एक सप्ताह वहीं ठहरें। सिपाही बिना काम के सुस्त न हो जाएँ, इसलिए उन्हें काम पर लगाए रहे। एक सप्ताह बाद लारियों का कॉनवॉय (गरोह) आया। रज्मक छह हजार फुट ऊँची जगह की ठण्डी छावनी है। उसी के नीचे गर्दई में कैम्प था। आर्मर्ड कारें आईं। खतरे की जगह थी, इसलिए आर्मर्ड कारों के बिना कॉनवॉय नहीं ले जा सकते थे। पहाड़ी जगह थी, पहाड़ों के ऊपर गोली चलानेवाले पठान बैठे थे, उनको आर्मर्ड कारवाले गोली चलाकर फँसाए रखते थे। इसी बीच कॉनवॉय आगे जाता। कई जगह गोली की आवाज लेफ्टिनेंट लाल ने सुनी। वहाँ उन्होंने यह भी देखा कि कैसे धूप में शीशा चमकाकर खबर का सिगनल (संकेत) दिया जाता है। लोहे के खम्भे कई जगह पठानों ने गिरा दिए थे, वे टेढ़े-मेढ़े हो गए थे। ट्रकों में जवानों को सिर नीचा कर बिठाया गया था। लेफ्टिनेंट लाल के सारे सिपाही बंगाली थे। बंगाली बहुत समय से सैनिक सेवा से वंचित रखे गए थे। लेकिन अब लड़ाई में सैनिक-असैनिक जाति के भेद को मिटा दिया गया था। तो भी वे एकाएक पठानों की लड़ाई में भेज दिए गए थे। ये बिना घास के पेड़ नंगे-नंगे भयंकर मालूम होते थे। कुछ जवान भागने की भी सोचते होंगे, पर लेफ्टिनेंट लाल ने बता दिया था, "यहाँ से भागकर तुम घर नहीं पहुँच सकते, रास्ते में ही मारे जाओगे। तुम बेकार रोते हो, सिपाही कोई नहीं रोता—गोरखा, बिहारी, मद्रासी सिपाही कहाँ रोते हैं ?"

राम-राम करते सब गर्दई कैम्प में पहुँचे। यहाँ पत्थरों के गोल-गोल झोंपड़े बने थे। लंगर खाना तैयार था। पानी लानेवाले पानी लाने गए। आठ रसोइयों ने चूल्हा सँभाला। खाना बनने लगा। कैम्प में गोला-बारूद, पेट्रोल आदि चीजें आसानी से भड़क उठतीं। आग से रक्षा के लिए बालटियों में पानी और बालू भरकर रखा गया।

दो मास यहीं रहना था। एक दिन सेल गोला आकर गिरा। आग लगने का डर था। बड़ी सावधानी की गई। पता लगाने लगे कि पठानों के पास तोपें तो हैं नहीं, यह गोला कैसे आया ? मालूम हुआ, कोई सिपाही भागकर वहाँ चला गया था। उसी ने यह गोला फेंका है। पर तोप से फेंका हुआ गोला तब तक नहीं फूटता जब तक उसके एक पुर्जे को हटाकर जिन्दा नहीं बना दिया जाता। बी. डी. एस. (बम डिस्पोजल स्क्वाड) बड़ी सावधानी से तुरन्त गोले के पास पहुँचे। उन्होंने जाँच करके बतलाया कि गोला जिन्दा नहीं है। तुरन्त उसके चारों ओर बालू के थैले की दीवारों के भीतर घुसे और गोले को उस जगह ले जाकर डाल दिया, जहाँ उससे खतरा नहीं था।

पहाड़ों पर जगह-जगह देखभाल की चौकियाँ होतीं। देखनेवाले जहाँ किसी मिलते-जुलते आदमी को देखते, उस पर गोली चलाते।

देखभाल की चौकी पर से देखा गया कि एक जगह चट्टान हटती रहती है और उसके नीचे खोदी गुफा में तोप है, जिससे लाकर गोला चलाते हैं।

ऊँचा कुला और लम्बा कुर्ता पहने कुछ अंग्रेज अफसर आए। उनके कन्धे पर कारतूस की माला लटकी हुई थी। मालूम हुआ कि ये टुचीखेल के वालंटियर हैं। पटान भी इसी खेल (कबीले) की उसी पोशाकें में रहते। पोशाकें जहाँ उनकी अंग्रेजों जैसी नहीं थीं, वहाँ धूप खाने से रंग भी उनका अंग्रेजों जैसा नहीं रह गया था, लेकिन वे अंग्रेजों जैसी शुद्ध अंग्रेजी बोलते थे। लेफ्टिनेंट लाल को साथी अफसर ने सब बातें बतलाई। टुचीखेल वाले पहाड़-पहाड़ पर पता लगाने के लिए घूमते रहते हैं और वे वैसे ही भोजन और कड़े जीवन के आदी हो गए थे। उन्होंने बतलाया कि दत्ताखेल के पठानों ने यह उत्पात मचा रखा है। दत्ताखेलवालों ने माँग की थी कि अपने अंग्रेज अफसर का सिर काटकर यहाँ भेज दो, नहीं तो हम सबको भूखा मारेंगे। भूखा मारने का सवाल नहीं हो सकता था, क्योंकि हवाई जहाज के जमाने में राशन की चीजें हवाई जहाज से गिराई जा सकती थीं। दत्ताखेलवाले कोशिश करते कि हवाई जहाज को मार गिराएँ। दत्ताखेलवालों से पूरा मोर्चा लेने की आज्ञा दिल्ली से माँगी गई। आज्ञा तार से आ गई। लड़ाई की योजना बन गई। यह खबर सुनकर लेफ्टिनेंट लाल के जवान घबराने लगे—यह तो सचमुच ही लड़ाई है। सबेरे ब्रिगेडियर आया। लेफ्टिनेंट लाल ने नियम अनुसार कहा, 'गुड स्पिरिट, हाई स्पिरिट।' (अच्छी हिम्मत, ऊँची बहादुरी।)

लेकिन लेफ्टिनेंट लाल जान गए कि उनके जवान भागने की ताक में लगे हुए हैं। लेफ्टिनेंट ने अपने जवानों को कह दिया कि लड़ाई शुरू हो जाने पर आधा मिनट से अधिक एक जगह मत खड़े रहना, मतवाले की तरह, नहीं तो तुरन्त गोली आकर लगेगी ! गोली छोड़नेवाले आधे मिनट में निशाने लगाते और आधे मिनट में गोली छोड़ देते।

गोरखा, पंजाबी, जाट जवान पहाड़ों के ऊपर बैठे दुश्मन पर निशानेवाजी कर रहे थे। आदमी घायल होता तो उसके लिए एम्बुलेन्स की मोटरें तैयार रहतीं। घायल को ले जाकर एम्बुलेन्स कार में बैठाया जाता। दत्ताखेलवालों को अल्टिमेटम दे दिया गया था। अन्त में वे हारे और टुची स्काउट जो घिर गए थे, उन्हें छुड़ा लिया गया।

सभी सिपाही बन्नू लौट आए। उसी वक्त लेफ्टिनेंट लाल ने देखा कि सेना की डाक लानेवाले पठान थे, जो अपनी लारियों को भी खतरे में चलाते रहते। उनके पास राइफल और कारतूसों की माला रहती। एक जगह देखा कि एक चाय के स्टाल पर दो पठानों में झगड़ा हो गया। दोनों में मारपीट शुरू हो गई। एक पठान ने पत्थर उठाकर दूसरे का सिर फोड़ दिया। वह मरणासन्न घायल हो, तड़फड़ाने लगा। बसवाला दूसरों को बस पर चढ़ाकर चला गया। लाल को एकाएक यह देख आश्चर्य होना ही था। एक जमादार ने बतलाया कि दोनों के घरों में दो बरस पहिले, दस बरस पहिले, या दो-तीन पीढ़ी पहिले खून के लिए दुश्मनी रही होगी, जिसका बदला लेना एक पटान के लिए अत्यावश्यक है। इसीलिए बदला लिया है। पठान मौत की परवाह नहीं करते।

बन्नू लौटकर पन्द्रह-बीस दिन रहे। फिर मानसर जाना पड़ा। जाड़ों का महीना था। लेफ्टिनेंट लाल को बंगलौर जाने के बाद छुट्टी नहीं मिली। वे माँ-बाप से मिलने पूर्णिया जाना चाहते थे। यह भी पता लगा कि उनकी पलटन कहीं दूसरी जगह बड़े युद्ध-क्षेत्र में जानेवाली है। जाने से पहिले घर देखना चाहते थे। उनके सी. ओ. (कमांडिंग अफसर) छुट्टी लेकर कश्मीर चले गए। अपनी छुट्टी के बारे में कहने पर सी. ओ. ने कहा, "तुम्हारा घर दूर है। हमें प्रस्थान के लिए तैयार रहने की आज्ञा है। तो भी मैं ख्याल रखूँगा।" इसी वक्त मालूम हुआ कि सारी बटालियन के लिए बरफानी जगह गिलगित में जाना होगा या और कहीं। जर्मन सेनाएँ रूस होती भारत की तरफ बढ़ रही हैं। उधर रौमेल अफ्रीका के रेगिस्तानों में अंग्रेजी सेना को खदेड़ रहा है। एक बार लाल ने सी. ओ. को कह दिया, "सिर्फ एक हफ्ते के लिए मुझे घर जाने की छुट्टी दे दीजिए।" लेकिन एक हफ्ते में पूर्णिया तक आना-जाना भी नहीं हो सकना था।

लाल ने सोचा—डॉक्टर से राय लेनी चाहिए, शायद वह कोई रास्ता बतलाए। डॉक्टर पंजाबी था, उससे

लाल ने बात कही। मालूम हुआ कि कम्बाइन मेडिकल अस्पताल (सी. एम. एच) केम्वलपुर में है। इंडियन मेडिकल अस्पताल (आई. एम. एच.), ब्रिटिश मेडिकल अस्पताल (बी. एम. एच.) भी वहीं हैं। डॉक्टर ने बीमार होने की बात बतलाई, और केम्बलपुर जाने के लिए कहा। डॉक्टर सहृदय था। उससे लाल ने कहा, "आप भी मेरे साथ चलें तो काम बन सकता है।" डॉक्टर ने बीमार होने का सर्टिफिकेट लिख दिया। लेकिन लड़ाई के समय नकली बीमारों की कमी नहीं होती। डॉक्टर के जाने पर अस्पताल में दाखिल कर लिया गया। थर्मामीटर देखकर 99-100 डिग्री बुखार मिला। बुखार न दीखने पर ब्रिगेडियर अस्पताल से वाहर कर देता। साथ के अंग्रेज अफसर ने पूछा, "क्या बीमारी है ?" इस पर लाल ने बतलाया कि यह पूर्व भारत की बीमारी है, जहाँ कालाजार और मलेरिया आदि होते हैं।

खाने-पीने में लेफ्टिनेंट लाल को कोई कमी नहीं थी। पंजाबी डॉक्टर भी चाहता था कि छुट्टी दिलाई जाए। उधर सी. ओ. को लाल के बिना भोजन-राशन का प्रबंध करना मुश्किल हो रहा था। वह पागल-सा हो गया। हफ्ते-भर बाद अस्पताल से छुट्टी मिली। डॉक्टर ने लिख दिया कि स्वास्थ्य को ठीक करने के लिए इनको छुट्टी मिलनी चाहिए।

सी. ओ. ने कहा, "किसी वक्त भी यहाँ से कूच करने की आज्ञा आ सकती है, हमें तैयार रहने का हुकुम है। मालूम हुआ है कि घर यहाँ से पाँच दिन में पहुँच सकते हैं। ज्यादा से ज्यादा इक्कीस दिन की छुट्टी दी जा सकती है। अगर छुट्टी मिल जाती हो तो सबसे नजदीक के स्टेशन पर आ मिलना।"

यदि उस वक्त मालूम होता कि आसाम की ओर जाना है तो कटिहार ही ऐसा स्टेशन था। लेफ्टिनेंट पूर्णिया की ओर रवाना हुए और छुट्टी के दिन विताकर लौट आए।

5

तीन सप्ताह बाद पलटन को कूच का ऑर्डर मिला। बटालियन के बारह सौ आदमियों के लिए स्पेशल ट्रेन केम्बलपुर में आई। लाल को अपने बटालियन के साथ केम्बलपुर आना था। उन्हें सामान के लिए तीन ट्रक मिले। जवानों को मार्च करके केम्बलपुर पहुँचना था। कोई-कोई जवान बहाना करके एम्बुलेंस गाड़ी में चढ़ना चाहते। मालूम होने पर इन्हें पीटकर निकलवाया जाता। उसी क्षेत्र पर जाने की खबर पाकर बंगाली जवान, जो अधिकतर पूर्व बंगाल के थे, वहुत घवराए हुए थे। खाने के लिए सूखा राशन चल रहा था जिसमें बिस्कुट, पनीर, सेब फल और थर्मस में पानी साथ रहता। स्टेशन पहुँचे। ट्रेन खड़ी थी, गाड़ियाँ और डब्बे सबको अलग-अलग बतला दिए गए। पहरा लगा दिया गया जिससे कोई जवान ट्रेन छोड़ न सके। ट्रेन कहाँ जा रही थी, यह जवानों को मालूम न था। कुछ बड़े अफसरों को छोड़कर दूसरे अफसरों को भी मालूम न था। पहरा देनेवाले सिपाहियों की राइफलों में कारतूस भरे हुए थे। किसी जवान को हटते देखते तो गोली चला सकते थे। अफसर के हुकुम देने पर गार्ड ड्राइवर से ट्रेन चलवाता। आखिर स्टेशनों पर नाम लिखा ही रहता, इसलिए लोगों को मालूम हुआ कि हम लाहौर अर्थात पूरब की ओर जा रहे हैं।

लखनऊ के स्टेशन पर वाहर के प्लेटफार्म पर ट्रेन खड़ी कर दी गई। कुछ सामान और सूखा राशन उतारा गया। ताजा राशन साग, मछली को कहते हैं। लखनऊ में बड़ी लाइन छोड़ छोटी लाइन पकड़ी। जवानों में पंचानवे प्रतिशत पूर्व बंगाल के मुसलमान थे और केवल पाँच प्रतिशत हिन्दू। भंगी-जमादार सारे मद्रासी थे। जवान प्लेटफार्म पर अपने बिस्तरे लेकर पड़े रहे, अफसर वेटिंग-रूम में। सारी पलटन को चाय कैसे पिला सकते थे ! लेकिन चाय पीने की कोई दिक्कत नहीं थी। गरम पानी रिफ्रेशमेंटवाले दे देते थे और चाय तथा टीन-दूध राशन में था ही। चाय बनाकर पी लेते। लखनऊ से आगे चलने पर लेफ्टिनेंट लाल ने अपने आर. टी. ओ. (रेलवे ट्रांसपोर्ट अफसर) से आज्ञा माँगी कि मैं कटिहार में माँ को आने का तार देना चाहता हूँ। ट्रेन का समय गुप्त रखना भी अनिवार्य था, इसलिए आर. टी. ओ. ने कहा, "तुम अपनी जिम्मेवारी पर तार दे दो।" खैर,

लेफ्टिनेंट लाल ने तार भेज दिया कि कटिहार में मिलें। पिता और पुत्रवत्सला माता कटिहार में पहुँचे हुए थे। अपने साथ फौजी मिठाइयाँ, खजूर, अचार, मालपुआ और कई फलों से भरी टोकरियाँ लाए थे। जवानों को मालूम होते देर नहीं लगी कि हमारे लाल साहब रानी साहिवा के बेटे हैं। 'रानी साहिवा की जय' का नारा लगने लगा। फल और मिठायाँ कुछ-कुछ उनमें बँटीं। कटिहार में लंगर-खाना लगा। खाना बनाकर सबको खिलाया गया।

ट्रेन फिर चली। फिर रानीजी की जय हुई। कटिहार से पार्वतीपुर होते हुए ट्रेन में अधिकांश पलटनें धुबड़ी की ओर गईं, और अफसर अमीनगाँव ब्रह्मपुत्र के किनारे गए। ब्रह्मपुत्र के किनारे जाकर रुक जाना पड़ा, जब तक कि स्टीमर नहीं आता। पाँच-सात दिन वहाँ रहे, फिर स्टीमर जवानों को ले चला। यह साधारण स्टीमर नहीं था। युद्धक्षेत्र में जानेवाली पलटन का स्टीमर था। दुश्मन के हवाई जहाज आक्रमण न करें, इसलिए स्टीमर के ऊपर मशीनगनें और विमान-संहारक तोपें लगा दी गई थीं। बराबर आसमान और क्षितिज की ओर देखा जाता। चार-चार घंटे बाद पहरा बदलता रहता। लोगों के पास गैस से बचने का चेहरा भी था। दुश्मन हवाई जहाज से जहरीली गैस न फेंके, जिसकी जाँच के लिए विशेष कागज का इस्तेमाल किया जाता। कागज का रंग गैस से स्पष्ट हो जाता। फिर चेहरा और गैस-प्रतिकारी दवाइयों का इस्तेमाल होता। चार-पाँच दिन बाद स्टीमर गोहाटी पहुँचा और गोहाटी से मिलिटरी जेटी (घाट) में जाकर लगा। वहाँ के विश्राम-कैम्प में जवानों को चौबीस घण्टे ठहराया गया।

यदि अपने जोश के साथ लड़ाई करने जाते, तो जवानों में जरूर इतना भय का संचार न होता। पर वे तो गरीबी और भुखमरी के कारण फौज में भर्ती हुए थे। इसलिए सिर्फ डर के मारे ही घेरकर वे युद्धक्षेत्र में भेजे जा सकते थे। इसलिए कटिहार से आगे चलने पर उनको जो मालूम हो गया कि यह हमारा देश बंगाल है तो दो-चार आदमी ट्रेन से कूदकर भागे विना नहीं रहे। एक आदमी पाखाने के बहाने कम्पार्टमेण्ट के भीतर घुसकर दूसरी ओर चलती ट्रेन से गिर गया। पता लगते ही तुरंत ट्रेन रोकी गई और सर्चलाइट जला दी गई। ढूँढ़ा गया। स्टेशन मास्टर से कहने पर उसने बतलाया कि पीछे मेल आ रहा है, उसको खबर दे देंगे। वह देखकर लाइन से आएगा। यह जंगली प्रदेश था, हाथी और दूसरे भंयकर जानवर रहते थे। इसलिए नीचे गिरा आदमी बचा होगा, इसमें सन्देह है। सारी यात्रा में छह जवान भगोड़े हुए थे।

अब 1942 का दिसम्बर था, जबकि पलटन दीमापुर पहुँची। फरवरी तक तीन महीने वहीं कॉनवॉय (ट्रकों-लारियों) की प्रतीक्षा करनी थी। सारे जंगल मलेरिया के मच्छरों से भरे हुए थे। 1200 की बटालियन में से 800 मलेरिया में वीमार होकर अस्पताल चले गए। अस्पताली ट्रेन भी दौड़ा करती थी, जो बीमारों को दानापुर, लखनऊ और मेरठ तक पहुँचाती। यह बहुत जल्दी मालूम हो गया कि आसाम के युद्धक्षेत्र में जापानियों से भी जबरदस्त दुश्मन ये मलेरिया के मच्छर हैं। जंगलों में आग लगा दी गई और दवा छिड़ककर मच्छरों को मार डाला गया। रात को मच्छर मुँह में न काटें, इसके लिए टोपी में जाल लगा मुँह ढँक लेते। हाथ में दस्ताने और शरीर का जो भी अंग खुला रहता उस पर मलेरिया-क्रीम मल ली जाती। अफसर हरेक सिपाही से पूछा करते। अगर किसी के पास मलेरिया-क्रीम नहीं होती तो उसको सजा दी जाती। कुछ जवान शरीर नंगा इसलिए रखते कि मच्छर काट लें और बुखार आ जाए; फिर अस्पताल में जाकर जान बचाएँ। इसीलिए मलेरिया-क्रीम न रखनेवालों को सजा दी जाती। इस सब सावधानी का फल यह हुआ कि अब 1200 की बटालियन में चार-पाँच बुखार में बीमार होते। फिर तो विल्कुल ही मलेरिया को जीत लिया गया। अब ट्रंक और लारियाँ भी आईं और आगे की यात्रा शुरू हो गई। इम्फाल (मणिपुर) में जापानी एक बार आकर लौट गए थे। बटालियन आगे चली। कोहिमा पहिला नागा गाँव मिला। पहाड़ी देश, हरा-भरा गाँव, घरों के दरवाजों पर आदमियों के मुंड सजाए गए थे। मालूम हुआ, नरमुंड को काटकर इस तरह द्वार सजाना नागा लोगों में आम तौर से पाया जाता है। लेफ्टिनेंट लाल को यह भी बतलाया गया कि नागा लोग साँप के विष को बाँस की नली में जमा कर पेड़ में छिपे रहते हैं और दुश्मन के आने पर नली को फूँकते हैं और दुश्मन की देह के ऊपर हल्का-सा घाव होने पर विष लग जाता है और चार-पाँच कदम बाद आदमी गिरकर प्राण छोड़ देता है। उसी के सिर

को काटकर दरवाजे पर लटका देते हैं। कुत्ते का मांस नागा लोगों में बहुत प्रिय भोजन माना जाता है। इसलिए जीवित कुत्ते के मुँह में चावल ठूँसते हैं। चावल ठूँसकर पेट को फुला देते हैं, तव तक कुत्ता मर जाता है। फिर बीचों-बीच से लोहे का छड़ डालकर लकड़ी की आँच पर उसे भूनते हैं। भुन जाने पर उसके टुकड़े काट लेते हैं। सफेद रंग की कच्ची शराब के साथ कुत्ते के मांस के टुकड़े खाते हैं। नागा बड़ा उत्सव मनाते हैं। नागा लोग आँख और मुँह को रँगते हैं। अधिकतर लोग नंगे रहते हैं। लेकिन अव औरतें कपड़े पहनने लगी हैं। नागा लोगों का चेहरा और मुखड़ा तिब्बत और चीनी लोगों का-सा है और रंग भी वैसा ही होता है। वे काले नहीं होते। नागा जाति का सम्बन्ध उसी किरात जाति से है, जिससे प्राचीन काल में तराई के थारू और नेपाल के नेवार थे। सफेद कच्ची शराब पीने का बर्तन भी उनका वाँस का चोंगा होता है, जो धुएँ और तेल से सुन्दर रंगवाला बन जाता है।

6

पलटन के कैम्प को जगह-जगह बदलते रहना इसलिए भी आवश्यक है कि नई जगह की स्वच्छता के कारण स्वास्थ्य अच्छा रहे। इतने दिनों 100-150 जगहों में कैम्प बदल गया। 1943 में इम्फाल में लेफ्टिनेंट लाल की बटालियन को विमान अड्डा बनाने के लिए इंजीनियरों के साथ जोड़ दिया गया। टीडम बर्मा की सीमा पर भारत का अन्तिम गाँव था। इम्फाल से आगे कुछ दूर सड़क थी, फिर पगडण्डी। टीडम तक सड़क वनाना बहुत जरूरी था। इसलिए 1944 में वटालियन को यह काम मिला। चुराचाँदपुर तक बड़ी सड़क बनाई, फिर जीप लायक सड़क। 120 मील तक सड़क पहुँच गई थी जवकि जापानी वर्मा होते भारत की सीमा की ओर आए। सड़क बनाने के काम में जापानी रोक न डालें, इसके लिए दस मील आगे गोरखा रहकर रक्षा का काम करते। जापानियों का इसी वक्त बड़े जोर का हमला हुआ। भारतीय सेना को सब सामान छोड़कर इम्फाल की ओर भागने का हुकुम मिला। बहुतों के पास सिर्फ वही कपड़ा अपने साथ रह गया जो उनके बदन पर था। कुछ को भागने के लिए ट्रक मिले और कुछ पैदल ही भागे। कुछ सामान सैनिकों, जमादारों के साथ छोड़ दिया गया। हेडक्वार्टर में आकर सी. ओ. को बात बतलाई। सी. ओ. ने आदमियों को लाने के लिए भेज दिया। चालीस मील जाने पर एम. पी. (मिलिटरी पुलिस) ने रोक लिया, "हमारे पास और ऊँची जगह का हुकुम है, आगे नहीं जाने देंगे।"

इम्फाल में प्रायः 300 इंच वर्षा होती है अर्थात चेरापुँजी के आसपास। जोर की वर्षा में रात-भर वहीं रहे। दूसरे दिन लौटकर सी. ओ. को सूचना दी। ग्यारह बजे दिन में कितने ही ट्रकों में लेफ्टिनेंट लाल के कितने ही आदमी आए। उन्हें इम्फाल जाने का हुकुम मिला। जापानियों ने बीस मील आकर इम्फाल को घेर लिया। पहाड़ी पर जापानी पड़े हुए थे, और नीचे पचास हजार से एक लाख तक भारतीय सेना। घिरावे में होने पर भी विमान से सामान गिराया जाता था और वही विमान जवानों को भी हटाने में सहायता करते थे। बहुत-से लोग भारत लौटे। लेफ्टिनेंट लाल की कम्पनी एक पत्थर खोदनेवाली कम्पनी के साथ लग गई। जापानी विमान के मैदान को बम गिराकर खराब कर देते थे। गड्ढों में पत्थर डालकर विमानक्षेत्र को काम लायक रखना इनका काम था। दिल्ली खबर भेज दी गई थी कि इम्फाल-क्षेत्र पर सेना की कमी है और सेना भेजी जाए। पुराना सी. ओ. लेफ्टिनेंट लाल को बहुत मानता था। वह चला गया और उसकी जगह पर आर्थर डेनवी सी. ओ. हुआ। यह और भी अच्छा हुआ, क्योंकि आर्थर का भाई जेरल्ड डेनवी दरभंगा का मैनेजर था, जहाँ जसवन्त कई वार अपनी पोलो टीम लेकर गए। पहिला सी. ओ. भारतीयों से नफरत करता था, लेकिन डेनवी में अधिकतर बिहारीपन था।

तीन महीने तक घिरावा रहा, अब कुँवर जसवन्त कप्तान हो गए थे। जापानी कमजोर जगह का पता लगाकर हमला करना चाहते थे। पर उस जगह से दूसरी जगह रक्षा भेज दी जाती। रक्षा के लिए तीन बिग्रेड

थे। जापानी चाहते थे कि हमारे दुश्मन नीचे ही रहें, ताकि पहाड़ों पर से उन पर आक्रमण किया जा सके। दिन में तीन वार हवाई वम गिरते, और रोज प्रायः उसी समय। उस समय लोग गुफाओं में लोहे की टोपी ओढ़े घुस जाते, जिनको पहाड़ों के भीतर बनाया गया था। खाइयाँ बनाई गई थीं जो अक्सर वर्षा के पानी से भर जाती थीं। जूता-वर्दी पहने सिपाही खाइयों में खड़े रहते। उस वक्त उनके पैरों में बहुत-सी जोंकें लटकतीं, जिनको गिराने के लिए उनकी जेब में नमक पड़ा रहता था। नमक लगते ही जोंकें गिर जातीं। खाने के लिए टीन में बन्द भोजन मिलता, पीने के पानी की जगह बियर का इस्तेमाल करते।

तीन महीने वाद जापानी इम्फाल के घेरावे को तोड़ने में असफल हुए और उसे छोड़ भारत की ओर बढ़ गए। इम्फाल में दोनों एक-दूसरे के कमजोर स्थानों को देखकर वहाँ दबोचना चाहते थे। मणिपुरवालों को जापानियों के हमले का डर होता और वे घर के सारे सामान को छोड़कर जंगल में भाग जाते। वहाँ जाने पर उनको घर में खाने का सामान वर्तन-भांडा सब वैसा ही पड़ा मिलता। 1943 में भारतीय सैनिक मणिपुर महाराजा के दोस्त हो गए। महाराजा के मन्दिर में रामलीला होती, प्रसिद्ध मणिपुरी नृत्य होता। अफसरों को अपने साथ बुलाकर दिखलाते। महल के भीतर महाराजा धोती पहने रहते, जिसके ऊपर जनेऊ रहता। पुरोहित भी उसी तरह धोती के ऊपर नंगे शरीर पर जनेऊ पहनता, और भी कितने लोग उसी वेश में रहते। सब साथ में फर्श पर बैठे रहते। 'हमारे लिए पहचानना मुश्किल हो जाता, किसको युअर हाईनेस (श्रीमहाराजा) कहें।' मन्दिर के नन्दशिखर पर सोने का पानी फिरा था, जो दूर से चमकता था। ऐसे ही महलों की छतें भी प्रकट थीं। सारी जगह को जाल से ढाँककर उसको हरे रंग के पत्तों से ढाँक दिया गया। सैनिक अफसर चाहते थे कि महल और मन्दिर को भी उसी तरह छिपा दिया जाए, पर महाराजा इसे स्वीकार नहीं करते थे। जापानी महाराजा के मन्दिर और महल पर कभी बम नहीं गिरते थे, इससे शक होने लगा था कि कहीं महाराजा से उनका कोई समझौता तो नहीं है।

इम्फाल की हालत अच्छी नहीं थी और दिल्ली बराबर फौजी कुमक की माँग भेजी जाती थी। इसी समय अफ्रीका के रेगिस्तान में लड़ा एक भारतीय डिवीजन छुट्टी पर देश आया। उसे छुट्टी न देकर तुरन्त आसाम भेज दिया गया। इम्फाल से जापानियों को हटाना इसी डिवीजन का काम था। वे जापानियों को हटाते-हटाते बर्मा की सीमा के भीतर ले गए। इम्फाल का घिरावा टूट गया। कॉनवॉय आया, जिसके साथ कमाण्डर ने साधुवाद की घोषणा भेजी। पहिले कॉनवॉय में बीस-तीस लारियाँ बियर और सूखे खाने से भरी हुई थीं। अप्रैल 1944 में जापानी घिरावा टूटने पर इस खान-पान के साथ सैनिकों ने हर्ष मनाया।

विमान की लड़ाई भी हो जाती थी। उनकी कुत्ते की लड़ाई देखने में आती। दोनों ओर के विमान गुत्थमगुत्था हो जाते थे। जिस पर ज्यादा गोलियाँ लगतीं, उसके पेट्रोल के टैंक में आग लगती और विमान टुकड़े-टुकड़े हो नीचे गिरता। सैनिक उस वक्त ताली बजाते थे। जापानी विमानों में पैराशूट नहीं होता था, इसलिए जलते विमान को छोड़कर वैमानिक पैराशूट के सहारे नीचे नहीं कूदते थे। किसी-किसी जापानी विमान की पाइलट (चालक) स्त्रियाँ भी थीं, यह एक विमान में गिरी चालिका के लम्बे केशों से मालूम हुआ।

घिरावा खुल जाने पर सैनिक अब घूमने-फिरने लगे। बटालियन के सैनिकों की संख्या कम हो गई थी, इसलिए लाल की बटालियन दूसरी बटालियन में मिला दी गई थी। इस संयुक्त बटालियन का सी. ओ. (सैनिक अफसर) अफ्रीका के नयासालैंड का एक कर्नल था। उसके सिपाही नीग्रो थे। वे स्वाहिली भाषा में आपस में बात करते थे।

एक दिन देखा, सामने के जंगल में एक नीले रंग की आग प्रकट हुई और वह जोर से आगे बढ़ने लगी। इस ओर के पहाड़ों में गुहाएँ खोदकर उनमें गोला-बारूद रखा था और दूसरी ओर पेट्रोल का खजाना था। देखते-देखते वह आग तीन सौ चौदह नम्बर के डिपो में पहुँच गई। मैगजीन जलने लगी। शेल (गोले) आसमान में उड़कर फूटने लगे, सिपाही हट गए। चार-पाँच दिन तक अग्निकांड चलता रहा। रात को वह भयंकर आग और गोलों की आवाज ! अँधेरी रात में ! दहकता लाल रंग मनोहर कहाँ से हो सकता था, जबकि उससे मृत्यु की वर्षा हो रही थी। 'जब तक दूसरे डिपो की ओर वह आग का गोला जाता था, तब तक तो हम तटस्थ

की तरह देखते थे।' फिर देखा, एक घास में से निकली नीली ज्वाला हमारे डिपो की ओर आ रही है। भयंकर धमाका होकर ब्रिटिश हेडक्वार्टर जल उठा, वहाँ रहनेवाले सब मर गए। कुछ सैनिक अलग रहकर वालीबाल खेल रहे थे, वही बच गए। एक ढेर में से चिनगारी उड़कर दूसरे ढेर में लगती। वह तीन-चौथाई भस्म हो गया। बारूद के साथ शेल, गोले, गोलियाँ भी रखी थीं। शेल बिना तोप के ही आसमान में उड़ रहे थे। अद्भुत लोमहर्षक दृश्य था। लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए थे। गोला-बारूदवाला भाग उड़ा, लेकिन पेट्रोलवाला बच गया। लाल साहब की कम्पनी के पचास से ऊपर आदमी गुम हो गए थे। सी. ओ. ने हुकुम दिया, "मरो के शवों को लाओ और जिन्दों को प्राप्त करो।" कितने ही हाथबम, ग्रेनेड और गोले अभी भी धुआँ दे रहे थे, जिसका मतलब था, वे किसी वक्त भी फूट सकते थे। उनके आसपास सैनिकों को—जिन्दों और मुर्दों को ढूँढ़ना था। आदमियों का अभी पता लगाना था। तीन दिन तक ढूँढ़ते रहे। पहिले दिन एक आदमी मिला, दूसरे दिन दो आदमी, तीसरे दिन एक आदमी जिन्दा मिला। वह ट्रेंच में फँसा था, शेलों के फूटने से जमीन में भूकम्प आ जाता था और खाइयों की दीवारें एक-दूसरे के समीप आ जातीं। उसी में वह आदमी फँसा था। पास में सूखा राशन था, जिसे खाकर वह तीन दिन तक पड़ा रहा। ढूँढ़नेवालों को सख्त हिदायत थी कि कोई गोल-मटोल चीज मिले तो उसको ठोंकर नहीं लगाना—कहीं वह गोला हो, फूटकर मार दे।

तीन दिन में चार आदमी पाए गए, दो जिन्दा और दो मुर्दा। लाल साहव के कपड़े का बक्स बम गिरने से जल गया था और उनके पास वही कपड़ा था जो उनके बदन पर था। वे वरावर नियम से डायरी लिखा करते थे। उनके जलकर राख हो जाने का उन्हें वहुत अफसोस हुआ। वे बैठे लारी का इंतिजार और इस जीवन और मृत्यु की बातों की चर्चा कर रहे थे। लारी आई। एम. पी. (मिलिटरी पुलिस) ने दो आदमियों के हाथों में हथकड़ियाँ लगा रखी थीं। उसने बतलाया कि गौहाटी के पास किसी गाँव में वे हमारे भगोड़े थे, जो उसे मिले थे। घर जाने की फिक्र में थे। जमादार दो पंजाबी थे। उन्होंने आदमियों को ले जाकर खूब पीटा। अन्त में कम्पनी के वे दो आदमी मिल भी गए, जिनको ढूँढ़े बिना वे अपने सी. ओ. के पास नहीं लौट सकते थे। काँटेदार तारों से घेरा बाँध दिया गया, जिसके बाहर सैनिकों का जाना निषिद्ध (Out of Bound) था।

गोला-बारूद के ढेर में लगी आग छह-सात दिन में बुझी; एक-दो दिन बाद वह भय की बात ही नहीं रही, फिर जंगल में आतिशबाजी जैसी जलती रही।

दो साल इम्फाल की लड़ाई में बिताने के बाद अव कप्तान लाल की छुट्टी होने वाली थी। वह छुट्टी मिली। लेकिन उसके पहिले दो विचित्र घटनाएँ घटीं, जिनके बारे में कह देना जरूरी है :

(1) पहाड़ी टीलों के ऊपर वे थे और नीचे हवाई अड्डा था। एक दिन दोपहर को लोग अपने-अपने काम में लगे थे। फुर्ती कायम रखने के लिए सिपाहियों को विशेष प्रशिक्षण दिया जाता था। हवाई अड्डे के पास के पहाड़ों में गुफाएँ बनाकर उनमें हिन्दुस्तान से नये लाए विमानों को सुरक्षित रखने के लिए घुसा दिया गया था। शायद जापानियों को पता लग गया। एकाएक तोपें ताबड़तोड़ दागी गईं। ताबड़तोड़ दागने का मतलब था, शत्रु नजदीक है। ऐसे समय तुरंत भागकर सुरक्षित स्थान में जाना पड़ता है। कप्तान लाल अपने आदमियों के साथ ट्रकों में पेट्रोल भरने गए थे। लौटने पर देखा कि वहाँ काम पर कोई आदमी नहीं है। एक गोरे सैनिक ने पूछने पर बतलाया कि खतरे की तोप दागी गई है, अतः दुश्मन नजदीक है। सब लोग खाइयों और गुफाओं में छिप गए हैं। पास में तीन फुट चौड़ा और तीन फुट गहरा एक नाला था। कप्तान लाल अपने ट्रक को नाले के पास छोड़कर भीतर घुस गए। उस वक्त जल्दी में उनका रिवाल्वर ट्रक में टँगा रह गया। जापानी बम्बर बम बरसाने लगे। सीधे बम न गिरते, उड़ते हवाई जहाज से बम तिरछे गिरा करते। ऐसी अवस्था में जब तक बम सीधे सिर पर नहीं गिरता, तब तक आदमी को खतरा नहीं रहता। हवाई जहाज के अपने वेग के कारण बम सभी तिरछे उड़ते हुए गिरते। छिपते वक्त अपने सिर को पृथ्वी के धरातल से नीचे रखना पड़ता। बम जमीन पर गिरकर फटता तो थोड़ी देर के लिए वहाँ धरती काँपने लगती। हल्का भूकम्प-सा आ जाता। कप्तान लाल पैरों को समेटे नाले में बैठे थे, उसी समय एक अधेड़ उम्र का गोरा सिपाही काँपता हुआ नीचे

छिपता कप्तान लाल के पैरों के भीतर घुस गया। कप्तान उसको बहुत फटकारने लगे। लेकिन वह तो मौत को अपने सामने देख रहा था, इसलिए सोच रहा था कि आदमी का पैर ही मेरी ढाल का काम करेगा। उसने कहा भी, "यह मेरा अन्तिम समय है, भगवान के लिए मुझे बचाओ !" आसपास बम गिर रहे थे। बम गिरकर धरती पर फूटते तो चक्कर बँध जाता और उसमें से चिनगारियाँ निकलतीं। बमों के गिरकर चलने का रास्ता सरल रेखा में होता। अर्थात वे गिरकर एक दिशा की ओर जोर से दौड़ते। एक के बाद एक गिरनेवाले बम इस तरह कई सरल रेखाएँ बनाते। इन रेखाओं में जो आदमी आता, उसके बचने की सम्भावना न होती। यदि ट्रक, पेट्रोल-टंकी या पेड़ आते तो उनका भी ध्वंस होता। उस दिन बम-वर्षा में बहुत-से लोग मरे और उनसे भी अधिक घायल हुए। जो नये विमान लाकर सुरक्षित जगहों में रखे गए थे, उनमें भी अस्सी प्रतिशत बर्बाद हो गए। एक आदमी ने सिर को जमीन में छिपाकर बचने की कोशिश की थी, उसका कमर तक पैर बम उड़ा ले गया।

(2) बम जहाँ-तहाँ गिर रहे थे। एक कप्तान लाल के ट्रक पर भी गिरा। उसके पेट्रोल टैंक में आग लग गई और सभी चीजें जलने लगीं। रिवाल्वर गरम हुआ, कारतूस में आँच लगी तो गोलियाँ छूटने लगीं। आवाज और गोलियों की सनसनाहट सुनाई देती। कुछ सोचने के बाद कप्तान लाल को मालूम हुआ कि ये गोलियाँ हमारे रिवाल्वर की हैं। खैर, आदमी खाइयों और नालों में छिपे हुए थे। छूटती गोलियाँ उनके पास नहीं पहुँच सकती थीं। दुश्मन के जहाज चले गए, बर्म-वर्षा बन्द हो गई। बाहर निकलकर अधेड़ गोरे सिपाही को देखा, जो कप्तान के पैरों में घुस रहा था। उसको बहुत अफसोस करने की भी शक्ति नहीं थी। मौत के डर से अधमरा और पागल-सा हो गया था।

(3) जब इम्फाल में घिरावे में पड़े थे, उस वक्त सूचना गई कि अमुक तारीख को शून्य घण्टे पर एक बनावटी हवाई आक्रमण होगा। जल्दी-जल्दी तीन आवाजें सुनाई दीं। जल्दी-जल्दी लोहे की टोपी पहनकर लोग खाइयों में घुस गए। वह सूचना तुरन्त दुश्मन के हवाई आक्रमण की थी। कुछ देर तक वैसे बीता, फिर लोग अपनी-अपनी जगह आए। उसी समय नई आवाज सुनाई दी। विमानों की मशीनगन से गोलियाँ छूटकर पहाड़ में लग रही थीं। झूठे आक्रमण के खत्म होते ही आदमियों ने सच्चा आक्रमण शुरू कर दिया था, जिनमें बहुत-से लोग मारे गए। झूठी लड़ाई की सूचना अत्यन्त गोपनीय थी, कैसे जापानियों को मालूम हुई !

कप्तान लाल ने छुट्टी माँगी, तो सी. ओ. ने कहा, "हम तुम्हें भारत में काम पर भेज रहे हैं, उसी वक्त घर भी हो आना।" एक पंजाबी अफसर के साथ कप्तान लाल को काम दिया गया। सेना के विनोद की सामग्री खरीदकर लानी थी। पैसा भी वहीं मिल गया। चीजें कलकत्ता में मिलनेवाली थीं। कप्तान लाल सप्ताह-भर के लिए पूर्णिया चले गए। पंजाबी अफसर कलकत्ता जाकर अपने घर गया। दोनों कलकत्ता में मिले और विनोद की चीजें खरीदीं। लौटकर इम्फाल में एक महीना रहे, तब इक्कीस दिन की छुट्टी में कप्तान लाल कलकत्ता पहुँचे।

7

कलकत्ता पहुँचने पर पिता ने कहा, "तुम्हारी शादी की बातचीत चल रही है, आसाम के एक जमींदार की लड़की से विवाह करना है। वे लोग यहीं अपने मकान में हैं। जाकर लड़की और लड़की के घरवालों को देख लो।"

शाम को कार पर बैठकर बालीगंज में उक्त भवन में गए। लड़के-लड़की ने उसी वक्त वरक्षा का रिवाज पूरा किया। विवाह का दिन तय हुआ। इसके बाद कप्तान लाल इम्फाल लौटे। बिना ऊपर खबर दिए विवाह नहीं किया जा सकता, इसलिए अपने सी. ओ. से छुट्टी माँगी। कर्नल ने बहुत समझाया, "अभी लड़ाई में क्वाँरा ही रहना अच्छा है। देखो, मैं तुमसे अधिक उम्र का हूँ और मैं अभी क्वाँरा हूँ।"

पर दोनों ओर के माँ-बाप की इच्छा थी कि विवाह तुरंत हो जाए। शायद कप्तान की माँ के मन

में ख्याल आता हो कि कुछ भला-बुरा हो जाए, तो एक निशानी तो रह जाएगी। वहुत आग्रह देने पर सी. ओ. ने शादी मंजूर करा छुट्टी दे दी। विवाह करने पर कई भत्ते भी मिलने लगते थे—विवाह का भत्ता, विदेश जाने का भत्ता, पत्नी से अलग रहने का भत्ता; पर राजा साहब के लड़के को इन भत्तों का कोई ख्याल नहीं था।

इक्कीस दिन की छुट्टी शादी के लिए मिली, कप्तान लाल कलकत्ता आ गए। उस समय जापानियों के हवाई आक्रमण का डर बराबर बना रहता था, इसलिए रात को अधिकतर ब्लैक आउट (नगर अँधेरा) किया जाता था। नवम्बर 1944 में जिस दिन कप्तान लाल का कुमारी गिरिजादेवी से हिन्दू-विधि के अनुसार विवाह हुआ, उस दिन बरात निकालने का समय शाम को तीन बजे रखा गया था, जिसमें रोशनी की जरूरत न हो। लड़ाई का खतरा कलकत्ता के ऊपर भी था, इसलिए दोनों ओर के सम्बन्धी पूरा उत्सव नहीं कर पाए। भोज में कितने ही और परिचित राजा भी सम्मिलित हुए थे। एक सप्ताह बाद पूर्णिया गए। छुट्टियाँ वीतीं और दिसम्बर के मध्य में कप्तान लाल फिर इम्फाल के युद्धक्षेत्र में चले गए।

वर्मा में

इम्फाल पहुँचते ही हुकुम मिला कि कप्तान लाल को स्टाफ ड्यूटी में बर्मा में छिन्दविन नदी के किनारे जाना है।

पूर्णिया से गोहाटी आए, फिर दीमापुर पहुँचने पर ऑर्डर पहिले ही आया हुआ था। इसलिए हेडक्वार्टर में पहुँचना जरूरी था। लड़ाई के वक्त हेडक्वार्टर की जगहें बदलती रहतीं और अफसर भी। दीमापुर के कप्तान लाल के पास आखिर हुकुम पहुँच ही गया। और तुरन्त मिलनेवाले कॉनवॉय के साथ वे कोहिमा पहुँचे। अब तक कप्तान लाल की सेना का हेडक्वार्टर बर्मा चला गया था। पता लगा, इसके लिए टोंगथा से विमान पर जाना होगा। अगले दिन जिस विमान पर जाना था उसका नम्बर भी नोट कर लिया और सामान भी रख दिया। सबेरे पाँच बजे का समय दिया गया था। हवाई अड्डे पर पहुँचने पर मालूम हुआ कि विमान चला गया। आसमान साफ था और सुविधा देखकर उसे तीन बजे ही भेज दिया गया। सामान भी चला गया। ऐसे गए सामान का फिर हाथ आना मुश्किल था, पर जल्दी से दूसरा विमान जानेवाला था और मीनार पर से कप्तान लाल के लिए आवाज दी जा रही थी। किसी मित्र ने जब खबर दी तो लाल साहब पहुँचकर विमान पर बैठ गए।

नया देश था। नीचे भारी जंगल और पहाड़ और पगोड़ा (स्तूप)। बस्तियाँ भी दीख पड़ती थीं। कुछ समय बाद विमान टोंगथा में उतरा। कैम्प में जाने पर विश्राम-स्थान में गए, सामान पूछा, तो वह एक कोने में रखा हुआ मिला। सिर्फ एक काम की चीज गुम थी। कलकत्ता में जाकर कप्तान लाल ने अमेरिका की बनी एक कैम्प बेड (सफरी चारपाई) एक सौ पचास रुपये में खरीदी थी, जिस पर सोने में बहुत आराम मिलता था। अब उसके बिना जमीन पर त्रिपाल और बिछौने बिछाकर सोना पड़ता। यहाँ कहाँ वैसी चीज किसी दाम पर भी मिल सकती थी !

हेडक्वार्टर की एक स्टेशन वैगेन (कार) कप्तान लाल को ढूँढ़ रही थी, चढ़कर बिग्रेडियर के पास गए। बिग्रेडियर ने तम्बू, भोजनशाला आदि दिखला दी और बतला दिया, "यह तुम्हारा ऑफिस रहा। जी. एस. ओ. 3 (जनरल स्टाफ अफसर-3) का काम मिला, जो कप्तान के बराबर था। जी. एस. ओ-2 का अर्थ मेजर था। काम था, सभी युद्ध-क्षेत्र की संकेत की भाषा में आई खबरों को पाकर उनके मुताबिक एक बड़े नक्शे पर युद्धक्षेत्र में दोनों सेनाओं के स्थानों को झंडों द्वारा बतलाना। रात को जितने संदेश मिलते, उन सबके मुताबिक सबेरे नक्शा तैयार कर तीन सौ अफसरों और जेनरल के सामने एक बड़े तम्बू में युद्धक्षेत्र की स्थिति पर भाषण देना। सामने लम्बा-चौड़ा नक्शा टँगा रहता, जिसमें दोनों तरफ के दो रंग के झंडे स्थान-स्थान पर गाड़े रहते। उसमें व्याख्याता एक लम्बे डंडे को लेकर स्थानों को बताते हुए युद्ध की स्थिति पर भाषण देता। यह भी बतलाता कि कल कहाँ लड़ाई हुई, कितने मरे और कितने घायल हुए। यह तो निश्चय था कि दूर मार करनेवाले

हथियारों की लड़ाईवाले हरेक क्षेत्र को आँख से नहीं देखा जा सकता था। आँख से देखने का यही एक रास्ता था।

जापानी सेना और पीछे हटी। हेडक्वार्टर को उत्तरी बर्मा से केन्द्रीय बर्मा में लाया गया। स्टाफ के सारे सामान को विमानों पर लादकर बर्मा के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर पगान में पहुँचाया गया। मध्यकाल में पगान बर्मा की राजधानी और वर्मा की सबसे सुन्दर इमारतें, विहार, चैत्य (स्तूप) आदि यहीं थे।[1] अब 1945 की फरवरी थी। पगान की ऐतिहासिक इमारतों को देखकर कप्तान लाल के मन में बौद्ध इतिहास का विद्यार्थी न होने पर भी क्या-क्या भाव पैदा होते थे ! इमारतों में लटकती छोटी से छोटी घंटियाँ हवा के झोंके से भी टुन-टुन बजतीं, जो सुन्दर वाद्य का दृश्य उपस्थित करतीं। पगान के आनन्द पगोड़ा को उन्होंने देखा। बौद्ध गया के नमूने पर बने मन्दिर को भी देखा। दीवारों पर अंकित सुन्दर रंग-बिरंगे त्रिकोण चित्र भी देखे। कप्तान लाल को इसी का अफसोस था कि वे चित्रों और घटनाओं की विशेष जानकारी नहीं रखते थे, न लड़ाई के जमाने में उन पर लिखी पुस्तकें पढ़ने को मिल सकती थीं।

लड़ाई और दक्षिण की ओर वढ़ी। हेडक्वार्टर के सारे लोग पगान से चले गए। एक पेड़ के नीचे कप्तान लाल टेलीफोन लिये बैठे थे। फोन से जिस वक्त संदेश आया, उस वक्त उनके जाने के लिए उनके पास दो सीटवाले पाँच-छह विमान मौजूद थे। अपने लिए ही नहीं, बल्कि दूसरे अफसर भी उनसे विमान माँगते। एक-एक करके सारे अफसर चले गए। अब कप्तान लाल और एक विमान रह गया था। फोन से संदेश मिलते ही वे टेलीफोन लेकर विमान पर चढ़े। विमान बर्मा के मशहूर तेल-क्षेत्र के ऊपर से उड़ा। और नजदीक से देखने के लिए विमान बहुत नीचे-नीचे धीमी गति से जा रहा था। इस तेलक्षेत्र को ध्वंस करने के लिए अंग्रेज और जापानी तुले हुए थे। जब बर्मा अंग्रेजों के हाथ से जापानियों के हाथ में गया, तब इसे अंग्रेजों ने नष्ट किया, जिससे जापानी तेल न पा सकें। अब जब जापानी भागे, तो उन्होंने उसे नष्ट करके काला कर दिया था, ताकि अंग्रेज तेल का उपयोग न कर सकें।

दो-तीन सप्ताह बाद रंगून से जापानियों को भागना पड़ा, टोंगु में बड़ी लड़ाई हुई। बचे-खुचे जापानी रंगून के बाहर एक द्वीप में जमा हो गए थे। इस वक्त तुरन्त सैनिक हेडक्वार्टर को रंगून भेजना था। कप्तान लाल डकोटा विमान पर सवेरे रंगून पहुँचे। वर्षा हो रही थी, सारा नगर ध्वस्त था। बिजली के खम्भे टेढ़े-मेढ़े हो गए थे। रेल के इंजिनों को भी मरोड़ दिया गया था। रंगून बुरी तरह से ध्वस्त नगर दिखाई पड़ा। हवाई अड्डे से उतरे। मालूम हुआ कि हेडक्वार्टर जेडसन कॉलेज में रहेगा। प्रोफेसरों के मकानों में मिलिटरी अफसर ठहरे, आई. सी. एस. लोगों के बँगलों में भी सैनिक अफसर। यह 1945 का अन्त था। अब बर्मा में सेना को फिर से संगठित करना था। जापानियों ने तीन वर्ष के करीब बर्मा पर शासन किया।

दिसम्बर 1945 में रंगून चले गए थे। जुलाई-अगस्त में मेकटिला में थे। मेमो ऊपर पहाड़ पर पड़ता था। ठंडी जगह थी। वहाँ स्वास्थ्य के लिए सैनिकों को भेजा जाता। हिसाब लगाने से लाल साहब को मालूम हुआ कि घर में नवम्बर में बच्चा होनेवाला है। लेकिन फिर गलती मालूम हुई। अक्तूबर में ही सम्भावना थी। दूसरे अंग्रेज अफसर से अक्तूबर की छुट्टी अपने लिए बदलवाई।

अगस्त के एक दिन अखबार (स्टेट्समैन) में देखा कि कप्तान लाल को पुत्र और राजा पृथ्वीचन्द्र लाल को पौत्र लाभ हुआ है। साथी अफसरों ने कहा, "लाल, भोज दो, लड़का पैदा हुआ है।" कप्तान लाल ने कहा, "मेस में चलो, जितना पान चाहो, पिओ।" अब लाल को देश जाने की फिक्र हुई। मेकटिला में रोज विमान कलकत्ता जाता और वहाँ से फल, साग और सब्जी लाता। जाने में कोई दिक्कत नहीं थी। पर, घर की हालत मालूम करना जरूरी था। बेतार से अकेयाब और अकेयाब से चटगाँव, वहाँ से कुमिल्ला, फिर कलकत्ता फोर्ट विलियम में टेलीफोन मिलाया गया। घर का टेलीफोन देने पर माँ ने टेलीफोन पर जवाब दिया। आवाज इतनी साफ थी कि उनको मालूम हुआ कि लड़का स्यालदह स्टेशन से बोल रहा है। उन्होंने बताया कि मैं बर्मा

1. देखिए, मेरी 'बौद्ध संस्कृति' नामक पुस्तक।

से बोल रहा हूँ। फिर माँ ने कहा कि बच्चा सात महीने का ऑपरेशन करके माँ के पेट से निकाला गया। माँ की तबियत ठीक है, बच्चा भी अच्छा है। सात महीने का बच्चा अत्यन्त कोमल और प्रायः जिन्दा नहीं बचता। बच्चे को रूई के फाहों में लिटाया गया था, माँ ने इतमीनान की बात कही। कप्तान लाल ने फिर अगले दिन उसी समय फोन करने को कहा—झोंक में आकर माँ-बेटे ने हिन्दी में बात की। टेलीफोनवाले ने तुरन्त कहा, "जिस भाषा को हम नहीं जानते, उसमें बातचीत नहीं कीजिए।" कप्तान लाल ने तुरन्त अंग्रेजी में क्षमा माँगकर बात शुरू की। टेलीफोनवाले ने दिल खोलकर बात करने का मौका दिया। पार्क नर्सिंग होम में माँ-बेटे को रखा गया था।

मेकटिला में एक बड़ा तालाब था, हेडक्वार्टर को उससे अच्छा स्थान कोई न मिला। लड़ाई के वक्त में आदमियों और जानवरों के मुर्दे तथा टूटी-फूटी मशीन बुलडोजर से ढकेलकर उसी तालाब में डुबा दी जाती। लाशें सड़ गई थीं, बदबू कम हो गई थी। उसी तालाब का पानी पाइप से खींचकर फिल्टर करके लोगों को पीना पड़ता था। कभी-कभी कोई ठठरी पाइप में अटक जाती, उसको निकालने के लिए तीन-चार आदमी डूबकर हटाने के लिए तैयार रहते।

कप्तान लाल को घर जाने की छुट्टी का समय बदलना पड़ा। उन्होंने सोचा कि जब बच्चा दिसम्बर में चार मास का हो जाएगा, तब घर जाना अच्छा होगा। फोन पर समाचार भेजने में कोई दिक्कत नहीं थी। उन्होंने घरवालों को खबर दे दी कि मैं दिसम्बर में आऊँगा। दक्षिण बर्मा (डिवीजन) में कप्तान लाल को जाने का हुकुम आ गया। रंगून को जापानी छोड़कर भाग गए। रंगून से माँडले के दो रास्ते थे, एक पेगु और टोंगु होकर और दूसरा प्रोम होकर। दोनों सड़कों के बीच में घोर जंगल था। कितने ही जापानी उसी जंगल में छिपे हुए थे। वे लारियों का सामान देखते ही अपने शत्रुओं को मारते। कॉनवॉय को बहुत क्षति होती। दक्षिणी बर्मा से रंगून में दिसम्बर 1945 में आए। वहाँ पुराने आई. सी. एस. लोगों के बँगलों में सैनिक अफसर ठहरे थे। सितम्बर 1946 तक वहीं रहे। यूरोप में जर्मनों की पराजय हो चुकी थी। अमेरिका ने हारते जापान के हिरोशिमा और नागासाकी के ऊपर परमाणु बम गिराकर अपने आततायीपन का परिचय दिया। जापानियों की पराजय के लिए इस बम की कोई जरूरत नहीं थी। वस्तुतः यह इसलिए गिराया गया था कि लड़ाई का सबसे अधिक श्रेय सोवियत सेना को था, कहीं लूट के माल में अर्थात अधिकृत स्थानों के बारे में उसका दावा बड़ा न हो, वह सारे कोरिया और जापान पर भी अधिकार करना न चाहे। इसलिए लाखों निरीह नागरिकों का खून बहाकर अमेरिका ने रूस को एक तरह से धमकी दी।

हिरोशिमा के बाद जापानी सैनिक समर्पण करने लगे। पी. ओ. डब्ल्यू. (प्रिजनर ऑव वार) कैम्प का प्रबन्ध जापानी अफसरों को दे दिया गया। उनमें स्वस्थ कैदियों को पकड़कर रंगून शहर की मरम्मत के काम में लगाया गया। लड़ाई की ध्वंस-लीला को ठीक करने के लिए कैदियों से खूब काम लिया गया। कैम्प के अलावा इन्सेल जेल में जापानी रखे गए थे। लड़ाई में पुरुष ही भाग लेते हैं, वहाँ स्त्रियों का देखना सम्भव नहीं था। वैसे, बर्मा पर दो बरस से अधिक अधिकार होने से कितने ही जापानी परिवार भी वहाँ आ बसे थे।

एक दिन एक अफसर ने जसवन्तचन्द्र लाल से कहा, "चलो एक बात दिखलाएँ।" इन्सेल जेल ही में एक भुईंधरा में सीढ़ी से उतरना पड़ा। ठकठकाने पर दो जापानी नर्सें आईं। वे हाथ जोड़कर बार-बार नमस्कार करने लगीं और कहा, "अब हम आपके पराजित बन्दी हैं।" उन्होंने बड़ी मिन्नत की कि हमको जापान नहीं, भारत भेज दो। जापान जाने पर हराकिरी (आत्महत्या) करने के लिए कहा जाता, इसीलिए वे प्रार्थना कर रही थीं। कप्तान और उनके साथी ने पूछा, "राशन आदि की कोई तकलीफ तो नहीं है ?" उन्होंने कहा, "कोई तकलीफ नहीं है।" उनकी मिन्नत और उनके दयनीय भाव को देखना मुश्किल था, इसलिए अपने दुभाषिया अफसर से कहा, "इनको जाने दो।"

तलवार-समर्पण

जेडसन कॉलेज में जापानी अफसरों को तलवार-समर्पण कराने का समय नियत किया गया। जापानी जेनरल, कर्नल, कप्तान–सब लाकर खड़े किए गए। उनकी तलवारों को पैर से दबाया और तोड़ा जाता था, जो जेनरल या अफसर इन्कार करते, उनको धक्का देकर तलवार छीनकर तोड़ दी जाती। कितनी ही तलवारें ऐतिहासिक थीं, जापानी अक्षरों में उन पर उनके बारे में लिखा रहता था। अंग्रेज इस तरह अपने विजेतापन को दिखलाते थे और शत्रु की अवहेलना करते थे।

यूरोप में लड़ाई बन्द हो गई। उस दिन जो उत्सव मनाया गया, उसे वी. ई. डे (विक्टरी फार यूरोप डे–यूरोप विजय दिवस) कहा जाता था। और वी. जे. डे (विजय जापान दिवस) कहा जाता था। एशिया के लिए अंग्रेजों का सबसे बड़ा सैन्य लार्ड माउण्टबेटन था। वी. ई. ई. की परेड के लिए सीलोन से बर्मा आया। परेड में बहुत बड़ी तादाद में अफसर और सैनिक इकट्ठा जमा होते। जापानियों ने सभी जगह अभी हथियार छोड़ नहीं दिए थे, इसलिए डर था कि कहीं वे अपने हवाई जहाजों से परेड की भीड़ पर बम न गिराएँ। इसलिए जिस तारीख और जिस घड़ी की परेड की जाएगी, उसका पता सैनिकों और अफसरों को नहीं दिया था, सिर्फ इतना ही बतलाया था कि सूचना मिलते ही परेड में जमा हो जाओ। जापानियों को दिन का पता नहीं। समय से एक-दो घंटे पहिले परेड की घोषणा की गई और सबेरे परेड हुई। उस समय वर्षा हो रही थी। परेड की धरती के ऊपर और रंगून के ऊपर विमान शत्रु से बचाव के लिए हर वक्त उड़ते रहे और इंतिजाम था कि खतरे की आवाज आते ही सेना तितर-बितर हो जाएगी।

जर्मनों और जापानियों का मन्सूबा विफल हुआ और दोनों की विजयी सेना हिन्दुस्तान में आकर मिल नहीं सकीं। अब जापान को एशिया का स्वामी और जर्मनी को सारे यूरोप का विजेता बनने की आशा नहीं रह गई।

भारतीय सैनिकों को मिलाकर इंडियन नेशनल आर्मी नेताजी ने संगठित की थी। इम्फाल में यह आई. एन. ए. सेना पहुँची थी। वे लाउडस्पीकर में अपने हिन्दुस्तानी सैनिक बन्धुओं से बात करते थे–हम लुधियाना के अमुक गाँव के अमुक हवलदार हैं। जापानियों की मदद मिली और हम अंग्रेजों को निकालकर दिल्ली में भारत की स्वतन्त्रता का झंडा गाड़ेंगे। आओ, हम मिलकर दिल्ली चलें।

अंग्रेजों को डर होने लगा था कि कहीं हिन्दुस्तानी सिपाहियों का मन बिगड़ न जाए। उन्हें हिन्दुस्तानी अफसरों पर भी संदेह होने लगा।

अब तो जापानियों के आत्मसमर्पण का समय आ गया था। उनकी भनक लगते ही हिन्दुस्तानी अफसर और सैनिक (आई. एन. ए.) भारतीय सेना की ओर आने लगे। जापानियों ने भारतीयों के साथ समानता और ईमानदारी से काम नहीं किया, जिसके कारण उनका मन बिगड़ गया।

8

लड़ाई खत्म हो गई, अब सैनिकों को घर भेजना था। उन्हें आयु-सेवा-समूह (Age Service Group) के अनुसार जितने साल सैनिक सेवा की थी, उतने महीने की पूरे वेतन के साथ छुट्टी मिलती। कप्तान लाल को भारत जाने की आज्ञा मिली। रंगून की जेटी पर स्टीमर बराबर सैनिकों को ढोने में लगे थे। उन्हीं में से एक पर कप्तान लाल कलकत्ता पहुँचे। ट्रक बैरकपुर के ट्रान्जिट कैम्प में अपने यूनिट में गए। वहाँ से पूर्णिया जाने का हुकुम नहीं हुआ। उन्हें अपने स्थान हैदराबाद के जालना छावनी में जाना पड़ा। वहाँ से ढाई मास की सवेतन छुट्टी के बाद कप्तान का दर्जा स्वतन्त्रता के बाद मिला, इसलिए वह नाम के साथ उसे इस्तेमाल कर सकते हैं। 15 अगस्त 1947 को अंग्रेज भारत से चले गए। भारत उनकी गुलामी से आजाद हुआ। यह उनकी दया

के कारण नहीं था। भारतीय सेना अब पहिले जमाने की भारतीय सेना नहीं थी। अफसर और सिपाही दोनों अब भाड़े के टट्टू नहीं थे। वे अपने देश की आजादी के लिए बहुत जोश रखते थे, यह उन्होंने नौसेना के विद्रोह से दिखला दिया। कप्तान लाल स्वयं खतरा मोल लेने को तैयार थे, यह एक घटना से मालूम होता है। लड़ाई के दौरान में वे भारत आए थे, उसी समय एक आदमी ने विश्वसनीय समझकर एक पार्सल देकर बतलाया–रंगून में अमुक गली में एक पंजावी रहता है। कई बार के परिचय के वाद जव उसे विश्वास होगा, तब वह आई. एन. ए. की झाँसी रेजीमेण्ट की अफसर लक्ष्मीबाई से मिला देगा। यह काम फौज के कानून के खिलाफ था, अंग्रेजों के साथ विश्वासघात करना था। लेकिन देशभक्ति उनके ऊपर थी। कप्तान लाल ने खतरा स्वीकार किया। उन्होंने फौज में सुन रखा था कि लक्ष्मीबाई रंगून में ही हैं, लेकिन हजार कोशिश करने पर भी अंग्रेज पता नहीं लगा सके। रंगून लौटकर उस गली में पंजावी के पास लाल साहव गए। उसको पलटन के अफसर के ऊपर सन्देह हो सकता था, विशेषकर जवकि अफसर अंग्रेजों जैसा रंग-रूप रखता हो। लाल साहब ने पंजाबी बन्धु को कह दिया था कि मुझे जल्दी नहीं है, फिर मिलूँगा। कई वार मिलने के बाद पंजाबी के मन में विश्वास हुआ। एक दिन चाय पर कप्तान लाल लक्ष्मी से मिले। मिलकर वे बहुत प्रभावित हुए, उस तरुणी की निर्भीकता पर। उसके रूप को देखकर मालूम होता था कि वह साक्षात रानी झाँसी की तरह सुन्दरी और प्रभावती है।

जालना से कप्तान लाल पूर्णिया पहुँचे। माता-पिता लड़ाई से पुत्र को जीवित लौटा पाकर बहुत खुश हुए। बच्चा अब दो साल का हो गया था। राज के कारबार देखने का काम मिला। जमींदारी उठाने की बात सुनने में आती थी। राजा साहब अंग्रेजों के परम भक्त थे। उनकी तरह के दूसरे धनी-मानी जमींदार भी उसी तरह सोचते थे। पहिले तो उनको विश्वास ही नहीं होता था कि जमींदारी चली जाएगी, वैसे ही जैसे विश्वास नहीं होता था कि अंग्रेजों का राज खत्म हो जाएगा। राजा पृथ्वीचन्द्र लाल की जमींदारी की आमदनी तेरह लाख के करीब थी, जिसमें सरकार को साढ़े चार लाख देना पड़ता था। बिहार में दरभंगा, डुमराँव, बेतिया, हथुआ आदि कितने ही और बड़े-वड़े जमींदार थे, लेकिन जितनी बकाश्त (कामत) राजा पृथ्वीचन्द्र लाल के पास थी, इतनी किसी के पास नहीं थी। हर साल अपने खेतों में लाखों मन गल्ला पैदा होता था। गल्ले के बारे में वे बिहार के सबसे बड़े जमींदार थे।

राजा पृथ्वीचन्द्र लाल ने अपने एक चचेरे भाई के लड़के श्रीचन्द्र लाल को गोद लेने का वचन दिया था। श्रीचन्द्र लाल हिन्दू माता के लड़के थे। पीछे उनका ख्याल बदल गया। उधर डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने पूर्णिया का भावी मालिक समझकर श्रीचन्द्र लाल के साथ अपनी मेधावी लड़की धर्मशीला का विवाह कर दिया था। राजा साहब का रुख पलटा देखकर उनको खेद हुआ। अपनी लड़की और दामाद दोनों को विलायत पढ़ने भेज दिया। दोनों कई और डिग्रियों के साथ बैरिस्टर बनकर लौटे। पीछे जायसवालजी की मृत्यु के बाद पति-पत्नी में मेल नहीं रहा। श्रीचन्द्र लाल लड़ाई के वक्त में पलटन में अफसर हो गए। उनका स्वभाव इतना सरल और मधुर था कि कोई भी आदमी उनके पास आकर उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। लड़ाई के बाद श्रीचन्द्र लाल असैनिक नौकरी में चले गए और विधान-मंडल के डिप्टी सेक्रेटरी हुए। कप्तान जसवन्त लाल उनके मित्र थे।

एक दिन जमींदारी-उन्मूलन कानून की बहस सुनने कप्तान जसवन्त लाल भी पटना पहुँचे। डिप्टी सेक्रेटरी साहब ने उनके विधान-सभा में बैठने का प्रवन्ध कर दिया। एक तरफ सफेद गाँधी टोपी पहने एक महोदय जमींदारी-उन्मूलन के लिए बहस कर रहे थे। श्रीकृष्णबल्लभ सहाय ने बिल को पेश कर बहस की। दूसरी ओर जमींदारों के नेता मुजफ्फरपुर जिले के जमींदार रायबहादुर श्यामनन्दन सहाय डटे थे। बड़े-बड़े जमींदारों को पता नहीं था। मुट्ठी-भर जमींदार कर ही क्या सकते थे। कितने शरम के मारे उपस्थित नहीं हुए थे।

1936-37 की बात है। उस वक्त विधान-सभाओं का नया चुनाव हो गया था और उसमें अंग्रेजों के लाडले जमींदार बहुत बुरी तरह परास्त हुए थे। उसी को लेकर डॉक्टर जायसवाल ने एक बड़ा चुभता लेख

शायद 'माडर्न रिव्यू' में लिखा था, जिसको पढ़कर कितने ही तिलमिला उठे। एक बड़े जमींदार ने टेलीफोन पर जायसवालजी को धमकी दी थी कि यदि आप इस रास्ते को नहीं छोड़ेंगे तो जमींदार आपका बायकाट करेंगे। जायसवालजी ने मुँहतोड़ जवाब दिया, "मैं किसी की दया पर बैरिस्टरी नहीं करता, मुझे अपनी योग्यता पर भरोसा है। मुझे जो सामने दिखलाई देता है, उसे स्पष्ट कहता हूँ।" करीब बारह बरस बाद जायसवालजी की भविष्यवाणी सच हुई, जबकि जमींदारी-प्रथा उठ गई। लेकिन उक्त बड़े जमींदार को व्यक्तिगत घाटा उठाने का मौका नहीं मिला। अंग्रेजों की तरह कांग्रेस सरकार उन पर ढर गई और उन्हें अनेकत्र राजदूत और राज्यपाल बनने का मौका मिला।

श्री सच्चिदानन्द सिन्हा राजा पृथ्वीचन्द्र लाल के गहरे दोस्त थे। कप्तान लाल यहाँ ठहरे थे। वे जमींदारी कानून की बहस के वारे में पूछकर और उसे नोट कर शायद छपवा देते। अन्त में बिल पास हो गया। जमींदारों के लिए यह हिरोशिमा का बम था। राजा साहब को भी और सारे जमींदारों को खेद होना ही चाहिए था।

नेशनल गार्ड

सी. एम. झा बिहार पुलिस के डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल थे। बिहार सरकार होमगार्ड संगठित करना चाहती थी, क्योंकि जमींदारी प्रथा उठाकर किसानों को बहुत संतुष्ट नहीं कर सकी। उसमें संतोष होना जरूरी था। वैसे भी ऐसी अवस्था देश में हो गई थी, जिससे अशांति का डर था। उसे दबाने के लिए होमगार्ड या देशरक्षक सेना संगठित की जाने लगी। सी. एम. झा राजा पृथ्वीचन्द्र लाल के दोस्तों में थे। वे एक बार पूर्णिया आए तो कप्तान लाल से पूछा, "क्या कर रहे हो ?"

"कुछ नहीं।" इस पर झा ने होमगार्ड में दरखास्त लिखने को कहा और नवम्बर 1948 में तार आया कि इण्टरव्यू के लिए चले आओ।

कप्तान लाल होमगार्ड के लिए पटना गए। कांग्रेस सरकार थी और कप्तान लाल अंग्रेजों के भक्त एक जमींदार राजा के पुत्र। जहाँ तक होमगार्ड (देशरक्षक) सेना का सम्बन्ध था, उसके लिए योग्यतम अफसर थे। बाकायदा फौजी शिक्षा पाई थी। फिर उन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध में अपनी हिम्मत और योग्यता का परिचय दिया था। होमगार्ड (देशरक्षक) सेना का ख्याल सत्ताधारी वर्ग की रक्षा करने के लिए कांग्रेसी दिमाग में आया था। सारे आंदोलन के समय लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलाई गई थीं। रामराज्य का सपना गाँधीजी भी दिलाने में बाज नहीं आते थे। लेकिन जो सरकार कायम की गई थी, वह भ्रष्टाचार, घूस-रिश्वत के बल पर चलती थी। आँखों के देखते-देखते कल के रंक आज करोड़पति हो गए। जिन्होंने सचाई का रास्ता लिया, जो ईमानदार रहे, उन कांग्रेसियों की कहीं पूछ न थी। सारे भ्रष्टाचार को लोग आँखों के सामने देख रहे थे। इसलिए लोगों में असन्तोष होना स्वाभाविक बात थी। ऐसे वातावरण में कुछ लोग अशान्ति का मार्ग लेकर धन जमा करना चाहें तो कोई आश्चर्य नहीं। कांग्रेस सरकार को इसी चिन्ता के मारे होमगार्ड संगठित करने का ख्याल आया। वह कितने दिनों तक जमींदारी प्रथा उठाने में ननुनच करती रही। जमींदार के अपने जोत के खेतों की सीमाबन्दी में भी वही मनोवृत्ति काम करती रही। पुराने जमींदारों को भी उनके अत्याचार की पुश्तैनी अर्जित जायदाद से वंचित करना नहीं चाहा। जमींदार-वर्ग का एक तरुण होमगार्ड का सचमुच कमांडेंट कैसे हो सकता था। यह दूसरी बात थी कि कप्तान लाल का हृदय सदा से गरीबों की ओर था। चाहे राजनीति में वे उग्र नहीं रहे, पर यह उन्हें भी मालूम नहीं कि क्यों उनके मन में गरीबी के प्रति इतनी सहानुभूति हो सकती है; कलकत्ता में एंग्लो-इंडियन 'बड़ा मास्टर' के घर में रहते उनसे बर्तन धोना, मकान साफ करना, बूट में पालिश लगाना आदि काम जैसे कराया जाता था, वह गरीब मजदूरों के योग्य था। शायद उसने यह सहानुभूति पैदा कर दी हो।

यह आश्चर्य की बात नहीं है, जो चीन 1948 तक हद दर्जे की घूसखोरी और भ्रष्टाचार का अखाड़ा था। पर, दस बरस शासन करने के बाद ही 1958 में सारे भ्रष्टाचार हवा हो गए। होटलों में ताला लगाने की जरूरत न पड़ती। वहाँ शहरों में ऐसी दूकानें खुल गईं, जिनमें माल पर दाम लिखा रहता और लोग अपने-आप

जाकर पैसा रखकर चीज उठा देते। ऐसा कायापलट क्यों हुआ। जनता के नेताओं ने अपने लाभ के लिए भ्रष्टाचार का रास्ता नहीं लिया। चांग काई-शेक के भ्रष्टाचारपूर्ण शासन को उन्होंने उठा दिया। मंत्रियों और शासकों ने लोगों के सामने आदर्श रखा। देश की सारी शक्ति अन्न और उपज बढ़ाने में लगाई। उपज बढ़ने के साथ-साथ लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा होता गया। लोगों में व्याख्यान दिए बिना यह विश्वास दृढ़ होने लगा कि नये शासक दूसरे ही प्रकार के हैं। 'बड़ा अक्षर' आन्दोलन ने भ्रष्टाचारियों और अत्याचारियों के खिलाफ जनता का जेहाद बोल दिया। पुराने अखबारों पर मोटे-मोटे अक्षरों में बड़े से बड़े आदमियों की शिकायत बिना नाम दिए लिखी जाती थी। इसी को 'बड़ा अक्षर' कहते थे। किसी आदमी के बारे में इसे लिखकर टाँग दिया जाता था। फिर बाकायदा इलजाम की जाँच होती और उसके अनुसार दण्ड दिया जाता। चीन ने वस्तुतः भ्रष्टाचार उठा देने का व्रत ले लिया था। भारत में क्लर्क मुवक्किल बिना कचहरी में मक्खी मारते, वकील नेता आज करोड़पति, मंत्री, मुख्यमन्त्री हो गए हैं। इसलिए भ्रष्टाचार कैसे उठता ?

पहिले के अंग्रेजपरस्त जमींदार और बड़े लोग अब कांग्रेस-परस्त हो गए थे और कांग्रेसी सरकार के जमाने में भी पहिले की तरह फूलते-फलते रहे। उनकी वात मानी जाती थी। गवर्नर और बड़े-बड़े राजदूत के पदों पर नियुक्त हो जाते। कप्तान लाल के पास सिफारशी पत्रों की कमी न थी। ढाका नवाब बंगाल सरकार के मंत्री थे, जिनके साथ कप्तान लाल महीनों रहे। उन्होंने 'मलदौन' दार्जिलिंग में 31 मई 1941 में लिखे गए अपने पत्र में कहा था :

"मुझे यह प्रमाणित करते अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि मैं मिस्टर जे. सी. लाल को उनके बचपन से जानता हूँ। बिहार के पूर्णिया नगर के नजरगंज राज के सम्माननीय जमींदार-परिवार के पुत्र हैं। उनके आचार-व्यवहार बहुत प्रसन्नताप्रद हैं। उनका आचार अति उत्तम है। वे चौकस, बुद्धिमान और शरीर से मजबूत हैं। वे विश्वासपात्र, ईमानदार और सबसे ऊपर ऐसे व्यक्ति हैं जिनके ऊपर जवाबदेही का कर्तव्य सौंपा जा सकता है। मैं योग्य सरकारी काम के लिए उनकी जबरदस्त सिफारिश करता हूँ।

नवाब बहादुर, ढाका
बंगाल गवर्नमेण्ट के मंत्री।"

बंगाल के एक दूसरे मंत्री सर विजयसिंह राय, दार्जिलिंग से 6 मई 1941 को कहते हैं :

"मैं इस पत्र द्वारा प्रमाणित करता हूँ कि मैं मिस्टर जे. सी. लाल को उनके बचपन से जानता हूँ। वे बिहार के पूर्णिया नगर के नजरगंज राज के जमींदार-परिवार की संतान हैं। उनका आचार-व्यवहार प्रसन्नतादायक और उनका आचरण अति उत्तम है। वे एक उत्तम खिलाड़ी हैं और मजबूत शरीर क धनी। वे चौकस, बुद्धिमान, विश्वासपात्र हैं। उन पर दायित्वपूर्ण कर्तव्य रखा जा सकता है।

(हस्ताक्षर)
वी. पी. सिंह राय"।

कप्तान लाल ने बिहटा (पटना) कैम्प में होमगार्डों के प्रशिक्षण का भार अपने ऊपर लिया। यह सितम्बर 1948 का समय था। उनका मन तरुणों को नये भारत की जिम्मेदारी सिखलाने में खूब लगता था। उसी सम्बन्ध में उनको जमशेदपुर, गया, पटना जाना पड़ा। राज्यपाल का स्वागत फौजी ढंग से होमगार्ड करते, मंत्रियों का भी स्वागत होता। सभी तारीफ करते। उनकी लिखी गई रिपोर्टें बड़ी ज्ञानवर्धक होतीं।

लेकिन होमगार्ड के सेनापति को यह काम 13 अप्रैल 1949 अर्थात सवा वर्ष के बाद छोड़ देना पड़ा, क्योंकि उन्हें अपना खर्च चलाने के लिए घर से रुपया मँगाना पड़ता था। पत्नी रुग्ण रहतीं, कम खर्च करते-करते भी दोनों को चार-पाँच सौ रुपया घर से मँगाना पड़ता। यह ज्यादा दिन तक चल नहीं सकता था। अप्रैल 1949 को इस्तीफा मंजूर हुआ। कप्तान लाल पत्नी को चिकित्सा के लिए मई 1949 में कलकत्ता उनकी अपनी माँ के पास रख आए। वे सितम्बर तक वहीं रहीं। अक्तूबर 1949 के दशहरे के दिनों में कप्तान लाल पूर्णिया चले आए। अगले साल (1950) में राज्य के ऑफिस में काम करने लगे। राजा साहब का एक बिजली से चलनेवाला छापाखाना था। 1942 में उसका भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया। बीच-बीच में दार्जिलिंग भी

जाते थे। उनकी माँ रानी सरस्वतीदेवी उस समय बहुत बीमार थीं। अक्तूबर 1952 में उनकी बीमारी बहुत बढ़ गई। साँस लेने की यंत्रणा होती थी। डॉक्टरों ने नीचे जाने को कहा।

9

रानी सरस्वतीदेवी यद्यपि अहिन्दू घर में पैदा हुईं, पर वे सुसंस्कृत महिला थीं। राजा साहब का उस परिवार (कलकत्ता) में पहिले ही परिचय था और उन्होंने अपनी पत्नी बनाने का निश्चय करके उन्हें उचित शिक्षा-दीक्षा दी थी। रानी सरस्वतीदेवी देखने में यूरोपियन परिवार की-सी मालूम होती थीं। राजा साहब ने हिन्दू बनाकर रानी सरस्वतीदेवी के नाम से उनके साथ विवाह किया और सहधर्मिणी बनाकर रखा। दोनों में बड़ा प्रेम था। बीमारी के वक्त में चिकित्सा कराने में उन्होंने कोई कसर उठा न रखी। बीमारी बढ़ती ही गई। दिसम्बर 1952 में स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई और बड़े-बड़े डॉक्टर चिकित्सा के लिए बुलाए गए। नर्सें चौबीसों घण्टे देखती रहतीं। 31 दिसम्बर 1952 में उनकी मृत्यु हो गई। गंगा किनारे कडागोला घाट बहुत पवित्र माना जाता है, वहीं चन्दन की चिता बनी और 1953 की 1 जनवरी को रानी सरस्वतीदेवी का दाह-संस्कार हुआ। ज्येष्ठ पुत्र कुमार विक्रम लाल ने चिता में आग दी। सौ-डेढ़ सौ आदमी दूर चलकर वहाँ पहुँचे थे। ब्राह्मणों ने मन्त्र-पाठ पढ़ा। श्राद्ध का भार ज्येष्ट पुत्र पर हिन्दू धर्म के अनुसार होता है। विक्रम लाल बिना सिले कपड़े पहिने जमीन पर सोते रहे। आग देनेवाले पुरुष के सारे नियमों का उन्होंने पालन किया। लोगों ने केश मुड़ाए। शय्यादान आदि सारी विधियाँ पूरी की गईं। श्राद्ध-भोज में पाँच-सात सौ ब्राह्मणों को भोजन कराकर दोनों रानियों के चारों लड़कों ने पूरी-लड्डू आदि परोसे। अन्त्येष्टि की सारी क्रिया हिन्दू धर्म के अनुसार हुई। मृत रानी सरस्वतीदेवी को उनकी सपत्नियों ने स्नान कराकर कपड़ा पहनाया, तो मालूम होता था कि अपार निद्रा में सोई हुई हैं।

श्राद्ध के उपलक्ष्य में राजा साहब ने जो निमन्त्रण-पत्र छपवाकर भेजा था, उसमें अपनी बड़ी रानी के लिए जो विशेषण प्रयोग किए थे, वही रानी सरस्वतीदेवी के लिए भी प्रयोग किए। और जसवन्त का पुत्र जयेश अपनी दादी की मृत्यु के समय सात बरस का हो गया और वह माता से ज्यादा दादी के पास रहता था। इसके कारण माता को कभी-कभी दुःख भी होता था, लेकिन वे भी बेबस थीं।

जून 1953 में राजा साहब कुमार जसवन्त को लेकर बंगलौर घुड़दौड़ देखने गए। व्यायाम और घुड़दौड़ दोनों से उनका अत्यन्त प्रेम था। उनके ऊपर पहलवान रखे गए थे, जो व्यायाम कराते। घण्टों घुड़दौड़ कराना उनके लिए मामूली बात थी, तो भी वे मधुमेह (डायबेटिज़) के रोग से बचे नहीं। राजा पृथ्वीचन्द्र लाल के पिता धर्नचन्द लाल मधुमेह (डाइबेटिज़) के बीमार थे। उस वक्त इन्सोलिन नहीं निकली थी, इसलिए मधुमेह के रोगी को यदि फोड़ा होता, तो वह जहरवाद बनकर मौत के मुँह में डाले बिना न छोड़ता। पिता की मृत्यु जहरवाद से ही हुई। सारी घुड़दौड़ और व्यायाम करने के बाद राजा पृथ्वीचन्द्र का भोजन भी बहुत अच्छे प्रकार का होता था पर पैतृक मधुमेह उनके रक्त में था ही, इसलिए वे मधुमेह से नहीं बच पाए। मधुमेह की उग्रता अन्त में राजा साहब की आँखों को भी ले गई। लेकिन देखनेवालों के मुँह से सुनकर घुड़दौड़ देखने का लोभ आज 75 वर्ष की उम्र में भी वैसा ही पाया जाता है।

जमींदारी प्रथा उठ जाने के बाद जो परिवर्तन नजरगंज राज में हुआ, उसमें एक था सरसी कामत का दोनों भाइयों के हाथ में आना। कामत पुराने कर्मान्त शब्द का रूपांतर है, जिसका अर्थ है कृषिकर्म, जिसको जमींदार स्वयं करता है, अर्थात बकाश्त। सरसी कामत एक अच्छा कर्मान्त था, जिसमें समय-समय पर रानी सरस्वतीदेवी राजा साहब के साथ आया करतीं। दोनों भाइयों को इस काम का कोई तजर्बा नहीं था। बड़े भाई ने मोटर के काम में विलायत में जाकर विशेषज्ञता प्राप्त की और आज भी सिनेमा और मोटर का कारखाना अच्छी तरह चला रहे हैं। कुमार जसवन्त पलटन में युद्ध की विद्या सीखते रहे। उनका हल-बैल और ट्रैक्टर से कोई वास्ता नहीं था। कामत में मूल्यवान जूट (पटसन) सबसे ज्यादा होता। उसके बाद धान और तोरी

(सरसों) भी होती। गोभी, बैंगन, आलू, मिर्च के भी खेत काफी थे और जूट के बाद सबसे अधिक आमदनी उसी से होती। गोभी, आम और लीची के बाग भी वहाँ लगे हुए थे।

यह बड़ी कामत पहिले जमाने में निलहे साहब का गोदाम (कारखाना) था। जब तक कि नील से खूब आमदनी होती रही, तब तक निलहे साहब की तर्पी रही। उसके बाद निलही कोठियाँ बिकने लगीं। सरसी कामत को राजा साहब ने ले लिया। और उन्हीं खेतों में तम्बाकू, जूट और धान की खेती होने लगी।

गर्मियों में दार्जिलिंग में रहना पहिले ही से होता था। साल में नौ महीने लाल साहब की पत्नी श्री गिरिजाकुमारीदेवी अपने पढ़ते बच्चे के साथ-साथ दार्जिलिंग में रहतीं। 1954 में कान्वेंण्ट में दिन का विद्यार्थी बना देने के बाद वे केवल जाड़ों के तीन मास सरसी कामत में आतीं। पहिले पत्नी को अकेला ही रहना पड़ता, इस पर पिता ने बहुत फटकारा और कुमार जसवन्त भी पुत्र के लिए पत्नी के साथ दार्जिलिंग में रहने लगे। सरसी कामत को समय-समय पर देखा करते।

इसमें शक नहीं कि सरसी कामत और भी समृद्ध होती, यदि उसका मालिक वहाँ पर रहता, और हर चीज की देखभाल करता। नौकरों के ऊपर छोड़ने का जो नतीजा होता है, वही उसका भी हुआ। पूर्णिया जिला ऐसा भूभाग है, जहाँ उत्तर भारत की जैसी लूएँ नहीं चलतीं और आम और लीची का आनन्द थोड़ा-सा ठण्डा मकान बनाकर लिया जा सकता है। शायद कुमार जसवन्त लाल सोचते हैं, लड़का एक वर्ष में सीनियर कैम्ब्रिज पास हो जाएगा और फिर कॉलेज में पढ़ने लायक हो जाएगा। तब कामत को अधिक समय दे सकेंगे।

कुमार जसवन्त कभी पोलो और घोड़े के अच्छे सवार थे। पूर्णिया में अभी घोड़े हैं, पर उनका समय जिमखाना क्लब (दार्जिलिंग) में बिलियर्ड खेलने में लगता है। बाकी समय किताबें पढ़ते हैं। मन चाहता है कि सक्रिय जिन्दगी बिताने का अवसर मिले, पर जो सक्रिय जिन्दगी जमींदारी युग में सम्भव थी, वह अब असम्भव है। जो आज सम्भव है, उसके साधन सुलभ नहीं हैं। पचास वर्ष की अवस्था में भी उनका बहुत अच्छा स्वस्थ शरीर है। कारण यही है कि उनमें चलने-फिरने की आदत लगी हुई है।

10

कुछ विशिष्ट घटनाएँ

कुमार जसवन्त के जीवन में ऐसी घटनाएँ भी घटीं, जिनसे उनका बाहर का सरल रूप गम्भीर रूप से दूसरी बात का संकेत देता है और राष्ट्रीयता की भावना या तीव्र आत्मसम्मान का ख्याल आ जाता है। जिस वक्त पोलों के घोड़ों के खिलाड़ी होकर वे बड़ी-बड़ी जगहों में जाते थे, उसी समय एक बार वे लेबोंग में पोलो खेलने गए। नजरगंज दल से गवर्नमेंट हाउस (राज्यपाल) दल का मुकाबिला था। कायदे के मुताबिक तीन-तीन आदमी एक तरफ थे। कुमार के दल ने देखा कि विरोधी दल का एक आदमी गेंद मारने में बड़ा चंट है। उन्होंने निश्चय किया कि उसे गेंद के पास फटकने न दिया जाए। गवर्नमेंट हाउस के खिलाड़ी अंग्रेज पलटन के अफसर थे। कुमार की ओर सभी भारतीय थे। भारतीयों ने निश्चय किया कि तेज खिलाड़ी के पीछे पड़ जाएँ और वह गेंद न पाए। हिन्दुस्तानियों का ऐसा दीदा अंग्रेजों को पसन्द क्यों आने लगा। एक अंग्रेज कप्तान ने भारतीय दल के नेता कुमार साहब के प्रति दुर्वचन निकाल दिया। कुमार का भी हिन्दुस्तानी खून खौलने लगा, जब इंडियन (हिन्दुस्तानी) का नाम लेकर गाली सुनने को मिली (सबसे कठिन जाति-अपमान)। कुमार एंग्लो-इंडियन नहीं थे जो कि हिन्दुस्तानियों के लिए दी गई गाली को चुपचाप पी जाते। शरीर से भी मजबूत एक कुश्तीबाज पिता के पुत्र। उन्होंने तुर्की-ब-तुर्की जवाब देना शुरू किया। अंग्रेज ने कहा, "तुम्हें मालूम है, मैं गवर्नर का ए. डी. सी. (शरीर-रक्षक अफसर) हूँ। मैं तुम्हें मुश्किल में डाल सकता हूँ।" इस पर कुमार ने कहा, "तुम बहुत अनजान हो, तुम्हें खेल का तरीका नहीं मालूम। चाहे तुम गवर्नर के ए. डी. सी. हो, तुम

मेरा कुछ नहीं विगाड़ सकते।"

मामला बहुत विगड़ गया। अव हाथापाई होने ही की देर थी। पर ए. डी. सी. अपने को सबल नहीं समझता था।

यह वात गवर्नर के मिलिटरी सेक्रेटरी (सैनिक सचिव) के पास पहुँची। उसने सब बातें सुनकर कहा, "दोष ए. डी. सी. का है।" ए. डी. सी. को उसने यह भी समझाया कि तुम एक राजा साहब के लड़के के साथ ऐसा अशिष्ट व्यवहार कर रहे थे। यह भी बतलाया होगा कि यही लेबोंग का मैदान है, जहाँ एक भारतीय नौजवान ने गवर्नर के ऊपर गोली चला दी थी। शायद भारतीय नौजवानों के इस स्वाभिमान और निर्भीकता की बातें कान में पड़ी थीं। कुमार के शरीर में भारतीय रक्त था जो अपमान को चुपचाप बर्दाश्त करने को तैयार नहीं था।

अन्त में ए. डी. सी. ने कुमार से माफी माँगी और दोनों ने हाथ मिलाया। मामला इस तरह से शांत हो गया।

इम्फाल को उस वक्त जापानियों ने घेर लिया था। यदि मृत्यु का भी डर हफ्तों बराबर रहे, तो आदमी मन-बहलाव का कोई रास्ता निकाल लेता है। हिन्दुस्तानी अफसरों की इसी समय चहल-पहल देखकर सी. ओ. जल-भुन गया, उन पर सन्देह करने लगा। अंग्रेज अफसरों का उस वक्त बुरा हाल था। नेताजी सुभाष बोस के प्रभाव में आकर वर्मा में हिन्दुस्तानी सेना और उनके हिन्दुस्तानी अफसर सब उनकी तरफ होकर आई. एन. ए. (इंडियन नेशनल आर्मी) में हो गए और अब वे अंग्रेजों के लिए नहीं, बल्कि भारत की स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे हैं। यहाँ भी अपना नाम-ग्राम देकर लाउडस्पीकर पर बोलते थे। सब जगह सुनाई देता था, "मैं लुधियाना जिले का अमुक हवलदार हूँ। हम लोग अब अंग्रेजों से हिन्दुस्तान की आजादी के लिए लड़ रहे हैं। हम नहीं चाहते कि हमारे भाई अंग्रेजों की गुलामी के लिए लड़ें।"

अंग्रेजी अफसरों को यह विश्वास हो गया था कि मौका मिलते ही सब हिन्दुस्तानी आई. एन. ए. में चले जाएँगे। तम्बू में बैठे हिन्दुस्तानी अफसरों को वैसी मुद्रा में देखकर सी. ओ. ने कहा, "मैं जानता हूँ, तुम लोग क्यों इतने खुश हो। जापानी आकर अंग्रेजों को कैदी बना लेंगे और हिन्दुस्तानियों को हमारे ऊपर अफसर बनाएँगे, नहीं तो तुम तम्बू में इतने खुश क्यों दिखाई देते !"

कुमार जसवन्त ने निर्भीकता के साथ उत्तर दिया, "आपका ख्याल गलत है। हम लोग हर वक्त मृत्यु की सूरत देखते रोना पसन्द नहीं करते। ऐसे समय हम जीवन के अच्छे पहलू को भी सोचकर खुश रहना चाहते हैं।"

"नहीं, तुम एशियाई हो, बदमाश जापानी भी एशियाई हैं। वे तुम्हें अपनी ओर कर लेंगे।"

"हम देशद्रोही होंगे क्या ?"

"हाँ, तुम सब ट्रेटर हो।"

कुमार जसवन्त का दिमाग गर्म हो गया। लेकिन ट्रेटर (देशद्रोही) से ऊपर देशभक्ति होती है। वे दोनों बातें सामने रखी जातीं, तो हो सकता है कुमार भी देशद्रोह की बात को बनावटी समझते और अंग्रेजों से मुक्ति पाने के हर एक प्रयत्न को देशभक्ति समझते।

सी. ओ. ने धमकी दी, "हम आर्मी हेड क्वार्टर (सेना-केन्द्र) को सूचना भेजते हैं कि तुम सब अविश्वसनीय हो।"

"आपकी मर्जी, जो चाहें सो करें।" कुमार ने कहा।

"तुम बहुत बढ़-बढ़के बात कर रहे हो। इसी वक्त तुम्हें गिरफ्तार कर लेंगे।"

कुमार जसवन्त को मालूम था कि जापानियों से बदहवास हुए अंग्रेज अफसर की यह धमकी है। यदि कोर्ट मार्शल किया गया तो सभी भारतीय अफसर हवलदार से लेकर ऊपर तक अपने अफसरों के ऊपर गवाही देंगे। सी. ओ. ने कुछ नहीं किया, क्योंकि उसके बाद की बात उसके हाथ में नहीं रह जाती। उसने इतना ही किया कि रात को अफसर तम्बू में इकट्ठे न हों।

कुमार जसवन्त मेम माता के पुत्र थे, जो पूरी तौर से हिन्दू हो गई थीं। माता-पिता दोनों पुत्रों में हिन्दू का जातीय अभिमान प्रविष्ट करने में सफल हुए थे। और इसीलिए कुमार जसवन्त अपने भावों में बिलकुल हिन्दू थे। वर्तमान काल हो या अतीत काल, सदा हिन्दू की पराजय वे अपनी पराजय समझते और हिन्दू की विजय अपनी विजय समझते थे। वे हिन्दू छोड़ अपने को दूसरा कुछ नहीं समझते थे। यद्यपि रंग में वे बहुत-से एंग्लो-इंडियनों से अधिक गोरे थे। उनके इसी भाव को समझकर किसी देशभक्त ने 'झाँसी की रानी' के नाम भेंट भेजी थी और कुमार ने खुशी-खुशी उसे यथास्थान पहुँचाया था।

सौ बरस से कुछ ही साल अधिक हुए, जबकि दार्जिलिंग अंग्रेजों के हाथ में आया। सात हजार फुट से अधिक ऊँचा होने के कारण ठण्डी जगह थी, इसलिए अंग्रेजों को पसन्द आई। अपने मनोरंजन के और साधन बनाते हुए उन्होंने यहाँ एक घुड़दौड़ का मैदान बनवा डाला, जिसका नाम लेबोंग है। यहाँ घुड़दौड़ होती है। बड़े लाट तो शिमला में गर्मियाँ बिताते हैं; लेकिन छोटे लाट—जिन्हें उस समय लेफ्टिनेंट गवर्नर कहा जाता था—दार्जिलिंग में विराजते थे। लेबोंग की घुड़दौड़ में पूरा ठाट-बाट रहता। बड़े आसन पर गवर्नर विराजमान थे। उनके आसपास बड़े-बड़े अंग्रेज अफसर और राजा-महाराजाओं को जगह मिली थी। लेबोंग के उस स्थान में उस दिन गवर्नर की रक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध था। यह 1934 का समय था, जबकि देश की आजादी के लिए बंगाल के तरुण मरने-मारने के लिए तैयार थे। स्वतन्त्रता का नशा जब तरुणों के खून में समा गया हो, तो बिना देश को आजाद किए वे कैसे चुप रह सकते थे ! अंग्रेज भी तरुणों को फाँसियों में चढ़ाकर, जेलों में भरकर बदला लेते थे।

हैण्डरसन ने आयरलैंड के स्वतन्त्रता-आन्दोलन को दबाने में बड़ा काम किया था। उसे बंगाल में भेजा गया। यदि हैण्डरसन लोगों की आकांक्षाओं को दबाने के लिए उद्यत था, तो बंगाल के तरुण भी हैण्डरसन को पाठ पढ़ाना चाहते थे। हैण्डरसन की रक्षा के लिए लन्दन के कुपियागढ़—स्काटलैंडयार्ड—का एक प्रसिद्ध तथा अचूक गोली चलानेवाला अंग्रेज ठीक किया गया था, जो इस समय गवर्नर की कुर्सी के पीछे पिस्तौल लिये खड़ा था। सारी सभा में न जाने कितने खुफिया भिन्न-भिन्न वेशों में घूम रहे थे। घुड़दौड़ शुरू हुई। सबकी नजर उनकी तरफ थी। कोई घोड़ा आगे बढ़ा। लोगों ने हर्ष में आकर तालियाँ पीटीं। इसी समय पिस्तौल से गोलियाँ छूटीं। भीड़ में खलबली मची। गवर्नर को अपनी निर्भीकता दिखलानी थी, इसलिए उसने मुँह में लगा सिगार वैसे ही बनाए रखा। पूर्णिया के राजा साहब, गवर्नर के सिंहासन के नाते, दूर बैठे थे। उनकी रानी सरस्वती देवी भी वहीं थीं, और कुमार जसवन्तचन्द्र भी। इसलिए वे सभी बातें नजदीक से देख रहे थे। मृत्युवाहक गोलियाँ जहाँ सनसना रही हों, वहाँ लोगों के धैर्य छूट जाएँ, तो क्या आश्चर्य ? खुफिया निशानची उन पर गोलियाँ मार रहा था, जो कि गवर्नर पर गोली चला रहे थे। गोली बहुत पास से नहीं छूटती थी। इसलिए नीचे की ओर से ऊपर जाते वे सिर पर से निकल जाती थीं। गवर्नर को गोली नहीं लगी, और दूसरे आदमियों को भी नहीं लगी, क्योंकि उन्हें ध्यान से चलाया जाता था। अंग्रेज खुफिया ने शायद एक-दो आदमियों को मार डाला। मरे लोग आतंकवादी समझ लिये गए। रानी सरस्वतीदेवी के पास खड़ा आदमी अपनी जान बचाने के लिए उन्हें ढाल बनाना चाहता था। रानी ने उसे धकेल दिया और वह शायद गोली चलानेवाले के ऊपर गिरा।

लेबोंग के मेले में उस दिन भगदड़ मच गई। घुड़दौड़ कैसे निर्विघ्न समाप्त होती ? मैंने लेबोंग-काण्ड का समाचार कई दिनों बाद ल्हासा (तिब्बत) में पढ़ा। हैण्डरसन जैसे खूनी गवर्नर के बच निकलने का बहुतों को अफसोस हुआ। लेकिन जो तरुण वहाँ पुलिस के पैरों से कुचलकर मारे गए या लम्बी-लम्बी सजाएँ काटने के लिए मजबूर हुए, उनका खून क्या बेकार गया ? नहीं, इन्हीं बलिदानों ने भारतीय तरुणों में बलिदान की प्रचंड भावना पैदा कर दी। द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते जब अंग्रेजों ने भारतीय नौसेना को बगावत करते देखा, तो उनको मालूम हो गया, हैण्डरसन या किसी के खूनी हाथ अब भारत को स्वतन्त्र होने से रोक नहीं सकते। फौजी शिक्षा पाए भारतीय सिपाही और अफसर भी देश को स्वतन्त्र कराए बिना नहीं रुकेंगे। यही कारण हुआ कि लड़ाई समाप्त होने के साथ भारत को स्वतन्त्र करने के लिए अंग्रेज तैयार हुए।

जिनका मैं कृतज्ञ*

* 'पं. भागवताचार्य' और 'बालाजी के फक्कड़ बाबा' लेख मूल पुस्तक में दो बार मुद्रित थे। यहाँ उस भूल को सुधार दिया गया है।

प्राक्कथन

'जिनका मैं कृतज्ञ' लिखकर मैं उस ऋण से उऋण होना चाहता हूँ, जो इन बुजुर्गों, बन्धुओं और मित्रों का मेरे ऊपर है। उनमें से कितने ही अब इस संसार में नहीं हैं, इसलिए इन पंक्तियों को वह देख नहीं सकते। इनमें सिर्फ वही नहीं हैं, जिनसे मैंने मार्ग-दर्शन पाया या कुछ सीखा, बल्कि ऐसे भी पुरुष हैं, जिनका सम्पर्क मेरे मानसिक सम्बल के रूप में जीवन-यात्रा में सहायक हुआ। कितनों से बिना उनकी जानकारी, उनके व्यवहार और बर्ताव से मैंने बहुत-कुछ सीखा। 'कृतज्ञ और कृतवेदी' मनुष्य को सदा होना चाहिए। इसी परम्परा को मानते हुए मैं अपने इन मधुर स्मरणीय पुरुषों के बारे में कुछ लिख रहा हूँ। (कितनों के बारे में 'मेरी जीवन-यात्रा' में कितनी ही बातें आ चुकी हैं।) जन्म से 1944 तक की बातें 'मेरी जीवन-यात्रा' के दो खण्डों में प्रकाशित हो चुकी हैं। अवान्तर खण्ड प्रायः तीन वर्षों का 'रूस में पच्चीस मास' है। उसके बाद 9 अप्रैल 1956 तक की 'जीवन यात्रा' भी लिखी जा चुकी है, लेकिन कह नहीं सकता, वह मेरे सामने प्रकाशित हो सकेगी।

मसूरी, 31-8-56

–राहुल सांकृत्यायन

1
रामदीन मामा

मानव-शिशु—और दूसरे शिशु भी—बड़ों का अनुकरण करके ही हरेक बात सीखते हैं। ज्ञानार्जन और आगे के मंजिल के बारे में सबसे पहिले मैंने जो सीखा, वह रामदीन मामा से ही। मेरे नाना रामशरण पाठक के बड़े भाई का नाम शिवनन्दन पाठक और छोटे का रामवरण पाठक था। उनके कुल में विद्या का पीढ़ियों से कोई मान नहीं था। रामदीन मामा शिवनन्दन पाठक के पाँचवें और सबसे छोटे लड़के थे। 19वीं सदी के अन्तवाले सन् में उन्होंने मदरसे से लोअर प्राइमरी परीक्षा पास की। वह और उनके सहपाठी द्वारिकाप्रसाद कुछ दिनों निजामाबाद के अपर प्राइमरी स्कूल में पढ़ने गये, पर किन्हीं कठिनाइयों के कारण—जिनमें आर्थिक कठिनाई भी एक थी—वह आगे नहीं बढ़ पाये। फसली सन चार (ईसवी 1897) में आजमगढ़ और आसपास के जिलों में भयंकर अकाल पड़ा था। मैं चार साल का था। यद्यपि मेरे और पिता के घर पर अकाल का कोई प्रभाव नहीं पड़ा; लेकिन, आसपास की घटनाएँ ऐसी असह्य थीं कि उनका मेरे शिशु-हृदय पर प्रभाव पड़े बिना न रहा। मैं वस्तुतः ननिहाल का बच्चा था, पिता के गाँव (कनैला) में साल में दस-पाँच दिनों के लिए मेहमान के तौर पर जाता था। मुझे शान्त लड़के की उपाधि मिली थी, पर बालकों से चूक हो ही जाती थी। जिस लड़के के साथ मैं खेल रहा था, वह मेरे धक्के या अपनी असावधानी से बरसात के भरे गढ़े में गिर गया। नाना ने निश्चय कर लिया, अब इसे स्कूल में भर्ती करना ही अच्छा होगा। उम्र पाँच साल से अधिक नहीं थी, पर नाना का कहना था—बैठना तो सीखेगा। उस वक्त शिक्षा और मदरसों का प्रचार अभी-अभी होने लगा था। पन्दहा का सौभाग्य था, जो एक मील पर ही रानी की सराय का मदरसा था, जो मेरे समय में ही लोअर-प्राइमरी से अपर-प्राइमरी बन गया।

अपने कुल में और गाँवों में सबसे अधिक पढ़े हुए रामदीन मामा ही थे। नाना ने मदरसा ले जाकर अक्षरारम्भ कराने का काम अपने भतीजे के ऊपर रक्खा। रामदीन मामा मुझसे आठ-नौ वर्ष बड़े थे। शायद 1898 के नवम्बर का महीना था, जबकि शुभ मुहूर्त देखकर रामदीन मामा मुझे अपने साथ रानी की सराय ले गये। मामा ने स्वयं हिन्दी पढ़ी थी, लेकिन उस समय हिन्दी को कोई पूछनेवाला नहीं था। कचहरियों के सारे कागज उर्दू या अंग्रेजी में होते। समन भी उर्दू ही में आता था। आश्चर्य था, रानी की सराय की अपनी कक्षाओं में मैं इतने अधिक हिन्दी के विद्यार्थी क्यों देखता था। दर्जे में हिन्दीवाले दस-बारह लड़के होते, पर उर्दूवाले दो-तीन से अधिक नहीं होते थे। नाती को उर्दू पढ़ाने की जरूरत नाना को क्यों महसूस हुई ? उनके लिए काला अक्षर करीब-करीब भैंस बराबर ही था। पल्टन में दस-बारह साल सिपाही रहे। अँगूठे की निशानी से बचने के लिए दस्तखत-भर करना सीखा था।

जान पड़ता है, उर्दू की महिमा नाना ने रामदीन मामा से सुनी। हरेक आदमी अपने बच्चों के लिए बड़े-बड़े स्वप्न देखता है। नाना भी अपने नाती के लिए इसी तरह का कोई स्वप्न देखते रहे होंगे। उनके फुफेरे भाई सदर आला (सब-जज) होकर समय से पहिले ही मर गये थे। शायद उनका ख्याल नाना के हृदय में था।

रामदीन मामा ने हिन्दी पढ़कर गलती की थी, यह उन्हें मालूम होते देर नहीं लगी और उर्दू की कमी को स्वयं उन्होंने पढ़कर पूरी की। मालूम नहीं, उर्दू अक्षरारम्भ करते समय मिठाई बाँटी गई। इसका उतना रवाज नहीं था, खास कर मदरसा में पढ़नेवालों के लिए। रामदीन मामा ने अक्षरारम्भ ही नहीं करवाया, बल्कि वह मेरे अवैतनिक ट्यूटर भी हो गये। पढ़ने के लिए इतनी चीजें नहीं थीं, जिनके लिए मुझे मदरसे से बाहर भी मेहनत करनी पड़ती। पर उर्दू लिपि के दो रूप हैं। मदरसे में हमें सुन्दर हरफ बनाकर लिखने का अभ्यास कराया जाता था। समन और सरकारी कागज घसीट उर्दू में होते थे। स्वरों की कमी के कारण उर्दू पढ़ने में अटकलबाजी करनी पड़ती है, घसीट में तो और भी बुरी हालत होती है। रामदीन मामा मुझे घसीट पढ़ाया करते थे। उस समय प्राइमरी के पहिले दर्जे से पहिले लड़कों के दो साल दो दर्जों में बीतते थे, जिन्हें जुज़-ए (क) और जुज़-बी (ख) कहा जाता था। दोनों जुज़ों के खतम कर लेने पर लड़का दर्जा एक में आता था। मेरा घसीट सीखने का काम दर्जा एक के बाद ही शुरू हुआ होगा। एक दिन उनके घसीट लिखे सारे पृष्ठों को जब मैं पढ़ गया, तो रामदीन मामा ने बहुत खुश होकर नाना से कहा—काका, अब यह घसीट में पास हो गया।

रामदीन मामा की विद्या मेरे लिए अगाध थी। लोअर और अपर से आगे भी विद्या है, इसके बारे में मेरा कोई ज्ञान नहीं था। रामदीन मामा मेरे लिए विद्यापारंगत थे। उर्दू की योग्यता भी उन्होंने अच्छी कर ली थी। फिर किसी से पढ़कर या अपने आप उन्होंने रोमन लिखना-पढ़ना सीख लिया। रोमन जो पढ़ लेता था, उसे मैं समझता था; अंग्रेजी विद्या में पारंगत हो गया। मेरे प्रत्यक्ष लक्ष्य रामदीन मामा थे। मैं चाहता था, उन्हीं की तरह मैं भी हिन्दी-उर्दू पढ़ लूँ, उन्हीं की तरह अंग्रेजी में भी पारंगत हो जाऊँ। प्राइमरी की अन्तिम कक्षा चौथी कही जाती थी। उसे पास करने से पहिले ही मुझे हिन्दी द्वारा अंग्रेजी पढ़ने की एक पुस्तक हाथ लगी और रोमन लिखना-पढ़ना सीख गया। इस प्रकार जो पहिला लक्ष्य मैंने अपने सामने रक्खा था, वह बारह वर्ष की उम्र (1905 ई.) तक समाप्त हो गया। आगे नये आदर्श बनाने पड़े, जो मुझे आगे से आगे लेते गये।

मामा के पाँच भाइयों में दूसरे और तीसरे (बच्चा और जवाहर) कलकत्ता में नौकरी करते थे। सबसे बड़े सीताराम पाठक खेती-बारी का काम देखते, चौथे रामदीहल भी उनके सहायक थे। रामदीहल और रामदीन जैसे नाम अब शायद ही कहीं मिलें। लोग देखादेखी अधिक तत्सम नाम रखने लगे हैं। रामदीहल और रामदीन तद्भव ही नहीं हैं, बल्कि वह दो भाषाओं के शब्द हैं, जिनका एक जगह उपयोग बतलाता है कि भोजपुरी और अवधी की सीमा पन्दहा के कहीं पास में ही मिलती है। रामदीहल भोजपुरी (इल या ल प्रत्यय) का है और रामदीन अवधी का। यद्यपि पन्दहा भोजपुरी की सीमा के भीतर है, पर अवधी की सीमा वहाँ से पाँच-सात कोस से अधिक दूर नहीं है। ब्याहकर वहाँ आई हुई स्त्रियों में काफी अवधी-क्षेत्र की थीं, इसलिए भी यह भाषा-सम्मिश्रण था। पन्दहा के पास बहुत थोड़े ही खेत थे और आबादी बहुत अधिक थी। इसलिए लोग केवल खेती के भरोसे जीविका नहीं चला सकते थे। रामदीन मामा के दो भाई जब कलकत्ता में नौकरी करने लगे, तो घर की हालत बेहतर हो गई। छोटे नाना (रामबरण पाठक) के दोनों लड़के पहिले घर पर ही रहे, पर पीछे वह भी नौकरी करने के लिए निकले। उस समय रामबरण नाना का काम था, बंगाल में साधु बनकर घूमना। अपने दोनों बड़े भाइयों से पढ़ने में उनकी गति अधिक थी, यह बात नहीं थी। बंगाल में घूमते रहने के कारण वह बंगला खूब बोल लेते थे। बंगाली गौड़िया साधुओं की तरह वह सिर में तिलक लगाते थे। एक-दो वर्ष बाद कुछ कमाकर घर लौटते थे।

रामदीन मामा को लोअर-प्राइमरी पास करने में बहुत समय नहीं लगा होगा। वह पढ़ने में तेज थे, पर साल में एक ही दर्जा पास कर सकते थे। शायद बारह-तेरह वर्ष की उम्र में उनकी पढ़ाई खतम हो गई। इसके बाद वह स्वयं पढ़ते-गुनते रहे। सोच रक्खा था : बाहर नौकरी करने नहीं जायँगे, और जिले में ही कोई नौकरी ढूँढ़ लेंगे। पोस्टमैन (चिट्ठीरसा) के बारे में उनको पता था। उनके सहपाठी मित्र द्वारिकाप्रसाद के पिता रानी की सराय के डाकमुंशी थे। द्वारिकाप्रसाद चिट्ठीरसा बनना चाहते थे, वही लक्ष्य रामदीन मामा के सामने भी आ गया। उस समय रेल आजमगढ़ आकर खतम हो जाती थी। आजमगढ़ से शाहगंज को मिलानेवाली रेल

पीछे बनी, जिस पर रानी की सराय स्टेशन हो गया। रानी की सराय हिन्दी समास है, इसलिए इसे सराय-रानी लिखा जाता था। अब भी राजा हरिसिंह की रानी की बनवाई सराय वहाँ अच्छी हालत में मौजूद थी, इसी के नाम पर इस बाजार का यह नाम पड़ा। डाक भी दो मरियल घोड़ों के सिक्डम (बग्घी) पर आती थी। आजमगढ़ से बनारस और जौनपुर की ओर जानेवाली पक्की सड़क यहीं से गुजरती थी।

द्वारिकाप्रसाद के पिता डाकमुंशी थे। उनके लिए नौकरी मिलने में आसानी थी। पर, रामदीन मामा तो पहिले-पहिल इस दुनिया में आये थे। उनका हाकिम-हुकुम से कोई परिचय नहीं था। पर, वह तीव्रबुद्धि होने के साथ-साथ व्यवहार-कुशल भी थे। आसपास के सरकारी या गैरसरकारी जो भी बड़े आदमी थे, उनसे हेल-मेल पैदा करना उनका बायें हाथ का खेल था। रेल आ गई। रानी की सराय के स्टेशन मास्टर एक बड़े अफसर माने जाने लगे। चाहे बी. एन. डब्लू. आर. कम्पनी की रेल थी, पर हमारे लोग तो उसे कम्पनी बहादुर की रेल मानते थे। बाप-दादों के समय से कम्पनी बहादुर कहने की आदत लग गई थी, और समझते थे कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी बनियों की मण्डली नहीं है, बल्कि राजा-रानी है। जब विक्टोरिया रानी गद्दी पर बैठी, तो वह उसे कम्पनी कहकर पुकारते थे। जो भी हो, रानी की सराय के स्टेशन-मास्टर का–जिनका नाम शायद सीताराम था–आसपास पर बहुत प्रभाव था। रेल के आते ही रानी की सराय के बाजार का भाग खुल गया, और पहिले-पहिल मारवाड़ी कपड़े की दुकान आई, फिर दूसरी दुकानें खुलीं। स्टेशन-मास्टर को काफी आमदनी होती थी और लोग खुशामद करते थे। बाबू सीताराम सिर्फ पैसा ही कमाना नहीं जानते थे, बल्कि वह काफी मिलनसार थे, और दूसरों के सुख-दुःख का भी ख्याल रखते थे। स्टेशन पर उतरनेवाले हरेक अफसर से उनका परिचय था। रामदीन मामा ने स्टेशन-मास्टर से सम्बन्ध जोड़ा। अपने बाग और खेत में जो फल या दूसरी चीज पैदा होती, उसे वह स्टेशन-मास्टर के पास जरूर पहुँचाते। और जब-तब उन्हें बुलाकर खूब खातिर करते थे। एक दिन की बात मुझे याद है। उस दिन खास तौर से बकरा कटवाकर अच्छी तरह मांस पकाया गया था। मांस का स्वाद अब भी मुझे याद है। खूब मसाला, खूब घी डाला गया था, मालूम हुआ डाक-विभाग के इन्सपेक्टर की दावत है। जो इष्ट देवों की इतनी अराधना करता हो, उसका मनोरथ सिद्ध हुए बिना कैसे रह सकता था ?

18-20 वर्ष के रामदीन मामा पोस्टमैन बन गये। उनकी कामना पूरी हुई, नौकरी ऐसी मिली, जिसके लिए अपने जिले से बाहर जाने की जरूरत नहीं थी। नौकरी पर रहते लेकिन कैसे ही मौका निकाल लेते थे, और मेरी समझ में तो, हर हफ्ते एक रात के लिए घर आ जाते थे। उन्होंने रेल के स्टेशनवाले डाकखानों में से ही किसी में अपनी नौकरी लगवाई थी, और रेल से आसानी से घर आ सकते थे। पोस्टमैन की तन्खा उस समय आठ-दस रुपये से अधिक नहीं थी। हाँ, उस समय आठ-दस रुपये में ढाई मन गेहूँ मिलता था, जबकि आज इसके लिए पचास रुपयों की आवश्यकता है। पोस्टमैन को कुछ बाहरी आमदनी भी होती थी। लोग समझते थे, यदि उन्हें कुछ नहीं दिया जाय, तो चिट्ठी गुम कर देंगे। राभदीन मामा की आमदनी काफी थी। वह कोई-न-कोई जेवर अपनी पत्नी के लिए बनवाकर बराबर लाते। संयुक्त परिवार में अपने और पराये का भेद बुरा माना जाता है; पर इस शताब्दी के आरम्भ में मर्यादा कुछ-कुछ टूटने लगी थी। मामा भाइयों में सबसे छोटे थे, और उनकी पत्नी भी अभी नवतरुणी थी। घर के काम के लिए भी वह पैसा देते थे, इसलिए उसकी ओर कोई क्यों ख्याल करने लगा ? कहने को घर के मालिक पिता और बड़े भाई सीताराम थे, लेकिन अब घर के सर्वेसर्वा रामदीन मामा थे, उनकी सलाह बिना कोई काम नहीं होता था।

आगे समय ऐसे आने लगे, जबकि रामदीन मामा के साथ हमारे नाना का मधुर सम्बन्ध नहीं रह गया। लेकिन, मेरे और मामा के सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं आया। मुझे दुनिया की बातें मालूम नहीं थीं। पन्दहा में घर-पीछे थोड़ी ही थोड़ी जमीन थी। मेरे अपने नाना के पास दोनों भाइयों से अधिक जमीन थी। पल्टन से आकर उन्होंने कुछ जमीन खरीद ली थी। नाना ने मुझे अपने पास रक्खा था कि मैं उनका उत्तराधिकारी होऊँ। जिस जमीन को पाकर दोनों भाइयों के लड़कों को कुछ विशेष सहायता मिलती, उसे छीनने के लिए गोया मैं वहाँ पल रहा था। इसे वह कैसे पसन्द करते ? पर, जिस वक्त यह कटुता झगड़े-लड़ाई, मुकदमेबाजी

में परिणत हो गई, उस समय मैं पन्दहा में नहीं बल्कि निजामाबाद के स्कूल में रहकर पढ़ता था। मुकदमेबाजी और झगड़े-मार के नेता रामदीन मामा थे, पर मैं उसको कोई महत्त्व नहीं देता था। अब भी मेरे बचपन के आदर्श के रूप में वह मेरे लिए प्रिय थे, और स्कूल से आने पर यदि कभी संयोग से वह घर पर रहते, तो उसी तरह प्रेम से मिलते।

रामदीन मामा पोस्टमैन-भर रहने से कैसे सन्तुष्ट रह सकते थे। अंग्रेजी की शिक्षा केवल रोमन-भर थी, इसलिए तरक्की का रास्ता रुका हुआ था। लेकिन डाकखाने के अफसर उनसे खुश रहते थे। कुछ सालों बाद वह डाकखाने के खजाना ले जानेवाले जमादार बन गये। शायद इससे तन्खा कुछ बढ़ गई।

आगे मैं घुमक्कड़ी स्वीकार कर बाहर निकल गया। रामदीन मामा के बारे में फिर कुछ नहीं मालूम हुआ। 32-33 साल बाद 1943 में जब पन्दहा गया, तो रामदीन मामा नहीं थे। उनकी पहिली पत्नी मेरे सामने ही गुजर चुकी थीं, जिनका स्नेह मेरे ऊपर विशेष था। दूसरी पत्नी के दो लड़के और पहिली पत्नी के पुत्र दीपचन्द मिले। दोनों दो घरों में बँट चुके थे। कैलाश की माँ—रामदीन मामा की दूसरी पत्नी के सौजन्य को देखकर मुझे हर वक्त मामा याद आते थे।

रामदीन मामा में जो स्वाभाविक प्रतिभा और योग्यता थी, उसे आगे बढ़ने का मौका नहीं मिला। इसलिए डाकखाने की छोटी-मोटी नौकरी में ही उन्होंने अपनी जिन्दगी बिता दी। हमारे देश में अब भी कितनी ही ऐसी प्रतिमाएँ हैं, जिनके आगे बढ़ने का रास्ता रुका हुआ है।

2
महादेव पण्डित

जो भी सत्यनारायण की कथा गलत-सलत पढ़ ले, उसी ब्राह्मण को हमारे गाँवों में पण्डित कहा जाता था। मेरे चचेरे दादा कुछ अधिक पढ़े हुए थे। उन्हें भी महादेव पण्डित कहा जाता था। लेकिन, मैं महादेव पण्डित अपने सगे फूफा के बारे में कह रहा हूँ। वह वस्तुतः पण्डित थे, भाष्यान्त व्याकरण पढ़े हुए थे। पाणिनि सूत्रों पर पतंजलि का महाभाष्य व्याकरण का अन्तिम ग्रन्थ माना जाता था। महादेव पण्डित सिर्फ महाभाष्य तक व्याकरण पढ़े ही हुए नहीं थे, बल्कि अब भी पढ़े हुए ग्रन्थ उन्हें याद थे। उस समय की कहावत थी 'खनन्त पानी घोखन्त विद्या'। पुस्तकस्थ विद्या को विद्या नहीं माना जाता था। विद्या की परीक्षा सरकारी परीक्षाओं द्वारा नहीं होती थी; बल्कि वह शास्त्रार्थ में होती थी। निश्चित ही है, शास्त्रार्थ में वही विजयी हो सकता था, जिसको सारे ग्रन्थ उपस्थित हों। महादेव पण्डित की उस समय की बात मैं कह रहा हूँ, जब कि उनकी उम्र 25-26 वर्ष से ज्यादा की नहीं थी। उनकी विद्वत्ता का एक और भी सबूत लोगों को मिला था। वह कुछ महीनों तक पागल रहे। लोगों का विश्वास था, जिस तरह खाने का आजीर्ण हो जाता है, वैसे ही विद्या का भी, लेकिन यह मेरे होश सँभालने से पहिले की बात है। कहते हैं, सनककर वह घर से निकल पड़े। उनके मौसेरे भाई महावीर उनके साथ-साथ थे। नौजवान दामाद का ससुराल में बेतकल्लुफी से आना अच्छा नहीं माना जाता। वह एक दिन ससुराल में पहुँच गये। पीने के लिए गिलास में रस दिया गया, उसे उन्होंने अपनी खड़ाऊँ पर डालकर कहा—"कैसे आदमी हो, खड़ाऊँ की पूजा करना नहीं जानते।" उन्माद क्यों, कैसे हुआ, यह मालूम नहीं। सम्भव है अत्यधिक 'घोखन्त' होने के कारण हुआ। विद्वान् उनसे बात करके जान सकते थे कि संस्कृत के एक अच्छे विद्वान् हैं, पर जनसाधारण के लिए उनका यह छह महीने का उन्माद विद्वत्ता का प्रमाण-पत्र था। वह जाड़े में शुरू हुआ था और वर्षा की फुहारें जब पड़ने लगीं, तो खतम हो गया।

महादेव पण्डित मेरे संस्कृत के प्रथम गुरु थे। उनकी चली होती, तो मैं केवल संस्कृत का पण्डित रह जाता, जो बुरा होता, इसे मैं नहीं कहता!

महादेव और सहदेव दोनों भाई अभी बच्चे ही थे, जबकि उनके बाप का देहान्त हो गया। घर में जमींदारी के जरूरत से अधिक खेत थे। लेकिन, घर सँभालनेवाला कोई नहीं था। सौभाग्य से दोनों को एक सहृदय और योग्य मौसा मिल गया। मौसा अपना घर-गाँव छोड़कर बछवल में चले आये। उन्होंने घर का सारा काम अपने ऊपर ले लिया और यह भी ध्यान रक्खा कि लड़के कुछ पढ़ जायँ। मौसा और उनके पुत्र महावीर अब सदा के लिए बछवल के ही गये। बछवल के नाम के अन्त में बल बतलाता है कि यह मुस्लिम-काल से पहिले का गाँव है। संस्कृत रूप इसका वत्सपल्ली होता, जिसके प्राकृत उच्चारण का ही यह बिगड़ा हुआ रूप है। बछवल काफी बड़ा गाँव था। आसपास के गाँवों से मुकाबिला करने पर वह अधिक संस्कृत भी मालूम होता था। माली, तमोली जैसी जातिवाले लोगों का बसना यही बतलाता था कि वहाँ कभी सामन्तों का निवास था। बछवल में भी पुराने ध्वंसावशेष हैं, लेकिन सरहद पर कुछ ही फर्लांग बाद ही सिसवा का मीलों तक चला गया ध्वंसावशेष है, जिसमें ईसवी सन् की पहिली-दूसरी शताब्दी (कनिष्क आदि के) के सिक्के अब भी मिल जाते हैं। सिसवा जब सामन्त-राजधानी था, उस समय बछवल उसका एक उपनगर रहा होगा। आज सिसवा को पीछे रख बछवल आगे बढ़ गया। सिसवा का ध्वंस आरम्भिक मुस्लिम-काल में बड़ी बर्बरतापूर्वक हुआ, इसीलिए वह उजड़ गया और बहुत समय बाद उस पर एक-दो टोले बस पाये। बछवल के संस्कृत होने का एक और प्रमाण वहाँ के अनेक कायस्थ घर थे, जो कितनी ही बातों में आगे बढ़े हुए थे। मौसा ने महादेव को संस्कृत पढ़ाया और छोटे भाई सहदेव को उर्दू-फारसी। दोनों को नौकरी करने की जरूरत नहीं थी। सहदेव पांडे जब-तब शीन-क़ाफ दुरुस्त करके अपनी भोजपुरी में उर्दू के शब्द बोल लेते थे और कभी-कभी मुँह में तम्बाकू डाल उसे ओठ के नीचे दबाये चारपाई पर पड़े रामायण पढ़ा करते थे।

दर्शन होने से पहिले शायद मैं महादेव पण्डित के अस्तित्व को नहीं जानता था। मेरी सबसे बड़ी फूआ बछवल में ब्याही हैं, यह भी शायद उसी समय जाना। 1902 की वर्षा के प्रारम्भ में पन्दहा में हैजा की बीमारी आई। मैं नौ वर्ष का था। नाना-नानी ने इस आग से निकालकर मुझे घर पहुँचा दिया। मैं कनैला में सावन के महीने में पहुँचा। उससे एक साल पहिले कनैला में हैजा आया था। उस वक्त मैं भी कनैला ही में था। घर-भर बीमार पड़ा, लेकिन हमारे घर में कोई नहीं मरा। उसी समय शतचंडी के पाठ की मनौती मानी गई। वही शतचंडी-पाठ करने के लिए महादेव पण्डित और महावीर तिवारी कनैला आये थे। चंडी-पाठ (दुर्गा-सप्तशती) बिलकुल छोटा-सा ग्रन्थ नहीं है, और उसका भी सौ पारायण करना था, यह मालूम नहीं, लेकिन मेरे जाने पर भी वह कई दिनों तक चलता रहा। महादेव पण्डित के लिए शतचंडी-पाठ बायें हाथ का खेल था। वह डाकगाड़ी की रफ्तार से पाठ करते थे, महावीर तिवारी को एक-एक अक्षर टो-टोकर पढ़ना पड़ता था। बेचारे सिर्फ अक्षर-भर का ज्ञान रखते थे। इसमें सन्देह नहीं, उनका पाठ अत्यन्त अशुद्ध होता था, जिसे सुनकर चंडी कभी प्रसन्न नहीं हो सकती थीं। पर चंडी केवल चंडी नहीं कृपालु भी हैं, इसलिए उन्होंने घर का कोई अनिष्ट नहीं किया।

बहुत जल्दी ही मैं महादेव पण्डित से हिल गया। बराबर उनके साथ रहता। घोखने में निद्रा सबसे बाधक होती है। तम्बाकू अकबर के समय पहिले-पहिल हिन्दुस्तान में पहुँचा। उससे पहिले निद्रा भगाने की न जाने कौन-सी दवाई करते थे। पर, अब तो हर पण्डितों और विद्यार्थियों में तम्बाकू सूँघने का रवाज हो गया था। विद्यार्थी-जीवन में नींद भगाने के लिए सूँघने की आदत पड़ जाने पर फिर वह बराबर के लिए हो जाती थी। धनपात्र पण्डित सुगन्धित सुँघनी इस्तेमाल करते थे। इसी तरह बनारस में सुँघनी साहु की प्रसिद्ध दूकान खड़ी हो गई, जिसने हमें 'प्रसाद' जैसे महान् कवि प्रदान किया। महादेव पण्डित सुँघनी साहु की सूँघनी नहीं सूँघते थे, बल्कि तम्बाकू (सुर्ती) के पत्ते को आग पर जरा-सा गरम करके उसे पिसवाते, फिर कपड़े में छानकर बेल की नसदानी में रख लेते। दिन में न जाने कितनी बार वह उसे सूँघते। छींकने के लिए पास में रूमाल थी जो शाम तक काफी भर जाती। जहाँ तक मुझे ख्याल है, पाठ सबेरे स्नान करके शुरू होता और दोपहर तक रहता। इसी बीच दूध में भिगे च्यूरे का जलपान होता। उस समय बारीक धान भी हमारे यहाँ बोया जाता था, जिसमें एक का नाम सुगापंखी था। दूध में भिगोया च्यूरा बड़ा ही सोंधा-सोंधा और स्वादिष्ट होता था।

मैं भी फूफाजी के साथ उसमें शामिल रहता था। दोपहर के वाद एक और रीति का पालन किया जाता था। तरुण दामाद का दिल बहलाने के लिए उसकी तरुण सरहजें और सालियाँ एकत्रित हो जातीं। क्या बातें होती हैं, इसका मुझे कुछ पता नहीं था। मेरे लिए इतना ही जानने को था कि पाँच-सात तरुण महिलाओं के साथ फूफाजी हँसी-मजाक कर रहे हैं। शाम के वक्त वह बाहर टहलने निकलते। कनैला में उस समय आधी से अधिक जमीन ऊसर और परती थी। लेकिन सावन की बरसात उसे हरा-भरा कर डालती थी। छोटे-छोटे डबरे भी पानी से भरे हुए थे, जिन्हें देखकर मन में एक विचित्र भाव पैदा होता था। इन्हीं डबरों में पण्डितजी की रूमाल धुलती, शायद वह शाम का स्नान भी करते। त्रिकाल स्नान की विधि प्रचलित नहीं थी, पर चण्डी-पाठ को बहुत शुद्धता से करना पड़ता था, इसलिए हर दीर्घशंका के वाद स्नान करना आवश्यक था।

चण्डी-पाठ समाप्त हो गया। फूफाजी बछवल जाने लगे। मैं अपने मदरसे के लिए लौट नहीं सकता था। महामाया न जाने कितने दिनों तक अपना ताण्डव पंदहा में करनेवाली थीं। पण्डितजी ने मुझे अपने साथ चलने के लिए माँग लिया। गर्मियों में मंगई नदी उन्हीं जगहों पर पानीवाली होती है, जहाँ लोगों ने मिट्टी को बाँध बाँध रक्खे होते। लेकिन, सावन-भादों की मंगई बाढ़ के बिना भी कगार तक भरी हुई थी। चौड़ाई दस-बारह हाथ से ज्यादा नहीं रही होगी, जहाँ पर कि हम उससे पार हुए। पण्डितजी की घोड़ी पर चढ़ाकर मुझे पार कराया गया। घर में तीन-चार तरुण स्त्रियाँ थीं। किसी ने पूछा—बताओ, तुम्हारी फूआ कौन है ? मैंने फूआ को तो कभी देखा ही नहीं था। फूआ और देवरानी में फूआ ही कम उम्र की मालूम होती थीं। शायद इसीलिए मैंने उनको अपनी फूआ बतलाया। खेलने के लिए वहाँ लड़के भी कई थी। फूआ की देवरानी का लड़का यागेश मुझसे दो ही तीन महीने का छोटा था। यही लड़का मेरा घनिष्ठ मित्र बना। यह मित्रता साथ उड़ने में भी बहुत समय तक चलती रही।

महादेव पण्डित का घर बहुत सम्पन्न था। तीन-चार आँगनवाली बखरियाँ थीं, तीन-चार जोड़े बैल थे, गायें और भैंसे भी थीं। पण्डित अब अपने घर ही पर विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। जिस समय (1902 ई.) की मैं बात कर रहा हूँ, उस समय उनकी पाठशाला आरम्भिक अवस्था में थी। वह उस समय की प्रथा के अनुसार पहिले व्याकरण में सारस्वत का पूर्वार्द्ध और चन्द्रिका का उत्तरार्द्ध पढ़ाते, इसके बाद सिद्धान्त-कौमुदी में हाथ लगवाते। सिद्धान्त-कौमुदी में तद्धित प्रकरण तक शायद ही कोई विद्यार्थी पहुँचता। उसके सामने बनारस का आकर्षण आ जाता, जहाँ दो दिन में आसानी से पैदल पहुँचा जा सकता था। उनके कई विद्यार्थी इसी तरह बनारस चले गये। व्याकरण के अतिरिक्त जोतिस पढ़नेवाले भी उनके पास आते थे, जो अधिकतर शीघ्रबोध और मुहूर्त-चिंतामणि तक ही पढ़ते थे। इससे पंचांग देखना, जन्मकुण्डली बनाना आ जाता था। किसी ने बहुत किया, तो 'ताजिकनीलकण्ठी' के कुछ पन्ने पलट लिये। महादेव पण्डित की यह शिकायत वाजिब थी कि मैं पढ़ी हुई विद्या का बहुत उपयोग नहीं कर सकता।

दो-तीन दिन तो ऐसे ही बीते। फिर एक दिन फूफाजी ने सारस्वत पढ़ाना शुरू कर दिया। स्मरणशक्ति तीव्र थी और अभी किसी ने कान में यह मन्तर नहीं पढ़ा था कि रट्टू पीर होना बुरा है। सारस्वत के एक या दो पन्ने मैं पढ़ गया। पण्डितजी मेरी प्रगति से बहुत खुश थे। उर्दू से वंचित न हो जाऊँ, इसके लिए उन्होंने दर्जा एक में पढ़ाई जानेवाली उर्दू की पुस्तक के भी कितने ही पन्ने पढ़ा दिये। संस्कृत के पण्डित होते वह उर्दू भी जानते थे, यह उस समय के लिए आश्चर्य की बात थी। वह और शायद मैं भी समझने लगा था कि अब आगे बढ़ने का मेरा यही रास्ता होगा। पर, मैं तो नाना का था, इसलिए उन्हीं के बतलाए रास्ते पर चलने के लिए मजबूर था। दो हफ्ते से ज्यादा नहीं गुजरे होंगे कि पन्दहा से आदमी ने आकर कहा : बीमारी चली गई, वहाँ बुलाया है। उसी समय नहीं, बल्कि पीछे भी बछवल मेरे लिए आजमगढ़ का सबसे प्रिय गाँव बन गया और उसे जब-जब भी छोड़ना पड़ता, मुझे दुःख होता।

मैं फिर अब रानी की सराय के मदरसे में उर्दू पढ़ने लगा। संस्कृत से तो मानो सदा के लिए विदाई ले ली थी। तब भी इम्तिहान की छुट्टियों में जब मैं कनैला जाता, तो प्रायः हर बार दो-तीन दिन के लिए बछवल पहुँच जाता। इस आवा-जाही में मैंने महादेव पण्डित की पाठशाला को बढ़ते देखा। यह वह समय

था, जबकि संस्कृत की परीक्षाओं का रवाज अभी-अभी बढ़ने लगा था। बछवल में विद्यार्थी अपने घर से आटा-दाल बाँधकर लाते और अपने गुरु के पास रहकर पढ़ते। महादेव पण्डित विद्या में भी बड़े थे और उनका पढ़ाने का ढंग भी बहुत सुन्दर था। उनकी कीर्ति जल्दी ही दूर-दूर तक फैल गई, और उनके पास दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह कोस से विद्यार्थी आकर पढ़ने लगे। सभी अपने घर से आटा-दाल लाकर खाने की क्षमता नहीं रखते थे। महादेव पण्डित ने आस-पास के गाँवों में चक्कर लगाया। लोगों को कहा कि विद्यार्थियों के लिए आटा-दाल की चुटकी (मुठिया) निकालो। उस समय गेहूँ 14-15 सेर का था। जौ का आटा ही लोग अधिकतर खाते थे, जो 25 सेर का मिलता था। इस प्रकार खाते-पीते घरों को अपने भोजन में से एक मुट्ठी आटा हँडिया में रोज डाल देना भार नहीं था। उससे कितने ही विद्यार्थियों का काम चलता था। ईंधन के लिए कोई दिक्कत नहीं थी। अरहर का सूखा डंठल (रहट्ठा) जब तक घर का मौजूद रहता, विद्यार्थियों के लिए वह खुला था। कंडा भी मिल जाता और कभी-कभी अपने या माँगकर किसी दूसरे के सूखे पेड़ को कटवा दिया जाता। विद्यार्थी इस तरह आराम से पढ़ते थे। वह निर्द्वन्द्वता की आयु थी। पढ़ने के अतिरिक्त मनोविनोद की भी बातें हुआ करतीं। रामस्वरूप नामक एक 17-18 वर्ष का विद्यार्थी–जो शायद सिद्धान्त-चन्द्रिका समाप्त कर चुका था–बड़ा स्वस्थ और सुन्दर तरुण था। गले में छोटे-छोटे मनकों की रुद्राक्ष की माला और सिर में त्रिपुण्ड लगाकर वह भागवत या किसी दूसरे पुराण की बड़े सुन्दर ढंग से कथा कहता। कथा किसी यजमान या अपने पुण्य के लिए नहीं, बल्कि मनोरंजन के लिए होती। वह संस्कृत के श्लोकों को बड़े सुरीले स्वर में पढ़कर भोजपुरी में अर्थ कहता। मुझे कहानी और कथा सुनने-पढ़ने का बचपन से ही बहुत शौक था, इसलिए रामस्वरूप की कथा मैं बड़ी दिलचस्पी से सुना करता। एक या दो साल बाद बछवल जाने पर मालूम हुआ कि रामस्वरूप का देहान्त हो गया। मुझे इसका दर्द बहुत दिनों तक न भूला।

पाठशाला में विद्यार्थियों की संख्या इतनी अधिक हो गई थी कि उनके लिए अपने बाहरवाले घर भी पर्याप्त नहीं थे। गाँव के पास ही बाहर, साधु की एक कुटिया थी। विद्यार्थी उसमें भी जाकर रहते थे। जो गुरु के घर में रहते, वह वहीं शाम को अपने चूल्हे जलाते। दस-बारह चूल्हों का जलना भी आकर्षक बात थी। विद्यार्थी सारे ही ब्राह्मण थे। दूसरों को संस्कृत से क्या लेना-देना था ? उन्हें न यजमानी करनी और न सायत-शुभमुहूर्त देखना था। सभी सर्वरिया ब्राह्मण थे। होटलों का जमाना बहुत बाद में आनेवाला था। उस समय के लोकाचार के अनुसार ब्राह्मण भी एक-दूसरे के हाथ की कच्ची रसोई तभी खा सकता था, जबकि उनका नाता-रिश्ता हो। ऐसा न होता, तो दस-बारह की जगह एक ही चूल्हा जलाना पड़ता, और नहीं तो ईंधन की किफायत तो जरूर होती।

'सारस्वत' आरम्भ करके छोड़ने के बाद 8 वर्ष बीत गये थे। इस बीच में मैं उर्दू मिडल पास हो गया और घुमक्कड़ी की इन्ट्रेन्स परीक्षा को भी दो बार कलकत्ता की यात्रा करके पास कर चुका था। मिडल में पढ़ते समय ही उमरपुर के परमहंस बाबा की ख्याति मैंने सुनी। उनकी कुटिया बछवल से डेढ़-दो मील और कनैला से एक मील से भी कम पर थी। वह गाँव के बाहर मंगई नदी के किनारे थी। मैं भी एकाध बार गया। योग और वैराग्य का प्रभाव पड़ने लगा, जिससे घुमक्कड़ी का बहुत दूर का सम्बन्ध नहीं है। धार्मिक वृत्तियों के जग जाने के बाद मैंने निश्चय किया कि अंग्रेजी नहीं पढ़ूँगा, संस्कृत पढ़ना ही मेरे लिए उचित है। घरवाले इसका विरोध करते थे। हमारे घर (कनैला) में यजमानी वृत्ति नहीं थी। संस्कृत का उपयोग क्या था ? संस्कृत के पंडित को अच्छा पद या नौकरी नहीं मिल सकती थी, अर्थात् बाजार में उसका मूल्य नहीं था। फिर घरवाले क्यों पसन्द करते ? मैंने पहिले सोचा, यहीं फूफाजी के यहाँ ही पढ़ूँ। घरवालों की इच्छा के विरुद्ध वहाँ जाकर पढ़ नहीं सका। पंडितजी पढ़ाने के लिए बहुत उत्सुक थे। इस तरह का विरोध देखकर उन्होंने कहा–मैं अपने सहपाठी के पास बनारस ले चलूँगा, तुम वहाँ पढ़ना। खैर, वह कुछ नहीं हो पाया।

यह देखकर मैंने घर से भागने का निश्चय किया। 1910 के मार्च या अप्रैल में सिर्फ गुड़ की एक छोटी-सी पिंडी लेकर एक दिन बिना पैसे-कौड़ी के मैं निकल पड़ा। वैराग्य का भूत सिर पर सवार था। संस्कृत के कितने ही श्लोक पढ़ते-पढ़ते कंठस्थ हो गए थे। मैं उनका कुछ अर्थ भी जानता था। घूमते-घामते हिमालय में पहुँचा।

यमुनोत्री, गंगोत्री, केदार, बदरी का विधिवत् दर्शन-पूजन करते बनारस लौट आया। फिर घर पर जाने पर पिता ने महादेव पंडित के पास पढ़ने की इजाजत दे दी। एक दिन बछवल पहुँचकर मैंने लघुकौमुदी शुरू की। पहिले से अब पाठ्य-ग्रन्थों में फर्क हो गया था। आठ सालों के भीतर अब जो व्याकरण अधिक पढ़ना चाहते थे, वह 'सारस्वत', 'चन्द्रिका', की जगह 'लघुकौमुदी' शुरू करते थे, जिसके सूत्र वही थे, जो 'सिद्धान्त-कौमुदी' के और आगे भी चलते थे। गरी-छुहारे, किसमिस और मिश्री का प्रसाद गुरु के सामने रक्खा और उन्होंने पाठ आरम्भ कराया। कई महीने तक यहीं पढ़ता रहा। लेकिन, अब बाहर की हवा लग गई थी। बनारस में भी परिचय हो चुका था, इसलिए मैं वहाँ चला गया।

बनारस के तीन वर्ष के निवास के समय मैं जब-तब पंडितजी के पास जाता। इसी बीच अब वहाँ विद्यार्थियों की संख्या कम होने लगी थी। परीक्षा की तरफ आकर्षण हो गया था। कई पाठशालाएँ खुल गई थीं, जिन्हें सरकार की ओर से कुछ वृत्ति भी मिलती थी। पंडितजी से निरीक्षक-पंडित ने बहुत कहा कि आप अपनी पाठशाला को बनारस गवर्नमेंट संस्कृत कालेज में सम्बद्ध करा लें, पर वह ऐसा करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें वेतन लेना नहीं था, और न पाबन्दी पसन्द थी।

महादेव पण्डित बहुत उदार विचारों के थे। घर का काम-काज छोटे भाई के ऊपर था। खेती के अतिरिक्त कुछ लेन-देन का भी काम होता था। कर्ज में जेवर भी रखे जाते थे और कार्तिक में सवाई पर बीज का अनाज भी काफी दिया जाता था। भाई एक माता-पिता से भले ही पैदा हों, पर गृहस्थी को एक करके ले चलना बहुत दिनों तक नहीं हो सकता। कोई-कोई ही अपने जीवन-भर सबको बाँधकर ले चलने में समर्थ होते हैं। फिर एक-दूसरे के ऊपर सन्देह होने लगता है। कहा-सुनी, मनमुटाव होते कभी-कभी तो थुक्कम-फजीहत के बाद बटवारा होता। महादेव पण्डित दोनों भाइयों में बात यहाँ तक नहीं पहुँची। यह जरूर कहा जाता था कि नगद और बंधक रक्खे हुए जेवरों का ठीक से हिसाब नहीं दिया गया। बँटवारा होने के बाद की एक घटना है। बछवल के लाला (कायस्थ) लोग खानदानी माने जाते थे। लाला लोगों को अच्छा खाने-पहनने की ही आदत नहीं होती, बल्कि घर बेंचकर पीने के लिए भी वह तैयार रहते। इसलिए उनके बनते-बिगड़ते देर नहीं लगती। बहुत कुछ बिक जाने पर भी कैसे वह साफ-सुथरे रहते, यह देखकर आश्चर्य होता। बछवल के एक लाला पुलिस दरोगा होकर पेंशन पा रहे थे। उनकी नौकरी अवश्य कम्पनी के जमाने में शुरू हुई होगी। उस शताब्दी के आरम्भ में जब कि उनकी भौहें तक सफेद हो गई थीं, वह बड़े रोबीले मालूम होते थे। मुँह पर गलमुच्छा, सिर पर शायद पटे, जिसके ऊपर गोल टोपी, देह पर सफेद कुर्ता उनके रोब में वृद्धि करते थे। शायद बाप के रहते ही उनके लड़के जंगबहादुर लाल ने महादेव पण्डित के घर से कर्ज लिया। कर्ज ज्यादा हो गया, तो चार-पाँच सौ रुपये का कागज लिख दिया। पिता मर गये। जंगबहादुर लाल ने कोई नौकरी नहीं की, शायद अब दरोगई के लिए अंग्रेजी की जरूरत थी, या घर से बाहर जाने का मन ही नहीं हुआ। वह बाप की तरह शरीर से भरे-पूरे नहीं, बल्कि दुबले-पतले थे। मुँह पर दाढ़ी थी और मुसलमान होने से बड़ी-बड़ी मूँछें ही उनको अलग करती थीं।

कर्ज देने की जंगबहादुर में ताकत नहीं रह गई थी। पिता के मरते ही पेंशन बन्द हो गई और छोटी-सी जमींदारी को बंधक रखने और बेंचने से ही काम चलता था। तकाजा होने पर आज-कल करते रहे। इसी में कर्ज-वसूली की कानूनी अवधि बीत गई। जंगबहादुर लाल की तारीफ करनी होगी कि इस पर भी उन्होंने कर्ज देने से इन्कार नहीं किया और चाहा कि सूद छोड़कर दस्तावेज में जितना रुपया लिखा गया है, पंडित जी उतना ले लें। लेकिन, महादेव पंडित इसके लिए तैयार नहीं थे। मुकदमा किया। जंगबहादुर ने कहा—अवधि बीत गई है। खारिज हो गया। सरकारी अदालत से रुपया पाने की कोई आशा नहीं रह गई। पण्डितजी अब बभनई पर उतर आये। हरिराम, हरसूराम दोनों ब्रह्मों के पास गुहार लेकर गये। लेकिन दोनों ब्रह्म जिले नहीं, सूबे से भी बाहर थे। जंगबहादुर लाला भले ही पण्डित की कार्रवाई को सुनते हों, लेकिन उसका उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। दूसरे काम बनते न देखकर पण्डित ने जंगबहादुर के घर के आस-पास तलाश की। पिछवाड़े थोड़ा हटकर एक स्थान था, जिसे ब्रह्म बने ब्राह्मण का बतलाया जाता था। पंडित ने उसी को जगाने की सोची।

कर्ज में दोनों भाइयों का आधा होता था, लेकिन उसके वसूल करने में सारी जिम्मेदारी महादेव पण्डित ने अपने ऊपर ली। जंगबहादुर के ऊपर उन्होंने अपने बाल बढ़ाये; अर्थात् मरने के बाद मैं ब्रह्म होकर तुम्हारे घर के किसी को नहीं छोड़ूँगा। शाम-सबेरे ब्रह्म के नये बनवाये कच्चे चबूतरे पर दूध चढ़ाया जाता, पूजा होती और पण्डितजी के विद्यार्थी चिल्ला-चिल्लाकर कहते : इस पापी का उच्छेद करो। पण्डितजी के पढ़े हुए पोथी-पत्रे में ब्रह्म जगाने की कोई बात नहीं थी, लेकिन आवश्यकता आविष्कार की माँ होती है। वह और उनके गण जो चिल्ला-चिल्लाकर सोते ब्रह्म को जगा रहे थे, वह वस्तुतः ब्रह्म के नहीं, बल्कि जंगबहादुर के कानों के लिए था। जंगबहादुर कुछ आर्यसमाज की बातें करते थे। शायद इसीलिए ब्रह्म का किया-कराया कुछ नहीं हुआ। जंगबहादुर अन्त तक मूल के रुपये को देने के लिए तैयार थे, पर शान और आन का सवाल था। कुछ वर्षों बाद महादेव पण्डित ने सबको बेकार समझ लिया, और अपने बढ़े हुए केश-दाढ़ी को साफ करवा लिया।

1913 में जब मैं घर से सदा के लिए सम्बन्ध छोड़कर छपरा में साधु हो गया, तो एक बार मुझे लौटाकर घर लाने में सबसे अधिक हाथ महादेव पण्डित का था। साधुओं में सिर्फ दंडियों को वह मानते थे। उमरपुर के परमहंस बाबा दण्डी नहीं थे, पर वह पण्डित तथा जीवमुक्त समझे जाते थे, इसलिए उनके प्रति उनकी आस्था थी। तुलसी की माला-कण्ठी और वैष्णवों के तिलक को वह बहुत हीन दृष्टि से देखते थे। एक श्लोक कहा करते थे—'अश्वारूढं यतिं दृष्ट्वा खट्वारूढां रजस्वलाम्। द्विजाति-कंठकाष्ठं च कम्पते रविमंडलम्।' (घोड़े पर चढ़े यति और खाट पर बैठी रजस्वला स्त्री, वैसे ही ब्राह्मण के कंठ में तुलसी का काष्ठ पड़ा देखकर इतना महापाप होता है, जिससे सूर्य तक काँपने लगता है)। वह कभी-कभी बारीक मणियोंवाली रुद्राक्ष की माला स्वयं धारण करते थे। रुद्राक्ष के फल की गुठली होने से वह भी काष्ठ ही है, पर इसे वह नहीं मानते थे। बनारस में जाकर मुझमें भी रुद्राक्ष और भस्म-त्रिपुण्ड की बड़ी भक्ति जगी और वैष्णवों को पंथाई समझता था। मानता था, सृष्टि के आदि से शिव, त्रिपुण्ड, रुद्राक्ष और दण्डी संन्यासी ही चलते आये हैं। 19वीं सदी में वैष्णवों और शंकर मतानुयायियों में कितनी ही बार खटपट हुई थी। यद्यपि उत्तरी भारत में विद्या में वैष्णव कोई अस्तित्व नहीं रखते थे, पर तो भी संस्कृत में कितने ही प्रमाण-सहित पुस्तिकाएँ लिखी गई थीं, जिनमें सिर्फ माँ-बहिन की गाली-गलौज को छोड़ा गया था, नहीं तो सभी तरह के गोत्रोच्चार हुए थे। संयोग देखिए, जिस धर्म के प्रति मैं इतना दुर्भाव रखता था, अन्त में उसी धर्म का मैं साधु हो गया। खैर, पण्डितजी एक बार धर-पकड़कर घर लाने में समर्थ जरूर हुए, किन्तु अब मैं बीस वर्ष का हो गया था, मेरे पूरे पंख जम आये थे। फिर निकल भागा। लेकिन सारे हिन्दुस्तान का चक्कर मारने पर फिर नीड़ ने आकर्षित किया। घर आने पर मैं बछवल भी पहुँचा। फूफाजी ने देखते ही कहा—"को विशेषः ?" अर्थात् कौन अच्छा है, सधुवई या गृहवास ? इसका जवाब मुझे उस वक्त देने की जरूरत नहीं थी। अब महादेव पण्डित की पाठशाला बिल्कुल टूट गई थी। एक ही दो विद्यार्थी थे, जिनमें स्थायी राजाराम थे। मैं समझता हूँ, 1902 में भी वह रहे, अब 1914-15 में भी वहाँ मौजूद थे, और चन्द्रिका से आगे वह नहीं बढ़ पाये। शायद वह सदा के लिए गुरुकुलवास का निश्चय कर चुके थे। नौ-दस बजे स्नान-पूजा से फारिग होकर मक्की के लावे को खाते उनके मुँह की बातें अब भी मेरे कानों में आती हैं।

1915 के आरम्भ में मैं फिर निकल भागा। साल-भर बाद पिता की भारी बीमारी सुन अन्तिम बार कनैला गया। उस समय महादेव पण्डित की पाठशाला बिल्कुल खतम हो चुकी थी। दोनों भाइयों को अलग हुए सालों बीत चुके थे। अपने तीनों बेटों के लिए अब वह बिल्कुल संसारी पुरुष हो गये थे। मैं उनकी तरुणाई के जमाने का ख्याल करता था। तब वह कितने स्वच्छन्द और उदार थे। पहिले-पहिल बछवल पहुँचने पर एक दिन ढोलक को ठीक करते उन्होंने घी और मिर्च लाने के लिए कहा। मैं ले गया। उन्होंने उसे खाकर गला साफ किया और ढोलक पर कुछ गाने लगे। अहोरात्र विद्यादान देते अपने विद्यार्थियों के सुख-दुःख का ही उनको एकमात्र ख्याल रहता, दुनिया में क्या हो रहा है, इसकी उन्हें कोई पर्वाह नहीं थी। उनके तीन लड़कों में कोई उनके रास्ते पर नहीं चला। बुढ़ापे में लड़के उनके सुख के कारण नहीं बन सके।

28 वर्ष बाद 1943 में जब मैं कनैला होते बछवल पहुँचा, तो महादेव पंडित को मरे बहुत साल हो गये

थे। मेरी घुमक्कड़ी उनकी समझ में नहीं आ सकती थी, पर मेरे प्रति उनका स्नेह सदा रहा। वह समझते थे, यह इसी तरह भटकता रह जायेगा। 1931 में संस्कृत में विस्तृत भूमिका और टीका के साथ 'अभिधर्मकोश' मैंने प्रकाशित करवाया, जिसकी एक प्रति महादेव पंडित के पास भी किसी तरह पहुँच गई। उसे देखकर उनको अत्यन्त संतोष हुआ।

3
यागेश

यागेश महादेव पंडित के अनुज सहदेव पांडे के बड़े लड़के थे। उनका एक छोटा भाई–जिसका प्यार का नाम समाचारी था–जवानी में ही मर गया। यागेश से मेरा परिचय बछवल की पहली यात्रा (1902 ई.) में हुआ। कुछ ऐसे समान गुण थे, जिनके कारण यागेश मेरे लिए सगे भाई से भी बढ़कर प्रिय हो गये और उनका भैया मैं उसी तरह उनके सम्मान का भाजन हुआ। मेरी फूआ के लड़के रमेश से मेरा वैसा सम्बन्ध नहीं था। यहाँ एक बात याद आ गई। नामों के परिवर्तन की प्रथा शिक्षा और संस्कृति के प्रवेश के साथ बदलती रहती है। महादेव पंडित के पिता का नाम मोलई पांडे था, जो बतलाता है कि इस घर में कम-से-कम दो-तीन पीढ़ी पहिले ही से अक्षर से कोई सरोकार नहीं था। होता तो इस तरह का नाम क्यों रक्खा जाता ? शायद माँ-बाप के लड़के मर-मर जाते थे, इसलिए अपने नवजात लड़के को किसी के हाथ में वेंचकर फिर उसे मोल खरीदा गया था, इसीलिए यह नाम पड़ा। मोलई पांडे गाँव के अच्छे खाते-पीते धनी व्यक्ति थे, पर वही बात विद्या के बारे में नहीं कही जा सकती। तो भी उन्होंने अपने लड़कों का नाम महादेव-सहदेव रखकर सुरुचि का परिचय दिया। जब कुल में महादेव जैसा दिग्गज पंडित पैदा हो गया, तो संस्कृत और संस्कृति का प्रवेश होना अनिवार्य था। इसी कारण अनुज के लड़के का नाम यागेशदत्त पड़ा और कुछ समय बाद पैदा हुए पुत्र का नाम रमेशदत्त। उन पर बंगला उपन्यासों का कोई प्रभाव नहीं था। पंडित लोग मानते थे, ब्राह्मण के नाम के अन्त में दत्त, क्षत्रिय के नाम के अन्त में वर्मा, वैश्य के नाम के अन्त में गुप्त और शूद्र के नाम के अन्त में दास होना चाहिए। महादेव पंडित ने इसी 'श्रुतिवाक्य' का पालन किया था। लेकिन नाम रखने से कोई फल नहीं हुआ। दोनों दत्तान्त बन्धु संस्कृत की तरफ जरा भी नहीं बढ़े।

दोनों लड़के बचपन में (1902 में) दुबले-पतले थे। सर्वरियों में मांस खाना जाति से वर्जित नहीं है। यही नहीं उनके शिरोमणि–पंक्ति ब्राह्मण–तो तब तक पंक्ति माने नहीं जा सकते, जब तक कि उनके घर के आगवाड़े-पिछवाड़े हड्डियाँ न मिलें। तो भी यह अलिखित नियम-सा बन गया था, कि जो संस्कृत में जरा भी गूँ-गाँ कर सके, उसे मांस नहीं खाना चाहिए। घृणास्पद वैष्णवों और उनके शिरोमणि तुलसीदास ने घर-घर में घूमकर लोगों के मन में बैठा दिया था कि मांस खानेवाला धर्मात्मा नहीं हो सकता। महादेव पंडित भी मांस नहीं खाते थे, प्रायः घर-भर नहीं खाता था। लेकिन लड़के दुर्बल थे, इसके लिए उन्हें मांस पकाकर जरूर दिया जाता था। पहली बार जाने पर बछवल में महादेव पंडित के घर की भाषा कुछ विचित्र मालूम हुई। भोजपुरी वहाँ के स्त्री-पुरुष भी बोलते थे, लेकिन उनकी बोली में कुछ संस्कृत के शब्द घुस आये थे। महादेव पंडित को जब गुस्सा आता या रोब दिखलाना चाहते, तो उनकी भाषा में बहुत संस्कृत के शब्द चले आते। मूर्ख शब्द के अन्त में ख है, इसलिए मूर्ख कहने की जगह वहाँ खान्त कहने का रवाज था। उस समय ऐसे कितने ही शुद्ध संस्कृत के शब्द उनके घर में बोले जाते थे।

बछवल काफी बड़ा गाँव था, लेकिन वहाँ मदरसे के नाम पर महादेव पंडित के प्रयत्न और सहायता से एक इमदादी (सहायता प्राप्त) प्राइमरी स्कूल खुला हुआ था। उसी में यागेश और रमेश पढ़ा करते थे–यागेश भी मेरी तरह उर्दू के विद्यार्थी थे। बहुत दिनों तक वहाँ का स्कूल इमदादी ही रहा। पहली बार बछवल जाने

के बाद ही मेरा रास्ता खुल गया। एक-दो साल बाद मैं बराबर वहाँ जाया करता था। इस तरह हमारी मित्रता और घनिष्ठ होती गई। एक साल बर्बाद कर मैं मिडिल पास हो गया। यागेश मिडिल की सीमा को कभी पार नहीं कर सके। एक बार मैंने उन्हें निजामाबाद में भर्ती करने का भी प्रयत्न किया। यागेश के छोटे बहनोई इलाहाबाद में ह्वीलर कम्पनी में नौकर थे। इस अंग्रेज कम्पनी के किताबों के स्टाल हिन्दुस्तान के अधिकांश बड़े स्टेशनों में मौजूद थे। किताबों के साथ घड़ी और दूसरी चीजें भी वहाँ बिका करती थीं। बहनोई के सम्बन्ध से यागेश इलाहाबाद आने-जाने लगे और रेलवे के फ्री पास से भारत के बहुत-से भागों में घूम आये। लेकिन रेल की यात्रा घुमक्कड़ी नहीं है। उससे उतना तजर्बा नहीं हो सकता, यदि आप बीच-बीच के महत्वपूर्ण स्थानों में उतरकर वहाँ दो-दो, चार-चार दिन न लगायें।

मैं कह चुका हूँ कि पहिले-पहिल संस्कृत पढ़ने के लिए जब महादेव पंडित के पास जाने का मैंने निश्चय किया; तो उसमें घरवालों ने पूरी ताकत लगाकर बाधा डाली। फलतः मैंने अब दूर चले जाने का निश्चय कर लिया। बनारस घर के पास था। वहाँ रहने पर घरवालों से खतरा था। 1910 के मार्च-अप्रैल महीने में मैं निकल भागा। साधु बनकर बाहर घूमने में क्या-क्या सुभीते हैं, और यात्रा में कैसे रहना चाहिए, इसकी शिक्षा मुझे बाबा हरिकर्ण से मिली थी। उमरपुर के परमहंस बाबा ने कोई गुरु-गँडरिया नहीं किया था। शास्त्रों को पढ़ते-पढ़ते वैराग्य आया और वह साधना में लग गये थे। लोग उन्हें परमहंस बाबा कहकर ही पुकारते थे। कोई नहीं जानता था कि वह नेपाल के पोखरा के निवासी शालिग्राम पंडित हैं, जिन्होंने खुद ही अपने कपड़े रँगे। उनकी शांत और प्रभावशालिनी मूर्ति से पठित-अपठित सभी प्रभावित होते थे। इसी प्रभाव में आकर उमरपुर के एक गाँव के एक हट्टे-कट्टे क्षत्रिय तरुण ने अपने जीवन को उनकी सेवा में अर्पित कर दिया। परमहंस बाबा किसी को अपना चेला बनानेवाले नहीं थे, हरिकर्णसिंह ने भी अपने ही गेरुआ रँग लिया। बाकायदा साधु होते, तो नाम बदला जाता, इसलिए लोगों ने उनके नाम से सिंह हटाकर बाबा या दास लगा दिया। बाबा हरिकर्ण भी बदरी-केदार हो आए थे। और घूमने की उन्हें इच्छा नहीं थी। हिन्दी में कुछ वेदान्त की पुस्तकें थीं, जिन्हें पढ़ा करते, और वृद्ध परमहंस बाबा की सेवा करते। उन्होंने जो चीजें साथ रखने के लिए बतलाई थीं, उनमें एक तुमड़ी (कमण्डल) भी था। मैंने सोचा, बछवल की कुटी में मेरे मित्र कालिकादास से वह मिल जाएगी। शाम को कुटी पर पहुँचा। कालिकादास ने चुपके से यागेश को बुलवा दिया। कमण्डल तो मिल गया। यागेश ने भी साथ चलने के लिए कहा। इस पर मैंने सलाह दी : बाद में मैं तुम्हें लिखूँगा, उस वक्त चले आना। सबेरे अँधेरा रहते ही मैं कमण्डल लेकर बछवल से चल पड़ा। महादेव पंडित को यदि यह बात मालूम होती, तो विघ्न आवश्यक था।

मेरे ऊपर उस वक्त पूरा वैराग्य सवार था। जिस तरह आजकल ईश्वर के न होने पर पक्का विश्वास है, उसी तरह उस समय ईश्वर के होने पर दृढ़ आस्था थी। सोचता था, चाहे पास में कुछ भी न हो, लेकिन भगवान् तो साथ हैं। बेसरोसामानी से पैदल चलता बछवल से आजमगढ़, अयोध्या, फैजाबाद, बाराबंकी, सीतापुर, नीमसारमिसरिख, शाहजहाँपुर, बरेली होता मुरादाबाद पहुँच गया। कहीं पर एक दिन भी भूखे रहने की जरूरत नहीं पड़ी। भगवान् पर विश्वास और भी दृढ़ हो गया। मुरादाबाद से हरद्वार बहुत दूर नहीं है, चाहता था पैदल ही चला चलूँ, लेकिन किसी के आग्रह पर रेल पर सवार होना पड़ा। मेरा इरादा वस्तुतः बदरी-केदार जाने का नहीं था। मैं चाहता था, किसी पाठशाला या पण्डित के पास रहकर संस्कृत पढ़ूँ। 16-17 वर्ष का था, मिडिल पास और कलकत्ता दो बार घूम आया था, लेकिन अभी अखबारों की दुनिया का पता नहीं था और भूगोल में पढ़ी बातों से अधिक किसी जिले और शहर के बारे में भी मालूम नहीं था।

हरद्वार में उतरने पर विष्णुदत्त पण्डित का साइनबोर्ड देखा। देखते ही विश्वास हो गया : मेरा भाग्य खुल गया, पण्डितजी के चरणों में बैठकर संस्कृत-शास्त्रों को पढ़ूँगा। पास जाने पर पंडितजी ने दिल खोलकर स्वागत किया और कहा—"कहीं भटकने की जरूरत नहीं, यहीं रहकर पढ़ो।" वह हिन्दी भाषा के अपने क्षेत्र के रहनेवाले थे, हिन्दी अच्छी जानते थे, इसलिए उनकी बोलचाल का प्रभाव पड़ा। लेकिन, झूठा प्रभाव कितने दिनों तक रहता ? कुछ ही दिनों बाद मालूम हुआ कि पंडितजी का संस्कृत-ज्ञान मुझसे ज्यादा नहीं है।

'भर्तृहरिशतक' और 'चाणक्यनीति' के सैकड़ों श्लोक पढ़ते-पढ़ते मुझे कंठस्थ हो गये थे और हिन्दी टीकाओं को दोहराने से सोलह आना नहीं तो बारह आना उनका अर्थ भी मुझे मालूम था। पंडितजी ने मुझे किसी लम्बे पोथे की नकल करने में लगा दिया। पाठ शुरू करने के लिए कहने पर आज-कल करते हफ्ते बिता दिये। मुझे असली रहस्य मालूम हो गया। वहाँ से चलने का निश्चय नहीं कर पाया था, इसी समय बाबा कालिकादास की मार्फत एक चिट्ठी मैंने यागेशदत्त को लिखी। था पोस्टकार्ड ही, लेकिन उसमें जरा भी जगह खाली नहीं रक्खी। यदि यह पोस्टकार्ड नष्ट न हुआ होता, तो उसकी भाषा पढ़कर भविष्यवाणी की जा सकती थी कि मुझमें कवि होने के अंकुर हैं। पत्र में रास्ते के वनों-बगीचों, गाँवों-नगरों की यात्रा का खूब आकर्षक वर्णन और गर्मी के दिनों में हरद्वार की गंगा के हिम-शीतल जल की महिमा मैंने खुलकर गाई थी। इसका उद्देश्य यही था कि यागेश भी उसी तरह दौड़ पड़ें। यागेश के दौड़ने के लिए इतना काफी था कि मुझे भी भैया के साथ रहना चाहिए।

सावधानी के लिए मैंने सारी चिट्ठी कागज पर लिखकर फिर कार्ड पर उलटी ओर से कापी कर दी थी, अर्थात् अन्त का है आरम्भ का है बन गया था। न जाने मैंने इस रहस्य को चलते वक्त यागेश से बतला दिया था, या अर्थ न लगने पर उनके दिमाग ने खुद दौड़कर रहस्य का पता लगा लिया। किसी तरह चिट्ठी का पता महादेव पंडित को भी लग गया। पोस्टकार्ड हाथ में आने पर उनके सामने भी वही दिक्कत हुई, लेकिन उन्होंने अर्थ निकाल लिया। यागेश पर निगरानी रक्खी जाने लगी, वह भाग निकलने के लिए तैयार थे। अब तक की उनकी यात्राएँ रेल से हुई थीं और खाली हाथ नहीं। मालूम नहीं, वह कुछ पैसा हाथ में लेकर घर से निकले या मेरी ही तरह। हरद्वार तक की सारी यात्रा उन्होंने पैदल नहीं की। कभी रेल पर भी चलते और कभी पैदल। मैंने जल्दी आने के लिए कहा था, इसलिए भी वह जल्दी-जल्दी यात्रा पूरी कर रहे थे। लेकिन, जब तक यागेश हरद्वार पहुँचे, उससे पहिले ही मैं विष्णुदत्त पंडित से विदाई लेकर उत्तराखण्ड की ओर बढ़ चुका था। विष्णुदत्त पंडित ने फिर वही जाल यागेश के ऊपर डालना चाहा—"तुम्हारे भाई कुछ दिनों के लिए घूमने चले गये हैं, यहीं आ जायेंगे।" शायद किसी आदमी को मैं कह आया था; मैं उत्तराखण्ड की ओर जा रहा हूँ जिससे सुनकर यागेश भी कुछ दिनों बाद चल पड़े। मैं जमुनोत्री, गंगोत्री, केदार, बदरी सब जगह जाऊँगा, इसका उन्हें पता नहीं था। मैंने भी निराश हो उत्तराखण्ड देख बनारस में चलकर पढ़ने का निश्चय किया था। यागेश ने भी उत्तराखण्ड के चारों तीर्थों को देखने का निश्चय कर लिया। दो तीर्थों के बाद केदारनाथ में बाबा धर्मदास के सत्संग ने पहले मुझ पर बहुत प्रभाव डाला। समझने लगा, वह उपनिषद् और वेदान्त के अगाध पंडित हैं। संस्कृत का ज्ञान होता, तो उनके 'अणुवों रणियान्' (अणोरणीयान्) से ही भेद खुल जाता। बाबा धर्मदास ने धोखा देना नहीं चाहा। उन्होंने कहा—"पढ़ने की उमर है। कालीकमलीवाले का क्षेत्र जाड़ों के लिए बन्द हो जायगा, उस समय हमारे साथ ऋषिकेश चलना। वहाँ किसी अच्छे पण्डित के पास पढ़ने का बन्दोबस्त कर दूँगा।" उन्होंने इस बात को भी मान लिया कि विद्या पढ़ लेने के बाद ही मैं साधु बनूँगा। केदारनाथ में बाबा धर्मदास के पास डेढ़ या दो महीने के लिए मैं ठहरा हुआ था।

उस वक्त कालीकमलीवाली धर्मशाला आज के सामने मड़ैया-सी थी। दुमंजिला कोठरियों के बैरक की पाँती थी, जिसके ऊपर और नीचे की दो-दो कोठरियाँ धर्मशाला के व्यवस्थापक बाबा धर्मदास और उनके सहायकों के लिए सुरक्षित थीं। साढ़े ग्यारह हजार फुट पर होने के कारण केदारनाथ उत्तराखण्ड के तीर्थों में सबसे अधिक ठंडा है, पर उसके लिए डरने की जरूरत नहीं थी। बाबा धर्मदास की कृपा से कम्बलों और गर्म कपड़ों की कमी नहीं थी। ऊपर की एक कोठरी में कपड़े-लत्ते और दूसरी में सदावर्त में दी जानेवाली चीजें रक्खी रहती थीं। बाहर का बराण्डा लम्बी खिड़कियोंवाला था। वहीं सदावर्त बाँटी जाती थी। सामने की खिड़की रोशनी के लिए खुली हुई थी। मैं बन्द खिड़की के पीछे कुछ अँधेरे में बैठा हुआ था। एक दिन यागेश को एक आदमी के साथ सदावर्त लेने आये देखा। मैंने यागेश कह करके पुकारा। हमारे हर्ष का क्या ठिकाना ? उनको आशा नहीं थी कि मुलाकात हो सकेगी और मुझे भी क्या आशा थी कि केदारनाथ में इतने दिनों ठहरना पड़ेगा। मैं उनके साथ उस जगह गया, जहाँ पूर्वी उत्तरप्रदेश के कुछ साधुओं के साथ वह ठहरे हुए थे। पुराने साधु

दुनिया चेताने का तजर्बा रखते हैं और वालू में से भी तेल निकाल सकते हैं। नौसिखिया को वहुत सीखने के वाद वह विद्या हाथ में आती है। ऐसे ही दो-तीन साधु ऋषिकेश से आगे यागेश को मिल गये और वह उनके साथ हो लिये। यही नहीं, मुखिया साधु ने इन्हें मूँड़ने का भी निश्चय कर उनके कंठ में तुलसी की माला डाल दी थी। मैं केदारनाथ में गरम पायजामा, गरम कोट, मोजा-जूता और गरम कंटोप पहनकर अच्छा अमीर-सा मालूम होता था। साधुओं को जव मालूम हुआ कि यागेश का यही भाई है, वह लिवाने के लिए आया है, तो उनको सवसे पहले फ़िकर पड़ी कंठी को लौटाने की। किसी ने कह दिया, नावालिग लड़के को चेला वनाने में जेल की हवा खानी पड़ती है। डर के मारे जल्दी-जल्दी उन्होंने कंठी उतारनी चाही, लेकिन कंठी ऐसी फँसी थी कि निकल ही नहीं रही थी। अन्त में तोड़कर उसे निकाल लिया। इस सारी लीला के समय मैं वाहर यागेश के विदा होकर आने का इन्तिजार कर रहा था। पीछे यागेश ने जब यह वात सुनाई, तो हमें वड़ी हँसी आई।

केदारनाथ में दो-तीन हफ्ते से और ज्यादा हमें रहना नहीं पड़ा। क्वार शायद वीतने लगा था। दो-तीन हफ्ते में वावा धर्मदास ऋषिकेश लौटनेवाले थे। उन्होंने चाहा कि हम बद्रीनाथ होकर ऋषिकेश चलें, ताकि उत्तराखण्ड का एक वड़ा तीर्थ वचा रह न जाय। केदारनाथ छोड़ते वक्त मेरा पक्का निश्चय ऋषिकेश लौटने का था। यागेश ने अपना मतभेद उस समय प्रकट नहीं किया, लेकिन वह घर चलने के फेर में थे। वद्रीनाथ पहुँचने में कई दिन लगे। तव तक यागेश कई वार कह चुके थे–हरद्वार और ऋषिकेश में संस्कृत की पढ़ाई क्या होगी। मुझे भी कड़वा तजर्वा था। किसी से पढ़ने की वात करते समय जब मैं अपना जन्मस्थान वनारस के पास वतलाता, तो लोग हँस पड़ते–"यह पढ़नेवाले देवता नहीं हैं, नहीं तो वनारस छोड़कर यहाँ क्यों भटकते ?" पर, वावा धर्मदास की वात पर मुझे पूरा विश्वास था। समझता था, ऋषिकेश में पढ़ने का अच्छा बन्दोवस्त जरूर हो जायगा। यागेश का मन्तर वीच-वीच में मेरे कानों में पड़ता रहता, जिसने बद्रीनाथ में जाकर पूरा असर किया।

वद्रीनाथ के लिए चलते समय वर्षा समाप्त-सी हो चुकी थी। हम दोनों ही 16-17 वर्ष के स्वस्थ नौजवान थे। शरीर का भार भी हल्का था, इसलिए पहाड़ की चढ़ाई-उतराई हमारे लिए कोई चीज नहीं थी, और अन्तिम दिन तो रेलवे के स्टेशन पर पहुँचने के समय एक दिन में 34-35 मील की पहाड़ी यात्रा हमने समाप्त की। तेज चलते विश्राम करनेवाली चट्टी पर जाकर थक जाते। यागेश का तुरन्त प्रस्ताव होता–"भैया खिचड़ी बना लें।" खिचड़ी और चावल से उस समय मुझे सख्त नफरत थी; लेकिन रोटी, दाल, साग वनाने में मेहनत ज्यादा होती। कितनी ही वार यागेश की वात माननी पड़ती।

बद्रीनाथ जाने पर वहाँ की कालीकमलीवाली धर्मशाला में ठहरे। उसके अध्यक्ष कोई गरीवदासी साधु थे। शायद उनका वावा धर्मदास से कोई द्वेष नहीं था, और उनकी कम योग्यता के ख्याल से ही वह वैसा कह रहे थे। वात-वात में उन्होंने वतलाया–"वावा धर्मदास के चक्कर में मत पड़ो, वहाँ पढ़ना-वढ़ना नहीं होगा।" वह बाबा धर्मदास से अधिक पढ़े हुए थे। उनकी बात का कुछ ही असर हुआ, यात्रा मोड़ने का काम ज्यादातर यागेश के विचारों ने किया। बद्रीनाथ से लौटते हमने ऋषिकेश का रास्ता छोड़ रामनगर स्टेशन का रुख लिया। बावा धर्मदास ने जो पैसे दिये थे, वह करीब-करीव खतम हो चुके थे। रामनगर से शायद पैदल ही हम दोनों काशीपुर पहुँचे, फिर वहाँ से भी पैदल ही ठाकुरद्वारा होकर मुरादाबाद। मुरादाबाद से बरेली भी पादचारिका ही रही। वरेली में छोटी लाइन के स्टेशन के बाहर एक धर्मशाला में हम लोग ठहरे। धर्मशाला के पीछे के कुछ कमरों में पुलिस सव-इन्सपेक्टर का परिवार रहता था। सव-इन्सपेक्टर के भाई से हम दोनों का परिचय हो गया। वहाँ हिंगलाज से लौटे स्वामी पूर्णानन्द और कितने ही और साधु-साधुनियों से भेंट हुई। कराची से भी दूर बलोचिस्तान के रेगिस्तान में अवस्थित इस महान् तीर्थ की वात सुनकर मेरा मन फड़क उठा। वह लम्बी कुदानें भरना चाहता था। उधर यागेशदत्त को अपनी माँ याद आती थीं। माँ मुझे कोसती रही होंगी, इसमें संदेह नहीं। उन दिनों उनके घर में आनेवाले भिखमंगों की बन आई थी। वह सोचती थीं–"मेरा फूल-सा बच्चा भी इसी तरह किसी के घर खाना माँगने के लिए जाता होगा।" वह खूव भिक्षा देतीं। यागेश से दारोगा साहब के सहृदय भाई ने सव वात मालूम कर ली। मुझसे तो नहीं कहते थे, पर यागेश को विश्वास नहीं था कि

भैया घर जाने के लिए तैयार होंगे। नये मिले मित्र ने घर का पता पूछकर चिट्ठी लिख दी : "मैं इन्हें रोके हुए हूँ, आकर ले जावें।" मुझे इसका कोई पता नहीं था, यागेश की वात यागेश जाने। वरेली के मठों में हो आया, शहर भी देख लिया। वहाँ और रहने की जरूरत नहीं थी। वहाँ से पीलीभीत का टिकट कटाया। ठाकुर (दारोगा के भाई) ने रोकने की बहुत कोशिश की, पर यह तो कह नहीं सकते थे कि मैंने आपके घर चिट्ठी लिख दी है। यह रहस्य छिपा ही रह गया और हम दोनों पीलीभीत के लिए रवाना हो गये। बद्रीनाथ की तरफ पकड़कर लाने के लिए मेरे नाना गये थे। उनका धाम जरूर पूरा हो गया, पर हम हाथ नहीं आये। बरेली से रवाना होने के दिन या उसके एक-दो-दिन बाद सहदेव पांडे पहुँचे, लेकिन तव तक चिड़िया उड़ गई थी। पहले शायद उन्होंने समझा : यहीं किसी दूसरे मठ में चले गये हैं। बरेली से लखनऊ की ओर बड़ी लाइन और पीलीभीत की ओर छोटी लाइन जाती है। हमने कौन लाइन पकड़ी, इसका पता सहदेव पांडे को कैसे मिल सकता था ? हम किस स्टेशन पर उतरेंगे, इसे वह कैसे जानते ? अछता-पछताकर बेचारे घर लौट गये।

पीलीभीत में जाने का हमारा एक उद्देश्य यह भी था कि पैदल चलने में देरी न हो, और हम किसी से रेल का किराया पाकर सीधे बनारस पहुँच जायें। राजा ललिताप्रसाद का नाम हम सुन चुके थे। सरस्वती मेरी जीभ पर बैठ गई। मैंने राजा साहब की प्रशंसा में अपने जान वहुत सुन्दर कविता करके उनके पास भिजवाया। विदाई क्या मिलेगी, राजा साहब के दर्शन भी नहीं हुए। रास्ते में जाते समय एक प्रौढ़ पुरुष ने हमें देखकर कहा—"आप हमारे यहाँ भोजन करेंगे ?" हमें इन्कार क्यों होता ? उन्होंने खूब पूड़ी-मिठाई खिलाई। हमने यह भी बतलाया कि हम सीधे बनारस जाना चाहते हैं, लेकिन हमारे पास रेल के किराये का पैसा नहीं है। उन्होंने उस समय देने के बारे में कुछ नहीं कहा। हमने स्टेशन पहुँचकर गोलागोकर्णनाथ का टिकट कटवाया। इसी समय उस भद्रपुरुष का आदमी भी आ गया। उसे गोलागोकर्णनाथ का टिकट देखकर मालूम हो गया कि यह बहाना करके भीख माँगनेवाले आदमी नहीं हैं। हमारे रूप और बोली-वाणी से भी मालूम होने में देर नहीं लगती थी कि हम भिखमंगे नहीं हैं। आदमी ने टिकट बदलवाकर फैजाबाद का बनवा दिया, और कुछ पैसे भी हमारे हाथ में दे दिये।

फैजाबाद उतरकर हम पैदल ही अयोध्या गये। शायद रेल का पैसा हमारे पास था। मैं जानता था, रेल से देश नहीं देखा जा सकता, इसलिए पैदल ही बनारस जाने का निश्चय किया। मैं इंजन था और यागेश डब्बा। चाहे इच्छा न भी हो, पर पीछे-पीछे चलने के लिए मजबूर थे। अयोध्या से खेतासराय, जौनपुर होती बनारस जानेवाली सड़क हमने पकड़ी। मलेरिया का समय था। बनारस दो दिन रह गया था, जब हम दोनों को जड़ैया आने लगी। एक दिन बनारस पहुँच गये, और सबसे पहिले एडवर्ड अस्पताल में जड़ैया की दवाई लेने गये। बनारस में हमारा एक ही परिचित स्थान था, ईसरगंगी का वैरागी स्थान, जिसके महन्त मेरी दादी के सगे भाई थे। वहाँ जाने का मैं नाम भी नहीं ले सकता था। निरुद्देश्य भटकते हम बाबा तुलसीदास के घाट पर पहुँचे। स्नान किया या नहीं, इसका पता नहीं। जड़ैया के कारण उसकी आवश्यकता नहीं थी। घाट के ऊपर हम दोनों ऐसे ही बैठे हुए थे, इसी समय कटिया (मोटे रेशम का वस्त्र) ओढ़े-पहने छोटे घड़े के बराबर के लोटे में गंगाजल भरे फंदा से पकड़े एक अधेड़ पुरुष हमारे पास आये। उन्होंने पूछा—"कहाँ जाते हो महात्मा ?". हमने अपनी कथा कह डाली। उन्होंने कहा—"पढ़ना है ना ? यहाँ पंडितों की कमी नहीं है, और रहने के लिए चलो हम स्थान देते हैं।" पुरुष का नाम था ब्रह्मचारी चक्रपाणि।

तुलसीघाट से वह मोतीराम के बगीचे में ले गये। चक्रपाणि कुटिया को छोड़ वहाँ कोई पुरानी इमारत नहीं थी। मोतीराम का बगीचा था, बीच में नीमू के बहुत-से दरख्त थे। उन्हीं में दो-चार बड़े वृक्ष भी थे। किनारे दीवार के सहारे अनेक कुटिया और छोटे-छोटे मकान थे। बगीचे का जिस तरफ कभी एक दरवाजा था, उसे ब्रह्मचारी चक्रपाणि ने दखल कर रक्खा था। यह फाटक भी बगीचे का एक निकास था। ऊपर पक्की छत थी, जिसके नीचे दो खिलौने जैसी छोटी-छोटी कोठरियाँ और बीच में बाहर निकलने का दरवाजा था, जिसे बन्द करके ब्रह्मचारी ने एक छोटी-सी कोठरी का रूप दे दिया था। बाहर दीवार उठाकर टिन की छत डाल दी गई थी, जो ओसारा, रसोई, शयनकक्ष सबका काम देती थी। ब्रह्मचारी के अनुग्रह के पात्र केवल हम ही

दोनों नहीं थे, वहाँ और भी विद्यार्थी रहते थे। सामने और बगीचे के बीच में टिन से ढँका एक चौकोर पक्का चबूतरा था, जिस पर आठ-दस विद्यार्थी सो जाते। हम दोनों ब्रह्मचारी जी की कुटिया में गये। पाँच-सात दिन से अधिक नहीं रहे होंगे कि योगेश के बार-बार कहने का प्रभाव पड़ा। मैंने भी सोचा, पढ़ना तो बनारस में निश्चित ही हो गया, चलो घर हो आयें।

दोनों घर गये। मैं कनैला और योगेश बछवल। मैं पहले बछवल में और फिर बनारस में संस्कृत पढ़ने लगा। कुछ साल पढ़ने के बाद मुझे अंग्रेजी पढ़ने की भी इच्छा हुई, और हाल में ही नये खुले डी. ए. वी. स्कूल में भर्ती हो गया। मोतीराम का बगीचा दूर पड़ता था, इसलिए गोदौलिया के पास एक साधु के मठ में रहने का प्रबन्ध किया। योगेश भी मेरा अनुकरण करने के लिए तैयार थे। वह भी चले आये। हम लोग दो-चार ही दिन रहे होंगे कि योगेश की घड़ी चोरी चली गई। बहाना मिल गया, वह लौट गये, लेकिन मैं मोतीराम के बगीचे में रहते तीन-चार महीने तक स्कूल में पढ़ता रहा। अक्तूबर या नवम्बर (1913) में मैं परसा (छपरा जिला) में जाकर साधु हो गया। धर-पकड़कर लाने पर योगेश से भागने में मुझे मदद मिली। इसके बाद प्रायः दो साल तक हम लोग अलग ही अलग रहे। आर्यसमाज के प्रभाव में आकर 1915 के आरम्भ में मैं मुसाफिर विद्यालय आगरा में अरबी पढ़ने लगा। एक बार पिता की बीमारी के कारण घर जाने पर योगेश से मुलाकात हुई। उनसे कहा : तुम भी आ जाओ। वह तैयार हो गये। मुसाफिर विद्यालय की पढ़ाई समाप्त कर जब मैं लाहौर चला गया, तभी वह वहाँ पहुँचे। साल-भर या अधिक वह वहाँ पढ़ते रहे। पर, विद्या का वह अधिक लाभ नहीं उठा सके। घर पर छोटा भाई काम देखनेवाला था, वह भी मर गया, इसलिए सारा बोझ उनके ऊपर पड़ गया। 1917-18 के बाद फिर हमारा मिलन वर्षों बाद कभी-कभी हो जाया करता था। जब होता, तो फिर पुराना स्नेह उमड़ आता और मैं उसको बाहर से प्रकट करने का हरेक अवसर खो देता। कभी उनको किसी सहायता की जरूरत पड़ती, जिसे मैं आसानी से कर सकता था, पर मैं नहीं कर पाता। जल्दी में निश्चय नहीं कर सकता था और निश्चय कर लेने पर उसे कार्य-रूप में परिणत करने का अवसर नहीं रह जाता।

योगेश पीछे राष्ट्रीय आन्दोलन में पड़े। कांग्रेस का काम करते रहे। 1942 के तूफान में भी शामिल हुए। यही उनकी शिक्षा का सार्वजनिक उपयोग था। परिवार की नैया चलती ही रही। 1943 में मुलाकात हुई, देखा, अब उन पर बुढ़ापे का असर हो आया है। पचास वर्ष में ऐसा होने की शिकायत नहीं की जा सकती। मैं तो उनसे बड़ा था। मैं अपने स्वास्थ्य और शरीर से तुलना करता था। अब भी जब-तब इच्छा होती है, दोनों पहले की तरह फिर मिलकर बैठते, कुछ आपबीती सुनाते, पर वैसे समय की सम्भावना दिन-पर-दिन कम होती जा रही है।

4

मौलवी गुलामगौस

आजमगढ़ जिले के मेरे विद्यागुरुओं में महादेव पंडित के बाद सबसे अधिक प्रभाव मुझ पर मौलवी गुलामगौस खाँ का पड़ा। उन्होंने विद्या में कोई विशेष शिक्षा दी थी, इसके कारण यह नहीं था। उनके अभाव और चिन्ता से ग्रस्त जीवन को देखते जैसा प्रसन्न मैं उन्हें पाता, वह बड़ी स्पृहणीय बात थी।

उस समय प्राइमरी स्कूलों का साल दिसम्बर के साथ खतम होता था, जब कि मिडल स्कूलों में वह मार्च में होता था। 1905 के दिसम्बर में अपर-प्राइमरी की परीक्षा मैं पास कर चुका था। 1906 के मार्च से ही मिडल की बाकायदा पढ़ाई होनेवाली थी। मैं अच्छे नम्बरों से पास हुआ था, और जिले की छात्रवृत्ति प्रतियोगिता में शामिल होनेवाला था, इसलिए 1906 के फरवरी में ही नाना मुझे निजामाबाद पहुँचा आए। वह प्लेग का समय था। प्रायः हर साल जाड़ों में प्लेग (ताउन) आ जाती थी। लोग घर छोड़कर बाहर मँढ़ई डाल लेते।

निजामाबाद में भी प्लेग था, लेकिन स्कूल को बन्द न करके उसे टौंस पार एक खाली नील गोदाम में ले गये थे। नील का व्यापार बिगड़ चुका था, पर इस गोदाम में नील की बट्टियों को सुखाने के लिए बने बाँस के मचान अब भी अच्छी स्थिति में थे, जो छात्रों के सोने का काम देते थे। वहीं मिडल स्कूल के हेड मुदर्रिस (प्रधान अध्यापक) मौलवी गुलामगौस खाँ को देखने का मुझे पहिले-पहिल अवसर मिला। उम्र 52-54 के करीब रही होगी। कद ठिंगना था, शरीर से भी वह कुछ दुबले-पतले ही थे। रंग गेहुँआ। वह रहनेवाले मेंहनगर के थे। मेंहनगर अच्छा-खासा बड़ा गाँव या कस्बा था। किसी समय आजमगढ़ जिले के एक बहुत बड़े भाग के राजा की वह राजधानी भी रहा था, पर उसका वह पुराना सौभाग्य लुट चुका था। एक गौतम राजपूत हिजड़ा बनकर दिल्ली के बादशाह (शायद जहाँगीर) का कृपापात्र बना। उसका प्रभाव इतना बढ़ा कि उसे बादशाह ने एक बहुत बड़ी जागीर दे दी। हिजड़े के भतीजे हरिसिंह को चचा की पूरी सम्पत्ति मिलने की तभी सम्भावना थी, जब कि वह मुसलमान हो जाये। इसलिए हरिसिंह मुसलमान हो गये। इन्हीं की रानी ने वह सराय बनवाई थी, जिसके ऊपर वहाँ के बाजार का नाम रानी की सराय पड़ा—आज भी हरिसिंह के मुसलमान वंशज मौजूद हैं। हरेक खान लगानेवाला मुसलमान अपने को पठान या अफगान समझता है। पर, हमें मालूम है कि लाखों राजपूत और भूमिहार मुसलमान बनकर खान कहे जाने लगे। मौली गुलामगौस के बारे में नहीं कहा जा सकता कि वह अफगानी पठानों के वंशज थे, या राजपूत-भूमिहार की सन्तान। देश के हिंदू से मुसलमान हुए वंशों की उतनी कदर नहीं थी, जितनी कि शेख, सैयद, मुगल की। इसीलिए देशी मुसलमान भी पठान होकर अफगानिस्तान से अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहते थे। पर देखा जाय तो यह द्रविड़ प्राणायाम ही है—सीधे नाक पकड़ने की बजाय हाथ को पीठ की ओर से घुमाकर उसे पकड़ना। आखिर अफगानिस्तान के पठान भी दसवीं शताब्दी तक कट्टर हिन्दू थे।

मेहनगर में पठान कैसी पोशाक पहनते थे, इसके बारे में मैं नहीं कह सकता। मौलवी गुलामगौस के भतीजे मौलवी अब्दुल कादिर रानी की सराय में मेरे अध्यापक रह चुके थे। वह भी पायजामा और अचकन पहनते थे। वही भेस उनके चचा का भी था। नैनसुख (लट्ठे) की बगुले की पर की तरह धुली हुई सफेद पोशाक उनके बदन पर रहती, सिर पर दोपलिया टोपी रखते थे। पाँच बार नमाज पढ़ते थे, यह मुझे याद नहीं, लेकिन शुक्रवार को वह निजामाबाद तहसीली स्कूल के पास में ही औरंगजेब की बनवाई मस्जिद में जरूर जाकर नमाज पढ़ते थे। निजामाबाद का मिडल स्कूल वहाँ से पीछे हटा दिया गया। उस समय की उसकी स्थिति बहुत अच्छी थी। टौंस का घाट नजदीक पड़ता था। कायस्थों का मुहल्ला सटा हुआ था। लेकिन, स्कूल के बढ़ाने के लिए वहाँ काफी जमीन नहीं थी।

मौलवी गुलामगौस की अपने धर्म पर पूरी आस्था थी। अगर समझते कि बुतपरस्त हिन्दुओं का धर्म बहुत नीचा है, वह मजहब कहे जाने का अधिकारी भी नहीं है, तो कोई आश्चर्य नहीं। पर कभी उन्होंने इस तरह का संकेत भी अपने मुँह से नहीं किया। अपने नार्मल पास की कथा वह बड़े मनोरंजक ढंग से सुनाते थे : नार्मल में लिये जानेवाले उर्दू और हिन्दी के उम्मीदवारों की निश्चित संख्या होती थी। उस समय उर्दू का बोल-बाला था, इसलिए उर्दू लेकर पढ़नेवाले उम्मीदवारों की संख्या ही अधिक होती थी। मौलवी गुलामगौस के लिए वहाँ जगह नहीं रह गई। हिन्दी की कुछ जगहें बची हुई थीं, गुलामगौस ने कहा, उर्दू नहीं हिन्दी ही सही। सम्पर्क के कारण हिन्दी से तो परिचित थे ही। इस प्रकार हिन्दी में ही वह नार्मल पास हुए। अध्यापक बनने पर उन्हें हिन्दी नहीं, उर्दू ही ज्यादा पढ़ाना पड़ता था। हम लोग यह न समझ लें कि मौलवी साहब यों ही कह रहे हैं, इसलिए रामायण की बहुत-सी चौपाइयाँ वह राग के साथ पढ़कर सुनाते थे।

मौलवी गुलामगौस खाँ उस समय के निम्न-मध्यम-वर्ग के सफेदपोशों के सर्वांगपूर्ण नमूने थे। इस वर्ग की स्थिति आज पचास वर्ष बाद भी तब से अधिक सुधरी नहीं है। मौलवी साहब को अपनी स्थिति को ठीक रखने के लिए कपड़ों को साफ-सुथरा रखना पड़ता। चाहे सस्ते दाम का ही हो, लेकिन दोपलिया टोपी, अचकन, खुला पायजामा और नारी जूता भी रखना पड़ता। तनखाह 14-15 रुपये थी। अन्न के हिसाब से देखने पर आज वह 70 रुपये से कम नहीं थी। उनके तीन लड़के थे। लड़कियाँ थीं या नहीं, यह मुझे नहीं मालूम। पत्नी

मेहनगर में रहती थीं। तीन लड़कों में बड़ा यासीन मैट्रिक पास नहीं हो सका। किसी ने सलाह दी, ड्राफ्टमैनी की शिक्षा के लिए इसे गोरखपुर भेज दीजिए। वहाँ का खर्च 14-15 रुपया था। मौलवी साहब की सारी तन्खा यासीन के लिए चली जाती थी। दो बेटे इब्राहीम और इस्माईल को साथ रखते थे। फिर घर पर भी कुछ भेजना जरूरी था। वह खर्च कैसे चलाते थे, यह समझना बहुत मुश्किल था। ट्यूशन भी उस वक्त मिलता नहीं था। यदि दूसरी कोई आमदनी थी; तो वह थी, जितने लड़के दर्जे से पास होकर आगे बढ़ते, उनसे एक-एक, दो-दो रुपये मिल जाते। मिडल पास करके निकलनेवाले कुछ और भी साखर्ची दिखलाते थे। जो भी हो, मेरे लिए तो यह समझना सदा मुश्किल रहा कि वह कैसे अपना खर्च चला लेते थे। इब्राहीम मेरा सहपाठी था, इस्माईल प्राइमरी में पढ़ रहा था। बड़े साहबजादे की शकल-सूरत और वेश-भूषा देखने से मालूम होता था कि जरूर कोई नवाबजादे हैं। अच्छा कपड़ा पहनते थे, अच्छे ढंग से रहते थे। उनको इसकी कोई पर्वाह न थी कि बाप कैसे चक्की में पिस रहा है। मेरे सामने वह अभी किसी नौकरी पर नहीं लगे थे। उन्होंने बाप की बुढ़ापे में सहायता की होगी, इसकी कम ही सम्भावना थी।

जिस वक्त कोई उर्दू पढ़ानेवाला अधिक तेज मुदर्रिस नहीं रहता, उस समय मौलवी गुलामगौस स्वयं हमें उर्दू पढ़ाते थे। उर्दू शायरी में जहाँ-तहाँ दाऊद, मूसा और दूसरे पैगम्बरों का जिक्र आ जाता है। उस समय मौलवी साहब हमें उनकी सारी कथा बतलाते। कभी-कभी तो 'कसस्सुल्-अम्बिया' लेकर पढ़ने लगते। उनको गुस्सा कम आता था, लेकिन जो लड़के पढ़ने में बार-बार बेपर्वाही करते थे, उन पर बरसे बिना नहीं रह सकते थे। यद्यपि शिक्षा-विभाग ने छड़ी के इस्तेमाल की सख्त मुमानियत कर दी थी और डिप्टी साहब के आने पर सबसे पहले उन्हें छिपाने की कोशिश की जाती थी; पर व्यवहार में छड़ी शिक्षा का अभिन्न अंग मानी जाती थी। मौलवी साहब गुस्सा होने पर दाँत कटकटाने लगते, उनके गंगा-जमुनी पटेवाले बाल कुछ अस्त-व्यस्त हो जाते और ताबड़तोड़ दो-चार छड़ियाँ लगा देते। पर, तब भी दया उनके हाथ से छूटती नहीं थी। चाहे कितने ही जोर से छड़ी उठाई गई हो, लेकिन शरीर पर पहुँचते-पहुँचते वह हल्की हो जाती थी।

बुढ़ापे का असर कुछ होना जरूरी था। विद्यार्थी गुरु को किसी बात में फँसाकर पढ़ने से छुट्टी ले लेते थे, पर मौलवी गुलामगौस इतने बात्यायी नहीं थे। आर्थिक स्थिति और उसकी चिन्ता के बारे में बतला चुका हूँ। नौकरी रहने पर भी खर्च चलाना उनके लिए बहुत मुश्किल था। जिला-बोर्ड की नौकरी में उस समय न प्राविडेंट फण्ड था, न पेंशन ही। नौकरी से हटने का मतलब बारहों महीने का रोजा था। मौलवी साहब को बड़ी चिन्ता रहती थी, कहीं उनकी नौकरी न चली जाय। उनके सहायक अध्यापकों को मजाक करने की सूझती। वह कह देते—"मौलवी साहब, आपकी सफेद दाढ़ी देखते ही डिप्टी साहब छप्पनसाला समझ जायँगे और फिर नौकरी से हटना पड़ेगा।" जब भी पता लगता, शिक्षा-विभाग का कोई अफसर निजामाबाद आनेवाला है, तो मौलवी साहब को सफेद दाढ़ी काली करने की पड़ जाती। खजाब तब भी बाजार में बिकते होंगे, लेकिन पैसे का सवाल था। आँवला और क्या-क्या चीजें मिलाकर वह स्वयं खजाब तैयार करके दाढ़ी में लगा लेते। कभी-कभी लोग यों ही अफसर के आने की खबर उड़ा देते और मौलवी साहब की मेहनत बेकार जाती। हफ्ता बीतते-बीतते दाढ़ी के बालों की जड़ें सफेद निकल आतीं।

मौलवी गुलामगौस निजामाबाद स्कूल में उसी पद पर थे, जिस पर पहिले अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' रह चुके थे। ('हरिऔध' को पैदा करने का सौभाग्य निजामाबाद ही को है, पर उनका स्मारक पीछे आजमगढ़ में बना)। एक समय वह था, जबकि निजामाबाद में सम्राट् अकबर ने कई महीने बिताये, अपने जन्मदिन के उपलक्ष में सोने-जवाहर के तुलादान किये। कहा जाता है, कवियों ने नई कविताओं से बादशाह को बधाई दी। पर, निजामाबाद के भाग्य को आजमगढ़ ने छीन लिया। आजमगढ़ जिले का नाम पड़ा, वही उसका सदर-मुकाम हुआ। हाँ, आज भी आजमगढ़ जिस पर्गने में है, उसे निजामाबाद कहते हैं। निजामाबाद की लक्ष्मी को आजमगढ़ ने पहले ही छीन लिया था। रेल बनी, वह भी वहाँ से दो-दो, तीन-तीन मील दूर रही। अब भी वहाँ अच्छा-खासा बाजार और सौ से ऊपर दुकानें थीं, लेकिन सारा सामान रानी की सराय स्टेशन से होकर लाना पड़ता। रानी की सराय नजदीक होने से वही निजामाबाद का मुख्य स्टेशन बन गई।

निजामाबाद के भव्य अतीत के अवशेष [illegible] बहुत-से मौजूद थे। छह अंगुल की लाखौरी ईंटों की अब भी बहुत-सी इमारतें मौजूद थीं। कितनों को उनके मालिकों ने छोड़ दिया था। एक साहु ने इन्हीं दीवारों से ईंटों को निकालकर बाजार में एक अच्छी पक्की ठाकुरबाड़ी बनवाई। पुजारी एक अक्खड़ साधु थे, जो किसी के सामने झुकनेवाले नहीं थे। वह साहु के मुँह पर कह देते थे—"तुमने कब्रों की ईंटों को इकट्ठा करके बड़ा ठाकुरबाड़ा तैयार कर दिया है।" लेकिन, यदि ईंटों का कोई दूसरा उपयोग हो सकता था, तो उसे क्यों न लिया जाय एक बड़ी भारी इमारत थी, जिसकी छत गिर चुकी थी और दीवारें खड़ी थीं। उसके बारे में कहते थे : नीचे बहुत बड़ा तहखाना है। वहाँ कितने ही महल, घाट बने हुए तालाब भी हैं। इसकी सच्चाई की परीक्षा करने के लिए कौन तैयार था ? काजी साहब किसी समय जौनपुर रियासत के काजी या हाईकोर्ट के जज रहे थे। कितना दबदबा रहा होगा ! भारी जागीर और नौकर-चाकर, दास-दासियों की कमी नहीं थी। उस समय जो महल बने थे, उन्हीं में से उक्त चहारदीवारीवाली इमारत भी थी। अब भी काजी साहब के कितने ही पक्के मकान मौजूद थे, लेकिन जायदाद बहुत-कुछ बिक चुकी थी, सिर्फ लिफाफा रह गया था। महल के साथ एक बड़ा अच्छा बाग था, जो किसी समय मध्य-एशिया के सेब-अनार-अंगूर के बागों के नमूने के बने मुगल बागों की प्रतिस्पर्धा करता होगा। अब भी वहाँ इस तरह के कुछ फल मौजूद थे। दूर तक फैले इस श्रीहीन महल में एक बार कुछ दिनों के लिए रौनक आ गई थी, जब कि काजी साहब की लड़की का ब्याह हुआ था। वर 20-22 वर्ष का खूबसूरत नौजवान जौनपुर का, शायद इनके अपने ही खानदान का था। इसमें शक नहीं, पुरानी शरकी-सल्तनत और मुगल बादशाहत के कितने ही चिह्न इन महलों में अब भी मौजूद रहे होंगे, पर उनके बारे में न मेरी उतनी जिज्ञासा थी और न देखने की सम्भावना। मेरा एक सहपाठी काजी साहब के यहाँ ही रहता था। वह कभी-कभी वहाँ की बातें बतलाता था।

एक साल घुमक्कड़ी में लगाकर 1908 ई. में फिर मैं पढ़ने के लिए निजामाबाद गया। अब भी हेडमास्टर मौलवी गुलामगौस खाँ थे। अगले साल मार्च में मैंने मिडल पास किया। इसके बाद मेरा वैराग्य और घुमक्कड़ी का जीवन आरम्भ हो गया। पहले घर से निकलते ही मैं कलकत्ता भागा और वहाँ छह-सात महीने बिता फिर घर लौटा। कलकत्ता की यात्रा से सन्तोष नहीं था। मेरे आदर्श में या तो उमरपुर के परमहंस बाबा का जीवन, या उनके शिष्य बाबा हरिकरण दास की बातें। 1909-10 के जाड़ों में बड़ी छलाँग मारने के लिए मैं अपनी तैयारी कर रहा था। तीन वक्त स्नान-संध्या से भी सन्तोष नहीं था, बल्कि जो एक-दो संस्कृत के स्तोत्र हाथ आये थे, उनका भी पाठ करता था। शायद ही कोई दिन जाता, जब मैं परमहंस बाबा के दर्शन के लिए न जाता। कनैला में प्लेग आया था। गाँव-भर की तरह हमारे घर के लोग भी बाहर खेत में झोंपड़ी में रह रहे थे। मिडल का प्रमाणपत्र मौलवी साहब के पास आया था। प्रमाणपत्र लेते वक्त हरेक विद्यार्थी गुरु को गुरुदक्षिणा देता था। मौलवी साहब अब नौकरी से अवकाश प्राप्त कर मेहनगर में रहते थे। शायद गाँव दूर रहता, तो न आ सकते, पर मेहनगर कनैला से दो-तीन कोस से अधिक नहीं था। एक छोटी-सी घोड़ी लेकर मौलवी साहब एक दिन हमारे घर पर पहुँच गये। संयोग से मैं उस दिन परमहंस बाबा की कुटी पर नहीं गया था। मैंने शिष्टाचार दिखाते हुए सलाम किया। शायद और भी दिल खोलकर कृतज्ञता प्रकट करता, पर घरवालों ने वैराग्य के भूत का जिक्र कर दिया था, और उन्होंने उपदेश देना चाहा। मैं साल-भर से हिन्दी में प्राप्त वेदान्त और वैराग्य की बहुत-सी पुस्तकें पढ़ चुका था, बड़े नियम-व्रत से रहता था। अपने ही रोटी बनाकर एक वक्त खाता था और आगे के लिए बहुत ऊँचे-ऊँचे सपने देख रहा था। मौलवी गुलामगौस उपदेश देने के अधिकारी नहीं थे, यह मेरी निरी अहंमन्यता थी। पर, उस समय अभी तजर्बा ही क्या था ? किस तरह हरेक के साथ विनम्र रहना चाहिए, इसका पाठ मैंने नहीं पढ़ा था। मौलवी साहब की बातें मानो मेरे कानों के भीतर जाती ही नहीं थीं। मौलवी साहब को गुरु-दक्षिणा में कुछ मिला जरूर, पर मैं सदा के लिए चूक गया। अपने सहृदय गुरु के प्रति जैसा बर्ताव मुझे करना चाहिए था, मैंने वह नहीं किया, इसका जिन्दगी-भर के लिए अफसोस रह गया।

5.
परमहंस बाबा

परमहंस बाबा की कुटिया कनैला के सीमान्ती गाँव उमरपुर में मंगई के पार उसके किनारे से कुछ ही गज हटकर थी। दूर-दूर तक के लोगों का उनके प्रति आकर्षण था। क्यों, यह समझना मुश्किल था। परमहंस बाबा उपदेश बिल्कुल नहीं देते थे, न किसी से खुलकर बात करते थे। महादेव पंडित जैसे विद्वान् जब कभी उनके पास पहुँचते, तब भी वह न कुछ कहते, न किसी प्रश्न का जवाब देने ही के लिए तैयार रहते। अर्धस्फुट हास के साथ हरेक आदमी का स्वागत वह जरूर करते थे। पर, उनको यह पसन्द नहीं था कि कोई एक मिनट से अधिक उनके पास रहे। इसी बीच यदि कोई प्रसंग आ जाता, तो उनके मुँह से शुद्ध संस्कृत में उपनिषद् या व्याकरण की कोई बात निकल आती। यह जरूरी नहीं था कि किसी पंडित के मिलने के साथ यह बातें जरूर उनके मुँह से निकलें। महादेव पंडित उनके भक्त और प्रशंसक थे। पचासों बार वह उनके दर्शन के लिए गये होंगे, पर उनको भी बहुत कम ही उनके मुँह से कुछ सुनने का अवसर मिला था। पर, यह तो वह जानते थे कि गेरुआ की छोटी लँगोटी और कमर में ढाई हाथ का गमछा बाँधे वह वृद्ध पुरुष—जिसकी आयु लोग 120 वर्ष से कम की मानने के लिए तैयार नहीं थे—जरूर अच्छा विद्वान् है। हर तरफ गाँवों से मील-मील भर दूर, मंगई के किनारे चौबीसों घंटे के इस एकान्त को क्यों पसन्द करते थे, इसके लिए कोई ठीक से नहीं कह सकता था। बाबा हरिकरणदास उनके शिष्य के नाम से प्रसिद्ध थे। पर, उन्होंने उनको कभी शिष्य नहीं किया था। पहले बालदत्त सिंह की तरह वह भी परमहंस बाबा की ओर आकृष्ट होकर उनकी सेवा करने के लिए रोज आने लगे। इसके बाद स्वयं चुटिया काट दी और गेरुआ पहनकर यहीं रहने लगे। यहीं रहने का यह मतलब नहीं कि उनको परमहंस बाबा की कुटिया में स्थान मिला। उन्हें कुटिया से दो सौ गज दूर अपनी झोंपड़ी बनानी पड़ी। झोंपड़ी फिर दो कोठरी के खपड़ैल के घर के रूप में परिणत हो गई और पास में एक और झोंपड़ी खड़ी हो गई।

परमहंस बाबा के पीने के लिए दूध प्रस्तुत करने का पुण्य खजुरी के एक मध्यवित्त जमींदार ने अपने ऊपर लिया था। वह हरिकरण बाबा के पास दूध देनेवाली भैंस भेजे देते थे। जब भैंस दूध देना कम कर देती, तो दूसरी भैंस आ जाती। भैंस की सेवा करना हरिकरण बाबा का काम नहीं था, यह काम बालदत्त सिंह ने स्वीकार कर लिया था।

बालदत्त सिंह और मेरे पिता समवयस्क थे। दोनों की रुचि में भी कितनी ही समानता थी। शायद हिन्दी टो-टाकर पढ़ लेते थे, नहीं तो विद्या से बालदत्त का सम्पर्क नहीं था। हमारा घर नाम के लिए ही ब्राह्मण था। पीढ़ियों से संस्कृत और विद्या से उसका कोई वास्ता नहीं था। यजमानी में सिर्फ बालदत्त का घर था, जो अब एक से दो-तीन घर बन गया था। बालदत्त की धार्मिक भावना उन्हें खींचकर परमहंस बाबा की ओर ले गई। पहिले दर्शन के लिए जाते, इसके बाद वह भी हरिकरण बाबा की तरह वहीं के हो गये। घर में माँ और स्त्री रहती थीं। शायद भाई या बाल-बच्चा कोई नहीं था। अक्सर उनकी माँ हमारे घर आकर पिता के सामने अपना रोना रोती। पर, पिता तो समझते थे, बालदत्त अपना परलोक बना रहे हैं। बालदत्त अगर किसी वैरागी या दूसरे साधु के मठ में रहते, तो वहाँ उन्हें पूजा-आरती में शामिल होने का मौका मिलता, कभी रामायण या दूसरी कथा भी सुनते। पर, यहाँ जिस देवता की वह आराधना करते थे, वह पत्थर के देवता से इतना ही अन्तर रखता था कि वह हिलता-डोलता था, कभी मुस्कुरा देता था, कभी एक सैकेण्ड किसी से पूछ लेता और उससे भी अधिक अपने से, चिड़ियों या वृक्षों से मगन होकर बातें करता। शब्द उन्हें पसन्द नहीं था। परमहंस बाबा का ख्याल करके आस-पास के गाँववाले फगुवा गाने को आधी रात से पहिले ही बन्द कर देते थे। मध्यरात्रि में जब दुनिया निःशब्द हो जाती, तो कोसों दूर की आवाज भी पहुँच जाती। होली के एक महीने से पहिले ही गाँव के लोग ढोलक पर जोर-जोर से चौताल गाना शुरू कर देते। दुनिया के गम को भूलने का उनके

लिए यह एक बहुत बड़ा साधन था, जिसे वह युगों से करते आये थे। परमहंस बाबा किसी दिन सवेरे हरिकरण बाबा से कह देते–रात कहाँ से ढोल की आवाज आ रही थी। हरिकरण बाबा दर्शनार्थियों से हल्का जिक्र-भर कर देते। गाँव-गाँव अपने ही सन्देश पहुँच जाता था और लोग सजग हो जाते थे।

बालदत्त को किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं थी। वह भैंस को सानी-पानी देते, दूध दूहते, गरम करके अपने देवता के भोग के लिए तैयार रखते। परमहंस बाबा को कभी हलवा, पूड़ी, मिठाई, जैसी चीजें ग्रहण करते मैंने नहीं देखा। जब-जब भी मैं वहाँ गया, दूध में भीगा च्यूरा और गांर्भी-आलू या और सामयिक भाजी उनके लिए तैयार देखी। वह दिन में एक बार और बहुत थोड़ा-सा भोजन करते थे। अलग निकाले भोजन प्रसाद के तौर पर बाँटे जाते थे। इतनी सेवा करने का अधिकार बालदत्त को मिला था, जिसके लिए उन्होंने घर-बार छोड़ दिया था।

हरिकरण बाबा कुछ अधिक पढ़े-लिखे थे, पर उनकी भी गति हिन्दी ही तक थी। सवेरे उठकर वह अपनी कुटिया से परमहंस बाबा की कुटिया में जाते। परमहंस बाबा की कुटिया भी विचित्र थी। 1890 के पहिले या कुछ पीछे दो कोठरियों का एक खपड़ैल का मकान बनाकर उसके किनारे काफी जगह छोड़ खपड़ैलवाली चौकोर चहारदीवारी घेर दी गई थी। उत्तर तरफ इसमें शायद चाँचर का एक दरवाजा था। कुटिया ऐसी जगह बनी थी, जहाँ मंगई के दाहिने किनारे सैकड़ों एकड़ ऊसर जमीन पड़ी हुई थी। उस समय लोग समझते थे, उसमें कभी हल नहीं चल सकेगा। यहीं ढोर चरने के लिए आते, कभी कुटिया की चहारदीवारी के पास भी आ जाते थे। बाबा को किसी प्राणी का अत्यन्त सम्पर्क पसन्द नहीं था। उनको असन्तुष्ट देखकर लोगों ने और बहुत-सी जमीन को घेरते चारों ओर ऊँचा खाँवा बना दिया, जिसके भी उत्तर ओर एक चाँचर का फाटक लगा दिया गया था। अब जानवर बहुत दूर चरते थे। खाँवा और चहारदीवारी के बीच की घेरी हुई जमीन में बरसात में काफी घास उग जाती। परमहंस बाबा की भैंस के लिए चारे की कोई समस्या नहीं थी। उसको हरा तृण देना या कुछ खिलाना लोग पुण्यार्जन का साधन मानते थे। खाँवें और चहारदीवारी के बीच में भीतरी दरवाजे के पास एक बावली खोदी गई थी, जो लम्बाई-चौड़ाई में बहुत छोटी थी, लेकिन उसका पानी काफी गहरा था। एक तरफ दो हाथ चौड़ी बहुत सीधी-सादी पक्की सीढ़ियों का घाट बना था। इस बावली में सिर्फ परमहंस बाबा ही स्नान करते थे। रोज स्नान करते थे या नहीं, इसके बारे में मैं नहीं कह सकता। हरिकरण बाबा उनकी तेल से मालिश करते थे। चेहरा देखने ही से मालूम होता था, उनकी आयु काफी होगी–120 की थी, इसके बारे में मैं कसम खाने के लिए तैयार नहीं। लेकिन, इस आयु में भी उनका चमड़ा कहीं से झूला नहीं था। कद मझोले से भी कम था, रंग गोरा। सिर और दाढ़ी के बाल मुड़े रहते थे, क्षौर करने का सौभाग्य शायद हरिकरण बाबा को ही था।

हरिकरण बाबा सबेरे ऐसे समय कुटिया में जाते, जब जानते थे, भीतरी दरवाजा खुल गया है। परमहंस बाबा के हरेक काम का समय निश्चित-सा मालूम होता था। फाटक खुला होने पर हरिकरण बाबा भीतर चले जाते, नहीं तो कुछ देर उसके बाहर बनी हुई झोंपड़ी में बैठकर इंतिजार करते। भीतर प्रवेश करने के बाद वह चारों तरफ झाड़ू-बहारू करते, परमहंस बाबा की चीजों को सँभालकर रखते। तेल की मालिश की जरूरत होती, तो मालिश करते। परमहंस बाबा की कमर झुकी नहीं थी। वह खाँवें में लगे फाटक से बाहर कभी नहीं जाते थे। अपनी भीतरी चहारदीवारी के अन्दर टहल लेते हों, वह दूसरी बात है, उन्हें टहलते मैंने नहीं देखा। उनका भीतरी फाटक बहुत कम खुला रहता। कभी-कभी वह उसे खोल दिया करते। दर्शनार्थी भगत बाहरी झोंपड़े में बैठे इन्तिजार करते थे। दर्शनार्थी भक्तों की संख्या बहुत नहीं होती थी। वैसे तो आस-पास के पचासों गाँवों का शायद ही कोई बालिग पुरुष हो, जो परमहंस बाबा का नाम सुनते ही सिर को झुका न देता हो। परमहंस बाबा के बैठने के लिए भीतरी दरवाजे के पास ही एक छोटा-सा चबूतरा था। कभी उस पर बैठकर या खड़े-खड़े पूछते–"कैसे आया ?" भगत कहता–"महाराज के दर्शन के लिए।" बोलते–"दर्शन तो हो गया।" बस, यहीं किस्सा समाप्त। भगत अपने ही चलने की तैयारी करता, परमहंस बाबा दरवाजा भेड़कर वहाँ से खिसक जाते। उनका व्यवहार निर्लेप जरूर था, पर उसमें अमाधुर्य नहीं था। अधिक आध्यात्मिक सुरुचि रखनेवाले

लोग ही उनके पास पहुँचते थे।

जिसको कुछ उपदेश सुनना होता, वह हरिकरण बाबा की कुटिया पर जाता। हरिकरण बाबा प्रायः दोपहर तक परमहंस बाबा की सेवा में व्यस्त रहते। इसका यह अर्थ नहीं कि वह उनके साथ या पास रहते। कुटिया एक ही देवता के लिए बनी थी, लेकिन आवश्यकताओं ने उसे विशाल कर दिया था। बाहरी घेरे में दो बावलियाँ थीं। छोटी बावली की बात मैं कह चुका हूँ। उससे कुछ बड़ी बावली पूर्व दिशा में थी, जो सब के लिए खुली थी। बाबा की प्रसादी को वहीं ले जाकर हरिकरण बाबा बाँटते थे। उसी में से अंजली भरकर लोग पानी पी लेते। परमहंस बाबा के लिए भीतरी हाते में दो कुएँ थे। एक चौड़े मुँह का खुला था, जिसके बारे में कहा जाता था : परमहंस बाबा पहिले इसी का पानी पीते थे, लेकिन बिना जाने एक बार किसी मिस्तरी ने उसमें से पानी निकालकर पी लिया। इसके बाद वह परमहंस बाबा के पीने के काम का नहीं रहा और उसके जल का इस्तेमाल कपड़ा धोने या किसी दूसरे काम के लिए ही हो सकता था। उसकी जगह एक दूसरी छोटे मुँह की पक्की कुइयाँ बनाई गई थी, जिसका ऊपरी भाग पलास्तर किया हुआ था और मुँह पर हर वक्त टिन की टोपी पड़ी रहती थी। मैं परमहंस बाबा के अधिक नजदीक पहुँच गया था। हरिकरण बाबा के साथ मुझे भी इस भीतरी हाते में प्रवेश करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। छोटी कुइयाँ का मुँह इसलिए ढँका नहीं रहता था कि कोई दूसरा उसमें से पानी निकालकर पी न ले, उसका मुख्य काम था, पत्ता या किसी और चीज को कुएँ के भीतर गिरने न देना। भीतरी हाते में अपने आप (शायद इमली के) कई पेड़ उगकर खड़े हो गये थे। ऐसी एकान्त भूमि के हरे-भरे पेड़ों को देखकर चिड़ियों का मन भी ललचाया और उन्होंने घोंसला बनाकर अपना गाँव आबाद करना शुरू किया। परमहंस बाबा ने उनके लिए इस जगह को नहीं पसन्द किया था। चिड़ियाँ क्या, सारी प्रकृति क्षण-भर के लिए परमहंस बाबा के मनोरंजन का साधन बन जाती थी, लेकिन वह चला-चली के मेले के माननेवाले थे, किसी को गाँठ बाँधने के लिए तैयार नहीं थे। दिन में चिड़ियाँ 'चेऊँ-चेऊँ' करतीं। वह भी मुस्कराते हुए बोलते—'चेऊँ-चेऊँ, चेऊँ-चेऊँ; क्या चेऊँ-चेऊँ करती है।' चिड़ियों ने जब शाम-सबेरे रामधुन करनी शुरू की, तो परमहंस बाबा को बहुत बुरा लगा और हरिकरण बाबा ने पेड़ों की सारी डालियाँ कटवा दीं। हाँ, ऐसे समय, जब कि घोंसलों में कोई अण्डा नहीं था। चिड़ियों को दूसरी जगह जाने के लिए मजबूर होना पड़ा। लेकिन, दिन में दूसरे भक्तों की तरह वह भी परमहंस बाबा के पास पहुँच जाती थीं। परमहंस बाबा की कुटिया में एकाध कम्बल, सितलपाटी या दूसरी तरह का एकाध मामूली किन्तु साफ बिस्तरा-भर था। शायद घड़ा और कमण्डल के अतिरिक्त थोड़ी-सी पुस्तकें थीं, जो एक जगह चौकी पर रक्खी थीं। इतने सामान के लिए चोर भी ख्याल नहीं कर सकता था। परमहंस बाबा के सारे हाते-भर सतयुग का राज्य था। वहाँ पहुँचते ही किसी के मन में बुरा भाव नहीं रह जाता था, ऐसी ख्याति थी। परमहंस बाबा का भोजन हरिकरण बाबा की कुटिया से बनकर आता था।

बाबा के प्रताप का प्रचार चाहे सुव्यवस्थित रूप से न हुआ हो, पर कानों-कान वह अधिकारी व्यक्तियों में दूर तक पहुँच गया था। लोग यह भी जानते थे कि बाबा को लोगों का सम्पर्क पसन्द नहीं है। इसीलिए वहाँ कभी भीड़ लगते मैंने नहीं देखी। कुछ चुने हुए सुसंस्कृत व्यक्ति ही कभी-कभी उनके पास पहुँचते थे। उन्हें किसी से कोई चीज लेने की आवश्यकता नहीं थी। फसल के समय लोग ऊख दे जाते। इस समय 'बड़ी ऊख' के नाम से एक नये प्रकार की ऊख का प्रचार होने लगा था। लोग इसको अहोभाग्य समझते थे और जेठ के महीने तक उसको चढ़ाने के लिए ले आते। ऊख बाहर की झोंपड़ी में रख दी जाती, जिसके सामने लकड़ी के बेलनोंवाला एक कोल्हू लगा हुआ था। उसी में रस निकाल लिया जाता, जिसे परमहंस बाबा बड़े प्रेम से पीते। पर, एक बार से अधिक नहीं।

उस पुरुष की रुचि सचमुच विचित्र मालूम होती थी। कैसे वह अपने चौबीस घंटे को बिताते थे। हरिकरण बाबा के साथ जितना समय लगता था, वह सब मिलाकर दो घंटे भी नहीं होता था, जिसमें भी कुछ क्षण के लिए दो-चार बात वह कह देते। बाहरी लोगों को दर्शन देने में और भी कम समय लगता था। चिड़ियों से बातचीत करना भी कुछ मिनटों का था। जो थोड़ी-सी पुस्तकें भीतर मौजूद थीं, वह दो-चार दिन के पारायण

के लिए ही पर्याप्त थीं। उनको वह बराबर पढ़ते रहे होंगे, इसमें भी सन्देह है। फिर वह अपने समय को कैसे काटते थे ? वहाँ रहते समय मैं इस रहस्य को कभी नहीं समझ सका। दूसरे तो कभी भी समझने में समर्थ नहीं हुए। पचास वर्ष बाद मेरे मित्र स्वामी हरिशरणानन्द ने अपने अनुभव को बतलाया। वह भी तरुणाई में योग और समाधि के पीछे पागल हो बहुत-से इस विषय के दुकानदारों के पास भटकते रहे। अन्त में एक आडंबर-शून्य पुरुष ने बतलाया—"बतलाने को अधिक नहीं है। वह वही है, जिसे तुम योगसूत्र में पढ़ चुके हो। मन की वृत्तियों को एकाग्र करो, मन की तरंगों के उत्थान-पतन का निरीक्षण और नियंत्रण करते उसको अपनी मर्जी के अनुसार चलाओ। सबसे बड़ा काम है, इस बात को कार्यरूप में परिणत करना, जिसके लिए एकान्त और निःशब्द स्थान की अत्यन्त आवश्यकता है।" मेरे मित्र उस समय परम आस्तिक थे और अब परम नास्तिक। उस समय की अवस्था अब भी उन्हें याद है। उस समय के परम आस्तिकपन के कारण ही इस कड़े मानसिक व्यायाम में लगने में वह समर्थ हुए। आगे का वर्णन जो उन्होंने बतलाया, वह मेरे शब्दों में निम्न प्रकार है–

"उन्होंने देखा, जब मन की वृत्तियों के स्थिर होने का समय आता है, तो स्थिरता के साथ श्वास की गति भी घट जाती है, जिसके साथ ही नाड़ी भी धीमी पड़ जाती है, शरीर की और क्रिआओं में भी उसी के अनुसार कमी हो जाती है। मन के अंकुश से शरीर के व्यापार में क्यों शिथिलता आती है, यह रहस्य तो उस समय नहीं मालूम हुआ; क्योंकि हमारे विद्वान् मन को अभौतिक मान, शरीर से उसके सम्पर्क को बहुत दूर का बतलाना चाहते हैं। लेकिन, आधुनिक शरीर-क्रिया के विद्वानों ने पता लगाया है कि शरीर की क्रियाओं, ज्ञान, संवेदना आदि सारे मानसिक व्यापार का मुख्य स्थान मस्तिष्क है, जिसके भिन्न-भिन्न क्षेत्रों द्वारा यह क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। मस्तिष्क के दो भाग हैं—धूसरांग और शुभ्रांग। धूसरांग अर्थात् धूमिल रंगवाली मज्जावाला मस्तिष्क ऊपर होता है और शुभ्रांग नीचे। शुभ्रांग के ऊपर धूसरांग की परत उसी तरह चढ़ी हुई है, जैसे वृक्ष के ऊपर छाल। धूसरांग-रूपी छाल के पाँच स्तर एक-दूसरे के ऊपर फैले हुए हैं, जिनके नाम हैं—(1) बाह्य तंतुजाल, (2) बाह्य कोश, (3) मध्य कोश, (4) अन्तर्जाल और (5) अन्तर्कोश। प्रत्येक स्तर का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध है। स्तरों में कोशों (सेल) की संख्या दो करोड़ के लगभग है। इस अंग के नीचे शुभांग्र है, जिसके द्वारा शरीर की क्रियाओं, चेष्टाओं, संवेदनाओं का आदान-प्रदान होता है। धूसरांग इन सब क्रियाओं पर नियन्त्रण रखता है, और वही सारे मानसिक व्यापार का अधिष्ठान है। इसी में सभी स्मृतिपटलों का वास है। इनके क्रिया-व्यापार निम्न प्रकार बँटे हुए हैं—(1) सब पर व्याप्त तंतुजाल-स्तर में संकल्प-विकल्प की तरंगें—वैद्युतिक तरंगें—दौड़ा करती हैं। इन्हीं को हमारे योग में मानसिक वृत्तियाँ कहा गया है। संकल्प-विकल्प या मानसिक वृत्तियाँ एक ही चीज हैं। (2) तंतुजाल-स्तर के नीचे बाह्य कोश स्तर है, इसमें स्मृतियाँ निवास करती हैं। महा प्रतिभाशालियों का बाह्य कोश मोटा होता है, और साधारण बुद्धिवालों का पतला। निर्बुद्धियों का वह अत्यन्त क्षीण होता है। (3) इसके नीचे मध्यकोश-स्तर शरीर की संज्ञाओं का अधिष्टान है। (4) उसके नीचे तंतुजाल और उसके नीचे (5) कोश-स्तर का सम्बन्ध शरीर के भीतर की क्रियाओं और चेष्टाओं के साथ है।

"बाह्यकोश स्तर के भी अनेक क्षेत्र हैं। उन क्षेत्रों में धृतिक क्षेत्र के भीतर हमारी सारी स्मृतियाँ भिन्न-भिन्न कोठरियों के अनुसार बटकर अवस्थित रहती हैं। कोशों के स्पन्दन के कारण उठकर बाह्य स्तर तंतुजाल में फैलती हैं। यही मन की वृत्तियाँ व संकल्प-विकल्प हैं। वैज्ञानिक परिभाषा में इन्हें वैद्युतिक तरंग या स्पन्दन कहते हैं। वह उस तंतुजाल में वैसे ही व्याप्त हो जाती है, जैसे ताँबे के तारों में बिजली की धारा। वैज्ञानिकों की भाषा में संकल्प-विकल्प वैद्युतिक तरंगें हैं। वृत्तियों में तदाकार रहनेवाली सत्ता ही मन है। बाह्य स्तर कोश में सारे स्मृतियों के मण्डल मौजूद हैं। जब तक मनुष्य जागृत या अर्धसुप्त रहता है, तब तक इन कोशों में स्पन्दन या वैद्युतिक तरंगें रहती हैं, अर्थात् स्मृतियाँ वहाँ से उठकर सारे तंतुजाल में फैला करती हैं। इन्हीं स्मृतियों को योगी लोग वृत्तियाँ कहते हैं और उन्हें एकाग्र करना चाहते हैं। मन के एकाग्र होने का अर्थ है, इन कोशों की क्रियाओं को स्थिर करने का प्रयत्न। मन को रोकना, उसकी वृत्तियों को रोकना, स्मृति-मंदिर से उठी स्मृति-वृत्तियों के स्पन्दन को रोकना और उससे सम्बद्ध कोशों की क्रिया को रोकना है।

"ये स्मृतियाँ—चित्त-वृत्तियाँ—शरीर की ऐच्छिक और अनैच्छिक गतियों से भी सम्बन्ध रखती हैं। नियंत्रित

रूप से उनकी जो क्रिया चलती रहती है, वह स्मृति-मंदिर सम्बन्धी व्यवस्था से बँधकर ही चलती है। इसीलिए मन के निग्रह से कोशों की ऐच्छिक गति और स्मृति पर भी प्रभाव पड़ता है। इसी कारण आगे शरीर की क्रिया पर भी उस निग्रह का प्रभाव पड़ना आवश्यक है। इस निग्रह से श्वास-क्रिया, पाचन-क्रिया, रक्त-संचार, हृदय-गति यहाँ तक कि शरीर के अंगों की क्षय-पूर्ति की गति भी मन्द हो जाती है।"

परमहंस वावा अपनी साधना में सफल थे। अब भी अपनी पुरानी आध्यात्मिक भावनाओं पर उनका अटूट विश्वास था और इस प्रकार आत्माराम और आत्मरति होकर वह विहार करते किसी प्रकार के अभाव का अनुभव नहीं करते थे।

उनके जीवन के बारे में बहुत बातें लोगों को मालूम नहीं थीं। वस्तुतः वह किसी से उसके बारे में कहते भी नहीं थे। हरिकरण वावा ने जो कुछ संग्रह कर पाया, उसमें से कितनी ही वातें मुझे उन्होंने बतलाई थीं, पर आधी शताब्दी बाद उनमें से बहुत कम ही स्मृति-पटल पर वच रही हैं।

नेपाल राजधानी काठमाण्डू से पश्चिम (पश्चिमी नेपाल) में पोखरा नाम का एक जिला है। खास पोखरा-उपत्यका पहाड़ों से घिरी और प्राकृतिक सरोवर के कारण बड़ी ही रमणीक है। देखनेवाले उसे श्रीनगर-कश्मीर का प्रतिद्वन्द्वी मानते हैं। आजकल तो नियमित रूप से काठमाण्डू से पोखरा हवाई जहाज जाया करता है। अपने फलों, विशेषकर नारंगियों के लिए पोखरा बहुत मशहूर है। सवारी न मिलने पर हवाई जहाज इन नारंगियों को ढोकर राजधानी में पहुँचाता है। पुराने समय में जब नेपाल अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था, तो पोखरा भी एक राजधानी थी। पोखरा नगर या आसपास के किसी गाँव में बालक शालिग्राम का जन्म 19वीं शताब्दी के प्रथम दशक में हुआ था, अर्थात् अभी राणाओं का राज्य नेपाल में शुरू नहीं हुआ था। शालिग्राम ने अपने यहाँ कुछ वर्षों संस्कृत पढ़ी, पर उतने से उनकी तृप्ति नहीं हुई और वह संस्कृत-केन्द्र वाराणसी में चले आये। यहीं पर वह शास्त्रों का अभ्यास करते रहे। व्याकरण और वेदान्त तो अच्छी तरह पढ़े और शास्त्रों में उनकी कैसी गति थी, इसके बारे में लोगों को कभी मालूम नहीं हो सका। विद्या पढ़ते-पढ़ते शालिग्राम का आकर्षण योग-समाधि की ओर हो गया। शायद अभ्यास के लिए उनको कोई गुरु मिला, पर वह किसी पंथ के साधु नहीं बने। वैराग्य हुआ और स्वयं शिखा-सूत्रहीन बन गेरुआ पहन एकान्त में अभ्यास करने लगे। भोजन के लिए दिन में एक बार मधूकरी माँग लाते। परम एकान्त समझकर वह राजघाट के पुल के पास झोंपड़ी या किसी गुफा में रहने लगे। उस समय यह भूभाग—जो किसी समय काशी का गर्भ समझा जाता था—दूर तक बिल्कुल निर्जन पड़ा था। उनका अभ्यास ठीक से चलने लगा। उसमें काफी सफलता हुई, पर योगाभ्यास की सफलता तो तभी मानी जाती है, जब कि उसके आनन्द को निराबाध लिया जा सके। इसी समय एक बड़ी बाधा उपस्थित हुई। राजघाट का पुल बन गया, रेल उस पर दौड़ने लगी। योगाभ्यास का सबसे बड़ा विघ्न शब्द है, वह प्रचण्ड रूप से शालिग्राम के कान में पड़ने लगा। वह सोचने लगे, काशी छोड़कर भाग जायें। कहाँ जायें, इसका उन्हें कोई पता नहीं था। नेपाल से काशी आते पैदल कई गाँवों और शहरों से गुजरे होंगे, पर उनका उन्हें कोई परिचय नहीं था। इसी समय उनमें श्रद्धा रखनेवाला एक आदमी मिला, जिसने कहा—बाबा, हम आपको ऐसे स्थान में ले चलते हैं, जहाँ आपके भजन में बिल्कुल वाधा नहीं होगी।

अज्ञात पुरुष शालिग्राम बाबा को लेकर बेलहा पर्गने में अपने गाँव ले गया। यह सारा पर्गना बैसों का होने से अवधी के बैसवाड़े की तरह एक छोटा बैसवाड़ा बन गया है। गाँव के बाहर फूस की झोंपड़ी में शालिग्राम बाबा रहते, मधूकरी माँगकर अपना गुजारा करते। उन्होंने कई गाँव बदले, लेकिन मधूकरी की वृत्ति पहिले ही जैसी चलती रही। एक दिन किसी तरुण विधवा ने उन्हें भोजन कराया। विधवा की यौवन-सुलभ अपकीर्ति फैली हुई थी। शालिग्राम बाबा अब परमहंस बाबा के नाम से पुकारे जाते थे। भोजन कराते समय, कहते हैं, तरुण विधवा बोली—"चाहे दुनिया मेरे लिए कुछ भी कहे, पर बाबा ने मेरे हाथ का भोजन ग्रहण कर लिया, तो मैं अपने को धन्य-धन्य समझती हूँ।" सम्भव है, वार्तालाप इतना सरल न हो और तरुण विधवा ने कोई दूसरे भाव प्रकट किये हों। जो भी हो, उस दिन से बाबा ने मधूकरी माँगना या किसी के घर भोजन करना छोड़ दिया। लोगों को मालूम हुआ, तो वह स्वयं भोजन लेकर उनके पास पहुँचने लगे।

बाबा को अभी तक कोई अनुकूल स्थान नहीं मिला था। सुन या देखकर उन्हें मंगई के किनारे का पता लगा। और जैसाकि पहिले कहा, उनके लिए छोटी-सी कुटिया और उसके चारों तरफ चहारदीवारी तैयार कर दी गई। यह स्थान उनके लिए बिल्कुल अनुकूल था। इतना पसन्द आया कि उसकी दोनों चहारदीवारियों के बाहर उन्होंने फिर कभी पैर नहीं रक्खा। उनके अभ्यास और ज्ञान से लाभ उठाने का जब हरिकरण बाबा को भी अवसर नहीं मिला, तो दूसरों को क्या मिलता ? पर, हिन्दू अध्यात्मशास्त्र में जिसे जीवन-मुक्त, मलहीन, अलिप्त सिद्ध पुरुष कहा गया है, उसके वह साकार रूप थे। इस प्रकार अपने अस्तित्त्व से भी वह कितनों को शान्ति पहुँचाते रहे। 1910 में सबसे अन्तिम बार मैंने उनका दर्शन किया। शायद 1914-15 से कुछ पहिले या बाद उनका देहान्त हो गया। उनके प्रति लोगों की श्रद्धा-भक्ति सार्वजनिक प्रदर्शन का रूप कभी नहीं ले सकी थी। उनके भक्तों ने उस कुटिया को पवित्र मानकर सुव्यवस्थित जरूर रखना चाहा होगा। मालूम नहीं, अब उसकी क्या अवस्था है। इसमें तो सन्देह नहीं, उनकी स्मृति चिरस्थायी नहीं हो सकती थी। न उनके लिए पक्के स्मारक खड़े किये गये, न उन्होंने स्वयं ग्रन्थ लिखे या अपने अनुभवों को ही लेखबद्ध किया, न उनकी शिष्य-परम्परा या पंथ चला। उनके अन्तिम समय की पीढ़ी के कुछ लोग कितने समय तक स्मृति को जीवित रख सकते थे ? आखिर परमहंस बाबा एक गुमनाम स्थान में रहते सदा के लिए बालू के रेत पर चरण-चिह्न की तरह विलुप्त हुए। हरिकरण बाबा कह रहे थे—एक बार नेपाल के राजा का आदमी आया। उसने बाबा को ले जाने के लिए आग्रह किया था।

आध्यात्मिक रूढ़ियों की पवित्रता भी परमहंस बाबा को बाँध नहीं सकी। काशी में जो भी मर जाये, उसे अप्रयास मुक्ति मिल जाती है, इसकी पर्वाह उन्होंने नहीं की और अभ्यास में विघ्न होने पर वह काशी छोड़कर चले गये।

6
मुखराम पण्डित

मुखराम पण्डित—मेरे सहृदय विद्या-गुरु—इन पंक्तियों के लिखने के समय शायद अब भी जीवित हैं। वह मेरे फूफा महादेव पण्डित के योग्य शिष्यों में थे। 'सिद्धान्त कौमुदी' के कुछ भीतर घुसने पर अन्य विद्यार्थियों की तरह उन्होंने भी काशी का रास्ता पकड़ा। काशी आने पर बहुत सन्निकट समझ मैं उनका विद्यार्थी बन गया। उनकी अनुपस्थिति में फूफाजी के दूसरे विद्यार्थी श्री शिवमंगल दूबे के पास भी मैंने कुछ दिनों तक पढ़ा। मुखराम पंडित में मैंने गुरु-शिष्य का ही अच्छा सम्बन्ध नहीं, बल्कि एक तरह की आत्मीयता पाई। उनका जन्मस्थान वीरपुर कनैला से तीन-चार मील से अधिक दूर नहीं है। पीछे मैं वहाँ एकाध बार गया भी। मुखराम पण्डित परीक्षाओं की ओर आकृष्ट नहीं थे। वह पुराने पण्डितों की तरह पढ़ना चाहते थे। उस समय के काशी के महावैयाकरणों में एक पं. चन्द्रभूषण उनके गुरु थे। चन्द्रभूषण पण्डित कुछ दिनों तक अयोध्या में भी अध्यापक रहे। लेकिन, अब एनी बेसेन्ट द्वारा स्थापित हिन्दू कालेज के संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य थे। उनकी विद्वत्ता को सभी स्वीकार करते थे। उनकी विचित्रता के लिए मशहूर था कि वह व्याकरण के शास्त्रार्थ में भी भाखा बोलते हैं। काशी की परिपाटी के अनुसार कोई भी शास्त्रार्थ संस्कृत में ही हो सकता था। यह होना आवश्यक भी था, क्योंकि काशी के महान् पण्डितों में केवल हिन्दी-क्षेत्र के ही लोग नहीं, बल्कि बंगाल, उड़िसा, दक्खिन सभी प्रदेशों के विद्वान् थे। सभी अपनी-अपनी भाषा में बोलने लग जाते, तो वह शास्त्रार्थ कैसा होता ? फिर बनारसी चन्द्रभूषण पण्डित हिन्दी भी नहीं बोल सकते थे, उनकी मातृभाषा भोजपुरी थी। हिन्दी उनकी विचित्र खिचड़ी हुआ करती थी। मुखराम पण्डित का स्नेहपात्र विद्यार्थी होने के कारण कभी-कभी उनके साथ मैं भी गुरुजी के पास चला जाता। मैंने उनके सामने कभी पोथी नहीं खोली। वह प्रक्रिया-ग्रन्थ नहीं, बल्कि

परिष्कार ग्रन्थों के पढ़ानेवाले थे। मनोरमा, शेखर, महाभाष्य पढ़नेवाले विद्यार्थी उनके पास उपस्थित होते थे, जहाँ पहुँचने में मुझे वर्षों की देर थी। पर, गुरुजी अपने प्रशिष्य के प्रति कुछ विशेष भाव प्रकट करने लगे थे। वह जोतिसी नहीं थे, पर न जाने क्यों एक दिन कहने लगे–मुखराम, यह विद्यार्थी बड़ा मेधावी मालूम होता है। मैंने संस्कृत में कोई मेधाविता अभी तक प्रकट नहीं की थी। दूसरे संस्कृत के विद्यार्थी स्कूल की पढ़ाई से कोरे थे, जबकि मैं उर्दू मिडल पास था। दूसरे संस्कृत विद्यार्थी अधिकांश कूपमंडूक होते थे, जबकि मैं कलकत्ता से केदारनाथ तक घूम आया था। कुछ बातचीत का ढंग ऐसा जरूर था, जिससे मुखराम पण्डित प्रभावित थे। पढ़े हुए पाठ को भी मैं समझ लेता था। मुखराम पंडित अपने बछवल के सहपाठी तथा उस समय बनारस में पढ़ते अपने मित्र के साथ मिलकर बड़े चाव से 'दशकुमारचरित' पढ़ते थे। वह मेरे पाठ्य की पुस्तक नहीं थी, पर मैं भी पास में बैठा बड़ा रस लेता था और अधिकांश को समझ भी जाता था। एक बार मुखराम पण्डित ने सोचा कि उसको हिन्दी में कर दिया जाय; लेकिन, उनकी हिन्दी ऐसी होती, जिसे कोई हिन्दी मानने के लिए तैयार न होता। विना मदरसा में गये, विना हिन्दी की एक भी पुस्तक पढ़े वह संस्कृत पढ़ने लगे थे। जरूरत पड़ती, तो भोजपुरी में व्याख्या करते। हिन्दी पढ़ने-सुनने का उनको अवसर ही नहीं मिला था। देखा-सुनी करते 'आवता, जावता'-भर कह सकते थे। मैं हिन्दी का विद्यार्थी नहीं था, किन्तु हिन्दी और उर्दू में तो इतना ही फर्क है कि एक में संस्कृत के तत्सम-तद्भव शब्द अधिक आते और दूसरे में अरबी-फारसी के। अब संस्कृत का मुझे इतना परिचय हो गया था कि अरबी-फारसी शब्दों को हटाकर उनकी जगह तत्सम-तद्भव शब्दों को रख सकता था। बनारस आने पर अब मैं हिन्दी पत्रिकाओं को भी पढ़ने लगा था। पत्रिकाओं क्या, पत्रिका, क्योंकि उस समय (1910-11 ई.) 'सरस्वती' ही एकमात्र पत्रिका थी, जो मुझे देखने को मिलती थी। किसी के यहाँ से लेकर मैं उसे बहुत रुचि से पढ़ता था। समाचार पत्रों के अस्तित्व-भर को जानता था, पर किसी से परिचय नहीं था। जब श्री प्रकाश बाबू विलायत से पढ़कर लौटे और उनकी जाति-बिरादरी (अग्रवालों) ने उन्हें जातिच्युत किया, तो काशी में मानहानि का मुकदमा दायर हो गया। इसकी कार्रवाई काशी से निकलनेवाले एक साप्ताहिक पत्रिका में निकला करती थी, अन्नपूर्णा के पासवाली गली में एक जगह उसके पन्ने चिपका दिये जाते थे, उसे जरूर पहिले-पहिल मैं पढ़ता था।

खैर, हिन्दी में अपने गुरु और परमगुरु से मैं बहुत आगे बढ़ा हुआ था। इसी को लेकर मुखराम पंडितजी ने अपने गुरु के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा–हाँ, बड़ा मेधावी है। चन्द्रभूषण पंडित ने कहा–कहीं वृत्ति-बंधान भी हुआ है ?

–अभी तो नहीं।

–तो लाओ हमारे पास, छात्रालय में इसे भर्ती कर दें।

हिन्दू कालेज के संस्कृत महाविद्यालय के साथ दो छात्रालय थे, जिनमें हरेक विद्यार्थी को छात्रवृत्ति के साथ रहने के लिए कोठरी मिलती थी। छात्रालय में प्रवेश पाने के लिए लोगों को बड़ी-बड़ी कोशिशें करनी पड़ती थीं, और मुझे उसके सर्वेसर्वा चन्द्रभूषण पंडित स्वयं आने के लिए निमन्त्रण दे रहे थे। पर, मैं उसमें कभी दाखिल नहीं हुआ। चन्द्रभूषण पंडित की सरलता और सहृदयता अब भी एक मधुर स्मरण की बात है। वैसे उस समय के प्रायः सभी बड़े-बड़े संस्कृत के विद्वान् अपने शिष्यों के साथ बड़ा स्नेह रखते थे, उनकी हरेक सफलता पर अभिमान करते थे। चन्द्रभूषण पंडित उसमें और आगे बढ़े हुए थे। एक दिन की बात याद है। वाराणसी के हरेक सुसम्पन्न गृहस्थ के लिए दूध अत्यंत आवश्यक वस्तु था। ग्वाले दूध में पानी मिलाने के लिए हमेशा से बदनाम हैं। शुद्ध दूध तभी मिल सकता है, जबकि अपने घर की गाय हो। चन्द्रभूषण पंडित के घर में एक-दो गायें थीं। नीचे की एक कोठरी में भुस भरा हुआ था। तकल्लुफ की जरूरत नहीं थी। शायद उन्होंने अपने शिष्य को कहा, और प्रशिष्य दौड़ पड़ा, या प्रशिष्य ही को कहा कि गैया को भुस डाल दो। भुस की कोठरी में शाम का कुछ अँधेरा भी चला आया था, इसलिए अपनी छोटी लड़की को पुकारकर कहा–"तुखारे लालटेन दिखा दे।" पुरानी पीढ़ी मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण 'ख' करती थी। पीछे की पीढ़ी ने इसे अशुद्ध समझकर 'श' कहना शुरू किया। सारे भारत में एक-सा उच्चारण हो, यह अच्छी बात है, लेकिन मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण

'ख' अशुद्ध है, यह समझना बिल्कुल गलत है। वस्तुतः जब उच्चारण के अनुरूप लिपि बनाई जाने लगी, तो यह समस्या उठ खड़ी हुई; कि पुरुष को कितनी ही जगह पर लोग पुरुख कहते हैं, और कितनी ही जगह पर पुरुष। यजुर्वेद में मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण 'ख' है, ऋग्वेद में 'श'। शायद पुराने समय में शाखाओं के अनुसार उच्चारण में इस तरह का 'श-ख' का भेद पाया जाता था। हमारे पूर्व-पुरुष सह-अस्तित्व के माननेवाले थे। वह एक को गलत और दूसरे को सही कहकर कलह पैदा करना नहीं पसन्द करते थे। इसलिए उन्होंने 'श' और 'स' के अतिरिक्त एक और 'ष' अक्षर बनाकर कहा : तुम्हारी मर्जी है, इसे चाहे 'श' बोलो या 'ख'। पंडितजी ने अपनी लड़की का नाम तुषारा रक्खा था या शायद यह पुकारने का नाम था। पर क्या कल्पना करके इस नाम को उन्होंने पसन्द किया ? हिम या हेम नाम तो बहुत प्रचिलत है, पुराने काल में भी ऐसे नाम थे, पर तुषारा नाम तो किसी भी संस्कृत ग्रन्थ में नहीं मिलता।

पंडित मुखराम पांडे असी मुहल्ले में छोटे गूदर के वैरागी अखाड़े में रहते थे। बड़ा गूदर उसके पास ही दूसरा अखाड़ा था, जिसमें उनके एक गुरु रहते थे, जो वैयाकरण होते हुए भी कविता का शौक रखते थे, इसलिए लोग उन्हें कविजी कहा करते थे। कविजी का लड़का मेरा ही नामराशि–केदारनाथ–अच्छा विद्यार्थी था। वह सिद्धान्त-कौमुदी समाप्त कर आगे बढ़ चुका था, जबकि मैं अभी सिद्धान्त-कौमुदी के पास पहुँचने की स्थिति में हुआ था। सिद्धान्त-कौमुदी और शेखर के भी विद्यार्थी मुझसे समानता का बर्ताव करते थे, उसका कारण यही था कि जो उनके पास नहीं था, वह मेरे पास था। मुखराम पंडित छोटे गूदर के एकमहला पक्की गृहपंक्तियों के छोर पर बनी एकमात्र दुमंजिलावाली कोठरी में रहते थे। रसोई नीचे बनाया करते थे। मैं इस कोठरी में अक्सर उनके पास पढ़ने जाता और दूसरे विद्यार्थियों या उनके मित्रों के पाठ या बातचीत को सुनता रहता। जब छुट्टियों में मुखराम पंडित घर जाते, तो मुझे इस कोठरी का मालिक बनना पड़ता। छुट्टियों की वहाँ कोई बात नहीं थी, संस्कृत के विद्यार्थी चाहे जब छुट्टी ले सकते थे, खासकर जिनको किसी विद्यालय में रहकर परीक्षा का ध्यान नहीं था। प्रायः होली या उससे कुछ पहिले से आषाढ़ की पूर्णिमा तक चार महीने तो संस्कृत के विद्यार्थियों के पूरे छुट्टी के थे। आषाढ़ की पूर्णिमा गुरुपूर्णिमा कही जाती है। इस समय हरेक विद्यार्थी या पंडित अपने गुरु की पूजा करने के लिए अवश्य उपस्थित होता। चन्दन, फल-फूल, कुछ मिठाई–यही पूजा की सामग्री थी।

प्रथम-विश्वयुद्ध के पहिले के जिन चार-पाँच वर्षों की बात मैं यहाँ कह रहा हूँ, उस समय वाराणासी में विद्यार्थियों के बहुत-से 'क्षेत्र' थे। जब सेठों की धन और संख्या की वृद्धि हुई, तो ऐसे क्षेत्रों की संख्या और बढ़ गई। आजकल तो जमींदारी और रियासतों के उठ जाने के कारण उनकी ओर से स्थापित बहुत-से क्षेत्र बन्द हो चुके हैं। हर चीज की महँगी से जो पुराने क्षेत्र मौजूद हैं, उनमें भी छात्रों की संख्या कम हो गई है। उस समय तीन प्रकार के क्षेत्र थे–(1) जिनमें सूखा अन्न (गेहूँ, दाल) और ईंधन आदि के लिए एकाध पैसे मिलते। अन्न किसी में महीने में एक बार और किसी में दो बार मिलता था। वाराणसी में पढ़नेवाले संस्कृत के विद्यार्थी सभी ब्राह्मण थे, इसे कहने की जरूरत नहीं, और उनमें भी सबसे अधिक सर्वरिया थे, क्योंकि नगरी उन्हीं के भोजपुरी क्षेत्र में है। सर्वरिया अपनी जाति के भी किसी दूसरे ब्राह्मण की छुई कच्ची रसोई तब तक नहीं खा सकते, जब तक कि उनका कोई नाता-गोता न हो। इसीलिए वाराणसी के सबसे अधिक छात्र सूखा अन्न देनेवाले क्षेत्रों से सम्बद्ध होना चाहते थे। घुमक्कड़ी ने सर्वरियों के इस नियम को मुझसे बहुत पहिले ही तोड़वा दिया था, पर मुझे किसी क्षेत्र में जाने की जरूरत नहीं थी। ब्रह्मचारी चक्रपाणि बना-बनाया स्वादिष्ट भोजन दे देते थे, मुझे रसोई में शामिल होने नहीं देते थे, यह मेरे लिए अच्छी ही बात थी, चूल्हा फूँकने से छुट्टी थी।

मोतीराम के बाग में तीन क्षेत्र थे, जिनमें एक गाजीपुर के किसी मारवाड़ी सेठ का सूखे अन्न का क्षेत्र था। उसमें जिसका नाम लिखा जाता, वह अपना सौभाग्य मानता था। मुखराम पण्डित को यहाँ से अन्न मिला करता था। मुझे भी सेठ के प्रतिनिधि ने बिना किसी दिक्कत के शामिल कर लिया था, लेकिन उस समय जब कि वाराणसी छोड़ने में कुछ ही महीने मेरे लिए रह गये थे।

(2) भोजन के क्षेत्र भी वाराणसी के भिन्न-भिन्न भागों में बहुत-से थे, जिनमें से थोड़े ऐसे थे, जो मधूकरीवाले साधुओं के लिए नियत थे। बाकी में निश्चित संख्या में विद्यार्थियों को पका-पकाया भोजन मिलता था। मोतीराम के बगीचे के बाकी दो भोजन-क्षेत्रों में एक में विद्यार्थी भी शामिल थे। आज मोतीराम के बगीचे में ईंट-चूने के उन मकानों का कोई पता नहीं, और न उनकी गाथा सुनानेवाला ही कोई रह गया है। भोजन-क्षेत्रों में सिर्फ एक ही बार मध्याह्न में भोजन मिलता था। यह समझा जाता था, साधुओं और विद्यार्थियों के लिए एक समय ही भोजन करना चाहिए। किसी-किसी क्षेत्र में रोज एक पैसा दक्षिणा मिल जाती थी, जिससे विद्यार्थी रात के दीये का प्रवन्ध करते थे। मिट्टी के तेल को वही इस्तेमाल करते थे, जो लालटेन के सामने पढ़ते थे, दूसरे कड़वे या रेंड़ी का तेल जलाते थे।

(3) तीसरे क्षेत्र वह थे, जो छात्रावासों के साथ सम्बद्ध थे, जैसा कि जम्बूवाला क्षेत्र दशाश्वमेध घाट के पास में था। यहाँ विद्यार्थी तो अपने हाथ से भोजन पकाते, या ब्राह्मणों की बनाई हुई रसोई में शामिल हो जाते। छात्रवृत्ति महीने में शायद पाँच रुपये की थी, यह उस समय बहुत अधिक समझी जाती थी। कितने ही अच्छे-अच्छे पंडित सात रुपये महीने में अध्यापकी करते थे। क्षेत्रों में एक विद्यार्थी पर प्रायः चार रुपया महीना खर्च पड़ता था। विद्यार्थियों और अध्यापकों को क्षेत्रों के अतिरिक्त एक लाभ कभी-कभी था, ब्रह्मभोज, जो वाराणसी में बारहों मास चला करते थे। यद्यपि उसका अर्थ यह नहीं था कि मोतीराम के बगीचे के छात्रों की तरह हरेक को महीने में आधे दिन भोज में जाना पड़ता।

पं. मुखराम ने परिभाषेन्दु-शब्दन्दुशेखर को परिष्कार के साथ पढ़ा था। अब नौकरियों में परीक्षाओं के प्रमाण-पत्रों की माँग थी। इस विद्या का पुरोहिती में कोई उपयोग नहीं था और अध्यापकी करने के लिए उपाधि पूछी जाती। मुखराम पंडित ने अछता-पछताकर कलकत्ता के व्याकरण मध्यमा की परीक्षा दी। वह तो निर्विघ्न पास हो गये, लेकिन तीर्थ में फेल हो गये। उनके सहपाठी शिवमंगल दुबे मजाक उड़ाने लगे। मुखराम पंडित शिवमंगल दुबे को बुद्धू समझते थे, यद्यपि यह बात सच्ची नहीं थी। हाँ, यह जरूर था कि शिवमंगल ने कुछ दिनों तक मदरसे में पढ़ा था, और उत्तर लिखने का उन्हें ढंग मालूम था, इसलिए व्याकरणतीर्थ और काव्यतीर्थ को वह बात की बात में पास कर गये। पीछे वाराणसी में गवर्नमेंट संस्कृत कालेज के न्यायाचार्य भी हो गये। लेकिन, इसमें शक नहीं कि मुखराम पंडित को जितने ग्रन्थ उपस्थित थे, उतने शिवमंगल दुबे को नहीं थे और शास्त्रार्थ में वह मुखराम पंडित के सामने मुँह भी नहीं खोल सकते थे। मुखराम पंडित ने पीछे व्याकरणतीर्थ कर लिया। 25-26 वर्ष की उम्र में पहुँचने के बाद भी विद्या का अन्त नहीं मालूम हो रहा था, और वृत्ति इतनी ही थी, जिससे वह मुश्किल से अपना खाना-कपड़ा चला सकते थे। किसी अच्छी पाठशाला में नौकरी मिलने की भी सम्भावना नहीं थी। देखा, अमीर और राजा लोग किसी-किसी पंडित का संरक्षण करते हैं। उनका ध्यान राजा मोतीचन्द की ओर गया। राजा मोतीचन्द और देशभक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त मूलतः आजमगढ़ के क़स्बे अजमतगढ़ के रहनेवाले थे। अब बनारस ही उनका दूसरा घर हो गया था, लेकिन अब भी अजमतगढ़ से सम्बन्ध टूटा नहीं था। मुखराम पंडित ने सोचा, अपने जिले के राजा को अपने जिले के पंडित का कुछ ख्याल जरूर होगा। उन्होंने एक दिन राजा मोतीचन्द की प्रशंसा में पाँच-चार श्लोक बनाये। श्लोक व्याकरण में अवश्य शुद्ध रहे होंगे, किन्तु उनमें किसी प्रकार की कविता होगी, इसका मुझे विश्वास नहीं। शायद छन्द भी अनुष्टुप् जैसा ही था। बनाकर लिखने पर मेरा नागरी का अक्षर काफी सुन्दर होता था। एक अच्छे कागज पर मैंने उन श्लोकों को उतार दिया। पंडितजी स्वयं जाने की हिम्मत नहीं कर सकते थे, बड़े संकोची स्वभाव के थे। उन्होंने यह काम अपने 'योग्य' शिष्य के ऊपर रक्खा। मंडुआडीह में अजमतगढ़ पैलेस बने अभी देर नहीं हुई थी। बनारसवाले उसे दुनिया के सात आश्चर्यों में मनवाने के लिए उतारू थे। 1956 में मैं अजमतगढ़ पैलेस से लगे हुए दूसरे प्रासाद में गया, जहाँ अजमतगढ़ पैलेस के उत्तराधिकारी भी आये थे। पर, उस समय का पैलेस वही नहीं मालूम होता था, जिसे कि मैंने 1911 या 1912 में देखा था। पैलेस एक बड़े बगीचे के भीतर था। उसमें एक अच्छा सरोवर था, जिसका नाम निर्माता के अनुसार मोतीझील रक्खा गया था। लोहे के फाटक के भीतर घुसने के बाद बाईं तरफ एकमंजिली कुछ कोठरियाँ थीं। मैं वहाँ किसी के पास पहुँचा

और अपने गुरुजी द्वारा रचित प्रशस्ति को राजा साहब के पास पहुँचाने का आग्रह करने लगा। विनीत और कुछ नागरिक-सी वेश-भूषा तथा अच्छी हिन्दी बोलने का प्रभाव तो जरूर पड़ा और उक्त पुरुष ने मुझे दुत्कारकर भगा नहीं दिया। शायद राजा साहब के दर्शन भी हुए, और मैंने कुछ कहकर अपने हाथ से उस प्रशस्ति को उनके हाथ में दिया। स्मरण नहीं है, हो सकता है, उस पुरुष ने ही ले जाकर उसे दिया हो। मुझे उत्तर मिला, इसके बारे में राजा साहब पीछे कुछ बतलाएँगे। लेकिन बतलाने की नौबत कभी नहीं आई। यदि मुखराम पण्डित को पाँच रुपये मासिक की भी वृत्ति मिल जाती, तो वह पाँच वर्ष और काशीवास के लिए तैयार हो जाते। खैर, मैंने तो अपना कर्तव्य-पालन कर दिया।

शायद तीन गुरुपूर्णिमाएँ मैंने बनारस में मुखराम पंडित के साथ बिताईं। 1913 की अन्तिम गुरुपूर्णिमा के कुछ समय बाद परसा के महन्त तथा मेरे भावी गुरु महंत लछुमनदास मन्दिर के पत्थर का प्रबन्ध करने के वास्ते बनारस आये थे। उस समय मुखराम पंडित भी वहीं थे। स्थान के वैष्णव पंडित रामकुमारदास ने किसी कागज-पत्र पढ़ने के सम्बन्ध में मेरा परिचय महन्तजी को करवा दिया। उसके बाद ही मेरे सामने शिष्य होने का प्रस्ताव आया। मुखराम पंडित सब जानते थे। मैंने प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, यह भी उन्हें मालूम हो गया। उन्होंने मेरी एक नई जन्मकुण्डली बनाकर महन्तजी को दी। उसमें क्या-क्या भविष्यवाणी लिखी थी, यह मुझे याद नहीं है, लेकिन वह वही नहीं थी, जो मुझ पर पीछे बीती। वह व्याकरण के पंडित थे, व्याकरण बाँझ वृक्ष है, फलित ज्योतिष को फलदार पेड़ समझा जाता है, इसलिए वैयाकरण पंडित भी मुहूर्तचिन्तामणि तो जरूर ही पढ़ डालते थे। गाँव में अगर साइत पूछने पर कोई पंडित कह दे कि मुझे नहीं मालूम, तो महामहोपाध्याय होने पर भी लोग उसे कभी पंडित मानने के लिए तैयार नहीं होते। मुखराम पंडित ने इसीलिए थोड़ा-सा जोतिस पढ़ा था। मेरी जन्मकुण्डली बनाकर महन्तजी को अर्पित करना, यह सीधा मेरे अगले कदम का अनुमोदन करना था, जिसकी आशा उनसे नहीं की जा सकती थी। उन्हें मेरे फूफा और मेरे घर का भी ख्याल रखना चाहिए था। पर, क्या उनके बाधा डालने से मैं अपने अगले कदम को रोक लेता ? पीछे झूठ ही लोग मुखराम पंडित को दोष देते थे कि इन्होंने चेला बनवा दिया। मुखराम पंडित ने बहुत सफाई दी। उन्हीं से मेरे पिता और फूफाजी को पता लगा कि मैं कहाँ चला गया हूँ। बहुत दिनों तक उन्हें बातें सुननी पड़ीं।

मुखराम पंडित नवरात्र में घर गये थे। उस समय मैं उनकी अनुपस्थिति में वाराणसी छोड़कर छपरा चला गया। 1913 के बाद या दूसरी बार मैं उनसे 1915 या 1916 में उनके गाँव पर मिला। अब वह घर पर रहने लगे थे। उनके गाँव (बीरपुर) के पास बड़हल बाजार था। किसी महाजन ने एक पक्की ठाकुरबाड़ी बनवा दी थी, उसको किसी ने संस्कृत पाठशाला खोलने के लिए कहा। वह राजी हो गया। मुखराम पंडित अध्यापक बने और जिस शाम को मैं बीरपुर पहुँचा था, उसी या अगले दिन पाठशाला आरम्भ होनेवाली थी। विद्यार्थी पीछे आते रहते, लेकिन पाठशाला तो शुरू हो जानी चाहिए थी। मैं उनका भूतपूर्व विद्यार्थी मौजूद ही था। पाठशाला आरम्भ करने के लिए हम दोनों चल पड़े। पाठ्य-पुस्तक व्याकरण की ही हो सकती थी। मेरे पास उपनिषद् की गुटका थी, उसी से आरम्भ हुआ।

उसके बाद मुखराम पंडित का दर्शन फिर कभी नहीं हो सका। उनकी विद्वत्ता के साथ सरलता और स्वाभाविक स्नेह का स्मरण मुझे अब भी याद आता है। जब कोई आस-पास का आदमी मिलता है, तो उनके बारे में पूछ लेता हूँ। मेरे समवयस्क, वाराणसी के जगन्नाथ मन्दिर के पुजारी दशरथ पांडे 1956 के आरम्भ में मिले। उनके सारे केश सन की तरह सफेद हो गये हैं। मैं उनके सामने बीस वर्ष छोटा मालूम होता था। उन्होंने बतलाया, मुखराम पंडित अब घर पर ही रहते हैं, वृद्ध हो गये हैं। मन में आया, एक बार चलकर दर्शन कर लूँ, लेकिन समय कहाँ से निकालूँ ?

7
वरदराज

बनमाली से मैंने न कुछ पढ़ा और न उन्होंने मुझसे कुछ सीखा; पर, उनसे मेरा सम्बन्ध उसी तरह का रहा, जैसा यागेश से, जैसा पीछे भदन्त आनन्द कौसल्यायन से। वह आजमगढ़ के ही रहनेवाले थे। पर, मेरा उनका परिचय आजमगढ़ में नहीं हुआ। 1910 में जब मैं वाराणसी में संस्कृत पढ़ते मोतीराम के बगीचे में रहने लगा, तो वह वहीं रहते मिले। उनके चचा दण्डी संन्यासी थे, जो बाग की एक कुटिया में रहते थे। वृद्ध संन्यासी चाहते थे, भतीजे कुछ पढ़ लें। स्वामीजी की सेवा-टहल करते वहीं रहकर वह पढ़ा करते थे। चक्रपाणि ब्रह्मचारी और दण्डी स्वामी की कुटिया में दो ही चार हाथ का अन्तर था। बनमाली का परिचय घनिष्ठता में परिवर्तित हो गया। संस्कृत की पढ़ाई में मैं उनसे बहुत आगे नहीं था, पर प्रभाव में जरूर था। हम दोनों की उम्र भी एक ही थी।

1913 के अन्त में मैं परसा जाकर वैरागी साधु बन गया। लेकिन, घुमक्कड़ी का चस्का लग चुका था, इसलिए एक जगह ठहर कैसे सकता था ? खासकर जबकि परसा में विद्या में आगे बढ़ने का रास्ता नहीं था। जमींदारी देखो और कंकड़-पत्थरों को धोकर चन्दन चढ़ाओ। इसे मन मानता नहीं था। बीच में एक-डेढ़ महीने के लिए धर-पकड़कर कनैला लाया गया। फिर भागकर परसा पहुँचा। मुश्किल से तीन-साढ़े तीन महीने बिताये। 1914 की वर्षा के आरम्भ में ही यात्रा पर निकल पड़ा। इस यात्रा में जगन्नाथ, रामेश्वर होते गुजरात-अहमदाबाद को देखकर लौटना था। जिस समय मैं यात्रा पर गया था, उसी समय बनमाली मुझे ढूँढ़ते परसा पहुँच गये और मेरी प्रतीक्षा किये विना मेरे ही गुरु के शिष्य भी बन गये, नाम पड़ा वरदराज रामानुजदास। वैरागियों के लिए यह नाम अनुचित था। आचारी और वैरागी दोनों रामानुजाचार्य को अपना गुरु मानते हैं, लेकिन रामानन्द ने रामानुज की सभी बातों को स्वीकार नहीं किया था। उन्होंने दक्षिण से आये वैष्णव धर्म में अनेक परिष्कार किये, जिन्हीं के कारण वह उत्तरी भारत में जनप्रिय हुआ और जिसके कारण हमें गोस्वामी तुलसीदास जैसे कवि मिले। रामानन्द से पीछे बढ़कर रामानुज को पकड़ना भारी प्रतिगामिता थी। लेकिन, इसका दोष हमारे गुरु महन्त लछमनदास को नहीं दिया जा सकता था। वह मुश्किल से अपनी दस्तखत 'लछुमनदास' कर लेते थे। 'आनन्द रामायण' और दूसरी भी कितनी ही पुस्तकों का पाठ और कई हजार का जाप करने में वह 8 बजे से 11 बजे तक का समय बिता देते थे, यही उनकी योग्यता का सबसे बड़ा परिचायक था। विद्या में शून्य-से होते बुद्धि में आगे बढ़े हों, यह भी बात नहीं थी। लेकिन, अपनी तरुणाई में सारे भारत, विशेषकर मद्रास की तरफ, वह बहुत सालों घूमते रहे। वहीं से उन्होंने आचारियों की नकल करनी सीखी। महन्त होने पर वह अपने चेलों के दोनों बाँहों पर शंख-चक्र दागने लगे। रामानन्द के अनुयायियों को इसकी बिल्कुल आवश्यकता न थी। पर, रामानुजी 'अ-तप्ततनु' (बिना शरीर दगे) को अछूत-सा मानते हैं। अब तक महन्त लछुमनदास ने सिर्फ शरीर दागने तक ही अपने को सीमित रक्खा था, लेकिन बनमाली के नाम बदलने में अब उन्होंने आचारियों के नाम के प्रति भी अपना पक्षपात दिखाया। यह बात नहीं थी कि वह रामानन्दी वैरागियों से आचारियों को बेहतर समझते थे या आचारियों की परम्परा का विशेष ज्ञान रखते थे। अपने वैरागी होने का उन्हें अभिमान था। रामानन्द के पद मुश्किल से सुनने में आते हैं। उन्होंने स्वयं कोई पुस्तक लिखी, इसमें भारी सन्देह है। अपने शिष्य-प्रशिष्यों की तरह उन्होंने भजन जरूर बनाये, पर वह भी लोगों के कंठों ही में रहकर विलीन हो गये। ऐसे ही विलुप्त भजनों में एक भजन को महन्त लछुमनदास रोज पाठ किया करते थे, जिसकी भाषा कुछ विचित्र-सी थी। उस समय मुझे उसका कोई ख्याल नहीं था, लेकिन अब समझता हूँ, उस पर प्राचीन भाषा की छाप थी।

खैर, जब मैं महन्तजी का तार पा चौथे धाम द्वारिका को बिना पूरा किये ही लौटकर परसा पहुँचा, तो बनमाली वरदराज के रूप में मिले। मित्र से मिलकर बहुत हर्ष हुआ। अब हम दोनों एक साथ रहेंगे, इससे

भी प्रसन्नता और बढ़ी। पर, मैं यह नहीं पसन्द करता था कि वरदराज पढ़ना-लिखना छोड़ पत्थर धोते और गला फाड़कर शाम को ढोलक पर गौरी-आरती गाते रहें। हम दोनों वाद्य और संगीत के मर्ज से बिल्कुल मुक्त थे, यह खैरियत थी। इस प्रकार बन्गाली का यह कदम एक ओर से मुझे पसन्द भी नहीं आ रहा था, पर स्वार्थ तो इसी में था कि हम दोनों साथ रहें। शायद 1914 के अप्रैल में मैं परसा लौटा था। महन्तजी मुझसे यही आशा रखते थे कि मैं जमींदारी के काम व... देखूँ। मुझे विद्या और घुमक्कड़ी दो ही बातें पसन्द थीं, जिन्हें छोड़कर मैं महन्तजी की इच्छा पूर्ण करने में असमर्थ था। जमींदारी के प्रबन्ध में भी अराजकता फैली हुई थी। यदि मैं कोई व्यवस्था करना चाहता, तो उसमें वह रोड़ा अटकाते। मैं रुष्ट हो जमींदारी के एक गाँव में उनका साथ छोड़कर इस ख्याल से परसा लौट आया कि वरदराज के साथ किसी तरफ की यात्रा करूँ। इतनी लम्बी यात्रा से मुझे यह अच्छी तरह मालूम हो गया कि हमारे जैसे साधु को कहीं हाथ पसारकर न भीख माँगने की जरूरत है, न भूखे रहने की। अकेले नहीं, दो आदमी भी साथ रहें, तब भी कोई दिक्कत नहीं। वरदराज से सलाह हुई। वह चलने के लिए तैयार ही थे, लेकिन मेरे लिए महन्तजी का हुकुम आया था, बाहर जाने न दो। एक तरह का पहरा पड़ गया था। पर, मैं ऐसे पहरों को कई वार तोड़ चुका था। एक रात को निकल भागा और परसा से सीधे महाराजगंज की वैष्णव कुटी में पहुँचा। वरदराज को कह चुका था, वहीं आकर मिलें। दोनों का साथ भागना सम्भव नहीं था, इसीलिए यह कदम उठाया। दो-तीन दिन बाद वरदराज भी महाराजगंज चले आये। फिर हम दोनों वहाँ से कुछ ही मील दूर बगौरा के मठ में गये, जो परसा मठ की शाखा था, और जहाँ के महन्त हमारे सुपरिचित थे। आषाढ़-सावन का महीना था, आमों की बहार थी। बगौरा मठ के अपने भी कलमी आमों के बाग थे। कलमी और बीजू दोनों तरह के आम रोज टोकरियों आते। पूड़ी के साथ आमों के खाने का महातम माना जाता है। सप्ताह या अधिक समय तक हम लोग बगौरा में आम का आनन्द लेते रहे। फिर आगे चलने का विचार करने लगे। अयोध्या में वैरागियों का गढ़ है और वहाँ पाठशालाएँ भी हैं, यही सोचकर हम दोनों धुरौंधा स्टेशन से रेल पर चढ़कर रवाना हुए। मालूम नहीं टिकट कटाने के लिए हमारे पास पैसा था या नहीं। गोरखपुर से आगे किसी स्टेशन पर मैं उतर गया और वरदराज आगे-पीछे रह गये। अयोध्या में स्वर्गद्वार घाट पर विदेहीजी के स्थान में उतरने का हमने निश्चय किया था। मैं वहाँ पहिले पहुँचा। वरदराज भी कुछ दिनों बाद पहुँच गये। अपनी दक्षिण-यात्रा में पढ़ी हुई में से कुछ पुस्तकें वरदराज के पास थीं। वह मनकापुर में किसी मन्दिर में उन्हें छोड़ आये।

अयोध्या में विदेहीजी के स्थान में हम दोनों रहने लगे। मेरी पढ़ने की उत्कट इच्छा थी और वहाँ नई स्थापित वेदान्त पाठशाला में रामानुज वेदान्त तथा दूसरे विद्वानों के पास दूसरे ग्रन्थ पढ़ने लगा। वरदराज को उसमें उतना रस नहीं था। वह साधुओं की मण्डली में अपना समय बिताते थे। वहाँ भी एक बूढ़ा साधु उनका सम्बन्धी निकल आया, वह उसके पास जाने लगे। परसा के एक साधु अयोध्या के बहुत बड़े सन्त माने जाते थे। साधारण लोग उनसे परिचित नहीं थे, लेकिन, अयोध्या के भजनानंद साधु भी उनका सन्त के तौर पर बड़ा सम्मान करते थे। रूपकला भगवानूदास सखी मतवाले गृहस्थों में अवतार माने जाते थे, लेकिन उनके चरित को पास से देखने के कारण वैरागियों में और सखी मतवालों में भी उनकी कोई कदर नहीं थी। पहिले वह जिस स्थान में रहते थे, वहाँ किसी स्त्री के साथ छेड़-छाड़ करने के कारण जब लोग मारने दौड़े, तो वह भागकर हनुमतनिवास में आ गये। साधुओं की कहावत है—"रोटी खाइए घी-शक्कर से, दुनिया ठगिए मक्कर से।" दुकानदारी जो ठहरी, गाहक को कोई भड़काना नहीं चाहता। रूपकलाजी अंग्रेजी पढ़े-लिखे सन्त थे। अंग्रेजी बाबुओं पर उनका काफी रोब था, जो त्यौहार-पर्व के समय काफी संख्या में उनके दर्शनों के लिए आते थे। दूसरे वैरागियों को भी लाभ था। महन्त गोमतीदास जी हनुमतनिवास मठ के महन्त और साथ ही साधुओं में सम्मानित सन्त माने जाते थे। वह रजिस्टर्ड सखी-मत के नहीं थे, पर उनकी भक्ति उसी रूप से थी। रूपकलाजी के कारण महन्त गोमतीदासजी की महिमा भी बाबुओं में फैली। बाहर के भगत लोग इन्हीं दोनों को पहुँचे हुए सन्त मानते थे, पर अयोध्या के प्रेमी साधुओं का सम्मान परसा के उसी सरल प्रकृति के साधु को मिला था, जो एक अँधेरी कोठरी में रहते। उनके शरीर पर बिल्कुल मामूली-सा साधुओं का अँचला होता था। जब

बाहर निकलते, तो सिर पर एक छोटी-सी अँगौछी डाल लेते। सफेद दाढ़ी-मूँछ और बाल बड़े और साफ रहते थे, लेकिन उनके सजाने की कोई कोशिश नहीं की जाती थी। उस समय उनकी आयु 50-60 के बीच में थी। वह अपनी कोटरी से शाम के चार बजे बाहर निकल जहाँ पं. बल्लभाशरण की रामायण की कथा होती, वहाँ उसे सुनने जाते। उनके सीधे-सादे अकृत्रिम जीवन को मैं पसन्द करता था, यद्यपि सखी-मत के बारे में मेरी सम्मति अच्छी नहीं थी और उसे अप्राकृतिक गंदगी फैलाने का कारण मानता था। पर, मेरी अपेक्षा वरदराज के बारे में उनकी सम्मति अच्छी थी। मैं बुद्धिवादी था और 'करेला नीम पर चढ़ा' की कहावत के अनुसार अयोध्या में सत्यार्थप्रकाश पढ़ने के कारण कितनी ही बातों पर से मेरी आस्था उठ गई थी, इसलिए बिलैया दण्डवत् करना मेरे बस से बाहर की बात थी।

वरदराज वहाँ रम गये, लेकिन कुछ महीनों बाद मेरा मन फिर वहाँ से उड़ंछू होने का हुआ, यद्यपि उसने बहाना किया, घर की सैर कर आने का। अपने गुरु पं. महादेव पांडे को चिट्ठी लिखी, पिताजी चले आये। घर जाकर कुछ दिन रहा। फिर शायद यागेश के साथ प्रयाग के माघ मेला के लिए रवाना हो गया। वरदराज का सम्पर्क अब बहुत दिनों के लिए छूट गया। मुझे ख्याल है, 1914 के उस वियोग के बाद मैं फिर उनसे नहीं मिल सका। परसा एक-दो बार जाना पड़ा, पर मेरे जाने के समय वह वहाँ मौजूद नहीं थे। उनको भी घूमने की आदत लग गई। असहयोग में भाग लेने के लिए जब 1921 में मैं छपरा (परसा) पहुँचा, तो पता लगा, असहयोग के आरम्भ के समय वह यहाँ पर मौजूद थे, काम भी किया था।

1926 के दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन गौहाटी में हुआ। मैं भी वहाँ पहुँचा। किसी से मैंने सुना था, वरदराज आसाम में कहीं रहते हैं। वहाँ इधर-उधर बहुत पूछ-ताछ की, लेकिन आसाम एक प्रदेश है और मुझे शहर या बस्ती का भी नाम नहीं मालूम था, जिसमें वरदराज रहते थे। सफलता नहीं हुई। इसके बाद जब-जब आसाम के कोई पुरुष मुझे मिलते, मैं आग्रहपूर्वक उनसे वरदराज का पता लगाने के लिए कहता। मालूम नहीं, वरदराज वरदराज हैं या बनमाली हो गये। मेरी तरह उन्होंने भी काशी में स्वर के साथ कुछ वेद पढ़ा था। परसा मठ से उनका कोई ममत्व भी नहीं था। वहाँ तो वह केवल मेरे सम्बन्ध से गये थे। हो सकता है, शायद वह पीछे वैरागी साधु नहीं रह गये।

जो भी हो, वरदराज या वनमाली से एक बार मिलने या उनके बारे में निश्चित समाचार पाने की लालसा अब भी मेरे दिल में पहिले ही जैसी है।

8

ब्रह्मचारी चक्रपाणि

काशी में 1910 के सितम्बर या अक्तूबर में तुलसी घाट के ऊपर खड़े भूले आदमी की तरह हम चारों ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देख रहे थे, उसी समय गंगा से जल-भरे ब्रह्मचारी चक्रपाणि हमारे सामने आये और दो-चार शब्दों में पूछताछ करके तुरन्त बोले—तो आओ महात्मा, हमारे साथ। मैं और यागेश उनके साथ मोतीराम के बगीचे में गये। मोतीराम के बगीचे की अद्‌भुत छाप आज भी मेरे हृदय पर पड़ी हुई है। अतीत की अल्प सुन्दर वस्तु भी अति सुन्दर मालूम होती है। हो सकता है, मेरी स्मृति अतिशयोक्ति करती हो पर वह यथार्थ से बिल्कुल शून्य नहीं है। आज मोतीराम का बगीचा बगीचा नहीं रह गया है। उसकी चहारदीवारियाँ भी बहुत जगह गिर चुकी हैं। और एक मारवाड़ी सेठ ने अपनी कीर्ति खड़ी करने के लिए वहाँ के हर पवित्र अवशेष को मिटा डालने का निश्चय कर लिया है। कम-से-कम मंगनीराम जैसे महात्मा की अच्छी-खासी पक्की कुटिया को तो बरबाद करना नहीं चाहिए था।

उस समय मोतीराम के बगीचे और असी संगम से दुर्गाकुण्ड की ओर जानेवाली सड़क के बीच में खेत

था, जिसमें एक कोयरी साल में हर वक्त कोई-न-कोई सब्जी-तरकारी उगाता था, और वही उसकी जीविका का साधन था। कोयरी के कुएँ के पास की सड़क से मोतीराम के वगीचे के भीतर रास्ता जाता था। दरवाजा इतना छोटा था कि लम्बे आदमी को सिर झुकाकर भीतर जाना पड़ता था। मुख्य दरवाजे के अतिरिक्त पश्चिम में कुरुक्षेत्र के तालाब की तरफ भी एक दरवाजा था। उत्तर की तरफ ऊँचे-ऊँचे मकानों ने दीवार का काम किया था। पूर्व के दरवाजे और उसके पास की खिलौने-जैसी दोनों कोठरियों को ब्रह्मचारी चक्रपाणि ने अपनी कुटिया के रूप में परिणत कर दिया था। किवाड़ अब भी था, लेकिन वह उसे वन्द रखते थे, और जगह को भुस जमा करने के काम में लाते थे। बहुत दिन रहने पर आदमी के लिए स्थान की नवीनता और आकर्षण कम हो जाता है। मैं प्रायः तीन साल तक यहाँ रहा; लेकिन मेरे लिए वह आकर्षण कभी कम नहीं हुआ। हाते के भीतर क्यारियों में लगे हरे-हरे कागजी नीमुओं के झाड़ थे, जिनमें एक से अधिक बार फल लगते थे। शायद फसल बिक जाती थी, लेकिन बगीचे के वासियों को नीमू हर वक्त मुफ्त सुलभ था। हमारी दाल-भाजी शायद ही कभी ताजे नीबू के रस से वंचित रहती। ब्रह्मचारी की सारी कुटिया ही घरौंदे जैसी थी। दरवाजे को लेकर तीन छोटी-छोटी कोठरियाँ थीं, जिनमें कोई भी सोने के काम नहीं आती थी। वाहर टिन का ओसारा जरूर जाड़ों और बरसात में सोने के लिए इस्तेमाल होता था और उसमें ब्रह्मचारी के संरक्षण में रहनेवाले सात-आठ विद्यार्थी दीये के सामने पाठ घोखते हुए सो जाते थे। एक कोठरी की बगल में उन्होंने एक और टिन का ओसारा खड़ा कर दिया था, जिसमें जरूरत पड़ने पर उनकी कृष्णा बाँधी जाती थी।

वह सर्वांग कृष्णा बहुत ही सुन्दर गैया थी, जिसे ब्रह्मचारी ने वड़े स्नेह से पाला था। ब्रह्मचारी कुरुक्षेत्र के रहनेवाले थे, जहाँ पर अब भी साधुओं के कथनानुसार दूध-दही की नदियाँ वहती थीं। हरियाना की गायें-भैंसे अधिक दूध देने के लिए बहुत ही मशहूर हैं। ब्रह्मचारी को वरावर शिकायत रहती थी कि इधर के दूध में न उतना घी होता, न घी में उतनी चिकनाहट। ब्रह्मचारी को बचपन से दूध-घी मुँह लगा हुआ था। काशी में पढ़ने के लिए आये, तो यहाँ भी व्याकरण या साहित्य नहीं, बल्कि स्वर के साथ रुद्राष्टाध्यायी के मन्त्रों-भर का ही पाठ किया। परिचय बढ़ने के साथ उनको बराबर घी-दूध में डूबे रहना पड़ा। अव भी महीने के तीन-चौथाई दिन किसी-न-किसी यजमान के यहाँ उनका निमन्त्रण रहता। फुर्ती इतनी थी कि मालूम होता था, उनका रोम-रोम नाच रहा है। इस समय उनकी उमर 50 की तो जरूर होगी। कुछ बाल भी सफेद हो गये थे, लेकिन इतना तेज चलते थे, उसे पीछे से देखकर आदमी समझता, कोई नौजवान जल्दी में जा रहा है। शीघ्र ही मैं उनके विद्यार्थियों में अधिक पढ़ाकू समझा जाने लगा। इधर-उधर से प्रशंसा सुनकर ब्रह्मचारी को भी मेरे बारे में अभिमान होने लगा। वह नहीं चाहते थे कि मेरा समय दूसरे मामूली कामों में लगे। खैरियत थी, मैंने सर्वरियों के 'स्वयंपाकी'-पन को तिलांजलि दे रक्खा था, इसलिए गौड़ ब्राह्मण चक्रपाणि के हाथ के बने खाने में मुझे बिल्कुल एतराज नहीं था। ब्रह्मचारी रसोई बनाने में फुर्ती रखते थे। दो आदमी खानेवाले हों, तो चार आदमियों का भोजन बनाते थे, कृष्णा जो मौजूद थी। उसके लिए भुस भी जमा रखते थे। अपने हाथ से भी बगीचे में कभी-कभी हरी-हरी घास काट लाते। लेकिन, मैं समझता हूँ, कृष्णा का आधा पेट, ब्रह्मचारीजी के भोजन से भर जाता था।

ब्रह्मचारी परम आस्तिक थे। प्रातःकाल उठते ही उनका स्तोत्र-पाठ शुरू हो जाता। साधारण संस्कृत के स्तोत्रों को वह जरूर समझ लेते होंगे, पर कुरुक्षेत्र छोड़कर काशी में पढ़ने नहीं, बल्कि वास करने के लिए आये थे। वहाँ से बाहर जाने का अब उनका निश्चय नहीं था। उस समय का कोई आदमी नहीं रह गया, जिससे मालूम हो, ब्रह्मचारी का कैलासवास कहाँ हुआ। आशा यही रखनी चाहिए कि अपने भक्त को विश्वनाथ ने अपनी नगरी से हटने नहीं दिया। कृष्णा की सेवा करते भी उनके मुँह से श्लोक निकलते रहते। झोंपड़ी में होने पर उसे बाहर रीठे के पेड़ के नीचे बाँधकर गोसार साफ करते, मूड में होने पर कृष्णा का दूध निकालते। पूजा का यह समय नहीं था। मोतीराम के बगीचे से सबसे नजदीक का अच्छा घाट वह था, जहाँ तुलसीदास के अन्तिम वर्ष बीते, यहीं उनका देहान्त हुआ। गोस्वामी तुलसीदास का स्थान विरक्त वैरागियों का था, लेकिन अब महन्त घरबारी थे। उनके पुत्र स्वामीनाथ बनारस के प्रसिद्ध पहलवानों में माने जाते थे। ब्रह्मचारी तुलसीघाट पर स्नान करते, छोटे-से ताँबे के घड़े में जल भरकर साथ लाते। घर में वह सदा गंगाजल पीते, और दूसरों

को भी पिलाते। बरसात में पानी मटमैला रहता, लेकिन पाँच-छह घण्टे रखने के बाद मिट्टी-बालू नीचे बैठ जाता।

घर आकर ब्रह्मचारी की पूजा शुरू होती। एक छोटे-से डब्बे में नर्मदेश्वर (शिवलिंग) रक्खे थे, जिनकी धूप-दीप आदि के साथ पूजा करते। आम धारणा थी कि शिव पर चढ़ा न प्रसाद खाना चाहिए और न चरणामृत पीना चाहिए। शायद पाशुपतों के विरोधियों ने प्राचीन काल में इस धारणा को फैलाया। इस समय के वैष्णव-विरोधी भी शिव-निर्माल्य को विष की तरह त्याज्य मानते थे। पर, ब्रह्मचारी के लिए नर्मदेश्वर शालिग्राम की तरह ही सब तरह से वन्दनीय थे। उनका चरणामृत हम विद्यार्थियों को भी पिलाते, मेवा-मिष्ठान्न का भोग लगाकर भी बाँटते और हमारी सन्देह की निवृत्ति के लिए कह देते—मामूली शिवलिंग का प्रसाद लेना वर्जित है, नर्मदेश्वर और बारह ज्योतिर्लिंगों का नहीं। बारह ज्योतिर्लिंगों में वाराणसी के विश्वनाथ भी थे। प्राचीनकाल में वाराणसी के विश्वनाथ को इस नाम से पुकारा जाता था या विश्वेश्वर के नाम से, यह कहना मुश्किल है। दण्डी ने 'दशकुमारचरित' में उन्हें अविमुक्तेश्वर के नाम से याद किया है। ब्रह्मचारी के सम्पर्क में आने से पहिले भी मेरा झुकाव संन्यासियों और वेदान्त की ओर ही था, जिसका बहुत अधिक श्रेय परमहंस बाबा के शिष्य हरिकरण बाबा को था। शंकराचार्य और उनके अद्वैतमत के शैवों से मुझे कुछ लेना-देना नहीं था। जब शांकर-मत ने पाशुपत (शैव) मत को निगल लिया, तो उसके चोले को भी उसे पहनना पड़ा। पाशपुत शंकर के ही एकमात्र उपासक थे, वह विष्णु को कैलासवासी का तुच्छ सेवक मानते थे। शंकरानुयायियों के लिए शिव, विष्णु, दुर्गा, गणेश, सूर्य—सब धान बाइस पसेरी थे, इसलिए किसी की पूजा-अर्चना से उन्हें परहेज नहीं था। पर, रुद्राक्ष, भस्म उन्होंने पाशुपतों का ही स्वीकार किया। एक समय उत्तर भारत में सभी जगह पाशुपत धर्म की प्रधानता थी। बौद्ध कभी उनसे आगे और कभी पीछे रहते थे। गुर्जर-प्रतिहार, चंदेल, कलचुरि आदि राजवंश पाशुपत धर्म के माननेवाले थे। पाशुपत धर्म के सामने शंकर का मत अभी हाल का पंथ था। पर, मोतीराम-बगीचे के भस्म-त्रिपुण्डधारी ब्रह्मचारी, संन्यासी या पण्डित यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि शांकर-मत पंथ है। पंथाई वह वैरागियों, उदासियों, गरीबदासियों, दादू पंथियों, कबीरपंथियों को कहते थे, जो बिल्कुल गलत बात थी। आठवीं सदी से पहिले शंकर-मत का कहीं पता नहीं था। वह नया-नया पंथ खड़ा किया गया था।

मुझे यह बारीकियाँ उस समय मालूम नहीं थीं, तो भी भस्म-त्रिपुण्ड, रुद्राक्ष, रुद्रीपाठ, शिवार्चन के प्रति एक विचित्र आकर्षण था। उस समय मैं क्या जानता था कि शैव (पाशुपत) धर्म ने हँमारी कला और संस्कृति की जितनी सेवा की है, उतनी बौद्धों के सिवा और किसी ने नहीं की। हमारे धर्म और संस्कृति को शैव इन्दोनेशिया और इन्दोचीन तक ले गये, उनके बनवाये भव्य विशाल मन्दिर वहाँ अब भी मौजूद हैं। यह सब करनेवाले यह नकली शैव नहीं थे, वह थे पाशुपत, जिनके अवशेष अब दक्षिण भारत के कर्नाटक और तमिल प्रदेशों में कुछ रह गये हैं। वाराणसी में जंगमबाड़ी उसका प्रतिनिधित्व करती है। जंगमबाड़ी के जंगमों को ही विश्वनाथ की पूजा का अधिकार होना चाहिए था, पर एक बार जब अधिकार किसी दूसरे के हाथ में चला गया, तो वह कहाँ से मिल सकता है ? उत्तर भारत में गढ़वाल का केदारनाथ मन्दिर ही अब पाशुपतों के हाथ में रह गया है। उस समय जो धारणा शंकर के प्रति मेरी थी, उसने पाशुपत-धर्म के प्रति मेरा विशेष आकर्षण पैदा कर दिया। धारणा के पैदा करने में ब्रह्मचारी चक्रपाणि का भी हाथ था। उनके भस्म-त्रिपुण्ड को देखकर मैं भी भस्म-त्रिपुण्डधारी बन गया। मेरे फूफा महादेव पण्डित सूक्ष्म रुद्राक्ष-माला धारण करते थे। कानों के अतिरिक्त ब्रह्मचारी का गला भी बड़े-बड़े बत्तीस रुद्राक्ष के मनकों की माला से भरा रहता था। मैंने भी उसी तरह की माला अपने लिए ले ली थी। हर सोमवार को सायंकाल विश्वनाथ का दर्शन करने चक्रपाणि ब्रह्मचारी जाते। उस वक्त मैं भी कभी साथ और कभी अलग अवश्य वहाँ पहुँचता। पास में खड़ी औरंगजेब की मस्जिद, उसके एक कोने में पुराने विश्वनाथ-मन्दिर के अवशेष, कितनी ही टूटी-फूटी मूर्तियों को देखकर इतना ही भर मुझे मालूम था कि मुसलमानों ने यह सब-कुछ किया।

ब्रह्मचारी वेदपाठी थे, पर उन्होंने अपने यजुर्वेद का कभी स्वर-सहित पूरा अध्ययन नहीं किया था। वेदपाठी की वह बहुत कदर किया करते थे। उस समय किसी भोज में जाने पर पुरुष-सूक्त का सस्वर पाठ ब्राह्मण मण्डली करने लगती। चाहे समझते हों या नहीं, पर सभी एक साथ मिलकर बोलने की कोशिश करते। वेदपाठियों

की आवाज सबसे ऊपर रहती। यार लोग पाठ का मजाक उड़ाते। पुरुष-सूक्त के पहिले ही मन्त्र को पढ़ते—'सहस्र सीर खा पूड़ी खा' में सीर (हलवा) खाओ, पूड़ी खाओ बतलाते 'सहस्र शीर्षा पुरुषः' न जाने कहाँ चला जाता। ब्रह्मचारी का आग्रह हुआ, मैं भी वेद पढ़ूँ। कई वेदपाठियों से उनका परिचय था। यजुर्वेद के कुछ सूक्तों के संग्रह 'रुद्राष्टाध्यायी' (रुद्री) को मैंने पढ़ा। फिर यजुर्वेद को पढ़ने के लिए वह एक गुजराती ब्रह्मचारी के पास ले गये। ब्रह्मचारी शीतलादास के अखाड़े के पास अस्सी के पुल के पार आचारी मन्दिर से सटी बगिया में रहते थे। उस समय की वाराणसी की बगिया भी अपना आकर्षण रखती थी। अस्सी नाले के पार कितनी ही छोटी बगियाँ थीं। चारों ओर चहारदीवारी घिरी होती। भीतर एक-दो पक्की कोठरियाँ और कुआँ रहता। कोठरियों में ब्रह्मचारी और संन्यासी रहा करते, जिनमें से अधिकांश मधूकरीवाले थे। दस-ग्यारह बजे अँगोछे की झोली बना दाल के लिए कोई बरतन ले वह क्षेत्रों में चले जाते और खाने-भर का भोजन माँग लाते। बाकी समय अपनी कुटिया में चाहे वार्तालाप करते, पढ़ते-पढ़ाते या और किसी तरह कालक्षेप करते। मैं अपने वैदिक गुरु के पास कई महीने तक पढ़ने गया था, पर यजुर्वेद समाप्त नहीं कर सका। वेदपाठियों को सारे अध्याय स्वर-सहित याद रखने होते, पर मुझे दो-चार सूक्त ही याद हुए।

चक्रपाणि ब्रह्मचारी अपने नर्मदेश्वर भगवान् की पूजा करने के बाद कृष्णा के पास जाते। अक्षत, चन्दन और पुष्प उसके सिर पर चढ़ाते, आरती उतारते 'ज्ञानं देहि, धनं देहि' आदि स्तोत्र पढ़ते कृष्णा की पाँच बार परिक्रमा करते, फिर उसके खुर पर पैर रखकर बड़ी श्रद्धा से प्रणाम करते। इस समय की पूजा देखकर आदमी यह माने बिना नहीं रहता कि ब्रह्मचारी अनन्य गोभक्त हैं। पर, ब्रह्मचारी ने कृष्णा को सिर्फ पूजा के लिए नहीं रखा था। हरियानावासी का दूध-दही के बिना काम नहीं चल सकता, इसीलिए चार-पाँच सेर दूध देनेवाली कृष्णा की वह इतनी सेवा करते थे। कृष्णा मरखही नहीं थी। कोई भी उसके पास जा सकता था, लेकिन कभी-कभी दूध दूहने के वक्त उसका मूड बिगड़ जाता, वह स्तन छुड़ाकर हट जाती थी। फिर ब्रह्मचारी का भक्त हृदय आपे से बाहर हो जाता। वह खूब जोर से दो-चार डण्डे लगाते। कृष्णा के शरीर पर काफी चर्बी थी, इसलिए हड्डी टूटने की जरूरत नहीं थी। कृष्णा गौ के दूध का शास्त्रों में बड़ा महातम है, और ब्रह्मचारी की धेनु खुर, पूँछ, मुँह, सींग सब जगह से काली थी।

जिनको हम इस समय शैव समझते हैं, वह वस्तुतः शैव नहीं थे। दर्शन और विचारों में शंकर के सिद्धान्तों को माननेवाले केवल भस्म और रुद्राक्ष के लिए वह शैव थे। वह विष्णु के विरोधी नहीं थे, पर विष्णु के शालिगराम या ठाकुरबाड़ी की पूजा का उनके यहाँ विशेष स्थान नहीं था। पहिले-पहिल चक्रपाणि ब्रह्मचारी मणिकर्णिका के पास के एक हवेली में रहनेवाले अपने एक परिचित ब्रह्मचारी के पास ले गये। वहाँ जयपुर के संगमर्मर की सुन्दर राम-जानकी की छोटी-छोटी मूर्तियाँ देखकर मुझे कुछ अचरज मालूम हुआ। इन मूर्तियों को देखकर मुझे पता लगा कि नर्मदेश्वर के साथ राम-जानकी की पूजा भी शंकर-मतानुयायी ब्रह्मचारियों में चलती थी। जितनी ही वह दोनों मूर्तियाँ सुन्दर थीं, उनके लिए उतना ही स्वादिष्ट और महँगा भोग लगाया जाता था, गाढ़े दूध को असली केसर से रँग दिया गया था। सभी चीजों में नफासत थी।

चक्रपाणि ब्रह्मचारी की गति जहाँ तक थी, वह वहाँ तक मुझे ले जाना चाहते थे, लेकिन मैं बहुत कम ही उनका साथ दे पाता था। विश्वनाथ के आस-पास के मुहल्लों में बहुत-से सम्भ्रान्त पंजाबी, हरियानी, मारवाड़ी, पश्चिमी उत्तरप्रदेश के जिलोंवाले भद्रपुरुषों के घर थे। कुछ बराबर के लिए आकर बस गये थे, और कुछ अन्तिम समय में काशीवास कर रहे थे। वहाँ के बहुत-से घरों से ब्रह्मचारी का परिचय था। जब जाते, तो बीस-पच्चीस सेर चावल, आटा, दाल, बड़ी पापड़, घी और दूसरी चीजें लाद लाते। उनको सीधे की कमी नहीं थी। यदि अपने परिचय का पूरा लाभ उठाना चाहते, तो रोज ही बीस सेर खाद्य लाकर रख सकते थे। पर, वह संतोषी थे। उतना ही लाते, जितने की उनके विद्यार्थियों, कृष्णा और अपने लिए आवश्यकता थी। सारे विद्यार्थी उन्हीं का दिया अन्न नहीं खाते थे। कोई बगीचे के क्षेत्र में खाने जाते और कोई बाहर। तरुणों की संख्या बगीचे में काफी थी। ब्रह्मचारी के पास रहनेवाले आधे दर्जन से अधिक विद्यार्थियों के अतिरिक्त हरेक कुटिया में एक-दो विद्यार्थी रहते थे।

उत्तर और पास की कुटिया में रहनेवाले वृद्ध दण्डी संन्यासी के पास मेरे मित्र बनमाली रहते। पासवाले पंजावी ब्रह्मचारी दुर्वासा के दूसरे अवतार माने जाते थे। उनके पास किसी विद्यार्थी की निभ नहीं सकती थी। वह हर बात में चक्रपाणि ब्रह्मचारी की नकल करते थे। कृष्णा जैसी गैया नहीं रख सकते थे, तो उन्होंने मुट्ठी-भर की रोहिणी गैया ला रक्खी थी। उसे खूब खिलाते-पिलाते थे। शायद वह कभी सेर-आध सेर दूध दे देती। उनकी कुटिया के बाद ऊँची हवेलियों की दीवारें आ जाती थीं। एक किसी नेपाल-निर्वासित राणा परिवार की थी, और दूसरी उदासियों के पंचायती अखाड़े की थी। उस तरफ दीवार के सहारे जो कुटिया थी, वह पंचायती अखाड़ा के पास के कुएँ और शिवालय से लगी हुई थी। वहाँ भी कुछ विद्यार्थी रहते थे, और सहारनपुर के एक वृद्ध कर्मनिष्ट ब्राह्मण काशीवास करते थे। उसके बाद फिर कोने तक कोई कुटिया नहीं थी। पश्चिमवाले दरवाजे या खिड़की–जिससे होकर कुरुक्षेत्र के घाट पर पहुँचा जा सकता था–के साथ फिर पश्चिम से दूसरे छोर तक क्षेत्रों की पाँती थी। पहिले गाजीपुर के सेठ का क्षेत्र था, जहाँ विद्यार्थियों को सूखा अन्न मिलता था। उसके बाद एक और क्षेत्र था, फिर पटियाला के राजगुरु-वंश का एक विद्यार्थी-संन्यासी मिश्रित क्षेत्र था, और अन्त में साधुओं का क्षेत्र आता था, जिसकी बगल में ही बगीचे का मुख्य दरवाजा था। दरवाजे के बाद ब्रह्मचारी मँगनीराम की दो कोठरियां और एक दालान तथा बाहर चबूतरेवाली पक्की इमारत थी। उसके बाद पूर्व-दक्षिण के कोने पर कुछ और कुटियाँ थीं। इन कुटियों में ब्रह्मचारी और दण्डी संन्यासी दो तरह के विरक्त पुरुष रहते थे। मोतीराम के बगीचे में शंकराचार्य के दण्डहीन गोसाईं साधुओं का कोई मान नहीं था। वह शूद्र की तरह जाति-बहिष्कृत माने जाते थे। वैसे पढ़ने के लिए उदासी, गरीबदासी, दशनामी कोई भी साधु वहाँ आ-जा सकते थे।

ब्रह्मचारी चक्रपाणि एक और पुण्य कार्य करते थे। मोतीराम के बगीचे से थोड़ी ही दूर पर दुर्गाजी का प्रसिद्ध मन्दिर है, जो वाराणसी में विश्वनाथ और अन्नपूर्णा के बाद सबसे पूजनीय माना जाता है। हर मंगल को शाम को दुर्गाजी के दर्शनार्थियों की इतनी भीड़ हो जाती कि वह एक छोटे-मोटे मेले का रूप ले लेती! मन्दिर के सामने एक मीठे जल का कुआँ था। ब्रह्मचारी एक विद्यार्थी के लिए अकेले मंगल की शाम को वहाँ पहुँच जाते और दर्शनार्थियों को कुएँ का ताजा ठण्डा जल पिलाते। अभी बर्फ का उतना प्रचार नहीं हुआ था, इसलिए कुएँ के ताजे या घड़े के ठण्डे पानी की बड़ी कदर थी। कृत्रिम रूप से ठंडा बनाने के लिए ओले के लड्डू उस वक्त मिला करते थे। ब्रह्मचारी का यह प्याऊ बेकार नहीं था, कितने ही लोग पैसे-दो-पैसे दे देते, जिससे ब्रह्मचारीजी को हर सप्ताह डेढ़-दो रुपये मिल जाते।

चक्रपाणि ब्रह्मचारी विद्वान् नहीं थे। दूसरों की सहायता करने में उन्हें आनन्द आता था। जिन विद्याओं का वह सम्मान करते थे, उनमें किसी को आगे बढ़ते देखकर प्रसन्न भी होते थे। मेरा घोर वैराग्य दो-ढाई साल से ज्यादा नहीं रहा, तब मैं अंग्रेजी को म्लेच्छ भाषा समझकर उसके पास भी फटकना नहीं चाहता था। बनारस में रहते ठण्डी-गरम हवा लगने लगी। मैंने वहाँ की एक से अधिक गर्मियाँ बर्दाश्त कीं। उत्तराखंड देखा था, और गर्मियों में भी वहाँ गर्मी के नितान्त अभाव को जानता था। पर, मैंने उसका दर्शन-भर किया था, मुझे वहाँ रहने की न आकांक्षा थी, और न आवश्यकता। शायद इसीलिए अभी वाराणसी की गर्मी असह्य नहीं मालूम हुई थी।

1913 या 1912 के क्वार के नवरात्र में मैंने दूधाहारी रहकर भगवती का पुरुश्चरण किया था। मोतीराम के बगीचे में 50-60 आदमी रहते थे, इसलिए वहाँ पर भगवती के साक्षात् दर्शन करने के लिए जो मैं महाप्रयास कर रहा था, वह जिज्ञासा का कारण बन सकता था। छोटे गूदर के छत के कोने पर मुखराम पंडित की एकान्त कोठरी इसके लिए अनुकूल थी, इसलिए वहीं मैंने अपना जप, पुरश्चरण शुरू किया। एक वक्त दूध पीता था, जिसे रोज चक्रपाणि ब्रह्मचारी पहुँचाया करते थे। उसी या अगले साल मैंने बनारस छोड़ दिया, और बिहार में वैरागी साधु बनने गया। इसके लिए चक्रपाणि ब्रह्मचारी को आश्चर्य तथा खेद होना ही चाहिए था, क्योंकि मैं वैदिक धर्म को छोड़कर पंथाई होने गया था।

1913 के बाद फिर मुझे ब्रह्मचारी चक्रपाणि के दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला। यद्यपि कई बार बनारस गया, लेकिन ऐसी जल्दी-जल्दी में कि मोतीराम के बगीचे में जाने की फुर्सत ही नहीं मिली। जब फुर्सत मिली, तो देखा, सेठ ने वहाँ के सारे आशियाने उजाड़ दिये।

9

ब्रह्मचारी मँगनीराम

उमरपुर के परमहंस बाबा और मोतीराम के बगीचे (वाराणसी) के ब्रह्मचारी मँगनीराम दो ही ऐसे सन्त पुरुष मिले, जिन्होंने मेरे ऊपर अधिक प्रभाव डाला, या यों कहिए कि जिनके प्रति मेरे हृदय में सम्मान पैदा हुआ। परमहंस बाबा उपदेश या मार्ग-प्रदर्शन नहीं करते थे, इसलिए उनके उपदेश से लाभ उठाने का अवसर नहीं था। ब्रह्मचारी मँगनीराम मौनव्रतधारी नहीं थे, कम बोलते थे, पर बोलने से उन्हें वैर नहीं था। 1910 से 1913 तक की काशी में मैंने देखा, विद्वान् मण्डली में ब्रह्मचारी मँगनीराम का सम्मान जितना था, उतना किसी का नहीं था। भाष्करानन्द अपने ढोंग से सिद्ध महापुरुष बन गये थे और भक्तों ने दुर्गाकुण्ड पर उनकी संगमरमर की समाधि भी खड़ी कर दी थी। पर, जो सचमुच महात्मा था, जिसमें सचमुच सरलता, मधुरता के साथ विद्या और आचरण इकट्ठा मिलते थे, वह ब्रह्मचारी मँगनीराम थे। पं. शिवकुमार शास्त्री उस समय वाराणसी और सारे भारत के संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् माने जाते थे। वह भी कितनी ही बार गुरुपूर्णिमा के दिन गुरु के तौर पर पूजने के लिए ब्रह्मचारी मँगनीराम के पास आये थे। काशी के बहुत-से वृद्ध पंडित थे, जो उन्हें गुरुवत् पूजते थे। जिनके गुरु नहीं थे, वह भी उस दिन ब्रह्मचारी मँगनीराम की पूजा के लिए फूलमाला लेकर आते। इसी से मालूम होगा कि अपने काल के लोगों में वह कितना प्रभाव रखते थे और उनके सम्पर्क से कितने लोगों के मन को शान्ति मिली होगी।

1910 में उनकी उम्र 70 के आसपास रही होगी, अर्थात् उनका जन्म 1850 ई. से पहिले ही हुआ होगा। उनका जन्म शायद पश्चिमी उत्तरप्रदेश या हरियाना में हुआ था। विद्या पढ़ने के लिए बनारस आये थे। उस समय विद्यार्थियों का जीवन अधिक कठोर था। रात को पढ़ने के लिए मँगनीराम को कभी पत्तियाँ जलाकर रोशनी करनी पड़ती थी। उन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया था। फिर वैराग्य और योग ने उन्हें अपनी ओर खींचा। वह न किसी गुरु के चेले बने और न नाम बदला। मँगनीराम पहिले ही जैसा उनका नाम रह गया, जिसके साथ ब्रह्मचारी लगा दिया गया। योग-ध्यान के लिए घंटों एक आसन से बैठना आवश्यक पड़ता है। योग की सिद्धि चाहे न मिले, पर बवासीर की सिद्धि ऐसे आदमी को जरूर हो जाती है। ब्रह्मचारी मँगनीराम को खूनी बवासीर थी, जिसके कारण वह सिर्फ दिन में एक बार जौ की रोटी और मूँग की दाल खाया करते थे। एक पंजाबी बुढ़िया माई ने उनसे वरदान ले लिया था। वह रोज अच्छी तरह पिसे जौ के आटे के दो-चार फुलके और कुछ मूँग की दाल उनके पास पहुँचा देती। उन्हें फलों में विशेष रुचि थी, यह भी नहीं मालूम और न दूध पीने का ही पता लगा। वह महीने-पन्द्रह दिन में सिर-दाढ़ी मुँड़ा लेते थे। सिर में छोटी-सी चुटिया रहती थी। बाल सारे सफेद रहते थे, शरीर दुबला-पतला, पर असमर्थ नहीं था। चेहरे पर एक तरह की शान्ति और सरलता दिखाई पड़ती थी, जिसे भक्त लोग आध्यात्मिक तेज कहते थे।

ब्रह्मचारी मँगनीराम के पास अधिक संस्कृत और उच्च रुचि रखनेवाले पण्डित भक्त ही आते थे। इसका यह मतलब नहीं कि साधारण जन से मिलने में वह किसी तरह का संकोच करते थे। शरीर पर उनके लँगोटी के ऊपर गेरुए का दो हाथ का गमछा कमर से बँधा रहता था। उनकी कुटिया पहिले से बनी थी, या उनके लिए खास तौर से बनाई गई थी, इसका मुझे पता नहीं; पर वह ईंट-चूने की काफी मजबूत दीवारों और पत्थर के पटियों की छतवाली थी। कुटिया ऊँचे चबूतरे पर थी। पीछे की ओर दो कोठरियों के बीच में दालान थी और सामने लम्बा चबूतरा, जिस पर ब्रह्मचारी मँगनीराम अक्सर टहलते मिलते। बुद्ध ने चंक्रमण (टहलने) को अनिवार्य बतलाया है। उनके लिए सारनाथ, जेतवन, कौशाम्बी या जहाँ-कहीं भी रहने की कुटियाँ बनी थीं, उनके साथ लम्बा चंक्रमण-स्थान जरूर होता था। बुद्ध अक्सर घंटों उस पर टहला करते थे। आसन बाँधकर घंटों बैठनेवाले आदमी के लिए चंक्रमण इसलिए आवश्यक माना जाता था कि वैसा न करने पर अनेक रोग हो जाते हैं। राधास्वामी साधकों के लिए बवासीर का होना आवश्यक लक्षण-सा हो गया है, इसका कारण यही

हैं कि वह शारीरिक व्यायाम का लाभ नहीं समझते। ब्रह्मचारी मँगनीराम ने यदि पहिले से ऐसा किया होता, तो उन्हें बवासीर का शिकार न होना पड़ता।

स्मरण-शक्ति भले ही अच्छी हो, किन्तु जहाँ तक घोखने और परिश्रम करने का सम्बन्ध है, उसमें मैं अपने को पिछड़ा मानता था। तो भी मोतीराम के बगीचे में मेरे पढ़ाकूपन की कुछ ख्याति जरूर थी, जो किसी तरह ब्रह्मचारी मँगनीराम के पास भी पहुँची। वह कभी-कभी मुझसे और कभी चक्रपाणि ब्रह्मचारी से मेरे बारे में पूछ लिया करते। ऐसा न भी होता, तो भी ब्रह्मचारी मँगनीराम की सौम्य मूर्ति को देखकर मेरे हृदय में एक मूक सम्मान का भाव पैदा हो गया था।

बहुत सालों बाद मोतीराम के बगीचे में जाने पर देखा, ब्रह्मचारी मँगनीराम की कुटिया को नींव तक उखाड़कर फेंक दिया गया है, उसका कहीं पता नहीं है। वहीं पर सेठ ने अपनी कीर्ति अमर करने के लिए अभिलेख सहित आधारशिला रखवा दी है। मैं नास्तिक हूँ, ईश्वर या धर्म पर मेरा विश्वाास नहीं है, किन्तु ऐसे आदमी के हृदय में भी अपनी संस्कृति और सांस्कृतिक निधियों के प्रति विशेष आदर होता है। मुझे इस कुटिया का तोड़ना वैसे ही मालूम हुआ, जैसे भव्य कलापूर्ण विश्वनाथ मन्दिर का औरंगजेब द्वारा तोड़ा जाना। ब्रह्मचारी मँगनीराम जीते-जागते देवता थे। उनके प्रति लोगों की ऐसी ही श्रद्धा थी। उनकी कुटिया की रक्षा तब तक होनी चाहिए थी, जब तक हिन्दू धर्म के प्रति लोगों का अनुराग है। लेकिन एक हिन्दू ही ने इस महापाप को किया। मँगनीराम ब्रह्मचारी को कीर्ति और यश की कोई इच्छा नहीं थी। असी मुहल्ले के वृद्ध पुरुष अब भी बतलाएँगे कि उनके दर्शन और सरल मधुर वचन से लोग उसी तरह आनन्द उठाते थे, जैसे निर्जन बयावान के सरोवर के स्वच्छ शीतल जल से सारे प्राणी। सेठ को क्यों ख्याल नहीं आया कि वह क्या कर रहा है ? आखिर सेठों के पैसे कोई मेहनत की कमाई के पैसे नहीं हैं। चाहे वह कला और सुरुचि से रहित कितनी ही ईंटे-पत्थर की बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी कर दें, पर आज से सौ वर्ष बाद उनका कोई नाम लेनेवाला नहीं रह जायगा। उनकी इस सस्ती और अनुचित रूप से अर्जित कीर्ति की भी वही हालत होगी, जो अंग्रेजों की कीर्ति की हमारे हाथों हो रही है।

मँगनीराम ब्रह्मचारी और परमहंस बाबा ने सांख्य दर्शन के पुरुष की तरह साक्षी रहकर ही मुझे प्रभावित किया था।

10

पं. रामावतार शर्मा

शर्माजी की प्रतिभा अद्‌भुत और रहन-सहन विचित्र थी। शायद 1912 की गर्मियों का दिन था। शर्माजी असी की पुरानी पक्की बावड़ी के दक्षिण-पूर्ववाले एक घर में सपरिवार ठहरे थे। उन्होंने दूसरे संस्कृत विद्यार्थियों की तरह ही संस्कृत पढ़ा था। काशी में पं. शिवकुमार शास्त्री के बाद सबसे बड़े विद्वान् गंगाधर शास्त्री उनके गुरु थे। शास्त्रों में निष्णात होने के साथ गंगाधर शास्त्री संस्कृत के कवि भी थे। पं. शिवकुमार शास्त्री के सार्वभौम महापंडित होने के पहिले उनके गुरु बालशास्त्री भारत के सबसे बड़े पंडित माने जाते थे। उनसे पहिले राजाराम शास्त्री पंडित चक्रवर्ती थे। काशी के पंडितों में पंजाबी, गौड़, सरयूपारी, मैथिल, बंगाली, उड़िया, दक्खिनी, महाराष्ट्री, गुजराती, पर्वतीय सभी तरह के पंडित थे। कौन सबसे बड़ा पंडित है, इसमें किसी की सिफारिश नहीं चलती थी। अपने आप वैसा कोई न कोई विद्वान् निकल आता था, जिसे सब लोग स्वीकार कर लेते थे। गुरु भी अपने और पराये वर्ग का भेद-भाव छोड़कर अपने सर्वश्रेष्ठ शिष्य की महानता को अभिमान के साथ स्वीकार करते थे। कुछ समय मैं उड़िया पंडित श्रीकर शास्त्री का विद्यार्थी रहा। उनके लिए उड़िया और सर्वरिया का कोई भेद नहीं था। पुराने पंडित अपने अच्छे विद्यार्थी को पुत्रवत् मानते थे। बाल शास्त्री ने इसकी

अवहेलना की, और अपने सबसे अधिक प्रतिभाशाली छात्र शिवकुमार शास्त्री को वंचित कर अपने दूसरे शिष्यों–गंगाधर शास्त्री आदि–को आगे बढ़ाना चाहा। पर केवल गुरु की कृपा से ही कोई वढ़ कैसे सकता था ? शिवकुमार शास्त्री ने अपना लोहा मनवा लिया। हाँ, गुरु के अनुकूल न होने का यह फल जरूर मिला कि वह सरकारी संस्कृत कालेज में अध्यापक नहीं बन सके, क्योंकि वहाँ वाले शास्त्री और उनके शिष्यों की चलती थी। पर, इससे शिवकुमार शास्त्री के न सत्कार में कमी आई, और न लाभ में। विद्यार्थी बिना भेद-भाव के किसी भी योग्य पंडित के शिष्य हो जाते थे, यह इसी से मालूम है कि रामावतार शर्मा सर्वरिया होते भी दक्षिणी गंगाधर शास्त्री के शिष्य थे।

पं. रामावतार शर्मा के काशी के विद्यार्थी-जीवन का अन्त पहिले हो चुका था। 'साहित्याचार्य' की उपाधि उस समय गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज से बहुत कम को मिलती थी। ज्यादा 'साहित्योपाध्याय' बनते थे। पं. रामावतार शर्मा यदि संस्कृत कालेज के प्रमुख पंडित गंगाधर शास्त्री के शिष्य न होते, तो शायद उन्हें भी आचार्य की जगह उपाध्याय ही बनना पड़ता। शर्माजी की पीढ़ी के पण्डित अपने शिष्यों से उनकी अद्भुत प्रतिभा और अद्वितीय कवित्व-शक्ति का बखान करते थे। यह बातें अपने गुरुओं से सुनकर हमारी पीढ़ी को भी मालूम हो गई थीं। साहित्याचार्य होने के बाद शर्माजी ने एम. ए. भी प्रथम श्रेणी में पास किया। उस समय यह अनहोनी बात थी। उन्हें सरकारी कालेज में प्रोफेसर की अच्छी जगह मिल गई। शायद वह पटना कालेज में उस समय पढ़ाते थे और गर्मियों की छुट्टियाँ बिताने यहाँ आये थे।

गर्मियों में शर्माजी बनारस क्यों आये ? दार्जिलिंग या नैनीताल उसके लिए अधिक उपयुक्त स्थान था। शर्माजी पक्के नास्तिक थे। ईश्वर, पुराण, वेद सबकी खुलकर निन्दा करते थे। 'परमार्थ-दर्शन' के नाम से उन्होंने अनीश्वरवाद पर संस्कृत सूत्रों में ग्रन्थ लिखा था। ऐसे नास्तिक को काशी और गंगा का कोई आकर्षण नहीं हो सकता था। काशी के लँगड़ा आम की बड़ी ख्याति है। मैं देखता था, शर्माजी टोकरी की टोकरी लँगड़ा खरीदकर घर के भीतर भेजते थे। शायद उस वक्त उनकी दोनों पत्नियाँ मौजूद और उनके साथ थीं। दूसरे विद्यार्थियों की तरह मैं भी इस नास्तिक महापण्डित के दर्शनों नहीं, सत्संग के लिए जाता। मकान के निचले भाग में एक मामूली-सा कमरा बैठक के रूप में परिणत हो गया था। वहीं फर्श पर शर्माजी बैठते। उनका दरबार खुला हुआ था, कोई भी आकर वहाँ बैठ सकता और प्रश्नोत्तर कर सकता था। मैं जब-जब गया, तब-तब उन्हें किसी की शंका का समाधान करते या किसी विषय पर बोलते देखा। पौराणिक गप्पों के खंडन में उन्होंने उससे भी बड़ी गप्पें स्वामी मुद्गरानन्द के नाम से अपने 'मुद्गरदूत' काव्य में रच रक्खी थीं। 'मुद्गरदूत' छपा या नहीं, यह मुझे मालूम नहीं, पर उसके श्लोकों को शर्माजी के मुख से मैंने उस समय सुने थे। एक श्लोक में था–स्वामी मुद्गरानन्द के छींकने पर बड़े-बड़े हाथी निकल आये थे। पुराणों की गप्पों का इस छोटा संस्करण मानने के लिए उनके श्रोता मजबूर हो जाते थे। असी में रहनेवाले एक तरुण वैरागी साधु काव्यतीर्थ थे। उस समय वैरागियों में पण्डित भूले-भटके ही कहीं देखे जाते थे। वह भी शर्माजी के सत्संग में जाते। एक दिन कहने लगे–भाई, तुम साधु लोग कैसे संयम कर सकते हो, जबकि मैं छह दिन के बुखार और उपवास के बाद अपने को संयम करने में असमर्थ पाता हूँ।

शर्माजी की रहन-सहन विचित्र था। वह धोती-अँगोछा बगल में दबाये खाली एक धोती पहने अपने दो-तीन वर्ष के बालक को कन्धे पर रखे गंगा-स्नान करने जा रहे थे। जिज्ञासु तरुणों की कमी नहीं थी। एक जगह सड़क के किनारे वह उसी तरह खड़े उनसे बातें करते रहे। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ा और मेरे सामने विद्वत्ता का एक आदर्श भी खड़ा हो गया, पर उस समय मेरे विचारों में कोई खास परिवर्तन आया हो, इसका मुझे पता नहीं।

उस समय क्या पता था कि शर्माजी से बहुत घनिष्ठ होने का मुझे अवसर मिलेगा। शर्माजी का घर छपरा शहर में था। 1913 में वैरागी साधु बनकर मैं छपरा का बन गया और उनके छपरावाले घर में भी गया। पर, शर्माजी अधिकतर पटना में रहते थे। पीछे कुछ साल हिन्दू विश्वविद्यालय में भी आचार्य रहे। शर्माजी लीक पर चलनेवाले नहीं थे, लेकिन जहाँ तक सामाजिक रूढ़ियों का सम्बन्ध था, उन्हें तोड़ने का उनमें साहस नहीं

था या इच्छा नहीं थी। आक्सफोर्ड या केम्ब्रिज में प्रोफेसर का स्थान देने की बात हुई, तो समुद्र-यात्रा करने पर बिरादरीवाले छाँट देंगे, इसलिए वह वहाँ नहीं गये। ब्याह-शादी, खान-पान में भी वह सरयूपारियों के शिष्टाचार को मानते थे; पर सबकी कसर विचार-स्वातंत्र्य में निकाल लेते थे। मकानों के बनाने का भी उनको शौक था और उसका नक्शा खुद तैयार करते थे। जब मौज आई, तो जमीन खरीदी और दीवार चुनवाने लग गये। पर, प्रायः सभी कम-से-कम तीन—मकान उनके कभी पूरे नहीं हो सके। छपरा में दो हाथ ऊँचा चबूतरा और नींव-भर तैयार होकर रह गई। बनारस में नींव के साथ शायद एक कोठरी तैयार हो पाई थी, जो पीछे खरीदार के हाथों पूरी हो विद्यापीठ सड़क पर आज भी मौजूद है। अपने पटनावाले घर को उन्होंने अधूरा ही छोड़ा था। उसी में कुछ कोठरियाँ तैयार करके रहते थे। किसी समय सनक सवार हुई कि गंगा में वास किया जाय और वह एक नाव पर कोठरियाँ बनवाने लगे। मालूम नहीं, वह नाव कभी रहने लायक हुई या नहीं। हिन्दू यूनिवर्सिटी में जिस समय वह आचार्य थे, उस समय उन्हें कितनी ही बार ढीली-ढाली धोती पहने धूप में हैट लगाये जाते देखा जाता था। संस्कृत के पण्डित उन्हें अंग्रेजी के बाबू नहीं मानते थे, बल्कि अपने गोत्र का सम्माननीय व्यक्ति समझते थे। उनके उग्र सामाजिक-धार्मिक विचारों के लिए रोष प्रकट करते भी मैंने किसी को नहीं देखा था।

असहयोग के जमाने में 1921 से 1926 तक मुझे उनसे मिलने के अनेक अवसर मिले। कई बार बनारस की तरह के नहीं, बल्कि सुपरिचित की तरह उनसे बात करने का भी मौका मिलता। मेरे बारे में उन्होंने कुछ मित्रों से बढ़ा-चढ़ाकर बातें सुन ली थीं। एक बार कहने लगे—'क्या राजनीति में पड़े हो। आओ, कोश में काम करो।' पं. रामावतार शर्मा ने रूस में छपे संस्कृत के महान् कोश (पिट्सवर्ग लेक्सिकन) को देखकर चाहा, उसी तरह का और उससे भी अधिक पूर्ण एक कोश बनाया जाया। उन्होंने उसमें हाथ भी लगा दिया था; पर किसी काम को एकान्त मन से लगकर पूरा कर डालना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था, इसीलिए यह कोश पूरा नहीं हो सका।

डॉ. जायसवाल और पं. रामावतार शर्मा घनिष्ठ मित्र थे, वही बात दोनों की पत्नियों के बारे में भी थी। दोनों महाविद्वानों की मित्रता का समय मैं नहीं देख सका था। जब मैं जायसवाल के परिवार का एक व्यक्ति बन गया, तब शर्माजी इस दुनिया में नहीं रह गये थे। उनकी पत्नी अक्सर जायसवाल-पत्नी से मिलने आया करती थीं। अष्टम् एडवर्ड ने जब तलाक की हुई औरत पर मुग्ध होकर अपनी गद्दी छोड़ दी, तो वह बहुतों की चर्चा का विषय बन गया था। शर्माजी की पत्नी एडवर्ड की दाद देती थीं। जायसवाल-पत्नी कहती थीं—"देखिए, पंडिताइन को क्या हो गया है ?"

शर्माजी चाहते थे कि मैं उनके साथ बराबर नहीं, तो कुछ समय जरूर काम करूँ। मेरी भी इच्छा ऐसे विद्वान् की छत्र-छाया से लाभ उठाने की थी। पर 1921 से 1926 के साल मेरे लिए ऐसे थे, जब कि एक पैर बाहर और एक पैर जेल में रहता था। बाहर रहने पर छपरा के कोने-कोने में घूमकर कांग्रेस का काम करता था और सारी पंडिताई से देश की स्वतंत्रता मुझे अधिक मूल्यवान् मालूम होती थी। 1926 के बाद 1933 तक मेरा समय प्रायः भारत से बाहर बीता। 1933 के बाद जाड़ों के चार-पाँच महीने पटना में बीतते थे। उस समय शर्माजी नहीं रह गये थे। इस प्रकार मुझे उस अद्भुत पण्डित की आराधना मूक रहकर दूर से ही करनी पड़ी थी, पर उन्होंने विद्वत्ता का ऊँचा रूप मेरे सामने रक्खा था, जिसके लिए मैं सदा अपने को उनका ऋणी मानता हूँ।*

---

* महामहोपाध्याय पं. रामावतार शर्मा का (जन्म 1870 ई.) देहान्त 3 अप्रैल, 1929 को हुआ। जीवित रहते समय उनके 'संस्कृतकोश' को जहाँ-तहाँ से सुना था। 21 जुलाई (1937 ई.) को उनके घर पर गया। उनके दिवंगत हुए आठ वर्ष हो गए थे। पर उनकी यह मुख्य कृति ऐसी ही पड़ी रही। कोश का कलेवर छह हजार श्लोकों में समाप्त था। उन्होंने कोश की कविताओं को समाप्त करते हुए लिखा था :

श्रीदेवनारायणशर्मणः श्रीगोविन्ददेव्याश्च महामहिम्नोः,
प्रणम्य पित्रोश्चरणाम्बुजात आचार्य-गंगाधरशास्त्रिणश्च।
रामेण सारगभवोद्भवेन काश्यां यदारम्भि महाभिधानम्,
समार्पितं तत् किल विश्वविद्यासर्वस्वमेतत् कुसुमाख्यपुर्याम्॥

11
महन्त लछुमनदास

घुमक्कड़ी की दीक्षा देनेवाले मेरे गुरु दूसरे थे। पर साधुभेस घुमक्कड़ी में हमारे देश में सहस्राब्दियों से सहायक रहा है, और मुझे इस भेस को देनेवाले महन्त लछुमनदास थे। वह अपना हस्ताक्षर इसी तरह किया करते थे। तत्सम से तद्भव शब्द उन्हें अधिक प्रिय थे, यह उसके कारण नहीं था, क्योंकि वह इस भेद का कोई ज्ञान नहीं रखते थे। 1912 का शायद अगस्त का महीना था, जब महन्तजी बनारस में आकर छोटे गूदर अखाड़े में उतरे। मैं देख नहीं पाया था किन्तु परसा के मुख्य मन्दिर का सुन्दर कारुकार्य किये हुए लकड़ी के खम्भों और टोड़ियों का जगमोहन (सभामण्डप) शायद 19वीं सदी के आरम्भ में माधवपुर के उपधिया ने बनवाया था। महन्तजी को मकानों के बनवाने की सनक थी। वह लकड़ी की जगह पत्थर का जगमोहन खड़ा करना चाहते थे। पाँच हजार का अन्दाजा लगाते, तो उस पर पन्द्रह हजार जरूर खर्च करना पड़ता। वही बात उस जगमोहन के बारे में भी हुई। जगमोहन के पत्थरों और मिस्त्रियों का इन्तिजाम करने वह बनारस आये थे। छोटे गूदर से परसा का पहिले से सम्बन्ध चला आया था, इसलिए वह वहाँ उतरे।

महन्तजी ने हाल ही में एक बहुत बड़ा मुकदमा जीता था, जिसे हारने पर उनकी हालत बहुत बुरी होती, इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने कई चेले बनाये थे और हर एक के लिए चेला बनाते इतना अनुराग दिखाते कि जान पड़ता, उसी को महन्ती देंगे। पहिले गंगोत्री की तरफ के पण्डे से एक पहाड़ी लड़के को मँगाकर शिष्य किया। पीछे नये शिष्य रामउदारदास के प्रति उनका स्नेह इतना बढ़ गया कि आगे गद्दी के लिए झगड़ा न हो, इसलिए उन्होंने महन्ती का दस्तावेज लिख दिया। परसा प्राचीन सामन्ती संस्थान है। अंग्रेजों के आरम्भिक शासन और उससे पहिले इसे एक राज्य ही माना जाता था। यहाँ के एकसरिया भूमिहार जमींदार खानदान में बहुत ऊँचे माने जाते थे। इन्हीं के भाईबन्द जिले के और दो-तीन स्थानों पर बड़ी-बड़ी जमींदारियों के मालिक थे। घर फूँककर तापनेवाली भी सन्तानें हो जाती हैं, इसलिए जमींदारी जैसी अटल सम्पत्ति भी अक्सर नष्ट हो जाती थी। पर, श्रेष्ठ कुल होने से कभी कोई वरासत (तर्का) मिल जाती, और सूखा बगीचा फिर लहलहाने लगता। अंग्रेजों के पहिले जबर्दस्त समर्थक और आज कांग्रेस के कृपापात्र तथा उसकी ओर से पंजाब के राज्यपाल (भूतपूर्व) श्री चन्द्रेश्वप्रसाद नारायण सिंह के पिता बाबू सरयूप्रसाद नारायण सिंह परसा ही के रहनेवाले थे। वे जमींदारी बिक जाने से बड़ी आर्थिक कठिनाई में जीवन बिता रहे थे। पर उनके लड़कों में से हरेक को कहीं-न-कहीं का तर्का मिल गया और वह अगली श्रेणी में चले आये। परसा के बाबुओं में दो ही तीन घर सम्पन्न थे, जिनमें उस समय बाबू सरयूप्रसाद का नाम नहीं लिया जा सकता था।

परसा के मठ के दाताओं में परसा बाबुओं का मुख्य स्थान था। गाँव में रहने के कारण हर पूजा या दूसरे अवसर पर बाबू लोग अपना समझकर मठ की सहायता करते थे। महन्तजी ने यदि पहिले ही बाबुओं से सलाह ले ली होती, तो शायद झगड़े की नौबत नहीं आती। लेकिन, जिस समय ब्रह्मा बुद्धि बाँटते थे, उस समय पहुँचने में महन्तजी ने देर कर दी थी। एक करेला दूसरे नीम चढ़ा—की कहावत के अनुसार इसी बुद्धि-वैभव के ऊपर वह अपने को बड़ा समझदार समझते थे। अपने स्वभावानुसार वह पहिले इन्कार करते, फटकारते, पर पीछे वही काम करते, जो उनके मुसाहिब कहते। मुसाहिब गढ़ (परसा के बाबुओं के स्थान) में भी जाकर इधर की उधर लगाते। महन्तजी ने रामउदारदास को महन्ती का दस्तावेज लिख दिया। एक बात को चार करके गढ़ में सुनानेवाले मौजूद थे। बाबुओं के लिए मूँछों का सवाल खड़ा हो गया।

अदालत और सरकार की बात पीछे आई। पहिले ही बाबू लोगों ने सैकड़ों लठधरों को बुलाकर मठ को चारों ओर से घिरवा दिया। यदि मठ-मन्दिर न होता, तो शायद वह आग लगवा देते। महन्तजी का बाहर आना-जाना बन्द हो गया। परसा में बाबुओं का इतना रोब था कि उनके खिलाफ महन्तजी की सहायता करने के लिए कोई तैयार नहीं था। महन्तजी के पीढ़ियों के खिदमतदार भी उन्हें छोड़कर चले गये। दीवानी में पहाड़ी

शिष्य के नाम से मुकदमा दायर हो गया—बड़ा शिष्य होने के कारण गद्दी का हकदार मैं हूँ। कितने ही दिनों तक मुकदमाबाजी होने के बाद महन्तजी की जीत हुई। लेकिन, जीत होने से पहिले ही रामउदारदास इस दुनिया से चल बसे थे। इस जीत को महन्तजी बड़े अभिमान की बात समझते थे, इसमें आश्चर्य करने की जरूरत नहीं थी। छोटे गूदर में अक्सर वह उस सफलता का जिक्र श्रोताओं से करते। श्रोताओं में उस समय के लँगड़े महन्त रामकिशनदास, पण्डित रामकुमारदास और दो-चार दूसरे साधु थे। जबानी कहने का प्रभाव उतना नहीं पड़ता था, इसलिए महन्तजी ने डिग्री के कागज को पढ़वाने की जरूरत समझी। अन्धों में काना राजा मैं वहाँ मौजूद था। शायद पं. रामकुमारदास ने मेरा नाम ले दिया। मैं छोटे गूदर में पं. मुखराम पांडे के यहाँ रोज ही जाता था। एक दिन मुझे वहाँ बुलवाया गया। मैंने अभी सातवें दर्जे में नाम लिखाया था, कुछ ही महीने पढ़ाई की थी, इसलिए अंग्रेजी ज्ञान, तेरह-बाईस ही था और वह कानूनी दस्तावेज था। पर जब मेरे सामने कागज चला आया, तो हार मानना मैंने स्वीकार नहीं किया और काम लायक कितनी ही बातों का अनुवाद करके उन्हें बतला दिया। श्रोतृमण्डली में किसी को अंग्रेजी का ज्ञान नहीं था। महन्तजी पर ऐसे अंग्रेजी के पण्डित तरुण का बहुत प्रभाव पड़ा। जिसको महन्त बनाना चाहा था, वह अब जीवित नहीं था। उनके चेलों की संख्या काफी थी, पर अब वह दूसरे योग्य तरुण की खोज में थे, जिसका जिक्र उन्होंने बड़े गूदर के अपने परिचितों से किया। मैं रुद्राक्ष-त्रिपुण्डधारी कट्टर शैव के रूप में वहाँ रहता था, इसलिए उन्हें मुझसे कुछ कहने में हिचकिचाहट हो सकती थी। पर, पं. रामकुमारदास से मेरी अधिक घनिष्ठता थी। उन्होंने थाह लेना चाहा। मेरे सामने वह बिल्कुल नया सवाल था। यदि धार्मिक साम्प्रदायिकता का अधिक जोर होता, तो मैं इसे तुरन्त ठुकरा देता। लेकिन, जान पड़ता है, भीतर से तो मैं असाम्प्रदायिक घुमक्कड़ी का कायल था, इसलिए बाहरी भेस उसमें बाधक नहीं हो सकता था। निर्णय करने में मुझे दो-चार दिन जरूर लगे; पर महन्तजी के प्रस्थान करने से पहिले ही मैंने अपनी सहमति दे दी।

वर्षा का अन्त हो चुका था, जबकि पहिले निश्चय के अनुसार मैं बनारस से छपरा गया। महन्तजी कुछ दिन पहिले ही चले आये थे। छपरा से उनके साथ मैं परसा पहुँचा और बहुत दिन नहीं लगा, अपने मृत शिष्य के नाम पर मुझे भी रामउदारदास कह महन्तजी ने चेला बना लिया। महन्तजी में कोई विद्वत्ता नहीं है, इसका पता मुझे बनारस ही में लग गया था, और विद्वत्ता के आकर्षण से मैं आया भी नहीं था। मुझे पढ़ने की बड़ी इच्छा थी, और पं. रामकुमारदास ने बतलाया कि परसा में पढ़ने की हर तरह की सुविधा मिलेगी। उस समय के वैरागियों और विद्या का सम्बन्ध छत्तीस का था। महन्तजी का स्वभाव जरूर कोमल था। बनारस में मेरी रहन-सहन देख चुके थे, जो एक नागरिक जैसी थी। किसी बात की तकलीफ न हो, इसका वह पूरा ध्यान रखते थे।

कमसमझी के कारण ही उनके स्वभाव में हल्कापन भी था। कोई प्रतिकूल बात यदि कोई कह देता, तो बारूद में आग लग जाती। अक्सर वह लकड़ी की छोटी चौकी पर बिछे कम्बल पर बैठते थे। लोग उनकी इस क्रुद्धावस्था को 'चौकी तोड़ना' कहते थे। वह बैठे ही बैठे उस पर कूदने-उछलने लगते थे, और मुँह ही नहीं, उनका रोम-रोम चलता। गाली नहीं देते थे, पर वैरागी हिन्दी में जोर-जोर से सब कुछ बक जाते थे—"तुम अस्थान को बराबाद करना चाहता है।" लोग जानते थे कि महामाई कुछ ही मिनटों तक महन्तजी के सिर पर सवार होती हैं, इसलिए चुप लगा जाते थे। शान्त हो जाने पर, फिर अपनी बात पर वह जिद नहीं करते, और दूसरे की बात को स्वीकार कर लेते थे।

बुद्धि की कमी के साथ उनका तर्क को तुच्छ मानना स्वाभाविक ही था। परसा में बीस-पच्चीस एकड़ धान के खेतों में अपनी ओर से खेती कराई जाती थी। मैंने हिसाब लगाकर दिखलाया कि इसमें उतनी भी आमदनी नहीं होती जितना कि बीज, मेहनत आदि के रूप में इसमें खर्च हो रहा है। पर, वह उसको मानने के लिए तैयार नहीं थे। अपने खेत के कटे धान के गंज को देखकर वह खर्च को भूल जाते थे। किसी-किसी समय नेपाल के बने मेघाडम्बर छत्ते के नीचे खड़े हो खेत और खेती का परिदर्शन करके कृतकृत्य होते। परसा मठ की जमींदारी की आमदनी 1200 रुपये से कम ही थी। इसके साथ सौ एकड़ जमीन में जिरात (निजी

खेती) भी हुआ करती थी। आमदनी का इतना ही साधन नहीं था। परसा का मठ शायद औरंगजेब के शासनकाल के अन्त या 18वीं सदी के पूर्वार्द्ध में किसी समय स्थापित हुआ था। इसके संस्थापक बाबा परसादीराम बड़े सिद्ध माने जाते थे। उनके गृहस्थ शिष्य छपरा, बलिया आदि कई जिलों में थे। पहिले परसा के महन्त अपने शिष्यों के पास हर साल जाया करते थे, और हरेक शिष्य गुरु के आने पर कुछ-न-कुछ पूजा, अधिक सम्पन्न व्यक्ति सोने की गिन्नी भी चढ़ाता था। महन्त लछुमनदास के गुरु महन्त रघुवरदास के समय से ही इस चारिका (रामत) में कमी आ गई थी। महन्त होने से पहिले लछुमनदास बराबर देशाटन करते रहे, मद्रास और हैदराबाद की तरफ के तीर्थों में तो उनका 'पग-पग जोहा' था। पर महन्त होने के बाद, कम-से-कम इस समय, वह रामत को छोड़ चुके थे। कभी-कभी किसी जमींदारी के गाँव में जाते या किसी भोज-भण्डारे में उपस्थित होने की मजबूरी के समय चेलों के गाँव में जाते। उन्हें जो भी पूजा के रुपये मिलते, उनकी गिन्नियाँ भुनवा लेते। ये सभी गिन्नियाँ एक सन्दूकची में रक्खी जातीं, जिसे वह कहीं भी जाते वक्त अपने ठाकुरजी की तरह साथ रखते। 15-20 वर्षों में उस सन्दूकड़ी में 15-20 हजार की गिन्नियाँ जरूर जमा हो गई थीं। किसी बैंक में रख देते, तो वह सुरक्षित रहतीं। लेकिन, शायद बैंक का नाम उन्होंने सुना नहीं था, या सुनने पर भी उसे वह सुरक्षित नहीं मानते थे। आखिर एक दिन चोर ने सन्दूकड़ी साफ कर दी। महन्तजी को अपने एक मुँहलग्गू नौकर पर सन्देह था, जिसका फल उस बेचारे को भोगना पड़ा, उसे नौकरी से निकाल दिया गया। प्रथम विश्वयुद्ध से पहिले जमींदारों के साधारण नौकरों की तनखा 10-12 रुपया साल होती थी। उन्हें खाने को अनाज अलग से मिल जाता था, और जब-तब कुछ इनाम भी। ऐसे, नौकरों को अधिकतर जमींदारी के किसानों की लूट-खसूट पर भरोसा रखना पड़ता था।

किसी तरह घरवालों को परसा में जाकर मेरे साधू होने का पता लग गया। पिता तथा फूफाजी कह-सुनकर महन्तजी को राजी करते मुझे अपने साथ घर ले गये, जहाँ से मैं फिर भागकर परसा चला आया। परसा में आये प्रायः नौ-दस महीने हो गये। मैंने देखा, वहाँ पढ़ाई कुछ भी नहीं हो सकती। कोई ऐसा पंडित नहीं था, जो मुझे संस्कृत में आगे के ग्रंथ पढ़ाता। छपरा में जाकर पढ़ सकता था, लेकिन महन्तजी चाहते थे, मैं उनके साथ रहूँ, या जमींदारी के गाँवों में जाकर उनका काम देखूँ। बनारस के मिस्तरी लोग अब पत्थर का जगमोहन बनाने में लग गये थे। बनारस के होने के कारण हममें अधिक आत्मीयता थी। पुस्तकों से पढ़ाई का जो भी अवसर मिलता, उससे मैं नहीं चूकता था। यहाँ आकर मैंने 'सरस्वती' मँगानी शुरू की, जिसका पारायण नियमपूर्वक करता। लेकिन, इतने से संतोष कैसे हो सकता था ? अध्ययन और घुमक्कड़ी मेरे लिए अत्यन्त प्रिय वस्तुएँ थीं। 1913 के जून या जुलाई महीने में परसा से भाग खड़ा हुआ। जगन्नाथ, रामेश्वर, अहमदाबाद तक भ्रमण करके महन्तजी के जरूरी तार को पाकर 1914 के आरम्भ के महीनों में परसा लौट आया।

महन्तजी की बुद्धिमानी के बारे में कह चुका हूँ। वह बिना विचार काम कर बैठते, फिर पछताते थे। अपने एक विरोधी भतीजा-शिष्य रामलखनदास को उन्होंने अपने शाखा-मठ का महन्त होने के लिए भेज दिया। चाहते थे, वह नाममात्र का महन्त बना रहे और वहाँ के धन को हमें देता रहे, कम-से-कम पहिले की पूँजी को तो अवश्य ही अर्पित करे। अब उसे बाकायदा गद्दी दी जानेवाली थी। रामलखनदास महन्त के हाथ में कठपुतली नहीं बनेंगे, यह निश्चय ही था। इसी समस्या को सुलझाने के लिए मुझे तार देकर बुलाया गया था। मैं परसा से चुपचाप निकल भागा था और बिना पैसा-कौड़ी के ही जगन्नाथ का दर्शन करके मद्रास पहुँच गया था। पीछे चिट्ठी-पत्री लिखने लगा। महन्तजी यात्रा के लिए बराबर तार से मनीआर्डर भेज दिया करते थे। आठ-नौ महीने के सहवास से उन्हें विश्वास हो गया था कि मुझमें कार्य करने की क्षमता हैं। मैं भी महन्तजी के साथ डोरीगंज में महन्त रामलखनदास की गद्दी के समय पहुँचा। रामलखनदास ने अपने मठ के भक्तों को भी समझा दिया था कि मठ के रुपये को दे देने पर स्थान कमजोर हो जायगा। सभी पहिले महन्त के जमा किये हुए रुपये को महन्त लछुमनदास के हाथ में जाने के विरोधी हो गये थे। बातें मालूम होने पर वहाँ भी उन्होंने चौकी तोड़ने का अभिनय किया, लेकिन उससे कुछ फल नहीं हुआ। महन्त रामलखनदास को गद्दी देनी

ही पड़ी। मैं भी यही पसन्द करता था, उस मठ का रुपया ईंटा-गारे में बरबाद होने के लिए परसा न आये। रुपया बहुत ज्यादा नहीं, शायद हजार-बारह सौ या उससे भी कम था।

परसा में आकर फिर वही पुराना चरखा मेरे सामने रक्खा गया। महन्तजी जैसे व्यक्ति से जमींदारी के प्रबन्ध की क्या आशा हो सकती थी ? वह पूरे समदर्शी थे। ईमानदार और बेईमान, दिल लगाकर काम करनेवाला और बातफरोश सभी को एक लाटी से हाँकते थे। जमींदारी में वसूल किये रुपये को कर्मचारी उड़ा जाते, महन्तजी का पत्थर का जगमोहन ही नहीं, दूसरे काम भी कर्ज पर चलते थे। जमींदारी के दो गाँव–बहरौली और जानकीनगर–सोलहों आने मठ के थे। बहरौली कई टोलों का बहुत बड़ा गाँव था। जमींदारी का इन्तिजाम ठीक करने के लिए मुझे इन गाँवों में जाने की जरूरत पड़ी। लोगों को यह मालूम होते देर नहीं लगी कि भावी महन्त को धोखा नहीं दिया जा सकता, बूढ़े महन्त का भी इसके ऊपर पूरा विश्वास है। यह नौकरों के लिए खटकनेवाली बात थी। पर, मैं जब कुछ ठीक-ठाक करता, तो महन्तजी उसकी लीपा-पोती कर डालते। जिसको दण्ड या जुर्माना मैं देता, वह परसा पहुँचकर महन्तजी के सामने गिड़गिड़ाता और सिफारिशी चिट्ठी लिखवा लाता। जानकीनगर में किसी आदमी की गलती पकड़कर मैंने उसको दण्ड दिया। महन्तजी ने उसे माफ करके मुझे समझाना शुरू किया। यह मेरे बर्दाश्त के बाहर की बात थी। मैं काम छोड़-छाड़कर परसा चला आया। महन्तजी जानते ही थे कि यह फिर किसी तरफ भागेगा, इसलिए सावधानी रखने के लिए अपने लोगों को आदेश दिया, पर मैं एक पिंजड़े से इसलिए थोड़े ही निकला था कि दूसरे पिंजड़े में बँधूँ।

महन्तजी का दोष यही था कि वह बातों को समझ नहीं पाते थे और कान के कच्चे भी थे। पर, जहाँ तक मेरा वैयक्तिक सम्बन्ध था, उसमें शिकायत की कोई गुंजाइश नहीं थी। मेरे खाने-पीने, कपड़े-लत्ते, नौकर-चाकर सब बात का पूरी तौर से ध्यान रखते। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ा लाभ जो मुझे हुआ, वह था उनकी तीर्थ-यात्राओं को सुनना। बचपन में नाना के मुँह से जैसी पर्यटन की कथाएँ मैंने सुनी थीं, उसी तरह की कथाएँ मेरे गुरु सुनाया करते थे। इन कथाओं ने पिछली नौ महीने की यात्रा में मेरी बड़ी सहायता की थी। उन्होंने बतलाया कि दक्षिण में सिर्फ रामेश्वर का ही एकमात्र धाम नहीं है, बल्कि वहाँ सैकड़ों अच्छे-अच्छे तीर्थ हैं। भाषा की क्या दिक्कत होती है, इसका भी उनसे पता लग गया था, और यह भी कि दक्षिण में वैरागियों के स्थान नहीं के बराबर हैं। वैरागियों के हरेक रीति-रवाज, बोली-वाणी, कायदा-कानून की शिक्षा उन्होंने महीनों दी थी। वैरागी वैष्णव-सम्प्रदाय के अलिखित इतिहास की बहुत-सी बातें भी उन्हें याद थीं। इसमें शक नहीं, घुमक्कड़ी के रास्ते में मुझे मजबूत करने के लिए उनकी ये बातें बड़ी काम की सिद्ध हुईं। जब मैं उनसे दूर चला जाता, तो उनके सीधे-सादे स्वभाव और विश्वास के प्रति करुणा भी उमड़ आती। 1914 के सावन-भादों में परसा से फिर भागा और तीन वर्षों के लिए। पहिले तीन महीने अयोध्या रहते समय शायद मैंने एकाध चिट्ठी लिखी थी। उसके बाद पत्र लिखना भी छोड़ दिया।

आर्य-समाज के सम्पर्क में आ, 1915 में मैं आर्यसमाजी उपदेशक बनने की तैयारी करने लगा। यद्यपि आर्यसमाजी होने के कारण सम्प्रदाय के तौर पर अब मेरा सम्बन्ध परसा से नहीं रह गया था, लेकिन घुमक्कड़ के तौर पर मैं उस सम्बन्ध से इन्कार नहीं कर सकता था, विशेषकर महन्तजी कभी-कभी जरूर याद आ जाते थे। 1917 के अन्त में मैं बुंदेलखंड के कालपी शहर में आर्यसमाजी उपदेशक बनाने के लिए एक विद्यालय खोलकर बैठ गया। विद्यालय के लिए स्वामी ब्रह्मानन्दजी के पुत्रों–पन्नालालजी और श्यामलालजी–ने आर्थिक सहायता दी थी। ब्रह्मानन्दजी से कभी जिक्र चल पड़ा। उन्होंने भी कहा, जरूर चिट्ठी लिखो। इसमें मेरे लिए आकर्षण था वरदराज का पता पाना। मेरे चिट्ठी लिखने पर महन्तजी का तार पहुँचा–"सर्वे हो रहा है, मठ की जमींदारी को बहुत नुकसान हो जायगा, यदि वहाँ न आये।" जमींदारी और मठ से अब मेरा क्या सम्बन्ध था ? पर उसे बिगड़ते देखना मुझे पसन्द नहीं आया। सोच-समझकर अन्त में मैं परसा पहुँचा। सचमुच ही अन्धाधुन्ध मची हुई थी। महन्तजी को कागज-पत्र का कुछ पता नहीं था। सब धान बाईस पसेरी होने के कारण हितैषियों और हानिकर्ताओं में वह फर्क नहीं कर सकते थे। सर्वे के समय जिसने जिस खेत या जमीन पर दावा कर दिया, और पैसा ले अमीनों ने नाम दर्ज कर दिया, वह उसका हो गया। महन्तजी ने जो नौकर

रक्खे थे, वह असामियों से रुपया ऐंठनें में लगे हुए थे। कागज के जंगल को देखते वक्त पहिले मेरी भी अक्कल चकरा गई। लेकिन, जब उसमें घुस पड़ा, तो बातें साफ मालूम होने लगीं। महन्तजी के आदमी ने एक तरफ तो जिनका हक नहीं है, उनसे रुपया लेकर उनके दावों का समर्थन किया था, और दूसरी ओर जिस पर मठ का हक नहीं है, उस पर इस ख्याल से दावा कर दिया था कि कुछ मिल जाय, तो छोड़ देंगे। वहरौली में इस तरह के सैकड़ों तनाजे पड़े हुए थे। अच्छी तरह समझ-बूझकर मठ की ओर से झूटे दावों को मैंने उठा लिया। इसके कारण सर्वे-अफसर पर मेरा बहुत प्रभाव पड़ा। काम को जैसे मैंने सँभाल दिया, उसके कारण महन्तजी को बहुत सन्तोष हुआ।

बड़े-बड़े मठों के महन्त अपने रहन-सहन में सामन्तों का अनुसरण करते थे। उनके यहाँ भी हाथी-घोड़े होते थे। उनका भी 3-4 बजे से शाम तक दरबार लगता था, जिसमें मुसाहिब लोग तरह-तरह की चर्चा करते थे। पोशाक में भी महन्तजी गर्मियों में बारीक सूती कपड़े की धोती और चौबन्दी पहनते। भोजपुरी प्रदेश में चौबन्दी नहीं, मिर्जई का रवाज था, लेकिन परसा मठ के महन्त और दूसरे चौबन्दी पहनते थे, जो कि नेपाली चौबन्दी की तरह की होती थी। इस विचित्रता की ओर कुछ ध्यान तो गया, पर मैंने इसके इतिहास के जानने की कोशिश नहीं की। जाड़ों में महन्तजी बहुत कोमल सफेद ऊनी फलालेन की चौबन्दी बनवाते और मेरे लिए भी वह उसी तरह की बनती थी। कई साल बाद जब कि परसा लौटकर गया, तो मेरे विचार कई बातों में बदले हुए थे। देशभक्ति का अंकुर हृदय में जम गया था, स्वदेशी कपड़ा पहनता था। मैंने जब विदेशी फलालेन की चौबन्दी बनवाने से इन्कार कर खद्दर की चौबन्दी बनवाई, तो महन्तजी कहने लगे–"ऐसा करने से मेरी बदनामी होगी। लोग कहेंगे, महन्तजी कंजूस हैं।" पर मुझ पर इसका क्यों असर होने लगा ? उनकी खातिर के लिए मैंने देशी ऊनी कपड़ा पसन्द किया।

अब महन्तजी का बार-बार आग्रह होने लगा कि महन्ती की लिखा-पढ़ी हो जाय। मुझे महन्तजी ज्योतिषियों की बातों का हवाला देकर कहने लगे, अब मेरी जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं है। मैंने उन्हें स्पष्ट कह दिया कि मैं महन्त बनने के लिए तैयार नहीं हूँ, आप वरदराज को महन्त बना दें, वह इसके योग्य हैं। खैर, मैं किसी तरह परसा से निकलने में सफल हुआ।

अगले साल फिर जानकी नगर में सर्वे का झगड़ा उठा। मैं शास्त्री परीक्षा की तैयारी के लिए अयोध्या में आया हुआ था। परसा चिट्ठी लिखना मैंने बिल्कुल बन्द कर दिया था, लेकिन अयोध्या में अपने वैरागी साधुता का लाभ उठाकर जिस मठ में मैं ठहरा हुआ था, वहाँ से किसी ने महन्तजी को पत्र लिख दिया। सबके आग्रह और मठ की सम्पत्ति बिगड़ने न देने का ख्याल कर मैं फिर कुछ महीने के लिए परसा चला गया। काम हो जाने के बाद अबके जाल को तोड़कर निकल भागने में कुछ दिक्कत भी हुई। पर, अब महन्तजी को यह निश्चय हो गया कि मैं उनकी गद्दी नहीं लूँगा। मैंने भी अब पुराने सम्बन्ध को बिल्कुल तोड़ दिया।

असहयोग की आँधी आई। देश में सब जगह स्वतन्त्रता-आन्दोलन की बाढ़ आ गई। मुझे भी अपने विद्यार्थी और घुमक्कड़ी जीवन को छोड़कर कहीं पर काम करने की धुन सवार हुई। कौन-से स्थान पर काम करूँ, इसके बारे में सोचते हुए मेरा ध्यान छपरा की ओर गया। पिछले आठ वर्षों में घूमते हुए मुझे दो-चार ऐसे स्थान मिले, जिनके साथ मेरा अधिक सम्पर्क था। अपने जिले आजमगढ़ में जाने का सवाल ही नहीं हो सकता था। बुन्देलखण्ड के कालपी या कोंच में मेरे बहुत-से मित्र थे। सुदूर दक्षिण कुर्ग में, जहाँ छह महीने से रह रहा था, भी परिचितों की कमी नहीं थी। पर, सबसे उपयुक्त स्थान मुझे छपरा ही लगा और 1921 के भादों की कृष्ण-जन्माष्टमी के दो-चार दिन पहिले मैं परसा पहुँचा। छपरा आने से पहिले ही निश्चय कर चुका था कि मुझे राजनीतिक कार्य शहर से नहीं, बल्कि गाँव से शुरू करना है और उसके लिए उपयुक्त स्थान परसा है। दो-चार दिन परसा में बिताये। महन्तजी से शिष्टाचार के नाते ही मिला, घनिष्ठता पैदा करने की कोई आकांक्षा नहीं थी। उन्होंने अब अपने भतीजे को चेला बना उत्तराधिकारी चुना था, इसलिए मुझे कहने-सुनने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ी। हाँ, यह उचित नहीं मालूम होता था कि वरदराज या वीरराघवदास जैसे अधिक योग्य शिष्यों को उपेक्षित किया जाय–वरदराज परसा में बहुत कम ही रहते थे। उस समय वह आसाम में

कहीं पर थे, लेकिन वीररघुवरदास अब भी वहाँ मौजूद थे और उन्हें महन्त बनाने की बात कहकर चेला बनाया गया था। मैं अंग्रेजों के खिलाफ व्याख्यान देता हूँ, कांग्रेस का काम कर रहा हूँ, इसके बारे में महन्तजी अपना सत्परामर्श अवश्य देते : अंग्रेजों की जड़ ऐसी कमजोर नहीं है। सन् 57 में उनके खिलाफ कुँवरसिंह ने तूफान खड़ा किया था, किन्तु कुछ नहीं कर पाये। जब तक अपनी तपस्या को पूरी तौर से भोग नहीं लेंगे, तब तक अंग्रेज नहीं जायेंगे। महन्त जैसे आदमी अगर ऐसा कहें, तो वह आश्चर्य की बात नहीं थी, जबकि उस समय के हमारे देश के बड़े-बड़े राजनीतिक भी गाँधीजी के आन्दोलन को चट्टान से सिर टकराना बतलाते थे।

महन्तजी के दादा-गुरु महन्त रामचरणदास बहुत बूढ़े होकर मरे थे। कोई-कोई कहते थे, मरने के समय वह सौ वर्ष के हो चुके थे, उनके मुँह में नये दाँत निकल आये थे। पहिले वह ईस्ट इंडिया कम्पनी के पल्टन में सिपाही थे। फिर 1857 के कई वर्ष पहिले नौकरी छोड़कर वैरागी बन परसा के तत्कालीन महन्त रामसेवकदास के चेले हो गये। जब विद्रोह शुरू हुआ, तो उन्होंने परसा के कसेरों को बुलाकर तोप ढालने को कहा, और स्वतन्त्रता-युद्ध में कूदना चाहा। परसा के बाबू घबराये। उन्होंने बहुत हाथ-पैर जोड़े और कहा–'अंग्रेज तोप लगाकर हमारे घर-परिवार को उड़ा देंगे।' खैर, महन्त रामचरणदास ने उनकी बात मान ली और तोप ढलने नहीं पाई। उनके शिष्य महन्त रघुवरदास गद्दी पर कई सालों तक रहे, लेकिन उन्होंने अपने गुरु और उत्तराधिकारी जैसा दीर्घ जीवन नहीं पाया था। 1913-14 में महन्त लछुमनदास की उमर 60 से कम नहीं थी। चलते वक्त कमर झुका लेने पर देर तक वह वैसे ही चल पाते थे। दाँत टूटे और बाल अधिकतर सफेद हो गये थे, पर और तरह से वार्धक्य का कोई लक्षण नहीं मालूम होता था। शरीर पर कहीं झुर्रियाँ नहीं थीं। स्थूल न होने पर भी देह में काफी चर्बी थी। वह बीमार बहुत कम होते थे। उसके बाद 37-38 वर्ष तक जीये, अर्थात् उन्होंने अपने दादा-गुरु जैसा ही दीर्घ जीवन पाया।

हिसाब-किताब के बारे में सोचना या भविष्य के संकट का ख्याल करना वह जानते ही नहीं थे। आमदनी से अधिक खर्च करना उनके स्वभाव में था। उनका कहना ठीक था कि मैं फजूलखर्ची नहीं करता। पर, फजूलखर्ची बुरे काम में खर्च करने को ही नहीं कहते। 'तेते पाँव पसारिये, जेती लाम्बी सौर' के नियम का उल्लंघन करनेवाला भी फजूलखर्च है। पत्थर के जगमोहन की अभी कोई आवश्यकता नहीं थी। लकड़ी का सुन्दर कारुकार्य किया जगमोहन कला और दृढ़ता दोनों की दृष्टि से अधिक उपयुक्त था। पर, महन्तजी को उतने ही से संतोष नहीं हुआ। उनके गुरु के समय से चली आती पक्की इमारतों में पश्चिमी मठिया में राममन्दिर, चरणपादुका तथा एक और इमारत थी। उन्होंने संकल्प कर लिया कि मिट्टी और खपड़ैल की कोई इमारत रहने नहीं पायेगी, इसी के अनुसार उन्होंने काम भी किया। पश्चिमी मठ के मुख्य प्रांगण की बाकी तीनों तरफ की इमारतें भी पक्की बनवा दीं। बाहर भी कोठे और पक्की हवेली तैयार थी। परसा में यह कर लेने के बाद अयोध्या में भी उन्होंने अपनी कीर्ति स्थायी करने के लिए एक पक्का मठ बनवाया और उसमें कुछ जमींदारी लगा दी। 1914 में ही मैं नैया को डूबती देख रहा था, जब कि रुपया सैकड़ा सूद पर लिये 75-80 हजार के कर्ज में जमींदारी की आधी से अधिक आमदनी सूद के रूप में चली जा रही थी। लेकिन मेरी भविष्यवाणी गलत साबित हुई। महन्तजी अपने ही रास्ते चलते गये। कुछ जमींदारी बिकी जरूर, लेकिन जमींदारी के उठ जाने के बाद अब भी उससे काफी आमदनी है, जिस पर कर्जदारों का दावा भी कम नहीं है।

घुमक्कड़ी और साधुओं के जीवन के सम्बन्ध में महन्त लछुमनदास का मेरे ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। उन्हीं से मैंने अनुभव किया कि हमारे देश में घुमक्कड़ी और साधुपन एक-दूसरे के पूरक और सहायक रहे हैं, अब भी उनमें बैर नहीं है।

12
स्वामी हरिप्रपन्नाचारी

तिरुमिशी, जिला चिंगलपेठ, तमिलनाडु) में 1913 की बरसात के किसी दिन सवेरे का दस बज चुका था, जबकि मुझे प्रस्थान करते देख उन्होंने बड़े मधुर शब्दों में कहा—"दोपहर का प्रसाद पाकर जाओ।" शायद उन्होंने संस्कृत में ही यह बात कही थी, यद्यपि बलिया में जन्म होने के कारण भोजपुरी में भी वह मुझसे बोल सकते थे। परसा से भागने के बाद मैं अब दक्षिण के तीर्थों की यात्रा कर रहा था। अपने गुरु महन्त लछुमनदास से मुझे मालूम हो चुका था कि दक्षिण में बहुत-से बड़े-बड़े तीर्थ हैं, जिन्हें वहाँ दिव्यदेश कहा जाता है। तीर्थों से मतलब वैष्णव या रामानुजाई तीर्थों से था। मद्रास तक मैं करीब-करीब रेल के डब्बे में बन्द होकर गया। मेरे कृपालु बाढ़ के वकील, मित्र अब भी उसी तरह रामेश्वर और द्वारिका तक की यात्रा करा देना चाहते थे, पर मेरा घुमक्कड़ मन इसके लिए राजी नहीं हुआ। मद्रास में साथ छोड़ देखा, यहाँ हिन्दी से काम नहीं चल सकता। अंग्रेजी टूटी-फूटी मैं बोल सकता था, और उसके ही सहारे मद्रास से बाहर चला। दिव्यदेशों में संस्कृत का अधिक उपयोग हो सकता है, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। जिन जगहों में भी गया, मैंने देखा, वहाँ के प्रायः अधिकांश ब्राह्मण संस्कृत समझ लेते, टूटी-फूटी बोल भी सकते हैं। जो अधिक पढ़े हुए थे, हमारे उत्तर के पण्डितों से अधिक शुद्धता के साथ अप्रयास संस्कृत बोल सकते थे। तिरुमिशी (तिरुमलिशै) दिव्यदेश वैष्णवों के बारह आलवारों (महासन्तों) में से एक (भक्तिसार) का जन्मस्थान होने के कारण बहुत ऊँचा स्थान रखता है। पर, उस समय मैं ऊँचे स्थानों के ख्याल से वहाँ नहीं गया था। मद्रास में सबसे नजदीक जिस दिव्यदेश का पता लगा, पहिले वहाँ गया। इसे बाद नजदीकवाले एक के बाद दूसरे दिव्यदेश सामने आते गये।

उस दिन 'पच्च-पेरुमाल' दिव्यदेश से सबेरे ही उठकर मैं तिरुमिशी पहुँचा था। दो-तीन दिव्यदेशों में उत्तर भारतीय आचारी साधु और साधुनियाँ भी मिली थीं, जिनसे बहुत-सी बातों का पता लगा था। मुझे मालूम था कि तिरुमिशी में हरिप्रपन्न स्वामी ने उत्तरार्धी मठ स्थापित किया है। दिव्यदेशों के ब्राह्मण उत्तर के ब्राह्मणों को शूद्र से बेहतर नहीं समझते थे। न उन्हें वह अपने बर्तन में पानी देते और न अपने घर में आने देते। जहाँ उत्तरार्धी साधु थे, वहाँ अधिक आसानी थी, इसलिए मैं उन्हीं के यहाँ ठहरता था। मेरे पास सामान ही क्या था—दो-तीन किताबें, लँगोटी-अँगोछा, दो धोतियाँ, शायद कोई एक हल्का-सा आसन और लोटा था। अपना डंड-कमंडल उत्तरार्धी मठ में रखा। कमलवनवाले पक्के सरोवर में स्नान कर मन्दिर में दर्शन कर मैं अपना डंड-कमंडल लेकर चलने के लिए तैयार था, जबकि हरिप्रपन्न स्वामी ने 'प्रसाद पा' कर जाने के लिए कहा था। हरिप्रपन्न स्वामी आधी लघुकौमुदी तक पढ़े हुए थे, लेकिन उन्हें इधर आकर पहिले संस्कत से ही सहायता लेनी पड़ी थी, इसलिए उसे बोल लेते थे। उनकी संस्कृत सुनकर मुझ पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, पर उनकी सरल और सौहार्दपूर्ण वाणी का प्रभाव जरूर पड़ा, और मैं प्रसाद पाने के लिए रुक गया। उस समय क्या मालूम था कि अब मैं कई महीनों के लिए यहाँ रुक गया हूँ।

स्नेह और संकोच का बन्धन बहुत कड़ा होता है। ऐसा ही बन्धन वहाँ मेरे सामने उपस्थित हुआ। हरिप्रपन्न स्वामी बलिया जिले के ब्राह्मण घर में पैदा हुए थे। जवानी उन्हें उड़ाकर घर से बाहर ले गई। ऐसे उड़ते पत्तों को जो भी पकड़ ले, वह उसी के हो जाते हैं। वृन्दावन में आचारी साधुओं से उनका सम्पर्क हुआ, वहीं वह आचारी बन गये। वैरागी और आचारी दोनों के मूल गुरु रामानुजाचार्य हैं। पर आचारी वैरागियों को अछूत-सा मानते हैं—कम-से-कम उस समय तो ऐसा ही था। रामानन्द ने रामानुजी आचारियों के छूत-छात की कठोरता को कम कर दिया था, जब कि आचारी दक्षिण के अपने बन्धुओं की तरह ही किसी की आँख पड़े भोजन को भ्रष्ट समझते थे। उत्तर में आचारियों की संख्या नाममात्र है। वृन्दावन में मुर्शिदाबाद के जगत्सेठ के उत्तराधिकारी ने जैन धर्म छोड़कर वैष्णव धर्म अपनाया और लाखों रुपया लगाकर दक्षिण के वैष्णव दिव्यदेशों के नमूने पर श्रीरंग का मन्दिर बनवाया। इसी मन्दिर और वृन्दावन तीर्थ के कारण उत्तर में आचारी सम्प्रदाय

के बढ़ने में सहायता मिली।

हरिप्रपन्न स्वामी पढ़ना-लिखना छोड़ दक्षिण के दिव्यदेशों की महिमा सुन उधर भाग खड़े हुए। दिव्यदेशों की यात्रा करते उत्तर के मुट्ठी-भर आचारियों में कोई-कोई वहीं रह गये। उत्तर में जहाँ गृहत्यागी साधु का मान ज्यादा है, वहाँ दक्षिण में गृहस्थ ब्राह्मण सारा मान अपने हाथ में रखना चाहते हैं। उत्तर से आये इन विरक्त आचारियों के साथ उनकी कोई सहानुभूति नहीं थी, पर इन्होंने अपने लिए रास्ता निकाल लिया था। मूर्तियों को अलंकृत करने, उनकी शोभा-यात्रा निकालने आदि की परम्परा दक्षिण में हिन्दू-काल से अविच्छिन्न चली आती है। इसलिए उनमें उत्तर की अपेक्षा अधिक कला और सुरुचि देखी जाती है। यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि इसके कारण वहाँ की मूर्तिकला और चित्रकला भ्रष्ट होने से बच गई। उत्तर से आये विरक्त आचारियों ने इन दिव्यदेशों के भगवानों के लिए कमल, गुलाब और दूसरे फूल जमा करके, देना 'पुष्प कैंकर्य' शुरू किया। ब्राह्मणों पर चाहे इसका प्रभाव न पड़े किन्तु भक्तों में भारी संख्या अ-ब्राह्मणों की थी। वह उनकी लगन को देखकर प्रभावित हुए और उन्होंने उनकी जीविका के लिए कुछ देना शुरू किया। इस प्रकार प्रायः हर दिव्यदेश में उत्तरार्धियों के छोटे-मोटे अड्डे कायम हो गये। हरिप्रपन्न स्वामी दक्षिण में 'पुष्प-कैंकर्य' शुरू करनेवाले पहिले लोगों में थे। कुछ दिनों बाद तमिल भाषा पर उनका असाधारण अधिकार हो गया, फिर भक्त से घनिष्टता पैदा करना आसान हो गया। इस समय उत्तर से जानेवाले आचारियों में वह सबसे अधिक धनाढ्य थे। उनकी आमदनी के स्रोत वही अ-ब्राह्मण भक्त थे, जो उत्सव-त्यौहारों पर तिरुमिशी आते और हरिप्रपन्न स्वामी उनका उदारतापूर्वक आतिथ्य किया करते।

शायद पहिले कुछ महीनों या सालों तक उन्हें यात्रियों के लिए बंधान किये दध्योदन, खिचड़ी आदि पर गुजारा करना पड़ा। परिचय बढ़ने के साथ आमदनी बढ़ने लगी। उत्तर के सेठों की तरह सौ या हजार देनेवाले दाता उनको नहीं मिले, लेकिन बूँद-बूँद करके समुद्र भर जाता है। चार आना, आठ आना, रुपया मिलते-मिलते उनकी मासिक आमदनी डेढ़-सौ तक पहुँच गई। परिक्रमा में ही ब्राह्मणों के घरों के बीच उन्होंने अपने दो पक्के मकान बनवा लिये थे। तालाब के किनारे मन्दिर के बिल्कुल सामने कई एकड़ का एक बगीचा तैयार कर लिया, जिसमें बारहों महीने गुलाब फूला करते थे। वहाँ गुलाब के अलावा कुछ आम के भी पेड़ थे। बीच में एक पक्का मण्डप था, जिसमें दिव्यदेश के इष्टदेव साल में एक-दो बार नियमपूर्वक वनभोज के लिए आते और सारा खर्च हरिप्रपन्न स्वामी उठाते। खर्च घाटे का सवाल नहीं था, क्योंकि हर भोज के लिए उन्हें भक्तजन सारी सामग्री जुटा देते। गुलाब की बड़ी-बड़ी मालाएँ बनाकर पहिले वह स्वयं मन्दिर में ले जाकर पुजारी को शृंगार करने के लिए देते। लेकिन, अब उन्हें अपने हाथ माला बनाने की आवश्यकता नहीं थी। कोई न कोई भक्त आ ही जाता था। उसके खाने-रहने का प्रबन्ध हरिप्रपन्न स्वामी करते। हरिप्रपन्न स्वामी तिरुमिशी के धनाढ्य पुरुषों में थे। ब्राह्मण इस 'काशी शूद्र' के वैभव को देखकर जलते थे, पर उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकते थे। अपने देश का अनुभव होने के कारण हरिप्रपन्न स्वामी अ-ब्राह्मणों के प्रति अधिक उदार थे, मीठी बोली का वशीकरण मन्त्र तो उनके पास था ही।

उनकी ही तरह और भी उत्तर के कितने ही तरुण तीर्थयात्री कभी-कभी इधर पहुँच जाते थे। रीवाँ और फैजाबाद के दो तरुणों—हरिनारायण और देवराज को उन्होंने अपना शिष्य बना लिया था। हरिनारायण कुछ समझदार, पर विद्या से कोरे थे। देवराज भक्त किन्तु मिट्टी की मूरत थे। 50 वर्ष के हरिप्रपन्न स्वामी को अपने मठ के लिए किसी उत्तराधिकारी की आवश्यकता थी। उनकी दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी। पहिले दिन प्रसाद पाने के बाद उन्होंने कुछ दिन और रहने के लिए कहा। पढ़ानेवाले पण्डित वहाँ थे, इसलिए मेरी पढ़ाई चल सकती थी, यह ख्याल करके मैं ठहर गया। वहाँ के गाँवों के ब्राह्मणों का भी जीवन अधिक शिक्षित और संस्कृत नागरिक का-सा था, इसका मुझे पता लगा। मैं संस्कृत पाठशाला में दाखिल हो गया। कई समवयस्क सहपाठी मिले, जिनमें भक्ति (पीछे टी. वेंकटाचार्य), रंगा और श्रीनिवास से आत्मीयता बहुत बढ़ी। भाषा की कोई कठिनाई नहीं थी। हम सभी संस्कृत बोलते थे। उत्तर में संस्कृत की पढ़ाई में दो ही चार पाठ्य-पुस्तकें होती थीं। यहाँ तरुण संस्कृत नाटकों, काव्यों, चम्पुओं को उसी तरह पढ़ते थे, जैसे हमारे यहाँ हिन्दी उपन्यासों को। मित्रों

के साथ मैंने कितने ही काव्य-ग्रन्थ पढ़े। अध्ययन, मित्रमण्डली, वनयात्राओं तथा वनभोजों ने धीरे-धीरे मुझे तिरुमिशी से बाँध दिया और हरिप्रपन्न स्वामी को रहने के लिए अधिक आग्रह करने की जरूरत नहीं पड़ी। एक-दो हफ्ते बाद घुमा-फिराकर उन्होंने स्थान के भविष्य की चिन्ता बतलाई और फिर प्रस्ताव किया कि मैं इस स्थान का हो जाऊँ। स्थान का वैभव मुझे आकृष्ट नहीं कर सकता था। तिरुमिशी पहुँचने के दो-तीन सप्ताह बाद ही मैंने परसा चिट्ठी लिखी, और गुरुजी ने 25-30 रुपया तार से भेजते हुए लिखा, "जब-जब रुपयों की जरूरत हो, लिखना, सभी दिव्यदेशों की यात्रा जरूर करना।" संकोच के मारे मैं हरिप्रपन्न स्वामी के सामने इन्कार करने में असमर्थ रहा। शायद इसी बीच पं. भागवताचार्य भी आ गये। अन्त में मैं रामानुजी साधु बन गया। वासुदेव मन्त्र के साथ फिर दोनों बाहुमूलों में शंख-चक्र दागा गया। मुझे डर लगा, परसा के महन्तजी की तरह कहीं यहाँ भी मांस तक को न जलाया जाय, पर आचारी बड़े कोमल हाथों से चक्रांकन करते हैं। वह जानते हैं कि हल्की-सी रेखा बन जाने पर भी विष्णु के दूतों की तेज आँखें गलती नहीं कर सकतीं, और पुरुष को मृत्यु के समय यह जरूर वैकुण्ठ ले जाएँगे। अभी तक मैं चौके-चूल्हे से बाहर रहकर ही भोजन करता था। चौके-चूल्हे में जाने और पंक्ति में खाने का अधिकार ब्राह्मण-पुत्र को ही था। चाहे बात पर विश्वास भी हो, पर मण्डली तो तब तक नहीं स्वीकार कर सकती, जब तक कि इसका कोई प्रमाणपत्र न हो। ब्राह्मण होने का प्रमाणपत्र घर या सम्बन्धियों से मैं नहीं मँगा सकता था, क्योंकि फिर आफत में पड़ने का डर था। इस कठिनाई को यागेश ने हल कर दिया। उन्होंने इसके बारे में एक चिट्ठी लिख दी। अब मैं दामोदराचारी बनकर उत्तरार्धी मठ में रहने लगा।

तीन-चार महीने बाद तिरुपति-बालाजी का महोत्सव आया। आने-जानेवाले यात्रियों से सुनकर मैंने भी वहाँ जाने की इच्छा प्रकट की। हरिप्रपन्न स्वामी को उसमें कोई आपत्ति नहीं थी। लेकिन एक बार जब (1913 के अन्त में) तिरुमिशी से निकला, तो आचारी धर्म से घुमक्कड़ी धर्म ने अपने को ज्यादा मजबूत सिद्ध किया, और वर्षों तक फिर हरिप्रपन्न स्वामी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

सात वर्ष बाद (1920 ई. में) मुझे फिर तिरुमिशी याद आई। इन सात वर्षों में मैं केवल जगह-जगह की खाक ही नहीं छानता रहा, बल्कि साल के आठ महीने पढ़ने में लगता था। उत्तर में घूमते वक्त मैंने देखा, यहाँ वेदान्त की पढ़ाई उतनी सुव्यवस्थित रीति से नहीं होती, जितनी दक्षिण में। मुझे वेदान्त और मीमांसा पढ़ने की इच्छा थी, जिनके कुछ प्रकरण ग्रन्थों तक ही मैं पढ़ पाया था। लाहौर से हरद्वार, वाराणसी, फिर बौद्धों के चार मुख्य तीर्थों का दर्शन करते, जगन्नाथ के रास्ते तिरुपति पहुँचा। तिरुपति में अब एक अच्छी संस्कृत पाठशाला खुल गई थी, जिसमें दक्षिण के सबसे बड़े पण्डित वृद्ध देशिकाचार्य पढ़ाते थे। नदिया में मच्छरों ने श्री कामाख्यानाथ तर्कवागेश के चरणों में बैठकर न्याय पढ़ने नहीं दिया, यद्यपि तर्कवागेशजी ने बड़े स्नेह के साथ मुझे शिष्य के तौर पर स्वीकार किया था। उसकी कसर मैं यहाँ निकालना चाहता था। देशिकाचार्य उस समय वहाँ नहीं थे। विद्यालय के प्रबन्धाधिकारी ने बड़ी खुशी से छात्रवृत्ति देने तथा रहने के लिए कहा। छात्रवृत्ति की भी जरूरत नहीं थी, क्योंकि वहाँ तिरुपति का धन-वैभव-सम्पन्न वैरागी मठ मौजूद था। यहीं रहने का निश्चय करके मैं पहाड़ पर बालाजी चला गया।

बालाजी में प्रथम यात्रा के मेरे परिचित पंडित रघुवरदास मिले, जो छपरा के रहनेवाले थे। उनसे मुझे ज्यादा सहृदयता की आशा थी, पर उनके व्यवहार से मालूम हुआ, मैं यदि यहाँ रहना चाहूँगा, तो वह एक म्यान में दो तलवारवाली बात होगी। उनको दुःख देकर मुझे वहाँ रहना पसन्द नहीं आया। पहाड़ से उतर सीधे मैं स्टेशन पर गया। उत्तर से दक्षिण को प्रयाण करते समय मैंने अपने आने की सूचना हरिप्रपन्न स्वामी को भेज दी थी, अब वहाँ के लिए डोरी लगी।

तिरुमिशी पहुँचने पर हरिप्रपन्न स्वामी ने दिल खोलकर स्वागत किया। यह जानकर मुझे और निश्चिन्तता हुई कि उनको बिजनौर का एक तरुण शिष्य मिल गया है, जिसे वह अपना उत्तराधिकारी बनाने का निश्चय कर चुके हैं। स्वामीजी ने मेरे लिए एक अच्छा कमरा दे दिया। मेरे पुराने मित्र भक्तिसार (टी. वेंकटाचार्य) 'मीमांसा-शिरोमणि' हो गये थे, इसलिए मीमांसा के लिए और जगह जाने की आवश्यकता नहीं थी। उनके पिता

श्रीनिवासाचार्य वेदान्त पढ़ाने के लिए तैयार थे, जो रामानुजाचार्य से अविच्छिन्न परम्परा से इस शास्त्र के पढ़े हुए थे।

मेरे राजनीतिक विचार बहुत उग्र हो चुके थे। तीन वर्ष पहिले रूस में बोल्शेविक क्रान्ति और समता के शासन की उड़ती-पुड़ती खबरें सुनकर मैं मार्क्सवाद के किसी भी ग्रन्थ को पढ़े बिना ही अपने को साम्यवादी समझता था और साम्यवादी क्रान्ति को अवश्यम्भावी मानता था। मैंने उसकी बातें हरिप्रपन्न स्वामी को बतलाईं। उन्हें मालूम होने लगा, मानो कल ही भारत में भी बोल्शेविक-क्रान्ति होनेवाली है और उनकी मेहनत से कमाई लाख-पौन लाख की सम्पत्ति हाथ से निकल जायेगी। पिछले सात वर्षों में हरिप्रपन्न स्वामी ने अपने दोनों मकानों को अधिक विस्तृत, पक्का और दोमंजिला बनवा लिया था। मठ में छोटा-सा मन्दिर भी बन गया था जिसकी मूर्ति को सोने के कवच का संस्कार मेरे सामने ही हुआ। दो-तीन गाँवों में उन्होंने धान के काफी खेत खरीद लिए थे, जिनसे अधिया में उनके पास इतना धान आ जाता था, जो मठ के आदमियों और उत्सव-पूजा में खर्च होने पर भी समाप्त नहीं होता था। हर साल ही वह पाँच-दस हजार की सम्पत्ति खरीदते थे।

मैं आर्यसमाजी विचारों को यहाँ नहीं प्रकट करता था, लेकिन सामाजिक और राजनीतिक उग्र विचारों के कहने से बाज नहीं आता था। मेरी पढ़ाई खूब अच्छी तरह से चल रही थी। हरिप्रपन्न स्वामी के कारण और बातों से मैं निश्चिन्त था।

कुछ ही महीनों बाद हरिप्रपन्न स्वामी का मन अपने तरुण शिष्य से फिर गया। उससे कोई दोष हुआ, इसका मुझे पता नहीं। 17-18 वर्ष का लड़का था। हिन्दी के साथ कुछ संस्कृत भी पढ़ा था और बुद्धि ऐसी थी कि और भी पढ़ सकता था। फिर उससे मन क्यों फिरा ? शायद इसका कारण मैं था। आयु के साथ ज्ञान में भी सात साल बाद मैं अधिक ऊँचा हो गया था। हरिप्रपन्न स्वामी ने समझा, ऐसे पण्डित को उत्तराधिकारी बनायें, तो यह हमारा नाम भी करेगा और मठ की भी उन्नति होगी। तीन-चार महीने बाद उत्तराधिकारी होने का सवाल मेरे सामने आया। शायद उससे पहिले पंक्ति में सम्मिलित करने का प्रस्ताव पेश हुआ। मैं अब छुआछूत बिल्कुल नहीं मानता था। अछूत, मुसलमान, ईसाई सबके हाथ की कच्ची रसोई भी खा चुका था। मुझे चौके से बाहर खाना मिल जाता था, उसमें मुझे कोई एतराज नहीं था। हरिप्रपन्न स्वामी ने कहा—ऐसा ठीक नहीं है। आप हमारे होकर चौके से बाहर खायें, यह हमें सह्य नहीं। 'हमारे होकर' से उनका मतलब भोजपुरी और सर्वरिया होने का था। पं. भागवताचार्य उस समय श्रीरंगन में थे। मेरे आने की खबर पाकर वह बहुत प्रसन्न हुए। पंक्ति में मिलाने की बात लिखने पर उन्होंने यही जवाब दिया—'दामोदर जी को' अपनी पढ़ाई करने दीजिए, चौके-चूल्हे के लिए जोर न दीजिए।

हरिप्रपन्न स्वामी नहीं माने और उन्होंने पंचगव्य द्वारा प्रायश्चित करा, फिर पंक्ति में शामिल कर लिया। गोबर और गो-मूत्र प्रिय वस्तु तो नहीं है, पर वहाँ साल-डेढ़ साल रहकर वेदान्त और मीमांसा की प्यास बुझानी थी, इसलिए सब मंजूर किया। उन्होंने फिर मुझे अपना उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव किया। मैं जानता था, मैं अब किसी मठ का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता। मेरा जीवन पढ़ने और घूमने के लिए है। वह बेचारा हताश तरुण मेरी सहानुभूति का पात्र था। मैं अब तक ऊपर कोठे की एक कोठरी में रहता था, जिसके पास की कोठरियों में आचारी यात्री ठहरा करते थे। अधिक अनुकूल जान स्वामीजी ने नीचे की एक अच्छी कोठरी में आने का प्रस्ताव किया। कोठरी में काफी प्रकाश नहीं था और द्रविड़ देश में जाड़ा कमी होता है। इसलिए गर्मी का हमेशा भय बना रहता। हरिप्रपन्न स्वामी ने दीवार तोड़वाकर बड़ी खिड़की लगवा दी। इस सारे परिवर्तन में मैं जनकविदेह बना हुआ था, कभी खेद होता था, तो उसी नौजवान के लिए। पर मैं जानता था, पढ़ाई हो जाने पर मुझे यहाँ से चल देना है। तब तक तरुण बना रहा, तो हरिप्रपन्न स्वामी का ध्यान फिर उसकी ओर जायेगा।

1920 के सितम्बर के शुरू में तिरुमिशी पहुँचा था। एक साल से ऊपर नहीं रहा। वेदान्त का रामानुजभाष्य, उसकी श्रुतप्रकाशिका टीका एवं मीमांसा सूत्रों पर शास्त्र-दीपिका के महत्त्वपूर्ण भागों को पढ़ डाला। कैसे आसानी से यहाँ से निकला जाय, इसकी युक्ति सोचने की विशेष जरूर नहीं पड़ी। साल-भर रहकर मेरे उग्र राजनीतिक

विचारों को हरिप्रपन्न स्वामी सुनते रहे। वह समझने लगे, "यह जेलखाने और काला पानी में ठूँसा जानेवाला आदमी है।" उनकी आस्था स्वयं हटने लगी और मैंने वहाँ से चन्दन के पहाड़ों की भूमि–कुर्ग–के लिए प्रस्थान किया।

हरिप्रपन्न स्वामी का यही अन्तिम दर्शन था। मद्रास में 1933 में उभय-परिचित व्यक्तियों से पूछने से मालूम हुआ कि हरिप्रपन्न स्वामी अब नहीं रहे, तिरुमिशी मठ का संचालन देवराजाचारी करते हैं। दो बार इतने घनिष्ठ सम्पर्क में आने पर मैंने उस पुरुष को बहुत नजदीक से देखा था। उसमें भोजपुरियों की सरलता और अक्खड़पन था, छल-कपट छू नहीं गया था। मेरे प्रति उनका एकान्त सम्मान और स्नेह था। दोनों बार पढ़ाई में उन्होंने मेरी बहुत सहायता की। अफसोस है, वह मुझसे जो आशा रखते थे, उसे पूरा करने में मैं असमर्थ रहा।

13

पं. भागवताचार्य

पं. भागवताचार्य उन गम्भीर विद्वानों में थे, जिनके स्नेह और प्रेरणा ने विद्या में आगे बढ़ाने में मेरी बड़ी सहायता की। वह उत्तरी भारत के रहनेवाले थे। उनके गुरु बलरामाचार्य का मठ अयोध्या में था। भागवताचार्य ने न्याय और दूसरे शास्त्रों का अध्ययन वृन्दावन के महान् पण्डित बड़े सुदर्शनाचार्य के चरणों में बैठकर किया था। विद्या समाप्त करके वह उत्तर ही में रहना चाहते थे, किन्तु उनको दमा का रोग हो गया। उत्तर में रहना उनके लिए सासत थी, इसीलिए वह सदा के लिए दक्षिण चले गये। भूमध्यरेखा के नजदीक होने से द्रविड़ देश में कभी सर्दी नहीं होती। वहाँ की आबोहवा दमा के रोगों के अनुकूल है, यह बात पं. भागवताचार्य से मालूम हुई। आचार्य श्रीरंगम में रहते थे। कभी-कभी तिरुमिशी और दूसरे उत्तरार्धी मठों में भी जाते थे। पहिली बार (1913 ई. में) जब मैं तिरुमिशी में रहा, उसी वक्त मुझे उनके दर्शन हुए। उनकी विद्वत्ता के साथ स्नेह को पाकर मैंने उससे लाभ उठाना चाहा। उन्हीं के कहने पर मैंने हरिप्रपन्न स्वामी की शिष्यता स्वीकार की। दक्षिण में आकर वह दमा के आक्रमण से जरूर बचे हुए थे, पर दुबले-पतले और अस्वस्थ तो थे ही। मुझे इस बात का खेद होता था कि यहाँ उनकी विद्वत्ता का कोई उपयोग नहीं था। दक्षिणी एक उत्तरार्धी को क्यों अपना गुरु मानने लगे। रामानुजी होने से वह समझते थे कि उत्तरवाले सभी हमारे घर के चेले हैं, वह हमें क्या सिखलाएँगे। अद्वैती होने पर केरलवाले यही भाव हमारे प्रति अपने मन में रखते। वेदान्त (अपने धार्मिक दर्शन) के सम्बन्ध में उत्तर दक्षिणात्यों का शिष्य है, यह तो साफ ही है। इससे वहाँ वालों की अहम्मन्यता जरूरत से ज्यादा बढ़ गई थी। अपनी दूसरी यात्रा में मैं खुलकर उस पर प्रहार करता था, जिससे कभी-कभी मेरे द्रविड़ मित्र तिलमिला जाते थे।

पहिली यात्रा में थोड़े ही समय पं. भागवताचार्य का साहचर्य मुझे मिला था। वह बराबर मेरी प्रगति का ख्याल रखते थे। दूसरी बार 1920 ई. में जब मैं तिरुमिशी पहुँचा, तो वह बड़े प्रसन्न हुए। उन्हीं के कहने पर श्रीनिवासाचार्य ने मुझे रामानुज भाष्य पढ़ाना स्वीकार किया। उन्हें श्रीरंगम अधिक अनुकूल पड़ता था। वहाँ जाता, तो अवश्य उनकी विद्या से अधिक लाभ उठाने का अवसर मिलता; पर तिरुमिशी छोड़ना मेरे लिए मुश्किल था। उनके वहाँ होने से एक लाभ तो हम उत्तरार्धियों को यह जरूर था कि दक्षिणवाले कूपमण्डूक पण्डित भी जानने लगे कि उत्तरार्धी भी पण्डित होते हैं।

पं. भागवताचार्य कहाँ पैदा हुए, इसका मैंने कभी पता नहीं लगाया। पहिली यात्रा से लौटने पर अयोध्या के आचारी उनसे परिचित मालूम होते थे। बीमारी की यातना के मारे उन्होंने दक्षिण का आजीवन निर्वासन स्वीकार किया। वहाँ वह केवल जीवन के लिए जी रहे थे और अपना कोई उपयोग न देखकर खिन्न थे।

वह अच्छे विद्वान् और उससे भी अच्छे अध्यापक थे, किन्तु वहाँ सब बेकार था। लिखने का न अभ्यास था, न प्रवृत्ति। न यही जानते थे कि लिखने के लिए चीजें हैं। वह अपने समकालीन पंजावी सुदर्शनाचार्य के उदाहरण से देख सकते थे कि संस्कृत में भी ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता है–ऐसे ग्रन्थ जिनसे शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन सुगम हो सके।

भागवताचार्य इसी तरह अपने समय को दक्षिण में बिताते अन्त में वहीं गुमनाम रहकर सदा के लिए चल वसे।

14

वेंकटाचार्य

तिरुमिशी (जिला चिंगलपेठ) में 1913 में जब पहिले-पहिल मैं गया, उसी समय टी. (तिरुमिशी) वेंकटाचार्य मेरे मित्र और सहपाठी वने। पर, उस समय उनको हम भक्ति कहा करते थे। तिरुमिशी आलवार भक्तिसार का जन्मस्थान है। उसी के कारण वह एक दिव्यदेश बनी। वेंकट को प्यार से लोग भक्ति कहा करते थे। उस समय चार महीने से अधिक एक साथ नहीं रहे, पर हमारी घनिष्ठता मालूम होती थी, वर्षों की बात है। संस्कृत के काव्य-नाटकों को मिलकर हम पारायण करते थे, एक राग से पढ़ता और दूसरे ध्यान से सुनते। 'मालतीमाधव' (नाटक) के :

> भूयोभूयः सविधनगरीथ्यया पर्यटन्तं,
> दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुंगवातायनस्था।
> साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती, माधवं य–
> द्गाढोत्कण्ठा लुलितलुलितैरंगकैस्ताम्यतीति ।।18।।

श्लोक को गाकर पढ़ते हुए जान पड़ता था कि माधव और मकरन्द की हम भूमिका अदा कर रहे हैं। जिस समय अध्ययन भार नहीं बल्कि रस का स्रोत बन जाय, उस समय वह कितना हृदयग्राही और ज्ञानवर्धक हो जाता है, इसका अनुभव उस समय हमें होता था। भक्ति और दूसरे द्रविड़ वैष्णव ब्राह्मण तरुणों के घनिष्ठ सम्पर्क ने हमारे हृदय से देश और जाति का भेद मिटा दिया था। दक्षिण के ब्राह्मण अपने को अधिक संस्कृत और कर्मनिष्ठ मानते थे और उत्तरवालों को बड़ी हीन दृष्टि से देखते थे। दुर्भाग्य से उत्तर से गये जिन ब्राह्मणों का उनसे सम्पर्क होता था, वह अधिकतर अशिक्षित तीर्थयात्री होते थे। इसे मानने में तो किसी को इन्कार नहीं कि दक्षिणी, विशेषकर द्रविड़ और केरल ब्राह्मण शिक्षा और संस्कृति में उत्तर की अपेक्षा अधिक उन्नत रहे। लेकिन, कितना घाटा उठाकर ? उत्तर में ब्राह्मणों और अब्राह्मणों में शिक्षा-संस्कृति की खाई नहीं देखी जाती, जिसे कि हम दक्षिण में मुँह बाये देखते थे। वहाँ ब्राह्मण छोड़कर सभी शूद्र थे। शताब्दियों से ब्राह्मणों ने अपनी शिक्षा और योग्यता का एकांगी लाभ उठाया और अब्राह्मणों को धनागम के मार्गों और उच्च पदों से वंचित रक्खा। इसका फल जल्दी ही उन्हें भोगना था। पर, जिस समय की हम बात कर रहे हैं, उस समय ब्राह्मण-अब्राह्मण संघर्ष की अग्नि भीतर-भीतर सुलग रही थी। बुजुर्गों की सम्मति में मैं उत्तर का ब्राह्मण 'काशी शूद्रम्' समझा जाता था, पर मेरे मित्रों में इस तरह का कोई भेद-भाव नहीं था। तिरुमिशी का पहिला निवास खतम हुआ और अपने सहपाठियों का स्नेह मन में रक्खे मैं वहाँ से घुमक्कड़ी पर निकल पड़ा। उस समय क्या आशा थी कि सात वर्ष बाद फिर मैं तिरुमिशी आ जाऊँगा।

शायद 1920 ई. के सितम्बर महीने में तिरुमिशी पहुँचने पर पता लगा कि हमारा एक सहपाठी अब नहीं रहा। भक्ति अब उमर और विद्या दोनों में बड़े हो गये थे, वह वेंकटाचार्य के नाम से पुकारे जाते थे। मद्रास विश्वविद्यालय की संस्कृत की सबसे ऊँची परीक्षा पास करके वह 'मीमांसा-शिरोमणि' बन गये थे। वेदान्त

उनके अपने घर की चीज थी। उन्होंने अपने सात वर्षों का बहुत अच्छा उपयोग किया था। मैं भी वहीं पर नहीं था, जहाँ तिरुमिशी छोड़ते वक्त था। पर मैंने एक-दो विषयों पर अपने ध्यान को केन्द्रित नहीं रक्खा। मेरे मित्र पहिले ही की तरह प्रेम से मिले, फिर हमने पुराने जीवन की मधुर स्मृतियाँ याद आने लगीं। उनके पिता श्रीनिवासाचार्य ने रामानुजभाष्य पढ़ाना स्वीकार कर लिया। भाष्य का पढ़ाना जैसे-तैसे ग्रंथ का पढ़ाना नहीं था। दक्षिणी वैष्णवों में ऐसा अध्यापन-रहस्य मन्त्र देने जैसा समझा जाता था। मैं थोड़े समय में अधिक से अधिक पढ़ने के फेर में था, क्योंकि स्वामी भागवताचार्य की तरह मैं यहाँ इधर ही का होने के लिए नहीं आया था। पढ़ने में हम व्यस्त रहे, किन्तु पहिले जैसा रस कहाँ ? पाठ्य-विषय काव्य नहीं वेदान्त और मीमांसा जैसे दर्शन थे, हम अल्हड़ तरुण नहीं, 26-27 वर्ष के प्रौढ़ थे।

इधर ब्याह कर भक्ति (वेंकटाचार्य) अपनी सगी फूफी के दामाद बन गये थे। बहिन, फूफी, मामा की लड़की से ब्याह करना वहाँ बिल्कुल साधारण-सी बात थी। पिछली यात्रा में ही मैं इसे जान गया था। हमारे लोग इसे सुनकर नाक-भौं सिकोड़ेंगे; किन्तु उन्हें 'काशीशूद्रम्' कहनेवाले दक्षिण के ब्राह्मण इसे बिल्कुल शिष्टाचार मानते हैं। मामा की लड़की पर भांजे का तो सबसे पहिले अधिकार माना जाता है। देश-काल के अनुसार रीति-रिवाज एक ही धर्म के माननेवालों में कितने बदल जाते हैं, इसका यह उदाहरण था।

वेदान्त भाष्य में यद्यपि मैं उनके पिता का शिष्य था, पर वेंकटाचार्य के साथ भी अध्ययन-चिन्तन करता था। मैं अब पुस्तकों की सीमा के भीतर रहनेवाला नहीं रह गया था। कई साल तक आर्यसमाज के स्वतन्त्र विचारों में रहने से मैं बुद्धिवादी बन गया था। रामानुज का त्रैत सिद्धान्त यद्यपि आर्यसामाजिक दर्शन जैसा ही था, और उस पर मेरी आस्था भी थी। पर, रामानुज या किसी की सारी बातों को मैं मानने के लिए तैयार नहीं था। पाठ चिन्तन करते समय हममें बहस छिड़ जाती। एक बार भक्ति मेरे प्रश्नों का उत्तर देते-देते निरुत्तर हो गये। मुझे बड़ा आश्चर्य और करुणा आई, जब मैंने देखा कि उनकी आँखों में आँसू भरा और वह भर्राई आवाज में कह रहे हैं—"आचार्य का पक्ष कमजोर नहीं हो सकता, नहीं हो सकता।" मुझे अपने ऊपर बहुत क्रोध आया। अपने मित्रों को मैं कष्ट देना नहीं चाहता था। मुझे क्या ख्याल था कि वेंकटाचार्य जैसा तरुण शास्त्रों और सिद्धान्तों के बोझ से इतना लदा होगा।

वेंकटाचार्य तिरुमिशी में मेरे पहिले नर्म-सचिव बने। फिर साध्यायी और कितनी ही बातों में विद्या-गुरु हुए। कितनी ही बार मन में हुआ, एक बार तिरुमिशी चलकर उनसे मिलूँ, लेकिन ऐसा अवसर कभी नहीं मिला।

15

फक्कड़ बाबा

बालाजी के फक्कड़ बाबा यह उनका नाम नहीं था। बालाजी (तिरुपति, आन्ध्र) के वह स्थायी निवासी-से बन गये थे। वहीं मुझे उनके दर्शन और सम्पर्क में आने का मौका मिला। वह रहनेवाले शायद मुरादाबाद या आस-पास की कोई ऐसी जगह के थे, जहाँ की मातृभाषा हिन्दी थी। उनकी बातें और भाषा सुनने में बड़ा आनन्द आता था। वह स्वर के साथ गाते—'चारों युगों में नाम तुम्हारा, कृष्ण-कन्हैया तुम्हीं तो हो', जो सुनने में बड़ा मधुर मालूम होता था। भारत में कहाँ-कहाँ घूमते थे, मैं पता नहीं लगा सका। शायद चारों धाम वह जरूर हो आये थे, और अब पहाड़ के ऊपर बालाजी के हाथीराम मठ में स्थायी तौर से रह रहे थे। 1913 में मैं पहिले-पहिल बालाजी में जाकर आगन्तुक साधुओं के ठहरने की बाहरी कोठरियों में से एक में ठहरा। मेरा वेष सफेदपोश साधुओं का था, जो आग की धुनी के पास डेरा डालने लायक नहीं था। आग की धुनी सेनेवाले तपसी लोग मूँज का डाँडा और लँगोटी बाँधते, एकाध टुकड़ा सूती कपड़े का रखते हैं, बिछौने-ओढ़ने के लिए मृगछाला,

वाघम्बर या कम्बल उनके पास होता है। मैं तपसी वेष से आकृष्ट नहीं हो सकता था, पर बेसरोसामानी की जिन्दगी मुझे पसन्द थी। यद्यपि उस समय मेरे पास समय कम होने की शिकायत नहीं थी, लेकिन उसके व्यय में विना सीमा की सारवर्ची भी नहीं कर सकता था। दिनों की अवधि न हो, पर महीनों की अवधि तो जरूर होती थी।

तिरुपति और बालाजी दोनों में हाथीराम बाबा का विशाल वैरागी मठ था। कहते हैं, किसी स्थानीय राजा ने अपना सारा राज हाथीराम बाबा को अर्पण कर दिया था। तेलुगु, तमिल, मलयालम, कन्नड़भाषी प्रदेशों में वैरागी साधुओं का नितांत अभाव-सा है। वहाँ के ब्राह्मण इन फक्कड़, 'जात-पाँत पूछे नहीं कोई' माननेवाले साधुओं को फूटी आँख भी नहीं देख सकते थे। इसमें शास्त्र का विरोध कारण नहीं था, बल्कि वह देखते थे कि इनके विचित्र विरक्त जीवन को देखकर यदि गृहस्थ आकृष्ट हो गये, तो हमको कोई नहीं पूछेगा। दूसरी दिक्कत यह भी थी कि इन चारों भाषाओं के क्षेत्रों में उत्तर के साधुओं को भाषा की बड़ी दिक्कत थी, जिसे वर्षों रहकर ही दूर किया जा सकता था। हाथीराम बाबा की सिद्धाई का मैं कायल था, उन्होंने आन्ध्र के इस अंचल में आकर वैरागियों का सबसे धनाढ्य मठ स्थापित किया। कुछ ही वर्षों बाद देवोत्तर सम्पत्ति कानून द्वारा इस सम्पत्ति पर सरकारी अधिकार हो गया, और इसमें शक नहीं, उसकी 14-15 लाख सालाना आमदनी का सदुपयोग भी होने लगा। आज वहाँ उसी धन से एक संस्कृत विश्वविद्यालय और अनुसंधान प्रतिष्ठान चल रहा है। हाथीराम बाबा उत्तर से आये थे। उनके बाद यह परिपाटी चल गई कि महन्त उत्तर का ही हो। जिस समय की मैं बात कर रहा हूँ, उस समय मठाधीश महन्त प्रयागदास थे, जिनका जन्म मारवाड़ का था। सारी सम्पत्ति पर उत्तरार्धियों का अधिकार था। रामानन्द ने शिष्य बनाने में जाति या प्रदेश का कोई भेद नहीं माना। उनके शिष्य कबीर मुसलमान (जुलाहे) थे, और रविदास चमार; फिर आन्ध्र देश में वैरागी भेद-भाव मानेंगे, इसकी सम्भावना नहीं हो सकती थी। पर मैं देखता था, वहाँ कोई दक्षिणी वैरागी नहीं था। उधर के ब्राह्मणों ने तो वैरागी शब्द का अर्थ ही अछूत मान लिया था।

फक्कड़ बाबा के साथ एक ही दो दिन बाद मेरा ऐसा परिचय हो गया, जैसे हम वर्षों से एक साथ रहते हों। उनकी नागरिक शुद्ध हिन्दी भाषा ने मुझे पहिले आकृष्ट किया, इसके बाद फक्कड़पन की बातों ने। तिरुपति में महन्त प्रयागदास स्वयं और बालाजी में उनके गुरुभाई अधिकारी के रूप में रहते थे। अधिकारी की भी लाखों की सम्पत्ति थी। वैरागी साधुओं में स्थान-स्थान के रीति-रवाज हैं। परसा में न कोई साधु गाँजा पीता था, न तम्बाकू। यहाँ उस तरह का कोई निर्बन्ध नहीं था। अधिकारी स्वयं गाँजा पीते थे। फक्कड़ बाबा खुशामदी मुसाहिब नहीं थे, न दरबारी बनने की उनमें क्षमता थी। कोई बात विना भूमिका बाँधे कहते थे। गाँजा खतम होने पर अधिकारीजी के पास जाते और उनके मुँह से शब्द निकलते ही अधिकारी जी एक-दो तोला गाँजा दे देते थे। उनके पूर्वाह्न के क्रिया-कलाप का मुझे कुछ याद नहीं। शायद स्नान-पूजा के बाद गाँजे की एकाध दम लगा कुछ देश-काल की चर्चा चलती थी। भोजनोपरान्त के तीन-चार घण्टे भी इसी तरह बिताकर चार बजे के बाद फक्कड़ बाबा दियासलाई-गाँजा-साफी चिलमवाली झोली लटकाते, हाथ में शायद फरसा लगा हुआ डंडा लेते, फिर बस्ती छोड़कर निकल पड़ते। रोज एक ही ओर जाना उनके नियम के विरुद्ध था। परिचय होते ही मैं भी उनके साथ अपराह्न यात्रा में सम्मिलित होने लगा। बालाजी का मन्दिर ऐसे पहाड़ के ऊपर है, जो जंगल से ढँका हुआ है। उस समय मैंने उसके ऊपर कहीं खेती होते नहीं देखी। जंगल में बाघ भी रहते हैं, यह मालूम था। पर, फक्कड़ बाबा कहते थे : बाघ आदमी को नहीं छेड़ता। इसी विश्वास पर वह रात के आठ-आठ, नौ-नौ बजे जंगल से लौटते। जिस तरफ जाते, उसके बारे में यह जरूर देख लेते कि वहाँ कोई झरना या छोटा-मोटा जलाशय है। मेरा उनका साथ कुछ ही दिनों का था, इसलिए उनकी कथाओं की समाप्ति नहीं हो सकती थी। कथाएँ चलती रहती थीं, बीच-बीच में गाँजे की चिलम चढ़ती। चिलम में जब तक तीन-चार आदमी शामिल न हों; तब तक आनन्द नहीं आता। शायद मैंने वहीं गाँजा पीना शुरू कर दिया। कम-से-कम एक महीना मैं जरूर गाँजा पीता रहा और रामेश्वर के फक्कड़ ब्रह्मचारी के साथ रहते समय तो चिलमों का अखण्ड ताँता लगा रहता था।

फक्कड़ बाबा ने अपनी यात्राओं से मेरे भौगोलिक ज्ञान की वृद्धि की हो, यह बात नहीं थी, पर उनका जीवन जरूर मेरे लिए आकर्षक मालूम हुआ। तजर्बा आदमी को स्वयं रास्ता बतला देता है। मैं बहुत थोड़ा-सा सामान–दो धोती, दो लँगोटी, एक अँगोछा, दो-तीन पुस्तकों के साथ मठ छोड़कर निकला था। बल्कि लोटा लेने में दूसरों के जान लेने का डर लगा, इसलिए उसे मैंने रास्ते में खरीदा था। दक्षिण की तरफ सर्दी का कोई डर नहीं था, इसलिए ओढ़ने की भी जरूरत नहीं थी। हल्के सामान से मुझे बहुत प्रसन्नता थी। फक्कड़ बाबा भी इसी को पसन्द करते थे। जिस देश में अपनी भाषा बोलनेवाले न हों और न जहाँ अपने सम्प्रदाय के भक्त हों, वहाँ फक्कड़ बाबा की रहन-सहन बहुत लाभदायक नहीं हो सकती थी। वह एक बड़े मठ में रह रहे थे, इसलिए किसी बात की चिन्ता नहीं थी। बालाजी पर्वत के आस-पास के चार-पाँच मील के भीतर पड़नेवाले हरेक रमणीय स्थान पर मैं फक्कड़ बाबा (कृष्ण कन्हैया) के साथ घूमता रहा। जिसे वैराग्य रस कहते हैं, उसे चखने का यहाँ सुअवसर मिला था।

16
पं. सरयूदास

पौने तीन धामों की यात्रा करने के बाद परसा में कुछ ही महीने रह मैं फिर पढ़ने और घूमने के ख्याल से भागकर अयोध्या पहुँचा। 1914 की वर्षा का आरम्भिक महीना था। चार महीने से अधिक वहाँ नहीं रहा, पर इस समय को मैंने पढ़ने और अधिक मित्रों को बनाने में बिताया। जिन तीन-चार गुरुओं से मैंने भिन्न-भिन्न विषय पढ़े, इनमें ही पं. सरयूदास भी थे। उनकी सादगी और विद्वत्ता का मेरे ऊपर बहुत प्रभाव पड़ा। पं. सरयूदास वैरागी साधु थे। उनका काशी गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज का व्याकरण-उपाध्याय होना जरूर अचरज की बात थी। वैरागियों का नारा था–"पढ़े लिखे बब्भन का काम। भज वैरागी सीताराम।" विद्या की उनके यहाँ कोई कदर नहीं थी, इसलिए विद्वान् कैसे हों ? उस समय आचार्यों की उपाधि बाहर के विद्यार्थियों को प्रायः नहीं मिलती थी। काशी संस्कृत कालेज के विद्वान् अध्यापक उसे अपने विद्यार्थियों तक ही सीमित रखना चाहते थे। बाहर के तरुण को उनका विद्यार्थी बनने में कोई रुकावट नहीं थी, इसीलिए इसे उनका एकान्त पक्षपात भी नहीं कहा जा सकता था। पं. सरयूदास व्याकरणोपाध्याय थे।

लेकिन अब वैरागियों का नारा बदलता मालूम हो रहा था। अयोध्या के दो मठों में अच्छी पाठशालाएँ चल रही थीं, जिनमें तरुण वैरागी काफी संख्या में पढ़ते थे। भक्तों और दुनिया में पण्डितों का मान बढ़ने लगा था। मालूम होता था कि कुछ ही दिनों में वैरागियों में भी संस्कृत के आचार्यों की कमी नहीं रह जायेगी।

पं. सरयूदास आडम्बरशून्य पुरुष थे। अकेले देखने पर किसी भी साधारण वस्त्रधारी वैरागी से उनमें कोई अन्तर न मालूम होता। वह शायद किसी पाठशाला में नहीं पढ़ाते थे, विद्यार्थी उनके स्थान पर ही आकर पढ़ जाते थे। यद्यपि उनके शिष्यों में मुझसे अधिक संस्कृत पढ़े हुए कई साधु थे, पर मेरे प्रति उनका कुछ विशेष पक्षपात था। इसका कारण देश-काल देखने के साथ मेरा भाषा का अच्छा ज्ञान भी था। अयोध्या में दक्षिण के कृपालु गुरु पं. भागवताचार्य के गुरु बलरामाचारी ने अपने एक लक्ष्मीपात्र भक्त को भी प्रेरणा देकर वेदान्त पाठशाला खुलवाई थी। अयोध्या ठहरी वैरागियों की नगरी, आचारी साधु वहाँ अँगुलियों पर गिनने-भर के लिए भी नहीं थे, इसलिए इस पाठशाला में वैरागी विद्यार्थी भर गए। आचारियों को यह पसन्द नहीं आया और उन्होंने पाठशाला तुड़वा दी। वैरागी विद्यार्थियों को यह बहुत बुरा लगा और हम तरुणों ने नई वेदान्त पाठशाला खोलने का निश्चय किया। तमिल देश से आकर वेदान्त पढ़नेवाले हमारे गुरु वैरागी और आचारी का भेद नहीं समझते थे अथवा अपने देश में वह उत्तर के आचारियों को भी वैरागी कहकर पुकारते थे। दोनों ही वहाँ की परिभाषा में शूद्र-तुल्य थे, वह भेद-भाव कर नहीं सकते थे। हम उनका बहुत सम्मान भी करते थे। इसलिए

उन्होंने देश से फिर लौटकर आने का वचन दिया था।

हम नहीं चाहते थे कि वेदान्त पाठशाला टूट जाय और कुछ महीने बाद नई पाठशाला खोली जाय। नई पाठशाला खोलनेवाली कमीटी का उपमन्त्री मैं था और मन्त्री पं. गोविन्ददास थे। पं. गोविन्ददास उस समय के उन विरल वैरागियों में थे, जो व्याकरणोपाध्याय–आज की भाषा में व्याकरणाचार्य–के कई खंड पास थे। अयोध्या में सैकड़ों नहीं, हजारों छोटे-मोटे मठ थे। हमने घूमकर इतना चन्दा जमा कर लिया, जिससे पाठशाला अच्छी तरह चल सकती थी। तुरन्त ही पाठशाला खोलने का निश्चय किया गया; पर वेदान्त पढ़ानेवाले अध्यापक कहाँ से मिलें ? उस समय वेदान्त और मीमांसा पढ़ाने की उत्तर में व्यवस्थित परिपाटी नहीं थी। व्याकरण, न्याय, साहित्य और ज्योतिष यहाँ की विशेषता थी। बाकी शास्त्रों को लोग अपने आप लगाने की कोशिश करते थे। बनारस में चूँकि सारे भारत के पण्डित रहते थे, इसलिए वहाँ वेदान्त-मीमांसा पढ़ानेवाले मिल सकते थे। पर, वहाँ भी वेदान्त केवल शंकर का अद्वैत मायावाद माना जाता था। रामानुज भी वेदान्ती थे, इसको कोई नहीं समझता था। पाठशाला का आरम्भ करना जरूरी था, इस समय हमारी नजर पं. सरयूदासजी के ऊपर पड़ी। उस वक्त उनकी उमर पचास से कुछ ऊपर रही होगी। हमारी प्रार्थना करने पर उन्होंने कहा–भाई, मैंने वेदान्त तो नहीं पढ़ा है, रामानुज की 'वेदान्त परिभाषा' कभी देखी थी, चलो उसी से शुरू कर देंगे। पं. सरयूदास ने पाठशाला का आरम्भ करा दिया। यदि वह वेदान्त के विद्वान् होते, तो हमें अध्यापक को वेतन देने की भी फिकर नहीं होती।

पं. सरयूदास से वेदान्त तो नहीं, पर व्याकरण मैंने कुछ जरूर पढ़ा। कई साल बाद 1918 ई. में शास्त्री-परीक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों को पढ़ने के लिए मुझे फिर अयोध्या जाना पड़ा। उस समय फिर पं. सरयूदास के साहचर्य का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं अयोध्या में थोड़े ही दिनों के लिए गया था और इसी बीच समय निकालकर परसा भी जाना जरूरी हो गया। पं. सरयूदासजी की माता का देहान्त हो गया था, उसी सम्बन्ध में वह अपने जन्मस्थान–शायद बस्ती जिले के किसी गाँव–में जा रहे थे। अयोध्या से मनकापुर तक हमें एक ही साथ जाना था। मेरी संस्कृत तुकबन्दियों का उन्हें कुछ पता था, इसलिए कहा–"भाई, मातृ-शोक के सम्बन्ध में कुछ श्लोक बना दो, मैं वहाँ बन्धु-बान्धवों के सामने पढ़ दूँगा। दूसरा व्यक्ति होता, तो अपने विद्यार्थी से ऐसा कहना अपनी शान के खिलाफ मालूम होता। पर वह जो थे, उससे अधिक दिखलाना उनके स्वभाव में नहीं था। व्याकरण के वह बहुत अच्छे विद्वान् थे, इसमें तो शक नहीं। मैंने कई श्लोक बनाकर दिए, जिनमें एक पद था–"माता मानकरी गता हतसुखा हा हन्त वर्तामहे।"

पं. सरयूदास का यह अन्तिम दर्शन नहीं था। एक बार और, शायद 1938 के बसन्त में, मुझे उनसे मिलने का अवसर मिला। आचार्य नरेन्द्रदेवजी के साथ लखनऊ से मैं उनके घर फैजाबाद गया। उन्हीं के साथ अयोध्या भी पहुँचा। पं. सरयूदास के होने की बात सुनकर मैं उनके पास गया। वह जान गए थे कि बीस वर्ष पहिले जो उनका विद्यार्थी था, वही अब राहुल सांकृत्यायन के नाम से प्रसिद्ध है। मुझे यह देखकर अच्छा नहीं लगा कि पुराने गुरु मुझे बहुत बड़ा समझें। मैं पहिले ही जैसा उनका सम्बोधन प्राप्त करना चाहता था। उन्होंने कहा–"अब तो आप इतने बड़े हो गए हैं, हमारी पाठशालाओं और शिक्षा का भी ख्याल रखना चाहिए।" मैंने आचार्य नरेन्द्रदेवजी से उनके बारे में बतलाया। शायद उन्हें पास ही रहने पर भी इस सीधे-सादे साधु के पाण्डित्य का पता नहीं था।

17

पं. गोविन्ददास

अयोध्या की पहिली यात्रा (1914 ई.) में जिन विद्वानों से मेरा वहाँ परिचय हुआ था, उनमें पं. गोविन्ददास

मुख्य थे। वह व्याकरण के आचार्य (उपाध्याय) और न्यायाचार्य के भी कई खण्ड पास थे, अर्थात् पं. सरयूदास के बाद वैरागियों में सबसे बड़े पण्डित थे। उस समय मेरा उनका सम्बन्ध मित्र का था, पीछे मैंने उनसे कुछ पढ़ा भी। अयोध्या में पहिले मैं स्वर्गद्वार घाट पर विदेही जी के स्थान में ठहरा था। पीछे परिचय बहुत बढ़ गया, और दूसरे मठों में भी रहा। पं. गोविन्ददासजी हजारी बाग के एक बहुत बड़े महन्त (इचाक) की बनवाई एक भव्य ठाकुरबाड़ी में रहते थे। ठाकुरबाड़ी कई सालों से तैयार थी किन्तु दीवारों में प्लास्तर अभी पूरी तौर से नहीं लगा था, और न दरवाजे-खिड़कियाँ ठीक की गई थीं। इचाक मन्दिर एक तरह पं. गोविन्ददास के ही हाथ में था। मैं वहाँ बराबर जाया करता था। 1914 और उससे पहिले के ऐसे साल थे, जब आर्यसमाज और सनातन धर्म के शास्त्रार्थ बराबर हुआ करते थे, खण्डन-मण्डन के व्याख्यान होते थे। सनातन धर्म के कुछ प्रसिद्ध उपदेशक इसी समय अयोध्या में आये थे। सभा में उन्होंने भाषण दिए। भाषण देनेवालों में भरतपुर के वैरागी अधिकारी भी थे। इन भाषणों का अयोध्या के वैरागी शिक्षितों पर प्रभाव पड़ा, उन्होंने भाषण का महत्त्व समझा। फिर वक्तृत्व-कला सीखने की उनमें आकांक्षा पैदा हुई, और वाग्वर्धिनी सभा कायम हो गई—सभा का यही नाम था, यह मैं नहीं कह सकता। जल्दी में मैं वाग्वर्धिनी सभा का सरगर्म मेम्बर ही नहीं, बल्कि मार्ग-प्रदर्शक बन गया। मैंने भाषण देने का अब तक कभी अभ्यास नहीं किया था, और भाषणकला पर मेरा कभी अधिकार भी नहीं हुआ, पर बातचीत करना तो जानता ही था, अपने ज्ञान को शब्द द्वारा प्रकट करने की सामर्थ्य भी रखता था, शुद्ध हिन्दी भाषा बोल सकता था। वाग्वर्धिनी सभा के सम्बन्ध से मेरा परिचय पं. गोविन्ददासजी से हुआ।

पं. गोविन्ददासजी छोटे कद के बहुत दुबले-पतले पुरुष थे। उनका मठ डाकौर में था, जहाँ मैं पिछली यात्रा में हो आया था, और मेरा उक्त मठ के महन्त से अधिक परिचय भी हो गया था। इसके कारण हम दोनों में और अधिक आत्मीयता स्थापित हो गई। वाग्वर्धिनी की ख्याति भी कुछ बढ़ चली। अयोध्या और फैजाबाद के बीच में, पर सड़क से हटकर देवकाली का स्थान था, जिसमें नवरात्र के समय सैकड़ों बकरे चढ़ा करते थे। किसी ब्रह्मचारी ने पशु-बलि रोकने के लिए अब की साल बहुत प्रचार किया था, पर अन्तिम दिन प्रयत्न निष्फल होनेवाला था। वह वाग्वर्धिनी सभा के सरगर्म तरुण वैरागियों के पास पहुँचा, जिनमें सबसे आगे मैं था। पं. गोविन्ददास भी ब्रह्मचारी की सहायता करने के लिए तैयार हुए। हम तीन-चार तरुण देवकाली पहुँचे, पर ढीलमढाल पं. गोविन्ददास समय से पीछे रवाना हुए। तब तक देवकाली-कांड समाप्त हो चुका था, अर्थात् हममें से कुछ पर मार पड़ी थी, पण्डों ने बकरे कटवा दिए थे। साधुओं पर मार-पीट करने के लिए पण्डे फैजाबाद की कोतवाली तक पहुँचाए गए।

पं. गोविनददास का साथ 1914 के अक्तूबर से छूटा लेकिन हमारा सम्बन्ध नहीं टूटा। 1919 से एकाध साल पहिले वह करवी संस्कृत पाठशाला के प्रधानाध्यापक बनकर गए। चित्रकूट के मुख्य स्टेशन और तहसील करवी में एक प्रतिष्ठित और धनी मठ था। उसके महन्त जयदेवदास मामूली लिखना-पढ़ना जाननेवाले सीधे-सादे पुरुष थे। विद्या-प्रचार की तरफ उनकी रुचि थी। इस तरह के कार्य से प्रतिष्ठा बढ़ती है, इसका ख्याल उनके दिमाग में हो, तो यह कोई बुरी बात नहीं थी। महन्तजी की जमींदारी की आमदनी 30-40 हजार रुपये थी, जिसके अधिकांश को वह पाठशाला में खर्च करते थे। पाठशाला दो-चार वर्ष पहिले खुली थी और अब जम गई थी।

मैं मार्शल-ला के दिनों के बाद लाहौर में गर्मियाँ बिता रहा था। सारे देह में फुंसियाँ हो गई थीं। पंजाब में बरसात की गर्मी को ज्यादा असह्य समझा जाता है। मैं भी कहीं जाने की सोच रहा था। पं. गोविन्ददासजी का पता मालूम होने पर करवी चिट्ठी डाल दी और उन्होंने बड़े आग्रहपूर्वक मुझे लिखा—"इससे हमारी पाठशाला को सहायता मिलेगी।" मुझे मित्र का आग्रह स्वीकार करना पड़ा। करवी में मैं एक साधारण विद्यार्थी की तरह नहीं, बल्कि प्रतिष्टित अतिथि के तौर पर कई महीने रहा। इसी समय पं. गोविन्ददासजी और काशी में पं. बालमिश्र और पं. श्रीकर शास्त्री से पढ़कर काशी की न्याय मध्यमा की परीक्षा दी। उस साल दस-पन्द्रह सैकड़े ही विद्यार्थी पास किए गए थे, इसलिए मुझे फेल होने का कोई अफसोस नहीं हो सकता था। उस साल मैंने

कई परीक्षाएँ एक साथ देनी चाही थीं। बिहार की सांख्य मध्यमा में एक ही समय दो जगहों की परीक्षाएँ पड़ जाने के कारण मैं उपस्थित नहीं हो सका। कलकत्ता की साधारण दर्शन-मध्यमा में मुझे प्रथमा पास करके फार्म भरना चाहिए था। किसी मित्र के तिकड़म से वह अवैध साबित होने के कारण उसमें शामिल नहीं हो सका। इन दोनों परीक्षाओं में मैं पास हो जाता। कलकत्ता की मीमांसा-प्रथमा मैं जरूर पास हो गया। इन परीक्षाओं की तैयारी में पं. गोविन्ददासजी ने मेरी बड़ी सहायता की थी।

यद्यपि मैं वैरागी साधु की तरह वहाँ रहता था और घुमक्कड़ी में बहुत दूर तक आगे बढ़ चुका था; पर मेरे विचार मेरे भेष के अनुरूप नहीं थे। अयोध्या से पं. गोविन्ददास का संग छूटने के बाद ही मेरे विचार आर्यसमाजी हो गए। सत्यार्थप्रकाश को मैंने अयोध्या में वाग्वर्धिनी सभा में भाग लेते ही समय पढ़ा था। इन पाँच वर्षों में आगरा आर्य मुसाफिर विद्यालय में बाकायदा धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन और भाषण-कला की शिक्षा प्राप्त कर मैंने 'आर्य मुसाफिर' (आर्यसमाजी उपदेशक) की पदवी प्राप्त की थी। कई जगह भाषण दिए थे, शास्त्रार्थों और समाधानों में भाग लिया था। महोबा करवी से बहुत दूर नहीं है, जहाँ मैंने खण्डन-मण्डन के व्याख्यानों और ईसाइयों के साथ शंका-समाधान करने में काफी कीर्ति अर्जित की थी। वहाँ सनातनी पण्डित से शास्त्रार्थ करने में और उसकी लिखा-पढ़ी में मेरा काफी हाथ था। डर था, कहीं पता न लग जाय कि मैं आर्यसमाजी हूँ। खैर, उसका मुझे कोई अधिक भय नहीं था, क्योंकि मैं मठ पर अपने को आश्रित नहीं समझता था।

पाँच सालों में मैंने जो पापड़ बेले थे, उसके कारण मेरे गुणों में भारी अन्तर आ गया था। यद्यपि अभी तक मैंने राजनीति में कोई सीधा भाग नहीं लिया था, पर राजनीतिक साहित्य काफी पढ़ा था, मुझे पत्रों-पत्रिकाओं के पढ़ने का शौक था और कुछ लेख भी लिखे थे, जो अधिकांश उर्दू पत्रों में खण्डन-मण्डन के रूप में छपे थे। पं. गोविन्ददासजी को या किसी को भी यह रहस्य मालूम नहीं था।

महन्त जयदेवदासजी को उसी समय आनरेरी मजिस्ट्रेटी मिली थी। बाँदा के कलक्टर और करवी के एक एस. डी. ओ. को रिझाने का हरेक अवसर वह हाथ से जाने देना नहीं चाहते थे। पद-प्राप्ति के उपलक्ष में वह दोनों उच्च-अधिकारियों की विशेष आराधना करना चाहते थे। ऐसा अवसर उन्हें जल्दी ही मिल गया, जबकि करवी के तरुण एस. डी. ओ. श्री खरेघाट आई. सी. एस. विवाह करके आये। विवाह के उपलक्ष्य में एक बड़े भोज का आयोजन हुआ, बाँदा के अंग्रेज कलक्टर को भी निमंत्रित किया गया। मेरी तुकबन्दी की ख्याति तो कुछ थी ही। पं. गोविन्ददासजी ने कहा कि इस अवसर के लिए कुछ श्लोक बना दें। कुछ मैंने श्लोक बनाये। राजनीतिक विचारों की छाप उनके ऊपर पड़े बिना नहीं रह सकी। खरेघाट पारसी थे। उनके कुल-गौरव को बखानते मैंने दादाभाई नौरोजी का नाम ले दिया। मुसाहिबों ने महन्तजी को डरा दिया—कि "दादाभाई अंग्रेजों के खिलाफ थे। अंग्रेज कलेक्टर ने यदि यह नाम सुना, तो बड़ी बुरी बात होगी।" मुझे उस अंश को हटाने के लिए कहा गया। मैंने सभी श्लोकों को अपने पास रख लिया। खैर, खरेघाट को जब यह बात मालूम हुई, तो उन्होंने कहा : कोई बात नहीं है। दादाभाई नौरोजी का नाम आना तो सम्मान की चीज है।

करीब आठ महीने मैं पं. गोविन्ददासजी के साथ रहा। फिर मैं अपनी लम्बी जीवन-यात्रा पर चल पड़ा। एक बार पता लगा, वह वृन्दावन में रहते हैं। पर, फिर उनके दर्शन नहीं हुए।

18
मौलवी महेशप्रसाद

जीवन में सबसे अधिक प्रभाव मेरे ऊपर मौलवी महेशप्रसाद का पड़ा। राजनीति और देशभक्ति के विचारों से 1914 तक मैं बिल्कुल अपरिचित था। 1915 के आरम्भ में मुसाफिर विद्यालय (आगरा) में दाखिल होने पर

मौलवी महेशप्रसाद[1] के घनिष्ठ सम्पर्क में एक वर्ष से अधिक समय तक रहना पड़ा। इसी समय अन्धे को आँख मिलने की तरह दुनिया को देखने की आँख मुझे भाई साहब की कृपा से मिली। वह उस समय मुसाफ़िर विद्यालय में अरबी अध्यापक थे। हम सब लोग उन्हें भाई साहब कहा करते थे। अभी 'मौलवी आलिम-फाज़िल' की उपाधि उन्हें प्राप्त न हुई थी। हम दोनों की उम्र में दो-चार ही वर्ष का अन्तर होगा, इसलिए आत्मीयता स्थापित करने में आयु बाधक नहीं हो सकती थी। मुसाफिर विद्यालय का नाम सुनकर, आर्यसमाजी विचारों से प्रभावित मैं प्रयाग के माघ मेले से आगरा पहुँचा। प्रयाग में किसी ने कहा भी कि लिखा-पढ़ी करके पहिले भर्ती के बारे में निश्चय हो जाने पर जाइये। लेकिन, अब छोटा-मोटा घुमक्कड़ बन चुका था, इसलिए मुझे भय नहीं मालूम हुआ कि यदि विद्यालय में भर्ती नहीं हुई, तो क्या होगा। मुसाफिर विद्यालय में भर्ती होने में कोई दिक्कत नहीं हुई। मैं वहाँ के सभी विद्यार्थियों से अधिक संस्कृत जानता था, उर्दू-मिडल पास था और बोलने-चालने, देखने-सुनने में भी प्रभाव रखता था।

भाई साहब हमें अरबी पढ़ाते थे। विद्यालय के कोर्स में जितनी संस्कृत थी, उससे कहीं अधिक मैं जानता था, इसलिए मुझे उसके पढ़ने से छुट्टी थी। अरबी की पढ़ाई के बाद दूसरी शिक्षा थी भाषण और शास्त्रार्थ की, जो अधिकतर प्रयोग-रूप में होती थी। अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिए सभी पुस्तकें हमारे पाठ्य में थीं। मुसाफिर विद्यालय तथा पं. भोजदत्त के उर्दू साप्ताहिक 'आर्य मुसाफिर' के कार्यालय में जितनी भी पुस्तकें थीं, सबको मैंने पढ़ डाला। आर्यसमाज वैदिक धर्म और स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के प्रचार करने पर बहुत जोर देता था। स्वामी दयानन्द ने देशभक्ति और देश की स्वतन्त्रता का सन्देश अपने ग्रन्थों में दिया था, इसलिए देशभक्ति का वहाँ स्वागत था। प्रथम विश्व-युद्ध का आरम्भिक समय था। आर्यसमाज के राष्ट्रीय भावों की भनक अंग्रेजी अधिकारियों को लग गई थी, इसलिए वह आर्यसमाज और उसके उपदेशकों को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। इस वातावरण में आकर्षण राष्ट्रीयता की ओर होना स्वाभाविक था। उसके लिए किसी का पथ-प्रदर्शन प्राप्त हो, तो सालों की मंजिल महीनों में तै हो सकती थी, और हमारे लिए ऐसे पथ-प्रदर्शक थे, भाई महेशप्रसाद।

महेशप्रसाद का जन्म इलाहाबाद जिले में कायस्थान कस्बे में हुआ था। मेट्रिक पास कर पुलिस सब-इन्सपेक्टर बनने की बात करीब-करीब तै हो गई थी, किन्तु प्रयाग में पढ़ते वक्त वह उग्र देशभक्तों के सम्पर्क में आये थे, जिसके कारण घर का आग्रह रहने पर भी उन्होंने पुलिस की नौकरी पसन्द नहीं की और आर्यसामाजिक विचारों के कारण आर्य मुसाफिर विद्यालय में अरबी पढ़कर उपदेशक बनने के लिए आगरा चले आये। मुसाफिर विद्यालय से निकलनेवाले प्रथम स्नातकों में वह और पं. धर्मवीर (मेरठी) थे। वह न वक्ता थे और न लेखक, पर शिक्षक होने के सारे गुण उनमें थे। जल्दी किसी के ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकते थे, पर धीरे-धीरे जो प्रभाव उनका पड़ता, वह बड़ा पक्का होता था। पढ़ाई समाप्त करने के बाद मुसाफिर विद्यालय में उन्हें अरबी का अध्यापक बना दिया गया। उनके बाद जो मण्डली आई, वह मेरे समय दूसरी और अन्तिम श्रेणी में थी। भाई साहब ज्यादा सौभाग्यशाली थे। प्रयाग से उर्दू में 'हिन्दुस्तान' के नाम से उग्र राष्ट्रीयतावादी पत्र निकलता था, जिसके सभी सम्पादक जेल की हवा खाने के लिए भरती होते थे। सम्पादकों में महात्मा नन्दगोपाल भी थे, जिनका प्रभाव भाई साहब पर बहुत पड़ा था। श्री अम्बाप्रसाद सूफी जैसे और भी कितने ही देशभक्तों के जीवन से उन्हें देशभक्ति की शिक्षा मिली थी।

हमें पाठ्य-पुस्तकों से अधिक इन बातों को भाई साहब बतलाया करते थे, इस प्रकार मुसाफिर विद्यालय धार्मिक नहीं, राष्ट्रीयता का विद्यालय था। उसके संस्थापक पं. भोजदत्त—अब बुढ़ापे और रोग के कारण कुछ नहीं कर सकते थे। विद्यालय का सारा भार उनके ज्येष्ठ पुत्र डा. लक्ष्मीदत्त के ऊपर था, जो 'आबिर' अकबराबादी के नाम से उर्दू में शेर कहा करते थे। उनकी कविताओं में काफी गर्मी रहती थी। वह नहीं चाहते थे कि विद्यालय उग्र राष्ट्रीय विचारों के कारण खतरे में पड़ जाये, पर उनकी तरफ से हमारे रास्तों में कोई बाधा भी नहीं थी।

1. महेशप्रसादजी पर एक लेख 'अतीत से वर्तमान' में भी है।

भाई साहब ने हमें आँख दी, देश-पुकार सुनने के कान दिए, प्राणदान करनेवाले हुतात्माओं के अनुकरण करने की प्रवृत्ति दी। भाई साहब केवल स्वदेशी और मोटा-झोटा कपड़ा पहनते थे। उनके बिना कहे ही हमने इस बात में उनका अनुसरण किया। मुसाफिर विद्यालय से निकलते वक्त (1916 की फरवरी में) अब मैं दूसरा ही था, घुमक्कड़ कुछ और ही था।

यद्यपि मैं अब आर्यसमाज का उपदेशक बन सकता था और मुझे वैसा करना भी चाहिए था; किन्तु विद्या की पिपासा मुझे खींचकर लाहौर ले गई, जो आर्यसमाज के गढ़ होने के साथ विद्या-केन्द्र था। वहाँ पहुँचने पर मैंने भाईसाहब को लिखा और वह भी अपने अरबी ज्ञान से असन्तुष्ट होकर लाहौर चले आये। उन्होंने कुछ साल लगाकर पंजाब युनिवर्सिटी की अरबी की सर्वोच्च परीक्षा 'मौली फाज़िल' पास की। यह परीक्षा पास करनेवाले वह सबसे पहिले हिन्दू थे। लाहौर में भाई साहब से हमारा सम्पर्क रहा, किन्तु वह अपने पढ़ने में एकाग्र होकर डटे हुए थे, कहीं इधर-उधर जाने का नाम नहीं लेते थे; पर घुमक्कड़ी-धर्म के अनुयायी मेरे लिए छह महीने से अधिक एक जगह रहना पाप था। भाई साहब को जो देना था, मेरे जीवन में जो परिवर्तन करना था, वह सब कर चुके थे। पढ़ाई समाप्त करने के बाद हिन्दू युनिवर्सिटी में उन्हें अरबी-अध्यापक का काम मिल गया, और यही काम करते उन्होंने अपने जीवन को समाप्त किया। बनारस में मैं बराबर उनके दर्शन करता था। वह अन्तिम समय तक आर्यसमाज के सिद्धान्तों में विश्वास रखते थे और उत्सवों पर व्याख्यान देते जाते थे। मैं आर्यसमाज, वेद और ईश्वर सबसे निर्मुक्त हो गया था। पर, उस साधु पुरुष के प्रति मेरी श्रद्धा में कोई अन्तर नहीं आया।

19

श्री सत्यनारायण कविरत्न

1915-16 ई. में आगरा में आर्य मुसाफिर विद्यालय में पढ़ते समय हिन्दी के इस प्रतिभाशाली कवि के दर्शन करने का मुझे अनेक बार अवसर मिला। हिन्दी का मैं उस समय प्रेमी था, पर विद्यार्थी आरम्भिक था। जहाँ तक हिन्दी कविता का सम्बन्ध है, उसका पठन-पाठन मेरा उतना ही तक था, जितना कि वह पाठ्य-पुस्तकों में आ गई थी, या 'सरस्वती' तथा दूसरे राष्ट्रीय पत्रों में छपा करती थी। उर्दू का विद्यार्थी होने से मेरे रास्ते में कोई रुकावट नहीं थी, क्योंकि संस्कृत की पढ़ाई ने हिन्दी की कमी को पूरा कर दिया था।

पं. सत्यनारायण बिल्कुल ग्रामीण पोशाक में रहते थे, वैसे ही चौबन्दी उनके शरीर पर रहती और वैसी ही धोती। साफ-सुथरा रहने पर किसानों से अलग समझे जाते, इसीलिए वह अपने कपड़ों को मानो जान-बूझकर मैला रखते थे। उनकी चौबन्दी तो जरूर ही पसीने के दागवाली थी। उनको देखकर कोई भी नहीं कह सकता था कि उन्होंने कालेज में शिक्षा पाई है और हिन्दी के एक प्रतिष्ठित कवि हैं। अपनी प्रतिभा का पूरा उपयोग उन्होंने नहीं किया। जो चीजें लिखीं, वह मात्रा में बहुत कम थीं, यद्यपि गुण के बारे में वही बात नहीं कही जा सकती। वह श्रद्धालु पुरुष थे। कृष्ण, उनके ब्रज और उस मिट्टी की भाषा के प्रति उनका अनुराग बहुत बार समय-सीमा को पार कर जाता था। स्वदेशी की तो वह साकार मूर्ति, और इतने आग्रही कि विदेशी सभी चीजें उनको तुच्छ मालूम होती थीं। उर्दू मुशायरे बहुत समय से होते चले आये थे, लेकिन हिन्दी कवि-सम्मेलनों की अभी परिपाटी नहीं बनी थी, तो भी छोटी-छोटी सभाओं में कविताएँ पढ़ी जाती थीं। 'कविरत्न' भी अपनी कविताएँ सुनाते थे।

मैं उस समय उग्र आर्यसमाजी विचारों का था और वह कट्टर सनातनधर्मी थे। शायद इसके कारण भी मैं उनके गुणों को ठीक से परख नहीं सकता था। लेकिन विचारों में कट्टर रहने पर भी व्यवहार में साम्प्रदायिकता नहीं थी, यह भाई महेशप्रसाद की ही कृपा थी।

पं. सत्यनारायण तीस वर्ष के करीब थे, जब कि उन्होंने ब्याह किया। इस ब्याह के सम्बन्ध में बहुत-सी कथाएँ उस समय प्रसिद्ध थीं। उनकी पत्नी हरद्वार के एक कन्या विद्यालय की प्रधानाध्यापिका और संचालिका की पुत्री थीं। उन्होंने हिन्दी और संस्कृत का अध्ययन किया था। तरुणाई की अनेक उमंगें होती हैं, जो सत्यनारायण की सरल ग्रामीण मूर्ति को देखकर विलीन हो जाती थीं। ऐसी सुशिक्षिता तरुणी से ब्याह करने से पहिले उन्हें सोच लेना चाहिए था। वह ग्रामीण ब्रज के गोप बने रहे, जिसका प्रभाव दोनों के सम्बन्ध पर बहुत बुरा पड़ा, और सत्यनारायण को अपनी वेदना को प्रकट करते हुए कहना पड़ा—"भयो क्यों अनचाहत को संग।"

20

मेरे मुसाफिर विद्यालय के बन्धु

आदमी जीवन के नये सन्देशों को अकेले भी सुन और ग्रहण कर लेता है, लेकिन यदि साथी मिल जायँ, तो विचित्र आनन्द मिलता है। मुसाफिर विद्यालय के मेरे साथियों में रामगोपाल, अभिलाष और भगवती की मित्रता मेरे लिए बड़ी चीज थी। तीनों साथियों में पहिले दो अब दुनिया छोड़कर चले गए हैं।

1. रामगोपाल—भाई रामगोपाल का स्मरण पहिले भी मैं लिख चुका हूँ। वह मुसाफिर विद्यालय की अन्तिम कक्षा में थे, और मैं पहिली कक्षा में। वह नार्मल पास थे। आशा थी कि किसी लोअर-अपर-प्राइमरी स्कूल में मुदर्रिस बनकर अपने परिवार का भार वहन करते, पर उसकी जगह वह आर्य मुसाफिर बनने के लिए आगरा चले गए। भाई साहब के सम्पर्क में आकर वह भी आदर्शवादी देशभक्त बन गए। वहाँ की पढ़ाई समाप्त करने के बाद कुछ दिनों तक कुरुक्षेत्र में उन्होंने उपदेशकी की। इसी बीच में मैं लाहौर चला गया। मैं अपने और किसी भी तरुण के लिए ज्ञानार्जन करके आगे बढ़ने से रुकने को बुरा मानता था, इसलिए अपने बन्धुओं को प्रेरणा देता रहता था। भाई रामगोपाल इसी कारण लाहौर चले आये। वह संस्कृत या अंग्रेजी पढ़ना चाहते थे, लेकिन उसमें कई बाधाएँ थीं, तो भी उन्होंने भारत से बाहर जाकर बस गए भारतीयों में काम करने का निश्चय किया था और उसी के लिए तैयारी करने लगे।

भाई रामगोपाल विवाहित थे, पर अभी उनकी कोई सन्तान नहीं थी। हम एक तरह का स्वप्न देखते थे, सगे भाई से भी अधिक स्नेह रखते थे। रामगोपाल रत्न थे। वह अपनी कोई चीज भी हम लोगों के लिए अदेय नहीं समझते थे। उनको एक-दो ट्यूशन मिल गए थे, फिर लड़कों के जेल में नौकरी प्राप्त हो गई। मुझे पैसों की जरूरत नहीं थी, क्योंकि डी. ए. वी. कालेज के संस्कृत विभाग में मुझे छात्रवृत्ति मिलती थी और ट्यूशन से भी दस-पन्द्रह रुपया पा जाता था, जो मेरे लिए पर्याप्त था। पर, भाई महेशप्रसाद बेसरोसामानी की स्थिति में रहकर ओरियन्टल कालेज में अरबी पढ़ते थे। रामगोपाल अपनी सारी आमदनी अपने गुरु को देने के लिए तैयार थे, यदि वह उसे स्वीकार करते। भाई रामगोपाल सुवक्ता थे। वह जोशीले भाषण दे सकते थे। तैयारी करके बड़ी शान के साथ बोलते थे। सुननेवाला उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। वह महसूस करते थे कि ज्ञान को अध्ययन द्वारा और गम्भीर बनाने की आवश्यकता है।

1924 या 1925 ई. तक रामगोपाल अपनी साधना में लगे रहे। हमारी सलाह पर उन्होंने अपनी पत्नी को बुला लिया। उनकी दो-तीन सन्तानें भी हुईं। इसी समय लाहौर में प्लेग आया। रामगोपाल पत्नी और एक पुत्र को छोड़ अपने सारे अरमानों को लेकर चल बसे। पं. बलदेव चौबे (पीछे स्वामी सत्यानन्द) हमारी बन्धु-मंडली में से एक थे। उस समय रामगोपाल की उन्होंने बड़ी सेवा की। मुझे पता नहीं था। 1925 ई. में मैंने पुराने पते पर हाजीबाग जिले से एक चिट्ठी लिखी थी, जो लौट आई। उस पर किसी ने लिख दिया था—पंडित रामगोपाल अब इस संसार में नहीं रहे। बलदेवजी ने फिर उनकी बीमारी और विपदग्रस्त परिवार की बातें बतलाईं। चौबेजी बराबर रामगोपालजी की पत्नी और उनके पुत्र का ख्याल रखते तथा सहायता करते थे।

2. अभिलाष–अभिलाषचन्द्र मुसाफिर विद्यालय में मेरी कक्षा के ही विद्यार्थी थे। पढ़ाई दो साल की थी। संस्कृत पढ़ने की आवश्यकता न होने से मैंने एक साल में ही उसे समाप्त कर दिया। अभिलाष विद्यालय में दाखिल हो गए, लेकिन डटकर पढ़ना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। बोलने-चालने में वह बहुत तेज थे। मुट्ठी-भर हड्डी के सिवा उनके छोटे-से शरीर में और कुछ नहीं था। पर, सचमुच वह आफत के परकाले थे। चुटकी बजाते वह चलते-चलते परिचय कर लेते। घनिष्ठता स्थापित करने का यह अर्थ नहीं कि वह उससे कोई अपनी स्वार्थसिद्धि करना चाहते थे। बात करना भी एक कला है, इसका पता अभिलाष के थोड़े परिचय से भी मालूम हो जाता था। मुसाफिर विद्यालय में उनकी अरबी की पढ़ाई इतनी ही हुई कि वह कुरान पढ़ सकते थे। कभी जमकर दो महीने भी वहाँ रहते मैंने उन्हें नहीं देखा। एक चक्कर नहीं था, वह कई चक्करों में रहते थे। पुस्तक की जगह उन्हें फोटोग्राफी ज्यादा पसन्द थी। घड़ीसाजी करते थे। एक दिन बारूद और क्या-क्या चीज लिये विद्यालय पहुँचे। बम बनाने की बातें बतलाकर कागज में कुछ मसालों को रखकर उसका भड़ाका करके भी दिखलाया। आवाज इतनी तेज नहीं हुई कि दूर तक जाती लेकिन बारूद का धुआँ तो कुछ मिनटों तक उड़ता रहा। गाँधी-युग से पहिले की यह बात है, जब कि उग्र राजनीति और बम-पिस्तौल एक समझे जाते थे। तरुणों में इसकी ओर विशेष आकर्षण होता था। वायसराय पर बम फेंककर रामबिहारी बोस हाथ से निकल गए थे; लेकिन उनके साथियों पर इसी समय दिल्ली में मुकदमा चल रहा था, जिसका परिणाम कुछ को फाँसी के रूप में होनेवाला था। हमें यह आशा थी कि वह भी किसी दिन पकड़े जायेंगे।

अभिलाष चाहे हमारे साथ बराबर नहीं पढ़े, पर हमसे उनका सम्पर्क बराबर बना रहा, और घनिष्ठता कम होने की जगह बढ़ती ही गई।

मालूम हुआ मैं लाहौर में हूँ, तो अभिलाष एक दिन वहाँ चले आये और कुछ दिनों में मोटर ड्राइवरी सीखकर ड्राइवरी का लाइसेन्स भी ले लिया। 1919 के अप्रैल में मेरे जिम्मे बलदेव भाई की बहिन और रामगोपाल भाई की पत्नी को लाकर कन्या महाविद्यालय जालन्धर में दाखिल कराने का काम सुपुर्द हुआ। मैं जाते वक्त अभिलाष के गाँव ढकियाबरा (जिला शाहजहाँपुर) में चला गया। गाँव स्टेशन (शायद तिलहर) से काफी दूर था। बीच में नदी भी पार करनी पड़ी। अभिलाष आतंकवादियों के सम्पर्क में आ चुके थे। अपने को छिपाने के लिए उन्होंने शाहजहाँपुर के एक सरकारपरस्त रईस के यहाँ मोटर ड्राइवरी कर ली थी। एकाध मित्र पकड़े गए थे, इसलिए उनको अपने को छिपाने की बड़ी चिन्ता थी। अपने यहाँ शराब की बोतलें रख रक्खी थीं, ताकि मालूम हो कि ऐसा शौकीन आदमी कभी बम-पिस्तौल के रास्ते में नहीं पड़ सकता। पिस्तौल अब भी उनके पास थी। यह ख्याल शायद उनको अपने जीवन की एक नई घटना के कारण हुआ था। किसी परिवार में उनका आना-जाना होता था। परिवार की तरुण बहू से उनका प्रेम हो गया और उसके आग्रह पर उसे साथ लेने के लिए मजबूर होना पड़ा। वह तरुणी इस समय ढकियाबरा में उनके घर में थी। अभिलाष की माता बहुत ही सौम्य प्रकृति की महिला थीं, अपने पुत्र को बहुत प्यार करती थीं। उसके रंग-ढंग को न समझ पाती थीं, न पसन्द करती थीं, लेकिन पुत्रस्नेह के कारण बेबस थीं।

अभिलाष को मशीनों से बड़ा शौक था। वस्तुतः यदि उन्हें इस तरफ बढ़ने का मौका मिला होता, तो वह अपना जौहर दिखाये बिना नहीं रहते। पर, अंग्रेजी छठे-सातवें दर्जे से आगे पढ़ नहीं सके थे। आगे बढ़ने के लिए कम से कम मैट्रिक पास की तो नितांत आवश्यकता थी ही। हवाई जहाज अभी-अभी हिन्दुस्तान में आये थे। उन्होंने चाहा कि उसके चालक की शिक्षा प्राप्त करूँ। किसी राजा के पास हवाई जहाज था। अभिलाष अधिकारी से मिलकर चुपके-चुपके कितनी ही बातें सीखते रहे, लेकिन उससे कहाँ काम हो सकता था ? इसी यात्रा में निश्चय हुआ कि वह मेकेनिकल इंजीनियर बनें। अन्त में उन्होंने उसका सर्टिफिकेट प्राप्त भी कर लिया। पर, उनके रास्ते चारों ओर से रुके हुए थे। हाथ-पैर कितने ही मारे, लेकिन फल कुछ नहीं हुआ।

अन्तिम बार अभिलाष को मैंने 1926 ई. में देखा। वह हापुड़ या गाजियाबाद (मेरठ जिला) में किसी मोटर मालिक के यहाँ ड्राइवर और मरम्मत करने का काम करते थे। उनकी एक लड़की थी। पत्नी के साथ सम्बन्ध अब मधुर नहीं रह गया था। अभिलाष अपनी जिम्मेवारी को छोड़ने के लिए तैयार हों, ऐसा हृदय

ही उनको नहीं मिला था। अब आगे उड़ने के सारे संकल्प खतम हो गए थे, पारिवारिक जीवन भी दुस्सह हो गया था। पर लड़की का ख्याल उनको बराबर रहता था।

उसके बाद भाई भगवती के पत्र से मालूम हुआ—"अभिलाष दो टुकड़ों के लिए ईसाई हो गया, पत्नी और लड़की सहित।" जिसने कभी आर्यसमाजी के तौर पर बाइबल का अध्ययन करके ईसाइयों के धर्म का खंडन करना अपना कर्तव्य समझा था, उसमें यह परिवर्तन! भगवती भाई ने लिखा था : मैंने उसे कुत्ता और क्या-क्या कह करके फटकारा था और उसने सिर झुकाकर सब सुन लिया था। इसे सुनकर अभिलाष के प्रति मेरा हृदय भर आया। मैंने समझ लिया, जरूर अपनी लड़की के भविष्य का ख्याल करके अभिलाष ने ऐसा किया होगा। कुछ सालों बाद यह भी पता लगा कि अभिलाष अब इस संसार में नहीं रहे। अद्भुत प्रतिभा लेकर वह पुरुष दुनिया में आया था, लेकिन जैसी दुनिया उसे मिली थी, उसमें उसके आगे बढ़ने का कोई रास्ता नहीं मिला और असफलताओं तथा निराशाओं का मुख देखते उसे महाप्रस्थान करना पड़ा।

3. भगवतीप्रसाद—भगवती भाई भी मुसाफिर विद्यालय में हमारे तरुणाई के साथ स्वप्न देखनेवालों में थे। मैंने उर्दू हिन्दी किताबों से पढ़ी थी। फिर घुमक्कड़ी में उसे बोलने का अभ्यास हुआ। मेरी मातृभाषा भोजपुरी थी, इसलिए हिन्दी बोलना-समझना मेरे लिए काफी मुश्किल काम था। तो भी 1915 ई. में मुसाफिर विद्यालय में पहुँचने के समय मैं अब हिन्दी में पीछे नहीं था। पर, यहाँ मुझे उस हिन्दी को सुनने का मौका मिला, जो कि उसके अपने क्षेत्र में बोली जाती है। भगवती भाई और उनके अनुज मुरारी (माणिकचन्द) बुलन्दशहर के कोटा गाँव के रहनेवाले थे, जो खड़ी बोली के क्षेत्र में है। वह अपने ठेठ गाँव की बोली नहीं बोलते थे, तो भी उनकी भाषा में ऐसी लचक और बेपर्वाही देखने में आती थी। मेरे सहपाठी मुंशी मुरारीलाल सकलडीहा (बनारस) के पास के रहनेवाले मेरी ही तरह भोजपुरी-भाषी थे। उन्होंने उर्दू मिडल पास किया था, किन्तु उनकी भाषा भोजपुरी के प्रभाव से मुक्त नहीं थी। वह कभी-कभी ऐसे शब्द या मुहावरे बोल देते, जिसे भगवती पकड़ लेते। फिर संस्कृत के ज्ञान के बल पर मैं मुरारी भाई के पक्ष का समर्थन करता। पर, अपने मन में तो जानता ही था कि हिन्दी भाषा के लिए प्रमाण हम और मुरारी भाई नहीं बल्कि भगवती भाई हैं, जिनके गाँव-पुर की वह मातृभाषा है।

मुसाफिर विद्यालय में रहते भगवती भाई के साथ हमारा सदा के लिए घनिष्ठ और मधुर सम्बन्ध स्थापित हो गया। हमारे रास्ते अलग हुए, हमारे बीच देश-काल का अन्तर पड़ गया; किन्तु वह पुराना सम्बन्ध अब भी उतना ही लोकप्रिय है। जब कभी भगवती भाई की चिट्ठी मिल जाती है, तो एक विचित्र हर्ष और उत्कण्ठा पैदा हो जाती है। 1916 ई. के आरम्भ में मैंने आगरे से लाहौर के लिए प्रस्थान किया। भगवती भाई अपने गाँव कोटा में उस समय थे। ऐन होली के दिन पहुँचकर दो-तीन दिन उनके यहाँ रहा। हिन्दीभाषी क्षेत्र (कुरुक्षेत्र) के गाँवों के जीवन को नजदीक से देखने का इस समय मुझे सबसे पहिले अवसर मिला। खेतों में होले तैयार थे। हम होले भूनकर खाते थे। भगवती भाई की पहिली पत्नी उस वक्त मौजूद थीं। उनके हाथ की मकई के बारीक आटे की रोटी मैंने खाई, वह जीवन में भूल नहीं सकती थी। मकई की रोटी ऐसी बन सकती है, इस पर मुझे विश्वास नहीं हो सकता था।

मुसाफिर विद्यालय के बाद एक बार फिर भगवती भाई के साथ काम करने का मौका मिला। बुन्देलखण्ड में स्वामी ब्रह्मानन्द की प्रेरणा से उनके पुत्रद्वय—श्री पन्नालाल और श्यामलाल—ने कुछ हजार रुपये विद्यालय के लिए देने का निश्चय किया। विद्यालय आगरे के मुसाफिर विद्यालय के ढंग का खोला जानेवाला था। भाई महेशप्रसाद लाहौर में पढ़ने में लगे हुए थे। उन्हें 'मौलवी फाज़िल' होना था, इसलिए वह स्वयं इस भार को सँभाल नहीं सकते थे। उन्होंने पहिले भगवती भाई को महेशपुरा (जिला जालौन) भेजा। भगवती भाई ने कई महीने तक बड़ी तत्परता के साथ गाँव-गाँव में फिरकर प्रचार करते स्थान ठीक किया, इसके बाद मैंने जाकर विद्यालय का आरम्भ करते उसका काम सँभाला। भगवती भाई इसके बाद अधिक दिनों तक वहाँ नहीं ठहरे।

भगवती भाई सिकन्दराबाद गुरुकुल में पढ़े नहीं थे, लेकिन उसके संस्थापक पं. मुरारीलाल शर्मा और दूसरों के बारे में काफी जानते थे। इस विषय में हमारी अभिज्ञता को बढ़ाते रहते थे। उस समय आर्यसमाज कई

बातों में उत्तरी भारत में प्रगतिशीलता का प्रतीक था। पर, बाबू और ब्राह्मण पार्टी का शिलारोपण प्रदेश में उस समय हो चुका था। गुरुकुल काँगड़ी बाबू (अब्राह्मण) पार्टी का गढ़ था, और ज्वालापुर महाविद्यालय ब्राह्मण पार्टी का। पं. मुरारीलाल शर्मा की पढ़ाई उर्दू तक ही सीमित थी, पर वह बड़े सुवक्ता थे। वह भी ब्राह्मण पार्टी के समर्थक थे। ब्राह्मण आर्यसमाज के मूर्ति-पूजा-विरोधी तथा दूसरे सिद्धान्तों को मानने के लिए तैयार थे, लेकिन, उन्हें यह सह्य नहीं था कि अब्राह्मण भी उनकी बराबरी करे। इसीलिए यह मतभेद खड़ा हुआ था, जो कभी-कभी उग्र हो उठता था। हमारे मुसाफिर विद्यालय में भी इसका प्रभाव पड़ा था। विद्यालय के संस्थापक पं. भोजदत्त शर्मा, उनके पुत्र डा. लक्ष्मीदत्त ब्राह्मण-पार्टी के समर्थक थे। भगवती भाई अपने साथ इन भावों को लेकर आये थे। मुझे यह बहुत बुरा लगता था। मैं जात-पाँत और वर्ण-व्यवस्था का कट्टर विरोधी था। मैं इन विचारों को आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त के विरुद्ध समझता था। भगवती भाई से जब-तब इसके बारे में झड़प हो जाती थी। पर, विरोध करनेवाला मैं स्वयं ब्राह्मण-कुल का था, इसलिए वह मन मसोसकर रह जाते। इसके बाद भगवती भाई से भेंट कभी कुछ घंटों के लिए या पत्रों द्वारा ही होती रही। वह उस समय के साथ उड़नेवालों में थे, कितने ही प्रयासों में सहकारी रहे। पुराने साथियों में से अब भी वह मौजूद हैं।

21

श्री सेमुएल आइजक

1952-53 में एक चिट्ठी मिली, जिसके लेखक प्रो. जगदीशचन्द्र आइजक, इलाहाबाद के क्रिश्चियन कालेज के संस्कृत और हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष थे, भाषा प्रांजल हिन्दी थी और हृदय शुद्ध भारतीय। जगदीशचन्द्र ने अपना परिचय देते हुए लिखा था, 'मैं आगरा के बपतिस्त हाईस्कूल के हेड मास्टर आइजक साहब का एकमात्र पुत्र हूँ।' मेरी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा।

1915-16 ई. में आगरे में रहते वक्त जो मधुर स्मृतियाँ अब भी मेरे हृदय को आनन्दित करती हैं, उनमें आइजक साहब की स्मृति बहुत ऊँचा स्थान रखती है। मुसाफिर विद्यालय, मुख्यतः मुसलमानों और ईसाइयों के ऊपर जबर्दस्त प्रहार करने के लिए तथा हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए कायम हुआ था। इसी लड़ाई के हम भवभावी सैनिक थे। हमारे मन में यही भाव डाला जा रहा था कि इस्लाम और ईसाई धर्म की हमारे देश को आवश्यकता नहीं। उनके कारण हिन्दू धर्म खतरे में है। शुद्धि करके सबको हमें आर्य बना लेना चाहिए। इस मनोभाव के कारण यही आशा हो सकती थी कि हम हरेक मुसलमान और ईसाई से घृणा करते होंगे। पर, यह बात बिल्कुल ठीक नहीं थी। मुसलमानों के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का उस समय हमें उतना मौका नहीं मिला, पर ईसाइयों के सम्पर्क में जरूर आये। शंका-समाधान या शास्त्रार्थ के वक्त हम मुर्गों की लड़ाई लड़ते थे, पर उसके बाद ही भाई-भाई बन जाते थे। कालपी में वहाँ के ईसाई प्रचारक को विश्वास नहीं हुआ, जब हमने उन्हें भोजन के लिए निमंत्रित किया और अपने साथ बैठाकर भोजन किया। शायद ऐसा भाव पैदा करने में भाई महेशप्रसाद भी कारण थे।

आइजक साहब के साथ सबसे पहले उन्हीं का परिचय हुआ था, फिर मैं भी उनके घर जाने लगा। बपतिस्त हाईस्कूल आगरे का उस समय एक अच्छा स्कूल था। इसके हेडमास्टर आइजक साहब बड़े ही मिलनसार और सरल स्वभाव के थे। उनके घर में जो उदाहरण मुझे देखने को मिला, उसने अपनी अमिट छाप छोड़ी। आइजक साहब के पिता ब्राह्मण से ईसाई हो गए थे। आइजक (इसहाक) विदेशी नाम शायद ईसाई बनानेवाले पादरी ने दिया था। ठीक नहीं कह सकता, पर शायद लड़कपन का नाम शामलाल था, जिसे समुएल कर दिया गया। आइजक साहब की वृद्धा माता अपने धर्म पर आरूढ़ थीं, यद्यपि पुत्र और बहू ईसाई धर्म को माननेवाली

थी। बेचारी वृद्धा मन में चाहे कुछ भी समझती हो, पर बाहर से तो ईसाई धर्म को बुरा-भला नहीं कह सकती थी। ज्यादा अपटुडेट और धर्म में कट्टर थीं, लेकिन पुत्र अपनी माता का अनन्य भक्त था, माता के विचारों और हृदय को जरा भी ठेस न लगे, इसका बहुत ख्याल रखता था।

धार्मिक मतभेद कितना ही कठोर हो, तब भी आदमी-आदमी के बीच स्नेह स्थापित हो सकता है, इसकी शिक्षा मुझे आइजक साहब से मिली। आइजक साहब मुझसे ज्यादा ज्ञान-वयोवृद्ध, ग्रेजुयेट और एक हाईस्कूल के हेडमास्टर थे। हमारे धार्मिक विचारों का कभी जिक्र ही नहीं आया।

माता बड़ी सीधी-सादी ब्रज की बुढ़िया थीं। उनकी अपने धर्म में बड़ी आस्था थी, चाहती थीं कि एक बार चारों धाम हो आयें। मैं पौने चार धाम हो आया था। अहमदाबाद से द्वारिका जाना नहीं हो सका था, नहीं तो पूरे चार धाम का तीर्थयात्री था। वह बोलीं—"बेटा, एक बार मुझे तीर्थ करा लाओ।" कितनी सरल और भावुक थीं। उनकी इच्छा को पूर्ण करना हमारे बस से बाहर की बात थी, अथवा अपनी पढ़ाई छोड़कर दो-चार हफ्ते के लिए गैरहाजिर होना हमने पसन्द नहीं किया, अथवा आर्यसमाजी विचारों ने जोर मारा, जिसके कारण लकड़ी-पत्थर पूजने से घृणा थी। कुछ भी हो, वृद्धा माता की इच्छा हम पूर्ण नहीं कर सके। आइजक धर्म में ईसाई थे, अब भी ईसाई हैं, पर वह पूरे भारतीय थे। जिस समय की मैं बात कह रहा हूँ, उस वक्त बाहर जाते समय वह कोट-पेण्ट भी पहनते थे। अब 70 वर्ष के, किन्तु चलते-फिरते स्वस्थ वृद्ध के शरीर पर धोती-कुर्ता रहता है। मुँह पर सफेद बड़ी-बड़ी मूँछें और सिर पर कुछ बढ़े हुए सफेद बाल हैं, जिनको देखकर कौन कह सकता है कि वह किसी भी हिन्दू से कम भारतीय हैं। अपनी संस्कृति का आदर और स्नेह उन्होंने अपने इकलौते पुत्र का नाम जगदीशचन्द्र रख करके किया, उसे संस्कृत हिन्दी में एम. ए. कराया।

जगदीशचन्द्र हिन्दी के कवि भी हैं और अभी बिल्कुल नौजवान हैं। आगे बढ़ने का रास्ता बिल्कुल खुला हुआ है। उनकी दादी के सरल स्वभाव का जो उल्लेख मैंने अपनी 'जीवन-यात्रा' में किया था, उसको पढ़कर बचपन की कितनी बातें याद आई होंगी। मेरी पुस्तकों के जंगल में जगदीशचन्द्र ही का काम था, जो उन्होंने 'जीवन-यात्रा' को ढूँढ़कर पढ़ा। आइजक नाम से भ्रम होने की कोई गुंजाइश ही नहीं थी। वह उनके पिता का ही उल्लेख था।

जीवन में यह पहिली बार था, जब धार्मिक मतभेद के प्रति इतनी सहिष्णुता का पाठ मुझे पढ़ना पड़ा। मुझे अपने नाना की बातें याद आती थीं, जो खाने-पीने में छूत न रखने के कारण एक राजपूत डाक्टर को क्रिस्तान समझकर परमपतित समझते थे। आज की पीढ़ी उस कट्टरता को नहीं समझ सकती, जो मेरे बचपन में भी मौजूद थी। आइजक महाशय मेरे सामने एक आदर्श भारतीय का उदाहरण पेश कर रहे थे। धर्म बदलने से संस्कृति नहीं बदलती, अपने पूर्वजों के यश-अपयश की जिम्मेवारी से आदमी मुक्त नहीं हो जाता। आज भारतीय संस्कृति में डूबे कितने ही ईसाई मिलते हैं। बंगाल के एच. सी. मुकर्जी का अभी देहान्त हुआ। उस दिन हालैंड हाल (इलाहाबाद) के अध्यक्ष श्री चक्रवर्ती को देखा। वह अपने शुभ्र भारतीय भेस में कितने आकर्षक मालूम होते थे। वेश भी बदलता रहता है। मेरे समय कालेजों में भी लड़के अपनी पोशाक में जाते थे, अब उनमें से अधिकांश कोट-पेण्ट पहनते हैं। कोट-पेण्ट पश्चिम से भले ही आया हो, लेकिन वह पश्चिम की नहीं, बल्कि आधुनिक युग की देन है, वैसे ही जैसे रेल और मोटर। पश्चिम की पोशाक क्या थी, इसके लिए क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स की तस्वीरें देखिये।

35-37 वर्ष बाद अपने पुत्र से मेरे बारे में आइजक महाशय ने सुना। चिरविमुक्त वृद्ध मित्रों को एक दूसरे के मिलने की बहुत उत्कंठा होती है। उनके घनिष्ठ मित्र मौलवी महेशप्रसाद अब दुनिया में नहीं रहे थे। तीनों एक साथ मिले होते, तो कितना अच्छा रहता। मैंने जगदीशचन्द्र को लिख दिया था, प्रयाग में आऊँगा। प्रयाग गया और अपने वृद्ध मित्र को देखा। नमस्कार करना पर्याप्त नहीं था, दोनों छाती लगाकर मिले। शायद अब पिता अधिकतर अपने पुत्र के साथ ही रहते हैं। रहना ही चाहिए, अकेले रहने में एकान्त अनुभव करते। इस साल (1956 में) प्रयाग गया। साहित्य-गोष्ठी का विज्ञापन पढ़ा, तो जगदीश अपने पिता के साथ आये। फिर दोनों मिले।

22
श्री 'खुरसन्द'

जिस समय की मैं बात करता हूँ, उस समय वह स्वामी आनन्द नहीं हुए थे। स्वामी आनन्द होने के बाद मैंने फिर उनके दर्शन नहीं किए, यद्यपि उन्होंने अपना आश्रम इसी देहरादून जिले में बनाया है। 1916 ई. में मैं एक अपरिचित तरुण के तौर पर लाहौर पहुँचा। शायद आगरे से कुँवर बहादुरसिंह ने परिचय-पत्र लिख दिया था, अथवा विना परिचय-पत्र के ही मैं खुरसन्द साहब से मिला। वह पंजाब के आर्यसमाज के मुखपत्र 'आर्य गजट' के सम्पादक थे। उनसे पहिली बार और पीछे जब-जब मिला, उससे यह मालूम हो गया कि उन्होंने अपनी उपाधि 'खुरसन्द' विल्कुल ठीक रक्खी है। हर वक्त उनका चेहरा मुस्कुराता रहता था, मिलने पर पूछते थे—"खुरसन्द तो हैं।" लाहौर में जाकर मैं पहिले एक मित्र के पास शहर के भीतर ठहरा था। पर, मुझे डी. ए. वी. कालेज के संस्कृत विभाग में पढ़ना था, और ऐसे वातावरण में रहना चाहता था, जहाँ पढ़ने-पढ़ाने की चर्चा ज्यादा हो। एक-दो मुलाकात के बाद ही खुरसन्द साहब ने कहा—"यहीं चले आइए।" अनारकली आर्यसमाज के ऊपर बिस्तरा बिछाने-भर की जगह मिलनी मुश्किल नहीं थी। मैं वहीं चला आया। खुरसन्द बहुत बेतकल्लुफ थे। बिना भूमिका के उनकी बात सुनकर अजनबी के हृदय में कुछ दूसरा ही भाव पैदा हो सकता था। मेरे पास न पैसा-कौड़ी था, और न अभी छात्रवृत्ति ही मिली थी। खुरसन्दजी ने उजुर करने का मौका भी नहीं दिया, और मैं उजुर कर भी क्या सकता था ? पास की गली में 'पैसा अखबार' के सामने वैष्णव होटलों की पाँती थी। लाहौर में उस समय वैष्णव होटल का अर्थ था निरामिष भोजनालय। होटलवाले बराबर खानेवालों का हिसाब महीने में कर लेते थे। गरम-गरम फुलके, दाल, दो भाजियाँ, चटनी और इतवार के दिन खीर भी दिया करते थे। घी का बन्दोबस्त खानेवाले अपने-आप करते थे। ताला लगनेवाले टिन के डब्बे में हरेक आदमी अपना घी वहीं रख छोड़ता था। खाते वक्त कटोरी में निकालकर दे देता था, और रोटी बनानेवाला दाल-भाजी तुड़ककर इच्छा होने पर फुलकों में भी घी लगाकर दे देता था। पहिले दिन खुरसन्द साहब ने यह सब अपने-आप किया। खा-पीकर चले, तो कहने लगे—"तकल्लुफ करने की जरूरत नहीं, हम लोग कभी आगे-पीछे भी आ सकते हैं। यह लीजिये दूसरी चाबी, डब्बे में से घी निकालकर खाना खा जाइये।" यह रेगिस्तान में भूले-भटके आदमी को घनी छाया के नीचे बैठाकर ठण्डे शर्बत का पिलाना था।

खुरसन्द साहब का जन्म पंजाब के जलालपुर जट्टा कस्बे में हुआ था। वह तरुणाई में आर्यसमाज के विचारों से प्रभावित हुए। उस समय डी. ए. वी. कालेज जैसी कितनी ही आर्यसमाजी संस्थाएँ तपे हुए तपस्वियों का आश्रम बनी हुई थीं। सुशिक्षित तरुण अपने भविष्य की सभी खुशहाली और बड़ी-बड़ी उमंगों को छोड़कर निर्वाह-मात्र पर काम करते थे। महात्मा हंसराज ऐसे ही तपस्वी थे, जिन्होंने डी. ए. वी. कालेज की स्थापना के समय से उसकी सेवा की, और उन्हीं के हाथों वह एक विशाल कालेज के रूप में परिणत हो गया। खुरसन्द के हृदय में क्यों न सेवा के भाव पैदा होते ? उन्होंने अपनी लेखनी आर्यसमाज की सेवा के लिए अर्पित की, और 'आर्य गजट' का सम्पादन कर रहे थे। मैं कुछ ही दिनों बाद विशारद श्रेणी में भर्ती हो गया। आश्रम में रहने के लिए स्थान और छात्रवृत्ति भी मिल गई, पर खुरसन्दजी से मुलाकात बराबर होती रही, उस यात्रा में और लाहौर की पिछली यात्राओं में भी। शायद उनके कहने पर मैंने भी कुछ लेख लिखे थे। वह देखते थे, इस तरुण में आर्यसमाज के प्रति स्नेह है और उसके मिशन के प्रचार करने की धुन है। ये दोनों बातें हममें एक समान थीं। आज भी वह आर्यसमाज के एक प्रतिष्ठित संन्यासी हैं, और मैं कहाँ चला गया—अब पूरा नास्तिक हूँ।

यद्यपि मुझे आगे चलकर हिन्दी का लेखक बनना था, लेकिन उस समय मैं इसे नहीं जानता था। कितने ही लेख लिखे थे, लेकिन एक दो को छोड़कर सभी उर्दू में थे। खुरसन्द साहब की लेखनी में बड़ी शक्ति थी। वह बड़ी चुभती और फड़कती भाषा लिखते थे। उनकी भाषा ने मुझे अवश्य प्रभावित किया। पिछली यात्रा

में देखा कि खुरसन्द साहब ने अपना एक दैनिक 'मिलाप' निकाल लिया है। देखते-देखते 'मिलाप' लाहौर के प्रमुख अखबारों में हो गया। फिर उर्दू के गढ़ से उसका हिन्दी संस्करण निकलना शुरू हुआ। घाटे का सौदा था पर, खुरसन्द हिन्दी ही पढ़ सकनेवाले पाठकों-पाठिकाओं को वंचित नहीं रखना चाहते थे। राष्ट्रीय भावना और देश की आजादी का ख्याल उन्हें आर्यसमाज से मिला था। इसका प्रभाव उनकी अगली पीढ़ी पर पड़ा, और लड़का अपने उग्र राजनीतिक विचारों के कारण सरकार का कोपभाजन हुआ। पिता भी तो अपनी जवानी में इसी तरह का सपना देखा करते थे।

23

पं. सन्तराम

1916 ई. में मैं पहिली बार लाहौर पहुँचा। मेरे मित्र ने जिस सन्तराम के लिए परिचय-पत्र दिया था, वह दूसरे उर्दू के एक मासिक पत्र के सम्पादक थे। लाहौर में अपरिचित जाने पर भी परिचितों की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ी और कुछ समानधर्मा ऐसे मिले, जिनसे उस समय का सम्बन्ध बन्धुता में बदल गया। बलदेव चौबे को मैंने पहिले-पहिल मुसाफिर विद्यालय में देखा था। तब वह किसी हाईस्कूल में मेट्रिक के छात्र थे। कुछ-कुछ मेरी भी मानसिक स्थिति में पहुँचकर उन्होंने अंग्रेजी पढ़ना छोड़ दिया और लाहौर में आकर संस्कृत पढ़ने लगे। मैंने पीछे उनको मोड़ा, और हाईस्कूल में भर्ती कराकर छोड़ा। बलदेव चौबे और मिस्टर के. सोमयाजुलू दोनों अनारकली के वंशीधर के मंदिर के एक बरांडे को दखल किए हुए थे। उनके पास रखने के लिए सामान ही क्या था ? किताबों के लिए दीवार में लगी आलमारी मिली थी। सोने के लिए उससे अच्छा स्थान ही नहीं मिल सकता था—महाराजा रणजीतसिंह के पुरोहित का मन्दिर था। कह नहीं सकता, उस समय ही मन्दिर और उसके फर्श में संगमरमर लगे थे, या पीछे। फर्श बहुत साफ था, साथ ही गर्मियों में उस पर सोने में एक अजब आनन्द मालूम होता था। वहीं बैठे-लेटे हम लोग अपने भविष्य का स्वप्न देखते थे। मैं आर्य धर्म-प्रचारक बनना चाहता था, मेरे दोनों मित्र भी उसी तरह का कोई आदर्श अपने सामने रक्खे हुए थे। बलदेव चौबे ने पीछे अपना जीवन लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित लोक-सेवक समाज को दे दिया। हरिजनों में अन्तिम साँस तक वह काम करते रहे, और जन्मस्थान से दूर नहीं, बल्कि अपने गाँव में जाकर उन्होंने अछूतोद्धार का झण्डा फहराया। लोग पागल कहते थे, पर वह पागल नहीं थे। वह अन्त में स्वामी सत्यानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। सोमयाजुलू को हम लोग मिस्टर कहा करते थे। वह आन्ध्र देश के रहनेवाले थे। भटकते हुए उत्तर में चले आये और लाहौर में स्वावलम्बी होकर बड़ी तपस्या के साथ पढ़ते थे। बी. ए. में फेल हो गए, फिर उनको डिग्री की इच्छा नहीं रह गई। पहिले देश-समाजसेवा ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया। फिर मानसरोवर के यात्री स्वामी प्रणवानन्द बन गए। आज भी जब उनके रूपकुण्ड पर पहुँचने की बात पढ़ता हूँ, तो उनके स्वास्थ्य पर ईर्ष्या होती है। वह सदा दुबले-पतले रहे, लेकिन जान पड़ता है, उनका ढाँचा हड्डियों का नहीं, लोहे का है, और रक्त-मांस की जगह किसी दूसरी ही धातु से वह मढ़ा गया है।

हम तीनों मित्र एक दिन वहीं मन्दिर के संगमरमर के फर्श पर बैठे हुए थे कि पं. सन्तराम से पहिले-पहिल साक्षात्कार हुआ। शायद दूसरे मित्रों में से किसी से वह पहिले मिल चुके थे, इसलिए हमारी मण्डली के अपरिचित नहीं थे। यह शायद 1918 ई. का समय था। वह भी आर्यसमाजी तरुण थे। लेखक के तौर पर उनकी ख्याति भी हो चुकी थी। हमारे लिए करने की और बात ही क्या हो सकती थी—कभी समाज और उसके मिशन की चर्चा छिड़ जाती, कभी देश की आजादी और कभी सामाजिक विषमता की। सन्तरामजी जात-पाँत के सदा कट्टर विरोधी रहे। पीछे तो जात-पाँत तोड़क सभा के वह आधार बने और इसके लिए उर्दू में 'क्रान्ति' पत्रिका भी निकाली।

1919 ई. में वह जालन्धर कन्या महाविद्यालय में अध्यापक तथा उसकी मुख्य पत्रिका 'भारतीय' के सम्पादक थे। मेरा पहिला लेख मेरठ में मासिक 'भास्कर' में निकला था, उसके बाद के, सो भी यात्रा-सम्बन्धी, पहिले लेख 'भारती' में निकले थे। यह एक साल बाद की बात है। बलदेव चौबे की बहिन महादेवी जी को पढ़ाने की प्रेरणा मैंने ही दी थी। अपनी बालविधवा बहिन के जीवन को समाज के लिए अधिक उपयोगी बनाने के लिए चौबेजी एक-दो साल पहिले कानपुर के एक आश्रम में रख आये थे। महादेवीजी की आगे पढ़ने की इच्छा थी, जिसका वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं था। भाई रामगोपालजी की पत्नी भी हमीरपुर में रहकर कुछ पढ़ गई थीं, उन्हें भी आगे बढ़ाना था। मित्रों की सलाह हुई कि शास्त्री परीक्षा के खतम होते ही मैं जाऊँ, और कानपुर तथा हमीरपुर से दोनों महिलाओं को लाकर कन्या महाविद्यालय में दाखिल कर दूँ। सन्तरामजी ने वहाँ दाखिले का प्रबंध कर रक्खा था। परीक्षा के अन्तिम पत्र को समाप्त करने के बाद मैं कानपुर की ओर भागा। रास्ते में ही जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड की खबर लगी। भाई रामगोपाल की पत्नी संकोचवश नहीं आईं, पर मार्शल-लॉ की खबर सुनकर भी मैं बहिन महादेवी को लेकर चल पड़ा, और आशा-निराशा में झूलते जालन्धर पहुँच गया।

बहिनजी को आश्रम में भर्ती करा दिया, पर मार्शल-लॉ के कारण लाहौर का रास्ता बन्द था। सन्तरामजी ने यद्यपि घुमक्कड़ी धर्म को स्वीकार नहीं किया था, पर वह थे मस्तमौला। हम लोग शाम के वक्त किसी ढाबे में जा तन्दूर की रोटी खाते। पहिले-पहिल कलकत्ता की प्रथम यात्रा में तन्दूर की रोटियाँ जो मुँह लगीं, तो जीवन-भर उनका स्वाद कभी नहीं भूल सका। साबुत ऊड़द की दाल, इमली-प्याज की चटनी और गर्मागरम तन्दूर की रोटी। पहिले शायद रोटियाँ पैसे-पैसे मिला करती थीं। उस वक्त आटा सस्ता होने से वह बड़ी-बड़ी होती थीं, और दो ही में पेट भर जाता था। फिर अनाज के भाव के बढ़ने के साथ रोटियों का आकार घटने लगा। प्रथम विश्व-युद्ध ने हरेक चीज का दाम बढ़ा दिया था, लेकिन आज के मुकाबिले में उस समय चीजें सस्ती थीं।

सन्तरामजी जिन्दादिल थे। कह लीजिए—खरबूजे को खरबूजा देखकर रंग पकड़ता है, मैं भी उसमें उनका साथ देनेवाला था। जालन्धर में उस समय तरुण ब्रह्मचारी प्रियव्रत ठहरे हुए थे। हिन्दी, शायद उर्दू भी जानते थे। सहारनपुर के रहनेवाले थे। आर्यसमाज के विचारों ने आग लगा दी। पैतृक सम्पत्ति का दान-पुण्य करके निकल पड़े। उन्होंने अपने सामने आदर्श रक्खा था—बिलकुल स्वामी दयानन्द की बतलाई विधि से संस्कृत शास्त्रों को पढ़ूँगा—लघुकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी अनार्ष ग्रन्थ हैं, मुझे अष्टाध्यायी और महाभाष्य के दरवाजे से संस्कृत-प्रासाद के भीतर घुसना है। इसी उद्देश्य को लेकर वह जहाँ-तहाँ घूमते जालन्धर पहुँचे। भोजन के लिए वह चार घरों से मधूकरी माँग लाते। बड़ा सीधा-सादा जीवन था, और भूतपूर्व प्यारेलालजी, अपने प्रियव्रत के नाम को चरितार्थ कर रहे थे। ब्रह्मचारीजी गर्मी में अब पहाड़ की यात्रा करने जा रहे थे। हमारे दिमाग में खुराफात सूझी। योजना बनाई, ब्रह्मचारीजी को मानपत्र देना चाहिए। विदाई-सभा में ऐसे ही आदमी चाहिए थे, जो रंग में भंग न करें। हम दोनों के अतिरिक्त तीसरे आदमी आर्यसमाज के मन्त्री थे। वह भी इसलिए बुला लिये गए थे कि ब्रह्मचारीजी को हमारे षड्यंत्र का पता न लगे। हमने बड़े परिश्रम से सारगर्भित अभिनन्दन-पत्र तैयार किया। विदाई-भोज के लिए मिठाई या दूसरी कोई चीज नहीं, सिर्फ तेल की पकौड़ियाँ थीं। ब्रह्मचारीजी को कुर्सी पर बैठा दिया गया, फिर सन्तरामजी ने अभिनन्दन-पत्र पढ़ना शुरू किया—

"... हम याद करके तड़प-तड़पकर मरेंगे, जब आपकी खड़ाऊँ पर खट्-खट् कर चलती सूरत स्मरण होगी।... जब आपकी गगनचुम्बिनी शिखा..."

ब्रह्मचारी प्रियव्रत सरल स्वभाव के थे, पर बेसमझ नहीं थे। उन्होंने जान लिया, मजाक उड़ाया जा रहा है। वह कुर्सी से उठने लगे, हम लोग उनकी विनती कर रहे थे। मन्त्रीजी अलग लाल-पीली आँखें करने लगे—"ब्रह्मचारी को तेल की पकौड़ी खिलाना किस शास्त्र में लिखा है ?" सचमुच ही पहिले इसका खयाल नहीं आया, नहीं तो शास्त्र के नाम पर दो-चार श्लोक बना देना मेरे बस से बाहर की बात नहीं थी। पचासों ऐसी तुकबन्दियाँ मैं कर चुका था। अभिनन्दन-पत्र में अनुप्रासों की बहार थी, नख-शिख का वर्णन था। सारा अभिनन्दन-पत्र ब्रह्मचारीजी नहीं सुन सके। सुरक्षित रहता, तो आज भी उससे कुछ का मनोविनोद होता, इसमें

सन्देह नहीं। यद्यपि अभिनन्दन-सभा में शामिल होनेवाले हम चार ही आदमी थे, जिनमें ब्रह्मचारीजी अगले दिन चले गए थे, लेकिन कानोंकान इस बात की खबर दूसरों तक भी पहुँची। भक्त रैमलजी वृद्ध और सम्माननीय पुरुष थे। उनकी फटकार को हमने सिर झुकाकर सुना। उनका भी जोर था—"तेल की पकौड़ी ब्रह्मचारी को ?"

ब्रह्मचारी प्रियवत् पीछे आर्यसमाज के एक गम्भीर विद्वान् हुए। उन्होंने अपना सारा जीवन संस्कृत शास्त्रों के अध्ययन में लगा दिया। अब भी उनका आर्यसमाज के सिद्धान्तों पर अडिग विश्वास है और ब्रह्ममुनि के नाम से लोग उनका बड़ा सम्मान करते हैं। यदि उस घटना की याद आती होगी, तो अब भी वह हम दोनों को क्षमा करने के लिए तैयार न होंगे। पर उनकी सादगी नहीं, बल्कि अति ने हमें इस परिहास की प्रेरणा दी थी।

लाहौर का रास्ता अभी भी साफ नहीं था। सन्तरामजी ने कहा—"चलें, हमारे घर हो आयें।" उनका घर होशियारपुर के पास ही में पुरानीवस्सी गाँव था, जहाँ वह अपने बागवाले मकान में अपनी पत्नी के साथ रहा करते थे। मेरे वहाँ रहते ही उनको पुत्री पैदा हुई। पंजाबिन महिला के स्वास्थ्य को देखकर आश्चर्य होता था। सबेरे उन्होंने घर का सब काम-काज किया। भैंस का दूध भी दूहा और दोपहर को मालूम हुआ, लड़की पैदा हुई। जात-कर्म-संस्कार का पुरोहित मैं बना और मैंने ही लड़की का नाम गार्गी चुना। उस समय वैदिक धर्म का नशा ब्रह्मचारी प्रियव्रत् से थोड़ा ही कम मुझे था।

पुरानीबस्सी मेरे लिए बड़े आकर्षण की चीज थी। वहाँ के लोगों का व्यापार लदाख ही नहीं, चीनी तुर्किस्तान तक होता था। कितने ही लोग फर्-फर् तुर्की बोलते थे। खुतन, यारकन्द उनके लिए होशियारपुर जैसे थे। हर साल लोग जाते-आते रहते थे। वहाँ के रीति-रवाज और लोगों के बारे में कितनी बातें बड़ी दिलचस्पी के साथ मैं सुनता रहा। जब उन्होंने कहा—जाना मुश्किल नहीं है, हम आराम से पहुँचा देंगे, तो मेरा मन मचलने लगा। लेकिन अभी ऐसी यात्रा के लिए मैं तैयार नहीं था। शायद अब पासपोर्ट का नियम हो गया था, इसलिए काम इतना आसान भी नहीं था। होशियारपुर अपने गुड़ के लिए बहुत मशहूर है। लाल गुड़ में चमकते स्फटिक देखने में भी सुन्दर और खाने में भी स्वादिष्ट थे। वहीं सरसों का साग खाते हुए मालूम होता था, मैंने कभी ऐसा साग नहीं खाया, यद्यपि फसल के वक्त बचपन से ही मैं सरसों का साग खाता आया था। यह हरा नहीं, सूखा साग था।

कई दिन गाँव का आनन्द लेने के बाद हम जालन्धर चले। रेल के मिलने की सम्भावना न होने से रास्ता कुछ दूर पैदल और कुछ दूर ताँगों पर काटे। जालन्धर में तब तक रुका रहना पड़ा, जब तक कि लाहौर जाने की रेल नहीं खुली। लाहौर पहुँचने पर भी अभी मार्शल-लॉ उठा नहीं था।

उनका एकमात्र होनहार पुत्र तरुणाई में ही मर गया। उस समय मैं लंका में था। पिता का विह्वल होना स्वाभाविक था। मैं क्या सान्त्वना दे सकता था ? पीछे सन्तरामजी ने लाहौर के कृष्णनगर में अपना घर बनवा लिया और पहिली पत्नी के मरने पर एक महाराष्ट्र महिला को सहधर्मिणी बनाया। कितनी ही बार लाहौर जाने पर मैं उस घर में ठहरा। देश के बँटवारे के बाद सन्तरामजी का लाहौरवाला आशियाना हाथ से चला गया, पर उनका जन्मस्थान—पुरानीबस्सी—भारत में है। लाहौर की दूसरी प्रसिद्ध संस्था विश्वेश्वरानन्द वैदिक अनुसन्धान संस्थान उनके गाँव के पास साधु आश्रम में चला आया। आज इसी संस्थान की पत्रिका 'विश्व ज्योति' का वह सम्पादन कर रहे हैं। आर्यसमाजी रहते समय भी मैं जात-पाँत का घोर विरोधी रहा। यह बात हम दोनों में एक समान थी। आज भी उनकी वाणी और लेखनी जात-पाँत के खिलाफ आग उगलने से बाज नहीं आती। जात-पाँत टूट जरूर रही है। समाज उसी जगह नहीं है, जहाँ आज से पैंतीस वर्ष पहिले था। पर, तोड़ने की गति बहुत धीमी है, जिसके कारण सन्तरामजी जैसे पुरुष को सन्तोष नहीं हो सकता। सबसे पिछली बार शायद 1948 ई. में उनके दर्शन अकसमात् कानपुर में हो गए। हर साल मन करता है, साधु आश्रम में कुछ दिनों के लिए चलूँ जहाँ लाहौर के कई और भी पुराने मित्र अब स्थायी तौर से वास करते हैं, लेकिन समय क्यों इतना दुर्लभ हो गया ?

24
पंडित बलदेव चौबे

एक और घनिष्ठ मित्र अब स्मृति की वस्तु रह गए। स्वामी सत्यानन्द मेरे अपने जिले आजमगढ़ में पैदा हुए, लेकिन उनका परिचय मुझे अपने जिले में प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। वह परिचय भी उस समय मिला, जब नहीं कहा जा सकता था कि उनका जीवन-पथ किस ओर जानेवाला था। प्रथम विश्वयुद्ध चलते एक ही साल हुआ था। 1915 ई. के दिसम्बर में स्वामी सत्यानन्द, उस समय के बलदेव चौबे अपने एक तरुण मित्र के साथ वृन्दावन-गुरुकुल का वार्षिकोत्सव देखकर आगरा आये। उस समय आर्य-समाज एक सजीव संस्था थी, जिससे तरुणों को बहुत प्रेरणा मिलती थी। तरुण बलदेव चौबे किसी तरह उसके सम्पर्क में आ गए, इसलिए दोनों मित्र आजमगढ़ से मथुरा-वृन्दावन का तीर्थाटन और देशाटन के लिए ही नहीं, बल्कि आर्यसामाजिक संस्थाओं को देखने के लिए अपनी छुट्टियों को लगा रहे थे। उन्हें आगरा के अरबी-फारसी पढ़कर आर्य-धर्मोपदेशक बनानेवाले आगरे के आर्य-मुसाफिर विद्यालय का पता लग गया था, इसलिए वह वहाँ आये। विद्यालय के प्रधानाध्यापक स्वर्गीय मौलवी महेशप्रसाद थे और उनके विद्यार्थियों में हम आधे दर्जन के करीब तरुण थे। आगरे में अपने जिले के दूसरे तरुण को देखना हम दोनों के बीच साधारण परिचय से अधिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पर्याप्त था। 1915 ई. से 1953 ई. तक 38 वर्षों की हमारी मैत्री रही। हमारे विचार कितनी ही बातों में एक दूसरे से बिल्कुल उल्टे थे, लेकिन मुझे याद नहीं कि कभी एक बार भी उसके कारण हमारे बीच किसी तरह का मनमुटाव हुआ हो। उनका स्नेह मेरे ऊपर कितना था और वह मेरे ऊपर अपना कितना अधिकार समझते थे, यह इसी से मालूम होगा कि 1936-37 ई. में जब कांग्रेस प्रादेशिक कौंसिलों का चुनाव लड़ रही थी, उस समय प्रान्तीय कमेटी में वह आजमगढ़ के एक चुनाव-क्षेत्र से मेरा नाम देना तै करवा आये। लोगों ने जब पूछा कि वह खड़ा होना भी चाहेंगे, तो उन्होंने जवाब दिया—हाँ, जरूर। अपने जिले से मेरा सम्बन्ध करीब-करीब 1910 ई. से छूट गया था, जबकि मैंने घुमक्कड़ी की दीक्षा ली। उसके बाद जिस जिले को मैंने अपना अधिकांश कार्यक्षेत्र बनाया, वह था बिहार का छपरा। मुझे जब उन्होंने कौंसिल-मेम्बरी के लिए खड़े होने के लिए कहा और मैंने इन्कार में जवाब दिया, तो उसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

1915 ई. के अन्त में पहिली बार हम दोनों का साक्षात्कार हुआ था। उस समय बलदेवजी शायद नवीं क्लास के विद्यार्थी थे। 1916 ई. में जब मैं मुसाफिर विद्यालय की पढ़ाई खतम कर अपनी संस्कृत की पढ़ाई को आगे बढ़ाने के ख्याल से लाहौर पहुँचा, तो देखा, बलदेवजी भी वहाँ अनारकली के एक मन्दिर में डेरा डाले हुए हैं। अब तो लाहौर के रहने के सारे समय में हम दो शरीर और एक प्राण हो गए। मैं विद्या या बुद्धि में अपने को उनसे बड़ा नहीं समझता था। आयु में चार वर्ष मैं बड़ा था, लेकिन हरेक बात में बलदेवजी मुझसे परामर्श लेते और मेरी बातों की कदर करते। बलदेवजी एक गरीब किसान के घर में पैदा हुए। थोड़े-बहुत खेत थे, जिनकी आमदनी के बल पर उर्दू मिडल पास करने के बाद अपने जिले में भी हाईस्कूल की पढ़ाई करना उनके लिए मुश्किल था। फिर लाहौर जैसे खर्चीले और दूर देश के नगर में पैसे के बल पर वह अपनी पढ़ाई कैसे कर सकते थे ? लेकिन, केवल इस कारण से उन्होंने अंग्रेजी छोड़कर संस्कृत का विद्यार्थी बनना स्वीकार नहीं किया। आर्यसमाजी उपदेशकों के लम्बे-चौड़े भाषणों को सुनकर उनके तरुण हृदय को विश्वास हो गया : "सभी सत्य विद्याओं के भंडार वेद हैं, जो संस्कृत में हैं। इसलिए मुझे अपने जीवन का अनमोल समय अंग्रेजी जैसी म्लेच्छ भाषा को न देकर संस्कृत पढ़ना चाहिए।" आदर्शवादी बलदेव को सांसारिक आर्थिक महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। संस्कृत के विद्यार्थी के लिए खाने-कपड़े या फीस की समस्या नहीं थी। कितने ही और बड़े शहरों की तरह पंजाब की राजधानी लाहौर में संस्कृत के विद्यार्थियों के निःशुल्क पढ़ने के लिए विद्यालय थे, और मुफ्त भोजन देने के लिए क्षेत्र खुले थे। बलदेवजी अब अनारकली के मोतीलाल मन्दिर की परिक्रमा में एक खुले गलियारे में रहते, क्षेत्र में भोजन करते और लघुकौमुदी माता को घोखते। उनके साथ रहनेवाले

और घनिष्ठ मित्र आन्ध्र-तरुण श्री कनकडंडी सोमयाजुलू को सामने की दीवारवाली आलमारी मिली। सोमयाजुलू आज कैलास-मानसरोवर के स्वामी प्रणवानंद के नाम से विख्यात हैं, और मानसरोवर के भौगोलिक अनुसन्धान में उन्होंने काफी ख्याति प्राप्त की है।

मैं यद्यपि संस्कृत का विद्यार्थी था, और एक समय अंग्रेजी को म्लेच्छ भाषा कहकर मैंने भी उसे ठुकरा दिया था; तो भी सारे भारत की एक यात्रा करने के बाद मैं समझने लगा था कि आजकल के अंग्रेजी का भी महत्त्व है। मिलते ही मैं अनुभव करने लगा कि बलदेवजी गलती कर रहे हैं। उन्हें अंग्रेजी छोड़कर नहीं बल्कि अंग्रेजी के साथ पढ़ना हो, तो संस्कृत पढ़ें। यह समझाने में कई दिन लगे और यदि मैं संस्कृत का विद्यार्थी और उनके जिले का तरुण मित्र न होता, तो शायद ही वह अपने विचारों को बदलते। मेरे प्रयत्न का यह फल हुआ कि उसी साल उन्होंने डी. ए. वी. हाईस्कूल में अपना नाम लिखवा लिया। उनका रहना लाहौर के सारे विद्यार्थी-जीवन में प्रायः उसी मन्दिर की उसी खुली जगह में रहा। मेरे पैरों में चक्र था, इसलिए कहीं वर्ष-छह महीने से अधिक ठहरना मेरे लिए सम्भव नहीं था। 1916 ई. में मैं लाहौर में रहा, फिर 1918 और 1919 ई. में भी। लेकिन, इस संयोग-वियोग का हमारे सम्बन्ध पर कोई असर नहीं पड़ा। जब मैं लाहौर रहता तो हो नहीं सकता था कि डी. ए. वी. कालेज के संस्कृत के विद्यार्थियों के वैदिक आश्रम से चलकर प्रायः रोज बलदेवजी के मन्दिर में न पहुँचता, या वह मेरे पास न आते। घण्टों हम एक जगह बैठकर अपने भविष्य के स्वप्नों का ताना-बाना बुनते। मुझे देश-सेवा, बाहर धर्मप्रचार और देश-देशांतर में घूमने की आकांक्षा थी, जिसके लिए अभी अपनी तैयारी कर रहा था। जहाँ तक भारत में घुमक्कड़ी करने का सम्बन्ध था, वह मेरे हाथों में थी। जहाँ-तहाँ घूमने जाया करता था, लेकिन उसे मैं घुमक्कड़ी में गिनने के लिए तैयार नहीं था। मेरी घुमक्कड़ी तो भारत की सीमा पार करने के बाद शुरू होनेवाली थी। बलदेव चौबे, सोमयाजुलू के मन में भी कुछ उसी तरह की भावनाएँ थीं। एक चौथे तरुण मेरे मुसाफिर विद्यालय के साथी पंडित रामगोपाल जी भी थे, जिनसे मिलकर हमारी चौकड़ी पूरी होती थी। रामगोपालजी प्रवासी भारतीयों की सेवा के लिए अपना जीवन देना चाहते थे और लाहौर में तैयारी कर रहे थे। उनका सपना जल्दी ही खतम हो गया, जब चार ही पाँच वर्ष बाद प्लेग में उनका देहान्त हो गया। बलदेवजी ने उस समय परिवार सहित रुग्ण रामगोपालजी की जितनी सेवा की, वह सहोदर भी न कर सकेगा। रामगोपालजी एक छोटे पुत्र और पत्नी को छोड़कर अपने सारे बच्चों के साथ प्लेग के मुँह में चले गए। बलदेवजी ने अपने मृत मित्र के अवशिष्ट परिवार के साथ आजन्म सम्बन्ध रखा और यथाशक्ति सहायता देने की कोशिश करते रहे।

मनुष्य के जीवन के हर समय का एक सीमित क्षितिज होता है, और वह अपने आदर्शों को उसी क्षितिज की चहारदीवारी के भीतर रखता है; लेकिन अपने तजर्बों और अध्ययन-मनन द्वारा उसका क्षितिज विस्तृत होता जाता है, उसी के अनुसार आदर्श में भी परिवर्तन आता है। हाँ, ईमानदार आदर्शवादी की दिशा नहीं बदलती, न उसका क्षितिज एक बार विस्तृत होकर संकुचित होता है। गाँधीजी की असहयोग की आँधी आने से पहिले तक हम लोगों का क्षितिज और उसका आदर्श कुछ निश्चित-सा हो गया था और उसी के भीतर हम अपने ताने-बाने बुना करते थे। 1918-19 ई. में मैं फिर लाहौर में था। बलदेवजी अपनी प्रगति और आदर्श से संतुष्ट थे। उनकी बड़ी बहन बचपन ही में विधवा हो गई थीं। उनकी बड़ी इच्छा थी कि बहन की कुछ शिक्षा हो जाये, तो वह भी अपने जीवन को सेवा-कार्य में लगाये। सलाह हुई। मैंने अनुमोदन किया और निश्चय हुआ कि गर्मियों के छुट्टियों में घर जाने पर बलदेवजी बहिन महादेवी को लाकर कानपुर की एक महिला-शिक्षण-संस्था में प्रविष्ट करा दें। ऐसा ही हुआ। शायद यह 1917 ई. की बात है। महादेवीजी वहाँ की पढ़ाई खतम कर चुकीं। उनको और भी पढ़ने की इच्छा थी। हमारे सहृदय मित्र हिन्दी के पुराने सिद्धहस्त लेखक श्री सन्तरामजी उस समय कन्या-महाविद्यालय जालन्धर में पढ़ाते थे। उन्होंने बतलाया कि महिला-आश्रम में दाखिल होने में दिक्कत नहीं होगी।

1919 ई. का अप्रैल आया। रोलट-एक्ट के विरुद्ध आन्दोलन करने का बीड़ा गाँधीजी ने उठाया। वह मथुरा जिले के पलवल स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिये गए और फिर सारे देश में आग-सी लग गई। 6 अप्रैल

को इतवार के दिन भारत के और अनेक नगरों की तरह लाहौर में भी विराट् जुलूस और विशाल सभाएँ हुई। सदियों के बाँधों को तोड़कर उस दिन हिन्दू-मुसलमान एक गिलास में पानी पीते देखे गए। स्मरणीय दृश्य था। उसके अगले दिन मैं लाहौर से रवाना हुआ। बहिन महादेवी और भाई रामगोपाल की धर्मपत्नी दोनों को लाकर जालन्धर कन्या-महाविद्यालय में दाखिल करने का काम मुझे सौंपा गया था। शाहजहाँपुर के एक गाँव में मैं अपने एक मित्र के यहाँ से मिलकर जब लौट रहा था, तो अमृतसर में जलियाँवाला बाग के खूनी कांड की खबर मिली। लेकिन मैंने उसके कारण उत्पन्न हुई परिस्थितियों को नहीं समझ पाया। रामगोपालजी की पत्नी नहीं आईं। महादेवीजी को आश्रम से जब नाम कटाकर स्टेशन ले आया, तो मालूम हुआ कि पंजाब में मार्शल-लॉ जारी हो गया है, जालन्धर का रेलवे-टिकट नहीं मिलता। अगर आश्रम में फिर दाखिल करना सम्भव होता, तो शायद मैं बहिन महादेवी को वहीं छोड़ आता। देशाटन ने कुछ तो मन में भर ही दिया था। मालूम हुआ, दिल्ली का टिकट मिल सकता है। कहा–चलो दिल्ली तक, जालन्धर के कुछ तो नजदीक पहुँच जायेंगे। गाजियाबाद में पूछने पर मालूम हुआ कि अम्बाला का टिकट मिल रहा है। हम दोनों अम्बाला छावनी जा पहुँचे। अब वहाँ फुलस्टाप था। उतरकर आर्य-समाज-मन्दिर में गए। दो-चार दिन बाद पता लगा कि बम्बई-मेल के सेकेन्ड क्लास का टिकट मिल रहा है। ले लिया, बहिनजी को जनाना डिब्बे में किसी तरह स्थान मिल गया, लेकिन मेरी तो ट्रेन ही छूटनेवाली थी। किसी तरह खिड़की के रास्ते भीतर घुसा। जालन्धर आया। बहनजी को आश्रम में दाखिल कर दिया। लाहौर जाने का रास्ता बन्द था, वहाँ मार्शल-लॉ चल रहा था। लेकिन जैसे ही ट्रेन खुली, मैं लाहौर पहुँच गया। इसके अगले साल के अप्रैल में भी मैं कुछ समय के लिए लाहौर गया। बलदेव चौबे और उनसे दो क्लास आगे पढ़नेवाले सोमयाजुलू की पढ़ाई जारी रही। हाईस्कूल पास कर वह कालेज में पढ़ने लगे। इसी समय गढ़वाल में अकाल पड़ा और दोनों मित्र अकाल-पीड़ितों की सेवा के लिए गढ़वाल जाकर तीन महीने रहे। बलदेवजी ने एफ. ए. का इम्तिहान दिया और सोमयाजुलू ने बी. ए. का। सोमयाजुलू तो आगे की पढ़ाई छोड़कर राजनीतिक काम में लग गए, जहाँ से पीछे वह योगी और कैलाशवासी घुमक्कड़ बन गए। बलदेवजी ने अपनी पढ़ाई जारी रक्खी।

नागपुर में विशेष कांग्रेस हुई। वहाँ असहयोग का प्रस्ताव हुआ। अंग्रेजी शिक्षण-संस्थाओं, कचहरियों और विदेशी चीजों का बायकाट होने लगा। बलदेवजी बी. ए. आनर्स के विद्यार्थी थे। वार्षिक-परीक्षा के लिए तीन-चार महीने रहते थे, और परीक्षा में बैठ जाने पर उनके पास हो जाने में कोई सन्देह ही नहीं था। मैं उस समय सवा साल से दक्षिण का प्रवास करते दुर्ग के मड़िकेरी नगर में था। चिट्ठियाँ हमारी बराबर आती-जाती रहती थीं। एक चिट्ठी में पहिली बार उन्होंने असहयोग की चर्चा करते हुए अपने कालेज छोड़ने की बात हल्के स्वर में कही। मैंने जोर देकर लिखा–तीन महीने कोई ब्रह्मा के दिन नहीं होते, परीक्षा देकर असहयोग में जुट जाओ। अगली चिट्ठी उनकी और गरम थी। मेरा माथा ठनका। मैंने बहुत जोर देकर और लम्बी चिट्ठी लिखी, लेकिन उसका जवाब कहीं दूसरी जगह से आया। तरुण बलदेव कालेज छोड़ चुके थे। उनको न किसी बड़ी नौकरी की ख्वाहिश थी और न पैसा कमाकर धनी बनने की। सेवा-व्रत उन्होंने पहिले ही से ले रक्खा था, इसलिए उनको जीवन के ऐसे बड़े निर्णय के करने में कोई दिक्कत नहीं थी। मुझे वह अधिक व्यावहारिक और वस्तुवादी मानते थे और मेरी बात की कदर भी करते थे। मैं असहयोग के खिलाफ नहीं था और मड़िकेरी से मैं उसी में भाग लेने के लिए आज ही कल में प्रस्थान करनेवाला था।

1921 से 1925 ई. तक उनका और मेरा अब जेल-यात्राओं का समय था, इसीलिए दोनों का साक्षात्कार केवल पत्रों द्वारा ही कभी-कभी हो सकता था। 1925 ई. में दो साल की कैद भुगतकर मैं बाहर निकला। उस साल दिसम्बर में कानपुर में कांग्रेस का अधिवेशन था। कई वर्षों के बाद हम दोनों फिर वहाँ मिले। बलदेवजी चौबे ब्राह्मण थे, लेकिन छुआछूत के वह जबर्दस्त विरोधी थे। असहयोग-आन्दोलन के ठंडा पड़ने के बाद लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित लाहौर के कौमी विद्यालय में दाखिल होकर उन्होंने अपनी कालेज की पढ़ाई ही खतम नहीं कर ली, बल्कि साथ ही वह लालाजी के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। लालाजी अछूतोद्धार के जबर्दस्त हामी थे और उसके लिए कार्यरूप में कुछ करना चाहते थे। अछूतोद्धार और देश-सेवा के काम के लिए उन्होंने लोक-सेवक

समिति कायम की, जिसमें कितने ही स्वार्थत्यागी आदर्शवादी तरुण आजीवन सदस्य बन गए। बलदेवजी इन सदस्यों की पहिली बैठक में थे। वह अछूतोद्धार का काम समिति की तरफ से मेरठ में कर रहे थे। उनका आग्रह हुआ कि मैं मेरठ चलूँ। हम दोनों कानपुर से रामगोपालजी की पत्नी से मिलने उनके पीहर गए, फिर मेरठ पहुँच गए। कुमार-आश्रम को उन्होंने एक बगीचेवाले बँगले में स्थापित किया था, जहाँ वह अपने परिवार के साथ रहते थे। उस समय (1926 ई.) कुमार-आश्रम मेरठ शहर से बाहर था, किन्तु अब तो उत्तरप्रदेश के और शहरों की तरह मेरठ भी बहुत बढ़ गया और कुमार-आश्रम का वह बगीचेवाला घर नगर के भीतर आ गया है। बलदेवजी का बहुत सीधा-सादा जीवन, उनका त्याग और योग्यता प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती थी। कुमार-आश्रम में देश के सबसे पददलित और अछूत समझे जानेवाले लोगों के बच्चों को लेकर उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। बलदेवजी की देख-रेख में और उनके परिवार के अंग के तौर पर लड़कों को साधारण शिक्षा ही नहीं मिलती थी, बल्कि आदर्शवादी वातावरण में रहने का मौका मिलता था। कितने ही सालों तक वह वहाँ रहे, लेकिन इनके रहते समय कुमार-आश्रम में मेरा जाना उसी साल हुआ। उनके गाँव के पास के तथा आजकल उत्तरप्रदेश कांग्रेस के सभापति श्री अलगूराय शास्त्री भी उनके सहकारी थे।

मेरठ से बैलगाड़ी और कुछ पैदल हमने हस्तिनापुर, परीक्षितगढ़ और कितने ही स्थानों की यात्रा की। परीक्षितगढ़ के पास एक गाँव में ईसाइयों का एक बालिका-विद्यालय था, जहाँ मनुष्य से गिरे समझे जानेवाले हिन्दू-समाज के अछूत कुलों की लड़कियाँ शिक्षा-दीक्षा द्वारा योग्य बनाई जा रही थीं। उस यात्रा में एक दिन दोपहर का भोजन हम दोनों का चार पैसे में हुआ था, जिसमें गुड़ और कोई भुना हुआ दाना था। भोजन अत्यन्त सीधा-सादा और सस्ता था, लेकिन अब तो यह विश्वास करने की बात नहीं रह गई है कि दो पैसे में एक आदमी तृप्त होकर भोजन कर सकता है।

मेरठ के सहवास में मैंने देखा कि आधुनिक कबीर को भी लोई-जैसी ही पत्नी मिली है। मैं समझता था और एकाध मर्तबे अपने भावों को मैंने प्रकट भी किया कि बलदेवजी सचमुच ही बड़े तपस्वी हैं, जो ऐसी पत्नी के साथ रह सकते हैं। वह गाँव की अशिक्षित महिला ही नहीं थीं, बल्कि मैं तो कहूँगा कि बाज वक्त उन पर सनक तक सवार हो जाती थी। कितनी ही बार गुस्सा होकर छोटे बच्चे को गोद में दबाये वह कलकत्ता और लाहौर तक चली जातीं। अपने इसी गुस्से के कारण उनका बड़ा दुःखद अन्त हुआ—वह आग में जल मरीं। दो पुत्र और दो पुत्रियों का पालन-पोषण अब बलदेवजी के ऊपर पड़ा, लेकिन उनको महादेवी जैसी सहृदया बहिन मिली थी। वह अपने भाई, विशेषकर उनके बच्चों के लिए सब कुछ थीं। उनके कारण बलदेव जी निश्चिन्त रह सकते थे। गाँधीजी कितनी ही बातों में कबीर-जैसा जीवन रखते थे। असहयोग करने के बाद बलदेव चौबे उनके साबरमती आश्रम में एक वर्ष से अधिक दिनों तक रहे थे। गाँधीजी के जीवन की उनके ऊपर बहुत बड़ी छाप पड़ी थी। लेकिन उससे भी अधिक प्रभाव कबीर और अपनी जन्मभूमि के आस-पास के दूसरे सन्तों का पड़ा था, जिनकी वाणियों और जीवनियों को बहुत ध्यान से बलदेवजी ने अध्ययन किया था। कितनों की अप्रकाशित वाणियों का भी उन्होंने काफी संग्रह किया था, लेकिन साहित्यकार बनने की उनमें कभी इच्छा नहीं हुई, इसलिए उनका वह संग्रह स्वान्तःसुखाय था। उन्होंने सन्तों की तरह के कुछ भजन भी बनाये थे।

1930 के बाद उनका सन्तों-जैसा जीवन शुरू हो गया। वह अब प्रयाग में रहकर लोक-सेवक-समिति की ओर से काम कर रहे थे। जब-तब उनके यहाँ मेरा जाना हुआ करता था। वह जिस तरह अब घोर आस्तिक बन गए थे, मैं उसी तरह ही घोर नास्तिक था। लेकिन, हमारे विचारों की विभिन्नता से हमारे सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं आया था। बलदेवजी बड़े भिन्सारे ही उठकर एकतारा छेड़ते कुछ पहिले के सन्तों के और कुछ अपने भजन गाने लगते थे। वह अपने सारे परिवार को एक सन्त-परिवार बनाना चाहते थे और अपने बच्चों पर बचपन से ही आध्यात्मिक संस्कार डालना चाहते थे। बड़ा लड़का विद्यासागर, दो छोटे लड़के और सावित्री और विद्यावती दोनों लड़कियाँ साढ़े 3-4 बजे रात को ही उठाकर जबर्दस्ती भजन-मण्डली में बैठा दी जातीं। चौबेजी का एकतारा किन्‌किन् करने लगता। वह स्वर और वाद्य-संगीत से बिल्कुल कोरे थे, लेकिन उन्हें विश्वास

था, भगवान् को रिझाने के लिए उनकी आवश्यकता नहीं। लेकिन, यही तो समय था, जबकि छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं की बात तो अलग, सयानों को भी बड़ी मीठी नींद आया करती है। मैं भविष्यद्वाणी किया करता था : अपने बच्चों को ईश्वर-विमुख बनाने के लिए बलदेवजी का तरीका सबसे अच्छा है। सचमुच ही उस भजन के साथ भगवान भी बच्चों को कुनैन से कड़वे लगते थे।

पुराने और नये कांग्रेसियों में बलदेव चौबे अपवाद थे। वह काजल की कोठरी में रहकर भी हमेशा निर्लेप रहे। जब वह आजमगढ़ जिला-बोर्ड के जन-निर्वाचित अध्यक्ष हो गए, तब भी उनकी शिकायत अगर सुनी जाती थी, तो यही कि यदि उनको खुश करना हो, तो अपने अछूतोद्धार-प्रेम को अधिक से अधिक दिखलाया जाय। उन्होंने स्वयं अपनी पढ़ाई असहयोग के जमाने में छोड़ दी थी। अंग्रेजी ढंग के स्कूलों और कालेजों में उनकी बिल्कुल आस्था नहीं थी। अपने इस विचार को भगवद्-भक्त बनाने के प्रयत्न की तरह बच्चों पर भी लादना चाहते थे। लेकिन उनके घर में बहिन महादेवी थीं। वह इस विषय में बच्चों के उत्साह को ही बढ़ाने के लिए तैयार नहीं थीं, बल्कि खुद अध्यापिका बनकर जो कमातीं, उससे उनको सम्हाले आगे बढ़ाती रहीं। बड़ा लड़का विद्यासागर बचपन से ही बहुत दुर्बल और अस्वस्थ था। लड़कपन में भी आँखों के बिल्कुल पास ले जाकर वह पुस्तक को पढ़ सकता था, लेकिन पढ़ने में बुरा नहीं था। चौबेजी का प्रयोग या झक्का-शिकार पूरी तौर से विद्यासागर ही बन सके। साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं में कोई छूत नहीं थी, इसलिए वह साहित्यरत्न हो गए, और फिर अपने भाग्य और परिश्रम पर छोड़ दिए गए। मझला लड़का बड़ा होनहार था, लेकिन वह असमय ही चल बसा। नमक-सत्याग्रह चल रहा था। चौबेजी जेल में थे। उनकी अनुपस्थिति से फायदा उठाकर बड़ी लड़की ने मिडल का फार्म भर दिया था। परीक्षा की तिथियाँ नजदीक आ रही थीं और साथ ही चौबेजी के जेल से छूटकर आने की तारीख भी इसी समय पड़नेवाली थी। घर में मनाया जा रहा था कि चौबेजी कुछ दिन और जेल से बाहर न आयें, जिससे सावित्री परीक्षा में बैठ सके। शायद वह पहिले ही आ गए और सावित्री सरकारी परीक्षा में बैठ नहीं सकी। लेकिन, 'साहित्यरत्न' बनने का रास्ता उसके लिए साफ था। बहन महादेवी भाई से लड़कर भी उसे आगे बढ़ाने के लिए सब तरह से तैयार थीं। वह साहित्यरत्न भी हुई, एम. ए. भी हुई। दूसरी लड़की विद्या ने भी पिता के हठ के होते एम. ए. की शिक्षा समाप्त की। छोटे लड़के ने भी इसी तरह कबीर के कमाल की तरह अपनी शिक्षा को पूरा किया। चौबेजी का शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग अपने घर में असफल रहा।

अछूतोद्धार का काम मेरठ, दिल्ली, प्रयाग आदि जगहों में करने के बाद चौबेजी ने अपने जिले में जाकर अब छुआछूत के विरुद्ध पाखंडखंडिनी झंडी गाड़ दी। एक गाँव में स्वावलम्बी हरिजन-आश्रम खोल दिया। वहाँ कुछ बिगहे जमीन मिल गई थी, जिसमें शिखा-सूत्रहीन चौबेजी स्वयं हल-कुदार चलाते और उनके विद्यार्थी भी। प्राचीन गुरुकुलों के विद्यार्थियों की तरह विद्यार्थी उनका अनुगमन करते। अपने पहनने के लिए आश्रम में ही कपास, सूत और कपड़ा तैयार किए जाते। खद्दर पहनना अनिवार्य था। रोटी-चौका-बासन ही नहीं, मकानों की दीवारों के खड़ा करने में भी आचार्य और अन्तेवासियों ने अपना परिश्रम लगाया था। आश्रम में बकरियाँ पाली गई थीं। कुछ समय बाद वह चौबेजी के लिए बड़ी समस्या हो गईं। मुझसे कह रहे थे, बकरियों के जो बच्चे पैदा होते हैं, उनमें मादा को तो हम बढ़ने दे सकते हैं, लेकिन बकरों का क्या करें ? मालूम होता है, अहिंसक चौबे बाबा से लोग निर्भीक हो गए थे, वह आँख बचाकर बकरों को चट कर जाते। आश्रम की बकरियाँ या बकरों को बेचने का मतलब था, वह किसी-न-किसी तरह कसाई के यहाँ पहुँच जाते और उनकी हत्या में चौबे बाबा अपने को भी जिम्मेवार समझते।

चौबेजी अव्यावहारिक थे, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन, उनका हृदय बहुत उदार था, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उक्ति को अपने जीवन में चरितार्थ करने का जितना प्रयत्न उन्होंने किया, उतना विरले ही ने किया होगा। द्वितीय विश्वयुद्ध से कई सालों पहिले ही मैंने एक दिन उन्हें गेरुआ वस्त्र पहने देखा। मालूम हुआ कि अब बलदेव चौबे स्वामी सत्यानन्द सरस्वती हो गए। संन्यासी का जीवन तो वह वर्षों पहिले बिताते आये थे, चुटिया और जनेऊ को युगों पहिले विसर्जित कर चुके थे और छुआछूत के भूत से तो वह अपने विद्यार्थी जीवन से

ही मुक्त हो गए थे। उनको इतनी हिम्मत थी कि अपनी जाति-बिरादरी की रूढ़ियों और खान-पान की मर्यादाओं को अपने जिले से दूर रहकर ही नहीं, बल्कि अपने गाँव में भी तोड़ डालें। यदि उनके बच्चों में कोई उनके साथ कभी रहता था और यह सेवा विद्यासागर चौबे को प्राप्त थी, तो उनके आश्रम के काम में सहायता देने ही के लिए। लोक-सेवक-समिति का सदस्य रहते उन्हें समिति की ओर से कुछ रुपये मिलते थे। उनके और परिवार के सीधे-सादे जीवन के लिए वह पर्याप्त और साथ ही अवलम्ब भी थे। लेकिन, एक बार उन पर झक सवार हुई, तो उससे इस्तीफा दे दिया। श्री पुरुषोत्तमदास टंडनजी से उनका सम्पर्क बहुत पहिले से था, दोनों का मधुर सम्बन्ध वैसे ही बराबर बना रहा।

अंग्रेजी-शासन के उठ जाने के बाद स्वामी सत्यानन्द के तरुणाई का एक स्वप्न पूरा हो गया, जब देश स्वतन्त्र हो गया था। देश की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अवस्था को बेहतर बनाने के लिए स्वामीजी गाँधीवाद को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वह आजमगढ़ शहर नहीं, बल्कि जिले के और कस्बे से दूर अपने आश्रम में रहकर सेवा करते थे, लेकिन इस अजातशत्रु को छोड़ने के लिए कोई तैयार नहीं था। जब बालिग मताधिकार से जिला बोर्ड के अध्यक्ष के चुनाव का समय आया, तो कांग्रेस ने उन्हें खड़ा किया और वह बोर्ड के अध्यक्ष चुन लिये गए। हाल में जब विधान-परिषदों का सार्वजनिक चुनाव हुआ, तो उन्हें प्रान्तीय विधानसभा के लिए कांग्रेस की ओर से खड़ा किया गया। पूर्वी उत्तरप्रदेश के जिले आज वर्षों से भारी आर्थिक संकट में हैं। कई सालों तक पर्याप्त वर्षा नहीं हुई, इसलिए आजमगढ़ जैसे कितने ही जिलों के किसानों की फसल मारी गई और इस साल (1953) में अतिवृष्टि ने नदियों में एक नहीं, अनेक बार बाढ़ लाकर सैकड़ों गाँवों का सत्यानाश किया। ऐसे आर्थिक संकटवाले जिले में कांग्रेस से लोगों का निराश होना स्वाभाविक है। लेकिन, कांग्रेस के सौभाग्य से उसके प्रतिद्वन्द्वियों में एकता नहीं थी। वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा रखनेवाले स्वतन्त्र उम्मीदवारों की तो बात नहीं की जा सकती, लेकिन समाजवादी, कम्युनिस्ट और दूसरे वामपक्षी भी एक होकर कांग्रेस से मुकाबला करने के लिए तैयार नहीं थे। इस प्रकार विरोधी वोट बँट गए और कांग्रेस को पूर्वी उत्तरप्रदेश में हर जिले में पराजय का मुख देखने की जगह विजय प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ। स्वामी सत्यानन्द का चुनाव-क्षेत्र तो इस विजय में सारे भारत में अद्वितीय रहा। वह चुनाव में जीते, लेकिन उनकी जमानत जब्त हो गई, अर्थात् पेटियों में पड़े वोटों में से जितना प्रतिशत वोट जमानत न जब्त होने के लिए पाना आवश्यक है, वह उन्हें न मिला। यह स्वामी सत्यानन्द की जमानत की जब्ती नहीं, बल्कि कांग्रेस की थी।

स्वामी सत्यानन्द या आजमगढ़ के बलदेव चौबे ने होश सँभालने के साथ पहिले साहस, स्वावलम्बन का परिचय दिया, फिर आत्मत्याग और आदर्शवाद का महान् नमूना अपने जीवन से पेश किया। उनके मित्र और सहकारी केवल अपने जिले और अपने प्रदेश में ही नहीं, बल्कि भारत के बहुत-से भागों में मिलेंगे, जिनकी संख्या काल ने अब बहुत कम कर दी है, लेकिन उनकी सेवाएँ भुलाई नहीं जा सकतीं। मुझे तो उनका लाहौरवाला चेहरा ही ज्यादा याद आता है, जब कि अभी गाँधीजी का असहयोग शुरू नहीं हुआ था। अनेक बार मेरी विरोधी बातों को सुनकर ओठों नहीं, उनकी आँखों पर जो हँसी खेलने लगती थी, वह अब भी मेरे सामने सजीव दिखलाई पड़ती है। बलदेव चौबे मुझसे चार वर्ष छोटे थे और शरीर से मोटे-तगड़े न होने पर भी उनका स्वास्थ्य खराब नहीं था; इसलिए मुझे आश्चर्य हुआ, जब दिल्ली के एक अंग्रेजी दैनिक में उनके क्षेत्र से पुनर्निर्वाचन की सूचना पढ़ते हुए मालूम हुआ कि अब स्वामी सत्यानन्द सरस्वती या चौबे बाबा इस दुनिया में नहीं रहे। हम दोनों के मित्र तथा चौबेजी के सहपाठी भदन्त आनन्द कौसल्यायन से यह भी पता लगा कि वह बीमार होकर लखनऊ के अस्पताल में पड़े थे। चौबेजी की तरह ही सबको एक दिन महाप्रयाण करना है, लेकिन 'बिछुरत एक प्रान हर लेहीं' की उक्ति तो उनके लिए ही है।

स्वामी सत्यानन्दजी का जन्म आजमगढ़ जिले के कमलासागर गाँव (पोस्ट रामपुर) में अगहन शुक्ल पंचमी संवत् 1954 (सन् 1897 ई.) को हुआ था और निधन आषाढ़ पूर्णिमा रविवार (26 जुलाई, 1953) में। पिता तल्लू चौबे और माता तपस्या देवी ने जैसे तपस्वी और यशस्वी पुत्र को जन्म देकर अपने जीवन को सफल किया।

25
पं. भगवद्दत्त

ऐतिहासिक अनुसन्धान की प्रेरणा मुझे सबसे पहिले पं. भगवद्दत्त से ही मिली। उनके स्वाध्याय और मनन को देखकर मेरा इस ओर आकर्षण हुआ। पहिले-पहिल मैं उनसे 1917 ई. में लाहौर में मिला। उस समय वह 'पं. भगवद्दत्त, बी. ए., वैदिक रिसर्च-स्कालर' के नाम से प्रसिद्ध 23-24 वर्ष के तरुण थे। लोग उनकी बातों को बड़ी श्रद्धा से सुनते थे। वह स्वामी दयानन्द के अनन्य भक्त और उनके सिद्धान्तों के कट्टर पक्षपाती थे। वह कितने सौभाग्यशाली हैं कि आज भी उनकी वह आस्था वैसी ही अक्षुण्ण बनी हुई है। मैं उस साल डी. ए. वी. कालेज की विशारद कक्षा में पढ़ने लगा था। हमारे अध्यापकों में पं. भक्तराम आर्यसमाजी नाममात्र के थे। छुआछूत को तो पंजाब के वायुमंडल ने अन्त कर दिया था, पर उन्हें अपने ब्राह्मण-वंश का बहुत पक्षपात था और मैं आगरा ही से जात-पाँत का जबर्दस्त विरोधी होकर आया था। पं. नरसिंहदेव शास्त्री को आर्यसमाज से कोई लेना-देना नहीं था, वह सिर्फ नौकरी बजाते थे, इसलिए उनसे विचारों में मुझे कुछ मदद मिलेगी, इसकी सम्भावना नहीं थी। दूसरे दोनों अध्यापक भी ऐसे ही थे। मेरे विचारों को पुष्टि पं. भगवद्दत्तजी से ही मिलती थी, इसीलिए मैं उनके पास अक्सर जाया करता था। पहिली बार की लाहौर-यात्रा में मैं चार ही पाँच मास रह सका। वर्षारम्भ में मैं अपने प्रदेश में लौटा, तो फिर दो-तीन साल इधर ही रह गया।

1919 ई. के आरम्भ में मैं पढ़कर शास्त्री परीक्षा देने के लिए लाहौर पहुँचा। इस समय मेरे ज्ञान और व्यक्तित्व का विकास पहिले से अधिक हो गया था। अब मैं पं. भगवद्दत्तजी की बातें ज्यादा समझ सकता था। इस समय तक उन्होंने डी. ए. वी. कालेज के लालचन्द पुस्तकालय को एक अनुसन्धानालय के रूप में परिणत कर दिया था। भारत और यूरोप की भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रकाशित भारतीय इतिहास, शब्दशास्त्र आदि पर प्रकाशित सैकड़ों ग्रन्थ वहाँ मौजूद थे। अब मैं उन्हें पढ़ और उनके महत्त्व को समझ सकता था। घंटों जाकर पुस्तकालय में पढ़ता और उससे भी अधिक उन्हें उलट-पुलटकर देखता। पं. भगवद्दत्तजी प्रोत्साहन देते हरेक जिज्ञासा की पूर्ति करते थे। एक दिन की बात है। स्वामी दयानन्द के प्रति श्रद्धा से अंधा होकर मैं बोल उठा—"मैं ऋषि के एक-एक वाक्य को ब्रह्मवाक्य मानता हूँ।" पं. भगवद्दत्त आज भी उसी स्थान पर हैं, लेकिन उस समय उन्होंने मुझे सावधान किया था—"ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्या आपने सब बातों को सच की कसौटी पर कस लिया ?"

कितने ही संस्कृत ग्रन्थों को यूरोप के विद्वानों ने रोमन अक्षरों में सम्पादित किया था। कभी-कभी मैंने उन्हें नागरी में उतारने का भी काम क्या। प्राचीन भारत के बारे में यूरोप के विद्वानों ने पिछले सौ वर्षों में कितना महान् काम किया है, उसे पं. भगवद्दत्त की कृपा से मैंने वहाँ देखा। सम्पादन और अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली क्या है, इसे भी उनके सत्संग से मैंने सीखा। अनुसन्धान के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण मेरा उसी समय बन गया था। राजनीति में छह साल बिताने के बाद 1927 ई. में जब मैं लंका पहुँचा और वहाँ एक यूरोपीय विद्वान् (शायद जर्मन प्रोफेसर ल्यूडर) से बातचीत होने लगी तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि संस्कृत का पंडित होते अनुसन्धान का यह आधुनिक दृष्टिकोण क्यों है ?

पं. भगवद्दत्त 1916 और 1919 ई. में अभी पतले छरहरे जवान थे। अपनी माता और बहिन के साथ अनारकली के पास किराये के मकान में रहते थे। उनके कानों में सोने का कुंडल रहता था। उत्तरप्रदेश-बिहार में न जाने कब सुवर्ण-कुंडल प्रौढ़ों के कानों से उतर गया। अब वह कुछ पिछड़ी जातियों में ही उनके पिछड़ेपन का चिन्ह बना हुआ था। पर पंजाब में वह बात नहीं थी। वहाँ वृद्ध भी सुवर्ण कुंडल धारण करते थे। भगवद्दत्तजी के सुवर्ण कुंडल धारण करने का आग्रह इसलिए था कि प्राचीन काल में आर्य लोग कर्णशोभन धारण करते थे। अनुसन्धान या आर्यसमाजी सिद्धान्तों को छोड़कर और किसी विषय पर मैं बात नहीं करता था। मैं अल्पशिक्षित शास्त्री का एक साधारण विद्यार्थी था, और पं. भगवद्दत्त उस समय आर्यसमाज की तरुण पीढ़ी के विद्वानों

में श्रेष्ठ माने जाते थे। तब भी वह जिस अकृत्रिम भाव से मिलते, प्रोत्साहन देते, उसे देखकर मैं और भी मुग्ध था।

पाँच-पाँच, सात-सात वर्षों का अन्तर देकर मैं जब-तब लाहौर पहुँच जाता। उस समय हो नहीं सकता था कि अपने पुराने मित्रों से न मिलूँ। एक बार जाने पर देखा, पंडितजी ने मॉडल टाउन में अपने लिए मकान बनवा लिया। अब वह विवाहित थे। उनकी पत्नी शास्त्री तथा एक महिला कालेज में अध्यापिका थीं। मकान अभी पूरी तौर से बन नहीं पाया था, पर गृहस्थी की इमारत खड़ी हो गयी थी। अब भी उनके दिल में वही लगन थी। अब कार्यक्षेत्र में और भी तरुण आ गए थे, जिनका पथ-प्रदर्शन पहिले उन्होंने ही किया था। मैं अब अनीश्वरवादी, अनात्मवादी था। वेद का प्रमाण मानना जाड्य के पाँच लक्षणों में समझता था, और भगवद्दत्तजी अब भी वेद को ईश्वरवाणी मानते थे। पर इसके कारण मैं उनके प्रति कृतज्ञ और कृतवेदी होने को कैसे छोड़ सकता था ? वह भी यह जानते थे कि चाहे कुछ भी हो, मैं भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में काम कर रहा हूँ, अपने लुप्त ग्रन्थरत्नों के उद्धार में लगा हूँ। सबसे पहिले 1911 में बनारस में रहते समय मुझे यजुर्वेद की एक खण्डित हस्तलिखित प्रति नेपाली स्वामी पूर्णानन्द से मिली थी। वह हाथ के कागज पर लिखी थी, पर अत्यन्त पुरानी हो, इसकी सम्भावना कम थी। वह मेरी घुमक्कड़ी में भी 1911 से 1919 ई. तक पड़ी रही, इससे मालूम होगा कि मैं उसके महत्त्व को कुछ-कुछ जानता था। मैंने उसे पुस्तकालय में रखने के लिए पं. भगवद्दत्त जी को अर्पित कर दिया।

लाहौर उजड़ा, पुराने लोग घर छोड़कर भागे और नये लोग उन घरों में आ गए। यह परिवर्तन शान्ति के साथ नहीं हुआ। लोगों को खून की नदियों को पार होकर आना-जाना पड़ा। पं. भगवद्दत्तजी भी लाहौर से दिल्ली चले आये। उनके पुत्र म्युजियम के एक अधिकारी थे। इतनी जल्दी सबके रहने को मकान कहाँ मिल सकता था ? जाड़ा हो या बरसात, म्युजियम के हाते में पड़े तम्बू में वह वर्षों रहे: हाँ, एक से अधिक बार मुलाकात होती रही। अब वह किसी उपनगर में रहते हैं। मुझ से एक दिन मुलाकात हुई। घर आने का निमन्त्रण दिया। अगले दिन सबेरे जहाँ मेरा प्रोग्राम था, मैं समझता था, वह उधर ही है। पर, जब वहाँ जाकर चलने की बात की, तो लोगों ने बतलाया, वह दिल्ली के दूसरे छोर पर है, यहाँ से 15-20 मील दूर।

पं. भगवद्दत्त अपने मौज में मस्त थे। मैंने सालों पहिले कह दिया—"खुश रहो अहले-वतन, हम तो सफर करते हैं।"

26

भदन्त बोधानन्द[1]

बुद्ध का नाम मैं पहिले भी सुन चुका था। मुसाफिर विद्यालय में जाने के बाद बौद्ध मिश्नरियों के बारे में अक्सर सुना करता और बिना जाने-सुने स्वयं भी इसे दोहराता था। इसके बारे में विशेष जिज्ञासा नहीं हुई, यह बात नहीं थी। पर सबसे पहिले जिस पुरुष ने बौद्ध धर्म का ज्ञान-दरवाजा मेरे लिए खोला, वह स्थविर बोधानन्द ही थे। मैं उत्तरप्रदेश के कुछ स्थानों की यात्रा करता 1916 के क्वार-कातिक महीने में लखनऊ के आर्यसमाज में ठहरा था। किसी ने बतलाया कि यहाँ एक बौद्ध मन्दिर है; एक बौद्ध भिक्षु रहते हैं। समय-समय पर उठनेवाली मन की जिज्ञासा ने जोर मारा और मैं लाटूस रोड (अब बुद्ध मार्ग) में अवस्थित उस छोटे-से विहार में पहुँचा। भिक्षु के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए विशेष भूमिका बाँधने की जरूरत नहीं पड़ी।

स्वामी बोधानन्द बंगाली थे, बचपन बनारस में बीता था, लेकिन वर्षों से घुमक्कड़ी का जीवन बिताते

1. बोधानन्द जी पर एक लेख 'अतीत से वर्तमान' में भी है।

'चारों खूँट जगीरी' वाले हो गए थे। हिन्दी ही नहीं, अवधी भी ऐसी बोलते थे, जिससे मालूम होता था, उनका जन्मस्थान यहीं कहीं का है। मैंने बौद्ध धर्म के बारे में कितनी ही बातें पूछीं, और एक से अधिक दिन तक उनके पास गया। उन्होंने सभी बातों का उत्तर दिया, और पहिले ही बिदकानेवाली बात नहीं कही। उस समय वेद, ईश्वर, आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द का मैं अनन्य भक्त था। यदि तुरन्त सीधी चोट होती, तो बिदकने की बिल्कुल सम्भावना थी। हाँ, उन्होंने बुद्ध के व्यक्तित्व को ऐसे मनोहर रूप से चित्रित किया कि मैं लुभा गया। उन्होंने बतलाया, पालि-साहित्य कहाँ से मिलेगा। उस समय तक 'धम्मपद' छोड़कर कोई पालि ग्रन्थ मूल या हिन्दी अनुवाद के साथ नागरी में नहीं छपा था, और वह भी न सुलभ था, न सुपरिचित। स्वामीजी ने बतलाया, श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ पालि-व्याकरण (कच्चायन) प्रकाशित किया है, जिसमें सिंहली, वर्मी और स्यामी लिपियाँ दी हुई हैं। इन तीनों लिपियों में पालि ग्रन्थ सुलभ हैं। उनसे ही पता लगा कि बंगाल में 'जगज्ज्योति' पत्रिका निकलती है। इसके बाद वर्षों के लिए स्वामीजी के साथ मेरा कोई सम्पर्क नहीं रहा।

कुछ ही महीनों बाद मैं महेशपुरा (बुन्देलखण्ड) में वैदिक विद्यालय खोलकर बैठ गया, विद्याभूषण के व्याकरण को मँगाया, फिर लंका से कुछ पुस्तकें मँगवाईं, और अपने आप ही पढ़ने की कोशिश की।

वर्षों बाद 1927 ई. में जिज्ञासा को पूरी तौर से तृप्त करने का अवसर मिला, जब कि मैं लंका गया। त्रिपिटक में कुछ अधिक प्रवेश करते ही वेद, ईश्वर और आर्यसमाज ने साथ छोड़ दिया, मैं अनीश्वरवादी नास्तिक बन गया। बुद्ध और उनकी शिक्षाओं के प्रति मेरा अनुराग हो गया। उसके बाद तो कोई धर्म मुझे आकृष्ट नहीं कर सका। बुद्ध से अगली मंजिल में मार्क्स मुझे मिले। भौतिकवाद मेरा दर्शन हो गया, पर बुद्ध के मधुर व्यक्तित्व का आकर्षण मेरे मन से कभी नहीं गया।

मालूम नहीं, मेरे इस परिवर्तन की सूचना स्वामी बोधानन्द को कब मिली। 1916 ई. के बाद उनके दर्शन किए एक युग बीत गया। लंका से मैं तिब्बत में जाकर सवा वर्ष रहा। फिर लंका गया। जहाँ तक मुझे ख्याल है, 15 वर्ष बाद 1931 ई. में महास्थविर का दर्शन हुआ। अब सचमुच ही वह महास्थविर (महावृद्ध) थे। भारतीयों में बौद्ध धर्म का दीपक पुनः जलानेवाले वह प्रथम पुरुष थे। स्वामी महावीर ने अवश्य बुद्ध के निर्माण-स्थान (कसिया) में धुनी रमाई थी, और उनके शिष्य बर्मी भिक्षु चन्द्रमणि बाबा ने धम्मपद को हिन्दी रूप देकर उसे लोगों के लिए सुलभ बना दिया था, पर बोधानन्द महास्थविर पल-पल, क्षण-क्षण बौद्ध धर्म की पुनः स्थापना के लिए प्रयत्न करते रहे। अकेले थे, पर कभी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। शायद 1897 ई. का या उसके बाद का कोई अकाल था, जब कि दुखितों-पीड़ितों की सेवा में लगे उनका सम्पर्क ईसाइयों से हुआ। ब्राह्मण कुल में जनमने पर भी जात-पाँत से उन्हें सख्त घृणा थी। यह घृणा शायद उन्हें ईसाई बना दिए होती। इसी समय उन्हें जात-पाँत के सख्त विरोधी बौद्ध धर्म का पता लगा और वह बौद्ध धर्म की तरफ आकृष्ट हो बौद्ध भिक्षु हो गए।

उनकी तीन जबर्दस्त आकांक्षाएँ थीं–(1) बुद्ध को उनकी जन्मभूमि में फिर से लौटाकर लाना, (2) भारत से जात-पाँत का उन्मूलन करना, (3) पुस्तकावलोकन। पुस्तकों के वह बड़े प्रेमी थे। उनकी पहुँच निम्न मध्यम-वर्ग के शिक्षित या पिछड़ी जातिवाले लोगों तक थी। भिक्षा के लिए कोई दिक्कत नहीं थी, किसी घर में भी जाकर भोजन कर सकते थे। देखने पर उन्हें आदमी कृपण कहने की गलती कर सकता था। हाँ, वह एक-एक पैसे को जोगाते थे, पर, किसलिए ? एक-एक पैसे को जोड़कर उन्होंने रिसालदार बाग में बौद्धमन्दिर बनवाया और उन्होंने पुस्तकों की एक बड़ी राशि जमा कर दी। बेसरो-सामानी की अवस्था में भी इतनी पुस्तकें कैसे वह जमा कर पाये, इसे सोचकर आश्चर्य होता है। अपने पुस्तकालय की हजारों पुस्तकों में प्रायः सभी को उन्होंने स्वयं पढ़ा था। उनमें बंगला, हिन्दी, पालि, अंग्रेजी सभी तरह की पुस्तकें हैं, ऐसे विषयों पर जिनसे उनकी सुरुचि और निष्ठा का पता लगता है।

उनके खरे स्वभाव को देखकर बाज वक्त विश्वास नहीं होता था कि वह बंगाली हैं–बंगाली ज्यादा स्निग्ध मधुर स्वभाव के होते हैं। हिन्दू धर्म की सामाजिक उदारता की बात छेड़ दीजिए, बस बारूद की ढेर में चिनगारी

पड़ जाती थी। इस अन्याय के कारण ब्राह्मणों के धर्म को वर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। वैसे भी नर्मी और विनम्रता के शिष्टाचार को भूल जाते थे, पर उनका हृदय नवनीत से भी कोमल था। मैंने भिक्षु बन बौद्ध धर्म के कितने ही ग्रन्थों का अनुवाद किया। यह देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। जब भी जाता, बड़े स्नेह से मिलते। जब भिक्षु-वेश को छोड़ पहिली बार उनसे मिला, तो वह अपने आँसुओं को रोक नहीं सके, पर कोई शिकायत नहीं की।

बौद्ध धर्म और दर्शन के बारे में मैंने दूसरों से बहुत पढ़ा, अपने परिश्रम से भी बहुत कुछ सीखा, पर उसको प्रथम मन्त्र देनेवाले बोधानन्द महास्थविर ही थे। जीवन-भर वह अपनी धुन में लगे रहे। उनको इसकी बड़ी चिन्ता थी कि उनका आरम्भ किया काम आगे भी चलता रहे। अपने विहार के लिए किसी उत्तराधिकारी बनाने की बात जब उनके सामने आई, तो उन्होंने किसी भारतीय तरुण को नहीं बल्कि एक सिंहलपुत्र (भिक्षु प्रज्ञानन्द) को स्वीकार किया और अपना अंतेवासी बनाया। कहते थे—"भारतपुत्र का क्या पता, कपड़ा छोड़कर अपने समाज में न चला जाय। सिंहलपुत्र पीढ़ियों का बौद्ध होता है, वह बराबर बौद्ध ही रहेगा।" पूरी उम्र पाकर भदन्त बोधानन्द ने अपना शरीर छोड़ा।

27

स्वामी ब्रह्मानन्द

1952 ई. में 91 साल से ऊपर के होकर स्वामी ब्रह्मानन्द का देहान्त हुआ। उन्होंने अपने सामने अपनी पाँच पीढ़ियाँ देखीं, ऐसा सौभाग्य बहुत कम को ही मिलता है। स्वामी ब्रह्मानन्द उन पुरुषों में थे, जिन्होंने स्वामी दयानन्द के जीवन में ही उनकी शिक्षा स्वीकार की थी। बुन्देलखण्ड के एक छोटे-से गाँव में रहने के कारण उन्हें दयानन्द के दर्शन का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ।

स्वामी ब्रह्मानन्द का पहिला नाम श्री रामदीन पहाड़िया था। उनका गाँव महेशपुरा जालौन जिले में कोंच के स्टेशन से चार-पाँच कोस पर पड़ता था। रास्ता बीहड़ था, बरसात में जूता पहनकर चलने में सेर-सेर मिट्टी चिपक जाती और पैर उठाना मुश्किल हो जाता। रामदीन मामूली बहीखाता के लायक लिखना-पढ़ना जानते थे, धर्म के कारण रामायण भी पढ़ लेते थे। फिर न जाने किस उड़ती चिड़िया ने उनके पास दयानंद और आर्यसमाज का सन्देश भेजा। जिज्ञासा ने हिन्दी पढ़ने के लिए भारी प्रेरणा दी, फिर आर्यसमाज-सम्बन्धी साहित्य और हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं को मँगाकर पढ़ने लगे।

आर्यसमाज कोरा मतवाद लेकर प्रकट नहीं हुआ था, उसने आरम्भिक पीढ़ी के जीवन-दर्शन को बदलने की कोशिश की थी। रामदीन पहाड़िया की जिज्ञासा-तृप्ति के लिए पुस्तकों के अतिरिक्त कभी-कभी जानकार विद्वान् साधु भी आ जाते थे, जिनकी वह सेवा करते थे। उन्होंने समझ लिया, झूठ और दयानन्द का बतलाया धर्म एक साथ नहीं चल सकते। पीढ़ियों से दुकानदारी और लेन-देन का काम उनके घर में चला आया था। वह अपने पिता के एकमात्र पुत्र थे। उनके पास गाँव में जीवन बसर करने के लिए काफी सम्पत्ति थी। दुकानदार के लिए झूठ बोलना अनिवार्य है। वह समझता है, यदि दाम को बेसी करके न कहेंगे तो ग्राहक कभी विश्वास नहीं करेगा, और दुकान छोड़कर चला जायेगा। सौभाग्य से महशेपुरा में दूसरी कोई दूकान नहीं थी। पर गाहक को खाना तो निश्चित था। रामदीन जी ने निश्चय किया कि चाहे कुछ भी हो, मुझे अपने व्यवसाय में झूठ से सहायता नहीं लेनी है। उनके यहाँ दूकानदारी कपड़े की थी। वह एक दाम बोलने लगे। पहिले कुछ ग्राहक लौटे जरूर, पर उन्होंने देख लिया, रामदीन का दाम दूसरी जगह से कम था। धीरे-धीरे सब लोग समझने लगे कि यह बनिया एक दाम बोलता है। कुछ ही समय बाद सच बोलना घाटे का नहीं, नफे का काम हो गया। यह थोड़ा नफा रखते थे, सूद की भी हल्की दर रखते थे। सत्य के प्रयोग के साथ उन्होंने आर्यसमाज की

शिक्षा के अनुसार अपने घर में सायं-प्रातः संध्या करने का नियम स्वीकार किया। अर्धांगिनी निरक्षर थीं, उन्हें भी थोड़ा पढ़ाया, संध्या सिखलाई। दोनों व्यक्ति शाम-सबेरे संध्या-हवन करने लगे।

अगली पीढ़ी के लिए उन्हें दो पुत्र पन्नालाल और श्यामलाल मिले। पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा भी आर्यसमाज के अनुसार होना चाहिए, उन्हें संस्कृत पढ़ना चाहिए, इसे उन्होंने सोच लिया। जीवन सादा और गाँव का था। खर्च बहुत बढ़ा हुआ नहीं था। आमदनी भी काफी थी। महेशपुरा में गाँव से बाहर उन्होंने कुछ एकड़ जमीन ली। पानी पाताल फोड़कर निकालना पड़ा। कुआँ भी पक्का बनवाया। ज्यादा पानी के लिए उसमें लोहे का नल धँसवाया, अमरूद और दूसरे फलों का बगीचा भी लग गया। शायद अभी दोनों पुत्र अबोध थे, तभी उन्होंने यह तैयारी की। ढूँढ़कर फर्रुखाबाद के एक संस्कृत पंडित को अपने यहाँ रक्खा। बगीचा लड़कों के लिए गुरुकुल बन गया। वहीं पन्नालाल और श्यामलाल की शिक्षा होने लगी। पन्नालाल बड़े मेधावी थे, पढ़ने की भी उनमें लगन थी। कुछ वर्षों बाद वह धाराप्रवाह संस्कृत बोलने लगे। श्यामलाल के पढ़ाने की पिता ने बहुत कोशिश की। पंडितजी अध्यापकी करने गुजरात चले गए, तो श्यामलाल को उनके साथ कर दिया। पर वह ज्यादा पढ़ नहीं सके। हाँ, आस्तिक और कर्मनिष्ठ होने में अपने पिता का पूरा अनुगमन श्यामलाल ने ही किया। इसी साल (1956 ई.) में पता लगने पर श्यामलालजी मसूरी आये। भूल से मैंने अपनी नई पुस्तक 'ऋग्वेद' का जिक्र कर दिया। फिर खानपान की भी बात आ गई। ऋग्वेदिक आर्य घोड़ा-बैल खाते थे, इसका स्पष्ट उल्लेख अनेक ऋचाओं में है, यह सुनकर श्यामलालजी का श्रद्धालु हृदय तिलमिला उठा। घर पर वह रोज हवन करते हैं, पिता की तरह ही वैदिक धर्म में उनकी निष्ठा है। मांसाहार तो पच्चीसों पीढ़ियों से उनके कुल में छूटा हुआ है। उनकी श्रद्धा मेरे प्रति कुछ कम जरूर हुई होगी, पर पुराना सम्बन्ध ऐसा है, जो तोड़ा नहीं जा सकता। उन्होंने बहुत चिरौरी-विनती की—"इस पुस्तक को आप न छपवाएँ।" शायद समझते थे कि पुस्तकों के लिखने में मुझे प्रेरणा पैसा ही देता है, इसलिए कहने लगे—"इससे जितना पैसा मिलनेवाला हो, उतना मैं दे दूँगा।" मैं उन्हें क्या समझाता !

रामदीनजी ने अपने पुत्रों को पढ़ा-लिखाकर बड़ा किया, उनका ब्याह कर दिया। पौत्र का मुख देख लेने पर गृहस्थ नहीं रहना चाहिए, इस नियम के पालन करने का ख्याल आया। उन्होंने गेरुआ पहन अपना नाम ब्रह्मानन्द रख लिया। सारा जीवन सुख और निचिन्तता में बीता था। संन्यासी के लिए घुमक्कड़ होना जरूरी है, पर स्वामी ब्रह्मानन्द को यह हिम्मत कैसी हो सकती थी ? उन्होंने कर पर कर रक्खा, करतल कर कभी नहीं रक्खा, इसलिए भिक्षाचर्या उनके लिए सबसे कठिन बात थी। उन्होंने महेशपुरा में रहते ही संन्यास-धर्म पालने का निश्चय किया। गाँव से बाहर पुत्रों ने एक पक्की कुटी बना दी। वह भोजन के लिए घर पर आ जाते थे, बाकी अपना समय कुटिया में अध्ययन और चिन्तन में लगाते। आर्यसमाज के लिए और कुछ करने की उनकी बड़ी लालसा थी। इसी समय किसी ने सुझाव दिया, उपदेशक तैयार करने के लिए एक विद्यालय खोलें। पुत्रों ने पिता की इच्छा पूरा करना कर्तव्य समझा और उन्होंने इसके लिए कुछ हजार रुपये देने का निश्चय किया।

विद्यालय खोलने के लिए भाई महेशप्रसादजी को कहा गया, जिन्होंने पहिले स्थान ठीक करने के लिए पं. भगवतीप्रसाद 'आर्यमुसाफिर' को और जनवरी 1917 में विद्यालय खोलने के लिए मुझे भेज दिया। महेशपुरा पहुँचने पर मैंने देखा, कुछ हजार के एकमुश्त दान से विद्यालय ठीक से नहीं चल सकता। दस-बारह विद्यार्थी रहेंगे, उनके लिए दो सौ रुपया महीने की आवश्यकता तो जरूर होगी, इसलिए और चंदा करना चाहिए। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से सलाह हुई, चैत की फसल के समय चन्दा करने के लिए दीहात में घूमना चाहिए। इसी के अनुसार फसल कटने के बाद ही हम दोनों महेशपुरा से निकल पड़े। गाँव-गाँव घूमते जालौन और आगे तक पहुँचे। रामदीन पहाड़िया की सत्य-निष्ठा को लोग जानते, उनका सम्मान करते थे। जिस गाँव के भी खाते-पीते गृहस्थ के पास हम पहुँचे, उसने इन्कार नहीं किया और मन-दो-मन अनाज देना सबने स्वीकार किया। हमारे कागज पर सैकड़ों मन अनाज जमा हो गए, किन्तु वसूल करना आसान नहीं सिद्ध हुआ—न हम सब जगह पहुँच सकते थे और न सभी अपनी दी हुई राशि को देने के लिए तैयार थे। तो भी बीस-पच्चीस मन अनाज

जरूर इकट्ठा हो गया। उस समय अभी दाम बढ़ा जरूर था, लेकिन आज की तरह का नहीं। फसल में रुपये का आठ सेर गेंहूँ मिलता था।

स्वामी ब्रह्मानन्द विद्यालय के प्राण थे। हमने पाँच-छह महीने तक रहकर विद्यालय को महेशपुरा में चलाने की कोशिश की, पाँच-छह विद्यार्थी भी आ गए। पर, आगे पता लगा, यातायात के साधनों से इतनी दूर इस छोटे गाँव में संस्था के बढ़ने की सम्भावना नहीं है। दोनों दूसरा स्थान ढूँढ़ने लगे। अन्त में कालपी पसन्द आई। वह जमुना के किनारे एक अच्छा-खासा कस्बा था, रेल वहाँ से जा रही थी, कानपुर भी वहुत दूर नहीं था। बरसात के बाद विद्यालय कालपी चला आया। स्वामी ब्रह्मानन्दजी भी हमारे साथ थे। कुछ महीने और विद्यालय को हम ले चले, लेकिन अब विद्यार्थी दो-तीन ही रह गए। खर्च जैसे-तैसे चला लेते थे, पर इतने के लिए जीवन लगाना पसन्द नहीं आया, साथ ही मेरी पढ़ने की रुचि अति तीव्र हो गई। बड़े दुःख के साथ विद्यालय को बन्द कर स्वामी ब्रह्मानन्द से विदाई लेनी पड़ी।

चार वर्ष बाद 1921 के जून या जुलाई में मैं कोंच पहुँचा। स्वामी ब्रह्मानन्द के दोनों पुत्र अपने परिवार को ले करके अब महेशपुरा छोड़कर कोंच चले आये थे। जालौन जिला की सीमा पर ग्वालियर, दतिया की रियासतें हैं। इधर की नदियों ने मिट्टी का कटाव करके भूमि को छोटी-मोटी पहाड़ियों और गड्ढों के रूप में परिणत कर दिया है। रियासतों में टोपीवाली बन्दूकों के लिए कोई लाइसेन्स नहीं था। पुलिस को आपस में सम्पर्क स्थापित करने में देरी होती थी। इन सवका लाभ उठाकर कोई-न-कोई डाकू दल यहाँ जरूर बना रहता था। पिछले मर्तबे जब मैं यहाँ आया था, उस समय मन्नू महाराज के दल की चारों तरफ धाक थी। उन्होंने अपनी पहुँच से भीतर के गाँवों में एक सरकार के भीतर दूसरी सरकार कायम कर रक्खी थी। लोग पुलिस से रक्षा न देखकर मन्नू महाराज की पूजा करते थे। गाँवों में धन और प्राण अरक्षित था। कोंच जैसे तहसील और थानावाले कस्बे में अधिक सुरक्षा थी, इसी ख्याल से यह परिवार कोंच में चला आया था। इसके अतिरिक्त व्यवसाय में बढ़ने का भी यहाँ अधिक सुभीता था। दोनों भाइयों में अलग होने के लक्षण पैदा हो गए थे। स्वामीजी कभी यहाँ और कभी महेशपुरा में अपनी कुटिया में रहते।

स्वामीजी के जीवन में अन्तिम बार अक्तूबर 1948 में मैं कोंच गया। अब वह वृद्ध 85 वर्ष के हो गए थे, इसलिए उनका आग्रह और मेरी इच्छा थी कि अपने पुराने मित्र का एक बार फिर दर्शन कर लूँ। उनके शरीर में हड्डी और चमड़ा ही रह गया था, तो भी चल-फिर सकते थे। वह अपने पोतों और परपोतों की पीढ़ी में भारी परिवर्तन देख रहे थे। जिनके खानदान में कभी किसी ने मांस नहीं खाया था, अब वही खुल्लम-खुल्ला अंडा खाते थे और चुपके-चुपके मांस खानेवाले भी थे। स्वामीजी क्यों न कुढ़ते ? वह चाय को हानिकारक मानते थे और पोतों के पास चाय का सेट था, दिन में दो बार चाय पिये बिना उनका काम नहीं चलता था। खर्च करने में भी वह बहुत उदार थे। नई साड़ियाँ, नये तरह की धोतियाँ, आधुनिक ढंग के सिंगार की चीजें घर में पूरी तौर से प्रविष्ट हो गई थीं। स्वामीजी नहीं मानते थे कि हरेक पीढ़ी को अपनी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी है। नई पीढ़ियाँ हमेशा परिवर्तन करती आई हैं। उन्होंने भी जवानी में पत्थर के अटरे-बटरे को फेंककर निराकार ईश्वर को स्वीकार किया था। परिवार की वह अवस्था देखकर उनका मन अगर महेशपुरा में ज्यादा रहने का होता हो, तो क्या अचरज ?

9 अक्तूबर को स्वामी ब्रह्मानन्दजी से विदाई ली। उनकी आँखों में आँसू आ गए। फिर मिलने की आशा कहाँ हो सकती थी ? वह अब भी आस्तिक थे और मैं कट्टर नास्तिक; लेकिन उसके कारण हमारे स्नेह-सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ा था। उनके कनिष्ठ पुत्र ने इसी साल बतलाया कि चार साल हुए, स्वामीजी का देहान्त हो गया।

28

आचार्य इंदिरारमण शास्त्री

मुझे अधिक सम्मानित और स्थानाधिपति से बेपर्वाह देखकर उन्हें ईर्ष्या हुई। मैंने दर्शन-मध्यमा का फार्म बिना प्रथमा पास किए ही भर दिया था। जिन परीक्षाओं में समझने की अधिक आवश्यकता थी और रटने की कम, उन्हें मैं आसानी से पास कर लेता था। यह परीक्षा भी पास कर जाता; पर उन्हें ईर्ष्या हुई। कलकत्ता में परीक्षा-कार्यालय में शिकायत भेज दी, जिसके कारण मैं उस परीक्षा में नहीं बैठ सका। किसी निरीह विद्यार्थी पर वह चोट करते तो मैं उसकी ढाल बनकर आगे आ जाता, बस इतना ही भर मैंने उनका विरोध किया।

1919 के जून या जुलाई में मैं लाहौर से करवी में महन्त जयदेवदास की संस्कृत पाठशाला में चला आया था। तब से मार्च 1920 तक वहीं रहा। यहीं पहिले-पहिल पं. इंदिरारमण से मुलाकात हुई। वह पं. गोविन्ददासजी के योग्य और प्रिय शिष्य थे। थोड़े ही दिनों के सम्पर्क से मुझे मालूम हो गया कि यह छोटा-सा दुबला-पतला तरुण असाधारण प्रतिभा का धनी है। उनका छपरा का होना भी मेरी घनिष्ठता का कारण हो गया। तीसरी बात एक और पैदा हुई, जिसके कारण मैंने उन्हें अपना अभिन्न मित्र बना लिया। वह गोसाईं (अतीथ) वंश में पैदा हुए थे जो गोस्वामी शंकराचार्य के दशनामी साधुओं के गृहस्थ हो जाने से बने हैं, इसीलिए उन्हें कुछ लोग नीची निगाह से देखते थे। किन्तु, मुझे अपना लड़कपन याद आता था। ब्राह्मण होते हुए भी हमारे घर के लोग गोसाईंजी को देखकर हाथ जोड़ 'नमो नारायण' करते थे। करवी के वैष्णव साधु उन्हें अतीथ का बालक समझकर नाक-भौं सिकोड़ते और अपमानित करने का भी उपक्रम करते थे। मैं जात-पाँत का घोर विरोधी था, इसलिए मेरी सारी सहानुभूति इंदिरारमणजी के साथ थी। मुझे यह देखने की कभी इच्छा नहीं हुई कि उनका भाव मेरे प्रति क्या है। इसे एकतरफा स्नेह और पक्षपात कहना चाहिए, पर मैं मजबूर था।

इंदिरारमणजी उस समय तक कुछ मध्यमा परीक्षाएँ पास थे। पीछे वह कलकत्ता के 'दर्शनतीर्थ' और पंजाब का 'शास्त्री' हुए। पर, उनकी योग्यता परीक्षाओं से नहीं मालूम होती। वह गम्भीर विद्वान् थे, बहुत-से शास्त्रों, बहुत-से विषयों में गति रखते थे। डेढ़-दो वर्ष बाद 1921 में असहयोग-आन्दोलन में भाग लेने के लिए मैं छपरा चला आया व उनके बारे में पूछ-ताछ की, पर कुछ मालूम नहीं हुआ। शायद 1926 ई. के जाड़ों में पता लगा कि वह अब रिविलगंज में एक पाठशाला खोलकर पढ़ाते हैं। मैं शाम को उनके पास पहुँचा। अब वह गृहस्थ थे। ऐसे प्रतिभाशाली पुरुष का गृहस्थ के बंधन में बँधना मुझे पसन्द नहीं आया, क्योंकि इस स्थिति में अपनी सारी शक्तियों का पूरा उपयोग नहीं कर सकेंगे। मैंने पूछा—"आपने ऐसा क्यों किया ?"

उन्होंने करुण स्वर में कहा—"क्या करता, वैरागी अतीथ कहकर लोग बहुत अपमानित करने लगे। मेरे लिए वहाँ रहना मुश्किल हो गया।"

मुझे बहुत अफसोस हुआ। ख्याल आता था, अगर मैं उनके साथ रहता, तो वैरागियों से लोहा लेता और उन्हें सर्वतन्त्र स्वतंत्र रहकर अपनी विद्वत्ता का परिचय देने में सहायता करता। पर वह बात तो अब गत हो चुकी थी।

मेरे मन में कभी उनके विरोध का ख्याल नहीं आया था। मैं प्रतिभा का एकान्त आराधक था, इसलिए उनके सात क्या, सात सौ खून माफ करने के लिए तैयार था। छह वर्षों बाद मिलने पर उनके भी भाव बदल गए थे। स्याही पड़े पृष्ठ को हममें से किसी ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। हमारी बातों का अन्त पाठशाला में दो-ढाई घंटे नहीं हुआ। हम पैदल ही रात को वहाँ से चलकर छपरा आये। कितनी बीती और कितने आगे की बातें हमारे पास कहने को थीं। 1923-25 ई. के दो साल के जेल-निवास को मैंने पढ़ने-लिखने में लगाया था, इसलिए यह नहीं कह सकता कि 1921 से 1926 ई. तक के सारे समय को मैंने केवल राजनीति में बिताया। इस समय फिर विद्या की ओर मुड़ने की तीव्र आकांक्षा हो रही थी। इंदिरारमणजी के लिए मैं चाहता था कि वह अपने क्षेत्र में अपनी प्रतिभा दिखाएँ।

1927 ई. में मैं अब राजनीति से हटकर अनुसन्धान और पर्यटन में लग गया। मेरा भ्रमण-क्षेत्र अधिकतर । से वाहर था। कई वर्षों बाद देखा, आचार्य इंदिरारमण शास्त्री काशी विद्यापीठ में अध्यापन कर रहे हैं। बाबू भगवानदास के सुझाव पर मनुस्मृति पर एक विस्तृत पद्यवद्ध ग्रन्थ लिख रहे हैं, अछूतोद्धार के लिए ब्राह्मणों से लोहा ले रहे हैं, उनकी प्रतिभा को दूसरे भी मानने के लिए मजबूर हैं। इसके बाद हर साल जाड़ों में मैं जरूर बनारस जाता और हर बार अपने मित्र से मिलता। हर बार अतृप्त होकर ही उनसे विदा होता। मैं मानता था, बाबू भगवानदास के सठियाये विचारों के अनुसार मनुस्मृति को मोम की नाक बनाने से काम नहीं चल सकता। मनुस्मृति हमारे देश के बहुजन को दासता और अर्धदासता की वेड़ी बनाने का शताब्दियों से काम करती रही है। व्याख्या करने से कुछ नहीं बन सकता। पर, आचार्य इंदिरारमण क्या करते ? गृहस्थ थे, स्त्री और बच्चे थे। हवा पीकर तो काम नहीं चल सकता था। इस काम के सहारे वह एक सम्भ्रान्त जीवन विता रहे थे। मुझे इसके लिए बहुत खेद होता था। सोचता था–काश, यदि वह आज गृहस्थ न होते, तो वह उन्मुक्त शरीर होकर अपने उन्मुक्त मन से विद्या की आराधना में लगे रहते। वह शास्त्रों को आज के तरुणों के समझने लायक बनाते। उनका दर्शन का ज्ञान बहुत उपयोगी हो सकता था।

अन्तिम बार 1944 ई. में बनारस में उनसे मुलाकात हुई। काशी विद्यापीठ के पास से शहर के भीतर जानेवाली गली के एक घर में रहते थे। हमेशा शरीर से दुर्वल और कृश रहते आये थे, इसलिए इस अवस्था में देखकर किसी अनिष्ट की कल्पना नहीं हो सकती थी। लेकिन तीन वर्ष बाद जब 1947 ई. में विदेश से भारत लौटा, तो इंदिरारमणजी का देहान्त हो चुका था। वह पागल होकर अपने गाँव में रहते थे। एक महान् प्रतिभा अपने योग्य काम को किए विना ही चल बसी।

29

राजगुरु पं. हेमराज शर्मा

1923 ई. की शिवरात्रि थी। राजनीतिक कामों की भीड़ में से छुट्टी निकालकर वर्षों से मन की साध पूरा करने के लिए मैं नेपाल पहुँचा। मेरे शरीर पर काले कम्वल की एक अलफी थी। उसी वेश में काठमाण्डू की थापाथली के वैरागी मठ में धुनी के पास बैठा था। मेले के समय 'न जाने केहि भेस में नारायण मिल जायँ' का ख्याल करके कितने ही श्रद्धालु पण्डित और गृहस्थ साधुओं की जमात के दर्शन करने के लिए आया करते थे। 10 मार्च को नेपाली सुरुवाल (पायजामा) और चौबन्दी, सिर पर नेपाली टोपी लगाये एक ठिंगने-से प्रौढ़ पुरुष मेरे पास आये। मैं तीस वर्ष का स्वस्थ, फक्कड़ साधु था–वह मेरी ओर आकृष्ट हुए। कुछ देर बातचीत हुई। संध्या-वंदन का समय आया, उसका जिक्र आने पर मेरे मुँह से अनायास उदयनाचार्य (कुसुमांजलि) की कारिका निकल आई–"उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता।" (कानों में आती दिव्य वाणी मानो उपासना ही है) इन्हें पता चल गया, यह कालीकमलीवाला साधु विद्वान् है।

इसी समय नीचे से एक विद्वान् संन्यासी स्वामी सच्चिदानन्द नेपाल पहुँचकर राजा के अतिथि बने थे। स्वामी सच्चिदानन्द ने शास्त्रों का अच्छा अध्ययन किया था। झुकाव कुछ-कुछ बौद्ध धर्म की ओर था। नेपाल में शाक्त मत का जोर है। हरेक शुभ कार्य में पशुबलि की जरूरत होती है। स्वामीजी ने उसका खण्डन करके राज्य के सबसे अधिक सम्माननीय तथा महान् पंडित माहिला गुरु को चेलेंज दिया। पं. हेमराज अपने तीनों भाइयों में माहिला (मँझले) थे, इसलिए उन्हें लोग अधिकतर 'माहिला गुरज्यू' के नाम से याद करते थे। उस दिन माहिला गुरु ने मुझे अपने यहाँ बुलाया था। दरबार पुस्तकालय के वही अध्यक्ष थे। मुझे पुस्तकालय देखना था, इसलिए मैं स्वयं उनके पास जाने के लिए उत्सुक था। अगले दिन उनके घर पर गया। देखा, चारों ओर पुस्तकाधानियों से भरे पुस्तकालय के कालीन के ऊपर बहुत-सी पुस्तकें रक्खी हुई हैं, और वह तथा दूसरे पण्डित

स्वामी सच्चिदानन्द की उक्तियों को खंडन करने के लिए शास्त्र-वचनों को ढूँढ़ रहे हैं। कोई चर्चा चली, मैंने कुमारिल के वचन 'गोक्षीर स्वदृतौ धृतम्' (कुत्ते के चमड़े में रक्खे गाय के दूध) को उद्धृत करते कहा, मीमांसा वेदवाह्य वचनों को अमान्य ठहराता है। दो ही साल पहिले वेदान्त मीमांसा पढ़कर मैं मद्रास से आया था। बहुत से वचन याद थे। माहिला गुरु ने कहा–"आप स्वामी के विरुद्ध बोलिए।" पर मैं भीतर से आर्यसमाजी, मुझे स्वामी के विचार ही पसन्द थे, इसलिए मैं क्यों उनके खिलाफ जाने लगा ?

माहिला गुरुज्यू का यह मेरा पहिला सम्पर्क था। समय पाकर यह सम्पर्क उनके मन से भूल गया, यद्यपि मुझे नहीं भूला। लंका में पालि बौद्ध धर्म का अध्ययन करने के बाद मुझे साफ दीखने लगा कि बौद्ध दर्शन और धर्म के चरम विकास के जानने के लिए तिब्बत गए बिना काम नहीं चल सकता। तिब्बत जाने में मेरे रास्ते में अनेक बाधाएँ थीं। मैं असहयोग और कांग्रेस के लिए दो बार जेल हो आया था, इसलिए अंग्रेज सरकार मुझे सीमा पार करने नहीं दे सकती थी। कुछ भारतीयों ने तिब्बती बन्धुओं के आतिथ्य का उपयोग अंग्रेजों की गुप्तचरी में किया, जिसके कारण वहाँ के लोगों को वे सन्देह की दृष्टि से देखते थे, इसलिए तिब्बत की सीमा के भीतर जाकर मुझे स्वागत की कोई आशा नहीं थी। तो मैंने भी निश्चय कर लिया, तिब्बत जाना ही होगा। एक ही सुगम रास्ता मालूम हुआ कि मैं भारतीय सीमा से सीधे न जा नेपाल के द्वारा तिब्बत में प्रवेश करूँ। नेपाल में भी शिवरात्रि के रामहल्ले में ही जाने की छूट थी, बाकी समय राहदानी (प्रवेश-पत्र) मिलना करीब-करीब असम्भव था। मैं 1929 ई. के शिवरात्रि में जाकर महीने-डेढ़ महीने नेपाल में अज्ञातवास करते आगे जाने का रास्ता ढूँढ़ रहा था। यह समय माहिला गुरुज्यू से भेंट करने का नहीं था। वह राज्य के एक बड़े कर्मचारी थे।

तिब्बत में सवा वर्ष रहकर मैं भारत लौट आया। मेरे अनुसन्धानों और कार्यों की अब काफी प्रसिद्धि हो गई। मेरे बहुत-से लेख भी निकले। यूरोप भी हो आया था। 'तिब्बत में सवा वर्ष' के नाम से मैंने अपनी यात्रा प्रकाशित करवा दी थी। पं. हेमराज शर्मा संस्कृत के सभी शास्त्रों में अच्छी गति रखते थे। प्राचीनता के जवर्दस्त पक्षपाती थे; लेकिन ज्ञानार्जन के किसी साधन को अस्पृश्य नहीं समझते थे। हिन्दी का साहित्य नेपाली (गोरखाली) से अधिक समुन्नत था। नेपाली और हिन्दी में अन्तर बहुत कम है, और वह हिन्दी को भी अपनी मातृभाषा की तरह ही बोल सकते थे। हिन्दी की पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ ढेर की ढेर आती थीं और वह उनको मन लगाकर पढ़ते थे।

1934 ई. की दूसरी तिब्बत-यात्रा से मैं नेपाल के रास्ते लौटा। कुछ दिन (17 नवम्बर से 2 दिसम्बर) तक काठमाण्डू में रहा। इसी समय राजगुरु के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का मौका मिला। हमारे राजनीतिक और सामाजिक विचारों में जमीन-आसमान का अन्तर था, पर विरोधियों का भी घनिष्ठ समागम और सम्पर्क होता है, इसका उदाहरण हम दोनों थे। हिन्दू धर्म की हरेक खूसट रीति-रवाज और विचार का वह अनुमोदन करते थे। यहाँ तक कि सती-प्रथा के उठाने को भी बुरा बतलाते थे। राणाओं के परम निरंकुश शासन के वह जवर्दस्त समर्थक थे। उधर इसी साल मैंने 'साम्यवाद ही क्यों ?' पुस्तक तिब्बत की राजधानी ल्हासा में रहते हुए लिखी थी, जिसके कुछ अध्याय पत्रिकाओं में छपे और राजगुरु की नजर से भी गुजरे थे। मैं क्या हूँ, इसे वह अच्छी तरह जानते थे; पर इस सबके साथ उन्हें यह भी मालूम था कि तिब्बत में जाकर मैंने भारतीय लुप्त साहित्य को ढूँढ़ निकालने के लिए बहुत प्रयत्न किया है। काठमाण्डू में धर्ममान साहु के मकान में पहिली तिब्बत-यात्रा में भी मैं कई दिन रह चुका था। यहाँ पहुँचते ही मैंने माहिला गुरु को अपने आने की सूचना दे दी। 1934 ई. के भूकम्प का नेपाल पर भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ा था। कितने ही स्तूप और मन्दिर ध्वस्त हो गए थे।

राजगुरु मिलने के लिए उत्सुक थे। मैं शाम को उनके पास गया। भूकम्प-ध्वस्त सुनयश्री के विहार की बात आने पर उन्होंने ठंडी साँस लेकर कहा–"वहाँ तो दिल दहलानेवाली घटना घटी है। उस विहार में पचासों बहुमूल्य तालपोथियाँ थीं। मैंने कई बार उन्हें देखने की कोशिश की, लेकिन गुभाज्यू (बौद्ध पुरोहित) लोग दिखलाने के लिए राजी नहीं हुए। भूकम्प की सहायता में मुझे भी काम करना पड़ता था। बरसात के बाद मैं एक दिन

उस जगह पर पहुँचा, तो पुस्तकें याद आ गईं। मैंने पूछा–'वह पुस्तकें कहाँ हैं ?'

'यहीं जमीन में।'

"सारी बरसात वर्षा पड़ती रही। उन पुस्तकों के लिए क्या आशा हो सकती थी ? तो भी मैंने जल्दी-जल्दी कुछ आदमियों को बुलाकर उस जगह को खुदवाना शुरू किया। मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े, जब मैंने पुस्तकें बाँधने की तख्तियों को हाथ से उठाकर देखा, तो तालपत्र सड़कर कीचड़ हो गए थे।"

माहिला गुरु एक सच्चे विद्वान् की तरह इस घटना का वर्णन करते इतने खिन्न थे, जैसे किसी सगे-सम्बन्धी को उन्होंने अभी खोया हो। यह बात थी, जिसके कारण मैं माहिला गुरु के प्रति अनुरक्त था और वह मेरे प्रति ! तिब्बत की दूसरी, तीसरी और चौथी यात्राएँ भारत से गई तालपोथियों के ढूँढ़ने के लिए मैंने की थीं। दूसरी यात्रा तो विशेष तौर से धर्मकीर्ति और दिङ्नाग के न्याय ग्रंथों के खोजने के लिए हुई थीं। इस यात्रा में मुझे सफलता भी हुई थी। यात्रा से लौटकर मैं धर्मकीर्ति से इतना प्रभावित हुआ कि उनके मुख्य ग्रन्थ 'प्रमाणवार्त्तिक' को तिब्बती से संस्कृत में अनुवाद करने लगा। मेरे मित्र पं. जयचन्द्र विद्यालंकार ने बतलाया कि उसकी तालप्रति राजगुरु पं. हेमराज शर्मा को मिल गई है। मैंने अनुवाद का काम छोड़ दिया। विशेष तौर से उसी पुस्तक को देखने के लिए मैं नेपाल होकर लौट रहा था। पूछने पर उन्होंने बतलाया कि जीर्ण-शीर्ण तालपोथी मिली थी, उसे लौटाने को कहकर इटालियन प्रोफेसर तूची ले गए; लेकिन लौटाया नहीं। फिर उन्हें याद आया कि किसी फोटोग्राफर से उसकी कापी करवाई थी। बड़े प्रयत्न से उसे ढुँढ़वाया। सौभाग्य समझिए, फोटो के प्लेट मिल गए। उसकी कापी उतरवाई।

पोथी के दोनों छोर जीर्ण होकर झर गए थे। इन्हीं छोरों में पत्र का अंक लिखा रहता है। अब यह मालूम करना मुश्किल था कि कौन पत्र पहिला है और कौन दूसरा। सौभाग्य से गेशे गेनदुन् छोम्फेल (संघधर्मवर्धन) तिब्बत से साथ आये थे। धर्मवर्धन महान् रत्न थे। अफसोस है कि मेरे मित्र इंदिरारमण शास्त्री और विज्ञानमार्तण्ड की तरह उनकी प्रतिभा का पूरा उपयोग नहीं हो सका। वह एक बड़े चित्रकार, तिब्बती भाषा के महाकवि और दर्शन के पंडित थे। तिब्बती भाषा में उनको सारा 'प्रमाणवार्त्तिक' कंठस्थ था। मैं तालपोथी की एक पंक्ति को तिब्बती में अनुवाद करके कहता और वह हमारे पास मौजूद तिब्बती पोथी में से निकालकर कारिका को रख देते। कई दिन भिड़से के बाद हम पत्रों को क्रम से लगा सके। पता लगा, पुस्तक में दस पत्र लुप्त हैं। 'प्रमाणवार्त्तिक' के उद्धार से जितनी मुझे प्रसन्नता हुई, उतनी ही राजगुरु को भी। धर्मकीर्ति ऐसे विचारों के माननेवाले थे, जिन्हें राजगुरु कभी पसन्द नहीं करते। किन्तु हमारी पुरानी परम्परा विचार-सहिष्णुता की है, नास्तिकों और परम आस्तिकों के उच्च विचारों को आदर और स्नेह के साथ पढ़ने की। इसलिए धर्मकीर्ति उनके भी प्रिय थे।

1936 ई. में मैं तीसरी तिब्बत-यात्रा के लिए नेपाल पहुँचा। 18 फरवरी से 14 अप्रैल तक प्रायः दो मास रहा। पिछली मुलाकात में ही माहिला गुरु से घनिष्ठता स्थापित हो गई थी। अब यह और आगे बढ़ी। डॉ. जायसवाल नेपाल देखना चाहते थे। नेपाल पुरातत्त्व-सामग्री से भरा हुआ है। मैं भी चाहता था कि वह यहाँ आयें। लेकिन शिवरात्रि के अतिरिक्त दूसरे समय प्रवेश के लिए सरकार से आज्ञापत्र लेना पड़ता था, जो अंग्रेजों और यूरोपियनों के लिए सुलभ था, पर भारतीयों के लिए अत्यन्त दुर्लभ। राजगुरु के प्रयत्नों से जायसवालजी को राज्य के अतिथि के तौर पर निमंत्रित किया गया। नेपाल के शासक और राजगुरु भी मानते थे कि नेपाल की अजेय और पवित्र भूमि को कभी म्लेच्छ पददलित नहीं कर सके। पर मैं जगह-जगह सैकड़ों नाक कटी पत्थर की मूर्तियाँ देखता था। मुसलमान आक्रमणकारी ही ऐसा कर सकते थे, यह मुझे विश्वास था। पर इसका प्रमाण चाहिए। 7 अप्रैल को मैं स्वयम् चैत्य देखने गया। वहाँ एक कोने में जयार्जुन देव का शिलालेख मिला। उससे और दरबार पुस्तकालय में मौजूद राजवंशावलि से भी मालूम हुआ कि 700 नेपाल संवत् (1350 ई.) में बंगाल का 'सुरत्राण शमसदीन भांगरा' (सुलतान शम्शुद्दीन बैगड़ा) ने नेपाल में आकर वहाँ के बहुत-से देवालय तोड़े।

राजगुरु ने एक दिन कहा–" 'तिब्बत में सवा वर्ष' में यहाँ के शासक-वर्ग के बारे में आपने जो टिप्पणी

की है, उससे वह बड़े असंतुष्ट हैं। इसकी वजह से आपकी दूसरी किताबों के यहाँ आने में बड़ी रुकावट हो रही है, इसलिए उसे आप हटा दें, तो अच्छा है।" इस असन्तोष का एक और पता 24 मार्च को लगा। अपनी पुस्तक 'जापान' और 'खुद्दकनिकाय' (पालि) के प्रूफों को डाक से भेजने के लिए ले जाने पर कस्टम (भँसारवाले) अफसर ने उन्हें रख लिया और कहा कि हम इन्हें तब तक नहीं देंगे, जब तक कि 'तिब्बत में सवा वर्ष' की एक कापी नहीं मिल जाती। हमारे पास पुस्तक कहाँ थी और वह तो सरकार द्वारा जब्त थी। गुरुजी ने बहुत कोशिश की, तब जाकर प्रूफ भेजे जा सके। राजगुरु के सुझाव पर मैंने 'तिब्बत में सवा वर्ष' के प्रथम संस्करण के 33 से 36 पृष्ठों को नरम करके दुबारा लिख दिया। नेपाल से मुझे बार-बार वास्ता पड़ता था, इसलिए उसे अपने अनुसन्धान-क्षेत्र से बाहर रखना पसन्द नहीं था।

राजगुरु पं. हेमराज शर्मा में विद्वता, विद्याप्रेम, सहृदयता, कालज्ञता, राजनीतिज्ञता सभी का सुन्दर मिश्रण था। जब-जब मैं इधर आया, उन्होंने मेरे कामों में सहायता की। तिब्बत की तरफ जाते वक्त उन्होंने अपनी मोटर साखू तक भेजी और सीमान्त तक के लिए दो घोड़े भी दे दिए। सीमान्त की नेपाली फौजी चौकीवाले मुझे आगे जाने के लिए न छोड़ते, यदि उनके घोड़े और साईस मेरे साथ न रहते।

राजगुरु का दर्शन 1947 के दिसम्बर में साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में हुआ। मैं सम्मेलन का अध्यक्ष था। वह बहुत क्षीण हो गए थे। बुढ़ापे का पूरा प्रभाव था और साथ ही स्वास्थ्य बहुत खराब रहता था। अन्तिम बार उनके दर्शन 1953 की जनवरी में नेपाल में हुआ था। सभी जाड़ों के कारण नीचे जाने की तैयारी कर रहे थे। घूमते-घामते मैं उनके घर पर पहुँचा। मैंने लिखा था—"मैं कम्युनिस्ट विचार रखता हूँ।" यह उनको मालूम था, और मुझे भी मालूम था कि वह परम निरंकुश सामन्तवाद के समर्थक हैं। तो भी संस्कृत, भारतीय संस्कृति, तत्सम्बन्धी अनुसन्धान ऐसी चीजें थीं, जिनके कारण हम में 19 वर्ष से घनिष्ठता स्थापित हो गयी थी। सबसे पिछली बार जब मिले थे, तो माहिला गुरु शासन के एक सबल स्तम्भ और प्रभावशाली राजगुरु थे। अब राणा चले गए, इसलिए वह 'पानी के बाहर की मछली' जैसे थे।

बड़े प्रेम से मिले। दो-तीन घंटे तक साहित्य और अनुसन्धान की चर्चा चलती रही। उनके ज्येष्ठ पुत्र को मैंने कभी आठ-दस वर्ष का बालक देखा था, अब वह लम्बे-तगड़े जवान थे। साहित्याचार्य करके ग्रेजुएट बन रहे थे। कनिष्ठ पुत्र के रंग-ढंग से राजगुरु को बहुत दुःख था। वह बी. ए. करके अनब्याहे आगे पढ़ने के लिए इंग्लैंड या अमेरिका जाने के लिए उतावले थे। राजगुरु का वंश राणा जंगबहादुर के विलायत जाने में बाधक नहीं हुआ, पर वह उस समय अपने खान-पान और सभी चीजों का पूरा प्रबन्ध करके गए थे। राजगुरु के कनिष्ठ पुत्र निश्चय ही गंगाजल और गंगा की मिट्टी लेकर यहाँ से नहीं जाते, वह वहाँ होटलों में खाते। खैर, खाने की छुआछूत ज्यादा दिन टिक नहीं सकती, इसका राजगुरु को विश्वास हो चला था, पर डर था कि कहीं वह वहीं से ब्याह करके न आये। मुझसे सलाह ली। मैंने कहा—"प्राप्तेतु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्।" सोलह क्या, वह तो बीस वर्ष से ऊपर के हो गए थे। ऐसे पुत्र पर आप अंकुश कैसे रख सकते हैं। वह कह रहे थे—"यदि ब्याह करके जाता, तो अच्छा।" मैंने कहा—"इसकी क्या गारन्टी है कि यहाँ से ब्याह करके जाने पर किसी गोरी के प्रेमपाश में बद्ध होने से वह रुक जायगा।" राजगुरु लाखों के धनी थे। पुत्रों को सभी तरह के आर्थिक सुभीते थे। वह अपना-अपना रास्ता लेंगे, यह तो निश्चित ही था।

काठमाण्डू में मैं जिस जगह ठहरा था, वह राजगुरु के निवास से दूर नहीं था। 21 जनवरी को देखा, वह पैदल ही मेरे यहाँ चले आये हैं। आश्चर्य की बात नहीं थी, उनका स्नेह ही मेरे ऊपर ऐसा था। पर उनका स्वास्थ्य अब बहुत खराब था। मैंने यह कहा, तो कहने लगे—"कोई बात नहीं। बहुत दूर नहीं था। मैं धीरे-धीरे चला आया।" इसके बाद तीन घण्टे तक हम तल्लीन होकर नेपाल के इतिहास पर बातचीत करते रहे। वह नेपाल के विश्वकोश थे, इसलिए उनसे बात करने में बड़ा आनन्द आता था। यही अन्तिम भेंट थी। इसके शायद साल-भर बाद अखबारों में पढ़ा, माहिला गुरु अब इस दुनिया में नहीं रहे। मैंने एक अत्यन्त सहृदय मित्र को और उनके रूप में एक प्राचीन ज्ञान-राशि को हमारे देश ने खोया। माहिला गुरु का पुस्तकालय बहुत विशाल था। सैकड़ों तालपत्रों की पोथियाँ उन्होंने जमा की थीं। दूसरे हजारों ग्रन्थ भी अब दुर्लभ थे। उनके

पुस्तकालय को किसी पुस्तक-विक्रेता ने खरीद लिया। यह सुनकर मुझे खेद हुआ। यदि नेपाल या भारत के राष्ट्रीय पुस्तकालय को सारी ग्रन्थराशि मिल गई होती, तो उसका ठीक से उपयोग होता। पुस्तक-विक्रेता सूखे पत्तों की तरह उन ग्रन्थों को बिखेरेगा। मेरा सिद्धान्त था, संग्राहक को अपने जीवन में ही संगृहीत सामग्री की सुरक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। इसीलिए तिब्बत में संगृहीत अपनी सारी सामग्री को मैंने पटना म्युजियम को दे दिया था, जिसके अध्यक्ष उस समय जायसवालजी थे।

30
धूपनाथ सिंह

मैं टाइफाइड में (27 दिसम्बर 1935 से 15 जनवरी, 1936 तक) पटना अस्पताल में पड़ा था। पता लगते ही धूपनाथ दौड़े और तब तक चारपाई की पटिया उन्होंने नहीं छोड़ी, जब तक कि मैं उससे उठ नहीं गया। हफ्ते-भर मुझे होश नहीं था। उस वक्त की नहीं जानता, पर होश में आने पर जबर्दस्ती उन्हें भेजता, तब वह सोने जाते। इससे पता लगेगा कि धूपनाथ का स्नेह और उपकार कितना है। बेहोशी के समय मैंने धर्मकीर्ति का नाम एक-दो बार लिया था, यह धूपनाथ से मालूम हुआ। उस साल (1935-36) में मैंने धर्मकीर्ति के मूल संस्कृत ग्रन्थों की खोज के लिए तिब्बत जाने का निश्चय किया था। शायद उसी निश्चय को अपूर्ण होते देखकर मुझे धर्मकीर्ति का ख्याल बेहोशी में भी आया। धूपनाथ देखने में भोले-भाले मालूम होते हैं। हिन्दी अच्छी तरह पढ़ लेते हैं, किन्तु बोल सकते हैं केवल भोजपुरी ही। मैं अनीश्वरवाद में पहुँच चुका था, किन्तु पुनर्जन्म की भूल-भुलैया को, कम-से-कम बाहर से, त्यागना नहीं चाहता था। धूपनाथ ने एक दिन बड़ी गम्भीरता से कहा—"इसकी भी क्या जरूरत है।" इसी से मालूम होगा, वह कितना सोच-समझ सकते हैं। बीमारी के बाद की कमजोरी की हालत में भी मैंने तिब्बत जाने का निश्चय नहीं छोड़ा। पर, उसके लिए डेढ़-दो महीने में काफी ताकत की जरूरत थी, तभी मैं भारत से प्रस्थान कर सकता था।

अस्पताल से मैं जायसवालजी के घर पर गया। जायसवालजी को बड़ा अफसोस हुआ कि ऐसी खतरनाक बीमारी के समय मैं पटना में नहीं था। दो-तीन दिन ज्वर आ चुका था, लेकिन बीमारी का पता नहीं था। जायसवालजी ने कहा—"मैं मैसूर ओरियेन्टल कान्फरेंस में आपको बीमार छोड़कर नहीं जाऊँगा।" मैंने कहा—"कोई बात नहीं है, मामूली बीमारी है, आप जरूर जाइए।" लौटने पर उन्हें सारी बात मालूम हुई, और यह भी धूपनाथ ने कितनी सेवा की। तब से धूपनाथ उनके लिए अत्यन्त प्रिय स्वजन बन गए। कहाँ बिल्कुल साहेबी ठाट में रहनेवाला देश का बड़ा बेरिस्टर और इतिहास का महापंडित और कहाँ भोजपुरी बोलनेवाला एक गँवार-सा पुरुष। पर सीमाएँ बिल्कुल टूट गईं। जायसवाल मृत्यु-शय्या पर पड़े थे। अपने 'साहेब की' बीमारी सुनकर धूपनाथ दौड़े आये। जायसवालजी ने देखकर कहा—"धूपनाथ, तुम आ गए। अब मैं जरूर बच जाऊँगा।" साहेब को बचाना धूपनाथ के बस की बात नहीं थी, पर धूपनाथ रत्न हैं, इसका इससे पता लगेगा।

धूपनाथ का पहिले-पहिल परिचय मेरा असहयोग के जमाने में हुआ। उनका जन्मस्थान छपरा जिला में एकमा थाने का अतरसन गाँव है। छपरा जिला और उसमें भी एकमा थाने के साथ मेरा अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनके चचेरे भाई बाबू रामनरेश सिंह हमारे सदा घनिष्ठ सहकारी रहे, उनके घर में हम बिल्कुल घर की तरह जाते थे। पर, धूपनाथ उस समय बगैली (जिला भागलपुर) राज के तहसीलदार थे। नौकरी प्रकृति के अनुकूल नहीं थी। उसे छोड़कर वह साधु बना चाहते थे। मैं भी साधु था। लोग वेश को देखकर ही आदमी को परखते हैं। समझते थे, मैं केवल राजनीतिक नेता ही नहीं, बड़ा सन्त-महात्मा हूँ। धूपनाथ ने साधु होने की बात मुझसे कही। मैं साधुता के महत्त्व को नहीं जानता था, यह बात नहीं है, पर मेरे लिए सबसे बड़ी साधुता यही थी कि देश की आजादी के लिए काम किया जाय। मैंने सीधे अनुत्साहित किए बिना उन्हें समझाया, और वह

साधु वनने से रुक गए। स्वामी सत्यदेव के साथ भी इसी समय वह कई महीने रहे थे। स्वामी सत्यदेव अपने स्वभाव में द्वितीय दुर्वासा हैं, लेकिन उन्हें भी धूपनाथ ने प्रसन्न रक्खा।

1926 के कांग्रेस से कौंसिलों के लिए अपने उम्मीदवार खड़े किए। छपरा जिले का सबसे वड़ा कांग्रेसी नेता और चुनाव-युद्ध का मुख्य सेनापति मैं था। कांग्रेसी उम्मीदवार बाबू निरसूनारायण सिंह के विरुद्ध हथुवा महाराजा के दामाद माझा के वावू खड़े हुए थे। महाराजगंज थाने में कांग्रेस का पक्ष निर्वल था। धूपनाथ को मैंने वहाँ का भार दिया, जिसका उन्होंने वहुत अच्छी तरह निर्वाह किया। यहीं पहिली बार धूपनाथ के साथ काम करने का अवसर मिला। 1926 में गोहाटी में कांग्रेस हुई। धूपनाथ उस समय सुल्तानगंज में कुमार कृष्णानन्द के खजांची थे। तहसीलदारी में किसानों पर अन्याय करना पड़ता था इसलिए उसे उन्होंने छोड़ दिया। कुमार सीधे-सादे आदमी थे, जिनको सभी लूट खाना चाहते थे। धूपनाथ को सहानुभूति आई और उन्होंने खजांची बनना स्वीकार कर लिया। उनका प्रस्ताव था, हम सुल्तानगंज होते गोहाटी चलें। वहीं से हम दोनों गोहाटी-कांग्रेस गए। लौटते समय ब्रह्मपुत्र उतर जब इधर की रेल में बैठे, तो पाकेटमार ने उनके पाकेट पर हाथ साफ करना चाहा, लेकिन उसके हाथ कुछ नहीं आया।

1921 से 1927 तक के छह सालों के सक्रिय राजनीतिक जीवन को छोड़कर मैंने अध्ययन-अनुसन्धान और घुमक्कड़ी को फिर अपनाने का निश्चय किया। मैं लंका जाने लगा था। कोई आवश्यकता पड़ने पर सहायता करने में धूपनाथ वड़ी प्रसन्नता का अनुभव करते थे। उन्होंने लंका जाते वक्त सुल्तानगंज से होते जाने के लिए कहा और मैं मई, 1937 में वहाँ पहुँचा। धूपनाथ अब भी वैराग्य और वेदान्त के फन्दे से निकले न थे, किन्तु एक-एक करके उनकी सरल हृदयता, उदारता और समझ ज्यादा प्रकट होती जा रही थी। अब मुझे अलफी (साधुओं के चोंगे) को उतारकर पंडित के भेष में जाना था, जिसके लिए उन्होंने भागलपुरी चद्दर और एकाध कपड़े ला दिए। उन्होंने इतने पैसों का इन्तिजाम कर दिया, जिससे मैं तीसरे दर्जे में लंका पहुँच सकूँ। इसके बाद के प्रायः छह साल बाहर ही बीते। अब से जाड़ों में मैं जरूर भारत में रहता और बाकी समय यात्राएँ करता। 1933 में देश लौटने पर मैं सबसे पहिले धूपनाथ के पास सुल्तानगंज गया। बाबू धूपनाथ एक बार नौकरी छोड़ साधु बनने को तैयार थे, किन्तु पीछे उतना लम्बा कदम न उठा सके और इसमें मेरा भी कुछ हाथ था। वह कुमार साहब के खजांची सिर्फ नौकरी के ख्याल से नहीं हुए थे। इसीलिए वहाँ के दूषित वायुमण्डल से वह तंग आ गए थे। वह चाहते थे, कुमार को समझाएँ, किन्तु 'जिमि दशनन में जीभ विचारी' थे, करें क्या।

इससे पहिले 1931 की एक घटना भूल गया। लंका में त्रिपिटक के अध्ययन के फलस्वरूप मैंने बुद्ध के जीवन और उपदेशों को लेकर 'बुद्धचर्या' नाम से एक बड़ा ग्रन्थ लिखा था। अभी लेखक के रूप में मेरी प्रसिद्धि नहीं थी। यह छोटी-मोटी पुस्तक नहीं थी, इसलिए कोई प्रकाशक मिलना आसान नहीं था। धूपनाथ ने प्रकाशन के लिए डेढ़ सौ रुपये दिए, जो सारे खर्च का दशांश था। आगे कोई रास्ता निकल आयेगा, यह ख्याल करके मैंने पुस्तक प्रेस में दे दी। पीछे धूपनाथ ने सारे खर्च को देने के लिए लिखा, पर मैं नहीं चाहता था कि उनका इतना रुपया खर्च हो। इसी बीच बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने पुस्तक को छापना स्वीकार कर लिया।

निराश हो एक बार उन्होंने सोचा था—यदि मैं मर जाऊँ, तो शरीर को जलाकर हड्डियों को अपने गाँव में ले जा उस पर स्तूप बनाएँगे। मेरी सारी पुस्तकों—जिनमें उस समय अधिकतर बौद्ध-धर्म पर थीं—वह बड़े ध्यान से पढ़ते थे, इसीलिए उन्हें स्तूप का ख्याल आया।

पटना से दीहात में जाने पर शायद जल्दी ताकत आ जाय, इस ख्याल से धूपनाथ ने प्रस्ताव किया कि मेरे भाई वहाँ बरियापुर में बनैली के तहसीलदार हैं, वहाँ रहने में जल्दी चलने लायक हो जायँगे। बरियारपुर जाने पर वहाँ मेरा भोजन प्रायः मांस, मछली और अंडा हो गया था। धूपनाथ इसका ध्यान रखते थे कि अजीर्ण न होने पाये। 3 फरवरी तक वहाँ रहने के लिए सहमत हो सके। उन्होंने कहा—नेपाल तक मैं भी साथ चलूँगा। 18 फरवरी को हम नेपाल पहुँचे और 14 अप्रैल तक प्रायः दो मास वहीं धर्ममान साहु के मकान पर ठहरे। इस बीच में शरीर बिल्कुल प्रकृतिस्थ हो गया। धूपनाथ तिब्बत भी साथ चलने के लिए तैयार थे, पर मेरे यह कहने पर लौट गए कि साथ जाने के लिए दूसरे मित्र भी हैं।

अगले साल (1937 ई.) में जायसवाल साथ छोड़नेवाले थे। मैं उन्हें स्वस्थ छोड़कर कुल्लू-लाहुल चला गया था। जायसवालजी के मरणासन्न होने की चिट्ठी मिली। मैं वहाँ से पटना पहुँचा। इस बीच धूपनाथ ने कितने ही दिनों तक जायसवालजी के पास रहकर निराश हो वहाँ से जाते समय मुझे चिट्ठी में लिखा था—"शायद अब साहेब की अमृतवाणी सुनने को न मिलेगी। जीवन-शक्ति धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है। मैं तो निराश होकर आज (6 जून) घर लौटा जा रहा हूँ। शायद एक-दो दिन बाद अशुभ सूचना आपको मिल जाय।" और वह अशुभ घड़ी आई। 4 अगस्त को जायसवालजी ने महाप्रयाण कर दिया।

धूपनाथ साधू होने से बच गए, पर उनका स्वभाव वैसा ही रहा। काम में लगा रहना जीवन को सुखी और प्रसन्न रखने के लिए अत्यावश्यक है, इस गुर को वह जान गए थे। उन्होंने अपने पैसों से भागलपुर में खेत खरीदे। उनके पिता रामलगन सिंह अपने चचेरे भाइयों को समेटकर रहते थे। परिवार बहुत बड़ा हो चला। धूपनाथजी के चचेरे भाई बाबू देवनारायण सिंह जब तक रहे, तब तक उन्होंने भी बड़े परिवार को समेटकर रखा। धूपनाथ दो ही भाई थे, जबकि उनके चचेरे भाइयों का परिवार बहुत बड़ा था। धूपनाथ को कोई पुत्र-सन्तान नहीं थी, लड़की ब्याह देने पर उससे भी छुट्टी हो जायगी, जिसके ब्याह के लिए उन्होंने कुछ रुपया रख लिया। वह सोचने लगे—सम्पत्ति में मुझे अपने हिस्से के मुताबिक नहीं लेना चाहिए। अपने हिस्से का एक भाग ही अपने अनुज को देकर उन्होंने बाकी को अपने परिवार के दूसरे व्यक्तियों के लिए दे दिया। भागलपुर में जमीन उन्होंने अपने पैसे से खरीदी थी, पर उसमें भी उन्होंने सबको भाग दिया। इससे मालूम होगा कि उनमें कितनी उदारता है। उन्होंने पहिले चाहा, सब अपना काम इकट्ठा रखें, लेकिन उनकी कोशिश बेकार गई। यहाँ तक कि ईमानदारी से किए जानेवाले उनके प्रयत्न का लोग उल्टा अर्थ लगाने लगे, तो वह बड़े मर्माहत हुए। संयुक्त परिवार जब बहुत बड़ा हो जाता है और उसकी नई पीढ़ी नई शिक्षा-दीक्षा स्वीकार कर अपने खर्च को बढ़ा, आमदनी का प्रबन्ध नहीं कर पाती, तो इस तरह का सन्देह और कटुता स्वाभाविक है।

धूपनाथ तिलबड़िया (भागलपुर) में खेती करते हैं, मजदूरों को आत्मीय के तौर पर मानते हैं, जिसके कारण वह उनके साथ स्नेह रखते हैं। लोग चाहते हैं कि वह सरपंच या दूसरी तरह से अपनी सेवा के क्षेत्र को और विस्तृत करें; पर उनको इसमें कोई लाभ नहीं मालूम होता। वह जीवन को अपने ही तक सीमित नहीं रखना चाहते, बल्कि दूसरों की मदद करने में प्रसन्न होते हैं।

ऐसे निर्लेप, अकारण बन्धु का सभी सम्मान करेंगे। मसूरी में रहते वह दो बार आए। पिछले दो सालों वह नहीं आ सके। उनका अभाव बहुत खटकता है। मैंने लिखा कि साल में एक महीने के लिए तुम्हें जरूर आ जाना चाहिए।*

31

डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल[1]

अपनी दीर्घ जीवन-यात्रा में मेरे स्नेह के पात्र बहुत-से हुए, पर जायसवालजी तो बिल्कुल अभिन्न सहोदर से थे। जब तक वह जीते रहे, उनके साहचर्य का आनन्द मुझे मिलता था। उनका घर मेरा अपना घर, उनका परिवार मेरा अपना परिवार था।

जायसवाल का नाम मैं पहिले भी सुन चुका था, लेकिन उनके सम्पर्क में आने का पहिले-पहिल मौका 1925

---

* धूपनाथ का जन्म 19 अगस्त, 1898 में हुआ था, अर्थात् वह मुझसे पाँच वर्ष छोटे हैं। उनकी माँ ज्योत्स्ना देवी बहुत बूढ़ी होकर मरीं।

1. जायसवालजी पर एक लेख 'अतीत से वर्तमान' में भी है।

या 1926 ई. में हुआ। बोधगया मन्दिर बौद्धों को मिलना चाहिए, इसका आन्दोलन कांग्रेस क्षेत्र में मैंने 1923 ई. में छेड़ दिया था। मेरे दो साल के कारावास के समय कांग्रेस ने बोधगया मन्दिर जाँच-समिति कायम की। उसके सदस्यों में मैं और जायसवालजी भी थे। समिति की रिपोर्ट लिखते समय जायसवालजी के घर हमें जाना पड़ा था, उसी वक्त पहिले-पहिल उनका दर्शन हुआ था।

1930 ई. में तिब्बत की पहिली यात्रा से लौटकर वहाँ से लाई बीस खच्चर सामग्री–पुस्तक, चित्र–लेकर मैं लंका गया। 1932-33 ई. में डेढ़ सौ तिब्बती चित्रों में से तीन दर्जन को मैं अपने साथ यूरोप ले गया। वहाँ जाने पर चित्रों का ऐतिहासिक और कला-सम्बन्धी महत्त्व मुझे मालूम हुआ। एक चित्र का एक आदमी कई हजार देना चाहता था। मैंने सोचा, इन चित्रों को कहीं सुरक्षित रखना चाहिए। उसी वक्त मेरा ध्यान अपने प्रदेश के पटना म्युजियम की ओर गया। लन्दन से 28 अक्तूबर को मैंने पटना म्युजियम के सभापति जायसवालजी के पास पत्र लिखा था–"मैं अपने तिब्बती चित्रपटों को म्युजियम के लिए देने के लिए तैयार हूँ, किन्तु; नालन्दा में यदि कोई सुरक्षित स्थान मिल गया, तो वह वहाँ चले जायँगे।" 22 नवम्बर को जायसवालजी का तार मुझे पेरिस में मिला–"तिब्बती चित्रों के बारे में आपके 22 अक्तूबर के लिखे पत्र की शर्तें धन्यवादपूर्वक स्वीकृत हैं। टामस कुक को लिख रहा हूँ कि वह चित्रों को सँभाल लें।"

1933 ई. में यूरोप और लंका से लौटकर मैं 'गंगा' के पुरातत्त्वांक के सम्पादन के लिए सुल्तानगंज में धूपनाथजी के पास ठहरा था। वहाँ से मैंने पत्र जायसवालजी को लिखा। उसका उत्तर उन्होंने इतनी आत्मीयता के साथ दिया था, जिसकी मुझे कभी आशा नहीं हो सकती थी। मेरे भारत में प्रत्यागमन का स्वागत और स्नेहपूर्ण निमंत्रण भेजते हुए उन्होंने लिखा था–"अब तो मैं भी दुनिया से ऊब गया हूँ, और चाहता हूँ बुद्ध का भिक्षु बनूँ।" भारत में ऐसे खुले हृदय को पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। 9 मार्च को पटना जंक्शन पर उतरा, तो देखा, जायसवालजी प्लेटफार्म पर इन्तिजार कर रहे हैं। भिक्षु-वस्त्र मेरा परिचय देने के लिए काफी था, और उनके चेहरे को मैं 1925 और 1929 में देख चुका था। स्नेह का आरम्भ बड़े वेग से हुआ और बड़ा आरम्भ चिरस्थायी नहीं होता। पर, यहाँ जिस स्नेह का सूत्रपात हुआ था, वह दिन पर दिन बढ़ता ही गया। 9 मार्च 1933 से मैं उनका सहोदर बना और 5 अगस्त 1937 में मैंने अपने कन्धों पर उनकी अर्थी उठाई। चार ही वर्ष तो हम साथ रहे, जिसमें भी अधिकांश भाग देश-देशान्तरों में घूमने में लगते थे और जाड़ों के ही कुछ-कुछ महीने उनके पास बीतते थे। पर मालूम होता था, जैसे हम युगों से एक साथ रह रहे हैं। "आज जब कभी भी उस मित्र की याद आती है, तो कलेजा सुन्न होने लगता है और आँखें पिघलने लगती हैं।"

उस समय जायसवालजी अपने बड़े लड़के के लिए परेशानी में थे। चेतसिंह की शादी हो चुकी थी, वह बैरिस्टरी पढ़ने इंग्लैण्ड गए। पहिली पत्नी में शिक्षा और संस्कृति का अभाव-सा था। चेतसिंह का प्रेम एक अंग्रेज युवती से हो गया। दोनों पति-पत्नी बनकर भारत आये। जायसवालजी ने सोचा था, विवाहित तरुण वहाँ जाने पर प्रेमपाश में नहीं बँधेगा, पर यह बात बहुधा गलत साबित हुई है। जायसवालजी स्वयं विवाहित थे, और वह भी बैरिस्टर होकर आते समय एक अंग्रेज महिला के प्रणय-सूत्र में बद्ध हो गए थे। हाँ, वह उसे भारत नहीं ले आये। चेतसिंह सबसे लायक पुत्र थे। उनके इस आचरण से पिता को बहुत दुःख था। उन्होंने अपने पुत्र की किसी प्रकार की सहायता करने से इन्कार कर दिया था। पर, चेतसिंह को जानने में देर नहीं हुई, मैं सदा उनका प्रशंसक रहा। इसका सबूत जायसवालजी की मृत्यु के कई वर्षों बाद मिला। जायसवालजी की कोठी पर उनके सभी पुत्र-पुत्रियों का अधिकार था। मध्यमा पुत्री–जो कि खुद बैरिस्टर हैं–ने मुकदमा कर दिया था। जायसवालजी के दो पुत्र चतुर्भुज और दीप उसी कोठी में पिलानी होटल स्थापित करके अपनी जीविका चला रहे थे। बँगले के बँटने पर उनके लिए कोई अवलम्ब नहीं रह जाता। चेतसिंह–जो अपने परिवार के साथ अब मलाया के निवासी हो गए थे–ने बीस हजार रुपया देकर अपने भाइयों की रक्षा की। ऐसे भाई कहाँ मिलते हैं ? पर जिस समय की मैं बात कर रहा हूँ, उस समय चेतसिंह नये-नये बैरिस्टर होकर आये थे। उन्हें किसी बड़े बैरिस्टर के हस्तावलम्ब की आवश्यकता थी, जिसे उनके पिता भी देने को तैयार नहीं थे। पुत्र ने निश्चय किया, अपने साथ उस तरुणी को आफत में नहीं डालेंगे जो उनके स्नेह से बद्ध होकर

भारत आई थी। उसे वह फिर विलायत ले गए और प्रबन्ध करके लौट आये।

जायसवाल विलायत में रहते क्रान्तिकारी विचार रखते थे, वैसे ही वे लेख भी लिखते थे। विलायत से हिन्दुस्तान लौटने पर सन्देह था कि उन्हें गिरफ्तार कर लिया जायगा, इसीलिए वह सीधे न आकर पहिले कोलम्बो गए। जब मालूम हुआ कि गिरफ्तारी नहीं होगी, तब वह भारत चले आये। उनके पुराने विचारों ने आगे बढ़ने में हमेशा रुकावट डाली। यदि उन्हें हाईकोर्ट की जजी मिल गई होती, तो वह सारी प्रतिभा और ज्ञान को इतिहास के अनुसन्धान में लगा सकते।

एक सप्ताह के सहवास से ही जायसवालजी की प्रकृति से मैं परिचित हो गया। "न उनको बनावटी रूप में अपने को रखने की आवश्यकता थी, और न मैं अपने को यथार्थ से अधिक दिखलाने की जरूरत समझता था।" हम अब अपने कार्यों में एक-दूसरे के सहयोगी हो गए।

उसी साल पता लगा था, गिलगित (कश्मीर रियासत) में कितने ही प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ एवं स्तूप मिले हैं। प्रो. सिलवेन लेवी ने उसके बारे में अधूरी खबर पाई थी। उनका भी आग्रह था कि मैं कश्मीर और गिलगित जाकर उन हस्तलेखों के बारे में विशेष जानकारी प्राप्त करूँ। गर्मियों में अब भारत में रहना मेरे बस की बात नहीं थी, इसलिए भी पहाड़ों में कहीं जाना था और वहाँ जाना एक पंथ दो काज होता था। मैंने गिलगित और कश्मीर जाने का निश्चय किया। गिलगित सीमान्ती इलाका था, जिसे अंग्रेजों ने पूरी तौर से अपने हाथ में कर रक्खा था और अपने अत्यन्त विश्वासपात्र को ही उधर जाने देते थे। मुझे उधर जाने की इजाजत नहीं मिली और मैं काश्मीर से लदाख चला गया।

यात्राओं में मुझे आर्थिक कठिनाइयाँ रहा करती थीं। हस्तलिखित ग्रन्थों को देखने से काम तो नहीं चल सकता था, उनके फोटो लेने की भी जरूरत थी। जायसवालजी ने एक कैमरा, फोटो-सामग्री के साथ कुछ पैसे भी दिए, और मैं रवाना हो गया। लदाख में रहते उन्होंने मुझे लिखा कि दिसम्बर में बड़ौदा में ओरियन्टल कान्फरेंस मेरे सभापतित्व में हो रही है। उसके हिन्दी-विभाग का अध्यक्ष होना आप स्वीकार करें। मैं आग्रह को कैसे टाल सकता था ?

'मज्झिमनिकाय' के हिन्दी अनुवाद को दिसम्बर से पहिले प्रकाशित करवाने के लिए मैं प्रयाग में पड़ा हुआ था। वहीं से 20 दिसम्बर को जायसवालजी के साथ हमारी बड़ौदा-यात्रा शुरू हुई जो हफ्ते से अधिक रही। हमारी एक पूरी बरात थी, जिसमें जायसवाल-परिवार के अतिरिक्त पटना म्युजियम के क्यूरेटर श्री मनोरंजन घोष, जायसवालजी के मित्र श्री क्षीरोदकुमार राय, फोटोग्राफर और दूसरे सहायक भी थे। हमें रास्ते में अजन्ता, इलोरा, नासिक की पाँडवलेनी, कारला आदि के पुराने गुफा-विहार देखने थे। कारले में मैं शाला के भीतर देखने में लगा हुआ था। जायसवालजी बरांडे में खड़े राय महाशय को कुछ नोट लिखवा रहे थे। मेरे निकलने पर उन्होंने बड़ी गम्भीरता से कहा—"देखिए इस काल में बुद्धमूर्ति बना करती थी।'

हम दोनों में अब बेतकल्लुफी आ चुकी थी, इसलिए मैंने बिना किसी झिझक के कहा—"यह हो नहीं सकता।" लेकिन वहाँ दीवार पर सचमुच बुद्धमूर्ति उत्कीर्ण थी। ध्यान से देखने पर मालूम हुआ, जहाँ बुद्धमूर्ति उत्कीर्ण है, वहाँ पहिले एक वृक्ष था, जिसका ऊपरी भाग वहाँ अब भी मौजूद था। मूर्ति साधारण तल के भीतर खोदकर बनाई गई थी। जायसवालजी को अपनी गलती मालूम हुई। उन्होंने नोट की हुई पंक्तियों को कटवा दिया। जायसवालजी जिद्दी कहे जाते थे, लेकिन अपने मत का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन करने के बाद भी यदि गलती मालूम होती, तो उसे छोड़ देते थे। बम्बई में एक दिन ठहरकर हम 26 दिसम्बर को बड़ौदा पहुँचे। कान्फरेंस में उन्होंने अपना विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया। ब्राह्मण पंडितों की सभा ने जायसवालजी को अपनी मण्डली का सदस्य निर्वाचित करके सम्मान प्रदर्शित किया। अहमदाबाद, आबू, अजमेर के सभी प्राचीन स्थानों को हमने घूम-घूमकर देखा। जायसवालजी चित्तौड़, उदयपुर, उज्जैन, भिलसा होकर साथ ही लौटनेवाले थे, लेकिन अजमेर में किसी मुकदमे के सम्बन्ध में तार मिला और वह वहाँ से पटना चले गए।

मैं लौटकर प्रयाग में पं. उदयनारायण तिवारी के साथ ठहरा था। फरवरी में वहीं भूकम्प आया। प्रयाग को क्षति नहीं हुई। भूकम्प की खबर मिलने पर मैं सहायता करने के ख्याल से पटना पहुँचा। रात को जायसवालजी

आये, छाती से लगाकर मिले। वह दरभंगा किसी मुकदमे में गए थे। खबर न मिलने से लोगों ने समझ लिया था कि वह भूकम्प की बलि हुए। पर बलिदान का दिन अभी तीन साल बाद आनेवाला था।

जायसवालजी गम्भीर विद्वान्, अद्‌भुत गवेषक और विचारक थे। इससे भी बढ़कर उनको यह लालसा रहती थी कि दूसरे विद्वानों और सहकर्मियों को मदद पहुँचाएँ। 1935 ई. के जाड़ों की बात है। बाहर के संगमर्मर के चबूतरे के नीचे हरी घास पर एक ओर कुर्सी पर बैठे वह अपने मुवक्किलों का काम देख रहे थे, दूसरी ओर मेरा लिखना-पढ़ना चल रहा था। इसी समय एक तरुण गेरुआधारी साधु राहुलजी से मिलने आया। मैंने कहा–"मैं ही हूँ।" वह मेरे पास बैठकर संस्कृत में बात करने लगा। इस समय पटना के एक संस्कृत के एक प्रसिद्ध पंडित रंगनाथजी भी आ गए। आगन्तुक ने उनसे शास्त्रार्थ छेड़ दिया : 'खंडन-खंडखाद्य' वस्तुतः बौद्ध दर्शन का ग्रंथ है। मंगलाचरण की आस्तिकता और ग्रंथ के विषय से कोई सम्बन्ध नहीं। पंडितजी वेदान्त से हटाकर न्याय, व्याकरण में ले जाकर दबाना चाहते थे, किन्तु तरुण वहाँ भी कच्चा गोइयाँ नहीं दीख पड़ा। जायसवालजी मुवक्किलों का कागज-पत्र देख रहे थे; किन्तु उनका मन इधर ही था। थोड़ी देर में पिण्ड छुड़ाकर वह भी पहुँचे। काफी समय तक प्रेमपूर्वक शास्त्र-चर्चा चलती रही। तरुण का नाम ब्रह्मचारी विज्ञानमार्तण्ड था। वह पालि पढ़ने के लिए बाहर जाना चाहते थे। मैंने सिंहल या बर्मा जाने के लिए कहा। मार्तण्डजी एक सप्ताह तक मेरे साथ जायसवाल-भवन में रहे। जायसवाल उस सीधे-सादे तरुण की प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने उनके लिए कम्बल कपड़े मँगवा दिए। बैरिस्टरी से काफी कमाते थे, किन्तु उनका हाथ बहुत खुला था, बड़े परिवार का खर्च चलाना श्रीमती जायसवाल का काम था। एक दिन हाईकोर्ट से लौटने पर उन्होंने कुछ रुपये लाकर चुपके से ब्रह्मचारी के हाथ में रख दिए। लंका या बर्मा को जाने का खर्च। श्रीमती शायद उतना रुपया देना पसन्द न करतीं, किंतु जायसवाल तो मुग्ध थे उस सरस्वती-पुत्र पर।

वे अक्सर कहा करते थे–"मेरी बुद्धि और विद्या कानून के लिए नहीं है, किन्तु क्या करूँ।" जायसवाल अपने ज्ञान और प्रतिभा का पूरा इस्तेमाल उस क्षेत्र में नहीं कर पाते थे, जिसके लिए वह बने थे। उन्होंने जो कुछ गवेषणा की, जो कुछ लिखा, वह उस समय में से काटकर, जो कि उनके पास सोने या विश्राम करने के लिए था, यह मैं कह चुका हूँ। अंग्रेज शासक खुशामद चाहते थे, किन्तु इस गुण या अवगुण का उनमें नितान्त अभाव था। कभी-कभी परिस्थिति समझौता करने के लिए मजबूर करती, पर स्वभाव अनजाने ही धोखा दे देता और सब किया-कराया चौपट हो जाता।

1935 के दिसम्बर में मैसूर में ओरियन्टल कान्फरेंस हो रही थी। पिछले साल वह उसके सभापति हुए थे, इसलिए इस साल उनका जाना आवश्यक था। 23 दिसम्बर को मुझे कुछ बुखार आ गया। उन्होंने कहा : "मैं रह जाऊँ ?" मैंने कहा–"नहीं, आप जाइये। यह तो मामूली बुखार है।" वह उसी दिन पत्नी-सहित मैसूर के लिए रवाना हो गए, लेकिन वह मामूली बुखार नहीं, बल्कि टाइफाइड था जिससे 30 दिसम्बर से 3 जनवरी तक मैं बेहोश रहा। बेहोशी के साथ पाखाना-पेशाब की संज्ञा जाती रही। धूपनाथ खबर सुनते ही आ गए, और नर्स या माता से भी बढ़कर मेरी सेवा करते रहे। मैं जीवन और मृत्यु के बीच में झूल रहा था। 6 जनवरी को मन से स्वस्थ हो गया था, बुखार भी नहीं था। उसी दिन जायसवालजी मैसूर से लौटे। सुनते ही माँ जी के साथ दौड़े-दौड़े अस्पताल पहुँचे। उनको बहुत दुःख हो रहा था–मैं क्यों चला गया। लेकिन उस समय किसको मालूम था कि टाइफाइड है।

1936 ई. में मैं तिब्बत जाने के लिए नेपाल पहुँचा। जायसवालजी नेपाल देखना चाहते थे, इसलिए उनके आने के लिए मैंने राजगुरु पं. हेमराज शर्मा को कहा। उन्होंने आने के लिए राणा-सरकार पर जोर दिया। 6 मार्च को पता लगा, उनको आने देने में एक कठिनाई है–"साथ में उनकी धर्मपत्नी भी आयेंगी, शायद वह पशुपति का दर्शन करना चाहें। उनके पति विलायत हो आये हैं। इसलिए पशुपति का दर्शन नहीं हो सकता।" रास्ते की कठिनाई को समझकर श्रीमती स्वयं नहीं आईं। जायसवालजी अपने मित्र श्री श्यामबहादुर बैरिस्टर और अपने छोटे लड़के दीप के साथ नेपाल पहुँचे। वहाँ के हरेक धार्मिक और ऐतिहासिक का महत्त्व के स्थानों को उन्होंने देखा। स्वयंभू चैत्य में जाने पर मैंने राजा जयार्जुन देव के उस शिलालेख को दिखलाया, जिसमें

लिखा गया था कि नेपाल संवत् 770 (1350 ई.) में वंग बंगाल के 'सुरत्राण शमसदीन भांगरा' ने आकर नेपाल के देवालयों को तोड़ा था। बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्री लेकर वह भारत लौटे। पत्रों को वक्तव्य देते हुए इस बात का उल्लेख किया, और यह भी कि मैं नेपाल की राजवंशावलि पर कुछ लिखने जा रहा हूँ। नेपाल दरबार ने उनका आतिथ्य किया था, इसलिए वह अपना अधिकार समझता था कि उनकी मर्जी के खिलाफ कोई बात न लिखी जाय। जायसवाल अपनी ऐतिहासिक जिम्मेवारी को समझते थे। वह भला क्यों राणाओं की बात मानते। उन्होंने अपने विचारों के अनुसार वह पुस्तक लिखी।

1937 के आरम्भ में एसेम्वली के नये निर्वाचन का परिणाम निकला। कांग्रेस की विजय की खबर आने लगी। जायसवालजी को आक्सफोर्ड में पढ़ते समय साम्यवाद की हवा लगी थी। उस समय वह इतने खतरनाक समझे गए थे और विश्वास नहीं था कि हिन्दुस्तान में स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकेंगे। धीरे-धीरे वह आग राख के नीचे दब गई। कुछ विद्याव्यसन और कुछ आराम के जीवन ने उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर किया। तो भी वह अपने को बिल्कुल दबा नहीं सके। दस दिन तक गौरांग प्रभुओं के सामने नम्रता दिखलाते, फिर कोई अनुचित बात देख उबल पड़ते। ऐसे आदमी का भला अंग्रेज क्यों विश्वास करने लगे ? चुनाव के समय बहुत-से लोकगीत बने थे। लोगों ने बड़े जोश के साथ कांग्रेस के उम्मीदवारों को वोट दिया था। मैंने गीतों में से कुछ को उन्हें सुनाया। उनको विश्वास हो चला था कि अव वह अजेय शक्ति मैदान में आ रही है, जिसमें क्रान्ति करने की क्षमता थी। उन्होंने 'मॉडर्न रिव्यू' और एकाध और पत्रों में कुछ लेख लिखे, जिनमें बतलाया कि अब पुरानी दुनिया नहीं रहेगी, युगों से शोषित-पीड़ित मूक जनता अँगड़ाई ले रही है। उसमें जमींदारों के खिलाफ भी लिखा गया था। बिहार में जमींदारों का बहुत जोर था। बावू चन्द्रेश्वरप्रसाद नारायण सिंह सबसे बड़े जमींदार नहीं थे, पर सबसे बड़े जमींदार-नेता तथा अंग्रेजों के नाम के वाले जरूर थे। जायसवालजी के छोटे-भाई इंजीनियर उमेशप्रसाद मुजफ्फरपुर में डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर थे और शायद चन्द्रेश्वरप्रसाद डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन। उन्होंने भाई के द्वारा कहलवाकर धमकी दी कि यदि वह ऐसा लिखेंगे, तो हम जमींदार उनका बायकाट करेंगे और अपने मुकदमे नहीं देंगे। जायसवालजी ने बहुत कड़ा जवाव लिखकर भेजा था—"किसी की कृपा से मैं नहीं खड़ा हूँ। अपने बल पर अब तक मैं रहा।" कौन जानता था कि इसी साल उन्हें महाप्रयाण करना है।

निर्भीकता के साथ रहते वह एकमात्र गुण के पक्षपाती थे। जात-पाँत या प्रांतीयता उन्हें छू नहीं गई थी। श्री क्षीरोदकुमार राय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। वे कलम के जबर्दस्त धनी थे और इसी के कारण देशबन्धुदास के अंग्रेजी दैनिक में सम्पादक थे। इतिहास और पुरातत्त्व में उनकी बड़ी गति थी। वे पटना में परिवार-सहित रहते थे। कैसे काम चलाते थे, यह कहना बहुत मुश्किल है। जायसवालजी से उनकी बहुत घनिष्ठता थी। प्रायः रोज वह उनके पास आते और ऐतिहासिक स्थानों की यात्राओं में साथ रहते थे। पटना म्युजियम के क्यूरेटर बाबू मनोरंजन घोष का देहान्त हो गया था। क्षीरोद बावू के समान उपयुक्त क्यूरेटर कहाँ मिल सकता था ? जायसवालजी ने उनके लिए जोर दिया। तुरन्त बंगाली-बिहारी का सवाल हो गया। बिहारी होते, तो शायद कायथ-भूमिहार का सवाल उठता। लोगों ने म्युजियम के अध्यक्ष की बात नहीं मानी। क्षीरोद बाबू क्यूरेटर नहीं हो सके। इसके लिए जायसवाल को बहुत दुःख हुआ।

1936 ई. के अन्त से ही मैं देख रहा था, जायसवालजी अपने समय का अधिक-से-अधिक उपयोग ऐतिहासिक अनुसन्धान में लगा रहे हैं। वह चाहते थे कि वैरिस्टरी छोड़ दें। 1 दिसम्बर को उन्होंने बड़ी गम्भीरता के साथ सलाह करनी शुरू की—चलकर विल्कुल साधारण तौर से बनारस में रहूँ। उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय को भी इन विचारों को लिखा और कई मित्रों को भी।

जायसवालजी एक ओर प्रखर बुद्धिवादी थे, अपने अनुसन्धानों में उनका दृष्टिकोण पूर्ण तौर से वैज्ञानिक होता, पर दूसरी ओर हस्तरेखा और जोतिस पर भी उनका विश्वास था। शायद इसका कारण आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। वह जानते थे, मैं इन खुराफातों को सुनने के लिए तैयार नहीं था। 10 अप्रैल (1937 ई.) को डॉ. बीरबल साहनी ने पुरा-वनस्पतिशास्त्र पर पटना के साइन्स कालेज में व्याख्यान दिया, जिसमें उन्होंने प्राप्त सामग्री के स्लाइड भी दिखलाये। उनका कहना था, कश्मीर-उपत्यका में पुरापाषाण-युग के हथियार मिले हैं, और वैसे ही

हिमालय के पार भी। उस वक्त हिमालय शायद इतना ऊँचा नहीं था। सम्भव है, पुरा-पाषाणयुगीन मानव हिमालय के इस पार से उस पार जाता रहा। व्याख्यान समाप्त हुआ। जायसवालजी ने किसी पुराण का नाम लेकर बतलाया, इस बात का संकेत वहाँ मिलता है। मैंने कहा कि मनुष्य की भाषा उस समय इतनी विकसित नहीं थी कि वह अपनी इन यात्राओं का वर्णन अगली पीढ़ियों के पास पहुँचाता। डॉ. साहनी भोजन के लिए हमारे साथ ही जायसवालजी के घर जा रहे थे। पूछने पर उन्होंने भी मेरी बात का समर्थन किया।

एक दिन पुरा-लिपियों के पढ़ने की बात चली। अपने अनुसन्धानों के समय उनका चित्त अत्यन्त एकाग्र हो जाता था, इसीलिए दुष्पाठ्य ब्राह्मी अभिलेखों को भी वह पढ़ डालते थे। मैंने इसके खतरे को दिखलाते हुए कहा कि चित्त की एकाग्रता बड़ी अच्छी चीज है, लेकिन उससे हानि भी पहुँच सकती है। आप किसी पुराने शिलालेख को पढ़ रहे हैं। वहाँ कोई अक्षर बिल्कुल मिट गया हो। चित्त पर आप बहुत जोर दे रहे हैं, फिर मन अपने से एक अक्षर बनाकर आपके सामने रख देता।

21 अप्रैल को मैंने पटना से कुल्लू-लाहुल के लिए प्रस्थान किया। उस समय जायसवालजी बिल्कुल स्वस्थ थे, सिर्फ गर्दन के पीछे जरा-सी फुन्सी थी, जिस पर वह पानी की पट्टी बाँधे हुए थे। जिसका फलित जोतिस पर विश्वास हो, उसका मन्त्र-तन्त्र और होमियोपैथी-नेचरोपैथी पर भी विश्वास हो सकता है। उन्हें वर्षों से डायबेटीज़ थी। बहुत दवाइयाँ कीं किन्तु बेकार। पुस्तकों को पढ़ते, तो उन्हें मालूम हो जाता कि इस रोग की कोई दवाई नहीं है। बस, इन्सुलिन का रोज इंजेक्शन लीजिए। वह कभी इन्सुलिन का व्यवहार नहीं करते। रसगुल्ले से उनको बहुत प्रेम था। पत्नी बाधा डालतीं। मित्रों को चाय पर बुलाते। पत्नी कैसे रोकतीं ? वह आधुनिक ढंग की नहीं थीं। पर्दा नहीं करती थीं, लेकिन बाहर मेहमानों में भी नहीं आती थीं। पिन्तो के रसगुल्ले सेर-सेर आते और जायसवालजी भी खूब छूटकर गप्पें लगाते। जब पत्नी शिकायत करतीं, तो कहते—"भाभी, तुमको यों ही किसी ने कह दिया।" वह अपनी पत्नी को मजाकिया तौर पर भाभी कहा करते थे। उन्होंने डायबेटीज़ के लिए कभी ठीक तौर से संयम नहीं किया।

जायसवालजी का बचपन बहुत तकलीफ में बीता था। उनके पिता बाबू महादेव प्रसाद अभी चषड़े के लखपती व्यापारी नहीं हुए थे। उन्होंने अपने बड़े लड़के काशीप्रसाद को उसकी माँ के साथ ससुराल में उपेक्षित छोड़ दिया था। ननिहाल बहुत गरीब था। लड़कों की देखादेखी वह भी मिठाई माँगते। उन्हें चने के सत्तू में गुड़ मिलाकर छोटी-छोटी गोलियाँ बना लड्डू के नाम से देते। जायसवालजी जब प्रसिद्ध बैरिस्टर और पक्के साहेब हो गए, उनके यहाँ बैरा-खानसामा खाना बनाकर मेज सजाते, तब भी गुड़ मिले चने के सत्तूवाला लड्डू नहीं भूलता था। कितनी ही बार वह उसे बड़ी रुचि से खाते। कहते थे—"मुझे बचपन का स्वाद याद आता है, और यह बहुत मीठा लगता है।"

उनका मिजाज कड़ा था और हठी भी। यद्यपि मैंने अपने सम्बन्ध में उनके इस रूप को कभी नहीं देखा। एक बार उनका नेपाली रसोइया लछमन खाना पकाने में कुछ गलती कर बैठा। जायसवालजी बहुत गुस्सा हुए। खूब फटकारा। सब लोग जान गए, आज लछमन की साहेब खुशामद करेंगे। सचमुच उन्होंने सिर्फ आँखों से आँसू नहीं बहाया, नहीं तो इस आचरण से बहुत दुःखी हुए। लछमन को बुलाकर कहा—"देखो लछमन, मैंने बहुत बुरा किया, तुम मुझे माफ कर दो," और इनाम दिया।

जाड़े की रात में वह कभी-कभी चौबन्दी पहन लेते थे और जमीन पर आसन बिछा पालथी मारकर बैठ जाते। कथा शुरू होती, जिसमें जुमई मेहतर से लेकर घर-भर के सभी नौकर शामिल होते। कभी भूतों की कथा शुरू करते और अपने बगीचे के हरेक वृक्ष के भूत का हुलिया बतलाते। नौकरों को भूत का विश्वास तो था ही, अँधेरे-धुँधेरे में किसी को भय होना स्वाभाविक था। वह अपनी आँखदेखी बात करता। जायसवालजी उसमें और चार जोड़ते। फिर उस रात कितनों को आँख खोलनी मुश्किल हो जाती। जुमई को एक दिन आसमान में एक सफेद दाढ़ीवाले पुरुष की बात बतला रहे थे। जुमई ने कहा—"हाँ भैया, मैंने देखा था। चाँदी जैसी सफेद लम्बी-लम्बी दाढ़ी, आग-सा चमकता चेहरा !" जायसवालजी ने बड़ी गम्भीरता से कहा—"बस, बस, जुमई, वह दूसरा कोई नहीं, अल्लामियाँ ही थे।" बचपन से ही वह भूतों के बारे में निर्भीक थे। मिर्जापुर में उनके

घर के पास लोग जोग-टोना करके मिठाई, बकरा छोड़ आते। बालक काशीप्रसाद मिठाई हाथ में ले लेते और बकरे पर चढ़कर उसी रात को लड़कों की पलटन बटोर मिठाई बाँटकर खाते।

मैं कुल्लू गया, कुल्लू से फिर बारह-तेरह हजार फुट ऊँचे रटंग जोत् को पार कर लाहुल केलंग से और आगे 25 मई से 6 जून तक ठाकुर मंगलचन्द के यहाँ कोलन में ठहरा। इससे पहिले नारायण (जायसवाल-पुत्र) के पत्र से मालूम हो गया था कि फोड़े का आपरेशन हुआ है। 30 अप्रैल के पत्र से पता लगा, वह अच्छे हैं, पर बुखार नहीं छोड़ रहा है। कोलन में यह चिट्ठी पाकर मुझे कुछ घबराहट हुई। 6 जून को धूपनाथ की चिट्ठी पाकर मैं विकल हो गया। उन्होंने जायसवालजी के पास कुछ दिनों रहकर लिखा था—शायद अब साहब की अमृतवाणी सुनने को न मिलेगी। जीवन-शक्ति धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है। मैं तो निराश होकर आज घर लौटा जा रहा हूँ। शायद एक-दो दिन के बाद सूचना आपको मिल जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं। धूपनाथजी ने तेरह दिन पहिले की अवस्था देखकर यह पंक्तियाँ लिखी थीं। मैं ऐसी जगह था, जहाँ से जल्दी करने पर भी बारह दिन से पहिले पटना नहीं पहुँच सकता था। मैं अगले ही दिन कोलन से रवाना हुआ। केलंग से पटना तार भी भेज दिया। नग्गर (कुल्लू) में नारायण की चिट्ठी मिली कि घाव भर रहा है, लेकिन बुखार अब भी है। कुछ ढारस हुआ। 25 जून को चेतसिंह का तार मिला—अवस्था नहीं बदली, आपकी उपस्थिति जरूरी है। 26 जून को मैं चला और 29 को सबेरे 5 बजे पटना पहुँचा। एक महीना—30 जुलाई—तक पटना में रहा। डाक्टरों की अक्ल काम नहीं कर रही थी। इन्सुलिन और ग्लुकोज का इंजेक्शन दिया जा रहा था, साथ-ही होमियोपैथी दवा भी खिलाई जा रही थी। मेरे आने से पहिले उनका सारा मुँह भयंकर रूप से सूज गया था। अब सूजन हट गई थी। घाव थोड़ा भरा था और बुखार सौ डिग्री था। लेकिन मस्तिष्क विकृत हो चुका था, मानसिक वृत्तियाँ विशृंखलित थीं। स्मरण-शक्ति पूरी तौर से साथ नहीं देती थी। घाव में पीव ज्यादा थी। अर्ध-प्रमत्त अवस्था में बोलते अधिक थे, बड़ी निर्बलता थी।

कांग्रेस ने एसेम्बली का चुनाव जीता था। जायसवालजी बराबर उसके बारे में पूछते थे। 7 जुलाई को समाचार मिला, बिहार में कांग्रेस ने मंत्रीपद स्वीकार कर लिया। खबर सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। 9 जुलाई को दिन-भर यही धुन रही, मुझे कांग्रेस के जलूस में ले चलो। खादी का अचकन और पायजामा पहन हमें मजबूर किया कि उनकी चारपाई उठाकर बरसाती में ले चलें। दिन-भर वहीं पड़े रहे। कमजोरी बढ़ती जा रही थी, और वह बराबर बोलते रहते थे। वह मस्तिष्क जो गम्भीरता और सूक्ष्म चिन्तन में लासानी था, अब पाँच वर्ष के बच्चों की तरह हो गया था। मैंने उनके जीवन पर एक दृष्टि डालते हुए 12 जुलाई को लिखा था—जायसवाल विद्या में, लिखने-बोलने में प्रवीण रहे, वह राजनीति से अलग रहे। इतना होते हुए भी वह हाईकोर्ट-जज या किसी दूसरे पद पर क्यों नहीं गए ? किसी समय वह अधिकारियों को भले ही प्रसन्न करना चाहते हों, किन्तु खुशामद उनके स्वभाव में नहीं थी। स्वाभिमान की मात्रा बहुत अधिक है। गर्म मिजाज हैं। अच्छी प्रैक्टिस होने पर भी रुपया नहीं जमा कर पाये, क्योंकि मितव्ययिता जानते ही नहीं। घर पर, घर के सामान पर, लड़कों पर, यार-दोस्तों पर आँख मूँदकर खर्च करते रहे।

महामहोपाध्याय पं. रामावतार शर्मा का (जन्म 1870 ई.) देहान्त 3 अप्रैल, 1929 को हुआ। जीवित रहते समय उनसे 'संस्कृत कोश' को जहाँ-तहाँ से सुना था। 21 जुलाई (1926 ई.) को उनके घर पर गया। उनकी दिवंगत हुए आठ वर्ष हो गए थे। उनकी यह मुख्य कृति ऐसी ही पड़ी रही। कोश का कलेवर छह हजार श्लोकों में समाप्त था, व्याख्या पूरी नहीं हुई थी। उन्होंने कोश की कारिकाओं को समाप्त करते हुए लिखा था :

श्रीदेवनारायणशर्मणः श्रीगोविन्ददेव्याश्च महामहिम्नौ,
प्रणम्य पित्रोश्चरणाम्बुजाते आचार्यगंगाधरशास्त्रिणश्च।
रामेण सारंगभवोद्भवेन काश्यां यदारम्भि महाभिधानम्,
समापितं तत् किल विश्वविद्यासर्वस्वमेतत् कुसुमाख्यपुर्याम्।।

बराबर लेटे रहने के कारण पीठ में भी फोड़े दिखाई देने लगे। एक फोड़े ने ही प्राणों को संकट में डाल

दिया था। अब क्या आशा की जा सकती थी ? 30 जुलाई को मित्र का तार आ गया, मुझे सारनाथ और लखनऊ जाना पड़ा। लखनऊ से चलकर 5 अगस्त को पौने 5 बजे सबेरे पटना उतरा। सामान उठवाकर जायसवालजी के बँगले पर पहुँचा, जो स्टेशन से बहुत दूर नहीं था। कुली ने बरसाती के बाहर कुछ देखकर कहा—यहाँ तो अर्थी है। देखते ही दिल सन्न हो गया। मालूम हुआ, 4 अगस्त के सवा 6 बजे शाम को जायसवालजी ने महाप्रयाण कर दिया। लोग बतला रहे थे, अन्त तक स्मृति कायम रही, लेकिन वह स्मृति वही रही होगी, जिसे मैं देख गया था। 5 अगस्त की डायरी में मैंने लिखा था—"हा मित्र ! हा बंधु ! हा गुरो ! अब तुम मना करनेवाले नहीं हो, इसलिए हमें ऐसा सम्बोधन करने से कौन रोक सकता है ? हो सकता है, तुम कहते—हमने भी तो आपसे सीखा है, किन्तु तुम नहीं जानते (कि) मैंने कितना तुमसे सीखा है। इतनी जल्दी प्रयाण ! अभी तो अवसर आया था, अभी तो तुम्हारी सेवाओं की इस अभागे देश को बहुत जरूरत थी। आह ! सभी आशाएँ खाक में मिल गईं ! जायसवाल ! ओः ऐसा ! दुनिया के लिए (कुछ) करना ही होगा, तुम्हारे बहुत-से स्नेहभाजन थे, मैं भी उनमें एक था। समय दूसरों के दिल से वियोग के दुःख को क्षीण भले ही करता जायगा, किन्तु स्मृति उसे दिन-पर-दिन ताजा करती जायगी। तुम्हारा वह सांगोपांग भारत का इतिहास तैयार करने और साम्यवाद के लिए मैदान में कूदने का ख्याल !!! हा, वंचित श्रमिकवर्ग, सहृदय मानव ! निर्भीक, अप्रतिम मनीषी, दुनिया ने तुम्हारी कदर न की !!!"

5 अगस्त को साढ़े आठ बजे श्मशान-यात्रा आरम्भ हुई। राजेन्द्र बाबू, कांग्रेस के मंत्रिगण—डॉ. महमूद, अनुग्रह बाबू आदि कितने ही हाईकोर्ट के जज श्मशान तक गए। गंगा के किनारे चिता चिनी गई। साढ़े 11 बजे तक शरीर जलकर राख हो गया। राख गंगा में बहा दी गई।

मैंने जायसवालजी की जीवनी लिखनी चाही। इसके लिए मिर्जापुर में उनके घर गया, उनके बन्धु-बान्धवों, परिचितों और क-ख आरम्भ करानेवाले बूढ़े गुरु से मिला। बहुत-सी सामग्री जमा की, लेकिन रेल में पोर्टफैल को भूल गया, जिसके साथ सारी सामग्री चली गई। फिर उतना परिश्रम करने के लिए समय नहीं मिला।

जायसवालजी का जन्म मिर्जापुर में 1880 ई. के आस-पास हुआ। जैसाकि पहिले बतलाया, उनके पिता ने माँ-बेटे को उपेक्षित कर दिया था और बचपन उनका ननिहाल में बड़ी गरीबी में बीता। उनकी अपनी माँ से दो लड़के थे, जिनमें बड़े वह और छोटे चाईबासा की तरफ कहीं कोई काम करते थे। छोटी माँ से शायद तीन लड़के थे, जिनमें बड़े उमेशसिंह इंजीनियर थे। मैट्रिक पास करने के बाद जायसवाल ने पढ़ाई छोड़ दी थी। पिता का चपड़े (लाख) का व्यापार चमका हुआ था, लाखों की आमदनी थी। मिर्जापुर के व्यापारियों ने चपड़ा-कमीटी कायम की थी। बातचीत में जायसवालजी को अधिक बहस करते देखकर किसी ने ताना मारा—बड़े बैरिस्टर बने हुए हैं। बात लग गई—अब मुझे बैरिस्टर बनना होगा। पिता ने पुत्र की इच्छा पूर्ण करनी चाही, लेकिन विलायत में जाकर वह खाने-पीने में छुआछूत कैसे निबाहेंगे, उनके साथ ब्राह्मण रसोइया कर दिया गया। खाने की बहुत-सी चीजें दाल-चावल, मसाला आदि घर से भेजी जातीं। जायसवालजी चाहते, तो बैरिस्टरी पास कर लौट आते, पर उनमें ज्ञान की पिपासा थी। वह ऑक्सफोर्ड में भर्ती हुए। एम. ए. किया। बैरिस्टरी पास की। इतिहास के अतिरिक्त उन्होंने चीनी भाषा जैसे कठिन पाठ्य-विषय को चुना था, जिससे मालूम होगा कि वह सस्ती डिग्री लेकर आने के लिए तैयार नहीं थे। वहाँ उनका सम्पर्क लाला हरदयाल और दूसरे भारतीय क्रान्तिकारियों के साथ हुआ। वह भी उसी रंग में रँग गए। वहाँ से हिन्दी पत्रों में गर्मागर्म लेख भेजते, जिसे अंग्रेजों की खुफिया पुलिस देखा करती। उनको और घर-भर को डर था कि भारत लौटने पर पकड़ लिये जायेंगे। थाह लगाने के लिए वह लंका आये। मालूम हुआ कि कोई वैसी बात नहीं, फिर भारत आये। पहिले कलकत्ता हाईकोर्ट में प्रैक्टिस करने लगे, वहीं उन्होंने मनु और याज्ञवल्क्य पर यूनिवर्सिटी में लैक्चर दिए, जो पीछे पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो बहुत प्रसिद्ध हुए। 'हिन्दू राजनीति' (हिन्दू पॉलटी) ने उनकी ऐतिहासिक विद्वत्ता की धाक विद्वानों के ऊपर बैठाई। बिहार बंगाल से अलग हो गया और पटना में हाईकोर्ट स्थापित हुआ। अब वह यहाँ चले आये। बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी और उसके जर्नल के वह संस्थापक और प्राण थे। इस शोध पत्रिका में उनके लेख बराबर निकला करते थे, जिसके कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में प्रसिद्ध

हो गई।

57 वर्ष की उमर में ही उनका देहान्त हुआ। उनको बहुत करना था और उसके लिए पूरा संकल्प कर चुके थे। जिस साल मृत्यु हुई, उसी साल उन्होंने बनारस जाने का निश्चय कर लिया था। हिन्दू यूनिवर्सिटी में अध्यापन का काम भी करनेवाले थे, जिसको उन्होंने अपनी पुस्तकें संकल्प कर दी थीं।

32
भदन्त आनन्द कौसल्यायन

श्री हरिनामदास से मेरी मुलाकात सबसे पहिले 1926 ई. की जनवरी में मेरठ में हुई। मेरे मित्र श्री बलदेव चौबे लोक-सेवक समाज की ओर से मेरठ में कुमार-आश्रम स्थापित कर अछूत-उद्धार का काम कर रहे थे। कानपुर-कांग्रेस से मैं उनके साथ वहाँ चला गया और कुछ दिनों वहीं ठहरा हुआ था। वहीं तरुण हरिनामदास मिले। हरिनामदास ने अम्बाला में मेट्रिक पास कर कालेज में नाम लिखाया था। इसी समय असहयोग का बिगुल बजा और वह कालेज छोड़कर चले आये। कुछ दिनों तक कांग्रेस की स्वयंसेवकी करते रहे, उम्र बहुत थोड़ी थी। फिर, लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित लाहौर के कौमी महाविद्यालय में दाखिल हो वहाँ के ग्रेजुएट बने। इसी समय बलदेव चौबे उनके सहपाठी थे। उस दिन भी मैंने उनको दुबला-पतला ही देखा था; पर स्वच्छन्दता का आभास उस समय भी मिलता था। उन्होंने कोई आदर्श वाक्य लिखने के लिए कहा। मैंने लिख दिया—"असिना गीतया चैव जयिष्ये भुवनत्रयम्।" (तलवार और गीता से मैं तीनों लोकों को जीतूँगा।) गाँधीजी के अहिंसात्मक असहयोग और कांग्रेस-आन्दोलन में पाँच वर्ष बिताने के बाद भी असि पर से मेरा विश्वास नहीं उठा था।

उस समय क्या पता था कि नदी-नाव संयोग से मेरठ में हुई वह मुलाकात आजीवन के सम्बन्ध में परिणत हो जाएगी। उसी साल के अन्त में कौंसिलों का चुनाव हो रहा था। कांग्रेस सीधे भाग ले रही थी। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के विचार हमेशा ही उग्र रहे। वह कांग्रेस के पक्ष में प्रचार करने के लिए निकले। आँखों से मजबूर थे, किसी की सहायता की आवश्यकता थी। तरुण हरिनामदास अन्धे की लकड़ी बनकर उसके साथ हुए। एक बार फिर छपरा में भी स्वामीजी के व्याख्यान के समय मुलाकात हो चुकी थी। अब उनका नाम ब्रह्मचारी विश्वनाथ था। इसके बाद दिसम्बर में गौहाटी के कांग्रेस में मिले।

हरेक आदमी चाहता है, दूसरे भी अपने ही तरह बन जायें। मैं राजनीतिक फकीर था, चाहता था कि और भी सहायक मिलें। छपरा जिले में कांग्रेस का मैं सबसे बड़ा नेता था, इसलिए सारे जिले की जिम्मेवारी भी अपने ऊपर मानता था। कटया थाना में राजापुर मठ के महन्त ने कई बार कहा था कि कोई चेला दीजिए, जो स्थान का काम सँभाले। मैंने सोचा, ब्रह्मचारी विश्वनाथ उसके लिए बहुत उपयुक्त होंगे। उनसे बात-चीत की, कहा—"देख लेने में क्या हरज है।" उन्होंने भी स्वीकार किया। लेकिन राजापुर में वह तीन-चार महीने से अधिक नहीं रह सके। महन्तजी बहुत मानते थे, किन्तु उस अटट दीहात में बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवन का अत्यन्त अभाव था। ब्रह्मचारी के लिए दिन काटना मुश्किल हो गया। 6-8 फरवरी (1927) को हम दोनों महंतजी के हाथी पर चढ़कर बुद्ध-निर्वाण स्थान कसया के दर्शन के लिए गए। कुछ ही दूर जाने पर हमें हाथी की करामात मालूम हुई और उसका नाम समय-संहारक-यंत्र रख दिया। ब्रह्मचारी विश्वनाथ ने बहुत कोशिश की कि मन को स्थान के अनुकूल बनायें, लेकिन वह नहीं हो सका। 2 मार्च को मैं उन्हें साथ लिये एकमा आया। घुमक्कड़ी का आचार्य नहीं, अध्यापक होने लायक तो हो ही चुका था। मैंने भविष्य का प्रोग्राम बनाते हुए परामर्श दिया—"कपड़ों को पीले रंग से रँगकर कमंडलु ले कुछ दिन घुमक्कड़ी की जिन्दगी बिताओ।" एकमा में ही उन्होंने कपड़े रँग लिये। मैंने उन्हें बौद्ध धर्म और इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्थानों की एक तालिका बना दी, जिसके अनुसार उन्होंने अपनी यात्रा आरम्भ की।

मेरा भी मन अव विद्या के काम की ओर आकृष्ट हुआ और मैं 16 मई, 1927 को लंका पहुँच गया। विद्यालंकार विहार में रहने का प्रवन्ध हो गया था। मैं वहाँ भिक्षुओं को संस्कृत पढ़ाने और स्वयं पालि पढ़ने में व्यस्त हो गया। पहिला लंका-प्रवास अठारह महीने का रहा। विद्यालंकार परिवेण लंका के दो सबसे बड़े विहारों में था। वहाँ के प्रधानाचार्य श्री घम्मानन्द नायक महास्थविर बड़े कोमल स्वभाव के गम्भीर विद्वान् थे। पालि व्याकरण के वह श्रेष्ठ पंडित माने जाते थे।

उन्होंने यात्रा में वोधगया, नालन्दा, राजगिर, वैशाली, कुसिनारा, लुम्बिनी, जैतवन, कौशाम्बी, संकाश्य, मथुरा, ग्वालियर, साँची, अजन्ता, एलौरा, पूना, बंगलौर आदि देखे थे। यदि पैसे के बल पर यात्रा करनी होती, तो उनके बस की वात नहीं थी; लेकिन दो पैसे के पीले रंग ने सारा काम पूरा करा दिया और बराबर पत्र लिखते रहे। वह 1927 ई. के मद्रास-कांग्रेस में पहुँचे। मैंने लिख दिया था, वहाँ से सीधे लंका चले आयें। 7 जनवरी को आखिर लंका पहुँच गए। मंडपम् में लंका सरकार देख-भाल ज्यादा करती थी, उसके लिए मैंने म्युनिसिपैलिटी का पर्मिट भिजवा दिया था। मेरी वजह से उन्हें लंका और विद्यालंकार परिवेण अजनबी नहीं मालूम हुए। उनके पठन-पाठन के वारे में भी मैंने काफी सोच लिया था। मैं स्वयं पालि, संस्कृत पढ़ाने लगा। रोज शाम को घंटे-डेढ़ घंटे टहलने के लिए हम बाहर जाया करते। इसके लिए अनुकूल रेल की पटरी थी, यद्यपि उसमें डर था, कहीं आगे से ट्रेन न आ जाय। हमारा यह टहलना केवल पैरों से होता था। मन और वाणी मानसिक समस्याओं के सुलझाने में लगे रहते थे। मैं भी पहिले सोचता था, आर्यसमाज के निराकार ईश्वर और बुद्ध को साथ रखूँ। पर, मेरा मन भवितव्यता के लिए अपने दर्शन के अध्ययन के कारण पहले ही से कुछ तैयार था। यहाँ आने पर बहुत देर नहीं लगी, ईश्वर से मेरा पिंड छूट गया। इस समय ब्रह्मचारी विश्वनाथ को ईश्वर बहुत परेशान कर रहा था। पर, मेरे तजर्बे के कारण उन्हें भी ज्यादा दिन भटकने की जरूरत नहीं पड़ी। कुछ दिनों बाद पीला चीवर पहन वह नायक महास्थविर श्री घम्मानन्द के श्रामणेर शिष्य हो गए। नाम पड़ा आनन्द, गोत्र कासल होने से कौसल्यायन भी जुड़ गया। मेरे सांकृत्यायन नाम पड़ने से दो वर्ष पहिले ही उन्होंने यह उपाधि धारण की थी। मैं भी भिक्षु बनने की इच्छा रखता था, पर मुझे तिब्बत जाना था, जिसके लिए भेस भी बदलना पड़ता, इसलिए मैंने उस समय दीक्षा नहीं ली।

आनन्द और मैं दोनों एक साथ विद्यालंकार विहार में रहने लगे, लेकिन एक साल से कम ही तक, जिसका उपयोग उन्होंने भी अच्छी तरह किया। मैं तो हमेशा संस्कृत में ही पढ़ाता, बातचीत करता था। विहार से बाहर जाने का अवसर कम मिलता था, इसलिए सिंहल भाषा का उपयोग मेरे लिए आवश्यक नहीं था। सिंहली भाषा हिन्दी की भगिनी है, बीच की द्रविड़ भाषाओं की नहीं। उसे मैं आसानी से सीख सकता था, लेकिन जब आवश्यकता नहीं, तो कौन उसे सीखे। आनन्दजी ने बड़ी जल्दी प्रगति की। वह उसमें भाषण देने लगे। 1 दिसम्बर 1928 को भारत के लिए प्रस्थान करने से पहिले ही मेरा परिचय कर्नाटक के एक ब्राह्मण तरुण अनन्तराम भट्ट से हो गया था। मैंने उन्हें विहार से अपने स्थान पर रखने का इन्तिजाम कर दिया। इस प्रकार आनन्दजी का आगे संस्कृत की पढ़ाई का प्रबन्ध हो गया।

भारत होकर मैं तिब्बत पहुँचा। सवा वर्ष तक हमारी मुलाकत पत्रों द्वारा होती रही। आनन्दजी हर तरह से मेरी सहायता के लिए तैयार थे। उनकी अपनी प्रगति जारी रही।

डेढ़ वर्ष बाद 20 जून (1930 ई.) को मैं लंका लौटा। मेरे रहते समय ही वह श्रामणेर से भिक्षु हो चुके थे। इसी साल मैं भिक्षु बनकर राहुल सांकृत्यायन हो गया। 1930 ई. में भारत में सत्याग्रह शुरू हुआ। हम दोनों के दिलों में खलबली मच गयी। इस युद्ध से अलग रहना हमारे लिए मुश्किल हो गया। आनन्द जी पहिले भारत गए और मैं 15 दिसम्बर (1930 ई.) को भारत के लिए रवाना हुआ। आनन्दजी ने विहार में काम किया, जेल भी गए लेकिन हवालाती के तौर पर ही। 1931 ई. की कराची-कांग्रेस में हम दोनों पहुँचे थे, जहाँ से आनन्दजी लंका की तरफ रवाना हुए और मैं फिर बनारस की तरफ लौटा। गाँधी-इर्विन-समझौते के कारण आन्दोलन ने साधारण रूप ले लिया और मुझे अब उसमें समय देने की जरूरत नहीं रही। लंका में रहकर लिखी हुई अपनी पुस्तकों–'बुद्धचर्या', 'अभिधर्मकोश-टीका'–को छपवाने लगा। काम समाप्त होने के बाद सारनाथ

में मूलगंध-कुटी-विहार के निर्माण की समाप्ति पर नवम्वर में उद्‌घाटन-महोत्सव वड़े धूम-धाम से हुआ। हमारे गुरु श्रीघम्मानन्द महास्थविर भी आये थे। उन्हीं के साथ मैं भी लंका चला गया। लंका रहते अव आनन्दजी को पाँच वर्ष हो गए थे। उनके उपदेशों और व्याख्यानों की वड़ी माँग थी। सिंहल और अंग्रेजी दोनों में बोल लेते थे।

महाबोधि सभा ने लन्दन में विहार स्थापित किया था और वहाँ धर्म-प्रचार के लिए भिक्षु भेजे थे। पहिली टोली के लौट आने पर दूसरों को भेजना था। ट्रस्ट के प्रधान श्री डी. वी. जयतिलक हमारे विहार के शिष्य और अनुरक्त भक्त थे। उनकी दृष्टि आनंदजी के ऊपर गई; लेकिन आनंदजी ने कहा–"यदि राहुलजी भी चलें, तो मैं जाऊँगा।" मैं अंग्रेजों की दृष्टि में अधिक अपराधी था, इसलिए मेरी स्वीकृति देने पर भी पासपोर्ट का मिलना आसान नहीं हुआ। पर, डी. बी. श्री जयतिलक सरकार के मुख्यमंत्री, और साथ ही अंग्रेजों के भक्त भी थे। उनके बीच में पड़ने पर पासपोर्ट मिल गया।

5 जुलाई को हम कोलम्बो बन्दरगाह में फ्रेंच जहाज 'दार्तेना' पर सवार हुए। यूरोप जानेवाले लोग कोट-पैंट पहने थे और हम दोनों का पीला चीवर वहाँ हरेक की दृष्टि आकृष्ट करता था। जहाज रात को किसी समय चला। मैं सर्वभक्षी था, आनन्दजी निरामिषाहारी थे और हमेशा रहे। पर, भोजन के बारे में अगले दिन कोई समस्या नहीं खड़ी हुई; क्योंकि रात के वक्त समुद्र की उत्तुंग लहरों के कारण जहाज झूला बन गया। आनन्दजी सामुद्रिक बीमारी से पीड़ित थे। वह खाने का नाम भी नहीं ले सकते थे। मुझे यह विचित्रता कुछ घड़ियों तक ही परेशान करती रही। सबेरे 8 बजे मक्खन-पावरोटी के साथ मैंने चाय पी। 11 बजे चावल, मांस, पावरोटी, मक्खन और आम पर हाथ साफ किया। आनन्दजी का बुरा हाल था। छह दिन तक अरव समुद्र वैसा ही क्षुब्ध रहा। धीरे-धीरे आनन्दजी की परेशानी दूर हो पाई। फलाहारी भोजन के लिए कोई दिक्कत नहीं थी। रोटी-मक्खन, उबले साग, तले आलू, फल, चाय जितना चाहें उतना मिल सकता था। तले आलू को आनन्दजी बड़े प्रेम से खाते थे। मैं जानता था, यह किसमें तला हुआ है। मैंने आनन्दजी के फलाहार की प्रशंसा करते एक दिन कहा–"जानते हैं, आलू किसमें तला गया है ?" उन्होंने कहा–"क्या इसे भी छुड़ाना चाहते हैं ?" सचमुच ही बुरा होता। मक्खन में तला हुआ है, यही समझ लेना अच्छा था। खैर, खाने की कोई दिक्कत नहीं हुई। लाल सागर, स्वेज नहर और भूमध्यसागर में होते हम मारसेई के बन्दरगाह पर उतरे। पेरिस में एकाध दिन ठहरकर इंग्लिश चैनल पार हो 27 जुलाई (1932 ई.) को लन्दन पहुँच गए। तब से 14 नवम्बर तक हम एक ही साथ इंग्लैण्ड में रहे। प्रचार का काम आनन्दजी के जिम्मे था। मैं तो उनका साथ देने के लिए आया था। इस समय का उपयोग मैंने वहाँ की शिक्षण-संस्थाओं को देखने में किया। ब्रिटिश म्युजियम के पुस्तकालय में भी जाता रहा।

इंग्लैण्ड में विद्यार्थी ही बनने के लिए नहीं गया था। मैंने जो लंका में तैयारी की थी, उसके उपयोग का अब समय आया था; इसलिए मुझे भारत लौटना था। आनन्दजी को वहाँ दो वर्ष या ऊपर रहना था। वहाँ रहते समय दूसरी तरह की पुस्तकों के पढ़ने के अतिरिक्त मैंने रूस और साम्यवाद पर काफी पढ़ा। इच्छा थी, कुछ दिनों के लिए रूस हो आऊँ। पर, बर्लिन में जब मैंने इसकी कोशिश की, तो जाड़ों के कारण यात्री-मण्डली का भेजना बन्द हो गया था। आनन्दजी के सीधे-सादे जीवन से अंग्रेज-भक्त प्रसन्न थे। हर सप्ताह उनका उपदेश होता। पीछे वह इंग्लैण्ड, आयरलैंड, फ्रांस और जर्मनी के भिन्न-भिन्न भागों में भी गए।

16 जनवरी (1933 ई.) को मैं कोलम्बो लौटा। 30 जनवरी को वहाँ से भारत के लिए रवाना हो गया। अब मेरे जाड़े भारत में बीतते और गर्मी तथा बरसात तिब्बत या किसी और देश में। आनन्दजी से पत्रों द्वारा ही मुलाकात होती। अपनी यात्राओं के भिन्न-भिन्न स्थानों से मैं बार-बार उनके पास लम्बे-लम्बे पत्र लिखता था, जिनमें से कितने ही पुस्तकाकार भी छपे। इसके बाद मैं फिर लंका नहीं गया। आनन्दजी यूरोप से लौटकर लंका आये। उनका भारत और लंका के बीच जाना-आना बराबर जारी रहा। लंका के भिक्षुओं और गृहस्थों से उनका बहुत सन्निकट का सम्बन्ध स्थापित हुआ, जिसके कारण हमारे दोनों देशों का प्राचीन मधुर सम्पर्क फिर से जागृत हुआ। भारत और लंका के बीच की कशमकश उस वक्त भी थी। लंका के व्यापारी भारतीय

सेठियों का मुकाबला नहीं कर सकते थे, इसलिए वह उनको फूटी आँखों नहीं देखते थे। जीवन-स्तर ऊँचा होने के कारण लंका के मजूर मजूरी अधिक माँगते थे और भारतीय मजूर आधी तनखाह पर भी रात-दिन एक पैर पर खड़े रहने के लिए तैयार थे। इसके कारण भारतीयों के खिलाफ जहर उगलनेवाले भी अपने घरों में भारतीय नौकर रखते। एक और भी विचित्र बात थी। लंका के लोग भारत को दो भागों में विभक्त करते हैं। तमिल भाषा-भाषी प्रदेश उनके लिए इंडिया, और उत्तरी भारत 'दम्बदिव' (जम्बू द्वीप) हैं। जम्बू द्वीप बुद्ध की जन्मभूमि है, अतः उसके निवासी उनके श्रद्धा और सम्मान के भाजन थे। पर, 'इंडियाकार' (तमिल) लोगों से उनको चिढ़ थी। उनके मारे चाय और रबड़ के बगीचों में सिंहल मजूर पहुँच नहीं सकते थे। छोटी से बड़ी दुकानों तक में इंडियाकार की प्रतिस्पर्धा से उनका बुरा हाल था। सारे झगड़े का कारण आर्थिक था। लंका के आर्थिक विकास में भारतीय श्रम और पूँजी ने–श्रम ने विशेष तौर से–जरूर बड़ा काम किया, पर स्थानीय सन्तानों को वंचित करके। आज भारत भी स्वतन्त्र है और लंका भी। दोनों देशों का धर्म, संस्कृति और रक्त का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि भारत का जीवन-स्तर ऊँचा होता, तो यह समस्या ही उठने नहीं पाती। फिर प्रवासियों की धारणा का रुख लंका की ओर नहीं, भारत की ओर मुड़ जाता। खैर, इसका समाधान तो होना ही है, और वह स्नेह तथा सद्भावपूर्वक जल्दी हो जायेगा, इसमें सन्देह नहीं। आनन्दजी ने दोनों देशों के सम्बन्ध को अपने-अपने सीमित क्षेत्र में मधुर बनाने का प्रयत्न किया है। वह हाल के युग में पहिले भारतीय थे, जो लंका में भिक्षु हुए। उसके बाद भारत और नेपाल के कितने ही तरुण वहाँ बौद्ध पंडित और भिक्षु बने।

आनन्दजी अब अधिकतर भारत में रहने लगे थे। मेरा एक पैर भारत में और दूसरा पैर बाहर रहता था। यात्रा के समय भी मैंने अपनी लेखनी को जारी रक्खा और पालि के कई ग्रंथों को हिन्दी में अनुवाद किया। उसी समय मैंने आनन्दजी से वचन लिया कि आप सिर्फ एक पुस्तक के अनुवाद का भार ले लीजिए–जातक का। यह एक पुस्तक नहीं, सात मोटे-मोटे जिल्दोंवाला पोथा था। आनन्दजी ने उसे स्वीकार किया। उसके कुछ फार्म पहिले बड़ी श्रद्धा के साथ डॉ. लक्ष्मण स्वरूप ने लाहौर में छापे, पर नैया आगे नहीं चली। फिर साहित्य सम्मेलन ने भार उठाया और कितने वर्षों की लगन के बाद आनन्दजी इस महान् ग्रंथ को हिन्दी में लाने में सफल हुए। इससे पहिले ही पालि के बहुमूल्य इतिहास-ग्रंथ 'महावंस' का उन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया। मेरी तरह न राजनीति में वह उग्र विचार में बहते, और न काम में सरपट दौड़ते; पर उनके कदम नपे-तुले और लगातार चलते रहते हैं। इसलिए वह बड़े-बड़े कामों को करने में सफल हुए। वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार समिति को गाँधीवादी अपने हाथ की कठपुतली बना उसे हिन्दी-विरोध का अड्डा बनाना चाहते थे। श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन ने आनन्दजी को यह भार उठाने के लिए कहा। वर्धा में आनन्दजी बिल्कुल 'दसनन में जीभ बिचारी' की तरह थे। आठ-सात रुपये महीने की कोठरी में समिति का दफ्तर था। उन्होंने वर्षों के अपने संगठन के कौशल और एकान्त निष्ठा से समिति को एक विशाल संस्था के रूप में परिणत कर दिया। उसकी परीक्षाओं में लाखों बैठने लगे। लाखों की इमारत खड़ी हो गई। आज अहिन्दीभाषी भारत के बहुत भागों में हिन्दी-प्रचार का बहुत बड़ा काम समिति की ओर से हो रहा है।

संस्थाओं में वैमनष्य होना दूसरे देशों में भी देखा जाता है। किन्तु जहाँ की सांस्कृतिक परम्परा सुदृढ़ और सुपुष्ट है, वहाँ आपस के झगड़े से संस्था का अनिष्ट नहीं किया जाता। हमारे यहाँ व्यक्ति से पहिले संस्था पर ही प्रहार होने लगता है। आनन्दजी के पूछने पर मैंने कहा था–"अब वहाँ आपके रहने की आवश्यकता नहीं है।" वह समिति से अलग हो गए। उनका जीवन अब विशाल क्षेत्र का हो गया। उनकी लेखनी में कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। और लिखने का ढंग उनका बहुत सरल होता है। किसी वाक्य को वह अपने बड़प्पन या पांडित्य को प्रदर्शन करने के लिए नहीं लिखते। वही लिखते हैं, जो उनको पसन्द है, और ऐसे लिखते हैं, जिसके समझने में पाठक को कोई दिक्कत न हो। उन्होंने छोटे-छोटे कई ग्रंथ लिखे हैं, और भी लिखने की आशा है। वर्धा से छूटने के बाद देश में ही नहीं, देश के बाहर तक उनकी दौड़ रहती है। जापान दो बार हो आये। जावा के बोरोबुदूर और कम्बोज के अंकोरवात को देखने की मेरी लालसा कभी पूरी नहीं हुई,

वह उन्हें भी देख आये। अभी-अभी चीन गए। भिक्षु होने का फल उनका पूरा हो रहा है। नाम के लिए वह कलिम्पोंग के भिक्षु हो गए हैं, पर उनके पैरों में हर वक्त चक्कर बँधा रहता है।

33
नायकपाद

सत्याग्रह की खबर सुनकर मैंने लंका से भारत आने के बारे में आज्ञा माँगी तो वह फूट-फूटकर रो पड़े। जब तिब्बत के लिए लंका से प्रस्थान करने लगा, तो उनकी आँखों में छल-छल आँसू बहने लगे थे। कितना वात्सल्य श्री धम्मानन्द महास्थविर नायकपाद का मेरे ऊपर था।

उन्हें हम नायकपाद कहा करते थे। सिंहली में 'नायक हामुदुरू' का ही यह अनुवाद है। बौद्ध-धर्म की तीव्र जिज्ञासा की पूर्ति के लिए 16 मई, 1927 को मैं लंका पहुँचा। नायकपाद के शिष्य भी धर्मरत्न पहिले ही से भारत में रहते थे। उनसे गुरु ने कह रक्खा था—संस्कृत के किसी पंडित को वहाँ से भेजो। मेरी पालि पढ़ने की इच्छा हुई और उधर से अध्यापक की माँग। मैं सीधे लंका के विद्यालंकार परिवेण (विहार) में पहुँचा। यह परिवेण लंका के धार्मिक और सांस्कृतिक नवजागरण का प्रतीक था। नायकपाद के दादागुरु श्री धम्मालोक महास्थविर ने इसकी नींव डाली थी। बौद्ध भिक्षु हमेशा से स्थान ढूँढ़ने में कमाल करते रहे हैं। चाहे जापान के कोयासांग को देखिए, अथवा कोरिया के वज्रपर्वत को, या भारत की अजन्ता को। सभी जगह प्रकृति के सबसे सुन्दरतम भूभाग को उन्होंने चुना। विद्यालंकार विहार भी ऐसे स्थान में स्थापित किया गया। कोलम्बो से बाहर केलनिया स्टेशन से नातिदूर एक काफी विस्तृत हरा-भरा भूखण्ड था, जो बरसात के महीनों में चारों ओर पानी भर जाने से द्वीप का रूप ले लेता था। शायद 19वीं सदी के द्वितीयार्द्ध में यहाँ नारियलों का उद्यान नहीं रहा होगा, पर दूसरे वृक्ष-लता जरूर रहे होंगे। ऐसे स्थान को स्थविर धम्मालोक ने विहार के लिए चुना। उनके शिष्य की धम्माराम नायकपाद अपने समय के सिंहल के अद्वितीय बौद्ध पण्डित थे। कुमारदास के महाकाव्य 'जानकीहरण' का नाम हमारे यहाँ सुना जाता था। सिंहल टीका के आधार पर उसके पुनरुद्धार करने का श्रेय श्री धम्माराम को ही है। पालि के तो वह महावैयाकरण थे। उन्हीं के शिष्य-उत्तराधिकारी हमारे नायकपाद थे। पालि व्याकरण—विशेषकर मौद्गल्यायन—के महत्त्वपूर्ण टीका-ग्रन्थों का उद्धार तथा सम्पादन उन्होंने बड़ी योग्यता से किया। उनके जीवन में विद्यार्थियों और विद्या दोनों के ख्याल से विद्यालंकार विहार और भी उन्नत हुआ।

मैं भारत में साधुओं का जीवन बिता चुका था। पर, हमारे यहाँ के साधुओं और लंका के भिक्षुओं में बहुत अन्तर है। हमारे नाना पंथों में बहुत थोड़े-से पढ़े-लिखे साधु मिलते हैं, और विद्या में तीव्र रुचि रखनेवालों की संख्या और भी कम है। सिंहल के बौद्ध भिक्षु सभी साक्षर और संस्कृत होते हैं। हमारे चुने हुए साधुओं की तरह पांडित्य और विद्याभ्यास में तत्परता चाहे न हो, पर वहाँ ऐसी रुचि रखनेवालों की संख्या बहुत अधिक है। ऐसा ही वातावरण विद्यालंकार में जाकर मुझे मिला। मैं भारत की सीमा से पहिले-पहिल बाहर गया था। सिंहल भाषा नहीं समझता था, नायकपाद अंग्रेजी नहीं जानते थे, इसलिए हमारे वार्तालाप का माध्यम संस्कृत हुई। संस्कृत उन्होंने पढ़ा था। बोलने का अभ्यास चाहे न हो, पर जो पालि में अच्छी तरह बोल सकता है, उसके लिए दिक्कत की बात नहीं थी। उच्चारण को बदल और व्याकरण को जरा सरल करके संस्कृत की सहायता से ही मैं भी पालि बोलता था।

मेरे सामने था कि जल्दी-से-जल्दी पालि त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओं को पढ़ डालूँ। मेरी उम्र 34 वर्ष की थी। समझता था कि मुझे यह काम पहिले शुरू करना चाहिए था। जब शुरू किया है, तो इसे जल्दी पूरा करना चाहिए। मेरी उत्कट इच्छा को देखकर नायकपाद ने 'एवमस्तु' कहा। वह रोज कई घंटे मुझे पढ़ाते। विद्यालंकार के हरेक अध्यापक और ज्येष्ठ विद्यार्थी मेरी सहायता के लिए तैयार थे।

पढ़ने का सुभीता इतना अच्छा होगा, इसकी मुझे आशा नहीं थी। विचारों की भी अनुकूलता थी। मैं उत्तर भारत से गया था। खान-पान में पहिले कुछ असुविधा होने की सम्भावना थी। मैं वर्षों से निरामिषाहारी रहा था। वहाँ देख रहा था, सभी भिक्षु मांस-मछली खाते हैं। पर, पहिले मैंने उसमें शामिल होना नहीं चाहा। मेरे लिए निरामिषाहार का प्रबन्ध नायकपाद ने कया। सवेरे पावरोटी, मक्खन और दूध मिलता। उसके साथ कुछ सब्जी भी खास तौर से बनाई जाती। एक रस्सेदार सब्जी मेरे मुँह लग गई। रस्से की तलछट में हल्दी के कुछ टुकड़े मिलते, पर खाने में उनका स्वाद हल्दी-सा नहीं मालूम होता था। कई महीने बाद मैंने पूछा, तो मालूम हुआ, वह हल्दी के टुकड़े नहीं, उम्मलकड के टुकड़े हैं। उम्मलकड एक मछली होती है, जो सुखाने पर सूखे काठ की तरह हो जाती है। वह काफी महँगी मिलती है। लंका में और शायद और जगहों में भी उसे मसाले के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है। कई महीने उम्मलकड खा लेने के बाद मैंने सोचा, निरामिषाहारी रहना निरी मूर्खता है। और मैं खाने लगा। पर, मिर्च की अधिकता से बुरी हालत थी।

नायकपाद का मेरे ऊपर बड़ा स्नेह था। भारत में रहते मैं जो साहित्यिक कार्य कर रहा था, उससे वह बहुत खुश होते थे। मैं तिब्बत में था। 1929 ई. के अन्त में नेपाल और तिब्बत में युद्ध छिड़ने की नौबत आ गई थी। खबर पाते नायकपाद बहुत चिंतित हो गए। उन्होंने आनन्दजी से पूछा—"ल्हासा हवाईजहाज जा सकता है ?" भला ल्हासा हवाई जहाज ? उसके पीछे एक ब्रिटिश पोलिटिकल एजेन्ट वहाँ मरणान्त बीमार हो गया। अंग्रेजों ने बहुत चाहा कि हवाई जहाज भेजकर उसे बुलाया जाय, लेकिन तिब्बत सरकार ने इजाजत नहीं दी। नायकपाद जोर देने लगे कि वहाँ से अपेक्षित पुस्तकें जमा करके यहाँ चले आओ। उन्होंने तीन-चार हजार रुपये भिजवाये, जिससे मैं बीस-बाईस खच्चर पुस्तकें और चित्र अपने साथ लाया, जो अब पटना म्युजियम में रक्खे हुए हैं।

उनके पास जाने पर मन वहाँ से हटने का नहीं करता। पर कामों के मारे विद्यालंकार में सदा रहना कहाँ सम्भव था ? 1933 की जनवरी में अन्तिम बार नायकपाद का दर्शन हुआ। 1945 या 1946 ई. में रूस में रहते पढ़ा, मेरे कृपाल गुरु अब नहीं रहे। सिंहल फिर जाने का जो सबसे बड़ा आकर्षण था, वह खतम हो गया। जब-तब अब भी नायकपाद की याद आती है।

34

डॉ. अनन्तराम भट्ट

कोडावुरू श्री अनन्तराम भट्ट का प्रथम दर्शन 1928 ई. में कोलम्बो में हुआ। एक वृद्ध विद्वान भिक्षु ने कहा—हमारे यहाँ भी एक जम्बूद्वीपीय पंडित रहते हैं। यह सुनकर मैं वहाँ पहुँचा और एक बीस वर्ष के तरुण से मुलाकात हुई—अनन्तराम का जन्म 7 फरवरी, 1908 को हुआ था। वह संस्कृत मातृभाषा की तरह बोलते थे। इसके बाद मिलना-जुलना शुरू हुआ, जो घनिष्ट मित्रता के रूप में परिणत हो गया।

अनन्तराम मद्रास के दक्षिणी कनारा जिले के उडुपी गाँव के पास के रहनेवाले थे। उनकी मातृभाषा कन्नड़ थी। धर्म से माध्व सम्प्रदाय के वैष्णव ब्राह्मण थे। उन्होंने बचपन से संस्कृत पढ़ी, साहित्य में विशेष योग्यता प्राप्त की। मैसूर में शिक्षा प्राप्त करने के बाद देखा, संस्कृत के विद्वान का बाजार में कोई मूल्य नहीं। अंग्रेजी पढ़ने पर मूल्य बढ़ जाता है। अंग्रेजी पढ़कर मैट्रिक की परीक्षा दी, पर सफल नहीं हुए। संस्कृत के विद्यार्थी होने के कारण स्कूल में पढ़ाये जानेवाले सारे विषय तैयार नहीं हो सके। समझा, अगले साल भी वही गति होगी। सुना, सीलोन (लंका) में सीधे लन्दन यूनिवर्सिटी की परीक्षा होती है, जिनका मूल्य भारतीय डिग्रियों से अधिक है। वह वहाँ पहुँचे। कोलम्बो महास्थविर धर्मस्कंध (2) से मुलाकात हो गई। वह उन्हें अपने स्थान पर ले गए। महास्थविर का एक छोटा-सा विहार था जिसमें दो-चार भिक्षु रहते थे। भट्ट की विद्या का वहाँ पूरा

उपयोग नहीं हो सकता था। लेकिन, वहाँ रहने और भोजन की निश्चिन्तता प्राप्त हुई। महास्थविर जब-तब चार पेज का संस्कृत में एक पत्र निकालते। भट्ट लेखनी से उसमें योगदान देने लगे।

1928 ई. के अन्त में मैं तिब्बत के लिए प्रस्थान करने लगा! मुझे ख्याल आया, भट्टजी यदि विद्यालंकार विहार में आ जायँ, तो संस्कृत पठन-पाठन का जो सिलसिला शुरू हुआ है, वह ठीक से चलता रहेगा। पूछने पर मालूम हुआ, वह स्वावलम्वी होकर पढ़ने के लिए यहाँ आये हैं, और अभी स्थायी काम नहीं मिला है। विद्यालंकार में रहने और वेतन का प्रवन्ध हो गया। मैंने कह दिया, मेट्रिक और लन्दन की परीक्षाओं के चक्कर में मत पड़ो। रास्ते के लिए थोड़ा पैसा जमा कर, जर्मनी में जाकर दो-तीन वर्ष में तुम पी-एच. डी. हो जाओगे, जिसका मूल्य लन्दन के बी. ए. से कहीं ज्यादा है। वह विद्यालंकार विहार में चले आये।

उस समय मुझे आशा नहीं थी कि इतनी जल्दी तिब्बत से लौट आऊँगा। मैं जून (1930) के तीसरे सप्ताह में लंका पहुँच गया। भट्टजी इस बीच में पढ़ाते रहे। उनकी उपस्थिति का आनन्दजी ने भी पूरा लाभ उठाया था। मैं लौटते ही भिक्षु हो गया, अध्यापकी करने की आवश्यकता थी। भट्टजी अब भी अध्यापन का काम कर सकते थे। लेकिन, मैं चाहता था कि वह परीक्षा की फिकर छोड़ें। उन्होंने इस साल लन्दन की मैट्रिक परीक्षा दी, जिसमें असफल रहे। इसलिए मेरी सलाह ज्यादा कान लगाकर सुनने लगे। मेरे जर्मनी में कुछ मित्र थे। मारबुर्ग के संस्कृत के अध्यापक रुडाल्फ ओटो से लंका में भेंट हुई थी। हम दोनों का सम्पर्क घनिष्ठ हो गया था। मैंने उनको लिखा : यह संस्कृत के बहुत अच्छे विद्वान् हैं, जर्मनी में विशेष अध्ययन के लिए आना चाहते हैं। क्या वहाँ अपनी विद्या से गुजारे-भर का इन्तिजाम हो सकता है ? उन्होंने अपने मित्रों से पूछा। टुबिंगन के संस्कृताध्यापक ने बतलाया कि हम फीस माफ करा देंगे, और 70-80 मार्क मासिक का भी प्रवन्ध कर देंगे। 22 वर्ष के अनन्तराम के लिए जर्मनी में स्थान तो हो गया, किन्तु लंका से जर्मनी पहुँचे कैसे ? उनके मामा–जो दक्षिणी प्रथा के अनुसार ससुर भी थे–कुछ पैसा दे सकते थे। भट्टजी को पासपोर्ट लेने के लिए भारत जाना आवश्यक था। वह देश गए। पासपोर्ट पाने में सफलता हुई। कर्मनिष्ठ मामा दामाद को समुद्र पार भेजकर जाति-बहिष्कृत करवा अपनी पुत्री का अनिष्ट क्यों करते ? कुछ महीनों बाद भट्टजी लौट आये।

जर्मनी पहुँचने के लिए उनके पास पूरे पैसे नहीं थे। इसी समय मेरे पास डेढ़ सौ रुपये आये थे, उन्हें भी मिलाकर मैं भट्टजी को पम्प करने लगा। लन्दन की डिग्री बहुत दूर की वात रह गई थी। जर्मनी का प्रस्ताव बहुत आकर्षक जरूर था; लेकिन समुद्र-पार जाकर धर्म से पतित होने का भय था। लंका में भी समुद्र-पार आये थे, लेकिन यह घर-द्वार जैसा था। विदेश में अभी गए नहीं थे। संस्कृत के विद्यार्थी होने से कूपमंडूकता ज्यादा थी। पराये देश में बिना लक्ष्मी के अवलम्ब से जाना खतरा मोल लेना था। अपनी घुमक्कड़ी, अपनी सारी अभिज्ञताओं का मैंने प्रयोग करते कहा–"अगर आदमी समुद्र में भी गिर जाय, तो हजार में 999 के बचानेवाले कहीं न कहीं से आ जाते हैं। आप अपने को हजारवाँ क्यों समझते हैं ? फिर आप समुद्र या निर्जन मरुकान्तार में नहीं जा रहे हैं। ऐसी जगह जा रहे हैं, जहाँ मानव हैं। मानवता हर जगह आदमी की रक्षा करने के लिए तैयार रहती है।" मैं यूरोप जाने के लिए कह रहा था, जिसको अभी तक मैंने देखा नहीं था। धीरे-धीरे उनके भीतर आत्मविश्वास पैदा हुआ।

खान-पान का ख्याल आया। अगर आदमी के पास पैसे का पूरा जोर हो, तो वह कहीं पर भी अपने निरामिषाहार को कायम रख सकता है; लेकिन भट्टजी की परिस्थिति के आदमी के लिए यह खटराग अच्छा नहीं था। मैंने कहा–"वहाँ जाकर अपने वैष्णवपन के फेरे में न पड़ना, मांस खाने लगना। अण्डे को यहीं से शुरू कर दो।" शायद उन्होंने शुरू भी कर दिया। दो साल बाद 1932 ई. में जब मैं इंग्लैण्ड में था, तो पत्रों से मालूम होता था कि अण्डे को तो वह 'पत्नी को बेंचकर भी' खाने के लिए तैयार थे, पर शायद अभी मांस तक नहीं पहुँचे थे। यूरोप जाने के लिए कपड़ों की भी जरूरत थी। उनके पास कुर्ता-धोती था। सूट बनाने में डेढ़ सौ रुपये लग जाते। मैं अपने साथ तिब्बत से एक बहुत मूल्यवान् पट्टू लाया था। पट्टू का अर्ज एक बित्ते का होता है। उसमें विना जोड़ डाले कोट-पेण्ट नहीं बन सकता था। भट्टजी को इतनी परख नहीं थी, और परख होने पर भी फैशन के बारे में ख्याल करने का समय नहीं था। उसे ठीक से रँगवाकर कोलम्बो

के दर्जी से कोट-पेण्ट वनवा दिया और कहा—"देखने में चाहे उतना अच्छा न हो, लेकिन यह सूट बीस वर्ष तक चल सकता है और जर्मनी की बर्फानी सर्दी में भी जितनी सहायता यह दे सकता है, उतना चार सौ का सूट भी नहीं दे सकता।" एक फ्रेंच जहाज कम्पनी से दो ढाई सौ रुपये में मारसेई का टिकट मिल गया। थोड़े-से रुपये जेव में थे, जिनसे वह टुविंगन पहुँचकर वहुत किफायत करने पर एक महीना भी गुजारा न कर सकते थे।

आखिर मैंने अनन्तराम को समुद्र में ढकेल दिया। वह टुविंगन में जाकर अपने प्रोफेसर मित्र की संस्कृत-अनुसन्धान में सहायता देने और खुद डाक्टरेट की तैयारी करने लगे। जहाज में ही शायद उन्होंने जर्मन भापा का क-ख पढ़ा। प्रोफेसर से वह संस्कृत में ही वोल सकते थे, जिसका प्रभाव उनके ऊपर और ज्यादा पड़ा। 1932 ई. में लन्दन में मिले उनके पत्र से मालूम हुआ कि उन्होंने डाक्टरेरट के लिए ऐसा विषय चुना है, जो दस वर्ष में भी शायद ठीक से तैयार न हो। मैंने लिखा—"यह क्या किया ? कोई ऐसा विषय लेते जिसमें दो-ढाई वर्ष में पी-एच. डी. हो जाते। अनुसन्धान का काम तो जीवन-भर का है, उसे पीछे करते।" खैर, भट्टजी टुविंगन के पी-एच. डी. हुए। भापा सीखने की ओर उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, इसलिए जर्मन भापा पर अधिकार होते देर नहीं लगी। फिर उन्होंने अर्थशास्त्र की डी-एस. सी. की डिग्री प्राप्त की। उनके परिचितों की संख्या वढ़ी, योग्यता का पता लगा और भट्टजी बर्लिन युनिवर्सिटी में भारतीय शास्त्र के प्रोफेसर हो गए। उनका जौहर एक दूसरे क्षेत्र में भी खुला। वह भाषण के साथ-साथ जर्मन भाषा में अच्छे लेख लिख लेते थे। भारत के परिचय के सम्बन्ध में आँकड़ों से भरी उनकी एक पुस्तक के लाखों के संस्करण निकले। धन और नाम दोनों उनके कदमों में लोटने लगे।

हिटलर की जर्मनी में दुहाई फिरी। भारत से जाते समय वह राजनीति से कोरे थे। अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि अपने देश की परतन्त्रता उन्हें पसन्द नहीं थी। यहाँ रहते समझते थे, उदय से अस्त तक अंग्रेजों का ही राज है। अंग्रेजों के सामने दुनिया के सभी राष्ट्र तिनके जैसे हैं। अपने सामने उन्होंने लेटे जर्मनी को खड़े होते देखा, उनके विशाल शरीर के सामने अंग्रेज बौने मालूम होने लगे। पद-पद पर हिटलर उनको ठोकरें लगाता और अंग्रेज पूँछ दबाकर चीं-चीं करते थे। भट्टजी को भी अपने परतंत्र देश का ख्याल आने लगा, उन पर भी देशभक्ति का नशा चढ़ा।

द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। जर्मनी विजयवाहिनी ने सारे यूरोप को रौंद डाला। भट्ट इस समय प्रोफेसर ही नहीं, एक कुशल पत्रकार भी बन चुके थे, यद्यपि पत्रकारिता उनका व्यवसाय नहीं था। नेताजी (सुभाषचन्द्र वोस) कलकत्ता में अपने घर से अन्तर्धान हुए और सर को हथेली पर रखकर जर्मनी पहुँच गए। हिटलर अंग्रेजों के खिलाफ हरेक अस्त्र को इस्तेमाल करने के लिए तैयार था। उसने नेताजी को भारत का फूरेर (सर्वेसर्वा नेता) स्वीकार किया। उसी के अनुरूप उन्हें मान-मर्यादा दी। नेताजी ने बर्लिन से अपने विचारों के प्रचार के लिए एक पत्र निकालना चाहा जिसके लिए ऐसे सम्पादक की आवश्यकता थी, जो अंग्रेजी के साथ जर्मन भाषा पर पूरा अधिकार रखता हो। उस समय कोडावुरू अनन्तराम भट्ट का नाम उनके कानों में पड़ा। वह पत्र के मुख्य सम्पादक बनाये गए। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि भट्ट अब नेताजी के अत्यन्त समीपी वन गए। उन्होंने पत्र (आजाद हिन्द) का वड़ी योग्यता से सम्पादन किया। बर्लिन के बिटेन्वेर्ग प्लाज 2, iii के विशाल मकान में प्रोफेसर और सम्पादक के. ए. भट्ट का दफ्तर था।

समय आया, जब नेताजी की जरूरत पूर्व में हुई। जिस चमत्कारिक ढंग से वह भारत से अन्तर्धान होकर बर्लिन पहुँचे थे, उसी तरह बर्लिन से अन्तर्धान हो वह मलाया पहुँच गए। भट्ट बर्लिन में रहते उनका काम सँभाले रहे। 30 जून, 1943 डी होफ्ट शिफ्ट लाइटुंग 'आजाद हिन्द' बर्लिन व 85, लिखटेनस्टाइनोली 2 की मुहर बतलाती है कि उस समय भट्ट एक सम्मानित सम्पादक के तौर पर बर्लिन में रहते थे।

उस समय किसको आशा थी कि जर्मनी की पूर्ण पराजय होगी। हिटलर पागल सियार के गाँव की तरफ भागने की तरह रूस की ओर दौड़ा, अन्त में उसका सर्वनाश हुआ। भट्ट जर्मनी के हथियार डालने के समय वहीं पर थे। वह 'आजाद हिन्द' से सम्बन्ध रखते, मित्र शक्तियों के खिलाफ बहुत लिखते। अतः वह उन्हें क्षमा

करने के लिए तैयार नहीं हो सकते थे। पर भट्ट अब पुराने संस्कृत के पंडित नहीं थे, 17 वर्ष से जर्मनी में रहते राजनीतिक दाँव-पेंच को अच्छी तरह समझते, यूरोप के देशों का पूरा ज्ञान रखते थे। अब अपनी रक्षा का कोई इन्तिजाम करना था। वह बर्लिन से दूर दक्षिणी जर्मनी के बवेरिया प्रदेश में चले गए और वहाँ अपने को जिप्सी (रोमनी) कहकर एक किसान के नौकर हो गए। आदमी अपने ज्ञान को ढँककर अज्ञानी का रूप ले सकता है, क्योंकि वह पहिले अज्ञानी रह चुका है। लेकिन अज्ञानी ज्ञानी होने का ढोंग नहीं रच सकता—हाँ, धार्मिक क्षेत्र में इसके अपवाद जरूर मिलते हैं। भट्ट नाटे कद के स्वस्थ, पर शरीर से अस्थूल थे। गाँववाले उनको जिप्सी मान सकते थे; क्योंकि यूरोप के मुकाबले में उनका रंग काला था, हमारी दृष्टि में गेहुआँ। जिप्सी कई शताब्दियों पहिले भारत से यूरोप की ओर गए थे। शताब्दियों का असर इतना जरूर हुआ है कि हम भारतीय जिसे साँवला कहते हैं, वैसे भी उनमें कोई नहीं है। यहाँ आने पर हम उन्हें गोरा कहते, लेकिन यूरोप में वह काले ही माने जाते हैं। जिप्सी तरुणियाँ अपने सौन्दर्य के लिए वहाँ बहुत प्रख्यात ही हैं, किन्तु उनके बाल हमेशा कोयले की तरह काले होते हैं। बवेरिया के गाँव में किसी को स्वप्न में भी नहीं ख्याल हुआ कि यह 36 वर्ष का पुरुष जिप्सी नहीं, कोई दूसरा हो सकता है। अंग्रेजों और अमेरिकनों को अपने दुश्मन को शरण देने का यदि पता लगता, तो मालिकों पर कहर ढाते।

भट्ट कहाँ अण्डा शुरू करने से काँपते थे और कहाँ अब भोजन में अपने ऋग्वैदिक पूर्वजों का पूरी तौर से अनुकरण करते थे। पीढ़ियों से उनके माध्व वैष्णव परिवार ने शराब को देखा भी नहीं होगा; लेकिन अब वह उनके लिए साधारण पेय थी। अपने मालिक के पास उन्होंने अपने संस्कृत व्यक्तित्व को कैसे छिपाया होगा, यह अचरज की बात है। पर जिसके सिर पर मृत्यु नाच रही हो, वह किसी भी अभिनय को आधे दिल से नहीं कर सकता। इसीलिए भट्ट जिप्सी की पूरी भूमिका अदा कर रहे थे। उडुपी में उन्होंने घोड़ा तो जरूर देखा होगा, लेकिन वह मुट्ठी-भर के रहे होंगे और उनके पास भी वह कभी नहीं जाने की हिम्मत करते रहे होंगे। यहाँ किसानों के पोरिसा-पोरिसा भर के बड़े-बड़े घोड़े थे। उन्हें बाँधना, छोड़ना, चराना, हल में नाधना सारा काम वह करते थे। सवारी करना शायद इससे पहिले ही सीख गए थे, क्योंकि उन्हें युद्ध के लिए अपने को तैयार करना था। चार वर्ष के करीब वह जिप्सी बनकर उस या दूसरे गाँव में रहे। घोड़ा दौड़ाते वक्त कभी गिर गए थे, जिसके कारण उनके कलेजे पर कुछ आघात आया था और पीछे कलेजे की बीमारी उनके लग गई। इसको भी वह भुगत लेते, पर 1947 ई. के अगस्त के मध्य में अंग्रेजों के भारत छोड़कर जाने की खबर उन्होंने पढ़ी। जर्मनी के किसान हमारे यहाँ की तरह अनपढ़ किसान नहीं थे। वह सुशिक्षित और सुसंस्कृत होते थे। कलेजे के दर्द के साथ अब दूसरा दर्द शुरू हो गया। अपने स्वतन्त्र देश में मुझे जाना चाहिए। 'आजाद हिन्द' के मुख्य सम्पादक की अब नींद हराम हो गई थी। वह यही सोचने लगे कि कैसे यहाँ से निकला जाय। चारों ओर अमेरिकन फौजें पड़ी हुई थीं। गाँव से निकलने पर किसी अमेरिकन सैनिक के हाथ में पड़ जाते और कहीं उसे शक हो जाता कि यह जिप्सी के भेस में रहनेवाला कोई दूसरा ही आदमी है, तो फिर यमदंष्ट्र से उन्हें कौन बचा सकता ?

पर उनकी दोनों प्रकार की हृदय की बीमारियों की दवाइयाँ एक ही दिशा में मिल सकती थीं। जर्मनी में लोगों के स्वास्थ्य की कौन पर्वाह करने लगा ? लाखों मरे थे, कुछ हजार बीमारी से मर गए थे। उनकी कलेजे की बीमारी को दवा की नितान्त आवश्यकता थी। बवेरिया की सीमा स्वीज़रलैण्ड से मिलती है। दवा के लिए वह उस सीमान्त की तरफ बढ़े और एक दिन जान पर खेलकर दोनों दवाइयों को इकट्ठा प्राप्त करने के लिए सीमान्त पार हो गए। स्विस सिपाही ने पकड़ा। कह दिया—"मैं भारतीय हूँ। मुझे भारतीय दूतावास के पास ले चलो।" शायद यह नहीं। वह सीमान्त पार करके किसी भले डाक्टर के पास पहुँचे थे, उसने उनकी भयानक बीमारी को देखा। पैसा फीस देने के लिए कहाँ था। सहृदय डाक्टर ने दवाई भी की। उनसे बातचीत करने के बाद वह और भी प्रभावित हुआ। भट्ट ने अपना किस्सा सुनाया और कहा कि अब मेरा देश आजाद हो गया, मैं वहाँ जाना चाहता हूँ। भट्ट की सूचना स्विस अधिकारियों और अ-भारतीय कौंसिल-जेनरल को दी गई। कौंसिल-जेनरल के पास जाकर वह अपना परिचय बड़ी आसानी से दे सकते थे। वहाँ कुछ दिन रहे।

उन्हें क्या मालूम था कि उनकी चिकित्सा जितनी अच्छी तरह स्वीज़रलैण्ड में हो सकती थी, उतनी भारत में भी नहीं हो सकती। संस्कृत के ऐसे दिग्गज विद्वान के लिए कोई काम मिलना स्वीज़रलैण्ड में मुश्किल नहीं था। लेकिन वह तो आजाद हिन्द के पागल थे। उन्होंने कौंसिल-जेनरल से कहा, मुझे भारत भेज दें। उनके पास कागज-पत्र थे, जिससे सिद्ध होता था; लाखों मार्क जर्मन बैंक में उनके जमा थे और इसे मित्र शक्तियों से प्राप्त करने का उनको अधिकार था; लेकिन इस वक्त तो वह मार्क्स केवल कागज थे। कौंसिल-जेनरल ने भारत सरकार के खर्च पर उन्हें भारत भेज दिया।

प्रथम विश्व-युद्ध से पहिले देश से बाहर जाने के लिए किसी पासपोर्ट की जरूरत नहीं थी, आप चाहे जहाँ जा सकते थे। उसके बाद अंग्रेजों ने सारे भारत को जेलखाने के रूप में परिणत कर दिया और उनकी आज्ञा बिना कोई जेलखाने से बाहर नहीं जा सकता था। इसी आज्ञा का नाम था पासपोर्ट। अंग्रेजों के सारे शासन में पासपोर्ट मिलने में दिक्कत थी। पुलिस से छान-बीन करके वह देखना चाहते थे कि यह हमारे शासन का विरोधी तो नहीं है। 15 अगस्त, 1947 में अंग्रेज भारत छोड़कर चले गए। उम्मीद थी, चारों तरफ खड़ी की गई जेल की चहारदीवारी गिर जाएगी, लेकिन गिरने की जगह उसे चार हाथ और ऊँचा किया गया। आज पासपोर्ट के लिए पुलिस की रिपोर्ट पहिले ही की तरह आवश्यक है। पुलिस की रिपोर्ट अनुकूल होने पर भी आप तब तक पासपोर्ट नहीं पा सकते, जब तक आप किसी ऐसे प्रामाणिक धनी आदमी से बारह रुपये के कागज पर जमानतनामा नहीं लिखवाकर देते कि विदेश में सरकार की ओर से होनेवाले खर्च का जिम्मेवार वह है। 1947-48 नहीं, 1945 की बात है। मैंने पासपोर्ट की दरखास्त दी। पुलिस और खुफिया-पुलिस ने जाँच की। अंग्रेजों के समय की मेरे खिलाफ जो फाइल थी, वह सब मौजूद थी। आजाद भारत में भी खुफिया पुलिस बराबर मेरा पीछा करती नजर रखती है, हरेक चिट्ठी उसकी नजर से गुजरने के बाद ही मिलती है। मसूरी में नियुक्त सेंसर साहब कभी दो-दो, तीन-तीन दिन चिट्ठी देखने की फुर्सत नहीं पाते। यदि कोई चिट्ठी गुम भी हो जाय, तो उनकी बला से। भला ऐसी पुलिस से अनुकूल रिपोर्ट की कहाँ आशा हो सकती थी ? दूसरी बार आशा दी गई कि पासपोर्ट मिल जायगा, इसलिए फिर दरखास्त दी। बारह रुपये के स्टाम्प पर जमानत लिखवाकर भेजी। कई महीनों बाद पत्र आया जिसमें पूछा गया कि क्या सबूत है, जमानत देनेवाले के पास इतनी सम्पत्ति है कि वह विदेश के खर्च की जिम्मेवारी ले सके। विदेशों में आम तौर पर जिस खर्च का डर सरकार को रहता है, वह है अन्त्येष्टि-क्रिया का। छह महीने बीत गए। कभी कुछ पता नहीं लगा कि पासपोर्ट मिलेगा या नहीं।

आजाद हिन्द की खबर सुनकर भट्टजी की आँखें चौंधिया गईं। 20 साल बहुत होते हैं। 22 वर्ष के तरुण थे, जब उन्होंने अपनी मातृभूमि छोड़ी और अब 40 वर्ष के हो गए थे। देश लौटने के लिए उतावले थे। खर्च लौटाने का कागज लिखकर स्वीज़रलैण्ड से भारत आये।

8 नवम्बर, 1948 को मुझे दिल्ली में एक सभा में भाषण देना था। इसकी सूचना दिल्ली के अंग्रेजी पत्रों में भी निकली। मैं मंच पर बैठा था, उसी समय कोट-पेण्ट पहने एक प्रौढ़ पुरुष मेरे पाय आये। संस्कृत सुनते ही मुझे अनन्तराम भट्ट का ख्याल आया। हाँ, वही थे। अठारह वर्ष बाद अपने मित्र से मिलने पर कितनी प्रसन्नता हुई, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। अपने निवासस्थान को बतलाया। दूसरे दिन फिर भट्टजी आये। महायुद्ध से बहुत पहिले ही हमारा पत्र-व्यवहार बन्द हो गया था। उन्होंने अपनी जीवन-गाथा संक्षेप में सुनाई और यह भी कहा कि कई महीने से काम ढूँढ़ रहा हूँ, लेकिन बिना सिफारिश के कहीं ठिकाना नहीं। वह एक होटल में ठहरे थे, जिसका खर्च महीनों से दे नहीं पाये थे। होटल साधारण था, पर रहने-खाने पर तब भी तो खर्च काफी पड़ता था। होटल का मालिक कोई सहृदय पुरुष था, इसीलिए अब भी उसने भट्टजी के सामान को लेकर उन्हें सड़क पर नहीं ढकेला। भट्टजी के लिए पहिली समस्या थी, कहीं खाने-पीने का कोई प्रबन्ध हो। मेरी भी सिफारिश बड़े लोगों तक नहीं पहुँच सकती थी, इसलिए काम दिलाने के बारे में कुछ करना सम्भव नहीं था। उस समय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से परिभाषाओं के निर्माण का काम मैंने अपने ऊपर उठाया था। मुझे ख्याल आया कि भट्ट उसके लिए बहुत उपयुक्त हो सकते हैं। उनका संस्कृत और जर्मन का

गम्भीर ज्ञान मानो परिभाषा-निर्माण के लिए ही था। लेकिन मैं उनकी योग्यता के मुताबिक वेतन के लिए नहीं कह सकता था। मैंने उस समय इतना ही कहा, और भी कोशिश कीजिये। यदि कोई काम न मिले, तो परिभाषा का काम हमारे पास है; लेकिन उसमें तीन सौ रुपये मासिक से अधिक हम नहीं दे सकेंगे।

जर्मनी में अठारह वर्ष रहकर उन्होंने बहुत-से अवगुण सीखे थे। गुणों में केवल अर्थशास्त्र, भारतीय साहित्य और इतिहास की ही विशेषज्ञता उनमें नहीं थी, बल्कि यहाँ के आर्कइव (प्राचीन अभिलेखालय) को देखकर वह कह रहे थे, मैं तीन-चार महीने में इसको ऐसा संगठित कर सकता हूँ कि दो मिनट के भीतर दसियों हजार के जंगल में से आप अपनी चीज पा सकते हैं। लेकिन भारत के आजाद होने के बाद तो खुशामद का राज्य कायम हो गया। गुणी को कौन देखता है ? भट्टजी को कोई काम न मिला, वह मार्च तक इधर-से-उधर भटकते रहे। होटलवाले का ऋण उनके ऊपर चढ़ता गया। अन्त में एक अप्रैल (1949 ई.) को परिभाषा के कार्य में सम्मिलित होने के लिए दिल्ली से प्रयाग पहुँच गए।

भट्टजी ने जो अवगुण सीखे थे, वह यूरोप और जर्मनी का दोष नहीं था। पहिले भारतीयता के वह बिल्कुल साकार मूर्ति थे। यूरोप में जाकर भारत-भक्ति उनकी और बढ़ी, पर वह आधुनिकता के रंग में पूरी तौर से रँग गए। हर चीज में वह सफाई और व्यवस्था चाहते थे, लेकिन भारत का सहस्राब्दियों का कूड़ा इतनी जल्दी साफ थोड़े ही हो सकता था ? फिर उन्हें घृणा होने लगी। किसी समय जर्मनी से उन्होंने कन्नड़ पत्रों में लेख भी लिखे, लेकिन जब लाखों में छपनेवाले जर्मन पत्रों में उनके लेख निकलने लगे, तो हजार-दो-हजार की संख्या में छपनेवाले कन्नड़ पत्रों का मूल्य उनकी दृष्टि में नहीं रह गया। उन्होंने नहीं समझा कि चाहे कितनी ही कम संख्या में निकलते हों, लेकिन कन्नड़ पत्रों के द्वारा ही मैं अपने लोगों में पहुँच सकता हूँ। यूरोप में रहते वह अपने को केवल भारतीय नागरिक मानने लगे थे। उन्होंने यह नहीं सोचा कि भारत की किसी भूमि पर जब तक पैर न हो, तब तक कोई भारतीय नहीं हो सकता। कर्नाटक की भूमि उनके पैर को अपनी गोद में लेने के लिए तैयार थी, लेकिन प्रांतीयता का नाम सुनते ही वह नाक-भौं सिकोड़ने लगते थे। मैंने उनसे कहा भी कि यदि कर्नाटक को आप फिर अपनायें तो सारे रास्ते साफ हो सकते हैं। कन्नड़ भाषा के पत्रों में अपनी जर्मन-जीवनी के बारे में लेख शुरू कर दीजिये; लेकिन यह बात उनके मन में नहीं बैठी। श्री शरत बोस ने अपना दैनिक पत्र निकाला। उस समय भट्ट ने अपना सन्देश भेजते हुए अपने और नेताजी के सम्बन्ध का उल्लेख किया। शरत बाबू ने बहुत-बहुत धन्यवाद के साथ उनके पास पत्र भेजा। ऐसी बातों से भट्टजी को प्रसन्नता होती थी।

गाँव और घर की बात करने पर कहते थे—"उनसे मेरा क्या वास्ता ? उन्होंने तो पतित और मरा समझकर मेरा श्राद्ध भी कर डाला।" उनके मामा ने भले ही श्राद्ध कर डाला हो, लेकिन पत्नी कैसे श्राद्ध कर सकती थीं ? कर्नाट-भूमि अपने इस योग्य पुत्र को कैसे जीते ही मरा समझ सकती ? यह अवगुण था, जिसे वह अठारह वर्ष बाद देश लौटते वक्त अपने साथ लाये थे।

3 अप्रैल, 1949 को भट्ट हमारे साथ कलिम्पोंग के लिए रवाना हो गए। कलेजे की बीमारी बहुत बुरी होती है। उन्हें बराबर औषधि के सहारे रहना पड़ता था। कभी-कभी दर्द भी बढ़ जाता था। सारा समय परिभाषा के काम में लगाते थे। हमारे यहाँ के महाकूपमंडूक समझते हैं कि अंग्रेजी ही एकमात्र अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है और अंग्रेजी की परिभाषाएँ ही अन्तर्राष्ट्रीय परिभाषाएँ हैं। डॉ. भट्ट को यह बात सुनकर हँसी आती। जर्मन जाति साइन्स में किसी से पीछे नहीं है। साइन्स में उसकी देन अद्भुत है। उसने हजारों नहीं, लाखों की तादाद में अपनी परिभाषाएँ बनाईं। ऐसी परिभाषाएँ, जिनको लोग आसानी से समझ सकें। 'साइन्स' या 'सियांस' कहने से एक जर्मन के (और भारतीय के भी) पल्ले कुछ नहीं पड़ता। 'विजेन शाफ्ट' या विज्ञान को वह समझ लेता है। इसीलिए जर्मनों ने अपनी भाषा में परिभाषाएँ गढ़ीं। परिभाषा के काम में उन्होंने बड़ी सहायता की। खेद है, सम्मेलन के अधिकारियों की शिथिलता के कारण उस समय काम को आगे नहीं बढ़ा सके। यदि सहयोग मिला होता, तो अब तक परिभाषाओं की ओर से हिन्दी और भारत की दूसरी भाषाएँ निश्चिन्त हो गई होतीं। डॉ. भट्ट की तरह ही एक दूसरे प्रतिभाशाली पुरुष श्री सुरेशचन्द्र सेनगुप्त भी इस काम के लिए मिले थे। यह

कहना मुश्किल होगा कि साइन्स के किस क्षेत्र में वह पूरी या पर्याप्त अभिज्ञता नहीं रखते। हमारी प्रकृति में चाहे कितना ही अन्तर रहा हो, पर हरेक एक दूसरे के भावों का ख्याल करने के लिए तैयार था। कलिम्पोंग के प्रायः एक वर्ष के निवास में 60 हजार से ऊपर परिभाषाएँ (बहुत कुछ अन्तिम रूप में) तैयार कर लीं।

22 फरवरी को सारा सामान लिये-दिये डॉ. भट्ट और श्री सेनगुप्त के साथ हम प्रयाग के लिए रवाना हुए। कटिहार में गाड़ी बदलनी थी। वहाँ के एक सहृदय व्यवसायी श्री महावीरप्रसाद मावंडिया से परिचय हो गया था। उन्होंने बड़ा सत्कार किया और हमने एक ट्रेन छोड़ दी। अगले दिन मावंडियाजी कार ड्राइव करते हमें स्टेशन पर ले गए। रेलवे लाइन पार करते समय सेनगुप्तजी ने भट्ट को देखकर कहा–"अच्छा, सोना चाहते हैं, सो जाइए।" स्टेशन पर कार खड़ी हुई। देखा, भट्टजी सोये नहीं, बेहोश हैं। सेकेण्ड क्लास की सीट रिजर्व थी, वहाँ ले गए। उनकी अवस्था देखकर मन घबरा उठा। मावंडियाजी दौड़कर डॉ. रामप्रसाद सूद को ले आये। सूद साहब ने कहा–"इस ट्रेन से इन्हें आगे नहीं ले जाया जा सकता।" रेलवे अस्पताल में ले गए। थोड़ी ही देर में पहिले तो वह खूब हँस-बोल रहे थे, और अब वह संज्ञाहीन थे। उनकी स्थिति देखकर दिल काँप उठा। कई बार कै हुई। डॉक्टर ने कई इंजेक्शन दिए। अस्पताल में दवाएँ भी तो नहीं थीं। डॉक्टर ने बतलाया–"इन्हें लकवा मार गया है।" हृदय की बीमारी तो थी ही। हम कटिहार में ठहरने के लिए मजबूर हुए। अगले दिन भी भट्टजी की अवस्था वैसी ही रही। आँखें बहुत कम खोलते। कभी होश में रहते, कभी बेहोश में, इस अवस्था को देखकर मेरा हृदय विह्वल हो जाता। ख्याल करता सन् 1930 ई. का, जब कि यह तरुण जहाज पर चढ़ा था। फिर ख्याल आता, पिछले अठारह वर्षों में कितना ज्ञान और तजर्बा उसने प्राप्त किया, जिनकी उसके देश को अत्यन्त आवश्यकता थी। क्या, सब कुछ वह अपने साथ लेता चला जायेगा ?

25 फरवरी को डॉ. सूद और डॉ. कुण्डू ने भट्टजी को देखा। कटिहार में उनका ठीक से उपचार नहीं हो सकता था, इसलिए हम उन्हें प्रयाग लाना चाहते थे। दोनों डॉक्टरों ने दवाई लिख दी और कहा–"किसी डॉक्टर को साथ लेकर आप सफर कर सकते हैं।" कटिहार के तरुण डॉक्टर श्री कालिप्रसाद दास खुशी से हमारे साथ चलने के लिए तैयार हो गए। कटिहार में रहने पर भी तो हालत में कोई सुधार होने की सम्भावना नहीं थी। पहिले दिन तीन बार सन्तरे का रस दिया और तीनों बार उन्होंने वमन कर दिया। केवल ग्लूकोज के इंजेक्शन से ही उनके शरीर में शक्ति कायम रक्खी जा सकी। 26 फरवरी की शाम को अँधेरा हो गया था, जब हम प्रयाग पहुँचे। पहिले ही तार दे दिया था। रामबाग स्टेशन पर अस्पताल की एम्बुलेन्स कार आई हुई थी। उन्हें मोतीलाल मेमोरियल अस्पताल में ले गए। डॉ. पाटणकर ने अच्छी तरह परीक्षा की। अच्छे अस्पताल, अच्छे डॉक्टर और अच्छी नर्स के हाथ में देकर हमें सन्तोष हुआ। पर, भट्टजी की स्थिति अब भी चिन्ताजनक थी। कई दिनों बाद वह मृत्यु के जबड़े से निकल पाये, लेकिन जो लकवे का प्रभाव हुआ था, वह साल-भर बाद हटा।

मैं प्रयाग बराबर नहीं रह सका। सम्मेलन के अधिकारी, विशेष तौर से श्री टण्डनजी, राय रामचरणलाल, डॉ. उदयनारायण तिवारी उनका ध्यान रखते रहे। कुछ महीनों बाद अस्पतालवालों ने कहना शुरू किया कि अब हम इनको अपने यहाँ नहीं रख सकते। खतरे से बाहर हो गए हैं और शक्ति लाभ करने में महीनों की आवश्यकता होगी, जिसके लिए हमारा अस्पताल नहीं है। बड़ी चिन्ता पैदा हुई। भट्टजी को कहाँ ले जायँ ? मैं मसूरी में रहने लगा था। मसूरी साढ़े छह हजार फुट की ऊँचाई पर है, जो उनकी बीमारी के लिए प्रतिकूल कहीं जाती थी। इसीलिए मित्र को अपने साथ नहीं रख सकता था। टंडनजी ने मन्त्री को लिखा, तब भट्ट जी रह पाये।

अगले साल (1951 ई.) में कभी-कभी उनकी खबर मित्रों से मिल जाती थी। साहित्य सम्मेलन भी बराबर बिना काम के वेतन नहीं दे सकता था। मैं छटपटाता रहा। रेडियो उस समय जिस मन्त्री के हाथ में था, वह भट्टजी के प्रदेश के ही थे। उनसे कहा कि दुनिया के बहुत-से देशों के विश्वविद्यालयों में संस्कृत पढ़ाई जाती है। भारत में संस्कृत कैसे बोली जाती है, इसे जानने के लिए वहाँ के लोग इच्छुक रहते हैं। आप रेडियो में संस्कृत का प्रोग्राम रखिए। साथ ही यह भी बतलाया कि इस काम के लिए भट्टजी की योग्यता है। यह कहकर

मैंने आशा की थी कि वह कुछ करेंगे; पर भट्टजी-जैसे अनर्व रत्न का हमारे स्वतन्त्र देश में मूल्य कौड़ी का भी नहीं रह गया है। फिर भट्टजी न जाने कहाँ गए। वर्षों से उनका पता नहीं। रह-रहकर दिल में एक टीस उठती है।

35
आचार्य नरेन्द्रदेव

आचार्य नरेन्द्रदेवजी से घनिष्ठता मेरी 1929 में हुई, पर उनके घर का परिचय उससे पन्द्रह वर्ष पहिले प्रथम विश्व-युद्ध के प्रथम वर्ष में हुआ था। अयोध्या में वैरागी साधु होकर रहते समय कितने ही जोशीले वैष्णवों के साथ अयोध्या-फैजाबाद की सड़क से कुछ हटकर एक प्रसिद्ध देवी-स्थान में एक ब्रह्मचारी द्वारा प्रेरित होकर मैं भी पशु-बलि रोकने के लिए गया था। पण्डों का उसमें नुकसान था, इसलिए वह क्यों इसे पसन्द करने लगे ? उन्होंने दो-चार को पीटा भी, उन पर मुकदमा चलने को हुआ। इसी सम्बनध में हम नरेन्द्रदेवजी के पिता के पास पहुँचे थे। वस्तुतः साक्षात्कार उनके बड़े भाई श्री महेन्द्रदेव से उस वक्त हुआ था, पर मुझे ख्याल था कि वही नरेन्द्रदेवजी हैं। यह गल्ती पीछे मालूम हुई। मैं श्रीलंका में दो साल रहकर इस ख्याल से भारत लौटा था कि बौद्ध-धर्म के और अध्ययन के लिए तिब्बत जाऊँ। लम्वा प्रोग्राम था। लेकिन, सवा वर्ष के बाद ही मुझे लौट आना पड़ा। उसी समय नरेन्द्रदेवजी ने मेरे ग्रंथों के प्रकाशन में सहायता की। वह उस समय तो आर्थिक सहायता नहीं करा सके, पर जब 'करतल भिक्षा तरुतल वास' के बल पर मैं तिब्बत पहुँच गया, तो उसका प्रबन्ध उन्होंने किया था, पर मैं उससे लाभ नहीं उठा सका। 1931 में तो महीनों मैं उनका अतिथि होकर काशी विद्यापीठ में रहा। इस समय मेरे पास भी काफी समय था और उनके पास भी संकोच नहीं था।

इतनी एक समान बातें संयोग से ही कहनी चाहिए। मैं बौद्ध-धर्म और दर्शन का विद्यार्थी था, उसके साहित्य को भारत में फिर लौटाने की कोशिश कर रहा था। आचार्यजी की प्रतिभा बहुमुखी थी, इसलिए सिर्फ बौद्ध-धर्म तक ही उसको सीमित कहना युक्त नहीं है। तो भी यह कहना ही पड़ेगा कि उनकी रुचि बौद्ध-साहित्य में खींच ले गई। बराबर यह शिकायत रही और उनसे भी मैं कहता था कि आपकी सबल लेखनी को आलसी नहीं बनना चाहिए। यह उस समय की बात मैं कर रहा हूँ, जबकि वस्तुतः उनके पास समय का अकाल नहीं था। इस व्यस्त जीवन में भी उन्होंने अपनी लेखनी चलायी। 'अभिधर्मकोश भाष्य' और बौद्ध-दर्शन की एक विशाल पुस्तक–दोनों हिन्दी में–इसके प्रमाण हैं। आचार्यजी का अंग्रेजी पर भी असाधारण अधिकार था, पर हमारे यहाँ के कितने ही नारदमोह में पड़े लोगों की तरह यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि अंग्रेजी में चलकर ही हमारी लेखनी सबल बन सकती है। बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में उनकी लिखी यह पुस्तक बहुत वर्षों तक अपना स्थान बनाये रक्खेगी, इसमें शक नहीं।

आचार्यजी सुलेखक और सुवक्ता ही नहीं, बल्कि बातचीत में सुन्दर और मधुर-भाषी थे। चुटकुलों और घटनाओं का इतना समावेश करते कि किसी को उससे तृप्ति नहीं हो सकती थी। मेरे ननिहाल के पद में परनाना श्री प्रयाग पाठक फैजाबाद के गुप्तारघाट में जाकर पण्डे हो गए थे। दो-एक साल में वह अपने गाँव आते, तो और चीजों के साथ बहुत-सी मिठाई लाते। मैं गाँव का नाती था और नाती-भांजे को खिलाने में बहुत पुण्य होता इसलिए गुप्तारघाट की मिठाइयाँ मुझे जरूर मिलतीं। पाठकजी आचार्यजी के घर से काफी सम्बन्ध रखते थे, लेकिन उस वक्त मुझे क्या मालूम था ? उनकी भी कितनी ही बातें सुनाते। वह युग–जो आज से आधी शताब्दी पहिले मौजूद था–आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक थपेड़ों के कारण अब लुप्तप्राय हो गया है। उस समय थोड़ी या बहुत प्रभुता सम्पत्ति रखनेवाले घरों में छोटा-मोटा दरबार लगता था। और स्वामी के अनुरूप दरबारी भी वहाँ रहते थे। खाली समय को काटने में वह बड़ी सहायता करते थे। मुझे तो पूरा याद नहीं,

लेकिन किसी को उस्ताद कहकर वह ऐसी बातें बतलाते कि हँसी आये बिना नहीं रहती थी। तारीफ यह कि चाहे कितनी ही हँसाने की बात करते हों, लेकिन उनकी हँसी ओठों के बाद आँखों के कोर तक ही सीमित रहती थी।

मेरे एक मित्र छपरा के वकील बाबू जानकीशरण साही उनके साथ इलाहाबाद में पढ़ते थे। वह सुनाते थे। उस समय आर्यसमाज, राधास्वामी, थियोसोफी और दूसरे कितने ही पंथों का जोर था। नरेन्द्रदेवजी बुद्धिवादी थे और आखीर तक बुद्धिवादी रहे। कितनों ही के ऊपर बुढ़ापे में दूसरा रंग चढ़ा है, पर उनके ऊपर कभी नहीं। इसी कारण उन्हें भूदान पर कभी विश्वास नहीं हुआ और न मार्क्स के पथ को छोड़कर कुटिया में समाधि लगाने की इच्छा हुई। अपने कालेज-जीवन में वही बुद्धिवाद उनके साथ था। पंथाइयों पर व्यंग करते एक गोष्ठी बनाकर उन्होंने भी एक पंथ स्थापित किया, जिसका नाम रक्खा 'चोंच पंथ।' हमारे हिन्दी के प्रसिद्ध हास्य लेखक चोंचजी को शायद उससे प्रेरणा नहीं मिली, क्योंकि वह काफी पीछे अपने कार्यक्षेत्र में आये। चोंच पंथ के पैगम्बर आचार्यजी थे, लेकिन इस पंथ में पैगम्बर और अनुयायियों में सौ-पचास गज तो दूर, दो इंच का भी अन्तर नहीं था। सभी हमजोली और समवयस्क थे। जब वह मिलते, तो दाहिने हाथ की हथेली को चोंच के रूप में बनाकर 'जय चोंच भगवान्' कहकर परस्पर अभिवादन करते। वह इस बात को शास्त्रों और युक्तियों से सिद्ध करने के लिए तैयार थे कि सभी पंथ अर्वाचीन तथा दो कौड़ी के हैं। सबसे प्राचीन और महान् पंथ चोंच पंथ है। चोंच गुरुड़ हैं, जिनकी सहायता न हो तो संसार के पालन करनेवाले विष्णु पंगु हो जायँ। चोंच भगवान के बिना न वह द्रौपदी का चीर बढ़ा सकते थे, न गज को उबारने के लिए पहुँच सकते थे। 'चोंच पंथ' शायद अपने पैगम्बर और उनके सहकारियों के कालेज-जीवन के समाप्त होते ही समाप्त हो गया। जवानी के जोश में ऐसा अभिनय खेला जा सकता था, लेकिन अब एक विद्यापीठ के आचार्य और देश के नेता होने के बाद वह कैसे चोंच पंथ को जीवित रख सकते थे ? इससे मालूम होगा कि स्वभाव में वह कितने विनोदप्रिय थे। दमा उनका पैतृक रोग था। जब दौरा होता, तो बड़ी बुरी हालत हो जाती। वह शरीर से हमेशा कृश रहे। इस रोग ने उन्हें और भी कृश कर दिया था। इतने पर भी वह जितना प्रसन्न रह काम करते, उसे देखकर आश्चर्य होता।

आचार्य नरेन्द्रदेव विद्वान्, गम्भीर चिन्तक, विनोदी होने के साथ-साथ आदर्शवादी थे। वह समझते थे कि बहुजन का हित-सुख समाजवाद से ही हो सकता है, इसीलिए वह इसकी तरफ आकृष्ट हुए। मार्क्स ने उनको बहुत प्रभावित किया और हमेशा मार्क्सवादी समाजवादी रहे। इसमें हम दोनों एकमत थे। यद्यपि मुझे कम्युनिज़्म ने आकृष्ट किया, और वह सोशलिस्ट थे। दोनों पार्टियों के सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे, तो भी हमारे वैयक्तिक सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं आया। उनकी और मेरी दोनों की इच्छा थी कि एक दूसरे के पास कुछ अधिक रहें। बुढ़ापे में इसकी अधिक आवश्यकता होती है, पर उस वक्त काम इतने आ जाते हैं कि आदमी लालसा-भर ही मन में रख सकता है। नमक-सत्याग्रह के समय में मैं काशी विद्यापीठ में था। सलाह हुई कि मार्क्स की 'कम्युनिस्ट घोषणा' का हिन्दी में अनुवाद किया जाय। दोनों ने मिलकर अनुवाद किया। उसके कुछ फार्म प्रेमचन्दजी के प्रेस में छपे भी, पर आगे सत्याग्रह के तूफान और दूसरी मजबूरियों ने उसे बढ़ने नहीं दिया, और 'घोषणा' छपकर पाठकों के सामने नहीं पहुँची।

नरेन्द्रदेवजी के व्यक्तित्व में एक विचित्र आकर्षण था। जो भी उनके सम्पर्क में आया, हो नहीं सकता कि वह उससे प्रभावित हुए बिना रहे और उस सम्बन्ध को सदा स्नेह के साथ स्मरण न करे। विद्यापीठ में भारत और बाहर के हजारों विद्यार्थी उनके सम्पर्क में आये। लंका और दूसरे देशों के विद्यार्थियों का उनके प्रति विशेष स्नेह और सम्मान था। भारतीय संस्कृति अपने व्यापक अर्थों में उनके रूप में साकार थी। उनमें विचारों के प्रति अपार सहिष्णुता थी, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह सत्य कहने से बाज आ सकते थे। वह एक संस्था थे, जिससे हजारों ने लाभ उठाया। नरेन्द्रदेवजी हिन्दी के इतने सुन्दर वक्ता थे कि आज के युग में कुछ भाषणों का स्थायी रूप में रेकार्ड न होना खटकने की बात है। अध्ययन का उन्हें भारी व्यसन था और न जाने कितने विषयों में। उनके उस ज्ञान को कागज पर उतरने का बहुत कम अवसर मिला। मैं

तो डरता था कि बौद्ध विचारधारा का उनका गम्भीर अध्ययन भी कहीं उनके साथ ही न लाच जाय, पर उन्होंने एक विशाल ग्रन्थ के रूप में लेखबद्ध कर दिया। यह सौभाग्य की बात है। खेद यही है कि उस ग्रन्थ को अपने सामने प्रकाशित हुआ उन्होंने नहीं देखा।

नरेन्द्रदेव हमारी पीढ़ी के एक अनर्घ रत्न थे। 'थे' कहते दिल को ठेस लगती है। उनको इतनी जल्दी महाप्रयाण नहीं करना चाहिए था। शील में वह अत्यन्त सरल और स्मितपूर्वाभिभाषी थे। चिन्तन की वह साकार मूर्ति थे, प्रज्ञा के बारे में क्या कहना ! बौद्ध विचारों के अनुसार वह शील-समाधि (चिन्तन)-प्रज्ञा–तीनों स्कन्धों में पूर्ण थे। यद्यपि आज वह नहीं रहे, पर काशी विद्यापीठ, उनकी कृतियाँ और कार्य हमेशा उनका स्मरण दिलायेंगे।

36
धर्मा साहु

पहिली बार तिब्बत के भीतर घुसने के लिए 1929 ई. के आरम्भ में नेपाल में पहुँचकर मुझे अज्ञातवास करना पड़ा था। लेकिन वह अज्ञातवास ऐसा नहीं था कि मैं नेपाल के हरेक व्यक्ति से अपने को छिपाऊँ। वहाँ के कुछ बौद्ध गृहस्थों को पता लग गया कि मैं बौद्ध धर्म के अध्ययन और अनुसन्धान के लिए तिब्बत जा रहा हूँ। उन्होंने मेरी सहायता की, जिनमें धर्ममान साहु की सहायता सबसे बड़ी थी। धर्ममान साहु काठमाण्डू के आसनटोल मोहल्ले में रहनेवाले एक लखपति सार्थवाह थे। सौ-डेढ़ सौ वर्ष हो गए थे, जब कि उनके परिवार ने तिब्बत की राजधानी ल्हासा में अपनी कोठी–छु-शिङ्-शा–स्थापित की। 1929 से वहाँ के वह सबसे बड़े व्यापारी थे।

धर्ममान साहु की आयु उस समय 60 से ऊपर रही होगी, अर्थात् उनका जन्म 1870-80 वाले दशक में हुआ था। वह अभी पूरी तौर से होश नहीं सँभाल पाये थे कि उनके पिता मर गए। ऐसी स्थिति में कर्जखोरों से कुछ मिलने की आशा नहीं रह गई और कर्जदार सिर पर सवार थे। धर्ममान साहु ने परिवार की जिम्मेवारी अपने ऊपर ली, तिब्बत के व्यापार को सँभाला और कुछ वर्षों में अपने कर्ज को ही अदा नहीं कर दिया, बल्कि तिब्बत में प्रमुख नेपाली व्यापारी हो गए। धर्ममान साहु पहिले ही से अपने धर्म–बौद्ध धर्म–में बड़ी आस्था रखते थे। तिब्बत में रहते समय सत्संग बढ़ा, उनके दान-पुण्य की ख्याति हो गई। वहाँ के लामा उन पर बहुत स्नेह रखते थे। पीछे वह इतने पूजा-ध्यान में रहने लगे कि लोग उन्हें भी लामा समझने लगे।

उमर के कुछ ढल जाने पर उनके तीन लड़के पैदा हुए–त्रिरत्नमान, ज्ञानमान और पूर्णमान। दोनों बड़े लड़कों ने कार-बार को सँभाल लिया और धर्ममान साहु काठमाण्डू के अपने घर में रह ज्ञान-ध्यान में लगे।

मेरे अज्ञातवास के बारे में धर्ममान साहु को पता लगा। उन्होंने बहुत आग्रह करके अपने यहाँ बुलवाया। तिब्बती लामा के वेश में एक दिन शाम को मैं उनके घर पहुँचा। उन्होंने स्वागत-सत्कार करते हुए कहा–"ल्हासा में आपको कोई कष्ट नहीं होगा। मैं अपने पुत्रों को लिख देता हूँ।" मेरे पास दो-सौ रुपये थे। पचास रुपये रखकर बाकी को मैंने उनके पास जमा कर दिया। ल्हासा पहुँचने पर उतने रुपयों से मैं कितने दिनों रह सकता था ? धर्मा साहु की चिट्ठी पाकर उनके दोनों पुत्रों ने मेरे रहने का ऐसा निश्चिन्त प्रबन्ध कर दिया कि मेरे लिए अगर चिन्ता हो सकती थी, तो यही कि मैं उनकी उदारता के भार से दबने लगा। दो बार ल्हासा में मैं महीनों रहा–पहिली बार तो प्रायः एक वर्ष तक। इस समय सारा खाने-पीने का भार छु-शिङ् शा ने उठाया।

तिब्बत में पहिले-पहिल जाने पर मुझे वहाँ के प्रभावशाली लोगों की सहायता की आवश्यकता थी। पिछले सौ वर्षों में अंग्रेजों का गुप्तचर बनकर गए भारतीयों ने हमारे देश को बहुत बदनाम कर दिया था। कौन जानता है, मैं भी उन्हीं में हूँ। इस सन्देह को दूर करने में धर्मा साहु के परिचय और उनके दोनों योग्य पुत्रों की सहायता

ने बड़ी मदद दी। तिब्बत की यात्रा से आते-जाते मुझे जब-जब नेपाल में जाना पड़ा, साहु का घर मेरा घर बना। उन्हें नेपाल और तिब्बत के बारे में बहुत मालूम था। वह बात बहुत कम करते थे; लेकिन मेरे लिए इस नियम को शिथिल कर दिया था। अन्तिम बार 1936 ई. में धर्मा साहु का दर्शन उनके घर पर हुआ। अब वह बहुत वृद्ध हो गए थे। हवा और धूप खाने के लिए भी वह घर से बाहर नहीं निकलते थे। उनका मकान शायद पंचमंजिला था। उसके ऊपर सीमेन्ट का छोटा-सा चबूतरा बनवाया था, जिसके ऊपर बैठकर वह कभी-कभी काठमाण्डू का परिदर्शन करते थे।

महायान बोधिसत्व-जीवन को सबसे अधिक महत्त्व देता है, जिसके अनुसार अपने रक्त-मांस को भी अदेय समझता है। धर्मा साहु जरूरत से ज्यादा साखर्च थे। काठमाण्डू में उनका घर तिब्बत के हरेक सन्त और लामा के लिए खुला हुआ था। वह वहाँ पखवारों और महीनों रहते थे। इससे भी कुछ नहीं बिगड़ता। पर उन्होंने स्तूपों और विहारों की मरम्मत में अपने धन को लगाना शुरू किया। किसी विहार में 75 हजार रुपया खर्च कर दिया। व्यापार में लगी पूँजी को इस तरह व्यय करना खतरे की बात थी। उनके लड़के बड़े संकोची थे–मझले ज्ञानमान साहु बहुत दिनों तक जीते नहीं रहे। पूँजी की इस बर्बादी ने छु-शिङ्-शा को बहुत नुकसान पहुँचाया। द्वितीय महायुद्ध में जहाँ नये व्यापारी दसियों लाख के मालिक हो गए, वहाँ छु-शिङ्-शा पूँजी के अभाव में अपनी पहिली स्थिति को भी कायम नहीं रख सका। परिवार के लिए धर्ममान साहु की साखर्ची बड़े घाटे का सौदा रहा; लेकिन धार्मिक जगत् में अब भी उनका नाम है।

37

शास्त्री महाशय

जनवरी, 1956 में मैं महामहोपाध्यायजी के दर्शन करने के लिए कलकत्ता से उनके घर गया। आसन पर बैठे किसी पुस्तक का प्रूफ देख रहे थे। 80 वर्ष से ऊपर के हो गए, शरीर में अस्थि और चर्म के अतिरिक्त यदि किसी चीज का पता लगता था, तो नसों का। अब भी वह बिना चश्मे के पढ़ रहे थे। मेरा नाम सुनते और पास आते देखकर उठे। यह सम्मान मुझे दुःखद लगा। वृद्ध शरीर को हिलाने-डुलाने में भी उन्हें जरूर तकलीफ होती थी, पर वह न माने। हमेशा से मेरे प्रति वह ऐसा ही अनुराग दिखलाते आये। इस आयु में स्मृति का क्षीण होना स्वाभाविक है, पर उत्साह में कोई कमी नहीं थी। पिछली बार मिलने पर भी निराशा प्रकट कर रहे थे। बीस साल पहिले चीनी और तिब्बती में अनुवादित पर संस्कृत में सदा के लिए लुप्त समझे जानेवाली असंग की कृति 'योगचर्याभूमि' को तिब्बत में मैंने प्राप्त किया और दसवीं शताब्दी के आस-पास की तालपोथी से अपने हाथ से उसे उतारा। महामहोपाध्याय ने उसे सम्पादित करने का भार अपने ऊपर लिया था। बारह वर्ष से अधिक हो गए, वह कब की छप गई होती, किन्तु प्रेस की गति इतनी धीमी थी कि पिछली बार भी अपने जीवन में उसे समाप्त करने से वह निराश थे और अबकी तो कह रहे थे–"जल्दी ही इसे मैं आपके पास भेज दूँगा। आप ही के हाथ से यह नैया पार होगी।" पिछली बार से उनका स्वास्थ्य और भी गिर गया था। इस शारीरिक स्थिति में अत्यहित की किसी समय भी आशंका हो सकती है, वह इसको जानते थे, इसलिए अपने जीवन के एक-एक क्षण का उपयोग करना चाहते थे।

उन्हें बहुधा लोग शास्त्री महाशय के नाम से याद किया करते थे। जहाँ वह प्राचीन प्रणाली के अनुसार संस्कृत के गम्भीर पंडित थे, वहाँ आधुनिक अनुसन्धान के ढंग में पारंगत थे। बनारस में अपने विद्यार्थी-जीवन के कई साल उन्होंने बिताये। उनकी विद्वत्ता को देखकर कवीन्द्र रवीन्द्र आकृष्ट हुए और उन्हें वह विश्व-भारती (शान्तिनिकेतन) ले गए। शान्तिनिकेतन में जहाँ नन्दलाल दे जैसे भारत के महान् चित्रकार रहते थे, वहाँ हमारे शास्त्रों के यह अद्भुत विद्वान् भी गए। रवीन्द्र अपने परिमित साधनों के रहते भी देश और विदेश की प्रतिभाओं

को एकत्रित करना चाहते थे। उन्होंने शान्तिनिकेतन को शिक्षा और संस्कृति का एक महान् केन्द्र बना दिया था। शास्त्री महाशय महाकवि के शान्तिनिकेतन में प्रायः जीवन-भर ही रहे। यदि अनुकूल परिस्थिति होती, तो वह कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष होने के लिए भी विश्व-भारती छोड़कर न आते।

शास्त्री महाशय का नाम मैं पहिले ही सुन चुका था, लेकिन सबसे पहिले उनका दर्शन नवम्बर 1921 में सारनाथ में हुआ। मूलगंधकुटी विहार के उद्घाटन के उत्सव में लंका और भारत के बहुत-से विद्वान् और गण्यमान्य पुरुष आये थे। शास्त्री महाशय भी उसमें शामिल हुए थे। मैं समझता था, वह मुझसे अपरिचित होंगे, लेकिन उन्होंने कहा—"मैं आपके लेख 'भारत में बौद्ध धर्म का उत्थान और पतन' पढ़ चुका हूँ, मैंने उस पर निशान भी कर रक्खे हैं।" वह लेख पहिले-पहिल 'गंगा' नामक एक गुमनाम-सी हिन्दी पत्रिका में निकला था। इसी लेख द्वारा उनसे परिचय प्राप्त करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसके बाद तो दर्शन वर्षों बाद ही होते, लेकिन हमारा सम्बन्ध अधिक नजदीक होता गया।

कलकत्ता विश्वविद्यालय में रहते समय अंग्रेज सरकार ने 'महामहोपाध्याय' की उपाधि प्रदान की। इस उपाधि के लिए उनसे योग्य व्यक्ति नहीं मिल सकता था। बंगाल के गवर्नर का दरबार होनेवाला था, जिसमें उपाधि का मेडल मिलता। अगर विश्वविद्यालय में नौकर न होते, तो शायद दरबार में न जाते। लेकिन अब दरबार में जाना अनिवार्य था। धोती-चद्दर में नंगे सिर देखकर किसी ने कहा—"शास्त्री महाशय ! दरबार जाना है। इस पोशाक में कैसे जायेंगे ?"

उन्होंने अकृत्रिम हँसी हँसते हुए कहा—"मैं तो यही पोशाक पहनता आया हूँ। दरबार में भी इसी में जाऊँगा।"

दूसरे ने कहा—"भीतर घुसने ही नहीं देंगे।"

विना वाक्य पर जोर देते उन्होंने कहा—"नहीं जाने देंगे, तो न जाऊँगा।"

महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य को देखते हुए किसी प्राचीन ऋषि का स्मरण हो आता। हाँ, अपने रोब को बढ़ाने के लिए उन्होंने दाढ़ी नहीं बढ़ाई। संस्कृत के पंडितों में भी अपने क्षेत्र में तीव्र जिज्ञासा होती है और उसमें वह हर तरह के कष्ट सहने के लिए तैयार रहते। महामहोपाध्याय बालकृष्ण मिश्र अपने समय भारत और काशी के सार्वभौम महापण्डित थे। उन्हें बौद्ध दर्शन जानने की उत्कट जिज्ञासा थी, पर 'सर्वदर्शन संग्रह' के एक परिच्छेद तथा धर्मकीर्ति के 'न्यायविन्दु' के अतिरिक्त बौद्ध दर्शन के वही अंश उपलभ्य थे, जिन्हें ब्राह्मण दार्शनिकों ने खण्डन करने के लिए पूर्व पक्ष के रूप में उद्धृत किया था। 'तत्त्व संग्रह' में जितना पर पक्ष का खण्डन था, उतना अपने बौद्ध दर्शन का मण्डन नहीं, मिश्रजी ने बहुत-से ग्रन्थों से पूर्व पक्ष एकत्रित किए थे और उनसे बौद्ध दर्शन को समझने की कोशिश करते थे। लेकिन यह तो प्यासे को तिनके के बूँदों से तृप्त करना था। इससे यह तो मालूम होता है कि हमारे प्राचीन पण्डितों का मूर्धन्य पुरुष कितनी तीव्र जिज्ञासा रखता था। शास्त्री मोशाय भी पहिले संस्कृत के पण्डित थे। उनकी जिज्ञासाओं ने मजबूर किया कि दूसरी भाषाओं का भी सहारा लें। उन्होंने अंग्रेजी और फ्रेंच ही नहीं, बल्कि तिब्बती, चीनी भाषाओं को भी सीखा। संस्कृत में भारत से विलुप्त आर्य देव के 'शतक' का उन्हीं ने उद्धार किया। गौड़पाद की मंडूककारिका का जो सम्पादन उन्होंने किया है, उससे शंकर वेदान्त के उद्गम का, साथ ही शास्त्री मोशाय का गम्भीर ज्ञान और चिन्तन का भी पता लगता है।

अध्ययन और अध्यवसायवाला पुरुष कण-कण जमा करके अपने जीवन में कितनी ज्ञान-राशि जमा कर लेता है। 60-70 से ऊपर होने पर स्मृति की क्षीणता उस ज्ञान-राशि में घुन-सी लगने लगती है, तो भी अध्यापन या सम्पादन जैसे कार्य में उसका महत्त्व खतम नहीं होता। लेकिन, जब उस ज्ञान-राशि को लिये चल देता है, तो कितनी क्षति होती है। पर यह तो प्रकृति का नियम है। हरेक पीढ़ी को नये सिरे से तैयारी करनी पड़ती है।

आज हमारे सामने संस्कृत की गम्भीर विद्वत्ता की रक्षा करने का सवाल पैदा हो गया है। देश के स्वतन्त्र होने के बाद शिक्षा का प्रसार तेजी से होने लगा है। अंग्रेज एक सीमा तक ही शिक्षा का प्रचार चाहते थे। जब उन्होंने देखा कि स्कूलों और कालेजों से पढ़कर जितनी संख्या में स्नातक निकलते हैं, उतनी संख्या में

हमारे पास नौकरियाँ नहीं हैं, तो उन्होंने परीक्षाओं की कड़ाई के द्वारा रुकावटें डालनी शुरू कीं। लेकिन, उसके कारण शिक्षा का प्रसार रुका नहीं। अंग्रेजों के जाते-जाते लोगों की रुचि शिक्षा में इतनी बढ़ी कि गाँव-गाँव में स्कूल खुलने लगे। प्राइमरी स्कूलों की, फिर मिडिल स्कूलों की संख्या बढ़ी। अंग्रेजों ने विधान बनाया था कि किसी स्थान पर एक स्कूल के रहते उसके इर्द-गिर्द पाँच मील के दायरे में दूसरा स्कूल नहीं खुलना चाहिए, लेकिन उनका नियम ताक पर ही रह गया और दो-दो, तीन-तीन मील की दूरी पर ही स्कूल कायम हुए। शिक्षितों की बेकारी देखकर आज फिर कुछ लोग सोच रहे हैं कि स्कूलों की संख्या कम करने का कोई तरीका निकाला जाय। लेकिन अब यह असम्भव है। शिक्षा-प्रसार घटेगा नहीं, बढ़ता ही जाएगा।

शिक्षा के प्रचार में संस्कृत का प्रश्न बड़े महत्त्व का है। हमारे देश की बहुसंख्यक भाषाओं का संस्कृत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वही बहुतों की जननी है। अधुना हर एक नये शब्द के लिए हम संस्कृत की ही ओर नजर दौड़ते हैं। विज्ञान की परिभाषाएँ सभी संस्कृत से बनाई जा रही हैं। हिन्दी, बंगला, उड़िया का ही नहीं, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम का भी अच्छा विद्वान् होने के लिए संस्कृत के सामान्य ज्ञान की आवश्यकता सभी जगह अनुभव की जा रही है। हाईस्कूलों में संस्कृत द्वितीय भाषा के रूप में ली जा रही है और कितने ही प्रदेशों में वह अनिवार्य भी है। इससे साफ है कि माध्यमिक शिक्षा के साथ संस्कृत का भी प्रचार बढ़ेगा। जैसे-जैसे समय बीतता जायगा, वैसे-वैसे संस्कृत का साधारण ज्ञान रखनेवाले लोग अधिकाधिक मिलेंगे।

संस्कृत के साधारण ज्ञान या साधारण पठन-पाठन का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसके लिए भविष्य अनुकूल है, पर यही बात संस्कृत के गम्भीर पांडित्य के लिए नहीं कही जा सकती। उसका बड़ी तेजी से ह्रास हो रहा है। अभी ही उच्च कोटि के विद्वानों का स्थान लेनेवाले बिरले होते जा रहे हैं। यद्यपि इस शताब्दी के गत 40 वर्षों में संस्कृत की उच्च परीक्षाओं द्वारा संस्कृत के पंडित काफी संख्या में पैदा होते रहे, तथापि परीक्षा गम्भीर पंडितों को पैदा करने में सर्वथा सफल नहीं रही। अब संस्कृत की परीक्षाओं में बैठनेवाले विद्यार्थियों की संख्या बड़ी तेजी से गिर रही है। उसके कारणों में से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

1. पहिले छात्रवृत्तियाँ और क्षेत्र राजाओं और जमींदारों की तरफ से बहुत-से थे, जो अब खतम हो गए हैं। सेठों के क्षेत्र अब भी चल रहे हैं, लेकिन पहिले जिन क्षेत्रों में चालीस छात्रों को भोजन मिलता था, उनमें अब, हर चीज महँगी हो जाने के कारण, दस को भी मिलना मुश्किल है। इसलिए साधन-हीन छात्रों को संस्कृत पढ़ने का जो सुभीता था, वह अब कम हो गया।

2. पहिले जो लड़के सौभाग्यशाली घरों में उत्पन्न नहीं होते थे, वे अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ रहते थे; क्योंकि एक तो अंग्रेजी शिक्षा यों ही महँगी पड़ती थी, दूसरे अंग्रेजी स्कूल भी दूर-दूर शहरों में होते थे; जहाँ का खर्च साधारण परिवार नहीं उठा सकता था। इस कारण अधिक ब्राह्मण बालक अंग्रेजी शिक्षा की ओर नहीं जाते थे और घर पर रहकर संस्कृत पढ़ते थे। अब हाईस्कूल इतने नजदीक-नजदीक हो गए हैं कि लड़के घर पर ही रहकर अंग्रेजी की पढ़ाई कर सकते हैं। स्कूली शिक्षा का मूल्य अब भी कम नहीं है, इसलिए संस्कृत पाठशालाओं और विद्यालयों में जानेवाले लड़के हाईस्कूल का रास्ता लेते हैं।

3. पहिले शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था, जिसे बचपन से ही अभ्यास करने पर हस्तगत किया जा सकता था। अब शिक्षा का माध्यम हिन्दी या प्रादेशिक भाषा हो चुका है, जिससे स्कूली शिक्षा सुगम हो गई है। इस कारण भी विद्यार्थी उधर आकृष्ट होते हैं।

4. संस्कृत की उच्च शिक्षा के लिए 20-25 वर्ष से भी अधिक समय चाहिए, जब कि आदमी 15-16 वर्ष की पढ़ाई में एम. ए. हो जाता है। चाहिए तो यह था कि विद्या के अर्जन में जितना समय लगता है, उसके अनुसार वेतन मिले। लेकिन वेतन आचार्य का नहीं, एम. ए. का अधिक होता है। फिर कोई आचार्यत्व के लिए क्यों प्रयत्न करेगा ?

ये और ऐसे ही दूसरे कारण हैं, जिनकी वजह से संस्कृत के गम्भीर अध्ययन-अध्यापन की प्रथा को धक्का लग रहा है। मालूम हो रहा है कि एक ही दो पीढ़ी में संस्कृत के गम्भीर विद्वान् कहीं देखने में न आयेंगे। यह भी ख्याल रखना चाहिए कि संस्कृत की गम्भीर विद्वत्ता को कुछ शाखाओं में फिर से प्रयत्न करके

नये तौर पर स्थापित किया जाय। व्याकरण के साथ-साथ न्याय की परिष्कार-प्रणाली आज तक बराबर चलती आई, लेकिन पदार्थ या प्रमेय का बोध करानेवाली प्रणाली का लोप हो गया था। प्राचीन न्याय के पढ़ने-पढ़ानेवाले तो कहीं मिलते ही नहीं थे। बड़े-बड़े पंडित भी उसके बारे में अपनी असमर्थता स्वीकार करते थे, लेकिन पिछले 30-40 वर्षों के प्रयत्न से उन्होंने फिर प्रमेय शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने का रास्ता प्रशस्त कर दिया है। बौद्ध-दर्शन बड़ा दुरूह समझा जाता था और उसके ग्रंथ भी अप्राप्त थे, पर इधर उसके पढ़ने-पढ़ानेवाले पैदा हो गए हैं।

यह सब होने पर भी ऐसा दीख रहा है कि परिष्कार और प्रमेय दोनों का शताब्दियों से अर्जित पांडित्य खत्म होने जा रहा है। इसकी रक्षा का एकमात्र उपाय यह है कि संस्कृत-पांडित्य का पुरस्कार सबसे अधिक हो। संस्कृत के आचार्यों का वेतन किसी हालत में भी एम. ए. पास लोगों से कम नहीं होना चाहिए। भारत के सर्वश्रेष्ठ संस्कृत पण्डितों की एक परिषद् (अकादमी) होनी चाहिए, जिसके सदस्य देश के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् हों। पहिले ऐसे सदस्यों के निर्वाचन में कोई दूसरा तरीका भी स्वीकार किया जा सकता है, पर जब परिषद् के 15-20 सदस्य हो जायँ, तो निर्वाचन का काम इसी परिषद् को सुपुर्द कर देना चाहिए। आरम्भ में इसके दस सदस्य मनोनीत किए जायँ, लेकिन मनोनयन में बड़ी सावधानी करनी चाहिए। परिषद् के सदस्यों की संख्या नियत रहे और खाली हो जाने पर ही उसके स्थान पर कोई दूसरा प्रकांड पण्डित लिया जाय। परिषद् के हर एक सदस्य को, निर्वाचित होने के साथ ही, एक हजार रुपया मासिक की वृत्ति आजीवन दी जाय। रूस की अकादमी का जो सदस्य होता है, उसे निर्वाचित होते ही छह हजार रूबल (1 रूबल= 1 ।=)) मिलना शुरू हो जाता है और उसके मरने के बाद उसकी स्त्री भी जन्म-भर उतनी रकम पाती रहती है। इस तरह के पुरस्कार द्वारा यदि हम संस्कृत के गम्भीर पाण्डित्य की रक्षा कर सकें, तो यह महँगा सौदा नहीं होगा। इसके लिए साल में यदि दस लाख रुपया खर्च करना पड़े, तो सस्ता ही है।

बालकृष्ण मिश्र और विधुशेखर भट्टाचार्य जैसे पण्डित से भारतभूमि रिक्त नहीं होनी चाहिए, इसका ध्यान हमारी आज की पीढ़ी को ही करना पड़ेगा। यद्यपि शास्त्री महाशय से मेरा परिचय उस समय नहीं हुआ, जब कि मैं अपने सामने पांडित्य और अनुसन्धान का आदर्श रख रहा था, किन्तु परिचय के बाद उनसे बहुत प्रेरणा मिली, इसमें सन्देह नहीं।

38

आचार्य सेलवेल लेवी

नाम बहुत सुन चुका था और उनकी कितनी ही कृतियों को भी पढ़ चुका था; लेकिन आचार्य लेवी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य नवम्बर, 1932 में पेरिस में हुआ। भारतीय संस्कृति के वह दुनिया में सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। 16 नवम्बर को मैं उनके घर पर मिला। 70 वर्ष के हो गए थे। सारे बाल सफेद थे। इस अवस्था से बहुत पहिले ही भारतीय विद्वान् अपने को बूढ़ा समझ काम को छोड़ बैठते हैं। महामहोपाध्याय विधुशेखर शास्त्री जैसे उस नियम के कुछ अपवाद जरूर हैं। इस उम्र में लेवी दिन में दस-दस, बारह-बारह घंटा अनुसन्धान का काम करते थे और उसके लिए दुनिया के किसी भी कोने में जाने के लिए तैयार थे। कमरे में चारों ओर पुस्तकें ही पुस्तकें दिखाई पड़तीं, जिनमें आधुनिक यूरोपीय भाषाओं के अतिरिक्त चीनी, पालि, संस्कृत, तिब्बती की पुस्तकों की संख्या ज्यादा थी। एक टूटी हुई काले पत्थर की मूर्ति दिखलाकर उन्होंने कहा—"इसे मैंने नालन्दा में पाया था।" उस दिन चार घंटे तक हमारी बात होती रही। ज्ञान के उस अगाध समुद्र में डुबकी लगाने से मैं तृप्त कैसे हो सकता था ? तिब्बती राजवंशावलि की कुछ समस्याओं के बारे में भी बात आई। मध्य-एशिया में प्राप्त तिब्बती अभिलेखों में एक अपरिचित-से राजकुमार का नाम आया था। सौभाग्य से मेरे पास अपनी नोटबुक मौजूद थी। देखा तो वह नाम मिल गया। आचार्य को बड़ी खुशी हुई। हाल ही में गिलगित में कितने

ही हस्तलेख एक ध्वस्त स्तूप के भीतर से निकले थे। उन्होंने कहा–"आप वहाँ जरूर जाइए और उन पुस्तकों के बारे में लिखिए।"

अपने शिष्यों पर उनका स्नेह असाधारण होता था, इसका पता मुझे इस समय साक्षात् मिला। डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची उनके बड़े योग्य तथा प्रिय शिष्य थे। उन्हीं की तरह चीनी और दूसरी भाषाओं का उन्होंने अध्ययन किया था। डॉ. बागची के दुबले-पतले और शान्त चेहरे को देखकर कोई आकृष्ट नहीं हो सकता था। इसलिए इस अपूर्व विद्वान् को लोगों ने बहुत वर्षों तक नहीं पहचाना। बागची बहुत एकान्त अनुभव करते थे। शायद इसका पता उनके गुरु को भी था। बातचीत और 'जर्नल आसियातिक' के लिए मेरे दो लेखों से आचार्य लेवी का विशेष पक्षपात मेरे प्रति हो गया और वह बराबर मुझे पत्र लिखा करते थे, किसी-किसी को तो संस्कृत में भी। उन्होंने चलते वक्त दो बातों के लिए आग्रह किया था–1. बागची बड़ा विद्वान् तरुण है, वह बहुत एकान्त अनुभव करता है, उसके साथ आप सम्पर्क बढ़ायें। 2. मालवीयजी ने कुछ समय के लिए मुझे हिन्दू विश्वविद्यालय में आने के लिए कहा था, उसका उन्हें याद दिलायें। बागची के गुणों को आखिर लोगों ने पहचाना और वह जीवन के अन्तिम समय में विश्वभारती के कुलपति रहे। मालवीयजी जैसे नेता सभी को निमन्त्रण दे देते हैं और विद्वान् उस निमन्त्रण पर अपनी योजना बना लेते हैं। लेकिन नेताओं की याददाश्त तो बहुत कमजोर होती है। आचार्य लेवी समझते थे कि वाराणसी में अगर एकाध वर्ष रहने का मौका मिला, तो वहाँ के विद्वानों के साथ सम्पर्क होगा। स्वदेश या विदेश से पी-एच. डी. और डी. लिट्. हमारे नवशिक्षित हमारे पुराने ढंग के महान पंडितों को किसी गिनती में नहीं गिनते। वह समझते हैं, अनुसन्धान का वैज्ञानिक ढंग हमारे पास है, यूरोप की समुन्नत भाषा हम समझते हैं–दुर्भाग्य से वह ऐसी समुन्नत भाषाओं में सिर्फ अंग्रेजी का ज्ञान रखते हैं, जो कि हमारी संस्कृति के अनुसन्धान के सम्बन्ध में जर्मन और फ्रेंच भाषाओं से बहुत पीछे हैं। आचार्य लेवी और आचार्य श्चेर्वात्स्की जैसे महान् विद्वान् हमारे प्राचीन प्रणाली से पढ़े विद्वानों की बड़ी इज्जत करते। वह समझते कि हमारा ज्ञान तब तक उथला रहेगा, जब तक उसका सम्पर्क उनके गम्भीर ज्ञान से नहीं हो जाता।

डॉ. बागची के दर्शन बड़ौदा ओरिएन्टल कान्फरेंस में 1933 में हुए। हम दोनों अंग्रेजी को माध्यम नहीं बनाना चाहते थे। मैं हिन्दी में बोलता था, वह बंगला में। दोनों के समझने में कोई दिक्कत नहीं थी। कई बातों में हमारी रुचि एक-सी थी। बौद्ध साहित्य और संस्कृति के इतिहास के बारे में हम एक ही भूमि पर चले। सरहपाद के दोहाकोशों को शुद्ध रूप में लाने का श्रेय उनको प्राप्त था। मैंने सारी सरह-कवितावलि को मूल या अनुवाद के रूप में हिन्दी नागरी में लाने के लिए तैयार किया और उसके कई फार्मों के प्रूफ डॉ. बागची के पास भेजा। उन्होंने वचन दिया था कि इनको देखकर मैं अपने सुझाव दूँगा। पर, वह प्रूफ ही देखकर हमसे सदा के लिए बिछुड़ गए।

अपने योग्य शिष्यों ही नहीं, कम योग्य शिष्यों पर भी लेवी का विशेष ममत्व रहता था। शायद प्राचीन भारत के गुरु-शिष्यों के सम्बन्ध को देखने के कारण ही सिलवेन लेवी और श्चेर्वात्स्की जैसे आचार्यों में ऐसा भाव था। उनकी एक भारतीय शिष्या देश लौटकर आईं, तो उन्होंने मुझसे मिलने के लिए कहा। पर उस साल जब वह श्रीनगर (कश्मीर) पहुँचीं, तो मैं लदाख चला गया था।

प्राचीन भारत का ज्ञान कराने में आचार्य लेवी का बहुत बड़ा हाथ है। तिब्बती, चीनी, पालि ही नहीं, जावा और बाली में हमारे साहित्य की क्या-क्या अनमोल निधियाँ मौजूद हैं, इसका परिचय हमें उनके ग्रंथों से हुआ।

अफसोस है, वही उनका अन्तिम दर्शन सिद्ध हुआ।

39

आचार्य श्चेर्वात्स्की[1]

आचार्य का अन्तिम पत्र निम्न प्रकार था :

लेनिनग्राद
ब्रास्सओस्त्रोव
7वीं गली, 2, घर 31
22 अप्रैल, 41

अतिप्रिय राहुल,

अन्त में हमें पहिली अक्टूबर और 16 सितम्बरवाले तुम्हारे पत्र मिले। दोनों ही 19 अप्रैल को आये। मेरे पते पर भेजे तुम्हारे पत्र बिल्कुल ही नहीं आये, तो भी सम्भव है, उनमें से कोई अब भी आवे, तब हम तुम्हें सूचित करेंगे। लेकिन तुम अब भी जेल में हो ? क्या तुम्हें सूचना दी गई है कि तुम कब तक पकड़े रखे जाओगे ? तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा है ? ये दोनों पत्र जो हमारे पास आये हैं, उनमें तुम्हारे स्वास्थ्य के बारे में एक भी शब्द नहीं है। आगे क्या होने जा रहा है, इसका कोई जवाब जरूर मिलना चाहिए। क्या वह वस्तुतः सम्भव है कि आगे के बारे में तुम्हें कुछ भी सूचित नहीं किया गया। तुमने पूछा, तुमने इसके लिए जोर दिया कि आगे के बारे में तुम्हें सूचित किया जाय।

मेरे बारे में, जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है, मेरा (स्वास्थ्य) बहुत बुरा नहीं है। हेमन्त बहुत ठंडा है, मेरे जँगलों के सामने नदी का बर्फ अभी गला नहीं। मेरे वैज्ञानिक कार्य की गति बहुत मन्द है। इस सारे जाड़े में मैं बहुत काम नहीं कर सका। मैं आशा करता हूँ, आगे बेहतर होगा। वसन्त के आने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। तब शायद मैं फिर काम करूँगा।

इन पंक्तियों से मेरा और आचार्य श्चेर्वात्स्की का सम्बन्ध मालूम होगा।

शायद यह अत्युक्ति नहीं, यदि मैं कहूँ कि पश्चिम में आज तक भारतीय दर्शन और संस्कृत भाषा का इतना बड़ा पण्डित कोई नहीं हुआ। 1929 ई. में भारतीय पुरालिपि के महान् विद्वान् बर्लिन के प्रोफेसर ल्यूडर से लंका में मुलाकात हुई। मैंने भारतीय, विशेषकर बौद्ध दर्शन के यूरोप के सबसे बड़े पंडित का नाम पूछा, तो उन्होंने एक क्षण को भी देर किए बिना कहा–'डा. श्चेर्वात्स्की।' 1932 में आचार्य लेवी से भी उनके बारे में यह बात सुनी। 1932 ई. में मैंने अपनी पुस्तक 'अभिधर्मकोश टीका' उनके पास भेज दी थी, जिसके द्वारा हमारी अदृष्ट मैत्री स्थापित हो गई। तिब्बत में बौद्ध न्याय और दर्शन के जो अनमोल ग्रन्थ मुझे मिले, उनकी सूचना उनको समय-समय पर मिलती थी, जिससे उनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था। एक बार तो बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी को उन्होंने लिखा कि इन बहुमूल्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेंस बुलानी चाहिए। 1935 ई. में मैं जापान से मास्को होता भारत लौटा। मास्को से लेनिनग्राद जाने की इजाजत नहीं मिली, यह जानकर उन्हें बहुत दुःख हुआ था। 1937 ई. में सोवियत साइन्स एकेडमी द्वारा मुझे उन्होंने निमंत्रित करवाया और 16 नवम्बर, 1937 ई. को पहिले-पहिल इस विद्वान् के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पैर में चोट आ गई थी, इसलिए प्लास्तर लगा हुआ था। चारपाई पर लेटे-लेटे उन्होंने मजबूरी बतलाते हुए संस्कृत में कहा–"आगम्यतां इदं आसनम्।" 16 नवम्बर से 13 जनवरी, 1938 दो महीने से कम–का हमारा साथ रहा, पर इतने में ही मैंने उनके गम्भीर पांडित्य का परिचय पा लिया। धर्मकीर्ति के छोटे-से ग्रन्थ 'न्यायबिन्दु' का उनका अध्ययन चिरस्मरणीय वस्तु है। अब तो धर्मकीर्ति का मुख्य ग्रन्थ 'प्रमाणवार्त्तिक' टीकाओं और भाष्यों के साथ मिल गया था। उनकी बड़ी इच्छा थी कि हम दोनों मिलकर उसका अनुवाद करें।

---

1. आचार्य पर एक और लेख 'सोवियत के दो भारतीय तत्वज्ञ' में भी है। देखें, खंड-2 की जिल्द-2

श्चेर्वात्स्की सौहार्द और सौजन्य की मूर्ति थे। स्नेह, भक्ति, वात्सल्य उनमें था। माँ की आज्ञा उनके लिए ब्रह्मवाक्य थी। वह 63 वर्ष के थे, जब माँ मरीं, श्चेर्वात्स्की के आँसू सप्ताहों बन्द नहीं हुए। अपने शिष्यों को पुत्रवत् नहीं, आत्मवत् प्रेम करते थे। उनके सुयोग्य शिष्य व्लादिमिर्सेव सबसे तरुण अवस्था में अकादमी-सदस्य निर्वाचित हुए। वे संस्कृत-तिब्बती-मंगोल भाषाओं के अद्वितीय विद्वान् थे। वे चालीस साल की अवस्था ही में जब मर गए, तो श्चेर्वात्स्की को भारी शोक हुआ और जब शिष्य-पत्नी मिलने आई, तो उसे अंक में ले फूट-फूटकर रोने लगे। उन्हें कोई सन्तान न थी। ब्याह उन्होंने 74 साल की उम्र में अपनी रसोइया वृद्धा से इस ख्याल से किया कि उनके न रहने पर वह पेंशन पा सके और उसको दुःख न सहना पड़े। किन्तु, संतति-स्नेह से वह वंचित न थे। सौभाग्य से उन्हें रोजनबर्ग, ओवरमिलर, वोस्त्रीकोफ, तुबियांसकी जैसे एक-से-एक मेधावी शिष्य मिले थे। यद्यपि 'हसरत उन गुंचों पर है जो बिन खिले मुरझा गए" के अनुसार अन्त में अधिकांश उन्हें विषण्ण छोड़ गए। उन्होंने हर एक के वियोग पर आँसुओं से शोक को धाना चाहा। वह अपने शिष्यों के प्रति यूनिवर्सिटी प्रोफेसर नहीं, प्राचीन भारत के गुरु जैसे थे और उनका घर गुरुकुल था। पति-पत्नी से विवाद होने पर पत्नी उलहना से आचार्य के पास पहुँचती, और वह बीच में पड़ते। शिष्यों के लिए उनके विद्या-भंडार का द्वार ही नहीं खुला रहता था, बल्कि उनके सामने वह रुपये-पैसे को कुछ नहीं समझते थे। उनके एक शिष्य को छात्रवृत्ति न मिलने से उसकी एम. ए. की पढ़ाई रुकने जा रही थी, वह पाँच सौ रुपये मासिक देने लगे। उनकी आहार-पान-गोष्ठी में तो सदा ही शिष्य-शिष्या निमंत्रित रहते–यह उस समय थी, जबकि क्रांति के बाद वह अपनी विशाल जमींदारी के स्वामी न थे और खान-पान की वस्तुएँ बहुत महँगी हो चुकी थीं।

ब्यूलर, याकोबी और मैथिल पंडित (जिनसे उन्होंने बम्बई में अध्ययन किया था) अपने इन तीन गुरुओं के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। हिन्दुओं की कृतियों के गम्भीर अध्ययन में उन्होंने सारा जीवन बिताया था; अश्वघोष, कालीदास, दण्डी के मधुर काव्यरस का आस्वाद किया था; दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के रूप में हिन्द की प्रतिभा जो दार्शनिक विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँची थी, उसे उन्होंने प्रत्यक्ष किया था–(इनकी प्रायः सारी कृतियाँ तिब्बती अनुवादों में ही सुलभ थीं)। ऐसे प्रत्यक्षदर्शी हाल की सदियों में यह प्रथम थे। वह कहा करते थे, "हिन्दू सबसे प्रतिभाशाली जाति है।" 'है' की जगह 'थे' कहना चाहिए। अपने पूर्वजों की योग्य सन्तान सिद्ध करने के लिए अभी हमने बहुत कम कर पाया है।

फेंदोर (थ्योदोर) इप्पोलित-पुत्र श्चेर्वात्स्की का जन्म 19 सितम्बर 1866 में पोलैंड के क्रेल्स नगर में हुआ था, जहाँ उनके पिता एक उच्च सरकारी अधिकारी थे। उनकी माँ ग्रीस-कुमारी थीं। उनका परिवार सुशिक्षित, सुसंस्कृत और धनाढ्य था। बड़ी जमींदारी थी, वह पुराने उपाधिकारी सामन्त थे। फेंदोर बचपन ही में अपनी मातृभाषा रूसी के अतिरिक्त जर्मन, फ्रेंच और अंग्रेजी दाइयों से सीख गए थे। 1844 ई. में उन्होंने जार्स्कीसेलो के कुमार स्कूल (जम्नासिया) की पढ़ाई समाप्त की, और संट पीतरबर्ग (लेनिनग्राद) विश्वविद्यालय के भाषातत्त्व विभाग में दाखिल हुए। भाषातत्व में उन्हें रस आने लगा। मिनयेफ उनके संस्कृत के गुरु थे, जो एक से अधिक बार भारत, लंका, बर्मा की यात्रा कर चुके थे। प्रोफेसर ब्राउन से उन्होंने गाथ, प्राचीन स्कंडेनेवियन, प्राचीन जर्मन, एंग्लो-सेक्सन भाषाओं का परिचय प्राप्त किया। प्राचीन स्लाव्यान और सेर्वोक्रोस भाषाएँ उन्होंने यागिच् से सीखीं। किन्तु सबसे ज्यादा उन्हें अपनी ओर खींचा संस्कृत ने–उसका भण्डार उन्हें अत्यन्त उच्च, गम्भीर, विशाल, सुन्दर और सम्पन्न मालूम हुआ। उसके अन्दर मिनयेफ उन्हें खींच ले गए। यूनिवर्सिटी के प्रथम वर्ष में ही उन्होंने अपना पथ निर्धारित कर लिया था। उन्हें अपना जीवन अपने गुरु मिनयेफ की तरह संस्कृत और भारत को देना है। 1889 ई. में श्चेर्वात्स्की ने यूनिवर्सिटी परीक्षा बड़ी योग्यता से पास की और डॉक्टर की उपाधि के लिए तैयारी करने लगे। उनके अध्यापकों ने उनकी असाधारण प्रतिभा को देखा। विशेष अध्ययन के लिए उन्हें वीना भेजा गया, जहाँ उन्होंने डॉक्टर ब्युलर से विशेषतः संस्कृत काव्य पढ़े। इसके परिणाम थे 'हैहयेन्द्रचरित' का जर्मन अनुवाद और 'भारतीय काव्य सिद्धान्त' जो दोनों ही ब्युलर के मृत्यु के बाद समाप्त हुए। काव्यों के अतिरिक्त श्चेर्वात्स्की ने ब्यूलर से पुरालिपि, धर्मशास्त्र और पाणिनीय-व्याकरण पढ़ा। पुरालिपि में उन्होंने शीलादित्य द्वितीय (सप्तम सदी) के अभिलेख पर लेख लिखा। इस काल में उन्होंने स्लाव भाषाओं,

रोमन भाषाओं तथा वैदिक भाषा का, फ्रेड्रिक मुलर से, विशेष अध्ययन किया। वीना से शिक्षा समाप्त कर श्चेर्वात्स्की 1893 ई. में स्वदेश लौटे।

लेकिन अगले छह साल उन्हें यूनिवर्सिटी नहीं, अपनी तालुकदारी में लगाने पड़े। तालुकदारी का प्रबन्ध करते उन्हें रूस के हरे-भरे प्रकृति-सौन्दर्यपूर्ण गाँवों में रहना ज्यादा पसन्द आया। लेकिन, इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने स्वाध्याय को छोड़ दिया। हर रोज सबेरे चार बजे (ब्राह्म-मुहूर्त) में उठ सात-आठ बजे तक पढ़ना उनकी आदत में शामिल हो गया था।

1899 ई. में रोम की प्राच्य कांग्रेस के साथ फिर उन्होंने प्राच्य विद्या में पैर रखा। अब उनका ध्यान भारतीय दर्शन की ओर था। वह इसके लिए बोन (जर्मनी) में प्रोफेसर याकोबी के पास पहुँचे। सिर्फ भाषा और इतिहास की दृष्टि से संस्कृत साहित्य के अध्ययन से याकोबी भी संतुष्ट न थे। उन्होंने यही बात अपने इस प्रतिभाशाली रूसी तत्त्वजिज्ञासु में देखी। श्चेर्वात्स्की ने याकोबी से भारतीय दर्शन पढ़े।

1900 ई. में रूस लौटकर श्चेर्वात्स्की अपनी यूनिवर्सिटी में संस्कृत के उपप्रोफेसर (प्रीवत-दोत्सन्त) नियुक्त हुए। नई सदी के आरम्भ के साथ पूर्वी मध्य-एशिया (चीनी तुर्किस्तान) में भारतीय पुरातत्त्व की बहुमूल्य सामग्री उद्घाटित होने लगी, जिसमें पश्चिमी देशों के विद्वानों ने भाग लिया। ओल्देनबुर्ग दो बार अभियान लेकर गए। वहाँ बहुत-से बहुमूल्य बौद्ध ग्रन्थ संस्कृत, तिब्बती और दूसरी भाषाओं में मिले, बहुत-से चित्र और कला की चीजें भी प्राप्त हुईं। इससे उत्तरी बौद्ध धर्म के अध्ययन को जोर मिला। श्चेर्वात्स्की हिन्द-दर्शनों के अध्ययन द्वारा साधन-सम्पन्न हो चुके थे, उन्होंने अब बौद्ध दर्शन की ओर ध्यान दिया। 1900 ई. में ही वह कुछ समय के लिए मंगोलिया गए और वहाँ एक मंगोल विद्वान् भिक्षु से उन्होंने तिब्बती भाषा और बौद्ध न्याय ग्रन्थ 'न्यायबिन्दु' पढ़ा। धर्मकीर्ति के इस छोटे-से ग्रन्थ के पढ़ते ही उन्होंने 'जगदभिवधीर धीमान् धर्मकीर्ति' की प्रतिभा और शैली का लोहा मान लिया। वह धर्मकीर्ति को "भारत का कान्ट' कहा करते थे।

श्चेर्वात्स्की यूनिवर्सिटी में जहाँ अपने छात्रों को संस्कृत व्याकरण (व्युलर) मेघदूत, शकुन्तला, दशकुमारचरित, शिशुपालवध और तर्कभाषा पढ़ाते, भविष्य के गवेषक पंडितों के लिए तैयार करते, वहाँ बाकी समय में अपने स्वाध्याय और लेखन में लगे रहते। छुट्टियों को मंगोलिया के बौद्ध विहारों या किसी दूसरी जगह गम्भीर अध्ययन में बिताते और अपने गवेषणापूर्ण निबन्धों को प्रकाशित करते। 1910 तक पहुँचते-पहुँचते रूसी विज्ञान अकादमी (सर्वोच्च विद्वत्परिषद्) के वह उप-सदस्य निर्वाचित हुए। इस साल उनकी भारत जाने की अभिलाषा पूर्ण हुई। वह पल्लवग्राही पांडित्य के पक्षपाती न थे और 1910-11 ई. के भारत-प्रवास को उन्होंने भारतीय दर्शन–ब्राह्मण, जैन बौद्ध दर्शन–के अध्ययन में बिताया। वह उत्तरी भारत में भी घूमे, हिमालय में दार्जिलिंग तक गए, जहाँ उन्होंने दलाई लामा से भेंट की; किन्तु ज्यादा समय बम्बई में दरभंगा के एक दार्शनिक विद्वान् से पढ़ने में बीता। उन्होंने इसके बारे में लिखा–"हम बिल्कुल भारतीय मुहल्ले में रहते, जहाँ एक भी यूरोपियन न था। हमारा वार्तालाप होता था केवल संस्कृत में। पूर्णमासी और अमावस्या के दो अनध्यायों को छोड़ बाकी सारे दिनों सबेरे से शाम तक दर्शन का अध्ययन और चर्चा रहती।" अपने गुरु मैथिल पंडित के गम्भीर ज्ञान और सौजन्य को वह सदा बहुत आदर से स्मरण किया करते।

1917 ई. की फरवरी आई, जार का मुकुट जमीन पर लोटने लगा, फिर 7 नवम्बर की महाप्रलय आई, जिसने कल के सारे प्रभुवर्ग को खतम कर दिया–श्चेर्वात्स्की की तालुकदारी भी उड़ गई। लेकिन, वह सरस्वती के वरपुत्र थे। "विद्वान् सर्वत्र न हि सर्वदा पूज्यते!" 2 नवम्बर, 1918 को श्चेर्वात्स्की अकादमी के सदस्य चुने गए–यह वह पद है, जिसके लिए रूसी विद्वान् सिहाते थे और एक समय मुश्किल से सौ तक मौजूद रहते थे।

अगले चौबीस साल उन्होंने एक कर्मठ मनीषी का जीवन बिताया। 'बौद्ध न्याय' की दो बड़ी-बड़ी जिल्दें 1930 ई. के पास प्रकाशित कीं। 'बौद्ध मूल विचार', 'बौद्ध निर्वाण विचार' जैसे गम्भीर निबन्ध लिखे, 'दशकुमारचरित' का सुन्दर अनुवाद किया।

1936 ई. की मेरी तिब्बत की यात्रा के बारे में जब उन्हें मालूम हुआ कि वहाँ मैंने धर्मकीर्ति और दूसरे

कितने ही बौद्ध दार्शनिकों के संस्कृत मूल ग्रन्थ खोज निकाले हैं, तो उनकी प्रसन्नता की सीमा न रही। उनके कहने पर अकादमी ने मुझे 1937 ई. में निमन्त्रित किया; किन्तु कई कारणों से मैं लेनिनग्राद में आकर भी ज्यादा समय न रह सका। उनकी बड़ी इच्छा थी, धर्मकीर्ति के मुख्य ग्रन्थ 'प्रमाणवार्तिक' का अनुवाद करने की, और यह भी कि हम दोनों मिलकर बौद्ध दर्शन ग्रन्थों पर काम करें। वह इसके लिए कोशिश कर ही रहे थे कि महायुद्ध छिड़ गया।

जब जर्मन-सेनाएँ लेनिनग्राद की तरफ बढ़ने लगीं और राष्ट्र की बहुमूल्य वस्तुओं को विमानों और दूसरे साधनों द्वारा हटाया जाने लगा, तो इस महान् विद्वान् को भी विमान पर चढ़ पूर्व की तरफ उड़ना पड़ा। उन्होंने अन्तिम ब.र अपने प्रिय नगर को देखा। शायद उनको अब भी आशा थी कि लौटकर फिर वहाँ अपने कार्य को करेंगे, लेकिन वह पूरी न हो सकी। 18 मार्च, 1942 को 76 वर्ष की उम्र में उन्होंने बरोवा (उत्तरी कजाकस्तान प्रजातंत्र) में निर्वाण-लाभ किया। आज भी उस पार्वत्य भूमि में देवदारों से आच्छादित सदाहरित एक भूखण्ड में यह महान् प्रतिभा अनन्त निद्रा में विलीन है।

40

डॉ. ब्रदीनाथ प्रसाद

उनका जन्म मेरे अपने जिले नहीं, बल्कि अपने पितृग्राम से चार-पाँच कोस ही पर हुआ था; लेकिन उनका परिचय अपने देश में नहीं, बल्कि फ्रांस में मिला। 1932 की जुलाई में मैं पेरिस में पहुँचा। पढ़ने के लिए मैंने अपने काम-भर की फ्रेंच भाषा सीख ली थी। वहाँ मुझे कुछ पुस्तकें लेनी थीं। हमारे यहाँ, और दूसरे भी कितने ही देशों में एक पुस्तक-विक्रेता के पास कई विषयों की पुस्तकें मिल जाती हैं, पर पेरिस में मैंने देखा, साइन्स के पुस्तक-विक्रेता के पास कला सम्बन्धी पुस्तकें नहीं मिलतीं और कला-सम्बन्धी पुस्तक-विक्रेता के पास साइन्स-सम्बन्धी नहीं मिलतीं। मुझे साइन्स की पुस्तकें अपेक्षित नहीं थीं। मैं हेरमान कम्पनी की दुकान में गया। कम्पनी के मालिक मेशिये फ्रेमान से मिला, जिनका व्यवसाय साइन्स-सम्बन्धी पुस्तकों के प्रकाशन का था। वह मुख्यतः मेक्सिको के रहनेवाले थे और भारत में भी वर्ष-डेढ़ वर्ष रह आये थे। इसलिए भारत से विशेष सहानुभूति रखते थे। फ्रेमान महाशय ने मुझे डॉ. ब्रदीनाथ प्रसाद के उस निबन्ध की एक प्रति दी, जिस पर उन्हें फ्रेंच सरकार की डी. एस-सी. की उपाधि मिली थी–हाँ, फ्रांस में राज्य का डी. एस-सी. होना बहुत मुश्किल है। श्री फ्रेमान ने उन्हें इलाहाबाद निवासी बतलाया और सिर्फ अपनी ही प्रशंसा नहीं की, बल्कि उसी समय डॉ. प्रसाद के गुरु तथा विश्व के एक महान गणितज्ञ आ गए, जिन्होंने भी कहा–हमें इस तरुण से बड़ी आशा है।

उस समय मुझे क्या मालूम था कि प्रसाद मुहमदाबाद (जिला आजमगढ़) में पैदा हुए और 1915-16 ई. में मैं उनके घर पर हो आया था। उनके ज्येष्ठ भ्राता श्री बैजनाथ प्रसाद वकील से बातें कर आया था। (यह परिचय ज्यादा दिन तक नहीं रहा। बैजनाथ बाबू तरुण ही चल बसे।)

1933 ई. के आरम्भ में मैं लदाख की यात्रा पर जाते प्रयाग से गुजरा। डॉ. हीरालाल भी उसी ट्रेन से प्रयाग उतरे, जिनको लेने के लिए डॉ. प्रसाद आये थे। उसी समय डॉ. हीरालाल ने मेरा उनसे परिचय कराया। डॉ. प्रसाद ने अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दिया। पर, शायद उस समय भी मुझे नहीं मालूम हो सका कि ये आजमगढ़ के हैं।

इसके बाद जाड़ों में पटना के बाद मुझे सबसे अधिक जहाँ रहना पड़ता था, वह प्रयाग था और वहाँ भी अधिकर डॉ. प्रसाद के घर में। हाँ, अभी जार्जटौन में उनका घर 'लक्ष्मीनिवास' नहीं बना था। कभी किराये के घर में रहते और कभी किसी छात्रालय के सुपरिंटेंडेंट बनकर पास के बँगले में रहते थे। जहाँ तक याद

है, पहली बार मैं उनके यहाँ 1935 के अक्तूबर में गया था। उस वक्त पता लगा—डॉ. ब्रदीनाथ मुहमदाबाद के हैं और उनकी पत्नी श्रीमती लक्ष्मीदेवी सीवान (छपरा) की। दोनों पति-पत्नी मेरी जन्मभूमि और कर्मभूमि के स्वजन निकले। दोनों का स्वभाव सरल और मधुर था। उस समय डॉक्टर साहब की सबसे बड़ी सन्तान प्रकाश छोटा था और इन्द्रप्रभा तथा अरुणा तो और भी छोटी थीं। बच्चों ने भी आत्मीयता जल्दी स्थापित कर ली। अरुणा कहानियों की बड़ी शौकीन थी। बचपन में मैं भी कहानियाँ बड़े चाव से सुनता रहता था और वह याद भी हो जाती थीं, पर जब तीसियों वर्ष उनके दोहराने की आवश्यकता नहीं पड़, तो वह कैसे याद रह सकती थीं ? मुझे कहानियाँ सुनाने के लिए मजबूर होना पड़ता था। आखिर मैंने कहानियाँ भी लिखी थीं, इसलिए अरुणा के लिए बना-बनाकर कहानियाँ सुनाता।

डॉ. बद्रीनाथ अपने समय के भारत के चोटी के आधे दर्जन महागणितज्ञों में हैं। उनके अनुसन्धान की ख्याति भारत से बाहर के उन्हीं महान् देशों में है। उनका जनम 12 जनवरी, 1899 ई. में मुहमदाबाद कस्बे में हुआ था। वह डॉ. गणेशप्रसाद के प्रिय शिष्य थे और गणित में एम. एस-सी. करने के बाद 23 वर्ष की उमर में ही हिन्दू यूनिवर्सिटी में सहायक-प्रोफेसर नियुक्त हो गए। उनके अनुसन्धान-सम्बन्धी पत्र इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, इताली, अमेरिका, जापान में छपे। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने गणित के सम्बन्ध में अपने देश का मुख उज्ज्वल किया और अपने कुछ ऐसे शिष्य पैदा किए, जो अपने गुरु-परम्परा को आगे ले जाने के लिए तैयार हैं।

मेरे भी विद्यार्थी जीवन में गणित बहुत प्रिय विषय था, पर मेरा वह जीवन तो मिडल उर्दू तक ही समाप्त हो गया। 1923-25 ई. के जेल-जीवन में गणित की सुषुप्त भूख फिर जगी, जब वहाँ साल-भर जगद्गुरु शंकराचार्य श्री भारतीकृष्ण तीर्थ के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन्होंने बी. ए. तक का गणित मुझे पढ़ा दिया। पर, अब भी मैं ऐसी स्थिति में नहीं था कि डॉ. प्रसाद के विषय को जान सकता और उनके अनुसन्धानों में सीधे दिलचस्पी ले सकता।

विशेषज्ञ महान् पण्डितों में कुछ विचित्र तरह की सरलता मालूम होती है। वह अपने इस सारल्य को नहीं समझते और जब-तब अपने विषय से बाहर जब हाथ डालते हैं, तो अनाड़ी की तरह ही। डॉ. ब्रदीनाथ ने यह अच्छा किया, जो अपनी विद्या और अनुसन्धान तक ही अपने को सीमित रक्खा। हमारे देश में आर्थिक संघर्ष ने कई बुरे रूप लिखे हैं, जिसमें साम्प्रदायिकता और जात-पाँत की बीमारी भी है। विश्वविद्यालय जैसे शिक्षण-संस्थाओं में भी यह बीमारी बड़े जोर से घुसी हुई है। कहीं कायस्थ, अ-कायस्थ का सवाल उठ खड़ा होता है तो कहीं कायस्थ-भूमिहार का। डॉ. प्रसाद ऐसी पार्टीबन्दी में शामिल होने की योग्यता नहीं रखते थे, इसीलिए किसी का उन पर विश्वास नहीं हो सकता। आजकल के जमाने में खुशामद सबसे बड़ी चीज है। छोटे से बड़े तक इस कला का बड़े यत्न के साथ अभ्यास करते उसका व्यवहार करते हैं। पं. जवाहरलाल नेहरू और राजेन्द्र बाबू को ही इसकी जरूरत नहीं रह गई है, नहीं तो किसी के बारे में "कोउ बड़-छोट कहत बड़ दोषू।" अपनी खुशामद सुनते-सुनते लोगों की समझ इतनी भोथी हो गई है कि वह समझ ही नहीं पाते कि जिस अभिनय को वह गद्गद होकर देख-सुन रहे हैं, वह उनके परिहास का रूपान्तर भी हो सकता है।

1936 ई. में डॉ. जायसवाल नेपाल गए थे। वह किसी राणा से घर पर मिलने गए। वहाँ राजगुरु भी मौजूद थे। संयोग से जायसवालजी के वहाँ पहुँचते समय ही राणा-कुमार राजगुरु के सामने उपस्थित हुए और प्रथा के अनुसार राजगुरु ने अपने चरणकमल को कुमार के सिर पर रख दिया। यह देख जायसवाल के देह में आग लग गई। उन्होंने पीछे मुझसे कहा—"इस देश का उद्धार नहीं हो सकता।" यह राजकुमार राणा-वंश के प्रथम एम. ए. थे। आज इस तरह के अभिनय दिल्ली और हरेक प्रदेश में होते रहते हैं। जो भी मन्त्री 60-70 वर्ष का हो गया है, वह भृगु की तरह विष्णु की छाती में लात मारने का अधिकार रखता है। डॉ. प्रसाद को बहुत कह-सुनकर पटना यूनिवर्सिटी ले गए और वहाँ गणित-विभाग का अध्यक्ष बना दिया। डॉ. प्रसाद आधे बिहारी और आधे उत्तरप्रदेशी हैं। जन्म उनका उत्तरप्रदेश में हुआ, लेकिन स्कूली शिक्षा उन्होंने सीवान (जिला छपरा) में पाई। भोजपुरी भाषा के ख्याल से भी बिहार के साथ उनकी एकता है। इसी लोभ

के कारण उन्होंने पटना जाना स्वीकार किया। एक साल रहे। देखा, वहाँ तो हरेक मन्त्री, हरेक उत्तराधिकारी खुशामद का आदी है। न करने पर चुगली करनेवाले तैयार हो जाते हैं। और महाप्रभु की त्यौरी बदल जाती है। प्रयाग विश्वविद्यालय में भी कई तरह के तिकड़म होते थे, लेकिन हालत यहाँ तक नहीं पहुँची थी। डॉ. प्रसाद मुश्किल से एक साल वहाँ रह पाये और फिर पटना छोड़कर प्रयाग चले आये।

डॉ. प्रसाद का घर आर्यसमाजी था। इसीलिए विचारों में उदारता होनी स्वाभाविक थी। अपने अध्ययन और विदेश-यात्रा से वह और भी अधिक उदार हो गए। अपने पुत्र-पुत्रियों को उच्च शिक्षा दिलवाई और उन्होंने प्रांत और जात-पाँत की रूढ़ियों को तोड़ फेंका। इससे पिता को अफसोस नहीं, वरन् बड़ी प्रसन्नता हुई।

सबसे पिछली बार अगस्त 1956 में उनके यहाँ रहा। मेरे पास मौलवी इस्माईल मेरठी की 'कुल्लियात' थी। बचपन में मौलवी इस्माईल की उर्दू की पुस्तकें मदरसों में पढ़ाई जाती थीं। मुझे उनकी कविताएँ बहुत पसन्द आई थीं और उनमें से कितनी ही याद भी थीं। उसी याददाश्त को ताजा करने के लिए मैं 'कुल्लियात' पढ़ रहा था। डॉ. प्रसाद मुझसे छह वर्ष छोटे हैं, पर उनके समय में इस्माईल की पुस्तकें प्राइमरी में चलती थीं, और उन्हें मुझसे भी ज्यादा उनकी सरल और चुभती हुई कविताएँ याद थीं। 'कुल्लियात' को देख उन्हें फिर अपना बचपन याद आ गया और बड़े रस के साथ अपनी याद की हुई कविताओं को सुनाने लगे। उन्हें अपना जन्मग्राम याद आता है। एक बार सोच रहे थे, वहाँ एक छोटा-सा बँगला बनवाएँ। लेकिन बँगला बनवाने से क्या मुहमदाबाद के साथ सम्बन्ध स्थापित हो सकता है ? उन्हें प्रयाग में काम करना है। उनकी विद्या से लाभ उठानेवाले तरुण यहाँ ही मिल सकते हैं। यदि मान भी लें कि साल में पाँच-सात दिन वह मुहमदाबाद के बँगले में जाकर ठहर सकते हैं, तो भी उस बँगले से उनके पुत्र-पुत्रियों को क्या वास्ता ? वह तो प्रयाग में पैदा हुए, आजमगढ़ की भोजपुरी उनके लिए परायी भाषा है।

उनकी पत्नी लक्ष्मीदेवी ब्याह के समय मैट्रिक पास थीं, पीछे परिवार को सँभालते हुए बी. ए. भी कर लिया। बच्चों की शिक्षा-दीक्षा और पर्वरिश का काम सिर पर था। डॉ. प्रसाद के मित्रों की संख्या कम नहीं थी और गृहस्थी का सँभालना बड़ा काम था। आदमी के जीवन में उसका मूल्य पूरी तौर से नहीं मालूम होता। पर उसके न रहने पर अभाव बुरी तरह से खटकता है। लक्ष्मीदेवी का देहान्त हो जाने पर डॉ. प्रसाद को अपने भीतर और बाहर एक तरह की शून्यता का अनुभव होता है। लड़कियाँ ब्याह कर अपने पतियों के साथ चली गईं। पुत्र अपने काम पर बम्बई रहता है। अपनी परिमार्जित सुरुचि का उपयोग करके उन्होंने एक बहुत सुन्दर बँगला बनवाया, जिसमें अकेले रहने में वह खोये-खोये-से मालूम होते हैं। यद्यपि उनके योग्य विद्यार्थी अपने गुरु के पास अधिक समय रहते हैं, पर खाने-पीने की हरेक चीज के लिए रोज-रोज बैरा-खानसामा को कहना, नून-तेल लकड़ी की फिकर करना, यह बड़ी कुढ़नवाली बातें हैं। अब मालूम होता है कि इस अवस्था में जीवन-संगिनी की जरूरत पड़ती है।

हम दोनों की विद्या-सम्बन्धी रुचि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में है, जिनके कारण एक-दूसरे को लाभ नहीं पहुँचा सके, पर मधुर सम्बन्ध से अवश्य कुछ समय के लिए प्रसन्नता होती है।

41
गेशे धर्मवर्धन

तिब्बती गेशे का शब्दार्थ कल्याणमित्र (धर्मभाई) है। तिब्बत में न जाने क्यों यह उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसमें हमारे यहाँ शास्त्री या पण्डित का शब्द। गेशे का नाम गेन्-दुन् छोम्फेल अर्थात् संघधर्मवर्द्धन। संक्षेप में हम उन्हें धर्मवर्द्धन या गेशे कहेंगे। वस्तुतः मैं उन्हें गेशे कह करके ही सम्बोधित करता था।

गेशे से पहिले-पहिल मेरा परिचय 1934 ई. की गर्मियों में ल्हासा में हुआ। वह तिब्बत के सबसे बड़े

विहार डेपुङ् के सबसे बड़े पण्डित गेशे शेरब् के शिष्य थे। गेशे दर्शन के महापण्डित थे। उनका विद्यार्थी दर्शन का विद्यार्थी ही हो सकता था। पर हमारे गेशे केवल दर्शन के विद्यार्थी ही नहीं थे। वह तिब्बती भाषा के एक सुन्दर कवि थे, इस बात को थोड़े ही आदमी जानते थे। पर, उनके चित्रों के कौशल को जाननेवाले और भी अधिक थे। उन्होंने परम्परा से चली आई तिब्बती चित्रकला को सीखा था और उस पर अधिकार प्राप्त किया था। नई चित्रकला को भी सीखने में उनको देर नहीं लगती थी। एक कुशल चित्रकार होने के कारण ल्हासा में उनका जीवन बड़े आराम से कटता था। बड़े-बड़े सामन्त चित्र बनाने के लिए उनकी खुशामद करते थे। पर, गेशे धर्मवर्द्धन ने सुखी जीवन को कभी वरण नहीं किया।

उनका जन्म इस शताब्दी के आरम्भ में अम्दो में हुआ था, जो तिब्बत का सबसे उत्तरी भाग है और जो प्रायः सदा सीधे चीन के भीतर रहता आया। अम्दो-जाति भाषा के लिहाज से यद्यपि तिब्बती जाति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है, लेकिन अपने तंगुत नाम से वह इतिहास में तिब्बत से पहिले ही से प्रसिद्ध चली आई। उसका मुख्य स्थान पूर्वी सिङ्क्याङ् में ह्वाङ्-हो नदी की उपत्यका थी। चौथी-पाँचवीं सदी में ही यह जाति काफी संस्कृत हो गई थी और उसमें बौद्ध धर्म का अच्छी तरह प्रवेश हो गया था। तिब्बत में इसके तीन सौ वर्ष बाद बौद्ध धर्म गया, ल्हासा राजधानी स्थापित हुई और तिब्बती लोगों ने उच्च संस्कृति का क-ख सीखा। अम्दो लोग आज भी अपनी वीरता, विद्वत्ता और प्रतिभा के लिए सारे तिब्बत में प्रख्यात हैं। टशील्हुन्पो के महान् लामा पणछेन् रिम्पोछे अपने विहार के गौरव बढ़ाने तथा विद्वत्ता को तीव्र करने के लिए अम्दो से तीन-चार पण्डित अपने साथ लाये थे। मेरी यात्राओं में उनमें से सिर्फ एक समलो-गेशे रह गए थे। देखादेखी तत्कालीन दलाई लामा ने भी अम्दो से विद्वान् बुलाये, जिनमें गेशे शेरब् रह गए थे। गेशे शेरब् से मेरी बहुत बातचीत होती थी। वह सिर्फ शास्त्रों के ही पण्डित नहीं थे, बल्कि दुनिया की बातों को भी समझते थे। चीन में माओ चे-तुंग और कम्युनिस्ट पार्टी की सफलताओं का स्वागत पहिले-पहिल उन्होंने ही किया और तिब्बत नये युग का स्वागत करे, इसके लिए पहिले से ही कोशिश करते रहे। आज के पणछेन् लामा और दलाई लामा दोनों ही अम्दो-पुत्र हैं।

इससे मालूम होगा कि गेशे धर्मवर्द्धन जिस तंगुत जाति में पैदा हुए थे, वह अपनी एक बहुत पुरानी भव्य परम्परा रखती है। सभी धर्मों में प्रायः साधु और मठ पाये जाते हैं। गृहस्थों का उत्तराधिकारी पुत्र-पौत्र होते हैं, लेकिन साधुओं के उत्तराधिकारी उनके शिष्य माने जाते हैं। इस बारे में तिब्बत ने 'तीन लोक से मथुरा न्यारी' की कहावत का अनुगमन किया है। वहाँ साधु का उत्तराधिकारी शिष्य नहीं, बल्कि उसका अवतार होता है। लामा का तिब्बती भाषा में अर्थ गुरु या महन्त है—हरेक तिब्बती को हमारे लोग लामा कहकर अपना उपहास कराते हैं। दलाई लामा या पणछेन् लामा जब मर जाते हैं, तो तलाश की जाती है कि उनका अवतार—जन्म—कहाँ हुआ। फिर उस अवतार बालक को ढूँढ़कर उसे गद्दी पर बैठाते हैं। अवतार होना सरासर झूठी बात है और उत्तराधिकार की सम्पत्ति के अनुसार बालकों के चुनाव में धोखा-धड़ी से भी अधिक काम लिया जाता है। तिब्बत में हजार के करीब ऐसे लामा हैं, जिनका उत्तराधिकार अवतार द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाता है। यह अवतार-परम्परा वहाँ के चारों बौद्ध-सम्प्रदायों—जिग्मापा, कर्ग्युदपा, साक्याका, गेलुग्पा—में प्रचलित है। गेशे धर्मवर्द्धन जिग्मा सम्प्रदाय के एक अवतारी लामा थे। अम्दो में उनका मठ बहुत धनी नहीं था, तो भी उसमें काफी सम्पत्ति थी। वह आराम से अपनी जिन्दगी बिता सकते थे, लेकिन विद्या के प्रेम ने उन्हें वहाँ चैन से नहीं रहने दिया। काफी पढ़ने के बाद वह वहाँ से ल्हासा चले आये। जिग्मापा तिब्बत का सबसे बुराना बौद्ध-सम्प्रदाय है और गेलग्पा सबसे पिछला। दलाई लामा, पणछेन लामा और तिब्बत के डेपुङ्, सेरा, गन्दन्, टशील्हुन्पो जैसे महान् विहार भी गेलुग्पा-सम्प्रदाय के हैं, जिनमें पटन-पाठन की प्रणाली व्यवस्थित रूप से चलती है। गेशे धर्मवर्द्धन ने इस बात की परवाह नहीं की कि गेलुग्पा मठ में जाकर विद्यार्थी बनने से उनके जिग्मापा सम्प्रदायवाले क्या कहेंगे। वह गेशे शेरब् के शिष्य हो गए और उनके पास दर्शन और लक्षणशास्त्र पढ़ते रहे। जब उनकी चित्रकला की बात लोगों को मालूम हुई, तो उनकी आव-भगत बढ़ गई।

1934 ई. में दूसरी बार ल्हासा गया, तो गेशे शेरब् के यहाँ धर्मवर्द्धन से मुलाकात हुई, परिचय बढ़ा।

ऐसे विद्वान् और साथ ही साथ कलाकार से पुराने हस्तलेखों और चित्रों-सम्बन्धी मेरे अनुसन्धान में बहुत सहायता मिल सकती थी, इसलिए मेरा ध्यान उनकी तरफ आकृष्ट हुआ। वह भी मेरे साथ भारत में आकर कुछ देखना-सीखना चाहते थे। हम दोनों उसी वक्त साथी बन गए। अगस्त के शुरू में ल्हासा से उत्तर के प्रदेशों में अवस्थित पुराने बौद्ध-विहारों में मुझे जाना था। गेशे मेरे साथ चले। उनके लिए वह कोई उतनी तकलीफ और खतरे की यात्रा नहीं हो सकती थी, क्योंकि उनकी जन्मभूमि ही थी, जहाँ से महीनों-डेढ़-महीनों में ल्हासा आना पड़ता और रास्ते में डाकुओं का हर वक्त खतरा रहता। आज वह रास्ता और खतरा स्वप्न की बात हो गई है और अम्दो से डेढ़ महीने की यात्रा दो-चार दिन में मोटर द्वारा बड़े आराम से हो जाती है। हम कई मठों में होते अन्त में 11वीं शताब्दी में स्थापित रेडिङ्-मठ में गए। बरसात तिब्बत में होती ही कम है। उसी समय प्राचीन चित्रपट हवा और गर्मी दिखाने के लिए बाहर टाँगे गए थे। गेशे ने देखा, तो उनका दिल फड़क उठा। भारतीय कलम के चित्र थे और बहुत सम्भव है, भारत से ही ले जाये गए थे। उन्होंने चाहा, जल्दी-जल्दी रंगों के संकेत के साथ पेन्सिल से कापी कर लें, लेकिन रत्न की ढेरी पर साँप बैठे हुए थे, उन्होंने विघ्न डाल दिया।

ल्हासा के काम को खतम कर हम दोनों भारत की तरफ चले। रास्ते में कई तरह के कड़वे-मीठे अनुभव होते रहे। कहीं स्वागत होता और कहीं तिरस्कार। पर, प्राचीन तालपोथियों के पीछे इतने पागल थे कि हमें मान-अपमान का कोई सवाल नहीं था। कितने ही मान-अपमान के बाद जब एक तालपोथी दिखलाई पड़ जाती, तो निहाल हो जाते। गेशे संस्कृत नहीं जानते थे, तालपोथियों के महत्त्व को नहीं समझते थे, पर हमारे दर्शन-ग्रंथों को उन्होंने तिब्बती भाषा में पढ़ा था और मुझसे यह भी सुन लिया था कि यह ग्रंथ अब मूल संस्कृत में नहीं मिलते। इनकी भारत के लिए बड़ी आवश्यकता है। मेरी आँखों और हृदय से वह भी उन चीजों को देखते। टशी-ल्हुन्पो में उनके प्रदेशवासी समलो गेशे मिले। मैं अपने बुद्धिवादी स्वभाव से मजबूर था। इसलिए वैसी बातें मुँह से निकल ही जाती थीं। समूलो गेशे के सामने पृथिवी के गोल होने की बात चली आई। हमारे देश की बहुत पुरानी परम्परा इसे मानती नहीं थी। समूलो गेशे का आक्षेप उचित था—मैं एक आस्तिक बौद्ध होते कैसे बुद्धवचन के खिलाफ बोल रहा था। आस्तिक-नास्तिक में सामंजस्य स्थापित करने के लिए मैं तैयार था। गेशे धर्मवर्द्धन और कनौर के भिक्षु रघुवर छोंजेला भी साथ रहते इन बातों को सुनते थे और उनके ऊपर भी असर पड़ा था। रघुवर मेरी पहिली तिब्बत-यात्रा ही में मिले थे। अपनी जन्मभूमि से आकर दस-बारह वर्ष वह यहाँ पढ़ते रहे और लौटकर अपने यहाँ काम करने की बड़ी-बड़ी उमंगें बाँधे हुए थे; किन्तु देश में पहुँचने के बाद वह ज्यादा दिन नहीं रहे।

मेरी तिब्बत यात्रा हमेशा कड़वी-मीठी रहती रही। कड़वी भी होती तो चरम सीमा की और मीठी होती, तो वह भी हद दर्जे की। कहीं हम दोनों को सवारी के लिए घोड़े मिलते, गृहपति का हार्दिक स्वागत प्राप्त होता और कहीं पैदल चलने पर भी सामान उठा ले चलनेवाला कोई न मिलता। घर में तीन हाथ जगह मिलनी मुश्किल हो जाती। लेकिन, यह दूसरी तिब्बत-यात्रा अत्यन्त सफल रही। कई दर्जन प्राचीन तालपोथियाँ (संस्कृत) मैंने देखीं। उनमें से कितनों का फोटो लिया, कितनों को अपने हाथ से उतारा। मैं इस तरह अपने काम में लगा रहता और समय बीतते देर नहीं लगती। गेशे को उतना काम नहीं था, लेकिन वह भी कभी उकताये नहीं। अपरिचित जगहों में उनके जैसे सुशिक्षित-सुसंस्कृत भिक्षु से बहुत सहायता मिलती थी। शेर साक्या आदि होते हम नेपाल के रास्ते भारत लौटनेवाले थे। तिब्बत में 'प्रमाणवार्तिक' की कोई पूरी पुस्तक नहीं मिली, सिर्फ तीन परिच्छेदों के भाष्य में पूरी कारिकाएँ प्राप्त हुईं। नेपाल में माहिला गुरु (पं. हेमराज शर्मा) को प्राप्त हुई 'प्रमाणवार्तिक' की तालपोथी के फोटो मिले। उनमें पृष्ठों के स्थान जीर्ण-शीर्ण होकर खतम हो गए थे। इस समय गेशे के ज्ञान का हमें लाभ हुआ। संस्कृत की एक पाँती का तिब्बती में अनुवाद करने पर वह तिब्बती प्रति से उस कारिका को निकालकर रख देते। हमें पृष्ठों को क्रम से लगाने में बड़ी आसानी हुई। दस पत्र लुप्त थे, पर तो भी यह सफलता कम नहीं थी। लुप्त अंश भी दूसरी जगह से मिल गए और कुछ को मैंने तिब्बती से संस्कृत में करके जोड़ दिया। हम भारत आये। सुदूर ह्वाङ्-हो नदी की उपत्यका के पण्डित और

कलाकार गेशे बुद्ध की भूमि को देखने के लिए बहुत लालायित थे। गेशे का वर्षों का सपना सफल हुआ। मैं उन्हें अपने साथ भारत के सभी मुख्य-मुख्य बौद्ध-तीर्थों में ले गया। उन्हें संस्कृत पढ़ाना शुरू किया, किन्तु उसकी तरफ उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं थी। वह जहाँ जाते–विशेषकर बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी स्थानों में–उसका काव्यमय वर्णन करते। कुछ चित्र भी बनाते। कालिदास की अमर कृति 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का उन्होंने तिब्बती में अनुवाद करना शुरू किया, लेकिन उसे पूरा नहीं कर पाये।

अब मेरी स्थिति डाँवाडोल हो गई। फिर राजनीति में प्रवेश करके किसान-सत्याग्रह का नेतृत्व करने लगा। यह कांग्रेस-सरकार से मुठभेड़ थी। 1939 ई. के आरम्भ से ही मैं जेल आने-जाने लगा, लेकिन, इस बीच गेशे का परिचय भारत से हो गया। गर्मियों में वह दार्जिलिंग चले गए। उन्हें निरीह होने की आवश्यकता नहीं थी। विद्या की न भी पूछ हो, चित्रकला से कहीं भी जाकर वह निश्चिन्त तौर से रह सकते थे। उन्होंने दार्जिलिंग में रहते किसी से सहायता लेकर गीता के कुछ भाग का तिब्बती में अनुवाद किया और वह छपा भी। फिर रोयरिक-परिवार से परिचय हुआ और वह कितने ही समय तक नगर (कुल्लू) में जाकर रहे। उनसे लिखा-पढ़ी करनी उनके लिए अच्छी न होती, क्योंकि वह विदेशी थे, और मैं सरकार का कोपभाजन। बहुत वर्षों बाद उनका एक पत्र 29 दिसम्बर (1943) को नगर से आया, जिसमें लिखा था, "मैं दो साल तक लंका में घूमता रहा। अमेरिका जाने का निमंत्रण आया था, लेकिन युद्ध के कारण नहीं जा सका।" गेशे ने अब अंग्रेजी काफी सीख ली थी और नगर में रहकर डा. जार्ज रोयरिक के अनुसन्धान-कार्य में सहायता दे रहे थे। 1944 के अक्तूबर में भारत से मैं चला गया और रूस में 15 मास रहकर सितम्बर, 1945 में भारत लौटा। पता लगा, गेशे तिब्बत चले गए।

तिब्बत में उनको बड़ी साँसत सहनी पड़ी। वह साम्यवाद के पक्षपाती हो गए थे, उनकी लेखनी इसे छिपाने में समर्थ नहीं थी। पिछले बारह-तेरह वर्षों में वह कितनी ही चीजें लिखते रहे। उनके परिपक्व ज्ञान से उनका देश लाभ उठाये, इस खयाल से ल्हासा में उनकी कोई पुस्तक छपी। उनके विचार वहाँ के अधिकारियों को मालूम हुए। चीन में कम्युनिस्टों और चांग-काइशक का संघर्ष चल रहा था। गेशे को लाल (कम्युनिस्ट) समझकर जेल में डाल दिया गया, ऊपर कोड़े पड़ते रहे। ल्हासा की उस समय की जेल-यातना यम-यातना से कम न थी। ऐसी कोठरी में कैदियों को बन्द किया जाता, जिसमें कभी सूर्य की रोशनी नहीं पहुँच सकती थी, हवा भी छोटे दरवाजे के रास्ते कुछ चली जाती थी। ऊपर से समुद्र-तल से ग्यारह हजार फुट से अधिक ऊँचे स्थान की सर्दी। गेशे शरीर से यद्यपि स्वस्थ थे, पर थे दुबले-पतले। यह खबर मिलने पर मुझे बड़ी चिंता हुई। 1949 ई. के आरम्भ में ल्हासा सरकार के एक प्रभावशाली मन्त्री–शोगङ् शाबे के अनुज भारत में किसी काम से आये। उनसे मुलाकात होने पर मैंने समझाया, "गेशे ऐसा विद्वान् मिलना मुश्किल है। उनसे आप तिब्बत का इतिहास लिखवाइए। उनके साथ अच्छा बर्ताव करने का फल आपके लिए भी अच्छा होगा। कम्युनिज्म को चीन से तिब्बत में पहुँचने से कोई नहीं रोक सकता। उस वक्त इस आदमी की मित्रता काम आयेगी।"

1949 ई. के प्रायः सारे साल मैं कलिम्पोंग में तिब्बत के दरवाजे पर रहा। जेनरल शोगाङ् से अक्सर मुलाकात होती रही। उन्होंने कहा–"गेशे अब जेल में नहीं हैं।" यह भी मालूम हुआ कि उन्हें इतिहास लिखने का काम सौंपा गया है, हाँ, नजरबन्द रहते वह ल्हासा से बाहर नहीं जा सकते। डा. जार्ज रोयरिक भी अब कलिम्पोंग में रहने लगे थे। उन्हें भी बड़ी प्रसन्नता हुई; पर हमारी प्रसन्नता देर तक नहीं रही। कुछ ही महीनों बाद मालूम हुआ कि वह अद्भुत विद्वान् और कुशल कलाकार, सुन्दर कवि और साम्यवाद का समर्थक अपने सारे अरमानों को लिए इतनी कम उम्र में चल बसा।

गेशे का काम करने का समय अब आया था। कुछ ही महीनों बाद कम्युनिस्ट तिब्बत में पहुँचनेवाले थे। उस वक्त गेशे की लेखनी और वाणी अपने देश के पुनरुज्जीवन में कितनी सहायक होती ?

42
डो-नीर-छेन्-पो

डो-नीर-छेन्-पो का अर्थ है महासचिव। कुबले खान ने तिब्बत का राज्य अपने गुरु फग्-फा को प्रदान किया था, जो कि साक्या के महन्तराज थे। 13वीं सदी के मध्य से प्रायः सौ साल तक साक्या के महन्तराज तिब्बत के प्रभु हुआ करते थे। फिर समय बदला और राज्यशक्ति दूसरे के हाथ में चली गई, पर साक्या के महन्तराज केवल शासक ही नहीं, बल्कि एक प्रभावशाली बौद्ध सम्प्रदाय के पोप भी थे। इसलिए उनका प्रभाव खतम नहीं हुआ। आज भी दलाई लामा पणछेन लामा के बाद उनका सम्मान सबसे ज्यादा है। साक्या ने भारतीय ग्रन्थों के तिब्बती में अनुवाद करने का बहुत बड़ा काम किया और मुझे तिब्बत में जो संस्कृत की तालपोथियाँ मिलीं, वह सब साक्या की थीं और करीब-करीब बराबर-बराबर शलु, ङोर और साक्या के मठों में बँटी हुई थीं। एक सम्प्रदाय के पोप होने के साथ-साथ शाक्या के पास बहुत बड़ी जागीर थी, जिसे हमारे यहाँ की देशी रियासत जैसा समझना चाहिए। उसके अपने मन्त्री थे और महासचिव तथा दूसरे अफसर भी थे। मेरे मित्र महासचिव थे। इसी से वह डो-नीर-छेन्-पो के नाम से प्रसिद्ध हैं। साक्या से डेढ़ दिन के रास्ते पर उनका गाँव चाङ्-गो-वा था। उसके कारण उन्हें चाङ्-गो-वा भी कहते थे।

मेरी तिब्बत की दूसरी यात्रा तालपोथियों की खोज के लिए हुई थी। पता लगा था, साक्या में बहुत-सी पुस्तकें हैं, इसलिए मैं वहाँ जाने का संकल्प कर चुका था। ङोर में तालपोथियाँ हैं, इसका पता वहाँ के एक लामा से 1926 ई. में लदाख में मिल चुका था। उनके पास किसी पोथी के कुछ पत्रे थे, जिन्हें उन्होंने मुझसे पढ़ाना चाहा था और बताया था कि हमारे मठ में बहुत-सी तालपोथियाँ हैं। उन्होंने अपने मठ का नाम एवं बतलाया था। ङोर एवं के नाम से प्रसिद्ध नहीं है, इसलिए कोशिश करने पर भी मैं मठ का पता नहीं लगा सका। किसी ने ङोर में तालपोथियों के होने की सूचना दी। इस प्रकार लदाख की सूचना से बिना लाभ उठाये मैं ङोर पहुँचा। ङोर में हम आशा-निराशा के झूले में झूलते रहे। तालपोथियाँ जिस कोठरी में थीं, उसकी चाबी एक महानिकम्मे आदमी के हाथ में थी, जो तरह-तरह से बहाना करता था। खैर, किसी तरह कुफ्र टूटा, कुफ्ल (ताला) खुला और इकट्ठा तालपत्र के 30-35 बण्डलों को देखकर मेरी आँखें चौंधिया गईं। पहिली बार इतनी तालपोथियों का दर्शन नहीं हुआ था। इससे कुछ ही दिनों पहिले वहाँ से एक दिन के रास्ते पर मैं शलू की पोथियाँ देख चुका था।

ङोर में कुछ लामाओं से परिचय और घनिष्ठता बढ़ी। रहने के लिए कोई दिक्कत नहीं थी, पर सबसे बड़ी कठिनाई ईंधन की होती थी। वहाँ इसका सदा अकाल रहता है। तिब्बत के पहाड़ वृक्ष-वनस्पति से रहित बिल्कुल नंगे होते हैं, उनसे ईंधन मिल नहीं सकता। वहाँ सिर्फ कण्डे ईंधन का काम देते हैं। ङोर काफी बड़ा मठ था। इसलिए शायद पर्याप्त कण्डे उसको नहीं मिलते थे, और जिनके पास होते, वह उसे सोने की तरह हिफाजत करके रखते।

पुस्तकों के देखने से यद्यपि हम कृतकृत्य थे, पर ङोर में जिस कठिनाई से रहना पड़ा, उसके कारण दूध के जले को छाछ की बात याद आती थी। वहाँ से किसी ने साक्या की डो-नीर-छेन-पो के लिए पत्र लिख दिया था, तो भी हमारे मन को संतोष नहीं था। गेशे गेनदुन् छोय-फेल और मैं 11 अक्टूबर (1934 ई.) के अपराह्न में साक्या में डो-नीर-छेन्-पो के दरवाजे पर पहुँचे। भालू की तरह विशाल बँधे हुए कुत्ते ने 'हाउ-हाउ' करके हमारा स्वागत किया। आदमी ने आकर कुत्ते को पकड़ा और हम ऊपर कोठे पर डो-नीर- छेन्-पो के पास गए। चिट्ठी पढ़ने से पहिले ही उन्होंने दिल खोलकर हमारा स्वागत किया। पीछे दो बार और मुझे साक्या जाना पड़ा और अन्तिम बार और कहीं छोड़कर उन्हीं के घर में ठहरा। डो-नीर-छेन्-पो उसी तरह खुलकर स्वागत करते और हर तरह की सहायता करने के लिए तैयार रहते।

तिब्बत में शताब्दियाँ महीनों जैसी मालूम होती हैं। पीढ़ियों से एक घर का दो घर नहीं बनने

पाता—बहुपति-विवाह का यह वरदान है। इसके कारण घर बहुत कम बिगड़ते हैं, और सात पीढ़ी पहिले की मूल्यवान् या स्मारक वस्तुएँ घर में पड़ी रहती हैं। मिट्टी की छत और मिट्टी-पत्थर की दीवार के घर जीर्ण होते हैं और नये बनते रहते हैं। लेकिन, घर की सामग्री फिर पूर्ववत् रख दी जाती है। हर पीढ़ी, जो कुछ नवनिर्माण करती है, वह भी साथ में ही आगे चलता रहता है। डो-नीर-छेन्-पो का अपना विशाल मकान चाङ्-गोवा गाँव में था, लेकिन यहाँ पर भी दो आँगन की तिमंजिला इमारत थी। कुछ चौरियाँ और गायें दूध देने के लिए रहती थीं। कई नौकर-चाकर थे। बिचली मंजिल पर कंजुर-ल्हाखङ् था। ल्हाखङ् का मतलब देवालय या मन्दिर है। इसमें बुद्धवचन समझी जानेवाली 103 पोथियाँ—कंजुर—रक्खी हुई थीं, इसलिए इसका यह नाम पड़ा था। कंजुर की पोथियों के अतिरिक्त बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियाँ भी वहाँ मौजूद थीं। काफी लम्बा-चौड़ा कमरा था। उसी में हम दोनों को आसन दिया गया। चिट्ठी यदि न भी होती, तो भी हमारा इसी तरह स्वागत होता, यह विश्वास हो गया। वह बड़े सुशिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति थे। तिब्बती-साहित्य का अच्छा ज्ञान रखते थे। गेशे से बातचीत होते ही वह उनके भक्त हो गए और मुझे भारतीय विद्वान् लामा होने की वजह से उनके हार्दिक सम्मान के पाने में देरी नहीं हुई। वह साक्या रियासत के सर्वोच्च अफसर थे। वस्तुतः मन्त्री (शाबे) बनाने का प्रस्ताव कई बार महन्तराज ने किया था, पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि साक्या के वह बहुत प्रभावशाली व्यक्ति थे। वह वैद्यक भी जानते थे और रोगियों की मुफ्त दवा करते थे। इस समय उनकी आयु 60 के करीब रही होगी। उनकी पत्नी छेरिङ्-पलमो (दीर्वायुश्री) भी बड़ी संस्कृत और साक्षर महिला थीं। दोनों को कोई सन्तान नहीं हुई। उन्होंने अपने साले को उत्तराधिकारी बनाकर दोनों घरों को एक कर लिया था, पर साले की भी कोई सन्तान नहीं थी।

मेरे आने का उद्देश्य मालूम होने पर उन्हें और भी हर्ष हुआ, और बोले—"हाँ, यहाँ ताल की पोथियाँ बहुत हैं।" हमने उस समय विश्वास कर लिया।

साक्या विहार की स्थापना 1073 ई. में हुई थी, वहाँ की सबसे पुरानी इमारतें बारहवीं-तेरहवीं सदी तक हमें ले जाती थीं। यह बतला चुके हैं कि तेरहवीं-चौदहवीं सदी में साक्या तिब्बत की राजधानी रही। पहाड़ की जड़ में साक्या नदी बहती है, जिसके दाहिने किनारे मठ और बस्ती है, बाएँ किनारे थोड़ा हटकर कुबले खान के गुरु फग्-फा का बनवाया विशाल विहार (ल्हाखङ् छेन्मो) उसकी प्रभुता और क्षमता के अनुरूप था। साक्या का वैभव तेरहवीं सदी के आरम्भ में बढ़ना शुरू हुआ, जबकि नालन्दा और विक्रमशिला के ध्वस्त होने पर भारत के संघराज शाक्या श्रीभद्र अपने-अपने कुछ अनुगामी पण्डितों के साथ वहाँ के सामन्त के निमन्त्रण पर साक्या पहुँचे और सामन्त के ज्येष्ठ पुत्र आनन्दगर्भ उनके भिक्षु शिष्य बने। आनन्दगर्भ साक्या पणछेन् (साक्या महापण्डित) के नाम से ज्यादा प्रसिद्ध हैं। वह तिब्बत के दो-तीन सबसे बड़े पण्डितों में थे। अपने भारतीय गुरु से उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया था। उनके शिष्य और भतीजे लामा फग्-फा थे, जिनके प्रभाव में आकर कुबले खान ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। कितने ही दिनों तक साक्या की गद्दी पर भिक्षु बैठते रहे जो साक्या पणछेन् के रक्तसम्बन्धी ही होते थे। पर, पीछे कोई महन्त गृहस्थ हो गया, इसलिए गद्दी गृहस्थ की हो गई। कुछ समय बाद दो भाई अलग-अलग हो गए और उनके दो प्रासाद—डोलमा फोटाङ्, फुन्छोग् फोटाङ्—बन गए। अब नियम बन गया कि महन्तराज के मरने पर वह बारी-बारी से गद्दी पर बैठें। इस समय गद्दी पर डोलमा फोटाङ् (तारा प्रासाद) के थे, जिनके साथ डो-नीर-छेन्-पो की बहुत पटती थी।

डो-नीर-छेन्-पो ने, मेरी ओर से महन्तराज को एक अर्जी लिखकर तैयार की, जिसमें आने का उद्देश्य तथा पुस्तकालयों के देखने की आज्ञा माँगी गई थी। वह खुद हमारे साथ महन्तराज के पास गए। महन्त 63 साल के थे। अपने सबसे प्रभावशाली अधिकारी की सिफारिश को वह वैसे भी मानते, पर वह थे भी बहुत अच्छे आदमी। उन्होंने पुस्तकों के देखने का सारा सुभीता कर दिया।

डो-नीर-छेन्-पो और दूसरे अधिकारी जो विहार को भारतीय पोथियों को खान समझते थे, वह गलत साबित हुए। यह उक्त विहार में भारतीय संघराज अपने साक्या-निवास के समय टहरे थे और यहाँ आनन्दध्वज ने उनके चरणों में बैठकर अध्ययन किया था। अँधेरे बड़े-से कमरे में जाने पर देखा कि दीवार के सहारे ईंट

की छल्लियों की तरह हाथ की लिखी पुस्तकें रक्खी हैं। कुछ ऊपर रक्खी काठ की पट्टियों पर कुण्डली बनाई हुई बहुत-सी चीनी पुस्तकें थीं। इन्हीं के कारण भारतीय पुस्तकों के होने का भ्रम हुआ था। तिब्बती भाषा में ग्यगर (भारत) और ग्यनक (चीन) दोनों का संक्षेप होता है, और पोत् पोथी का बिगड़ा रूप है। ग्यपोत् असल में चीनी पोथी के लिए था, पर लोग उसे ग्यगरपोत् समझने लगे। अँधेरे कमरे में चिराग की रोशनी से हम गौर से उन पोथियों को देख रहे थे। बहुत-सी पोथियों के बीच में एक ताल की पोथी मिली। कुछ आशा बढ़ी पर और कोई तालपोथी नहीं मिली। गेशे ने ऐसी ही एक पोथी को निकाला, तो वह 'प्रमाणवार्तिक भाष्य' का आधा भाग मिला, जिसे शाक्य श्रीभद्र के शिष्य विभूतिचन्द्र ने अपने हाथ से लिखा था। साक्या आना निष्फल नहीं हुआ, यद्यपि उस समय उस निधि का पता नहीं लग सका, जिसे तीसरी यात्रा में हमने देखा।

हमारे पास कैमरा था, लेकिन न उसके लिए पूरी सामग्री थी, न फोटो खींचने में हमने निपुणता प्राप्त की। फोटो खींचकर जब तक वहीं धोकर देख न लिया जाय, तब तक विश्वास नहीं किया जा सकता था। यदि एक प्लेट भी ठीक नहीं उतरती, तो पुस्तक खण्डित होती। हमने निश्चय कर लिया कि भाष्य के कुछ अंश को उतार करके यहाँ से चलना चाहिए और सत्रह दिन के लिए हम वहीं डट गए। डो-नीर-छेन्-पो और उनकी चाम् कुशो (रानी) ने हम लोगों का अच्छी तरह रहने का प्रबन्ध किया। उतारने के समय के अतिरिक्त बीच-बीच में हम साक्या के भिन्न-भिन्न विहारों में जाते रहे। सात-आठ शताब्दियों के इस धर्मपीठ में बहुत-से विहार हैं। पहिले और भी रहे होंगे, इसमें शक नहीं। चिदौङ् प्रासाद में ग्यगर ल्हाखङ् (भारतीय मन्दिर) में छठी सदी से बारहवीं सदी की काँसे-पत्थर की भारतीय मूर्तियों की प्रदर्शनी-सी मालूम होती थी–28 मूर्तियाँ संगमरमर की थीं। वहाँ संवत् 1192 (1135 ई.) की एक जैन-मूर्ति भी देखी।

चाम् कुशो अपने नौकर-नौकरानियों पर नहीं विश्वास करती थीं और हमारे खाने-पीने का विशेष ध्यान रखती थीं। वह पूजा-पाठ में बहुत लीन रहती थीं। हमारे रहते समय उन्होंने तीन दिन का अवलोकितेश्वर व्रत (न्यूने) रक्खा। इस व्रत में पहिले दिन मध्यान्ह के बाद भोजन त्याग करना होता है, दूसरे दिन निराहार रह तीसरे दिन भोजन ग्रहण करते हैं। 20 अक्तूबर को चाम् कुशो का पारण था। वह पारण करके हमारे पास आकर बैठीं। मैं पुस्तक लिखने में लगा था और बीच-बीच में कोई दिलचस्प बात मिलती, तो मैं गेशे को सुनाता। कोई बात सुनकर गेशे हँस पड़े। चङ् चाम् कुशो ने पूछ दिया–"क्या बात है ?" मैंने कहा–"पोथी की बात है, अर्थात् उसे सुनने में कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती।" लेकिन, वह कहीं छोड़नेवाली थीं, वह मूढ़ नहीं, चतुर स्त्री थीं। उनके आग्रह को हम ठुकरा नहीं सकते थे, लेकिन प्रज्ञाकर गुप्त की दार्शनिक भाषा को उल्था करने से पल्ले कुछ नहीं पड़ता, इसलिए मैंने कहना शुरू किया–"इसमें लिखा है कि पूजा-पाठ करना लड़कों का खेल है, निस्सार है।" चाम् कुशो बेचारी अभी-अभी व्रत करके उठी थीं। उन्हें यह बात रुचिकर कैसे मालूम होती ? मैंने कहना शुरू किया–"उदाहरण के लिए देखिए। मालकिन ने तीन दिन का न्यूने व्रत रक्खा। आज पारण का दिन था। नौकरानी ने सूप बनाकर मालकिन के सामने रक्खा। शायद सूप फीका था या मालकिन का मिजाज ही झुँझलाया था। मालकिन ने सूप के प्याले को फेंक दिया और नौकरानी को चार चपत लगाई। कहिए, उस व्रत का क्या पुण्य हुआ ?"

चाम् कुशो एकाएक बोल उठीं–"मैंने मारा नहीं, सिर्फ थोड़ा गुस्सा हुई।"

मुझे घटना का कुछ पता नहीं था, यह बिल्कुल संयोग था कि बात उन्हीं पर घट गई। मैं पुजारिनों का मजाक करना चाहता था। मुझे यह भी सन्देह था कि शायद उनको यह बात पसन्द न आये; किन्तु दस दिन रहते-रहते इतनी बेतकल्लुफी हो गई थी कि मैंने उसे कह दिया। उन्होंने भारत के लामाओं की दिव्य दृष्टि और दिव्य शक्ति के बारे में बहुत सुन रक्खा था और अब वह उसे प्रत्यक्ष देख रही थीं।

साक्या में दूसरे प्रासाद (फुनूछोग् फोटाङ्) के लामा के पास हम दोनों स्वयं गए। डो-नीर-छेन्-पो से पटती नहीं थी, इसलिए उन्होंने जाना न पसन्द किया। गद्दीधर लामा से भी ज्यादा घनिष्टता हुई। वह बराबर कहते रहे, मैंने सुना है कि यहाँ तालपोथियाँ हैं। पर, वह यह नहीं बता सकते थे कि पचीसों देवालयों और पुस्तकागारों में से किसमें तालपोथियाँ हैं।

एक साल पहिले सिक्किम में अवस्थित अंग्रेज पौलिटिकिल एजेन्ट विलियमसन अपनी पत्नी के साथ साक्या गए थे। डो-नीर-छेन्-पो की चाम् कुशो कह रही थीं—"क्या है, अंग्रेज चाम् कुशो भिखमंगिन की तरह आई थी। न उसके कान में आभूषण थे, न कण्ठ में, न हाथ ही में। और पुरुष की तरह अपने ही कूदकर घोड़े पर चढ़ जाती थी।" चाम् कुशो का यह कहना विल्कुल ठीक था। तिब्बत में स्थान-स्थान के अनुसार आभूषणों में भेद होता है। साक्या और टशी-ल्हुन्पो चाङ् प्रदेश में है, जहाँ की स्त्रियाँ अपने सिर पर धनुष के आकार का आभूषण धारण करती हैं। चाम् कुशो के शिरोभूषण में 25-30 हजार की मोतियाँ, फीरोजे आदि लगे हुए थे।

अक्तूबर का अन्त नजदीक आ रहा था। जाड़ों के लिए हमें भारत लौटना था। देर करने पर डाँडी पर बर्फ ज्यादा पड़ जाती और फिर उनको पार करना आसान नहीं था। मैं भाष्य को पूरा उतार नहीं सका। फिर आने की आशा से 27 अक्तूबर को हम दोनों साक्या से रवाना हुए। डोङ्ला पार करने पर चाम् कुशो के भाई का गाँव मब्जा था, जहाँ से हमारे साथ चलने के लिए चार घोड़े मिल गए। साले-बहनोई दोनों ही खातिर करने में एक-दूसरे की होड़ लगाये हुए थे।

अधूरे काम को पूरा करने के लिए 1936 की 6 मई को मैं फिर साक्या पहुँचा। चाम् कुशो पूजा-पाठ करने के लिए एक दिन के रास्ते पर किसी दूसरे विहार में गई थीं। डो-नीर-छेन्-पो उनकी दूसरी पत्नी दिकिला और साले डो-नीर्-ला वहाँ मौजूद थे। मैंने पिछले साल जापान में गर्मियाँ बिताई थीं और वहाँ से कितने ही चित्र भेजे थे। मेरी चिट्ठी और चित्रावली डो-नीर-छेन्-पो को मिल गए थे। अब की कंजुर ल्हाखङ् में नहीं, बल्कि ऊपरी तल पर अपने रहने के कमरे के पास के कमरे में हमें जगह मिली। पुराने गद्दीधर मर गए थे और हमारे कृपालु फुन्छोग् फोटाङ् के लामा अब गद्दी पर बैठनेवाले थे। अभी सिंहासन पर बैठने में देर थी और प्रबन्ध सारा प्रासाद के दोनों लड़कों और उनकी माता के हाथ में था। 'प्रमाणवार्तिकभाष्य' का अवशिष्ट भाग लिखना तो निश्चित था। पर, उस दिन यह नहीं मालूम था कि यहाँ पोथियों की ऐसी निधि मिल जायगी कि मुझे 22 जुलाई तक ढाई महीने यहीं रह जाना पड़ेगा।

साक्या से तिब्बत के कुछ और मठों में जाकर 5 या 6 अक्तूबर को मैं फिर साक्या लौटा। असंग की महान् कृति 'योगचर्याभूमि' के फोटो पर मैं विश्वास नहीं कर सकता था, इसलिए वहीं बैठकर उतारने लगा। प्रतिदिन प्रायः 500 श्लोक ग्रन्थ लिख डालता था। 14 अक्तूबर को सर्दी काफी पड़ गई थी। रात को पाला मारने के डर से फूलों के गमलों को घर के भीतर रक्खा जाने लगा। तिब्बत के मध्य और उच्च वर्ग की कला के प्रति स्वाभाविक रुचि होती है, जो डो-नीर-छेन्-पो में थी। उन्हें फूलों और चित्रों का शौक था। 20 अक्तूबर को देखा, पास के पहाड़ों पर बर्फ पड़ गई है। जिन डाँडों को पार करके हमें भारत जाना पड़ता, वह इससे बहुत ऊँचे थे, इसलिए डर मालूम होने लगा। 21 अक्तूबर को 'योगचर्याभूमि' को हमने उतारकर खतम कर दिया।

अंग्रेज चामोलुङ्मा (एवरेस्ट) पर चढ़ने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। पिछले साल भी वह इसके लिए गए थे। तिब्बत की तरफ से चामोलुङ्मा पर चढ़ने में कुछ सुविधा थी, अंग्रेजों का प्रभाव दलाई लामा के ऊपर था, इसलिए उन्होंने उस तरफ से चढ़ने की आज्ञा ले ली थी। कुलियों की पल्टन सारा सामान लेकर एवरेस्ट की ओर जाती। बीच-बीच में कोई कुली गुम भी हो जाता और उसके पीठ की चीजें लोगों के पास पहुँचतीं। इन्हीं चीजों में एक बड़े शीशे-भर लन्दन का सिर्के में बना प्याज, खीरे आदि का अचार था। चाम् कुशो ने शीशे को दिखलाकर कहा—"यह क्या है ?" मैंने खोलकर उसमें से एक टुकड़ा खाते हुए बतलाया कि यह बहुत बढ़िया अचार है। लेकिन, चाम् कुशो के या घर के किसी आदमी को अंग्रेजों के अचार पर विश्वास नहीं हुआ और उन्होंने उसे जीभ से नहीं छुवाया। चाम् कुशो को शीशा बहुत पसन्द था। वह उसकी फिकर में थीं और अचार को मैंने ही खाकर सार्थक किया, शायद वह पूरा समाप्त नहीं हो पाया। चीजों में इंजेक्शन के-एम्पुलों की एक पेटी भी थी। डो-नीर-छेन्-पो ने उसके बारे में पूछा। मैंने कहा—"यह बीमारी में इंजेक्शन देने के लिए हैं।" उनके वैद्य का मन मचल पड़ा और पूछने लगे कि मैं अपने रोगियों पर क्यों न इसका प्रयोग

करूँ। मैंने कहा—"इसके देने के लिए एक खास तरह की सूई होती है, वह यहाँ नहीं है और होने पर भी बिना डॉक्टर की देख-रेख के देना खतर से खाली नहीं है। डो-मीर-छेन्-पो को बहुत अफसोस हुआ। यह तीसरी यात्रा पहिली दो यात्राओं से भी अधिक सफल निकली और डो-नीर-छेन्-पो के सौहार्द के उऋण होने की कोई आशा न रख करके मैं भारत लौटा।

अपनी चौथी तिब्बत-यात्रा में (1938 ई. में) 1-15 तिसम्बर तक मैं साक्या में रहा। अब दूसरे लामा गद्दी-धर हो गए थे, जिनका सम्बन्ध डो-नीर-छेन्-पो से अच्छा नहीं था, इसीलिए हम लामा के प्रासाद में ठहरे। डो-नीर-छेन्-पो उस समय मब्जा गए हुए थे। चाम् कुशो घर पर ही थीं। उनको मेरे वहाँ न ठहरने का क्षोभ होना ही चाहिए था, पर मैंने अपनी दिक्कत बतलाई। 15 सितम्बर को डो-नीर-छेन्-पो भी आ गए। मैं उनसे मिलने गया। मुझे अव फिर तिब्बत आने की आशा नहीं रह गई थी। मेरे मेहरबान मेजबान भी इतने बूढ़े हो गए थे कि फिर उनसे मिलने की आशा नहीं थी। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अब उनके घर में एक पौने दो वर्ष की लड़की आ गई थी, अर्थात् घर का नाम मिटनेवाला नहीं था। डो-नीर-छेन्-पो नये शासन से बहुत सन्तुष्ट नहीं थे। अब वह विश्राम लेना चाहते थे, लेकिन नये महन्तराज वैसा करने दें, तब ना ? कह रहे थे—"न मुझे जाने की स्वतन्त्रता मिलती है और न कोई काम ही मिलता है।" मैंने भारत आने के लिए कहा, तो उन्होंने बड़े करुण स्वर से कहा—"मुझे भारत के तीर्थों के दर्शन करने की बड़ा लालसा है, लेकिन छुट्टी कहाँ मिलती है ?"

15 सितम्बर को मैंने अपने सहृदय और परम उपकारी मित्र से छुट्टी ली। आज उसको अठारह वर्ष हो गए। सालों पहिले वह महाप्रस्थान कर चुके हैं, पर उनका उपकार और मधुर स्मृति कभी भूलने की नहीं।

43

साक्या दग्छेन्

दग्छेन् का शब्दार्थ है—महात्मा। महात्मा गाँधी से बहुत पहिले यह उपाधि साक्या के लामाओं की प्रसिद्ध हुई। शायद जब वह भिक्षु से गृहस्थ हो गए, तो उन्हें महात्मा कहा जाने लगा था। जिन साक्या दग्छेन् का मैं जिक्र कर रहा हूँ, वह फुन्छोग् फोटाङ् के स्वामी थे। उनका दर्शन पहिले-पहिल 1934 के अक्तूबर 14 को हुआ। उस समय तारा प्रासाद (डोल्मा फोटाङ्) के स्वामी साक्या गद्दी पर थे। उनके बाद हमारे दग्छेन् रिन्पोछे के गद्दी पर बैठने की बारी आनेवाली थी। वह अधिकारारूढ़ नहीं थे, और हमारी पुस्तकों की खोज में अधिक सहायता नहीं कर सकते थे, पर पहिले दिन से ही उन्होंने असाधारण सौहार्द दिखलाना शुरू किया। उनकी बड़ी इच्छा रहती थी कि मैं उनके यहाँ आता रहूँ। दो ही एक दिन के बाद दरबार गृह में नहीं, बल्कि अन्तःपुर में मेरी खातिर होने लगी। अच्छा से अच्छा भोजन तैयार करवाते। दामो (महन्तरानी) अपने पति की तरह ही खातिर करने में लगी रहतीं। यह तिब्बत के ऐसे धर्मगुरु थे, जिनके सामने मंगोलिया तक के बड़े-बड़े सामन्त और पंडित भी साष्टांग दण्डवत् करते थे और उनके सामने बहुत नीचे आसन पर बैठने में गौरव मानते थे। पर उनका बर्ताव बहुत ही आत्मीय था। वह परेशान होते थे, कैसे भारतीय भिक्षु का सम्मान किया जाय। उनका स्वभाव बालकों की तरह सरल था। दामो बड़ी व्यवहारकुशल थीं और एक तरह कह सकते हैं कि प्रासाद की सारी जिम्मेदारी उनके ऊपर थी। अधिकारारूढ़ तारा प्रासाद के स्वामी ने भी मेरे काम में सहायता की और उनकी दामो तथा दोनों पुत्रों से भी आत्मीयता स्थापित हो गई थी, पर इसमें शक नहीं कि फुन्छोग् फोटाङ् के स्वामी मुझे अपना खास मित्र समझते थे। मुझे बीच-बीच में समय निकालकर उनके पास जाना ही पड़ता था। वह कभी-कभी सूखा मांस, बढ़िया सत्तू, मक्खन और दूसरी चीजें हमारे निवासस्थान पर भेजते। जाने पर देश-देशान्तर की बातें पूछते। वह बराबर कहते रहे कि साक्या में बहुत-सी भारतीय पोथियाँ हैं, पर

पहिली यात्रा में बहुत ढूँढ़ने पर भी सिर्फ 'प्रमाणवार्तिकभाष्य' का आधा भाग और दो-तीन मामूली-सी पोथियाँ देखने को मिलीं।

दो साल बाद 1936 ई. की 6 मई को मैं अपनी तीसरी यात्रा में पहिले तिब्बत के भीतर साक्या के महाविहार में पहुँचा। पिछले गद्दीधर का अब देहान्त हो गया था। पर, अब भी प्रबन्ध उन्हीं के परिवार में था। मैं उनके यहाँ गया। वृद्धा दामो (महन्तरानी) और उनकी बहू ने बहुत खातिर की और सब तरह की सहायता देने की इच्छा प्रकट की। गद्दी पर बैठनेवाले दग्छेन् रिनूपोछे इस समय संघराज फग्-फा के बनवाये ल्हाखङ्-छेन्मो में गए हुए थे। जाने पर उसी तरह हँसते हुए उन्होंने स्वागत किया। ल्हाखङ्-छेन्मो में उस वक्त बहुत-से भिक्षु पाठ-पूजा कर रहे थे। ले जाकर वहाँ दिखलाया। लौटकर मैं भाष्य के अवशिष्ट भाग को उतारने में लग गया।

मेरे मेजबान डो-नीर-छेन्-पो के नये महन्तराज से अनबन होने का कारण यह था कि दग्छेन् रिनूपोछे के छोटे भाई ने अपनी सम्मिलित पत्नी से रुष्ट होकर अलग ब्याह कर लिया। दोनों प्रासादों में प्रतिद्वंद्विता रहती ही थी। डो-नीर-छेन्-पो तारा प्रासाद के अधिकारारूढ़ महन्तराज के विरुद्ध नहीं जा सकते थे। तारा प्रासादवाले छोटे भाई का समर्थन करते थे। तिब्बती कानून के मुताबिक राजा हो या रंक, किसी को अलग पत्नी करने का अधिकार नहीं है, और सब भाइयों को सम्मिलित होना आवश्यक है। यदि कोई इस नियम को तोड़ता है, तो उसे पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं मिल सकता, और ब्याह करते ही उसे बाट का भिखारी होने के लिए तैयार रहना चाहिए। लेकिन यह छोटा भाई भी साक्या के महन्तों के पवित्र खून का था, जिस पवित्र खून को अपनी लड़कियाँ देने के वास्ते तिब्बत के बड़े-से-बड़े सामन्त तैयार रहते हैं। छोटे भाई का सब काम गुनाह बेलज्जत साबित हुआ। थोड़े समय बाद वह मर गया–मेरे साक्या में पहिली बार पहुँचने से भी पहिले। उसकी दामो अब भी जीवित थीं और अपनी सौत या जेठानी के नीचे सिर झुकाने के लिए तैयार नहीं थीं। रियासत से उन्हें वृत्ति बँधी हुई थी, वह अलग मकान में रहती थीं। फुन्-छोग् फोटाङ् के दग्छेन् रिनूपोछे और उनकी पत्नी इस षड्यन्त्र में डो-नीर-छेन्-पो को भी सम्मिलित मानते थे; इसीलिए वह उन्हें फूटी आँखों भी देखना नहीं चाहते थे। मेरी विचित्र स्थिति थी। मैं डो-नीर-छेन्-पो का भी स्नेहपात्र था और दग्छेन् रिनूपोछे का भी।

मेरे लिए एक-एक क्षण का बहुत मूल्य था। मैं यह सोच पहिले साक्या आया था कि यहाँ 'प्रमाणवार्तिक भाष्य' को उतारकर दूसरे मठों में जाऊँ। एक दिन भी न जाने पर दग्छेन् रिनूपोछे के आदमी दौड़ने लगते थे, जब जाता तो चार-पाँच घंटे से पहिले छुट्टी कहाँ मिलती ? पहुँचते ही प्रतिहारी मुझे श्रीगर्भ में ले जाती। दग्छेन् रिनूपोछे और दामो रिनूपोछे वहीं कुर्सी मँगवाते। दोनों पुत्रियाँ–जेचुनूमा (भट्टारिकाएँ) चाय और खाने-पीने की चीजों के लाने में देर क्यों हो रही है, इसके लिए नौकरानियों को ताकीद करने में लग जातीं–प्रासादों की कुमारियों को जेचुनमा (भट्टारिका, महाराजकुमारी) कह करके पुकारा जाता है। कुबले खान के गुरु का यह वंश इतना पवित्र माना जाता है कि इस कुल की कन्या को कोई ब्याहने की हिम्मत नहीं करता और जेचुनूमाओं को आजन्म कुमारी रहना पड़ता। बचपन में ही उनके केश काट दिये जाते हैं, और वह भिक्षुणी के वेश में रहने लगतीं। माँ-बाप के समय तक वह अपने प्रासाद में रहतीं, फिर उन्हें बँधान के साथ कोई छोटा महल मिल जाता। ऐसे महल साक्या में बहुत-से थे। उनके पास नौकर-चाकर रहते, खाने-पीने का अच्छा प्रबन्ध होता। यह चिरकौमार्य सभी के लिए निबाहने की बात नहीं है, पर, निबाहना पड़ता ही। दग्छेन् रिनूपोछे की दोनों लड़कियाँ उस समय दस-बारह वर्ष की थीं। उनका पुत्र बहिनों से छोटा था। शायद आज (1956 ई.) वही साक्या का गद्दीधर है।

पुस्तक उतारने का काम समाप्त हो गया। मुझे अब ङोर की पुस्तकों के लिए जाना था। 21 मई को महन्तराज से प्रस्थान की बात करने गया। उन्होंने कहा–"ङोर जाने के लिए मैं घोड़े और आदमी दूँगा तथा तिब्बत के सभी साक्या सम्प्रदायवाले विहारों के लिए परिचय-पत्र भी।" महन्तराज ने उस दिन बहुत जोर देकर कहा–"साक्या में बहुत-सी तालपोथियाँ हैं। मैंने जो अपने बड़ों से सुना है, वह झूठ नहीं हो सकता।" इसी

सिलसिले में उन्होंने कहा कि एक बार आप ल्हाखङ्-छेन्मो के कोठे पर अवस्थित छगूपे-ल्हाखङ् (श्री पुस्तक मन्दिर) को खुलवाकर देख लें। अब मुझे एक नाम मिल गया था, जिसे यों ही छोड़ना नहीं चाहता था।

लौटकर मैंने डो-नीर-छेन्-पो से इसके बारे में कहा। उन्होंने तारा प्रासाद में जाकर श्री पुस्तक मन्दिर खुलवाने के लिए कहा। वर्षों से उसे खोलने की जरूरत नहीं पड़ी थी, इसीलिए कुंजी का पाना आसान नहीं था। पर 25 मई को खुशखबरी आई–कुंजी मिल गई, अधिकारी खोलने के लिए तैयार हैं। ल्हाखङ्-छेन्मो की सभी चीजें बड़ी हैं। दुनिया के सबसे बड़े सम्राट् कुबले खान के महागुरु ने जो इसे बनवाया था। मन्दिर के भीतर देवदार के विशाल खम्भे इतने मोटे हैं, जिनको एक आदमी अपनी अँकवार में नहीं भर सकता और इतने ऊँचे कि ऊपर की ओर देखने पर सिर की टोपी गिर जाय। श्री पुस्तक मन्दिर इसकी छत पर था। सीढ़ी सीधी और बहुत ऊँची थी। उतरते वक्त नीचे की ओर अगर आदमी देखे, तो उसका प्राण सूख जाय। पर हाथ पकड़ने के लिए वहाँ बाहियाँ मौजूद थीं। कोठे पर पहुँच दाहिनी ओर घूमने पर पहिली ही कोठरी थी, जिसका नाम श्री पुस्तक मन्दिर था। बाहर से देखने पर वह बिल्कुल मामूली मालूम होती थी। सैकड़ों वर्ष पुराना किवाड़ और चौखट विद्रूप-सा दिखाई देता था। ताले पर मुहर लगी थी। भिक्षु-अफसर ने मुहर तोड़ दी, ताले पर लिपटे कपड़े को अलग किया, कुंजी घुमाई, ताला खुल गया। किवाड़ों को पीछे की ओर ढकेला। न जाने कितने वर्षों की धूल जमी हुई थी। एक बार इतनी धूल उड़ी कि कोठरी में धुआँ-सा भर गया। जरा-सा ठहरकर हम भीतर घुसे। फर्श पर धूल की मोटी तह पड़ी हुई थी, जिस पर पैरों की छाप उतर आई। सामने बरांडा नहीं था, इसलिए दरवाजे से होकर काफी रोशनी भीतर जा रही थी। तितल्ले-चौतल्ले लकड़ी के कितने ही खुले रैक रक्खे हुए थे, जिनके ऊपर कपड़े में लिपटी या खुली हजारों पुस्तकें रक्खी हुई थीं। इनमें कितनी ही सात-सात, आठ-आठ शताब्दियाँ पुरानी ऐसी पुस्तकें थीं; जिन्हें तिब्बत के ऐतिहासिक विद्वानों ने अपने हाथ से लिखा या पढ़ा था। तिब्बती साहित्य और इतिहास के ये अनमोल रत्न हैं। लेकिन मुझे संस्कृत की तालपोथियों की आवश्यकता थी। इधर-उधर हाथ मारा, वह तालपोथियों पर पड़ा। इनके ऊपर कपड़ा नहीं लिपटा था। दो लकड़ी की तख्तियों के बीच में आर-पार छेद में मोटे डोरे डालकर बँधी ये पुस्तकें एक जगह मिलीं–एक, दो, तीन, चार··· बीस पोथियाँ निकल आईं। कुछ तिब्बती पोथियों के बीच से भी निकलीं।

मैंने खोलकर देखना शुरू किया। मेरे आनन्द की सीमा नहीं रही, जब देखा कि तालपत्र पर लिखा 'प्रमाणवार्तिकभाष्य' सम्पूर्ण में यहाँ मौजूद है। 'प्रमाणवार्तिक' के जिस परिच्छेद पर भाष्य नहीं, उस पर धर्मकीर्ति ने स्वयं टीका लिखी थी। उस टीका की कर्णक गोमीकृत विशद् टीका भी वहाँ मौजूद थी। असंग की अनमोल कृति तथा 'योगाचारदर्शन' की मूल पुस्तक 'योगचर्याभूमि' भी वहाँ थी। रंक ने मानो निधि पाई। अब मुझे वहाँ से हटने की जल्दी नहीं रह गई। अबके नेपाल से मेरे साथ आये न्यायाचार्य श्री अभयसिंह परेरा भाष्य के उतारने में सहायता कर रहे थे, पर अब उन्हें आगे भेजना आवश्यक हो गया था।

दग्छेन् रिन्पोछे के प्रति मैं शब्दों में कैसे अपनी कृतज्ञता प्रकट कर सकता था। उनका आग्रह न होता और पुस्तकालय का नाम उन्होंने न बतलाया होता, तो मैं साक्या से चला गया होता। कौन जानता है, फिर इन पुस्तकों को देखने का मौका चौथी यात्रा में भी मिलता और वह देर से ही सही, प्रकाशित होकर विद्वानों के सामने आतीं ? मैं डो-नीर-छेन्-पो के निवास पर ठहरा था। दग्छेन् रिन्पोछे का बहुत आग्रह हुआ कि हमारे यहाँ भी कुछ दिन ठहरें। मैं आज्ञा का पालन करते हुए 2 जुलाई को उनके प्रासाद में चला गया और 22 जुलाई तक वहीं रहा। तालपोथियों की सूची बनाई। कुल 27 पोथियाँ निकलीं। पहिले यहाँ सैकड़ों पोथियाँ रही होंगी, जिनमें से कितनी ही ङोर और शलू में मैंने स्वयं देखीं। हो सकता है, साक्या से सम्बन्ध रखनेवाले अम्दो और खम् के सुदूर प्रदेशों में फैले हुए कुछ विहारों में और भी पुस्तकें मिलें। 'प्रमाणवार्तिकभाष्य' का महाग्रन्थ जायसवाल रिसर्च इन्स्टिट्यूट (पटना) से प्रकाशित हो चुका है। उसकी महत्त्वपूर्ण अनुटीका प्रयाग से छप चुकी है। 'योगचर्याभूमि' के कितने ही भागों को महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य सम्पादित करके छपवा चुके हैं।

साक्या से ङोर जाने में फिर रोंआँ काँप रहा था। पिछली बार वहाँ ईंधन बिल्कुल दुर्लभ था। अबकी

बार मैं अकेला जा रहा था, गेशे धर्मवर्द्धन मेरे साथ नहीं थे। लेकिन, दगूछेन् रिनपोछे ने अपने तगड़े रसोइये को तीन खच्चर देकर मेरे साथ रवाना किया। ङोर, शलू आदि विहारों में अपना काम करके अक्तूबर के पहिले सप्ताह में मैं फिर साक्या लौटा। फिर दगूछेन् रिनपोछे का स्वागत-सत्कार प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जाड़ों के डर के मारे दो हफ्ते से ज्यादा वहाँ ठहरना अच्छा नहीं था। 30 अक्तूबर को मैंने भारत के लिए प्रस्थान किया। महन्तरानी ने सर्दी से बचने के लिए एक ऊनी गुलूबन्द और बहुत-सी खाने की चीजें दीं। सर्दी के जोर को देखकर तारा प्रासाद के छोटे भाई ने पोस्तीन का पायजामा जबर्दस्ती लेने के लिए मजबूर किया। अबकी तारा प्रासाद ने तीन खच्चर और अपना एक आदमी भारत की सीमा तक पहुँचा देने के लिए दिया था। मैं तिब्बत या कहीं की यात्रा में उसी रास्ते से जाकर लौटना नहीं पसन्द करता, अबकी बार मुझे सिक्किम से होकर लौटना था।

चौथी बार (1938, सितम्बर 1 से 15) तिब्बत से लौटते वक्त साक्या में फुन्छोग् प्रासाद में ठहरा। दगूछेन् रिनपोछे अब साक्या के महन्तराज थे और सारा प्रबन्ध उनके हाथ में था। यहाँ पुस्तकों के आने में सुभीता थी और हमें उनका फोटो लेना था। दगूछेन् रिनपोछे ने सब तरह का सुभीता प्रदान किया। वर्षों बाद इस प्रासाद के हाथ में प्रभुता आई थी, इसलिए पुरानी इमारतों की मरम्मत और नये घरों का निर्माण हो रहा था। बढ़ई, सोनार, चित्रकार काम में लगे हुए थे। सारे घर भरे हुए थे। तो भी हमारे लिए एक घर खाली करवा दिया। यही उनके अन्तिम दर्शन थे। वह भारत में तीर्थ-यात्रा के लिए आये। आने की सूचना तार द्वारा दी। लेकिन जब तक तार घूमता-घामता मेरे पास पहुँचे, तब तक वह लौट भी गए थे। मैं ऋण का कुछ मात्रा में भी प्रतिशोध नहीं कर सका।

44

जापानी मित्र : जुञ्जी सकाकिबारा

सकाकिबारा से पहिले-पहिल मेरी मुलाकात जर्मनी में 1932 के दिसम्बर में हुई थी। मैं बर्लिन के पास फ्रोनो में डॉ. पाल डाल के द्वारा बड़ी साध से बनवाये बौद्ध-विहार में ठहरा था। सकाकिबारा भी जापान से पढ़ने के लिए आ वहीं ठहरे थे। बौद्ध धर्म और संस्कृत की शिक्षा प्राप्त करने के लिए जापान से एक बौद्ध जर्मनी आये, यह आश्चर्य की बात नहीं थी। भारत ने बौद्ध धर्म को अपने यहाँ से विसर्जित करके अपने उस अधिकार को खो दिया था। हमारे लोग जब यूरोप जाने की सोचते, तो उनके सामने खर्च की समस्या उठ खड़ी होती है। जापान एक शक्तिशाली और स्वतन्त्र देश था। उसने यूरोप से सीखने की बहुत-सी चीजें सीख ली थीं और अब अपने उद्योग-धन्धों द्वारा यूरोप के व्यापार का प्रतिद्वन्द्वी था। पर जापानी लोगों का रहन-सहन यूरोप की तरह बहुत खर्चीला नहीं हुआ था। उद्योगपति प्रतिशत-लाभ बढ़ाने की जगह थोक बिक्री पर अधिक लाभ ज्यादा पसन्द करते थे। वह स्वयं बड़े ऐश-जैश की जिन्दगी बसर करते थे, पर अपने मजदूरों को वह उतना ही वेतन देते थे, जितना कि हमारे कारखानों के मजदूर पाते थे। ऐसे निम्न जीवन-स्तर में रहनेवाले आदमी के लिए यूरोप में जाकर रहने का स्वप्न देखना आसान बात नहीं थी। लेकिन, जापानी यूरोप में जाकर भी सादगी से रहने के लिए तैयार थे। सकाकिबारा को यह लाभ था कि वह बौद्ध विद्वान् थे, बर्लिन के पास एक जर्मन बौद्ध-विहार था, जिसमें उन्हें एक कोठरी रहने के लिए मिल गई थी। वह अपना भोजन स्वयं बना लेते थे।

फ्रोनो से एक दिन हम दोनों बर्लिन चले। मैं अपने भिक्षुओं के पीले चीवर में था और न जाने क्यों उस दिन सकाकिबारा ने अपना जापानी किमोनो पहिन लिया था। लोगों की नजर हमारे ऊपर गड़ रही थी। एक जापानी को उसकी क्या पर्वाह हो सकती थी ? जापान ने 27 वर्ष पहिले रूस को चारों खाने चित किया था और अब दुनिया की महाशक्तियों में गिना जाता था। उस समय कुछ ही दिनों तक हम साथ में रहे। सकाकिबारा

ने बहुत कहा–"आप एक बार जापान आयें।" मैंने भी कह दिया–"आऊँगा।" पर मेरा काम तो तिब्बत से था। वहाँ जाने पर तृप्ति नहीं होती थी, तो भी तिब्बत की दूसरी यात्रा समाप्त करने के बाद 1935 की मई में मुझे जापान जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

जापान में भाषा का सुभीता नहीं था। मैं जापानी नहीं जानता था और जापानवाले अंग्रेजी से अपरिचित थे। सकाकिबारा का पता (कोशियोजी मन्दिर, नाकाओकाची-माची) मुझे मालूम था। योकोहामा में जहाज से उतरकर रेल पकड़ टोकियो स्टेशन पर उतरा और सत्तर सेन (प्रायः नौ आना) पर पूरी टेक्सी ले शहर के गर्भ में इस मन्दिर में पहुँच गया। मैं सोचने लगा : इतना सस्ता तो बनारस में एक्का भी नहीं मिल सकता। सकाकिबारा को चिट्ठी भेज दी थी, किन्तु किस दिन आ रहा हूँ, इसकी खबर नहीं मिली। मेरे मित्र ने स्वागत करते हुए अपने घर में ठहराया। उनकी माँ और भी ज्यादा स्नेह दिखलाती थीं।

बौद्ध धर्म ने भारत और जापान के कितने ही शिष्टाचारों में एकता स्थापित की है। जापान बौद्ध देश है और परतन्त्र होने पर भी बुद्ध के देश के प्रति उसकी श्रद्धा अटूट है। जापान में चटाई पर सोते हैं। कुर्सी, पलंग, मेज का वहाँ रवाज नहीं है। शरीर, घर या नगर की सफाई में उनका मुकाबला दुनिया में कोई नहीं कर सकता। घर कितने हलके-फुलके होते हैं। दीवारों की जगह खम्भे रहते हैं, जिनको बाहर की ओर से खिसकाऊ लकड़ी के तख्ते रात को ढाँक देते। दिन में भीतर की ओर साफ कागज के मढ़े खिसकाऊ ढाँचे प्रकाश को न रोकनेवाली दीवार का काम देते हैं। जमीन पर एक बित्ता मोटी चटाइयाँ बिछी होती हैं, जिनके ऊपर सूती या रेशमी मगजी लगी सीतलपाटियाँ पड़कर सौंदर्य की वृद्धि करती हैं। ये चटाइयाँ निश्चित नाप की होती हैं, जिनकी गिनती से आप कमरे के बड़े-छोटे होने का अंदाजा लगा सकते हैं। घर के भीतर बिछा हुआ चटाइयों का फर्श देखने ही में स्वच्छ और सुन्दर नहीं मालूम होता, बल्कि स्प्रिंगदार गद्दे की तरह उस पर बैठना-लेटना सुखद मालूम होता है। रहने के कमरे को सामान से भर रखना जापान में पसन्द नहीं किया जाता। चित्र या फोटो भी एक-दो से अधिक टाँगना सुरुचि के विरुद्ध माना जाता है। एक ही कमरा बैठक, भोजनशाला और शयनकक्ष का काम देता है। दीवार में ही कहीं जगह बनी रहती, जिसमें गद्दा-रजाई दिन में डालकर छिपा दिये जाते हैं।

सकाकिबारा ने अपने घर का मुझे एक सम्मानित सदस्य ही नहीं बना लिया, बल्कि जापानी जीवन को भीतर से देखने का मौका भी दिया। जापान (और चीन में भी) हाथ से खाना पसन्द नहीं किया जाता। यूरोप की तरह वहाँ काँटे-चम्मच का नहीं, बल्कि पेन्सिल की तरह की दो लकड़ियों का व्यवहार किया जाता है। 'जैसा देश वैसा भेस' की कहावत को मैं मानता हूँ। भिक्षु के भेस को तो नहीं बदल सकता था, पर दूसरी बातों में मैंने पहिले ही से अपने को तैयार कर लिया था! जापानी जहाज में गया, इसलिए जहाज पर से ही मैंने लकड़ियों से खाना सीख लिया था। पहिले जापानी खाना कुछ फीका मालूम पड़ा, क्योंकि न उसमें तेल-घी का बघार होता, न मिर्च-मसाला ही। मछली नमक के साथ उबली हुई थी। साग में नमक-पानी छोड़ और कुछ नहीं था। सोया के कई तरह के पकवान थे; लेकिन सब प्रायः अपने प्राकृतिक रूप में। चावल जापान का प्रधान भोजन है। वह बासमती की तरह बारीक या सुगंधित नहीं था, लेकिन मीठा था। भाप निकलते चावल को लकड़ी की ढँकी बालटी में लेकर गृहिणी परोसने के लिए सामने घुटने मोड़कर बैठ जाती। जापान में एक अच्छत भी जूठा छोड़ना शिष्टाचार के विरुद्ध है। चीनी के कटोरे में यदि कुछ चिपका रह जाता है, तो उसे भी गरम चाय के पानी से धोकर पी जाते हैं। एक-दो बार मुझसे कुछ चावल छूट गया, इस पर मेरे दोस्त ने बड़ी नम्रता से कहा–"हमने भारत से यह शिष्टाचार सीखा है। यदि आप ही जूठा छोड़ेंगे, तो लोग क्या कहेंगे !" जापानी भोजन का फीकापन बहुत दिनों तक मालूम नहीं हुआ। फिर तो वह मुझे स्वादिष्ट मालूम होने लगा। चाय भी पहिले कुछ कड़वे-से काढ़े की तरह मालूम हुई। जापानी लोग चीनी, दूध, मक्खन कुछ भी न मिलाकर केवल पत्तियों को उबालकर पीते हैं। उसका स्वाद भी मुझे मिलने लगा। मैं 10 मई से 26 जून तक प्रायः तोकियो में सकाकिबारा का अतिथि रहा। सकाकिबारा कुछ अंग्रेजी और जर्मन जानते थे। उनके कारण मुझे भाषा की दिक्कत नहीं हुई। अपने मन्दिर के वह पुरोहित थे। दूसरा कोई काम नहीं था। उन्होंने

जापान की राजधानी को देखने में निस्संकोच होकर मेरी मदद की। जब जापान छोड़ने लगा और मुझे कुछ और स्थानों को देखने की जरूरत पड़ी, तो सकाकिबारा क्योतो आदि कई स्थानों में मुझे ले गए। मैं विहारों में ठहरता। कभी-कभी व्याख्यान देना पड़ता था, जिसका अनुवाद मेरे मित्र कर दिया करते। कई दिनों बाद ओसाका पहुँचाकर सकाकिबारा ने मुझसे विदाई ली। उस अकारण बंधु का मैं कृतज्ञ था। पर, क्या बदला दे सकता था !

45

जापानी मित्र : तुशिओ ब्योदो

जापानी और चीनी कायदे के मुताबिक उपनाम या गोत्र पहिले आता है और निजी नाम पीछे। उसके अनुसार सकाकिबारा जुन्जी और ब्योदो तुशियो कहना चाहिए। जी के लिए जापानी शब्द सान् है। ब्योदोसान् पिछले साल भारत में रहे थे। मैं 1934 के अप्रैल में अपनी दूसरी तिब्बत-यात्रा के लिए कलिम्पोंग गया हुआ था। इसी समय ब्योदोसान् कलिम्पोंग आये। मैं इससे अधिक उनकी सेवा नहीं कर सका कि उनके ठहरने का इन्तिजाम किसी मित्र के यहाँ कर दिया। अगले साल मई में मैं जापान में था। चिट्ठी-पत्री का सिलसिला जारी था। सकाकिबारा के यहाँ रहते मैंने उन्हें सूचना दे दी थी। ब्योदोसान् संस्कृतज्ञ थे और अधिक शिक्षित थे। वह टोकियो में आकर मिले और अपने विहार में चलने का आग्रह किया। पर, पहिले टोकियो में ही रहकर मैंने जापान की राजधानी देखनी चाही। उनको वचन दे दिया कि मैं आपके गाँव में आऊँगा। 28 मई को ब्योदोसान् के साथ मैं उनके गाँव गया। इस बार सिर्फ़ गाँव को देखकर लौट आया। 2 जून को मैं डेढ़ महीने के लिए अब अपने मित्र के गाँव नित्तामुरा में गया। वह टोकियो से डेढ़ घंटे का रेल का रास्ता था। हम मोटर टेक्सी से गए, और किराया 1 रुपया 14 आना देना पड़ा। जापान के सस्तेपन पर विश्वास करना मुश्किल था।

नित्ता का अपना स्टेशन ढाई मील पर था, जिसमें दो मील साधारण सड़क थी और आध मील पहाड़ी पर चढ़ना-उतरना। ब्योदोसान् का छह-सात सौ वर्ष पुराना मन्दिर पर्वत-पार्श्व पर था। ब्योदो-परिवार पीढ़ियों का बौद्ध-पुरोहित था। बौद्ध-पुरोहित कहना कितने ही देशों में विचित्र-सा मालूम होता है; पर जापान में बौद्ध धर्माचार्य भिक्षु और गृहस्थ दोनों ही मिलते हैं। पुरोहित की आमदनी के अतिरिक्त परिवार के पास काफी खेत थे। गाँवों में भी बिजली लगी हुई थी, लेकिन उसका उपयोग रात को ही लिया जा सकता था।

नित्ता में मुझे अब ग्रामीण जीवन को नजदीक से देखने का मौका मिला। खेतों में जौ, गेहूँ, बकला की फसल लहलहा रही थी, कुछ पक भी चुकी थी। कितने ही खेतों में स्ट्राबरी लगी हुई थी। धान की पौध (बेहन) अभी छह-छह अंगुल उगी हुई थी, खेत को रोपने के लिए तैयार किया जा रहा था। जापान बर्फ़ पड़ने का देश है और वहाँ की प्रधान फसल चावल है। जापानी लोगों का मुख्य भोजन भी चावल ही है। कई बातों में जापान को देखकर मुझे नेपाल और कश्मीर याद आ रहे थे। चावल वहाँ का भी प्रधान खाद्य है। नेपाल के गाँवों के फूस की छतवाले मकानों जैसे ही यहाँ भी मकान थे। पास में बाँस, देवदार आदि से ढँकी पहाड़ियाँ थीं। हमारे यहाँ बाँस का झुरमुट–कोठी–होती है, पर यहाँ एक-एक बाँस को अलग लगाया जाता है। बीच में निकलनेवाले करील उसको घना नहीं बना सकते, क्योंकि कोमल करीलों को काटकर उसको साग-सब्जी के तौर पर खाते हैं, अचार-मुरब्बा बनाते हैं। गाँव बहुत सुहावना था। फिर आकर डेढ़ महीने वहीं रहा।

29 मई को मैं तोकियो लौट गया। राजधानी में रहते दो-एक जापानी फिल्म देखे। जापान के साम्राज्यवादी फिल्म को भी अपने उद्देश्य के लिए इस्तेमाल कर रहे थे। हरेक फिल्म में लड़ाई और सैनिक अभियान के प्रदर्शन थे। जापान का इस समय सारी मंचूरिया पर अधिकार था और उसके मन्सूबे इससे कहीं अधिक थे।

नित्ता–ब्योदोसान् संस्कृत, अंग्रेजी भी जानते थे और सकाकिबारा से अधिक। घर में उनके वृद्ध माता-पिता

थे, जिनसे हमारी बात दुभाषिया द्वारा या इशारे से हो सकती थी। मैंने जापानी-अंग्रेजी स्वयं-शिक्षक ले लिया था. उससे भी मदद लेने लगा था। ब्योदो दो भाई थे। दोनों ने अभी शादी नहीं की थी। उनके घर में एक तरुण भिक्षुणी रहती थी, जिसे भिक्षुणी की जगह ब्रह्मचारिणी कहना ज्यादा ठीक होगा–उसकी वेश-भूषा में दूसरी स्त्रियों से कोई अन्तर नहीं था। विहार बहुत ही शान्त और एकान्त स्थान में था। विहार के पास ही घर था, और दोनों के हाते में एक छोटा-सा बाग, जिसमें देवदार के सुन्दर वृक्ष थे। जाड़ों में बर्फ पड़ जाएगी, उस समय भी साग-तरकारी उगाने के लिए शीशे की गरम कोठरियाँ बनी हुई थीं। आजकल पकी बिल्कुल सस्ती और ताजा स्ट्राबरी मिल रही थी। जापानी लोगों को प्राकृतिक सौंदर्य से बहुत प्रेम है। वह अपने बगीचों को भी बहुत-कुछ प्राकृतिक वनों के नमूनों पर बनाते हैं। देवदार के सौंदर्य पर वह मुग्ध हैं और हिमालय के देवदार को सौंदर्य-शिखामणि मानते हैं। जापान ने बहुत प्रयत्न से हिमालय के देवदार मँगवाये हैं, और उसके आठ-आठ, दस-दस हाथ की पौद चाहे जितनी ले सकते हैं। नित्ता छोड़ने से पहिले ब्योदोसान् का आग्रह हुआ कि मैं अपनी स्मृति के लिए मन्दिर के सामने एक हिमालीय देवदार लगा दूँ। स्मृति पर मुझे बहुत विश्वास नहीं है; लेकिन दो-चार पीढ़ियों के लिए एक सुन्दर वस्तु छोड़ जाना बुरा नहीं मानता।

हरी-भरी प्रकृति की गोद में अवस्थित गाँव में मैं जापानी ग्राम्य जीवन को देखने की प्यास बुझा रहा था। जापानी दैनिक पत्र हरेक घर के लिए आवश्यक है और उसी तरह रात को रेडियो का चलना भी। पत्र तो मैं नहीं पढ़ सकता था, और रेडियो में कुछ मिनट अंग्रेजी में जो खबरें सुनाई जाती थीं, वही मेरे पल्ले पड़ती थीं। 3 जून को रेडियो ने बड़ी रोमहर्षक खबर सुनाई–"क्वेटा में भयंकर भूकम्प आया, जिसमें पचास हजार से ऊपर आदमी मरे।" साल-भर पहिले विहार में जो हृदयद्रावक भूकम्प आया था, उसकी खण्डप्रलय को मैं अपनी आँखों देख चुका था।

मौसिम अच्छा था। हमारे यहाँ अब वर्षा शुरू होनेवाली होगी। यहाँ भी कभी-कभी वर्षा हो जाती थी। मच्छर काफी थे और दिन में कुछ गर्मी भी मालूम होती थी। खाली समय में जापानी सीखने की कोशिश करता था और ब्योदोसान् मुझसे संस्कृत काव्य पढ़ते थे। मैं उनके साथ आसपास के गाँवों और कस्बों में भी जाता। किसानों के फूस की छतों के छोटे-छोटे घर एक-दूसरे से अलग-अलग बसे थे। धनी किसान अपनी नौकरानियों को कपड़ा, खाना और थोड़ा-सा पैसा देते थे। सब मिलाकर पाँच-छह रुपये मासिक से अधिक खर्च नहीं पड़ता था। जापानी अपने खाने पर कितना कम खर्च करते हैं, यह इसी से मालूम होगा कि विश्वविद्यालय के विद्यार्थी को भी इसके ऊपर चार-पाँच रुपया मासिक से बेशी खर्च नहीं करना पड़ता। उनके भोजन में दूध, मक्खन, तेल, मांस, मसाला शामिल नहीं है। मांस-मछली कभी-कभी खाते हैं।

ब्योदोसान् एक बार अपने गुरु डॉ. वोगीहारा के पास ले गए। जापान में वह संस्कृत के सबसे बड़े तथा वृद्ध पण्डित थे। लेवी और पेइयो की तरह वह रात-दिन अपने काम में लगे रहते थे। उन्होंने जर्मनी में शिक्षा पाई थी। आजकल थैसो विश्वविद्यालय में अध्यापक थे और साथ ही एक बौद्ध मन्दिर के गृहस्थ पुरोहित भी। पहिले यह मन्दिर शहर में था। शहर की भूमि का दाम बहुत बढ़ गया। जमीन को बेंचकर वह अपने मन्दिर को यहाँ ले आये। मन्दिर के आस-पास बहुत सुन्दर बाग था, जिसे बाग न कहकर मनोहर वन कहा जा सकता था। देर तक उनसे बातचीत होती रही। कह रहे थे–"मैं 68 वर्ष का हो चुका हूँ। समझता हूँ जो करना है, उसे जल्दी कर लेना चाहिए।" कुछ ही समय बाद वोगीहारा का देहान्त हो गया।

जापानी लोगों के देखने से यही मालूम हुआ कि जापानी बड़े ही मधुर स्वभाव के होते हैं। बाहर गए जापानी व्यापारियों के झूठ और धोखेबाजी को देखकर शायद लोग दूसरी ही धारणा करें, लेकिन वह गलत होगी। जापानी जनसाधारण बहुत ईमानदार, स्नेही और प्रेमी होते हैं। विदेशी को और भी सहृदय दीख पड़ते हैं। किसी भी गाँव में जाने पर हरेक आदमी यात्री की सहायता करने के लिए उत्सुक दिखाई देता है। कष्ट सहने की उनमें अद्भुत शक्ति है। घर में प्रिय से प्रिय सम्बन्धी मर गया हो, लेकिन आप उसके मुख की मुस्कुराहट देखकर कभी समझ नहीं पायेंगे कि इसके दिल में पीड़ा का तूफान उठा हुआ है। जापानी अपने दुःख से दूसरे को दुःखी करना पसन्द नहीं करते। जापानी अपमान को नहीं सह सकते। दुनिया में मृत्यु से इतनी निर्भीक

जाति बहुत कम है।

ब्योदोसान् में अपनी जाति के सभी गुण मौजूद थे। वह बहुत सीधे-सादे, उदार विचार के पुरुष थे। वह एक महन्त के ज्येष्ठ पुत्र और उत्तराधिकारी थे। मैं जापानी जीवन और उसकी आर्थिक व्यवस्था को बहुत नजदीक से देखना चाहता था। इसीलिए आमदनी-खर्च, वेतन-मजदूरी सबकी छान-बीन करता था। ब्योदोसान् को ख्याल हो गया कि मैं कोई ऐसी पुस्तक लिखूँगा, जिसमें जापान का रूप काला चित्रित किया जायगा। वह हमें अपने गाँव का स्कूल दिखाने के लिए ले गए। दोपहर में काफी गर्मी थी, लेकिन उस धूप में भी बच्चे सैनिक कवायद कर रहे थे—पाँच ही छह वर्ष बाद तो उन्हें विश्वविजय के लिए निकलना था। इसे कहने की आवश्यकता नहीं कि जापान के इस रूप को मैं बड़ी नफरत की निगाह से देखता था। मैंने स्कूल के लड़के-लड़कियों की पढ़ाई देखी, प्रधानाध्यापक ने सभी बातें बताईं। जापान में लड़के-लड़कियाँ दोनों के लिए छह साल की पढ़ाई अनिवार्य थी। इसके बाद चार साल की पढ़ाई को मिडल कहते थे, जो हमारे यहाँ के हाईस्कूल के बराबर थी। फिर तीन साल अर्थात् तेरह साल की पढ़ाई के बाद हाईस्कूल पास करना पड़ता। विश्वविद्यालय में तीन साल की पढ़ाई थी और मेडिकल कालेज में चार साल की। सारे जापान में आधे दर्जन से अधिक लेडी डॉक्टर नहीं थे। स्त्रियों की अवस्था में जापान ने बहुत कम परिवर्तन होने दिया। विवाह से पूर्व उसका काम है, शरीर तक भी बेचकर माँ-बाप की सेवा करना। लड़कों की तरह लड़कियों की भी आरम्भिक शिक्षा अनिवार्य थी; लेकिन वहाँ के राष्ट्र-कर्णधार पूरी चेष्टा करते थे कि स्त्री अपने पैरों पर खड़ी न होने पाये। इसीलिए पाठ्य-विषय में भी अन्तर रखा गया। तोकियो से काफी दूर सेनदाई विश्वविद्यालय को छोड़कर कहीं उन्हें विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने की गुंजाइश नहीं थी।

स्कूल में जो सवाल करके मैंने जानकारी प्राप्त करनी चाही, उससे एक बार ब्योदोसान् नाराज हो गए। कहने लगे—"मैं इसे नहीं बताऊँगा। इससे जापान की बदनामी होगी।" मैंने नर्मी से समझाया—"दुनिया में कोई देश देवता नहीं है। कौन-सा देश है जहाँ दरिद्रता, मूर्खता और स्वार्थपरता न हो ?"

11 जुलाई को 5 बजकर 25 मिनट पर शाम को नित्ता में भी भूकम्प आया, वह करीब आध मिनट तक रहा। सारा मकान हिल रहा था। बिजली की बत्तियाँ झूल रही थीं। 7 बजे रेडियो में सुना कि सीजुओ नगर को काफी नुकसान पहुँचा, बहुत-से मकान गिर गए। भूकम्प जापान में बहुत आया करते हैं—साल में कई-कई बार। उसके आरम्भ होते ही लोग पहिला काम करते हैं—आग को दबा देना।

ब्योदोसान् के छोटे भाई जेल में रहकर निकले थे। वह अपने साम्यवादी विचारों के कारण अधिकारियों की आँखों में चुभते थे। इस वक्त वह किसी पत्रिका के सम्पादकीय विभाग में काम करते थे। जापान में फासिज़्म का जोर था जो कम्युनिस्ट सरकार के कोप-भाजन थे। ब्योदो-परिवार ने डेढ़ महीने तक जिस स्नेह के साथ मुझे अपना अतिथि बनाया और जिस तरह जापान और वहाँ के लोगों के प्रति स्नेह और सम्मान करना सिखलाया, उसके लिए मैं बहुत कृतज्ञ था। ब्याह की बात चलने पर ब्योदोसान् ने कहा—"मेरे माता-पिता ने भी बहुत प्रौढ़ावस्था में ब्याह किया था, मुझे भी जल्दी नहीं है।" उनके घर में धर्म सीखनेवाली भिक्षुणी ने अपने दीर्घ केशों के बहुत-से भाग को काट यह कहकर मुझे दिया कि इसे बोधगया की क्यारी में गाड़ देंगे। जापान में बौद्ध धर्म के प्रति ऐसी श्रद्धा असाधारण चीज नहीं थी।

ब्योदोसान् से पीछे पत्र-व्यवहार होता रहा, जो लड़ाई के समय बन्द हो गया। युद्ध के बाद मैं जानना चाहता था कि मेरे दोनों मित्र कैसे हैं। सकाकिबारा का फिर पता नहीं लगा किन्तु ब्योदोसान् पिछले साल (1955 ई. में) कलकत्ता तक आये। उन्हें मालूम था कि मैं मसूरी में रहता हूँ, लेकिन समयाभाव की शिकायत करते वह एक पत्र लिखकर स्वदेश लौट गए और मुझे सेवा का अवसर नहीं दिया।

46
हाफिज जी

दो वार उनसे घनिष्ठ सम्पर्क हुआ, पर कभी उनका नाम याद नहीं कर सका, इसका अफसोस है। उनके नाम के साथ हाफिज जरूर लगता था। हाफिज या तो सूरदास को कहते हैं या जिसे सारा कुरान याद हो। हमारे हाफिज जी में ये दोनों बातें नहीं थीं। जान पड़ता है, यह उनकी खानदानी उपाधि थी। उनके साथ पहिला परिचय तेहरान में 1935 के सितम्बर में हुआ था। वह उसी मेहमानखाना (होटल) में रहते थे, जिसमें मैं भी बहुत कुछ दिनों ठहरा था। 1937 के सितम्वर में जब मैं दूसरी बार तेहरान पहुँचा, तब हाफिज जी से अधिक घनिष्ठता हो गई। अवकी मैं मुसाफिरखाना वतन (स्वदेश होटल) में ठहरा था। सोवियत वीसा की दिक्कत के कारण मुझे एक महीना वहीं ठहरना पड़ा, हाफिज जी मेरे सहवासी थे।

वह मक्खड़ (जिला केम्बैलपुर, पश्चिमी पाकिस्तान) के सौदागर थे। ईरान में उनका व्यापार चलता था। मैं भोजन रेस्तोराँ में कर आता था, लेकिन हाफिज साहब अक्सर मसालेदार मांस स्टोव पर ही वना लिया करते थे। उन्होंने बहुत आग्रह करके मुझे भी अपना सहभागी बना लिया। 5 नवम्बर (1937 ई.) को रमजान का पहिला दिन था। ईरान कभी भी इस्लाम का पूरा अनुयायी रहा, इसमें सन्देह है। पर आजकल तो नई हवा चली थी, जिसमें हरेक ईरानी सव वातों में यूरोप की नकल करना चाहता था। होटल में दो दर्जन आदमी तो जरूर रहे होंगे, लेकिन रोजा रखनेवाले सिर्फ हाफिज जी थे। उनकी यह बात लोगों के मजाक का विषय हो गई। एक ने कहा—"भाई, रमजान आ गया है।" दूसरे ने उत्तर दिया—"किरमानशाह जा रहे हो, उधर ही छोड़ आना।" हमारे होटल की मालकिन कहने लगीं—"अजी, मर्द रोजा रक्खें, तो रक्खें, क्योंकि उन्हें 70 हूरें (अप्सराएँ) मिलेंगी, पर औरतें क्यों रक्खें ? क्या 69 सौतें पाने के लिए ?" एक सज्जन कहने लगे—"खुदा को चाहिए था, रोज़ों को 12 महीनों में वाँट देता और दिन की बजाय रात को रोजा रखवाता।" दस ही साल पहिले रमजान के दिनों में तेहरान के सारे भोजनालय बन्द हो जाते थे। दिन में यदि किसी के घर धुआँ निकलता दिखाई देता, तो सिपाही उसे पकड़कर पीटते। लेकिन आज सारे रेस्तोराँ खुले थे, रोज जैसी चहल-पहल थी। बेचारे हाफिज जी की मुश्किल थी। बारी-बारी से सब उनके पास पूछने आते—"हाफ़िज़, शुमा रोजादारी ?" (हाफिज, तुम रोजा धारे हो ?) शाम को हाफिज भाई ने मुझसे कहा—"मैं कल से रोज़ा नहीं रखूँगा।"

लेकिन अगले दिन मालकिन के दूसरे लड़के ने हाफिज साहब से कहा—"हाफिज, आज बड़े तड़के एक सफेद दाढ़ीवाला पुरुष हमारे होटल में आया था। उसके चेहरे से नूर बरस रहा था। उसके कन्धों पर दो बड़े-बड़े पंख थे। हाँ, वह रोजे का हिसाब रखनेवाला फरिश्ता था। उसने पहिले कमरे के दरवाजे पर दस्तक दी और दरवाजा खोलने पर पूछा—शुमा रोजादारी ? जवाब नहीं में मिला। दूसरे दरवाजे को भी खटखटाया, वहाँ भी जवाब नहीं में मिला। सात-आठ दरवाजों को खटखटाने के बाद वह अपना रजिस्टर बगल में दबाये लौट गया। हाफिज, तुम्हारा तो रोजा दर्ज ही नहीं हुआ। तुम्हें क्या 70 हूरें मिलेंगी ? रोजा रखना था, तो पहिले कमरे में ठहरना चाहिए था !"

हाफिज जी की उम्र मेरे ही बराबर थी अर्थात् उस समय 40-45 के रहे होंगे। विदेश में देश का कुत्ता भी प्यारा लगता है और वह तो बड़े ही सज्जन देशभाई थे। हम दोनों की मित्रता घनिष्ठ हो गई। हाफिज जी लाहौर के 'एहसान' उर्दू पत्र को मँगाया करते थे। एक दिन किसी ईरानी ने उठाकर देखा। उसकी समझ में नहीं आया, पूछा—"यह कौन जवान है ?" हाफिज ने कहा—"हिन्दी।" हाँ, हिन्दुस्तान के वाहर के लोग, खासकर पश्चिमी एशिया में हमें और हमारी भाषा को हिन्दी कहते हैं। भारत में होता, तो उर्दू कहा जाता, लेकिन ईरानी उर्दू का अर्थ फौज समझते हैं।

हाफिज साहब जाति से पराचा थे।। पराचा प्राची से निकला है, जिसका अर्थ है पुरबिया। पंजाब में पराचा मुसलमान बनिया को कहा जाता था, जिनका व्यापार ही पेशा था। हाफिज की चिट्ठियाँ उर्दू में नहीं,

बल्कि मुड़िया अक्षरों में आती थीं और बहीखाता भी उन्हीं अक्षरों में रखते थे—अर्थात् उसी लिपि को वह इस्तेमाल करते थे, जिसे पंजाब के दूसरे हिन्दू व्यापारी। कह रहे थे—"हमारे यहाँ यही रवाज है।"

मुझे सोवियत वीसा मिला और 9 नवम्बर (1937 ई.) को मैंने अपने मित्र से विदाई ली। मैंने पौण्ड में मौजूद अपने मुसाफिरी चेक को भुनाना चाहा। वैंक की दर कम थी, जब कि दूसरी जगहों पर रुपये या पौण्ड का दाम ड्योढ़ा था। हाफिज भाई ने कहा—"चेक मत भुनवाइए। मैं पैसा देता हूँ।" मुझे अचरज हुआ, यद्यपि महीने-भर साथ रहने के कारण जितना होना चाहिए, उतना नहीं हुआ। हम हमनवाला थे, हम पियाला नहीं थे, क्योंकि ईरान में अंगूरी शराव की नहरों के वहते रहने पर भी हम दोनों उससे वंचित थे। मुझे झिझक हुई। उन्होंने कहा—"आपको यह खयाल है कि मैं पाँच-सात सौ रुपये उधार देकर खतरे में पड़ रहा हूँ।" मैंने अपने संकोच को संयत भाषा में वतलाना चाहा। उन्होंने कहा—"ड्योढ़े सिक्के की जगह आप इतना कम सरकारी बैंक से क्यों लेंगे। आप मुझसे पैसे ले जाइये। भारत जाने पर अमुक पते पर उसे भिजवा दीजिएगा।" उस समय यह भी पता नहीं था कि मैं कितने सालों वाद रूस से लौटूँगा। विज्ञान अकदमी ने मुझे बुलाया था, जो आशा रखती थी कि मैं डॉ. श्चेर्वात्स्की के साथ मिलकर कुछ समय काम करूँगा। देश लौटने पर मैंने मक्खड़ उतने रुपये भेज दिये। हाफिज भाई का पत्र उसके वाद भी दो-एक वार मिला। फिर वह चुप हो गए। वह मक्खड़ में बराबर रहते नहीं थे, इसलिए पत्रोत्तर न मिलने का कारण मैं उनकी अनुपस्थिति समझता था।

1944 ई. में तेहरान में मुझे सात महीने रहने पड़े। उस समय मित्रों से मालूम हुआ कि हाफिज जी का काफी पहिले देहान्त हो गया। उनके सीधे-सादे स्वभाव और स्नेहमयी मूर्ति को अब भी याद करता हूँ और साथ ही उनके उपकारों को भी, जिनके लिए मैं कुछ नहीं कर सका।

47
विज्ञानमार्तण्ड

अजमेर के किसी लड़के को विज्ञानमार्तण्ड जैसा नाम माँ-बाप नहीं दे सकते, यह निश्चित ही था। शायद इसे उन्होंने स्वयं चुना था और बिल्कुल उचित ही था।

1937 का दिसम्बर था। मैं अपनी तीसरी तिब्बत-यात्रा से लौटकर आया था और पटना में जायसवालजी की घास की लान में कुर्सी पर बैटा कुछ लिखता रहा था। इसी समय एक मझोले कद का गेरुआधारी दुवला-पतला पुरुष हाथ में कपड़े का बैग लिये पास खड़ा हो गया और बोला—"मैं राहुलजी से मिलना चाहता हूँ।" मैंने कहा—"मैं ही हूँ, बैठिए।" वह मुझे ढूँढ़ते बनारस आये थे। उनकी सूरत से विद्वत्ता का पता नहीं लग सकता था। आँखों की ज्योति इतनी क्षीण थी कि पुस्तक को दो अंगुल पर ले जाकर ही पढ़ सकते थे। उन्होंने अपने आने का उद्देश्य यही बतलाया कि मैं पालि पढ़ना चाहता हूँ, उसके बारे में आपसे कुछ जानना चाहता हूँ। उनके गुण उस समय भी मालूम हुए। दूसरे दिन जायसवालजी ने पटना के उस समय के बड़े विद्वान् पं. रंगनाथजी को बुलवाया। शास्त्र-चर्चा चल पड़ी। विज्ञानमार्तण्ड ने बम का गोला छोड़ते हुए कहा—"खंडन खंडखाद्य वेदान्त का नहीं, बौद्ध दर्शन का ग्रन्थ है।" रंगनाथजी या कोई भी पण्डित यह सुनकर अपने कानों को विश्वास नहीं कर सकता था। सभी लोग जानते हैं कि शंकर के अद्वैत वेदान्त का यह सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। कहने के लिए यह खंडखाद्य (लड्डू) भले ही कहा जाय, लेकिन समझने में वह लोहे के चने से भी कड़ा है। बहुत कम विद्वान् वहाँ तक पहुँचते हैं। पं. रगनाथ पढ़े हुए थे। 24-25 वर्ष का ब्रह्मचारी खाद्य को खिलाड़ी के गेंद की तरह उछाल रहा था और एक-एक उद्धरण देकर बतला रहा था कि ये बातें वेदान्त के लिए नहीं, बल्कि नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन के अनुकूल हैं। रंगनाथजी ने कहा—"लेकिन श्रीहर्ष ने इसके मंगलाचरण में राम की स्तुति

की है।" विज्ञानमार्तण्ड ने कहा—"उसे किसी दूसरे ने चिपका दिया होगा, या ग्रन्थकर्ता ने स्वयं अपने को छिपाने के लिए यह चाल चली हो।"

पं. रंगनाथजी व्याकरण, न्याय और दूसरे शास्त्रों के भी पण्डित थे। उन्होंने कभी व्याकरण में ले जाकर टवाना चाहा, और कभी न्याय के परिष्कारों में। पर, विज्ञानमार्तण्ड कहीं नहीं झुके। गम्भीर शास्त्रार्थ में भी दोनों में से किसी ने अपना सन्तुलन नहीं खोया। तरुण ब्रह्मचारी की विद्वत्ता पर जायसवालजी मुग्ध हो गए।

विज्ञानमार्तण्ड का संस्कृत भाषण अप्रयास और बड़ा सुन्दर होता था। छन्दों पर उनका पूरा अधिकार था। बड़े से बड़े छन्दों में सुन्दर रचना करने में उन्हें देर न लगती। उसी साल तिब्बत में किस तरह अंधी कोठरी में तालपत्रों की रत्न-राशि मुझे मिली, इसे सुनकर उन्होंने एक बहुत सुन्दर श्लोक बनाया था। अफसोस है कि उसे हम रक्षित नहीं रख सके। उनके पण्डितमित्र बराबर किसी-न-किसी विषय पर श्लोक बनाकर भेजने का आग्रह किया करते थे।

विज्ञानमार्तण्ड ने पहिले अध्ययन अजमेर में किया था। फिर लाहौर में जाकर पढ़े, जहाँ उन्होंने शास्त्री-परीक्षा पास की। इसके बाद कई वर्षों से काशी में एक बहुत बड़े पंडित संन्यासी के प्रिय शिष्य होकर पढ़ रहे थे। शास्त्र में पढ़ते वक्त बौद्धों का खण्डन देखते थे। इसलिए अब वह बौद्ध दर्शन और बौद्ध ग्रन्थों के पढ़ने के लिए उत्सुक हुए। मैंने सिंहल या बर्मा जाने की सलाह दी। परिचय-पत्र भी दे दिया, वह अन्त में बर्मा गए।

जायसवालजी को विज्ञानमार्तण्ड की विद्वत्ता बड़ी चमत्कारिक मालूम हुई। विद्वान् के लिए तो वह अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए तैयार हो जाते थे, यदि उनकी चलने पाती। ब्रह्मचारी के पास कपड़ों का अभाव-सा था। एक दिन एक अच्छा कम्बल और दूसरे कपड़े अपने साथ खरीदकर लाये। फिर एक दिन कचहरी से आने पर सौ-एक रुपये विज्ञानमार्तण्ड के हाथ में दिये और कहा—बाहर जाने में खर्च की आवश्यकता होगी।

विज्ञानमार्तण्ड ब्राह्मणों की विचार-संकीर्णता को छोड़ चुके थे। आर्यसमाज की भी बातें करते, किन्तु वह इतने विशाल थे कि आर्यसमाज में वह समा नहीं सकते थे। वह वस्तुतः सर्वतंत्र स्वतन्त्र थे।

शायद उसी साल वह बर्मा चले गए। कुछ ही महीनों में पालि पर इतना अधिकार प्राप्त कर लिया कि वह उसमें श्लोकबद्ध चिट्ठी मेरे पास भेजने लगे। यह कोई अचरज की बात नहीं थी, पालि और संस्कृत का सम्बन्ध अत्यन्त समीप का है। जिस समय वह बर्मा में रहते थे, उसी समय मुसलमानों और बर्मियों का दंगा हो गया। बर्मी वैसे बहुत शान्त होते हैं, लेकिन गुस्सा दिला देने पर बहुत खूँख्वार भी हो जाते हैं। इस खूनी झगड़े को विज्ञानमार्तण्ड ने अपनी आँखों देखा था। बर्मा या पालि बौद्ध-साहित्य में बौद्धदर्शन के पिछले चरम विकास की सामग्री नहीं है। उसमें आरंभिक बौद्ध और ऐतिहासिक बुद्ध के विचारों को ही सुरक्षित रक्खा गया है। पालि-साहित्य का अवगाहन करने में उन्हें बहुत समय नहीं लगा। फिर वह भारत में आ गए। एक दिन जाड़ों के समय बनारस जाने पर मालूम हुआ कि वह यहीं आर्यसमाज में ठहरे हुए थे। धर्मों में किसी के फन्दे में वह फँसनेवाले नहीं थे। पर, सबके साथ अच्छा सम्बन्ध रखते थे। आर्यसमाजी ऐसे विद्वान् की क्यों न कदर करते ? इधर-उधर भी उनके कितने ही परिचित गृहस्थ थे, जिनमें एक नेपाली परिवार भी था। वह वहाँ भी मुझे ले गए।

मैं चाहता था, अब उनकी विद्या का उपयोग हो। वह अब इतने साधन-सम्पन्न हो गए थे कि दर्शन के गम्भीर ग्रन्थों को पढ़ा सकते थे तथा उन्हें सरल और सुपाठ्य रूप में संस्कृत या हिन्दी में लिख सकते थे। बौद्ध-जैन-ब्राह्मण दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन करके उनके क्रम-विकास पर कलम चला सकते थे। पर, विद्या की गम्भीरता के साथ ही वह किसी बात में स्थिर होकर काम करने का स्वभाव नहीं रखते थे, यह उनमें बड़ा दोष था। कई वर्षों विज्ञानमार्तण्ड का पता नहीं लगा। पीछे किसी ने यह दुःखद घटना सुनाई कि वह देश-विभाजन के पहिले कराँची में थे और वहीं कहीं मारे या स्वयं मर गए। विज्ञानमार्तण्ड की अद्भुत प्रतिभा और विद्वत्ता का उपयोग नहीं हो सका। वह यदि काशी में डटकर रहते, तो विद्यार्थियों को पढ़ाकर

अच्छे विद्वान् पैदा कर सकते थे। लेकिन, वह यह भी नहीं कर सके और न कोई अपनी कृति ही छोड़ गए। शायद उनके परिचितों के पास उनके बनाये श्लोक हों, लेकिन क्या जानें मेरी तरह उन्होंने भी उन्हें खो दिया हो।

48

साथी महमूद[1]

पिछले साल देहरादून जाने पर जब मालूम हुआ कि साथी महमूद वहीं हैं, तो अपने मित्र श्री हरिनारायण मिश्र और दूसरे एक-दो बन्धुओं के साथ मैं उनके पास गया। उनकी अपनी कोठी शायद सरकारी दफ्तर के लिए ले ली गई थी और वह अपने एक मित्र के बड़े बँगले में रहते थे। जाते ही खबर सुनकर वह बाहर निकल आये। किसी-किसी मुस्कुराहट का दाम अनमोल होता है, इसका उदाहरण महमूद की मुस्कुराहट थी। किसी भी आगन्तुक के लिए वह सदा स्मितपूर्वाभिभाषी रहा करते थे, अपने घनिष्ठ मित्रों के बारे में तो कहना ही क्या ! इस मुस्कुराहट से ही आतिथ्य पूरा हो जाता था। हम लोग चाय पीकर गए थे, पर शाम के पाँच बजे चाय का समय था। ना-ना करने पर भी उन्होंने अपने आदमी को आज्ञा देते कहा : "मैं चोकर की पावरोटी खाता हूँ, देखिए आपको मक्खन और पनीर के साथ उसका टोस्ट खिलाता हूँ।" महमूद पर दो बार हृदय-पीड़ा हो चुका था; और बहुत खतरनाक रूप में। डॉक्टर ने कहा था : यदि फिर ऐसा आक्रमण हुआ, तो बचने की सम्भावना नहीं। उस पुरुष के सिर पर मृत्यु का वारण्ट था, पर उनकी बातों और खुशमिजाजी से उसका कहीं पता नहीं लगता था। मैंने कहा—"शरीर देखने में तो ठीक मालूम होता है।"

उन्होंने बेपर्वाही से कहा—"यही तो बुरा है। मेरा वजन कम होना चाहिए, जिसमें हृदय-यन्त्र को कुछ आराम मिले। पर क्या करूँ, कम होता ही नहीं।"

हृदय के मरीज को ऊपर स्वस्थ देखकर कुछ नहीं कहा जा सकता। उसका भीतर खोखला रहता है। मैंने कहा—"अधिक विश्राम लीजिए।"

—"विश्राम तो ले रहा हूँ। तीन-चार महीने से कुछ नहीं हुआ है, इसलिए मन करता है कि फिर कार्य-क्षेत्र में उतरूँ।"

मैंने कहा—"कार्य-क्षेत्र में उतरना किसी सोसायटी के संगठक या मन्त्री के रूप में ही नहीं होता।"

महमूद इधर इन्दो-सोवियत सांस्कृतिक सभा के मन्त्री और उसकी पत्रिका के संचालक होते हुए बहुत काम कर रहे थे। शायद उनका ध्यान उसी तरफ था।

मैंने फिर कहा—'आप यहीं बैठे कुछ लिखिए, या डिक्टेट करके लिखवाइए, यह भी आपके लिए कार्यक्षेत्र है।"

महमूद ने फिर अपने आगे के सोचे हुए प्रोग्राम के बारे में कहा—"मन करता है कि एक उपन्यास लिखूँ। कहानी दिमाग में चक्कर लगा रही है। पर, अफसोस, मैं उर्दू या हिन्दी में लिखने में असमर्थ हूँ, केवल अंग्रेजी ही में लिख सकता हूँ।"

महमूद दूध पीते समय अंग्रेजी बोलनेवाली आया की गोद में पले। फिर नैनीताल के एक यूरोपियन स्कूल में पढ़े। अन्त में वर्षों के लिए वह पढ़ने के वास्ते इंग्लैंड भेज दिये गए। इस प्रकार अंग्रेजी उनकी मातृभाषा हो गई थी, पर वह अंग्रेज कभी नहीं बने। वह पक्के हिन्दुस्तानी, और केवल हिन्दुस्तानी थे। आक्सफोर्ड की डिग्री लेकर देश की सेवा करने का संकल्प करके वह बम्बई उतरे। वहीं उन्होंने विलायती पोशाक उतारी और

1. साथी महमूद पर एक और लेख 'नये भारत के नये नेता' में भी है।

खद्दर का कुर्ता-धोती पहन लिया। इसी पोशाक में जब वह अपने घर में पहुँचे, तो बेगमों में कुहराम मच गया। यह उनकी सारी आशाओं पर पानी फेरना नहीं था, केवल जेल की तैयारी ही नहीं थी, बल्कि नवाव नजीबुद्दौला के पवित्र इस्लामिक पठान खून पर वट्टा लगाना था। धोती-कुर्ता हिन्दुओं की पोशाक थी। महमूद पहिले कुछ नहीं समझ सके। उन्हें हिन्दू-मुसलमान के इस भेद का पता ही नहीं था, यह कभी कुछ जान पड़ता था, तो उसे वह निरी मूर्खता समझते। धोती-कुर्ते से बढ़कर राष्ट्रीय पोशाक एक भारतीय की क्या हो सकती है ? इस घटना से मालूम होगा कि महमूद भारतीय रंग से कितने रँगे हुए थे। वह हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा बोल लेते थे, अपने विचारों को प्रकट कर सकते थे, पर लिखने का अभ्यास कभी नहीं किया।

मैंने कहा–"अंग्रेजी ही में लिख डालिए, उसका हिन्दी में करना मुश्किल नहीं होगा। पर दूसरी ओर तत्परता दिखलाने का साहस मत कीजिए। मैं स्वयं हल्के हृदय-रोग का मरीज हूँ, पर अपनी लेखनी के कार्य को ही कार्य समझ लेता हूँ, और कार्यक्षेत्र में कूदने से विरत हो गया हूँ।" उन्हें समझाने की जरूरत भी नहीं थी। महमूद अपनी वीमारी को जानते थे।

वीमारी के कारण ही शायद उनकी डॉक्टर वहन उन्हें अपने पास अलीगढ़ ले गई थीं। 26 अगस्त के किसी अखवार में पढ़ा--24 अगस्त को अलीगढ़ में महमूद का देहान्त हो गया। इस बुरी खबर के सुनने का हर वक्त डर बना रहता था, इसलिए उस पर आश्चर्य कैसे हो सकता था ? पर, महमूद के घनिष्ठ सम्पर्क में जो भी आदमी एक बार आ चुका हो, उसके लिए यह खबर सचमुच ही हृदय-विदारक थी। अपने जीवन में बहुत-से मित्रों-बन्धुओं के मरण की खबर मुझे सुनने को मिली है, पर महमूद की मृत्यु का समाचार सबसे दुःखद मालूम हुआ। दूसरी मृत्युएँ काल पाकर भूली-सी हो जाती हैं, पर महमूद की मृत्यु कभी नहीं भूली जा सकती। उन्हें जब मैंने देखा, मुस्कुराते देखा। उस मुस्कुराते चेहरे की हृदय पर इतनी जबर्दस्त छाप है कि याद आते ही वह आँखों के सामने खड़ा हो जाता था। इतना विशाल हृदय, इतना सहृदय पुरुष कहाँ मिल सकता है ? बचपन से ही उसका सारा जीदन आराम-सुख की गोद में पला था। जवानी में ही उन्होंने काँटों का ताज अपने सिर पर रख लिया और किसी भी दुःख, जेल-यातना को सामने आने पर हँसकर उसका स्वागत किया। महमूद और उनकी पत्नी डॉ. रशीदजहाँ दोनों एक-से विचारवाले और स्पष्टवादी थे। दोनों एक-दूसरे के आदर्शों के सहभागी थे। रशीदा वर्षों तक केन्सर (नासूर) के रोग में घुलती रहीं। देश में चिकित्सा कराने से कोई लाभ नहीं हुआ। मेरे साथ तो रशीदा की खास तौर से शिकायत थी और अन्तिम बार यहाँ आईं, तो कहा–"राहुलजी, आपको वहुत लानत-मुलामत करनी है। आप उर्दू के विरोधी हैं।" वह कुछ घण्टों के लिए आई थीं। मैंने कहा–"इतने समय में लानत-मुलामत पूरी नहीं हो सकेगी। किसी ने झूठ ही कहा है कि मैं उर्दू का विरोधी हूँ। मैं हिन्दी-उर्दू दोनों को एक ही भाषा मानता हूँ और दोनों की शैली में लिखे साहित्य को चिरस्थायी देखना चाहता हूँ।" रशीदा ने वादा किया कि दूसरी बार मैं आकर यहाँ रहूँगी। पर, इस वादे को वह कभी वफा नहीं कर सकीं। महमूद साथ लेकर चिकित्सा कराने के लिए उन्हें रूस ले गए और उन्हें गँवाकर अकेले लौटे। रशीदा का खोना उनके लिए बहुत वड़ा आघात था, इसी आघात ने उनके हृदय-रोग को जन्म दिया, इसमें कोई सन्देह नहीं।

महमूद–पूरा नाम महमूदुज्जफर–का कुल इतिहास प्रसिद्ध है। औरंगजेब की मृत्यु (1760 ई.) के बाद मुगल सल्तनत छिन्न-भिन्न होने लगी। उस समय दरबार में मुसलमानों के चार प्रभावशाली दल थे–मुलकी, पठान, ईरानी (शिया) और तूरानी। मुलकी अर्थात् भारतीय मुसलमानों (हिन्दुओं के भी) के नेता सैयद बन्धु थे, जो दिल्ली में कितने ही समय तक राजनिर्माता बने रहे। पठान दो भागों में विभक्त थे–रुहेले और बंगश। बंगश फर्रुखाबाद से इलाहाबाद तक के गंगा के दक्षिण ओर के बड़े भू-भाग के मालिक थे, और रुहेले मेरठ कमिश्नरी के अधिकांश तथा रुहेलखण्ड के–उसी समय इस इलाके का नाम रुहेलखण्ड पड़ा। ईरानी दल भी अवध और मुर्शिदाबाद के नवाबों के रूप में दो भागों में बँटा था। तूरानी दल का मुखिया निजाम था, जिसने हैदराबाद की बड़ी रियासत का निर्माण किया। अवध के नवाव पठानों से बहुत परेशान थे। उन्होंने मराठों को बुलाया, जिन्होंने बंगशों की ताकत खतम कर दी, पर रुहेलों के पास तक पहुँचने में उनकी ताकत क्षीण हो गई। रुहेलों

के मुखिया पीछे रामपुर के नवाब हुए, पर पहिले उनका सर्वमान्य नेता नजीबुद्दौला था। मराठों की शक्ति को खतम करने के लिए कहते हैं, उसी की शह पर अहमदशाह अब्दाली काबुल से आया था। दोनों पठान थे, शायद इसीलिए यह कल्पना की गई। चाहे बुलाया न हो, पर बंगशों की शक्ति को समाप्त करनेवाले मराठों को रुहेले अपना सबसे बड़ा दुश्मन समझते, इसमें सन्देह नहीं।

नजीबुद्दौला के जमाने में रुहेलों की खूब तपी। उसके नाम की छाप आज भी नजीबाबाद शहर के ऊपर है। नजीबुद्दौला के बाद उसका उत्तराधिकारी पुत्र अब्दुल कादिर आधा सनकी था। पीछे और भी शक्ति कमजोर होती गई। 1857 के स्वतन्त्रता-युद्ध में नजीबुद्दौला के उत्तराधिकारी नजीबाबाद के नवाब दुन्दूखाँ ने स्वतन्त्रता-युद्ध में भाग लिया, जिसके कारण उनकी रियासत अंग्रेजों ने छीन ली और उसमें से कुछ भाग रामपुर के नवाब को मिला। नजीबाबाद और रामपुर के नवाब रक्त-सम्बन्धी थे, जिस सम्बन्ध को रामपुर ने कभी नहीं भुलाया। आगे वह सम्बन्ध बराबर नये किए जाते रहे। इसलिए नवाब की बेगमें महमूद जैसे अपने कम्युनिस्ट सम्बन्धी को बड़े स्नेह की दृष्टि से देखती थीं। रामपुर की बेगम के साथ एक बार महमूद रानीखेत में थे। पेशावर-काण्ड के वीर चन्द्रसिंह गढ़वाली उस समय वहीं परिवार-सहित कष्ट का जीवन काटते देश-सेवा में लगे हुए थे। संयोग से महमूद ने देख लिया और गढ़वाली मिले। बेगम ने जब सुना तो गढ़वाली वीर के बच्चों के लिए रेशमी पोशाक, रेशमी रजाई और क्या-क्या कपड़े बनवाकर दिये। चन्द्रसिंह आदमी से भेजने की जगह अपने ही ले गए और खुली गठरी में से एक-एक चीज रास्ते में गिरती गई। पहुँचने पर एक ही दो चीज उनके लिए रह गई।

दून्दू खाँ के साथ रियासत और नवाबी चली गई, लेकिन इस देशभक्त की सन्तानों को लोगों ने अपनी ओर से 'साहेबजादा' का खेताब दे रक्खा था। महमूद के पिता साहेबजादा सैदुज्जफर ने उच्च डॉक्टरी शिक्षा प्राप्त की और कई जगह सिविल-सर्जन रहे। इसी अवस्था में आगरा में महमूद पैदा हुए। बड़े लाड़-प्यार से उनकी परवरिश हुई और अपने इकलौते पुत्र को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए पिता ने कितना प्रयत्न किया, इसको हम बतला आये हैं। महमूद ने उस शिक्षा को दुन्दू खाँ के अपूर्ण काम को पूरा करने में लगाया। वह केवल देश की आजादी ही नहीं चाहते थे, बल्कि देश में गरीबी का नामोनिशान रह जाना भी वह पसन्द नहीं करते थे। इसीलिए इंगलैंड में रहते ही वह कम्युनिस्ट हो गए और मरे भी कम्युनिस्ट रहते ही। इसका उन्हें सन्तोष था कि देश से अंग्रेजों की काली छाया उठ गई, पर अभी लक्ष्य अधूरा ही था।

महमूद नजीबुद्दौला की सर्वज्येष्ठ सन्तान के एकमात्र पुत्र थे। उनकी मृत्यु के रूप में नजीबुद्दौला की वह शाखा समाप्त हो गई।

यद्यपि महमूद के लम्बे-तगड़े शरीर को देखने से रोबीले पठान का प्रभाव आदमी के ऊपर पड़ता, पर उनके केशहीन मुख पर सदा विराजती मधुर मुस्कान उनको दूसरे ही रूप में पेश करती थी। उनके स्वस्थ शरीर को देखकर लोग ईर्ष्या करते थे, पर भीतर ही भीतर वह घुन गया था। मैंने पहिले-पहिल महमूद को देवली कैम्प जेल में देखा था। वह ज्यादा बोलनेवाले नहीं थे, या यों कह लीजिए, काम पड़ने ही पर उनकी जबान खुलती थी। लेखनी में शक्ति थी, पर उसका भी उपयोग वह बड़े संयम के साथ करते थे। भीतर से वह शक्ति के पुंज थे, लेकिन उस आग को इतना सँभालकर रखते थे कि सहसा आदमी को उनके व्यक्तित्व के बारे में धोखा हो जाता। हाँ, कुछ समय भी साथ रह जानेवाला धोखे में नहीं पड़ सकता था। देवली कैम्प में रहते पुस्तक लिखने के लिए मुझे कुछ ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता थी, जो हमारे बड़े-बड़े पुस्तकालयों में भी दुर्लभ थीं। महमूद उन्हें पढ़ चुके थे और उन्होंने पुस्तकें मेरे पास भेजीं। हम दोनों दो हातों में रहते थे और निश्चित समय पर ही कभी-कभी मिला करते थे। वहीं से महमूद की छाप मेरे ऊपर पड़ी। यह सम्बन्ध आगे और घनिष्ठ होता चला गया। महमूद अत्यन्त मधुर थे। उनकी माधुर्य की उपमा किसी चीज से नहीं दी जा सकती। वह सर्वतोभद्र थे। चारों ओर उनकी नेकी और भलाई बरसती थी। वह कम्युनिस्ट थे, कम्युनिस्ट का जैसा रूखा-सूखा चित्र लोगों के सामने रक्खा जाता है, उसे देखकर कोई विश्वास भी न करता कि कम्युनिस्ट ऐसा हो सकता है। या यदि कम्युनिस्ट ऐसे हो सकते हैं, जो मीठे स्वभाव का दूसरा आदमी कौन हो सकता है ? महमूद के

मित्रों और प्रशंसकों की संख्या अपनी पार्टी तक ही सीमित नहीं थी। दूसरे भी उनका बड़ा सम्मान और स्नेह करते थे। कितने ही समय तक वह पं. जवाहरलाल नेहरू के प्राइवेट सेक्रेटरी, कितने ही समय तक अमृतसर के एक अच्छे डिग्री कालेज के वाइस-प्रिंसिपल रहे। मान-सम्मान, प्रभुता-वैभव उनको अपनी तरफ खींच नहीं सकते थे। जहाँ अपने आदर्श और सिद्धान्त का सवाल आता, वहाँ वह जरा भी झुकने के लिए तैयार न थे।

ऐसे पुरुष-रत्न को इतनी जल्दी महाप्रस्थान नहीं करना चाहिए था, पर मृत्यु किसका मुलाहिजा करती है ? महमूद सदा के लिए हमें छोड़कर चले गए। उनकी याद हमारी पीढ़ी कभी नहीं भुला सकती। मैं तो चाहता हूँ, वह कभी न भुलाई जाय। धार्मिक, सांस्कृतिक सभी तरह की साम्प्रदायिकता से ऊपर कैसे एक भारतीय को होना चाहिए, इसके वह पूरे नमूने थे।

49

मिश्र जी

मिश्र जी की खुशमिजाजी और जिन्दादिली को देखकर आदमी को सहसा विश्वास नहीं हो सकता था कि वह गम्भीर अध्ययनशील व्यक्ति हैं। उनके जीवन का बहुत बड़ा भाग स्वाध्याय में बीता। आखिरी उम्र में आँखों से मजबूर थे, लेकिन तब भी वह अपने छात्र-छात्राओं से पुस्तकें पढ़ाकर सुना करते थे। जब कोई नहीं रहता, तो रेडियो खोलकर बैठ जाते और देश-देशान्तर की खबरें, व्याख्यान तथा दूसरी चीजें सुनते। जवानी में उनका स्वास्थ्य असाधारण अच्छा था। वे शिकार के शौकीन थे। जंगलों और पहाड़ों में बाघ और हिरन के पीछे फिरते थे। ऐसे स्वस्थ और कर्मठ आदमी का शरीर इतना दुर्बल हो जायगा, इसकी किसको आशा हो सकती थी ? पर बुढ़ापा और उसके अनिवार्य आनेवाली व्याधियाँ फौलादी ढाँचों को भी पिघला देती हैं।

देहरादून के नागरिक जीवन के वह एक अनिवार्य अंग थे, जहाँ 1923 में वे आए। उनके मित्रों की संख्या बहुत अधिक है, जो मिश्र जी के अभाव को अपने जीवन-भर नहीं भूल सकते। हम दोनों की आयु में पाँच साल का अन्तर था, लेकिन कितनी ही ऐसी एक समान बातें थीं, जिसकी वजह से वह बराबर लालायित रहते थे कि मैं आऊँ। मैं भी उनकी मनोरंजक बातों और सुधरे हुए विचारों के सुनने की हर वक्त आकांक्षा रखता था।

मिश्र जी यद्यपि युनिवर्सिटी के ग्रेजुयेट नहीं हुए थे, लेकिन अध्ययनशीलता के कारण उनका अंग्रेजी साहित्य का ज्ञान बहुत ही गम्भीर था। विद्या-दान देने में वह कभी थकते नहीं थे। देहरादून में आजकल आधी संख्या पश्चिमी पंजाब से आए शरणार्थियों की है, जो वस्तुतः पुरुषार्थी हैं। यदि सयाने अपने लिए नया आशियाना बनाने के लिए रात-दिन को एक करते हैं, तो तरुण-तरुणियाँ भी अपने भविष्य के निर्माण में पीछे रहना नहीं चाहते। मिश्र जी के पास हर साल कितने ही पढ़कर परीक्षा की तैयारी करते। उनके पढ़ाने का ढँग ऐसा था कि उनके शिष्य जरूर कामयाबी हासिल करते। मिश्र जी केवल विद्या ही नहीं पढ़ाते, बल्कि उन्हें मार्ग-दर्शन करने की भी जिम्मेवारी अपने ऊपर समझते थे। एक ही महीने की तो बात है। उनकी एक छात्रा एफ. ए. पास कर विशेष ट्रेनिंग लेकर इलाहाबाद से आई थी। चाहती थी, कोई काम सँभाल लें, जिस विषय का उसने प्रशिक्षण लिया था, उसकी बहुत माँग थी। मिश्र जी का प्रभाव छात्रा के लिए हाजिर था। चलते वक्त लड़की से बोले—"अभी ब्याह न करना। अपने पैरों पर खड़ी हो जाना, तब जो मर्जी हो सो करना।" ऐसे सहायक और आत्मीयता रखनेवाले पुरुष के लिए किस के हृदय में स्नेह नहीं होगा ?

मिश्र जी उर्दू के कवि थे, यद्यपि उन्होंने अपनी कविताओं को हमेशा अपने आत्मीयों तक ही सीमित रक्खा। फारसी का उनका ज्ञान बहुत उच्चकोटि का था। उनके पास तीन सौ के करीब बहुत अच्छी-अच्छी फारसी की पुस्तकें थीं। देखा कि घर में इनका इस्तेमाल करनेवाला कोई नहीं है। आखिर बड़े यत्न से एकत्रित

किया था। उनकी उपयोगिता का ख्याल करके सारी पुस्तकों को उन्होंने दिल्ली की जामिया मिलिया को दान कर दिया। दो-तीन वर्ष पहिले मैंने मिश्र जी से कहा था—आप अपने फारसी के ऋण से उऋण हो जायें, हिन्दी अनुवाद के साथ उसका अच्छा कविता-संग्रह कर दें। उन्होंने स्वीकार कर पाँच-छह महीने कोशिश भी की, लेकिन आँखों से पढ़ नहीं सकते थे, इसलिए बड़े अफसोस के साथ काम छोड़ना पड़ा।

पं. हरनारायण मिश्र का जन्म फरवरी 1888 में फर्रुखाबाद में हुआ था। उनके पिता पं. मुन्नालाल मिश्र वहाँ तहसीलदारी में मामूली क्लर्क थे। मिश्र जी की माता श्रीमती लाडली जी भी एक साधारण महिला थीं। उन्होंने फर्रुखाबाद के मिशन स्कूल में पढ़ते मैट्रिक पास किया। कानपुर के क्राइस्ट चर्च कालेज में भी पढ़े। शायद एफ. ए. पास हुए, पर घर की आर्थिक स्थिति के कारण उन्हें काम ढूँढ़ने की जरूरत पड़ी। पहिले कानपुर के गुरुनारायण खत्री स्कूल में, फिर कुछ समय तक क्राइस्ट चर्च स्कूल में पढ़ाते रहे। उनके विचार उदार थे। वे आर्यसमाज के प्रभाव में आये थे। 1923 की जुलाई में वह देहरादून के डी. ए. वी. हाईस्कूल में आ गए। तब से 27 वर्ष (जुलाई, 1950) तक यहीं वह अध्यापक रहे। पिछले छह सालों से स्कूल से अवकाश ले वह अपने घर में अनवरत विद्या-दान करते थे।

देहरादून उन्हें बहुत पसन्द आया था। यहाँ की आबोहवा गर्मियों में देह झुलसानेवाली नहीं थी। शिवालिक और हिमालय के जंगलों में शिकार का सुभीता था। छुट्टियों में मिश्र जी अपनी बन्दूक लेकर जरूर निकल जाते थे। उनके इस गुण को उनके एकमात्र तथा सुयोग्य पुत्र प्रो. रूपनारायण मिश्र ने और भी अधिक मात्रा में अपनाया। उन्होंने बहुत-से बड़े-बड़े बाघों के शिकार किए और उनसे भी अधिक संख्या का कटियारी के राजा साहब के लिए प्रबन्ध किया, जिनके यहाँ वह कई सालों तक प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। पं. हरनारायण मिश्र पक्के कनौजिया थे। साग-पात पर गुजारा करना उन्हें पसन्द नहीं था। रोज मांस चाहिए। आर्यसमाज का असर, मालूम होता है, चिकने घड़े पर पानी की तरह ही पड़ा था। सबसे अच्छा मांस उन्हें शिकार का पसन्द था, 'अधिकस्याधिकं फलं', यदि शिकार अपने हाथ का हो।

दूसरा व्यसन, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, उनका था, अध्ययन और अध्यापन। शायद जीवन के अन्तिम तीन सप्ताह—जब कि चारपाई धर ली थी—छोड़कर उन्होंने कभी पढ़ना नहीं छोड़ा। एक साधारण हाईस्कूल के अध्यापक की आमदनी ही कितनी होती है। उसी में से बचाकर अपने लिए सेवक आश्रम में घर बनाया। सेवक आश्रम की जमीन उस वक्त रिस्पना की कछार थी। रिस्पना एक सूखा नाला है, लेकिन पहाड़ी नाला है, जो पहाड़ में ज़ोर की वर्षा होने पर बड़ा भयंकर रूप ले लेता है। उस वक्त यहाँ की जमीन का कोई मोल नहीं था, तो भी उन्होंने और उनके मित्र प्रो. गयाप्रसाद शुक्ल ने डरते-डरते कुछ जमीन ले ली। ऐसी जमीन पर मकान बनाना बालू की भीत था। रिस्पना यदि इधर मुँह फेर दे, तो न सीमेन्ट का कहीं पता लगता, न ईंट का। डरते-डरते दीवारें खड़ी की गईं। जब देखा, उनके घर से और आगे फर्लांग तक लोगों ने महल खड़े कर लिये, तब अफसोस होने लगा कि थोड़ी जमीन और क्यों न ले ली। अब तो वह सोने के मोल हो गई थी। लेकिन खाने-पहनने और मकान तक ही मिश्र जी का शौक सीमित नहीं था, वह पुस्तकों के भी शौकीन थे। धीरे-धीरे उनके पुस्तकालय में साहित्य, यात्रा, शिकार, इतिहास की हजारों पुस्तकें जमा हो गईं।

1840 में एक अंग्रेज साहसी तरुण फ्रेडरिक विल्सन इधर के हिमालय में आकर रहने लगा। उसी ने पहिले-पहिल गढ़वाल में आलू की खेती आरम्भ की। उसी ने गंगा से देवदार की लकड़ियाँ पहिले-पहिल नीचे बहाईं। मुझे जब उसका नाम मालूम हुआ, तो शिकारी विल्सन के बारे में और जानने की इच्छा हुई। पीछे पड़ा तो आखीर में मिश्र जी की पुस्तकों में विल्सन द्वारा सम्पादित पुस्तक मिली, जो आज से सौ वर्ष पहिले छपी थी। पीछे शिकारी विल्सन की बुढ़िया या पुत्रवधू भी देहरादून में मिल गई। पं. हरनारायण मिश्र के विद्या-प्रेम का यह एक उदाहरण है।

मिश्र जी का कार्यक्षेत्र केवल अध्ययन-अध्यापन तक ही सीमित नहीं था, वह सामाजिक और शैक्षणिक कार्यकर्ता भी थे। उत्तरप्रदेश के माध्यमिक शिक्षा-संघ (सेकेण्डरी एजुकेशन एसोसिएशन) के वह संस्थापक मेम्बरों में थे और कई साल तक उसके जेनरल सेक्रेटरी रहे। देहरादून जिले के शिक्षकों के संगठन के भी वह कई

साल तक सभापति रहे। यहाँ के महिला कालेज—महादेवी कन्या पाठशाला—के भी वह कई साल संयुक्त मैनेजर रहे।

विचारों में वह हमेशा आगे-आगे रहते थे। देहरादून में आज आधी लाख के करीब पश्चिमी पंजाब के शरणार्थी आ बसे हैं। उनमें से कितने ही वृद्धों ने अपनी एक क्लब बना रक्खी है। शहर के बीच के मैदान में सड़क के किनारे क्लब का सीमेन्ट का चबूतरा खड़ा कर लिया गया है, जहाँ शाम-सबेरे वृद्ध मण्डली जमा हो जाती है, ताजी-ताजी खबरें सुनाई जाती हैं। राजनीतिक विषयों पर बहस और धर्म-चर्चा भी होती है। थोड़ा चन्दा करके कभी-कभी वह छोटा-मोटा भोज भी कर लेते हैं। बूढ़ों के लिए समय काटना मुश्किल समस्या है। जिसकी तीसरी पीढ़ी सामने आ गई, उसके दोस्त और समयवस्क बहुत कम रह जाते हैं। अगर दूसरे शहरों के भी वृद्ध देहरादून के इन वृद्धों का अनुकरण करते अपनी वृद्ध-क्लब कायम कर लें, तो कितना अच्छा हो। मिश्र जी से शामिल होने को कहा, तो उन्होंने उत्तर दिया—मैं जीता फोसील बनने के लिए तैयार नहीं हूँ। मिश्र जी वृद्ध थे। दुनिया को छोड़ते समय वह 68 वर्ष 5 महीने के थे। शरीर से वृद्धापन को कौन रोक सकता था, लेकिन उनके विचार जवानों जैसे थे :

"कुनद हमजिन्स बा-हमजिन्स परवाज।" (समान जातिवाला समान जातिवाले के साथ उड़ता है।)

उनके हमजिन्स नौजवान थे। उनके पास बैठने-उठनेवालों में नौजवानों को ही ज्यादा देखा जाता था। वह सदा से राजनीति में उग्र विचारों के थे। कांग्रेस के पक्षपाती रहे। इधर कम्युनिज़्म से बहुत प्रभावित थे। देहरादून के कम्युनिस्ट तरुणों के वह अपार श्रद्धा के भाजन थे और हर तरह से उनकी सहायता करने के लिए तैयार रहते थे। पास आनेवाले छात्र-छात्राओं को वह साम्यवाद की बातें समझाते, रूस और चीन की प्रगति को बतलाते थे। कितने ही वर्षों से देहरादून की शान्ति कमेटी के वह सभापति रहे। ऐसे आदमी को बेकार रहने का मौका कहाँ मिल सकता है ? उनका सारा समय किसी-न-किसी उपयोगी काम में लगा रहता था।

सबसे पहिले मेरा परिचय उनसे आज से तेरह वर्ष पहिले सन् 1943 (जून) में हुआ था। मैं कुछ दिनों के लिए देहरादून में ठहरा था। मिश्र जी ने मुझे और भिक्षु आनंदजी को भोजन के लिए निमंत्रित किया। भोजन करते वक्त बात चली। मैंने कह दिया कि मेरे भोजन की सीमा के एक छोटे-से कोने में ही वह भोजन समा जाता है। उन्हें मालूम हुआ कि मैं मांसाहारी हूँ तो उन्हें अफसोस हुआ। निरामिषाहारी समझकर बड़े प्रयत्न से फलाहारी पकवान तैयार किए गए थे। उस वक्त मेरी पुस्तक 'वोल्गा से गंगा' के निकले बहुत दिन नहीं हुए थे, पर वह मिश्र जी के यहाँ पहुँच गई थी। अपनी पुत्री रूपकुमारी—उस समय हाईस्कूल में पढ़ रही थी—को भी पढ़ाया था। मैंने पूछा : तुम्हें कौन-सी कहानी अधिक पसन्द आई। रूपकुमारी ने बतलाया—'प्रभा'। मिश्र जी की वह एकमात्र पुत्री है। पुत्री चिकित्सा डॉक्टर है और पुत्र यहाँ के डी. ए. वी. कालेज में राजनीति के अध्यापक।

मिश्र जी के दो पोते और एक पोती भी है। दोनों बड़े पोते-पोतियों को पैसा जमा करने का बड़ा शौक पैदा हो गया। मिश्र जी ने कहा : तुम अपना-अपना गोलक ले पैसा जमा करके बैंक में जमा कर दिया करो। रज्जन और मिन्नू पैसे गोलक में भरते, फिर मनसाराम बैंक में डाल आते। मनसाराम बैंक में सूद कुछ ज्यादा मिलता था, इसीलिए उसे अपनाया गया था। कुछ वर्षों में एक हजार रुपये बैंक में जमा हो गए। दादा ने रज्जन को कहा : एक साइकिल ले लो ! लेकिन रज्जन समझते थे : बाबूजी अपने पैसे से साइकिल खरीद देंगे, बैंक से निकालने की क्या जरूरत ? एक दिन एकाएक खबर लगी कि बैंक का दिवाला निकल गया। रज्जन और मिन्नू को बहुत अफसोस हुआ। धीरे-धीरे धक्का दिल से हट गया। आखिरी बार 24-25 जून, 1956 को मैं देहरादून में था। मिश्र जी पेट की बीमारी से चारपाई पर पड़े हैं, यह खबर मिल गई थी। लेकिन वह उठ गए थे। सूचना पाते ही वह मेरे पास चले आये। शाम को उनसे बात हो रही थी। रज्जन और मिन्नू को देखकर उन्होंने हँसते हुए कहा—बेचारों ने बड़ी मेहनत से पैसा जमा किया, लेकिन इनके काम नहीं आया। रज्जन ने कहा—मैंने साइकिल ले ली होती, तो अच्छा रहता। देहरादून में पं. गयाप्रसाद शुक्ल के यहाँ मैं ठहरता

हूँ। मिश्र जी का मकान भी पास में ही है। दोनों कनौजिया हैं, लेकिन जहाँ शुक्ल जी के यहाँ मांस-मछली का नाम लेने में भी पाप लगता है, वहाँ मिश्र जी के यहाँ खुला दरबार है। मिश्र जी का हर बार ऋषि भोजन के लिए आग्रह होता। 24 जून को भी हुआ : कल भोजन हमारे यहाँ हो। उसी दिन मुझे 11 बजे की ट्रेन से जाना था। मिश्र जी ने कहा : 10 बजे भोजन तैयार रहेगा। 25 जून को हमने साथ भोजन किया। यही आखिरी दर्शन और अन्तिम बातचीत थी।

पं. हरनारायण मिश्र को जैसा पुत्र और पुत्रवधू मिले थे, वैसे विरलों ही को मिलेंगे। वह दूसरों के भावों और तकलीफ का बहुत ख्याल रखते थे, तो भी बुढ़ापे का कुछ असर तो होता ही है। उन्हें खाने का बहुत शौक था। एक ही दाल को तीन-तीन बार बघाड़कर लाने को कहते। उन्हें मांस और मिठाई बहुत पसन्द थी। पुत्र और पुत्रवधू उनकी हरेक फर्माइश को खुशी के साथ पूरा करते। कहा जा सकता है, वे एक टाँग पर खड़े रहते थे। इधर पेट का हाजमा पहिले जैसा नहीं रह गया था। मिश्र जी खूब घी डाल-डालकर साग बनवाते जो उनके लिए हानिकारक था। लेकिन अब उनका फलासफी था—यही तो अन्तिम जीवन है, अब क्या फिर हरनारायण मिश्र इसे खाने के लिए दुनिया में आयेंगे। वह पूरे भौतिकवादी थे। ईश्वर-धर्म पर उनका कोई विश्वास नहीं था। बुढ़ापे में लोग नीचे की तरफ लुढ़कते हैं, और वह ऊपर चढ़ते गए। आखिरी बार मिलने पर मैंने कहा—ठीक है कि अबके जाना बहुरि नहीं आना। जो चला गया, उसके लिए फिर कोई चिन्ता की बात नहीं रह जाती, लेकिन हमें अपने मित्रों और बन्धुओं का भी ख्याल करना चाहिए। अगर उनका साथ कुछ दिनों और रहे, तो क्या बुरा ? मिश्र जी मेरी बातों का जरूरत से ज्यादा ख्याल करते थे। मैंने उनसे कहा—आप केवल घी से परहेज कीजिए, नाममात्र छौंकने-बघाड़ने के लिए उसका इस्तेमाल करवाइए। बाकी जो चाहिए सो खाइए। उन्होंने स्वीकार किया परन्तु मालूम नहीं, उसका पालन कहाँ तक किया।

खाते-पीते बुद्धिजीवी के लिए अनिवार्य डायबेटीज़ का रोग मिश्र जी को भी लग गया। इधर हृदय की बीमारी भी खून के दबाव के बढ़ जाने से हो गई। पर, वह रहते थे सदा प्रसन्न। तीन सप्ताह बीमार रहने के बाद 23 जुलाई के 7 बजे सवेरे पं. हरनारायण मिश्र का देहान्त हो गया। बन्धु-मित्रों और उनसे भी अधिक शिष्यों को रुलाते वह चले गए। मिश्र जी के हँसमुख चेहरे को कौन भूल सकता है ? और मेरे लिए तो वह ऐसी क्षति है, जिसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती।

50
मिर्जा महमूद

10 नवम्बर, 1944 से पहिले मैं महमूद को नहीं जानता था। कलकत्ता के करोड़पति अस्फहानी भाइयों का नाम सुन चुका था, विशेषकर 1942 ई. में अनाज की चोरबाजारी से करोड़ों रुपया कमानेवालों में वह भी एक थे। इसके कारण जो बंगाल में अकाल पड़ा था, उसमें लाखों आदमी कुत्ते की मौत मरे थे। पर, उस लूट में केवल अस्फहानी को ही दोष क्यों दिया जाय ? अंग्रेज गवर्नर तक ने लाखों की रिश्वत ली थी। महमूद इन्हीं अस्फहानी भाइयों के चचेरे भाई थे।

मैं 8 नवम्बर, 1944 को तेहरान पहुँचा था। आशा थी कि सोवियत वीसा तुरन्त मिल जायगा और मैं दो-एक दिन में लेनिनग्राद पहुँच जाऊँगा, जहाँ संस्कृत की प्रोफेसरी प्रतीक्षा कर रही है। उस वक्त क्या मालूम था कि मुझे तेहरान में सात महीने रुक जाना पड़ेगा। वहाँ जाने पर मेरे पास इतना पैसा नहीं रह गया था कि जिससे मैं हफ्ते-भर भी किसी साधारण होटल में ठहर सकूँ। जो कुछ ईरान में खर्च करने के लिए बच रहा था, उसका भी भारी भाग एक भारतीय मित्र ने ऐंठ लिया—ऐंठने का यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि मेरे उस दोस्त में अच्छे गुण नहीं थे। आदमी अच्छे और बुरे गुणों का अद्‌भुत सम्मिश्रण देखा जा सकता

है। मेरे मित्र अब्बासी (अभयचरण बोस) कभी सोलह कलापूर्ण देवता बन जाते और कभी शैतान-से मालूम होते। उन्होंने ही एक सस्ता मकान रहने के लिए दिया; लेकिन दो-एक दिन बाद पता लगा कि मकान पर किराया बाकी है। और रहता, तो उसका भी देनदार होता। मेरे पास सौ पौण्ड के चेक थे, पर उन्हें रूस में ही भुनाया जा सकता था, लड़ाई का ऐसा ही निर्बन्ध था। सस्ता पनीर और तन्दूरी रोटियाँ लाकर मैं गुजारा कर रहा था; लेकिन इस पर भी निश्चिन्त कैसे रह सकता था ? जब कुछ ही दिनों बाद उन्हें भी न खरीद सकता।

वृद्ध श्री आगा अमीरअली दीमियाद से मेरा परिचय पहिली ईरान-यात्रा (1935 ई.) में ही हो गया था। उनका घर पास ही में था। मैं 10 नवम्बर को सबेरे उनके पास गया। दीमियाद साहब अत्यन्त सरल मधुर थे और मिलनसारी के बारे में क्या कहना ? चार-पाँच पीढ़ी से उनके पूर्वज भारत में आकर बस गए थे। लेकिन घर में अब भी ईरानीपन का जोर था–फारसी मातृभाषा थी। नवीन ईरान की सुहावनी बातों को सुनकर उनके पुत्र और पुत्री ईरान जाने के लिए आतुर हो गए और दीमियाद साहब अपना सब-कुछ बेचकर ईरान चले गए। वह बड़े धर्मभीरू थे और वृद्धापन में भी, जब कि उनकी शारीरिक शक्ति बिल्कुल क्षीण हो गई थी, पाँच बार नमाज पढ़े बिना नहीं रहते थे। मैं अनीश्वरवादी घोर नास्तिक था, इसे वह अच्छी तरह जानते थे; लेकिन वह मेरे साथ बहुत स्नेह रखते थे। उस दिन सबेरे जब मैं उनसे मिलने गया, तो वहाँ एक हँसमुख गोरे चेहरेवाले प्रौढ़ पुरुष को देखा। उसकी चमकीली आँखों में स्नेह और बुद्धि दोनों का आभास मिलता था। यही मिर्जा महमूद अस्फहानी थे।

दो घण्टे तक वहीं हमारी बातचीत होती रही, और हृदय में जो आर्थिक चिन्ता का शूल चुभ रहा था, उसे मैं भूल गया। फिर महमूद ने कहा–"चलिए, आप तो हैदराबाद में रहे हैं, एक मुल्ला सैयद मुहम्मद अली 'दाइउल-इस्लाम' से भेंट कराएँ।" सैयद साहब ने बीसियों साल हैदराबाद में बिताये और फारसी का एक विशाल कोश 'फरहंगे निजाम' लिखकर वहीं से छपवाया था। बहुत देर तक बात होती रही। मिर्जा महमूद के बच्चे कलकत्ता में अपनी नानी के पास थे, बीवी मर गई थी। वह 35-36 वर्ष के स्वस्थ पुरुष थे, अब दूसरी शादी करना चाहते थे। 'दाइउल-इस्लाम' की तीन अविवाहित लड़कियाँ थीं। बड़ी दोनों में, एक हैदराबाद की एम. ए. और दूसरी एम-एस. सी. थी, छोटी जूनिजर केम्ब्रिज पास थी। दाइउल-इस्लाम यद्यपि हैदराबाद में रहे थे, उनकी लड़कियाँ वहाँ के मुस्लिम-समाज में शिक्षित-दीक्षित हुई थीं, पर उनको ईरानी होने का बहुत अभिमान था और पुत्रियों का ब्याह ईरानी से ही करना चाहते थे। मिर्जा महमूद ईरानी और हिन्दुस्तानी दोनों थे, इसलिए वह दामाद बनने योग्य थे। लेकिन, पिता अपनी सबसे बड़ी लड़की का ब्याह सबसे पहिले करना चाहते थे, जिसे मिर्जा महमूद पूरी गाय कहते थे। वह सदा रोजा-नमाज रखनेवाली भोली-भाली लड़की थी। महमूद उसे क्यों पसन्द करने लगे ? वह मझली को पसन्द करते थे; किन्तु बाप तैयार नहीं था। अन्त में बाप को मझली लड़की का ही ब्याह करना पड़ा, लेकिन महमूद से नहीं, किसी दूसरे से।

पहिले ही दिन हम आठ-दस घण्टे साथ-साथ रहे। आदमी के पहचानने के लिए इतना समय काफी नहीं है, पर एक दूसरे के ऊपर विश्वास करने की भूमिका उस दिन जरूर तैयार हो गई।

महमूद के पिता आगा हाशिम और कलकत्ते के अस्फहानी ब्रादर्स के पिता सगे भाई थे। दोनों का कारबार बहुत दिनों तक साझे में रहा और वह भारत में ही नहीं, इंग्लैंड तक फैला हुआ था। महमूद के पिता रुपया कमाने और उड़ाने दोनों में बड़े बहादुर थे। मदिरा, मदिरेक्षणा के अनन्य साधक थे कि जिसके लिए अत्यन्त उपयुक्त स्थान समझकर वह बुढ़ापे में तेहरान में रहने लगे। उड़ाते-पड़ाते भी तेहरान में मरते वक्त (1943 ई.) उन्होंने चार-पाँच लाख की जायदाद छोड़ी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय चीनी का भाव बहुत बढ़ गया था। ईरान में तो वह सोने की मोल बिक रही थी। बूढ़े सौदागर को पहिले ही भनक लग गई थी और उन्होंने दसियों हजार बोरे चीनी हिन्दुस्तान से मँगा ली, जिसमें 13-14 लाख रुपये का नफा हुआ। चीनी के बोरे हिन्दुस्तान के सीमान्त स्टेशन नोककुन्डी में आकर अटक गए थे। उन्हें निकालने के लिए पिता ने कलकत्ते से महमूद को बुला लिया। महमूद भी ताजिर के पुत्र थे। उन्होंने चीनी पार करा ली। कह रहे थे–"वह चीनी आज रहती, तो नफा एक करोड़ का हुआ होता।" महमूद के तेहरान पहुँचने के पाँच मास बाद पिता मर गए। जायदाद

में अपना हिस्सा लेने और बेचने की समस्या महमूद के सामने थी। उनके सौतेले भाइयों और बहनों की संख्या काफी थी, जिनमें से कुछ भारत में और कुछ ईरान में थे।

एक हफ्ते में हमारा परिचय घनिष्ठ मित्रता के रूप में परिणत हो गया। महमूद समझदार और बड़े खुले दिल के थे। इसी बीच में उन्हें मालूम हो गया कि मैं किस कठिनाई में पड़ा हूँ। मेरे पास दो-तीन तोले सोने तथा एकाध और चीजें थीं, जिनको बेचने की मैं सोच रहा था। इसी समय महमूद ने बेतकल्लुफी से कहा–"चलो फकीरों की झोंपड़ी में, संकोच मत करो!" उनके फक्कड़ स्वभाव से मैं परिचित हो गया था। तेहरान विश्वविद्यालय के पास ही तिमहले पर उन्होंने दो कोठरियाँ ले रक्खी थीं। बहुत मामूली सामान थे। नौकरानी रुकैया खाना बना दिया करती थी। किसी ईरानी सौदागर के साथ उन्होंने कुछ कारबार शुरू कर लिया था, इसलिए 9 बजे वह दफ्तर चले जाते। मैं अपने वीसे के लिए कभी ब्रिटिश और कभी सोवियत दूतावास का चक्कर लगाता, या कहीं से कुछ पुस्तकें लाकर पढ़ता। महमूद के आने पर कभी हम दीमियाद साहब के यहाँ जाते और कभी दाइउल-इस्लाम के यहाँ।

एक-दो सप्ताह तक मुझे बहुत बुरा लगता रहा कि मैं क्यों अपने दोस्त पर अपना भार डाल रहा हूँ। पर, पीछे उनके स्वभाव ने मेरे मन से इस संकोच को निकाल दिया।

महमूद को ब्याह के लिए कई लड़कियाँ थीं। दीमियाद साहब की लड़की ताहिरा को भी वह पसन्द करते, पर उसकी स्वतन्त्र प्रकृति से समझ लिया कि उसके साथ ज्यादा समय तक नहीं निभेगी। दूसरी लड़कियों में सौतेली माँ की छोटी बहिन भी थी। बड़ी बहिन की इच्छा थी कि महमूद ब्याह कर लें, तो घर की सम्पत्ति घर में रह जाएगी। एक समय तक जायदाद के लिए सौतेली माँ से महमूद की अनबन थी। बाप की अचल सम्पत्ति पर अधिकार सौतेली माँ का था। महमूद चाहते थे कि भाई अपने हक से वंचित न हों, लेकिन भाइयों ने उनसे चाल चलनी शुरू की। खानम (सौतेली माँ) महमूद की होशियारी को जानती थीं और उनसे मेल करना चाहती थीं। दोनों में मेल हुआ और अब इस्मत खानम की बहिन इज्जत खानम से शादी होने की बात चलने लगी। महमूद मानते थे–"इज्जत सुन्दर तरुणी है। सुशिक्षित न होने पर भी उसमें और गुण हो सकते हैं, किन्तु शीराज के इस खानदान पर मैं विश्वास नहीं कर सकता।" लेकिन उनके पिता आगा हाशिम अस्फहानी भी तो इसी खानदान में शादी कर चुके थे।

दिसम्बर के अन्त तक मेरी आर्थिक चिन्ता दूर हो गई। मेरे मित्र सरदार पृथ्वीसिंह ने किसी ईरानी सौदागर की मार्फत एक हजार रुपये बम्बई से भेज दिये और पाँच सौ मेरे प्रकाशक (श्रीनिवास अग्रवाल) के यहाँ से भी आ गए थे। लड़ाई के कारण मुद्रा के आने-जाने पर जबर्दस्त प्रतिबन्ध था, किन्तु व्यापारी उपाय निकाल ही लेते थे। जिनके व्यापार एक से अधिक देशों में थे उनकी चिट्ठियाँ हुंडी, चेक का काम करती थीं। मेरे पास डेढ़ हजार रुपये आ चुके थे। इतने से छह महीने गुजारा कर सकता था, किंतु महमूद को मेरा ऐसा करना बुरा लगता, इसलिए मेरी हिम्मत नहीं हुई।

इस्मत खानम से समझौता हो जाने पर बहन के साथ ब्याह करने की बात तै होने लगी। अब वह जोर देने लगीं–"यहीं चले आओ। क्यों अलग रहकर अपना खर्च बढ़ाते हो।" महमूद को भी अन्त में मानना पड़ा। 19 दिसम्बर को तेहरान में चारों तरफ बर्फ फैली हुई थी, दिन के आठ-नौ बजे, अब भी हिमवर्षा जारी थी। इसी समय घोड़ागाड़ी पर सामान लदवाकर हम नाजिमुत्तुज्जार (जगतसेठ) आगा हाशिम अली अस्फहानी के घर पर चले गए। इसके बाद पाँच महीने के लिए यही मेरा भी निवास-स्थान बना। महमूद जब अकेले थे, तो उनके साथ रहने में संकोच नहीं था। लेकिन, अब अनिश्चित काल के लिए खानम के मेहमान बनने का सवाल था। मेरे पास पैसा था, लेकिन भारत की तरह यहाँ पर भी पेइंग गेस्ट (पैसा देनेवाले मेहमान) के रखने का रवाज नहीं था।

थोड़े ही दिनों में यह घर भी मेरा अपना घर हो गया। गृहस्वामिनी बहुत ही सुसंस्कृत महिला थीं। उनके असाधारण सौन्दर्य ने ही 'नाजिमुत्तुज्जार' का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया था। उम्र 35-40 से कम न थी, पर देखने में 25 की मालूम होती थीं। वह बहुत सुन्दर सितार बजाती थीं। भोजन के बाद रात को प्रायः

रोज उससे हमारा मनोरंजन करती थीं। इन पाँच महीनों में ईरानी उच्च-मध्यवर्ग के जीवन को बहुत नजदीक से देखने का मुझे मौका मिला। दिसम्बर के अन्त में मुहर्रम का पवित्र महीना आ गया। ईरान शिया देश है। वहाँ इमाम हुसने की शहादत (वीरगति) का बहुत मातम मनाया जाता है। 25 दिसम्बर को हुसेन का 'रोजेकत्ल' और ईसा का भी जन्मदिन था। नवीन ईरान में मुहर्रम के लिए स्त्रियों का 'गिरिया' (रोदन) और पुरुषों की 'सीनाजनी' (छाती पीटना) बन्द कर दी गई थी, पर खानम उसे नहीं मानती थीं। एक दिन एक मुल्ला 15 मिनट के लिए आया। उसने कुछ मर्सिया गाये। खानम ने कपड़े में मुँह छिपाकर आँसू बहाये–ये आँसू पाप को धो डालनेवाले आँसू थे।

जाड़ों के दिन थे, तेहरान में बर्फ पड़ा करती है। सर्दी में घूमने-घामने भी कभी-कभी जाता था; लेकिन अधिक समय घर में रहता। सबेरे सात-साढ़े सात बजे उठकर हाथ-मुँह धो सोने के कमरे में पनीर-मक्खन-रोटी और बिना दूध की तीन गिलास मीठी चाय पीता। आठ-नौ बजे के करीब उस कमरे में पहुँच जाता, जहाँ 'कुर्सी' के नीचे परिवार के लोग बैठे रहते। सर्दी के कारण मकान को गरम करने की आवश्यकता होती है। मध्य-एशिया, अफगानिस्तान और ईरान में लकड़ी दुर्लभ है, इसलिए लोगों ने 'कुर्सी' का तरीका निकाला है। गज-भर लम्बी, गज-भर चौड़ी, हाथ-भर ऊँची चौकी को 'कुर्सी' कहते हैं, जिसके ऊपर चौकी से दो-दो हाथ बाहर निकलनेवाली मोटी रजाई रख दी जाती है। चौकी के नीचे अँगीठी में कोयले की आग रहती है, जिससे कुर्सी और रजाई गरम हो जाती हैं। लोग चौकी के चारों ओर मसनद के सहारे बैठे शरीर को छाती तक रजाई के नीचे डुबो देते। बहुत कम खर्च में गरम रखने का यह सुन्दर तरीका था। बैठे-बैठे पढ़ना या गप्पें मारना ही हमारा काम था। मेरे लिए इन गप्पों से बहुत लाभ था; क्योंकि वहाँ केवल फारसी में ही बात होती थी। एक बजे रसोईदारिन भोजन तैयार करके लाती, जिसमें तन्दूर की मोटी रोटियाँ, चावल या पुलाव, गोश्त, भाजी, कुछ हरी पत्तियाँ, सिर्का और सिर्कावाली प्याज मुख्य तौर से रहते। यदि बाहर जाना नहीं होता, तो मध्यान्ह-भोजन के बाद फिर वहीं पढ़ता, लेटता या बातें करता। तीन-चार बजे फिर दो-तीन गिलास मीठी चाय पीता। शाम को सात-आठ बजे फिर रात्रि-भोजन में चावल, मांस, सब्जी, सिर्का, रोटी, कलबासा (सौसेज) मुख्य तौर से रहते। भोजन के बाद फल आता। ग्यारह बजे रात तक संगीत या गप्प की गोष्ठी होती।

मेरे नास्तिक विचारों को इस्मत खानम के सामने कहने की न आवश्यकता थी और न उन्हें प्रकट करना अच्छा था। वह यह तो जानती थीं कि मैं मुसलमान नहीं, बौद्ध हूँ। पर बौद्ध काफ़िर होते हैं, यह ख्याल उनके मन में नहीं था। फक्कड़ महमूद को नमाज की क्या पड़ी थी ? एक दिन खानम शिकायत कर रही थीं–"गुनाह अस्त, बराय हर मुसलमान नमाज फर्ज अस्त" (पाप है, हर एक मुसलमान के लिए नमाज पढ़ना कर्तव्य है)। मेरे मुँह से निकल गया–"हर कसे कि शराब न मीखुरद, बराय उन नमाज माफ अस्त।" (जो कोई शराब नहीं पीता, उसके लिए नमाज माफ है।) मुझे नहीं मालूम था कि मैं खानम के किसी मर्मस्थान पर चोट पहुँचा रहा हूँ। उन्होंने बड़े उत्तेजित स्वर में कहा–"तू पैगम्बर हस्ती", (तुम पैगम्बर हो ?) उस वक्त सुन्दरी का तमतमाता चेहरा देखने लायक था। अभी सवेरे की चाय का वक्त था। ओठों पर अधर-राग नहीं चढ़ा था, न गालों पर पौडर और रूज़ ने अपना रंग जमाया था। गरम लोहे से घुँघराले बनाये बालों में कंघी नहीं फिरी थी और न मोती की दुलड़ी तथा हीरे की गुच्छेदार सेफ्टी पिन सीने पर रक्खी गई थी। खानम की बड़ी-बड़ी आँखों में गुस्से से सुर्खी उतर आई थी। उनके उत्तेजित स्वर से क्रोध का भी आभास मिल रहा था। लेकिन, जल्दी ही अपने ऊपर संयम करके कहने लगीं–"दुनिया में इस्लाम सबसे अच्छा और अन्तिम मजहब है।" फिर खुदा और इस्लाम पर उपदेश देने लगीं। मैंने 'चश्म' (हाँ जी) कहकर सिर झुकाया। वह जानती थीं, मैं शराब नहीं पीता, छैल-छबीली इस्मत खानम शराब की बहुत शौकीन थीं, किन्तु रोज एक-दो बार नमाज पढ़ लेती थीं। वैसे वह बड़े कोमल हृदय की महिला थीं। अन्तिम दिनों में मैं दूसरी जगह चला गया और जब उन्हें मालूम हुआ कि मुझे बुखार है, तो बहुत चिंतित हो गईं।

मिर्जा महमूद तेहरान में मुझे अकारण बन्धु मिले थे, जिनके उपकार को किसी तरह मैं चुका नहीं सकता। खानम और महमूद के सम्बन्ध को अच्छा बनाये रखने की मैंने कोशिश जरूर की। महमूद का मन कभी-कभी

इस ब्याह से उचट जाता। मैं समझाता कि ब्याह करना है, तो जिस किसी लड़की में भी कुछ दोष हो ही सकते हैं। बीच-बीच में बहिन जेवर और दूसरी बातों की कुछ शर्तें रख देतीं, जिसको महमूद जकड़बन्दी समझते। सब होते-हवाते 6 मार्च, 1942 को ब्याह का दिन निश्चित हो गया। निमंत्रण-पत्र भी छपवाकर भेज दिये गए। लेकिन उस दिन 4 बजे शाम को घूमकर लौटा, तो मालूम हुआ, ब्याह टूट गया। दो कड़ी शर्तें रक्खी थीं–इज्जत को दूसरे मुल्क (हिन्दुस्तान) में नहीं ले जाएँगे और छह महीने तक खर्च न देने पर विवाह-विच्छेद का बहू को अधिकार होगा। महमूद भारत में पैदा हुए, भारतीय माँ की सन्तान थे। वह अपने देश को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। वह अड़ गए, खानम को नीचे उतरना पड़ा और शर्त यह ठहराई गई कि इज्जत की मर्जी के बिना हिन्दुस्तान नहीं ले जाएँगे। 13 मार्च को जाड़ा समाप्त नहीं हुआ था। यही विवाह का दिन निश्चित हुआ था। पहिले ही से विवाह के मंगलगीत और दूसरे रीति मंगलाचार होने लगे। मुझे भी वर का भाई होकर ईरानी विवाह देखने का मौका मिला।

एकाध हफ्ते पहिले मैं दूसरी जगह चला गया था, पर वहाँ रोज आता रहता था। विवाह के दिनों में वहीं था। मेरे पास, घड़ी, सोने की जंजीर आदि तीन-चार सौ की चीजें थीं, मैंने उन्हें बहू को भेंट के तौर पर अर्पित किया। पर, इससे उस परिवार और मिर्जा महमूद के ऋण से मैं उऋण नहीं हो सकता था।

मई के प्रथम सप्ताह में महमूद से विदाई ले, मैं रूस चला गया। वहाँ पच्चीस महीने रहने के बाद भारत लौटा। पहिले ही पहिल सितम्बर 1947 में कलकत्ता जाने पर मिर्जा महमूद का पता लगाने की बहुत कोशिश की। पाकिस्तान बन जाने पर सन्देह था कि वह भी अपने चचेरे भाइयों की तरह वहाँ चले गए होंगे। बहुत पूछ-ताछ करने पर मालूम हुआ कि वह अपनी पत्नी (इज्जत खानम) के साथ भारत आये थे, लेकिन फिर ईरान लौट गए। रूस में रहते उनकी चिट्ठियाँ मिलती रहीं। यहाँ से जब-तब मैंने चिट्ठियाँ लिखीं, पर उनका उत्तर कभी नहीं मिला।

51

पं. गयाप्रसाद शुक्ल

शुक्लजी सर्वमित्र हैं, इसलिए अपना विशेष मित्र कहने में संकोच होता है। किसी का कोई काम हो और उनके पास पहुँच जाय, तो वह उसकी सहायता करना अपना कर्तव्य समझते हैं। ऐसे कामों में उनका इतना समय जाता है कि बाज वक्त ख्याल आता है, यह समय का अत्यन्त अपव्यय है। पर, यह उनके स्वभाव में दाखिल हो गया है, और स्वभाव दुरतिक्रमः! संस्कृत और हिन्दी का उनका गम्भीर ज्ञान कागज पर भी किसी पुस्तक के रूप में उतरना चाहिए, इसके लिए मैं कुछ सालों तक प्रयत्नशील रहा। कृष्णकाव्य के उद्गम और विकास को भी चुन लिया गया। शुक्लजी ने मंजूर किया–"देहरादून में रहते तो मैं समय नहीं निकाल सकूँगा, इसलिए कुछ समय के लिए मसूरी चला आया करूँगा।" पर उनके कामों ने इसके लिए कभी समय नहीं दिया। सेवक आश्रम में उनके घर पर अगर कोई मिलने जाय, तो कालेज के समय वह जरूर अपनी कक्षा में होंगे, बाकी समय 12 बजे रात तक भी ठिकाना नहीं कि वह किस समय घर आएँगे। वह बहुधन्धी हैं, लेकिन यह बहुधन्धा अपने लिए नहीं, दूसरों के आग्रह और सहायता के लिए है।

शुक्लजी बनारस में पैदा हुए कनौजिया ब्राह्मण हैं। निरालाजी की सुनी परम्परा के अनुसार मांस खाना कनौजियों का धर्म है–कान्यकुब्ज वंशावलि में ऐसा ही लिखा हुआ है। इसका समर्थन शुक्लजी के पास में रहनेवाले उनके जातिभाई पं. हरिनारायण मिश्र करते थे। शायद यह परिवार के काशी में बसने का प्रभाव हो या संस्कृत पढ़ने का।

शुक्लजी से देखादेखी पहिले भी कमी हुई थी, किन्तु वह मेरे सुपरिचित 1950 ई. में हुए जब कि मसूरी

मेरा घर बन गया। फिर तो जब भी पहाड़ से नीचे उतरकर कहीं जाना पड़ता, तो जाते या लौटते एक पड़ाव शुक्लजी के यहाँ जरूरी पड़ता था। शुक्लाइनजी को अपने हाथ से पकवान बनाना बहुत पसन्द है। पुराने परिवार के बहू को यह करना ही पड़ता है, और वह उनका अब भी नहीं छूटा है। उनकी स्वादिष्ट सब्जी और पकवान से जीभ को तो बड़ी तृप्ति होती है, पर संकोच करते-करते भी दो कौर अधिक खा लेने का परिणाम पेट के लिए अच्छा नहीं होता। उनके इकलौते पुत्र श्री विश्वनाथ शुक्ल बी. ए. करके रोडवेज में नौकरी कर रहे थे। उन्होंने कवि-हृदय पाया है और पढ़ाई में भी चुस्त हैं। रोडवेज की नौकरी उनके अनुकूल नहीं हो सकती थी और कुछ ही समय बाद प्रथम श्रेणी में एम. ए. करके उन्होंने कालेज में अध्यापकी करनी शुरू की। "चना-चबेना, गंगजल, जो पुरवै करतार। कासी कभी न छोड़िए, विश्वनाथ दरबार।" साहित्यिकों के लिए विश्वनाथ-दरबार शिक्षण-संस्थाएँ ही हैं।

बीस वर्ष से अधिक हुए, जब शुक्लजी देहरादून में आकर अध्यापक बने। तब कालेज नहीं, डी. ए. वी. स्कूल था। देहरादून भी इतना बढ़ा नहीं था, विशेषकर उनका मुहल्ला तो सुनसान जंगल था। काशीवास छोड़ यहीं उन्होंने अपने लिए घर बनवाया और स्कूल की उन्नति के साथ-साथ शुक्लजी का व्यक्तित्व भी विकसित हुआ। वह एक कुशल सहृदय अध्यापक हैं, इसलिए उनके विद्यार्थी उन्हें पढ़ने के बाद भी नहीं भूल सकते। उनका शिष्य-परिवार बहुत बड़ा है।

पहिले ही से उनके पास कामों की कमी नहीं थी। कांग्रेसवालों ने नगरपालिका में खड़ा कर दिया और चुने जाने पर शिक्षा-समिति का अध्यक्ष बना दिया। अब समय कहाँ से रहे। उन्होंने जिन्दगी में एक और गलती की, बाइसिकल चढ़ना नहीं सीखा। देहरादून की नगरपालिका राजपुर तक फैली हुई है, अर्थात् उनका कार्य-क्षेत्र कई मील तक चला गया है। सवारी मोटर और ताँगा छोड़कर और कोई नहीं है। रोज-रोज के लिए ऐसी खर्चीली सवारी ली नहीं जा सकती। परिणाम यह होता है कि उन्हें सब जगह पैदल जाना पड़ता है। इतनी लम्बी चहलकदमी करने का यह फल तो जरूर मिलेगा कि उन्हें पचास वर्ष के बाद अब डायबेटिज़ का डर नहीं है, पर शरीर कभी-कभी हड़ताल करना चाहता है। मसूरी मोटर के रास्ते से यद्यपि देहरादून से बाईस मील है, लेकिन शुक्लजी पहाड़ पर मोटर की सवारी से वंचित हैं। उन्हें कै होने लगती है। जब भी आते हैं, पैदल ही आते हैं।

शुक्लजी के माता-पिता अभी भी जीवित हैं। पिता की उम्र 80 से ऊपर है। शुक्लजी के बेटे और बेटी की भी सन्तानें अर्थात् उन्होंने सब मिलाकर अपनी चार पीढ़ियाँ देख लीं। इसी के साथ जमाना भी बदलते देखा। बनारस के सभी सम्पन्न घरों में जमींदारी होना जरूरी था। शुक्लजी की भी जमींदारी थी। पहिले ही सोचते थे, इसे निकाल दें, लेकिन भाई कहते थे—जमींदारी से इज्जत और शोभा है, अभी जल्दी क्या पड़ी है ? जब जैसे ही पता लगेगा, बेंच लेंगे! लेकिन, जब पता हुआ, तो जमींदारी उठने की बात पक्की हो गई थी। अब कोई उसे कौड़ी पर भी खरीदने के लिए तैयार नहीं था। बस सरकार से मिलनेवाली क्षति-पूर्ति के रुपये की ही उम्मीद है। सीर के भी खेत काफी थे। अनुपस्थित और अपने हाथ से खेती न करनेवाले किसान के हाथ में धरती माता कब तक रह सकती हैं ? शुक्लजी को इसकी पर्वाह नहीं थी। वह इस उथल-पुथल की बात हँसते हुए कहते हैं, "बनारस साल में एक बार जरूर जाते हैं, और कभी गाँव पर भी हो आते हैं।" बड़ी जातवालों की कैसी छीछालेदार हो रही है, उसे बतलाते हैं, "जो पहिले उनके सामने जमीन पर भी नहीं बैठते थे, अब चारपाई पर बैठे रहते हैं, बैठे-बैठे 'पा-लागन' कर दिया तो बहुत।" शुक्लजी को न पा-लागन की भूख है और न जमींदारी के जाने का अफसोस। उनका घर-द्वार देहरादून है, 24 घण्टे में 18 घण्टा काम में जुटे रहना उन्हें पसन्द है—मानसिक ही नहीं, शारीरिक दौड़ में भी।

पहिले डी. लिट्. की थेसिस के लिए निबन्ध के तौर पर साहित्य-रचना का ख्याल आया था। अब तो उनके शिष्यों में कितने ही डॉक्टर हो गए हैं, इसलिए उनके लिए उसका कोई महत्त्व नहीं है। पर, अब भी मैं जब-तब कहता हूँ कि अपने परिपक्व ज्ञान को कागज पर उतारिए। हुँकारी अब भी भरते हैं। क्या पता कभी कुछ कर दें।

52

डॉ. सत्यकेतु

समानधर्मा होने से डॉक्टर सत्यकेतु के नाम से मैं पहिले भी परिचित था। 'मौर्य साम्राज्य' लिखने पर उन्हें मंगला प्रसाद पारितोषिक मिला था। 1943 ई. में वे मसूरी में होटल संचालक थे। उस समय मैं दो-तीन दिन के लिए मसूरी आया था। पता लगा था, पर मुलाकात नहीं हुई। 1948 में मुझे मालूम होने लगा था कि यदि काम करना है तो गर्मी-बरसात में हिमालय के ही किसी भू-भाग में रहकर वह हो सकता है। जाड़े का भी मुझे खौफ नहीं था, क्योंकि रूस की जिस सर्दी को मैं काट आया था, वह हमारे यहाँ बारह-तेरह हजार फुट के ऊपर होती है, और हिमालय की पुरियों में कोई भी सात हजार फुट से अधिक ऊँची नहीं है। दार्जिलिंग-कलिम्पोंग से कश्मीर तक के हिमालय के बहुत-से भागों को मैंने देखा है। कश्मीर, डलहौजी, शिमला एक छोर पर पड़ते हैं, इसलिए वहाँ रहना मुझे पसन्द नहीं था। कुल्लू-उपत्यका के नग्गर और मनाली अपनी ओर जरूर आकृष्ट करते थे, किन्तु उस समय वहाँ सड़क बिगड़ी हुई थी, हर साल ही मोटर-सड़क टूटने का डर रहता था, यह बड़ी बाधा थी। उस समय मिट्टी का तेल प्राप्त करना भी एक समस्या थी, जिसके बिना रात को रोशनी नहीं मिलती और काम नहीं हो सकता था। अनुकूल स्थान तलाश करते 1948 ई. में शिमला होते मैं कनौर तक गया। वहाँ भी नजर नहीं जमी। 1949 ई. में कलिम्पोंग-दार्जिलिंग देखा, वह भी देश के दूसरे छोर पर पड़ते थे। सबसे दिक्कत यह थी कि बहुत दूर का फासला छोटी लाइन से पार करना पड़ता। यह लाइन कभी बी. एन. डब्लू. आर. के नाम से प्रसिद्ध थी, फिर ओ. टी. आर. नाम पड़ा और आजकल एन. ई. (उत्तर-पूर्व) रेलवे कही जाती है। नाम चाहे कितना ही बदले, लेकिन गुण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हरेक भुक्तभोगी यही कहता है कि खुदा बचावे इस लाइन से। साल-भर रहने के बाद कलिम्पोंग-दार्जिलिंग का भी ख्याल छोड़ना पड़ा। अब नैनीताल और मसूरी दो ही में किसी को अपना स्थायी निवास बनाना था।

मेरे एक मित्र ने नैनीताल जिले के रामगढ़ की बड़ी प्रशंसा की। मौसिम के वक्त वहाँ सेब और दूसरे फलों की भरमार हो जाती है, यह आकर्षण जरूर था। लेकिन, वहाँ रहना हो सकेगा, इस पर पूरा भरोसा नहीं था। इसीलिए जब मालूम हुआ कि डॉ. सत्यकेतु नैनीताल में हैं, तो उन्हें भी आने के लिए पत्र लिख दिया था। 12-14 मन सामान लेकर हम शाम को रामगढ़ पहुँचे। रहने का मकान कुएँ में था, अर्थात् काफी उतराई उतरनी पड़ती थी, जो लौटते वक्त चढ़ाई हो जाती थी। मिट्टी के तेल ही नहीं, खाने-पीने की चीजों के मिलने में भी बड़ी दिक्कत थी, जो एक-दो दुकानें थीं, वह तेरह-बाईस ही थीं। रात-भर रहकर मालूम हो गया कि यहाँ रहना हमारे लिए ठीक नहीं हो सकता। अगले ही दिन उन्हीं कुलियों से फिर सामान उठवाकर बस के अड्डे पर गए और लाद-लूदकर भवाली होते नैनीताल पहुँचे।

हिमालय की अनेक पुरियों को देखे होने से नैनीताल के प्रताप को देखकर आँखें चौंधिया जायँ, ऐसी बात नहीं थी। पर, नैनीताल का ताल बहुत ही सुन्दर चीज है, जो श्रीनगर (कश्मीर) को छोड़कर किसी को प्राप्य नहीं है। हम अपना सामान उठवाकर डॉक्टर साहब के पास पहुँचे।

इतिहास का एक गम्भीर विद्वान् होस्टल चलायें, इसे देखकर 'पढ़े फारसी बेचे तेल, यह देखो कुदरत का खेल' की कहावत याद आती थी। यह कुदरत का खेल नहीं, बल्कि आज के समाज की अन्धेरनगरी का खेल था। डॉ. सत्यकेतु ने संस्कृत और दूसरे शास्त्रों का अध्ययन गुरुकुल में किया। गुरुकुल के स्नातकों को किसी समय लोग समझते थे कि उनकी कोई योग्यता नहीं होती। अब गुरुकुल की डिग्री बी. ए. के बराबर समझी जाती है और वहाँ के स्नातक सीधे एम. ए. में बैठ सकते हैं। संस्कृत, हिन्दी में वह परीक्षा में सबसे ऊपर रहते हैं, यह उनकी योग्यता का प्रमाण है। संस्कृत और हिन्दी साहित्य के पढ़नेवाले के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है, यदि वह अपने आरम्भिक आठ या दस साल को गुरुकुल में बिता दे। दूसरे बोर्डिंग स्कूलों की अपेक्षा गुरुकुल का खर्च भी ज्यादा नहीं है।

डॉ. सत्यकेतु गुरुकुल, काँगड़ी के स्नातक बनने के बाद कुछ समय तक अध्यापक रहे। इसी बीच अपनी पुस्तक पर उन्हें मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला। विदेश में जाकर अनुसन्धान और अधिक ज्ञान अर्जन करने की आकांक्षा हुई, पर उसके लिए पैसों की आवश्यकता थी। वह गरीब माँ-बाप के सन्तान थे। गुरुकुल में भी शुल्क कम करके दाखिल हुए थे। पर, आदमी यदि दृढ़ संकल्प कर ले, तो 'जो इच्छा करिहौ मन माही। हरि प्रताप कछु दुर्लभ नाहीं।' और यहाँ हरि आदमी का साहस है। अब वह गृहस्थ भी हो गए थे। उनकी पत्नी सुशीला देवी संस्कृत की शास्त्री और एफ. ए. पास थीं। उन्होंने अकेले ही नहीं बल्कि पत्नी और छोटे से बच्चे को भी साथ ले जाने का निश्चय किया। आखिर दरवाजा खुला और अपने परिश्रम के ही बल पर। किसी पुस्तक पर इतना रुपया मिल गया कि केतु-दम्पती पेरिस पहुँच गए। पति ने पेरिस डी. लिट्. के लिए अनुसन्धान करना शुरू किया और शीलाजी ने शिक्षण-विज्ञान को सीखना। परिवार-सहित रहने पर वह अपने भी रसोई बना सकते थे, जिससे खर्च में कमी होती ही थी। डॉक्टर बनकर वह भारत लौटे। यूरोप में देखकर उन्होंने समझा कि भारत में भी छोटे बच्चों का विद्यालय खोला जा सकता है। पति-पत्नी पेरिस से शिक्षा का अनुभव लेकर आये थे, उन्हें विश्वास था कि दिल्ली में ऐसी संस्था के सफल होने की बड़ी सम्भावना है। विद्यालय खोल दिया। इसी समय विश्व-युद्ध के कारण मध्यवित्त लोगों की स्थिति खराब हो गई और विद्यालय के चलने की कोई सम्भावना न रहने के कारण उसे बन्द कर देना पड़ा।

दूसरा बुद्धिजीवी होता, तो हाथ पर हाथ धरकर बैठता और किस्मत को कोसता। पर, डॉ. सत्यकेतु में कोई विशेष बात थी, तभी तो साधनहीन होने पर भी उन्होंने परिवार सहित विदेश में जाकर पढ़ने की हिम्मत की। जैसी स्थिति हो, उसके मुताबिक काम करना चाहिए। ईमानदारी कायम रहे, किसी काम के करने से संकोच नहीं करना चाहिए, यही उनका मोटो था। लड़ाई के दिनों में हिमालय की विलासपुरियों की बन आई थी। जापान के आक्रमण को रोकने के लिए लाखों अंग्रेज और अमेरिकन सैनिक हमारे देश में पड़े हुए थे। गर्मियों में हिमालय के ठण्डे स्थान उन्हें आकृष्ट करते थे, विलासपुरियों की बन आई। डॉ. सत्यकेतु का जन्मस्थान सहारनपुर का एक गाँव है। सिवालिक के दक्षिण उनकी जन्मभूमि और सिवालिक के उत्तर मसूरी है। गुरुकुल में रहते अपनी यात्राओं में वह मसूरी देख चुके थे। सोचा, मकान किराया पर लेकर एक होटल खोल दिया जाय। 1942 में तीनों प्राणी जिस दिन मसूरी आयें, उस दिन उनके पास सिर्फ ढाई रुपये थे। शायद कोई परिचित पुरुष यहाँ पर मौजूद था। 'लैक्समौंट' मकान को उन्होंने किराये पर ले लिया। मसूरी में उधार पर चीजें मिल जाया करती हैं। 'लैक्समौंट' को उन्होंने रेस्तराँ और होटल दोनों के रूप में परिणत कर दिया। मेहमानों की कमी नहीं थी, होटल चल निकला। लड़ाई के वक्त काफी नफा रहा। एक बार डर लगने लगा कि यह सरस्वती-पुत्र कहीं अपने जीवन को होटल चलाने में ही खत्म न कर दे।

लड़ाई खतम होने के साथ इस लाइन में डॉ. सत्यकेतु का दिमाग और दूर तक दौड़ने लगा कि किसी बड़े होटल को लेना चाहिए। नैनीताल के विशाल होटल मैट्रोपोल का पता लगा। उन्होंने उसे ठेके पर ले लिया। लेकिन अब लड़ाई को खतम हुए कई साल हो गए थे। 1947 ई. में अंग्रेज भी भारत छोड़कर चले गए, जिन्होंने हिमालय की विलासपुरियों को बनाया तथा आबाद किया था। डॉक्टर साहेब ने 1949 ई. में इस बड़े काम को हाथ में लिया और साल-भर के तजर्बे ने बतला दिया कि घर में आग लगी हुई है, जितना जल्दी हो, निकलो। होटल के मालिक के साथ शर्तनामा लिखा जा चुका था। खैर, किसी तरह जान बची, लाखों पाये। मसूरी के 'लैक्समौंट' को उन्होंने छोड़ा नहीं था। उन्हें यह भी ख्याल आया कि सभी अण्डे एक ही टोकरी में नहीं रखने चाहिए। उन्होंने रक्खी हुई लेखनी हाथ में उठा ली और 'यूरोप का आधुनिक इतिहास' लिखकर प्रकाशित किया।

होटल मैट्रोपोल से जिस वक्त डॉक्टर साहब पिण्ड छुड़ा रहे थे, उसी वक्त अपना सामान लिये मैं उनके पास पहुँचा। मैं पहिले ही लिख चुका था कि मुझे वहाँ एक घर की जरूरत है, जिसे खरीदकर मैं बारहों महीना रहना चाहता हूँ। उन्होंने लिख दिया था—कि मकानों की कमी नहीं है। अपने देखकर पसन्द कर लें। नैनीताल में तीन-चार महीने हम रहे। मकानों को भी देखा और नैनीताल की दिक्कतों को भी। अन्त में मन नहीं भरा।

फिर मूसरी देखने को रह गई। डॉ. साहब भी अब नैनीताल छोड़कर मसूरी ही जा रहे थे, यह और सुभीता था। उनके सम्वन्ध से मैं नैनीताल पहुँचा था और अव उन्हीं के सम्वन्ध से मसूरी का ख्याल आया। वैसे मैं मसूरी को 1943 ई. में देख चुका था। यह भी मालूम था कि यहाँ से बाहर आने-जाने का जितना सुभीता है, उतना हिमालय की किसी पुरी से नहीं है। 40 मिनट में मोटर या बस से देहरादून पहुँच सकते हैं और देहरादून से सीधे बम्बई तथा कलकत्ता तक की ट्रेन मिलती है।

अब भी डॉक्टर साहब ने यही कहा—आप आकर मकान देख लें। मुझे हरेक काम के जल्दी करने की पड़ी रहती है। यह गुण भी है और दोष भी। मकान लेने में जो जल्दी की, वह गलती थी। मैं जून, 1950 में मसूरी आया, डॉक्टर साहब ने कई मकान दिखलाये। मैं केन्द्र से दूर रहना चाहता था, ताकि मिलने-जुलनेवालों की संख्या अधिक न हो। इससे यह भी लाभ था कि वहाँ मकान सस्ते थे। घूमते-घामते मसूरी के एक छोर पर अन्तिम मकान 'हर्नक्लिफ' को मैंने पसन्द किया। डॉक्टर साहब की सलाह माने होते, तो साल-दो साल किराये पर रहकर फिर मकान लेते। यह अच्छा होता, पर मेरे दिमाग में यह भी ख्याल काम कर रहा था कि प्रकाशक से जो 25 हजार अग्रिम मिले हैं, कहीं मुद्रा-स्फीति के कारण बैंक में रक्खे-रक्खे अपने मूल्य में आधे न हो जायँ। उस समय भी मसूरी में मकानों का दाम काफी गिर गया था, लेकिन क्या पता था कि आगे वह मिट्टी के मोल हो जायँगे। खैर, मुझे मसूरी में लाने और बसाने में डॉक्टर सत्यकेतु का हाथ रहा।

यहाँ बस जाने पर अब वह हमारे स्थायी घनिष्ठ मित्र हो गए। यद्यपि हमारे निवासों की दूरी में ढाई मील का अन्तर है; लेकिन उसके द्वारा अच्छी चहलकदमी हो जाती है।

डॉ. सत्यकेतु ने फिर अपने योग्य काम को ही हाथ में लिया, उसी के लिए उन्होंने बचपन से अपने को तैयार किया था। स्वतन्त्र भारत में विद्यार्थियों की अंग्रेजी की योग्यता दिन-पर-दिन गिरती जा रही थी, पर बूढ़े शिक्षा-विशेषज्ञ पूरी कोशिश करते थे कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहे, परीक्षा के प्रश्नोत्तर अंग्रेजी में ही लिखे जायँ। लेकिन ज्यादा दिन नहीं बीते, उन्हें मालूम हो गया—ऐसा तभी किया जा सकता है, जब सौ में से नब्बे विद्यार्थियों को फेल कर दिया जाय, विश्वविद्यालयों को शिक्षण-संस्था नहीं, बल्कि कसाईखाना बना दिया जाय। तरुण पीढ़ी इसे बर्दाश्त नहीं कर सकती थी, यह भी वह जानते थे। बूढ़ों को भवितव्यता के सामने सिर झुकाना पड़ा। पहिले परीक्षा में प्रश्नों के उत्तर देने में हिन्दी को ऐच्छिक वनाया, फिर हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकें भी आईं। विद्यार्थियों ने अध्यापकों को हिन्दी में पढ़ाने के लिए भी बाध्य किया। इस प्रकार हिन्दी का रास्ता साफ हो गया। अपने प्रिय विषय—इतिहास और राजनीति—के सम्बन्ध में डॉक्टर साहब ने पुस्तकें लिखनी शुरू कीं, उनका हर जगह स्वागत हुआ। लेकिन, पाठ्य-पुस्तकों में स्थायी लाभ देखकर इस क्षेत्र में जल्दी ही बहुत-से ग्रंथ-कर्ता आ जुटे और एक दूसरे को देखकर पुस्तकें तैयार करने लगे। प्रतिद्वंद्विता जरूर आ गई, पर डॉक्टर साहब अपने विषय की पूरी जानकारी रखकर तथा ज्ञान को पचाकर कागज पर उतारते, जबकि दूसरे अधपच अल्पज्ञता का सहारा लेते। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने होटल का काम छोड़ दिया और अब अपने परिपक्व ज्ञान का लाभ दूसरों के पहुँचाने के लिए ग्रंथ लिखने में लग गए हैं। अब उनसे भी मसूरी छूटने जा रही है। दिल्ली काम के लिए ज्यादा पसन्द आई है। गर्मी-बरसात में तो मुझे हिमालय के किसी कोने को पकड़ना ही पड़ेगा। पर, यदि मकान न ले लिया होता, तो मुझसे भी मसूरी अब तक छूट गई होती।

53

स्वामी हरिशरणानंद

"कुनद् हमजिन्स बाहमजिन्स परवाज (समानधर्मा समानधर्मा के साथ उड़ता है) की कहावत चिरकालीन तजर्बे

के ऊपर निर्भर है। एक तरह की प्रकृति और जीवन रखनेवाले आदमियों में जल्दी ही घनिष्ठता हो जाती है और निभती भी है। स्वामी हरिशरणानन्द मेरी ही तरह घुमक्कड़ थे, उसी उम्र में वह भी घर से निकल भागे, जिस उम्र में मैं। हाँ, मुझसे वह तीन-चार साल बड़े हैं, इसलिए उनकी उड़ान भी मुझसे उतने ही साल पहिले शुरू हुई। मेरी पुस्तकों से वह परिचित थे। पचासों पुस्तकों और सो भी भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखने का यह लाभ जरूर होता है कि उनमें से कोई-न-कोई किसी की नजर से गुजर जाती है। मेरी घुमक्कड़ी की बातें भी वह पढ़ चुके थे। मैं राजनीति में उग्र हूँ और वह भी साम्यवाद और समाजवाद के माननेवाले थे। लेकिन, उनसे साक्षात् परिचय प्राप्त करने का अवसर 1950 ई. की बरसात में हुआ, जब मैं मसूरी में स्थायी तौर से रहने के लिए आ गया। वह इधर कई वर्षों से बरसात के दो-तीन महीने मसूरी में बिताया करते थे। पता लगते ही आये। मिलते ही मालूम हुआ कि हम जन्म-जन्म के परिचित हैं।

स्वामी हरिशरणानन्द–तब हरिश्चन्द्र–का जन्म कानपुर में 1890 ई. में हुआ था। उस समय रेलगंज में गल्लामण्डी होने के कारण बड़ी चहल-पहल रहती थी; लेकिन कुछ ही समय बाद वह कलक्टरगंज चली गई। बालक हरिश्चन्द्र के पिता मुन्नीलाल की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हुआ, पर ऐसा नहीं जिससे कष्ट हो। बचपन ही में एक घुमक्कड़ साधु गोपालदास उनके यहाँ आकर पहिले महीनों रहते, फिर वहीं रहने लगे। घुमक्कड़ की गोद में पले उनसे ज्ञान-ध्यान और देश-देशान्तर की यात्राओं को सुनकर बालक के मन में विचित्र भाव पैदा होते। माता उनकी पहिले ही मर गई थीं। पिता और संरक्षक बाबा गोपालदास का भी देहान्त हो गया–हरिश्चन्द्र 15 वर्ष के थे।

उनके मन में पहिले घुमक्कड़ी की नहीं, बल्कि योग की जिन अद्भुत विभूतियों को सुना था, उन्हें प्राप्त करने की धुन सवार हुई। अयोध्या में जा वह हरिश्चन्द्र से हरिदास बने। वैरागियों के साथ चित्रकूट, प्रयाग घूमते रहे। पर, यहाँ योग की सिद्धियों के बारे में कुछ सीखने-जानने का मौका नहीं मिला। हरिदास को ख्याल आया कि हिमालय की गुफाओं में सतयुग-त्रेता के योगी रहते हैं। वह उनको ढूँढ़ने चल पड़े। हिमालय में भी ढूँढ़ा, हिमालय पार कैलास-मानसरोवर भी गए; पर किसी योगी या योगी के पूत से भेंट नहीं हुई। योगी और बड़ा रसायनिक समझकर जिनकी शरण ली थी, उन्होंने अपने सखी-मत की छाप लगाते हरिदास को हरिशरण बना दिया।

न सोना बनाने का रसायन हाथ लगा, न अणिमा-लघिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त कर आकाश में उड़ने और अन्तर्धान होने की शक्ति प्राप्त हुई, पर ऋषिकेश में उन्हें एक ऐसे पुरुष मिल गए, जिन्होंने योग की विधि बता दी। उसमें सीखना कम था, करना बहुत ज्यादा और ऐसे एकान्त स्थान में, जहाँ चित्त की वृत्तियों को अस्त-व्यस्त करनेवाले विघ्न न हों। बाबा को गंगा पार कुनाँव वन अच्छा लगा। जंगलों में हाथी और बाघ रहते थे, नीचे की झोंपड़ी में खैरियत नहीं थी, इसलिए हरि बाबा ने बहुत ऊँचे-मोटे पेड़ के ऊपर अपनी झोंपड़ी तैयार की। यहीं ग्वालों द्वारा दिये गए दूध के आधार पर वह अभ्यास करने लगे। रात के वक्त हाथियों का झुँड जंगल से निकलकर गंगा पार हो ऋषिकेश के आस-पास चरने-चुगने जाया करता था। एक बार भिनसार में झुण्ड लौटा आ रहा था, उसी समय एक बच्चा पत्थरों में फँस गया। बहुत कोशिश करने पर भी वह नहीं निकला, तो यूथ के सनातन नियम–एक के लिए सारे समाज का नाश नहीं करना चाहिए–को मानते हाथी बच्चे को वहीं छोड़कर चले गए। हरि बाबा ने उसे निकलवाकर ग्वालों को पालने के लिए कहा। हरि बाबा पेड़ पर से दिन-रात आस-पास में होनेवाली घटनाओं और बदलती प्रकृति का मुजरा लेते रहे। उनका ध्यान भी आगे बढ़ा। चित्त की वृत्तियों को नियमन करने में जितनी उनको सफलता होती जा रही थी, उतनी ही साँस क्षीण होती जाती थी। उन्हें विश्वास होने लगा कि श्वासरोध और समाधि असम्भव बात नहीं है। सफलता के साथ उनकी श्रद्धा बढ़ती गई और श्रद्धा के साथ संकल्प भी दृढ़ होता गया। पर बुद्ध के कहे अनुसार 'सब्बे सत्ता आहाररूट्ठितिका' (सारे प्राणी भोजन पर निर्भर करते हैं।) ग्वाले जंगल छोड़कर अपने घरों की ओर जा रहे थे, हरि बाबा को दूध मिलने की सम्भावना नहीं रही। दो-चार दिन कन्द-मूल पर रहने की कोशिश की, लेकिन वह अनुकूल नहीं हुआ।

बाबा को स्थान छोड़ना पड़ा। एक-दो जगह घूमते वह पाँवटा में जमुना के किनारे पहुँचे। कुटिया में अभ्यास शुरू हुआ और छूटे सूत्र को फिर पाने में सफल हुए। ध्यान और एकाग्रता बढ़ती ही गई, भोजन अपने आप कम होने लगा, शरीर में जो भी चर्वी थी, वह भी सूख गई; लेकिन इससे मानसिक अवस्था में बेहतरी हो गई। वह अधिक प्रसन्न रहते। समझ रहे थे, लक्ष्य पर पहुँचना दूर नहीं है। इसी समय कुटिया में ध्यानावस्थित बैठे हरि बाबा के ऊपर फूस की छत से गुत्थमगुत्था करते हुए दो साँप गिर पड़े। ध्यान भंग हो गया। शरीर में रोमांच और फिर बेहोशी आ गई। शरीर के क्षीण होने से मन भी क्षीण हो गया था। इतने बड़े आघात से मन का सँभालना मुश्किल हो गया। दो-चार बार फिर कोशिश की, लेकिन बेहोशी आ जाती। अन्त में मालूम हो गया कि यदि जिद करेंगे, तो उससे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते और पागलपन या किसी दूसरी तरह का अनिष्ट हो सकता है। हरि बाबा ने घुमक्कड़ी पहिले भी की थी। कैलास-मानसरोवर के बीहड़ रास्तों को नाप आये थे। अब उनके मन में आया—घूमना अच्छा है, पर दूसरे के ऊपर निर्भर रहना बुरा है। मुझे स्वावलम्बी होना चाहिए। इसके लिए उन्हें वैद्यक सबसे अच्छा साधन मालूम हुआ। दवाई-बूटियाँ कुछ सीखीं, फिर आयुर्वेद की परीक्षा पास कर वैद्य बन गए। अब उनका यही काम था कि हिमालय में शिमला से कश्मीर तक जगह-जगह घूमकर तजर्बेकार वैद्यों से उनके नुस्खे मालूम करें, हिमालय की जड़ी-बूटियों का परिचय प्राप्त करें। 1917 से 1919 ई. तक वह बराबर ऐसा ही करते रहे। जाड़ों में कभी-कभी पंजाब के शहरों में भी चले जाते। अपनी इन यात्राओं में आयुर्वेद के कुछ दुर्लभ ग्रंथों का भी उन्होंने उद्धार किया। हरि बाबा के घनिष्ठ मित्र वैष्णवदास पेशावर के रहनेवाले थे। दोनों का परिचय आरम्भ ही में हरद्वार में हो गया था। कितनी ही बार वह साथ घुमक्कड़ी करते थे। दोनों 1919 ई. के आरम्भ में अमृतसर में आये। हरि बाबा सोच रहे थे कि अब चिकित्सा शुरू करें। इसी समय जोर का राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ा। हरि बाबा स्कूल में आठवें-नवें दर्जे तक पढ़े थे, इसलिए अशिक्षित नहीं थे। अखबारों को जब-तब देख लेते और देश में क्या हो रहा है, इसके भी जिज्ञासु थे।

अमृतसर में जनता में बहुत जोश था। 11 अप्रैल को अंग्रेजों ने डॉ. सैफुद्दीन किचलू और डॉ. सत्यपाल को गिरिफ्तार कर लिया। 12 तारीख के सवेरे गुस्से में पागल हो लोग सड़कों पर निकल आये और नेताओं के छुड़ाने के लिए डिप्टी-कमिश्नर के बँगले की ओर चल पड़े। मनुष्यों के इस प्रवाह में हरि बाबा और वैष्णवदास भी शामिल हो गए। सैनिकों ने आकर रास्ता रोक लिया और घोड़ा दौड़ाकर लोगों को डराने लगे। धक्कम-धक्का में वैष्णवदास को चोट पहुँची। यह क्रोधी स्वभाव के थे। कुर्ते की बाँह में छिपे हाथ-भर के डंडे को निकालकर उन्होंने घोड़े के चूतर पर ताबड़तोड़ जड़ना शुरू किया, घोड़ा बिदक उठा। अफसर ने चाबुक चलाया और वह वैष्णवदास के ऊपर पड़ा। गोरे तक डंडा नहीं पहुँच सकता था, इसलिए वैष्णवदास ने सड़क के किनारे पड़ी ईंटों को चलाना शुरू किया। यह देखते ही चौरस्ते पर खड़े गोरे ने तुरन्त बन्दूक दाग दी। गोली वैष्णवदास की कोख में लगकर देह के भीतर रह गई। वह वहीं गिर पड़े। एक बच्चा भी गोली खाकर जमीन पर गिर पड़ा। भगदड़ मच गई। हरि बाबा थोड़ी देर बाद ताँगा लेकर घायल वैष्णवदास को जलियाँवाला बाग के पास की एक धर्मशाला में लाये। अगले दिन (13 अप्रैल) को पता लगा कि गोलीकाण्ड के विरोध में जलियाँवाला बाग में सभा होनेवाली है। हरि बाबा भी अपने को रोक नहीं सके। जलियाँवाला बाग में पहुँचे। जनरल डायर गोरखों के साथ मशीनगन लिये वहाँ पहुँचा और निहत्थी जनता पर फायर कराने लगा। डेढ़ हजार आदमी मारे गए। हरि बाबा बचनेवालों में थे। धर्मशाला में लौटने पर देखा कि साथी की अवस्था क्षण-क्षण बिगड़ती जा रही है। उसी दिन दो घंटा रात रह गई थी, जबकि हरि बाबा ने अपने प्रिय साथी को खो दिया। शहीद वैष्णवदास की अर्थी के पीछे-पीछे पचास हजार जनता की भीड़ थी। एक ही दिन पहिले हुए जलियाँवाला बाग के हत्याकांड में से लोगों की हिम्मत नहीं टूटी।

पुलिस को साधु के मरने का पता था और यह भी कि उसके साथ एक और साधु था। कांग्रेस के लोगों ने हरि बाबा को सलाह दी कि अमृतसर से चले जायँ। हरि बाबा उनकी बात मानने के लिए मजबूर हुए। लेकिन, अपने शहीद साथी के खून से लथपथ शरीर को उठाते वक्त ही उनके हृदय में अंग्रेजों के प्रति अपार घृणा और आजादी का संकल्प पैदा हो गया था। इधर-उधर भटकते उसी साल (1919 ई.) के दिसम्बर में

अमृतसर में हुए कांग्रेस-अधिवेशन में आये। फिर चकझुमरा के मुर्दे लोगों में कांग्रेस के नाम पर अलख जगाकर वहीं बैठ गए। चिकित्सा भी करते और कांग्रेस का प्रचार भी, व्याख्यान भी देते और गाने के लिए राष्ट्रीय गीतों की तुकबन्दी भी करते। उन्होंने भारतमाता की आरती बनाई–"ओम् जय भुवि अम्ब हरे, जय जगदम्ब हरे। तू धारिणि जगकारिणि संकट-विपत हरे।" उर्दू के शेर भी मुँह से निकलने लगे–"मैं गाँधी पे जानो-जहाँ वेचता हूँ। खरीदो कोई मैं हमाँ वेचता हूँ।" पंजावी में भी वाणी फूट निकली–"की लगदी सरकार, साडी, की लगदी। सात समुन्दर पारों बसदी, वन वैठी मुख्त्यार। साडी की लगदी।"

चिकित्सा के तजुर्बे ने उन्हें बतलाया कि एलोपैथी की तरह आयुर्वेदिक दवाइयों की भी फार्मेसी होनी चाहिए, जिसमें विधिपूर्वक बनी हर तरह की शुद्ध दवाइयाँ सुलभ हों। इसके लिए सबसे उपयुक्त स्थान अमृतसर था, जहाँ 1922 ई. में ही आकर वह चिकित्सा करने लगे थे। हरि बाबा का आयुर्वेद-सम्बन्धी ज्ञान भी गहरा और विस्तीर्ण था। साथ ही वह तजर्बे के पक्षपाती थे और स्वतन्त्र सोचने की शक्ति रखते थे। इन सबने मिलकर उन्हें सफलता का रास्ता दिखलाया। वह आयुर्वेद-सम्मेलनों में जाते, दूसरे वैद्यों से विचार-विनिमय करते। आयुर्वेद में वात-पित्त-कफ–इस (त्रिदोष) सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया जाता है। हरि बाबा ने उस पर प्रहार करते कहा कि त्रिदोष-सिद्धान्त की कोई आवश्यकता नहीं, रोगों के निदान में वह हमारी कोई सहायता नहीं करता। अधिक साधन-सम्पन्न होने पर उन्होंने जनवरी, 1931 से 'आयुर्वेद विज्ञान' के नाम से एक पत्र निकालना शुरू किया, जो बीच-बीच में अस्त-उदय होते आज भी प्रकाशित होता है और जिसमें निर्भीकतापूर्वक लिखे लेख के कारण साल-भर से वह मुकदमे में घसीटे गए हैं।

हरि बाबा योग के फन्दे से निकलते ही रूढ़ि के फन्दे से भी बाहर हो गए। उन्हें विकासवाद और आधुनिक विज्ञान की दूसरी पुस्तकों के पढ़ने का शौक हो गया। 'त्रिदोष मीमांसा' को उन्होंने यों ही नहीं लिख डाला, पहिले बड़े-बड़े वैद्यों से इस पर विचार-विनिमय किया था। वैद्यों में हड़कम्प मच गई। वह समझने लगे कि यह तो आयुर्वेद के ऊपर जबर्दस्त प्रहार है। हरि बावा ने त्रिदोषवाद को वैज्ञानिक सिद्ध करने के लिए एक हजार का पुरस्कार भी घोषित किया था। अन्त में आयुर्वेद के त्रिदोष-सिद्धान्त की रक्षा के लिए हिन्दू विश्वविद्यालय में 2 से 8 नवम्बर 1935 तक देश के बड़े-बड़े वैद्यों और पंडितों की परिषद् पं. मदनमोहन मालवीय ने बुलाई। त्रिदोष के विरोधियों की संख्या भी नगण्य नहीं थी। रूढ़िवादी वैद्य 'बकरी की तीन टाँग' रटने के लिए भी तैयार होकर आये थे। पर, हरि बाबा को विश्वास था कि यह लवड़धौंधों ज्यादा दिन तक नहीं चलेगी। आयुर्वेद के पास अपना हजारों वर्ष का तजुर्बा है, औषधियों के गुण का निरूपण उसका बहुत पक्का है। पर, जैसे एलोपैथी में आधुनिक विज्ञान के साधनों, प्रयोगशालाओं को इस्तेमाल करके नई-नई बातों का आविष्कार हुआ है, वही आयुर्वेद को भी करना होगा। तभी वह जीवित रह सकता है।

हरि बाबा केवल चिकित्सा और फार्मेसी में ही अपना समय नहीं लगाते थे। अमृतसर में आते ही वह कांग्रेस कमेटी की कार्यकारिणी के सरगर्म मेम्बर हो गए। 1931 ई. में सत्याग्रह की दुंदुभि बजी, वह भी उसमें कूदे और 15 दिन जेल की रोटियाँ खाकर गाँधी-इर्विन-समझौते के अनुसार बाहर निकल आये। अमृतसर कपड़े की बहुत बड़ी मंडी थी, जहाँ से पंजाब, अफगानिस्तान, कश्मीर और मध्य-एशिया तक माल जाता था। विलायती कपड़ों पर हरि बाबा ने जबर्दस्त धरना संगठित किया। वह भीतर से रह 'सबहिं नचावैं राम गोसाईं' का अनुसरण कर रहे थे, लेकिन पुलिस तो जानती थी। 1931 ई. में वह फिर पकड़े गए और दो साल की कड़ी सजा लेकर अमृतसर, लाहौर और मुल्तान की जेलों में घूमते रहे।

1914-15 से ही हरि बावा प्रयाग से निकलनेवाली साइन्स की मासिक पत्रिका 'विज्ञान' के निरन्तर पाठक थे। भिन्न-भिन्न शाखाओं में क्या-क्या नई बातें हो रही हैं, इनका उन्हें ज्ञान था। उन्होंने सोचा कि जिस तरह एलोपैथी दवाइयाँ मशीनों से तैयार की जाती हैं, वैसे ही हम आयुर्वेदिक दवाइयाँ भी क्यों न तैयार करें। उन्होंने कूटने के लिए बिजली के खरल की मशीनें अमृतसर में ही मिस्तरी से तैयार करवाईं। भस्म के लिए कण्डे की जगह पत्थर के कोयले का इस्तेमाल किया। हरेक दवाई को कलकत्ता में सरकारी प्रयोगशाला में भेजकर उसका विश्लेषण करवा के देखते थे कि कण्डे और पत्थर के कोयले में तैयार की हुई दवाइयों में क्या अन्तर है। कोई अन्तर नहीं मालूम हुआ, इसलिए वह इस तरीके को इस्तेमाल करने लगे। पुराणपंथी वैद्यों ने बावेला

मचाया, लेकिन वह नहीं चला। आधुनिक साधनों के इस्तेमाल से दवाइयाँ आधी-तिहाई दाम में तैयार हो जाती थीं और सस्ती पड़ती थीं। फिर बाजार में उनकी माँग क्यों न होती ?

उनका प्रिय पत्र 'विज्ञान' 1934 ई. में लड़खड़ाने लगा। हरि बाबा को यह पसन्द नहीं आया। उन्होंने विज्ञान के सम्पादकों–प्रो. रामदास गौड़ और प्रो. शालिग्राम भार्गव–से लिखा-पढ़ी करते तै किया कि 'विज्ञान' बन्द न किया जाय, उसे हम निकालेंगे। अपने 'आयुर्वेद विज्ञान' को उन्होंने 'विज्ञान' में विलीन कर दिया और कितने ही समय तक 'विज्ञान' को हरि बाबा स्वयं निकालते रहे। उन्हें लाखों की फार्मेसी का भी मोह नहीं था और चाहा कि उसे विज्ञान-परिषद् ले ले, लेकिन विज्ञान-परिषद् के पास सँभालने के लिए कोई आदमी नहीं था।

राजनीति में भाग लेने, चिकित्सा और फार्मेसी चलाने, 'विज्ञान' की प्रगति में सहायता करने के अतिरिक्त वह पुस्तकें भी लिखते रहे। उनकी 'ज्वर मीमांसा', 'कूपी पक्व रस-निर्माण विज्ञान', 'भस्म विज्ञान' आदि पुस्तकें वैद्य-समाज में बहुत आदरित हुईं।

पंजाब में आने पर उन्होंने देखा कि वैरागियों के सादे कपड़े से भगवे का ज्यादा मान है और बाबा की जगह स्वामी अधिक प्रतिष्ठा का है, वह भी स्वामी हरिशरणानन्द बन गए। फार्मेसी के काम के बढ़ने के बाद वह उतने स्वच्छन्द घुमक्कड़ नहीं रह सकते थे, लेकिन अपनी दवाइयों के सम्बन्ध में वह सारे भारत में घूमे। शिलाजीत और जड़ी-बूटियों के लिए हिमालय के दूर के कोनों में भी पहुँचे। हरेक जड़ी-बूटी और औषधि के जीवन का जितना परिचय उनको है, उतना भारत में बहुत कम वैद्यों को होगा। किसी समय उन्होंने लखपति बनना अपने सामने लक्ष्य रक्खा था। वह प्रथम विश्वयुद्ध से बहुत पहिले ही लखपति से आगे चले गए। पैसों का सदुपयोग वह जरूर चाहते हैं, लेकिन उनके प्रति उन्हें आसक्ति नहीं है।

किसी समय वह सनातनी रहे, आर्यसमाजी विचारों का फिर प्रभाव पड़ा था। योग के पीछे पागल हुए, लेकिन फिर अध्ययन और चिन्तन के फलस्वरूप वह कट्टर नास्तिक हो गए। न उनका ईश्वर पर विश्वास है, न किसी पर। 1941 ई. में अब वह 51 वर्ष के हुए। वह हमेशा शरीर से निर्मांसिल रहे, पर शक्तिहीन नहीं। आज 66 वर्ष की उम्र में भी वह इतने तेज चलते हैं कि मसूरी में कोई जवान भी उनके पैर से पैर मिलाकर चलने की हिम्मत नहीं कर सकता। तो भी उनमें एक बड़ा दुर्गुण है कि किसी भी औषधि का तजुर्बा वह अपने ऊपर करते हैं। एक कान की शक्ति कुछ कमजोर हो गई थी। दवाई का प्रयोग करके उन्होंने उसे और भी खराब कर लिया। पेट में कुछ खराबी मालूम हुई, तो कायाकल्प करने लगे और खतरनाक तौर से कमजोर होने पर भी किसी की बात मानने के लिए तैयार न थे। वह एकबग्गा हैं, जो धुन सवार हो जाय, फिर रुकनेवाले नहीं। विचारकोटि में रहते समय वह किसी की बात भी मानने के लिए तैयार नहीं हैं, लेकिन निश्चय कर लेने के बाद काम ही दिशा-परिवर्तन कर सकता है।

51 में पैर रखने पर उन्हें मालूम हुआ कि समय-कुसमय दुख-सुख में किसी की सहायता चाहिए। उन्होंने अब ब्याह करने का निश्चय किया। मित्रों ने मना किया; पर मना करनेवाले वही मित्र थे जो उस समय समझते थे कि घर में मालकिन के आने पर हमें खाने-पीने की स्वतन्त्रता नहीं रहेगी। स्वामीजी ने कई पत्रों में ब्याह का विज्ञापन दिया। उसी साल बाल्य में ही वैधव्यप्राप्त एक तरुणी से ब्याह किया।

मसूरी में जब पहिले पहिल भेंट हुई, तो वह नौ वर्ष के गृहस्थ थे। उनकी पत्नी जानकी देवी भी साथ थीं। यद्यपि मसूरी में हमें उनके आतिथ्य करने का कभी ही एक-दो दिन का मौका मिला हो, पर उनके अमृतसर और दिल्ली के घरों में उनका आतिथ्य पाने का हर साल ही हमें मौका मिलता है। उनसे ऐसी आत्मीयता स्थापित हो गई कि किसी बात में संकोच करने की आवश्यकता नहीं। अपने निश्चय किए हुए कामों में वह विरोधी बात सुनना पसन्द नहीं करते, किन्तु मेरे लिए छूट है। जब उन्होंने दिल्ली (फ़ैज़बाजार) में अपने नये बनवाये मकान में आयुर्वेद अनुसन्धानशाला स्थापित करने की बात कही, तो मैंने सीधा विरोध किया–अनुसन्धानशाला सौ-पचास हजार से नहीं स्थापित हो सकती और न आपको यह समझना चाहिए कि इतना बड़ा काम आपके करने ही से हो सकता है। उन्होंने अपने उस संकल्प को फिर नहीं दोहराया और न पूरा किया।

■■